अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके संदेशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और

समाजशास्त्रके प्रौढ़ विचारोंसे परिपूर्ण

सचित्र मासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)

सरसावा जि० सहारनपुर

तृतीय वर्ष

[कार्तिकसे आश्विन, वीर नि०सं०२४६६]

संचालक

तनसुखराय जैन

व्यवस्थापक

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

कनाट सर्कस, पो० बोक्स नं० ४८, न्यू देहली

वार्षिक मूल्य— तीन रुपये

अक्टूबर सन १९४० ई०

एक किरणका मूल्य— पाँच आने

'अनेकान्त' के तृतीय वर्षकी विषय-सूची

विषय और लेखक	पृष्ठ	विषय और लेखक	पृष्ठ
अकलंक-स्मरण—[सम्पादक	४४१	क्या स्त्रियाँ संसारकी क्षुद्र रचनाओंमें से हैं? —[ललिताकुमारी जैन 'प्रभाकर'	५६६
अज-सम्बोधन (कविता)—श्री 'युगवीर'	६०	गोत्रविचार—[जैनहितैषीसे उद्धृत	१८६
अतिप्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह —[पं० परमानन्द जैन शास्त्री	२५६	गोम्मटसार एक संग्रह ग्रंथहै—[पं०परमानन्दशास्त्री	२६७
अनुकरणीय—[व्यवस्थापक, कि०२ टा० ४, कि०५ टा० ४		गो०कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति—[पं०परमानन्द शास्त्री	५३७
अनुपम क्षमा—[श्रीमद् राजचन्द्र	१७६	गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति के विचार पर प्रकाश —[पं० परमानन्द शास्त्री	७७५
अनुरोध (कविता)—[श्री भगवत् जैन	२८०	गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति पर विचार —[प्रो० हीरालाल एम.ए.	६३५
अन्धोंकी बस्ती (कविता)—[माहिर, कि० ३ टा० ४		गो० कर्मकाण्डकी त्रुटि पूर्ति लेखपर विद्वानोंके विचार और विशेषसूचना—[सम्पादक	६२७
अमर मानव—[श्री सन्तराम बी.ए.	४३३	छोटे राष्ट्रोंकी युद्धनीति—[श्री काकाकालेलकर	४६५
अर्थप्रकाशिका और पं० सदासुखजी —[पं० परमानन्द शास्त्री	५१४	जातियाँ किस प्रकार जीवित रहती है— [श्री० ला० हरदयाल एम.ए.	३६७
अहिंसा—श्री० वसन्तकुमार, एम. एस.सी.	३६०	जिनसेन-स्मरण—[सम्पादक ···	६७७
अहिंसाका आभास [श्रीदरबारीलाल'सत्यभक्त'	४३०	जीवन-साध (कविता)—[पं०भवानीदत्त शर्मा	२८५
अहिंसाकी कुछ व्याख्याएँ—[श्रीकिशोरीलालमशरू.	१६२	जैन और बौद्ध निर्वाणमें अन्तर —[प्रो० जगदीशचन्द्र एम.ए.	२६१
अहिंसाके कुछ पहलू—[श्री काका कालेलकर	४६१	जैनदर्शनमें मुक्ति साधना—[श्रीअगरचन्द नाहटा	६४०
अहिंसातत्त्व—[पं० परमानन्द शास्त्री	३१६	जैनदृष्टिका स्थान तथा उसका आधार— [श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री	३३
अहिंसासम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नावली —[विजयसिंह नाहर आदि	६०५	जैनधर्मकी विशेषता—[श्री सूरजभान वकील	२२१
आग्रह (कविता)—ब्र० प्रेमसागर 'पंचरत्न'	६४४	जैनधर्म-परिचय गीता-जैसा हो—[श्रीदौलतराम'मित्र'	६५७
आत्मिक क्रान्ति—[बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए.	२८१	जैनलक्षणावली—[सम्पादक ···	१२६
आत्मोद्धार-विचार—[श्री० अमृतलाल 'चंचल'	५७३	जैन समाजके लिये अनुकरणीय आदर्श —[श्रीअगरचन्द नाहटा	२६३
आलोचन—[श्री 'युगवीर' ···	११६	जैनागमोंमें समयगणना—[श्रीअगरचन्द नाहटा	४६४
आशा (कविता)—[श्री रघुवीरशरण, एम.ए.	६५६	जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार—[पं०के.भुजबली शास्त्री	५२१
उच्चकुल और उच्च जाति (महात्मा बुद्धके उद्गार) श्री. बी. एल. जैन कि०१० टा०३		ज्ञातवंशका रूपान्तर जाटवंश —[मुनि श्री कवीन्द्रसागरजी	२३७
उपासनाका आधार [पं०चैनसुखदास न्यायतीर्थ	४२६	तत्त्वार्थाधिगम भाष्य और अकलंक —[प्रो० जगदीशचन्द्र जैन एम. ए.	३०४, ६२३
उमास्वाति स्मरण—[सम्पादक ···	३७७	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक पर 'सम्पादकीय विचारणा'—[सम्पादक ···	३०७
उस दिन (कहानी)—[श्री भगवत् जैन ···	२१७		
उस विश्ववंद्य विभूतिका धुँधला चित्रण —[श्री देवेन्द्र जैन	७७		
ऊँचनीच-गोत्र विषयक चर्चा—[श्री बालमुकुन्द पाटोदी	१६५, ७०७		
एक महान साहित्यसेवीका वियोग—[सम्पादक	२६५		

कार्तिक वीरनि०सं०२४६६
नवम्बर १९३९

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण १
वार्षिकमूल्य ३ रु०

श्री दि० जैनपरिषद्‌के सौजन्यसे प्राप्त

जुगलकिशोर मुख्तार
तनसुखराय जैन

❀ विषय-सूची ❀

पृष्ठ

१. श्री वीर-स्मरण, वीर शासनाऽभिनन्दन ... १, २

२. धवलादि श्रुत-परिचय ३

३. सत्य अनेकान्तात्मक है [श्री जयभगवान वकील ... १७

४. स्मृतिमें रखने योग्य वाक्य [श्रीमद् राजचन्द्र] ... २७

५. भ० महावीरके शासनमें गोत्रकर्म [श्री कामताप्रसाद ... २८

६. विविध प्रश्न [श्रीमद् राजचन्द्र ... ३२, ७९, ८१, ८९

७. जैनदृष्टिका स्थान तथा उसका आधार [श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री ... ३३

८. मौन संवाद (कविता)—[श्री युगवीर ... ४०

९. वीर-शासनकी विशेषता [श्री अगरचन्द नाहटा ... ४१

१०. सफल-जन्म (कविता) [श्री भगवत जैन ... ४४

११. वीर शासनमें स्त्रियोंका स्थान [श्री इन्दुकुमारी ... ४५

१२. नर-कंकाल (कविता) [श्री भगवत जैन ... ४७

१३. वीर शासनकी पुण्य-वेला [श्री सुमेरचन्द दिवाकर ... ४८

१४. मनुष्योंमें उच्चता-नीचता क्यों? [श्री वंशीधर व्याकरणाचार्य ... ५१

१५. साहित्य सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन दर्शन [श्री रतनलाल संघवी ... ५३

१६. यापनीय साहित्यकी खोज [श्री नाथूराम प्रेमी ... ५९

१७. मातृत्व (कहानी) [श्री भगवत जैन ... ७२

१८. सुभाषित [श्री अज्ञात ... ७३

१९. उस विश्ववंद्यविभूतिका धुंधला चित्रण [श्री देवेन्द्र जैन ... ७७

२०. मजदूरोंमें राजनीतिज्ञ [श्री माईदयाल बी० ए० ... ८०

२१. दर्शनोंकी स्थूल रूपरेखा [श्री ताराचन्द शास्त्री ... ८२

२२. आज सम्बोधन (कविता) [श्री युगवीर ... ९०

२३. वीर-शासन-दिवस और हमारा उत्तर दायित्व [श्री दशरथलाल जैन ... ९१

२४. वीरके दिव्य उपदेशकी झलक [श्री जयभगवान वकील ... ९७

२५. साहित्य-परिचय और समालोचन [सम्पादकीय ... ९८

२६. वीतराग प्रतिमाओंकी अजैन प्रतिष्ठा विधि [श्री सूरजभान वकील ... १०५

२७. विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है। विवेकका अर्थ [श्रीमद् राजचन्द्र ... ११८, १२०

२८. आलोचन [युगवीर ... ११९

२९. तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी एक सटिप्पणप्रति [सम्पादकीय ... १२१

३०. जैन लक्षणावलि [सम्पादकीय ... १२६

३१. श्री वीर प्रभुकी वाणी, परम उपास्य (कविता) [श्री युगवीर ... टाइटिल

३२. सुभाषित (उर्दू कविता) [इक़बाल, चकबस्त, दाग़, अहसान ... ,,

श्री दि० जैनपरिषद्के सौजन्यसे प्राप्त

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया कनॉट सर्कस न्यू देहली।

विषय और लेखक	पृष्ठ
तत्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति --[सम्पादक ...	१२१
तामिल भाषाका जैनसाहित्य --[प्रो० ए० चक्रवर्ती एम. ए. ...	४८७,५६७,७२१
दर्शनोंकी आस्तिकता और नास्तिकताका आधार --[पं० ताराचन्द जैन दर्शनशास्त्री	३५२
दर्शनोंकी स्थूलरूपरेखा--[पं० ताराचंद जैन	८२
दीपकके प्रति (कविता)--[श्री रामकुमार स्नातक'	५७२
देवनन्दि-पूज्यपाद-स्मरण --[सम्पादक	५५७
द्रव्यमन --[पं० इन्द्रचंद्र शास्त्री ...	२५०
धर्मका मूल दुःखमें छुपा है—[श्री० जयभगवान वकील	४८२
धर्म बहुत दुर्लभ है—[श्री० जयभगवान वकील	५४५
धर्माचरणमें सुधार - [श्री बा० सूरजभान वकील	३८५
धवलादिश्रुत-परिचय-[सम्पादक ...	३,२०७
नर-कंकाल (कविता) [श्री भगवत् जैन	४७
नवयुवकोंको स्वामी विवेकानन्दके उपदेश [डा. बी. एल. जैन पी. एच. डी.	५६६
नृपतुंगका मतविचार [श्री एम. गोविन्द पै	५७८,६४५
परम उपास्य (कविता) [श्री 'युगवीर'	कि०१ टा०३
परमाणु (कविता) [पं० चैनसुखदास,	४४०
परवार जातिके इतिहास पर कुछ प्रकाश [पं० नाथूराम प्रेमी	४४१
परिग्रहपरिमाण व्रतके दासी दास, गुलाम थे [पं० नाथूराम प्रेमी	५२६
पंडितप्रवर आशाधर[पं०नाथूरामजी प्रेमी	६६६,६८७
पात्रकेसरी स्मरण [सम्पादक ...	४८१
पुरुषार्थ (कविता) [श्री मैथिलीशरण गुप्त	२०६
प्रथम स्वहित और बादमें परहित क्यों ? [श्री दौलतराम 'मित्र'	६६०
प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र [सम्पादक	३६३,४३३
प्रभाचन्द्र-स्मरण [सम्पादक ...	३१७
प्रश्न (कविता) [श्री 'रत्नेश' विशारद	६१०
प्राकृत पंचसंग्रहका रचनाकाल [प्रो० हीरालालजैन एम. ए.	४०६
प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा [सम्पादक	६६६, ७२६
फूलसे (कविता) [श्रीघासीराम जैन	कि०८-९ टा१
बढ़े चलो--[बा० माईदयाल जैन बी.ए.	११८
बंगीय विद्वानोंकी जैन साहित्यमें प्रगति—[श्रीअगरचंद नाहटा	१४६
बावलीघास--[श्री हरिशंकर शर्म्मा	५१०
बुद्धि हत्याका कारखाना--['गृहस्थ' से उद्धृत	१६४
बौद्ध तथा जैनग्रंथोंमें दीक्षा[प्रो० जगदीशचंद्रएम.ए.	१४३
भगवान महावीर और उनका उपदेश-- [श्री बा० सूरजभानजी वकील	१६६
भगवान महावीरके शासनमें गोत्रकर्म--- [श्री कामताप्रसाद	२८
भारतीय दर्शनोंमें जैन दर्शनका स्थान—[श्री हरिसत्य भट्टाचार्य	४६७
भूल स्वीकार—[श्री सन्तराम बी. ए....	५३५
मजदूरोंसे राजनीतिज्ञ--[श्री माईदयाल बी. ए.	८०
मनुष्यजातिके महान् उद्धारक --[श्री. बी. एल, सर्राफ	३२५
मनुष्योंमें ऊँचता-नीचता क्यों ?--[श्री वंशीधर व्याकरणाचार्य	५१
महावीर-गीत (कविता) --[श्री शान्तिस्वरूप जैन 'कुसुम'	३८६
मातृत्व (कहानी) --[श्री 'भगवत्' जैन ...	७२
मानवधर्म (कविता) [श्री 'युगवीर' ...	१०३
मौन संवाद (कविता) --[श्री 'युगवीर' ...	४०
मेंढकके विषयमें एक शंका --[श्रीदौलतराममित्र	७१८
मोक्षसुख --[श्रीमद् राजचन्द्र ...	४०७
बाल-समाज --[श्री अगरचन्द नाहटा	४६८
यापनीय साहित्यकी खोज [श्री नाथूराम प्रेमी	४६
राग --[श्रीमद् राजचन्द्र	१५६
वास्तविक-महत्ता [श्रीमद् राजचन्द्र ...	२३६
विद्यानन्दकृत सत्यशासनपरीक्षा [पं० महेंद्रकुमारजी शास्त्री	६६०
विद्यानन्द-स्मरण [सम्पादक	२६६

विषय और लेखक — पृष्ठ

विधवा-सम्बोधन—[श्री० 'युगवीर' … १४७
विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है—[श्रीमद् राजचन्द्र … ११८
विविध प्रश्न—[श्रीमद् राजचन्द्र … ३२,७६,८१,८६
विवेकका अर्थ—[श्रीमद् राजचन्द्र … १२०
वीतराग-प्रतिमाओंकी अजीव प्रतिष्ठा विधि—
[श्री सूरजभान वकील १०५
वीरका जीवन-मार्ग—[श्री जयभगवान जैन वकील ४१४
वीरके दिव्य उपदेशकी एक झलक—
[श्री जयभगवान वकील ६५
वीर नतुआ (कहानी)—[पं० मूलचन्द जी 'वत्सल' ३३६
वीर प्रभुकी वाणी (कविता)—[श्री 'युगवीर' कि० १ टा० ३
वीरशासनकी पुण्य वेला—[श्री सुमेरचन्द दिवाकर ४८
वीरशासनकी विशेषता—[श्री अगरचन्द नाहटा ४१
वीरशासन-जयन्ती-उत्सव—[पं० परमानन्द शास्त्री
कि० ८-६ टा० ३
वीरशासन दिवस और हमारा उत्तरदायित्व—
[श्री दशरथलाल जैन ६१
वीरशासनमें स्त्रियोंका स्थान—[श्री इन्दुकुमारी
'हिन्दीरत्न' ४५
वीरशासनाभिनन्दन—[सम्पादक … २
'वीरशासनांक' पर सम्मतियाँ—[२३५,२६२,२६६
वीर-श्रद्धाञ्जलि—[श्री रघुवीरशरण एम. ए. ४०८
वीरसेन-स्मरण—[सम्पादक … ६२१
वीरसेवामन्दिरको सहायता—[अधिष्ठाता कि० ६ टा० ४,
कि० ८-६ टा० ४ कि० १२ टा० २
वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालाको सहायता—[अधिष्ठाता
कि० १ टा० ३
वीरसेवामन्दिर-विज्ञप्ति-[अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' ७५५
वीर-स्तवन—[श्री चमन्नीलाल न्यायतीर्थ कि० ६ टा० १
वीरोंकी अहिंसाका प्रयोग—[श्री महात्मा गांधी ६०७
शिकारी (कहानी)—[श्री 'भगवत्' जैन २७७
शिक्षा (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर 'पंचरत्न' ६५६
शिक्षित महिलाओंका अपव्यय—[श्री ललिता कुमारी
जैन 'प्रभाकर' ६८५
श्री कुन्दकुन्द-स्मरण—[सम्पादक … ४२५
श्रीपालचरित्र-साहित्यके सम्बन्धमें शेष ज्ञातव्य—
[श्री अगरचन्द नाहटा ४२७
श्रीभद्रबाहु स्वामी—[मुनि श्री चतुरविजय ६७८
श्रीवीर स्मरण—[सम्पादक … १
श्रीशुभचन्द्राचार्यका समय और ज्ञानार्णवकी एक प्राचीन
प्रति—[पं० श्री नाथूराम 'प्रेमी' … २७०
श्वेताम्बर कर्मसाहित्य और दिगम्बर पंचसंग्रह—
[पं० परमानन्द जैन शास्त्री … ३७८
श्वेताम्बर न्यायसाहित्यपर एक दृष्टि—[पं० रतनलाल १७७
सत्य अनेकान्तात्मक है—[श्री जयभगवान वकील १७
सफल जन्म (कविता)—[श्री भगवत् जैन ४४
सफेद पत्थर अथवा लालहृदय—['दीपक' से उद्धृत ५७७
सम्पादकीय (टिप्पणियां) … ६६५
सम्बोधन (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर 'पंचरत्न' २८३
सरल योगाभ्यास—[श्री हेमचन्द मोदी ३४१
संसारमें सुखकी वृद्धि कैसे हो?—[श्री दौलतराम ३६२
सामायिक-विचार—[श्रीमद् राजचन्द्र कि० ४ टा० ३
साहित्य-परिचय और समालोचना—[सम्पादक ६८,
२००, ३१२, ३७४ कि० ६ टा० ३
साहित्य-सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन दर्शन—
[पं० रतनलाल संघवी ५६, ४११,
सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक—
[पं० परमानन्द जैन शास्त्री ६२६
सिद्धसेन स्मरण—[सम्पादक … २०५
सुधार संसूचन—[सम्पादक … २१६
सुभाषित- … ७६, कि० १ टा० ४, कि० ४ टा० ४
स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य—[श्रीमद् राजचन्द्र २७
हम और हमारा यह सारा संसार—
[बा० सूरजभान वकील ५५६
हरिभद्रसूरि—[पं० रतनलाल संघवी २८६,३२६
हिन्दी साहित्य सम्मेलन और जैन दर्शन—
[पं० सुमेरचन्द जैन, न्यायतीर्थ २८४
होलीका त्यौहार—[सम्पादक … … ३५०
होली है! (कविता)—[श्री 'युगवीर' … ३५६
होली होली है! (कविता)—[श्री 'युगवीर' … ३५१

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३	सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली कार्तिक पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६	किरण १

श्रीवीर-स्मरण

शुद्धि-शक्त्योः परां काष्ठां योऽवाप्य शान्तिमन्दिरः ।
देशयामास सद्धर्मं श्रीवीरं प्रणमामि तम् ॥ —युगवीरः

जिन्होंने ज्ञानावरण-दर्शनावरणके विनाशसे निर्मलज्ञान-दर्शनकी आविर्भूतिरूप शुद्धिकी तथा अन्तरायकर्मके विलोपसे वीर्यलब्धिरूप शक्तिकी पराकाष्ठाको--चरमसीमाको—प्राप्त करके और मोहनीय कर्मके समूल विध्वंससे आत्मामें पूर्णशान्तिकी स्थापना करके अथवा बाधारहित चिरशान्तिके निवास-स्थान बनकर समीचीन धर्मकी देशना की है उन श्रीवीर भगवानको मैं सादर प्रणाम करता हूँ।

स्थेयाज्जातजयध्वजाऽप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः, प्रध्वस्ताऽखिल-दुर्नय-द्विषदिभः सन्नीतिसामर्थ्यतः ।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्ग-मथनोऽर्हन्वीरनाथः श्रिये, शश्वत संस्तुति-गोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥

--युक्त्यनुशासन-टीकायां, श्रीविद्यानन्दः

जो जयध्वज प्राप्त करने वालोंमें अद्वितीय हैं, जिनके महान सामर्थ्य अथवा महती प्रभुताका प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने सन्नीतिकी—अनेकान्तमय स्याद्वादनीतिकी—सामर्थ्यसे संपूर्ण दुर्नयरूप शत्रुगजों-को ध्वस्त कर दिया है--तबाह व बर्बाद कर दिया है--जो त्रिविध सन्मार्गस्वरूप हैं—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रकी साक्षात् मूर्ति हैं—जिन्होंने कुमार्गोंको मथन कर डाला है, जो सदा कलुषित आशयसे रहित सुधीजनोंकी संस्तुतिका विषय बने हुए हैं और श्रीसम्पन्न सत्यवाक्योंके अधिपति अथवा आगमके स्वामी हैं, वे श्रीवीर प्रभु अर्हन्त भगवान् कल्याणके लिये स्थिर रहें—चिरकाल तक लोक-हृदयोंमें निवास करें।

वीरशासनाऽभिनन्दन

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणाऽनुशासनविभवः ।
दोष-कशाऽसनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभा-कृशाऽऽसनविभवः ॥ —स्वयंभूस्तोत्रे, समन्तभद्रः ।

हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचनका यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादनस्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्त रहा है—,उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-कोलिये हुए शिष्यजनोंका भव—संसारपरिभ्रमण—विनष्ट हुआ है । इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषोंरूपी चाबुकोंका निराकरण करने में समर्थ हैं—उन्हें अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञान-तेजसे जिन्होंने लोकप्रसिद्ध विभुओंको—हरिहरादिको—निस्तेज कर दिया है, ऐसे गणधरदेवादि महात्मा भी आपके इस शासनकी स्तुति करते हैं ।

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं, नय प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ —युक्त्यनुशासने, समन्तभद्रः ।

हे वीर जिन ! आपका मत—शासन—नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु तत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला और संपूर्ण प्रवादियोंसे अबाध्य होनेके साथ साथ दया(अहिंसा),दम(संयम),त्याग और समाधि (प्रशस्त ध्यान)इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है । यहीसब उसकी विशेषता है,और इसलिये वह अद्वितीय है ।

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ —युक्त्यनुशासने, समन्तभद्रः ।

हे वीर प्रभु ! आपका प्रवचनतीर्थ-शासन-सर्वान्तवान् है—सामान्य, विशेष, द्रव्य, पर्याय, विधि, निषेध, एक, अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है—और वह गुण-मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये होनेसे सुव्यवस्थित है—उसमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है—जो धर्मोंमें परस्पर अपेक्षा को नहीं मानते—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाते हैं—उनके शासनमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न पदार्थ व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है । अतः आपका ही यह शासन तीर्थ सर्वदुःखोंका अन्त करने वाला है, यही निरन्त है—किसी भी मिथ्यादर्शनके द्वारा खण्डनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय(विकास)का साधक ऐसा 'सर्वोदयतीर्थ' है । भावार्थ—आपका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों(परस्पर निरपेक्ष-नयों) अथवा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करने वाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्त-वादरूप मिथ्यादर्शन ही संसार में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं, इसलिये इन दुर्नयरूप मिथ्यादर्शनोंका अन्त करने वाला होनेसे आपका शासन समस्त आपदाओंका अन्त करने वाला है, अर्थात् जो लोग आपके शासनतीर्थका आश्रय लेते हैं, उसे पूर्ण तया अपनाते हैं, उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं । और वे अपना पूर्ण अभ्युदय (उत्कर्ष एवं विकास) सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं ।

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥ युक्त्यनु०, श्रीसमन्तभद्राचार्यः ।

हे वीर भगवन् ! आपके इष्ट-शासनसे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि(मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्तिचक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे—आपके इष्टका—शासनका—अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामत का आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है—अथवा यूँ कहिये कि आपके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है

धवलादि-श्रुत-परिचय

[सम्पादकीय]

'धवल' और 'जयधवल' नामसे जो सिद्धान्तग्रन्थ प्रसिद्धिको प्राप्त हैं वे वास्तवमें कोई मूल-ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि टीका-ग्रन्थ हैं। खुद उनके रचयिता वीरसेनाचार्यने तथा जिनसेनाचार्यने उन्हें टीका ग्रन्थ लिखा है और इन टीकाओंके नाम 'धवला', 'जयधवला' बतलाए हैं, जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है--

"भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण" ॥५॥
"कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला"॥८॥

—धवल-प्रशस्ति

"इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी ।"
"एकान्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥"

—जयधवल-प्रशस्ति

धवल और जयधवल नामोंकी यह प्रसिद्धि आजकी अथवा बहुत ही आधुनिक नहीं है। ब्रह्म हेमचन्द्र अपने प्राकृत श्रुतस्कन्धमें और विक्रमकी १०वीं-११वीं शताब्दीके विद्वान महाकवि पुष्पदन्त अपने महापुराणमें भी इन्हीं नामोंके साथ इन ग्रन्थोंका उल्लेख करते हैं। यथा—

"सदरीसहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहसबोधव्वो ।
महबंधो चालीसं सिद्धंततयं अहं वंदे ॥"

—श्रुतस्कन्ध, ८८

"ण उ बुज्झिउ आयमु सद्दधामु ।
सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥"

—महापुराण, १,६,८

इस तरह ये नाम बहुत कुछ पुराने तथा रूढ हैं और इनकी सृष्टि टीकाको भाष्यरूपमें प्रदर्शित करनेकी दृष्टिसे हुई जान पड़ती है। परन्तु आम जैन-जनता सुने-सुनाये आधारपर इन्हें मूल एवं स्वतंत्र ग्रंथोंके रूपमें ही मानती आ रही है। अपने स्वरूपसे मूल-ग्रंथ न होकर टीका-ग्रंथ होते हुए भी, ये अपने साथमें उन मूल सूत्रग्रन्थोंको लिये हुए हैं जिनके आधार पर इनकी यह इतनी बड़ी तथा भव्य इमारत खड़ी हुई है। सिद्धिविनिश्चय-टीका तथा कुछ चूर्णियों आदिकी तरह ये प्रायः सूत्रोंके संकेत-मात्रको लिये हुए नहीं हैं; बल्कि मूल सूत्रोंको पूर्णरूपसे अपनेमें समाविष्ट तथा उद्धृत किये हुए हैं, और इसलिये इनकी प्रतिष्ठा मूल सिद्धान्तग्रन्थों-जैसी ही है और ये प्रायः स्वतन्त्ररूपमें 'सिद्धान्तग्रन्थ' समझे तथा उल्लेखित किये जाते हैं।

धवल-जयधवलकी आधारशिलाएँ

जयधवलकी ६० हज़ार श्लोकपरिमाण निर्माणको लिये भव्य इमारत जिस आधारशिलापर खड़ी है उसका नाम 'कसायपाहुड' (कषायप्राभृत) है। और धवलकी ७० हज़ार या ७२ हज़ार * श्लोक परिमाण-निर्माणको लिये हुए भव्य इमारत जिस मूलाधार पर खड़ी हुई है वह 'षट्खण्डागम' है। षट्खण्डागमके

* ब्रह्म हेमचन्द्रने 'श्रुतस्कन्ध' में धवलका परिमाण जब ७० हज़ार श्लोक जितना दिया है, तब इन्द्रनन्दि आचार्यने अपने 'श्रुतावतार'में उसे 'ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या' पदके द्वारा ७२ हज़ार सूचित किया है।

प्रथम चार खंडों—१ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, और ४ वेदनाकी, जिसे 'वेयणकसीणपाहुड' तथा 'कम्मपयडिपाहुड' (कर्मप्रकृतिप्राभृत) भी कहते हैं, यह पूरी टीका है—इन चार खण्डोंका इसमें पूर्णरूपसे समावेश है और इसलिये इन्हें ही प्रधानतः इस ग्रन्थकी आधार-शिला कहना चाहिये। शेष 'वर्गणा' और 'महाबन्ध' नामके दो खण्डोंकी इसमें कोई टीका नहीं है और न मूल सूत्ररूपमें ही उन खण्डोंका संग्रह किया गया है—उनके किसी-किसी अंशका ही कहीं-कहीं पर समावेश जान पड़ता है।

वर्गणाखण्ड-विचार

धवल ग्रन्थमें 'बन्धस्वामित्वविचय' नामके तीसरे खण्डकी समाप्तिके अनन्तर मंगलाचरणपूर्वक 'वेदना' खण्डका प्रारम्भ करते हुए, 'कम्मपयडिपाहुड' इस द्वितीय नामके साथ उसके २४ अनुयोगद्वारोंकी सूचना करके उन अनुयोगद्वारोंके कदि, वेयणा, फास, कम्म, पयडि, बंधण, इत्यादि २४ नाम दिये हैं और फिर उन अनुयोगद्वारों (अधिकारों) का क्रमशः उनके अवान्तर अनुयोगद्वारोंके भेद-प्रभेद-सहित वर्णन करते हुए अन्तके 'अप्पाबहुग' नामक २४वें अनुयोगद्वारकी समाप्ति पर लिखा है—"एवं चउवीसदिमणिओगद्दारं समत्तं।" और फिर "एवं सिद्धांतार्णवं पूर्तिमगमत् चतुर्विंशति अधिकार २४ अणिओगद्दाराणि। नमः श्रीशांतिनाथाय श्रेयस्करो बभूव" ऐसा लिखकर "जस्ससेसाएणमए' इत्यादि ग्रन्थप्रशस्ति दी है, जिसमें ग्रन्थकार श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी गुरुपरम्परा आदिके उल्लेखपूर्वक इस धवलाटीकाकी समाप्तिका समय कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी शकसंवत् ७३८ सूचित किया है। इससे साफ जाना जाता है कि यह 'धवल' ग्रन्थ 'वेदनाखण्ड' के साथही समाप्त होता है—वर्गणाखण्ड उसके साथमें लगा हुआ नहीं है।

परन्तु पं० पन्नालालजी सोनी आदि कुछ विद्वानोंका खयाल है कि 'धवला' चार खण्डोंकी टीका न होकर पाँच खण्डोंकी टीका है—पाँचवाँ 'वर्गणा' खण्ड भी उसमें शामिल है। उनकी रायमें 'वेदनाखण्डमें २४ अनुयोगद्वार नहीं हैं, 'वेदना' नामका दूसरा अनुयोगद्वार ही 'वेदनाखण्ड' है और 'वर्गणाखण्ड' फास, कम्म, पयडि नामके तीन अनुयोगद्वारों और 'बन्धन' अनुयोगद्वारके 'बंध' और 'बंधणिज्ज' अधिकारोंसे मिलकर बनता है। ये फासादि अनुयोगद्वार वेदनाखण्डके नहीं किन्तु 'कम्मपयडिपाहुड' के हैं, जो कि अग्रायणीय नामके दूसरे पूर्वकी पाँचवीं च्यवनलब्धि वस्तुका चौथा पाहुड है और जिसके कदि, वेयणा (वेदना) फासादि २४ अनुयोगद्वार हैं। 'वेदनाखण्ड' इस कम्मपयडिपाहुडका दूसरा 'वेदना' नामका अनुयोगद्वार है। इस वेदनानुयोगद्वारके कहिये या वेदनाखण्डके कहिये १६ ही अनुयोगद्वार हैं, जिनके नाम वेदणणिक्खेव, वेदणणयविभासणदा, वेदणणामविहाण, वेदणदव्वविहाण, वेदणखेत्तविहाण, वेदणकालविहाण, वेदणभावविहाण आदि हैं।'*

ऐसी राय रखने और कथन करने वाले विद्वान् इस बातको भुला देते हैं कि 'कम्मपयडिपाहुड' और 'वेयणकसीणपाहुड' दोनों एक ही चीज़के नाम हैं। कर्मोंका प्रकृत स्वरूप वर्णन करनेसे जिस प्रकार

* देखो, 'जैनसिद्धान्तभास्कर' के पाँचवें भागकी तृतीय किरणमें प्रकाशित सोनीजीका 'षट्खण्डागम और भ्रमनिवारण' शीर्षक लेख। आगे भी सोनीजीके मन्तव्योंका इसी लेखके आधार पर उल्लेख किया गया है।

'कम्मपयडिपाहुड' गुणनाम है उसी प्रकार 'वेयण-कसीणपाहुड' भी गुणनाम है; क्योंकि 'वेदना' कर्मोंके उदयको कहते हैं, उसका निरवशेषरूपसे जो वर्णन करता है उसका नाम 'वेयणकसीणपाहुड' है; जैसा कि 'धवला' के निम्न वाक्यसे प्रकट है, जो कि आराके जैनसिद्धान्तभवनकी प्रतिमें पत्र नं० १७ पर दिया हुआ है—

"कम्माणं पयडिसरूवं वण्णेदि तेण कम्मपयडिपाहुडे त्ति गुणणामं, वयणकसीणपाहुडे त्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि, वेयणा कम्माणमुदयो त कसीणं णिखसेसं वण्णदि अदो वेयणकसीणपाहुडमिदि, एदमवि गुणणाममेव।"

वेदनाखण्डका विषय 'कम्मपयडिपाहुड' न होनेकी हालतमें यह नहीं हो सकता कि भूतबलि आचार्य कथन करने तो बैठें वेदनाखण्डका और करने लगें कथन कम्मपयडिपाहुडका, उसके २४ अधिकारोंका क्रमशः नाम देकर ! उस हालतमें कम्मपयडिपाहुडके अन्तर्गत २४ अधिकारों (अनुयोगद्वारों) मेंसे 'वेदना' नामके द्वितीय अधिकारके साथ अपने वेदनाखण्डका सम्बन्ध व्यक्त करनेके लिये यदि उन्हें उक्त २४ अधिकारोंके नामका सूत्र देनेकी जरूरत भी होती तो वे उसे देकर उसके बाद ही 'वेदना' नामके अधिकारका वर्णन करते; परन्तु ऐसा नहीं किया गया—'वेदना' अधिकारके पूर्व 'कदि' अधिकारका और बादको 'फास' आदि अधिकारोंका भी उद्देशानुसार (नामक्रमसे) वर्णन प्रारम्भ किया गया है। धवलकार श्रीवीरसेनाचार्यने भी, २४ अधिकारोंके नामवाले सूत्रकी व्याख्या करनेके बाद, जो उत्तरसूत्रकी उत्थानिका दी है उसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि उद्देशके अनुसार निर्देश होता है इसलिये आचार्य 'कदि' अनुयोगद्वारका प्ररूपण करनेके लिये उत्तरसूत्र कहते हैं। यथा—

"जहा उद्देसो तहा णिद्देसो त्ति कट्टु कदि-अणिओगद्दारं परूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि।" *

इससे स्पष्ट है कि 'वेदनाखण्ड' का विषय ही 'कम्मपयडिपाहुड' है; इसीसे इसमें उसके २४ अधिकारोंको अपनाया गया है, मंगलाचरण तकके ४४ सूत्र भी उसीसे उठाकर रक्खे गये हैं। यह दूसरी बात है कि इसमें उसकी अपेक्षा कथन संक्षेपसे किया गया है, कितने ही अनुयोगद्वारोंका पूरा कथन न देकर उसे छोड़ दिया है और बहुतसा कथन अपनी ग्रंथपद्धतिके अनुसार सुविधा आदिकी दृष्टिसे दूसरे खण्डोंमें भी ले लिया गया है। इसीसे 'षट्खण्डागम' महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) से उद्धृत कहा जाता है।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि वेदनाखण्डके मूल २४ अनुयोगद्वारोंके साथ ही धवला टीका समाप्त हो जाती है, जैसाकि ऊपर बतलाया गया है, और फिर उसमें वर्गणाखण्ड तथा उसकी टीकाके लिये कोई स्थान नहीं रहता। उक्त २४ अनुयोगद्वारोंमें 'वर्गणा' नामका कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। 'बंधण' अनुयोगद्वारके चार भेदोंमें 'बंधणिज्ज' भेदका वर्णन करते हुए, उसके अवान्तर भेदोंमें विषयको स्पष्ट करनेके लिये † संक्षेपमें 'वर्गणा-प्ररूपणा' दी गई है—वर्गणाके

---

* देखो, आरा जैनसिद्धान्तभवनकी 'धवला' प्रति, पत्र ५५२।

† जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"तेण बंधणिज्जपरूवणे कीरमाणे वग्गणपरूवणा णिच्छएणकायव्वा। अण्णहा तेवीस वग्गणासुइया चेव वग्गणा बंधपाओगा अवण्णा जो बंधपाओगा ण होंतिअत्तिगमाणु ववत्तीदो।"

१६ अधिकारोंका उल्लेख करके भी दो ही अधिकारोंका वर्णन किया है। और भी बहुत कुछ संक्षिप्ततासे काम लिया है, जिससे उसे वर्गणाखण्ड नहीं कहा जा सकता और न कहीं वर्गणाखण्ड लिखा ही है। इसी संक्षेप-प्ररूपणा-हेतुको लेकर अन्यत्र कदि, फास, और कम्म आदि अनुयोगद्वारोंके खण्डग्रन्थ होनेका निषेध किया गया है। तब अवान्तर अनुयोगद्वारोंके भी अवान्तर भेदान्तर्गत इस संक्षिप्त वर्गणाप्ररूपणाको 'वर्गणाखण्ड' कैसे कहा जा सकता है?

ऐसी हालतमें सोनीजी जैसे विद्वानोंका उक्त कथन कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक इतने परसे ही स्वयं समझ सकते हैं, फिर भी साधारण पाठकोंके ध्यानमें यह विषय और अच्छी तरहसे आजाय, इसलिये, मैं इसे यहाँ और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ और यह खुले रूपमें बतला देना चाहता हूँ कि 'धवला' वेदनान्त चार खण्डोंकी टीका है--पाँचवें वर्गणाखण्डकी टीका नहीं है।

वेदनाखण्डकी आदिमें दिये हुए ४४ मंगलसूत्रोंकी व्याख्या करनेकेबाद श्रीवीरसेनाचार्यने मंगलके 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' ऐसे दो भेद करके उन मंगलसूत्रोंको एक दृष्टिसे अनिबद्ध और दूसरी दृष्टिसे निबद्ध बतलाया है और फिर उसके अनन्तर ही एक शंका-समाधान दिया है, जिसमें उक्त मंगलसूत्रोंको ऊपर कहे हुए तीन खण्डों—वेदणा, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधो—का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की गई है कि 'वर्गणाखण्ड' की आदिमें तथा 'महाबन्धखंड' की आदिमें प्रथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरणके बिना भूतबलि आचार्य ग्रन्थका प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि, [बंधण] अनुयोगद्वारोंका भी यहाँ (एत्थ)—इस वेदनाखण्डमें—प्ररूपण किया गया है, उन्हें खण्डग्रन्थ-संज्ञा न देनेका कारण उनके प्रधानताका अभाव है, जो कि उनके संक्षेप कथनसे जाना जाता है। इस कथनसे सम्बन्ध रखने वाले शंका-समाधानके दो अंश इस प्रकार हैं:—

"उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं? तिण्णं खंडाणं। कुदो? वग्गणामहाबंधाणं आदीए मंगलकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारंभदि तस्स अणाइरियत्तप्पसगादो।"

"कदि-फास-कम्म-पयडि-(बंधण)-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे? ण तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे? संखेवेण परूवणादो।"*

उक्त, 'फास' आदि अनुयोगद्वारोंमेंसे किसीके भी शुरूमें मंगलाचरण नहीं है—'फासे त्ति', 'कम्मे त्ति' 'पयडि त्ति', 'बंधणे' त्ति' सूत्रोंके साथ ही क्रमशः मूल अनुयोगद्वारोंका प्रारम्भ किया गया है, और इन अनुयोगद्वारोंकी प्ररूपणा वेदनाखण्डमें की गई है तथा इनमेंसे किसीको खण्डग्रन्थकी संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपरके शंकासमाधानसे स्पष्ट है। ऐसी हालतमें सोनीजीका 'वेदना' अनुयोगद्वारको ही 'वेदनाखण्ड' बतलाना और फास, कम्म, पयडि अनुयोगद्वारोंको तथा बंधण-अनुयोगद्वारके बन्ध और बंधनीय अधिकारोंको मिलाकर 'वर्गणाखण्ड'की कल्पना करना और यहाँ तक लिखना कि ये अनुयोगद्वार "वर्गणाखंडके नामसे प्रसिद्ध हैं" कितना असंगत और भ्रमपूर्ण है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं रहती। 'वर्गणाखंड' के नामसे

*देखो, आरा-जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति पत्र ४३२

उक्त अनुयोगद्वारोंके प्रसिद्ध होनेकी बात तो बड़ी ही विचित्र है ! अभी तो यह ग्रन्थ लोकपरिचयमें भी अधिक नहीं आया। फिर उसके कुछ अनुयोगद्वारोंकी 'वर्गणा-खंड' नामसे प्रसिद्धिकी तो बात ही दूर है। सोनीजीको यह सब लिखते हुए इतनी भी खबर नहीं पड़ी कि यदि अकेला वेदना-अनुयोगद्वार ही वेदनाखंड है तो फिर 'कदि' अनुयोगद्वारको कौनसे खंडमें शामिल किया जायगा ? 'बंधसामित्तविचओ' नामके पूर्वखंडमें तो उसका समावेश हो नहीं सकता--वह अपने विषय और मंगलसूत्रों आदिके द्वारा उससे पृथक् हो चुका है। इसी तरह यह भी खबर नहीं पड़ी कि यदि बंधण-अनुयोगद्वारके बंध और बन्धनीय अधिकारोंको वर्गणा-खंडमें शामिल किया जायगा तो शेष अधिकारके क्रमशः प्राप्त कथनके लिये कौनसे नये खंडकी कल्पना करनी होगी ? क्या उसे किसी भी खंडमें शामिल न करके अलग ही रखना होगा? आशा है इन सब बातों-के विचार परसे सोनीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी।

अब मैं उन बातोंको भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ जिनसे सोनीजीको भ्रम हुआ जान पड़ता है और जिन्हें वे अपने पक्षकी पुष्टिमें हेतुरूपसे प्रस्तुत करते हैं।

(क) सबसे पहली बात है वेदना-अनुयोगद्वारके अन्तमें वेदनाखंडकी समाप्तिका लिखा जाना, जिसकी शब्दरचना इस प्रकार है--

"एवं वेयणअप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।"

इस वाक्यमें **"वेयणाखंड समत्ता"** यह पद अशुद्ध है—**"वेयणा समत्ता"** ऐसा होना चाहिये; क्योंकि वेयणाकसीणपाहुड अथवा कम्मपयडिपाहुडके २४ अनु-योगद्वारोंमेंसे, जिनका ग्रन्थमें उद्देश-क्रमसे कथन किया है, 'वेयणा' नामका दूसरा अनुयोगद्वार है, जिसकी टीका प्रारंभ करते हुए वीरसेनाचार्यने भी, **"वेयणम-हाहियारं विविहियारं परूवेमो"** इस प्रतिज्ञावाक्यके द्वारा उसे विविध अधिकारोंसे युक्त 'वेयणा' नामका महाअधिकार सूचित किया है—'वेयणाखंड' नहीं लिखा है--; वही अधिकार अथवा अनुयोगद्वार अपने अवान्तर १६ अनुयोगद्वारों और उनके भी फिर अवान्तर अधिकारोंके साथ वहाँ पूरा हुआ है। 'वेयणा' के १६ अनुयोगद्वारोंमें अन्तका अनुयोगद्वार 'वेयणअप्पाबहुग' हैं, उसीकी समाप्तिके साथ 'वेयणा' की समाप्तिकी बात उक्त समाप्तिसूचक वाक्यमें कही गई है। 'वेयणा' पद स्त्रीलिंग होनेसे उसके साथमें 'समत्ता' (समाप्त हुई) क्रिया ठीक बैठ जाती है। दोनोंके बीचमें पड़ा हुआ 'खंड' शब्द असंगत और प्रक्षिप्त जान पड़ता है। श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीकामें कहीं भी अकेले 'वेयणा' अनुयोगद्वारको 'वेयणाखंड' नहीं लिखा है— वे 'वेयणाखण्ड' अनुयोगद्वारोंके उस समूहको बतलाते हैं जिसका प्रारम्भ 'कदि' अनुयोगद्वारसे होता है और इसीसे 'कदि' अनुयोगद्वारके शुरूमें दिये हुए उक्त ४४ मंगलसूत्रोंको उन्होंने 'वेदनाखण्ड' का मंगलाचरण बतलाया है; जैसा कि उनके निम्नवाक्यमें प्रयुक्त हुए **"वेयणाखण्डस्स आदीए मंगलट्ठं"** शब्दोंसे स्पष्ट है—

"ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडिपाहु-डस्स कदियादिचउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठवि-दस्स णिबद्धत्तविरोहादो।"

ऐसी हालतमें और इससे पूर्वमें डाले हुए प्रकाश-की रोशनीमें उक्त 'खंड' शब्दके प्रक्षिप्त होनेमें कोई

सन्देह मालूम नहीं होता। 'खण्ड' शब्द लेखककी किसी असावधानीका परिणाम है। हो सकता है कि यह उस लेखकके द्वारा ही बादमें बढ़ाया गया हो जिसने उक्त वाक्यके बाद अधिकारकी समाप्तिका चिन्ह होते हुए भी नीचे लिखे वाक्योंको प्रक्षिप्त किया है—

"णमो णाणाराहणाए णमो दंमणाराहणाए णमो चरित्ताराहणाए णमो तवाराहणाए। णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। णमो भयवदो महदिमहावीरवड्ढमाणबुद्धिरिसिस्स णमो भयवदो गोयमसामिस्स० नमः सकलविमलकेवलज्ञानावभासिने नमो वीतरागाय महात्मने नमो बर्द्धमानभट्टारकाय। वेदनाखण्डसमाप्तम्।"*

ये वाक्य मूलग्रन्थ अथवा उसकी टीकाके साथ कोई खास सम्बन्ध रखते हुए मालूम नहीं होते—वैसे ही किसी पहले लेखक-द्वारा अधिकार-समाप्तिके अन्तमें दिए हुए जान पड़ते हैं। और भी अनेक स्थानोंपर इस प्रकारके वाक्य पाये जाते हैं, जो या तो मूलप्रतिके हाशिये पर नोट किये हुए थे अथवा अधिकार-समाप्ति के नीचे छूटे हुए खाली स्थानपर बादको किसीके द्वारा नोट किये हुए थे; और इस तरह कापी करते समय ग्रन्थमें प्रक्षिप्त हो गये हैं। वीरसेनाचार्यकी अपने अधिकारोंके अन्तमें ऐसे वाक्य देनेकी कोई पद्धति भी नहीं पाई जाती—अधिकांश अधिकार ही नहीं किन्तु खंड तक ऐसे वाक्योंसे शून्य पाये जाते हैं। और कितनेही अधिकारोंमें ऐसे वाक्य प्रक्षिप्त हो रहे हैं जिनका पूर्वापर कोई भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। उदाहरणके लिए 'जीवट्ठाण'की एक चूलिका (संभवतः ७वीं या ८वीं) में

"तव्वदिरित्तठाणाणि असंखेज्जगुणाणि पडिवादुप्पादठाणाणि मोत्तूण संससव्वट्ठाणाणं गहणादो।"

इस वाक्यके अनन्तर ही बिना किसी सम्बन्धके ये वाक्य दिये हुए हैं।

"श्रीश्रुतिकीर्तित्रैविद्यदेवस्थिरं जीयाओ ॥१०॥
नमो वीतरागाय शान्तये"†

ऐसी हालतमें उक्त 'खंड' शब्द निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त अथवा लेखककी किसी भूलका परिणाम है। यदि वीरसेनाचार्यको 'वेदना' अधिकारके साथ ही 'वेदनाखंड' का समाप्त करना अभीष्ट होता तो वे उसके बाद ही क्रमप्राप्त वर्गणाखंडका स्पष्ट रूपसे प्रारंभ करते—फासाणियोगद्वारका प्रारंभ करके उसकी टीकाके मंगलाचरणमें 'फासणिओगं परूवेमो' ऐसा न लिखते। मूल 'फास' अनुयोगद्वारके साथमें कोई मंगलाचरण न होनेसे उसके साथ वर्गणाखंडका प्रारम्भ नहीं किया जा सकता; क्योंकि वर्गणाखंडके प्रारंभमें भूतबलि आचार्यने मंगलाचरण किया है, यह बात श्रीवीरसेनाचार्यके शब्दोंसे ही ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। अतः उक्त समाप्तिसूचक वाक्यमें 'खंड' शब्दके प्रयोग मात्रसे सोनीजीके तथा उन्हींके सदृश दूसरे विद्वानोंके कथनको कोई पोषण नहीं मिलता। उनकी इस पहली बातमें कुछ भी जान नहीं है—वह एक निर्दोष हेतुका काम नहीं दे सकती।

(ख) दूसरी बात बहुत साधारण है। फासाणियोगद्वारकी टीकाके अन्तमें एक वाक्य निम्नप्रकारसे पाया जाता है—

"जदि कम्मफासे पयदं तो कम्मफासो सेसप-

---

* देखो आरा-जैन सिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति, पत्र ८२७।

† देखो, आरा-जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति पत्र नं० २५१।

एणारसअणिओगद्दारेहिं भूदबलिभयवदा सो एत्थ किएण परूविदो ? ण एस दोसो, कम्मक्खंधस्स फाससरिणदस्स सेसाणियोगद्दारेहिं परूवणाए कीरमाणाए वेयणाए परूविदत्थादो विसेसो णत्थि त्ति।"

इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया गया है कि फासाणिओगद्दारके १६ अनुयोगद्वारोंमेंसे एकका कथन करके शेष १५ अनुयोगद्वारोंका कथन भूतबलि आचार्यने यहाँ इसलिये नहीं किया है कि उनकी प्ररूपणामें 'वेदना' अधिकारमें प्ररूपित अर्थसे कोई विशेष नहीं है।

इसी तरह पयडि (प्रकृति) अनुयोगद्वारके अन्तमें भूतबलि आचार्यका एक वाक्य निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है--

सेसं वेयणाए भंगो।"

इस वाक्यकी टीकामें वीरसेनाचार्य लिखते हैं--
"सेसाणिओगद्दाराणं जहा वेयणाए परूवणा कदा तहा कायव्वा।" अर्थात् शेष अनुयोगद्वारोंकी प्ररूपणा जिस प्रकार वेदना-अनुयोगद्वारमें की गई है उसी प्रकार यहाँ भी कर लेनी चाहिये।

उक्त दोनों वाक्योंको देकर सोनीजी लिखते हैं--
"इन दो उद्धरणोंसे भी स्पष्ट होता है कि 'फासाणियोगद्दार' के पहले तक ही 'वेदनाखंड' है।" परन्तु कैसे स्पष्ट होता है ?, इसे सोनी जी ही समझ सकते हैं !! यह सब उसीभ्रम तथा भूलका परिणाम है जिसके अनुसार 'फासाणियोगद्दार' के पूर्ववर्ती 'वेयणाअणियोगद्दार' को 'वेदनाखण्ड' समझ लिया गया है और जिसका ऊपर काफी स्पष्टीकरण किया जा चुका है। उक्त वाक्योंमें प्रयुक्त हुआ 'वेयणा' शब्द 'वेदनाअनुयोगद्वार' का वाचक है--'वेदनाखण्ड' का वाचक नहीं है।

(ग) तीसरी बात वर्गणाखण्डके उल्लेखसे सम्बन्ध रखती है। सोनीजी 'जयधवला' से **"सिप्पोग्गहादीणं अत्थो जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ परू-वेदव्वो"** यह वाक्य उद्धृत करके लिखते हैं—

"जयधवलमें न तो अवग्रह आदिका अर्थ लिखा है और न मतिज्ञानके ३३६ भेद ही स्पष्ट गिनाये गये हैं। 'प्रकृति'अनुयोगद्वारमें इन सबका स्पष्ट और सविस्तर वर्णन टीकामें ही नहीं बल्कि मूलमें है। इससे मालूम होता है कि वेदनाखण्डके आगेके उक्त अनुयोगद्वार वर्गणाखण्डके अन्तर्गत हैं या उनका सामान्य नाम वर्गणाखण्ड है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य 'प्रकृति' अनुयोगद्वारको वर्गणाखण्डके नामसे न लिखते।"

कितना बढ़िया अथवा विलक्षण यह तर्क है, इसपर विज्ञ पाठक ज़रा गौर करें ! सोनीजी प्रकृति (पयडि) अनुयोगद्वारको 'वर्गणाखण्ड' का अंग सिद्ध करनेकी धुनमें वर्गणाखण्डके स्पष्ट उल्लेखको भी 'प्रकृति' अनुयोगद्वारका उल्लेख बतलाते हैं और यहाँ तक कहनेका साहस करते हैं कि खुद जयधवलाकार आचार्यने 'प्रकृति' अनुयोगद्वारको वर्गणाखण्डके नामसे उल्लेखित किया है !! इसीका नाम अतिसाहस है ! क्या एक विषयका वर्णन अनेक ग्रंथोंमें नहीं पाया जाता ! यदि पाया जाता है तो फिर एक ग्रन्थका नाम लेकर यदि कोई उल्लेख करता है तो उसे दूसरे ग्रन्थका उल्लेख क्यों समझा जाय ? इसके सिवाय, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है कि वर्गणाखण्डकी आदिमें भूतबलि आचार्यने मंगलाचरण किया है और जिन 'फास' आदि चार अनुयोगद्वारोंको 'वर्गणाखण्ड' बतलाया जाता है उनमेंसे किसीकी भी आदिमें कोई मंगलाचरण नहीं है, इससे वे 'वर्गणाखण्ड' नहीं हैं किन्तु 'वेदना-

खण्ड' के ही अधिकार हैं, जिनके क्रमशः कथनकी ग्रंथमें सूचना की गई है।

(घ) चौथी बात है कुछ वर्गणासूत्रोंके उल्लेख की। सोनीजीने वेदनाखण्डके शुरूमें दिये हुए मंगलसूत्रोंकी व्याख्यामेंसे निम्न लिखित तीन वाक्योंको उद्धृत किया है, जो वर्गणासूत्रोंके उल्लेखको लिये हुए हैं—

"ओहिणाणावरणस्स असंखेज्जमेत्ताओ चेव पयडीओ त्ति वग्गणसुत्तादो।"

"कालो चउण्ण उड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए वुड्ढीए दव्वपज्जय भजिदव्वो खेत्तकाला दु॥

एदम्हादो वग्गणसुत्तादो णव्वदे।"

"आहारवग्गणाए दव्वा थोवा, तेयावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, भासावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, मण० दव्वा अणंतगुणा, कम्मइय अणंतगुणा त्ति वग्गणसुत्तादो णव्वदे।"

ये वाक्य यद्यपि धवलादि-सम्बन्धी मेरी उस नोट्स-बुकमें नोट किये हुए नहीं हैं जिसके आधारपर यह सब परिचय लिखा जा रहा है, और इससे मुझे इनकी जाँचका और इनके पूर्वापर सम्बन्धको मालूम करके यथेष्ट विचार करनेका अवसर नहीं मिल सका; फिर भी सोनीजी इन वाक्योंमें उल्लेखित प्रथम दो वर्गणासूत्रोंका 'प्रकृत' अनुयोगद्वारमें और तीसरेका 'बन्धनीय' अधिकारमें जो पाया जाना लिखते हैं उस पर मुझे सन्देह करनेकी ज़रूरत नहीं है। परन्तु इस पाये जाने मात्रसे ही 'प्रकृत' अनुयोगद्वार और 'बन्धनीय' अधिकार वर्गणाखण्ड नहीं हो जाते। क्योंकि प्रथम तो ये अधिकार और इनके साथके फासादि अधिकार वर्गणाखण्डके कोई अंग नहीं हैं, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है—इनमेंसे किसीके भी शुरू, मध्य या अन्तमें इन्हें वर्गणाखंड नहीं लिखा, अन्तके 'बन्धनीय' अधिकारको समाप्त करते हुए भी इतना ही लिखा है कि **"एवमोगाहणप्पाबहुए सुवुत्ते बंधणिज्जं समत्तं होदि।"** दूसरे, 'वर्गणासूत्र' का अभिप्राय वर्गणाखंडकासूत्र नहीं किन्तु वर्गणाविषयक सूत्र है। वर्गणाका विषय अनेक खंडों तथा अनुयोगद्वारोंमें आया है, 'वेदना' नामके अनुयोगद्वारमें भी वह पाया जाता है—"वग्गणपरूवणा" नामका उसमें एक अवान्तरान्तर अधिकार है। उस अधिकारका कोई सूत्र यदि वर्गणासूत्रके नामसे कहीं उल्लेखित हो तो क्या सोनीजी उस अधिकार अथवा वेदना अनुयोगद्वारको ही 'वर्गणाखंड' कहना उचित समझेंगे? यदि नहीं तो फिर उक्त वर्गणासूत्रोंके प्रकृति-आदि अनुयोगद्वारोंमें पाये जाने मात्रसे उन अनुयोग द्वारोंको 'वर्गणाखंड' कहना कैसे उचित हो सकता है? कदापि नहीं। अतःसोनीजीका उक्त वर्गणासूत्रोंके उल्लेख परसे यह नतीजा निकालना कि "यही वर्गणाखंड है—इससे जुदा और कोई वर्गणाखड नहीं है" ज़रा भी तर्क-संगत मालूम नहीं होता।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि षट्खडागमके उपलब्ध चारखंडोंमें सैकड़ों सूत्र ऐसे हैं जो अनेक खंडों तथा एक खंडके अनेक अनुयोग-द्वारोंमें ज्योंके त्यों अथवा कुछ पाठभेदके साथ पाये जाते हैं—जैसे कि 'गइ इंदिए च काए'० नामका मार्गणासूत्र जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और वेयणा नामके तीन खंडोंमें पाया जाता है। किसी सूत्रकी एकता अथवा समानताके कारण जिस प्रकार इन खंडोंमेंसे एक खंडको दूसरा खंड तथा एक अनुयोगद्वारको दूसरा अनुयोगद्वार नहीं कह सकते उसी प्रकार वर्गणाखंडके कुछ सूत्र यदि इन खंडों अथवा अनुयोगद्वारोंमें पाये जाते हों तो इतने परसे ही इन्हें वर्गणाखंड नहीं कहा जा सकता। वर्गणाखंड कहनेके लिये तद्विषयक दूसरी

आवश्यक बातोंको भी उसी तरह देख लेना होगा जिस तरह कि उक्त सूत्रकी एकताके कारण खुद्दाबंधको जीवट्ठाण कहनेपर जीवट्ठाण-विषयक दूसरी ज़रूरी बातोंको वहां देख लेना होगा। अतः सोनीजीने वर्गणासूत्रोंके उक्त उल्लेख परसे जो अनुमान लगाया है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है।

(ङ) एक पाँचवीं बात और है, और वह इस प्रकार है—

"आचार्य वीरसेन लिखते हैं—**अवसेसं सुत्तट्ठं वग्गणाए परूवइस्सामो**' अर्थात् सूत्रका अवशिष्ट अर्थ 'वर्गणा' में प्ररूपण करेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'वर्गणा' का प्ररूपण भी वीरसेनस्वामीने किया है। वर्गणाका वह प्ररूपण धवलसे बहिर्भूत नहीं है किन्तु धवल ही के अन्तर्गत है।"

यद्यपि आचार्य वीरसेनका उक्त वाक्य मेरे पास नोट किया हुआ नहीं है, जिससे उस पर यथेष्ट विचार किया जा सकता; फिर भी यदि वह वीरसेनाचार्यका ही वाक्य है और 'वेदना' अनुयोगद्वारमें दिया हुआ है तो उससे प्रकृत विषय पर कोई असर नहीं पड़ता—यह लाज़िमी नहीं आता कि उसमें वर्गणाखण्डका उल्लेख है और वह वर्गणाखण्ड फासादि अनुयोगद्वारोंसे बना हुआ है—उसका सीधा संबंध स्वयं 'वेदना' अनुयोग द्वारमें दी हुई है 'वग्गणपरूवणा' तथा 'बंधणिज्ज' अधिकारमें दी हुई वर्गणाकी विशेष प्ररूपणाके साथ हो सकता है, जोकि धवलके बहिर्भूत नहीं है। और यदि जुदे वर्गणाखण्डका ही उल्लेख हो तो उस पर वीरसेनाचार्यकी अलग टीका होनी चाहिये, जिसे वर्तमानमें उपलब्ध होने वाले धवलभाष्य अथवा धवला टीकामें समाविष्ट नहीं किया गया है। हो सकता है कि जिस विकट परिस्थितिमें यह ग्रंथप्रति मूडबिद्रीसे आई है उसमें शीघ्रतादिके वश वर्गणाखण्डकी कापी न हो सकी हो और अधूरी ग्रन्थप्रति पर यथेष्ठ पुरस्कार न न मिल सकनेकी आशासे लेखकने ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिको 'वेदनाखण्ड' के बाद जोड़कर ग्रंथप्रतिको पूरा प्रकट किया हो, जिसकी आशा बहुत ही कम है। कुछ भी हो, उपलब्ध प्रतिके साथमें वर्गणाखण्ड नहीं है और वह चार खण्डोंकी ही टीका है, इतना तो स्पष्ट ही है। शेषका निर्णय मूडबिद्रीकी मूल प्रतिको देखनेसे ही हो सकता है। आशा है पं० लोकनाथजी शास्त्री उसे देखकर इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डालने की कृपा करेंगे—यह स्पष्ट लिखनेका ज़रूर कष्ट उठाएँगे कि वेदनाखण्ड अथवा कम्मपयडिपाहुडके २४वें अधिकारकी समाप्ति के बाद ही—**"एवं चउवीसदिमणिओगद्दारं समत्तं"** इत्यादि समाप्तिसूचक वाक्यों के अनन्तर ही—उसमें '**जस्स सेसाएणमए**' नामकी प्रशस्ति लगी हुई है या कि उसके बाद 'वर्गणाखण्ड' की टीका देकर फिर यह प्रशस्ति दी गई है।

हाँ, सोनीजीने यह नहीं बतलाया कि वह सूत्र कौनसा है जिसके अवशिष्ट अर्थको 'वर्गणा' में कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और वह किस स्थान पर कौनसी वर्गणाप्ररूपणामें स्पष्ट किया गया है? उसे ज़रूर बतलाना चाहिये था। उससे प्रकृत विषयके विचारको काफ़ी मदद मिलती और वह बहुत कुछ स्पष्ट होजाता। अस्तु।

यहाँ तकके इस संपूर्ण विवेचन परसे और ग्रंथकी अंतरंग साक्षी परसे मैं समझता हूँ, यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उपलब्ध धवला टीका षट्खण्डागमके प्रथम चार खण्डोंकी टीका है, पाँचवें वर्गणा खण्डकी टीका उसमें शामिल नहीं है और अकेला 'वेदना' अनुयोगद्वार ही वेदनाखण्ड नहीं है बल्कि उसमें

दूसरे अनुयोगद्वार भी शामिल हैं।

इन्द्रनन्दी और विबुध श्रीधरके श्रुतावतारोंकी बहिरंग साक्षीपरसे भी कुछ विद्वानोंको भ्रम हुआ जान पड़ता है; क्योंकि इन्द्रनन्दीने **"इति षण्णां खण्डानां...टीकां विलिख्य धवलाख्याम्"** इस वाक्यके द्वारा धवलाको छह खण्डोंकी टीका बतला दिया है ! और विबुध श्रीधरने **'पंचखंडे षट्खंडं संकल्प्य'** जैसे वाक्यके द्वारा धवलामें पाँच खण्डोंका होना सूचित किया है। इस विषयमें मैं सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि इन ग्रंथकारोंके सामने मूल सिद्धान्तग्रंथ और उनकी प्राचीन टीकाएँ तो क्या धवल और जयधवल ग्रंथ तक मौजूद नहीं थे और इसलिये इन्होंने इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह सब प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने-सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। यही वजह है कि धवल-जयधवलके उल्लेखोंसे इनके उल्लेखोंमें कितनी ही बातोंका अन्तर पाया जाता है, जिसका कुछ परिचय पाठकोंको अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी प्रथम किरण के पृष्ठ ७, ८ को देखनेसे मालूम हो सकता है और कुछ परिचय इस लेखमें आगे दिये हुए फुटनोटों आदिसे भी जाना जा सकेगा। ऐसी हालतमें इन ग्रंथोंकी बहिरंग साक्षीको खुद धवलादिककी अंतरंग साक्षी पर कोई महत्व नहीं दिया जासकता। अन्तरंग-परीक्षणसे जो बात उपलब्ध होती है वही ठीक जान पड़ती है।

षट् खण्डागम और कषायप्राभृतकी उत्पत्ति

अब यह बतलाया जाता है कि धवलके मूलाधारभूत 'षट्खंडागम' की और जयधवलके मूलाधाररूप 'कषायप्राभृत' की उत्पत्ति कैसे हुई-कब किस आचार्य-महोदयने इनमेंसे किस ग्रंथका निर्माण किया और उन्हें तद्विषयक ज्ञान कहाँसे अथवा किसक्रमसे (गुरुपरम्परासे) प्राप्त हुआ। यह सब वर्णन अथवा ग्रंथावतार कथन यहाँ धवल और जयधवलके आधार पर—उनके वर्णनानुसार ही दिया जाता है।

धवलके शुरूमें, कर्ताके 'अर्थकर्ता' और 'ग्रन्थकर्ता' ऐसे दो भेद करके, केवलज्ञानी भगवान महावीरको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूपसे अर्थकर्ता प्रतिपादित किया है और उसकी प्रमाणतामें कुछ प्राचीन पद्योंको भी उद्धृत किया है। महावीर-द्वारा-कथित अर्थको गोतम गोत्री ब्राह्मणोत्तम गौतमने अवधारित किया, जिसका नाम इन्द्रभूति था। यह गौतम सम्पूर्ण दुःश्रुतिका पारगामी था, जीवाजीव-विषयक सन्देहके निवारणार्थ श्रीवर्द्धमान महावीरके पास गया था और उनका शिष्य बन गया था। उसे वहीं पर उसी समय क्षयोपशम-जनित निर्मल ज्ञान-चतुष्टयकी प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार भाव-श्रुतपर्याय-रूप परिणत हुए इन्द्रभूति गौतमने महावीर-कथित अर्थकी बारह अंगों-चौदह पूर्वोंमें ग्रन्थ-रचना की और वे द्रव्यश्रुतके कर्ता हुए। उन्होंने अपना वह द्रव्य-भाव-रूपी श्रुतज्ञान लोहाचार्य† के प्रति संचारित किया और लोहाचार्यने जम्बूस्वामीके प्रति। ये तीनों—गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी—सप्तप्रकारकी लब्धियोंसे सम्पन्न थे और उन्होंने सम्पूर्ण श्रुतके पारगामी होकर केवलज्ञानको उत्पन्न करके क्रमशः निर्वृतिको प्राप्त किया था।

जम्बूस्वामीके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच आचार्य चतुर्दश-पूर्वके धारी अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके पारगामी हुए।

---

†धवलके 'वेदना' खण्डमें भी लोहाचार्यका नाम दिया है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें इस स्थान पर सुधर्म मुनिका नाम पाया जाता है।

भद्रबाहुके अनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य[1], नागाचार्य[2], सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य[3], बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये क्रमशः ११ आचार्य ग्यारह अंगों और उत्पादपूर्वादि दश पूर्वोंके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोंके एक देश धारी हुए।

धर्मसेनके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन* और कंसाचार्य ये क्रमशः पांच आचार्य ग्यारह अंगोंके पारगामी और चौदह पूर्वोंके एक देश-धारी हुए।

कंसाचार्यके अनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु † और लोहाचार्य ये क्रमशः चार आचार्य आचारांगके पूर्णपाठी और शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देशधारी हुए‡।

लोहाचार्यके बाद सर्व अंगों तथा पूर्वोंका वह एक-देशश्रुत जो आचार्य-परम्परा से चला आया था धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ। धनसेनाचार्य अष्टाँग महा-निमित्तके पारगामी थे। वे जिस समय सोरठ देशके गिरिनगर (गिरनार) पहाड़की चन्द्र-गुहामें स्थित थे उन्हें अपने पासके ग्रन्थ (श्रुत) के व्युच्छेद हो जानेका भय हुआ, और इसलिये प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर उन्होंने दक्षिणा-पथके आचार्योंके पास, जो उस समय महिमा* नगरी में सम्मिलित हुए थे ('दक्खिणा-वहाइरियाणं महीमाए मिलियाणं')† एक लेख (पत्र) भेजा। लेखस्थित धरसेन के वचनानुसार उन आचार्योंने दो साधुओंको, जो कि ग्रहण-धारणामें समर्थ

१, २, ३, इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जयसेन, नागसेन, विजयसेन, ऐसे पूरे नाम दिये हैं। जयधवलामें भी जयसेन, नागसेन-रूपसे उल्लेख है परन्तु साथमें विजयको विजयसेन-रूपसे उल्लेखित नहीं किया। इससे मूल नामोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

* यहाँ पर यद्यपि द्रुमसेन (दुमसेणो) नाम दिया है परन्तु इसी ग्रंथके 'वेदना' खंडमें और जयधवलामें भी उन ध्रुवसेन नामसे उल्लेखित किया है--पूर्ववर्ती ग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ती' में भी ध्रुवसेन नामका उल्लेख मिलता है। इससे यही नाम ठीक जान पड़ता है। अथवा द्रुमसेन को इसका नामान्तर समझना चाहिये। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें द्रुमसेन नामसे ही उल्लेख किया है।

† अनेक पट्टावलियोंमें यशोबाहुको भद्रबाहु (द्वितीय) सूचित किया है और इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'जयबाहु' नाम दिया है तथा यशोभद्रकी जगह अभयभद्र नामका उल्लेख किया है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें इन आचार्योंको शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देश धारी नहीं लिखा, न धर्मसेनादिको चौदह पूर्वोंके एकदेश-धारी लिखा और न विशाखाचार्यादिको शेष चार पूर्वोंके एक देश-धारी ही बतलाया है। इसलिये धवलाके ये उल्लेख खास विशेषताको लिए हुए हैं और बुद्धि-ग्राह्य तथा समुचित मालूम होते हैं।

*'महिमानगड'-नामक एक गांव सतारा जिले में है (देखो, 'स्थलनामकोश'), संभवतः यह वही जान पड़ता है।

†इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके निम्न वाक्यसे यह कथन स्पष्ट नहीं होता--वह कुछ गड़बड़को लिये हुये जान पड़ता है:--

"देशेन्द्र (ऽन्ध्र?) देशनामनि वेणाकतटीपुरे महा-महिमा। समुदित मुनीन् प्रति···"

इसमें 'महामहिमासमुदितमुनीन्' लिखा है तो आगे, लेखपत्रके अर्थका उल्लेख करते हुए, उसमें 'वेणाक-तटसमुदितयतीन्' विशेषण दिया है जो कि 'महिमा' और 'वेण्यातट'के वाक्योंको ठीक रूपमें न समझनेका परिणाम हो सकता है।

थे, बहुविध निर्मल विनयसे विभूषित तथा शील-मालाके धारक थे, गुरु-सेवामें सन्तुष्ट रहने वाले थे, देश कुल-जातिसे शुद्ध थे और सकल-कला-पारगामी एवं तीक्ष्ण-बुद्धिके धारक आचार्य थे—आन्ध्र देशके वेरणा-तट* नगरसे धरसेनाचार्यके पास भेजा। (अंधवि-सयवेण्णायडादो पेसिदा)। वे दोनों साधु जब आ रहे थे तब रात्रिके पिछले भागमें धरसेन भट्टारकने स्वप्नमें सर्व-लक्षण सम्पन्न दो धवल वृषभोंको अपने चरणोंमें पड़ते हुए देखा। इस प्रकार सन्तुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'जयतु श्रुतदेवता'† ऐसा कहा। उसी दिन वे दोनों साधुजन धरसेनाचार्यके पास पहुँच गये और तब भगवान् धरसेनका कृतिकर्म (वन्दनादि) करके उन्होंने दो दिन‡ विश्राम किया, फिर तीसरे दिन विनय के साथ धरसेन भट्टारकको यह बतलाया कि 'हम दोनों जन अमुक कार्यके लिये आपकी चरण-शरणमें आए हैं।' इसपर धरसेन भट्टारकने 'सुष्ठु भद्रं' ऐसा कहकर उन दोनोंको आश्वासन दिया और फिर वे इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

*"सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जाहयसुएहि।"

मट्टिय-मसयसमाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥१॥

दथ (?) गारवपडिवद्धो विसयामिसविसवसेण घुम्मंतो।

सो णट्ठबोहिलाहो भमइ चिरं भववणे मूढो ॥२॥

इस वचनसे स्वच्छन्दचारियोंको विद्या देना संसार-भयका बढ़ाने वाला है। ऐसा चिन्तन कर, शुभ-स्वप्नके दर्शनसे ही पुरुषभेदको जाननेवाले धरसेनाचार्यने फिर भी उनकी परीक्षा करना अंगीकार किया। सुपरीक्षा ही निःसन्देह हृदयको मुक्ति दिलाती है‡। तब धरसेनने उन्हें दो विद्याएँ दीं—जिनमें एक अधिकाक्षरी, दूसरी हीनाक्षरी थी—और कहा कि इन्हें षष्ठोपवासके साथ साधन करो। इसके बाद विद्या सिद्ध करके जब वे विद्यादेवताओंको देखने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि एकका दाँत बाहरको बढ़ा हुआ है और दूसरी कानी (एकाक्षिणी) है। देवताओंका ऐसा स्वभाव नहीं होता' यह विचार कर जब उन मंत्र-व्याकरणमें निपुण मुनियोंने हीनाधिक अक्षरोंका क्षेपण-अपनयन विधान करके—कमीवेशीको दूरकरके—उन मंत्रोंको फिरसे पढ़ा तो तुरन्त ही वे दोनों विद्या-देवियाँ अपने अपने स्वभाव-रूपमें स्थित होकर नज़र आने लगीं। तदनन्तर उन मुनियोंने विद्या-सिद्धिका सब हाल पूर्णविनयके साथ

---

* 'वेरणा' नामकी एक नदी सतारा जिले में है (देखो 'स्थलनाम कोश')। संभवतः यह उसीके तट पर बसा हुआ नगर जान पड़ता है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'जयतु-श्रीदेवता' लिखा है, जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि प्रसंग श्रुतदेवताका है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें तीन दिनके विश्रामका उल्लेख है।

* इन गाथाओंका संक्षिप्त आशय यह है कि 'जो आचार्य गौरवादिकके वशवर्ती हुआ मोहसे ऐसे श्रोताओंको श्रुतका व्याख्यान करना है जो शैलघन, भग्न घट, सर्प, चलनी, महिष, मेष, जोंक, शुक, मिट्टी और मशकके समान हैं—इन जैसी प्रकृतिको लिये हुए हैं—वह मूढ बोधिलाभसे भ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसार-वनमें परिभ्रमण करता है।'

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति, इत्यादि वाक्यके द्वारा परीक्षाकी यही बात सूचित की है; परन्तु इससे पूर्ववर्ती चिन्तनादि-विषयक कथन, जो इसपर 'धरसेन'से प्रारम्भ होता है, उसमें नहीं है।

भगवद् धरसेनसे निवेदन किया। इस पर धरसेनजीने सन्तुष्ट होकर उन्हें सौम्य तिथि और प्रशस्त नक्षत्रके दिन उस ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया, जिसका नाम **'महाकम्मपयडिपाहुड'** (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) था। फिर क्रमसे उसकी व्याख्या करते हुए (कुछ दिन व्यतीत होने पर) आषाढ़ शुक्ला एकादशीको पूर्वाह्णके समय ग्रन्थ समाप्त किया गया। विनयपूर्वक ग्रन्थका अध्ययन समाप्त हुआ, इससे सन्तुष्ट होकर भूतोंने वहाँपर एक मुनिकी शंख-तुरहीके शब्द सहित पुष्पबलिसे महती पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उस मुनिका 'भूतबलि' नाम रक्खा, और दूसरे मुनिका नाम 'पुष्पदन्त' रक्खा, जिसको पूजाके अवसर पर भूतोंने उसकी अस्तव्यस्त रूपसे स्थित विषमदन्त-पंक्तिको सम अर्थात् ठीक कर दिया था *। फिर उसी नामकरणके दिन† धरसेनाचार्यने उन्हें रुखसत (विदा) कर दिया। गुरुवचन अलंघनीय है, ऐसा विचार कर वे वहाँसे चल दिये और उन्होंने अंकलेश्वर‡ में आकर वर्षाकाल व्यतीत किया※।

वर्षायोगको समाप्त करके तथा 'जिनपालित'※ को देखकर पुष्पदन्ताचार्य तो वनवास देशको चले गये और भूतबलि भी द्रमिल (द्राविड) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्ररूपणात्मकसूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान् भूतबलिके पास भेजा। भगवान् भूतबलिने जिनपालितके पास उन विंशतिप्ररूपणात्मक सूत्रोंको देखा और साथ ही यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु है। इससे उन्हें 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत'के व्युच्छेदका विचार उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने (उक्त सूत्रोंके बाद) **'द्रव्यप्रमाणानुगम'** नामके प्रकरणको आदिमें रखकर ग्रन्थकी रचनाकी। इस ग्रन्थका नामही 'षट्खण्डागम' है; क्योंकि इस आगम ग्रन्थमें १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबंध, ३ बन्धस्वामित्वविचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा, और ६ महाबन्ध नामके छह खण्ड अर्थात् विभाग हैं, जो सब महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत-नामक मूलागमग्रन्थको संक्षिप्त करके अथवा उस परसे समुद्धृत करके लिखे गये हैं। और वह मूलागम द्वादशांगश्रुतके अग्रायणीय-पूर्वस्थित पंचम वस्तुका चौथा प्राभृत है। इस तरह इस षट्खंडागम श्रुतके मूलतंत्रकार श्री वर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतमस्वामी और उपतंत्रकार भूतबलिपुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये। भूतबलि-पुष्पदन्तमें पुष्पदन्ताचार्य सिर्फ 'सत्प्ररूपणा' नामक प्रथम अधिकारके कर्ता हैं, शेष सम्पूर्ण ग्रन्थके रचियता भूतबलि आचार्य हैं। ग्रन्थका

*** इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें उक्त मुनियोंका यह नामकरण धरसेनाचार्यके द्वारा न होकर भूतों द्वारा किया गया, ऐसा उल्लेख है।**

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें ग्रन्थसमाप्ति और नामकरण का एक ही दिन विधान करके, उससे दूसरे दिन रुखसत करना लिखा है।

‡ यह गुजरातके भरोंच (Broach) **जिलेका प्रसिद्ध नगर है।**

※ इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें ऐसा उल्लेख न करके लिखा है कि खुद धरसेनाचार्यने उन दोनों मुनियोंको 'कुरीश्वर' (?) पत्तन भेज दिया था जहाँ वे ९ दिनमें पहुँचे थे और उन्होंने वहीं आषाढ़ कृष्णा पंचमीको वर्षायोग ग्रहण किया था।

※ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जिनपालितको पुष्पदन्तका भानजा लिखा है और दक्षिणकी ओर विहार करते हुए दोनों मुनियोंके करहाट पहुँचने पर उसके देखनेका उल्लेख किया है।

श्लोक-परिमाण इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार ३६ हजार है, जिनमें से ६ हजार संख्या पांच खण्डोंकी और शेष महाबन्ध खण्डकी है; और ब्रह्महेमचन्द्रके श्रुतस्कन्धानुसार ३० हज़ार है।

यह तो हुई धवला के आधारभूत षट्खण्डागम श्रुतके अवतारकी कथा; अब जयधवलाके आधारभूत 'कसायपाहुड' श्रुतको लीजिये, जिसे 'पेज्जदोस पाहुड' भी कहते हैं। जय धवलामें इसके अवतारकी प्रारम्भिक कथा तो प्रायः वही दी है जो महावीरसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तक ऊपर वर्णन की गई है—मुख्य भेद इतना ही है कि यहां पर एक-एक विषयके आचार्योंका काल भी साथमें निर्दिष्ट कर दिया गया है, जब कि 'धवला' में उसे अन्यत्र 'वेदना' खण्डका निर्देश करते हुए दिया है। दूसरा भेद आचार्योंके कुछ नामोंका है। जयधवलामें गौतमस्वामीके बाद लोहाचार्यका नाम न देकर सुधर्माचार्यका नाम दिया है, जो कि वीर भगवान्के बाद होने वाले तीन केवलियोंमेंसे द्वितीय केवलीका प्रसिद्ध नाम है। इसी प्रकार जयपालकी जगह जसपाल और जसबाहूकी जगह जयबाहू नामका उल्लेख किया है। प्राचीन लिपियोंको देखते हुए 'जस' और 'जय'के लिखनेमें बहुतही कम अन्तर प्रतीत होता है इससे साधारण लेखकों-द्वारा 'जस' का 'जय' और 'जय' का 'जस' समझलिया जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ, लोहाचार्य और सुधर्माचार्यका अन्तर अवश्य ही चिन्तनीय है। जयधवलामें कहीं कहीं गौतम और जम्बूस्वामीके मध्य लोहाचार्यका ही नाम दिया है; जैसा कि उसके 'अणुभागविहत्ति' प्रकरणके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम लोहज्ज-जंबुसामियादि आइरिय परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय······

(आराकी प्रति पत्र ३१३)

जब धवला और जयधवला दोनों ग्रंथोंके रचयिता वीरसेनाचार्यने एक ही व्यक्तिके लिये इन दो नामोंका स्वतंत्रतापूर्वक उल्लेख किया है, तब ये दोनों एक ही व्यक्तिके नामान्तर हैं ऐसा समझना चाहिये; परन्तु, जहाँ तक मुझे मालूम है, इसका समर्थन अन्यत्रसे अथवा किसी दूसरे पुष्ट प्रमाणसे अभी तक नहीं होता—पूर्ववर्ती ग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ती' में भी 'सुधर्मस्वामी' नामका उल्लेख है। अस्तु; जयधवला परसे शेष कथाकी उपलब्धि निम्न प्रकार होती है:—

आचारांग-धारी लोहाचार्यका स्वर्गवास होने पर सर्व अंगों तथा पूर्वोंका जो एकदेशश्रुत आचार्यपरम्परासे चला आया था वह गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधराचार्य उस समय पाँचवें ज्ञानप्रवाद-पूर्वस्थित दशम वस्तुके तीसरे 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ-महार्णवके पारगामी थे। उन्होंने ग्रंथ-व्युच्छेदके भयसे और प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर, सोलहहजार पद परिमाण उस 'पेज्जदोसपाहुड' ('कसायपाहुड')का १८०* सूत्र गाथाओंमें उपसंहार किया—सार खींचा। साथ ही, इन गाथाओंके सम्बन्ध तथा कुछ वृत्ति-आदिकी सूचक ५३ विवरण-गाथाएँ भी और रचीं, जिससे गाथाओंकी कुल संख्या २३३ हो गई। इसके बाद ये सूत्र-गाथाएँ

(शेषांशके लिये देखो, पृ० १३६)

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं' पाठके द्वारा मूलसूत्रगाथाओंकी संख्या १८३ सूचित की है, जो ठीक नहीं है और समझनेकी किसी ग़लतीपर निर्भर है। जयधवलामें १८० गाथाओंका खूब खुलासा किया गया है।

सत्य अनेकान्तात्मक है

[लेखक—श्री बाबू जयभगवानजी जैन, बी० ए० एल० एल० बी०, वकील]

सत्य ※ अनेकान्तात्मक है या अनन्तधर्मात्मक है, इस वादके समर्थनमें इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्यका अनुभव बहुरूपात्मक है। जीवनमें व्यवहारवश वा जिज्ञासावश सब ही सत्यका निरन्तर अनुभव किया करते हैं; परन्तु क्या वह अनुभव सबका एक-समान है ? नहीं, वह बहुरूप है। अनुभवकी इस विभिन्नताको जाननेके लिये जरूरी है कि तत्त्ववेत्ताओंके सत्यसम्बन्धी उन गूढ मन्तव्योंका अध्ययन किया जाय, जो उन्होंने सत्यके सूक्ष्म निरीक्षण, गवेषणा और मननके बाद निश्चित किये हैं। इस अध्ययनसे पता चलेगा कि यद्यपि उन सबके अन्वेषणका विषय एक सत्यमात्र था, तो भी उसके फलस्वरूप जो अनुभव उनको प्राप्त हुए हैं, वे बहुत ही विभिन्न हैं—विभिन्न ही नहीं किन्तु एक दूसरेके विरोधी भी प्रतीत होते हैं।

आधिदैविकदृष्टि (Animistic Outlook) रखनेवाले भोगभौमिक लोग समस्त अनुभव्य बाह्य जगत और प्राकृतिक अभिव्यक्तियोंको अनुभावक अर्थात् अपने ही समान स्वतन्त्र, सजीव, सचेष्ट सत्ता मानते हैं। वे उन्हें अपने ही समान हावभाव, आयोजन प्रयोजन, विषय-वासना, इच्छा-कामनासे ओतप्रोत पाते हैं। वे जलबाढ, उल्कापात, वज्रपात, अग्निज्वाला, अतिवृष्टि, भूकम्प, रोग, मरी, मृत्यु आदि नियम-विहीन उपद्रवोंको देखकर निश्चित करते हैं कि यह जगत नियम-विहीन, उच्छृंखल देवताओंका क्रीडास्थल है†। मनुष्यकी यह आरम्भिक आधिदैविकदृष्टि ही संसारके प्रचलित देवतावाद (Theism) और पितृवाद (Ancestor

> इस लेखके लेखक बाबू जयभगवानजी वकील दि० जैन समाजके एक बड़े ही अध्ययनशील और विचारशील विद्वान् हैं—प्रकृतिसे भी बड़े ही सज्जन हैं। आप बहुधा चुप-चाप कार्य किया करते हैं, इसीसे जनता आपकी सेवामय प्रवृत्तियोंसे प्रायः अनभिज्ञ रहती है। मेरे अनुरोधको पाकर आपने जो यह लेख भेजनेकी कृपा की है उसके लिये मैं आपका बहुत ही आभारी हूँ। यह लेख कितना महत्वपूर्ण है और कितनी अधिक अध्ययनशीलता, गवेषणा तथा विचारशीलताको लिये हुए है उसे सहृदय पाठक पढ़कर ही जान सकेंगे। इस परसे सत्यको समझने और यह मालूम करनेमें कि पूर्ण सत्य केवलज्ञानका विषय है पाठकोंको बहुत कुछ आसानी होगी। आशा है लेखक महोदय अपने इस प्रकारके लेखों-द्वारा बराबर 'अनेकान्त' के पाठकों की सेवा करते रहेंगे, और इस तरह उन्हें भी वह रस बाँटते रहेंगे जिसका आप एकान्तमें स्वयं ही आस्वादन करते रहते हैं।
>
> —सम्पादक

※ द्रव्य, वस्तु, अर्थ, सामान्य, सत्ता, तत्त्व आदि सत्यके ही एकार्थवाची नाम हैं। —पञ्चाध्यायी १-१४३,

† (अ) Haeckle—Riddle of the universe P. 32.

(आ) Lord Aveburg—The origin of civilization 1912 P. 242—245

(इ) A. A. Macdonel—Vedic Mythology P. 1,

worship) की कारण हुई है। यही वैदिक ऋषियों-की दृष्टि थी।

अनुभव्यदृष्टि (Objective outlook) वाले जड़वादी वैज्ञानिक अनुभव्यजगत (object) को ही सत्य मानते हैं और अनुभावक आत्मा (Subject) को स्थूल जड़की ही एक अभिव्यक्ति समझते हैं। यह दृष्टि ही जड़वादकी आधार है। वे लोग जगतमें नियमानुशासित व्यवस्थाका अनुभव करते हैं, प्रत्येक प्राकृतिक अभिव्यक्तिको विशेष कारणोंका कार्य बतलाते हैं, उन कारणोंमें एक क्रम और नियम देखते हैं और उन कारणों पर विजय पानेसे अभिव्यक्तियों पर विजय पाने-का दावा करते हैं। उनके लिये अभिव्यक्ति और कारणोंका कार्यकारण-सम्बन्ध इतना निश्चित और नियमित है कि ज्योतिषज्ञ, शकुनविज्ञ, सामुद्रिकज्ञ आदि नियत विद्याओंके जानने वाले वैज्ञानिक, विशेष हेतुओंको देखकर, भविष्यमें होनेवाली घटनाओं तकको बतला देनेमें अपनेको समर्थ मा-नते हैं। सच पूछिये तो यह कार्यकारण-सम्बन्ध (Law of causation) ही इन तमाम विज्ञानों-का आधार है।

अनुभावकदृष्टि (Subjective outlook) को ही महत्ता देनेवाले तत्त्वज्ञ आत्माको ही सर्वस्व सत्य मानते हैं। ज्ञान-द्वारा अनुभवमें आनेवाले जगतको स्वप्नतुल्य मोहग्रस्त ज्ञानकी ही सृष्टि मानते हैं। उनके विचारमें ज्ञानसे बाहर अनुभव्य-जगत (Objective reality) की अपनी कोई स्वतः सिद्ध सत्ता नहीं है। यह दृष्टि ही अनुभव-मात्रवाद (Idealism) की जननी है और शंकरके अद्वैतवादका आधार है†।

व्यवहारदृष्टि (Practical View) से देखने वाले चार्वाक लोग उन ही तत्त्वोंको सत्य मानते हैं जो वर्तमान लौकिक जीवनके लिये व्यवहार्य और उपयोगी हैं। इस दृष्टिसे देखने वालोंके लिये परलोक कोई चीज़ नहीं। उन अपराधों और परोपकारी कार्योंके अतिरिक्त, जो समाज और राष्ट्र-द्वारा दण्डनीय और स्तुत्य हैं, पुण्य-पाप और कोई वस्तु नहीं। कञ्चन और कामिनी ही आनन्दकी वस्तुएँ हैं। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ही परमतत्त्व हैं। वे ही प्रत्येक वस्तुके जनक और आधार हैं। मृत्युजीवनका अन्त है। इन्द्रिय बोध ही ज्ञान है—इसके अतिरिक्त और प्रकारका ज्ञान केवल भ्रममात्र है। इन्द्रियबोधसे अनुभवमें आने वाली प्रकृति ही सत्य है ‡।

यह दृष्टि ही सामाजिक और राजनैतिक अनु-शासनकी दृष्टि है।

नैगमदृष्टि वा संकल्पदृष्टि (Imaginary View) से देखनेवाले वस्तुकी भूत और भावी अवस्था अनुपस्थित होते हुए भी, संकल्पशक्ति-द्वारा उपादान और प्रयोजनकी सदृश्यता और विभक्त कालिक अवस्थाओंकी विशेषताओंको संयोजन करते हुए वस्तुको वर्तमानमें त्रिकालवर्ती सामान्य-विशेषरूप देखते हैं *। यह दृष्टि ही कवि लोगोंकी दृष्टि है।

---

† Das Gupta—A History of Indian Philosophy 1922, P. 439.

‡ S. Radha Krishnon—Indian Philosophy Vol. 1, 2nd edition, P. 279.

* (अ) राजवार्तिक पृ० ४२४ (आ) द्रव्यानुयोग-तर्कणा १-३

नैय्यायिकदृष्टि (Logical View) से देखने वाले वस्तुको सम्बन्ध-द्वारा संकलित विभिन्न सत्ताओंकी एक संगृहीत व्यवस्था मानते हैं। उनका मूलसिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अनुभूतिके अनुरूप कोई सत्ता जरूर है, जिसके कारण अनुभूति होती है। चूंकि ये अनुभूतियाँ सप्त मूलवर्गोंमें विभक्त हो सकती हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, सम्बन्ध (समवाय ?) और अभाव। अतः सत्यका इन सात पदार्थोंसे निर्माण हुआ है। यह दृष्टि ही वैशेषिक और न्यायदर्शनको अभिप्रेत है $।

अनुभूतिके शब्दात्मक निर्वाचन पर भी न्यायविधिसे विचार करने पर हम उपर्युक्त प्रकारके ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। संसारमें वाक्य-रचना इसीलिये अर्थद्योतक है कि वह अर्थ या सत्यानुभूतिके अनुरूप है। वह सत्यरचनाका प्रतिबिम्ब है। जैसे वाक्य, कर्ता, क्रिया, विशेषण-सूचक शब्दों वा प्रत्ययोंसे संगृहीत एक शब्द-समूह है वैसे ही वस्तु भी द्रव्य, गुण, कर्म पदार्थोंका समवाय-सम्बन्धसे संकलित विभिन्न सत्ताओंका समूह है ‡।

वर्तमान इन्द्रियबोधको महत्ता देनेवाले ऋजुसूत्रदृष्टि (Physical View) वाले वस्तुको निरन्तर उदयमें आनेवाली, अनित्य पर्यायों, भावों और क्रियाओंकी एक शृङ्खलामात्र अनुभव करते हैं। वे उस उद्भवके उपादान कारणरूप किसी नित्य आधारको नहीं देख पाते। क्योंकि वे वस्तु की भूत तथा भावी अवस्थाको लक्ष्यमें न लाकर केवल उसकी वर्तमान अवस्थाको ही लक्ष्य बनाते हैं। उनका कहना है कि चूंकि इन्द्रियों-द्वारा जो कुछ भी बाह्यजगतका बोध होता है, वह ज्ञेय पदार्थके शृङ्खलाबद्ध परिणामोंके प्रभावसे पैदा होनेवाले द्रव्येन्द्रियके शृङ्खलाबद्ध विकारोंका फल है, इसलिये वस्तु परिणामोंकी शृङ्खलामात्र है। यह दृष्टि ही क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिकों की है†। यही दृष्टि आधुनिक भूतविद्याविज्ञोंकी है *।

ज्ञानदृष्टि (Epistimological View) से देखनेवाले तत्त्ववेत्ता, जो ज्ञानके स्वरूपके आधार पर ही ज्ञेयके स्वरूपका निर्णय करते हैं, कहते हैं कि वस्तु, वस्तुबोधके अनुरूप अनेक लक्षणोंसे विशिष्ट होते हुए भी, एक अखण्ड, अभेद्य सत्ता है। अर्थात् जैसे ज्ञान विविध, विचित्र अनेकान्तात्मक होते हुए भी खण्ड-खण्डरूप अनेक ज्ञानोंका संग्रह नहीं है, प्रत्युत आत्माका एक अखण्ड-अभेद्य भाव है, वैसे ही ज्ञान-द्वारा ज्ञात वस्तु भी अनेक गुणों और शक्तियोंका सामूहिक संग्रह नहीं है बल्कि एक अभेद्य सत्ता है।

सामान्य-ज्ञेयज्ञानकी दृष्टि वा संग्रहदृष्टि (Synthetic-view) वाले तत्त्वज्ञोंको वस्तु एकतात्मक-अद्वैतरूप प्रतीत होती है। ऐसा मालूम होता है कि समस्त चराचर जगत एकताके सूत्रमें बँधा है, एकताके भावसे ओत-प्रोत है, एकताका भाव सर्वव्यापक, शाश्वत और स्थायी है। अन्य समस्त भाव औपाधिक और नैमित्तिक हैं, अनित्य हैं

$ Das Gupta—A History of Indian Philosophy, P. 312.

‡ B. Russil—Analysis of Matter, 1927, P. 39.

† Das Gupta—A History of Indian Philosophy 1922, P. 158.

* B. Russil—F. R. S. The Analysis of Matter 1927, P. 244—247.

और मिथ्या हैं। यही दृष्टि थी जिसके आवेशमें ऋग्वेद १-१६४-४६ के निर्माता ऋषिको वैदिककालीन विभिन्न देवताओंमें एकताका भान जग उठा और उसकी हृदयतन्त्रीसे '*एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति*' का राग बह निकला। यह दृष्टि ही वेदान्त-दर्शनकी दृष्टि है *।

विशेष-ज्ञेयज्ञानकी दृष्टि वा भेददृष्टि (Analytic-view) से देखने पर, वस्तु अनेक विशेष भावोंकी बनी हुई प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव भिन्न स्वरूप वाला, भिन्न संज्ञावाला दिखाई पड़ता है। जितना जितना विश्लेषण किया जाय, उतना ही उतना विशेष भावमेंसे अवान्तर विशेष और अवान्तर विशेषमेंसे अवान्तर विशेष निकलते निकलते चले जाते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। यही दृष्टि वैज्ञानिकोंकी दृष्टि है। यह दृष्टि ही विभिन्न विज्ञानोंकी सृष्टिका कारण है।

समन्वयकारि-ज्ञानकी दृष्टि (Philosophical View) से देखने पर वस्तु सामान्य-विशेष, अनुभावक-अनुभव्य, (subjective and objective), भेद्य-अभेद्य, नियमित-अनियमित, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत-असत्, तत-अतत आदि अनेक सहवर्ती प्रतिद्वन्द्वोंकी बनी हुई एक सुव्यवस्थित, संकलनात्मक, परन्तु अभेद्य सत्ता दिखाई पड़ती है, जो सर्वदा सर्व ओरप्रसारित, विस्तृत और उद्भव हो रही है †। यह दृष्टि ही 'वीरशासन' की दृष्टि है। इसी दृष्टि द्वारा निष्पक्ष हो, साहसपूर्वक विविध अनुभवोंका यथाविधि और यथास्थान समन्वय करते हुए सत्यकी ऐसी विश्वव्यापी सर्वग्राहक धारणा बनानी चाहिये जो देश, काल और स्थितिसे अविच्छिन्न हो, प्रत्यक्ष-परोक्ष, तथा तर्क-अनुमान किसी भी प्रमाणसे कभी बाधित न हो, युक्तिसंगत हो और समस्त अनुभवोंकी सत्यांशरूप संतोषजनक व्याख्या कर सके।

क्या सत्यनिरीक्षणकी इतनी ही दृष्टियाँ हैं जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है? नहीं, यहाँ तो केवल तत्त्ववेत्ताओंकी कुछ दृष्टियोंकी रूपरेखा दी गई है। वरना व्यक्तित्व, काल, परिस्थिति और प्रयोजनकी अपेक्षा सत्यग्रहणकी दृष्टियाँ असंख्यात प्रकार की हैं। और दृष्टिअनुरूप ही भिन्न भिन्न प्रकारसे सत्यग्रहण होनेके कारण सत्य सम्बन्धी धारणायें भी असंख्यात हो जाती हैं *।

तत्त्वज्ञोंकी मान्यताओंमें विकार।

संसारके तत्त्वज्ञोंकी धारणाओंमें सबसे बड़ा दोष यही है कि किसीने एक दृष्टिको, किसीने दूसरी दृष्टिको, किसीने दो वा अधिक दृष्टियोंको सम्पूर्ण सत्य मानकर अन्य समस्तदृष्टियोंका बहिष्कार कर दिया है। यह बहिष्कार ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी और निःस्साहस है। इस बहिष्कारने ही अनेक विरोधाभासि-दर्शनोंको जन्म दिया है ‡।

धर्मद्रव्य अर्थात् Ether के बहिष्कारने

---

* Das Gupta—*A* History of Indian Philosophy, P. 177.

† उपर्युक्त दृष्टिके लिये देखें—

(अ) B. Russil—The Analysis of Matter. London 1927. Chap-XXIII

(आ) तत्त्वार्थसूत्र १-३३ पर की हुई राजवार्तिक टीका

(इ) न्यायावतार, २९ की सिद्धर्षिगणि कृत टीका।

* (अ) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, ८९४

(आ) हरिवंशपुराण, ५८-६२

‡ गोम्मटसार-कर्मकाण्ड ८९५

आत्मा और प्रकृतिके पारस्परिक सम्बन्धके समझनेमें कठिनाई उपस्थित की है। आत्मा और मनका बहिष्कार दूसरी कमजोरी है। यह बहिष्कार ही जडवादका आधार हुआ है। प्रकृतिका बहिष्कार भी कुछ कम भूल नहीं है—इसने संकीर्ण अनुभवमात्रवाद (Idealism) को जन्म दिया है। जीवनके व्यवहार्य पहलू पर अधिक जोर देनेसे लोकायत-मार्गको महत्व मिला है। लौकिक जीवनचर्या—जीवनके व्यवहार्य पहलूको बहुत गौण करनेसे छायावादका उदय हुआ है ‡।

सत्यानुभूतिके साथ जीवनलक्ष्यका घनिष्ट सम्बन्ध

जगत और जीवन-सम्बन्धी विविध अनुभूतियों और धारणाओंके साथ साथ जीवनके आदर्श और लक्ष्य भी विविध निर्धारित हुए हैं। वह लक्ष्य तात्कालिक इन्द्रिय-सुखसे लेकर दुष्प्राप्य आध्यात्मिक सुख तक अनेक भेदवाला प्रतीत होता है।

लौकिक दृष्टिवालोंके लिये, अर्थात् उन लोगोंके लिये जो व्यवहारमें प्रवृत्त वर्तमान लौकिक जीवनको ही सर्वस्व समझते हैं, जो इसीको जीवनका आदि और अन्त मानते हैं, जो जीवनको भौतिक इन्द्रियकी एक अभिव्यक्ति देखते हैं, यह संसार सुखमय प्रतीत होता है। उनके लिये इन्द्रिय-सुख ही जीवनका रस और सार है। इस रससे मनुष्यको वञ्चित नहीं करना चाहिये। जडवादी चार्वाक-दार्शनिकों (Hedonsists) का ऐसा ही मत है ‡। परन्तु पारमार्थिकदृष्टि (Transcendental view) वालोंके लिये, जो वर्तमान जीवनको अनन्तप्रवाहका एक दृश्यमात्र मानते हैं, जिनके लिये जन्म आत्माका जन्म नहीं है और मृत्यु आत्माकी मृत्यु नहीं है और जिनके लिये 'अहं' प्रत्ययरूप आत्मा शरीरसे भिन्न एक विलक्षण, अजर, अमर, सच्चिदानन्द सत्ता है, संसार दुखमय प्रतीत होता है और इन्द्रिय-सुख निस्सार तथा दुःखका कारण दिखाई पड़ता है †।

अनुभवकी तरहसत्यके प्रति प्राणियोंका आचार भीबहुरूपात्मक है

सत्यका—जीवनलक्ष्यका—अनुभव ही बहुरूपात्मक नहीं है प्रत्युत इन अनुभवोंके प्रति क्रियारूप प्राणधारियोंने अपने जीवन निर्वाहके लिये अपने जीवनको निष्कण्टक, सुखमय और समुन्नत बनानेके लिये जिन मार्गोंको ग्रहण कर रक्खा है,

---

Sir Oliver Lodge F. R. S.—Ether and Reality, London, 1930. P.20.

‡ (अ) हरिभद्रसूरिः—षड्दर्शन समुच्चयः; ८०-८५
(आ) श्रीमाधवाचार्य—सर्वदर्शनसंग्रह–चार्वाक-दर्शन
(इ) सूत्रकृतांग—२-१,१५–२१,
(ई) आदिपुराण ५, ५३–७५,
(उ) दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त

† (अ) उत्तराध्ययनसूत्र—१३-१६,१४-२१-२३।
(आ) कुन्दकुन्द—द्वादशानुप्रेक्षा।
(इ) बौद्ध साहित्यमें "संसार दुःखमय है" यह चार आर्यसत्योंमें एक आर्यसत्य कहा गया है। धम्मपद ४७, दीघनिकाय-महासतिपट्ठानसुत्त।
(ई) महाभारत-शान्तिपर्व, १०५ १; १०४-७-१२१३

वे भी विभक्त प्रकारके हैं। कोई भोगमार्गको, कोई त्यागमार्गको, कोई श्रद्धा मार्गको, कोई भक्तिमार्गको, कोई ज्ञानमार्गको, कोई कर्मयोगको, कोई हठयोगको उपयोगी मार्ग बतलाते हैं।

ये समस्त मार्ग दो मूल श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं—एक प्रवृत्तिमार्ग दूसरा निवृत्तिमार्ग ❋। पहला मार्ग बाह्यमुखी और व्यवहार दृष्टिवाला है, दूसरा मार्ग अन्तर्मुखी और आध्यात्मिकदृष्टिवाला है और पारमार्थिक कल्पनाओंको लिये हुए है। पहला अहंकार, मूढ़ता और मोहकी उपज है, दूसरा आत्मविश्वास, सज्ज्ञान और पूर्णताकी उत्पत्ति है। पहला प्रेयस है दूसरा श्रेयस है। पहला इन्द्रियतृप्ति, इच्छापूर्ति और आडम्बर-संचयका अनुयायी है। दूसरा इन्द्रियसंयम, इच्छा-निरोध और त्यागका हामी है। पहला अनात्म, बाह्य, स्थूल पदार्थोंका ग्राहक है। दूसरा स्वाधीन, अक्षय, सर्वप्राप्य सूक्ष्म-दशाका अन्वेषक है। पहला जन्ममरणाच्छादित नाम-रूप-कर्मवाले संसारकी जननी और धात्री है। दूसरा इस संसारका उच्छेदक और अन्तकर है। जीवनके सब मार्ग इन ही दो मूल मार्गोंके अवान्तरभेद हैं।

सत्य-सम्बन्धी आचार और विचारमें जो सर्व ओर विभिन्नता दिखाई देती है, वह बहुरूपात्मक सत्यका ही परिणाम है।

सत्य अनेक सत्यांशोंकी व्यवस्थात्मक सत्ता है

यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक बातको निश्चित रूपसे जाननेके लिये हमें कितनी ही और बातोंको जानना जरूरी होता है। यह सब इसलिये न कि जो बात हमें जाननी अभीष्ट है, उसकी लोकमें कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो विराट सत्यका एक सत्यांश मात्र है ‡। ये समस्त सत्यांश, समस्त तत्त्व, जिनको जाननेकी हमें इच्छा है, गुण-गुणी, कारण-कार्य, साधन-साध्य, वाचक-वाच्य, ज्ञान-ज्ञेय, आधर- आधेय आदि अनेक सम्बन्धों-द्वारा एक दूसरेके इतने आश्रित और अनुगृहीत हैं कि यदि हमें एक तत्वका सम्पूर्ण बोध हो जाय तो वह सम्पूर्ण तत्त्वोंका, सम्पूर्ण सत्यका बोध होगा। इसीलिये ऋषियोंने कहा है कि जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्माण्ड को जानता है †। इसलिये आत्मा ही ज्ञातव्य है, मनन करने योग्य है, श्रद्धा करने योग्य है। इसको जाननेसे सबका जानने-वाला, सर्वज्ञ हो जाता है *। इस प्रकारका बोध ही जो समस्त सत्यांशोंका, समस्ततत्त्वोंका, उनके पारस्परिक सम्बन्धों और अनुग्रहका युगपत् जानने वाला है, जैन परिभाषामें 'केवलज्ञान' कहलाता है। यह बोध, लोक-अनुभावित सामान्य-विशेष, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद्य-अभेद्य, तत्-अतत्

❋ (अ) कठोपनिषद् २-१ (आ) मनुस्मृतिः १२ ८८, (इ) अंगुत्तरनिकाय ८-२-१-३

‡ Sir Oliver Lodge. Ether and Reality P. 19.

† तदात्मानमेव वेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वं अभवत्। —शत० ब्रा० १४ ३-२-२१,

* (अ) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

—बृहदा० उपनिषद् २-४-५,

(आ) एवं हि जीवरायो णादव्वो तहय सद्दहेदव्वो। अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।

—समयसार, १-१८,

आदि समस्त प्रतिद्वन्द्वोंकी बनी हुई सुव्यवस्थित सत्ताका युगपत् बोध होनेके कारण उपर्युक्त समस्त विरोधाभासों परिमाणों (?), विकल्पों, त्रुटियों और अपूर्णताओंसे रहित है। यह अद्वितीय और विलक्षण बोध है ‡। वास्तवमें जो सम्पूर्ण सत्यको जानता है वही सम्पूर्णतया सत्यांशको जानता है। और जो सम्पूर्णतया सत्यांशको जानता है वही सम्पूर्ण सत्यको जानता है। जो सम्पूर्णसत्यको नहीं जानता वह पूर्णतया सत्यांशको भी नहीं जानता ※।

सत्य अल्पज्ञोंद्वारा पूरा नहीं जाना जा सकता

जीवन और जगतकी रचना और व्यवस्था, जीवनके लक्ष्य और मार्ग, लोकके उपादान कारण-भूत द्रव्योंके स्वरूप और शक्तियोंके सम्बन्धमें यद्यपि तत्त्वज्ञोंने बहुत कुछ अनुभव किया है—बहुत कुछ भाषाद्वारा उसका निर्वाचन भी किया है—यह सब कुछ होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी प्रस्तुत विषय-सम्बन्धी जो कुछ अनुभव होना था सो हो चुका और जो कुछ कहने योग्य था वह कहा जा चुका।

वस्तु इन समस्त अनुभवों और निर्वाचनोंमे प्रदर्शित होनेके बावजूद भी इनसे बहुत ज्यादा है। वह तो अनन्त है—वह काल क्षेत्र परिमित इन्द्रिय बोध, अभिप्राय-परिमित बुद्धि और अवयवमयी जड शब्दोंमे नहीं ढका जा सकता।

जिज्ञासुओंका अनुभव इस बातका साक्षी है कि जितना जितना गहरा अध्ययन किया जाता है, जितना जितना बोध बढ़ता जाता है, उतना उतना ही ज्ञातव्यविषयका अज्ञात अन्तर्हित क्षेत्र और अधिक गहरा और विस्तीर्ण होता चला जाता है। ऐसी स्थितिमें विचारकको, महान् तत्त्ववेत्ता सुकृतीश के शब्दोंमें, वस्तुकी असीम-अथाह अनन्तता और अपनी बुद्धिकी अल्पज्ञताका अनुभव होने लगता है। उसे प्रतीत होता है कि वस्तुतत्त्व न वचनोंसे मिल सकता है, न बुद्धिसे प्राप्त हो सकता है और न शास्त्रका पाठ करनेसे पाया जा सकता है ‡। इसलिये औपनिषदिक शब्दोंमें कहा जा सकता है कि जो यह कहता है कि मैं बहुत जानता हूँ वह कुछ नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता वह बहुत कुछ जानता है †।

जैन परिभाषामें विचारकके इस दुःखमय अनुभवको कि इतना वस्तु सम्बन्धी कथन सुनने, शास्त्र पढ़ने, मनन करने और विचारने पर भी उसको वस्तुका सम्पूर्ण ज्ञान न हो पाया और वस्तु ज्ञान अभी बहुत दूर है, 'अज्ञानपरिषह' से प्रकट किया गया है *।

अज्ञानवाद और संशयवादकी उत्पत्तिके कारण भी उपर्युक्त भाव हैं।

इस अनुभवके साथ ही विचारकके हृदयमें ऐसी आशंका पैदा होने लगती है कि क्या सत्यका

‡ (अ) तत्त्वार्थसूत्र १-२१ (आ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, ५२१, (इ) आलापपद्धति।

※ प्रवचनसार १-४८,

‡ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। कठोपनिषद् २—२२

† यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्॥
—केनोपनिषद् २-३,

* तत्त्वार्थसूत्र ६-९, । उत्तराध्ययनसूत्रं २-२-४५,

वास्तविक स्वरूप ज्ञानगम्य है भी। उसकी बुद्धि सन्दिग्धवाद और अज्ञानवादसे अनुरञ्जित होजाती है। वह ऋग्वेद १०-१२९ सूक्तके निर्माता ऋषि परमेष्ठीकी तरह सोचने लगता है कि "कौन पुरुष ऐसा है जो जानता है कि सृष्टि क्यों बनी और कहाँसे बनी और इसका क्या आधार है। मुमकिन है कि विद्वान लोग इस रहस्यको जानते हों। परन्तु यह तत्त्व विद्वान लोग कैसे बतला सकते हैं। यह रहस्य यदि कोई जानता होगा तो वही जानता होगा जो परमव्योममें रहनेवाला अध्यक्ष है ‡।

वह पारस देशके सुप्रसिद्ध कवि, ज्योतिषज्ञ और तत्त्वज्ञ उमरख़य्यामकी तरह निराशासे भरकर कहने लगता है †।

भूमण्डलके मध्यभागसे उठकर मैं ऊपर आया।
सातों द्वार पार कर ऊँचा शनिका सिंहासन पाया॥
कितनी ही उलझनें मार्गमें सुलझा डाली मैंने किन्तु।
मनुज-मृत्युकी और नियतिकी खुली न ग्रन्थिमयीमाया२१
यहाँ 'कहाँसे क्यों' न जानकर परवश आना पड़ता है।
वाहित विवश वारि-सा निजको नित्य बहाना पड़ता है।
कहाँ चले? फिर कुछ न जानकर इच्छाहो, कि अनिच्छा हो
परपटपर सरपट समीर-सा हमको जाना पड़ता है॥

तत्त्वज्ञोंके इस प्रकारके अनुभव ही दर्शन-शास्त्रोंके सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद सिद्धान्तोंके कारण हुए हैं। तो क्या सन्दिग्धवाद और अज्ञान-वाद सर्वथा ठीक हैं? नहीं। सन्दिग्धवाद और अज्ञान-वाद भी सत्यसम्बन्धी उपर्युक्त अनेक धारणाओंके समान एकान्तवाद हैं, एक विशेष प्रकारकके अनुभवकी उपज हैं।

इस अनुभवका आभास विचारकको उस समय होता है जब वह व्यवहार्य सत्यांश बोधके समान ही विराट सत्यका वा सूक्ष्म सत्यका बोध भी इन्द्रियज्ञान, बुद्धि और शास्त्राध्ययनके द्वारा हासिल करनेकी कोशिश करता है। इस प्रयत्नमें असफल रहनेके कारण वह धारणा करता है कि सत्य-सर्वथा अज्ञेय है।

पूर्णसत्य केवलज्ञानका विषय है

परन्तु वास्तवमें सत्य सर्वथा अज्ञेय नहीं है। सत्य अनेक धर्मोंकी अनेक सत्यांशोंकी, अनेक तत्त्वोंकी व्यवस्थात्मक सत्ता है। उनमेंसे कुछ सत्यांश जो लौकिक जीवनके लिये व्यवहार्य हैं और जिन्हें जाननेके लिये प्राणधारियोंने अपनेको समर्थ बनाया है, इन्द्रियज्ञानके विषय हैं, निरीक्षण और प्रयोगों (Experiments) द्वारा साध्य हैं। कुछ बुद्धि और तर्कसे अनुभव्य हैं, कुछ श्रुतिके आश्रित हैं, कुछ शब्द-द्वारा कथनीय हैं और लिपि-बद्ध होने योग्य हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन इन्द्रिय-ग्राह्य, बुद्धिगम्य और शब्दगोचर सत्यांशोंसे बहुत ज्यादा है। वह इतना गहन और गम्भीर है—बहुलता, बहुरूपता और प्रतिद्वन्दोंसे ऐसा भरपूर है कि उसे हम अल्पज्ञजन अपने व्यवहृत साधनों-द्वारा—इन्द्रिय निरीक्षण, प्रयोग, तर्क, शब्द आदि द्वारा—जान ही नहीं सकते! इसीलिये वैज्ञानिकोंके समस्त परिश्रम जो इन्होंने सत्य-रहस्यका उद्घाटन करनेके लिये आज तक किये हैं, निष्फल रहे हैं। सत्य आज भी अभेद्य व्यूहके समान अपराजित खड़ा हुआ है।

---

‡ श्रीनरदेव शास्त्री—ऋग्वेदालोचन, संवत् १९८४, पृ० २०३ २०४

† रुबाइयात उमरख़य्याम-अनुवादक श्री मैथिली-शरण गुप्त, १९३१

वास्तवमें बात यह है कि इन्द्रिय, बुद्धि और वचन आदि व्यवहृत साधनोंकी सृष्टि पूर्ण सत्यको जाननेके लिये नहीं हुई। उनकी सृष्टि तो केवल लौकिक जीवनके व्यवहारके लिये हुई है। इस व्यवहारके सत्य-सम्बन्धी जिन जिन तत्त्वोंका जितनी जितनी मात्रामें जानना और प्रकट करना आवश्यक और उपयोगी है उसके लिये हमारे व्यवहृत साधन ठीक पर्याप्त हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन सत्यांशोंसे बहुत बड़ा है, उसके लिये उपर्युक्त साधन पर्याप्त नहीं हैं। "वह इन्द्रिय बोध, तर्क और बुद्धिसे परे है—वह शब्दके अगोचर है—वह हम अल्पज्ञों-द्वारा नहीं जाना जा सकता। इस अपेक्षा हम सब ही अज्ञानी और सन्दिग्ध हैं†। पूर्णसत्य उस आवरणरहित, निर्विकल्प, साक्षात अन्तरंग ज्ञानका विषय है, जो दीर्घतपश्चरण और समाधि-द्वारा कर्मक्लेशोंसे मुक्त होने पर योगीश्वरोंको प्राप्त होता है, जो ज्ञानकी पराकाष्ठा है, जो केवलज्ञानके नामसे प्रसिद्ध है‡। जिसके प्राप्त होनेपर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वानुभू* सर्वविन कहलाता है।"

† (I) A. E. Taylor Elements of Metaphysics, London 19[illegible], P. [illegible].
(II) Sir Oliver Lodge Ether and Reality, 1930, P. 58 and 83.
(III) गोम्मटसार जीवकाण्ड—गा० नं० ३३३,
(IV) पंचाध्यायी—२,६१६,

‡ (I) न्यायावतार—२७।
(II) योगदर्शन—"तदासर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्" ४-३१
(III) प्रश्नोपनिषत् ४-११। बृहदा० उपनिषत् १-४-१०।

* 'ससर्वज्ञः सर्ववित्' मु० उ० १-१-६। 'अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभू' बृ० उ० २-५-१९,

प्रत्येक मनुष्य अपनी वर्तमान अविकसित दशामें इस केवलज्ञानका पात्र नहीं है। केवलज्ञान तो दूर रहा, साधारणतया अधिकांश मनुष्य तो सत्यको देखते हुए भी इसे नहीं देख पाते और सुनते हुए भी उसे नहीं सुन पाते ‡, अतः जो सत्यका लब्धा, ज्ञाता और वक्ता है वह निःसन्देह बहुत ही कुशल और आश्चर्यकारी व्यक्ति है†।

श्रद्धामार्गका कारण भी उपर्युक्त आप्तत्व ही है

यही कारण है कि सब ही धर्मपन्थनेताओंने साधारण जनताके लिये, जो अल्पज्ञताके कारण बच्चोंके समान है, अन्तःअनुभवी ऋषि और महापुरुषोंके अनुभवों, मन्तव्यों और वाक्योंको ईश्वरीय ज्ञान ठहराकर—आप्तवचन कहकर—उनपर श्रद्धा, विश्वास और ईमान लानेके लिये बहुत जोर दिया है। इस श्रद्धापूर्वक ही जीवन-निर्वाह करनेको श्रेयस्कर बतलाया है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदायका बतलाया हुआ मार्ग, उसके बतलाये हुए सिद्धान्तों पर श्रद्धा करनेसे प्रारम्भ होता है।

वाच्य और उसके अनेक वाच्य

यह सत्यके बहुविध अनुभवकी ही महिमा है

‡ "उतत्वः पश्यन्नददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्" —ऋग्वेद १०-७१-४

(II) Hear ye indeed but understand not and see ye indeed but perceive not. Bible Isaiah VI-9.

† श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः कठोपनिषत् २-७,

कि सत्यका बहुविध-साधनों,बहुविध संज्ञाओं और बहुविध-शैलीसे सदा प्रदर्शन किया जाता रहा है। इसीके प्रदर्शनके लिये शब्द, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि साधनोंसे काम लिया जाता है। इस ही वाच्यके अनेक वाचक शब्द प्रसिद्ध हैं। उस हीके सुगम बोधके लिये आलंकारिक और तार्किक शैली प्रचलित है।

किसी वस्तुके वाचक जितने शब्द आज उपयोगमें आरहे हैं, उन सबके वाच्य अनुभव एक दूसरेसे भिन्न हैं, परन्तु एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं। वे एक ही वस्तुकी भिन्न भिन्न पर्यायोंके वाचक हैं और इसीलिये उनका नाम पर्य्यायवाची शब्द (Synonym) है। यह बात दूसरी है कि अज्ञानताके कारण आज उन सब शब्दोंको हम बिना उनकी विशेषता समझे एक ही अर्थमें उपयुक्त करें, परन्तु, भाषाविज्ञानीजन उन समस्त पर्य्यायवाची शब्दोंकी भिन्न विशेषता जानते हैं। ये विभिन्न पर्य्यायवाची शब्द एक ही देश, एक ही काल, एक ही जाति, एक ही व्यक्ति की सृष्टि नहीं हैं, प्रत्युत विभिन्न युगों, विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों और विभिन्न व्यक्तियोंकी सृष्टि हैं। यह बात शब्दोंके इतिहाससे ज्ञात हो सकती है।

हमारा ज्ञानगम्य और व्यवहारगम्य सत्य एकाधिक और सापेक्ष सत्य है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि हम केवल सत्यांशोंका ग्रहण करते हैं पूर्णसत्यका नहीं। और सत्यांशमें भी केवल उनका दर्शन करते हैं जो वर्तमान दशामें व्यवहार्य और जीवनोपयोगी हैं। साधारणजनका तो कथन ही क्या है, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी अपनी अलौकिक प्रतिभा और तर्क द्वारा सम्पूर्ण सत्यांशोंको नहीं जान पाते। आयुकर्म उनकी पूर्णताकी प्रतीक्षा नहीं करता। अतः उन्हें अपने अधूरे अनुभवोंके आधार पर ही अपने दर्शनका संकलन करना होता है। ये अनुभव सबके एक सामान नहीं होते। जैसा कि ऊपर बतलाया है, वे प्रत्येकके दृष्टिभेदके कारण विभिन्न प्रकारके होते हैं। दृष्टिकी विभिन्नता ही विज्ञानों और दर्शनोंकी विभिन्नताका कारण है। परन्तु इस विभिन्नताका यह आशय नहीं है कि समस्त विज्ञान और दर्शन मिथ्या हैं या एक सत्य है और अन्य मिथ्या हैं। नहीं, सब ही विज्ञान और दर्शन वस्तुकी उस विशेषदृष्टिकी जिससे विचारकने उसे अध्ययन किया है—उस विशेष प्रयोजनकी जिसको पूर्तिके लिये मनन किया है, उपज हैं। अतः अपनी अपनी विवक्षित दृष्टि और प्रयोजनकी अपेक्षा सब ही विज्ञान और दर्शन सत्य हैं।

कोई भी सिद्धान्त केवल इस कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्णसत्य न होकर सत्यांश-मात्र है। चूंकि प्रत्येक सत्यांश और उसके आधार पर अवलम्बित विज्ञान और दर्शन अपने अपने क्षेत्रमें जीवनोपयोगी और व्यवहारमें कार्यकारी हैं। अतः प्रत्येक सत्यांश अपनी अपनी दृष्टि और प्रयोजनकी अपेक्षा सत्य है। सिद्धान्त उसी समय मिथ्या कहा जा सकता है कि जब वह पूर्णसत्य न होते हुए भी उसे पूर्णसत्य माना जावे‡।

‡ A. E. Taylor Elements of Metaphysics, London. 1924—P. 214.—

"For a proposition is never untrue simply because it is not the whole truth, but only when, not being the whole truth, it is mistaken to be so."

उदाहरणके लिये 'मनुष्य' को ही ले लीजिये, यह कितनी विशाल और बहुरूपात्मक सत्ता है इसका अन्दाजा उन विभिन्न विज्ञानोंको ध्यानमें लानेसे हो सकता है जो 'मनुष्य' के अध्ययनके आधार पर बने हैं। जैसे:-शारीरिक-रचनाविज्ञान (Anatomy), शारीरिक व्यापारविज्ञान (Physiology), गर्भविज्ञान (Emibryology), भाषाविज्ञान (Philology), मनोविज्ञान (Psychology), सामाजिक जीवन-विज्ञान (Sociology), जातिविज्ञान (Ethnology), मानवविवर्तविज्ञान (Anthropology), आदि। इनमें प्रत्येक विज्ञान अपने अपने क्षेत्रमें बहुत उपयोगी और सत्य है। परन्तु कोई भी विज्ञान पूर्णसत्य नहीं है, क्योंकि 'मनुष्य' न केवल गर्भस्थ वस्तु है—न केवल सप्त-धातु-उपधातु-निर्मित अङ्गोपाङ्ग वाला एक विशेष आकृतिका स्थूलपदार्थ है—न केवल श्वासोच्छ्वास लेता हुआ चलता-फिरता यन्त्र है—न केवल भाषाभाषी है...वह उपर्युक्त सब कुछ होता हुआ भी इनसे बहुत ज्यादा है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य सम्बन्धी विज्ञान उस दृष्टिकी अपेक्षा जिससे कि 'मनुष्य' का अध्ययन किया गया है—उस प्रयोजन की अपेक्षा जिसकी पूर्तिके लिये विज्ञानका निर्माण हुआ है, सत्य है और इसलिये उपयोगी है; परन्तु अन्यदृष्टियों, अन्यप्रयोजनोंकी अपेक्षा और सम्पूर्णसत्यकी अपेक्षा वही विज्ञान निरर्थक है। अत: यदि उपर्युक्त विज्ञानोंमेंसे किसी एक विज्ञानको सम्पूर्ण मनुष्यविज्ञान मान लिया जाय तो वह हमारी धारणा मिथ्या होगी। अत: हमारा ज्ञानगम्य, व्यवहारगम्य सत्य ए[illegible]शिक सत्य [illegible], सापेक्ष सत्य है। वह अपनी [illegible] और प्रयोजनकी अपेक्षा सत्य है। यदि [illegible] अन्य[illegible] और अन्यप्रयोजनकी कसौटीसे देखा जाय या यदि उसे पूर्ण सत्य मानलिया जाय तो वह निरर्थक, अनुपयोगी और मिथ्या होगा ‡।

‡ (अ) द्रव्यानुयोगतर्कणा—१-६
(आ) पञ्चाध्यायी—१ ५८०
(इ) निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।
—आप्तमीमांसा, १०८।
(ई) A.E. Taylor -Elements of Metaphysics, P. 214, Postnot -"The degree of truth a doctrine contains cannot be determined apart from consideration of the purpose it is meant to fulfil."

स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१. नियम एक तरहसे इस जगतका प्रवर्तक है।

२. जो मनुष्य सत्पुरुषोंके चरित्रके रहस्यको पाता है वह परमेश्वर होजाता है।

३. चंचल चित्त सब विषम दुःखोंका मूल है।

४. बहुतोंका मिलाप और थोड़ोंके साथ अति समागम ये दोनों समान दुःखदायक हैं।

५. समस्वभावीके मिलनेको ज्ञानी लोग एकांत कहते हैं।

६. इन्द्रियाँ तुम्हें जीतें और तुम सुख मानो, इसकी अपेक्षा तुम इन्द्रियोंके जीतनेसे ही सुख, आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे।

७. राग बिना संसार नहीं और संसार बिना राग नहीं।

८. युवावस्थामें सर्वसंगका परित्याग परमपदको देता है।

भ० महावीरके शासनमें गोत्रकर्म्म

[ले०—बा० कामताप्रसाद जैन, एम०आर०ए०एस०]
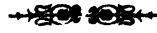
भगवान् महावीर जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर थे। उन्होंने स्वयं नवीन मतकी स्थापना नहीं की थी; बल्कि क्षीण हुए जैनधर्मका पुनरुद्धार किया था—अपने ही ढंगसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भवके अनुकूल उसका प्रतिपादन किया था। जब तक भगवान् महावीर पूर्णसर्वज्ञ नहीं हो लिये थे तब तक उन्होंने तीर्थ-प्रवर्तनरूपमें एक शब्द भी मुखसे नहीं निकाला था। जीवनमुक्त परमात्मा होकर ही उन्होंने लोककल्याण भावना-मूलक धर्मका निरूपण किया। जो कुछ उन्होंने कहा, उसका साक्षात् अनुभव कर लिया था—ज्ञान उनमें मूर्तिमान् हो चमका था। इसलिए उन्होंने जो कहा वह वस्तुस्थितिका फोटोमात्र था। उनका सिद्धांत कारण-कार्य सूत्रपर अवलम्बित था। उसमें जिज्ञासुओंको पूर्णसन्तोष मिला था और वे उनकी शरणमें आये थे। बौद्ध शास्त्रोंके कथनसे यह आभास होता है कि तीर्थंकर महावीरके प्रथम पुण्यमयी प्रवचनका प्रतिरूप कैसा था? उनमें लिखा है कि जब म० गौतम बुद्धने निर्ग्रन्थ (जैन) श्रमणोंसे घोर तपस्या करनेका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया:—

"एवं वुत्ते, महानाम, ते निगण्ठा मं एतदवोचुं, निगण्ठो, आवुसो नाथपुत्तो सब्बञ्ञु, सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं परिजानाति: चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितंति:, सो एवं आह: अत्थि खो वो निगण्ठा पूब्बे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जरेथ: यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता, वाचाय संवुता, मनसा संवुता तं आयतिं पापस्स अकरणं, इति पुराणानं कम्मानं तपसा ब्यन्तिभावा नवानं कम्मानं अकरणा आयतिं अनवस्सवो, आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदानाक्खयो, वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति।"

—(**मज्झिमनिकाय**)

भावार्थ—"हे महानाम, जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले, 'अहो, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं—वे अशेष ज्ञान और दर्शनोंके ज्ञाता हैं। हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते,—समस्त अवस्थाओंमें सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा:— निर्ग्रन्थो! तुमने पूर्व (जन्म) में पापकर्म्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्कर तपस्यासे निर्जरा कर डालो। मन, वचन, और कायकी संवृत्तिसे (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्यासे पुराने पापोंका व्यय हो जाता है। इस प्रकारके नये पापोंके रुक जानेसे और पुराने पापोंके व्ययसे आयति रुक जाती है: आयति रुक जानेसे कर्म्मोंका क्षय होता है, कर्मक्षयसे दुःखक्षय होता है, दुःखक्षयसे वेदनाक्षय और वेदनाक्षयसे सर्वदुःखोंकी निर्जरा हो जाती है।"

इस उद्धरणसे भ० महावीरका महान् व्यक्तित्व और उसके द्वारा प्रतिपादित धर्मका वैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट है। निस्सन्देह भ० महावीरका धर्म केवल धर्म-

विज्ञान है। उपर्युक्त उद्धरण इस कथनका साक्षी है। उसमें धर्मविज्ञानका जो रूप अंकित है, उससे जैन-कर्म-सिद्धांतकी भी सिद्धि होती है। कर्म वह सूक्ष्म पुद्गल है जो कषायानुरक्त जीवकी योगक्रियासे आकृष्ट हो उससे एकमेक बंधको प्राप्त होता है। ऐसी दशामें तपस्या-द्वारा नूतन कर्म्मोंकी आयति (आस्रव) रुक जाती है और शेष कर्म्मोंकी निर्जरा हो जानेसे जीवको बंधन में रखनेके लिए कारण शेष नहीं रहता—वह मुक्त होकर ज्ञानादि अनन्त चतुष्टयका उपभोग करता है। कर्मरूप होने योग्य यह सूक्ष्म पुद्गल जो लोकमें भरा हुआ है, संसारी जीवसे सम्बद्ध होकर आठ प्रकारोंमें परिणत हो जाता है। इन्हींको भ० महावीरने आठ कर्म्मप्रकृति कहा है अर्थात् (१) ज्ञानावरणी, (२) दर्शनावरणी, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय। चीनदेशके बौद्ध शास्त्रोंमें इनमेंसे केवल छह मूल्य प्रकृतियोंका उल्लेख मिलता है—न मालूम उसमें ज्ञानावरण और अन्तरायका उल्लेख होनेसे कैसे छूट गया? जो हो, यह स्पष्ट है कि भ० महावीरने अपने धर्मका प्रतिपादन मूलतः कर्मसिद्धांतके आधारसे किया था, अतएव कर्मसिद्धांतका विवेचन सामान्य न होकर वैज्ञानिक होना चाहिए। जैनागम इसी बातका द्योतक है।

पाठकगण, अब आइये प्रकृत-विषयका विचार करें। इस लेखके शीर्षकसे स्पष्ट है कि हमें गोत्रकर्मपर विचार करना अभीष्ट है। गोत्रकर्म आठ मूल प्रकृतियोंमेंसे एक है और उसका लक्षण 'धवलसिद्धांत' में यूं बतलाया गया है:—

"उच्चनीचकुलेसु उप्पादश्रो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चएहि जीवसंबंधो गोदमिदि उच्चदे।"

अर्थात्—मिथ्यात्वादि कारणोंके द्वारा जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त हुए ऊँच-नीच-कुलमें उत्पन्न करानेवाले पुद्गलस्कन्धको 'गोत्र' कहते हैं *।

गोत्रकर्मका सूक्ष्म पुद्गलरूप होना लाज़िमी है। आचार्य उसीको स्वीकार करते हुए बताते हैं कि वे गोत्रकर्मरूप पुद्गलस्कंध जीवको ऊँच-नीच-कुलमें उत्पन्न कराते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ऊँच-नीच-कुलमें जन्म करा देनेके पश्चात् गोत्रकर्म निष्क्रिय हो जाता हो; क्योंकि कर्मकी मूल प्रकृतितियोंमें कोई भी ऐसा नहीं है जो जीवके साथ परम्परा-रूपसे हमेशासे नहो और अपना प्रभाव न रखता हो। आयुकर्म प्रकृतिका बन्ध यद्यपि जीवनमें एक बार ही होता है, परन्तु उसका कार्य बराबर जीवन-पर्यन्त होता है। इसी तरह भ० महावीरने गोत्रकर्मका प्रभाव जन्म लेनेके बाद भी जीवन-पर्यन्त होना प्रतिपादित किया है और यही मानना आवश्यक है। यही कारण है कि श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धांत-चक्रवर्ती गोत्र कर्मके विषयमें लिखते हैं:—

'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।'

अर्थात्—'सन्तानक्रमसे-कुलपरिपाटीसे-चले आये जीवके आचारणकी 'गोत्र' संज्ञा है।'

गोत्रकर्मका यह लक्षण उसके कार्यको बतलाता है। जीव एक द्रव्य है। अतएव संसारी जीवका कुलपरम्परागत आचरण काल्पनिक न होकर नियमित और जन्म-सुलभ होना चाहिये। जीवके कुल भी एकेन्द्रियादि की अपेक्षा मानने चाहियें—वे काल्पनिक न होने चाहियें। इस विषयको स्पष्ट समझनेके लिये हमें संसारी जीवोंके वर्णन पर जरा विचार करना चाहिये।

* यह और इस लेखमें अन्य सिद्धांत-उद्धरण 'अनेकांत'की पूर्व प्रकाशित किरणोंमेंसे लिये गये हैं। जिसके लिए हम लेखकोंके आभारी हैं।

प्रत्येक जैनी जानता है कि संसारी जीव त्रस और स्थावरके रूपमें दो तरहके हैं। त्रसमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सम्मिलित हैं। पंचेन्द्रियोंमें पशुओं और मनुष्योंके अतिरिक्त देव और नारकी भी सम्मिलित हैं। एकेन्द्रियसे पंचेंद्रिय पशु तक तिर्यंच कहलाते हैं। तिर्यञ्चोंके अतिरिक्त नारकियों, देवों और मनुष्योंका भी पृथक् अस्तित्व मिलता है। अब देखना यह है कि किन कारणोंसे जीव नारक-पशु-देव और मनुष्य भवोंमें उच्च नीच-गोत्री होता है। तत्वार्थाधिगम सूत्रमें लिखा है कि:—

'परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।'

अर्थात्—'परकी निंदा, अपनी प्रशंसा, परके विद्यमान गुणोंका आच्छादन और अपने अविद्यमान गुणोंका प्रकाशन, ये नीचगोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं। इनसे विपरीत अर्थात् अपनी निंदा, परकी प्रशंसा, अपने गुण ढकना और दूसरोंके गुण प्रकाशित करना, नम्रवृत्ति और निरभिमान, ये उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं।'

और इसमें शंका ही नहीं की जा सकती कि जैसा कारण होता है उसीके अनुरूप कार्य होता है—कारणके विरुद्ध कार्य नहीं होता। अतएव उच्च-नीच गोत्रके कारणोंका सम्बन्ध जिस प्रकार धर्माचरणसे नहीं है उसी तरह उसका कार्यरूप भी धर्माचरणसे संबंधित नहीं किया जा सकता अर्थात् संतान-क्रमागत आचरणका भाव सिद्धान्तग्रंथमें धर्माचरण अथवा अधर्माचरण नहीं है; बल्कि आचरणका भाव सामान्य प्रवृत्ति है और वह प्रवृत्ति नारकतिर्यञ्चादिमें कुल-परम्परासे एक-सी मिलना चाहिये। चूँकि भव-अपेक्षा तिर्यञ्च-नारक-देव-मनुष्य पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये उनकी कुल-सुलभ प्रवृत्ति अथवा व्यापार भी पृथक्-पृथक् होना आवश्यक है। नारकियोंमें जन्म लेते ही जीव ताड़न-मारन-छेदन-भेदन-रूप संक्लेशमय क्रियाको करने लगता है और वह उसको आयुपर्यन्त कभी न तो भूलता है और न छोड़ता ही है। इसलिये नारकियोंका यह व्यापार उनका गोत्रजन्य आचरण है। उनकी यह प्रवृत्ति नियमित, जन्म-सुलभ और शाश्वत है—प्रत्येक नारकीमें प्रत्येक समयमें वही प्रवृत्ति मिलेगी। इसी तरह तिर्यञ्चोंमें गोत्रजन्य व्यापार देखना चाहिये। उनका गोत्रजन्य व्यापार भी जन्म सुलभ, नियमित और जीवन-पर्यन्त रहने वाला होना चाहिये। तिर्यञ्चोंमें क्षुधा-निवृत्तिके लिये नाना प्रकारसे उद्योग करनेका भाव और प्रवृत्ति सर्वोपरि होती है। अपनी खाद्य वस्तुको खोजने, उसको संभालकर रखने और काममें लानेका चातुर्य प्रत्येक पशुमें जन्मगत देखनेको मिलता है—कोई उनको सिखाता नहीं। शेर, बिल्ली आदि खूँख्वार जानवरोंको शिकारकी घातमें रहनेकी चालाकी किसीने सिखाई नहीं है—बया चिड़ियाको खास तरहका घोंसला बनाना, शहदकी मक्खियोंको अपना छत्ता बनाना और चींटियोंको अपनी बिलें बनानेकी शिक्षा किसने दी है? तिर्यञ्चोंकी यह सब प्रवृत्ति जन्मगत होनेसे उनका कुल-परम्परीण आचरण (व्यापार) है। अतः यही उनका गोत्रजन्य व्यापार-कार्य है। किन्तु प्रश्न यह है कि उनका यह व्यापार शुभ और प्रशंसनीय है अथवा नहीं? नारकियोंकी प्रवृत्ति संक्लेशमयी रौद्रताको लिये हुये है, जो जीवके स्वभावसे प्रतिकूल और उसके संसारको बढ़ाने वाली है। इसी तरह तिर्यञ्चोंकी प्रवृत्ति मायावी और मूर्छाभावको लिये हुए है। आत्माका धर्म आर्जव है—माया और मूर्छा उससे परेकी चीज़ें हैं। इसलिये नारक और तिर्यञ्चोंकी प्रवृत्तियाँ

उपादेय न होनेके कारण हितकर और प्रशंसनीय नहीं हैं—वे हैं भी अशुभ, क्योंकि नरक और तिर्यञ्च-गतियाँ स्वयं अशुभ हैं। अतएव नारक और तिर्यञ्चोंका गोत्र भी अशुभ अर्थात् नीच होना चाहिये। सिद्धान्तग्रन्थोंमें उसे नीच ही बताया गया है।

अब रहे केवल मनुष्य और देव। देवोंके गोत्रजन्य व्यापारके विषयमें मतभेद नहीं है—उनका आनन्दी जीवन है—क्रीड़ा करनेमें ही देव मग्न रहते हैं। आनन्दी जीवनमें आकुलताके लिये बहुत-कम स्थान है—आनन्द आत्माका स्वाभाविक गुण है। इसलिये देवोंकी प्रवृत्ति शुभ है। यही कारण है कि देवोंमें ऊँचे-नीचे दर्जेके देवोंका वर्गीकरण होते हुए भी सब ही देव उच्च गोत्री कहे गये हैं। अब रह जाते हैं केवल मनुष्य! उनके जन्म-सुलभ व्यापार अथवा गोत्रजन्य प्रवृत्तिके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है; परन्तु यहाँ पर भी यदि उपर्युक्त देव-नारकादिके गोत्रजन्य व्यापारकी विशेषताओंका ध्यान रक्खा जाय तो मतभेदकी संभावना शायद ही रहे। गोत्रजन्य व्यापार जन्म सुलभ, नियमित और शाश्वत होना चाहिये। अतएव देखना यह चाहिये कि मनुष्योंमें कौनसी प्रवृत्ति जन्म-सुलभ है, जो जीवन-पर्यन्त प्रत्येक देश और प्रत्येक कालके मनुष्योंमें मिलती है? ग़ौरसे देखिये तो ज्ञात होता है कि एक बालक होश सँभालनेके पहलेसे ही हर बातको जाननेकी—वस्तुके स्वरूपको ग्रहण करनेकी स्वतः ही कोशिश करता है मानवजातिके किसी कुलका बालक क्यों न हो, उसमें यह प्रवृत्ति स्वतः ही मिलती है और वह बराबर बनी रहती है; बल्कि मनुष्य-सन्तानमें उस प्रवृत्तिका संस्कार जन्मतः दीखता है। इस प्रवृत्तिको श्रुतपर्यवेक्षण-प्रवृत्ति कहना उचित है, और यही मनुष्यका गोत्रजन्य व्यापार मानना उचित है; क्योंकि यह जन्मसुलभ, नियमित और मनुष्य जीवनमें कभी न बदलने वाली शाश्वती प्रवृत्ति उसी तरह है जिस तरह देवादिमें उनकी गोत्र-जन्य प्रवृत्ति है। साथ ही, चूंकि यह प्रवृत्ति ज्ञानसे ताल्लुक़ रखती है, इसलिये श्रेष्ठ है-शुभ है; क्योंकि ज्ञान आत्माका गुण है। अतएव मनुष्यजातिमें बज़ाहिर काल्पनिक भेद-प्रभेद रूप वर्गीकरण होते हुए भी, जैसे कि देवोंमें भी है, उनको उच्चगोत्री मानना ही ठीक है श्रीमान् वयोवृद्ध सूरजभानुजी साहबने इस विषयका ठीक ही प्रतिपादन किया है। 'ठाणायंत्र' में मनुष्योंके चौदह लाख कोटि कुलोंको मोक्षयोग्य ठहराया है† —यह सिद्धान्त मान्यता तभी ठीक हो सकती है जब कि सब ही मनुष्योंको उच्चगोत्री माना जायगा।

इसके विपरीत मनुष्योंमें उच्च-नीच-गोत्र-जन्य व्यापार यदि मनुष्योंकी लोक-सम्मानित और लोक-निंद्य प्रवृत्तिको माना जाय तो सिद्धान्तमें कही गई बातोंसे विरोध होगा; क्योंकि सिद्धांतमें म्लेच्छ-शूद्र चोर-डाकू-आदि लोकनिंद्य मनुष्योंको भी मुनि होते बताया गया है‡। इस प्रकरणमें बौद्ध ग्रंथ 'मज्झिमनिकाय' का निम्नलिखित उद्धरण विशेष दृष्टव्य है:—

"म० गौतम बुद्ध कहते हैं:—"निगंठो, जो लोकमें

† 'मिथ्यात्व सौं लेइ अयोगि पर्यंत गुणस्थाननि विषै' मनुष्यके चौदह लाख कोडिकुल कहे हैं, यातैं सब मनुष्यनिके कुलकी संज्ञा मोक्षयोग्य जानी गई। यह ठाणोंके यंत्र विषै देख लेना।'—चर्चासमाधान

‡ धवल सिद्धांतमें म्लेच्छोंको मुनिपद धारणेका विधान श्री सूरजभानुजीके लेखसे स्पष्ट है। 'क्षपणासार' में भी यह एवं सत्शूद्रोंका मुनि होना स्पष्ट है। क्रूरकर्मा अहिंसारक चोर आदिका मुनि होना भी भगवती आराधना पृ० ३२१ में स्पष्ट है।

रुद्र (भयंकर) खून रंगे हाथ वाले, क्रूरकर्मा, मनुष्योंमें नीचजाति वाले (पच्चाजाता) हैं, वे निगंठोंमें साधु बनते हैं।" (चूलदुक्ख-क्खन्ध-सुत्तन्त)

यह उद्धरण भ० महावीरके समयमें जैनसंघकी प्रवृत्तिका दिग्दर्शन कराता है। इसमें बौद्धोंके आक्षेप-वृत्तिगत संदिग्धताकी भी शंका नहीं करनी चाहिये;क्योंकि जैनागमसे एक हद तक इसका समर्थन होता है। सिद्धांत ग्रंथोंसे स्पष्ट है कि रुद्र भ्रष्ट-मुनि आर्यिकाकी संतान होता है और ग्यारह अंग और नौ पूर्वोंका पाठी मुनि होता है। भ० महावीरके समयमें सात्यकिपुत्र नामक अंतिम रुद्र ज्येष्ठा आर्यिका और सात्यकि मुनिका व्यभिचारजात पुत्र था*। वैदिक धर्मकीप्रधानता उस कालमें बिल्कुल नष्ट नहीं हुई थी और कुलमदका व्यवहार लोगोंमेंसे एकदम दूर नहीं हो गया था—व्यभिचारजातको जनता लोकनिंद्य नीच ही मानती थी; किन्तु तीर्थंकर महावीरने अन्तिम रुद्रकी लोकनिन्द्यताका ज़रा भी खयाल नहीं किया और उसे मुनि दीक्षा देदी। इसी तरह अहिमारक चोरने मुनि होकर एक राजाको जानसे मार डाला, जिससे यह स्पष्ट है कि अहिमारक अपने जीवनमें साधु होनेके पहले बहुत ही क्रूरकर्मी था*। क्रूरकर्मी चोरकी लोकमें कोई भी प्रशंसा नहीं करेगा—फिर भी वह मुनि हुआ। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वह नीचगोत्री नहीं था और गोत्रके व्यापारका सम्बन्ध लोकनिंद्य और लोकवंद्य आचरणोंसे नहीं बैठता। क्रूरकर्मी आदि रूप होना चारित्र मोहनीय कर्मप्रकृतिसे ताल्लुक रखता है—गोत्रकर्मसे उसका सम्बन्ध बिठाना ठीक नहीं। अतएव उपर्युक्त विवेचनके आधारसे यह मानना ठीक जँचता है कि भ० महावीरने मनुष्यजातिको उच्चगोत्री ही बताया था। मनुष्यों का जन्मगत व्यापार—श्रुतपर्यवेक्षणभाव उन्हें उच्चगोत्री ही ठहराता है गोम्मटसार कर्म्मकाण्ड गाथा नं० १८ से हमारे उपर्युक्त वक्तव्यका समर्थन होता है; क्योंकि उसमें नीच-उच्च-गोत्र भवाश्रित बताये हैं। मनुष्यभव उच्च ही माना गया है। मनन करनेकी क्षमता रखने वाला जीव ही मानव है और वह अवश्य ही सर्वश्रेष्ट प्राणी है। भ० महावीरने ऐसा ही कहा था, यह उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है। आशा है, विद्वज्जन इस विषयको और भी स्पष्ट करेंगे।

* देखो आराधना कथाकोशमें सात्यकि और रुद्र कथा नं० २७ ।

* देखो अनन्तकीर्ति ग्रन्थमालामें प्रकाशित भगवती आराधनाकी 'अहिमारएण' आदि गाथा नं० २०७१

विविध-प्रश्न

प्र०—कहिये धर्मका क्यों आवश्यकता है ?

उ०—अनादि कालसे आत्माके कर्म-जाल दूर करने के लिये।

प्र०—जीव पहला अथवा कर्म ?

उ०—दोनों अनादि हैं। यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तुको मल लगनेका कोई निमित्त चाहिये। यदि कर्मको पहले कहो तो जीवके बिना कर्मको किया किसने ? इस न्यायसे दोनों अनादि हैं।

प्र०—जीव रूपी है अथवा अरूपी ?

उ०—देहके निमित्तसे रूपी है और अपने स्वरूपसे अरूपी। —राजचन्द्र

जैनदृष्टिका स्थान तथा उसका आधार

[लेखक—न्यायदिवाकर न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री]

[इस लेखके लेखक पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री काशी-स्याद्वाद महाविद्यालयके एक प्रसिद्ध विद्वान हैं, और वहाँ न्यायाध्यापकके आसन पर आसीन हैं। हालमें आप षट्खण्ड-न्यायाचार्यके पदसे भी विभूषित हुए हैं जैनियोंमें सर्वप्रथम आपकोही काशीकी इस षट्खण्ड-न्यायाचार्यकी पदवीसे विभूषित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप बड़ेही विचारशील एवं सज्जन हैं और खूब तुलनात्मक अध्ययन किया करते हैं, जिसका विशेष परिचायक आपके द्वारा सम्पादित हुआ 'न्यायकुमुदचन्द' नामका ग्रन्थ है। तुलनात्मक दृष्टिसे लिखा हुआ आपका यह लेख बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमें भगवान् महावीरकी अनेकान्त दृष्टिका और उसे दूसरे दर्शनों पर जो गौरव प्राप्त है उसका बड़े अच्छे ढंगसे प्रतिपादन एवं स्पष्टीकरण किया गया है। साथ ही, जो यह बतलाया है कि, अनेकान्तदृष्टिको अपनाए बिना वास्तविक अहिंसा नहीं बन सकती—राग-द्वेष और विरोधकी परम्परा बन्द नहीं हो सकती, अनेकान्तदृष्टि जैनधर्मकी जान है, उसे छोड़कर अथवा भुलाकर हम वीरशासनके अनुयायी नहीं रह सकते, अनुयायी बनने और अपना भविष्य उज्ज्वल तथा जीवन सफल करनेके लिये हमें प्रत्येक प्रश्न पर—चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक-अनेकान्त दृष्टिसे विचार करना होगा, वह सब खासतौरसे ध्यान देनेके योग्य है। आशा है पाठकजन लेखको गौरसे पढ़कर यथेष्ट लाभ उठाएँगे।

—सम्पादक]

भारतीय दर्शनशास्त्रोंके सामान्यतः दो विभाग किये जा सकते हैं—एक वैदिक दर्शन और दूसरे अवैदिक दर्शन। वैदिक दर्शनमें वेदको प्रमाण मानने वाले वैशेषिक, न्याय, उपनिषद्, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा आदि दर्शन हैं। अवैदिक दर्शनोंमें वैदिक यज्ञहिंसाके खिलाफ़ विद्रोह करने वाले, वेदकी प्रमाणता पर अविश्वास रखने वाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं। वैदिक दर्शनके आधार एवं उद्भव स्थानमें विचारोंका प्रामुख्य है तथा अवैदिक दर्शनोंकी उद्भूति आचारशोधनकी प्रमुखतासे हुई है। प्रायः सभी दर्शनोंका अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' है। गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञानको साधन भी सभीने माना है। वैदिकदर्शनकी परम्पराके स्थिर रखनेके लिये तथा उसके अतुल विकासके लिये प्रारम्भसे ही बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्गने सुदृढ प्रयत्न किया है। यही कारण है कि आज वैदिकदर्शनोंकी सूक्ष्मता एवं परिमाणकी तुलनामें यद्यपि अवैदिक दर्शन मात्रामें नहींवत् है, पर उनकी गहराई और सूक्ष्मता किसी भी तरह कम नहीं है। बौद्ध और जैनदर्शनका मूलस्रोत जिन बुद्ध और महावीरके वाक्योंसे निकलता है वे यद्यपि स्वयं आचारप्रधान थे तथापि उत्तरकालीन आचार्यवर्गने अपने अपने दर्शनोंके विकासमें तर्ककी पराकाष्ठा दिखाई है और उस उस तर्कजन्य विकासशील साहित्यसे दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ओरसे भी पर्याप्त पूंजी जमा की है।

बौद्धदृष्टिकी उद्भूति

बुद्ध जब तपस्या करने जाते हैं तब उनकी विचारधाराको देखिए। उसमें दर्शनशास्त्र-जैसी कल्पनाओंको कोई स्थान ही नहीं है। उस समय तो उनका करुणामय हृदय संसारके विषय कषायोंसे विरक्त होकर मारविजयको उन्नत होता है। वे तो विषय-कषाय ज्वालासे बुरी तरह झुलसे हुए प्राणियोंके उद्धारके लिए अपना जीवन होम देनेकी भावनाको पुष्ट करते हैं। उनका चित्तप्रवाह संसारको जलबुद्बुदकी तरह क्षणभंगुर, अशुचि, निरात्मक—आत्मस्वरूपसे भिन्न आत्माके लिए निरुपयोगी, तथा दुःखरूप देखता है। वे इस दुःखसन्ततिके मूल कारणोंका उच्छेद करनेके लिए किसी दर्शनशास्त्रकी रचना नहीं करके उसके मार्गकी खोजके लिए तपस्या करते हैं। छह वर्ष तक उग्र तपस्या चलती

है, पर जब सिद्धि नहीं होती तो तपस्याके उत्कट मार्गसे उनका भावुक मातृहृदय चित्त ऊबने लगता है। इस समय उनकी चित्तसन्तति, जो एकनिष्ठ होकर दुःखनिवृत्तिकी उग्रसाधना कर रही थी, अपनी असफलता देखकर विचारकी ओर झुकती है और उसके द्वारा मध्यम मार्गको ढूंढ निकालती है। वे स्थिर करते हैं कि—एक ओर यदि विषयासक्त हो शरीरपोषण करना अति है तो दूसरी ओर उग्रतपस्या-द्वारा शरीरशोषण भी अति है, अतः दोनोंके बीचका मार्ग ही श्रेयस्कर हो सकता है। वे इस मध्यममार्गके अनुसार अपनी तपस्याकी उग्रता ढीली करते हैं। इससे हम एक नतीजा तो सहज ही निकाल सकते हैं कि बुद्धका जीवनप्रवाह अहिंसात्मक आचारकी ओर ही अधिक था, इस समय बुद्धिका काम हुआ है तो साधनकी खोजमें। जब बोधिलाभ करनेके बाद संघ रचनाका प्रश्न आया, शिष्य-परिवार दीक्षित होने लगा, उपदेश-परम्परा शुरू हुई तब विचारका मुख्य कार्य प्रारम्भ हुआ। इस विचार-क्षेत्रमें भी हम बुद्धके उपदेशमें दर्शनशास्त्रीय आत्मा आदि पदार्थोंके विवेचनमें अधिक कुछ नहीं पाते। वे तो मात्र दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध—दुःख निवृत्ति और मार्ग—दुःख निवृत्तिका उपाय, इन चार आर्य सत्योंका स्वरूप बताते थे और अपने अनुभूत दुःख-मोक्षके मार्ग पर चलनेकी अन्तःप्रेरणा करते थे। उन्होंने अपने आचरणकी उग्रताको ढीला करनेके लिए जिस मध्यमप्रतिपदाकी ओर ध्यान दिया था उस मध्यमप्रतिपदा (अनेकान्तदृष्टि) को उस समयके प्रचलित विभिन्न वादोंके समन्वयमें नहीं लगाया। हम उनके उपदेशोंमें इस मध्यमप्रतिपदासे होने वाले समीकरणका दर्शन प्रायः नहीं पाते। आत्मा आदिके विषयमें उस समय अनेकों विरोधी मत प्रचलित थे। कोई आत्माको कूटस्थ-अविकारी नित्य, कोई व्यापक, कोई उसे अणुरूप तो कोई उसे भूत-विकाररूप ही मानते थे। बुद्धने इन विभिन्न वादोंके समन्वय करनेकी कोई कोशिश नहीं की बल्कि उन्होंने इन दिमाग़ी गुत्थियोंका सुलझाना निरुपयोगी समझा और शिष्योंको इस दिमाग़ी कसरतमें न पड़नेकी सूचना दी। उनका लक्ष्य मात्र आचरणकी ओर ही था।

हाँ, दयालुमानस बुद्धने उग्रतपस्यासे ऊबकर अपने मृदुमार्गके समाधानके लिए मध्यमदृष्टिका आलम्बन लिया था, उस आचरणकी सुविधाके लिए अवश्य ही उन्होंने मध्यमप्रतिपदाका बादमें भी उपयोग किया। बुद्धका हृदय माताकी तरह स्नेह तथा कोमल भावनाओंसे लबालब भरा हुआ था। उनके हृदयको अपने प्यारे लालोंकी तरह शिष्योंकी थोड़ी भी तकलीफ़ या असुविधासे बड़ी टेस लगती थी, अतः जब भी शिष्योंके आचारकी सुविधाके लिए दो संघाटक (वस्त्र) रखनेकी, जन्ताघर (स्नानागार) बनानेकी, भिक्षामें सायंकालके लिए भी अन्न लाने आदिकी मांग पेश की तो माताकी तरह बुद्धका हृदय पिघल गया और उन्होंने पुत्रवत् शिष्योंको उन बातोंकी सुविधा दे दी। तात्पर्य यह कि—बुद्धकी मध्यम प्रतिपदा व्यक्तिगत आचारकी कठिनाइयोंको हल करनेके सहारेके रूपमें उद्भुत हुई थी और वह वहीं तक ही सीमित रही। उस पुनीत दृष्टिने अपना श्रेयस्कर प्रकाशका विस्तार विचार-क्षेत्रमें नहीं किया, नहीं तो कोई ऐसा माकूल कारण नहीं है कि जिससे बौद्धदार्शनिक ग्रंथोंमें परपक्ष-खडनके साथ भी इतर मतोंका समीकरण न देखा जाता। जब बुद्धने स्वयं ही इसे मध्यमप्रतिपदाका विचार क्षेत्रमें उपयोग नहीं किया तब उनके उत्तरकालीन आचार्योंसे तो उसके उपयोगकी आशा ही नहीं की जा सकती। यही कारण

है कि—उत्तरकालीन आचार्योंने बुद्धके उपदेशोंमें आए हुए क्षणिक, विभ्रम, शून्य, विज्ञान आदि एक एक शब्दके आधार पर प्रचुर ग्रन्थराशि रच डाली और क्षणभंगवाद, विभ्रमवाद, शून्यवाद, ज्ञानाद्वैतवाद आदि वादोंको जन्म देकर इतरमतोंका निरास भी बड़े फटाटोपसे किया। इन्होंने बुद्धकी उस मध्यमदृष्टिकी ओर समुचित ध्यान न देकर वैदिकदर्शनों पर ऐकान्तिर प्रहार किया। मध्यमप्रतिपदा के प्रति इनकी उपेक्षा यहाँ तक बढ़ी कि—मध्यमप्रतिपदा (अनेकान्तदृष्टि) के द्वारा ही समन्वय करनेवाले जैनदार्शनिक भी इनके आक्षेपोंसे नहीं बच सके। बौद्धाचार्योंने 'नैरात्म्य' शब्द के आधार पर आत्माका ऐकान्तिक खंडन किया; भले ही बुद्धने नैरात्म्य शब्दका प्रयोग 'जगतको आत्मस्वरूप से भिन्नत्व, जगत्का आत्माके लिए निरुपयोगी होना, कूटस्थ आत्मतत्त्वका अभाव' आदि अर्थोंमें किया था। 'क्षणिक' शब्दका प्रयोग तो इसलिए था कि—हम स्त्री आदि पदार्थोंको शाश्वत और एकरूप मानकर उनमें आसक्त होते हैं, अतः जब हम उन्हें क्षणिक-विनश्वर, बदलनेवाले समझने लगेंगे तो उस ओरसे चित्तको विरक्त करनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी। स्त्री आदिको हम एक अवयवी-अमुक आकारवाली स्थूल वस्तुके रूपमें देखते हैं, उसके मुख आदि स्थूल अवयवोंको देखकर उसमें राग करते हैं, यदि हम उसे परमाणुओंका एक पुंज ही समझेंगे तो जैसे मिट्टीके ढेरमें हमें राग नहीं होता उसी तरह स्त्रीआदिके अवयवोंमें भी रागकी उद्‌भूति नहीं होगी। बौद्धदर्शन-ग्रन्थोंमें इन मुमुक्षु भावनाओंका लक्ष्य यद्यपि दुःख-निवृत्ति रहा पर समर्थनका ढँग बदल गया। उसमें परपक्षका खंडन अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया तथा बुद्धि-कल्पित विकल्पजालोंसे बहुविध पन्थ और ग्रंथ गूंथे गए।

मध्यमप्रतिपदाका शाब्दिक आदर तो सभी बौद्धाचार्योंने अपने अपने ढँगसे किया पर उसके अन्तर्निहित-तत्त्वको सचमुच भुला दिया। शून्यवादी मध्यमप्रतिपदाको शून्यरूप कहते हैं तो विज्ञानवादी उसे विज्ञानरूप। शून्यवादियोंने तो सचमुच उसे शून्यताका पर्यायवाची ही लिख दिया है—

"मध्यमा प्रतिपत्सैव सर्वधर्मनिरात्मता।
भूतकोटिश्च सैवेयं तथता सर्वशून्यता॥"

अर्थात्—मध्यमाप्रतिपत्, सर्वधर्मनैरात्म्य और सर्वशून्यता, ये पर्यायवाची शब्द हैं। यही वास्तविक और तथ्यरूप है।

सारांश यह कि बुद्धकी मध्यमा प्रतिपत् अपने शैशवकालमें ही मुरझा गई, उसकी सौरभ सर्वत्र न फैल सकी और न उत्तराधिकारियोंने ही इस ओर अनुकूल प्रयत्न किया।

जैनदृष्टिका आधार और विस्तार

भगवान् महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे। इन्होंने अपनी उग्रतपस्यासे कैवल्य प्राप्त किया। भगवान् महावीरने बुद्धकी तरह अपने आचारको ढीला करनेमें अनेकान्तदृष्टिका सहारा नहीं लिया और न अनेकान्तदृष्टिका क्षेत्र केवल आचार ही रक्खा। महावीरने विचारक्षेत्रमें अनेकान्तदृष्टिका पूरा पूरा उपयोग किया; क्योंकि उनकी दृष्टिमें विचारोंका समन्वय किए बिना आचारशुद्धि असंभव थी। आत्मादि वस्तुओं के कथनमें बुद्धकी तरह महावीरने मौनावलम्बन नहीं किया; किन्तु उनके यथार्थ स्वरूपका निरूपण किया। उन्होंने कहा कि—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी है और अनित्य भी। यह अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन उनकी मानसी अहिंसाका अवश्यम्भावी फल है।

कायिक अहिंसाके लिए व्यक्तिगत आचार-शुद्धि किसी तरह कारगर हो सकती है पर मानसी अहिंसाके लिए तो जब तक मानसिक-द्वन्द्वोंका वस्तुस्थितिके आधारसे समीकरण नहीं किया जायगा तब तक मानसिक अहिंसा हो ही नहीं सकती और इस मानसिक अहिंसाके बिना बाह्यअहिंसा निष्प्राण रहेगी। वह एक शोभाकी वस्तु हो सकती है हृदयकी नहीं। यह तो अत्यन्त कठिन है कि—किसी वस्तुके विषयमें दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हों और उनका अपने अपने ढँगसे समर्थन भी करते हों, उनको लेकर वाद विवाद भी करते हों; फिर भी वे आपसमें समतभाव—एक दूसरेके प्रति मानस अहिंसा रख सकें। चित्त शुद्धिके बिना अन्य अहिंसाके प्रकार तो यान्त्रिकमंडन-स्वरूप ही हैं। भगवान महावीरने इसी मानस-अहिंसाके पालनके लिए अनिर्वचनीय-अखंड अनन्तधर्मवाली वस्तुके विषयमें प्रचलित विरुद्ध अनेक दृष्टियोंका समन्वय करनेवाली, विचारोंका समझौता करानेवाली पुण्यरूपा 'अनेकान्तदृष्टि' को सामने रखा। इससे हरएक वादी वस्तुके यथार्थस्वरूपका परिज्ञान कर अपने प्रतिवादियोंकी दृष्टिका उचित रूपसे आदर करे, उसके विचारोंके प्रति सहिष्णुताका परिचय दे, रागद्वेष विहीन हो, शान्त चित्तसे वस्तुके अनिर्वाच्य स्वरूप तक पहुँचनेकी कोशिश करे।

समाजरचना और संघनिर्माणके लिए तो इस तात्त्विकी दृष्टिकी बड़ी आवश्यकता थी; क्योंकि संघमें विभिन्न सम्प्रदाय एवँ विभिन्न विचारोंके व्यक्ति दीक्षित होते थे, इस यथार्थ दृष्टिके बिना उनका समीकरण होना असंभव था और बिना समन्वय हुए उनकी अहिंसाकी तथा संघमें पारस्परिक सद्भावकी कल्पना ही नहीं की जासकती थी। ऊपरी एकीकरणसे तो कभी भी विस्फोट हो सकता था, और हुआ भी।

अनेकान्तदृष्टिका स्वरूप

अनेकान्तदृष्टिके मूलमें यह तत्त्व है कि—वस्तुमें अनेक धर्म हैं, उनको जाननेवाली दृष्टियाँ भी अनेक होती हैं, अतः दृष्टियोंमें विरोध हो सकता है, वस्तुमें नहीं। दृष्टियोंमें भी विरोध तभी तक भासित होता है जब तक हम अंश-ग्राहिणी दृष्टिमें पूर्णताको समझते रहें; उस समय सहज ही द्वितीय अंशको ग्रहण करनेवाली तथा प्रथम दृष्टिकी तरह अपनेमें पूर्णताका दावा रखनेवाली दृष्टि उससे टकराएगी। यदि उन दृष्टियोंकी यथार्थताका भान हो जाय कि—ये दृष्टियां वस्तुके एक एक अंशको ग्रहण करनेवाली हैं, वस्तु तो इनसे परे अनन्तधर्मरूप है, इनमें पूर्णताका अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः विरोधी रूपसे भासमान द्वितीय दृष्टिको उचित स्थान मिल जायगा। यही तत्त्व उत्तरकालीन आचार्योंने बड़े सुन्दर शब्दोंमें समझाया है कि—एकान्तपना वस्तुमें नहीं है, वह तो बुद्धिगतधर्म है। जब बुद्धि द्वितीय दृष्टिका प्रतिक्षेप न करके तत्सापेक्ष हो जाती है तब उसमें एकान्त नहीं रहता, वह अनेकान्तमयी होजाती है। इसी समन्वयात्मकदृष्टिसे होनेवाला वचनव्यवहार 'स्याद्वाद' कहलाता है। यही अनेकान्तग्राहिणी दृष्टि 'प्रमाण' है। जो दृष्टि वस्तु के एक धर्मको मुख्यरूपसे ग्रहण कर इतरदृष्टियोंका प्रतिक्षेप न करके उचित स्थान दे वह 'नय' कहलाती है। इस मानस अहिंसाकी कारण-कार्यभूत अनेकान्तदृष्टिके निर्वाहार्थ स्याद्वाद, नयवाद, सप्तभंगी आदिके ऊपर उत्तरकालीन आचार्योंने खूब लिखा। उन्होंने उदारतापूर्वक यहाँ तक लिखा कि 'समस्त मिथ्यैकान्तोंके समूहरूप अनेकान्तकी जय हो।' यद्यपि पातञ्जल योगदर्शन, सांख्यदर्शन, भास्कर वेदान्ती आदि इतरदर्शनकारोंने भी यत्र-तत्र इस समन्वय दृष्टिका यथासंभव

उपयोग किया है पर स्याद्वादके ही ऊपर संख्याबद्ध शास्त्र जैनाचार्योंने ही रचे हैं।

उत्तरकालीन आचार्योंने यद्यपि महावीरकी उस पुनीत दृष्टिके अनुसार शास्त्र रचना की पर उस मध्यस्थ भाव को अंशतः परपक्षखंडनमें बदल दिया। यद्यपि यह आवश्यक था कि प्रत्येक एकान्तमें दोष दिखाकर अनेकान्तकी सिद्धि की जाय, पर उत्तरकालमें महावीर की वह मानसी अहिंसा उस रूपमें तो नहीं रही।

अनेकान्तदृष्टि विकासकी चरमरेखा है

इस तरह दर्शनशास्त्रके विकासके लिहाज़से विचार करने पर हम अनेकान्तदृष्टिसे समन्वय करने वाले जैन-दर्शनको विकासकी चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखा-से मेरा तात्पर्य यह है कि दो विरुद्धवादोंमें तब तक दिमागी शुष्क कल्पनाओंका विस्तार होता जायगा जब तक उसका कोई वस्तुस्पर्शी हल—समाधान—न मिल जाय। जब अनेकान्तदृष्टिसे उनमें सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा तब झगड़ा किस बातका और शुष्कतर्कजाल किस लिए? प्रत्येक वादके विस्तारमें कल्पनाएँ तभी तक बराबर चलेंगी जब तक अनेकान्तदृष्टि समन्वय करके उनकी चरमरेखा पूर्ण—विराम—न लगा देगी।

स्वतः सिद्ध न्यायाधीश

अनेकान्तदृष्टिको हम एक न्यायाधीशके पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। अनेकान्तदृष्टिके लिए न्यायाधीशपद-प्राप्तिके लिये वोट मांगनेकी या अर्जी देनेकी ज़रूरत नहीं है,वह तो जन्मसिद्ध न्यायाधीश है। यह मौजूदा यावत् विरोधिदृष्टि-रूप मुद्दई-मुद्दायलोंका उचित फैसला करने वाली है। उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-फुआके भाई भाई हैं। देवदत्त रामचन्द्रका लड़का है—और यज्ञदत्त भानजे। देवदत्त अपने पिता रामचन्द्रको यज्ञदत्तके द्वारा मामा कहे जाने पर उससे झगड़ता है, इसी तरह यज्ञदत्त रामचन्द्र को देवदत्त द्वारा पिता कहे जाने पर लड़ बैठता है। दोनों लड़के थे बड़े बुद्धिमान। वे एक दिन शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं—यज्ञदत्त कहता है कि—रामचन्द्र मामा ही है; क्योंकि उसकी बहिन हमारी माँ है हमारे पिता उसे साला कहते हैं, उसकी स्त्रीको हम माई (मामी) कहते हैं, जब वह आता है तो मेरी मांके पैर पड़ता है, हमें भानजा कहता है इत्यादि। इतना ही नहीं यज्ञदत्त रामचन्द्रके पिता होनेका खंडन भी करता है कि यदि वह पिता होता तो हमारी माँका भाई कैसे हो सकता था? फिर हमारे पिता उसे साला क्यों कहते? वह हमारी मांके पैर भी कैसे पड़ता? हम उसे मामा क्यों कहते? आदि। देवदत्त भी कब चुप बैठने वाला था, उसने भी रामचन्द्रके पिता होनेका बड़े फटाटोपसे समर्थन करते हुए कहा कि—नहीं, रामचन्द्र पिता ही है क्योंकि हम उसे पिता कहते हैं, उसका भाई हमारा चाचा है, हमारी मां उसे भाई न कहकर स्वामी कहती है। वह उसके मामा होनेका खंडन भी करता है कि—यदि वह मामा होता तो हमारी माँ क्यों उसे नाथ कहती? हम भी क्यों न उसे मामा ही कहते आदि। दोनों केवल शास्त्रार्थ ही करके नहीं रह जाते किन्तु आपसमें मारपीट भी कर बैठते हैं। अनेकान्त-दृष्टि वाला रामचन्द्र पासमें बैठे बैठे यह सब शास्त्रार्थ तथा मल्लयुद्ध देख रहा था। वह दोनों बच्चोंकी बातें सुनकर उनकी कल्पनाशक्ति तथा युक्तिवाद पर खुश होकर भी उस बौद्धिकवादके फलस्वरूप होने वाली मार-पीट-हिंसासे बहुत दुखी हुआ। उसने दोनों लड़कोंको बुलाकर धीरेसे वस्तुस्वरूप दिखा कर समझाया कि—बेटा यज्ञदत्त! तुम तो बहुत ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा

तो मामा हूँ, पर केवल मामा ही तो नहीं हूँ देवदत्तका पिता भी हूँ। इसी तरह देवदत्तसे कहा—बेटा देवदत्त! तुमने भी तो ठीक कहा, मैं तुम्हारा दरअसल पिता हूँ, पर केवल पिता ही तो नहीं हूँ, यज्ञदत्तका मामा भी हूँ। तात्पर्य यह कि उस समन्वयदृष्टिसे दोनों बच्चोंके मनका मैल निकल गया और फिर वे कभी भी पिता और मामाके नारण नहीं झगड़े।

इस उदाहरणसे समझमें आ सकता है कि—हर एक एकान्तके समर्थनसे वस्तुके एक एक अंशका आशय लेकर गढ़ी गई दलीलें तब तक बराबर चालू रहेंगी और एक दूसरेका खंडन ही नहीं किन्तु इसके फलस्वरूप रागद्वेष-हिंसाकी परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्तदृष्टिसे उनका वास्तविक वस्तु स्पर्शी समाधान न हो जाय। अनेकान्तदृष्टि ही उन एकान्त पक्षीय कल्पनाओंकी चरमरेखा बनकर उनका समन्वय कराती है। इसके बाद तो बौद्धिक दलीलोंकी कल्पनाका स्रोत अपने आप सूख जायगा। उस समय एक ही मार्ग रह जायगा कि—निर्णीत वस्तुतत्त्वका जीवन-शोधनमें उपयोग किया जाय।

न्यायाधीशका फैसला एक एक पक्षके वकीलों-द्वारा संकलित स्वपक्ष समर्थनकी दलीलोंकी फाइलोंकी तरह आकारमें भले ही बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मता अवश्य रहती है। और यदि उसमें मध्यस्थदृष्टि—अनेकान्तदृष्टि—का विचारपूर्वक उपयोग किया गया हो तो अपीलकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। इसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भंडारभूत इतरदर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें कल्पनाओंका कोटिक्रम भले ही अधिक न हो और उसका परिमाण भी उतना न हो, पर उसकी वस्तु स्पर्शिता, व्यावहारिकता एवं अहिंसाधारतामें तो सन्देह-को स्थान ही नहीं है। इस मध्यस्थताका निर्वाह उत्तर-कालीन आचार्योंने अंशतः परपक्ष-खण्डनमें पड़कर भले ही पूर्णरूपसे न किया हो और किसी अमुक आचार्यके फैसलेमें अपीलकी भी गुंजाइश हो, पर वह पुनीत दृष्टि हमेशा उनको प्रकाश देती रही और इसी प्रकाशके कारण उन्होंने परपक्षको भी नयदृष्टिसे उचित स्थान दिया है। जिस प्रकार न्यायाधीशके फैसलेके उपक्रममें उभयपक्षीय दलीलोंके बलाबलकी जाँचमें एक दूसरेकी दलीलोंका यथासंभव उपयोग होता है, ठीक उसी तरह जैनदर्शनमें भी इतरदर्शनोंके बलाबलकी जाँचमें एक दूसरेकी युक्तियोंका उपयोग किया गया है। अन्तमें अनेकान्तदृष्टिसे उनका समन्वय कर व्यवहार्य फैसला भी दिया है। इस फैसलेकी मिसलें ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

अनेकान्त दृष्टिकी व्यवहाराधारता

बात यह है कि—महावीर पूर्ण दृढ अहिंसक व्यक्ति थे। उनको बातकी अपेक्षा कार्य अधिक पसन्द था। जब तक हवाई बातोंसे कार्योपयोगी व्यवहार्य वस्तु न निकाली जाय तब तक वाद तो हो सकता है, कार्य नहीं। मानस अहिंसाका निर्वाह तो अनेकान्तदृष्टिके बिना खरविषाण की तरह असंभव था। अतः उन्होंने मानस अहिंसाका मूल-ध्रुवमन्त्र अनेकान्तदृष्टिका आविर्भाव किया। वे मात्र बुद्धिजीवी या कल्पनालोकमें विचरण करनेवाले नहीं थे, उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसा प्रचारका सुलभ रास्ता निकालकर जगतको शक्तिका सन्देश देना था। उन्हें शुष्क मस्तिष्कके कल्पनात्मक बहुव्यायामकी अपेक्षा सत्हृदयसे निकली हुई छोटीसी आवाज़की कीमत थी तथा वही कारगर भी होती है। यह ठीक भी है कि—बुद्धिजीवी वर्ग, जिसका आचारसे कोई सम्पर्क ही न हो, बैठे बैठे अनन्त कल्पनाजालकी रचना कर सकता है और यही कारण है कि बुद्धिजीवी

वर्गके द्वारा वैदिकदर्शनोंका खूब विस्तार हुआ । पर कार्यक्षेत्रमें तो कल्पनाओंका स्थान नहीं है, वहाँ तो व्यवहार्यमार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं है। अनेकान्तदृष्टि जिसे हम जैनदर्शनकी जान कहते हैं, एक वह व्यावहारिक मार्ग है जिससे मानसिक वाचनिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है।

उदाहरणके लिए राजनैतिक क्षेत्रमें महात्मा गान्धीको ही लेलीजिए—आज काँग्रेसमें रचनात्मक कार्य करने वाले गांधी-भक्तोंके सिवाय समाजवादी, साम्यवादी, वर्गवादी, विरोधवादी एवँ अनिर्णयवादी लोगोंका जमाव हो रहा है। सब वादी अपने अपने पक्षके समर्थनमें पूरे पूरे उत्साह तथा बुद्धिबलसे लोकतन्त्रकी दुहाई देकर तर्कोंका उपयोग करते हैं । देशके इस बौद्धिक विकास एवं उत्साहसे महात्माजी कुछ सन्तोषकी सांस भले ही लेते हों, पर मात्र इतनेसे तो देशकी गाड़ी आगे नहीं जाती। सभी वादियोंसे जब गान्धीजी कहते हैं कि—भाई, चरखा आदि हम एक तरफ रख देते हैं, तुम अपने वादोंसे कुछ कार्यक्रम तो निकालो, जिसपर अमल करनेसे देश आगे बढ़े। बस, यहां सब वादियोंके तर्क लंगड़ा जाते हैं और वे विरोध करने पर भी महात्माजीकी कार्यार्थिताकी दाद देते हैं । अनेकान्तदृष्टि महात्माको सब वादियोंमें कार्याधारसे सामञ्जस्यका रास्ता निकालना ही पड़ता है। उनके शब्द परिमित पर वस्तुस्पर्शी एवं व्यवहार्य होते हैं, उनमें विरोधियोंके तर्कोंका उचित आदर तथा उपयोग किया जाता है। इसीलिए गान्धीजी कहते हैं कि—'मैं वादी नहीं हूँ कारी हूँ, मुझे वादीगर न कहकर कारीगर कहिए, गान्धीवाद कोई चीज़ नहीं है।' तात्पर्य यह कि कार्यक्षेत्रमें अनेकान्तदृष्टि ही व्यावहारिक मार्ग निकाल सकती है।

इस तरह महावीरकी अहिंसात्मक अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनका मध्यस्तम्भ है। यही जैनदर्शनकी जान है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस ध्रुवसत्यको पाए बिना अपूर्ण रहता। पूर्वकालीन युगप्रतीक **स्वामी समन्तभद्र** तथा **सिद्धसेन** आदि दार्शनिकोंने इसी पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टिके समर्थनद्वारा सत्-असत्, नित्यानित्य, भेदाभेद, पुण्य-पाप, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादोंमें सामञ्जस्य स्थापित किया । मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्रादि आचार्योंने अंशतः परपक्षखंडन करके भी उक्त दृष्टिका विस्तार एवँ संरक्षण किया। इसी दृष्टिके उपयोगके लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदिका निरूपण हुआ है।

भगवान् वीरने जिस उद्देश्यसे इस श्रेयःस्वरूप अनेकान्तदृष्टिका प्रतिपादन किया था, खेद है कि आज हम उसे भुला बैठे हैं ! वह तो शास्त्रसभामें सुननेकी ही वस्तु रह गई है ! उसका जीवनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा !! यही कारण है कि आज समाजमें विविध संस्थाएँ एक दूसरे पर अनुचित प्रहार करती हैं। विचारोंके समन्वयकी प्रवृत्ति ही कुण्ठित हो रही है ! हम यदि सचमुच वीरके अनुगामी होना चाहते हैं तो हमें मौजूदा हरएक प्रश्न पर अनेकान्तदृष्टिसे विचार करना होगा। अन्यथा, हमारा जीवन दिन-ब दिन निस्तेज होता जायगा और हम विविध पन्थोंमें बंटकर विनाशकी ओर चले जायेंगे *।

*** यह लेख गत वीर-शासन-जयन्तीके अवसर पर वीरसेवामन्दिर, सरसावामें पढा गया था ।**

—सम्पादक

मीनसंवाद

(जालमें मीन)

[१]

क्यों मीन ! क्या सोच रहा पड़ा तू !
देखे नहीं मृत्यु समीप आई !
बोला तभी दुःख प्रकाशता वो—
"सोचूँ यही, क्या अपराध मेरा !!

[२]

न मानवोंको कुछ कष्ट देता,
नहीं चुराता धन्य-धान्य कोई ।
असत्य बोला नहिं मैं कभी भी,
कभी तकी ना वनिता पराई ।।

[३]

संतुष्ट था स्वल्प विभूतिमें ही,
ईर्षा-घृणा थी नहिं पास मेरे ।
नहीं दिखाता भय था किसीको,
नहीं जमाता अधिकार कोई ।।

[४]

विरोधकारी नहीं था किसीका,
निःशस्त्र था, दीन-अनाथ था मैं !
स्वच्छन्द था केलि करूं नदीमें,
रोका मुझे जाल लगा वृथा ही !!

[५]

खींचा, घसीटा, पटका यहाँ यों-
'मानो न मैं चेतन प्राणि कोई !
होता नहीं दुःख मुझे ज़रा भी !
हूँ काष्ठ-पाषाण-समान ऐसा !!'

[६]

सुना करूं था नर धर्म ऐसा—
'हीनापराधी नहिं दंड पाते ।
न युद्ध होता अविरोधियोंसे.
न योग्य हैं वे वधके कहाते ।।

[७]

रक्षा करें वीर सुदुर्बलोंकी,
निःशस्त्रपै शस्त्र नहीं उठाते' ।
बातें सभी झूठ लगें मुझे वो,
विरुद्ध दे दृश्य यहाँ दिखाई ।।

[८]

या तो विडाल-व्रत ज्यों कथा है,
या यों कहो धर्म नहीं रहा है ।
पृथ्वी हुई वीर-विहीन सारी,
स्वार्थान्धता फैल रही यहाँ वा ।।

[९]

बेगारको निन्द्य प्रथा कहें जो,
वे भी करें कार्य जघन्य ऐसे !
आश्चर्य होता यह देख भारी,
'अन्याय शोकी अनिआयकारी !!'

[१०]

कैसे भला वे स्व-अधीन होंगे ?
स्वराज्य लेंगे जगमें कभी भी ?
करें पराधीन, सता रहे जो,
हिंसाव्रती होकर दूसरोंको !!

[११]

भला न होगा जग में उन्होंका—
बुरा विचारा जिनने किसी का !
न दुष्कृतोंसे कुछ भीत हैं जो,
सदा करें निर्दय कर्म ऐसे !!

[१२]

मैं क्या कहूँ और, कहा न जाता !
हैं कण्ठमें प्राण, न बोल आता !!
छुरी चलेगी कुछ देरमें ही !
स्वार्थी जनोंको कब तर्स आता !!"

[१३]

यों दिव्य-भाषा सुन मीनकी मैं,
धिक्कारने खूब लगा स्वसत्ता ।
हुआ सशोकाकुल और चाहा,
दंऊ छुड़ा बन्ध किसी प्रकार ।।

[१४]

पै मीनने अन्तिम श्वास खींचा !
मैं देखता हाय ! रहा खड़ा ही !!
गूंजी ध्वनी अम्बर-लोकमें यों—
'हा ! वीरका धर्म नहीं रहा है !!'

—'युगवीर'

वीर-शासनकी विशेषता

[ले०—श्री अगरचन्दजी नाहटा]

भगवान् महावीरका पवित्र शासन अन्य सभी दर्शनों-से महती विशेषता रखता है। महावीर प्रभुने अपनी अखंड एवं अनुपम साधना द्वारा केवलज्ञान लाभकर विश्वके सामने जो नवीन आदर्श रक्खे उनकी उपयोगिता विश्वशान्तिके लिये त्रिकालाबाधित है। उन्होंने विश्व कल्याणके लिये जो मार्ग निर्धारित किये वे इतने निर्भ्रान्त एवं अटल सत्य हैं कि उनके बिना सम्पूर्ण आत्मविकास असंभव है।

वीर प्रभुने तत्कालीन परिस्थितिका जिस निर्भीकता-से सामना कर कायापलट कर दिया वह उनके जीवन-की असाधारण विशेषता है। सर्वजनमान्य एवं सर्वत्र प्रचलित भ्रामक सिद्धान्तों एवं क्रियाकाण्डोंका विरोध करना साधारण मनुष्य का कार्य नहीं; इसके लिये बहुत बड़े साहस एवं आत्मबलकी आवश्यकता है। वह आत्म-बल भी महाकठिन साधनाद्वारा ही प्राप्त होता है। भगवान् महावीरका साधक जीवन * उसी का विशिष्ट प्रतीक है। जिस प्रकार उनका जीवन एक विशिष्ट साधक जीवन था उसी प्रकार उनका शासन भी महती विशेषता रखता है। इसी विषय पर इस लघु लेखमें संक्षिप्तरूपसे विचार किया जाता है।

वीरशासन-द्वारा विश्व-कल्याणका कितना घनिष्ट सम्बन्ध है? तत्कालीन परिस्थितिमें इस शासनने क्या काम कर दिखाया? यह भली भाँति तभी विदित होगा जब हम उस समयके वातावरणसे, सम्यक् प्रकारसे परिचित हो जायँ। अतः सर्व प्रथम तत्कालीन परि-स्थितिका कुछ दिग्दर्शन करना आवश्यक है।

प्राचीन जैन एवं बौद्ध ग्रन्थोंके अनुशीलनसे ज्ञात होता है कि उस समय धर्मके एकमात्र ठेकेदार ब्राह्मण लोग थे, गुरुपद पर वे ही 'सर्वेसर्वा' थे। उनकी आज्ञा राजाज्ञासे भी अधिक मूल्यवान समझी जाती थी, राजगुरु भी तो वे ही थे। अतः उनका प्रभाव बहुत व्यापक था। सभी सामाजिक रीति-रस्में एवं धार्मिक क्रियाकाण्ड उन्हींके तत्त्वावधानमें होते थे, और इसलिये उनका जातीय अहंकार बहुत बढ़ गया था, वे अपनेको सबसे उच्च मानते थे। शूद्रादि जातियोंके धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्रायः सभी छीन लिये गये थे, इतना ही नहीं वे उनपर मनमाना अत्याचार भी करने लगे थे। यही दशा मूक पशुओंकी थी, उन्हें यज्ञयागादि-में ऐसे मारा जाता था मानो उनमें प्राण ही नहीं है, और इसे महान् धर्म समझा जाता था। वेद-विहित हिंसा हिंसा नहीं मानी जाती थी।

इधर स्त्रीजातिके अधिकार भी छीन लिये गये थे। पुरुष लोग उनपर जो मनमाने अत्याचार करते थे वे उन्हें निर्जीवकी भान्ति सहन कर लेने पड़ते थे।

* उनके साधक जीवनका सुन्दर एवं मननीय वर्णन 'आचारांग' नामक प्रथम अंगसूत्रमें बहुत ही विश्वसनीय एवं विशदरूपसे मिलता है। पाठकोंसे उक्त सूत्रके अंतिम भागको पढ़नेका विशेष अनुरोध है।

उनकी कोई सुनाई नहीं थी। धार्मिक कार्योंमें भी उनको उचित स्थान न था अर्थात् स्त्री जाति बहुत कुछ पददलित सी थी।

यह तो हुई उच्च नीच जातीयवादकी बात, इसी प्रकार वर्णाश्रमवाद भी प्रधान माना जाता था। साधनाका मार्ग वर्णाश्रमके अनुसार ही होना आवश्यक समझा जाता था। इसके कारण सच्चे वैराग्यवान व्यक्तियोंका भी तृतीयाश्रमके पूर्व सन्यास ग्रहण उचित नहीं समझा जाता था।

इसी प्रकार शुष्क क्रिया काण्डोंका उस समय बहुत प्राबल्य था। यज्ञयागादि स्वर्गके मुख्य साधन माने जाते थे, बाह्य शुद्धिकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। अन्तरशुद्धिकी ओरसे लोगोंका लक्ष्य दिनोंदिन हटता जा रहा था। स्थान स्थान पर तापस लोग तापसिक बाह्य कष्टमय क्रियाकाण्ड किया करते थे और जन साधारणको उनपर काफी विश्वास था।

वेद ईश्वर कथित शास्त्र हैं, इस विश्वासके कारण वेदाज्ञा सबसे प्रधान मानी जाती थी, अन्य महर्षियोंके मत गौण थे। और वैदिक क्रियाकाण्डों पर लोगोंका बहुत अधिक विश्वास था। शास्त्र संस्कृत भाषामें होनेसे साधारण जनता उनसे विशेष लाभ नहीं उठा सकती थी। वेदादि पढ़नेके एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माने जाते थे।

ईश्वर एक विशिष्ट शक्ति है, संसारके सारे कार्य उसीके द्वारा परिचालित हैं, सुख-दुख व कर्म फलका दाता ईश्वर ही है, विश्वकी रचना भी ईश्वरने ही की है, इत्यादि बातें विशेषरूपसे सर्वजनमान्य थीं। इनके कारण लोग स्वावलम्बी न होकर केवल ईश्वरके भरोसे बैठे रहकर आत्मोन्नतिके सच्चे मार्गमें प्रयत्नशील नहीं थे। मुक्ति लाभ ईश्वरकी कृपा पर ही निर्भर माना जाता था। कल्याणपथमें विशेष मनोयोग न देकर लोग ईश्वरकी लम्बी लम्बी प्रार्थनाएँ करनेमें ही निमग्न थे। और प्रायः इसीमें अपने कर्तव्यकी 'इतिश्री' समझते थे।

इस विकट परिस्थितिके कारण लोग बहुत अशान्ति-भोग कर रहे थे। शूद्रादि तो अत्याचारोंसे ऊब गये थे। उनकी आत्मा शान्ति-प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठी थी। वे शान्तिकी शोधमें आतुरसे होगये थे। भगवान महावीरने अशान्तिके कारणों पर बहुत मननकर, शान्तिके वास्तविक पथका गंभीर अनुशीलन किया। उन्होंने पूर्व परिस्थितिका कायापलट किये बिना शान्ति-लाभको असम्भव समझ, अपने अनुभूत सिद्धान्तों-द्वारा क्रान्ति-मचादी। उन्होंने जगतके वातावरणकी कोई पर्वाह न कर साहसके साथ अपने सिद्धान्तोंका प्रचार किया। उनके द्वारा विश्वको एक नया प्रकाश मिला। महावीरके प्रति जनताका आकर्षण क्रमशः बढ़ता चला गया। फलतः लाखों व्यक्ति वीरशासनकी पवित्र छत्र-छायामें शान्ति लाभ करने लगे।

वीर शासनकी सबसे बड़ी विशेषता 'विश्वप्रेम' है। इस भावना-द्वारा अहिंसाको धर्ममें प्रधान स्थान मिला। सब प्राणियोंको धार्मिक अधिकार एक समान दिये गये। पापी से पापी और शूद्र एवं स्त्रीजातिको मुक्ति-तकका अधिकारी घोषित किया गया और कहा गया कि मोक्षका दर्वाज़ा सबके लिये खुला है, धर्म पवित्र वस्तु है, उसका जो पालन करेगा वह जाति अथवा कर्मसे चाहे कितना ही नीचा क्यों न हो, अवश्य पवित्र हो जायगा। साथ ही जातिवादका ज़ोरोंसे खंडन किया गया, उच्च और नीचका सच्चा रहस्य प्रकट किया गया और उच्चता-नीचताके सम्बन्धमें जातिके बदले गुणोंको प्रधान स्थान दिया गया। सच्चा ब्राह्मण कौन है, इस-पर विशद व्याख्या की गई, जिसकी कुछ रूपरेखा जैनों-

के 'उत्तराध्ययन सूत्र' एवं बौद्धोंके 'धम्मपद' में पाई जाती है। लोगोंको यह सिद्धान्त बहुत संगत और सत्य प्रतीत हुआ, फलतः लोकसमूह-झुण्डके झुण्ड महावीरके उपदेशोंको श्रवण करनेके लिये उमड पड़े। उन्होंने अपना वास्तविक व्यक्तित्व-लाभ किया। वीर-शासनके दिव्य आलोकसे चिरकालीन अज्ञानमय भ्रान्त धारणा विलीन हो गई। विश्वने एक नई शिक्षा प्राप्त की, जिसके कारण हज़ारों शूद्रों एवं लाखों स्त्रियोंने आत्मोद्धार किया। एक सदाचारी शूद्र निर्गुण ब्राह्मणसे लाखगुणा उच्च है अर्थात् उच्च नीचका माप जातिसे न होकर गुण-सापेक्ष है। कहा भी है—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः'

धार्मिक अधिकारोंमें जिस प्रकार सब प्राणी समान हक़दार हैं। उसी प्रकार प्राणीमात्र सुखाकांक्षी हैं, सब जीनेके इच्छुक हैं; मरणसे सबको भय एवं कष्ट है, अतएव प्राणिमात्र पर दया रखना वीर शासनका मुख्य सिद्धान्त है। इसके द्वारा, यज्ञयागादिमें असंख्यमूक पशुओंका जो आये दिन संहार हुआ करता था, वह सर्वथा रुक गया। लोगोंने इस सिद्धान्तकी सचाईका अनुभव किया कि जिस प्रकार हमें कोई मारनेको कहता है तो हमें उस कथन मात्रसे कष्ट होता है उसी प्रकार हम किसीको सताएँगे तो उसे अवश्य कष्ट होगा एवं परपीडनमें कभी धर्म हो ही नहीं सकता। मूकपशु चाहे मुखसे अपना दुख व्यक्त न कर सकें पर उनकी चेष्टाओं-द्वारा यह भली भांति ज्ञान होता है कि मारने पर उन्हें भी हमारी भान्ति कष्ट अवश्य होता है। इस निर्मल उपदेशका जनसाधारणपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और ब्राह्मणोंके लाख विरोध करनेपर भी यज्ञयागादिकी हिंसा बन्द हो ही गई। इस सिद्धान्तसे अनन्त जीवोंका रक्षण हुआ और असंख्य व्यक्तियोंका पापसे बचाव हुआ।

अहिंसाकी व्याख्या वीर शासनमें जिस विशद रूप-से पाई जाती है, किसी भी दर्शनमें वैसी उपलब्ध नहीं है। विश्वशान्तिके लिये इसकी कितनी आवश्यकता है यह भगवान् महावीरने भली भान्ति सिद्ध कर दिखाया। कठोरसे कठोर हृदय भी कोमल होगये और विश्वप्रेमकी अखण्डधारा चारों ओर प्रवाहित हो चली।

वीरशासनमें वर्णाश्रमवादको अनुपयुक्त घोषित किया गया। मनुष्यके जीवनका कोई भरोसा नहीं। हज़ारों प्राणी बाल्यकाल एवं यौवनावस्थामें मरणको प्राप्त हो जाते हैं, अतः आश्रमानुसार धर्म पालन उचित नहीं कहा जा सकता। सब व्यक्तियोंका विकास भी एक समान नहीं होता। किसी आत्माको अपने पूर्व संस्कारों एवं साधनाके द्वारा बाल्यकालमें ही सहज वैराग्य हो जाता है—धर्मकी ओर उसका विशेष झुकाव होता है; तब किसी जीवको वृद्ध होनेपर भी वैराग्य नहीं होता। इस परिस्थितिमें वैराग्यवान् बालकको गृहस्थाश्रम पालनके लिये मजबूर करना अहितकर है और वैराग्यहीन वृद्धका संन्यासग्रहण भी असार है। अतः आश्रमव्यवस्थाके बदले धर्मपालन योग्यता पर निर्भर करना चाहिये। हाँ, योग्यताकी परीक्षामें असा-वधानी करना उचित नहीं है।

इसी प्रकार ईश्वरवादके बदले वीरशासनमें कर्म-वाद पर ज़ोर दिया गया है। जीव स्वयं कर्मका कर्त्ता है और वस्तुस्वभावानुसार स्वयं ही उसका फल भोगता है। ईश्वर शुद्ध बुद्ध है, उसे सांसारिक झंझटोंसे कोई मतलब नहीं। वह किसीको तारनेमें भी समर्थ नहीं। यदि लम्बी लम्बी प्रार्थनासे ही मुक्ति मिल जाती तो संसारमें आज अनन्त जीव शायद ही मिलते। जीव अपने भले बुरे कर्म करनेमें स्वयं स्वतन्त्र है। पौरुषके बिना मुक्ति लाभ सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक प्राणीको

अपना निजस्वरूप पहिचान कर अपने पैरोंपर खड़े होनेका अर्थात स्वावलम्बी बनकर आत्मोद्धार करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर न तो सृष्टि रचयिता है और न कर्मफल-दाता।

शुष्क क्रियाकाण्डों और बाह्य शुद्धिके स्थान पर वीर शासनमें अन्तरशुद्धिपर विशेष लक्ष्य दिया गया है। अन्तरशुद्धि साध्य है बाह्यशुद्धि साधनमात्र। अतः साध्यके लक्ष्य-विहीन क्रिया फलवती नहीं होती। केवल जटा बढ़ा लेने, राख लगा लेने, नित्य स्नान कर लेने व पंचाग्नि तपने आदिसे सिद्धि नहीं मिल सकती। अतः क्रियाके साथ भावोंका होना नितान्त आवश्यक है।

वीर प्रभुने अपना उपदेश जनसाधारणकी भाषामें ही दिया; क्योंकि धर्म केवल पण्डितोंकी संपत्ति नहीं, उसपर प्राणिमात्रका समान अधिकार है। यह भी वीरशासनकी एक विशेषता है। उनका लक्ष्य एकमात्र विश्वकल्याणका था।

सूत्रकृतांग सूत्रमें स्पष्ट है कि भगवान महावीरके समयमें भी वर्तमानकी भान्ति अनेकों मत-मतान्ततर प्रचलित थे। इस कारण जनता बड़े भ्रममें पड़ी थी कि किसका कहना सत्य एवं मानने योग्य है और किसका असत्य? मत प्रवर्तकोंमें सर्वदा मुठभेड़ हुआ करती थी। एक दूसरेके प्रतिद्वन्दी रहकर शास्त्रार्थ चला करते थे। आपसी मात्सर्यसे अपने अपने सिद्धान्तों पर प्रायः सब अड़े हुए थे। सत्यकी जिज्ञासा मन्द पड़ गई थी। तब भगवान महावीरने उन सबका समन्वय कर वास्तविक सत्यप्राप्तिके लिये 'अनेकान्त' को अपने शासनमें विशिष्ट स्थान दिया, जिसके द्वारा सब मतोंके विचारोंको समभावसे तोला जा सके, पचाया जा सके एवं सत्यको प्राप्त किया जा सके। इस सिद्धान्त द्वारा लोगोंका बड़ा कल्याण हुआ। विचार उदार एवं विशाल हो गये, सत्यकी जिज्ञासा पुनः प्रतिष्ठित हुई, सब वितण्डावाद एवं कलह उपशान्त हो गये। और इस तरह वीरशासनका सर्वत्र जय-जयकार होने लगा *।

* यह लेख वीरसेवामन्दिर, सरसावामें वीरशासन-जयन्तीके अवसर पर पढ़ा गया था।

सफल जन्म

(१)

मत झिझको, मत दहलाओ, यदि बनना महामना है!
जो नहीं किया वह 'पर' है, कर लिया वही 'अपना' है!!
दो-दिन का जीवन-मेला, फिर खँडहर-सी नीरवता—
यश-अपयश बस, दो ही हैं, बाकी सारा सपना है!!

(२)

दो पुण्य-पाप रेखाएँ, दोनों ही जगकी दासी!
है एक मृत्यु-सी घातक, दूसरी सुहृद् माता-सी!!
जो ग्रहण पुण्य को करता, मणिमाला उसके पड़ती—
अपनाता जो पापोंको, उसकी गर्दनमें फाँसी!!

(३)

इस शब्द कोपमें केवल,—है 'आज' न मिलता 'कल' है!
'कल' पर जो रहता है वह, निरुपाय और निर्बल है!!
वह पराक्रमी-मानव है, जो 'कल' को 'आज' बनाकर—
क्षण-भंगुर विश्व-सदनमें, करता निज जन्म सफल है!!

'भगवत्' जैन

वीर-शासनमें स्त्रियोंका स्थान

[ले०—श्रीमती सौ० इन्दुकुमारी जैन 'हिन्दीरत्न']

आजसे क़रीब ढाई हज़ार वर्ष पहले जब कि इस देशका वातावरण दूषित हो गया था, कोरे क्रियाकाण्डोंमें ही धर्म माना जाता था, वैदिक मिशनके पोपोंने स्त्रियों और शूद्रोंके धार्मिक अधिकार हड़प लिये थे. वेदमन्त्र पढ़ने या सुनने पर उन्हें कठोर प्राणदण्ड तक दिया जाता था—वेदमन्त्रका उच्चारण भी स्त्रियाँ नहीं कर सकती थीं; तब स्त्रीसमाजकी मानसिक दुर्बलताको देखकर धर्मके ठेकेदारोंने जो जो जुल्म किये उन सबको लेखनीसे लिखना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। उन्हें केवल बच्चे जननेकी मशीन अथवा भोगकी एक चीज़ ही समझ लिया गया था. जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय स्त्रीसमाजका भारी अधःपतन होचुका था। स्त्रीसमाज उस समय अपने जीवनकी सिसकियाँ ले रहा था, उसमें न बल था न साहस और न अध्यवसाय, मानो स्त्रीसमाज पतनकी पराकाष्टाको पहुँच गया था।

ऐसी परिस्थितिमें भगवान महावीरने जन्म लेकर संसारमें धर्मके नाम पर होनेवाले अधर्मको, जाति तथा वर्णभेदकी अंधपरम्पराको और मिथ्या रूढ़ियोंके साम्राज्यको छिन्न भिन्न किया, उनके प्रवर्तकोंको समझाया और जनसमूहके अंधविश्वासको हटाकर उनमें बल तथा साहसका संचार किया। साथ ही, शूद्रों, स्त्रियों और पशुओं पर होनेवाले विवेकहीन अत्याचारों—जुल्मोंको दूर किया और स्त्रियोंको अपने चतुर्विध संघमें खास स्थान देकर उनके धर्मसेवनकी सब रुकावटोंको दूर किया। फलतः आपके धर्मसंघमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंकी संख्या बहुत अधिक रही।

एक बात यहां पर और भी नोट कर लेनेकी है, और वह यह कि भारतमें तात्कालिक विषम परिस्थितियोंको सुधारनेके लिये उस समय एक दूसरा सम्प्रदाय भी उठ खड़ा हुआ था, जिसके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध थे और जो अपने स्वतंत्र विचारोंके द्वारा उन प्रचलित व्यर्थके अधर्मरूप क्रियाकाण्डोंका विरोध करते थे, वर्णव्यवस्था एवं जातिभेद तथा याज्ञिक हिंसाके विरुद्ध अहिंसाका उपदेश देते थे। इतना सब कुछ होते हुए भी उन्हें स्त्रियोंको अपने संघमें लेनेमें संकोच एवं भय अवश्य था, वे तद्विषयक विरोधसे घबराते थे, इसीलिये देशकी उक्त परिस्थितिका मुकाबला करनेके लिये वे तय्यार नहीं हुए। किन्तु कुछ समय बाद वीरशासनमें स्त्रियोंका प्राबल्य देखकर उसके परिणामस्वरूप तथा अपने प्रधान शिष्य आनन्द कौत्स्यायनके विशेष आग्रह करने पर महात्मा बुद्धने अपने संघमें स्त्रियोंको लेना स्वीकार किया था।

इन्हीं सब विशेषताओंके कारण भगवान वीरका शासन चमक उठा था, उसमें जातिभेद और वर्णभेदकी गन्ध तक भी नहीं थी और न ऊँच-नीच आदिकी विषमता। उनकी समवसरण सभामें सभीको समान दृष्टिसे देखा जाता था और इसीसे सभी स्त्री-पुरुष तथा पशु पक्षी तक अपनी अपनी योग्यताके अनुसार वीरके शासनमें रहकर अपना अपना आत्म-विकास कर सकते थे।

भगवान् महावीरने अपनी इस उदारता, निर्भीकता एवं हृदयकी विशालताके कारण ही उस समयकी विकट परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की थी।

इसके सिवाय, भगवान् महावीरने अहिंसा और अनेकान्तको अपने जीवनमें उतारा था, उनकी आत्मा शुद्धि तथा शक्तिकी पराकाष्ठाको—चरम सीमाको—पहुँच चुकी थी और उनका शासन दया दम, त्याग तथा समाधिकी तत्परताको लिये हुए था। इसी लिये विरोधी आत्माओं तथा तत्कालीन जनसमूह पर उनका इतना अधिक एवं गहरा प्रभाव पड़ा था कि वे लोग अधिक संख्या में अपने उन अधर्ममय शुष्क क्रियाकाण्डोंको छोड़कर तथा कदाग्रह और विचारसंकीर्णताकी जंजीरों-को तोड़कर बिना किसी हिचकिचाहटके वीर भगवानकी शरणमें आये, और उनके द्वारा प्ररूपित जैन धर्मके तत्त्वोंका अभ्यास मनन एवं तदनुकूल वर्तन करके अपनी आत्माके विकास करने में तत्पर हुए।

वीरशासनमें स्त्री और पुरुषोंको धार्मिक अधिकार समानरूपसे प्राप्त हैं। जिस तरह पुरुष अपनी योग्यता-नुसार श्रावक और मुनिधर्मको धारण कर आत्मकल्याण कर सकते हैं उसी तरहसे स्त्रियाँ भी अपनी योग्यतानुसार श्राविका और आर्यिकाके व्रतोंका पालनकर आत्म-कल्याण कर सकती हैं। भगवान महावीरके संघमें एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ तथा चौदह हज़ार मुनि और छत्तीस हज़ार आर्यिकाएँ थीं। आर्यि-काओंमें मुख्य पदकी अधिष्ठात्री चन्दना सती थी। वीरशासनमें गृहस्थोचित कर्तव्योंका यथेष्ट रूपसे पालन करते हुए स्त्रियोंको धर्मसेवनमें कोई रुकावट नहीं है, जबकि संसारके अधिकांश धर्मोंमें स्त्रियोंको स्वतंत्ररूपसे धर्मसेवन करनेका थोड़ासा भी अधिकार प्राप्त नहीं है, और जिससे उनके प्रति उन धर्मसंस्थापकोंका महान् अन्याय प्रतीत होता है। जैनधर्ममें तो पहलेसे ही स्त्रियोंने आर्यिका आदिकी दीक्षा लेकर आचारांगकी पद्धतिके अनुसार यथाशक्ति तपश्चरणादि कर देवेन्द्रादि पद प्राप्त किये हैं।

सच पूछिये तो धर्म किसी एक जाति या सम्प्रदाय-की मीरास नहीं है, वह तो वस्तुका स्वभाव है उसे धारण करने और उसके द्वारा आत्माका विकास करनेका सभी जीवोंको अधिकार है भले ही कोई जीव अपनी अल्पयोग्यताके कारण पूरा आत्मविकास न कर सके। परन्तु इससे उसके अधिकारोंको नहीं छीना जा सकता। जो धर्म पतितोंका उद्धार नहीं कर सकता—उन्हें ऊँचा नहीं उठा सकता—वह धर्म कहलानेके योग्य ही नहीं। जैनधर्ममें धर्मकी जो परिभाषा आचार्य समन्तभद्रने बतलाई है वह बड़ी ही सुन्दर है। उसके अनुसार जो संसारके प्राणियोंको दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धारण करे उसे 'धर्म' कहते हैं, अथवा जीवकी सम्यग्द-र्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणतिविशेष को 'धर्म' कहते हैं। इस परिणतिके द्वारा ही जीवात्मा आत्म उद्धार करनेमें सफल हो सकता है।

परन्तु खेद है कि आज हम भगवान् महावीरके पवित्र शासनको भूल गये! इसी कारण उनके महत्व-पूर्ण सन्देशसे आज अधिकांश जनता अपरिचित ही दिखाई देती है। हमारे हृदय अन्धश्रद्धा और स्वार्थमय प्रवृत्तियोंसे भरे हुए हैं, ईर्षा द्वेष-अहंकार आदि दुर्गुणों से दूषित हैं। स्त्रियोंके साथ आज भी प्रायः वैसा ही व्यवहार किया जाता है जैसा कि अबसे ढाई हज़ार वर्ष पहले किया जाता था। हाँ, उसमें कुछ सुधार ज़रूर हुआ है; परन्तु अभी भारतीय स्त्री समाजको यथेष्ट स्वत-न्त्रता प्राप्त नहीं हुई है। फिर भी धर्म-सेवनकी जो कुछ स्वतन्त्रता मिली है उसमें यदि स्त्रीसमाज चाहे तो वह

अपनी बहुत-कुछ प्रगति करनेमें सफल हो सकता है, किन्तु वर्तमानकी अधिकांश स्त्रियाँ अपने कर्तव्यसे अपरिचित ही हैं—उसे भूली हुई हैं—भारत और विदेशोंमें होने वाली विविध परिस्थितियोंसे अनभिज्ञ हैं, उन्हें तो घरके कार्योंसे ही फुरसत नहीं मिलती, फिर अपने उत्थान और पतनको कौन सोचे? वे समाजमें फैली हुई मिथ्यारूढ़ियों, अन्धश्रद्धा, दम्भ, द्वेष और कलह आदि दोषोंको दूर करना अपना कर्तव्य कैसे समझ सकती हैं? और पतनके गर्तसे अपनेको कैसे बचा सकती हैं?

अतः सुज्ञ बहिनो! उठो, और अपने कर्तव्यकी ओर दृष्टिपात करो। भगवान् महावीरके उपकारोंका स्मरणकर उनके पवित्र सन्देशको दुनियाके कोने कोनेमें पहुँचानेका प्रयत्न करो और जगतको दिखला दो कि हममें जीवन है, उत्साह है, कर्तव्यपालनकी भावना है और अपनी कौमके पतनका दर्द है। हम अबला नहीं हैं, सबला हैं और सब कुछ कर सकती हैं। साथ ही, अपनी सन्तानको शिक्षित, सुशील और कर्तव्यपरायण बनानेका भरसक प्रयत्न करो, अपने स्त्रीसमाजमें फैली हुई कुरीतियोंको दूर करनेमें अग्रसर बनो और अपनी सभी बहनोंको शिक्षिता, सभ्या तथा अपने धर्म देशकी रक्षार्थ प्राणोंकी बलि देने वाली वीर नारियाँ बनानेका पूरा पूरा उद्योग करो। ऐसा करके ही हम वीर भगवान् और उनके शासनकी सच्ची उपासिका कहला सकेंगी और वीरशासनके प्रचार द्वारा अपना तथा जगतका उद्धार करनेमें समर्थ हो सकेंगी।

अन्तमें एक पद्यको पढ़कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करती हूँ। आशा है अपने हितमें सावधान कृतज्ञ बहनें वीरशासनके अपनाने और प्रचार देनेको अपना मुख्य कर्तव्य समझेंगी।

> हम जाग उठीं, सब समझ गईं,
> अब करके कुछ दिखला देंगी।
> हाँ, विश्वगगनमें एक बार फिर,
> जिन शासन चमका देंगी ॥ *

* यह लेख लेखिकाने स्वयं वीरसेवामन्दिरमें ता० २ जुलाईको होनेवाले वीरशासन-जयन्तीके जल्से पर पढ़कर सुनाया था। —सम्पादक

नर-कंकाल

(१)
माँके फटे हुए अंचलसे मुँह ढक कर जो सोया है!
आँसू-हीन, दरिद्र-नयनोंसे, जो जीवन भर रोया है!!
साधन-शून्य, दुलार-दृष्टिको, अभिभावक अपना माना!
सूखी-छाती चस-चस सुख माँका जिसने पहिचाना!!

(२)
घने-अभावों और व्यथाओं में पलकर जो बड़ा हुआ!
प्रकृति जननिकी कृपा-कोरसे अपने पैरों खड़ा हुआ!!
सित-भविष्यके मधु-सपनोंमें भूला जो दुखकी गुरुता!
रुचिर कल्पनाओंकी मनमें जोड़ा करता जो कविता!!

(३)
इन्द्र-धनुष जिसकी अभिलाषा, वर्तमान जिसका रौरव!
युग-सी घड़ियाँ बिना बिना खोखो जरहा अपना वैभव!!
तिरस्कार भोजन, प्रहार उपहार, भूमि जिसकी शैय्या!
धनाधियोंके दया-सलिलमें खेता जो जीवन-नैय्या!!

(४)
नहीं विश्वमें जिसका अपना, पद तल भू ऊपर आकाश!
दुखकी घटनाओंसे परित, है जिसका जीवन-इतिहास!!
कौन?-कौन?-'मज़दूर' कहाने वाला वह भारतका लाल!
छाया चित्र कहो उसको, या पुरुष, कहो या नर-कंकाल!!

'भगवत्' जैन

वीर-शासनकी पुण्य-वेला

[ले०—पं० सुमेरचन्द जैन, दिवाकर, बी. ए., एलएल. बी., न्यायतीर्थ शास्त्री]

मौजूदा जमाना भगवान् महावीरका तीर्थ कहलाता है, क्योंकि अभी वीरप्रभुका ही शासन वर्तमान है। उन भगवान् महावीरके प्रति अनुरक्ति के कारण भव्य तथा भक्तजन उनके जन्म-दिवस, वैराग्य-काल आदिके अवसर पर हर्ष-प्रकाशन एवं भक्ति-प्रदर्शन किया करते हैं। तात्विक रूपसे देखा जाय तो जब कैवल्य-प्राप्तिके पूर्व वे वास्तवमें महावीर पदको प्राप्त नहीं हो सके थे तब उनके गर्भ, जन्म, वैराग्य-कल्याणकोंकी पूजा करना कहाँ तक अधिक युक्तिमंगत है, यह स्वयं सोचा जा-सकता है *। यह सच है कि भगवान् महावीरके बाल्यकाल आदिमें इतरजनोंकी अपेक्षा लोकोत्तरता थी, फिर भी वह उनके विश्ववंदनीय बननेका समर्थ कारण नहीं कही जा सकती। उन चमत्कारजनक अतिशयोंकी ओर स्वामी समन्तभद्र-जैसे तार्किक चूडामणिका चित्त आकर्षित नहीं हुआ। इसी कारण वे अपने देवागमस्तोत्रमें अपने हार्दिक उद्‌गारोंको इस प्रकार प्रकट कर चुके हैं कि:—

‡ देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसिनो महान्॥

जो भी विचारशील व्यक्ति अपने अंतःकरणमें विचार करेगा, उसके चित्तमें स्वामी समन्तभद्रका युक्तिवाद स्थान बना लेगा, और वह भी कह उठेगा, भगवन्! 'नातस्त्वमसि नो महान्'—इस कारण ही आप हमारे लिए महान् (Great) नहीं हैं।

और भी अनेक बातें हैं, जो भगवान् महावीर के अतिरिक्त व्यक्तियोंमें हीनाधिक मात्रामें पाई जाती हैं। किन्तु एक विशेषता है जो भगवान् *महावीरमें ही पाई जाती है, और जिसके कारण उनके अन्य गुण पुञ्ज अधिक दीप्तिमान हो उठते हैं। उनके विवेकचक्षु भक्त श्रीसमंतभद्र कहते हैं—

† स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥

बिल्कुल ठीक बात है। भगवान् महावीरके तत्त्व-प्रतिपादनमें तर्कशास्त्रसे असंगति नहीं पाई जाती, क्योंकि उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्व प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अखंडित है।

अब हमें देखना है कि प्रभुमें 'युक्तिशास्त्रा-विरोधिवाक्‌पना' कब प्रकट हुआ, जिससे वे लोकोत्तर एवं भुवनत्रय-प्रपूजित हो गए।

उन्होंने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय आदि कर्मोंका नाश कर बैशाख शुक्ला

---

* हमारा भाव यह नहीं है कि अन्य कल्याणकोंकी पूजा न की जाय। यहाँ हमारे विवेचनका लक्ष्य इतना ही है कि वास्तविक पूज्यताका जैसा कारण कैवल्यके समय उत्पन्न होता है, वैसा तथा उतना महत्वपूर्ण और युक्ति संगत निमित्त अन्य समयोंमें नहीं होता। नैगम-नयकी दृष्टिसे अन्य कल्याणकोंमें पूज्यता आती है।

‡ भगवन्! देवोंका आना, आकाशमें गमन होना, चमर छत्रादिकी विभूतियोंका पाया जाना तो इन्द्रजालियोंमें भी पाया जाता है, इसलिए इन कारणों से आप हमारे लिए महान् नहीं हैं।

* यहां भगवान् महावीरका नामोल्लेख प्रकरण-वश किया गया है। यही बात अन्य जैन तीर्थंकरोंमें भी पाई जाती है।

† हे भगवन्! वह निर्दोष तो आप ही हैं, क्योंकि आपकी वाणी युक्ति तथा शास्त्रके अविरुद्ध है। इस अविरुद्धताका कारण यह है कि जो बात आपको अभिमत है वह प्रत्यक्षादिसे बाधित नहीं होती।

दशमीको कैवल्यकी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, जिससे ज्ञेयमात्र उनके विमल ज्ञानमें विशदरूपसे अवभासमान होने लगे थे। क्या उस समय भगवान महावीरमें स्वामीसमंतभद्रका हेतु 'युक्ति और शास्त्र के अविरुद्ध वाणी संपन्न होनेसे' प्रकटरूपसे प्रकाश में आया था ? इस विषयमें मौन ही उत्तर होगा, क्योंकि शक्ति होते हुए भी उस समय तक भगवान् की उक्त विशेषता निखिल विश्वके अनुभवगोचर नहीं हो पाई थी; कारण सर्वज्ञ होते हुए भी समुचित साधनके अभाववश उनकी दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई, जिससे लोग लाभ उठाते और कृतज्ञतासूचक गुणकीर्तन करते। स्वयं मोक्षमार्गके नेता, कर्माचलके भेत्ता तथा विश्वतत्त्वके ज्ञाताके मुखारविन्दसे मुक्तिका मार्ग सुननेके भव्यात्माएँ तथा योगीजन उत्कंठित हो रहे थे, किन्तु भगवानकी दिव्यवाणीको सुननेका सौभाग्य ही नहीं मिल रहा था। ऐसी चिंतापूर्ण तथा चकित करने वाली सामग्रीके होने पर देवोंके अधिनायक सुरेन्द्रने अपने दिव्यज्ञानसे जाना कि, भगवान सदृश महान धर्मोपदेष्टाके लिये महान् श्रोता एवं उनके कथनका अनुवाद करनेवाले गणधरदेवका अभाव है। साथ ही यह भी जाना कि इस विषयकी पात्रता इंद्रभूति गौतम नामक अजैन विद्वानमें है। अतएव अपनी कार्यकुशलतासे देवेन्द्रने इंद्रभूतिको भगवान महावीरकी धर्मसभा—समवसरण—की ओर लाकर उपस्थित किया। इतनेमें मानस्तंभका दर्शन होते ही इंद्रभूतिके विचारोंमें मार्दवभाव उत्पन्न हो गए, सारी अकड़ जाती रही और वह क्षणभरमें महावीर प्रभुकी महत्तासे प्रभावित बन गया। प्रभुके वैराग्य, आत्मतेज और योगबलने गौतमके जीवनमें युगान्तरकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। वे संपूर्ण परिग्रहोंका परित्याग करके प्राकृतिक परिधानके धारक जैन श्रमण बन गए और उन्होंने महावीर प्रभुकी ही मुद्रा धारण की। अपनी आत्मशक्तिके सहसा विकसित हो जानेसे श्रीगौतमने अनेक प्रकारके महान् ज्ञानोंको प्राप्त किया तथा वे 'गणधर' जैसे महान् पद पर प्रतिष्ठित हो गए। इधर इतना हुआ ही था कि, उधर भगवान् महावीरकी सर्वभाषात्मिका दिव्यवाणी सब प्राणियोंके कर्णगोचर होने लगी। अनेकान्तके सूर्यका प्रकाश फैलनेसे एकान्तका निविड अन्धकार दूर होगया, जगतको अपने सच्चे सुधारका मार्ग दीखने लगा और यह मालूम होने लगा कि वास्तवमें कर्मबंधनसे छूटनेका उपाय आत्मशक्तिका निश्चय, उसका परिज्ञान तथा आत्मामें अखंड लीनता है। उस धर्मदेशना अर्थात् शासन-तीर्थके प्रकट होनेका प्रथम पुण्य दिवस श्रावणकृष्णा प्रतिपदाका सुप्रभात था, जब संसारको भगवान् महावीरकी वास्तविक एवं लोकोत्तर महत्ताका परिज्ञान हुआ। मिथ्यात्वके अंधकारके कारण अनन्त योनियोंमें दुःख भोगने वाले प्राणियोंको सच्चे कल्याणमार्गमें लगानेकी बलवती भावना भगवान् महावीरने एक बार शुद्ध अंतःकरणसे की थी, उस भावनाके कारण उन्होंने 'तीर्थंकर प्रकृति' नामक पुण्य कर्मका संचय किया था; उक्त तिथिको उस पुण्य प्रकृतिके विपाकका सबको अनुभव हुआ। लोगोंको ज्ञात हुआ कि वास्तवमें सर्वज्ञ महावीरकी वाणी अखण्डनीय एवं अतुलनीय है, जो भी वादी उनके समीप आता था वह 'समंतभद्र' बन जाता था; देखिए स्वामी समंतभद्र कितनी सुन्दर बात कहते हैं—

* त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृंगो भवत्यभद्रोपि समंतभद्रः ।

वास्तवमें इंद्रभूति गौतमका परिवर्तन इस बातका सजीव उदाहरण है ।

यह तिथि महावीर प्रभुके तीर्थवासियोंके लिए एक अपूर्व समय है, जो इस बातका स्मरण कराती है कि लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीरने हमको मुक्तिका मार्ग बताया था । इससे अन्य तिथियोंकी अपेक्षा वह हमारे लिए विशेष आदर तथा पूजाके योग्य है । गुणोत्कर्षकी दृष्टिसे अन्य काल भी अपनी अपनी अपेक्षासे महत्वपूर्ण हैं, किन्तु हमारे लिए प्रभुके प्रति आंतरिक कृतज्ञता प्रकाशके लिए अधिक उपयुक्त उपयुक्त वेला है ।

जिस प्रकार संपूर्ण कर्मोंका ध्वंस करनेके कारण सिद्ध परमात्मामें अधिक पूज्यता है, किन्तु अरहंत देवके कारण हमारी हित-साधना विशेषता पूर्वक हुई है, इससे णमोकार मंत्रमें 'णमो सिद्धाणं' के पूर्वमें 'णमो अरहंताणं' का पाठ पढ़ा जाता है; इसी प्रकार हमारे कल्याणको लक्ष्यमें रखकर प्रभुके प्रति कृतज्ञता प्रकाशनका सबसे बढ़िया अवसर उक्त वेला है । क्योंकि उसी दिन तीर्थंकर प्रकृतिरूप मनोज्ञ वृक्षके सुमधुर फल चखनेको प्राप्त हुए थे तथा तीर्थंकरत्वका पूर्णरूपसे विकास हुआ था ।

इस प्रसंगमें यह शंका होना माहजिक है कि वह ऐसी कृति या विशेषता कौन थी, जिसके कारण उस दिनको महत्व प्रदानकिया जाय ? इस विषयमें युक्त्यनुशासनका यह पद्य बड़ा मार्मिक एवं मनोहर है, जिसमें वीरशासनकी विशेषता इन शब्दोंमें बताई गई है—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नय प्रमाण-प्रकृतांजसार्थं ।
अधृष्यमन्येरखिलैः प्रवादै
जिन त्वदीयं मतमद्वितीयं ॥

हे जिनेन्द्र ! दया, इंद्रिय-दमन, त्याग तथा समाधि-समन्वित, नय तथा प्रमाणसे पदार्थोंका समीचीन रूपसे प्रकाशन करने वाला और संपूर्ण प्रवादियोंके द्वारा अखंडनीय आपका मत अप्रतिम —लासानी (unparalleled) है ।

भगवान्की वाणीमें 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का लोकोत्तर समन्वय पाया जाता है ।

यह दिन हमें अपने स्वरूपके चिंतन करनेका अवसर प्रदान करता है और यह स्मरण कराता है कि यदि हमने बाह्य महावीरके गुणोंका विचार कर अपने भीतर निहित महावीरका चिंतन किया और उसे प्रकाशमें लानेका सच्चा प्रयत्न किया, तो निकट भविष्यमें हम भी महावीरकी महत्ताके अधीश्वर बन सकते हैं । महावीरके गुणोंकी सच्ची आराधना आराधकको महावीर बनाए बिना न रहेगी । इसके लिए रत्नत्रय की प्राप्तिका प्रशस्त प्रयत्न करना होगा, क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रके यह आत्मा अपने आत्मत्वकी प्राप्ति नहीं कर सकता है ।

प्रभुकी धर्मदेशनाके दिवसमें यह भी उचित है कि हम इस प्रकारका उद्योग तथा उदारताका प्रदर्शन करें, जिससे महावीरका महत्वपूर्ण शिक्षण संसारके कोने कोनेमें पहुँचे, और सारा जगत वीतरागकी जीवन भरी शिक्षाओंसे आलोकित हो उठे—महावीर-वादसे भूमंडल गूंज उठे ।

वीरभक्तो ! उठो, महावीर प्रभुके प्रदर्शित पथ पर चलो और संसारमें उनको महत्ताका प्रकाश फैलाओ ।

* प्रभो ! आपके समीप आनेवले व्यक्तिके मानके सींग खंडित हो जाते हैं और अभद्र—दुष्ट-व्यक्ति भी समंतभद्र—सर्वांग समीचीन-बन जाता है ।

मनुष्योंमें उच्चता-नीचता क्यों ?

[ले०—पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य]

(गत १२ वीं किरण से आगे)

किस गतिमें कौन गोत्रका उदय रहता है

ऊपरके कथनमें यह बात निश्चित कर दी गई है कि पहिले गुणस्थानसे लेकर पाँचवें गुणस्थान तक नीच और उच्च दोनों गोत्रोंका और छट्टे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक केवल उच्चगोत्रका उदय रहता है तथा सिद्ध जीव गोत्रकर्म के सम्बन्ध से रहित हैं। अब यहाँ पर यह बतलानेकी कोशिश की जायगी कि किस गतिमें कौनसे गोत्रकर्मका उदय रहता है।

शास्त्रोंमें नारकी जीवोंके जीवनका चित्रण बहुत ही दीन और क्रूरतापूर्ण किया गया है। वे अपनी भूख मिटानेके लिये इधर उधर बड़ी आशाभरी दृष्टिसे दौड़ते हैं, यहां तक कि एक दूसरेको खानेके लिये भी तैयार हो जाते हैं। यद्यपि तीव्रअसाता कर्मके उदयमें उनके लिये भूख-प्यास मिटाने के साधन नहीं मिलते हैं फिर भी उनका यह प्रयास बराबर चालू रहता है। शास्त्रों में लिखा है कि नारकी जीवोंके सामने तीन लोककी खाद्य और पेय सामग्री रख दी जावे तो भी उससे उनकी भूख और प्यास नहीं मिट सकती है, इतने पर भी उन्हें एक कण भी खाद्य सामग्री का और एक बूंद भी पानीकी नहीं मिलती है। ऐसी अधमवृत्ति सातों नरकोंके नारकियोंकी बतलायी गयी है, इसलिये इस वृत्तिका कारणभूत नीच गोत्रकर्मका उदय उनके माना गया है।

तिर्यंचों की वृत्ति भी दीनता और क्रूरतापूर्ण देखी जाती है। जंगली जानवरोंकी वृत्ति विशेषतया क्रूर होती है और ग्राम्य पशुओंकी वृत्ति विशेषतया दीन होती है, इसलिये इन दोनों प्रकारकी वृत्तिमें कारण-भूत नीच गोत्रकर्मका उदय तिर्यंचोंके भी माना गया है। भोग-भूमिके तिर्यंच यद्यपि क्रूरवृत्ति वाले नहीं होते हैं, कारण कि वे किसी भी जीवको अपना पेट भरनेके लिये सताते नहीं हैं, सबको बिना प्रयास ही भरपेट खानेको मिलता है, इसलिये वे अपना जीवन स्वतंत्र और आनन्दपूर्वक व्यतीत करते हैं, परन्तु उनके लिये भी खानेको कर्मभूमि-जैसी घास आदि दीनता-सूचक पतित सामग्री ही मिला करती है। जिस प्रकार कल्प-वृक्षोंसे भोगभूमिके मनुष्योंको इच्छानुसार उत्तम उत्तम भोजन मिला करता है उस प्रकार वहांके पशुओंको नहीं मिलता, पशु बुद्धिकी मंदता व विलक्षण शरीररचनाके कारण इस प्रकारके प्रयास करने तकमें असमर्थ रहते हैं, इसलिये उनकी वृत्ति दीन वृत्ति ही कही जा सकती है और यही कारण है कि भोगभूमिके तिर्यंचोंके भी नीचगोत्रकर्मका उदय बतलाया गया है।

देवगतिमें देवोंके उच्चगोत्रकर्मका उदय बतलाया है और यह ठीक भी है, कारण कि एक तो देवोंको कई वर्षों के अन्तरसे भूख लगा करती है और इतने पर भी मानसिक विकल्पमात्रसे ही उनकी भूख शान्त हो जाया करती है, इसलिये देवोंकी वृत्ति लोकमें सर्वो-त्तम मानी जाती है, और यही कारण है कि सम्पूर्ण देवों को उच्चगोत्री बतलाया गया है। यद्यपि भवनवासी देवों में असुरकुमार व व्यन्तरोंमें भूत, पिशाच, राक्षस आदि जैसे क्रूरकर्मवाले देव भी पाये जाते हैं, कल्पवासी

देवों तकमें किल्विष जातिके देव ऐसे पाये जाते हैं जिनका वर्णन मनुष्यजातिके अस्पृश्य शूद्रोंके समान किया गया है; फिर भी इन सबको उच्चगोत्री इसलिये माना गया है कि इन सभी देवोंके इन कार्योंका उनकी वृत्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है– वृत्तिकी उच्चता सब देवोंमें समानरूपसे पायी जाती है, इसलिये सभी देव उच्चगोत्री माने गये हैं।

मनुष्यजातिमें सम्मूर्च्छन मनुष्य तो पतित हैं ही, इसलिये उनके नीचगोत्रका अविवाद रूप है। अन्तर्द्वीपज मनुष्योंमें भोगभूमि-समप्रणधि मनुष्योंकी वृत्ति दीन है, कारण कि उनके खानेके लिये मिट्टी आदि अधम पदार्थ ही मिला करते हैं। कर्मभूमि समप्रणधि मनुष्य म्लेच्छखंडोंकी तरह विशेषतया क्रूर वृत्ति वाले ही माने जा सकते हैं, इसलिये ये दोनों प्रकारके अन्तर्द्वीपज मनुष्य नीचगोत्री माने गये हैं। म्लेच्छखंडोंके मनुष्यों की वृत्ति विशेषतया क्रूर वृत्ति है, कारण कि उनकी अजीविकाके साधन क्रूर हैं, इसलिये ये भी नीचगोत्री ही कहे जाते हैं।

भोगभूमिके मनुष्यों की वृत्ति स्वाभिमानपूर्ण है। उन्हें बिना किसी परिश्रमके उनकी इच्छानुकूल अच्छे२ भोजन कल्पवृक्षोंसे मिला करते हैं, उनको अपने पेट भरनेके लिये दीनता अथवा क्रूरतापूर्ण कार्य नहीं करने पड़ते हैं, इसलिये वे उच्चगोत्री माने गये हैं। आर्य खंडके साधु भी उल्लिखित स्वाभिमानपूर्ण वृत्तिके कारण उच्च गोत्री माने गये हैं।

आर्यखंडके बाकी मनुष्योंकी वृत्ति भिन्न २ प्रकार की देखी जाती है। वृत्तिभेदके कारण ही आर्यखंडके मनुष्योंकी नाना जातियां कायम हो गई हैं। इस भारत-क्षेत्रके आर्यखंडमें कर्मभूमिकी रचनाके बाद ही मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये जातियां वृत्ति-भेदके कारण कायम हुईं। धीरे धीरे इन्हींके और भी अवान्तर भेद वृत्तिभेदके कारण होते गये: जैसे सुनार, लुहार, बढ़ई, धोबी, चमार, भंगी आदि। वृत्तिभेदके कारण म्लेच्छ नामकी जाति भी इसी आर्यखंडके मनुष्यों की बन गयी है। यह बात नहीं है कि म्लेच्छखंडोंसे आये हुये म्लेच्छ ही यहां पर म्लेच्छ नाम से पुकारे जाते हैं, यहांके (आर्यखंडके) बाशिन्दे आर्य ही, जो कि भोगभूमिके समयमें बहुत ही सरल वृत्तिके थे, कालांतरमें क्रूर वृत्तिके धारक बन गये। वे ही 'म्लेछ' कहलाने लगे हैं। यह परिवर्तन आज भी देखनेमें आता है।

जैनियोंमें भी जिन लोगोंका यह ख़याल है कि "जातियां अनादि हैं" (जातयोऽनादयः) इस वाक्यके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा इनके अवान्तर भेद सुनार, लुहार आदि सभी जातियां अनादि हैं, उन्हें यह बात नहीं भूलना चाहिये कि भोगभूमिके जमानेमें इस भरतक्षेत्रके आर्यखंडमें सभी मनुष्य समान थे, उनमें किसी भी प्रकारका जातिभेद न था और यह बात तो स्पष्ट है, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों (वर्णों) में मनुष्य का विभाजन ऋषभदेव व उनके पुत्र भरत चक्रवर्तीने किया था। इसके बाद धीरे धीरे और भी भेद इनमें वृत्तिभेदके कारण कायम होते गये और आज तक कायम होते जा रहे हैं।

यद्यपि धर्म, सम्प्रदाय, देश, प्रान्त व्यक्तिविशेष आदिके अधार पर भी मनुष्योंमें बहुत सी जातियोंकी कल्पना की गयी है और की जा रही है परन्तु गोत्रकर्मके प्रकरणमें इन जातियोंकी विवक्षा नहीं है, इसलिये ऐसी जातियोंका समावेश यहां पर नहीं किया गया है।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि मनुष्योंमें जितने

भेद वृत्ति अर्थात् अजीविकाके निमित्त पाये जाते हैं उतनी ही जातियां मनुष्योंकी आज कल्पित की जा सकती है: इतना अवश्य है कि ये सब वृत्तिभेद लोकमान्य और लोकनिन्द्य इस तरहसे दो भागोंमें बांटे जा सकते हैं, इसलिये यह भी निश्चित है कि जिन जातियोंकी या जिन मनुष्योंकी वृत्ति लोकमान्य है वे उच्चगोत्री और जिनकी वृत्ति लोकनिंद्य है वे नीचगोत्री ही कहे जायँगे या उनको ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जब आर्यखंडके मनुष्योंकी वृत्तियां उच्च और नीच दो प्रकारकी पायी जाती हैं तो वे मनुष्य भी उच्च और नीच गोत्र वाले सिद्ध होते हैं।

गोत्रपरिवर्तन और उसका निमित्त

ऊपर गोत्रकर्मके स्वरूप, कार्य व भेदोंके विषयमें अच्छी तरहसे प्रकाश डाला गया है और यह बात अच्छी तरहसे प्रमाणित करदी गयी है कि मनुष्योंमें उच्च और नीच दोनों गोत्रोंका उदय पाया जाता है तथा वह लोक-व्यवहारके साथ साथ युक्ति अनुभव व आगमके भी अनुकूल है। अब सवाल यह रह जाता है कि गोत्रपरिवर्तन हो सकता है या नहीं ? अर्थात् उच्चगोत्र वाला जीव कभी उच्चगोत्री व नीचगोत्र वाला कभी उच्चगोत्री हो सकता है या नहीं ?

पहिले कह आये हैं कि जीवकी लोकमान्य वृत्ति उच्चगोत्रकर्मके उदयसे होती हैं और लोकनिंद्यवृत्ति नीचगोत्रकर्मके उदयसे होती है अर्थात् इन दोनों गोत्रकर्मोंका उदय अपने अपने कर्मस्वरूप वृत्तिका अंतरंग कारण है। ज्ञानी होनेके कारण वृत्तिका कर्त्ता व फलानुभवन करने वाला जीव है, यही कारण है कि गोत्रकर्मको जीवविपाकी प्रकृतियोंमें गिनाया गया है। जीवका जिस शरीरसे जब संयोग हो जाता है और जब तक वह संयोग विद्यमान रहता है तब और तब तक वह शरीर वृत्तिका प्रयोजक कारण पड़ता है: क्योंकि जीव को किसी-न-किसी शरीरका संयोगरूप जीवन प्राप्त होने पर ही खाने पीने आदि आवश्यकताओं की पूर्तिके लिये वृत्तिकी आवश्यकता महसूस होती है, शरीर वृत्तिका सहायक निमित्त भी है अर्थात् शरीरके द्वारा ही जीव किसी न किसी प्रकारकी वृत्तिको अपनाने में समर्थ होता है

यही कारण है कि शरीरको गोत्रकर्मका नोकर्म बतलाया गया है। जिस कुलमें जीव पैदा होता है वह कुल जीवको वृत्ति अपनाने में अवलम्बनरूप निमित्त पड़ता है: क्योंकि उस कुलमें लोकमान्य या लोकनिंद्य जिस वृत्तिके योग्य बाह्य साधनसामग्री मिल जाती है उसी वृत्तिको जीव अपने जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अपनालेता है। यही कारण है कि राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें उच्चकुल और नीचकुलमें जीवका पैदा हो जाना मात्र ही क्रमसे उच्चगोत्र और नीचगोत्रकर्मका कार्य बतला दिया गया है।

यहां पर कुलसे तात्पर्य उस स्थानविशेषसे है जहां पर पैदा होकर जीव अपनी वृत्ति निश्चित करनेके लिये बाह्य साधनसामग्री प्राप्त करता है। नोकर्मवर्गणाके भेदरूप कुल तो केवल शरीर-रचनामें भेद करने वाले हैं, जीवकी वृत्ति पर इन कुलोंका कुछ भी असर नहीं होता है। मनुष्य-शरीरके निर्माण-योग्य जिस नोकर्मवर्गणासे एक ब्राह्मणका शरीर बन सकता है उसी नोकर्म वर्गणासे एक भंगीका भी शरीर बन सकता है, और इसका प्रयोजन सिर्फ इतना है कि उस ब्राह्मण और उस भंगीकी आकृतिमें समानता रहेगी। जिन लोगोंका यह ख़याल है कि ब्राह्मणका शरीर शुद्ध नोकर्मवर्गणाओंका पिंड है और भंगीका शरीर अशुद्ध नोकर्म वर्गणाओंका पिंड है और ये शरीर

जीवनभर क्रमसे शुद्ध और अशुद्ध ही बने रहेंगे, उनका यह खयाल जैन सिद्धान्तोंके विपरीत है, क्योंकि जैन सिद्धान्तके अनुसार ब्राह्मण और भंगी ये संज्ञायें उनके योग्य वृत्तियोंके आधार पर कल्पितकी गयी हैं। इसलिये जो व्यक्ति जिस वृत्ति का धारण करने वाला होगा और जब तक उस वृत्तिको धारण करे रहेगा तब तक वह व्यक्ति उसी संज्ञासे व्यवहार-योग्य बना रहेगा। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण भी अपने जीवनमें भंगी बन सकता है और भंगी भी अपने जीवनमें ब्राह्मण बन सकता है। इसलिये यह बात निश्चित है कि नोकर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंमें पवित्रता (उच्चता) अपवित्रता (नीचता) रूपसे विषमता नहीं है और यही कारण है कि नोकर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंसे जीवके आचरण (वृत्ति) में भी उच्चता और नीचता रूपसे विषमता नहीं आसकती है। जिस प्रकार अत्यधिक आकृतिभेदसे देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकियोंके नोकर्मवर्गणा के भेदरूप कुलों का पृथक् पृथक् विभाजन कर दिया है उसीप्रकार एक एक गतिके कुलोंके जो लाखों करोड़ भेद कर दिये हैं उनका अभिप्राय भी देव आदि पर्यायोंकी समानतामें भी आकृतिभेदका पाया जाना ही है। यदि मनुष्योंके नोकर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंमें किन्हीं को उच्च और किन्हीं को नीच माना जायगा तथा उनके आधार पर यह व्यवस्था बनायी जायगी कि उच्चगोत्र वालोंका शरीर उच्च नोकर्मवर्गणासे और नीचगोत्र वालोंका शरीर नीच नोकर्मवर्गणाओंसे बना हुआ है, तो देवोंमें भी कल्पवासियोंमें किल्विष जातिके देवोंका शरीर व व्यन्तरोंमें क्रूरकर्म वाले राक्षस, पिशाच व भूतजातिके देवोंका शरीर तथा भवनवासियोंमें भी अम्बावरीष जातिके असुरकुमारोंका शरीर भी नीच नोकर्मवर्गणाओं से बना हुआ मानना पड़ेगा, जिससे देवोंमें भी उच्च व नीच दोनों गोत्रोंका सद्भाव मानना अनिवार्य होगा। इसी प्रकार तिर्यंचोंमें भी कोई कोई तिर्यंच देखनेमें इतने प्रिय मालूम पड़ते हैं कि मनुष्य उनको अपने पास रखनेमें अपना सौभाग्य समझता है। ऐसी हालतमें उनका शरीर भी उच्च नोकर्मवर्गणाओंसे बना हुआ मानना पड़ेगा, जिससे तिर्यंचोंमें भी दोनों गोत्रोंका सद्भाव मानना अनिवार्य होगा, जो कि आगम विरुद्ध है। इसलिये यह बात निश्चित है कि गोत्रकर्मका व्यवस्थामें नोकर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंका बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि जीवकी उच्च-नीच वृत्तिके अनुकूल बाह्य साधन सामग्रीको जुटा देने वाले स्थानविशेष ही यहां पर 'कुल' शब्दसे ग्रहण किये गये हैं।

ये कुल मोटे रूपसे चार भागोंमें बांटे जा सकते हैं नरकगति (नरककुल) तिर्यग्गति (तिर्यक्कुल) मनुष्यगति (मनुष्यकुल) देवगति (देवकुल)। कारण कि ये चारों गतियां जीवोंकी वृत्तिमें अवलम्बनरूप निमित्तपड़ती हैं।

नरकगति और तिर्यंचगतिमें जीवनपर्यंत नीच-वृत्तिके अनुकूल ऊपर लिखे अनुसार बाह्य साधनसामग्री मिला करती है। इसी प्रकार सम्मूर्च्छन, अन्तर्द्वीपज व म्लेच्छखंडोंमें रहने वाले मनुष्योंको भी अपने स्थानोंमें जीवनपर्यंत नीच वृत्तिके अनुकूल ही बाह्य साधन-सामग्री मिला करती है, इसलिये इन सबमें जीवन पर्यंत एक नीच गोत्र कर्म का ही उदय रहता है। देवगतिमें देवोंको व भोग भूमिमें मनुष्योंको जीवनपर्यन्त उच्चवृत्तिके अनुकूल ही बाह्य साधनसामग्री मिला करती है, इसलिये इनमें जीवनपर्यन्त उच्च गोत्र कर्मका ही उदय माना गया है। अब केवल आर्यखंडोंके

मनुष्य ही ऐसे रह जाते हैं जिनमें बाह्य साधन सामग्री के परिवर्तनसे वृत्ति-परिवर्तनकी सम्भावना पायी जाती है। जैसे इस भरतक्षेत्रके आर्यखंडमें जब तक भोगभूमिका काल रहा तब तक बाह्य साधनसामग्री भोगभूमिकी तरह उच्च वृत्तिके ही अनुकूल रही, कर्मभूमिके प्रारम्भ हो जाने पर उन्हींकी संतानके वृत्तिभेदका प्रारम्भ हुआ और पहिले कहे अनुसार वृत्तिभेदसे सबसे पहिले इनका विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों (वर्णों) में हुआ, बादमें इनके भी अवान्तरभेद वृत्तिभेदके कारण होते चले गये तथा एक ही प्रकारकी वृत्तिके धारण करने वाले नाना मनुष्य होनेके कारण ये सब भेद जाति अथवा कुल शब्दसे व्यवहृत किये जाने लगे और वृत्ति के आधार पर कायम हुए ये ही कुल अथवा जातियां भविष्यमें पैदा होने वाले मनुष्योंकी वृत्तिके नियामक बन गये। फिर भी बाह्यसाधनसामग्रीके बदलनेकी सम्भावना होनेसे इनमें वृत्तिभेद हो सकता है और वृत्ति-भेदके कारण गोत्र-परिवर्तन भी अवश्यंभावी है *। ऐसे कई दृष्टान्त मौजूद हैं जो किसी समय क्षत्रिय थे वे आज वैश्य माने जाने लगे हैं। पद्मावतीपुरवालोंमें जो आजकल पंडे हैं वे किसी जमानेमें ब्राह्मण होंगे परन्तु आज वे भी वैश्योंमें ही शुमार किये जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें परस्पर यथायोग्य विवाह करनेकी जो आज्ञा शास्त्रोंमें बतलायी है वहां पर विवाही हुई कन्याका गोत्र परिवर्तन मानना ही पड़ता है और इसका कारण वृत्तिका परिवर्तन ही होसकता है और यही कारण है कि म्लेच्छकन्याओंका चक्रवर्ती आदिके साथ विवाह हो जानेपर वृत्ति परिवर्तन हो जानेके कारण ही दीक्षाका अधिकार उनको आगममें दिया गया है। इसी परिवर्तनकी वजहसे ही धवलके कर्ताने कुलको अवास्तविक बतलाया है और इसीलिये जो मनुष्य साधु हो जाता है उसके उस अवस्थामें कुलसंज्ञा नहीं रहती है। इसलिये यह निश्चित है कि एक भंगी भी अपनी वृत्तिमें उदासीन होकर यदि दूसरी उच्च वृत्तिको अपना लेता है तो उसके अपनायी हुई उच्च वृत्तिके अनुसार गोत्र का परिवर्तन मानना ही पड़ेगा। इसी परिवर्तनके कारण ही दार्शनिक ग्रन्थोंमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदिमें जातित्वकी कल्पनाका बड़ी खूबीके साथ खंडन किया गया है।

*इस वाक्य तथा अगली कुछ पंक्तियों परसे लेखकमहोदयका ऐसा आशय ध्वनित होता है कि प्रायः वृत्तिके आश्रित गोत्र का उदय है गोत्रकर्मके उदयाश्रित वृत्ति नहीं है। क्या यह ठीक है ? इसका स्पष्टीकरण होना चाहिये। —सम्पादक

इस प्रकार इस लेखसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यखंडके मनुष्य उच्च और नीच दोनों प्रकारके होते हैं। शूद्र हीनवृत्तिके कारण व म्लेच्छ क्रूर वृत्तिके कारण नीचगोत्री, बाकी वैश्य, क्षत्रिय ब्राह्मण और साधु स्वाभिमान पूर्ण वृत्तिके कारण उच्च गोत्री माने जाते हैं और पहली वृत्तिको छोड़कर यदि कोई मनुष्य या जाति दूसरी वृत्तिको स्वीकार कर लेता है तो उसके गोत्रका परिवर्तन भी हो जाता है, जैसे भोगभूमिकी स्वाभिमानपूर्ण वृत्तिको छोड़कर यदि आर्यखंडके मनुष्योंने दीनवृत्ति और क्रूरवृत्तिको अपनाया तो वे क्रमशः शूद्र व म्लेच्छ बनकर नीचगोत्री कहलाने लगे। इसी प्रकार यदि ये लोग अपनी दीन वृत्ति अथवा क्रूर वृत्तिको छोड़कर स्वाभिमानपूर्ण वृत्तिको स्वीकार कर लें तो फिर ये उच्चगोत्री हो सकते हैं। यह परिवर्तन कुछ कुछ आज हो भी रहा है तथा आगममें भी बतलाया है कि छठे कालमें सभी मनुष्योंके नीचगोत्री हो जाने पर भी उत्सर्पिणीके तृतीय कालकी आदिमें उन्हींकी संतान उच्चगोत्री तीर्थंकर आदि महापुरुष उत्पन्न होंगे।

अत्यधिक लम्बाई हो जानेके कारण इस लेखको यहीं पर समाप्त करता हूँ और पहिले लेखमें कही हुई जिन बातोंके ऊपर इस लेखमें प्रकाश नहीं डाल सका हूँ उनके ऊपर अगले लेख द्वारा प्रकाश डालनेका प्रयत्न करूंगा। साथ ही, जिन आवश्यक बातोंकी ओर टिप्पणी द्वारा संपादक अनेकान्तने मेरा ध्यान खींचा है उनपर भी अगले लेख द्वारा प्रकाश डालूंगा।

साहित्य-सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैनदर्शन

[ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयागका हिन्दी संसारमें प्रायः वही स्थान और महत्त्व है, जो कि भारतीय-राजनैतिक जगत्‌में कांग्रेसका। गत तीस वर्षों से यह संस्था हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषाकी अच्छी सेवा करती आरही है। हिन्दीका व्यापक और स्थायी प्रचार करनेकी दृष्टिसे इसने "हिन्दी-विश्व-विद्यालय" नामक एक अलग परीक्षा-विभाग कायम कर रक्खा है, जो कि नियमानुसार एवं व्यवस्थित ढँगसे प्रतिवर्ष अनेक परीक्षाएँ लेता है। भारतके लगभग सभी प्रान्तोंके और प्रायः सभी जातियों एवं धर्मोंके हजारों छात्र इन परिक्षाओंमें सम्मिलित होते रहते हैं। परीक्षाओंका क्रम, विषयोंका वर्गीकरण, पाठ्यक्रमकी शैली, ऐच्छिक विषयोंका चुनाव, उपाधि-प्रदान-पद्धति, आदि व्यवस्था सरकारी विश्वविद्यालयोंके समान ही इसकी भी हैं। इसकी प्रथमा परीक्षाकी पद्धति और विषयोंका वर्गीकरण मैट्रिकके समान है, विशारदकी शैली बी०ए० के सदृश है और साहित्यरत्नके विषयोंका वर्गीकरण एम० ए० के समान है। परीक्षार्थियोंकी योग्यता भी इन परीक्षाओंसे अच्छी हो जाती है। इन परीक्षाओंका स्टेन्डर्ड ऊँचा होनेसे इनका मान भी देशमें ठीक ठीक किया जाता है। बिहार सरकारने (और शायद यू० पी० सरकारने भी) इनको सरकारी तौर पर मान दे दिया है। यू० पी० बोर्डने तो विशारद-उत्तीर्णको मैट्रिक और एफ० ए० के एक ही विषयमें "अंग्रेजी" में भी बैठने की आज्ञा प्रदान करदी है।

जैन-छात्र प्रतिवर्ष सैकड़ोंकी संख्यामें इन परीक्षाओंमें सम्मिलित होते हैं और अच्छी श्रेणीमें सम्मेलनसे मेडल तक प्राप्त करके सम्मानपूर्वक इन परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होते रहते हैं। किन्तु अनेक छात्रों और जैन संस्थाओंको विषय-चुनावमें कठिनाई आती है, अतः मैंने सोचा कि यदि प्रथमा मध्यमामें जैनदर्शनको भी वैकल्पिक विषयोंमें स्थान दे दिया जाय तो जैनछात्रों और जैन संस्थाओंको बहुत सुविधा हो जायगी। जैन-संस्थाओंके पाठ्यक्रममें भी सादृश्यता आजावेगी और प्रति वर्ष जैन परीक्षार्थियोंकी संख्या भी बढ़ जावेगी।

मेरा प्रस्ताव तो यहाँ तक है कि प्रथमा, विशारद और साहित्यरत्नमें प्राकृत-अपभ्रंश भाषा और जैनदर्शन दोनोंको वैकल्पिक विषयोंमें स्थान दिया जाय। कारण यह है कि भारतीय दर्शन-धाराका अध्ययन तबतक अपूर्ण, एकांगी और अव्यवस्थित रहता है, जब तक कि जैन दर्शनका भी तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धतिसे बौद्धदर्शन और वैदिकदर्शनके साथ अध्ययन नहीं करलिया जाय। भारतीय-विचारपद्धति, भारतीय संस्कृति, भारतीय-कला और भारतीय-साहित्यके निर्माणमें जैनदर्शनने हर प्रकारसे सर्वतोमुखी और महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। भारतीय विकासकी सभी दिशाओंमें जैनदर्शनने अमिट प्रभाव डाला है और पूरा पूरा सहयोग दिया है। दूसरा कारण यह है कि जैन-

साहित्यमें "भाषा, साहित्य, लिपि, संस्कृति, धर्म, राजनीति" आदि विभिन्न विषयोंके इतिहासकी सामग्री विपुल मात्रामें सन्निहित है। अतः प्राकृत-अपभ्रंश भाषा और जैनदर्शनको इन परीक्षाओंमें स्थान देना आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है, ऐसा मेरा विश्वास है। यही कारण है कि भारतके अनेक सरकारी विश्व-विद्यालयोंने भी प्राकृत-अपभ्रंश-भाषा और जैनसाहित्यको एफ० ए०, बी० ए०, की परीक्षाओं तक में स्थान दे दिया है। संस्कृतके सरकारी परीक्षालयोंमें भी प्रथमा, मध्यमा, तीर्थ, शास्त्री और आचार्य आदि परीक्षाओंमें जैन-साहित्यको स्थान मिल चुका है। किन्तु खेद है कि सम्मेलनकी परीक्षा-समितिने इस ओर अभी कोई ध्यान नहीं दिया। इस संबंधमें मैं परीक्षा-मन्त्रीजी सम्मेलन प्रयागसे गत दो वर्षसे पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ। उन्होंने सं० ६४ पत्र नं० ६५६३ में लिखा कि आपका प्रस्ताव परीक्षा-समितिके सामने विचारार्थ रक्खेंगे और निर्णयकी सूचना यथासमय आपको दी जावेगी। फिर मेरे दूसरे पत्रके उत्तरमें सं० ६४ पत्र नं० ६७८४ में लिखा कि—मैं स्वयं जैनदर्शनको प्रथमा, मध्यमा परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयोंमें रखनेके पक्षमें हूँ। पर परीक्षा-समितिकी राय लेकर ही इस संबंधमें निश्चित रूपसे आपको लिख सकूंगा। तीसरे पत्र नं० ८२८६ सं० ६४ में रजिस्ट्रार हिन्दी विश्वविद्यालयने मुझसे पाठ्यक्रम, और पूरी योजना मांगी; तदनुसार मैंने पाठ्यक्रम, और योजना भेजदी। तत्पश्चात पत्र नं० ६६६५ और ११४१० सं०६४ में इसी बातकी पुनरावृत्ति की कि अभी परीक्षा-समितिका अधिवेशन नहीं हुआ है, निर्णयकी सूचना आपको यथासमय तुरन्त ही दी जावेगी; अंतमें परीक्षा-समितिका निर्णय मांगा तो यही उत्तर मिला कि परीक्षा-समितिने वैकल्पिक विषयोंमें जैनदर्शनको स्थान देनेसे इन्कार करदिया है। मुझे यह पढ़कर अत्यन्त आश्चर्य और खेद हुआ! परीक्षा-मन्त्रीजी श्री दयाशंकरजी दुबे इस प्रस्तावके पक्षमें थे, जैसा कि उन्होंने अपने पत्रमें स्वीकार किया है। मालूम नहीं इस प्रस्तावके विरोधी सदस्योंकी क्या मनोभावना थी? क्या उन्होंने जैन-दर्शनसे विद्वेषकी भावनासे ऐसा किया अथवा इसे निरुपयोगी ही समझा, यह कह सकना कठिन है। किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह उनकी अनुदारता और अविचारकता अवश्य है। क्या वे अब भी कृपा करके इस प्रस्ताव पर पुनः समुचित विचार कर उसे स्वीकार करेंगे? मैं आशा करता हूँ कि वे ऐसी कृपा अवश्य करेंगे।

जैन-संस्था-संचालकों, जैन-पत्र-संपादकों और जैनविद्वानोंसे निवेदन है कि वे ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे प्राकृत-अपभ्रंश-भाषा और जैनसाहित्यको सम्मेलनकी परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयों में स्थान मिल सके। इससे अनेक जैन संस्थाओंको पाठ्यक्रम-संबंधी अस्थिरता और अन्य कठिनाइयोंसे मुक्ति मिल सकेगी।

आदरणीय पं० नाथूरामजी प्रेमी, बाबू जैनेन्द्रकुमारजी, पं० सुखलालजी, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार और बाबू कामताप्रसादजी आदि विद्वान महानुभाव और शास्त्रार्थ संघ अम्बाला आदि जैसी संस्थाएँ यदि सम्मेलनसे पत्र-व्यवहार करने मात्रका थोड़ा-सा कष्ट करें तो इसमें अतिशीघ्र सफलता मिल सकती है। क्या ये ऐसा करनेकी कृपा करेंगे?

मैं इस आशाके साथ यह निवेदन समाप्त

करता हूँ कि जैनपत्र-संपादक और विद्वान् महानुभाव इस ओर अवश्य प्रयत्न करनेकी कृपा करेंगे।

सम्पादकीय नोट—

प्रस्तुत विषयमें लेखकमहोदय का प्रस्ताव और उन्होंने दो वर्ष तक पत्र-व्यवहारादिका जो परिश्रम किया है वह सब निःसन्देह बहुत ही समयोपयोगी, स्तुत्य और प्रशंसनीय है। परीक्षासमितिका उसपर उपेक्षाभाव धारण करना अवश्य ही खेदजनक है! मालूम नहीं उसकी इस अस्वीकृतिके मूलमें क्या रहस्य संनिहित है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ जैनसाहित्य और उसके महत्वसे अनभिज्ञता ही इसका प्रधान कारण जान पड़ता है। जैन विद्वानोंको स्वयं तथा उन अजैन विद्वानोंके द्वारा जिन्होंने जैनसाहित्यके महत्वका अनुभव किया है, परीक्षासमितिके सदस्यों पर जैनदर्शन एवं जैनसाहित्यकी उपयोगिता और महत्ताको प्रकट करना चाहिये —उनके ध्यानमें यह जमा देना चाहिये कि इस ओर उपेक्षा धारण करके वे अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं कर रहे हैं। प्रत्युत, अपनी भूलसे बहुतोंको यथोचित लाभसे वंचित रख रहे हैं, जो उनकी ऐसी सार्वजनिक संस्थाकी उदारता और दूरदृष्टिताके विरुद्ध है। इस प्रकारके प्रयत्न और यथेष्ट आन्दोलनके द्वारा आशा है समितिका ध्यान इस ओर ज़रूर आकृष्ट होगा और वह शीघ्र ही अपनी भूलको सुधारनेमें समर्थ हो सकेगा। बिना आन्दोलन और प्रयत्नके कोई भी अच्छे-से अच्छा कार्य सफल नहीं हो सकता। —सम्पादक

सामायिक-विचार

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीस दोषोंमेंसे कोई न कोई दोष लग जाते हैं। विज्ञानवेत्ताओंने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घड़ी बांधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परम शान्ति देता है। बहुतसे लोगोंका जब यह दो घड़ीका काल नहीं बीतता, तब वे बहुत व्याकुल होते हैं। सामायिकमें खाली बैठनेसे काल बीत भी कैसे सकता है? आधुनिक कालमें सावधानीसे सामायिक करने वाले बहुत ही थोड़े लोग हैं। जब सामायिकके साथ प्रतिक्रमण करना होता है, तब तो समय बीतना सुगम होता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग प्रतिक्रमणको लक्ष्यपूर्वक नहीं कर सकते, तो भी वे केवल खाली बैठनेकी अपेक्षा, इसमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है। जिन्हें सामायिक भी पूरा नहीं आता वे बिचारे सामायिकमें बहुत घबड़ाते हैं। बहुतसे भारीकर्मी लोग इस अवसर पर व्यवहारके प्रपंच भी घड़ डालते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होता है।

सामायिकका विधिपूर्वक न होना इसे बहुत खेदकारक और कर्मकी बाहुल्यता समझना चाहिए। साठ घड़ीके दिन रात व्यर्थ चले जाते हैं। असंख्यात दिनोंसे परिपूर्ण अनंतों कालचक्र व्यतीत करने पर भी जो सिद्ध नहीं होता, वह दो घड़ीके विशुद्ध सामायिकसे सिद्ध हो जाता है। लक्ष्यपूर्वक सामायिक करनेके लिये सामायिकमें प्रवेश करनेके पश्चात् चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिये और बादमें सूत्रपाठ अथवा किसी उत्तम ग्रंथका मनन करना चाहिये। वैराग्यके उत्तम श्लोकोंको पढ़ना चाहिए, पहिलेके अध्ययन किये हुएको स्मरण कर जाना चाहिये और नूतन अभ्यास होसके तो करना चाहिये, तथा किसीको शास्त्रके आधारसे उपदेश देना चाहिये। इस प्रकार सामायिकका काल व्यतीत करना चाहिये। यदि मुनिराजका समागम हो, तो आगमकी वाणी सुनना और उसका मनन करना चाहिये। यदि ऐसा न हो, और शास्त्रोंका परिचय भी न हो तो विचक्षण अभ्यासियोंके पास वैराग्य-बोधक उपदेश श्रवण करना चाहिये अथवा कुछ अभ्यास करना चाहिये। यदि ये सब अनुकूलतायें न हों, तो कुछ भाग ध्यानपूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना चाहिये, और कुछ भाग महापुरुषोंकी चारित्र-कथा सुननेमें उपयोगपूर्वक लगाना चाहिये, परन्तु जैसे बने तैसे विवेक और उत्साहसे सामायिकके कालको व्यतीत करना चाहिए। यदि कुछ साहित्य न हो, तो पंचपरमेष्ठी मंत्रका जाप ही उत्साहपूर्वक करना चाहिये। परन्तु कालको व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। धीरजसे, शान्तिसे और यतनासे सामायिक करना चाहिये। जैसे बने तैसे सामायिकमें शास्त्रका परिचय बढ़ाना चाहिये।

साठ घड़ीके अहोरात्रमेंसे दो घड़ी अवश्य बचाकर सामायिक तो सद्भावसे करो! —श्रीमद्राजचन्द्र

यापनीय साहित्यकी खोज

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई]

यापनीय संघ

जैन धर्मके मुख्य दो सम्प्रदाय हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनोंके अनुयायी लाखों हैं और साहित्य भी विपुल है, इसलिए इनके मतों और मत भेदोंसे साधारणतः सभी परिचित हैं, परन्तु, इस बात का बहुत ही कम लोगोंको पता है कि इन दोके अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसे 'यापनीय' या 'गोप्य' संघ कहते थे और जिसका इस समय एक भी अनुयायी नहीं है।

यह सम्प्रदाय भी बहुत प्राचीन है। [1]दर्शनसारके कर्त्ता देवसेनसूरिके कथनानुसार कमसे कम वि० सं० २०५ में तो इसका पता चलता ही है और यह समय दिगम्बर श्वेताम्बर[2] उत्पत्तिसे सिर्फ ६०-७० वर्ष बाद पड़ता है। इसलिए यदि मोटे तौर पर यह कहा जाय कि ये तीनों ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समयके हैं तो कुछ बड़ा दोष न होगा, विशेष कर इसलिए कि सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिकी जो तिथियाँ बताई जाती हैं वे बहुत सही नहीं हुआ करतीं।

किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आसपास बहुत प्रभावशाली रहा है। कदम्ब[3], राष्ट्रकूट[4] और दूसरे [5]वंशोंके राजाओंने इस संघको और इसके आचार्योंको भूमिदान किये थे। प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरिने[6] अपनी ललितविस्तरामें यापनीयतंत्रका सम्मान-पूर्वक उल्लेख किया है।

श्रुतकेवलिदेशीयाचार्य शाकटायन (पाल्यकीर्ति) जैसे सुप्रसिद्ध वैयाकरण इस सम्प्रदायमें उत्पन्न हुए हैं। चालुक्य-चक्रवर्ती पुलकेशीकी प्रशस्तिके लेखक कालिदास और भारविकी समताकरनेवाले महाकवि रविकीर्ति भी इसी सम्प्रदायके मालूम होते हैं।[7]

इस संघका लोप कब हुआ और किन किन कारणोंसे हुआ, इसका विचार तो आगे कभी किया जायगा; परन्तु अभी तककी खोजसे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दि तक यह सम्प्रदाय जीवित था। कागवाडेके शिलालेखमें, जो[8] जैनमन्दिर-

---

१ कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पंचउत्तरे जादे।
जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥२९॥

२ छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥१॥

श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार दिगम्बरोंकी उत्पत्ति वीरनिर्वाणके ६०९ वर्ष बाद (वि० सं० १३९ में) हुई है।

३ कदम्बवंशी राजाओंके दानपत्र, देखो जैनहितैषी, भाग १४ अंक ७-८

४ देखो, इं० ए० १२पृ०१३-१६ में राष्ट्रकूट प्रभूतवर्षका दानपत्र।

५ देखो इं० ए० २पृ०१५६-५९ में पृथ्वीकोंगणि महाराजका दानपत्र

६ श्रीहरिभद्रसूरिका समय आठवीं शताब्दि है।

७ देखो प्राचीन लेखमाला भाग १ पृ० ६८-७२।

८ देखो बाम्बे यू० जर्नलके मई १९३३ के अंकमें प्रो० ए० एन० उपाध्याय एम० ए० का 'यापनीय संघ' नामक लेख और जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७ में उसका अनुवाद।

के भौंहिरेमें है, यापनीय संघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधि-लेखोंका उल्लेख है। इनके गुरु नेमिचन्द्रको तुलुवराज्यस्थापनाचार्यकी उपाधि दी हुई है जो इस बातकी द्योतक है कि वे एक बड़े राज्यमान्य व्यक्ति थे और इसलिए संभव है कि आगे भी सौ पचास वर्ष तक इस सम्प्रदायका अस्तित्व रहा हो।

यापनीय साहित्यका क्या हुआ ?

बेलगावके 'दोड्डवस्ति' नामक जैनमन्दिरकी श्रीनेमिनाथकी मूर्तिके नीचे एक खंडित लेख[1] है, जिससे मालूम होता है कि उक्त मन्दिर यापनीय संघके किसी पारिसय्या नामक व्यक्तिने शक ९३५ (वि० सं० १०७०) में बनवाया था और आजकल उक्त मन्दिरकी यापनीयप्रतिष्ठितप्रतिमा दिगम्बरियोंद्वारा पूजी जाती है।

जिस तरह यापनीय संघकी उक्त प्रतिमा इस समय दिगम्बर संप्रदायद्वारा मानी-पूजी जाती है, क्या आश्चर्य है जो उनके साहित्यका भी समावेश उसके साहित्यमें हो गया हो ! यापनीय संघकी प्रतिमायें निर्वस्त्र होती हैं, इसलिए सरसरी तौरसे नहीं पहिचानी जा सकतीं कि वे दिगम्बर संप्रदायकी हैं या यापनीयकी। इसी तरह यापनीय संघका बहुत-सा साहित्य भी तो ऐसा हो सकता है जो स्थूल दृष्टिसे दिगम्बर सम्प्रदाय जैसा ही मालूम हो। उदाहरणके लिए हमारे सामने शाकटायन व्याकरण है ही। वह दिगम्बर संप्रदायमें सैकड़ों वर्षोंसे केवल मान्य ही नहीं है उस पर बहुत-से दिगम्बर विद्वानोंने टीकायें तक लिखी हैं।

शाकटायनाचार्यका व्याकरणके अतिरिक्त एक और ग्रन्थ प्रकाशमें आया है जिसका नाम 'स्त्री-मुक्ति-केवलि-भुक्ति प्रकरण[1]' है। इस ग्रंथमें इसके नामके अनुसार स्त्रीको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं, इन दो बातोंको सिद्ध किया गया है। चूंकि ये दोनों सिद्धांत दिगम्बर संप्रदायसे विरुद्ध हैं, इसलिए इसका संग्रह दिगम्बर भण्डारोंमें नहीं किया गया परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय इन बातोंको मानता है इसलिए उसके भण्डारोंमें यह संग्रहीत रहा।

जैसा कि पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा यापनीय संघ सूत्र या आगम ग्रन्थोंको भी मानता था और उनके आगमोंकी वाचना उपलब्ध वल्लभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मानी जाती है, शायद कुछ भिन्न थी। उसपर उनकी स्वतंत्र टीकायें भी होंगीं जैसी कि अपराजित सूरिकी दशवैकालिक सूत्रपर टीका थी। इस सब साहित्यमेंसे कुछ न कुछ साहित्य ज़रूर मिलना चाहिए।

जिस सम्प्रदायके अस्तित्वका पन्द्रहवीं शताब्दि तक पता लगता है और जिसमें शाकटायन, रविकीर्ति जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं, उसका साहित्य सर्वथा ही नष्ट हो गया होगा, इस बातपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। वह अवश्य होगा और दिगम्बर-श्वेताम्बर भंडारोंमें ज्ञात-अज्ञात रूपमें पड़ा होगा।

विक्रमकी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दि तक कनड़ी साहित्यमें जैन विद्वानोंने सैकड़ों एकसे एक बढ़कर ग्रन्थ लिखे हैं। कोई कारण नहीं है कि जब उस समय तक यापनीय संघके विद्वानोंकी परम्परा चली आ रही थी तब उन्होंने भी कनड़ी साहित्यको दस-बीस ग्रन्थ

---

१ देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७

१ जैन साहित्य संशोधक भाग २ अंक ३,४ में यह प्रकरण प्रकाशित हो चुका है।

भेंट न किये होंगे।

यापनीय संघके साहित्यकी एक बड़ी भारी उपयोगिता यह है कि जैनधर्मका तुलनात्मक अध्ययन करनेवालोंको उससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिगम्बर-श्वेताम्बर मत भेदोंके मूलका पता लगानेके लिए यह दोनोंके बीचका और दोनोंको परस्पर जोड़नेवाला साहित्य है और इसके प्रकाशमें आये बिना जैनधर्मका प्रारम्भिक इतिहास एक तरहसे अपूर्ण ही रहेगा।

यापनीय सम्प्रदायका स्वरूप

मैंने अपने [1]दर्शनसार-विवेचना और उसके परिशिष्ट[2] में यापनीयोंका विस्तृत परिचय दिया है और सप्रमाण दिया है। यहाँ मैं उसकी पुनरावृत्ति न करके सार मात्र लिख देता हूँ, जिससे इस लेखका अग्रिम भाग समझनेमें कोई असुविधा न हो।

ललितविस्तराके कर्त्ता हरिभद्रसूरि, षट्दर्शनसमुच्चयके टीकाकार गुणरत्नसूरि और षट्प्राभृतके व्याख्याता श्रुतसागरसूरिके अनुसार यापनीय संघके मुनि नग्न रहते थे, मोरकी पिच्छि रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे[3] और वन्दना करनेवाले श्रावकोंको धर्मलाभ देते थे। ये सब बातें तो दिगम्बरियों जैसी थीं, परन्तु साथ ही वे मानते थे कि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है, केवली भोजन करते हैं और सग्रन्थावस्थामें तथा परशासनसे भी मुक्त होना सम्भव है। इसके सिवाय शाकटायनकी अमोघवृत्तिके कुछ उदाहरणोंसे मालूम होता है कि यापनीय संघमें आवश्यक, छेद-सूत्र, निर्युक्ति और दशवैकालिक आदि ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी होता था[4] अर्थात् इन बातोंमें वे श्वेताम्बरियोंके समान थे।

अपराजितसूरि यापनीय थे

यापनीय संघकी मानताओंका थोड़ा-सा परिचय देकर अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि क्या सचमुच ही कुछ यापनीय साहित्य ऐसा है जिसे इस समय दिगम्बर सम्प्रदाय अपना मान रहा है, जिस तरह कि कुछ स्थानोंमें उनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओंको? इसके प्रमाणमें हम सबसे पहिले मूलाराधनाकी टीका श्रीविजयोदयाको उपस्थित करते हैं, जो अपराजितसूरि या श्रीविजयाचार्यकी बनाई हुई है।

यह टीका भगवती आराधनाके वचनिकाकार पं० सदासुखजीके सम्मुख थी। सबसे पहले उन्होंने ही इस पर सन्देह किया था और लिखा था कि इस ग्रन्थकी टीकाका कर्त्ता श्वेताम्बर है। वस्त्र, पात्र, कम्बलादिका पोषण करता है, इसलिए अप्रमाण है। सदासुखजी चूंकि यापनीय संघसे परिचित नहीं थे, इसलिए वे अपराजितसूरिको श्वेताम्बरके सिवाय और कुछ लिख भी नहीं सकते थे। इसी तरह स्व० डाक्टर के० बी० पाठकको भी अमोघवृत्तिमें आवश्यक छेद-

---

१-२ देखो जैनहितैषी भाग १३ अंक ४-६ और ६-१०

३ "या पंचजैनाभासैरंचलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चार्चनीया च।" षट्प्राभृतटीका पृष्ठ ७१। श्रुतसागरके इस वचनसे मालूम होता है कि यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमायें नग्न होती थीं क्योंकि यापनीय उनके पाँच जैनाभासोंके अन्तर्गत हैं।

४ एतकमावश्यकमध्यापय। इयमावश्यकमध्यापय। अमोघवृत्ति १-२-२०३-४

भवता खलु छेदसूत्रं वोढव्यं। निर्युक्तिरधीश्व। निर्युक्ति धीते। ४-४-१३३-४०

कालिकसूत्रस्यानध्यायदेशकालाः पठिताः। १-२-४७

अथो क्षमाश्रमणैस्ते ज्ञानं दीयते १-२-२०१

सूत्र, निर्युक्ति आदिके उदाहरण देखकर शाकटायनको श्वेताम्बर मान लेना पड़ा था, जो कि निश्चित रूपसे यापनीय थे।

अपराजितसूरिके यापनीय होनेका सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि उन्होंने दशवैकालिक सूत्रपर एक टीका लिखी थी और उसका भी नाम इस टीकाके समान 'श्रीविजयोदया' रक्खा था। इसका जिक्र उन्होंने स्वयं ११६७ नम्बरकी गाथाकी टीकामें किया है—"**दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।**" अर्थात् मैंने उद्गमादि दोषोंका वर्णन दशवैकालिक टीकामें किया है, इसलिये अब उसे यहाँ नहीं करता। दिगम्बर सम्प्रदायका कोई आचार्य किसी अन्य सम्प्रदायके आचार-ग्रन्थकी टीका लिखेगा, यह एक तरहसे अद्भुत-सी बात है जब कि दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिमें दशवैकालिकादि सूत्र नष्ट हो चुके हैं। वे इस नामके किसी ग्रन्थके अस्तित्वमें मानते ही नहीं हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्वेतांबर संप्रदाय-मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं यापनीयसंघ शायद उन सभीको मानता था; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनोंके आगमोंमें कुछ पाठ-भेद था और इसका कारण शायद यह हो कि वर्तमान वल्लभीवाचना से पहलेकी कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना) यापनीय संघके पास रही हो। क्योंकि विजयोदया टीकामें आगमोंके जो उद्धरण दिये गये हैं वे श्वेतांबर आगमोंमें बिल्कुल ज्योंके त्यों नहीं मिलते है।

अचेलकताकी चर्चामें यापनीयत्व

जिस ४२७ नं० की गाथाकी टीकापरसे पं० सदासुखजीने टीकाकारको श्वेतांबरी करार दिया है, वह यह है—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकरियम्मे।
वद जट्ठ पडिक्कमणे मासं पज्जो सवणकप्पो॥

इस गाथामें दश प्रकारके श्रमणकल्प अर्थात् श्रमणों या जैन साधुओंके आचार गिनाये हैं। उनमें सबसे पहला श्रमणकल्प आचेलक्य या अचेलकता या निर्वस्त्रता है। साधुओंको क्यों नग्न रहना चाहिए, और निर्वस्त्रतामें क्या क्या गुण हैं, वह कितनी आवश्यक है, इस बातको टीकाकारने खूब विस्तारके साथ लगभग दो पेजमें स्पष्ट किया है और इसका बड़े जोरोंसे समर्थन किया है। उसके बाद शंका की है कि यदि ऐसा मानते हो, अचेलकताको ही ठीक समझते हो, तो फिर पूर्वागमोंमें जो वस्त्र-पात्रादिका ग्रहण उपदिष्ट है, सो कैसे?*

पूर्वागमोंमें वस्त्रपात्रादि कहाँ उपदिष्ट हैं, इसके उत्तरमें आगे उन पूर्वागमोंसे नाम और स्थानसहित उद्धरण दिये हैं। जिन आगमोंके वे उद्धरण हैं, उनके नामोंसे और उन उद्धरणोंका जो अभिप्राय है, उससे साफ समझमें आ जाता है कि वे कोई दिगम्बर सम्प्रदायके आगम या शास्त्र नहीं हैं बल्कि वही हैं जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उपलब्ध हैं और कुछ पाठ-भेदके साथ यापनीय संघमें माने जाते थे।

अक्सर ग्रन्थकार किसी मतका खंडन करनेके लिए उसी मतके ग्रन्थोंका भी हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धांतको पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीकामें ऐसा नहीं है; यहाँ तो अपने ही आगमोंका हवाला देकर अचेलकता सिद्ध की गई है और बतलाया है कि अपवादरूपसे अवस्था-विशेषमें ही वस्त्रका उपयोग किया जा सकता है।

---

* **अथैवंमन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टं तथा (तत्कथं?)**

पहला उद्धरण 'आचार-प्रणिधि' का है[1] और यह आचार-प्रणिधि दशवैकालिक सूत्रके आठवें अध्ययनका नाम है। उसमें लिखा है कि पात्र और कम्बलकी प्रतिलेखना करना चाहिए, अर्थात् देख लेना चाहिए कि वे निर्जन्तुक हैं या नहीं।[2] और फिर कहा है कि प्रतिलेखना तो तभीकी जायगी जब पात्र कम्बलादि होंगे, उनके बिना वह कैसे होगी[3] ? दूसरा उद्धरण आचारांगसूत्र का है उसके लोकविचय नामके दूसरे अध्ययनके पाँचवें उद्देश्यमें भी कहा है कि भिक्षु पिच्छिका, रजोहरण, उग्गह और कटासन इनमेंसे कोई उपाधि रक्खे।[4]

इसके आगे वत्थेसणा (वस्त्रैषणा) और पाएषणा (पात्रैषणा) के तीन उद्धरण दिये हैं जिनका सारांश यह है कि जो साधु ह्रीमान या लज्जालु हो, वह एक वस्त्र धारण करे और दूसरा प्रतिलेखनाके लिए रक्खे, जिसका लिंग बेडौल जुगुप्साकर हो वह दो वस्त्र धारण करे और तीसरा प्रतिलेखनाके लिए रक्खे और जिसे शीतादि परिषह सहन न हो वह तीन वस्त्र धारण करे और चौथा प्रतिलेखनाके लिए रक्खे[5]। यदि मुझे तूंबी लकड़ी या मिट्टीका अल्पप्राण, अल्पबीज, अल्पप्रसार, और अल्पाकारवाला पात्र मिलेगा, तो उसे ग्रहण करूंगा।†

इन उद्धरणोंको देकर पूछा है कि यदि वस्त्र-पात्रादि ग्राह्य न हों तो फिर ये सूत्र कैसे लिये जाते हैं !‡

इसके आगे भावना (आचारांगसूत्रका २४ वाँ अध्ययन) का उद्धरण दिया है कि भगवान् महावीरने एक वर्ष तक वस्त्र धारण किया और उसके बाद वे अचेलक (निर्वस्त्र) हो गये।[1]

सूत्रकृतांगके पुण्डरीक अध्ययनमें कहा है कि साधुको किसी वस्त्रपात्रादिकी प्राप्तिके मतलबसे धर्मकथा नहीं कहनी चाहिए[2] और निशीथसूत्रके दूसरे उद्देश्यमें भी कहा है कि जो भिक्षु वस्त्र-पात्रोंको एक साथ ग्रहण करता है उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त लेना पड़ता है।[3]

शंकाकार कहता है कि इस तरह सूत्रोंमें जब वस्त्र-ग्रहणका निर्देश है, तब अचेलता कैसे बन सकती है[4]? इसके समाधानमें टीकाकार कहते हैं कि आगममें अर्थात् आचारांगादिमें आर्यिकाओंको वस्त्रकी अनुज्ञा है परन्तु भिक्षुओंको वह अनुज्ञा कारणकी अपेक्षा है। जिस भिक्षुके शरीरावयव लज्जाकर हैं और जो परीषह

१—आचारप्रणिधौ भणितं। २-३-प्रतिलिखेत्पात्रकम्बलं ध्रुवमिति। असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते। ४-आचारस्यापि द्वितीयाध्ययनो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं। पडिलेहणं पादपुंछणं उग्गहं कडासणं अण्णदरं उपधिं पावेज इति। ५-तथा वत्थेसणाए वुत्तं तत्थ एसेहिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज पडिलेहणं विदियं, तत्थ एसे जुग्गिदे दुवे वत्थाणि-धारेजपडिलेहणंतिदियं। तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स तगोवत्थाणि-धारेज पडिलेहणं चउत्थं।

† पुनश्चोक्तं तत्रैव—आलाबुपत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं अप्पबीजं अप्प सरिदं तथा अप्पकारं पात्रलाभे सति पडिग्गाहिस्समीति।

‡ वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयंते ?

१-वरिसं चीवरधारि तेन परमचेलके तु जिणे।

२-ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति।

३-कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गाहिदि-पज्जदि मासिगं लहुगं इति।

४-एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इति।

सहन करनेमें असमर्थ है वही वस्त्र ग्रहण करता है[1] और फिर इस बातकी पुष्टिमें आचारांग तथा कल्प[2] (बृहत्कल्प) के दो उद्धरण देकर आचारांगका एक ऐसा उद्धरण दिया है जिसमें कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहण करनेका विधान है[3] और उसकी टीका करते हुए लिखा है कि यह जो कहा है कि हेमन्त ऋतुके समाप्त हो जाने पर परिजीर्ण उपाधिको रखदे, सो इसका अर्थ यह है कि यदि शीतका कष्ट सहन न हो तो वस्त्र ग्रहण कर ले और फिर ग्रीष्मकाल आ जाने पर उसे उतार दे। इसमें कारणकी अपेक्षा ग्रहण कहा है। परन्तु जीर्णको छोड़ दे, इसका मतलब यह नहीं है कि दृढ़ (मजबूत) को न छोड़े। अन्यथा अचेलतावचनसे विरोध आ जायगा। वस्त्रकी परिजीर्णता कही गई है, प्रक्षालनादि संस्कारके अभावमें, दृढ़का त्याग करनेके लिए नहीं[4] और यदि ऐसा मानोगे कि संयमके लिए पात्रग्रहण सिद्ध है तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग और पात्र परिग्रह है, इसलिए उसका त्याग सिद्ध है। अर्थात् वस्त्र-पात्र-ग्रहण कारणसापेक्ष है। जो उपकरण कारण-की अपेक्षा ग्रहण किये जाते हैं उनकी जिस तरह ग्रहण-विधि है उसी तरह उनका परिहरण भी अवश्य करना चाहिए। इसलिए बहुतसे सूत्रोंमें अर्थाधिकारकी अपेक्षा जो वस्त्र-पात्र कहे हैं सो उन्हें ऐसा मानना चाहिए कि कारणसापेक्ष ही कहे गये हैं। और जो भावना (आचारांगका २४ वाँ अध्ययन) में कहा है कि भगवान् महावीरने एक वर्ष तक चीवर धारण किया और उसके बाद वे अचेलक हो गये, सो इसमें बहुत-सी विप्रतिपत्तियाँ हैं, बहुतसे विरोध और मतभेद हैं। क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि वीर जिनके उस वस्त्रको उसीदिन उस लटका देनेवालेने ही ले लिया था दूसरे कहते हैं कि वह काँटों और डालियों आदिसे छह महीनेमें छिन्न भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्षमें कुछ अधिक बीत जाने पर खंडलक नामक ब्राह्मणने उसे ले लिया था और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवासे उड़ गया और भगवान्ने उसकी उपेक्षा की, तो लटकाने वालेने फिर उनके कन्धेपर रख दिया। इस तरह अनेक विप्रतिपत्तियाँ होनेके कारण इस बातमें कोई तत्त्व नहीं दिखलाई देता। यदि सचेललिंग प्रकट करनेके लिए भगवान्ने वस्त्र ग्रहण किया था तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट हुआ? उसे सदा ही धारण किये

१–आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया भिक्षूणाम्। ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति।

२–हिरिहेतुकं व होइ देहदुगुंछंतिदेहे जुग्गिदगे धारेज्ज सियं वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासीति।

३–द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते—अह पुण एवं जाणेज्ज। पातिक्कंते हेमंतेहिं सुपडि वण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पदिट्ठावेज्ज।

४–हिमसमये शीतबाधासहः परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मेसमायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणमपेक्ष्य ग्रहणमाख्यातं। परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानाम परित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः। प्रक्षालनादि संस्कार विरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्यत्यागकथनार्थं पात्रप्रतिष्ठापनासूत्रेणोक्तेति। संयमार्थं पात्रग्रहणं सिद्ध्यति इति मन्यसे, नैव। अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः प्रहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव। तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्।

रहना था और यदि उन्हें पता था कि वह नष्ट हो जायगा तो फिर उसका ग्रहण करना निरर्थक हुआ और यदि पता नहीं था तो वे अज्ञानी सिद्ध होते हैं। और फिर यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना वांछनीय थी तो फिर यह वचन मिथ्या हो जायगा कि पहले और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म आचेलक्य (निर्वस्त्रता) था[1]।

और जो नवस्थान (?) में कहा है कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ उसी तरह पिछले जिन (तीर्थंकर) भी अचेलक होंगे, सो इससे भी विरोध आयगा। इसके सिवाय वीर भगवानके समान यदि अन्य तीर्थंकरोंके भी वस्त्र थे तो उनका वस्त्र-त्याग-काल क्यों नहीं बतलाया जाता है? इसलिए यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्यागकर जब जिन (वीर भगवान) स्थित थे तब किसीने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और वह एक तरहका उपसर्ग था[2]।

इसके बाद कहा है कि परीषहसूत्रोंमें (उत्तराध्ययनमें) जो शीत-दंश-मसक तृणस्पर्श-परीषहोंके सहनके वचन हैं वे सब अचेलताके साधक हैं। क्योंकि जो सचेल या सवस्त्र हैं उन्हें शीतादिकी बाधा होती ही नहीं है।[2]

फिर उत्तराध्ययनकी ऐसी नौ गाथायें उद्धृत की हैं जो अचेलताको प्रकट करती हैं[3]। इस तरह इस आचेलक्य श्रमणकल्पकी समाप्त की गई है।

इससे अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है कि व्याख्याकार यापनीय संघके हैं, वे उन सब आगमों आदिको मानते हैं जिनके उद्धरण उन्होंने अचेलकताके प्रकरणमें दिये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि साधुओंको नग्न रहना चाहिए; नग्न रहनेकी ही आगमोंकी आज्ञा है और कहीं कहीं जो वस्त्रादिका उल्लेख मिलता है सो उसका अर्थ इतना ही है कि यदि कभी अनिवार्य ज़रूरत आ पड़े, शीतादिकी तकलीफ बरदाश्त न हो, या शरीर बेडौल घिनौना हो तो कपड़ा ग्रहण किया जा सकता है

१-यच्चभावनायामुक्तं—वरिसं चीवरधारि तेण परमचेलगो जिनोति तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात्। कथं? केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति। अन्येषण मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति। साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खण्डलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति। केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेत्यपरे वदन्ति विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति। एवं विप्रतिपत्ति बाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वं। सचेललिंगप्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः? सदातद्धारयितव्यम्। किंच, यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य ग्रहणं, यदि न ज्ञानमज्ञानस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना वांछिता चेत् 'आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं' इति वचो मिथ्या भवेत्।

२-यदुक्तं 'यथाहमचेलो तथा होउ पच्छिमो इति होक्खदिति' तेनापि विरोधः। किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्। एवं तु युक्तं वक्तुं सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्तं उपसर्ग इति।

२-इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमसकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। नहि सचेलं शीतादयो बाधन्ते।

३-स्थानाभावसे यहाँ उत्तराध्ययनकी चार ही गाथायें दी जाती हैं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए, अचेलपवरो भिक्खू जिणरूवधरे सदा। अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो, तणेसु सयमाणस्स हुं ते होदि विराहिणा ण मे णिवारणं अत्थि छवित्ताणं ण विज्जई, अहं तु अग्गिं सेवामि इदि भिक्खू ण चिंतए॥ आचेलक्को य जो धम्मो जो वायं पुणरुत्तरो, देसिदो वड्ढमाणेण पासेण य महप्पणा।

परन्तु वह ग्रहण करना कारणसापेक्ष है और एक तरह से अपवादरूप है[1]। भगवान् महावीरकी वे उन सब भिन्न भिन्न कथाओंका उल्लेख करते हैं जो उनके कुछ काल तक वस्त्रधारी रहनेके सम्बन्धमें श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें प्रचलित हैं और दिगम्बर सम्प्रदायमें जिनका कहीं जिक्र तक नहीं है।

विजयोदया टीकाका यह एक ही प्रसंग उसे यापनीय सिद्ध करनेके लिए काफी है और इसी लिए यह खास तौरसे पाठकोंके सामने पेश किया गया है। और भी कई प्रसंग और उद्धरण दिये जा सकते हैं परन्तु उनमें जो दिगम्बर-यापनीय भेद हैं वे इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें जल्दी नहीं समझाया जा सकता। और उन पर विवाद भी किया जा सकता है।

अपराजितसूरिकी गुरुपरम्परा

श्रीविजयोदया टीकाके अनुसार अपराजितसूरि बलदेवसूरिके शिष्य और चन्द्रनन्दि महाप्रकृत्याचार्यके प्रशिष्य थे। नागनन्दिगणिकी चरण-सेवासे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था और श्रीनन्दिगणिके कहनेसे उन्होंने यह टीका लिखी थी। वे आरातीय सूरियोंमें श्रेष्ठ थे[1]। श्रीविजय उनका दूसरा नाम था[2] और शायद इसीसे इस टीकाका तथा दशवैकालिक टीकाका नाम श्रीविजयोदया रक्खा गया है।

दिगम्बर-सम्प्रदायके किसी भी संघकी गुर्वावली या पट्टावलीमें यह गुरुपरम्परा नहीं मिलती, और यह आरातीय पद भी विनयदत्त,श्रीदत्त,शिवदत्त और अर्हद्दत्त,इन चार आचार्योंके सिवाय[3] और किसी भी आचार्यके लिए व्यवहृत नहीं किया गया है। सर्वार्थसिद्धि टीकाके अनुसार भगवान्के साक्षात शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियोंके बाद जो आचार्य हुए हैं और जिन्होंने दशवैकालिकादि सूत्र उपनिबद्ध किये हैं वे आरातीय कहलाते हैं[4]।

---

१ इस विषयमें यापनीय संघकी तुलना शुरूके भट्टारकोंसे की जासकती है। वे थे तो दिगम्बर सम्प्रदायके ही अनुयायी, श्रीकुन्दकुन्दकी आम्नायके माननेवाले और नग्नताके पोषक, परन्तु अनिवार्य आवश्यकता होने पर वस्त्रका भी उपयोग कर लेते थे, यों वे अपने मठोंमें वस्त्र छोड़कर नग्न ही रहते थे और भोजनके समय भी नग्न होजाते थे। श्रीश्रुतसागरसूरिने षट्पाहुड टीकामें इसे अपवादवेष कहा है यथा—

"कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति, तेन मण्डपदुर्गे श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य पुनस्तन्मुञ्चति इत्युपदेशः कृतः संयमिनां, इत्यपवादवेषः।" तत्त्वार्थटीकामें उन्होंने इसे द्रव्यलिंग कहा है यथा— "द्रव्यलिङ्गिनः असमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलादिकं गृहीत्वा न प्रक्षालयन्ते न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति अपरकाले परिहरन्तीति।"

१—"चन्द्रनन्दिमहाप्रकृत्याचार्यः प्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशः प्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता—।"

२—आशाधरने अपराजितको अपने ग्रन्थोंमें श्रीविजयाचार्यके नामसे भी लिखा है—"एतच्च श्रीविजयाचार्यविरचितसंस्कृत मूलाराधनटीकायां सुस्थित सूत्रे विस्तरतः समर्पितं दृष्टव्यं।"

—अनगारधर्मामृत टीका पृ० ६७३

३—विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते। आरातीयाः यतयस्ततो ऽभवन्नङ्गपूर्वधराः॥ २४

—श्रुतावतार

४—अयो वक्तारः सर्वज्ञतीर्थकरः इतरो वा श्रुतकेवली आरातीय श्चेति।

—अनागार धर्मामृतटीका पृ०६७३

आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं. तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।

—अ०१ सूत्र २०

चूंकि अपराजितसूरिने दशवैकालिककी टीका लिखी थी, शायद इसीलिए वे 'आरातीय-चूडामणि' कहलाते हों। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार दशवैकालिकादि अंगबाह्य श्रुत तो हैं; परन्तु उसकी दृष्टिमें वे छिन्न होगये हैं और जो उपलब्ध हैं वे अप्रमाण हैं। अतएव दिगम्बर सम्प्रदायका कोई भी आचार्य इस पदवीका धारक नहीं है।

यापनीयों का नन्दिसंघ

गंगवंशी पृथ्वीकोङ्गणि महाराजका शक ६९८ (वि० सं० ८३३) का एक दानपत्र[1] मिला है जो श्रीपुर (शिरूर) के लोकतिलक नामक जैनमन्दिरको 'पोन्नल्लि' नामक ग्रामके रूपमें दिया गया था। उसमें जो गुरुपरम्परा दी है वह इस प्रकार है—श्रीचन्द्रनन्दि गुरु, उनके शिष्य कुमारनन्दि, उनके कीर्तिनन्दि और उनके विमलचन्द्राचार्य। इन्हें श्रीमूल [2]मूलगणाभिनन्दित नंदिसंघ, एरे गित्तूर नामक गण और मूलिकल् गच्छका बतलाया है। हमारा खयाल है कि जिस तरह मूलसंघके अन्तर्गत एक नन्दिसंघ है, उसी तरह यापनीय संघके अन्तर्गत भी एक नन्दि संघ था। इसके प्रमाणमें हम राष्ट्रकूटनरेश द्वि० प्रभूतवर्षके एक [3]दानपत्रको पेश कर सकते हैं, जिसमें शक ७३५ (वि० सं० ८७०) को यापनीय-नन्दिसंघके विजयकीर्तिके शिष्य अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुर (मैसूर राज्यके नेल मंगल ताल्लुकेका मौने नामक ग्राम) के शिलाग्राम जिनेन्द्र-भवनको एक गाँव भेंट किया गया है। उसमें स्पष्टतासे "श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुंनागवृक्षमूलगण" लिखा हुआ है। इस नन्दिसंघके अन्तर्गत उसकी शाखारूप पुंनाग-वृक्षमूल नामका गण था। जिस तरह मूलसंघके अन्तर्गत, देशीय काणूर आदि गण हैं, उसी तरह यापनीयनन्दिसंघमें यह भी था। रायबाग[1]के शिलालेखमें जो ई०स० १०२० का लिखा हुआ है, यापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगणके कुमारकीर्तिदेवको कुछ दान दिया गया है। इसी तरह कोल्हापुरके 'मंगलवारबस्ति' नामक जैनमन्दिरकी एक प्रतिमाके नीचे एक शिलालेख[2] है जिससे मालूम होता है कि पुंन्नागवृक्षमूलगण यापनीयसंघके विजयकीर्ति पण्डितके शिष्य और रवियण्णके भाई वोमियण्णने उसकी प्रतिष्ठा कराई थी। इन दो लेखोंमें यापनीयसंघ पुन्नागवृक्षमूलगणका उल्लेख तो है परन्तु नन्दिसंघका नहीं है, फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नन्दिसंघ यापनीयों में भी था और उसके अन्तर्गत पुन्नांगवृक्ष मूलगण था।

द्रविड़ संघमें भी नन्दिसंघ

यापनीय संघ ही नहीं द्रविड़ या द्रमिल संघमें भी नन्दिसंघ नामका संघ था जिसका उल्लेख कई

१– इण्डियन एण्टिक्वेरी २-१५६-५९ श्रीमूल-मूलशरणाभिनन्दित—नन्दिसंघान्वयएरेगित्तूर नाम्नि गणेमूलिकलगच्छे स्वच्छनरगुणकिरणप्रततिप्रह्लादित-सकललोकश्चन्द्र इवापरश्चन्द्रनन्दिनाम गुरुरासीत्..।

२–'श्रीमूलमूलशरणाभिनन्दित' पाठ शायद ठीक नहीं है। सम्भव है पढ़नेवालेने 'गण' को 'शरण' पढ़ लिया है।

३–इं०ए० जिल्द १२ पृ०१३-१६...श्रीयापनीय-नन्दिसंघपुंनागवृक्षमूलगणे श्रीकीर्त्याचार्यान्वये।

१–जर्नल आफ बाम्बे हिस्टारिकल सुसाइटी जिल्द ३ पृ० १९२–२००

२–प्रो० के० बी० कुंडनगरने कनड़ी मासिक पत्र 'जिनविजय' (सन् १९३२) में यह और यापनीयोंके अन्य लेख प्रकाशित किये थे। इनका उल्लेख प्रो०उपाध्यायने अपने 'यापनीय संघ' शीर्षक लेखमें किया है। देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७।

शिलालेखोंमें मिलता है[1] और यह एक मार्केकी बात है कि देवसेनसूरिने यापनीयके समान द्रविड़ संघको भी जैनाभासोंमें गिना है[2]।

प्रायः प्रत्येक संघमें गण, गच्छ, अन्वय, वाल आदि शाखायें रहती थीं। कभी कभी गण गच्छादिको संघ और संघोंको गण गच्छ भी लिख दिया जाता था। मतलब सबका मुनियोंके एक समूहसे था।

संघों और गणोंके नामकी उपपत्ति

इन संघों या गणोंके नाम कुछ देशोंके नामसे जैसे द्रविड़, माथुर, लाड़ बागड़ आदि, कुछ ग्रामोंके नामसे जैसे कित्तूर[3], नमिलूर[4], तगरिल[5], श्रीपुर[6], इनसोगे[7] आदि, और कुछ दूसरे चिन्होंसे रक्खे गये हैं।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें लिखा है कि जो मुनि शाल्मलिवृक्षमूलसे आये उनका अमुक नाम पड़ा, जो खण्डकेसरद्रुममूलसे आये उनका अमुक और जो अशोकवाटिकासे आये उनका अमुक[8]। इस विषयमें जो मतभेद हैं उनका भी उन्होंने उल्लेख कर दिया है। यद्यपि वृक्षोंसे नामोंकी कोई ठीक उपपत्ति नहीं बैठती है फिर भी यह माननेमें कोई हर्ज नहीं कि शुरू शुरूमें कुछ संघों या गणोंके नाम वृक्षोंपरसे भी पड़े थे।

ये पुन्नागवृक्षमूलगण और श्रीमूलमूलगण भी इसी तरहके मालूम होते हैं। पुंनाग नागकेसरको कहते हैं और श्रीमूल शाल्मलि या सेमरको। बंगला भाषामें सेमरको 'शिमूल' कहते हैं जो श्रीमूलका ही अपभ्रंश मालूम होता है। कनड़ीमें भी संभव है कि शिमूल या श्रीमूलसे ही मिलता जुलता कोई शब्द सेमरके लिए होगा।

संस्कृत कोशोंमें नन्दि भी एक वृक्षका नाम है, इससे कल्पना होती है कि शायद नन्दिसंघ नाम भी उक्त वृक्षके कारण पड़ा होगा। ऐसी दशामें मूल संघके समान अन्य संघोंमें भी नन्दि संघ होना स्वाभाविक है।

हमारा अनुमान है कि पृथ्वीकोङ्गणि महाराजके दानपत्रके चन्द्रनन्दि आचार्यके ही प्रशिष्य अपराजितसूरि होंगे। उक्त दानपत्रमें उनके एक शिष्य कुमारनन्दिकी ही शिष्यपरम्परा दी है, दूसरे शिष्य बलदेवसूरिकी परम्परामें अपराजित सूरि हुए होंगे।

दानपत्रमें मूलसंघ (दि० स०) के नन्दिसंघसे पृथक्त्व प्रकट करनेके लिए 'श्रीमूलमूलगणाभिनन्दित विशेषण दिया गया है।

क्या शिवार्य भी यापनीय थे?

अपराजितसूरि के विषयमें विचार करते हुए मूल ग्रन्थमें भी कुछ बातें ऐसी मिली हैं जिनसे मुझे उसके कर्ता शिवार्य भी यापनीय संघके मालूम होते हैं। देखिए—

१ इस ग्रंथकी प्रशस्तिमें लिखा है कि आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्र

१—श्रीमद्रमिलसंघेस्मिन्नन्दिसंघेऽस्त्यरुंगलः।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवारीश पारगः॥
...श्री द्रमिलगणद नन्दिसंघद अरुंगलान्वयदाचार्यावलि येन्ते दोडे......
जैनशिलालेखसंग्रह पृ० ३१७

२—दक्खिणमहुरजादो दाविडसंघो महामोहो।

३-७—इन नामोंके स्थान कर्नाटकमें अब भी हैं। बलि, गच्छ और अन्वयके नाम इन्हींपरसे रक्खे गये हैं। गित्तूर और कित्तूर एक ही हैं। कित्तूरका पुराना नाम कीर्तिपुर है जो पुन्नाट देशकी राजधानी थी। 'एरे' कनड़ीमें को कहते हैं। 'कित्तूर' और 'एरे गित्तूर' दोनों ही नामके गण या गच्छ हैं।

८—ये शाल्मलिमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपगताः। ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनयः समागताः, प्रथिताशोकवाटात्समागता ये मुनीश्वराः इत्यादि।

नन्दि गणिके चरणोंसे अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर और पूर्वाचार्योंकी रचनाको उपजीव्य बनाकर 'पाणितलभोजी' शिवार्यने यह आराधना रची[1] हम लोगोंके लिये प्रायः ये सभी नाम अपरिचित हैं[2] । अपराजितसूरिकी परम्पराके समान यह परम्परा भी दिगम्बर सम्प्रदायकी पट्टावली या गुर्वावली आदिमें नहीं मिलती। शिवकोटि और शिवार्य एक ही हैं जो स्वामि समन्तभद्रके शिष्य थे, इस धारणाके सही होनेका भी कोई पुष्ट और निर्भ्रान्त प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। जो कुछ प्रमाण इस सम्बन्धमें दिये जाते हैं, वह बहुत पीछेके गढ़े हुए मालूम होते हैं[3] । स्वयं शिवार्य ही यह स्वीकार नहीं करते कि मैं समन्तभद्रका शिष्य हूँ।

अपराजितसूरि यदि यापनीय संघके थे तो अधिक सम्भावना यही है कि उन्होंने अपने ही सम्प्रदायके ग्रन्थकी टीका की होगी।

आराधनाकी गाथायें काफी तादादमें श्वेताम्बर सूत्रोंमें मिलती हैं[4], इससे शिवार्यके इस कथनकी पुष्टि होती है कि पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथायें उनकी उपजीव्य हैं।

जिन तीन गुरुओंके चरणोंमें बैठकर उन्होंने आराधना रची है उनमें से 'सर्वगुप्त गणि' शायद वही हैं जिनके विषयमें शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें लिखा है कि "उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः" १-३-१०४ । अर्थात् सारे व्याख्याता या टीकाकार सर्वगुप्त से नीचे हैं । चूंकि शाकटायन यापनीय संघके थे इसलिए विशेष सम्भव यही है कि सर्वगुप्त यापनीय संघके ही सूत्रों या आगमोंके व्याख्याता होंगे।

शिवार्यने अपनेको **"पाणितलभोजी"** अर्थात् हाथोंमें ग्रास लेकर भोजन करनेवाला कहा है। यह विशेषण उन्होंने अपनेको श्वेताम्बर सम्प्रदायसे अलग प्रकट करनेके लिए दिया है। यापनीय साधु हाथ पर ही भोजन करते थे।

आराधनाकी ११३२ वीं गाथामें **'मेदस्स मुणिस्स अक्खाणं'** (मेतार्यमुनेराख्यानम्) अर्थात् मेतार्य मुनिकी कथाका उल्लेख किया है जहाँ तक हम जानते हैं दिगम्बर साहित्यमें कहीं यह कथा नहीं मिलती है। यही कारण है कि पं० सदासुखजीने अपनी वचनिकामें इस पदका अर्थ ही नहीं किया है। यही हाल पं०जिनदास शास्त्रीका भी है। संस्कृतटीकाकार पं० आशाधरजीने तो इस गाथाकी टीका इसलिए विशेष नहीं की है कि यह सुगम है परन्तु आचार्य अमितगतिने इसका संस्कृतानुवाद करना क्यों छोड़ दिया?

१–अज्जजिणणंदिगणिसव्वगुत्तगणिअज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमियपायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६१
पुव्वायरियणिबद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ २१६२

२–यापनीय संघके मुनियोंमें कीर्तिनामान्त अधिकतासे हैं जैसे पाल्यकीर्ति, रविकीर्ति, विजयकीर्ति, धर्मकीर्ति, आदि नन्दि, चन्द्र, गुप्त नामान्त भी हैं जैसे-जिननन्दि, मित्रनन्दि, सर्वगुप्त, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र आदि नामोंसे किसी संघका निश्चयपूर्वक निर्णय नहीं हो सकता है।

३–देखो भगवती आराधना वचनिकाकी भूमिका पृ० ३-६ ।

४–भगवती आराधना वचनिकाके अन्तमें उन गाथाओंकी एक सूची दी है जो मूलाचार और आराधनामें एकसी हैं और पं०सुखलालजी द्वारा सम्पादित पंच प्रतिक्रमण सूत्रमें मूलाचारकी उन गाथाओंकी सूची दी है जो भद्रबाहुकृत 'आवश्यकनिर्युक्ति' में भी हैं।

मेतार्य मुनिकी कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है[1]। वे एक चाण्डालिनीके लड़के[2] थे परन्तु किसी सेठके घर पले थे। अत्यन्त दयाशील थे। एक दिन वे एक सुनारके यहाँ भिक्षाके लिए गये। उसने उसी समय सोनेके जौ बनाकर रक्खे थे। वह भिक्षा लानेके लिए भीतर गया और मुनि वहीं खड़े रहे जहाँ जौ रक्खे थे। इतनेमें एक क्रौंच पक्षीने आकर वे जौ चुग लिये। सुनारको सन्देह हुआ कि मुनिने ही जौ चुरा लिये हैं। मुनिने पक्षीको चुगते तो देख लिया था परन्तु कहा नहीं। यदि कह देते तो सुनार उसे मार डालता और जौ निकाल लेता। सुनारने सन्देह हो जानेसे मुनिको बहुत कष्ट दिया और अन्तमें भीगे चमड़ेमें कस दिया जिससे उनकाशरीरान्त होगया और उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया। मेरी समझमें यह कथा दिगम्बर सम्प्रदायमें हो भी नहीं सकती।

दश स्थितिकल्पोंके नामवाली गाथा जिसकी टीकामें अपराजितसूरिको यापनीय संघ सिद्ध किया गया है, जीतकल्प-भाष्यकी १६७२ नं० की गाथा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अन्य टीकाओं और निर्युक्तियोंमें भी यह मिलती है और आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डके स्त्री-मुक्ति-विचार (नया एडीशन पृ० ३३१) प्रकरणमें इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्तके रूपमें ही किया है—

—"नाचालेक्यं नेष्यते (अपि तु इष्यते व) 'आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंडकियिकम्मे' इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात्।"

आराधनाकी ६६५ और ६६६ नम्बरकी गाथायें[1] भी दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नहीं खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और मायाचाररहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक (पेय) लावें। इसपर पं०सदासुखजीने आपत्ति की है और लिखा है कि "यह भोजन लानेकी बात प्रमाणरूप नहीं है।" इसी तरह 'सेज्जोगासणिसेज्जा[2]' आदि गाथापर (जो मूलाचारमें भी है) कविवर वृन्दावनदासजीको शंका हुई थी और उसका समाधान करनेके लिए दीवान अमरचन्दजीको पत्र लिखा था। दीवानजीने उत्तर दिया था कि "इसमें वैयावृत्ति करने वाला मुनि आहार आदिसे मुनिका उपकार करे; परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि आहार स्वयं हाथसे बनाकर दे। मुनिकी ऐसी चर्या आचारांगमें नहीं बतलाई है[3]।

आराधनाका चालीसवाँ 'विजहना' नामका अधिकार भी विलक्षण और दिगम्बर सम्प्रदायके लिए अभूतपूर्व है, जिसमें मुनिके मृत शरीरको रात्रि भर जागरण करके रखनेकी और दूसरे दिन किसी अच्छे स्थानमें वैसे ही (बिना जलाये) छोड़ आने की विधि

१—देखो आवश्यक-निर्युक्ति गाथा ८६७-७०।

२—चाण्डालिनीके लड़केका मुनि होना भी शायद दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुकूल नहीं है।

१—चत्तारिजणा भत्तं (पाणं) उवकप्पंति अगिलाए पाउग्गं।
छंडियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा॥

२—सेज्जोगासणिसेज्जा तहो उवहिपडिलिहणाहि उवगाहो।
—मूलाचार ३९१

आहारोसयभोयणविकिंचणं वंदणादीणं॥
—भगवती आराधना ३१०

३—देखो भ० आ० वचनिकाकी भूमिका पृष्ठ १२ और १३।

वर्णित है[1]। अन्य किसी दिगम्बर ग्रन्थमें अभी तक यह देखने में नहीं आई।

१५३४ नम्बरकी गाथामें कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्प भोजनके कष्टसे बिना संक्लेश बुद्धिके किये हुए भद्रबाहु मुनि उत्तम स्थानको प्राप्त हुए[2]।

दिगम्बर सम्प्रदायकी किसी भी कथामें भद्रबाहुके इस ऊनोदर-कष्टके सहनका कोई उल्लेख नहीं है।

४२८ वें नम्बरकी गाथा[3] में आधारवत्व गुणके धारक आचार्यको 'कप्पववहारधारी' विशेषण दिया है और कल्प-व्यवहार निशीथ सूत्र श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसी तरह ४०७ नम्बरकी गाथा[4]में निर्यापक गुरुकी खोजके लिए परसंघमें जानेवाले मुनि की **'आयार-जीद-कप्पगुणदीवणा'** होती है। विजयोदया टीकामें इस पदका अर्थ किया है—**'आचारस्य जीद-संज्ञितस्य कल्पस्य च गुण प्रकाशना।'** और पं० आशाधरकी टीकामें लिखा है—**'आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना। एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति।'** पं० जिनदास शास्त्रीने हिन्दी अर्थमें लिखा है कि 'आचार शास्त्र, जीत शास्त्र, और कल्प शास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है।' अर्थात् तीनोंके मतसे इन नामोंके शास्त्र हैं और यह कहनेकी जरूरत नहीं कि आचारांग और जीतकल्प श्वेताम्बर सम्प्रदाय-में प्रसिद्ध हैं

इन सब बातोंसे मेरा अनुमान है कि शिवार्य भी यापनीय संघके आचार्य होंगे। पण्डित जन सावधानीसे अध्ययन करेंगे तो इस तरहकी और भी अनेक बातें मूल-ग्रन्थमें उन्हें मिलेंगी जो दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नहीं खातीं। मैंने तो यहाँ दिग्दर्शन मात्र किया है। साम्प्रदायिक आग्रहसे और पाण्डित्यके जोरसे खींच-तान करके मेल बिठाया जा सकता है, परन्तु इतिहासके विद्यार्थी ऐसे पाण्डित्यसे दूर रहते हैं, उनके निकट सत्यकी खोज ही बड़ी चीज़ है।

अन्तमें मैं फिर इस बातपर जोर देता हूँ कि यापनीय संघके साहित्यकी खोज होनी चाहिए, जो न केवल हमारे प्राचीन मन्दिरोंमें ही बन्द पड़ा है बल्कि विजयोदयाटीका और मूलाराधनाके समान उसे हम अबतक कुछका कुछ समझते रहे हैं।

विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे श्रीवट्टकेरि आचार्यके मूलाचारकी भी जाँच करें कि कहीं वह भी तो यापनीय संघका नहीं है। कुछ कथाग्रन्थ भी यापनीय संघके मिल सकते हैं।

१–देखो भ० आ० वचनिकाकी भूमिका पृष्ठ १२ और १३।

२–ओमोदरिए घोराए भद्दबाहु असंकिलिट्ठमदी।
घोराए विगिछाये पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥

३–चोद्दस दसणवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो।
कप्पववहारधारी होदिहु आधारवं णाम॥

४ आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिनिज्झंझा।
अज्जवमद्दव-लाघवतुट्ठी पल्हादणं च गुणाः॥

यही गाथा जराले पाठान्तरके साथ १३० वें नम्बर पर भी है उसमें 'तुट्ठी पल्हादणं च गुणाः' की जगह 'भत्ती पल्हादकरणं च' पाठ है।

मातृत्व

लेखक—
श्री० भगवत् जैन

'फूलों की कोमलतामें, ज्योत्स्ना की स्निग्धताके भीतर और प्रकृतिके सु-विस्तृत-अंचलमें मिलती है मातृत्वकी हृदय-इष्टभावना···!···अ-कपट-प्रेम और आत्मीयताके पवित्र-बन्धनोंसे अलंकृत रहता है—मातृत्व !··· जिसे समग्र-संसारकी निधियाँ भी नहीं खरीद सकती ! जो अमूल्यतासे ध्रुव सम्बन्ध रखता है !·········

(१)

दुर्लभ दृष्टान्तोंमें उसे कहना चाहिए—नमूना ! जैसी कि प्रायः देखने-सुननेमें नहीं आती, वह वैसी ही बात थी !······

वसुदत्ता थी बड़ी, और वसुमित्रा थी छोटी। दोनों में अपार-स्नेह,अगाध-प्रेम ! और दोनों ही अनिंद्य-सुन्दरी, न बड़ी कम, न छोटी ज्यादह !

वणिक-वर समुद्रदत्त अपनी दोनों स्त्रियोंकी हार्दिकता पर अतीव प्रसन्न ! घरमें स्वर्ग-सुख ! मनोमालिन्य, ईर्षा, द्वेष और स्वभावतः होने वाला गृह-कलह नाममात्रको भी नहीं ! इससे अधिक चाहिए भी क्या ? फिर पति-प्रेम भी न्याय--संगत—दोनोंको बराबर बराबर प्राप्त था !

दिन आनन्दमें बीतते गए।

इसी समय वसुमित्राको प्रसूति हुई। मरु-भूमिमें जैसे हरियाली पनपी ! चिर-पिपासित-नेत्रों की तृषा शमन होने को आई ! देखा—नवनीत-सा, बालक ! चाँद-सा सुन्दर,चाँदनी-सा आह्लादकर! सारा घर प्रसन्नतामें डूबने-उतराने लगा !

समृद्धिकी गोदमें बैठे हुये इस छोटेसे परिवारको इसीकी आवश्यकता थी कि, तमसान्वित-भवन आलोकित हो ! सुघड़, दृष्टि-प्रिय वल्लरी स-फल, स-पुष्प हो ! और वह हो सकता था एक पुत्र-रत्नकी प्राप्तिके द्वारा ही !··· बालकका जन्मोत्सव एक महान् त्रुटिकी पूर्तिके रूपमें मनाया गया !

उज्वल-भविष्यका कान्तिमय-पिण्ड-सा, वह सुकोमल-शिशु ! ऐसा लगता, जैसे परिवारके अपरिमित-हर्षका साकार केन्द्र-स्थल हो ! या—हो तीनों अधिकारी संरक्षोंके मोदमय-जीवनका प्रथम-अध्याय !···दिन-का-दिन बीत जाता, रातके दो-दो पहर निकल जाते; तब भी वह बच्चेको खिलाते, चुमकारते और आनन्द लेते दिखलाई देते ! परीक्षाके लिए बैठे विद्यार्थीकी भाँति जैसे वह अध्ययनमें संलग्न हों ! और बार-बार फेल होनेके बाद, मिला हो परीक्षार्थियोंकी पंक्तिमें बैठनेका अवसर !···

इसके बाद भी—समुद्रदत्तको एक-बात और देखने को मिली, जो उनके लिए असीम-आनन्द-दायक थी ! और दूसरे लोगोंके लिए विस्मय-जनक ! वह यह कि—

वसुमित्राको माँ बनते देखकर भी, प्रथम-पत्नी-वसुदत्ता-ईर्षालु न हुई ! न उसके हृदयमें विषादका अंकुर ही उगा ! बल्कि वह और भी सरस-हृदय, विनोदप्रिय और आनन्दी बनती गई !

बालक जितना वसुदत्ता पर खेलता, प्रसन्न रहता, उतना दूसरों पर नहीं ! वह अपनी माँ से भी अधिक वसुदत्ता पर हिल गया ! इसका कारण ?—मौलिक नहीं ! यही कि पालन-पोषणकी सावधानी और स्नेह-पूर्ण-दुलार ! इन्हीं चीज़ोंकी तो बालकको ज़रूरत थी। उस छोटेसे सुन्दराकार माँस-पिण्डको अभी सांसारिक-गम्भीर और विशद-अभिलाषाओंने दबाया ही कहाँ था, जो दिन प्रति बढ़ने वाली आवश्यकताएँ—उत्पीडन देतीं ? थोड़ा सा क्षेत्र और सीमित-इच्छा !…

स्वर्ग और नरककी परिभाषा करते समय यदि सांसारिक दृष्टिकोणको अधिक तरजीह दी जाए तो यही फल सामने आयेगा कि जहाँ मैत्री है, प्रेम है, हार्दिकता है, वहाँ स्वर्ग है। और नरक उसकी संज्ञा है—जहाँ कलह, हत्या, पशुत्व और आत्म-हननकी साधनाएँ सद्भाव रखती हैं !…

तो ऐसे ही स्वर्गीय-सुखोंमें बढ़ने लगा वह नवजात-शिशु ! जिसके पास—अन्य, शैशव-विभूतिवानोंसे—द्विगणित-मातृत्व था ! क्या चर्चा उसके भाग्योदय की ?

* * *

[२]

कई वर्ष आए और चले गए !—

इस बीचमें कितना युगान्तर हुआ, इसका ठीक बतला सकना कठिन है ! दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, अयण और वर्षने समय समयमें जो परिवर्तन किया, वह सोचनेकी बात है !…

व्यापारके सुनहरे-प्रलोभनों और निवास-नगरकी असुविधाओंने समुद्रदत्तको नगर छोड़ देनेके लिये विवश किया। कुछ दिन बात टालमटूल पर रही ! आखिर वह दिन आकर ही रहा, जब समुद्रदत्त अपने छोटे-से परिवारको लिए, राजगृही आ उपस्थित हुए !…

उन दिनों 'राजगृही' महाराज श्रेणिककी राजधानी थी। जो अपनी न्याय-निष्ठा और कर्तव्य-परायणताके सबब काफ़ी ख्याति उपार्जन कर रहे थे !…उनके आधीनस्थ एक ऐसी शक्ति थी, जो उनसे अधिक विज्ञ, चतुर और राज-नीतिमें पारंगत थी। उसकी विलक्षणता के द्वारा होने वाले रहस्य-मय, उलझन-पूर्ण मामलोंके न्याय, संसारके लिए चर्चाके विषय बन जाते थे ! सह-योगी-शासक-वर्ग उन न्याय-पूर्ण रहस्योद्घाटनको देख-सुन अवाक् रह जाता, दांतों तले उंगली दाब जाता ! उस साकार-शक्तिका नाम था—अभयकुमार !

जो महाराजका प्यारा पुत्र था। प्रजाकी गंभीर और आशा-पूर्ण मुखरित वाणी थी।…दूसरे शब्द में जनताका सहायक-नेता और अधिनायक सेनापति था। इसलिए कि शासनकी बागडोर अभी उसके हाथमें नहीं थी—युवराज था—वह !

* * *

थोड़ा समय और निकल गया।

अचानक समुद्रदत्त पर रुग्णता का प्रहार हुआ ! इस अरुचिकर-यवनिका-पातने सारे घरकी प्रसन्नताको अदर्शनीय बना दिया !…दोनों नारी-हृदय भयाकुल हो, तमसाच्छन्न-भविष्यकी डरावनी-कल्पनामें लीन होने लगे ! यथा-साध्य उपचार करनेमें कुछ त्रुटि न रह जाए, इसका सतर्कता-पूर्वक ध्यान रखा जाने लगा !…

जब तक संज्ञा-शून्य न हुए, किंचित भी होश और वाणी-प्रकाशनकी सामर्थ्य रही, बराबर समुद्रदत्त न-

रियोंके हृदयोंको सान्त्वनात्मक-शब्द और अमर आशा, बालकके मुकुलित-मुखको निरख निरख, सन्तोष प्रकट करते रहे !···लेकिन जब जीवन-नाटकके अन्त होनेका समय आ पहुँचा, तब किसीकी एक न चली !

और············?—

और ड्राप-सीन होकर ही रहा ! अपने विषयके ज्ञाता भिषग्वरोंकी चेष्टाएँ, बहुमूल्य, दुर्लभ-प्राप्य-औषधियोंकी रामबाणकी तरह दुर्निवार-शक्तियां, चिताकी राखकी भांति बेकार—निष्फल—साबित हुई !

फिर···?—विवशताका अवलम्ब !

दो नारी-कण्ठोंके हृदयबेधक क्रन्दनसे मदनकी चहार-दीवारें निनादित होने लगीं !···प्रकम्पित होने लगा—वायु-मण्डल !!

रौद्रताका ताण्डव !!!

लुट गया, सौभाग्य-सिन्दूर !

······?

* * *

[३]

तीसरे दिन—

पंचायतके सामने एक नई समस्या थी, नया मज़मून !······

कहा गया—'जिसका यह पुत्र है, वही सेठजीकी अपार-विभुतिकी स्वामिनी है !'

इस पर—

'मेरा पुत्र है !'

'नहीं, मेरा है !'

पंच-गण दंग !···विस्मित !! आश्चर्यान्वित !!!··· क्या निर्णय दें ?—

इन सबके इतिहाससे अनभिज्ञ ! वह इतना ही जानते हैं—'जाने कहांसे आकर यह छोटा-सा स-विभूति-परिवार यहां आ बसा है ! कुछ दिन हुए तभी ! ये दोनों स्त्रियां स्वर्गीय-सेठकी सहधर्मणी हैं। बालक पर अब तक दोनोंकी समान ममता दिखलाई देती रही है। पता नहीं, यथार्थमें माँ कौन है—इस सुन्दर-बालक की···?···'

प्रजाके माननीय-प्रतिनिधियोंने राज-सत्ताका भय दिखलानेका रूपक बांधते हुए कहा—'एक पुत्रकी दो माताएँ नहीं हो सकतीं ! अवश्य ही,तुम दोनोंमें से एक का कहना ग़लत है ! शायद तुम नहीं जानतीं कि, इस प्रकार ज़िम्मेदारीके कार्यमें झूठ बोलना तुम्हारे लिये कितना हानिकारक हो सकता है ! बात अभी पंचायत के अधिकारमें है, जो प्रत्येक तरह की सहानुभूति तुम लोगों को दे सकती है ! और अगर पंचायत इस उलझनको नहीं निपटा सकती तो उसका अर्थ—झगड़ेका दर्बारमें पहुँचना और मिथ्याभाषिणीको कष्ट मिलना होता है !···सोचलो एकबार ! खुला सत्य है—यह ।'

'पुत्र मेरा है । इसे मिथ्या नहीं ठहराया जा सकता' वसुदत्ताने दृढ स्वरमें कहा ।

'···ग़लत ! झूठ कह रही है—बहिन ! पुत्रकी माँ, मैं हूँ ! पुत्र मेरा है !' —वसुमित्राने कम्पित-स्वरमें व्यक्त किया !···मुंह पर थी अमर-उदासी !

'प्रमाण—सुबूत ?'—पूछा गया।

'सुबूत ?'—वसुमित्रा सोचमें पड़ गई ! बोली—'सत्यके लिये भी सुबूतकी जरूरत होती है—भाई ?··· माँ, अपने पुत्रको कह सकने-भरका अधिकार नहीं रखती ?—उसके लिए भी सुबूत चाहिए ? यही सुबूत है कि यह मेरा पुत्र है, मेरा ही लाल है !'

...पंलग पर पड़ा बालक शिशु-जात-कल्पनाओंके साथ खेल रहा था ! विकार-वर्जित मुखपर खेल रही

थी—मृदु-मुस्कान !...

वसुमित्रा ने एकबार ममता-मयी दृष्टिसे बालककी ओर देखा और सिसकने लगी, जैसे उसके मातृत्वको ठेस लगी हो, किया गया हो निर्दयता-पूर्वक उसपर आघात !

प्रमुख-निर्णायकने अबकी बार वसुदत्ताकी ओर ताका !...

वह बोली—'ये सम्बन्ध सुबूतके मुहताज नहीं, क्रिया बतलाती है ! माँका नाता हार्दिक नाता होता है, वह जबर्दस्ती किसी पर लादा नहीं जा सकता ! न-उसके भीतर भ्रमके लिए स्थान ही है ! निश्चय ही वसुमित्रा को धन-लिप्साने इतना विवेकशून्य बना दिया है कि वह मातृत्व-तकको चुरा सकनेकी सामर्थ्य खोज रही है !'

न सुलझी, आखिर जटिल-उलझन ! लौट आए पंच ! कौन निर्णय दे कि कौन यथार्थमें माँ है, और कौन धन-प्राप्तिके लिए दम्भ रचने वाली ? दोनोंकी पुत्र पर समान-ममता, समान-स्नेह है ! आजसे, अभीसे, नहीं, जबसे समुद्रदत्तने यहाँ डेरा डाला, तभीसे लोगोंने इसी प्रकार देखा है ! प्रारम्भसे ही यह भ्रम जड़ पकड़ता रहा है !...

* * *

[४]

न्यायालयमें !—

महाराज-श्रेणिकने गंभीरतापूर्वक वस्तु-स्थिति पर विचार किया। लेकिन समस्याका हल न खोज सके !

कहना पड़ा—'इसका न्याय-भार अभयकुमारको दिया जाय !'

और तभी उभय-पक्षके व्यक्ति युवराज राज-नीति-पण्डित—अभयकुमारके दरबारमें आउपस्थित हुए !

अनेक विद्वान-सभासद और कौतूहलकी अजय प्रेरणा-द्वारा प्रेरित जन-समूह विद्यमान था ! सब, इस विचित्र-न्यायको देखनेके लिए लालायित थे !...तीक्ष्ण बुद्धि-द्वारा दम्भके माया-जालसे मातृत्वको खोज निकालना था !...

'पुत्र किसका है ?'

'मेरा...!'

'नहीं, मेरा है !'

'तो फिर झगड़ा क्या है' दोनोंका ही सही ! दोनों प्रेम करती हो ?'

'हाँ !'—दोनोंका एक ही उत्तर !

'लेकिन प्रेम और मातृत्व दो अलग-अलग चीजें हैं। प्रेम सार्वजनिक है और मातृत्व व्यक्तिगत ! प्रेम दोनों कर सकती हो, लेकिन माँ दो नहीं बन सकतीं !'

श्मशान-शान्ति !

कोई चिन्ता नहीं ! न्यायकी कसौटीको झूठ भुलावा नहीं दे सकता ! अगर अब भी चाहो, सच बतला दो ! अभयकुमारने दोनोंकी ओर समानतासे देखते हुए कहा।

मेरा...पुत्र है !' वसुमित्राके वाष्पाकुलित कण्ठसे निकला !

'झूठ कह रही है, पुत्र मेरा है !'— वसुदत्ताने जमी हुई आवाज़में निवेदन किया।

'ठीक !' अभयकुमारने प्रहरीसे कहा—'एक छुरा लाओ !'

छुरा लाया गया !

दर्शक-नेत्र विस्फारित हो, देखने लगे ! वसुमित्राका मुँह सूखने लगा ! आँखें निर्निमेष !...

वसुदत्ता अटल खड़ी रही !

दूसरे ही क्षण—

बालकको लिटाया गया ! हाथमें चमचमाता हुआ

छुरा लेकर अभयकुमारने कहा— 'जब दोनों ही इसकी माँ हैं तो न्याय कहता है—दोनोंको बराबर-बराबर अधिकार है ! उसी न्यायकी दुहाई देकर मैं बच्चेके दो-टुकड़े कर, दोनोंको दे देना चाहता हूँ ! कहो, ठीक है न ?'—एक भेद-भरी निगाहसे चारों ओर देखा !

...और उत्तरकी प्रतीक्षा किए बिना ही छुरा बालक के शरीर पर रखने लगे कि...!

'न मारो, बच्चेको !...उसीका पुत्र है, मैं तो व्यर्थ ही झगड़ रही थी !...मैं कुछ नहीं कहती—कुछ नहीं चाहती, पर बच्चेको न मारो ! फूल-सा बच्चा...!'

अविरल-आँसुओंकी धारा बहाती हुई वसुमित्रा पगलीकी तरह दौड़ी ! वह इस समय अपने 'आपे' में न थी ! नहीं जानती थी—कहाँ है ? कौन है ? क्या कर रही है ?...

और वसुदत्ता ?—अपने स्थान पर शूलीके लट्ठेकी भांति अचल खड़ी थी ! जैसे प्रतीक्षा कर रही हो—अर्ध-खण्ड बालककी ! विपुल-सम्पत्तिका आधा-भाग !

अभयकुमारके मुँह पर उषाकी सुनहरी-मुस्कान खेल उठी ! छुरेको दूर फेंक कर बोले—दृढ और उमंग भरे स्वरमें—'बालककी माँ वसुमित्रा है ! उसीके पास मातृत्व है ! ममता, मोह, और हार्दिकता सभी कुछ इसके प्रमाण हैं! ....वसुदत्ता प्रेमकी आड़में धनकी अभिलाषिणीहै—कोरा दम्भ है उसका! वह मातृत्वकी पवित्र-महानतासे कोसों दूर है !...विपुल-विभूतिको ठुकरा कर भी जो बालकका जीवन सुरक्षित चाहता है, वही आदर्श मातृत्व है !'

उपस्थित जनता न्याय-शैलीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी ! अभयकुमार पर सभासदोंकी श्रद्धा-सी उमड़ पड़ी !

मुँहसे अनायास निकला—'वाह !'....

* * *

[५]

इसके बाद—

बस, अब इतनी ही बात कहना और शेष है कि मातृत्वको मिश्री-सा मधुर कल-कण्ठ-सा—'माँ' कहने वाला बालक मिला और मातृत्वको कलंकित या दम्भ साबित करने वाली वसुदत्ताको मिला—अपमान, घृणा की दृष्टि और राज्य-दण्ड !!!

सुभाषित

"तुम गोराईमें चन्द्रमाको भी मात करने वाले हो तो क्या, यदि वाणीमें कटु-वाक्य भरे पड़े हैं। एक जापानी नीतिकारका कहना है—"रत्नमें पड़ा हुआ दाग खराद पर चढ़ाकर निकाला जा सकता है, परन्तु हृदयमें लगा हुआ कुवाक्यका दाग मिटाया नहीं जा सकता।"

"वाणी व्यक्तित्वका परिचय देनेमें प्रथम है, क्योंकि अन्य गुण तो साथ रहने पर धीरे-धीरे प्रकट होते हैं, पर वाणीकी गरिमा तत्काल प्रकट होती है। इसके द्वारा सर्वथा अपरिचितको भी थोड़े वार्तालापमें ही स्नेह और सहानुभूतिके सूत्रमें बान्धा जा सकता है। दिव्य वाणी बोलने वालोंके लिये संसारमें चारों तरफ—अमीर-गरीब, परिचित-अपरिचित सबके द्वार स्वागतके लिये खुले रहते हैं। उनके मगमें लोग पलक-पाँवड़े बिछा देते हैं। ऐसा सम्मान छत्रधारी सम्राट होने पर भी शायद ही कोई पा सके।"

उस विश्ववंद्यविभूतिका धुँधला चित्रण

[ले०—श्री देवेन्द्रजी जैन]
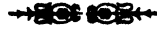
भगवान् महावीरका जीवन संसारके उन इनेगिने जीवन-रत्नोंमेंसे है जिनकी दमकती हुई प्रकाश-रेखाने भूले-भटके विश्वको सुपथ पर लगाया था।

महावीर-जन्मके पूर्वमें संसारकी हालत बिलकुल गिर चुकी थी। मानवोंके दिमाग प्रायः गुलाम थे। पंडितों और पुरोहितोंकी आज्ञा पालन करना ही उनका धर्म बन गया था। उस समय धर्मकी वेदीपर जितने प्राणियोंका बलिदान किया गया था उतना शायद विश्वके इतिहासमें कभी भी न हुआ होगा। बलिवेदियों पर चढे प्राणियोंके छिन्न-भिन्न रुण्ड मुण्डोंके संग्रहसे हिमालय जैसी गगनचुम्बी चोटियाँ चिनी जासकती थीं और रक्त-प्रपातसे गंगा-यमुना-सी नदियाँ बहाई जा सकती थीं। विश्वकी उस बेबसी और बेकसीके दिनोंमें वीरका जन्म इन्द्रपुरीसे इठलाते और नन्दनवन-से विकसित, कुण्डलपुर नगरमें हुआ था। उनके पिताका नाम था सिद्धार्थ और माताका नाम था त्रिशला देवी। यथेष्ट वैभव-सम्पन्न माता-पिताका अपने इकलौते लाल पर अधिक प्यार था; अतः इनका लालन-पालन भी निराली शानसे हुआ था।

बालकपनसे ही वीर एक चतुर एवं निडर खिलाड़ी थे। कच्ची एवं कोमल किशोरावस्थामें ही वे ऐसे भयङ्कर प्रसङ्गोंका सामना सहज ही में कर चुके थे जिनकी कल्पना भी मौजूदा नवयुवकोंका दिल दहला सकती है। एक दिनकी घटना इस प्रकार है—वन-क्रीडाके समय वृक्षकी जड़से एक विशालकाय कृष्ण सर्पको लिपटा हुआ देखकर उनके साथी राजकुमार तथा सामन्त-पुत्र भाग खड़े हुए, पर वीरने निर्भयतापूर्वक सर्पके फनको रौंध डाला, अन्तमें वीरके चरणोंकी चोटसे आहत हुए उस महानागरूपधारक मायावी देवने वीरके चरणोंको चूमकर क्षमा माँगी तथा उनका नाम 'महावीर' रक्खा। न जाने ऐसी कितनी घटनाएँ वीरके दिव्य जीवनमें घटी होंगी, जिन्हें वे लीला ही समझते रहे। अस्तु।

समय दिन-रातके पंख लगाकर उड़ता गया। वीरके सुन्दर शरीरसे यौवनकी मदमाती रेखाएँ फूट पड़ीं। पिताने विवाहके लिए प्रस्ताव किया। परन्तु वीरने दृढ़तापूर्वक किन्तु नम्रता भरे शब्दोंमें कहा—पिताजी! मेरे जीवनका ध्येय गुमराह विश्वको सन्मार्ग दिखलाना और ऊँचे उठाना है। अतः मैं शादीका सेहरा बँधानेके लिये अपनेको असमर्थ पाता हूँ। वह मेरी तपस्याका सबल बाधक है।'

माताने ममता भरी-वाणीमें कहा—बेटा! तेरे बिना मैं जीवित न रह सकूंगी। ओ मेरी आँखोंके तारे! मेरे लाडले लाल! तेरी यह किशोरावस्था, उठता हुआ यौवन, गुलाबी बदन, लम्बी लम्बी भुजाएँ, विशाल वक्ष-स्थल और यह सुहावना सुकुमार शरीर क्या तपस्यामें झुलसा देनेके लिये है?

प्रत्युत्तरमें वीरने कहा— मां! यह आपका केवल व्यामोह है। क्या कोई भी दयालु दिल यह बात गवारा कर सकता है कि जब दर्दभरे नारोंसे नभके भी मौन-प्रदेश गूंज उठे हों, त्राहिमाम् त्राहिमाम्की

आवाज़ें उसके कानोंसे टकराकर अनन्तमें व्याप्त हो रहीं हों तब वह रंगरेलियोंमें मस्त रहे ? यदि विषय-भोग मानवको संतुष्ट और मुक्तकर सकते तो भरत जैसे भारतेश्वर क्योंकर भव्य भाण्डारोंको ठुकराकर वनकी राह लेते ?

वीरके इस प्रकारके एक एक करके सभी शब्द आगके धधकते शोले थे, जिन्होंने मांकी ममताका जनाज़ा जला डाला। और तब राजमाताने दीक्षाकी आज्ञा देदी।

वीर भी दुनियाँकी ऐशो-इशरतको ठुकराकर वनके उस शान्त प्रदेशको चले गये जहाँ प्रकृति अपनी अनुपम छटा दिखला रही थी। वनके उस हरियाले वैभवमें वे भी अपनी सदियोंसे बिछुड़ी निधिको खोजनेमें व्यस्त हो गये !

अब उनका जीवन एक तपस्वी जीवन था। वह बाल सुलभ-चंचलता विलीन हो चुकी थी। वहाँ न राग था, न रंग और न द्वेष तथा दम्भ। कर्मों पर विजय हासिल करके आत्म विकास करना उनकी एकमात्र साधना थी, जिसके लिये वे कठोरसे कठोर यातना भी सहनेको कटिबद्ध थे। अतः उन्होंने अपनी सारी शक्तियाँ इसी मोर्चे पर लगादीं।

कंकरीली, नुकीली, ऊबड़-खाबड़ जमीन उनका बिस्तर थी और खुला आसमान था चादर ! इस सेजके सहारे सर्दीकी बर्फीली रातें और गर्मीके आग-से दिन यों ही बिता देते थे।

समाधि उनकी साधनाका साधन थी कोमल सेज तथा मुलायम गद्दीयों पर आराम करने वाला उनका सुकुमार शरीर काफी कठिन एवं कृश हो चुका था। वर्षाकी वज्रभेदी बौछारें उन्हें नहला जातीं, गर्मीकी सनसनाती लपटें तपा जातीं और सर्दीकी ठंडी हवा उनसे किल्लोलें करनेमें अपना अहोभाग्य मानती थी। बर्फीली, नुकीली एवं तवा-सी तपी दरदरी चट्टानें उनको आसन थीं। पर यह सब आयोजन अपनी मुक्ति तथा संसारके उद्धारके लिये था, न कि महादेवकी तरह पार्वतीको रिझानेके लिये अथवा अर्जुनकी तरह शत्रु-संहारके वास्ते।

अन्तमें बारह वर्षकी कड़ी तपस्याके बाद उन्हें सफलता-देवीने अपनाया और वे केवलज्ञानको प्राप्त कर विश्वोद्धारको निकल पड़े। उन्होंने संसारको सत्य और अहिंसाका पूर्ण सारगर्भित मार्मिक उपदेश दिया विश्वको भाईचारेका सफल पाठ पढ़ाया और मानवोंकी दिमाग़ी गुलामीको दूर कर उन्हें पूर्णस्वाधीनता (मुकम्मिल आज़ादी) प्राप्त करनेका मार्ग सुझाया, जिसे आज भी पराधीन भारतकी कोटि कोटि जनता एककण्ठसे पुकार रही है।

इस प्रकार अपना और लोकका हितसाधन करके वीर भगवान् ७२ वर्षकी उम्रमें मुक्तिको प्राप्त हुए और लोकके अग्रभागमें जा विराजे।

यह है उनके विशाल-जीवनकी नन्हीं-सी कहानी, जो कि उनके जीवन-पटपर धुंधलासा प्रकाश फेंक सकती है। वास्तवमें वीरका जीवन एक ऐसा महान् ग्रन्थ है जिसके प्रत्येक पत्रके प्रत्येक पृष्ठकी प्रत्येक पंक्तिमें 'अहिंसा महान् धर्म है' 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' 'सत्य कहीं नहीं हारता' 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र ही मोक्षमार्ग है'—जैसे मुक्तिपथ-प्रदर्शक सूत्र भरे पड़े हैं। सोचो—यदि भगवान् महावीरका जीवन-ग्रन्थ न होता तो फिर हम जैसे अल्पज्ञ इन विस्तृत महान् सूत्ररत्नोंकी झांकी, कहाँ, कैसे और किससे पाते ?

७२ वर्षके लम्बे चित्रपटमें वीरका जीवन क्रमसे

अनेक रूपोंमें आता है। कभी वह बाललीलाके आवेगमें सर्पराजको रौंधते हैं, कभी नग्न साधुके वेशमें कर्मोंके खिलाफ जिहाद बोल देते हैं और कभी एक उपदेशकके रूपमें निखिल विश्वको मंगलमय मार्गकी ओर इंगित करते हैं। किन्तु उन सब रूपोंमें एक ही झलक झलकती है, और वह यह कि तुम निडरता एवं सच्ची लगनसे सत्य और अहिंसापर कायम रहो. आत्म बलमें विश्वास रखो, फिर आगके धधकते शोले झक झोर आँधीका अंधड़ और तूफानी बादल भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। बस, यही सफलताकी सच्ची कुंजी है। उस समय उनकी उत्तम शिक्षाओंको विश्वने हृदयसे माना और उनके अनुकूल आचरण भी किया। फलतः एकबार फिर विश्व-प्रेमकी लुप्त लहर लहरा उठी।

परन्तु खेद है कि कुछ अर्से बाद फिर वही धार्मिक कटुता और हत्याके नज़ारे भारतभू पर पनप उठे! जिनके प्रत्यक्ष सबूत कलकत्तेके कालीघाटके रूपमें आज भी मौजूद हैं, जिसे यदि धार्मिक हत्या सदन (मज़हबी ज़िबहखाना—स्लाटर हाउस) भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। तथा इन्हींकी बदौलत ही मिस मेयो-सी ग़ैरज़िम्मेदार स्त्रीको भीभारतसे विज्ञान-तिलक, धर्मप्रधान देशको 'मदर आफ़ इंडिया' नामक किताब लिखावमें देनेका साहस हो सका।

यह ध्रुव सत्य है कि यदि भगवान् महावीर न होते तो विश्व अपने कोने-कोनेमें कलकत्ताका कालीघाट होता और पगपग पर पतित-पावन कही जानेवाली गंगा और यमुनाकी जगह नरककी रक्तमयी वैतरणी इठलाती इतराती-सी नज़र आती। तब शायद हमारा और आपका भी जीवन किसी हवनका शाकल्य बना दिया जाता।

पर यह उस विश्ववन्द्य विभूतिके महान् जीवनकी अमर देन है, जो कि हम आज इस बर्बरता और अशान्तिके युगमें भी सत्य और अहिंसाके सहारे बाधाओंकी दुर्जय चट्टानोंको चीरकर अपने ध्येयकी ओर बढ़ रहे हैं।

वीरका जीवन आज भी हमें गाँधीके रूपमें अपनी संस्कृति एवं सभ्यता पर स्थिर रहनेको इंगित कर रहा है। अतः आओ, उनकी शासन-जयन्तीके पुनीत अवसर पर—श्रावणकृष्णप्रतिपदाके दिन—उनके दिव्यसंदेशको विश्वके कोने कोनेमें पहुँचानेकी योजनाकर अपने कर्त्तव्यका पालन करें, उनके ऋणसे उऋण होनेका यत्न करें और जीवित जौहरके ज़रिये जगतीमें ज़िन्दादिली भरदें, जिससे कि सारा विश्व आज़ादी एवं अमनचैनसे रह सके।

विविध-प्रश्न

प्र०—इन कर्मोंके क्षय होनेसे आत्मा कहाँ जाती है?

उ०—अनंत और शाश्वत मोक्षमें।

प्र०—क्या इस आत्माकी कभी मोक्ष हुई है?

उ०—नहीं।

प्र०—क्यों?

उ०—मोक्ष-प्राप्त आत्मा कर्म मलसे रहित है, इस लिये इसका पुनर्जन्म नहीं होता।

प्र०—केवलीके क्या लक्षण हैं?

उ०—चार घनघाती कर्मोंका क्षय करके और शेष चार कर्मोंको कृश करके जो पुरुष त्रयोदश गुण-स्थानकवर्ती होकर विहार करते हैं, वे केवली हैं।

—राजचन्द्र

मज़दूरोंसे राजनीतिज्ञ

[ले०—बाबू माईदयाल जैन, बी. ए. बी. टी.]

एक ज़माना था जब कि राष्ट्रोंके भाग्य-विधाता-कुछ इने गिने प्रसिद्ध तथा उच्च घरानोंसे सम्बन्ध रखते थे और साधारण जनताके लिए उन पदोंकी आकाँक्षा करना 'झोंपड़ीमें रहना और महलोंके स्वप्न देखना' समझा जाता था। किन्तु इतिहास ऐसे उदाहरणोंसे भरा पड़ा है जिनमें व्यक्तित्वशाली, पराक्रमी तथा वीरपुरुषोंने अत्यन्त साधारण स्थितिसे उठकर महानता प्राप्त की और राज्यों तकको हासिल किया है। उनके संचालनमें महत्वपूर्ण कार्य किया है। भारतवर्षमें चाणक्य, हैदरअली, शिवाजी, क्लाइव, वारनहेस्टिंगस, इंग्लैण्डमें रैम्ज़ेमैकडानल्ड, फारिसमें नादिरशाह, फ्रांसमें नेपोलियन, इटलीमें मैज़ेनी, अमेरिकामें अब्राहमलिंकन आदि ऐसे बहुतसे प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, मंत्री तथा राजा हुए हैं जिनके नाम आज भी सबको विदित हैं।

प्रजातंत्रवादके इस युगमें आज साधारणसे साधारण मनुष्यको भी बड़ा बननेके उतने ही मौके मिल सकते हैं जितने कि बड़े आदमियोंको। इस बातसे ग़रीबोंको प्रोत्साहन मिलना चाहिएं कि उनके लिए भी बड़ेसे बड़े पदोंके लिए द्वार खुला हुआ है। प्रश्न केवल योग्यता प्राप्त करनेका है।

अभी इस सितम्बरके (Illustrated Weekly of India) 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इण्डिया' में एक लेख छपा है, जिसमें वर्तमान यूरूपके कई देशोंके डिक्टेटरों, प्रधानमंत्रियों तथा राजनीतिज्ञोंका हाल निकला है, जो कि अपनी बाल्यावस्थामें अत्यन्त साधारण मज़दूर या कृषक थे। उस लेखका सारांश अनेकान्तके पाठकोंके लिए यहाँ दिया जाता है:—

जर्मनीका डिक्टेटर हर हिटलर ईंट-मिट्टी ढोनेवाला मज़दूर था और बादमें वह वीआनामें मकानोंको रंगनेका काम करता था।

इटलीका डिक्टेटर मुसोलिनी एक कसाईका नौकर था और अपने काममें असफल था।

एस्थोनिया—जो कि बालटिक समुद्रके किनारे एक छोटी सी रियासत है—का प्रेज़ीडेण्ट कौनस्टेंटिन पैट्स एक मकान बनानेवालेका लड़का है और वह पहले समाचारपत्रोंमें काम करके अपनी आजीविका कमाता था। उसकी अपनी बहुत ही थोड़ी सी भूमि है।

कौनस्टैण्टिनका दायाँ हाथकार्ल ऐनशपलू आन्तरिक मंत्री भी समाचार पत्रोंके दफ्तरमें काम करनेवाला था।

डेन्मार्कका प्रधान मन्त्री थौरवाल्ड स्टानिग लुहारका लड़का है। और उसे बारह वर्षकी छोटी उम्रमें ही तम्बाकूके कारखानेमें काम करने जाना पड़ा था। किन्तु उसमें महत्वाकांक्षा थी। शीघ्र ही वह समाचारपत्रोंमें लिखनेका काम करने लगा। अब भी वह डेन्मार्कके प्रसिद्ध समाचारपत्रके सम्पादकमंडलमें है।

स्वीडनका प्रधान मंत्री पी०ए० हेनसन ईंट बनानेवालेका लड़का है और उसे बचपनमें ही वह काम करना पड़ा था। इसके पश्चात् उसने भी समाचारपत्रोंके लिए लिखना आरम्भ किया।

नारवेका प्रधानमन्त्री जौहन नटयार्डसवोल्ड मज़दूर तो नहीं पर एक कृषकका लड़का है। उसने लकड़ी

चीरनेके कारखानेमें काम आरम्भ किया और फिर रेलकी लाइनों पर प्लेट रखनेका भी काम किया है।

रूमानियाका श्रेष्ठ प्रधानमन्त्री जनरल ऐवरश्यु एक कृषकका लड़का था।

रुमानियाका कृषि-मंत्री आई ओन मिहिलेच् एक कृषकसे अध्यापक बना था। वह उच्च आदर्शोंका एक अच्छा व्याख्याता था।

रूमानियाका एक और उच्चकोटिका राजनीतिज्ञ ब्रेटियान् एक रैलवे इञ्जीनियर था।

रूमानियामें ही एक पादरी पैट्रीआर्क क्रिस्टी राज्य-का कर्ता-धर्ता था और उसकी मृत्यु मार्च सन् १९३९ में हुई है।

ज़ेकोस्लोवेकियाका भूतपूर्व प्रधानमन्त्री डाक्टर बेनेस एक किसानका लड़का था और उसने अपने प्रयत्नसे ही इस उच्चपदको प्राप्त किया था।

बलगेरियाका माहीद विधाता स्टाम-बुलौफ़ बहुत ही छोटे घरका था और उसका बाप एक छोटी-सी सरायका मालिक था।

बलगेरियाका एक और डिक्टेटर ऐलैग्ज़ैण्डर स्टाम् बोलिएकी एक किसानका लड़का था, जिसका छोटा-सा खेत था।

लैटवियाका प्रेज़ीडेण्ट कार्लिस उलमानिस छोटे कुलका है। यह सन् १९३४ से इस पदका कार्य कर रहा है।

रूसका वर्तमान डिक्टेटर जोसेफ़ स्टेलिन पहले एक समाचारपत्रका काम करनेवाला था। युद्धमन्त्री मार्शल वोरोशिलोफ़ने सात वर्षकी अल्पायुमें कोयलेकी खानमें मज़दूरी कमानी आरम्भ की थी। उसका बाप एक खान खोदनेवाला था। और उसकी माता किसी घरमें नौकरनी थी।

समस्त रूसकी पुलिसका अफ़सर निकोलाई यज़ोफ़ एक कारखानेमें पहले मज़दूर था।

विविध-प्रश्न

प्र०—केवली तथा तीर्थंकर इन दोनोंमें क्या अन्तर है?

उ०—केवली तथा तीर्थंकर शक्तिमें समान हैं, परंतु तीर्थंकरने पहले तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध किया है, इसलिये वे विशेषरूपसे बारहगुण और अनेक अतिशयोंको प्राप्त करते हैं।

प्र०—तीर्थंकर घूम घूम कर उपदेश क्यों देते हैं? वे तो वीतरागी हैं।

उ०—पूर्वमें बाँधे हुए तीर्थंकर नामकर्मके वेदन-करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐसा करना पड़ता है।

प्र०—आज कल प्रचलित शासन किसका है?

उ०—श्रमण भगवान् महावीरका।

प्र०—क्या महावीरसे पहले जैन-दर्शन था।

उ०—हाँ, था।

प्र०—उसे किसने उत्पन्न किया था!

उ०—उनके पहलेके तीर्थंकरोंने।

प्र०—उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है?

उ०—तत्त्व दृष्टिसे एक ही है। भिन्न २ पात्रको लेकर उनकाउपदेश होनेसे और कुछ काल भेद होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है, परन्तु न्यायसे देखने पर उसमें कोई भिन्नता नहीं है।

प्र०—इनका मुख्य उपदेश क्या है?

उ०—उनका उपदेश यह है कि आत्माका उद्धार करो, आत्मामें अनन्त शक्तियोंका प्रकाश करो, और इसे कर्मरूप अनन्त दुःखसे मुक्त करो।—राजचन्द्र

दर्शनोंकी स्थूल रूपरेखा

[ले०—श्री पं० ताराचन्द जैन, दर्शनशास्त्र
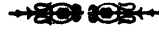
विश्वके रहस्यको स्पष्ट प्रकट करने वाले उपाय, हेतु अथवा मार्गको 'दर्शन' कहते हैं; या यूं कहिये कि जिसके द्वारा संसारकी कठिनसे कठिन उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझाई जाती हैं उसका नाम 'दर्शन' है। जिस प्रकार संसारकी प्राकृतिक रचना—पर्वत, समुद्र, स्थल, देश, नद-नदी, पशु, पक्षी, झरना, जल-प्रपात आदिके सौन्दर्य और भयंकरताको देखकर कविका हृदय प्लावित हो जाता है। स-हृदय कवि जीवनके उत्थान पतनकी घटनाओंसे अपनेको पृथक् नहीं रख सकता, उनमें तन्मय हो जाता है और भावनापूर्ण कविका हृदय संसारके परिवर्तनोंसे सिहर उठता है। उसी प्रकार दार्शनिकका प्रतिभापूर्ण मन भी संसारकी उथल-पुथल और जीवनकी विषम-अवस्थाओंसे निजको दूर नहीं रख सकता उन्हींमें घुल-मिल-सा जाता है। दार्शनिक उन सब अवस्थाओंकी गुत्थियोंको सुलझानेका पूर्ण प्रयास करता है। मैं क्या हूँ? यह संसार क्या है? मैं कहाँसे आया और मुझे कहां जाना है? इत्यादि प्रश्नोंकी उधेड़ बुनसे दार्शनिकका मस्तिष्क सराबोर रहता है। इसी तरहके प्रश्नोंकी उपज ही दर्शन शास्त्रका आद्य स्थान है और इस तरहके प्रश्न प्रायः प्रत्येक दार्शनिकके उर्वर मस्तिष्कमें उत्पन्न हुआ करते हैं।

विश्वके रहस्यका उद्घाटन करना कितना कठिन है, यह एक दार्शनिक ही समझ सकता है। कोई एक मामूली सी घटनाको ही ले लीजिये; जब उस घटनाका विश्लेषण करने लगते हैं तो उसमें उसी तरहकी अनेक उलझी हुई घटनाएँ नज़र आने लगती हैं और उस घटनाके विवेचनमें यह कहावत अक्षरशः चरितार्थ होने लगती है—'ज्यों केराके पातके पात-पातमें पात'। इतने दुरूह, अत्यन्त गूढ़ और दुरवबोध विश्वतत्वके रहस्यके खोज निकालनेका भार दर्शन (Philosophy) ने अपने ऊपर लिया है। दार्शनिकका भावुकतापूर्ण हृदय अपनी सामर्थ्य भर इस रहस्यके खोजनेमें तन्मय हो जाता है।

जानी हुई दुनियाँमें सुदीर्घ कालसे अनेक दार्शनिक होते चले आये हैं, उनमें जिनकी जहाँतक सूझ और प्रतिभा पहुँच सकी वहाँ तक उन्होंने विश्वके रहस्य की विशद एवं भद्र विवेचनाएँ की हैं। अनेकोंने अपना सारा जीवन विश्व प्रपंचके समझने तथा समझकर उसको मानव-समाजके सामने रखनेमें लगाया है। बहुतसे दर्शन उत्पन्न होनेके बाद अपने जन्मदाताओंके साथ ही विलीन होगये और कतिपय दर्शन अपने अनुयायिओंकी विरलता आदि उपयुक्त साधनाभावके कारण अपनी नन्हीं सी झाँकी दिखाकर नाम शेष होगये। जिन दर्शनोंके आविष्कर्ताओंने अपने दर्शनोंका संसारमें प्रचार किया और लोगोंके एक बड़े समूहको अपने मत का अनुयायी बनाया, वे आज भी संसारमें जीते-जागते नजर आ रहे हैं। जो दर्शन आज भी मानव-समाजके सामने मौजूद हैं, वे सभी उच्च, पूर्ण-सत्य एवं निर्दोष नहीं कहे जा सकते। इनमें कोई विरला दर्शन ही उच्चतम, सर्वसत्वहितैषी, पूर्णसत्य और निर्दोष होना

चाहिये। यद्यपि यह कह सकना बहुत कठिन है कि अमुक दर्शन पूर्वोक्त उच्चतम आदि विशेषणोंके सर्वथा उपयुक्त है, तथापि दर्शनोंकी उपलब्ध विवेचनाओं पर ध्यान आकृष्ट करनेके बाद जिस दर्शनकी विवेचना मस्तिष्ककी उलझी हुई गुत्थियोंको सुलझावे और संसार का कल्याण करनेमें अमोघ साबित हो वही सर्वोत्तम समझा जाना चाहिये।

दृश्यमान जड़ और चेतन जगतके रहस्यका अन्वेषण किस दर्शनने कितना किया है, यह जाननेके लिये उन दर्शनोंकी विवेचनाओं पर एक सरसरी नज़र डाल लेना आवश्यक है। यद्यपि दुनियाँके तमाम दर्शनोंके मन्तव्योंके विषयमें यहाँ ऊहापोह नहीं किया जा सकता और न उन सब दर्शनोंकी मुझे जानकारी ही है, तो भी यहाँ पर कतिपय मुख्य दर्शनों (जिन दर्शनोंमें ही प्रायः अन्य दर्शनोंका अन्तर्भाव हो जाता है) की तरफ़ ध्यान आकृष्ट करना बहुत ज़रूरी है। संसारमें जितने भी दर्शनोंका जन्म हुआ है उनका चार भागोंमें बटवारा किया जा सकता है—(१) वे दर्शन जो केवल ईश्वरको ही मानते हैं, (२) एकमात्र प्रकृति अर्थात् जड़ पदार्थ को मानने वाले दर्शन, (३) वे दर्शन जो ईश्वर, जीव और प्रकृतिको मानते हैं, (४) और वे दर्शन जो जीव तथा अजीव प्रकृतिको स्वीकार करते है। इन चार मान्यताओंमेंसे किसी न किसी एक मान्यतामें इस अखिल विश्व-मण्डलका रहस्य छिपा हुआ है, जिसके लिये ही उक्त मान्यताएँ और उनकी शाखा-प्रशाखारूप दर्शन उत्पन्न हुए।

यद्यपि इन मान्यताओं और इनसे सम्बन्ध रखने वाले दर्शनोंकी रूपरेखा खींचनेके लिये महती विद्वत्ता तथा समयकी प्रचुरताकी बहुत आवश्यकता है, ये बातें जिन विद्वानोंकेपास संभव हों वे 'दर्शन' पर एक अच्छा ग्रन्थ निर्माण कर सकते हैं। इस समय मेरा न तो दर्शन ग्रन्थ निर्माण करनेका विचार है और न मुझे उतनी बड़ी जानकारी ही है। परन्तु यहाँ पर (इस लेख में) इन मान्यताओं पर कुछ प्रकाश डालना ज़रूरी है, जिससे यह मालूम हो सके कि अमुक मान्यता या दर्शन सत्य तथा मंगलप्रद है और अमुक मान्यता या दर्शन मिथ्या और अमंगलप्रद है। उपर्युक्त ईश्वर आदिकी मान्यताओंका ठीक ज्ञान होते ही दार्शनिकके मस्तिष्कमें उठने वाले 'मैं क्या हूँ?' यह विश्व क्या है? इत्यादि प्रश्नोंका सरलतासे हल निकल आता है। और इन प्रश्नोंका निर्णय होते ही दर्शनका कार्य समाप्त हो जाता है, इसलिये कहना होगा कि प्रकृति, जीव और ईश्वर इन तत्वोंमें ही विश्वका रहस्य अभिभूत हो रहा है तथा इनका विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

जिन दर्शनोंमें केवल ईश्वर ही माना गया है, उनका कहना है कि—अबसे सुदीर्घ काल पहले इस चराचर विश्वका कोई पता न था, एकमात्र ईश्वर ही का सद्भाव था। इस मान्यताको स्वीकार करने वाले दर्शनोंमें मुस्लिमदर्शन, ईसुदर्शन आदि प्रमुख हैं। मुसलमान और ईसाई दार्शनिकोंका कहना है कि अब से बहुत समय पहले एक समय ऐसा था जब इस जड़ और चेतन जगत् का नामोनिशान भी न था, केवल एक अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्ण ईश्वर अर्थात् खुदा गॉडका ही अस्तित्व था। यद्यपि ईश्वर परिपूर्ण था, उसे किसी प्रकारकी आवश्यकता न थी, तथापि एक विशेष अवसर पर उसे सृष्टि-रचना करनेकी लालसा हुई। ईश्वरने स्वेच्छानुसार स्व-सामर्थ्य द्वारा शून्य अर्थात् नास्तिसे यह दृश्य जगत उत्पन्न किया। छह दिन तक खुदा अपनी इच्छासे तमाम रचना करता रहा। उसने पहाड़, समुद्र, नदी, भूखण्ड,

हाथी, घोड़ा, बैल, सिंह, बकरा, बकरी आदि अचेतन और चेतन जगत्की रचना की। इस रचनाके बाद खुदाने सोचा कि मेरी एक प्रतिमूर्ति भी होना चाहिये, इच्छा होनेकी देरी थी कि खुदाकी एक दूसरी प्रतिमूर्ति तैयार होगई, खुदाने उसे अचेतन देख उसमें चेतन शक्तिका संचार किया। इतना विपुल कार्य करनेके बाद खुदा श्रान्त होगया, उसने अपनी प्रतिमूर्ति हज़रत आदमके सामने अपनी सम्पूर्ण रचना रखदी और उसे उन समस्त पदार्थोंका नामकरण करनेका आदेश दे ७वें दिन रविवारको विश्राम करने चला गया। हज़रत आदमने सबका यथोचित नाम-निर्देश किया।

कतिपय समालोचक एकमात्र ईश्वरसे ही समस्त जगत्का निर्माण बताने वाले दर्शनको प्रमाण मानते हुए भी मुसलमान व ईसाई दार्शनिकोंकी इस जगत-रचना शैलीकी खिल्ली उड़ाते हैं। खुदाके इस रचनाक्रमको बाज़ीगरका खेल बताकर खूब उपहास करते हैं; परन्तु ऐसा करते हुए वे अपने मन्तव्यकी ओर ज़रा भी विचार नहीं करते। वेदान्त, न्याय और वैशेषिक दर्शन ईश्वर-को अखिल विश्वका सर्जक मानते हैं। इन दर्शनोंके आविष्कर्ताओंने भी ईश्वर और जगतके विषयमें अनेक मनोरञ्जक कल्पनाएँ स्थापित की हैं; उदाहरणार्थ कुछ-का निर्देश करना यहाँ उपयुक्त होगा—

तैत्तरीय ब्राह्मणका अभिमत है कि सृष्टि रचनाके पहले पृथ्वी, आकाश आदि किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं था। प्रजापतिको एकसे अनेक होने की इच्छा हुई, एतदर्थ उसने घोर तपश्चरण किया, तपश्चरण-के प्रभावसे धूप, अग्नि, प्रकाश, ज्वाला, किरणें और वाष्प उत्पन्न हुए। उत्पन्न होनेके बाद ये पदार्थ जम कर अत्यन्त कठिन होगये, इससे प्रजापतिका लिंग फट गया और उससे समुद्र बह निकला। अपने ठहरनेको जगह न देख प्रजापति रोने लगा, प्रजापतिकी आँखोंसे अश्रु-बिन्दु टपककर समुद्रके जल-पटल पर गिर कर पृथ्वीमें तब्दील हो गये। बादमें प्रजापतिने भूभागको साफ़ किया, जिससे वायुमण्डल और आकाशकी उत्पत्ति हुई।

दूसरी जगह लिखा है कि प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये तपस्या की, तपस्यासे वेद और जलकी उत्पत्ति हुई। प्रजापतिने त्रयीविद्याको लेकर जलमें प्रवेश किया, इससे अण्डा उत्पन्न हुआ, प्रजापतिने अण्डेको स्पर्श किया, जिससे अग्नि, वाष्प, मिट्टी आदि पैदा हुई। उपनिषदोंमें भी सृष्टि-रचना और ईश्वरके विषयमें अनेक प्रकारकी मान्यताएँ पायई जाती हैं।

बृहदारण्यक उपनिषदमें एक स्थल पर असत्-मृत्यु और क्षुधाको अभिन्न बताकर मृत्युसे जीवन, जल, अग्नि, लोक आदिकी उत्पत्ति बतलाई है। दूसरे स्थान पर आत्मासे सृष्टिका उत्पत्तिक्रम मानकर कहा गया है कि जिस समय आत्मामें संवेदनशक्तिका आवि-र्भाव हुआ, उस वक्त आत्मा निजको अकेला देखकर भयभीत हुआ। आत्मा पुरुष और स्त्रीमें विभक्त होगया। स्त्रीने सोचा कि पुरुष मेरा उत्पादक तथा प्रणयी है, इसलिये उसने गायका रूप धारण कर लिया, पुरुष भी बैल बन गया। गायने बकरीके रूपमें तब्दीली करली, बैल भी बकरा बन गया। इसी तरह सिंह-सिंहनी आदि युगलोंका प्रादुर्भाव हुआ। एक जगह ब्रह्मसे लोकका सृजन मानकर लिखा है कि ब्रह्मने अपनेमें पूर्ण-शक्ति-का अभाव देख ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका निर्माण किया। छान्दोपनिषद्में असत्को अण्डा बताकर अण्डेके फटनेसे पृथिवी, आकाश आदि समस्त संसारकी उत्पत्ति बतलाई है।

इस उपर्युक्त निर्देशमें जहाँ ईश्वर ब्रह्मा या

प्रजापतिको लोक-निर्माता बताया गया है वहाँ उसे मुसलमान और ईसाई दार्शनिकोंकी तरह ही प्रायः स्वीकार किया गया है, फिर न जाने ऊपर लिखी मान्यतासे सहमत होते हुए भी कतिपय विद्वान खुदा और गॉडका उपहास क्यों करते हैं ? यदि वे खुदाका मज़ाक उड़ाते हैं तो उन्हें प्रजापतिके तपश्चरण और उसके लिंग फटने, उससे समुद्र निकलने आदिको न भूलना चाहिये और इस गुलगपाड़ेका भी अवश्य भंडा-फोड़ करना चाहिये। वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मुसलमान, ईसाई आदि जिन दर्शनोंमें सृष्टि उत्पत्तिके पहले एक-मात्र ईश्वरके अस्तित्वकी कल्पना की है प्रायः उन सभी दर्शनोंमें इसी तरहकी बेसिर पैरकी कल्पनाएँ पाई जाती हैं। उन कल्पनाओंकी बुनियाद जगत्के स्वरूप व उसके आदि-अन्तका ठीक पता न लगानेवाले दार्शनिकोंके मस्तिष्ककी उपज ही है। जब वे दार्शनिक बहुत कुछ कोशिश करने पर भी लोकका स्वरूप ठीक न समझ सके, तब उन्होंने एक छिपी हुई महती शक्तिका अनुमान किया और किसीने उसे ब्रह्म, किसीने ईश्वर, किसीने प्रजापति, किसीने खुदा और किसीने गॉड (God) आदि कहा। जब उस शक्तिकी कल्पना की गई तब उसके बाद उसके विषयमें दूसरी भी अनेक कल्पनाएँ गढ़ी गईं और उसमें ही समस्त सजीव तथा निर्जीव जगत्का निर्माण माना गया।

इस मान्यताको माननेवाले दार्शनिक चराचर जगत्की उत्पत्तिमें ईश्वरको ही उपादान तथा निमित्त-कारण घोषित करते हैं, परन्तु बुद्धिकी कसौटी पर कसनेसे यह बिलकुल ही मिथ्या साबित होता है। दार्शनिक जगत्को यह भलीभाँति विदित है कि उपादान कारण अपना पूर्व रूप अर्थात् अपनी पूर्व पर्याय व हालत मिटाकर ही कार्यरूपमें परिणत होता है। स्वर्ण अपने पूर्व पिंडाकारका परित्याग कर ही कड़ा, कुण्डल, बाली, आदि पर्यायों--हालतोंको धारण करता है, परन्तु उन सभी पर्यायोंमें--जो स्वर्णके पिण्डसे शुरू होती हैं, स्वर्ण व स्वर्णके पीतादि समस्त गुण पाये जाते हैं। इसी तरह मृत्तिका आदि जितने भी उपादान कारण देखनेमें आते हैं, वे सभी निजसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंमें पर्याय परिवर्तनके सिवाय समानरूपसे पाये जाते हैं। यदि ईश्वर जगतका उपादान कारण है तो संसारमें पर्वत, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जितने भी कार्य हैं उन सभीमें ईश्वरका अस्तित्व व ईश्वरके सर्वज्ञत्व, व्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि गुणोंका सद्भाव अवश्य पाया जाना चाहिये। परन्तु सूक्ष्मरूपसे देखनेपर भी संसारके किसी भी कार्यमें ईश्वरका एक भी गुण नज़र नहीं आता। अतः युक्ति और प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरको जगत्का उपादान कारण मानना ठीक नहीं मालूम होता और न ईश्वरका ऐसी झंझटोंमें फंसना ही हृदय व बुद्धिको लगता है। इसलिये कहना होगा कि ईश्वर विषयक उक्त मान्यता मिथ्या और अवैज्ञानिक है।

एकमात्र प्रकृति--जड़पदार्थ--की मान्यताको स्वीकार करनेवाले दर्शनोंमें चार्वाक दर्शन प्रमुख है। चार्वाक दर्शनके माननेवाले दार्शनिकोंका अभिमत है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है। इन जड भूत-चतुष्टयसे ही संसार बना है। संसारमें जितने कार्य नज़र आते हैं वे सब इन्हीं भूतचतुष्टयके सम्मेलनसे पैदा हुए हैं। चेतन, जीव या आत्मा नामका पदार्थ भी पृथ्वी आदिसे भिन्न नहीं है। जिस तरह कोद्रव (अन्नविशेष) गुड़, महुआ आदि विशिष्ट पदार्थोंके सम्मिश्रणसे शराब पैदा हो जाती है, ठीक उसी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके स्वाभाविक विशिष्ट

संयोगसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है, उसीको चेतन, जीव, आत्मा आदि नामसे पुकारते हैं, शरीरसे भिन्न कोई 'जीव' नामका पदार्थ नहीं है। धर्म, अधर्म, स्वर्ग-मोक्ष, पुण्य-पाप आदि पदार्थोंका भी सर्वथा अभाव है। कहा भी है—

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः॥

कतिपय वैज्ञानिक लोग भी जीवके विषयमें ऐसी ही कल्पनाएँ घड़ते हैं, परन्तु युक्तिकी कसौटी पर कसने-से उक्त वैज्ञानिक व दार्शनिक अपनी कल्पनामें असफल मालूम होते हैं। शरीरादिसे भिन्न अहंकारात्मक प्रवृत्ति होती है, पृथ्वी आदिके संयोगरूप शरीरका पूर्णतौरसे अस्तित्व रहने पर भी चेतन या जीवके अभावमें वैसी प्रवृत्ति नहीं होती। जीव जब एक शरीर छोड़ देता—मर जाता है, तब उस शरीरमें चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी क्रियाओंका अभाव होजाता है, इसलिये पृथिवी आदि अचेतन पदार्थोंका चैतन्यरूपमें परिणमन होना वा उनसे चेतन-जीवकी अभिव्यक्ति और उत्पत्ति मानना सारहीन ही नहीं असंभव भी है। जीवका जड-पदार्थोंसे पृथक्त्व होना तब और भी दृढ़—होजाता है जब एक मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य-पर्याय धारणकर अपने पूर्व-मनुष्य-पर्यायकी घटनाओंको बिलकुल सत्य बतला देता है—यहाँ तक कि अपने कुटुम्बियों और पड़ौसियोंका परिचय और अपने धन आदिका ठीक ब्योरा लोगोंके सामने पेश कर देता है। यह केवल एक किंवदन्ती ही नहीं है, किन्तु ऐसे सत्य उदाहरण आये दिन अनेक सुनने वा देखनेमें आते रहते हैं। अतः जडपदार्थसे ही तमाम जगत्का निर्माण स्वीकार करनेवाले दर्शन विश्वका रहस्य खोजनेमें सर्वथा असमर्थ हैं।

तीसरी मान्यतामें ईश्वर, जीव और प्रकृतिसे जगत्का निर्माण माना गया है। इस मान्यतामें न्याय-वैशेषिक आदि जितने भी दर्शनोंका अन्तर्भाव होता है उन सबका यह अभिमत है कि ईश्वरने जीव और अजीव प्रकृतिसे इस जगतकी रचना की है अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि जितने जीवधारी प्राणी हैं उनका उपादान कारण जीव है और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, नद-नदी आदि जितने अचेतन पदार्थ देखनेमें आते हैं उनका उपादान कारण अजीव—अर्थात् प्रकृति है, परन्तु इस चेतन और अचेतन जगत्की रचनामें ईश्वर अनिवार्य निमित्त कारण व व्यवस्थापक है। इन दार्शनिकोंकी इस रचनाक्रमके समर्थनमें जो प्रबल दलील है वह इस प्रकार है—

संसारमें जितने भी कार्य देखनेमें आते हैं वे किसी न किसी उस-उस कार्यके ज्ञाताके द्वारा ही बनाए जाते हैं। उदाहरणरूपमें जब हम अंगूठीकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें साफ़ मालूम हो जाता है कि अंगूठी अपने आपसे ही तय्यार नहीं हुई, किन्तु उसमें स्वर्ण उपादान कारण होनेपर भी अंगूठी बनानेकी कलाका जानकार सुनार ही अंगूठी बनाता है। इसी तरह कुम्हार घड़ा, जुलाहा वस्त्र और अन्य कार्योंको जाननेवाला अन्यकार्योंकी रचना करता है। चूंकि जगत्-रचना भी एक विशेष और बहुत बड़ा कार्य है, इसलिये इस कार्यका भी कोई अत्यन्त बुद्धिमान् कर्ता होना चाहिये, इस विपुल कार्यका जो कर्ता है वह महान् ईश्वर है, ईश्वरसे भिन्न कोई भी इतने विपुल कार्यका निर्माण नहीं कर सकता। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और व्यापक है, इसलिये वह तमाम सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बड़े-से बड़े कार्योंको सरलतासे करता रहता है, उसे इस

कार्यके करनेमें कोई असुविधा वा अधिक श्रम नहीं करना पड़ता। दूसरे अचेतन जगत्की उत्पत्ति अचेतन परमाणुओं और कर्म-शक्तिसे नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसी व्यवस्थित और सुन्दर रचना जड़परमाणु व कर्म-शक्ति विचार—शून्यताके कारण कैसे कर सकते हैं? चेतन जीव भी चेतन जगतकी ऐसी विशेष रचना अल्पज्ञ व स्वल्पशक्तिसम्पन्न होनेकी वजहसे नहीं कर सकता, इसलिये चेतनाचेतनात्मक उभय जगत्का कर्ता एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है।'

संसारके समस्त कार्य उपादान और निमित्तकारणके विना उत्पन्न नहीं होते, इसमें किसीको भी ऐतराज़ नहीं है और होना भी न चाहिये। परन्तु घट, वस्त्र आदिके समान सभी कार्योंका कर्ता—निमित्त कारण—चेतन ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। घास विना किसीके उद्यमके बारिश आदिके होनेपर स्वयं पैदा होजाती है; मूंगा, मणि, माणिक्य, गजमुक्ता आदि भी केवल वैसे कारण मिलनेपर प्रकृतिसे ही पैदा होते हैं, इन्हें कोई नहीं बनाता। यदि कहो कि इन समस्त कार्योंका कर्ता वही परमेश्वर है, वह ही छिपा छिपा ऐसे कार्योंको करता रहता है, तो घड़ा, वस्त्र आदिको भी वही क्यों नहीं बना देता? जिससे कुम्हार आदिकी ज़रूरत ही न रहे, जीवनकी सभी आवश्यक चीज़ोंका निर्माण वही ईश्वर कर दिया करे! जिन वस्तुओंका कर्ता नज़र आता है यदि उनका कर्ता ईश्वर नहीं माना जाता, तो जिनका कर्ता सिर्फ़ स्वभाव है उनको क्यों ईश्वरका बनाया हुआ माना जाय?

दूसरे, यदि ईश्वर कार्योंका बनानेवाला होता, तो वे सब सुंदर और व्यवस्थित होना चाहियें थे। परन्तु आबाद मकानोंकी छतों, आंगन और दीवारों पर घास-का पैदा होना, कहीं मरुस्थल जैसे स्थानोंमें पानीका बिलकुल अभाव, कहीं पानी ही पानी, कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि, कहीं अकाल—कहतका पड़ना, जहाँ ज़मीन नीची होना चाहिये वहाँ उसका एकदम ऊँचा होना और जहाँ ऊँचा होना आवश्यक था वहाँ नीचा होना, निर्जन भयंकर [illegible]तों और जंगलोंमें सुन्दरजल-प्रपात और झरनोंका बहना, उल्कापात, महामारी, डाँस-मच्छर, कीड़ा-मकोड़ा, साँप बिच्छू सिंह-व्याघ्र आदिकी सृष्टि होना, मनुष्यमें एक धनवान दूसरा निर्धन, एक मालिक दूसरा नौकर, एक स्त्री-पुत्रादिके न होनेसे दुखी, दूसरा इन सबके रहने पर भी दरिद्रताके कारण महान दुखी, एक पंडित दूसरा अक़्लका दुश्मन—महामूर्ख और सोनेमें रूप होनेपर भी उसका सुगन्ध रहित होना, स्वादिष्ट रसभरे गन्नेमें फलका न लगना, चन्दनके वृक्षमें फूलोंका न होना तथा पंडितोंका निर्धन और प्रायः अल्पायुष्क होना आदि संसारमें ऐसे कार्य देखे जाते हैं जिससे मालूम होता है कि जगतकी रचना त्रुटियोंसे खाली नहीं है। और इसलिये यह जगत किसी एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा व्यापक ईश्वर द्वारा नहीं रचा गया और न वह इसका व्यवस्थापक ही है। एक कविने सोनेमें सुगन्ध न होने आदिकी उक्त बातोंको लेकर ईश्वरकी बुद्धिमत्ता पर जो कटाक्ष किया है और इस तरह सृष्टिके निर्माता में जो किसी बुद्धिमान कारणकी कल्पना की जाती है उसका उपहास किया है—वह कविके निम्न वाक्यमें देखने योग्य है—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं किल चन्दनेषु।
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

इसलिये कहना पड़ता है कि उपर्युक्त तीसरी मान्यतासे भी हमारे विषयका स्पष्टीकरण नहीं होता, उलटे हम व्यर्थके पचड़ेमें फँसे नज़र आते हैं। ईश्वरका

जैसा स्वरूप बांधा गया है वह बिलकुल अवैज्ञानिक है। उसको किसी तरह भी युक्ति व बुद्धिकी कसौटी पर कसनेसे खरा नहीं देख सकते हैं। अनेक प्रबल बाधाएँ उसे जर्जरित कर देती हैं।

पाठक महानुभाव इस तमाम विवेचनसे समझ गये होंगे कि ये तीनों दार्शनिक मान्यताएँ जगत-रचनाकी उलझनको सुलझानेमें कहाँ तक सफल हुई हैं। इनसे तो यही मालूम होता है कि या तो जगत पंचभूतात्मक ही है अथवा ईश्वरात्मक या ईश्वराधीन ही है। जगत क्या है? मैं क्या हूँ? मुझे कहाँ जाना है? इत्यादि समस्त प्रश्न ईश्वर वा प्रकृतिमें ही लीन हो जाते हैं, विशेष तर्क-वितर्क करनेकी कोई गुंजाइश नहीं रक्खी गई।

चौथी मान्यता जीव और अजीव अथवा चेतन-अचेतन विषयक है। इस मान्यताको जन्म देनेका श्रेय प्रायः एकमात्र जैनदर्शनको ही है, वैसे बौद्धदर्शनादिने भी इस ओर झुकाव दर्शाया है, पर वह युक्तिके बलपर टिकता नहीं, इसलिये उसे निर्दोष नहीं कहा जासकता। अब देखना यह है कि जैनदर्शनकी मान्यतासे दार्शनिकोंके मस्तिष्कमें उठानेवाले प्रश्नोंका उत्तर मिलता है या नहीं?

जैनदर्शन या उक्त मान्यताके अनुसार जगत, लोक, विश्व या दुनियां अनादि-निधन अथवा अनादि-अनन्त है। जगत-रचनाके प्रारम्भकी कहनी उसी तरह बुद्धिगम्य और रहस्यभरी है जैसे बीज और वृक्षकी। जिस तरह यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि अमुक समयमें बीजसे वृक्ष अथवा वृक्षसे बीज पैदा हुआ है उसी तरह जीव-अजीवसे भी जगत-रचनाके आरम्भका निर्णय नहीं किया जा सकता--जगत अनादि है और उसका कभी भी अन्त होनेवाला नहीं है। हाँ इतनी बात ज़रूर है कि जगत-रचनामें अनादिसे जीव और अजीवका ही दखल है। जीव अजीवके पृथक् करनेसे जगत नामके पदार्थका स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं ठहरता, इसलिये जगतको जीवाजीवात्मक कहना उपयुक्त होगा। उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य--मूलरूपमें सदा स्थिर रहना--जिसमें प्रत्येक समय पाया जाय उसे द्रव्य, वस्तु या पदार्थ कहते हैं। संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें उत्पत्ति आदि तीनों बातें एक ही कालमें न पायी जाती हों—भले ही कुछ पदार्थोंमें सूक्ष्मतर होनेके कारण ये स्पष्ट नज़र न आती हों। उत्पाद व्यय ध्रौव्य पना द्रव्यका सामान्य लक्षण है, जो भी द्रव्य है उसमें यह अनिवार्यरूपसे पाया जाता है। इन तीन बातोंके बिना वस्तुका वस्तुत्व कायम ही नहीं रह सकता, वह सर्वथा विलुप्त हो जाता है। द्रव्यकी ये हालतें स्वभावसे ही होती रहती हैं उपादानरूपसे इनका करनेवाला कोई विशेष व्यक्ति नहीं है। जिस तरह अग्निकी ज्वाला खुद ही ऊपरकी ओर जाती है, पानी ढालू भूभागकी ओर बहता है और हवा तिरछी चला करती है, ठीक उसी तरह द्रव्य स्वभावसे ही प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपसे परिणत होता रहता है। द्रव्यका यह स्वभाव ही संसारमें अनेक परिवर्तनों तथा अलटन पलटनका मूल कारण है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं, ये छहों द्रव्य अनादि-निधन हैं। परन्तु इनमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हमेशा होता रहता है, इसलिये इनके द्रव्यत्वमें कोई फ़र्क़ नहीं आने पाता—। पर्यायें पलटती रहती हैं। इन छहों द्रव्योंमें आकाश सबसे महान् है, इसके क्षेत्रका कहीं अन्त नहीं है, अनन्तानन्त है। आकाशके जितने क्षेत्रमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और कालका अस्तित्व पाया जाता है,

उसे लोक, लोकाकाश जगत या दुनियाँ कहते हैं। लोकाकाशमें ये पाँचों द्रव्य सदासे ठसाठस भरे हुए हैं और भविष्यमें भी सदैव इसी तरह भरे रहेंगे। हाँ, द्रव्योंमें पर्यायाश्रित संभवित परिवर्तन ज़रूर होगा, पर न तो ये मूल द्रव्य विनष्ट-नेस्तनाबूद हो सकेंगे और न इनके सिवाय अन्य द्रव्योंकी उत्पत्ति ही हो सकेगी। **'गम्यंते जीवादयो यत्र तज्जगत अथवा लोक्यन्ते जीवादयो यत्र स लोकः'** अर्थात् जहाँ पर जीवादि छह द्रव्य रहें—मालूम पड़ें उसे जगत् या लोक कहते हैं। इससे मालूम हुआ कि जीवादि छह द्रव्योंकी समष्टिका नाम ही जगत् है, वह न किसी व्यक्तिके द्वारा रचा गया है, न उसका कोई व्यवस्थापक व पालक है और न महेश्वर उसका संहार ही करता है। स्वभावसे ही जगत्में नाना प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं।

शरीरादिसे भिन्न चेतन रूपमें अहंबुद्धि रूपसे प्रवृत्ति होती है वही 'मैं' शब्दका वाच्य है। उसीको आत्मा आदि कहते हैं। जीव जैसे कर्म करता है उसे उन कर्मों-कर्तव्योंके अनुसार ही सुख-दुःख देने वाले स्थानोंमें जन्म लेना पड़ता है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे किसी योनिमें न तो भेजता और न दुःख ही देता है। स्वकर्मानुसार ही जीव उसका फल भोगता है और खुद ही अपने प्रयत्नसे कर्मोंके बन्धन तथा संसारसे मुक्त होता है। कहा भी है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

भगवद्गीताकार भी परमात्मा या ईश्वरके जगत्कर्तृत्व आदिके विषयमें कितने ही स्पष्ट और समुक्तिक हृदयोद्गार प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि—'प्रभु अर्थात् ईश्वर या परमात्मा लोगोंके कर्तृत्वको, उनके कर्मको (या उनको प्राप्त होनेवाले) कर्मफलके संयोगको भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही सब कुछ किया करती है। विभु अर्थात् सर्व व्यापी परमेश्वर किसीका पाप और किसीका पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर अज्ञानका पर्दा पड़ा रहनेके कारण प्राणी मोहित हो जाते हैं, और अपनी नासमझीके कारण परमेश्वरको उस तरह मानने लगते हैं। यथा—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

भग० गी० ५-१४,१५

ऐसी हालतमें ईश्वरके जगत्कर्तृत्व आदिकी कल्पना बहुत ही निःसार है और उसका मूल कारण अज्ञानभाव है। जैन-दर्शन अर्थात् वीर-शासनकी मान्यता बहुत ही युक्तियुक्त, स्वाभाविक तथा वस्तु स्थितिके अनुकूल है और हृदयको सीधी अपील करती है अतः वह सब तरहसे ग्रहण किये जानेके योग्य है।

वीर सेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० १६-१०-३९

विविध-प्रश्न

प्र०—देह निमित्त किस कारणसे है?
उ०—अपने कर्मोंके विपाकसे।

प्र०—कर्मोंकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी हैं?
उ०—आठ।

—राजचन्द्र

अज-सम्बोधन

(वध्य-भूमिको जाता हुआ बकरा)

[१]

हे अज ! क्यों विषण्ण-मुख हो तुम,
किस चिन्ताने घेरा है ?
पैर न उठता देख तुम्हारा,
खिन्न चित्त यह मेरा है !
देखो, पिछली टाँग पकड़कर,
तुमको वधिक उठाता है !
और ज़ोरसे चलनेको फिर,
धक्का देता जाता है !!

[२]

कर देता है उलटा तुमको
दो पैरोंसे खड़ा कभी !
दाँत पीस कर ऐंठ रहा है
कान तुम्हारे कभी कभी !!
कभी तुम्हारी क्षीण-कुक्षिमें
मुक्के खूब जमाता है !
अण्ड-कोषको खींच नीच यह
फिर फिर तुम्हें चलाता है !!

[३]

सह कर भी यह घोर यातना,
तुम नहिं क़दम बढ़ाते हो,
कभी दुबकते, पीछे हटते,
और ठहरते जाते हो !!
मानों सम्मुख खड़ा हुआ है
सिंह तुम्हारे बलधारी,
आर्तनादसे पूर्ण तुम्हारी
'मेमे' है इस दम सारी !!

[४]

शायद तुमने समझ लिया है
अब हम मारे जावेंगे,
इस दुर्बल औ' दीन दशामें
भी नहिं रहने पावेंगे !!
छाया जिससे शोक हृदयमें
इस जगसे उठ जानेका,
इसीलिए है यत्न तुम्हारा,
यह सब प्राण बचानेका !!

[५]

पर ऐसे क्या बच सकते हो,
सोचो तो, है ध्यान कहाँ ?
तुम हो निबल, सबल यह घातक,
निष्ठुर, करुणा-हीन महा ।
स्वार्थ-साधुता फैल रही है,
न्याय तुम्हारे लिये नहीं !
रक्षक भक्षक हुए, कहो फिर,
कौन सुने फ़रियाद कहीं !!

[६]

इससे बेहतर खुशी खुशी तुम
वध्य-भूमिको जा करके,
वधिक-छुरीके नीचे रख दो
निज सिर, स्वयं झुका करके ।
'आह' भरो उस दम यह कह कर,
" हो कोई अवतार नया,
महावीरके सदृश जगतमें'
फैलावे सर्वत्र दया" ॥

—'युगवीर'

वीर-शासन-दिवस और हमारा उत्तरदायित्व

[लेखक—श्री दशरथलाल जैन]

"अपने बड़ोंकी तुममें कुछ हो तो हम भी जानें।
गर वो नहीं तो बाबा फिर सब कहानियाँ हैं॥"

इस संसारमें अनेक जैन तीर्थंकर धर्मतीर्थके प्रवर्तन करनेवाले हुए हैं। उनकी धर्म-आज्ञाओं और व्यवस्थाओंका प्रसार भी परिमित काल तक ही रहा है। उसके बाद उसमें बराबर शिथिलता आती रही है—यहाँ तक कि कभी कभी तो धर्मका माग ही अर्सेके लिये लुप्तप्राय होगया है। कारण, यह संसार आत्मवाद और अनात्मवादकी सदैवसे समरभूमि रहा है। जब कभी किसी अलौकिक पुण्यशाली अध्यात्मवादकी प्रचण्ड तेजोमय मूर्तिका प्रादुर्भाव होता है तब अज्ञानान्धकारमें चिरकालसे भटकते हुए अज्ञानी और मिथ्यामार्गी जीवोंको अपनी आत्माको पहचान सकनेका प्रकाश मिलता है। जिनका भविष्य उज्ज्वल होता है वे आत्मकल्याणकी ओर लग जाते हैं और शेष भद्र आत्माओंमें अपनी आत्माको पहचाननेके लिये एक प्रकारका आन्दोलनसा मच जाता है। इस तरह कुछ काल तक संसारमें धर्ममार्गका प्रवर्तन रहता है, बादको फिर अज्ञानान्धकार छाजाता है। लोगोंमें बहुत कालातक एक ही धर्मका सेवन—वह भी अव्यवस्थित रूपसे—करते करते कुछ तो पूर्व पापके उदयसे स्वयं ही धर्ममें अरुचि हो जाती है तथा प्रमाद बढ़ जाता है—वे अपने धर्मसे अनभिज्ञ तथा विमुखसे रहने लगते हैं, और कुछ उनकी इस अनभिज्ञता-उदासीनतासे लाभ उठाकर दूसरे धर्मवाले उनपर अपना प्रभाव जमानेमें समर्थ हो जाते हैं। उनका कुछ आकर्षण बढ़ने पर जब वे लोग उनके ग्रन्थोंको पढ़ने, उनकी सभा-सोसाइटियोंमें भाग लेने और उनकी किसी किसी प्रवृत्तिको अपनाने या उसका अनुमोदन-मात्र करने लगते हैं, तो इधर अपने ही लोगोंकी ओरसे उन्हें अनेक प्रकारकी हृदयबेधक कटूक्तियाँ तथा फब्तियाँ सुननेको मिलती हैं, जिनसे उनका हृदय विकल हो जाता है, उसमें कषाय जाग उठती है और वे अपने उस नये मार्गको ही हर तरहसे पुष्ट करनेमें लग जाते हैं। उनका तमाम बुद्धि-बल तथा धन-बल उस ओर काम करने लगता है जिसके फलस्वरूप विपुलसाहित्यकी रचना तथा उसका प्रचार होकर प्रवाह बह जाता है और जन-बल भी बढ़ जाता है।

मनुष्योंमें विचारवान सन्मार्गी आत्माओंकी संख्या हमेशा कम रहा करती है, जन-साधारणका बहुभाग तो सिर्फ गतानुगतिक ही होता है और वे प्रायः "महाजनो येन गतः स पन्थाः" के ही पथिक बन जाते हैं। यह ठीक है कि आत्माको पहचाननेवाले अलौकिक महान आत्माओंकी कृपासे जीवोंका झुकाव स्वात्माकी ओर होता है, लेकिन इसके लिये उन्हें जड़वाद-अर्थात् प्रकृति और उसकी साधक परिस्थितियोंसे सदैव युद्ध करना

पड़ता है। जहाँ युद्ध रुका और आत्मा चुप बैठी कि जड़वादका साम्राज्य उसे दबाने लगता है। इसलिये अज्ञान व प्रमादकी वृद्धिको रोकनेके लिये निरन्तर सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, सत्संगतिका सेवन विद्वानोंका समागम और सुसंस्कारोंकी समय समयपर आवृत्तियाँ आवश्यक हो जाती हैं। धार्मिकपर्व हमारी त्रुटियों एवं कमजोरियोंको दूर करनेके हेतु ही बने हैं। इनको भले प्रकार मनाते रहनेमें हम संस्कारित होते हैं, अपने कर्तव्य-पालनमें सावधान बनते हैं, हममें उत्साह तथा पुरुषार्थ जागृत होता है, हमारे समाजसे कदाचार-रूपी मैल छंटता रहता है और हम शुद्ध होते रहते हैं।

इस तरह सभी धार्मिकपर्वोंको सोल्लास मनाना और उनके लिये सार्वजनिक उत्सवोंकी योजना करना परमावश्यक मालूम होता है तथा महापुण्य-का कारण है। संसारी प्राणियोंके परम कल्याणार्थ प्रकट होनेवाली वीर-भगवानकी धर्म-देशनाके दिन तो उत्सव मनानेकी और भी अधिक आव-श्यकता है। इस महान् धार्मिक पर्वकी महत्ता और मनानेकी आवश्यकता, उपयोगिता तथा विधि पर अनेक विद्वानोंने प्रकाश डाला ही है और वह सब ठीक ही है; लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस तरह योग्य गणधरके अभावमें जीवोंकी कल्याणकारिणी वीर भगवानकी पुण्य-वाणी बहुत काल तक खिरनेसे रुकी रही उसी तरह वर्तमानमें हमारे जैसे अयोग्य विद्वानों और वणिक-समाजकी स्वार्थपरायणता तथा अदूरदृष्टिमय स्थूल धर्म बुद्धि-के कारण विज्ञानके इस वर्तमान बौद्धिकयुगमें भी भगवानकी वाणी प्रकाश तथा प्रचारमें आनेसे रुकी हुई है। मान्य विद्वान् विद्या-वारिधि बैरिष्टर चंप-तरायजीने अपनी तुलनात्मक पद्धतिसे संसारके सब धर्मोंकी शोध-खोजकर सिद्ध कर दिया है कि जैनधर्म एक अद्वितीय वैज्ञानिक धर्म है। ऐसे जैन धर्मका इस वैज्ञानिक युगमें भी प्रचार और प्रसार न हो यह सचमुचमें हमारे धनशाली और धर्म-परायण समाजके लिये बड़े ही आश्चर्य तथा शर्म-की बात है, और इसके जिम्मेदार वीर भगवानके भक्त जैनधर्मके अवलम्बी हमीं जैनी श्रीमान् धीमान् और उनके पीछे चलनेवाला सारा जैन समाज है। हमने अपने उत्तरदायित्वको जरा भी पूरा नहीं किया।

कोई समय था जब जैनधर्मका प्रचार उसके कट्टर विरोधियोंके कारण रुका था और हम चि-ल्लाते फिरते थे कि अमुक जैनधर्मके विद्वेषी दुष्ट-राजाओंने हमारे धर्मग्रन्थ जला दिये, मूर्तियाँ नष्ट करदीं, लोगोंको घानीमें पेर डाला इत्यादि, लेकिन अब उस धर्मके प्रकाश एवं प्रचारमें आनेके मार्गमें बाधक कौन है? हम जैनधर्मके परमभक्त कहलाने वालोंके सिवा और कोई भी नहीं।

जैनधर्म हिन्दूधर्मकी एक शाखा है, बौद्धधर्म जैनधर्मसे प्राचीन है या बौद्धधर्मका रूपान्तर है, जैनियोंकी अहिंसाने भारतीयोंको कायरबनादिया है और वह भारतवर्षके पतनका कारण हुई, जैनि-योंमें आत्मघातको धर्म बनाया है, ये ईश्वरको नहीं मानते, जैनियोंने भारतवर्षमें बुतपरस्तीका श्रीगणेश किया है, जैनियोंका राजनैतिक क्षेत्रमें कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता, जैनियोंका स्याद्वाद एक गोरखधंधा है, इत्यादि अनेक मिथ्या धारणाएँ आज भी न सिर्फ हमारे पड़ौसियोंके हृदयमें

विद्यमान हैं बल्कि देशके बड़े बड़े नेताओं-लाला-लाजपतराय सरीखे राजनीतिज्ञों—और कई इतिहासिज्ञोंके मनमें भी बैठी हुई पाई गयी हैं। कई रियासतोंमें जैनियोंके विमान निकालने पर लोग नग्न मूर्तियों पर ऐतराज़ करते हैं और इतना ज़ोर बाँधते हैं कि दंगातक करने लगते हैं—कोलारम, कुडची, महगांव, बयाना आदि पचासों स्थानोंपर धर्मपालनमें बाधाएँ पड़ीं। यह सब उस ज़मानेमें हो रहा है जब कि धर्मपालनमें राज्योंकी तरफ़से पूर्ण स्वतंत्रताकी आम घोषणा है। पता है इन सब अन्यायोंके मूलमें कारण कौन है? हम भगवान् महावीरकी नालायक़ सन्तान।

हम गाली देते हैं उन हिन्दुओंको जो हमपर अपनी अज्ञानताके कारण धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक हमले करते हैं, हम गाली देते हैं उन्हें जो हमारी उच्चताका मज़ाक उड़ाते हैं, हम बुरा कहते हैं उन्हें जो हमारे अलग राजनैतिक हक़ोंको देनेसे इनकार करते हैं; इसी तरह कलियुगको भी गाली देकर हम अपनी कायरताका प्रमाण देते हैं। आख़िर इस आत्मवञ्चनासे लाभ क्या? हम देखते हैं आये दिन हम अपनी एक नहीं अनेक होनेवाली घरू और बाहरी आपत्तियोंके लिये रोते रहते हैं, लेकिन हम उसके कारण-कलापोंको देखते हुए भी उसके वास्तविक कारण तक नहीं पहुँच पाये हैं। सच पूछिये तो हमें दूसरों की ऐबजोई करना जितना आसान रहा है, अपनी अदूरदर्शिता पूर्ण कृतियों और उनके नतीजोंपर नज़र पहुँचाना उतनी ही टेढ़ी खीर रहा है।

आज भी हम धर्मके नामपर लाखों रुपया मन्दिर बनाने, रथ चलाने, सोना और रंग कराने, संगमरमरके फ़र्श और टाइल्स जड़वानेमें ख़र्च करनेसे नहीं रुकते। परन्तु हम देव-शास्त्र गुरुका एक ही दर्जा मानते हुए भी शास्त्रोंके पुनरुद्धारार्थ विद्वानोंकी कोई भी समिति क़ायम नहीं कर पाये। हमारी पाठशालाएँ और विद्यालय अपने अपने ढर्रे पर चल रहे हैं, वे प्रायः अध्यापकोंकी पुश्तैनी जायदाद बनादिये गये हैं; ऊँचे विद्यार्थी कितने हैं, ख़र्च कितना है, इसका कोई ठीक ठिकाना नहीं; समाजका पैसा कितनी बेदर्दीसे धर्मके नामपर प्रचारक रखकर फूंका जाता है, उसका भी कोई ठिकाना नहीं; माणिकचन्द्र-परीक्षालय, महासभा परीक्षालय, परिषदपरीक्षालय, मालवा-परीक्षालय सबके छकड़े दौड़ लगा रहे हैं, और अब तो विद्यार्थियोंसे फ़ीस भी लेने लगे। गरज़ यह कि, अव्यवस्थाका खासा साम्राज्य क़ायम है, धर्मके नामपर चाहे जैसी अवांछित पुस्तकोंका प्रचार है। जहाँ ज्ञान प्रसारके क्षेत्रमें जैन समाजमें यह अंधेरे हो वहां जैनेतर समाजमें धर्मप्रचारकी बात दिमाग़में आना ही मुश्किल है। यूनिवर्सिटियों, कालेजों और हाईस्कूलों तथा सार्वजनिक लाइब्रेरियोंमें तो हमारी पुस्तकोंका प्रायः पता भी नहीं मिलता—हमारे सार्वजनिक क्षेत्र हमारे प्रभावसे शून्य रहते हैं। ऐसी हालत है हमारी, जिसे आँख खोलकर देखते हुए भी हम देख नहीं रहे हैं। भला सोचो तो, इसमें किसका क़सूर है। जो आँख देखनेके लिये हो उससे हम विवेक पूर्वक देखें नहीं और आपत्ति होनेपर रोवें तो हमें उस शायरके शब्दोंमें यही कहना पड़ेगा कि—

"रोना हमारी चश्मका दस्तूर होगया।
दी थी ख़ुदाने आँख सो नासूर होगया॥

अतः भाइयो! अब इस प्रकार काम नहीं चलेगा। अब भी सोचो, जैनधर्मके प्रचार और प्रसारका मार्ग अभी भी खुला हुआ है, सिर्फ़ आवश्यकता है एक बार अपनी हालतका सिंहावलोकन करने और अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्वको समझनेकी। ईसाई अपने मिशनरियों और अपनी लिटरेचर सोसाइटियों-द्वारा, आर्यसमाज अपने स्नातकों, सन्यासियों, तथा ब्रह्मचारियोंके द्वारा, और मुसलमान अपने बिरादराना सलूक व बाहमी हमदर्दीके द्वारा आज जो अपने अपने धर्मप्रचारका कार्य कर रहे हैं, वह दूसरा नहीं कर रहा है। भगवान महावीरके शासनमें रहते और उसके अनुयायी कहते और उसके अनुयायी कहलाते तुम्हारा यह कर्तव्य हो जाता है कि तुम वीर शासन-दिवसको सार्थक बनानेके लिये वीरभगवानकी शिक्षाओं पर यथाशक्ति अमल करनेके संकल्पके साथ साथ जैनधर्मके अलौकिक ज्ञानके प्रसारार्थ पैसा दान करो और कराओ, एक बड़ी समिति ग्रन्थ—प्रकाशनके लिये योग्य विद्वानोंकी क़ायम करो, ताकि वह तुलनात्मक पद्धति, इतिहास और पुरातत्वके आधारपर जैनधर्मके महत्वपूर्णग्रन्थोंका नये ढँगसे उत्तम संपादन एवं प्रकाशन कराए और धर्मके एक एक तत्त्व—उसके एक-एक पहलू पर छोटे छोटे किन्तु सुन्दर और अल्प मूल्य पर बेचेजानेवाले सरल और सीधे शब्दोंमें ट्रैक्ट तथा पु स्तकें पुरस्कार दे देकर लिखाए और उन्हें लाखोंकी तादादमें छपानेमें स्वतंत्र रहे। उसे धनकी कमी न रहना चाहिये। चन्देसे पर्वोंमें, जन्म, मरण, शादी और अन्य संस्कारोंमें योग्य दान देकर उसका कोष बढ़ाओ और आवश्यकता पड़े तो जहाँ मन्दिरोंमें अच्छी आमदनी हो वहाँके धनसे कोष पूरा करो। साथ ही, वीरशासनके दिन ऐसे सुन्दर, सुसम्पादित-प्रकाशित ग्रन्थों पुस्तकों तथा ट्रैक्टोंका अधिकाधिक संख्यामें प्रचार करो। ये सब ऐसी आवश्यक क्रियाएँ हैं, जो वीरशासनके सम्बन्धमें हमारे उत्तरदायित्वको पूरा करा सकती हैं और जिनका वीरशासन-दिवस मनाते समय हर जगह रिवाज पड़ जाना चाहिये।

जिस तरह अब भारतवर्षमें एक छोरसे दूसरे छोर तक महावीर-जयन्ती सार्वजनिकरूपसे मनाई जाने लगी है और उसके निमित्तसे अजैन लोग जानने लगे हैं कि जैनधर्म क्या चीज़ है, उसी तरह वीर-शासन दिवसके दिन जैनग्रन्थों, पुस्तकों तथा ट्रैक्टोंके सुसम्पादन, लेखन तथा प्रकाशनके लिये ख़ासतौर पर योजनाएँ की जानी चाहियें, धन एकत्र किया जाना चाहिये और उस एकत्रित धनसे प्रकाशित साहित्यको जैन-जैनेतर संसारमें सम्यक्ज्ञानको जाग्रत करनेके लिये खूब प्रचारित करना चाहिये। उस दिन प्रातःकाल पूजन विधानादि हो तो दूसरे समयोंमें कमसे कम वीर भगवानके महान् ज्ञानको प्रकाशमें लानेका क्रियात्मक उद्योग अवश्य होना चाहिये, तभी हम अपने उत्तर दायित्वको कुछ निभा सकेंगे। अन्यथा हमें एक विद्वानके शब्दोंमें किंचित् परिवर्तनके साथ कहना पड़ेगा कि—

"न समझोगे तो मिट जाओगे ऐ जिनधर्मके भक्तो!
तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में॥"

आशा है वीर भगवान और उनके शासनके भक्त मेरे इस निवेदन और सामयिक सूचन पर अवश्य ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और आने वाले वीर जयन्तीके पुण्य-दिवस (श्रावणकृष्णाप्रतिपदा) पर शासन-सम्बन्धमें अपने उपर्युक्त कर्तव्य तथा उत्तरदायित्वको पूरा करनेके लिये अभीसे उसकी तय्यारी करेंगे।

वीरके दिव्य उपदेशकी एक झलक

[लि०—श्री जयभगवानजी बी० ए० वकील]
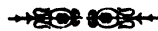
अन्तिम जैनतीर्थंकर श्रीवीर भगवान्‌ने विपुलाचल पर्वत पर संसारी आत्माको लक्ष्य करके उसके उद्धारार्थ जो सारभूत दिव्य उपदेश दिया था उसकी एक झलक इस प्रकार है :—

ऐ जीव ! तू अजर अमर है, महाशक्तिशाली और सारपूर्ण है। और यह दीखनेवाला जगत क्षणिक है, असमर्थ और निःसार है। तू इससे न्यारा है और यह तुझसे न्यारा है।

परन्तु अनादि मिथ्यात्ववश तू शरीरको स्वात्मा, विषय-भोगको सुख, परिग्रहको सम्पदा, नामको वैभव, रूपको सुन्दरता और पशुबलको वीरता मानता रहा है।

मोहवश इनके लाभको अपना लाभ, इनकी वृद्धि-को अपनी वृद्धि, इनके ह्रासको अपना ह्रास और इनके नाशको अपना नाश समझता रहा है। इसीलिए तू उन्मत्तसमान कभी खुश हो हँसता है और कभी दुःखी हो रोता है।

इसी मायाकी आशामें छला तू निरन्तर भवभ्रमण कर रहा है मृत्यु-द्वारसे हो निरन्तर एक घाटसे दूसरे घाटपर जा रहा है।

प्रमादवश तू इस माया प्रपंचमें ऐसा तल्लीन है कि तुझे हरएक लोक पहला ही लोक और हरएक जीवन पहला ही जीवन दिखाई देता है। तुझे पता नहीं कि तू बहुत पुराना पथिक है। तुझे चलते, ठहरते, देखते, विदा होते और पुनः पुनः उदय होते अनन्तकाल बीत गया है।

तबसे तू क्या जाने, क्षितिजमें कितने सांझ सवेरे हुए, और विलय हो गये। नभमें कितनी अँधयारी चांदनी रातें आईं और चली गईं। भूपर कितने ऋतु-चक्र नाचे और उड़ गये। लोकमें कितने युग उठे और बैठ गये। संसारमें कितने संग्रह बने और बिखर गये। जगमें कितने नाटक-पट खुले और बन्द हो गये। जीवनमें कितने साथी मिले और बिछुड़ गये।

ये सब अतीतकालकी स्मृतियां हैं। गई-गुजरी क हानियाँ हैं। परन्तु ये गई कहाँ ? इनके संस्कार आज भी तेरी चाल ढाल, तेरे हावभाव, तेरी इच्छा कामना और तेरी प्रकृतिमें अंकित हैं। इन सबको अपनी सत्ता-में उठाये तू अभी तक अनथक चला जा रहा है। वही वेदना, वही उत्साह और वही उद्यम ! कालजीर्ण हो गया, लोकजीर्ण हो गये, युगयुगान्तर जीर्ण होगये; परन्तु तू अभी तक अजीर्ण है, नवीन है, सनातन है।

क्या यह सब कुछ तेरी अमरता और जगकी क्षणि-कताका सबूत नहीं ? क्या यह तेरी अलौकिक शक्ति और जगकी असमर्थताका प्रमाण नहीं ? क्या यह तेरी सारपूर्णता और जगकी निस्सारताका उदाहरण नहीं ?

परन्तु हा ! तू अभी तक अपनेको मरणशील, असमर्थ निस्सार मानता हुआ मरीचिका-समान जगकी झूठी आशाओंमें उलझा हुआ है। तू अभी तक इसकी ही बालक्रीडाओं, गुण-लालसाओं और प्रौढ चिन्ताओंमें संलग्न है।

अरे मूढ ! पुत्र-कलत्र, गृह-वाटिका, धन-दौलत, जिन्हें तू अपने समझता है, वे तेरे कहाँ हैं ? ममत्व-भावसे ही तू उनके साथ बँधा है। ममत्व तोड़ और देख, वे स्वभाव, क्षेत्र, काल आदि सब ही अपेक्षाओंसे तुझसे भिन्न हैं। वे न तेरे साथ आये हैं, न तेरे साथ जायेंगे। न वे तेरे रोग, शोक, जरा मृत्युको हरण करने वाले हैं। वे सब नाशवान हैं। इनके मोहमें पड़कर तू क्यों व्यर्थ ही अपनेको खोता है ?

वे तो क्या, यह शरीर भी, जिसपर तू इतना मोहित है, जिसकी तू अहर्निश सेवा करता है, तू नहीं है। यह तेरी एक कृति है, जो कि प्रकृतिका सहारा ले जीवन उत्थानके लिये रची गई है। इसका पोषण जीवन उत्कर्षके लिये है, जीवन इसके पोषणके लिये नहीं है। ज़रा स्वचारहित इसके स्वरूपको तो विचार। यह कितना घिनावना और दुर्गन्धमय है। यह अस्थिपंजर-से बना हुआ है, माँससे विलेपित है, मलमूत्र और कृमिकुलसे भरा है। इसके द्वारोंसे निरन्तर मल झर रहा है। कौन बुद्धिवर इसे अपनाएगा ?

तेरा शरीर पानीके बुलबुलेके समान क्षणिक है। तेरा आयु कालगतिके साथ क्षण क्षण क्षीण हो रही है और तेरा यौवन स्वप्नलीलाके समान नितान्त जरामें बदल रहा है। तुझे अपने भविष्यका तनिक भी ध्यान नहीं। परन्तु मृत्यु निरन्तर तेरी ओर ताक लगाये बैठी है।

हे मानव ! तू व्यर्थही इस मनुष्य भवको व्यसनोंमें सना हुआ, आहार, निद्रा, मैथुन, परिग्रहमें लगा हुआ बरबाद न कर यह मनुष्यभव चिंतामणि रत्नके समान महामूल्यवान, महादुर्लभ और महाकष्टसाध्य पदार्थ है। जीवनमें रूप-आकार, भोग विलास, कंचन-कामिनी सब ही मिल सकते हैं; परंतु मनुष्यभव मिलना बहुत कठिन है।

तुझे पता नहीं, जीवको अपनी क्षण क्षण मरने जीने वाली निगोद दशासे ऊपर उठ, मनुष्यभव तक पहुँचने-में कितनी कितनी बाधाओं और आपदाओंसे लड़ना पड़ा है। कितनी असफलताओं और निराशाओंका मुँह देखना पड़ा है कितनी भूलों और सुधारोंमें से निकलना पड़ा है। जीवनका उत्कर्षमार्ग अगणित मौत-के दरोंमेंसे होकर गुजरता है और शोक-संतापकी छायासे सदा ढका है। मनुष्यभव इसी उत्कर्षमार्ग की अंतिम मंजिल है

यहां ही जीवको पहली बार उस वेदनाका अनुभव होता है जो उसे दुःखसे सुखकी ओर, मृत्युसे अमृत-की ओर, नीचेसे ऊपरकी ओर, विकल्पोंसे एकताकी ओर, बाहिरसे अन्दरकी ओर लखानेको मजबूर करती है।

यहाँ ही पहली बार उस सुबुद्धिका विकास होता है जो इसे हेय उपादेय हित अहित, निज परमें विवेक करना सिखाती है।

यहाँ ही पहली बार उस अलौकिक दृष्टिका उदय होता है जो इसे लौकिक क्षेत्रोंसे ऊपर अलौकिक क्षेत्रों-का भान कराती है। जो इसे शिल्पिक, नैतिक, वैज्ञा-निक और पारमार्थिक क्षेत्रोंका दर्शन कराती है।

यहाँ ही पहली बार अर्थशक्तिकी वह प्रेरणा अनु-भव होती है जो इसके पुरुषार्थको भौतिक उद्योगोंसे उठा अलौकिक उद्योगोंकी ओर लगाती है।

यहाँ ही पहली बार उस अवस्थाकी आवश्यकता मालूम होती है जो इसे स्वच्छन्दता, सुखशीलताको छोड़ यम नियम, व्यवहार रीति, संस्था प्रथा धारण करनेकी प्रेरणा करती है।

यहाँ ही पहली बार वह धर्मवृक्ष अंकुरित होता है

आत्मश्रद्धा जिसका मूल है, साम्यता जिसकी स्निग्ध छाया है। दया जिसका मद है। आत्मज्ञान जिसका प्रफुल्ल पुष्प है। त्याग जिसका सौरभ है और अमर जिसका फल है।

इन्हीं अलौकिक शक्तियोंके कारण मनुष्यभव सबसे महान् है, प्रधान है और अमूल्य है।

परन्तु हा! जीवन मानवी शरीरसे उभर भौतिक क्षेत्रसे जितना ऊँचा उठा, जितना इसकी बुद्धि, आचरण और पुरुषार्थका विकास बढ़ा, जितना इसकी दुःख अनुभूति और दुःख निवृत्तिकी कामनाने ज़ोर पकड़ा, जितना दुःखसमस्याको हल करनेके लिये इसने जीवन जगतको देखने, जानने और सुखमार्ग खोजनेका परिश्रम किया। उतना ही उतना इसकी भूल भ्रान्तियोंने, इसकी मिथ्या कल्पनाओं और मान्यताओंने भी जोर पकड़ा। इसकी आशायें और लालसायें भी विचित्र हुईं। इसका विकल्पप्रपञ्च और विमोह भी विस्तीर्ण हुआ।

इन ही नवीन भ्रान्तियों, मान्यताओं और आशाओंके कारण इसकी बाधायें और विपदायें भी सबसे गहन हैं। इसकी समस्यायें और जिम्मेवारियाँ भी सबसे जटिल हैं।

आशाके इन पाशोंमें फँसकर तनिक गिरना शुरू हुआ कि पतनका ठिकाना नहीं। फिर वह रोके नहीं रुकता। सीधा रसातलकी ही राह लेता है।

ओह! मोहजालके इन मृदु तारोंने, झूठी आशाओंकी मधुर मुस्कानने तुझ समान समुन्नत, समुज्ज्वल अनेक जीवन बान्ध बान्धकर रसातलको पहुँचा दिये हैं।

ऐ भव्यात्मा! यदि तू वास्तवमें बुद्धिमान है। स्वहितैषी है और उद्यमी है तो अब ऐसी योजना कर कि तुझे फिर अधोगति जाना न पड़े। बारबार मृत्युके चक्करमें गिरना न पड़े। बहुत काल बीत चुका है। उसका एक समय भी अब किसी प्रकार वापिस नहीं हो सकता है। जो काल बाक़ी है बड़ी तेज़ीके साथ गुजर रहा है। देरका अवसर नहीं! प्रमाद छोड़, जाग और खड़ा हो। जो कल करना है वह आज कर, जो आज करना है वह अब कर।

इससे पहिले कि मृत्यु अपनी टंकारसे तेरे प्राणोंको घायल करे, और तेरा शरीर पके हुए पातके समान आयुडालसे टूटकर धराशायी हो, तू इसे आत्मसाधनामें लगादे।

दिलकी ग्रन्थियोंको तोड़, संशय छोड़, निशंक बन, अपनेमें विश्वास धर कि तू तू ही है। तू सबमें है, सब तुझमें हैं पर तुझ सिवा तुझमें नहीं।

मोहजालके तार तार कर, अन्दर बैठ, निर्वात हो दीपक जगा और देख, तू कितना ऊँचा और महान है। इसमें ईर्षा और द्वेष कहाँ है। तू कितना सोहना सुन्दर है, इसमें आत्मअरुचि और परासक्ति कहाँ है।

मेरा तेरा छोड़, जगसे मुँह मोड़, निर्भय बन, अपने ही में लीन हो, और अनुभव कर, तू कितना मधुर और आनन्दमय है। इसमें दुःख कहाँ और शोक कहाँ है। तू कितना परिपूर्ण है इसमें राग और इच्छा की गुञ्जाइश कहाँ है। तू तो निरा अमृत सरोवर है इसमें जरा और मृत्यु कहाँ है।

साहित्य-परिचय और समालोचन

[अनेकान्तमें 'साहित्य-परिचय और समालोचन' नामका एक स्तम्भ रखनेका बहुत दिनोंसे विचार चल रहा है। अनवकाशादि कुछ कारणोंके वश अबतक उसका प्रारम्भ नहीं हो सका था, अब इस वर्षके इसी अङ्कसे उसका प्रारम्भ किया जाता है। इस स्तम्भके नीचे समालोचनार्थ तथा भेटस्वरूप प्राप्त साहित्यका परिचय रहेगा। सामान्यपरिचय प्रायः प्राप्तिके समय ही दे दिया जाया करेगा—सामान्य आलोचन भी उसी समय हो सकेगा। विशेष परिचय और विशेष समालोचनका कार्य बादको यथावकाश हुआ करेगा और वह उन्हीं ग्रन्थों-पुस्तकों आदिका हो सकेगा जिनके विषयमें वैसा करना उचित और आवश्यक समझा जायगा। हाँ, दूसरे विद्वान् यदि किसी ग्रन्थादिकी समालोचना खास अनेकान्तके लिये लिखकर भेजनेकी कृपा करेंगे तो उसे भी, उनके नामके साथ, इस स्तम्भके नीचे स्थान दिया जासकेगा। —सम्पादक]

(१) अकलंकग्रंथत्रयम्—मूल लेखक, भट्टाकलंकदेव। सम्पादक, न्यायाचार्य पं०महेन्द्रकुमारजी जैन शास्त्री, न्यायाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस। प्रकाशक, मुनिजिनविजय, संचालक 'सिंघी जैनग्रंथमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता। बड़ा साइज पृष्ठ सं०, सब मिलाकर ५२०। मूल्य, सजिल्द ५) रु०।

यह कलकत्ताके प्रसिद्ध श्वे० सेठ श्री बहादुर सिंहजी सिंघीकी ओरसे उनके पूज्य पिता श्री डालचन्दजी सिंघीकी पुण्यस्मृतिमें निकलने वाली 'सिंघी जैनग्रंथमालाका १२ वाँ ग्रन्थ है। इसमें श्रीभट्टाकलंकदेव-विरचित उच्चकोटिके न्यायविषयक तीन संस्कृत ग्रन्थोंका संग्रह है, जिनमेंसे एकका नाम 'लघीयस्त्रय' है, जो कि प्रमाण-नय-प्रवचन विषयक तीन लघु प्रकरणोंको लिये हुए है; दूसरेका नाम 'न्यायविनिश्चय' और तीसरेका 'प्रमाणसंग्रह' है। पहले तथा तीसरे ग्रंथकेसाथ खुद भट्टाकलंकदेव विरचित स्वोपज्ञभाष्य भी लगा हुआ है, दूसरे ग्रन्थका स्वोपज्ञभाष्य उपलब्ध नहीं हो सका, इसीसे वह साथमें नहीं दिया जासका। इन स्वोपज्ञभाष्यों तथा प्रमाणसंग्रहके अकलंक द्वारा रचे जानेकी सबसे पहले सूचना अनेकान्त द्वारा सन् १९३० में की गई थी—*और इनको तथा न्यायविनिश्चय मूलको खोज निकालनेकी प्रेरणा भी की गई थी। साथ ही, समन्तभद्राश्रम-विज्ञप्ति नं० ४ के द्वारा दूसरे ग्रन्थोंके साथ इन ग्रन्थोंको भी खोजनेके लिये पारितोषिककी सूचना निकाली गई थी †। लुप्तप्राय जैन ग्रन्थोंकी खोज-सम्बन्धी मेरे इस आन्दोलनके फलस्वरूप इन ग्रंथोंका उद्धार होनेसे मेरी महती प्रसन्नताका होना स्वाभाविक है, और इसलिये मैंने इन ग्रन्थोंके उद्धार संबन्धी शुभ

---

* देखो, अनेकान्त प्रथम वर्षकी प्रथम किरणमें प्रकाशित लुप्तप्रायजैन ग्रंथोंकी खोज-विषयक विज्ञप्ति नं०३ और तीसरी किरणमें प्रकाशित 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षकके नीचे, 'अकलंक ग्रन्थ और उनके स्वोपज्ञभाष्य' नामका उपशीर्षक लेख।

† देखो, अनेकान्त वर्ष १ किरण ४

समाचारको गतवर्षके अनेकान्तकी प्रथम किरणमें ही प्रकट कर दिया था (पृ० १०३) और यह भी सूचित कर दिया था कि ये ग्रंथ सिंघी जैन-ग्रंथ-मालामें छप गये हैं और जल्दी ही भूमिकादिसे सुसज्जित होकर प्रकाशित होने वाले हैं, परन्तु इनके प्रकाशनमें पूरा एक साल और लग गया। और इसलिये अब अक्टूबरमें प्रकाशित होकर आने पर मुझे सबसे पहले इस स्तम्भके नीचे इन्हीं का संक्षिप्त परिचय देनेमें आनन्द मालूम होता है!

इस संग्रहमें 'न्यायविनिश्चय' के साथ उसके वादिराजसूरिकृत विवरणपरसे कारिकाओंके उत्थान-वाक्योंको ज्योंका त्यों तथा संक्षेपमें उद्धृत किया गया है, जिससे कारिकाओंका अर्थ समझने और उनके सम्बन्धको मालूम करनेमें आसानी हो; तीनों ग्रन्थों पर जुदी-जुदी टिप्पणियाँ अलग दी गई हैं; तीनोंका विषयानुक्रम भी साथमें लगाया गया है; ९ उपयोगी परिशिष्ट दिये हैं, जिनमें इन ग्रंथोंके कारिकाओंकी अनुक्रमणिकाएँ, अवतरण वाक्योंकी सूचियाँ और सभी दार्शनिक तथा लाक्षणिक शब्दोंकी सूची खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त ग्रंथके शुरूमें क्रमशः ग्रंथमालाके मुख्य सम्पादक श्री जिनविजयजीका 'प्रास्ताविक', पं० सुखलालजी संघवी दर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशीका 'प्राक्कथन', न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीका 'सम्पादकीय वक्तव्य' और महत्वपूर्ण 'प्रस्तावना' जो सब राष्ट्रभाषा हिन्दीमें लिखे गये हैं, सब मिलकर ग्रन्थकी उपयोगिताको बहुत ज्यादा बढ़ा रहे हैं। इस ग्रंथके सम्पादनमें न्यायाचार्यजीने काफी परिश्रम किया है और उसके कारण उन्हें जो सफलता मिली है उसके लिये वे बधाईके पात्र हैं। उनकी प्रस्तावनाको पूर्णरूपसे देखनेका यद्यपि मुझे अभी तक यथेष्ट अवसर नहीं मिल सका, फिर भी उसके कुछ अंशों पर सरसरी तौरसे नजर डालने पर उसमें विद्वानोंके लिये विचारकी काफी सामग्री मालूम होती है। कितनी ही बातें विशेष विचारके योग्य भी हैं; जैसे अकलंकका समय, जिसे उन्होंने विक्रमकी ७वीं शताब्दीके स्थानपर ८वीं-९वीं शताब्दी सिद्ध करनेका यत्न किया है।

दिगम्बर सम्प्रदायके इन लुप्तप्राय महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्नोंका एक श्वेताम्बर-संस्था (सिंघी-जैन-ज्ञानपीठ) द्वारा उद्धार देखकर, जहाँ दिगम्बर-समाजकी अपने साहित्यके प्रति उपेक्षा-उदासीनता, और कर्तव्यविमुखता पर खेद होता है वहाँ श्वेताम्बर भाइयोंकी इस उदारता, दूरदृष्टिता और गुणग्राहकताकी प्रशंसा किये बिना भी नहीं रहा जाता। इसके लिये सिंघी जैनग्रंथमालाके सुसंचालक मुनि श्रीजिनविजय, उसके संस्थापक एवं पोषक उदारचेता बाबू बहादुरसिंहजी सिंघी और इन ग्रंथोंके इस तरह प्रकाशनकी योजना तथा प्रेरणा करनेवाले समर्थ विद्वान प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी विशेष धन्यवादके पात्र हैं। इस प्रकारके प्रयत्न निःसन्देह साम्प्रदायिक कट्टरताको मिटानेके प्रधान साधन हैं, और इसलिये मैं इनका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ।

ग्रन्थकी छपाई-सफाई सब उत्तम हुई है, कागज भी अच्छा पुष्ट लगाया है और जिल्द सुन्दर तथा मनोमोहक है। परिश्रमादिको देखते हुए मूल्य भी अधिक नहीं है। संक्षेपमें ग्रन्थ विद्वानोंके अपने पास रखने, मनन करने और लायब्रेरियों, ज्ञान-

मन्दिरों, विद्यालयों तथा शिक्षा संस्थाओंमें संग्रह करनेके योग्य है।

(२) *वराङ्गचरित*—मूल लेखक, श्री जटासिंह नन्दिआचार्य। सम्पादक, प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय, राजाराम कालिज कोल्हापुर। प्रकाशक, पं० नाथूराम प्रेमी, मंत्री 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रंथमाला, हीराबाग, बम्बई ४। साइज़, २०×३०, १६ पेजी। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर ४९७। मूल्य, सजिल्द ३) रु०।

यह प्राचीन संस्कृत ग्रंथ भी उन लुप्तप्राय जैन-ग्रन्थोंमेंसे है जिनके उद्धारार्थ—आजसे दस वर्ष पहले अनेकान्तमें समन्तभद्राश्रम-विज्ञप्तियोंके द्वारा आन्दोलन उठाया गया था और पारितोषिक भी निकाला गया था। इसके उद्धारका सारा श्रेय इसके सुयोग्य सम्पादक प्रोफेसर ए० एन० (आदिनाथ नेमिनाथ) उपाध्यायजीको है, जिन्होंने सब से पहले कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन भट्टारकके मठसे इसकी एक पुरानी ताड़पत्रीय प्रतिका खोज निकाला और उसका परिचय पूनाके 'एनल्स आफ दि भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिटयूट' नामक अंग्रेजी पत्रकी १४ वीं जिल्दके अंक नं० १०२ में प्रकट किया। साथही यह भी सप्रमाण प्रकट किया कि इस वरांगचरितके रचयिता आचार्य जटासिंह नन्दी हैं, जिन्हें जटिलमुनि भी कहते हैं और जो ई० सन् ७७८ से पहले हुए हैं—श्रीजिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराणके एक उल्लेखपरसे इसे जो पद्मचरितके कर्ता रविषेणाचार्यकी कृति समझ लिया गया था वह उस उल्लेखको ठीक न समझनेकी गलतीका परिणाम था। उक्त परिचयको पाकर माणिकचन्द ग्रन्थमालाके सुयोग्य मंत्री पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बईने प्रो० साहबको इस ग्रन्थके सम्पादनके लिये प्रेरित किया, उसीका फल ग्रन्थका यह प्रथम संस्करण है और यह उक्त ग्रन्थमालाका ४० वां ग्रन्थ है।

ग्रन्थका विषय उसके नामसे ही स्पष्ट है। यह 'वराङ्ग' नामके एक राजकुमारकी कथा है, जो अपनी विमाता मृगसेनाके डाह एवं षड्यन्त्रके कारण अनेक संकटोंमें गुजरता हुआ और अपनी योग्यतासे उन्हें पार करता हुआ अन्तको अपना नया स्वतन्त्र राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हुआ और जिसने बादको जैनमुनि होकर भगवान नेमिनाथके तीर्थमें मुक्ति लाभ किया और इस तरह अपना उत्कर्ष सिद्ध करके पूर्ण स्वाधीनतामय सिद्धपदकी प्राप्ति की। कथा रोचक है, ३१ सर्गोंमें वर्णित है और प्राचीन साहित्यका एक अच्छा नमूना प्रस्तुत करती है।

प्रो०साहबने इस ग्रन्थका सम्पादन बड़ी योग्यता तथा परिश्रमके साथ किया है। आप सम्पादन-कलामें खूब सिद्धहस्त हैं,इससे पहले प्रवचनसार* और परमात्मप्रकाश। नामक ग्रन्थका उत्तम सम्पादन करके अच्छी ख्याति लाभ कर चुके हैं। बम्बई यूनिवर्सिटीने आपके उत्तम सम्पादनके कारण ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन में २५० रु० की सहायता प्रदान की है, प्रवचनसारकी प्रस्तावना पर भी वह पहले २५० रु० पुरस्कारमें दे चुकी है और हालमें उसने प्रो० साहबको डाक्टर आफ लिटरेचर (डी० लिट०) की उपाधि से विभूषित

* इस ग्रन्थकी विस्तृत समालोचनाके लिये देखो, जैन सिद्धान्त भास्करमें प्रकाशित 'प्रवचनसारका नया संस्करण' नामक लेख।

कर विशेषरूपसे सम्मानित भी किया है। ऐसी हालतमें आपकी सम्पादन योग्यताके विषयमें अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं है।

इस ग्रन्थके साथमें प्रो० साहबकी ५६ पृष्ठोंकी अंग्रेजी प्रस्तावना देखने योग्य है, जिसका हिन्दी सार भी पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीसे लिखाकर साथमें लगा दिया गया है और इससे हिन्दी जानने वाले भी उससे कितना ही लाभ उठा सकते हैं। प्रस्तावनामें (१) सम्पादनोपयुक्त-सामग्री (२) मूलका संगठन (३) मूलके रचयिता (४) जटासिंहनन्दि आचार्य, (५) जटासिंहनन्दीका समय और उनकी दूसरी रचनाएँ, इन विषयों पर प्रकाश डालनेके बाद (६) वरांग चरितका आलोचनात्मक—गुणदोषनात्मक और तुलनात्मक परिचय कराया गया है, जिसमें ग्रन्थ-विषयका सार काव्यके रूपमें धर्मकथा, ग्रंथमेंसे दार्न्तिक वर्णन वादानुवादात्मक स्थलोंका निर्देश, तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितिका दिग्दर्शन, अश्वघोष और जटिल, वराङ्ग चरित और उत्तरकालीन ग्रन्थकार, ग्रन्थकी व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ, ग्रन्थके छन्द और ग्रन्थकी रचनाशैली जैसी विषयोंका समावेश किया गया है और अन्त में (७) दूसरे चार वरांग-चरितोंका परिचय देकर प्रस्तावनाको समाप्त किया है। प्रस्तावनाके बाद सर्ग क्रमसे ग्रन्थका विषयानुक्रम दिया है। ग्रन्थके पदोंकी वर्णानुक्रम सूची भी ग्रन्थ मेंलगाई गई है। इनके अतिरिक्त सर्गक्रमसे पद्योंकी सूचनाको साथमें लिए हुए कुछ महत्वकी टिप्पणियां (Notes) भी अंग्रेजीमें अलग दी गई हैं। और ग्रन्थमें पायेजानेवाले नामोंकी भी एक पंचपृष्ठात्मक अनुक्रमणिका लगाई गई है। इस तरह ग्रन्थके इस संस्करणको बहुत कुछ उपयोगी बनाया गया है। छपाई सफाई अच्छी और गेट अप भी ठीक है। ग्रन्थ सब तरहसे संग्रह करने योग्य है। ग्रन्थके इस उद्धार कार्यके लिये सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं। हाँ, ग्रन्थका मूल्य अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। खेद है कि माणिकचंद ग्रंथमालाको दिगम्बर जैनसमाजका बहुत ही कम सहयोग प्राप्त है। उसकी आर्थिक स्थिति बड़ी ही शोचनीय है, ग्रंथ बिकते नहीं, उनका भारी स्टाक पड़ा हुआ है। इसीसे वह अब अपने ग्रंथोंका मूल्य कम रखनेमें असमर्थ जान पड़ती है। दिगम्बर जैनोंका अपने साहित्यके प्रति यह अप्रेम और उपेक्षाभाव निःसन्देह खेदजनक ही नहीं, बल्कि उनकी भावी उन्नतिमें बहुत बड़ा बाधक है। आशा है समाजका ध्यान इस ओर जायगा, और वह अधिक नहीं तो मन्दिरोंके द्रव्यसे ही प्रकाशित ग्रंथोंको शीघ्र खरीद कर उन्हें मन्दिरोंमें रखनेकी योजना करेगा, जिससे अन्य ग्रंथोंके प्रकाशनको अवसर मिल सके।

(३) तत्त्वार्थसूत्र—(हिन्दी अनुवादादि सहित) मूललेखक, आचार्य उमास्वाति। अनुवादक और विवेचक, पं० सुखलालजी संघवी, प्रधान जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस। सम्पादक पं० कृष्णचन्द्र जैनागम दर्शन-शास्त्री, अधिष्ठाता श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस। तथा पं० दलसुख मालवणिया, न्यायतीर्थ, जैनागमाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस। प्रकाशक श्री मोहनलाल दीपचन्द्र चोकसी, मंत्री

जैनाचार्य श्री आत्मानन्द-जन्म-शताब्दी-स्मारक ट्रस्ट बोर्ड, त्रांबा कांटा, वहोरानो जूनोमालो चौथा माला, बम्बई नं० ३। मूल्य १।।) रु०।

यह ग्रन्थ प्रायः पूर्वमें प्रकाशित अपने गुजराती संस्करणका, कुछ संशोधन और परिवर्धनके साथ, हिन्दीरूपान्तर है। इस संस्करणकी मुख्य दो विशेषताएँ हैं। एक तो इसमें पारिभाषिक शब्दकोष और सटिप्पण मूलसूत्रपाठ जोड़ा गया है, जिनमेंसे शब्दकोषको पं० श्रीकृष्णचन्द्रजी सम्पादकने और सूत्रपाठको पं० दलसुखभाई सम्पादकने तय्यार किया है। ये दोनों उपयोगी चीजें गुजराती संस्करणमें नहीं थीं। इनके तय्यार करनेमें जो दृष्टि रक्खी गई है वह पं० सुखलालजीके वक्तव्यके शब्दोंमें इस प्रकार है—

"पारिभाषिक शब्दकोश इस दृष्टिसे तय्यार किया है कि सूत्र और विवेचन-गत सभी जैन-जैनेतर पारिभाषिक व दार्शनिक शब्द संग्रहीत हो जायँ, जो कोशकी दृष्टिसे तथा विषय चुननेकी दृष्टिसे उपयुक्त हो सकें। इस कोषमें जैनतत्त्वज्ञान और जैन आचारसे सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी शब्द आजाते हैं। और साथही उनके प्रयोगके स्थान भी मालूम हो जाते हैं। सूत्रपाठमें श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय दोनों सूत्रपाठ तो हैं ही फिर भी अभी तकके छपे हुए सूत्रपाठोंमें नहीं आए ऐसे सूत्र दोनों परम्पराओंके व्याख्या-ग्रन्थोंको देखकर इसमें प्रथमवार ही टिप्पणीमें दिये गये हैं।"

दूसरी विशेषता परिचय-प्रस्तावनाकी है, और जो पं० सुखलालजीके शब्दोंमें इसप्रकार है—

"प्रस्तुत आवृत्तिमें छपा परिचय सामान्यरूपसे गुजरातीका अनुवाद होने पर भी इसमें अनेक महत्वके सुधार तथा परिवर्धन भी किये गये हैं। पहलेके कुछ विचार जो बादमें विशेष आधार वाले नहीं जान पड़े उन्हें निकाल कर उनके स्थानमें नये प्रमाणों और नये अध्ययनके आधार पर खास महत्वकी बातें लिख दी हैं। उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्वार्थ सचेल—पक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है यह वस्तु बतलानेके वास्ते दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय श्रुत व आचार भेदका इतिहास दिया गया है और अचेल तथा सचेल पक्षके पारस्परिक सम्बन्ध और भेदके ऊपर थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है, जो गुजराती परिचयमें न था। भाष्यके टीकाकार सिद्धसेन गणि ही गंधहस्ती हैं ऐसी जो मान्यता मैंने गुजराती परिचयमें स्थिरकी थी उसका नये अकाट्य प्रमाणके द्वारा हिन्दी परिचयमें समर्थन किया है और गन्धहस्ती तथा हरिभद्रके पारस्परिक सम्बन्ध एवं पौर्वापर्यके विषयमें भी पुनर्विचार किया गया है। साथ ही दिगम्बर परम्परामें प्रचलित समन्तभद्रकी गंधहस्तित्वविषयक मान्यताको निराधार बतलानेका नया प्रयत्न किया है। गुजराती परिचय में भाष्यगत् प्रशस्तिका अर्थ लिखनेमें जो भ्रांति रह गई थी उसे इस जगह सुधार लिया है। और उमास्वातिकी तटस्थ परम्पराके बारेमें जो मैंने कल्पना विचारार्थ रखी थी उसको भी निराधार समझकर इस संस्करणमें स्थान नहीं दिया है। भाष्यवृत्तिकार हरिभद्र कौनसे हरिभद्र थे—यह वस्तु गुजराती परिचयमें संदिग्ध रूपमें थी जब कि इस हिन्दी परिचयमें याकिनीसू रूपसे उन हरिभद्रका निर्णय स्थिर किया है।"

अर्थात् प्रथम वर्षके अनेकान्तकी ६ से १२ नम्बर तककी किरणोंमें पं० सुखलालजीके जो तीन लेख—१ तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति; २ उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र, ३ तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार और व्याख्याएँ, इन शीर्षकोंके साथ—गुजराती संस्करणके परिचय-प्रस्तावनापरसे अनुवादित कर कुछ क्रमभेदके साथ दिये गये थे, वे सब इस संस्करणमें उक्त विशेषताके अनुरूप संशोधित और परिवर्तित होकर दिये गये हैं। और इसलिये यह दूसरी विशेषता विद्वानोंके सामने कितनी ही नई बातें विचारके लिये प्रस्तुत करती हैं। पं० सुखलालजीकी दृष्टिमें अब तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पूर्णरूपसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थ हैं—उमास्वातिके दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदाय भेदसे भिन्न एक तटस्थ विद्वान होनेकी और इसीसे दोनों सम्प्रदायों द्वारा उनकी इस कृतिके अपनाये जानेकी जो कल्पना पहले उन्होंने की थी वह अब नहीं रही। इस विशेषताकी कितनी ही बातों पर विशेष विचार प्रस्तुत करनेकी अपनी इच्छा है, जिसे यथावकाश बादको कार्यमें परिणत किया जायगा।

ग्रन्थका यह संस्करण अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है, हिन्दी-पाठकोंके सामने विचारकी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है, छपाई-सफ़ाई भी इसकी सुन्दर हुई है और मूल्य १॥) रु० तो प्रचारकी दृष्टिसे कम रक्खा ही गया है, जबकि गुजराती संस्करणका मूल्य २।) रु० था। अतः ग्रंथ विद्वानोंके पढ़ने, विचारने तथा संग्रह करनेके योग्य है।

(४) सन्मतितर्क (अँग्रेजी अनुवाद सहित)—मूलग्रन्थ लेखक, सिद्धसेनाचार्य, मूलगुजराती टीकाकार तथा प्रस्तावना लेखक, पं०सुखलाल व पं०बेचरदास। अँग्रेजीमें प्रस्तावनाऽनुवादक, प्रो० ए०बी० आथवले, एम०ए०; मूल तथा टीकानुवादक प्रो० ए० एस० गोपनी, एम० ए०। सम्पादक, पं०दलसुख मालवनिया प्रकाशक,'सैक्रेटरी श्री जैन, श्वेताम्बर एजुकेशन बोर्ड, २० पायधुनी, बम्बई ३। पृष्ठ संख्या, ४१६। मूल्य, १) रु०।

सन्मतितर्क पर पं० सुखलाल और पं० बेचरदासजीने जो पहले सन् १९३३ में गुजराती टीका तथा प्रस्तावना लिखी थी उसीका यह ग्रंथ मूलकारिकाओंके साथ अँग्रेजी अनुवाद है, जो उक्त दो विद्वानोंसे कराया गया है। साथमें नामादि-विषयक दो उपयोगी Index भी लगाये गये और इस तरह उसके द्वारा अँग्रेजी जाननेवालोंके लिये सन्मतितर्कको पढ़ने-पढ़ाने और उसकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना (Introduction) से यथेष्ट लाभ उठानेका मार्ग सुगम किया गया है। पं०-सुखलालजी आदिका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। इस ग्रंथके निर्माण तथा प्रकाशन कार्यमें श्रीमती लीलावती धर्मपत्नी स्व० सेठ देवीदासकानजी बम्बईने ११००) रु० की और मास्टर रतनचन्द तलकचन्दजीने ३००) रु० की सहायता प्रदान की है।

(५) श्री आत्मानन्द-जन्मशताब्दि-स्मारकग्रन्थ—सम्पादक, श्री मोहनलाल दलीचन्द देशाई, एडवोकेट, बम्बई। प्रकाशक, श्री मगनलाल मूलचन्द-शाह, मन्त्री श्री आत्मानन्द-जन्म-शताब्दि-स्मारक-समिति, बम्बई। मूल्य, २॥) रु०।

यह 'अनेकान्त'—साइजके आकारमें अनेकानेक लेखों तथा चित्रोंसे अलंकृत और कपड़ेकी सुन्दर पुष्ट जिल्दसे सुसज्जित 'कल्याण' के विशेषाङ्कों जैसा एक बहुत बड़ा दलदार ग्रन्थ है, जो श्वेताम्बर जैनाचार्य

श्रीमद्विजयानन्दसूरि, प्रसिद्ध नाम आत्मारामजी महाराजकी जन्मशताब्दिकी स्मृतिमें एक समिती स्थापित करके विशाल आयोजनके साथ निकाला गया है। इसमें लेखोंके मुख्य तीन विभाग हैं-- (१) अँग्रेजी, (२) हिन्दी और (३) गुजराती। अँग्रेजी लेखोंकी संख्या ३५, हिन्दी लेखोंकी ४० और गुजराती लेखोंकी ५८ है। गुजरातीके लेख दो विभागोंमें बंटे हुए हैं- एक खास मुनि आत्मारामजी-विषयक, जिनकी संख्या २६ है और दूसरे अन्य विषयोंसे सम्बन्ध रखने वाले जिनकी संख्या ३२ है। अँग्रेजीके लेखोंकी पृष्ठ संख्या १९०, हिन्दी लेखोंकी—(जिनमें कुछ संस्कृतके पद्य लेख भी शामिल हैं) २१८, और गुजराती लेखोंकी १४४+२६० है। इनके अतिरिक्त सम्पादकीय वक्तव्य, प्रकाशकीय निवेदन और लेखसूचियों आदिके पृष्ठोंका भी यदि लेखा लगाया जाय तो ग्रंथकी कुल पृष्ठ संख्या ८५० के क़रीब होजाती है। चित्रोंकी कुल संख्या १५० है, जिनमेंसे २९ अँग्रेजो विभागके साथ, ५० हिन्दी विभागके और ६० गुजराती लेखोंके साथ दिये हैं। शेष ११ चित्रोंमेंसे ९ तो लेखारम्भसे पहले दिये हैं, एक शताब्दि नायकका सुन्दरचित्र बाहर कपड़ेकी जिल्दपर चिपकाया गया है और दूसरा जिल्दके भीतर ग्रन्थारम्भसे पहले छापा गया है। चित्र अनेक व्यक्तियों, संस्थाओं, जल्सों, मंदिरों, मूर्तियों, शिलालेखों तथा हस्तलेखोंसे सम्बन्ध रखते हैं और वे तिरंगे, फोटोके तथा रेखा चित्रादि रूपसे अनेक प्रकारके हैं।

इस ग्रन्थमें लेखोंका संग्रह तथा संकलन अच्छा हुआ है। कितने ही लेख तो बड़े महत्वके हैं। 'जैनधर्म और अनेकान्त' नामका एक लेख उनमेंसे 'अनेकान्त' के गत् वर्षकी छठी किरणमें उद्धृत भी किया गया था। चित्र भी कितने ही मनमोहक तथा कामके । संक्षेपमें अपने पाठकोंके लिये यह ग्रन्थ अनुभव, विचार तथा मननकी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करता है। छपाई सफाई और गेट-अप सब चित्ताकर्षक है, कागज़ भी अच्छा चिकना तथा पुष्ट लगा है और मूल्यका तो कहना ही क्या! वह तो बहुत ही कम है और स्मारक समितिकी प्रचार दृष्टिको सूचित करता है। यदि इससे दुगना-पाँच रुपये-मूल्य भी रक्खा जाता तो भी कमही होता। ऐसी हालत में कौन साहित्यप्रेमी है जो ऐसे ग्रन्थका संग्रह न करे! श्वेताम्बर समाजका अपने वर्तमान युगीन एक सेवापरायण पूज्याचार्यके प्रति यह भक्ति भाव और कृतज्ञता-प्रकाशनका आयोजन निःसन्देह बड़ा ही स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है और उसमें जीवनशक्तिके अस्तित्वको सूचित करता है। साथ ही दिगम्बर समाजके लिये ईर्षाके योग्य है और उसके सामने इस दिशामें एक अच्छा कर्त्तव्यपाठ प्रस्तुत करता है।

वीतराग प्रतिमाओंकी अजीब प्रतिष्ठा विधि

[लेखकः— श्री बाबू सूरजभानजी वकील]

जैन शास्त्रोंके पढ़ने और पं० गोपालदास आदि विख्यात विद्वानोंके उपदेशोंसे अब तक यही मालूम हुआ है कि जैनधर्म मूर्तिपूजक नहीं है किन्तु मूर्तिसे मूर्तिका तो काम लेनेके वास्ते ही वीतराग भगवानकी मूर्तियोंको मन्दिरोंमें स्थापित करनेकी आज्ञा देता है, जिससे अर्हंत भगवानकी वीतराग छविको देखकर, देखने वालोंके हृदयमें भी वीतराग भाव पैदा हों। जैन-धर्मका सार एकमात्र वीतरागता और विज्ञानता ही है, यह ही मोक्षका कारण है। इन दोनोंमें भी एकमात्र वीतरागता ही विज्ञानताका कारण है। वीतरागतासे ही केवलज्ञान प्राप्त होता है और सर्व सुख मिलता है इस ही वास्ते जैनधर्म एकमात्र वीतरागता पर ही ज़ोर देता है, जो वास्तवमें जीवात्माका वास्तविक स्वभाव या धर्म है। उस ही वीतरागताकी प्राप्तिका मुख्यहेतु वीतराग कथित जिनवाणीका श्रवण, मनन और पठन-पाठन है, जिसमें वीतरागताकी मुख्यता श्रेष्ठताको भली भांति दिखाया गया है और वस्तुस्वभाव तथा नय-प्रमाणके द्वारा हृदयमें बिठानेकी प्रचुर कोशिश की गई है। इस ही के साथ जिन्होंने वीतरागता प्राप्त कर अपना परमानन्दपद प्राप्त करलिया है उनकी वीतराग-मूर्तिके दर्शन होते रहना भी वीतरागभाव उत्पन्न करनेके वास्ते कुछ कम कारण नहीं है। इसीसे जैनशास्त्रोंमें घर घर जिनप्रतिमा विराजती रहनेको अत्यन्त जरूरी बताया है, जिससे उठते-बैठते हरवक्त ही सबका ध्यान वीतराग-मूर्ति पर पड़ता रहे और यह पापी मन संसारमें अधिक न उलझने पावे। सार्चौबीसी नामक ग्रन्थमें लिखा है—

यत्रागारे जिनार्चाहो नास्ति पुण्यकरानृणाम्।
तद्गृहं धार्मिकैः प्रोक्तं पापदं पक्षि स भम ॥६५॥

अर्थात्—जिस घरमें मनुष्योंको पुण्य प्राप्त कराने वाली जिनप्रतिमा नहीं है उस घरको धार्मिक पुरुष पाप उपजानेवाला पक्षियोंका घर बताते हैं। इस ही प्रकार पद्मपुराणके पर्व ९२वें में लिखा है—

अद्यप्रभृति यद्गेहे बिबं जैनं न विद्यते।
मारी भक्षति तद्व्याघ्री यथाऽनाथं कुरंगकम् ॥

अर्थात्—जिस घरमें जिन प्रतिमा नहीं है उस घरको (घर वालोंको) मारी (प्लेग जैसी बीमारी) उसी तरह खाती है जिस तरह अभय हिरणको शेरनी।

जैनधर्म वीतराग धर्म है, इस ही कारण वह परम वीतरागीदेव, वीतरागीगुरु और वीतरागताकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रोंकी ही पूजा वंदना करनेकी आज्ञा देता है तथा रागीदेव, रागीसाधु और रागको पुष्ट करने वाले शास्त्रोंको अनायतन ठहराकर उनसे बिलकुल ही दूर रहने पर जोर देता है। वीतरागदेव, गुरु, शास्त्रकी पूजा प्रतिष्ठा वंदना-स्तुति भी वह किसी सांसारिक कार्यकी सिद्धिके वास्ते करना कतई मना करता है। इस प्रकारकी कांक्षा रखने वालेको तो जैनधर्म सच्चा श्रद्धानी ही नहीं मानता है; किन्तु मिथ्यात्वी ठहराता है। भक्ति स्तुति-पूजा-पाठ आदि धर्मकी सब क्रिया तो वह एकमात्र वैराग भाव हल करनेके वास्ते ही ज़रूरी बताता है।

इसही कारण तीर्थंकर भगवानकी भक्ति भी एक मात्र उनकी वीतराग अवस्थाकी ही करनी ज़रूरी बताई जाती है, जिससे वीतरागताका भाव पैदा हो, न कि उनकी गृहस्थावस्थाकी, जिससे राग-भाव पैदा होनेकी ही सम्भावना हो सकती है। ऐसी दशामें सवाल यह पैदा होता है कि वीतराग-प्रतिमा, जिसके घर-घर रखनेकी जरूरत है; वह क्या इस प्रकार प्रतिष्ठित होनी ज़रूरी है, जिस प्रकार पंचकल्याणकोंकी लीला करके आजकल प्रतिष्ठित समझी जाती है, और प्रतिष्ठा होनेके बाद शिल्पी द्वारा उनपर प्रतिष्ठित किया जाना अंकित कराया जाता है, अथवा बिना इस प्रकारकी लीलाके वैसे ही उनको विराजमानकर उनके दर्शनसे वीतरागताकी शिक्षा लेते रहनेकी ही जरूरत है, जैसा कि प्राचीन कालके जैनी करते थे। क्योंकि प्राचीनकालकी जो जैनप्रतिमाएँ धरतीमेंसे निकलती हैं वे चौथे कालकी हों या पंचम कालकी; उनपर प्रतिष्ठा होना अंकित नहीं होता है जैसा कि आजकलकी मूर्तियों पर होता है। मूर्ती निर्माण कराने वाले शिल्पशास्त्रोंमें प्रत्येक तीर्थंकरकी अलग अलग शक्ल नहीं बताई गई है, जिससे शिल्पकार पहलेसे ही प्रत्येक तीर्थंकरकी अलग अलग मूर्ति बनावें। वह तो सबही मूर्तियाँ एक समान बनाता है और उसमें महावीतरागताका भाव दर्शानेका ख्याल रखता है। फिर चाहे जिस पर चाहे जिस तीर्थंकरका चिन्ह बना देता है। तब यदि यह चिन्हन बनाया जावे तो वह मूर्ति सबही तीर्थंकरोंकी, उनका परम वीतरागरूप अवस्थाकी समझी जा सकती है, ऐसी ही वे प्राचीन मूर्तियाँ समझी जाती थीं जो धरतीके नीचेसे निकलती हैं और जिन पर प्रायः कोई चिन्ह बना हुआ नहीं होता है। वीतरागताका भाव पैदा करनेके वास्ते तो हमको इस बातकी कुछ भी ज़रूरत नहीं होती है कि वह किसी तीर्थंकरकी प्रतिमा है। किसी भी तीर्थंकरकी हो परम वीतराग रूप प्रतिमा ज़रूर होनी चाहिये, जिसके दर्शनसे वीतरागताका भाव हमारे हृदयमें भी पैदा होने लग जाय। रही पूजने या भक्ति स्तुति करनेकी बात, वह बेशक अलग अलग तीर्थंकरकी अलग अलग की जाती है, परन्तु जिस तीर्थंकरकी प्रतिमा मन्दिरमें नहीं होती है, उनकी भी पूजा वंदना और भक्ति-स्तुति की जाती है। यह भक्ति स्तुति प्रतिमाकी तो की ही नहीं जाती है और न मन्दिरमें विराजमान प्रतिमाको वास्तविकरूपमें तीर्थंकर भगवान ही माना जाता है। मूर्तिसे तो मूर्तिका ही काम लेनेकी आज्ञा है अर्थात् यह ही समझने और माननेकी ज़रूरत है कि यह तीर्थंकरभगवान्की परम वीतरागरूप अवस्थाकी मूर्ति है तब प्रत्येक तीर्थंकरकी अलग २ प्रतिमा रखने और उनपर अलग२ चिन्ह बनानेकी तो कुछ भी ज़रूरत नहीं है वहाँ यदि इन मूर्तियोंको ही साक्षात् भगवान मानकर पूजनेकी आज्ञा होती तब तो बेशक अलग २ तीर्थंकरकी अलग२ मूर्ति बनानेकी भी जरूरत होती; परन्तु अब तो परम वीतरागताकी मूर्तिके दर्शन करनेके वास्ते एक ही मूर्ति काफी है, जो सबही तीर्थंकरोंकी मूर्ति समझी जासकती है। इसही कारण कोई भी चिन्ह बनानेकी जरूरत मालूम नहीं होती है।

अब भी जिन मंदिरोंमें सबही तीर्थंकरोंके चिन्होंवाली मूर्तियाँ नहीं होती हैं। एक, दो या तीन ही मूर्तियाँ होती हैं, उन मंदिरोंमें भी तो चौबीसों तीर्थंकरोंकी पूजा-भक्ति होती है अर्थात् वीतरागताकी शिक्षा तो उन विराजमान प्रतिमाओंसे लेली जाती है और पूजाभक्ति सबकी अपने मनमें उनका स्मरण करके करली जाती है। वहाँ पर यह कहा जासकता है कि जिन तीर्थंकरोंकी प्रतिमा नहीं होती हैं उनकी स्थापना अक्षतों द्वारा करली जाती है। परन्तु स्थापना करके पूजन तो एक दो

ही करते हैं, बाकी जो सैकड़ों जैनी मंदिरमें आते हैं और वीतराग प्रतिमाके दर्शन करके सबही तीर्थंकरोंको स्मरण कर, उनकी भक्ति स्तुति करते हैं और चावल, लौंग, बादाम आदि हाथमें जो हो वह भक्तिसहित सबही तीर्थंकरोंको चढ़ाते हैं, तो क्या स्थापनाके बिना वह उनकी भक्तिस्तुति बिल्कुल ही निरर्थक होती है। इसके अलावा मंदिरके समयसे अलग जो लोग अपने घरपर या मंदिरके एक कौनेमें बैठकर २४ तीर्थंकरोंका या पंच-परमेष्ठीका जाप करते हैं—हृदयसे उनकी भक्तिस्तुति और वंदना करते हैं तो क्या स्थापना न करनेसे या उनकी मूर्ति सामने न होनेसे जिनकी वे भक्तिस्तुति करते हैं उनकी वह भक्तिस्तुति या जाप आदि व्यर्थ ही जाता है। नहीं नहीं! व्यर्थ नहीं जाता है। यदि वे उनके वीतरागरूप गुणोंको याद करके, उन गुणोंकी भक्ति स्तुति करते हैं तो बेशक उनका यह कार्य महा-कार्यकारी और फलदायक होता है। यह ही जैनशास्त्रों-का स्पष्ट आशय है। जिससे यह साफ़ सिद्ध है कि भक्ति स्तुति और पूजा बंदनाके वास्ते न तो प्रतिमा ही ज़रूरी है और न स्थापना या जलचन्दनआदि द्रव्य ही, किन्तु एकमात्र वीतरागरूप परमेष्ठियोंके वैराग्य और त्यागरूप गुणोंकी बड़ाई अपने हृदयमें बैठानेकी ही ज़रूरत है; जिससे हमारे पापी हृदयमेंसे भी रागद्वेष रूप मैल कम हो होकर हमारा हृदय भी कुछ पवित्र होने लग जाय, हमारे हृदयमें भी वीतरागरूप भावोंको स्थान मिलने लग जाय। और हम भी कल्याणके मार्ग पर लगनेके योग्य हो जायें।

बेशक तीर्थंकरोंकी वीतरागरूप प्रतिमाके दर्शनसे भी हमको वैराग्यकी उत्तेजना मिलती है, परन्तु भी तीर्थंकरों, सिद्धों और सब ही वीतरागी साधुओंके वीत-रागरूप गुणोंको याद करके, उन गुणोंकी प्रतिष्ठा अपने हृदयमें बिठाते रहनेसे हृदयमें उनकी भक्ति स्तुति करते रहनेसे—हरवक्त ही हमारे भावोंकी शुद्धि होती रहती है और यह भक्ति स्तुति हम बार बार हर जगह कर सकते हैं। वहाँ प्रतिमा हो या न हो, इस बातकी कोई ज़रूरत नहीं है; परम वीतरागरूप प्रतिमाके दर्शन तो हमको वीतरागताकी उत्तेजना दे देते हैं, उससे वीत-रागरूप भावोंकी उत्तेजना होने पर हमारा यह काम है कि परम वीतरागी पुरुषों, अर्हतो, सिद्धों, और साधुओंको याद करकर उस वीतरागरूप भावको हृदयमें जमाते रहें और जब जब भी मौक़ा मिले उनके गुणोंकी भक्ति-स्तुति और पूजा बंदना अपने हृदयमें करते रहें। और यदि हो सके तो दिनमें कोई २ समय ऐसा स्थिर करलें जब एकान्तमें बैठकर स्थिर चित्तसे उनकी भक्तिस्तुति पूजा बंदना कर सकें, जिसके वास्ते हर वक्त प्रतिमा सामने रखने व स्थापना करनेकी ज़रूरत नहीं है। यह सब तो हृदय मन्दिरमें ही हो जाती है।

इस प्रकार जब वीतरागरूप मूर्तिसे मूर्तिका ही काम लिया जाता है; उसको साक्षात तीर्थंकर माननेसे साफ़ २ इनकार किया जाता है। किसी प्रकार भी अपनेको मूर्ति-पूजक नहीं बताया जाता है। और मूर्ति भी वीतरागरूप ही रखनेकी ताकीद है। कोई वस्त्र अलंकार यहाँ तक कि अगर एक तागा भी उस पर पड़ जाय तो वह काम-की नहीं रहती है; तो गर्भ-जन्म, खेल-कूद और राज-भोग आदिका संस्कार उसमें पैदा करनेकी क्या ज़रूरत है, जो प्रतिष्ठा विधिके द्वारा कुछ दिनोंसे किया जाना शुरू हो रहा है। हम दिगम्बर-आम्नायके माननेवाले जैनी, तीर्थंकर भगवान्की राजअवस्थाकी मूर्तिको माननेसे साफ़ इनकार करते हैं। अनेक तीर्थंकरोंने विवाह कराया है। यदि उनकी उस अवस्थाकी मूर्ति उनकी स्त्रियों सहित बनाई जाय, जो तीर्थंकर चक्रवर्ती

हुए हैं, उनकी मूर्ति उनकी १६ हजार रानियों सहित बनाई जाय और जब वे फौज पलटन लेकर छह खंड फ़तह करनेको निकले थे, तबकी उनकी मूर्ति फ़ौज पलटन और लड़ाईके सब हथियारोंसहित बनाई जाय तो क्या हमारे दिगम्बर भाई उसको अपने जैन मन्दिरोंमें रखना मंजूर कर लेंगे ? क्या उनकोभी इसी तरह मानेंगे जिस तरह इन वीतरागी प्रतिमाओंको मानते हैं और क्या ऐसा करना जैनधर्म, जैनशास्त्रों और जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध न होगा।

यदि गृहस्थावस्था और राजपाटके समयकी तीर्थंकर भगवान्की मूर्तियाँ मन्दिरमें रखने और दर्शन और मनन करनेके योग्य नहीं हैं तब इन परम वीतरागी प्रतिमाओंको मन्दिरमें रखने और दर्शन मनन करने योग्य बनानेके वास्ते इनके ऊपर गर्भ, जन्म और राज भोगकी लीलाओंका हो जाना क्यों जरूरी समझा जाने लगा है। यह तो बिल्कुल ही उलटी बात हुई। जब हम भगवान्के बालपन या गृहस्थ-जीवनकी मूर्तियां अपने लिये कार्यकारी नहीं समझते हैं, किन्तु उनकी परमवीतराग अवस्थाकी मूर्ति ही अपने लिये कार्यकारी समझते हैं, जिसके दर्शनसे हमको भी वीतरागताकी प्रेरणा हो, हम भी इस पापी गृहस्थके जंजालके महा-मोहको तोड़ अपने आत्म कल्याणमें लगें और महादुख-दाई संसारसागरसे निकल अविनाशी सच्चे सुखका अनुभव करें, तब इन परमवीतराग रूप मूर्तियोंके ऊपर गर्भ-जन्म और गृहस्थभोग आदिका संस्कार करनेसे तो इनको साफ़ तौर पर बिगाड़ना और अपने कामके योग्य नहीं रहने देना ही है।

वैष्णव हिन्दू श्रीकृष्णकी बाल्यावस्थाको "ठुमक ठुमक चलत बाल बाजत पैंजनियां" ग्रामकी गोपियोंके साथ उसकी नाना प्रकारकी क्रीड़ाओं और किलोलोंको, तालाबमें नहाती हुई नंगी स्त्रियोंके चीरहरणके महा-निंदनीय किलोलको कृष्णके साथ राधाके प्रेमको, या शेषनागके पकड़ने और कंसको मार डालनेकी कृष्णकी बहादुरीको पूजने वँदनेयोग्य समझ, इस ही रूपमें उसकी भक्ति स्तुति करते हैं; उसके इन ही सब कृत्योंकी लीला करके अपनेको धन्य समझते हैं। यह ही उनका कीर्तन, भक्ति-स्तुति और पूजन है। ऐसी ही अवस्थाओं-की वे मूर्तियाँ अपने मन्दिरोंमें बनाते हैं और प्रतिमायें स्थापन करते हैं। इन ही सब लीलाओंके करनेसे वे कृष्ण भगवान्की प्रतिमाको प्रतिष्ठित और मन्दिरमें स्थापने पूजने और वंदने योग्य बनाते हैं। ऐसी ही प्रतिमा वे श्रीरामचन्द्रकी बनाते हैं, जिनको बगलमें सीता बैठी हो, हनुमान गदा लिये पास खड़ा हो। इस प्रतिमाकी प्रतिष्ठा यदि वे सीताके हरण होजाने पर रोते फिरने, फिर हनुमानकी सहायतासे लंका पर चढ़ाई करने, महाघमासान युद्ध कर लाखों करोड़ों पुरुषोंका वध होनेके बाद रावणको मार सीताको घर ले आनेकी लीला करनेके द्वारा करें तो ठीक ही है। उनके मतके अनुसार उनके परमपूज्य विष्णुभगवान्ने रावणको मारनेके वास्ते ही तो रामचन्द्ररूपमें जन्म लिया था, और फिर इस ही प्रकार कंसको मारने और गोपियोंका उद्धार करनेके वास्ते ही कृष्णके रूपमें जन्म लिया था। इस ही प्रकारके रूपोंमें वे अपने विष्णु भगवान्को पूजते हैं। इस कारण उनका राम और कृष्णकी यह सब लीलायें करना, इन ही सब लीलाओंकी भक्ति स्तुति करना, इन सब लीलाओंके करनेसे ही इनकी प्रतिमाओंको पूज्य और प्रतिष्ठित बनाना तो बेशक ठीक बैठता है, लेकिन इन अपने पड़ोसियोंकी रीसकर, हमारा भी अपनी परमवीतरागरूप प्रतिमाओं पर अपने तीर्थंकर भगवान्के बालपन, गृहस्थजीवन और राजभोग

आदिकी लीला करके ही उनको प्रतिष्ठित मानना कैसे ठीक बैठ सकता है ? यह तो उलटा उनको बिगाड़ना, और अपने कारजके विरुद्ध बनाना है।

कव्वा हंसकी चाल चले या हंस कव्वेकी चाल चले दोनों ही सूरतोंमें नकल ठीक नहीं बैठा करती है; किन्तु बात हंसी मखौलके ही योग्य हो जाती है। यही हाल इस विषयमें हमारा हो रहा है। हम दूसरोंकी रीस करके लीला तो करना चाहते हैं गर्भसे लेकर निर्वाण तककी अवस्था की, परन्तु हमारे पास है केवल एक परम वीतराग अवस्थाकी ही प्रतिमा। उसहीको प्रतिष्ठित करनेके बहानेसे हम यह सब लीला रचते हैं; परन्तु बहाना तो बहाना ही होता है। इसही कारण उस अपनी परम वीतरागरूप प्रतिमाको ही गर्भमें रखकर गर्भका बहाना करते हैं, उसही परमवैरागरूप प्रतिमाको पालनेमें औंधी रखकर इस तरह झुलाते हैं जिस तरह छोटे छोटे बच्चोंको झुलाया करते हैं। यह झूला झुलानेकी लीला प्रतिष्ठाकी विधि करने वाले ही नहीं करते हैं; किन्तु सबही यात्री स्त्री-पुरुष आकर एक-एक दो-दो झोटे देते हैं और रुपये चढ़ाते हैं। परन्तु इन सबही झोटा देनेवाले यात्रियोंसे ज़रा पूछो तो सही कि पालनेमें औंधी पड़ी हुई जिस मूर्तिको तुमने झुलाया है वह बालक अवस्थाकी मूर्ति नज़र आती थी या परम वीतराग अवस्थाकी ? जवाब यह ही मिलेगा कि मूर्ति तो पालनेमें परम वीतराग अवस्थाकी ही औंधी डाल रक्खी थी। तब तुमने बालकको झुलाया या भगवानकी परम वीतराग अवस्थाकी मूर्तिको; और वह भी औंधी डालकर। सोचो और खूब सोचो कि यह लीला तुम किस तरह कर रहे हो ? यह जैनधर्मकी लीला कर रहे हो या उसका मखोल ? इसही प्रकार जब इसही परम वीतरागरूप प्रतिमाको कंकण और अन्य आभूषण पहनाते हो और राज अवस्था बनानेके वास्ते उसके पास तीर तरकश, ढाल-तलवार और गदा आदि सब हथियार रखते हो तो क्या उस वीतराग प्रतिमाकी जो पद्मासन लगाये, हाथ-पै-हाथ रक्खे, आत्मध्यानमें मग्न दिखाई देरही है, जिसके सिरके केश नोचे हुए मालूम पड़ रहे हैं, पूर्ण परम दिगम्बर अवस्था है, जिसकी परम वीतरागरूप छबि बनानेके वास्ते कारीगरने अपनी सारी कारीगरी खर्च करदी है और प्रतिष्ठा कराने वाले ने भी सबसे अधिक वीतराग छबि दिखानेवाली यह प्रतिमा कारीगरकी अनेक प्रतिमाओंमेंसे छाँटकर ली है। ऐसी प्रतिमाके पास मनुष्योंकी हिंसाके करनेवाले युद्धके हथियार रख देनेसे क्या वह राजाकी मूर्ति बन जाती है। नहीं नहीं; ऐसा करनेसे न तो वह राजाकी ही लीला बनती है और न वीतरागकी ही; किन्तु बिल्कुल ही एक विलक्षण लीला बनजाती है जो आजकलके जैनियोंकी बुद्धिकी माप कराने वाली सर्वसाधारणके वास्ते प्रत्यक्ष कसौटी होती है।

इन सब बेसिर पैरकी अद्भुत लीलाओंके अलावा यह भी तो सोचनेकी बात है कि यदि वास्तवमें इन अद्भुत लीलाओंके करनेसे तीर्थंकर भगवान्के बालपन, गृहस्थभोग, विवाह शादी, स्त्रीभोग, राजभोग और युद्धआदि करनेका सब संस्कार उस वीतराग प्रतिमा पर पड़ता है, जिसके साथ यह लीलाएँ की जाती हैं जिसकी प्रतिष्ठाकी जाती है, तो उस प्रतिमामें यह सब संस्कार पड़ जानेसे वह परम वीतरागरूप कैसे रह सकती है ? परम वीतरागरूप तो वह तबतकही थी जबतककी उसमें यह महारागरूप राजपाटके संस्कार नहीं डाले गये थे। उस परम वीतराग रूप भगवानकी महावीतरागरूप प्रतिमाको यह सब लीलाएँ कराकर तो मानों परम वीतरागरूप भगवानको आपने फिरसे

गृहस्थमें डाला है और उनकी इस परम वीतरागरूप प्रतिमामें भी गृहस्थ और राजपाटके सब संस्कार घुसेड़े हैं। अर्थ जिसका यह होता है कि प्रतिष्ठा करनेसे पहले जो यह परम वीतरागरूप प्रतिमा कारीगरने बनाई थी उसमें तो एक मात्र वीतरागताही वीतरागता थी, जो आपको उपयोगी नहीं थी, अब आपने उसमें गृहस्थ और राज भोगके सब संस्कार डालकर ही उसको अपने कामकी बनाया है, परन्तु ज़रा सोचो तो सही कि यह काम आपका जैनधर्मके अनुकूल है, या बिलकुल ही उसके विपरीत। चाहे कव्वेने हंसकी चाल चली हो या हंसने कव्वेकी चाल चली हो, परन्तु यह चाल न तो हंसकी ही रही है, और न कव्वेकी ही, किन्तु विलक्षण रूप एक तीसरी ही चाल होगई। वैष्णव लोग अपने भगवानकी रागरूप अवस्थाको पूजते हैं और वैसीही उनकी प्रतिमा बनाते हैं और जैनी वीतराग रूप भगवानको पूजते हैं और उसही अवस्थाकी उनकी प्रतिमा बनाते हैं। इन वीतरागरूप प्रतिमाओंमें ज़रा भी रागरूप भाव आजाय, उनको वस्त्र आभूषण पहना दिये जायँ या युद्धके हथियार उनके साथ लगा दिये जायें तो वह प्रतिमाएँ उनके कामकी नहीं रहतीं हैं; परन्तु जब कारीगर उनको ऐसीही वीतरागरूप प्रतिमा बनाकर देते हैं, जैसी वे चाहते हैं तब आजकलके हम जैनीलोग उन वीतरागरूप प्रतिमाओंको उस वक्त तक क्यों नाकाफ़ी या बिना कामकी समझते हैं जब तककी उनके साथ गृहस्थ जीवन और राजभोगकी लीलाएँ करके उनमें रागका संस्कार नहीं कर लेते हैं। क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्म अब परम वीतराग धर्म नहीं रहा है किन्तु अपने हरवक्तके पड़ोसी वैष्णव भाइयोंको अपने परमरागी देवताओंकी ही भक्ति-स्तुति पूजा-वंदना करता देख अपने परम वीतराग देवताओंमें भी रागका प्रवेश करानेके लिये परम वीतरागरूप प्रतिमाओंमें भी गृहस्थ भोगका संस्कार डाल, इन अपनी वीतरागरूप मूर्तियोंको मूर्ति न मान कर अपने वैष्णव भाइयोंकी तरह इन मूर्तियोंको ही साक्षात् रागी परमात्मा ठहराकर उनके पूजनेसे उस ही तरह अपने गृह कार्योंकी सिद्धि चाहने लग गये हैं जिस तरह उनके पड़ौसी भाई अपने रागी देवताओंको पूज कर करते हैं।

परन्तु इसमें एक बात विलक्षण है और वह यह है कि प्रतिष्ठाविधिमें किसी एक ही प्रतिमाका गर्भ, जन्म और राजपाट आदि संस्कार होता है। सिर्फ़ एक ही प्रतिमा, जो किसी एक ही तीर्थंकर भगवानकी होती है, वह ही एक पालनेमें झुलाई जाती है, उस ही को कंकण आदि आभूषण पहनाये जाते हैं और उस ही के पास तीर कमान और ढाल तलवार आदि मनुष्य हिंसाके उपकरण रक्खे जाते हैं। तब जो भी राग संस्कार पैदा हो सकते हों वे तो उस एक ही भगवानकी एक प्रतिमामें पड़ेंगे, जिसके साथ यह सब लीलाएँ की जावेंगी; बाक़ी सैकड़ों प्रतिमाएँ जो वहाँ रक्खी होंगी, उनके साथ ऐसी लीला न होनेसे उनमें तो रागके संस्कार किसी तरह भी नहीं पड़ सकेंगे, वे तो वैसी ही परमवीतरागरूप रहेंगी जैसी कि शिल्पीने बना कर दी थीं। तब वे आजकलके जैनियोंके वास्ते पूज्य और उनके गृह कार्योंको सिद्ध करनेवाली कैसे हो जाती हैं?

वास्तवमें बात यही है कि हमने दूसरोंकी रीस करके और भट्टारकोंके बहकायेमें आकर अपनी असली चालको खोदिया है, जिससे हम इधरके रहे हैं न उधरके। हमारी पहली चाल उन प्राचीन प्रतिमाओंसे साफ़ मालूम होती है जो धरतीमेंसे निकलती हैं, जिनपर प्रतिष्ठित होनेका कोई चिन्ह नहीं होता है और जिनको

आजकलके हमारे भाई चौथेकालकी अर्थात् सतजुगकी कहने लगते हैं। चौथे काल या सतजुगकी होनेसे तो हमको उनसे सबक़ लेना चाहिये और बिना इस प्रकारकी प्रतिष्ठा कराये ही जैसी आजकल होती है, शिल्पीके हाथसे लेते ही अपने काममें लाने लगना चाहिये। ज़रा विचारनेसे हमारे भाइयोंकी समझमें आजायगा कि किस प्रकार आपसे आप ही वस्तुओंकी प्रतिष्ठा होने लग जाती है। बाजारमें बज़ाज़की दुकान पर अनेक टोपियाँ और बड़ी पगड़ियाँ बिक्रीके वास्ते रक्खी रहती हैं; उनकी कोई खास प्रतिष्ठा किसीके हृदयमें नहीं रहती है। परन्तु ज्योंही हम उनमेंसे किसी टोपी या पगड़ीको खरीद कर अपने सिरपर रखने लगते हैं, तब ही से उस टोपी या पगड़ीकी इज्ज़त व प्रतिष्ठा होना शुरू हो जाती है। इस ही प्रकार मूर्ति भी जबतक कारीगरके पास रहती है, तबतक वह मामूली चीज़ होती है, परन्तु ज्योंही हम उसको कारीगरसे लेकर अपने इष्टदेवताकी मूर्ति मानने लगते हैं तब ही से उसकी प्रतिष्ठा व इज्ज़त होना शुरू हो जाती है। उसकी प्रतिष्ठाके लिये इस प्रकारकी बेजोड़ लीलाओंके करनेकी कोई ज़रूरत नहीं है जैसी आजकल की जाती है। परन्तु आजकल तो हम लोग वीतरागप्रतिमासे वीतरागभावोंकी प्राप्तिका काम नहीं लिया चाहते हैं। मूर्तिको मूर्ति ही नहीं मानना चाहते हैं। किन्तु उसको हमारे गृहकार्योंके सिद्ध करने वाला रागी-द्वेषी देवता बनाना चाहते हैं। ऐसी हालतमें कारीगरसे हमको वीतरागरूप प्रतिमा नहीं बनवानी चाहिये। किन्तु साफ़-साफ़ रागरूप ही प्रतिमा बनवानी चाहिये। वीतरागरूप प्रतिमा बनवाकर फिर उसमें राग-रूप संस्कार डालनेकी कोशिश करनेसे तो न वह वीत-रागरूप ही रहती है न रागरूप ही, किन्तु एकमात्र बच्चोंका सा खेल हो जाता है, जो मिट्टीके खिलौनेको खाना खिलानेकी कोशिश किया करते हैं और उसके न खाने पर दुखी होकर उसे फोड़ डालते हैं। परन्तु वे बच्चे भी ऐसी ग़लती हर्गिज नहीं करते हैं कि घोड़े पर चढ़ी हुई किसी मिट्टीकी मूर्तिको झूलेमें चढ़ाकर झुलाने लगें या बिस्तर पर पड़ाकर सुलाने लगें। उसको तो वे उस ही प्रकार चलानेकी कोशिश करेंगे जिस प्रकार घोड़ा चलता है। यह तो हम ही ऐसे विचित्र पुरुष हैं जो पद्मासन बैठी हुई हाथ पर हाथ धरे ध्यानमें मग्न परमवीतराग प्रतिमाको ही औन्धा लिटाकर झूला झुलाते हैं, कंकण आदि आभूषण पहनाते हैं और उसके पास युद्धके आयुध रखकर भी अपनेको वीतराग धर्मके मानने वाले जैनी बताते हैं।

अब रही प्रतिष्ठा विधिकी बात, उसमें और भी क्या क्या अद्भुत कार्य होता है, उसकी भी ज़रा झलक दिखादेनी ज़रूरी है। यह प्रतिष्ठाएँ बहुत करके प्रतिष्ठा-सारोद्धार ग्रन्थके द्वारा होती चली आरही हैं, जिसको पं० आशाधरने विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें प्रतिष्ठासारके आधार पर बनाया है जिसको वसुनन्दीने कुछ ही समय पहले बनाया था। विक्रमकी १६ वीं शताब्दीमें नेमिचन्द्र नामके एक विद्वानने भी एक बृहत् प्रतिष्ठा पाठ बनाया है और इसके बाद १७ वीं शताब्दीमें अकलंक प्रतिष्ठा पाठ नामका भी एक ग्रन्थ बना है जिसमें ग्रन्थ कर्ताका नाम भट्टाकलंकदेव लिखा रहनेसे बहुतसे भाई इसको राजवार्तिक आदि महान्ग्रन्थोंके कर्ता श्री अकलंक-स्वामीका बनाया हुआ समझते रहे हैं जो कि विक्रमकी ७वीं शताब्दीमें हुए हैं, परन्तु ग्रंथ-परीक्षा तृतीय भाग-में पं० जुगलकिशोर मुख्तारने साफ़ सिद्ध कर दिया है कि यह ग्रंथ राजवार्तिक कर्ता अकलंक स्वामीसे आठसौ नौसो बरस पीछे लिखा गया है। इस ही प्रकार नेमि-चन्द्र प्रतिष्ठापाठको भी बहुत लोग गोम्मटसारके कर्ता

श्री नेमिचन्द्र आचार्यका बनाया हुआ समझते रहे हैं, नेमिचन्द्र आचार्य विक्रमकी ११ वीं शताब्दीमें हुए हैं और यह ग्रंथ उनसे पाँचसौ छैसौ बरस पीछे एक गृहस्थ ब्राह्मणके द्वारा लिखा गया है जैसा कि बा० जुगलकिशोर मुख्तारने जैन-हितैषीके १२ वें भागमें सिद्ध किया है। पं० आशाधर १३वीं शताब्दीमें संस्कृतके बहुत बड़े विद्वान होगये हैं, उन्होंने ग्रन्थ भी अनेक रचे हैं इस ही कारण विद्वान् लोग उनके ग्रंथोंको बड़ी भारी प्रतिष्ठाके साथ पढ़ते हैं, बहुतसे संस्कृतज्ञ पंडित तो उनके वाक्योंको आचार्य वाक्यके समान मानते हैं। परन्तु पं० आशाधर पूर्णतया भट्टारकीय मतके प्रचारक रहे हैं जैसा कि प्रतिष्ठा विषयक नीचे लिखे हमारे कथनोंसे सिद्ध होगा। नीचे लिखा कथन यद्यपि ऊपर वर्णित सबही प्रतिष्ठापाठोंके अनुसार होगा परन्तु उस कथनका विशेष आधार पं० आशाधर विरचित प्रतिष्ठासारोद्धार ही होगा, क्योंकि उस ही पर पंडितोंकी अधिक श्रद्धा है।

पं० आशाधरजी लिखते हैं कि—"जिनमन्दिर तैयार होनेमें कुछही बाकी रहजाने पर शिल्पिआदिके कल्याणके लिए यह विधिकी जावे कि प्रतिमा विराजमान होनेवाली वेदीके बीचमें तांबेका घड़ा दो वस्त्रोंसे ढकाहुआ रक्खे। घड़ेमें दूध, घी, शक्कर भरदे और चन्दन,पुष्प, अक्षत्से उसकी पूजन कर फिर उस घड़ेमें पाँच प्रकारके रत्न, और सब औषधि, सब अनाज, पारा, लोहा आदि पाँच धातुएँ भरदे, फिर चाँदी वा सोनेका मनुष्याकार पुतला बनाकर उसको घी आदि उत्तम द्रव्योंसे स्नान कराकर अक्षत आदिसे पूज निवारसे बुनी हुई गद्दी तकिये सहित सेजपर अनादि सिद्ध मन्त्र पढ़कर लिटावे। फिर जिन भगवानका पूजनकर उत्सवसहित उस पुतलेको घड़ेमें रक्खे। ऐसा करनेसे कारीगरोंको कोई विघ्न नहीं होता है, शुभ फलही होता है।

आगे चलकर लिखा है कि प्रतिष्ठाके सात-आठ दिन बाकी रहनेपर प्रतिष्ठा करानेवाला सेठ प्रतिष्ठा करने वाले विद्वानके घर पर जावे। स्त्रियां तो अक्षत भरे हुए थाल हाथमें लिये हुए गाती हुई आगे जारही हों और साथमें साधर्मी भाई हों। इस प्रकार उसके घरसे उसको अपने घर लावे। वहाँ चौकी बिछाकर उसपर सिंहासन रक्खे और चौमुखा दीपक जलावे। सिंहासन पर उस विद्वानको बिठा गीत नृत्य बाजोंके साथ, वस्त्राभूषणमें शोभायमान चार सधवा जवान स्त्रियाँ उसके शरीर पर चन्दन लगावें, फिर उसके अंगमें तेल उबटना लगाया जावे। फिर पीली खलीसे तेल दूर कर स्नान कराया जावे। फिर स्वादिष्ट भोजन करा वस्त्राभूषणसे सजाया जावे (जवान स्त्रियाँ ही क्यों उसके अंगको चन्दन लगावें बूढ़ी स्त्रियां क्यों न लगावें, इसका कोई कारण नहीं बताया गया है)।

इसके बाद मंडप और वेदी बनवाकर नदी किनारेकी बामी आदिकी पवित्र मिट्टी, पृथ्वी पर नहीं गिरा हुआ पवित्र गोबर ऊंमरआदि वृक्षोंकी छालका बना हुआ काढ़ा इन सबको मिलाकर इससे आभूषणादिसे सुसज्जित कन्याएँ उस वेदीको लीपें। ऐसा ही नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठके नवम परिच्छेदके श्लोक ३में श्री खंडादि कलशाभिषेकके वर्णनमें लिखा है कि इन कलशोंमें गायका गोबरआदि अनेक वस्तुएँ होती हैं। फिर श्लोक ४में पंचगव्य कलशाभिषेकका वर्णन करते हुए लिखा है कि इनमें गायका गोबर, मूत्र, दूध, दही, घी आदि भरे होते हैं। इसही अध्यायमें गायके गोबरके पिंड अनेक दिशामें क्षेपण करना, अपने पाप नाश करानेके वास्ते लिखा है। ऐसा ही १३वें परिच्छेदमें गायके गोबर आदिसे मण्डपको शुद्ध कराकर सोलहकारण भावनाके पुंज रक्खे। फिर इसही १३वें परिच्छेदमें लिखा है कि

गावके गोबरके पिंडआदिसे अपने पाप नाश करनेके वास्ते अर्हतोकी अवतरण क्रिया करै।

वेदियाँ तय्यार करानेके बाद प्रतिष्ठाके पहले दिन सब लोग सरोवर पर जावें। खूब सजी हुई प्रसन्नचित्त स्त्रियाँ दूध, दही, अक्षतसे पूजित, 'फलसे भरे हुए घड़ों' को उठाये हुए साथ हों, प्रतिष्ठाचार्य जौ और सरसोंको मंत्रसे मंत्रित कर चारोंतरफ़ बखेरता जावे, सरोवर-पर पहुँचकर सरोवरको और वास्तुदेवको (जिसका कथन आगे किया जायगा) अर्घ देकर, वायुकुमार देवोंके आह्वाननसे भूमिको साफ़कर, मेघकुमार देवोंके आह्वाहनसे छिड़ककर, अग्निकुमार देवोंके आह्वाहनसे अग्नि जलाकर, ६० हज़ार नागोंको पूजकर, शान्तिविधानकर अर्हतका अभिषेक करे। फिर सरोवर (तालाब) को अर्घ देवे, फिर अर्हत आदिकी पूजा करै। फिर जया आदि देवताओंका पूजन करके, सूर्य आदि नवग्रहोंका पूजन करै। सूर्यका रंग लाल है और वस्त्र, चमर, छत्र, विमान भी लाल हैं। चन्द्रमा सफ़ेद है। मंगल लाल है, बुध और बृहस्पतिका रंग सोने जैसा है, शुक्र सफ़ैद है। शनि, राहु और केतु काले हैं। इनको इनही-के समान रंगके द्रव्यसे पूजनेसे आनन्दमंगल प्राप्त होता है। उनके समान रंगवाले अक्षतको रख, उनपर उनहीके रंगके समान रंगे हुए दर्भके आसन रक्खे। नागकुमार शरीर पीड़ा करते हैं, यक्ष धन हरते हैं, भूत स्थान भ्रष्ट करते हैं, राक्षस धातुवैषम्य करते हैं, इन ग्रहोंको पूजनेसे सब विघ्न दूर होजाते हैं और कापालिक, भिक्षु, वार्णी, संन्यासी (मिथ्याती साधुओं) के किये हुए उपद्रव भी शांत होते हैं। तापस, कापालिक आदि भिन्न २ प्रकारके मिथ्यात्वी साधु अलग २ इन ग्रहोंको पूजते हैं। कोई किसी ग्रहको और कोई किसी ग्रहको, उन ही की पूजासे यह अलग २ ग्रह प्रसन्न होते हैं। सूर्य शौर्यगुण देवे, चन्द्रमा कुशल देवे, मंगल मंगल करै, बुद्ध बुद्धि देवे, बृहस्पति शुभजीवन देवे, शुक्र कीर्ति देवे, शनि बहुत सम्पत्ति देवे, राहु बाहुबल देवे, केतु पृथ्वी पर प्रतिष्ठा देवे, ऐसी प्रार्थना प्रत्येककी पूजामें की जावे। अलग २ ग्रह अलग २ तरहकी लकड़ी होम करनेसे प्रसन्न होता है। सूर्य आककी लकड़ीसे, चन्द्रमा पलाससे मंगल खैरसे, बुद्ध अपाभार्गसे बृहस्पति पीपलसे, शुक्र फल्गुसे शनि शमीसे, राहु दूबसे और केतु दाभसे। प्रत्येकका अष्ट द्रव्यसे पूजन कर, इनही लकड़ियोंसे होम करना चाहिये। इन सबका पूजन करनेके बाद सात-सात मुट्ठी तिल, शाली, धान और जौ यह तीन अनाज, पानीमें डाले। आह्वाहन सब ग्रहोंका उनके परिवार और अनुचरों आदि सहित इस प्रकार करै—

ॐ ह्रीं आदित्य आगच्छ २ संवौषट्। ॐ ह्रीं अत्र तिष्ठ २ ठः ठः। ॐ ह्रीं मम सन्निहितो भव २ वषट्। आदित्याय स्वाहा। आदित्यपरिजनाय स्वाहा। आदित्यानुचराय स्वाहा। आदित्य महत्तराय स्वाहा। अग्नये स्वाहा। अनिलाय स्वाहा। वरुणाय स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। ॐ स्वाहा। भूः स्वाहा। भुवः स्वाहा। स्वः स्वाहा। ॐ भूर्भुवः स्वःस्वाहा स्वधा। ॐ आदित्याय स्वगणपरिवृताय इदमर्घ्यं, पाद्यं, गंधं, अक्षतान्, पुष्पं, दीपं, धूपं, चरुं, बलिं, फलं, स्वस्तिकं, यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृह्यतां २ स्वाहा। यस्यार्थं क्रियते पूजा शान्तिरस्तु नः सदा॥

अब जो अलग २ वस्तु जिस २ ग्रह को चढ़ाई जाती है वह लिखते हैं (१) सूर्यको जास्वंती आदिके फूल नारंगी आदि फल चढ़ावे और आकके इंधनसे पकाई हुई खीरकी आहुति दे, घी, गुड़, लड्डू से पूजे। (२) चन्द्रमा कोसफेद रंगके पुष्प, अक्षत और दूध आदिसे पूजे, देवदारुकी लकड़ीका चूरा, घी, धूप

ढाककी लकड़ीसे पकाया अन्न, दूध मिलाकर अग्निमें आहुति देवें। (३) मंगलको खैरकी लकड़ीसे भुने हुए गुड़ घी मिले हुए जौके सत्तूसे और गुगल, घी, लाल इलायची, अगरकी धूपसे आहुति देवे। (४) बुद्धको अपामार्गकी लकड़ीसे भात बना कर दूध डाल राल घी से आहुति देवे। (५) बृहस्पतिको पीपलकी लकड़ीसे बनी हुई खीर, घी, धूपसे आहुति देवे। (६) शुक्रको ऊंबरकी लकड़ी फल्गुकी लकड़ीसे भुने हुए जौ, गुड़, घी, की आहुति देवे (७) शनिको समीकी लकड़ी, उड़द, तेल, चावल, राल, घी, अगरकी आहुति देवे। (८) राहुको दूबके ईंधनसे पकाया हुआ गेहूँ आदिका चूर्ण, काजल, दूध, घी, लाखकी आहुति देवे। (६) केतुको उड़द और कुलथीके चूनको दर्भके ईंधनसे पका कर घी कच्ची तेल मिला कर आहुति देवे।

फिर परम ब्रह्म अर्हंतदेवकी पूजा कर श्री आदि देवियोंको अष्ट द्रव्य चढ़ावे, फिर गंगा आदि देवियोंको चढ़ावे, फिर सीता नदीके महाकुंडके देवोंको चढ़ावे, फिर लवणादधि, कालोदधिके समुद्रोंके मागधआदि तीर्थ देवोंको, फिर सीता सीतोदानदियोंके मागधआदि तीर्थ देवताओंको असंख्य (अनगणित) समुद्रोंके देवोंको, फिर जिनको लोक मानते हैं ऐसे तीर्थ देवोंको, जल आदि अष्टद्रव्य चढ़ावे। सब ही जल देवताओंको अष्ट द्रव्य पूजासे प्रसन्न कर सरोवरमें घुसे और कलशोंको पानीसे भरकर उन कलशोंको चन्दन, पुष्पमाला, दूब, दर्भ, अक्षत और सरसोंसे पूज कर सौभाग्यवती स्त्रियोंके हाथ मंडपमें लेजाकर जिनेन्द्रदेवकी पूजा करे।

अर्हंत आदिका पूजनकर क्षेत्रपालकी पूजा अष्टद्रव्यसे करे। फिर वास्तुदेवकी पूजाकर, वायुकुमार, मेघकुमार, अग्निकुमार देवोंका आह्वाहन कर भूमि शुद्ध कर, नागकुमारको तृप्त करे। फिर द्वारपालदेवोंको पूजकर नागराजको सफेद चूर्णसे, कुवेरको पीलेसे; हरिलदेवको हरेसे, रक्तप्रभदेवको लालसे, कृष्णप्रभदेवको काले चूर्णसे, शत्रुओं के नाश के वास्ते स्थापन करे। फिर अर्हंतकी पूजाकर १६ विद्या देवियोंकी पूजा आह्वाहनादि करके अलग २ अष्टद्रव्यसे करे। फिर २४ जिनमाताओंकी पूजा अष्टद्रव्यसे ३२ इन्द्रोंकी पूजा करे। फिर २४ यक्षदेवोंकी, फिर २४ यक्षीदेवियोंकी आह्वाहनादिके साथ अष्टद्रव्यसे करे। फिर द्वारपालोंकी, फिर चारदिशाओंके यक्षोंकी, फिर अनावृत यक्षकी, फिर छत्रआदि आठ मंगल द्रव्योंकी पूजा अष्टद्रव्य से करे, और फिर अ॰ आयुध (हथियार) स्थापन करे। फिर आठ ध्वजा स्थापन करे।

अब यहाँ, इस मौके पर, इन देवी देवताओंका कुछ स्वरूप भी लिख देना मुनासिब मालूम होता है जो कि इनकी पूजा समय प्रतिष्ठाग्रन्थोंके अनुसार वर्णन किया जाता है। वज्र, चक्र, तलवार, मुद्गर और गदाआदि हथियारों को रुद्राणी, वैष्णवी, वाराही, ब्राह्मणी, लक्ष्मी, चामुंडा, कौमारी और इन्द्राणी धारण किये होती हैं। ये देवियाँ कोई ऐरावतपर, कोई गरुड़ पर, कोई मोर पर, कोई जंगलीसूअर आदि पर सवार होती हैं। ध्वजा भी जया, विजया, सुप्रभा, चन्द्रमाला, मनोहरा, मेघमाला, पद्मा और प्रभावती नामकी देवियोंके हाथमें होती है। १६ विद्यादेवियोंके नाम रोहिणी प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, जम्बुनदा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, ज्वालामालिनी, मानवी, वैरोटी, अच्युता, मानसी, महामानसी नामकी हैं। इनमें से कोई घोड़े पर सवार होती है, कोई हाथी

पर, कोई मोर पर, कोई मृग पर, कोई अष्टापद पर, कोई गोह पर, कोई कछुए पर, कोई भैंसे पर, कोई सूअर पर, कोई सिंह पर, कोई साँप पर और कोई हंस पर, इनमेंसे अनेकोंके चार चार हाथ हैं और किसी किसीके आठ आठ भी। हाथोंमें तलवार, चक्र, खड्ग, वज्रकी सांकल, अंकुश, भाला, वज्र, मूसल, धनुष, बाण, त्रिशूल, और फल कमल आदि होते हैं। इसी रूपमें इनका आह्वाहन कर अलग २ अष्टद्रव्य से इनकी पूजा की जाती है।

धर्मात्माओंके बैरियोंका नाश करनेवाले २४ यक्ष जिनकी आह्वाहनकर पूजा की जाती है। वे जिस रूपमें पूजे जाते हैं, उसका वर्णन इस प्रकार है। नाम इनका गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुंबर, पुष्प, मातंग, श्याम, अजित, ब्रह्म, ईश्वर, कुमार, चतुर्मुख, पाताल, किन्नर, गरूड़, गंधर्व, खेन्द्र, कुवेर, वरुण, भृकुटी, गोमेध, धरण और मातंग है। इनमेंसे किसीके तीन मुख हैं, किसीके चार। किसीका गायकासा मुख है। किसीके तीन आँख, किसीका काल कुटिल मुख, किसीके नागफणके तीन सिर तीन मुख, किसीका तिर्छामुख, किसीकी देहमें सांपोंका जनेऊ। कोई बैल पर सवार, कोई हाथी पर, कोई सूअर पर, कोई गरूड़ पर, कोई हिरण पर, कोई सिंह पर, कोई कबूतर पर, कोई कछुए-पर, कोई सिंह पर, और कोई मोर पर, कोई मगरमच्छ पर और कोई मच्छलीपर। हाथोंमें फरसा, चक्र, त्रिशूल, अंकुश, तलवार, दंड, धनुष, बाण, सांप, भाला, शक्ति, गदा, चाबुक, हल, मुग्दर, नागपाश और फल आदि लिये हुए, किसीके चार हाथ, किसीके आठ और किसी-के इससे भी ज्यादा।

२४ यक्षीदेवियोंकी पूजा, जिस रूपमें की जाती है, वह इस प्रकार है। नाम इनका चक्रेश्वरी अजिता, नम्रा, दुरिता, पुरुषदत्ता, मोहनी, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, चामुंडा, गौरी, विद्युतमालिनी, वैरोटी, विभ्रं-भणी, मानसी, कंदर्पा, गांधारिणी, काली, अनंतात, बहुरूपिणी, कुसुमालिनी, कुष्मांडिनी, पद्मावती, और भद्रासना है। इनमेंसे भी कोई हँस पर, कोई हाथी पर, कोई घोड़े पर, कोई बैल पर, कोई भैंसेपर, कोई कछुए पर, कोई सूअर पर, कोई हिरण पर, कोई मगरमच्छ पर, कोई अजगर पर, कोई बाघ पर, कोई मोर पर, कोई अष्टापद पर, कोई काले साँप पर, कोई कुक्कुट सर्प पर चढ़कर पूजा करनेको आती हैं। इनके भी किसीके चार हाथ किसीके आठ और किसीके उससे भी ज्यादा हाथ होते हैं। हाथोंमें वज्र, चक्र परशु, तलवार, नाग-पाश, त्रिशूल, धनुष, बाण, ढ़ाल, मुग्दर, मूसल, अंकुश, मच्छली, साँप, हिरण, वृक्षकी टहनी और वृक्ष और फल आदि होते हैं।

दिक्पालोंको उनके आयुध, वाहन स्त्री और परिवार सहित आह्वाहन आदि द्वारा बुलाकर पूजाकी जाती है और बलि दीजाती है। नाम उनके इन्द्र, अग्नि, यम नैऋत्य वरुण, वायु, कुवेर, ईशान, धरणेन्द्र और चंद्र हैं। इनमें कोई ऐरावत पर, कोई मेंढ़ेपर, कोई भैंसेपर, कोई हाथी पर, कोई घोड़े पर, कोई बैल पर, कोई कछुए पर, कोई सिंह पर सवार होकर आता है, इनके भी हाथोंमें वज्र, अग्नि ज्वाला, शक्ति, दंड, मुग्दर, नाग-पाश, वृक्ष, त्रिशूल, भाला और अन्य वस्तुएं होती हैं; किसीके सर्पाकृति भूषण, किसीके आंखसे अग्निकी ज्वाला निकले, कोई नाग देवोंसे युक्त, फण पर मणि सूर्यके समान चमके, अष्ट दिव्यसे इनकी पूजा करनेके बाद जौ, गेहूँ, मूंग, शाली, उड़द आदि सात प्रकारके अनाजकी सात सात मुट्ठीकी आहुति इन दिकपालोंके वास्ते जल कुंडमें दी जावे। आह्वाहन इनका परिवार

सहित इस प्रकार किया जावेः—

"ॐ ह्रीं क्रों स्वायुधवाहनवधूचिह्नसपरिवार हे इन्द्र आगच्छ २ संवौषट् तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः मम सन्निहितो भव भव वषट्, इन्द्राय स्वाहा, परिजनाय स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, महत्तराय स्वाहा, अग्नये स्वाहा, अनिलाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा।"

अनावृत यक्ष, जिसकी पूजा कीजाती है, वह गरुड़ पर सवार होते हैं। चार हाथोंमें चक्र, शंख आदि लिए होते हैं जम्बूद्वीपके जम्बूवृक्ष पर रहते हैं जयन्त, अपरजित, विजय, वैजयंत उनके नाम है। पूर्वकी तरफ उनको बलि दी जाती है। सोम, यम, वरुण, कुवेर ये चार द्वारपाल हैं, जो दुष्टोंके वास्ते यमके समान हैं। इनके हाथमें भी क्रमशः धनुष, दण्ड, पाश और गदा होती है। ब्रह्मबलि इस प्रकार दी जाती है—ओं ह्रीं क्रों रक्तवर्णायन आयुध युवति जन सहित ब्रह्मन् भूर्भुवः स्वः स्वाहा इमं साध्यं चरु अमृतमिव स्वस्तिकं गृहाण। इसही प्रकार और भी दिकपालोंको बलि दीजाती है। जयादि देवियोंकी पूजा अष्टद्रव्यसे कीजाती है। नाम इनके जया, विजया, अजिता, अपराजिता; जृंभा, मोहा, स्तंभा, स्तंभिनी है, इनके भी चार हाथ होते हैं। पर्वतोंके सरोवरोंके कमलोंमें रहनेवाली देवियोंकी भी पूजा कीजाती है नाम जैभी, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि, लक्ष्मी शांति और पुष्टि हैं। ३२ प्रकारके इन्द्रोंकी भी पूजा होती है जिनमें भवनवासी और व्यन्तरके नाम असुरेन्द्र, नागेन्द्र, सुपरेन्द्र, द्वीपकुमारेन्द्र, उदधिकुमारेन्द्र, स्तनितकुमारेन्द्र; विद्युतकुमारेन्द्र, दिक्कुमारेन्द्र, अग्निकुमारेन्द्र, वातकुमारेन्द्र, किन्नरेन्द्र, किंपुरुषेन्द्र; महोरगेन्द्र, गंधर्वेन्द्र, यक्षेन्द्र, राक्षसेन्द्र, भूतेन्द्र, और पिशाचेन्द्र, इनमेंसे हर एक इन्द्रकी दो दो हजार देवियाँ हैं। इनमेंसे भी कोई भैंसे पर, कोई कछुवे पर, कोई गरुड़ पर, कोई घोड़े पर, कोई हाथी पर, कोई सिंह पर, कोई सूअर पर, कोई अष्टापद पर, कोई हंस पर चढ़ कर आता है। किसीकी भैंसेआदि सात प्रकारकी सेना, किसीकी मगर आदि सेना, किसीकी ऊंट आदि सात प्रकारकी सेना, किसीकी सिंहआदि सात प्रकारकी सेना, किसीकी घोड़ा आदि सात प्रकारकी सेना; किसीके हाथमें दंड, किसीके हाथ में तलवार किसीका आयुध वृक्ष किसीके हाथमें नागपाशआदि होता है। ज्योतिषेन्द्र जिनकी पूजा होती है दो हैं एक चन्द्रमा, जिसकी सिंहकी सवारी और दूसरा सूर्य जिसकी सवारी घोड़ा होता है।

तिथि देवता १५ हैं जिनकी पूजा होती है, यह भी यक्ष होते हैं। यह अग्नि, पवन, जल आदि आठ प्रकारके रूपके होते हैं। यक्ष, वैश्वानर, राक्षस, नधृत, पन्नग, असुर, सुकुमार, पितृ, विश्वमाली, चमरवैरोचन, महाविद्य, मार, विश्वेश्वर, पिंडाशिन इनके नाम हैं। कुमुद, अंजन, बामन और पुष्पदंत इन चार द्वारपालोंकी पूजा होती है। सर्वाण्ह यक्षकी पूजा होती है जो सफेद हाथी पर चढ़कर आता है। महाध्वज यक्षकी पूजा होती है, अष्टदिक्कन्याओंकी पूजा होती है, और वास्तुदेवको बलि दी जाती है जो इस प्रकार है—पद देवको मांजी बड़े और भातकी बलि ब्रह्माको जो गांव खेत और घरोंमें रहता है, घी दूध मिला हुआ भात, इन्द्रको फूल; अग्निको दूध घी, यमको जो भैंसेपर सवार है तिल और शमी। नैऋत्यको तेल मिली हुई खली। वरुणको दूध भात वायुको हल्दीका चूर्ण कुवेरको खीर अन्न। ईशानको घी दूध मिला हुआ भात, आर्यको पूरी लड्डू, और फल, विस्वस्तको उड़द और तिल, मित्रदेवको दही और दूब, महीधरको दूध सवीन्द्रको धानकी खील, साविन्द्रको काफूर केसर और

इन्द्रको जो व्यंतरोंका राजा है मूंगका आटा, और बड़े इन्द्रराजको बड़े और मूंगका आटा, रुद्रको जो व्यंतरों का राजा है गुड़ के गुलगुले, व्यंतरोंके राजा रुद्रजय को भी गुड़के गुलगुले, आप देवताको गुड़के गुलगुले, कमल और संख, पर्जन्यदेवको घी,जयंतदेवको लोणी, घी अतंरिक्षदेवको हलद और उड़दका चून, पूपनदेवको मयोंका भात, विरुथदेवको कुट्टू अनाज, राक्षसदेवको उग्रमध, गंधर्वदेवको कपूर आदि सुगंध, भृंगराजदेवको दूध भात, मृगदेवको उड़द, दौवारिकदेवको चावलोंका आटा, सुग्रीवदेवको लड्डू, पुष्पदन्तदेवको फूल, असुर-देवको लाल रंगका अन्न, शोपदेवको धुले हुए तिल चावल, रोगदेवको कारिका, नागदेवको शक्कर मिली हुई खील, मुख्यदेवको उत्तम वस्तु, भल्लाटदेवको गुड़ मिला हुआ भात, मृगदेवको गुड़के गुलगुले, अदिति को लड्डू उदितिको उत्तम वस्तु, विचारदेवको नमकीन खाना, पूतनादेवीको पिसे हुए तिल, पापराक्षसीको कुलथी अनाज, चारकी देवीको घी शक्कर ।

इतने ही मे पाठक समझ सकते है कि क्या इस प्रकार दुनिया भरके सभी देवी देवताओंको पूजनमे ही वह वीतरागरूप प्रतिमा मन्दिरमें विराजमान करने योग्य हो सकती है, अन्यथा नहीं । या इस प्रकार इन रागीद्वेषी देवताओंको पूजनेमे हमारा श्रद्धान भ्रष्ट होता है और प्रतिमा पर भी खोटे ही संस्कार पड़ते हैं । पं० आशाधरके प्रतिष्ठापाठमें और प्रायः अन्य सब ही प्रतिष्ठापाठोंमें यक्ष यक्षिणियों, क्षेत्रपाल आदिकी मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाविधि भी लिखी है, जिनकी प्रतिष्ठा होनेके बाद मंदिरमें विराजमान कर, नित्य पूजन करते रहनेकी हिदायत है । यक्षोंकी प्रतिष्ठा पाँच स्थानोंके जलसे प्रतिबिम्बका अभिषेककर रात्रिमें करनी चाहिए । पं० आशाधरजीने मंदिरके शिखर पर ध्वजा चढ़ानेकी विधिमें भी लिखा है कि मंदिरके शिखरपरके कलशोंसे एक हाथ ऊँची ध्वजा आरोग्यता करती है, दो हाथ ऊँची पुत्रादि सम्पत्ति देती है, तीन हाथ ऊँची धान्य आदि सम्पत्ति, चार हाथ ऊंची राजाकी वृद्धि, पाँच हाथ ऊँची सुभिक्ष और राज वृद्धि करती है, इत्यादि । अन्य भी अद्भुत बातें इन प्रतिष्ठा पाठोंमें लिखी हैं, जिनके द्वारा वीतराग भगवानकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई हमारे मंदिरोंमें विराजमान हैं ।

प्राचीन आचार्योंके ग्रन्थोंमें तो यह लिखा मिलता है कि जिनेन्द्रदेवके गुण गान करनेसे सब विघ्न दूर होजाते हैं,कोई भी भय नहीं रहता है,सब ही पाप दूर हो जाते हैं । दुष्ट देव किसी तरहकी कोई खराबी नहीं कर सकते हैं । सबही काम यथेष्ट रूपसे होते रहते हैं, परन्तु इन प्रतिष्ठा पाठोंके द्वारा तो श्री अर्हंत भगवानका पंच कल्याणक निर्विघ्न समाप्त होनेके वास्ते भी बुरे भले सब ही प्रकारके देवी देवताओं यहाँतक कि भूतों प्रेतों राक्षसों आदि सबही व्यंतरों और सोम,शनिश्चर,राहु,केतु आदि सबही ग्रहोंको अष्ट द्रव्यसे पूजा जाता है, उनकी रुचिकी अलग२ बलि दी जाती हैं और यज्ञ भाग देकर विदा किया जाता है। उनके सब परिवार और अनुचरों सहित इसही तरह आह्वान किया जाताहै जिस प्रकार श्रीअर्हंतों का किया जाता है, मानों जैनधर्म ही बदल कर कुछका कुछ होगया है । उदाहरणके तौर पर तिलोयपण्णत्तिकी एक गाथा १, ३० नीचे उद्धृतकी जाती है जो धवलमें भी उद्धृतकी गई है । जिनेन्द्र भगवानके स्मरणकरनेके दिव्य प्रभावके ऐसे२ कथन सबही प्राचीन शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं जिनको पढ़कर हमको अपने श्रद्धानको ठीक करना चाहिये और मिथ्यातमे भरे हुए इन प्रतिष्ठा पाठोंके जालमें फँसकर अपने श्रद्धानको नहीं बिगाड़ना चाहिये ।

णासदि विग्धं भेददियं हो दुट्ठासुराणलंघंति ।

इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामग्गहणमेत्तेण ॥१-३०॥
विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाःपरिलंघयन्ति
अर्थान्यथेष्टांश्च सदालभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥२१

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवानके नाम लेने मात्रसे विघ्न नाश होजाते हैं,पाप दूर हो जाते हैं, दुष्ट देव कुछ बाधा नहीं कर सकते हैं, इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

इसकेअलावा जिनेन्द्रभगवानकी मूर्ति बिना प्रतिष्ठा-के ही पूज्य है, इसके लिये हमको आदिपुराण पर्व ४१ के श्लोक ८५ से ९५ तकका वह कथन पढ़ना चाहिये, जिसमें लिखा है कि भरत महाराजने घंटोंके ऊपर जिन-बिम्ब अंकित कराकर उनको अयोध्याके बाहरी दर्वाज़ों और राजमहलके बाहरी दर्वाज़ोंपर लटकाया। जब वे आते जाते थे तो उन्हें इन घंटोंपर अंकित हुई मूर्तियोंको देखकर भगवानका स्मरण हो आता था और तब वे इन घंटोंपर अंकित जिनबिम्बोंकी वंदना तथा पूजा किया करते थे। कुछ दिन पीछे नगरके लोगोंने भी ऐसे घंटे अपने२ मकानोंके बाहरी द्वारों पर बांध दिये, और वेभी उन पर अंकित जिन-बिम्बोंकी पूजा वन्दना करने लगे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भगवानकी मूर्तियोंको प्रतिष्ठा करानेकी कोई आवश्यकता नहीं है वे वैसे ही पूज्य हैं।

विनयसे तत्वकी सिद्धि है
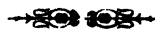
राजगृही नगरीके राज्यासन पर जिस समय श्रेणिक राजा विराजमान था उस समय उस नगरीमें एक चाण्डाल रहता था। एक समय इस चांडालकी स्त्रीको गर्भ रहा। चांडालिनीको आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आमोंको लाने-के लिये चांडालसे कहा। चांडालने कहा, यह आमोंका मौसम नहीं,इसलिये मैं निरुपाय हूँ। नहीं तो मैं आम चाहे कितने ही ऊँचे हों वहींसे अपनी विद्याके बलसे तोड़कर तेरी इच्छा पूर्ण करता। चांडालिनीने कहा, राजाकी महारानीके बागमें एक असमय फल देने वाला आम है; उसमें आज-कल आम लगे होंगे। इसलिये आप वहाँ जाकर आमों को लावें। अपनी स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेको चांडाल उस बागमें गया। चांडालने गुप्तरीतिसे आम-के समीप जाकर मंत्र पढ़कर वृक्षको नवाया और उस परसे आम तोड़ लिये। बादमें दूसरे मन्त्रके द्वारा उसे जैसाका तैसा कर दिया। बादमें चांडाल अपने घर आया। इस तरह अपनी स्त्रीकी इच्छा पूरी करनेके लिये निरन्तर वह चांडाल विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते २ मालीकी दृष्टि उन आमों पर गई। आमोंकी चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक राजाके आगे जाकर नम्रतापूर्वक सब हाल कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली प्रधानने युक्तिके द्वारा उस चांडालको ढूंढ निकाला। चांडालको अपने आगे बुलाकर अभयकुमारने पूछा, इतने मनुष्य बागमें रहते हैं, फिर भी तू किस रीतिसे ऊपर चढ़कर आम तोड़कर ले जाता है, कि यह बात किसीके जाननेमें नहीं आती? चांडालने कहा, आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं सच २ कह देता

हैं कि मेरे पास एक विद्या है। उसके प्रभावसे मैं इन आमोंको तोड़ सका हूँ। अभयकुमारने कहा मैं स्वयं तो क्षमा नहीं कर सकता, परन्तु महाराज श्रेणिकको यदि तू इस विद्याको देना स्वीकार करे, तो उन्हें इस विद्याके लेनेकी अभिलाषा होनेके कारण तेरे उपकारके बदले मैं तेरा अपराध क्षमा करा सकता हूँ। चांडालने इस बातको स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् अभयकुमारने चांडालको जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासन पर बैठे थे वहाँ लाकर श्रेणिकके सामने खड़ा किया और राजाको सब बात कह सुनाई। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बादमें चांडाल सामने खड़ा रहकर थरथराते पगसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परन्तु वह बोध नहीं लगा। झटसे खड़े होकर अभयकुमार बोले, महाराज! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी है, तो आप सामने आकर खड़े रहें और इसे सिंहासन दें। राजाने विद्या लेनेके वास्ते ऐसा ही किया, तो तत्काल ही विद्या सिद्ध होगई *।

यह बात केवल शिक्षा ग्रहण करनेके वास्ते है। एक चांडालकी भी विनय किये बिना श्रेणिक-जैसे राजाको विद्या सिद्ध नहीं हुई, इसमेंसे यही सार ग्रहण करना चाहिये कि सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिये विनय करना आवश्यक है। आत्म-विद्या पानेके लिये यदि हम निर्ग्रंथ गुरुका विनय करें, तो कितना मंगलदायक हो।

विनय, यह उत्तम वशीकरण है। उत्तराध्ययन-में भगवानने विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णन किया है। गुरुका, मुनिका, विद्वानका, माता-पिता-का और अपनेसे बड़ोंका विनय करना, ये अपनी उत्तमताके कारण हैं।

—श्रीमद् राजचन्द्र

* किसी कविने क्या खूब कहा है—

उत्तम गुणको लीजिए यदपि नीच पै होय।
परो अपावन ठौरमें कंचन तजै न कोय॥

आलोचन

जैनधर्ममें आलोचन अथवा आलोचनाको बड़ा महत्व प्राप्त है, उसकी गणना अंतरंग तपमें है और वह प्रायश्चित्त नामके अंतरंग तपका पहला भेद है, जिसके द्वारा आत्मशुद्धिका उपक्रम किया जाता है। अपने किये हुए दोषों, अपराधों तथा प्रमादोंको खुले दिलसे गुरुसे निवेदन करना अथवा अन्यप्रकारसे उन्हें प्रकट कर देना आलोचना कहलाता है और वह आत्मविकासके लिये बहुत ही आ-वश्यक वस्तु है। जब तक मनुष्य अपने दोषोंको दोष, अपराधोंको अपराध और प्रमादोंको प्रमाद नहीं समझता अथवा समझता हुआ भी अहंकारवश उन्हें छिपानेकी और उनका संशोधन न होने देनेकी कोशिश करता है तबतक उसका उत्थान नहीं हो सकता—उसे पतनोन्मुख समझना चाहिये--वह आत्मशुद्धि एवं विकासके मार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः आत्मशुद्धिके अभिलाषियोंका यह पहला कर्तव्य है कि वे आलोचनाको अपनाएँ, अपने दोषों-अपनी त्रुटियोंको समझें और उन्हें सद्गुरु आदिसे निवेदनकर अपनेको शुद्ध एवं हलका बनाएँ। मात्र आलोचना-पाठके पढ़लेनेसे आलोचना नहीं बनती। उससे तो यांत्रिक चारित्रकी—जड़मशीनों-जैसे आचरणकी—वृद्धि होती है।

—युगवीर

विवेकका अर्थ
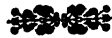
लघु शिष्य—भगवन आप हमें जगह जगह कहते आये हैं कि विवेक महान् श्रेयस्कर है। विवेक अन्धकारमें पड़ी हुई आत्माको पहिचाननेके लिये दीपक है। विवेकसे धर्म टिकता है। जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म नहीं, तो विवेक किसे कहते हैं, यह हमें कहिये।

गुरु—आयुष्मानों! सत्यासत्यको उसके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है।

लघु शिष्य—सत्यको सत्य और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तो महाराज! क्या इन लोगोंने धर्मके मूलको पालिया, यह कहा जा सकता है?

गुरु—तुम लोग जो बात कहते हो उसका कोई दृष्टान्त दो।

लघु शिष्य—हम स्वयं कडुवेको कडुवा ही कहते हैं, मधुरको मधुर कहते हैं, जहरको जहर और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु—आयुष्मानों! ये समस्त द्रव्य पदार्थ हैं। परन्तु आत्मामें क्या कडुवास, क्या मिठास, क्या जहर और क्या अमृत है? इन भाव पदार्थोंकी क्या इससे परीक्षा हो सकती है?

लघुशिष्य—भगवन्! इस ओर तो हमारा लक्ष्य भी नहीं।

गुरु—इसलिये यही समझना चाहिये कि ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सत्यभाव पदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूपी असत् वस्तुओंने घेर लिया है। इसमें इतनी अधिक मिश्रता आगई है कि परीक्षा करना अत्यन्त ही दुर्लभ है। संसारके सुखोंको आत्माके अनंतबार भोगने पर भी उनमेंसे अभी भी आत्माका मोह नहीं छूटा, और आत्माने उन्हें अमृतके तुल्य गिना, यह अविवेक है। कारण कि संसार कड़ुवा है तथा यह कड़वे विपाकको देता है। इसी तरह आत्माने कड़ुवे विपाककी औषधरूप वैराग्यको कड़ुवा गिना यह भी अविवेक है। ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको अज्ञानदर्शनने घेर कर जो मिश्रता कर डाली है, उसे पहचान कर भाव-अमृतमें आनेका नाम विवेक है। अब कहो कि विवेक यह कैसी वस्तु सिद्ध हुई।

लघुशिष्य—अहो! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मका रक्षक कहलाता है, यह सत्य है। आत्माके स्वरूपको विवेक बिना नहीं पहचान सकते, यह भी सत्य है। ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व, और तप यह सब विवेक बिना उदित नहीं होते, यह आपका कहना यथार्थ है। जो विवेकी नहीं, वह अज्ञानी और मंद है। वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमें लिपटा रहता है। आपकी विवेक संबन्धी शिक्षाका हम निरन्तर मनन करेंगे।

—श्रीमद् राजचन्द्र

तत्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति

[सम्पादकीय]

———:o:———

अर्सा कई सालका हुआ सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने बम्बईसे तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक पुरानी हस्त-लिखित सटिप्पण प्रति, सेठ राजमलजी बड़जात्याके यहाँसे लेकर, मेरे पास देखनेके लिए भेजी थी। देखकर मैंने उसी समय उसपरसे आवश्यक नोट्स (Notes) लेलिये थे, जो अभी तक मेरे संग्रहमें सुरक्षित हैं। यह सटिप्पण प्रति श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी है और जहाँतक मैं समझता हूँ अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। श्वे० जैन कॉन्फ्रेंस-द्वारा अनेक भण्डारों और उनकी सूचियों आदि परसे खोजकर तय्यार की गई 'जैन ग्रन्थावली' में इसका नाम तक भी नहीं है और न हालमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रकी पं० सुखलालजी-कृत विवेचनकी विस्तृत प्रस्तावना (परिचयादि) में ही, जिसमें उपलब्ध टीका-टिप्पणोंका परिचय भी कराया गया है, इसका कोई उल्लेख है। और इसलिये इस टिप्पणकी प्रतियाँ बहुत कुछ विरलसी ही जान पड़ती हैं। अस्तु; इस सटिप्पण प्रतिका परिचय प्रकट होनेसे अनेक बातें प्रकाशमें आएँगी, अतः आज उसे अनेकान्तके पाठकोंके सामने रक्खा जाता है।

(१) यह प्रति मध्यमाकारके ८ पत्रों पर है, जिनपर पत्राङ्क ११ से १८ तक पड़े हैं। मूल मध्यमें और टिप्पणी हाशियों (Margins) पर लिखी हुई है।

(२) बंगाल-एशियाटिक-सोसाइटी, कलकत्ताद्वारा सं० १९५६ में प्रकाशित सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके शुरूमें जो ३१ सम्बन्ध-कारिकाएँ दी हैं और अन्तमें ३२ पद्य तथा प्रशस्तिरूपसे ६ पद्य और दिये हैं वे सब कारिकाएँ एवं पद्य इस सटिप्पण प्रतिमें ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं, और इससे ऐसा मालूम होता है कि टिप्पण-कारने उन्हें मूल तत्त्वार्थसूत्रके ही अंग समझा है।

(३) इस प्रतिमें संपूर्ण सूत्रोंकी संख्या ३४९ और प्रत्येक अध्यायके सूत्रोंकी संख्या क्रमशः ३५, ५३, १९ ५४, ४५, २७, ३३, २६, ४९, ८ दी है। अर्थात् दूसरे तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठे और दसवें अध्यायमें सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी उक्त सोसाइटी वाले संस्करणकी छपी हुई प्रतिसे एक-एक सूत्र बढ़ा हुआ है; और वे सब बढ़े हुए सूत्र अपने-अपने नम्बरसहित क्रमशः इस प्रकार हैं:—

तैजसमपि ५०, घर्मा वंशा शैलाञ्जनारिष्टा माघव्या माघवीति च २, उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभाववतश्च साध्याः २३, स द्विविधः ४२, सम्यक्त्वं च २१; धर्मास्तिकायाभावात् ७।

और सातवें अध्यायमें एक सूत्र कम है—अर्थात् '**सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ३१**' यह सूत्र नहीं है।

सूत्रोंकी इस वृद्धि-हानिके कारण अपने२ अध्यायमें अगले-अगले सूत्रोंके नम्बर बदल गये हैं। उदाहरणके तौर पर दूसरे अध्यायमें ५०वें नम्बरपर '**तैजसमपि**' सूत्र आ जानेके कारण ५०वें '**शुभं विशुद्ध०**' सूत्रका नम्बर ५१ हो गया है, और ७वें अध्यायमें ३१वाँ '**निक्षेपापिधान०**' सूत्र न रहनेके कारण उस नम्बर पर '**जीवितमरणा०**,

नामका ३२ वाँ सूत्र आगया है।

दूसरी प्रतियोंमें बढ़े हुए सूत्रोंकी बाबत जो यह कहा जाता है कि वे भाष्यके वाक्योंको ही गलतीसे सूत्र समझ लेनेके कारण सूत्रोंमें दाखिल होगये हैं, वह यहाँ **'सम्यक्त्वं च'** सूत्रकी बाबत संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि पूर्वोत्तरवर्ती सूत्रोंके भाष्यमें इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है और यह सूत्र दिगम्बरसूत्रपाठमें २१ वें नम्बर पर ही पाया जाता है। पं० सुखलालजी भी अपने तत्त्वार्थसूत्र-विवेचनमें इस सूत्रका उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि श्वेताम्बरीय परम्पराके अनुसार भाष्यमें यह बात सम्यक्त्वको देवायुके आस्रवका कारण बतलाना) नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ श्वेताम्बरसम्प्रदायमें बहुत कुछ विवादापन्न है, और उसकी यह विवादापन्नता टिप्पणमें सातवें अध्यायके उक्त ३१ वें सूत्रके न होनेसे और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि इस सूत्रपर भाष्य भी दिया हुआ है, जिसका टिप्पणकारके सामनेवाली उस भाष्यप्रतिमें होना नहीं पाया जाता जिसपर वे विश्वास करते थे, और यदि किसी प्रतिमें होगा भी तो उसे उन्होंने प्रक्षिप्त समझा होगा। अन्यथा, यह नहीं होसकता कि जो टिप्पणकार भाष्यको मूल-चूल-सहित तत्त्वार्थसूत्रका त्राता (रक्षक) मानता हो वह भाष्यतकके साथमें विद्यमान होते हुए उसके किसी सूत्रको छोड़ देवे।

(४) बढ़े हुए बाज़ सूत्रोंके सम्बन्धमें टिप्पणीके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

क—"केचित्त्वाहारकनिर्देशात्पूर्वं "तैजसमपि" इति पाठं मन्यंते, नैवं युक्तं तथासत्याहारकं न लब्धिजमिति भ्रमः समुत्पद्यते, आहारकस्य तु लब्धिरेव योनिः।"

ख—"केचित्तु घर्मावंशेत्यादिसूत्रं न मन्यंते तदसत्। 'घम्मा वंसा सेला अंजणरि [ट्ठा] मघा य माघवई, नामेहिं पुढवीओ छत्ताइछत्तसंठाणा' इत्यागमात्।"

ग—"केचिज्जडाः 'स द्विविध' इत्यादिसूत्राणि न मन्यंते।"

ये तीनों वाक्य प्रायः दिगम्बर आचार्योंको लक्ष्य करके कहे गये हैं। पहले वाक्यमें कहा है कि 'कुछ लोग आहारकके निर्देशात्मक सूत्रसे पूर्व ही **"तैजसमपि"** यह सूत्र पाठ मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर आहारक शरीर लब्धिजन्य नहीं ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है, आहारककी तो लब्धि ही योनि है।' दूसरे वाक्यमें बतलाया है कि 'कुछ लोग **'घर्मा वंशा'** इत्यादि सूत्रको जो नहीं मानते हैं वह ठीक नहीं है।' साथ ही, ठीक न होनेके हेतुरूपमें नरकभूमियोंके दूसरे नामोंवाली एक गाथा देकर लिखा है कि 'चूंकि आगममें नरकभूमियोंके नाम तथा संस्थानके उल्लेखवाला यह वाक्य पाया जाता है, इसलिये इन नामोंवाले सूत्रको न मानना अयुक्त है।' परन्तु यह नहीं बतलाया कि जब सूत्रकारने 'रत्नप्रभा' आदि नामोंके द्वारा सप्त नरकभूमियोंका उल्लेख पहले ही सूत्रमें कर दिया है तब उनके लिये यह कहां लाज़िमी आता है कि वे उन नरकभूमियोंके दूसरे नामोंका भी उल्लेख एक दूसरे सूत्र-द्वारा करें। इससे टिप्पणकारका यह हेतु कुछ विचित्रसा ही जान पड़ता है। दूसरे प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्योंने भी उक्त 'घर्मा वंशा' आदि सूत्रको नहीं माना है, और इसलिये यह वाक्य कुछ उन्हें भी लक्ष्य करके कहा गया है। तीसरे वाक्यमें उन आचार्यों को 'जडबुद्धि' ठहराया है जो **"स द्विविधः"** इत्यादि सूत्रोंको नहीं मानते हैं !! यहां 'आदि' शब्दका अभिप्राय **'अनादिरादिमांश्च,'** **'रूपिष्वादिमान्,'** **'योगोपयोगी जीवेषु,'** इन तीन सूत्रोंसे है जिन्हें **'स द्विविधः'** सूत्र-सहित दिगम्बराचार्य सूत्रकारकी कृति नहीं मानते हैं।

परन्तु इन चार सूत्रोंमेंसे **'स द्विविधः'** सूत्रको तो दूसरे श्वेताम्बराचार्योंने भी नहीं माना है। और इसलिये अकस्मात्‌में **'जडाः'** पदका वे भी निशाना बन गये हैं! उन पर भी जडबुद्धि होनेका आरोप लगा दिया गया है !!

इससे श्वेताम्बरोंमें भाष्य-मान्य-सूत्रपाठका विषय और भी अधिक विवादापन्न हो जाता है और यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि उसका पूर्ण एवं यथार्थ रूप क्या है। जब कि सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठके विषयमें दिगम्बराचार्योंमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। यदि दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वार्थसिद्धिसे पहले भाष्यमान्य अथवा कोई दूसरा सूत्रपाठ रूढ़ हुआ होता और सर्वार्थसिद्धिकार (श्री पूज्यपादाचार्य) ने उसमें कुछ उलटफेर किया होता तो यह संभव नहीं था कि दिगम्बर आचार्योंमें सूत्रपाठके सम्बन्धमें परस्पर कोई मतभेद न होता। श्वेताम्बरोंमें भाष्यमान्य सूत्रपाठके विषयमें मतभेदका होना बहुधा भाष्यसे पहले किसी दूसरे सूत्रपाठके अस्तित्व अथवा प्रचलित होनेको सूचित करता है।

(५) दसवें अध्यायके एक दिगम्बर सूत्रके सम्बन्ध-में टिप्पणकारने लिखा है—

"केचित्तु 'आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' इति नव्यं सूत्रं प्रक्षिपंति तन्न सूत्रकारकृतिः, 'कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते' इत्यादिश्लोकैः सिद्धस्य गतिस्वरूपं प्रोक्तमेव, ततः पाठान्तरमपार्थं।"

अर्थात्—कुछ लोग 'आविद्धकुलालचक्र' नामका नया सूत्र प्रक्षिप्त करते हैं, वह सूत्रकारकी कृति नहीं है। क्योंकि **'कुलालचक्रेदोलायामिषौ चापि यथेष्यते'** इत्यादि श्लोकोंके द्वारा सिद्धगतिका स्वरूप कहा ही है, इसलिये उक्त सूत्ररूपसे पाठान्तर निरर्थक है।

यहां **'कुलालचक्रे'** इत्यादिरूपसे जिन श्लोकोंका सूचन किया है वे उक्त सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके अन्तमें लगे हुए ३२ श्लोकोंमेंसे १०, ११, १२, १४ नम्बरके श्लोक हैं, जिनका विषय वही है जो उक्त सूत्रका—उक्त सूत्रमें वर्णित चार उदाहरणोंको अलग-अलग चार श्लोकोंमें व्यक्त किया गया है। ऐसी हालतमें उक्त सूत्रके सूत्रकारकी कृति होनेमें क्या बाधा आतीहै उसे यहाँ पर कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया है। यदि किसी बातको श्लोकमें कह देने मात्रसे ही उस आशयका सूत्र निरर्थक होजाता है और वह सूत्रकारकी कृति नहीं रहता, तो फिर २२वें श्लोकमें **'धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परः'** इस पाठके मौजूद होते हुए टिप्पणकारने **"धर्मास्तिकायाभावात्"** यह सूत्र क्यों माना?—उसे सूत्रकारकी कृति होनेसे इनकार करते हुए निरर्थक क्यों नहीं कहा? यह प्रश्न पैदा होता है, जिसका कोई भी समुचित उत्तर नहीं बन सकता। इस तरह तो दसवें अध्यायके प्रथम छह सूत्र भी निरर्थकही ठहरते हैं; क्योंकि उनका सब विषय उक्त ३२ श्लोकोंके प्रारम्भके ६ श्लोकोंमें आगया है—उन्हें भी सूत्रकारकी कृति न कहना चाहिये था। अतः टिप्पणकारका उक्त तर्क निःसार है—उससे उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् उक्त दिगम्बर सूत्रपर कोई आपत्ति नहीं आसकती। प्रत्युत इसके, उसका सूत्रपाठ उसीके हाथों बहुत कुछ आपत्तिका विषय बन जाता है।

(६) इस सटिप्पण प्रतिके कुछ सूत्रोंमें थोड़ासा पाठ भेद भी उपलब्ध होता है—जैसे कि तृतीय अध्यायके १०वें सूत्रके शुरूमें **'तत्र'** शब्द नहीं है वह दिगम्बर सूत्र-पाठकी तरह **'भरतहैमवतहरिविदेह'** से ही प्रारम्भ होता है। और छठे अध्यायके ६ठे (दि० ५वें सूत्रका प्रारम्भ)

'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः' पदसे किया गया है,जैसे कि दिगम्बर सूत्रपाठमें पाया जाता है और सिद्धसेन तथा हरिभद्रकी कृतियोंमें भी जिसे भाष्यमान्य सूत्रपाठके रूपमें माना गया है; परन्तु बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के उक्त संस्करणमें उसके स्थान पर 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' पाठ दिया हुआ है और पं० सुखलालजीने भी अपने अनुवादमें उसीको स्वीकार किया है, जिसका कारण इस सूत्रके भाष्यमें 'अव्रत' पाठका प्रथम होना जान पड़ता है और इसलिये जो बादमें भाष्यके व्याख्या-क्रमानुसार सूत्रके सुधारको सूचित करता है।

(७) दिगम्बर-सम्प्रदायमें जो सूत्र श्वेताम्बरीय मान्यता की अपेक्षा कमती-बढ़ती रूपमें माने जाते हैं अथवा माने ही नहीं जाते उनका उल्लेख करते हुए टिप्पणमें कहीं-कहीं अपशब्दों प्रयोग भी किया गया है। अर्थात् प्राचीन दिगम्बराचार्योंको 'पाखंडी' तथा 'जड़बुद्धि' तक कहा गया है। यथा—

ननु-ब्रह्मोत्तर-कापिष्ठ-महाशुक्र-सहस्रारेषु नेंद्रोत्पत्तिरिति परवादिमतमेतावतैव सत्यापितमिति करिष्यन्मा मृषात्किल पाखंडिनः स्वकपोलकल्पितयुक्त्यैव षोडश कल्पानाहुः, षोडशाष्टपंचषोडशविकल्पा इत्येव स्पष्टं सूत्रकारोऽसूत्रयिष्यद्यथाखंडनीयो निन्हवः।"

"**केचिज्जडाः 'ब्रह्माद्यामेकं' इत्यादि मूलसूत्राण्यपि न मन्यंते चन्द्रार्कादीनां मिथः स्थितिभेदोस्तीत्यपि न पश्यंति।"**

इससे भी अधिक अपशब्दोंका जो प्रयोग किया गया है उसका परिचय पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा।

(८) दसवें अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका (अन्तिम सन्धि) दी है वह इस प्रकार है—

"**इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे मोक्षप्ररूपणाख्यो दशमः। ग्रं २२५ पर्यंतमादितः। समाप्तं चैतदुमास्वातिवाचकस्य प्रकरणपंचशती कर्तुः कृतिस्तत्त्वार्थाधिगमप्रकरणं॥"**

इसमें मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी आद्यन्तकारिकाओं सहित ग्रंथसंख्या २२५ श्लोकपरिमाण दी है और उसके रचयिता उमास्वातिको श्वेताम्बरीय मान्यतानुसार पाँचसौ प्रकरणोंका अथवा 'प्रकरणपंचशती' का कर्ता सूचित किया है, जिनमें से अथवा जिसका एक प्रकरण यह 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है।

(९) उक्त पुष्पिकाके अनन्तर ६ पद्य दिये हैं, जो टिप्पणकारकी खुदकी कृति है। उनमेंसे प्रथम सात पद्य दुर्वादापहारके रूपमें हैं और शेष दो पद्य अन्तिम मंगल तथा टिप्पणकारके नामसूचनको लिये हुए हैं। इन पिछले पद्योंके प्रत्येक चरणके दूसरे अक्षरको क्रमशः मिलाकर रखनेसे "**रत्नसिंहो जिनं वंदे**" ऐसा वाक्य उपलब्ध होता है, और इसीको टिप्पणमें "**इत्यन्तिमगाथाद्वयरहस्यं**" पदके द्वारा पिछले दोनों गाथा पद्योंका रहस्य सूचित किया है। ये दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

"**सुरनरनिकरनिषेव्यो। वृजिनपयोदप्रभाकचिरदेहः।**
श्रीसिंधुर्जिनराजो। महोदयं दिशति न कियद्भ्यः॥८॥
वृजिनोपतापहारी। सर्वंदिमविधुकोरचंद्राल्मा।
भावं भविना तन्वन्मुदे न संजायते केषां॥९॥*

इससे स्पष्ट है कि यह टिप्पण 'रत्नसिंह' नामके किसी श्वेताम्बराचार्य का बनाया हुआ है। श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें 'रत्नसिंह' नामके अनेक सूरि-आचार्य हो गये हैं; परन्तु उनमेंसे इस टिप्पणके रचयिता कौन हैं,

* इन दोनों पद्योंके अन्तमें "**श्रेयोऽस्तु**" ऐसा आशीर्वाक्य दिया हुआ है।

इसका ठीक पता मालूम नहीं हो सका; क्योंकि 'जैन-ग्रन्थावली' और 'जैनसाहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' जैसे ग्रंथोंमें किसी भी रत्नसिंहके नामके साथ इस टिप्पण ग्रन्थका कोई उल्लेख नहीं है। और इसलिये इनके समय-सम्बन्धमें यद्यपि अभी निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जासकता, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि ये विक्रमकी १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रके बाद हुए हैं; क्योंकि इन्होंने अपने एक टिप्पणमें हेमचन्द्रके कोषका प्रमाण 'इति हैमः' वाक्यके साथ दिया है। साथ ही, यह भी स्पष्ट ही है कि इनमें साम्प्रदायिक-कट्टरता बहुत बढ़ी चढ़ी थी और वह सभ्यता तथा शिष्टताको भी उल्लंघ गई थी, जिसका कुछ अनुभव पाठकोंको अगले परिचयसे प्राप्त हो सकेगा।

(१०) उक्त दोनों पद्योंके पूर्वमें जो ७ पद्य दिये हैं और जिनके अन्तमें "इति दुर्वादापहारः" लिखा है उनपर टिप्पणकारकी स्वोपज्ञ टिप्पणी भी है। यहाँ उनका क्रमशः टिप्पणी-सहित कुछ परिचय कराया जाता है:—

प्रागेवैतददक्षिणभषणगणादास्यमानमिव मत्वा ।
त्रातं समूलचूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात् ॥१॥

टिप्प०—"दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः* अदक्षिणा असरलाः स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गणैर्यदास्यमानं ग्रहिष्यमाणं स्वायत्तीकरिष्यमाणमिति यावत्तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः सह मूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मलग्रंथरक्षकाय प्राग्वचनचौरिकायामशक्तायेति।"

भावार्थ—जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहों-द्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर—यह देखकर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृतिके विद्वान् लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदायका बनाने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्रकी मूल-चूल-सहित रक्षाकी है—इसे ज्योंका त्यों श्वेताम्बर-सम्प्रदायके उमास्वातिकी कृतिरूपमें ही क़ायम रक्खा है—वह भाष्यकार (जिसका नाम मालूम नहीं*) चिरंजीव होवे—चिरकाल तक जयको प्राप्त होवे—ऐसा हम टिप्पणकार-जैसे लेखकोंका उस निर्मल ग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन-वचनोंकी चोरीमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है।

पूर्वाचार्यकृतेरपि कविचौरः किंचिदात्मसात्कृत्वा ।
व्याख्यानयति नवीनं न तत्समः कश्चिदपि पिशुनः ॥२॥

टिप्प०—"अथ ये केचन दुरात्मानः सूत्रवचनचौराः स्वमनीषया यथास्थानं यथेप्सितपाठप्रक्षेपं प्रदर्श्य स्वापर-

---

* "दक्षिणे सरलोदारौ" यह पाठ अमरकोशका है, उसे 'इति हैमः' लिखकर हेमचन्द्राचार्यके कोषका प्रकट करना टिप्पणकारकी विचित्र नीतिको सूचित करता है।

* क्योंकि टिप्पणकारने भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'स कश्चित्' (वह कोई) शब्दोंका प्रयोग किया है; जबकि मूलसूत्रकारका नाम उमास्वाति कई स्थानों पर स्पष्टरूपसे दिया है इससे साफ ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूलसूत्रकारसे भिन्न समझता था। भाष्यकारका 'निर्मलग्रन्थरक्षकाय' विशेषणके साथ 'प्राग्वचनचौरिकायामशक्ताय' विशेषण भी इसी बात-को सूचित करता है। इसके 'प्राग्वचन' का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है, भाष्यकारने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया—वह अपनी मनःपरिणतिके कारण ऐसा करनेके लिये असमर्थ था—यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है। अन्यथा, उमास्वातिके लिये इस विशेषणकी कोई ज़रूरत नहीं थी।

हितापगमं कथंचित् कुर्वन्ति तद्वाक्यशुश्रूषापरिहारायेद-मुच्यते—पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि। ततः परं वादविह्वलानां सद्वक्तृवचोप्यमन्यमानानां वाक्यात्संशयेभ्यः सुज्ञेभ्यो निरीहतया सिद्धांतेतरशास्त्रसमयापनोदकमेवं ब्रूमः।"

भावार्थ—सूत्रवचनोंको चुरानेवाले जो कोई दुरात्मा अपनी बुद्धिसे यथास्थान यथेच्छ पाठप्रक्षेपको दिखलाकर कथंचित् अपने तथा दूसरोंके हितका लोप करते हैं उनके वाक्योंके सुननेका निषेध करनेके लिये 'पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि' पद्य कहा जाता है, जिसका आशय यह है कि 'जो कविचोर पूर्वाचार्यकी कृतिमेंसे कुछ भी अपनाकर (चुराकर) उसे नवीनरूपमें व्याख्यान करता है—नवीन प्रगट करता है—उसके समान दूसरा कोई भी नीच अथवा धूर्त नहीं है।'

इसके बाद जो सुधीजन वाद-विह्वलों तथा सद्वक्ताके वचनको भी न मानने वालोंके कथनमें संशयमें पड़े हुए हैं उन्हें लक्ष्य करके सिद्धान्तसे भिन्न शास्त्र-समयको दूर करनेके लिये कहते हैं—

सुज्ञाः शृणुत निरीहाश्चेदाहो परगृहीतमेवेदं।
सति जिनसमयसमुद्रे तदेकदेशेन किमनेन ॥३॥

टिप्प०—"शृणुत भोः कतिचिद्विज्ञाश्चेदाहो यद्युतेदं तत्त्वार्थप्रकरणं परगृहीतं परोपात्तं परनिर्मितमेवेति यावदिति भवंतः संशेरते किं जातमेतावता वयं त्वस्मिन्नेव कृतादरा न वर्तामहे क्षयीवः सरसीव, यस्मादद्यापि जिनेंद्रोक्तांगोपांगाद्यागमसमुद्रा गर्जंतीति हेतोः तदेकदेशेनानेन किं? न किंचिदित्यर्थः। ईदृशानि भूयांस्येव प्रकरणानि संति केषु केषु रिरंसां करिष्याम इति।"

भावार्थ—भोः कतिपय विद्वानों! सुनो, यद्यपि यह तत्त्वार्थप्रकरण परगृहीत है—दूसरोंके द्वारा अपनाया गया है—पर निर्मित ही है, यहाँ तक आप संशय करते हैं; परन्तु ऐसा होनेसे ही क्या होगया? हम तो एकमात्र इसीमें आदररूप नहीं वर्तरहे हैं, छोटे तालाबकी तरह। क्योंकि आज भी जिनेन्द्रोक्त अंगोपांगादि आगमसमुद्र गर्ज रहे हैं, इस कारण उस समुद्रके एकदेशरूप इस प्रकरणसे—उसके जाने रहनेसे—क्या नतीजा है? कुछ भी नहीं। इस प्रकारके बहुतसे प्रकरण विद्यमान हैं, हम किन किनमें रमनेकी इच्छा करेंगे?

परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं शृणुत वच्मि सविवेकः।
शुद्धो योस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि ॥४॥

टिप्प०—"एवं वाचकवर्यं वाचको ह्युमास्वातिर्दिगम्बरो निह्नव इति केचिन्मावदन्नदः शिक्षार्थं 'परमेतावच्चतुरैरिति' पद्यं ब्रूमहे—शुद्धःसत्यः प्रथम इति यावद्यः कोप्यस्य ग्रंथस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निंदनीय एतावच्चतुरैर्विधेयमिति।"

भावार्थ—ऊपरकी बातको सुनकर 'वाचक उमास्वाति निश्चयसे दिगम्बर निह्नव है' ऐसा कोई न कहे, इस बातकी शिक्षाके लिये हम 'परमेतावच्चतुरैः' इत्यादि पद्य कहते हैं, जिसका यह आशय है कि 'चतुरजनोंको इतना कर्तव्य पालन जरूर करना चाहिये कि जिसमें इस तत्त्वार्थशास्त्रका जो कोई शुद्ध विधाता—आद्य-निर्माता—है वह किसी प्रकारसे दूषणीय—निन्दनीय—न ठहरे।

यः कुंदकुंदनामा नामांतरितो निरूप्यते कैश्चित्।
ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात्स्पष्टमुमास्वातिरिति विदितात् ॥५॥

टिप्प०—"तर्हि कुंदकुंद एवैतत्प्रथमकर्तेति संशयापोहाय स्पष्टं ज्ञापयामः 'यः कुंदकुंदनामेत्यादि'। अयं च परतीर्थिकैः कुंदकुंद इडाचार्यः पद्मनंदी उमास्वातिरित्यादिनामांतराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मात्प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सकाशादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्वेदयामः।"

भावार्थ—'तब कुन्दकुन्द ही इस तत्त्वार्थशास्त्रके प्रथम कर्ता हैं,' इस संशयको दूर करनेके लिये हम 'यः कुंदनामेत्यादि' पद्यके द्वारा स्पष्ट बतलाते हैं कि—पर तीर्थिकों (!) के द्वारा जो कुन्दकुन्दको कुन्दकुन्द, इडाचार्य (?), पद्मनन्दी उमास्वाति * इत्यादि नामान्तरों की कल्पना करके उमास्वाति कहा जाता है वह हमारे इस प्रकरणकर्तासे, जिसका स्पष्ट 'उमास्वाति' ही प्रसिद्ध नाम है, भिन्न ही है, इस बातको हम बार-बार क्या बतलावें।

श्वेतांबरसिंहानां सहजं राजाधिराजविद्यानां।
निह्नवनिर्मितशास्त्राग्रहः कथंकारमपि न स्यात् ॥६॥

टिप्प०—नन्वत्र कुतोलभ्यते यत्पाठांतरसूत्राणि दिगंबरैरेव प्रक्षिप्तानि? परे तु वक्ष्यंति यदस्मद्वृद्धैरचितमेतत्प्राप्य सम्यगिति ज्ञात्वा श्वेतांबराः स्वैरं कतिचित्सूत्राणि तिरोकुर्वन् कतिचिच्च प्राक्षिपन्निति भ्रमभेदार्थं 'श्वेतांबरसिंहानामित्यादि' ब्रूमः। कोऽर्थः श्वेतांबरसिंहाः स्वयमत्यंतोद्दंडग्रंथग्रंथनप्रभूष्णवः परनिर्मितशास्त्रं तिरस्करण-प्रक्षेपादिभिर्न कदाचिदप्यात्मसान्निदर्धारन्। यतः 'तस्करा एव जायंते परवस्त्वात्मसात्कराः, निर्विशेषेण पश्यंति स्वमपि स्वं महाशयाः।'

भावार्थ—यहाँ पर यदि कोई कहे कि 'यह बात कैसे उपलब्ध होती है कि जो पाठांतरित सूत्र हैं वे दिगम्बरोंने ही प्रक्षिप्त किये हैं? क्योंकि दिगम्बर तो कहते हैं कि हमारे वृद्धों-द्वारारचित इस तत्त्वार्थसूत्रको पाकर और उसे समीचीन जानकर श्वेताम्बरोंने स्वेच्छाचारपूर्वक कुछ सूत्रोंको तो तिरस्कृत कर दिया और कुछ नये सूत्रोंको प्रक्षिप्त कर दिया—अपनी ओरसे मिला दिया है'। इस भ्रमको दूर करनेके लिये हम 'श्वेताम्बरसिंहानां' इत्यादि पद्य कहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि—श्वेताम्बरसिंहोंके, जो कि स्वभावसे ही विद्याओंके राजाधिराज हैं और स्वयं अत्यन्त उद्दंड-ग्रन्थोंके रचनेमें समर्थ हैं, निह्नव-निर्मित-शास्त्रोंका ग्रहण किसी प्रकार भी नहीं होता है—वे परनिर्मित शास्त्रको तिरस्करण और प्रक्षेपादिके द्वारा कदाचित् भी अपने नहीं बनाते हैं; क्योंकि जो दूसरेकी वस्तुको अपनाते हैं—अपनी बनाते हैं—वे चोर होते हैं, महान आशयके धारक तो अपने धनको भी निर्विशेषरूपसे अवलोकन करते हैं—उसमें अपनायतका (निजत्वका)-भाव नहीं रखते।'

पाठांतरमुपजीव्य भ्रमंति केचिद्वृथैव संतोऽपि।
सर्वेषामपि तेषामतः परं भ्रांतिविगमोऽस्तु ॥७॥

टिप्प०—अतः सर्वरहस्यकोविदा अमृतरसे कल्पनाविषपूरं न्यस्यमानं दूरतस्त्यक्त्वा जिनसमयार्णवानुसाररसिका उमास्वातिमपि स्वतीर्थिक इति स्मरंतोऽनंतसंसारपाशं पतिष्यद्भिर्विशदमपि कलुषीकर्तुकामैः सह निह्नवैः संगं माकुर्वन्निति।

भावार्थ—कुछ संत पुरुष भी पाठान्तरका उपयोग करके—उसे व्यवहारमें लाकर—वृथा ही भ्रमते हैं, उन सबकी भ्रान्तिका इसके बादसे विनाश होवे।

अतः जो सर्वरहस्यको जानने वाले हैं और जिनागमसमुद्रके अनुसरण-रसिक हैं वे अमृतरसमें न्यस्यमान कल्पना-विषपूरको दूरसे ही त्यागकर, उमास्वातिको भी स्वतीर्थिक स्मरण करते हुए, अनन्त संसारके जाल-

*** जहाँ तक मुझे दिगम्बर जैनसाहित्यका परिचय है उसमें कुन्दकुन्दाचार्यका दूसरा नाम उमास्वाति है ऐसा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। कुन्दकुन्दके जो पाँच नाम कहे जाते हैं उनमें मूल नाम पद्मनन्दी तथा प्रसिद्ध नाम कुन्दकुन्दको छोड़कर शेष तीन नाम एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छाचार्य हैं। तथा कुन्दकुन्द और उमास्वातिकी भिन्नताके बहुत स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। अतः इस नामका दिया जाना भ्रान्तिमूलक है।**

में पड़ने वाले उन निह्नवोंके साथ संगति न करें—कोई सम्पर्क न रक्खें–जो विशदकोभी कलुषित करना चाहतेहैं।

(११) उक्त ७ पद्यों और उनकी टिप्पणीमें टिप्पणकारने अपने साम्प्रदायिक कट्टरतासे परिपूर्ण हृदयका जो प्रदर्शन किया है—स्वसम्प्रदायके आचार्योंको 'सिंह' तथा 'विद्याओंके राजाधिराज' और दूसरे सम्प्रदाय वालोंको 'कुत्ते' तथा 'दुरात्मा' बतलाया है, अपने दिगम्बर भाइयोंको 'परतीर्थिक' अर्थात् भ० महावीरके तीर्थको न माननेवाले अन्यमती लिखा है और साथ ही अपने श्वेताम्बर भाइयोंको यह आदेश दिया है कि वे दिगम्बरोंकी संगति न करें अर्थात् उनसे कोई प्रकारका सम्पर्क न रक्खें—उस सबकी आलोचनाका यहाँ कोई अवसर नहीं है, और न यह बतलानेकी ही ज़रूरत है कि श्वेताम्बरसिंहोंने कौन कौन दिगम्बर ग्रंथोंका अपहरण किया है और किन किन ग्रंथोंको आदरके साथ ग्रहण करके अपने अपने ग्रंथोंमें उनका उपयोग किया है, उल्लेख किया है और उन्हें प्रमाणमें उपस्थित किया है। जो लोग परीक्षात्मक, आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक साहित्यको बराबर पढ़ते रहते हैं उनसे ये बातें छिपी नहीं हैं। हाँ, इतना ज़रूर कहना होगा कि यह सब ऐसे कलुषितहृदय लेखकोंकी लेखनी अथवा साम्प्रदायिक कट्टरताके गहरे रंगमें रंगे हुए कषायाभिभूत साधुओंकी कर्तृतका ही परिणाम है—नतीजा है—जो अर्सेसे एक ही पिताकी संतानरूप भाइयों-भाइयोंमें—दिगम्बरों-श्वेताम्बरोंमें—परस्पर मनमुटाव चला जाता है और पारस्परिक कलह तथा विसंवाद शान्त होनेमें नहीं आता! दोनों एक दूसरेपर कीचड़ उछालते हैं और विवेकको प्राप्त नहीं होते!!! वास्तवमें दोनों ही अनेकान्तकी ओर पीठ दिये हुए हैं और उस समीचीनदृष्टि—अनेकान्तदृष्टि—को भुलाये हुए है जो जैनशासनकी जान तथा प्राण है और जिसके अवलोकन करनेपर विरोध ठहर नहीं सकता—मनमुटाव क़ायम नहीं रह सकता। यदि ऐसे लेखकोंको अनेकान्तदृष्टि प्राप्त होती और वे जैनी-नीतिका अनुसरण करते होते तो कदापि इस प्रकारके विषबीज न बोते। खेद है कि दोनों ही सम्प्रदायोंमें ऐसे विषबीज बोनेवाले तथा द्वेष-कषायकी अग्निको भड़कानेवाले होते रहे हैं, जिसका कटुक परिणाम आजकी संतानको भुगतना पड़ रहा है!! अतः वर्तमान वीरसंतानको चाहिये कि वह इस प्रकारकी द्वेषमूलक तहरीरों—पुरानी अथवा आधुनिक लिखावटों—पर कोई ध्यान न देवे और न ऐसे जैनी-नीतिविरुद्ध आदेशोंपर कई अमल ही करे। उसे अनेकान्तदृष्टिको अपनाकर अपने हृदयको उदार तथा विशाल बनाना चाहिये, उसमें विवेकको जागृत करके साम्प्रदायिक मोहको दूर भगाना चाहिये और एक सम्प्रदायवालोंको दूसरे सम्प्रदायके साहित्यका प्रेमपूर्वक तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये, जिससे परस्परके गुण-दोष मालूम होकर सत्यके ग्रहणकी ओर प्रवृत्ति होसके, दृष्टिविवेककी उपलब्धि होसके और साम्प्रदायिक संस्कारोंके वश कोई भी एकांगी अथवा ऐकान्तिक निर्णय न किया जासके; फलतः हम एक दूसरेकी भूलों अथवा त्रुटियोंको प्रेमपूर्वक प्रकट कर सकें, और इस तरह परस्परके वैर-विरोधको समूल नाश करनेमें समर्थ होसकें। ऐसा करनेपर ही हम अपनेको वीरसंतान कहने और जैनशासनके अनुयायी बतलानेके अधिकारी हो सकेंगे। साथ ही, उस उपहासको मिटा सकेंगे जो अनेकान्तको अपना सिद्धान्त बनाकर उसके विरुद्ध आचरण करनेके कारण लोकमें हमारा हो रहा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ११-११-१९३९

जैन-लक्षणावली

अर्थात्

लक्षणात्मक जैन-पारिभाषिक शब्दकोष

वीरसेवामन्दिर सरसावामें दो ढाई वर्षसे 'जैनलक्षणावली' की तय्यारीका काम अविरामरूपसे होरहा है। कई विद्वान् इस काममें लगे हुए हैं। कोई २०० मुख्य दिगम्बर ग्रंथों और २०० के ही करीब प्रमुख-श्वेताम्बर ग्रंथोंपरसे लक्ष्य शब्दों तथा उनके लक्षणोंके संग्रहका कार्य हुआ है। संग्रहका कार्य समाप्तिके करीब है और उसमें २५ हज़ारके करीब लक्षणोंका समावेश समझिये। संग्रहमें यह दृष्टि रक्खी गई है कि जो लक्षण शुद्ध लक्षण न होकर निरुक्तिपरक अथवा स्वरूपपरक लक्षण हैं उन्हें भी उपयोगिताकी दृष्टिसे कहीं कहीं पर ले लिया गया है। अब संगृहीत लक्षणोंका क्रमशः संकलन और सम्पादन होकर प्रेस-कापी तय्यार की जानेको है। जैसे जैसे प्रेस कापी तय्यार होती जायगी उसे प्रेसमें छपनेके लिये देते रहनेका विचार है। प्रायः चार खण्डोंमें यह महान ग्रंथ प्रकाशित होगा।

मेरा विचार ग्रंथमें लक्षणोंको कालक्रमसे देनेका था और इसलिये मैं चाहता था कि दिगम्बरीय तथा श्वेताम्बरीय लक्षणोंका इस दृष्टिसे एक ही क्रम तय्यार किया जाय, जिससे पाठकोंको लक्षणोंके क्रम-विकासका (यदि कुछ हो), लक्षणकारोंकी मनोवृत्तिका और देश-कालकी उस परिस्थिति अथवा समयादिककी माँगका भी कितना ही अनुभव हो सके जिसने उस विकासको जन्म दिया हो अथवा जिससे प्रेरित होकर पूर्ववर्ती किसी लक्षणमें कुछ परिवर्तन अथवा फेर-फार करनेकी ज़रूरत पड़ी हो। परन्तु ऐसा नहीं हो सका—उसमें अनेक अड़चनें तथा बाधाएँ उपस्थित हुईं। अनेक विद्वानोंके समय तथा ग्रन्थोंके निर्माणकाल एवं ग्रन्थनिर्माताओंके सम्बन्धमें परस्पर दोनों सम्प्रदायोंमें मतभेद है और कितने ही विद्वानों तथा ग्रन्थोंका समय सुनिश्चित नहीं है। ऐसी हालतमें दोनों सम्प्रदायोंके लक्षणोंको अलग अलग दो विभागोंमें रक्खा गया है। और उनमें अपनी अपनी स्थूल मान्यताके अनुसार लक्षणोंका क्रम दिया गया है। इससे भी उक्त उद्देश्यकी कुछ परिश्रमके साथ पूरी अथवा बहुतसे अंशोंमें सिद्धि हो सकेगी। क्योंकि ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारोंके समय-सम्बन्धमें प्रस्तावना लिखते समय यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा।

यह ग्रन्थ देशी-विदेशी सभी विद्वानोंके लिये एक प्रामाणिक रिफरेंस बुक (Reference book) का काम देता हुआ उनकी ज्ञानवृद्धि तथा किसी विषयके निर्णय करनेमें कितना उपयोगी एवं सहायक सिद्ध होगा उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं। ग्रंथकी प्रकृति एवं पद्धति परसे वह सहज ही में जाना जा सकता है। प्रथम तो प्रत्येक विद्वान्‌के पास इतने अधिक ग्रंथोंका संग्रह नहीं होता और यदि किसीके पास हो भी तो यह मालूम करना बहुत ही कठिन तथा अतिशय परिश्रम-साध्य होता है कि कौनविषय किस ग्रंथमें कहाँ कहाँ पर वर्णित है। इस एक ग्रन्थके सामने रहते सैंकड़ों ग्रन्थोंका हाल एक साथ मालूम हो जाता है—यह पता सहज ही में चल जाता है कि

किस विषयका क्या कुछ लक्षण किस किस ग्रंथमें पाया जाता है और किस किसमें वह नहीं पाया जाता; क्योंकि इस ग्रंथमें प्रत्येक लक्ष्यके लक्षणोंका संग्रहमें उपयुक्त हुए सभी ग्रंथोंपरसे एकत्र संग्रह किया गया है, ग्रंथकार और ग्रंथके नामके * साथ उनके स्थलका पता ‡ भी दे दिया गया है और लक्ष्य शब्दोंको अकारादि-क्रमसे रक्खा है, जिससे किसी भी लक्ष्यके लक्षणोंको मालूम करनेमें आसानी रहे। कुछ लक्ष्य ऐसे भी हैं जो दूसरे ग्रंथोंमें अपने पर्याय नामसे उल्लेखित हुए हैं और उसी नामसे उनका वहाँ लक्षण दिया है। उनके लक्षणोंको यहां प्रायः उनके नामक्रमके साथ ही संग्रह किया गया है। हां, पर्याय नामवाले लक्ष्य शब्दको भी देखनेका साथमें संकेत कर दिया गया है; जैसे 'अकथा' के साथ में 'विकथा' को देखनेकी प्रेरणा की गई है।

कुछ लक्षण ऐसे हैं जो दिगम्बर ग्रन्थोंमें ही मिले हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो श्वेताम्बर ग्रंथोंमें ही उपलब्ध हुए हैं, और इसलिए उनके साथ दूसरे सम्प्रदायके लक्षणोंको नहीं दिया जा सका है। यदि दूसरे सम्प्रदाय के किसी अन्य ग्रंथमें, जिसका उपयोग इस संग्रहमें नहीं हो सका, उस लक्ष्यका लक्षण पाया जाता हो अथवा उपयुक्त ग्रन्थोंमेंसे ही किसीमें उपलब्ध होता हो और दृष्टिदोषके कारण इस संग्रहमें छूट गया हो, उसकी सूचना मिलने पर उसे बादको परिशिष्टमें दे दिया जायगा।

आज इस लक्षणावलीके 'अ' भागके कुछ अंशोंको 'अनेकान्त'के पाठकोंके सामने नमूनेके तौर पर रक्खा जाता है, जिससे उन्हें इस ग्रंथकी रूप-रेखाका कुछ साक्षात् अनुभव हो सके और वह इसकी उपयोगिता तथा आवश्यकताको भले प्रकार अनुभव कर सकें। साथ ही, विद्वानोंसे यह नम्र निवेदन है कि वे लक्षणावलीके इस रूपमें, जिसमें वह प्रस्तुत की जानेको है, यदि कोई खास त्रुटि देखें अथवा उपयोगिताकी दृष्टिसे कोई विशेष बात सुझानेकी हो तो वे कृपया शीघ्र ही सूचित कर अनुगृहीत करें, जिससे उसपर समुचित विचार होकर प्रेसकापीके समय यथोचित सुधार किया जासके। विद्वानोंके ऐसे हर परामर्शका हृदयसे अभिनन्दन किया जायगा और मैं उनका इस कृपाके लिये बहुत ही आभारी हूंगा।

इस नमूनेमें जहां कहीं किसी लक्ष्यके लक्षणानन्तर × × × ऐसे चिन्ह दिये गये हैं वहां उनके बाद अनेक लक्ष्य शब्द तथा उनके लक्षण रहे हुए हैं, जिन्हें इस नमूनेमें उद्धृत नहीं किया गया। वे सब प्रकाशित होने वाले प्रथम खण्डमें यथास्थान रहेंगे।

—सम्पादक

*** ग्रन्थका नाम पूरा न देकर संक्षेपमें दिया गया है। ग्रन्थोंके पूरे नामों आदिके लिये एक संकेत सूची प्रत्येक खण्डमें रहेगी, जिससे यह भी मालूम होसकेगा कि ग्रन्थके कौनसे संस्करण अथवा कहांकी हस्तलिखित प्रतिका इस संग्रहमें उपयोग हुआ है।**

‡ पतेमें जहाँ एक ही संख्याङ्क दिया है वह ग्रन्थके पद्य अथवा सूत्र नम्बरको सूचित करता है, जहाँ दो संख्याङ्क दिये हैं वहाँ पहला अंक ग्रंथके अध्याय, परिच्छेदादिकका और दूसरा अंक पद्य तथा सूत्रके नम्बरका वाचक है, जहाँ तीन संख्याङ्क दिये हैं वहाँ दूसरा अंक अध्यायादिके अवान्तर भेद अथवा सूत्रका सूचक है और तीसरा अंक पद्य या सूत्रके नम्बरका द्योतक है। और जहां 'पृ०' पूर्वक संख्याङ्क दिया है वह ग्रन्थके पृष्ठ नम्बरको बतलाता है।

अ

अकथा (अकहा)—

[श्वेताम्बरीय लक्षणम्]

मिच्छत्तं वेयंतो जं अण्णाणी कहं परिकहेइ ।
लिंगत्थो व गिही वा सा अकहा देसिया समए ॥

—भद्रबाहुः, दशवैका० नि०, गा० २०६

पश्य 'विकथा'

अकल्पः-ल्प्यम् (अकप्पो)—

[श्वे० ल०]

अकप्पो जंअ विहीए सेवइ ।

—सिद्धसेनः, जीतक० चूर्णिः, गा० १

पिण्ड-उपाश्रय-वस्त्र-पात्ररूपं चतुष्टयं यदनेषणीयं तदकल्प्यम् ।—चन्द्रसूरिः, जीतक० चू० व्या०, गा०१

अकप्पो नाम पुढवाइकायाणं अपरिणयाणं गहणं करेइ, अहवा उदउल्ल-ससणिद्ध-ससरक्खाइएहिं हत्थमत्तेहिं गिण्हइ, जं वा अगीयत्थेणं आहारोवहि उप्पाइयं तं परिभुंजंतस्स अकप्पो । पंचकादिप्रायश्चित्तशुद्धियोग्यमपवादसेवनविधिं त्यक्त्वा गुरुतरदोषसेवनं वा अकप्पो ।

—श्रीचन्द्रसूरिः, जीतक० चू० व्या० गा०, १

अकल्पोऽपरिणतपृथ्वीकायादिग्रहणमगीतार्थानीतोपधिशय्याऽऽहाराद्युपभोगश्च ।

—मलयगिरिः, व्य०सू० भा० वृ० १०,३४

अकस्माद्भयम्—

[श्वे० ल०]

अकस्मादेव बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम् ।

—मुनिचन्द्रः,ललितवि० प०, पृ० ३८

बाह्यनिमित्तनिरपेक्षं भयमकस्माद्भयम् ।

—विनयविजयः, कल्पसू० वृ०, १, १५

अकामनिर्जरा—

[दिगम्बरीय लक्षणानि]

अकामश्चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्यामलधारणपरितापादिः अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा । —पूज्यपादः, सर्वा० सि०, ६,२० ।

विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्यादुपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा ।

—अकलंकः, तत्त्वा० रा० ६, १२

अकामा कालपक्वनिर्जरणलक्षणा ।

—आशाधरः, अन० ध० टी०, २,४३

अकामे निर्जरा अकामनिर्जराः यः पुमान् चारक निरोधबंधनबद्धः पराधीनपराक्रमः सन् बुभुक्षानिरोधं तृषादुःखं अब्रह्मचर्यकृच्छ्रं भूशयनकष्टं मलधारणं परितापादिकं च सहमानः सहनेच्छारहितः सन् यत् ईषत्कर्म निर्जरयति सा अकामनिर्जरा ।

श्रुतसागरः, तत्त्वा० टी० ६,२०

[श्वेताम्बरीय लक्षणानि]

अकामनिर्जरा पराधीनतयानुरोधाद्वाकुशलनिवृत्तिराहारादिनिरोधश्च ।

—उमास्वातिः, तत्त्वा० भा०, ६, २०

अकामनिर्जरा कुतश्चित् पारतन्त्र्यादुपभोगनिरोधरूपा तथापालनाया अयोगः ।

—हरिभद्रः, तत्त्वा० भा० टी०, ६,१३

विषयानर्थनिवृत्तिमात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्यादुपभोगादिनिरोधः अकामनिर्जरा, अकामस्य-अनिच्छतो निर्जरणं पापपरिशाटः पुण्यपुद्गलोपचयश्च, परवशस्य चामरणमकामनिर्जरायुषः परिक्षयः ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी०, ६, १३

अनभिलषतोऽनिच्छत एव कर्मपुद्गलपरिशाटः (अकामनिर्जरा) ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी०, ६, २०

अकामनिर्जरा यथाप्रवृत्तिकरणेन गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाकामस्य निरभिलाषस्य या निर्जरा कर्मप्रदेशविघटनरूपा ।

—हेमचन्द्रः, योगशा० वृ०, ४, १०७

अकालुष्यम्—

[दिग० ल०]

तेषामेव (क्रोधमानमायालोभानामेव) मन्दोदये तस्य-(चित्तस्य) प्रसादोऽकालुष्यम्।

—अमृतचन्द्रः, पंचा० टी०, १३८

अकिञ्चनता-त्वम्—

[दिग० ल०]

अकिंचनता सकलग्रन्थत्यागः।

—अपराजितसूरिः, भग० आ० टी०, १,४६

अकिंचनता उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्याभिसम्बन्धनिवृत्तिः।

—वसुनन्दी, मूला० वृ०,११,५

[श्वे० ल०]

अकिंचणिया नाम सदेहे निस्संगता निम्ममत्तणं।

—जिनदासगणी, दशवै० चू० ४२,पृ० १८

नास्य किञ्चनद्रव्यमस्तीत्यकिञ्चनस्तस्यभावोऽकिञ्चनता शरीरधर्मोपकरणादिष्वपि निर्ममत्वमकिञ्चनत्वम्।

—हेमचन्द्रः,योगशा०स्वो० वृ०, ४, ९३

अकिञ्चित्करः (हेत्वाभासः)—

[दिग० ल०]

सिद्धेऽकिञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया।

—अकलंकः, प्रमाणसं०, ४४

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः।

— माणिक्यनन्दी, परीक्षा०, ६, ३५

अप्रयोजको हेतुरकिञ्चित्करः।

—धर्मभूषणः, न्या० दी०, ३, १०७

अकुशलम्—

[दिग० ल०]

अकुशलं दुःखहेतुकम्। —वसुनन्दी, आप्तमी० वृ० ८

अचक्षुर्दर्शनम् (अचक्खुदंसणं):—

[दिग० ल०]

सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खू त्ति।

—वीरसेनोद्धृतः, धवला, ख० १, आ० पृ०, ५४

शेषेन्द्रियमनसो दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्।

—वीरसेनः, धवला, जीव०चूलिका, १ आ०पृ०,३०६

सेसिंदियणाणुप्पत्तीदो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए अप्पणो विसयम्मि पडिबद्धाए सामण्णेण संवेदो अचक्खुणाणु-प्पत्तीणिमित्तो तमचक्खुदंसणमिदि।

—वीरसेनः, धवला, आ०पृ०, ३८६

सोदघाणजिह्वाफासमणेहिंतो समुपज्जमाणकारणसगसं-वेयणमचक्खुदंसणं णाम।

—वीरसेनः, धवला, खं० ४,अनुयो०५, आ०पृ०, ८६२

यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रियानिन्द्रि-यावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनाव-बुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम्।

—अमृतचन्द्रः, पञ्चा०,टी०, ४२

सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खू त्ति।

—नेमिचन्द्रः, गो० जी०, गा०४८४

शेषाणां पुनरक्षाणां (अर्थप्रकाशः) अचक्षुर्दर्शनम्।

—अमितगतिः, पञ्चसं०, १, २५०

शेषेन्द्रियज्ञानोत्पादक-प्रयत्नानुविद्ध-गुणीभूत विशेष-सामान्यालोचनमचक्षुर्दर्शनम्।

—वसुनन्दी, मूला०, टी०, १२, १८८

शेषेन्द्रिय-नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति बहिरंगद्रव्ये-न्द्रिय-द्रव्यमनोवलम्बनेन यन्मूर्तामूर्तं च वस्तु निर्विकल्प सत्तावलोकेन यथासम्भवं पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम्।

—जयसेनः, पंचा०टी०, ४२

स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात्स्वकीय स्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम्

—ब्रह्मदेवः, द्रव्यसं० टी०, ४

[श्वे० ल०]

शेषेन्द्रियैर्दर्शनं अनयनदर्शनं (अचक्षुर्दर्शनम्)।

—चन्द्रमहर्षिः, पंचसं० वृ०, गा०१२२

अचक्षुर्दर्शनं शेषेन्द्रियोपलब्धिलक्षणम्।

—हरिभद्रः, तत्त्वा० टी०, २, ५

अचक्षुर्दर्शनं शेषेन्द्रियसामान्योपलब्धिलक्षणम्।

—हरिभद्रः, अनुयो० वृ०,१०३

शेषेन्द्रियमनोविषयमविशिष्टमचक्षुर्दर्शनं ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० वृ० ८, ८

अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियचतुष्टयेनमनसा च दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमेवाचऽक्षुर्दर्शनम्।

—मलधारी हेमचन्द्रः, बन्धश० टी०, गा० २, ३

अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोदर्शनमचक्षुर्दर्शनम्।

—मलयगिरिः, प्रज्ञा० वृ०, पद २३

अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम्।

—मलयगिरिः, प्रज्ञा० वृ०, पद २६

सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम्।

—मलयगिरिः, षडशी० टी०, गा० १६

अचक्षुषा चक्षुर्वर्जेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा वा दर्शनं तद-चक्षुर्दर्शनम्।

—गोविन्दगणी, कर्मस्तव-टी०, गा०, ६, १०

अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं स्वस्वविषय-सामान्यपरिच्छेदोऽचक्षुर्दर्शनम्।

—देवेन्द्रः, कर्मवि० टी०, गा० १०

अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद् दर्शनं सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तद् अचक्षुर्दर्शनम्।

—देवेन्द्रः, षडशी० टी०, गा० १२

यः सामान्यावबोधः स्याच्चक्षुर्वर्जापरेन्द्रियैः।
अचक्षुर्दर्शनं तत्स्यात् सर्वेषामपि देहिनाम्॥

—विनयविजयः, लोकप्र०, सं० १, पृ० ६२

शेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्।

—यशोविजयः, कर्मप्र० टी०, पृ० १०२

× × ×

अणुव्रतम् (अणुव्वयं)—

[दिग०ल०]

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥

—समन्तभद्रः, रत्नक० श्रा० ३, ६

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं॥

—शिवकोटिः, भगव० आ०, ८,२०८०

(हिंसादिभ्यो) देशतो विरतिरणुव्रतम्।

—पूज्यपादः, सर्वा० सि० ७,२

हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रतम्।

—अकलंकः, तत्त्वा० रा० ७,२

देशतो हिंसादिभ्योविरतिरणुव्रतम्।

—विद्यानन्दः, तत्त्वा० श्लो० ७,२

विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम्।

—जिनसेनः, आदि० पु० ३६,४

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः॥

—आशाधरः, सा० ध० ४,५

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतोविरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम्॥

—राजमल्लः, लाटीसं० ४,२४२

" " " —पंचाध्यायी, २,७२४

देशतो विरतिरणुव्रतम्।—श्रुतसागरः, तत्त्वा०टी०७,२

[श्वे०ल०]

हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतम्।

—उमास्वातिः, तत्त्वा० भा० ७, २

पंच उ अणुव्वयाइं थूलगपाणिवहविरमणाईणि।

—उमास्वातिः, श्राव० प्र० १०६

अणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपाणि।

—हरिभद्रः, श्रा० प्र० टी० ६

स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि।

—हरिभद्रः, धर्मबिन्दुः ३,१६

देशतो [हिंसादिभ्यः] विरतिरणुव्रतम्।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी० ७,२

विरतिं स्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः॥

—हेमचन्द्रः, यो० शा० २,१८

देशतो विरतिः पञ्चाणुव्रतानि।

—हेमचन्द्रः, त्रि० श० पु० च० १,१,१८८

अतिचारः (अइयारो)—

[दिग०-ल०]

अतिचारो विषयेषु वर्तनम्।

—अमितगतिः, भावनाद्वा० ६

अतिचारो वृतशैथिल्यं ईषदसंयमसेवनं च ।

—वसुनन्दी, मूला० टी० ११,११

मापेक्षस्य वृते हि स्यादतिचारोंऽशभञ्जनम् ।

—आशाधरः, सा० ध० ४,१८

अतीत्य चरणं ह्यतिचारो माहात्म्यापकर्षोंऽशतो विनाशो वा ।

—आशाधरः, भग० आ० टी० १,४४

न हन्मीति वृतं कुप्यन्निःकृपत्वान्न पाति न ।
भनक्त्यघ्नन्नंशघातत्राणादतिचरत्यधीः ॥

—मेधावी, धर्मसं० श्रा० ६,१५

[श्वे० ल०]

अतिचारो व्यतिक्रमः स्खलितम् [चारित्रस्य]

—उमास्वातिः, तत्त्वार्थ भा० ७,१८

अतिचारा असदनुष्ठानविशेषाः ।

—हरिभद्रः, श्राव० प्र० टी० ८६

अतिचरणान्यतिचाराश्चारित्रस्खलनाविशेषाः ।

—हरिभद्रः, आव० वृ०, गा० ११२

अतिचारो विराधना देशभङ्गः [चारित्रस्य] ।

— मुनिचन्द्रः, धर्म० वृ० ३,२०

अतिचरणमतिचारो मूलोत्तरगुणमर्यादातिक्रमः ।

—शान्तिसूरिः, धर्मरत्नप्र० स्वो० वृ० पृ० ६६

अतिचारो मालिन्यम् ।—हेमचन्द्रः, योगशा० वृ० ३,८६

अतिथिः (अइहि)—

[दिग०-ल०]

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः, अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनिश्चितकालगमनः ।

—पूज्यपादः, सर्वार्थसि०,७, २१

,, ,, —अकलंकः, तत्त्वा० रा०, ७,२१

संयममविराधयन्नततीत्यतिथिः ।

—विद्यानन्दः, तत्त्वा० श्लो०, ७,२१

स संयमस्य वृद्ध्यर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः ।

—जिनसेनः, हरिवंश० पु०,५६, १५८

पञ्चेन्द्रियप्रवृत्ताख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः ।
संसारे श्रेयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥

—सोमदेवः, यशस्ति० ८,४१२

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः, अथवा नाऽस्य तिथिरस्तीत्यतिथिरनियतकालगमनः ।

—चामुण्डरायः, चारि० सा०, १२

स्वयमेव गृहं साधुर्योऽत्राततति संयतः ।
अन्वर्थवेदिभिः प्रोक्तः सोऽतिथिर्मुनिपुंगवैः ॥

—अमितगतिः, सुभा० र० सं० ८१७

अतति स्वयमेव गृहं संयममविराधयन्ननाहूतः ।
यः सोऽतिथिरुद्दिष्टः शब्दार्थविचक्षणैः साधुः ॥

—अमितगतिः, अमित० श्रा०, ६,६५

ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम् ।
यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः ॥४२॥

—आशाधरः, सा० ध० ५,४२

न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः, अथवा संयमलाभार्थमतति गच्छत्युद्दंडचर्यां करोतीत्यतिथिः ।

—श्रुतसागरः, चारि०,प्रा०, २५

संयममविराधयन् अतति भोजनार्थं गच्छति यः सोऽतिथिः अथवा न विद्यते तिथिः प्रतिपद्द्वितीयातृतीदिका यस्य स अतिथिः अनियतकालभिक्षागमनः ।

—श्रुतसागरः, तत्त्वा० टी०, ७,२१

[श्वे० ल०]

भोजनार्थं भोजनकालोपस्थाय्यतिथिरुच्यते । आत्मार्थनिष्पादिताहारस्य गृहिणो वृती साधुरेवातिथिः ।

—हरिभद्रः, श्रा० प्र० टी०, ३२६

अतिथिर्भोजनार्थं भोजनकालोपस्थायी । स्वार्थं निर्वर्तमानस्य गृहिवृतिनः साधुरेवातिथिः ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी०, ७, १६

,, ,, —यशोभद्रः, हारि०तत्त्वा०टी०, ७, १६

न विद्यते सततप्रवृत्तातिविशदैकाकारानुष्ठानतया तिथ्यादिदिनविभागो येषां ते अतिथयः ।

—मुनिचन्द्रः, धर्मविन्दु-वृ० ३६

अतिथयो वीतरागधर्मस्थाः साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च । —मुनिचन्द्रः, धर्मबिन्दुवृ० ३,१८

तथा न विद्यते सततप्रवृत्तातिविशदैकाकारानुष्ठानतया तिथ्यादिदिनविभागो यस्य सोऽतिथिः ।

—हेमचन्द्रः, योगशा० वृ० १,५३

अवग्रहः (अवग्गहो, उग्गहो)–

[दिग० ल०]

विषय-विषयि-सन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः ।

—पूज्यपादः सर्वा० सि० १, १५

" " —अकलंकः तत्वा० रा० १, १५

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः अवग्रहः ।

—अकलंकः लघीय० १, ५

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः ।

—अकलंकः लघीय० वि० १, ५

" " विद्यानन्दः प्रमा०प०पृ० ६८

अक्षार्थयोगजातवस्तुमात्रग्रहणलक्षणात् । जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः ॥

—विद्यानन्दः, तत्त्वा० श्लो०१, १५, २

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा । अवगहणाणं..........

—नेमिचन्द्रः, गो० जी०, ३०८

विषयविषयिसन्निपातानंतरभाविसत्तालोचनपुरःसरो मनुष्यत्वाद्यवान्तरसामान्याध्यवसायिप्रत्ययोऽवग्रहः ।

—वादिराजः, प्रमा० नि०,२, पृ० २८

विसई विसएहि जदो ससणीवादस्स जो दु अवबोधो । समणंतरादिगहिदे अवग्गहो सो हवे णियमा ॥

—पद्मनन्दी, जम्बू० प्र०, १३,५०

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमवग्रहणमवग्रहः ।

—वसुनन्दी, मूला० वृ०, १२,१८०

अवग्रहः, विषयाक्षसन्निपातानन्तराद्यग्रहः स्मृतः ।

—वीरनन्दी, आचा० सा०, ४,१०

इन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनानन्तरभावी सत्तावान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राहीज्ञानविशेषोऽवग्रहः।

—धर्मभूषणः, न्यायदी०, २ पृ० १६

सन्निपातलक्षणदर्शनानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः ।

—श्रुतसागरः, तत्त्वा० टी०, १,१५

विसयाणं विसईणं संजोगे दंसणं वियप्पवदं । अवगहणाणं ...... —शुभचन्द्रः, अंगप्र०, २,६१

[श्वे० ल०]

अत्थाणं ओग्गहणम्मि उग्गहो ।

—भद्रबाहु; आव०नि०, गा० ३

अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः । —उमास्वातिः, तत्त्वा० भा०, १, १५

सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो ।

—जिनभद्रगणी, विशेषा० सू० १८०

उग्गहणमोग्गहो त्ति य अत्थावगमो हवइ सव्वं ।

—जिनभद्रगणी, विशेषा० भा०, गा० ४००

सामण्णस्स रूवादिविसेसणरहियस्स अनिद्देसस्स अवग्गहणमवग्गहो ।

—जिनदासः, नन्दी० चूर्णिः, २७(२६)

अवग्रहणमवग्रहः सामान्यमात्रानिर्दिश्यार्थग्रहणम् ।

हरिभद्रः, नन्दीसू० वृ०, ६३

सामान्यार्थस्याशेषविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहणमवग्रहः । हरिभद्रः, आव०वृ०, २ पृ० ६

मर्यादया सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूपनामादिकल्पनारहितस्य दर्शनमालोचनं तदेवावधारणमालोचनावधारणं, एतदवग्रहोऽभिधीयते ।

हरिभद्रः, तत्त्वा० टी०, १, १५

अवग्रहणमवग्रहः सामान्यार्थपरिच्छेदः । यद् विज्ञानं स्पर्शनादीन्द्रियजं व्यञ्जनावग्रहादनन्तरक्षणे सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूपकल्पनारहितस्य नामादिकल्पनारहितस्य च वस्तुनः परिच्छेदकं सोऽवग्रहः ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी० १,१५

अवग्रहः सामान्यार्थग्रहणम् । अर्थानां रूपादीनां प्रथमं दर्शनानन्तरं ग्रहणं यत्तदवग्रहः ।

—कोट्याचार्यः, विशेषा० वृ०, गा० १७६

दर्शनमुत्तरपरिणामं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्परूपं प्रतिपद्यमानमवग्रहः ।

—अभयदेवः, सन्मति टी० २,१, पृ०५५३

सामान्यार्थस्याशेषविशेषनिरपेक्षस्यानिर्देश्यस्य रूपादेः अव इति प्रथमतो ग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः ।

—अभयदेवः, स्थान सू० वृ०, ४, पृ० २८३

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ।

हेमचन्द्रः, प्रमा० मी०, १,१,२६

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः। —वादिदेवसूरिः, प्रमा० तत्त्वा०, २, ७

अवग्रहणमवग्रहः अनिर्देश्यसामान्यमात्रग्रहणम्।

—मलयगिरिः, व्य०, मू० भा०, १० २७६

„ मात्रावगमः। —धर्मसंग्रहणीटी०, ४४

„ अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणमित्यर्थः।

—मलयगिरिः, नन्दीसू० वृ, २६ पृ० १६८

तस्मात् (दर्शनात्) जातमाद्यं सत्त्वसामान्यादवान्तरैः सामान्याकारैर्मनुष्यत्वादिभिर्जातिविशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद्ग्रहणं ज्ञानं तदवग्रहः।

—रत्नप्रभः, रत्नाकरा० २, ७

„ „ —गुणरत्नः, षड्दर्श० टी०, पृ०२०८

अवग्रहोऽव्यक्तग्रहणम्।

—रत्नशेखरः, गुरुगुणषट्० पृ०४६

शब्दादीनां पदार्थानां प्रथमग्रहणं हि यत्,

(तद्) अवग्रहः स्यात्...

—विनयविजयगणी, लोकप्र०, पृ०४६

अवधिज्ञानम् (ओहिणाणं)--

(दिगम्बरीय लक्षणानि)

अंतिमखंदंताइं परमाणुप्पहुदिमुत्तिदव्वाइं।
जं पच्चक्खं जाणइ तमोहिणाणत्ति णायव्वं॥

—यतिवृषभः, त्रिलोकप्र० अ० ४

अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः।

—पूज्यपादः, सर्वा० सि०१, ९

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सत्यवधीयतेऽवाग्दधात्यवाग्धानमात्रं वाऽवधिः।

—अकलंकः, तत्त्वा० रा०, १, ९,

अवध्यावृतिविध्वंसविशेषादवधीयते।
येन स्वार्थोवधानं वा सोऽवधिर्नियतः स्थितिः॥

—विद्यानन्दः, तत्त्वा०, श्लो०, १, ९, ५,

अवहीयदित्ति ओहो सीमाणाणेत्ति।

—वीरसेनः, धवला, जीव० आ०पृ०५१

यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदवधिज्ञानम्। —अमृतचन्द्रः, पञ्चा०टी० ४१

परापेक्षां विना ज्ञानं रूपिणां भणितोऽवधिः।

—अमृतचन्द्रः, तत्त्वा० सा० १, २५

अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति।

—नेमिचन्द्रः, गो० जी० ३७०

द्रव्यक्षेत्रकालभावैः प्रत्येकं विज्ञायमानदेशपरमसर्वभेदभिन्नमवधिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तं रूपिद्रव्यविषयमवधिज्ञानम्। —चामुण्डरायः,चा० सा०, पृ० ९५

मूर्ताशेषपदार्थानां वेदको गद्यतेऽवधिः।

—अमितगतिः, पंचसंग्रहः, १, २२०

अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिमीयते इत्यवधिः।

—अभयचन्द्रः, गो०जी०टी०, ३७०

अवधिर्नामाऽवधिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमापेक्षया प्रादुर्भावो रूपाधिकरणभावगोचरो विशदावभासप्रत्ययविशेषः। —वादिराजः, प्रमाणनि०,पृ० २९

पुग्गलसीमेहि विदो पच्चक्खो सप्पभेद अवही दु।

—पद्मनन्दी, जम्बूद्वी० प्र०, १३, १३४

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मूर्तं वस्तु यत्प्रत्यक्षेण जानाति तदवधिज्ञानम्।

—जयसेनः, पंचास्ति० टी०, ४३, ३

अवधानादवधिः पुद्गलमर्यादावबोधः।

—वसुनन्दी, मूला० टी० १२, १८७

मूर्तमर्थं मितं क्षेत्रकालभावैरवस्फुटम्। मितैर्दधात्यवधिर्बोधः। —वीरनन्दी, आचा० सा० ४, ३८

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मूर्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम्।

—ब्रह्मदेवः, द्रव्यस० टी०, ५

मूर्तद्रव्यालम्बनमवधिज्ञानम्।

—अभयचन्द्रः, लघी० टी० ६, ११

स्वावरणक्षयोपशमे सत्यधोगतं बहुतरं द्रव्यमवच्छिन्नं वा नियतं रूपिद्रव्यं धीयते व्यवस्थाप्यतेऽनेनेत्यवधिर्मुख्यदेशप्रत्यक्षज्ञानविशेषः।

—आशाधरः, अनगार० टी०, ३०४

अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिमीयते इत्यवधिः, यत्तृतीयं सीमाविषयं ज्ञानं तदिदमवधिज्ञानम्।

—केशववर्णी, गो०जीव०टी०, ३७०

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकृताज्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानम्।

—धर्मभूषणः, न्या० दी० २, पृ० ३६

अवधानं अवधिः अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधिरुच्यते, अवच्छिन्नविषयत्वाद्वाऽवधिः, रूपित्वलक्षणविवक्षितविषयत्वाद्वाऽवधिः।—श्रुतसागरः, श्रुतसा०टी०, १, ६

अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावेन मर्यादीक्रियते अवाग्धानं अवधिः, अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधिः।

—शुभचन्द्रः, कार्तिकेया० प्रे० टी०, २५७

भवगुणपच्चयविहियं ओहीणाणं तु अवहिगं समये।
सीमाणाणं रूवीपदत्थसंघादपच्चक्खं॥

—शुभचन्द्रः अंगप्र, २, ६६

[श्वेताम्बरीय लक्षणानि]

अवधीयते अधोऽधो विस्तृतं ज्ञायते इति अवधिः अवधिरेव ज्ञानमवधिज्ञानम्।

—चन्द्रर्षिः, पंचसं० स्वो० टी०, १, ५

अमूर्तपरिहारेण साक्षान्मूर्तं विषयमिन्द्रियानपेक्षं मनःप्रणिधानवीर्यकमवधिज्ञानम्।

—हरिभद्रः तत्वा० टी०, १, ६

अधोविस्तृतविषयमनुत्तरोपपादिकादीनां ज्ञानमवधिज्ञानम्। अथवा अवधिः मर्यादा अमूर्तद्रव्यपरिहारेण मूर्तिनिबन्धनत्वादेव तस्यावधिज्ञानत्वम्। तच्च चतसृष्वपि गतिषु जन्तूनां वर्तमानानामिन्द्रियनिरपेक्षं मनः प्रणिधानवीर्यकं प्रति विशिष्टक्षयोपशमनिमित्तं पुद्गलपरिच्छेदि देवमनुष्यतिर्यङ्नारकस्वामिकमवधिज्ञानमिति। अवधिश्च स तज्ज्ञानं च तदित्यवधिज्ञानम्। —सिद्धसेनगणी, तत्वा० टी०, १, ६

अन्तर्गतबहुतरपुद्गलद्रव्यावधानादवधिः पुद्गलद्रव्यमर्यादयैव वाऽऽत्मनः क्षयोपशमजःप्रकाशाविर्भावोऽवधिः इन्द्रियनिरपेक्ष साक्षात् ज्ञेयग्राही लोकाकाशप्रदेशमानप्रकृतिभेदः। —सिद्धसेनगणी, तत्वा० टी०८, ७

रूपिद्रव्यग्रहणपरिणतिविशेषस्तु जीवस्य भवगुणप्रत्ययावधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमप्रादुर्भूतो लोचनादिबाह्यनिमित्तनिरपेक्षः अवधिज्ञानमिति।

—अभयदेवसूरिः, सम्मति० टी० २, १०

अवधिज्ञानं इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनो रूपिद्रव्यसाक्षात्करणम्।

—अभयदेवसूरिः, स्थानाङ्गसूत्र वृ०२,१६४, पृ०४६

अवधिज्ञानं अवधिना मर्यादया रूपिद्रव्यलक्षणया ज्ञानमवधानं वा अवधिरुपयोगपूर्वकम्।

—जिनेश्वरसूरिः, प्रमाल० टी०३

अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम्।

—वादिदेवसूरिः, प्रमा०तत्वा०२,२१

अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादात्मकेन ज्ञानमवधिज्ञानम्।

—मलधारी हेमचन्द्रः, अनु० टी० पृ० २

अवधिज्ञानस्यावरणविलयस्य तारतम्ये आवरणक्षयोपशमविशेषे तन्निमित्तकोऽवधिरवधिज्ञानम्। अवधीयते इति अवधिः मर्यादा सा च रूपवद्द्रव्यविषया अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः।

—हेमचन्द्रः, प्रमा०मी०टी०, १,१,१८

अव अधोऽधोविस्तृतं रूपिवस्तुजातं धीयते-परिछिद्यतेऽनेनास्मिन्नस्माद्वेत्यवधिः—तदावरणक्षयोपशमस्तद्धेतुकं ज्ञानमप्युपचारादवधिः यद्वा अवधानमवधिः-रूपिद्रव्यमर्यादया परिच्छेदनम्, अवधिश्चासौ ज्ञानं चेति अवधिज्ञानम्। —मलयगिरिः, धर्मसंग्रहणी टी०, गा०८१६

अव अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, अथवा अवधिः मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, यद्वा अवधानं आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम्।

—मलयगिरिः, आ० सू० टी० गा० १

,, ,, प्रज्ञापना वृ०, पद २६

,, ,, सप्ततिका टी०,६

,, ,, षडशीति-टीका, गा० १५

अव-अधोऽधो वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, यद्वाऽवधिः-मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः अवधिश्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम्।

—श्रीसिद्धसेनसूरिः, प्रव० सारो० टी० पृ० ३६१

अवधानमवधिरिन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम्। अवधिरेवज्ञानमवधिज्ञानम्। अथवाऽवधिर्मर्यादा तेन अवधिनारूपि द्रव्यमर्यादात्मकेन ज्ञानमवधिज्ञानम्।—गोविन्दगणी, कर्मस्तव टी० गा० ६,१०

अव अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेने त्यवधिः। यद्वाऽवधिर्मर्यादा रूपिद्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः।

—परमानन्दः, कर्मविपाक व्याख्या, गा० १५

अवधीयतेऽनेनेत्यवधिः स च ज्ञानं चेति अवधिज्ञानम् उत्पन्नानुत्पन्न विनष्टार्थग्रहकं त्रिकालविषयं अनुगाम्यादिषड्भेदभिन्नं अवधिज्ञानम्।

—रत्नशेखरः, गुरुगु० पट०, ३३

अवधानमवधिः इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम्। अथवा अवशब्दोऽधः शब्दार्थ अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेति अवधिः, यद्वा अवधिर्मर्यादा रूपिष्येव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमपि अवधिः अवधिश्च तज्ज्ञानं चावधिज्ञानम्। —देवेन्द्रः, कर्मवि० टी० ४

,, षडशी० टी० ११

अवधानं स्यादवधिः, साक्षादर्थविनिश्चयः।
अवशब्दोऽव्ययं यद्वा, सोऽधः शब्दार्थवाचकः ॥३५॥
अधोऽधो विस्तृतं वस्तु, धीयते परिबुध्यते।
अनेनेत्यवधिर्यद्वा, मर्यादावाचकोऽवधिः ॥३६॥
मर्यादा रूपिद्रव्येषु, प्रवृत्तिर्नत्वरूपिषु।
तयोपलक्षितं ज्ञानमवधिज्ञानमुच्यते ॥३७॥

—विनयविजयः, लोकप्र०, स्वं० १, पृ० ५३

सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयमात्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम्। —यशोविजयः, जैनतर्कपरि०, परि० १

अवधिज्ञानत्वं रूपिसमव्याप्यविषयताशालिज्ञानवृत्ति ज्ञानत्वव्याप्यजातिमत्वम्।

—यशोविजयः, ज्ञानविन्दुः पृ० १४३

—:o:—

'धवलादि-श्रुत-परिचय' का शेषांश

(पृष्ठ १६ से आगे)

आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुईं†। इन दोनों आचार्योंके पाससे गुणधराचार्यकी उक्त गाथाओंके अर्थको भले प्रकार सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णि-सूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हज़ार श्लोक परिमाण है। इन चूर्णि-सूत्रोंको साथमें लेकर ही जयधवला-टीकाकी रचना हुई है, जिसके प्रारम्भका एक तिहाई भाग (२० हज़ार श्लोक-परिमाण) वीरसेनाचार्यका और शेष (४० हज़ार श्लोक-परिमाण) उनके शिष्य जिनसेनाचार्यका लिखा हुआ है।

जयधवलामें चूर्णिसूत्रों पर लिखे हुए उच्चारणाचार्यके वृत्तिसूत्रोंका भी कितना ही उल्लेख पाया जाता है परन्तु उन्हें टीकाका मुख्याधार नहीं बनाया गया है और न सम्पूर्ण वृत्ति सूत्रोंको उद्धृत ही किया जान पड़ता है, जिनकी संख्या इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें १२ हज़ार श्लोक परिमाण बतलाई है।

इस प्रकार संक्षेपमें यह दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा है, जिनके आधारपर फिर कितने ही ग्रंथोंकी रचना हुई है। इसमें इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे अनेक अंशोंमें कितनी ही विशेषता और विभिन्नता पाई जाती है, जिसकी कुछ मुख्य मुख्य बातोंका दिग्दर्शन, तुलनात्मक दृष्टिसे, इस लेखके फुटनोटोंमें कराया गया है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतलादेना चाहता हूँ कि धवला और जयधवलामें गौतमस्वामीसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तकके श्रुतधर आचार्योंकी एकत्र गणना करके और उनकी रूढ़ काल-गणना ६८३ वर्षकी देकर उसके बाद धरसेन और गुणधर आचार्योंका नामोल्लेख किया गया है, साथमें इनकी गुरुपरम्पराका कोई खास उल्लेख नहीं किया गया ✱ और इस तरह इन दोनों आचार्योंका समय वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बादका सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टिसे कहाँ तक ठीक है अथवा क्या कुछ आपत्तिके योग्य है उसके विचारका यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी इतना ज़रूर कह देना होगा कि मूल सूत्रग्रंथोंको देखते हुए टीकाकारका यह सूचन कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य जान पड़ता है, जिसका स्पष्टीकरण फिर किसी समय किया जायगा।

भाषा और साहित्य-विन्यास

दोनों मूल सूत्रग्रंथों - षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी भाषा सामान्यतः प्राकृत और विशेषरूपसे जैन शौरसेनी है तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रंथोंकी भाषासे मिलती-जुलती है। षट्खण्डागमकी रचना प्रायः

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में लिखा है कि 'गुणधराचार्यने इन गाथासूत्रोंको रचकर स्वयं ही इनकी व्याख्या नागहस्ती और आर्यमंक्षुको बतलाई।' इससे ऐतिहासिक कथनमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

✱ इन्द्रनन्दिने तो अपने श्रुतावतारमें यह स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन गुणधर और धरसेनाचार्योंकी गुरुपरम्पराका हाल हमें मालूम नहीं है; क्योंकि इसको बतलाने वाले शास्त्रों तथा मुनि जनों का अभाव है।

'धवलादि-श्रुत-परिचय' का शेषांश

(पृष्ठ १६ से आगे)

आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुईं†। इन दोनों आचार्योंके पाससे गुणधराचार्यकी उक्त गाथाओंके अर्थको भले प्रकार सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णि-सूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हज़ार श्लोक-परिमाण है। इन चूर्णि-सूत्रोंको साथमें लेकर ही जयधवला-टीका की रचना हुई है, जिसके प्रारम्भका एक तिहाई भाग (२० हज़ार श्लोक-परिमाण) वीरसेनाचार्यका और शेष (४० हज़ार श्लोक-परिमाण) उनके शिष्य जिनसेनाचार्यका लिखा हुआ है।

जयधवलामें चूर्णिसूत्रों पर लिखे हुए उच्चारणाचार्यके वृत्तिसूत्रोंका भी कितना ही उल्लेख पाया जाता है परन्तु उन्हें टीकाका मुख्याधार नहीं बनाया गया है और न सम्पूर्ण वृत्ति-सूत्रोंको उद्धृत ही किया जान पड़ता है, जिनकी संख्या इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें १२ हज़ार श्लोक परिमाण बतलाई है।

इस प्रकार संक्षेपमें यह दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा है, जिनके आधारपर फिर कितने ही ग्रंथों की रचना हुई है। इसमें इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे अनेक अंशोंमें कितनी ही विशेषता और विभिन्नता पाई जाती है, जिसकी कुछ मुख्य मुख्य बातोंका दिग्दर्शन, तुलनात्मक दृष्टिसे, इस लेखके फुटनोटोंमें कराया गया है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतलादेना चाहता हूँ कि धवला और जयधवलामें गौतमस्वामीसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तकके श्रुतधर आचार्योंकी एकत्र गणना करके और उनकी रूढ़ काल-गणना ६८३ वर्षकी देकर उसके बाद धरसेन और गुणधर आचार्योंका नामोल्लेख किया गया है, साथमें इनकी गुरुपरम्पराका कोई खास उल्लेख नहीं किया गया * और इस तरह इन दोनों आचार्योंका समय वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बादका सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टिसे कहाँ तक ठीक है अथवा क्या कुछ आपत्तिके योग्य है उसके विचारका यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी इतना ज़रूर कह देना होगा कि मूल सूत्रग्रंथोंको देखते हुए टीकाकारका यह सूचन कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य जान पड़ता है, जिसका स्पष्टीकरण फिर किसी समय किया जायगा।

भाषा और साहित्य-विन्यास

दोनों मूल सूत्रग्रंथों—षट्खण्डागम और कषाय-प्राभृतकी भाषा सामान्यतः प्राकृत और विशेषरूपमें जैन शौरसेनी है तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रंथोंकी भाषासे मिलती-जुलती है। षट्खण्डागमकी रचना प्रायः

---

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में लिखा है कि 'गुणधराचार्यने इन गाथासूत्रोंको रचकर स्वयं ही इनकी व्याख्या नागहस्ती और आर्यमंक्षुको बतलाई।' इससे ऐतिहासिक कथनमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

*** इन्द्रनन्दिने तो अपने श्रुतावतारमें यह स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन गुणधर और धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्पराका हाल हमें मालूम नहीं है; क्योंकि उसको बतलाने वाले शास्त्रों तथा मुनि-जनों का अभाव है।**

गद्य सूत्रोंमें ही हुई है। परन्तु कहीं कहीं गाथा सूत्रोंका भी प्रयोग किया गया है; जब कि कषायप्राभृतकी संपूर्ण रचना गाथा-सूत्रोंमें ही हुई है। ये गाथा-सूत्र बहुत संक्षिप्त हैं और अधिक अर्थके संसूचनको लिये हुए हैं। इसीसे उनकी कुल संख्या २३३ होते हुए भी इनपर ६० हज़ार श्लोक-परिमाण टीका लिखी गई है।

धवल और जयधवलकी भाषा उक्त प्राकृत भाषाके अतिरिक्त संस्कृत भाषा भी है—दोनों मिश्रित हैं—दोनों में संस्कृतका परिमाण अधिक है। और दोनोंमें ही उभय भाषामें 'उक्तं च' रूपसे पद्य, गाथाएँ तथा गद्य-वाक्य उद्धृत हैं—कहीं नामके साथ और अधिकांश बिना नामके ही। ऐसी गाथाएँ बहुतसी 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत हैं जो 'गोम्मटसार'में प्रायः ज्योंकी त्यों तथा कहीं कहीं कुछ थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ उपलब्ध होती हैं। और चूंकि गोम्मटसार धवलादिकसे बहुत बादकी कृति है इसलिये वे गाथाएँ इस बातको सूचित करती हैं कि धवलादिकी रचनासे पहले कोई दूसरा महत्वका सिद्धान्त ग्रंथ भी मौजूद था जो इस समय अनुपलब्ध अथवा अप्रसिद्ध जान पड़ता है। ऐसा एक प्राचीन ग्रन्थ अभी उपलब्ध हुआ है, जिसकी वीरसेवामन्दिरमें जाँच हो रही है, वह ग्रंथकर्ताके नामसे रहित है। इस प्रकार यह धवल और जयधवलका संक्षेपमें सामान्यप रिचय है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २०-११ १९३९

आवश्यक निवेदन

निश्चित समय पर प्रकाशित करनेके लोभको सँवरण न कर सकनेके कारण १५० पृष्ठके बजाए इस विशेषांक में १४० पृष्ठ ही दिए जासके हैं। इस विवशताको लिए सहृदय पाठकोंके प्रति हम कुछ अपराधी ज़रूर हैं फिर भी इन दस पृष्ठोंकी पूर्ति दूसरी किरणमें कर देनेकी आशा रखते हैं।

विलम्बके ही भयसे इस किरणमें ऐतिहासिक जैन-व्यक्ति-कोष, सम्पादकीय तथा अन्य आवश्यकीय उपयोगी लेख भी नहीं दिये जासके है। यदि कोई बाधा उपस्थित न हुई तो ऐतिहासिक जैन-व्यक्ति-कोषको—जो पाठकोंके लिए बहुत ही मननीय और आकर्षक लेखमाला होगी—द्वितीय किरणसे क्रमशः प्रारम्भ करनेकी भावना है।

धवलादि श्रुत परिचयके ८ पृष्ठके बजाए १६ पृष्ठके क़रीब इस किरणमें जारहे हैं और इस लेखमालाको भी स्थायी रूपमें क्रमशः देनेका विचार है। हमें हर्ष है कि हमारी इन योजनाओंका सहर्ष स्वागत हुआ है।

जैन लक्षणावलीके ८ पृष्ठ नमूनेके तौर पर अन्तमें दिए गए हैं उससे पाठकोंको विदित होगा कि वीर सेवा मन्दिर में कितना महत्वपूर्ण और स्थायी ठोस कार्य हो रहा है। अब यह अनेकान्तमें प्रकाशित न होकर पुस्तक रूपमें कई खण्डोंमें प्रकाशित होगी।

अनेकान्तको इस द्वितीय वर्षमें जो भी सफलता प्राप्त हुई है उसका सब श्रेय उन आदरणीय लेखकों, जैनेतर संस्थाओंको अनेकान्त भेट स्वरूप भिजवाने वाले दातारों, ग्राहकों और पाठकोंको है। उन्हींके सहयोग और श्रमका यह फल है। हम भी उनकी इस महती कृपाके कारण अनेकान्तकी कुछ सेवा कर सकने में अनेक त्रुटियाँ होने पर भी अपनेको समर्थ पाते हैं।

—व्यवस्थापक

परम उपास्य

वे हैं परम उपास्य, मोह जिन जीत लिया ॥ध्रु.॥
काम-क्रोध-मद-लोभ पछाड़े सुभट महा बलवान।
माया-कुटिल नीति नागनि हन किया आत्म-संत्राण ॥१॥
ज्ञान-ज्योतिसे मिथ्यातमका जिनके हुआ विलोप।
राग-द्वेषका मिटा उपद्रव, रहा न भय औ' शोक ॥२॥
इन्द्रिय-विषय-लालसा जिनकी रही न कुछ अवशेष।
तृष्णा नदी सुखादी सारी, धर असंग व्रत वेष ॥३॥
दुख उद्विग्न करे नहिं जिनको, सुख न लुभावे चित्त।
आत्मरूप सन्तुष्ट, गिनें सम निर्धन और सवित्त ॥४॥
निन्दा स्तुति सम लखें बने जो निष्प्रमाद निष्पाप।
साम्यभावरस-आस्वादनसे मिटा हृदय-सन्ताप ॥५॥
अहंकार-ममकार-चक्रसे निकले जो धर धीर।
निर्विकार-निर्वैर हुए, पी विश्वप्रेमका नीर ॥६॥
साध आत्महित जिन वीरोंने किया विश्व-कल्याण।
'युगमुमुक्षु' उनको नित ध्यावे, छोड़ सकल अभिमान ॥

— युगवीर

वीर प्रभुकी वाणी

अखिल-जग-तारनको जल-यान।
प्रकटी, वीर, तुम्हारी वाणी, जगमें सुधा समान ॥१॥
अनेकान्तमय, स्यात्पद लांछित, नीति न्यायकी खान।
सब कुवादका मूल नाशकर, फैलाती सत ज्ञान ॥२॥
नित्य-अनित्य अनेक-एक इत्यादिक वादि महान।
नत-मस्तक हो जाते सम्मुख, छोड़ सकल अभिमान ॥३॥
जीव-अजीव-तत्त्व निर्णय कर, करती संशय-हान।
साम्यभाव रस चखते हैं जो, करते इसका पान ॥४॥
ऊंच, नीच औ, लघु-सुदीर्घका, भेद न कर भगवान।
सबके हितकी चिन्ता करती, सब पर दृष्टि समान ॥५॥
अन्धी श्रद्धाका विरोध कर, हरती सब अज्ञान।
युक्ति-वादका पाठ पढ़ाकर, कर देती सज्ञान ॥६॥
ईश न जगकर्ता फलदाता, स्वयं सृष्टि-निर्माण।
निज-उत्थान-पतन निज-करमें, करती यों सुविधान ॥७॥
हृदय बनाती उच्च, सिखाकर: धर्म सुदया-प्रधान।
जो नित समझ आदरें इसको, वे 'युग-वीर' महान ॥८॥

— युगवीर

'वीरसेवामन्दिर-ग्रंथमाला' को सहायता

हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको जो सहायता प्राप्त हुई है उसमें श्रीमान बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। आपने ५००) रु० की एक मुश्त सहायता 'वीर सेवामन्दिर-ग्रंथमाला' को प्रदान की है, और इस तरह आप ग्रंथमालाके 'स्थायी सहायक' बने हैं। साथ ही कुछ दिन बाद आपने अपने मित्र बाबू रतनलालजी झाँझरी कलकत्तासे भी १००) रु० की सहायता प्राप्त करके भेजी है। इसकेलिये आप और आपके उक्त मित्र दोनों ही हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं। आशा है दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे, और इस तरह ग्रन्थमालाके इस पुण्यकार्यमें आवश्यक प्रोत्साहन तथा प्रोत्तेजन प्रदान कर यशके भागी होंगे।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा जि० सहारनपुर

Regd. No. L. 4328

सुभाषित

आ! ग़ैरियतके परदे इकबार फिर उठादें।
बिछुड़ों को फिर मिलादें नक्शे दुई मिटादें॥
दुनियाँके तीर्थों से ऊँचा हो अपना तीरथ।
दामाने आस्माँसे उसका कलस मिलादें॥
हर सुबह उठके गाएँ मनतर वो मीठे मीठे।
सारे पुजारियोंको मय पीतकी पिलादें॥
शक्ति भी शान्ति भी भगतोंके गीतमें है।
धरतीके वासियोंकी मुक्ति प्रीत में है॥

—इक़बाल

कमाले बुज़दिली है पस्त होना अपनी आँखोंमें।
अगर थोड़ीसी हिम्मत हो तो फिर क्या हो नहीं सकता।
उभरने ही नहीं देती हमें बेमाइगी दिलकी।
नहीं तो कौन क़तरा है जो दरिया हो नहीं सकता।
हविस जीनेकी है, दिन उम्रके बेकार कटते हैं।
जो हमसे ज़िन्दगीका हक़ अदा होता तो क्या होता?
अहले हिम्मत मंजिले मक़सूद तक आ भी गये।
बन्दए तक़दीर क़िस्मतसे गिला करते रहे।
ज़िन्दगी यूं तो फ़क़त बाज़िए तिफ़लाना है।
मर्द वो है जो किसी रंगमें दीवाना है।

—चकबस्त

जो नख़्ल पुर समर हैं उठाते वो सर नहीं।
सरकश हैं वो दरख़्त कि जिनपै समर नहीं॥
उस बोरिया नशींका दिली मैं मुरीद हूँ।
जिसके रियाज़े जुहदमें बूए वफ़ा नहीं॥

—अज्ञात

जान जाए हाथसे जाए न सत्त।
है यही इक बात हर मज़हबका तत्त॥ —'इक़बाल'

बशरने ख़ाक पाया लाल पाया या गुहर पाया।
मिज़ाज अच्छा अगर पाया तो सब कुछ उसने भरपाया॥
रगोंमें दौड़ने फिरनेके हम नहीं क़ायल।
जो आँख ही से न टपका वह लहू क्या है॥

—दाग़

चन्द दिन है शानोशौक़तका ख़ुमार।
मौतकी तुर्शी नशा देगी उतार॥
जब उठाएँगे जनाज़ा मिलके चार।
हाथ मल मलकर कहेंगे बार बार॥
किस लिए आए थे हम क्या कर चले।
जो यहाँ पाया यहीं पर धर चले॥

—अज्ञात

जो मौत आती है आए, मर्दको मरनेका ग़म कैसा?
इमारतमें ख़ुशीकी दफ़्तरे रंजो अलम कैसा?

—अहसान

कह रहा यह आस्माँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं।
पीस दूँगा एक गर्दिशमें जहाँ कुछ भी नहीं।
कह रहा यह आस्माँ कि कुछ समयका फेर है।
पापका घट भर चुका अब फूटनेकी देर है॥
जिनके महलोंमें हज़ारों रंगके फ़ानूस थे।
झाड़ उनकी क़ब्रपर बाक़ी निशाँ कुछ भी नहीं।
जिनकी नौबतकी सदासे गूँजते थे आस्माँ।
दम बख़ुद हैं मक़बरोंमें हूँ न हाँ कुछ भी नहीं॥

—अज्ञात

जिनके हँगामोंसे थे आबाद वीराने कभी।
शहर उनके मिट गए आबादियाँ बन होगईं॥

—इक़बाल

'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहली में छपा।

मार्गशीर्ष, वीरनि०सं०२४६६
दिसम्बर १९३९

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण २
वार्षिक मूल्य ३ रु०

वीर अवतार कालीन

बलिदान का एक दृश्य

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय।

❀ विषय सूची ❀

पृष्ठ

१. अकलंक-स्मरण १४१
२. बौद्ध तथा जैन ग्रन्थोंमें दीक्षा [प्रो० जगदीशचन्द्र एम. ए. १४३
३. राग [श्रीमद् राजचन्द्र १४६
४. विधवा सम्बोधन (कविता)—[श्री० 'युगवीर' १४७
५. बंगीय विद्वानोंकी जैन साहित्यमें प्रगति [श्री० अगरचन्द नाहटा ... १४६
६. अहिंसाकी कुछ पहेलियाँ [श्री० किशोरलाल मशरूवाला ... १६२
७. ऊँच-नीच-गोत्र विषयक चर्चा [श्री० बालमुकन्द पाटोदी ... १६५
८. अनुपम क्षमा [श्रीमद् राजचन्द्र ... १७६
९. श्वेताम्बर न्याय साहित्य पर एक दृष्टि [पं० रतनलाल संघवी ... १७७
१०. गोत्रविचार [सम्पादकीय ... १८६
११. बुद्धि हत्याका कारखाना [ग्रहस्थसे उद्धृत ... १९४
१२. साहित्य परिचय और समालोचन [सम्पादक ... २००

अनेकान्तकी फाइल

अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी किरणोंकी कुछ फाइलोंकी साधारण जिल्द बंधवाली गई हैं। १२वीं किरण कम हो जानेके कारण फाइलें थोड़ी ही बन्ध सकी हैं। अतः जो बन्धु पुस्तकालय या मन्दिरोंमें भेंट करना चाहें या अपने पास रखना चाहें वे २॥) रु० मनिआर्डरसे भिजवा देंगे तो उन्हें सजिल्द अनेकान्तकी फाइल भिजवाई जा सकेगी।

जो सज्जन अनेकान्तके ग्राहक हैं और कोई किरण गुम हो जानेके कारण जिल्द बन्धवानेमें असमर्थ हैं उन्हें १२वीं किरण छोड़कर प्रत्येक किरणके लिये चार आना और विशेषांकके लिए आठ आना भिजवाना चाहिए तभी आदेशका पालन हो सकेगा।

—व्यवस्थापक

क्षमा-याचना

सम्पादकजीके अस्वस्थ रहनेके कारण 'धवलादि श्रुत परिचय' और 'ऐतिहासिक जैन व्यक्ति कोष' लेख समय पर न मिलनेके कारण इस किरणमें नहीं दिये जा सकते हैं। आशा है इस विवशताके लिये क्षमा दी जायगी।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३	सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली मार्गशीर्ष-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६	किरण २

अकलंक-स्मरण

श्रीमद्भट्टाऽकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्त-मरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥

—ज्ञानार्णवे, श्रीशुभचन्द्राचार्यः

श्रीसम्पन्न भट्ट-अकलंकदेवकी वह पुण्या सरस्वती—पवित्र भारती—हमारी रक्षा करो—हमें मिथ्यात्वरूपी गर्तमें पड़नेसे बचाओ—जो अनेकान्तरूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान देदीप्यमान है—सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्तमान है । भावार्थ—श्री अकलंकदेवकी मंगलमय वचनश्री पद पद पर अनेकान्तरूपी सन्मार्गको व्यक्त करती है और इस तरह अपने उपासकों एवं शरणागतोंको मिथ्या-एकान्तरूप कुमार्ग पर लगने नहीं देती। अतः हम उस अकलंक सरस्वतीकी शरणमें प्राप्त होते हैं, वह अपने दिव्य-तेज-द्वारा कुमार्गसे हमारी रक्षा करो ।

जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः ।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः ॥

—नगर-ताल्लुक, शिमोगा-शि०लेख नं० ४६

स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' नामक स्तोत्रका जिन्होंने भाष्य रचा है—उसपर 'अष्टशती' नामका विवरण लिखा है—वे महाऋद्धिके धारक अकलंकदेव जयवन्त हों—अपने प्रभावसे सदा लोकहृदयोंमें व्याप्त होवें ।

अकलंकगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः ।
बौद्धानां बुद्धि-वैधव्य-दीक्षागुरुरुदाहृतः ॥

—हनुमच्चरिते, ब्रह्मअजितः

जो बौद्धोंकी बुद्धिको वैधव्य-दीक्षा देनेवाले गुरु कहे जाते हैं—जिनके सामने बौद्धविद्वानोंकी बुद्धि विधवा-जैसी दशाको प्राप्त होगई थी, उसका कोई ऐसा स्वामी नहीं रहा था जो बौद्ध-सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठाको क़ायम रख सके—वे अकलंकपदके अधिपति श्रीअकलंकगुरु जयवन्त हों—चिरकाल तक हमारे हृदयमन्दिरमें विराजमान रहें।

तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः ।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः ॥

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराजसूरिः

जिन्होंने जगत्के द्रव्योंको चुरानेवाले—शून्यवाद-नैरात्म्यवादादि सिद्धांतोंके द्वारा जगतके द्रव्योंका अपहरणकरनेवाले, उनका अभाव प्रतिपादन करनेवाले—बौद्ध दस्युओंको दण्डित किया, वे अकलंकबुद्धिके धारक तर्काधिराज श्रीअकलंकदेव जयवन्त हैं—सदा ही अपनी कृतियोंसे पाठकोंके हृदयोंपर अपना सिक्का जमानेवाले हैं।

भट्टाकलंकोऽकृत सौगतादि-दुर्वाक्यपंकैस्सकलंकभूतम् ।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलंकमेव ॥

—श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० १०८

बौद्धादि-दार्शनिकोंके मिथ्यैकान्तवादरूप दुर्वचन-पंकसे सकलंक हुए जगत को भट्टाकलंकदेवने, अपने नामको मानों पूरी तौरसे सार्थक करनेके लिये ही, अकलंक बना डाला है—अर्थात् उसकी बुद्धिमें प्रविष्ट हुए एकान्त-मलको, अपने अनेकान्तमय-वचनप्रभावसे धो डाला है।

इत्थं समस्तमतवादि-करीन्द्र-दर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः ।
स्याद्वाद-केसरसटाशततीव्रमूर्तिः, पंचाननो भुवि जयत्यकलंकदेवः ॥

—न्यायकुमुदचन्द्रे, प्रभाचन्द्राचार्यः

इस प्रकार जिन्होंने निर्दोष प्रमाणके दृढ प्रहारोंसे समस्त अन्यमतवादिरूपी गजेन्द्रोंके गर्वको निर्मूल कर दिया है वे स्याद्वादमय सैंकड़ों केसरिक जटाओंसे प्रचण्ड एवं प्रभावशालिनी मूर्तिके धारक श्रीअकलंकदेव भूमंडल पर केहरिसिंहकेसमान जयशील हैं—अपनी प्रवचन-गर्जनासे सदा ही लोक-हृदयोंको विजित करनेवाले हैं।

जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपति-वरतनयः ।
अनवरत-निखिलजन-नुतविद्यः प्रशस्तजन-हृद्यः ॥

—तत्त्वा०रा०, प्रथमाध्याय-प्रशस्तिः

जिनकी विद्या—ज्ञानमाहात्म्य—के सामने सदा ही सब जन नतमस्तक रहते थे और जो सज्जनोंके हृदयोंको हरनेवाले थे—उनके प्रेमपात्र एवं आराध्य बने हुए थे—वे लघुहव्वराजाके श्रेष्ठपुत्र श्रीअकलंकब्रह्मा—अकलंक नामके उच्चात्मा महर्षि—चिरकाल तक जयवन्त हों—अपने प्रवचनतीर्थ-द्वारा लोकहृदयोंमें सदा सादर विराजमान रहें।

—०—

बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थोंमें दीक्षा

[ले०—श्री० प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन एम. ए.]

अत्यन्त प्राचीन समयसे भारतीय इतिहासमें दो धारायें देखनेमें आती हैं। कुछ लोग ऐसे थे जो वेद-पाठी थे, अग्नि-पूजक थे और देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये यज्ञ-याग आदि करनेमें ही कल्याण मानते थे। दूसरे लोग उक्त बातोंमें विश्वास न करते थे; उनका लक्ष्य था त्याग, तप, अहिंसा, ध्यान और काय-क्लेश। प्रथम वर्गके लोगोंका लक्ष्य प्रवृत्ति प्रधान और दूसरे वर्गका निवृत्ति प्रधान था। एक वर्गके लोग ब्राह्मण थे, दूसरे वर्गके क्षत्रिय अथवा श्रमण थे। ऋग्वेदमें भी ऐसे लोगोंका उल्लेख आता है जो वेदोंको न मानते थे और इन्द्रके अस्तित्वमें विश्वास न करते थे। यजुर्वेद-संहितामें इन लोगोंका 'यति' के नामसे उल्लेख किया गया है। आपस्तंभ, बोधायन आदि ब्राह्मणोंके धर्मसूत्रोंमें इन श्रमणोंके विधि-विधानका विस्तारसे कथन आता है। इसी तरह उपनिषदोंमें 'भिक्षाचर्या' आदिके उल्लेखोंके साथ स्पष्ट कहा गया है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया न बहुना श्रुतेन"—अर्थात् आत्मा शास्त्र, बुद्धि आदिके अगोचर है।

श्रमण (समण) शब्दकी व्युत्पत्ति बताते हुए शास्त्रकारोंने लिखा है—श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः, अथवा सह शोभनेन मनसा वर्त्तत इति समनाः—अर्थात् जो श्रम करते हैं—तप करते हैं वे श्रमण हैं, अथवा जिनका मन सुन्दर हो उन्हें श्रमण कहते हैं। यहाँ यह बात खास ध्यान रखने योग्य है कि श्रमणका अर्थ केवल जैनसम्प्रदाय ही नहीं, किंतु अभयदेवसूरिने 'निर्ग्रंथ, शाक्य, तापस, गेरुक और आजीवक' इस तरह श्रमणोंके पाँच भेद बताये हैं। जैसा ऊपर बताया गया है श्रमणोंका धर्म निवृत्ति प्रधान है। उनका कहना है कि यह संसार क्षण भंगुर है, संसारमें मोह करना योग्य नहीं संसारमें रहकर मनुष्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता, इसलिये इसका त्याग कर वनमें जाकर अपने ध्येयकी सिद्धि तपश्चर्या और ध्यानयोगसे करनी चाहिये। गृहत्यागके साथ साथ श्रमण लोगोंमें आत्मोत्सर्गकी भी चरम सीमा बताई गई है। उदाहरणके लिये महाभारतमें शिवि राजाका वर्णन आता है जिसने एक अंधे आदमीको अपनी आँखें निकालकर दे दी थीं। मनुस्मृति और ब्राह्मणोंके पुराण-साहित्यमें आत्म-त्यागके विविध प्रकार बताकर उनका गुणगान किया गया है। अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वतसे गिरना, वृक्षसे गिरना आदि आत्मोत्सर्गके अनेक प्रकारोंका वर्णन पुराणोंमें आता है। साथही वहाँ यह भी बताया गया है कि इन उपायोंसे आत्मोत्सर्ग करने वाला मनुष्य आत्मघाती नहीं कहलाता, बल्कि वह हजारों वर्ष तक स्वर्ग सुखका अनुभव करता है। बुद्ध भगवान्ने भी अपने किसी पूर्वभवमें एक पक्षीको बचानेके लिये अपने

शरीरका मांस दान करनेको तैयार हो गये थे । जैन-शास्त्रोंमें भी आत्मोत्सर्गके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, अवश्य ही वे कुछ भिन्न प्रकारके हैं। उदाहरणके लिये सुकुमाल मुनि तप कर रहे हैं और उनका शरीर एक जंगलकी गीदड़ी खा गई । इसी तरह श्वेताम्बर शास्त्रोंके अनुसार, गजसुकुमाल स्मशानमें कायोत्सर्गसे ध्यानावस्थित हैं। सोमिल ब्राह्मण आकर उनके सिर पर मिट्टीकी बाड़ बनाता है, उसे धधकते हुए अंगारोंसे भरकर उसपर ईंधन चिन देता है। गजसुकुमाल मुनि अत्यन्त उग्र वेदना सहन करते हैं और अन्तमें उनका शरीर भस्म हो जाता है।

जिस समय हिन्दुस्तानमें जैन और बौद्धोंका बोल-बाला था, उस समय अनेक ब्राह्मण और श्रमण महावीर अथवा बुद्धके पास जाकर दीक्षित होते थे। दीक्षा-उत्सव बहुत धूमधामसे मनाया जाता था। जो गृहपति दीक्षा लेता था, वह अपने सम्बन्धी जनोंको निमन्त्रण देता था, उनका ब सन्मान करता था। तथा स्नान इत्यादि करके अपने ज्येष्ठ पुत्रको घरका भार सौंपकर, उसकी आज्ञा लेकर, पालकीमें सवार होकर अपने इष्ट मित्रोंके साथ दीक्षागुरुके पास पहुँचता था, इन लोगोंके संसारसे वैराग्य होनेका कारण क नाशवान वस्तु होती थी। जैसे जातक ग्रंथोंमें आता है कि एक बार किसी राजाको घास पर पड़ी हुई ओसकी विन्दु देखकर वैराग्य हो आया। गन्धार जातक में कहा गया है कि एक बार किसी राजाने देखा कि चन्द्रमाको राहुने ग्रस लिया है, बस इसी बात पर उसने संसारका त्याग कर दिया। कभी कभी अपने सिर पर कोई सफ़ेद बाल देखकर भी लोगों को वैराग्य ह आता था। इसी तरह संध्या कालीन मेघपंक्तिको शीर्णवशीर्ण देखकर लोग वनकी तैयारी करने लगते थे।

जो लोग प्रव्रज्या (दीक्षा) लेनेके लिये उत्सुक रहते थे, उनके माता-पिता और बन्धुजन उनको आग्रहपूर्वक बनमें जानेसे बहुत रोकते थे। वे लोग करुण आक्रंदन करते थे, नाना प्रकारके आलाप विलाप करते थे, और उनको नाना प्रकारकी युक्तियाँ देकर समझाते थे। पर इसका उन लोगों पर कोई प्रभाव नहीं होता था। विप्र और नमिराजके संवादमें विप्रने नमिराजसे कहा कि महाराज आप दीक्षा न लें, आपकी मिथिला नगरी अग्निसे जल रही है; पहले वहाँ जाकर अग्निको शांत करें। किंतु नमिराज उत्तरमें कहते हैं—'**मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किंचन**' अर्थात् मिथिला नगरीके जलजानेसे मेरा कुछ भी नहीं जलता। बौद्धोंके बंधनागार जातकमें इस संबन्धमें जो कथा आती है, वह इस तरह है—

एक बार बोधिसत्त्व एक धनहीन गृहपतिके घर पैदा हुए। जब बोधिसत्त्व बड़े हुए, उनके पिता मर गये और वे नौकरी करके अपना तथा अपनी माताका उदर-पोषण करने लगे। कुछ समय बाद उनकी माँने उनकी इच्छाके विरुद्ध बोधिसत्वकी शादी करदी, और आप परलोक सिधार गई। बोधिसत्त्वकी स्त्री गर्भवती हुई। बोधिसत्त्वको यह बात मालूम न थी। उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा—प्रिये, मैं गृह-त्याग करना चाहता हूँ, तुम मेहनत करके अपना पोषण कर लेना। उनकी पत्नीने कहा—स्वामिन्, मैं गर्भवती हूँ. मेरे प्रसव कर-नेके बाद, शिशुका मुख देखकर, आप प्रव्रज्या लेना। प्रसव हो गया। बोधिसत्त्वने फिर अनुमति चाही। स्त्रीने कहा—शिशु ज़रा बड़ा हो जाय तो आप जाइये। इस बीचमें बोधिसत्त्वकी पत्नीने दूसरी बार गर्भ-धारण किया। बोधिसत्वने सोचा कि यदि इस तरह मैं अपनी पत्नीकी बात पर रहूँगा तो मैं कभी भी अपना कल्याण

न कर सकूँगा। इसलिये वे एक दिन रातको उठकर बिना कहे ही घरसे चल दिये और हिमालय पहुँच कर तप करने लगे।

भगवती सूत्र आदि श्वेताम्बर सूत्रोंमें इस प्रकारके हृदयस्पर्शी वर्णन अनेक स्थानों पर आते हैं। जामालि महावीरके दर्शन करने जाते हैं। दीक्षा लेनेका उनका दृढ़ निश्चय हो जाता है। इस निश्चयको वे घर आकर अपने माता पितासे कहते हैं। उनकी माँ यह सुनते ही पछाड़ खाकर ज़मीन पर गिर पड़ती है और बेहोश हो जाती है। जब वह अनेक उपचार करने पर होशमें आती है। उनको अपने पुत्रके निश्चय पर अत्यंत दुःख होता है। जामालिके माता-पिता बहुत समझाते हैं, परंतु जामालि अटल रहते हैं। दोनोंसे अनेक प्रश्नोत्तर होते हैं और आखिर जामालि अपने निश्चयको मान्य रखते हैं। दीक्षाकी तैयारी बड़ी धूम-धामसे होती है। जामालिके लिये रजोहरण और पात्र लाये जाते हैं और एक नाईको बुलाया जाता है। नाई सुगन्धित जलसे हाथ पैर धोता है और साफ़ कपड़ेकी आठ तह बना कर अपने मुँह पर रखकर जामालिके पास आता है। जामालि उसको चार अंगुल केश छोड़ कर दीक्षाके योग्य केश काटनेको कहते हैं। नाई आज्ञाका पालन करता है। उस समय क्षत्रियकुमार जामालिकी माता भी वहाँ रहती है और वे उन केशोंको साफ़ वस्त्रमें ले लेती है, उनको गंधोदकसे धोती है और पुत्रके वियोगके कारण बड़े बड़े मोतियोंकी लड़ी जैसे सफेद आंसू टपकाती हुई कहती है कि अनेक शुभ तिथियों और उत्सवोंके अवसर पर हम इन्हीं केशों को देखकर सन्तोष कर लिया करेंगे। जामालिकुमार पालकीमें बैठकर महावीर भगवानके पास पहुँचते हैं। साथमें माता बन्धुजन भी जाते हैं। मां पुत्र-वियोगके कारण फिर अपने आँसुओंको नहीं रोक सकती, और 'घडियव्वं जाया,जइयव्वं जाया,परिक्कमयव्वं जाया" अर्थात् संयममें यत्नशील रहना आदि शब्द कहकर वापिस चली जाती है।

मालूम होता है इन्हीं सब बातोंसे महावीर और बुद्धको यह घोषणा करनी पड़ी कि बिना माता पिताकी अनुज्ञाके कोई दीक्षा लेनेका अधिकारी न हो सकेगा। श्वेताम्बर ग्रंथोंके अनुसार तो स्वयं महावीर भगवान्‌को भी अपने बंधुजनोंकी आज्ञा न मिलनेसे, दीक्षा लेनेका मन होते हुए भी, कुछ समय तक गृहवासमें रहना पड़ा। श्वेताम्बर समाजमें तो दीक्षाके नाम पर आज भी अनेक उपद्रव होते हैं। बड़ौदा आदि रियासतोंमें बाल दीक्षाके विरुद्ध बहुतसे क़ानून बना दिये गये हैं। यहाँ हम एक ईसाई पादरीका पत्र उद्धृत करते हैं। जो ईसाइयोंकी साधुदीक्षा पर कितना ही प्रकाश डालता है। यह पत्र इन पादरीने एक सज्जनको लिखा था जो अपने स्वजनोंकी इच्छाके विरुद्ध साधु (Priest) होना चाहते थे। वे लिखते हैं—

Even if your little nephew throws his arms round your neck, if your mother tears her hair and cloth and beats her breast which you, sucked even if your father throws himself on the ground before you—move, even the body of your father, flee with tearless eyes to the sign of cross. In this case, cruelty is the only virtue. For how many monks have lost their souls, because they had pity for their ftahers and mothers."

अर्थात्—यदि आपका नन्हासा भतीजा आपके गलेमें बांहें डालकर लिपट जाय, यदि आपकी माता अपने केश और वस्त्रोंको फाड़ डाले और जिस छातीका तुमने दुग्धपान किया उसको वे पीट डाले, तथा यदि आपका पिता आपके समक्ष आकर ज़मीन पर गिर पड़े—तो भी अपने पिताके शरीरको हटा दो और अश्रु रहित नेत्रोंसे फाँसकी ओर दौड़े चले जाओ। ऐसी दशा-में एक निर्दयता ही बड़ा गुण है। न जाने कितने साधुओंने अपने माता-पिताकी दयाके कारण ही अपनी आत्माको भुला दिया है।

जैन शास्त्रोंमें जगह जगह पर महावीरके ज़मानेकी सामाजिक परिस्थितिका वर्णन करनेवाले दीक्षासम्बन्धी अनेक उल्लेख आते हैं। इन सबका एक बहुत रोचक इतिहास तैयार हो सकता है।
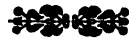
राग

भगवान् महावीरके मुख्य गणधरका नाम तुमने बहुत बार सुना है। गौतमस्वामीके उपदेश किये हुए बहुतसे शिष्योंके केवलज्ञान पाने पर भी स्वयं गौतमको केवल ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि भगवान् महावीरके अंगोपांग, वर्ण, रूप इत्यादिके ऊपर अब भी गौतमको मोह था। निर्ग्रन्थ प्रवचनका निष्पक्ष-पाती न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दुःखदायक होता है। राग ही मोह है और मोह ही संसार है। गौतमके हृदयमें यह राग जबतक दूर नहीं हुआ तबतक उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई। श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्रने जब अनुपमेय सिद्धि पाई उस समय गौतम नगरमेंसे आ रहे थे। भगवान्के निर्वाण समाचार सुनकर उन्हें खेद हुआ। विरहसे गौतमने ये अनुरागपूर्ण वचन कहे "हे भगवान् महावीर! आपने मुझे साथ तो न रक्खा, परन्तु मुझे याद तक भी नहीं किया। मेरी प्रीतिके सामने आपने दृष्टि भी नहीं की, ऐसा आपको उचित न था।" ऐसे विकल्प होते होते गौतमका लक्ष फिरा और वे निराग-श्रेणी चढ़े। "मैं बहुत मूर्खता कर रहा हूँ। ये वीतराग निर्विकारी और रागहीन हैं वे मुझपर मोह कैसे रख सकते हैं? उनकी शत्रु और मित्रपर एक समान दृष्टि था। मैं इन रागहीनका मिथ्या मोह रखता हूँ। मोह संसारका प्रबल कारण है।" ऐसे विचारते विचारते गौतम शोकको छोड़कर रागरहित हुए। तत्क्षण ही गौतमको अनन्त ज्ञान प्रकाशित हुआ और वे अन्तमें निर्वाण पधारे।

गौतम मुनिका राग हमें बहुत सूक्ष्म उपदेश देता है। भगवानके ऊपरका मोह गौतम जैसे गण-धरको भी दुःखदायक हुआ तो फिर संसारका और फिर उसमें भी पामर आत्माओंका मोह कैसा अनन्त दुःख देता होगा! संसाररूपी गाड़ीके राग और द्वेष रूपी दो बैल हैं। यदि ये न हों, तो संसार अटक जाय। जहाँ राग नहीं, वहाँ द्वेष भी नहीं, यह माना हुआ सिद्धान्त है। राग तीव्र कर्मबंधका कारण है और इसके क्षयसे आत्मसिद्धि है।

—श्रीमद्राजचन्द्र

विधवा-सम्बोधन

[विधवा-कर्तव्य-सूत्र]

विधवा बहिन, समझ नहीं पड़ता-
क्यों उदास हो बैठी हो!
क्यों कर्तव्यविहीन हुई तुम,
निजानन्द खो बैठी हो!
कहाँ गई वह कान्ति, लालिमा,
खोई चंचलताई है!
सब प्रकारसे निरुत्साहकी,
छाया तुम पर छाई है!!१

अंगोपांग न विकल हुए कुछ,
तनमें रोग न व्यापा है;
और शिथिलता लानेवाला
आया नहीं बुढ़ापा है!
मुरझाया पर वदन, न दिखती
जीनेकी अभिलाषा है!
गहरी आहें निकल रही हैं,
मुँह से, घोर निराशा है!!२

हुआ हाल ऐसा क्यों? भगिनी
कौन विचार समाया है,
जिसने करके विकल हृदयको,
'आपा' आप भुलाया है?
निज-परका नहिं ज्ञान, सदा
अपध्यान हृदयमें छाया है,
भय न भटकनेका भव-वनमें,
क्या अन्धेर मचाया है!!३

शोकी होना स्वात्मक्षेत्रमें,
पाप-बीजका बोना है,
जिसका फल अनेक दुःखोंका,
संगम आगे होना है।
शोक किये क्या लाभ? व्यर्थ ही
अकर्मण्य बन जाना है,
आत्मलाभसे वंचित होकर,
फिर पीछे पछताना है!! ४

योग अनिष्ट, वियोग इष्टका,
अघतरु दो फल लाता है;
फल नहीं खाना वृक्ष जलाना,
इह-परभव सुखदाता है।
इससे पतिवियोगमें दुख कर,
भला न पाप कमाना है,
किन्तु-स्व-पर-हितसाधनमें ही,
उत्तम योग लगाना है।। ५

आत्मोन्नतिमें यत्न श्रेष्ठ है,
जिस विधि हो उसको करना,
उसके लिए लोकलज्जा अप-
मानादिकसे नहिं डरना।
जो स्वतंत्रता-लाभ हुआ है,
दैवयोगसे सुखकारी,
दुरुपयोग कर उसे न खोओ,
खोने पर होगी ख्वारी!! ६

माना हमने, हुआ, हो रहा
तुम पर अत्याचार बड़ा,
साथ तुम्हारे पंचजनोंका
होता है व्यवहार कड़ा।
पर तुमने इसके विरोधमें
किया न जब प्रतिरोध खड़ा,
तब क्या स्वत्व भुलाकर तुमने
किया नहीं अपराध बड़ा।। ७

स्वार्थ-साधु नहिं दया करेंगे,
उनसे इस अभिलाषाको ।
छोड़, स्वावलम्बिनी बनो तुम,
पूर्ण करो निज आशा को ॥
सावधान हो स्वबल बढ़ाओ,
निज समाज उत्थान करो ।
'दैव दुर्बलोंका घातक',
इस नीति वाक्य पर ध्यान धरो ॥८

बिना भावके बाह्यक्रियासे,
धर्म नहीं बन आता है ।
रक्खो सदा ध्यानमें इसको,
यह आगम बतलाता है ॥
भाव बिना जो व्रत-नियमादिक,
करके ढोंग बनाता है ।
आत्म पतित होकर वह मानव,
ठग-दम्भी कहलाता है ॥९

इससे लोकदिखावा करके,
धर्मस्वाँग तुम मत धरना ।
सरल चित्तसे जो बन आए,
भाव-सहित सो ही करना ॥
प्रबल न होने पाएँ कषायें,
लक्ष्य सदा इस पर रखना ।
स्वार्थ-त्यागके पुण्य-पन्थ पर
प्रेम सहित निशदिन चलना ॥१०

क्षण-भंगुर सब ठाठ जगतके,
इन पर मत मोहित होना ।
काया-मायाके धोखेमें पड़,
अचेत हो नहिं सोना ॥
दुर्लभ मनुज-जन्मको पाकर,
निज कर्त्तव्य समझ लेना ।
उस ही के पालनमें तत्पर रह,
प्रमादको तज देना ॥११

दीन-दुखी जीवोंकी सेवा,
करनी सीखो हितकारी ।
दीनावस्था दूर तुम्हारी,
हो जाए जिससे सारी ॥
दे करके अवलम्ब उठाओ,
निर्बल जीवोंको प्यारी ।
इससे वृद्धि तुम्हारे बलकी,
निःसंशय होगी भारी ॥१२

हो विवेक जागृत भारतमें,
इसका यत्न महान करो ।
अज्ञ जगतको उसके दुख-
दारिद्र्य आदिका ज्ञान करो ॥
फैलाओ सत्कर्म जगतमें,
सबको दिलसे प्यार करो ।
बने जहाँतक इस जीवनमें,
औरोंका उपकार करो ॥ १३

'युग-वीर' बनकर स्वदेशका,
फिरसे तुम उत्थान करो ।
मैत्रीभाव सभीसे रखकर,
गुणियोंका सम्मान करो ॥
उन्नत होगा आत्म तुम्हारा,
इन ही सकल उपायोंसे ।
शान्ति मिलेगी, दुःख टलेगा,
छूटोगी विपदाओंसे ॥१४

—'युगवीर'

बंगीय-विद्वानोंकी जैन-साहित्यमें प्रगति

[ले०—श्री अगरचन्द नाहटा]

भारतके अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा बंगालप्रान्तमें शिक्षाप्रचार अत्यधिक है। साहित्यके प्रत्येक क्षेत्रमें बंगीय-विद्वानोंने जैसा उत्तम और अधिक कार्य किया है वह सचमुच ही बंगालके लिए गौरवकी वस्तु है। विश्वकवि-रवीन्द्रनाथ, महान् उपन्यासकार-स्वर्गीय बङ्किमचन्द्र चटर्जी और शरत बाबू, पुरातत्त्व-विद् सर श्री जदुनाथ सरकार; महान् वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु, आचार्य प्रफुल्लचंद्रराय और मेघनाद शाह, महायोगी स्वर्गीय रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविन्द घोष, त्यागवीर स्वर्गीय देशबन्धु चितरञ्जनदास, देशसेवक भूतपूर्व राष्ट्रपति सुभाषचन्द्र बोस, महान् क़ानूनवेत्ता रासविहारी घोष, परमसंगीतज्ञ तिमिरवर्ण, गिरिजाशंकर चक्रवर्त्ती, भीष्मदेव चटर्जी, ज्ञानेन्द्र गोस्वामी; ललित नृत्यकार विश्वमुग्धकर उदयशंकर भट्ट; समाज संस्कारक राजा राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इत्यादि नररत्नोंने अपनी असाधारण प्रतिभाद्वारा विश्वमें बंगभूमिको गौरवान्वित कर दिया है। केवल बंगाल ही क्यों समस्त भारतभूमि इन महापुरुषोंको जन्म देकर सौभाग्यवती हुई है। विश्व इन महापुरुषोंके कार्य कलापों-द्वारा चकित एवं मुग्ध है।

दार्शनिक चिन्तामें भी बंगीय विद्वानोंने अपनी बौद्धिक शक्तिका अच्छा परिचय दिया है। जैनदर्शन भारतीय दर्शनोंमें प्रधान और मननीय उत्कृष्ट दर्शन है। अतः बंगीय विद्वानोंका इस ओर ध्यान देना सर्वथा उपयुक्त है। किन्तु साधनाभावके कारण उनकी ज्ञानपिपासाने प्रबलरूप धारण नहीं किया। इसबार कलकत्तेमें मुझे अनेक विद्वानोंसे साक्षात्कार होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन लोगोंसे वार्त्तालाप होनेपर सभीने एक स्वरसे यही कहा कि "जैनदर्शनके सूक्ष्म तत्त्वोंको जानने की हमें बड़ी उत्कण्ठा है पर क्या करें! साधन नहीं मिलते!" इन शब्दोंको श्रवण कर मेरे हृदयमें गहरी चोट लगी पर करता क्या! बंगीय जैनसमाजने अभी तक एक भी ऐसा आयोजन नहीं किया कि जिसके द्वारा साहित्यिक सामग्री जुटाता और उसे लेजाकर बंगीय विद्वानोंको देता, जिससे वे अपनी जिज्ञासाकी प्यासको बुझाते, अस्तु।

अब मैं उन बंगीय विद्वानोंके विषयमें लिखता हूँ जिन्होंने समुचित साधन नहीं मिलने पर भी अपनी अपूर्व कर्मठवृत्ति-द्वारा जैनसाहित्यमें अच्छे अच्छे कार्य किये हैं। ये विद्वान जैनधर्मके पूर्ण अनुरागी हैं। इनके विषयमें मैंने जो कुछ खोज की है, जिन जिनसे व्यक्तिगत वार्त्तालाप हुआ और उनके कार्यका परिचय मिला है उसीके आधार पर संक्षेपमें इस विषयमें लिख रहा हूँ।

१ श्रीयुत हरिसत्य भट्टाचार्य M. A. B. L., वकील हवड़ाकोर्ट—

(पता—नं० १ कैलाशबोस लेन; हवड़ा)

जैनसाहित्यसेवी बंगाली विद्वानोंमें आपका स्थान सर्वोच्च है। आपकी दार्शनिक आलोचनाकी शैली बड़ी ही हृदयग्राही और गंभीर है। भारतीय दर्शनोंके अति-

रिक्त पाश्चात्य दर्शनोंके सम्बन्धमें आपका ज्ञान बहुत विशाल है अतएव आपका लेखन तुलनात्मक और तलस्पर्शी होता है। आपके लिखे हुए भारतीय दर्शन-समूहे जैनदर्शनेर स्थान, ईश्वर, जीव, कर्म, षड्द्रव्य—धर्म अधर्म, पुद्गल, काल, आकाश इत्यादि निबंध इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आपके इन निबन्धोंमेंसे प्रथम निबंधका गुजराती अनुवाद जब मेरे अवलोकनमें आया तभीसे आपसे मिलकर आपके लिखे अन्य सब निबंधों-को प्राप्त करनेकी उत्कंठा हुई; पर पता ज्ञात न होनेसे वैसा शीघ्र ही न बन सका। बहुत प्रयत्न करने पर बाबू छोटेलालजी जैनसे आपका पता ज्ञात हुआ और मैं बाबू हरषचन्द्रजी बोथराके साथ आपसे मिला। वार्त्तालाप होनेपर ज्ञात हुआ कि क़रीब २५ वर्ष पूर्वसे आप जैनग्रंथोंका अध्ययन व लेखन-कार्य कर रहे हैं, पर उनके लिखित ग्रंथोंके प्रकाशनकी कोई सुव्यवस्था न होनेसे इधर कई वर्षोंसे उन्हें लिखना बंद कर देना पड़ा। जैन समाजके लिये यह कितने दुखका विषय है कि ऐसे तुलनात्मक गंभीर लेखकको प्रकाशन-प्रबन्ध न होनेसे लिखना बंद करना पड़ा, निरुत्साह होना पड़ा! भट्टाचार्यजीसे वार्त्तालाप होनेपर ज्ञात हुआ कि उनको जैनधर्मके प्रति हार्दिक आदर व भक्ति भाव है, उन्होंने यहाँ तक कहा कि यदि प्रबन्ध किया जा सके तो मेरा विचार तो पाश्चात्य देशोंमें घूम घूमकर जैनधर्मके प्रचार करनेका है। एक बंगाली विद्वानके इतने उच्च हार्दिक विचार सुनकर किसे आनन्द न होगा? मेरे हृदयमें तो हमारे समाजकी उपेक्षाको स्मरण कर बड़ी ही गहरी चोट पहुँची। क्या जैनसमाज अब भी आँखें नहीं खोलेगा!

श्रीयुत भट्टाचार्यजीके तलस्पर्शी गहन अध्ययन व लेखनके विषयमें पं० सुखलालजीने "जिनवाणी" ग्रंथके निदर्शनमें जो उद्गार प्रगट किये हैं उनमेंसे आवश्यक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"श्रीयुक्त हरिसत्य भट्टाचार्य घणां वर्ष अगाऊ ओरीएटल कॉन्फरेन्सना प्रथम अधिवेशन प्रसंगे पूनामां मलेला-तेवखतेज तेमना परिचयथी मारा उपर एटली छाप पडेली के एक बंगाली अने ते पण जैनेतर होवाछताँ जैन-साहित्य विषे जे अनन्य रस धरावे छे ते नवयुगनी जिज्ञासानुं जीवतुं प्रमाण छे। तेमणे "रत्नाकरावतारिका" नो अँग्रेज़ी करेलो तेने तपासी अने छपावी देवो एवी एमनी इच्छा हती, ए अनुवाद अमे छपावी तो न शक्या पण अमारी एटली खात्री थई के भट्टाचार्यजी-ए आ अनुवाद माँ खूब महेनत करी छे। अने ते द्वारा तेमने जैनशास्त्रना हृदयनो स्पर्श करवानी एक सरस तक मली छे। त्यारबाद एटलो वर्षे ज्यारे तेमना बंगाली लेखोना अनुवादों में वांच्यां त्यारे ते वखते भट्टाचार्यजी विषे में जे धारणा बांधेली ते वधारे पाक्की थई अने साची पण सिद्ध थई। श्रीयुक्त भट्टाचार्यजी ए जैनशास्त्र नुं वांचन अने परिशीलन लांबा वखत लगी चलावेलु ऐना परिपाक रुपे ज तेमना आ लेखो छे एम कहवुं जोइए, जन्म अने वातावरण थी जैनेतर होवाछतां तेमना लेखो माँ जे अनेकविध जैन विगतो नी यथार्थ माहितीछे अने जैन विचारसरणीनो जे वास्तविक स्पर्श छे, ते तेमना अभ्यासी अने चोकसाइ प्रधान मानसनी साबीती पुरी पाडे छे। पूर्वीय तेमज पश्चिमीय तत्त्वाचिंतननुं विशालवाचन एमनी M. A. डीग्रीने शोभावे तेवुं छे अने एमनुं दलिलपूर्वक निरुपण एमनी वकीली बुद्धिनी साक्षी आ-पे छे। भट्टाचार्यजीनी आ सेवामात्र जैन जनता मांज नहीं परन्तु जैनदर्शनना जिज्ञासु जैन-जैनेतर सामान्य जगत मां चिरस्मरणीय बनी रहशे।

भट्टाचार्यजीके लिखित ग्रन्थों व लेखोंकी सूची नीचे दी जाती है:—

अनुवादित

१ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारटीका "रत्नाकरावतारिका" का अंग्रेजी अनुवाद—

मूल ग्रन्थ श्वेताम्बर न्यायग्रन्थोंमें प्रमुख ग्रंथोंमें से एक है। इसकी टीका बड़ी ही विचित्र एवं कठिन है, अंग्रेजीमें उसका अनुवाद करना कोई साधारण काम नहीं है। इस अनुवादमें भट्टाचार्यजीका दर्शनशास्त्र, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा पर असाधारण अधिकार स्पष्ट है। बहुत वर्ष पहले प्रस्तुत अनुवाद "जैनगज़ट" में धारावाहिक रूपसे बहुत समय तक निकला था। अब आपका उसे पुनः शुद्धि और वृद्धि कर स्वतंत्र ग्रंथरूपसे प्रकाशन करनेका विचार है, पाश्चात्य दर्शनोंके साथ समन्वय-सूचक व तुलनात्मक टिप्पणियें आप शीघ्र ही लिखेंगे। सिंघी-ग्रन्थमालासे उसके प्रकाशनका प्रबन्ध कर भट्टाचार्यजीके उत्साहको बढ़ानेका श्रीमान् बहादुरसिंहजी सिंघी व मुनि जिनविजयजीसे अनुरोध है।

मौलिक रचनाएँ

२. Lord Mahavira पृ० ३८
३. Lord Parsva पृ० ४०
४. Lord Arishta nemi पृ० ६०
प्रकाशक "जैनमित्रमंडल, देहली।" प्रकाशन सन् १९२६-१९२८-१९२९
५. Divinity in Jainism (जैनगज़ट मद्राससे प्रकाशित)
६. A comparative Study in Indian science of thoughts from the Jain stand point; (प्रका० The Indian Philosphy and religion, page 129-136)
७. The Jain Theory of space (प्रका० उपर्युक्त पृ० ११५ से १२० जैनगज़ट फरवरी १९२७)
८. The theory of Time in Jain Philosophy पृ० १० (जैनगजट १९२७ फरवरी)
९. Ancient concepts of matter:- Review of philosophy and religion V. III N. I. P. 13 (जैनगजट मार्चसे दिसम्बर १९३०)
१०. First principles of Indian Ethical systems:-The Philosophical Quarterly P. 308-314
११. The message of Mahavira and Krishna Vir 1929:—पृ० ७१-७६
१२. A comparative study of the Indian Doctrine of non-soul from the Jain standpoint. (प्र० The Indian philosophical congress page 129-136)

बंगला भाषा में

१. पुरुषार्थसिद्धिउपाय अनुवाद—प्र० बंग-विहार अहिंसाधर्मपरिषद्, अपूर्ण मुद्रित एवं जिनवाणी वर्ष २, पृ०६५-१०६
२. भारतीय दर्शनसमूहे जैनदर्शनेर स्थान, प्र० जिनवाणी वर्ष १, पृ० ८
३. (जैनदृष्टिए) ईश्वर—प्र० जिनवाणी वर्ष १, पृ० २५४
४. जीव—प्र० जिनवाणी वर्ष १, पृ० १२६
वर्ष २, पृ० १०६

५. जैनदर्शने कर्मवाद—प्र०जिनवानी वर्ष १, पृ०२०५
वर्ष २, पृ० २२

६- जैनकथा, ७ संवत ८ अब्द, ६ चन्द्रगुप्त—प्र०जिन-वानी वर्ष १ पृ० ७१-२६८

१० भगवान् पार्श्वनाथ—प्र०जिनवानी वर्ष २, अंक ४, पृ० १४१

११. महामेघवाहन खारखेल—प्र० जिनवानी वर्ष २ पृ० ६६

१२. जैनदर्शने धर्मश्रो श्रधर्म—प्र० साहित्यपरिषद्-पत्रिका भाग ३४ संख्या २ मन १३३४

१३. प्रमाण— प्र० साहित्य परिषद पत्रिका भाग ३३ पृ० १८ से

१४. जैनदर्शने आत्मवृत्ति निचय—प्र० साहित्यसंवाद

इन लेखोंमेंसे कतिपय लेख पहले अंग्रेज़ीमें लिखे गये थे फिर उनका बंगानुवाद कर "जिनवाणी" पत्रिकामें प्रकाशित किये गये थे। "जिनवाणी" पत्रिकामें प्रकाशित नं० २-३-४-५-६-१०-११-१२ का गुजराती अनुवाद श्रीयुक्त सुशील ने बहुत सरस किया है और उसके संग्रहस्वरूप "जिनवाणी" नामक ग्रंथ 'ऊंझा आयुर्वेदिक फार्मेसी अहमदाबाद'से प्रकाशित भी हो चुका है, इसको जनताने अच्छा अपनाया। इससे इस ग्रंथकी द्वितीयावृत्ति भी हो चुकी है।। प्रकाशक महाशयने भी प्रचारार्थ २६० पृष्ठ के सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ।॥) ही रखा है।

हिन्दी-भाषा-भाषी भी भट्टाचार्यके गंभीर लेखोंके अध्ययनसे वंचित न रहें, अतः मैंने इन लेखोंका हिन्दी अनुवाद भी करवाना प्रारम्भ कर दिया है। सिलहट-निवासी जैनधर्मानुरागी रामेश्वरजी बाज-पेई ने मेरे इस कार्य में सहयोग देनेका वचन दिया है और "भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका स्थान" लेख का हिन्दी अनुवाद आपने तैयार भी कर दिया है जो शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा।

भट्टाचार्य अभी एक अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ अंग्रेज़ीमें लिख रहे हैं, जिसमें जैनधर्म सम्बन्धी सभी आवश्यक ज्ञातव्यों का समावेश रहेगा। इसके कई प्रकरण लिखे भी जा चुके हैं। जैनसमाजका कर्त्तव्य है कि इस ग्रन्थको शीघ्र ही पूर्ण तैयार करवाकर प्रकाशित करे, जिससे एक बड़े अभावकी पूर्ति हो जाय।

२ प्रो०चिन्ताहरण चक्रवर्ती काव्यतीर्थ M.A. Prof. Bethune college—

(पता–नं० २८।३ झानगर रोड, कालीघाट, कलकत्ता)

आप भी बहुत उत्साही लेखक हैं। जैनधर्मके प्रचारके लिये आपकी महती इच्छा है। संस्कृत-साहित्यमें दूतकाव्य आदि अनेकों गंभीर अन्वेषणात्मक लेख आपने लिखे हैं। जैनसाहित्यके प्रचारमें आप बहुत अच्छा सहयोग देनेकी भावना रखते हैं। आपके लेखोंकीसंक्षिप्त सूची इस प्रकार है :—

१. जैनपद्मपुराण—जिनवाणी पत्रिकामें धारावाहिक रूपसे प्रकाशित, एवं बंगबिहारधर्मपरिषदसे स्वतन्त्र ग्रन्थरूपसे प्रकाशित, मूल्य।–)।
आपके इस लेखकी जैन पत्रोंमें बड़ी प्रशंसा हुई थी व शोलापुर के दि० पं० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्रीजीने इसका मराठी अनुवाद भी प्रगट किया था।

२. जैनपुराणे श्रीकृष्ण—जिनवानी वर्ष २, अंक १ में प्रकाशित व उक्त परिषदद्वारा स्वतन्त्र रूपसे दो फरमा अपूर्ण मुद्रित।

३. जैन त्रिरत्न—"भारतवर्ष" नामक प्रसिद्ध बंगीय मासिकपत्रमें प्रकाशित अग्राहयन सं० १३३१

पृ० ८०१-७। एवं उपरोक्त परिषद-द्वारा स्वतन्त्र रूपसे जैनबालाविश्रामके छात्रगणोंके द्रव्य-सहायसे प्रकाशित।

इस निबन्धका हिन्दी अनुवाद भी ट्रैक्टरूपसे आत्मानंद जैन ट्रैक्ट-सोसायटीसे प्रकाशित हुआ था।

४. जैनधर्मेरवैशिष्ट्य—भा०व०दि०जैनपरिषद बिजनौर से जैन ट्रैक्ट नं०१ रूपसे प्रकाशित,श्रीयुत कामताप्रसादजी जैनके प्रयत्न एवं सूरतनिवासी मूलचंद किशनदास कापड़ियाके आर्थिक सहायसे प्रकाशित पृ० १५। इसका हिन्दी अनुवाद भी उपर्युक्त सोसायटी द्वारा प्रकाशितहो चुका है।

५. जैन दिगेर दैनिक षट्कर्म—साहित्य परिषद् पत्रिका भा० ३१ पृ० ७२६-७३६ में प्रकाशित। इसका भी हिन्दी अनुवाद उपर्युक्त सोसायटी द्वारा छप चुका है।

६. जैनदिगेर षोडश संस्कार—प्रका०विश्ववानी १३३४ आषाढ़ पृ० १६०-६४।

८. रक्षाबन्धन (उपाख्यान)—प्र० एजुकेशन गजट १३३१ ता० २०-२७ आषाढ़ पृ० १२।४४ व १०६।११०

९. दीपालिका ... प्र० एजुकेशन गज़ट १३३१ ता:१२ पृ० २६६-७१

१०. हिन्दुओ जैन कालविभाग—प्र० 'कायस्थसमाज' १३३२ भाद्र पृ० २६६, २७२

११. पार्श्वनाथ चरित्र—प्र०'तत्त्वबोधिनी' पौष १८४६ पृ० २६६-६८, चैत्र पृ० ३३६-३८, जेष्ठ १८४७ पृ०५०-५३,कार्तिक पृ०२१७-२१६। इसे स्वतन्त्र ट्रैक्ट रूप से प्रकाशित करना चाहिये।

१२. परेसनाथ—प्र० 'शिशुसाथी' पौष १३३३ पृ० ३५६-६१

अंग्रेजी में

१३. Need of the study of Jainism—Vir VIII N. I. अक्टूबर १९३५ पृ०३७-३९

१४. Jainism in Bengal—Vir V. III N. 5-12-3 पृ० ३७०-७१

१५. Tradition about Vanaras and Raksasas—Indian Historical quarterly V. I. पृ०७७९-८१

१६. Pareshnath—Sanskrit Collegiate School Magazine. जनवरी १९२५ भा०२ संख्या १

१७. समालोचनाएँ—कई जैन ग्रन्थोंकी इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली, इण्डियन कलचर व मोडर्न रिव्यूमें प्रकाशित।

उपर्युक्त सूची भेजने व कई बंगाली विद्वानोंके पते सूचित करने व पत्रव्यवहारद्वारा चक्रवर्ती महोदयसे मुझे अच्छी सहायता मिली है, एतदर्थ आपको धन्यवाद देता हूँ।

३ श्रीमरनचन्द्रघोषाल M.A. B. L. District Magistrate Coochbihar—

भट्टाचार्यजीकी भांति आपका भी जैनदर्शनसम्बन्धी अध्ययन बहुत विशाल एवं गंभीर है। श्री भट्टाचार्यजीको प्रकाशन अव्यवस्थाके कारण लिखनेकी इतनी अनुकूलता नहीं रही और आपको बहुत अधिक अनुकूलता मिली अब भी है, अतएव आपने बहुत अधिक कार्य किया है। आपके विशाल कार्यकी ओर देखा जाय तो सब बंगीय विद्वानोंसे अधिक जैनीज़मके विषयमें आपने लिखा है। अजिताश्रम लखनऊसे प्रकाशित The sacred books of the Jain series

के आप जनरल-एडीटर हैं, इस ग्रन्थमालासे १० दिगम्बर ग्रंथ अंग्रेज़ी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें द्रव्यसंग्रह आपके द्वारा अनुवादित भी है। आपके मुख्य कार्य-कलापकी, जोकि जैनदर्शनके सम्बन्धमें किया है, सूची नीचे दी जाती है। दि० साधुओंके नगरों में विहार-प्रतिबन्धक आन्दोलनके समयतो आपने एक महत्वपूर्ण लेख लिखकर दिगम्बरत्वके औचित्यकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसके फलस्वरूप वह प्रतिबन्ध उठा दिया गया है।

अनुवादित ग्रन्थ

१. द्रव्यसंग्रह-सटीक, अंग्रेजीमें अनुवादित—प्र० उपर्युक्त ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प प्रकाशन—सन् १६१७, मूल्य ५॥)
२. परीक्षामुख—दि० न्याय ग्रन्थ, प्र० जैनगजट
३. प्रमाण मीमांसा—अंग्रेज़ी अनुवाद, प्र० जैनगज़ट १६१५
४. प्रश्नव्याकरण— „ „ प्र० „ १६१५
५. वृहद्रतिदत्तकथा—अंग्रेजी अनुवाद, प्र० जैन गज़ट १६१५
६. The Digambar Saints of India.
७. Abuse of Jainism in non-Jain Literature.
Published in Jain Gazette 1917 Vol. XIII P. 144.
८. Gommata Sara. Published in Digambar Jain.
९. The Rules of ascetics in Jainism. (Jain Sidhant Bhaskar. वर्ष २, किरण ४)
१०. आचार्य्य जिनसेन (बंगला)—प्र०भारतवर्ष।
११. द्वादशानुप्रेक्षा (बंगला)—प्र० जिनवाणी।

४ प्रो० अमूल्यचरण विद्याभूषण, प्रो० विद्यासागर कॉलेज कलकत्ता—

(पताः—नं० ५ जदुमित्रलेन, कलकत्ता)

आप बहुत वर्षोंसे "बंगीय महाकोष" के सम्पादन में लगे हुए हैं। इस कोषमें जैनदर्शनके अनेक शब्दों पर विस्तृत विवेचन किया गया है। कोषके अतिरिक्त स्वतंत्र प्रकाशित जैनदर्शन सम्बन्धी लेखोंमें कतिपय ये हैं—

१. Jain Jatakas—प्र० मोतीलाल बनारसीदास लाहौर,
२. Culture, Origin of Jainism.
३. Queen, The History of the Jain Sects, Parsvanath & Mahavir.
४. National Council of Education. Lecture on Syadwad.
५. जैनधर्म—प्र०नव्यभारत।
६. विजयधर्मसूरि—प्र० वानी १३१७ बंगला।

आपकी इच्छा है कि अपने कोषमें जैनदर्शनके सभी मुख्य एवं रूढ़ शब्दों पर विस्तारसे विवेचन हो पर यह कार्य बिना जैनविद्वानोंके सहयोगके नहीं हो सकता। आपने हमसे यहाँ तक कहा था कि यदिबंगला या अँग्रेज़ी भाषाविद् जैनविद्वान् शब्द-विवेचन लिख भेजें या हम उन्हें लिख भेजें वे उसको पढ़कर शुद्धि-वृद्धि कर भेजें ताकि हमारे कोषमें अपूर्णता एवं भूल भ्रान्ति न रहने पावे। आशा है योग्य विद्वान उन्हें सहयोग देंगे।

५ प्रो० सातकोडी मुखर्जी, प्रो० कलकत्ता युनीवरसिटी—

(पता—नं० १।२ वृन्दावनचरणमल्लिकलेन कलकत्ता)

आपका अध्ययन भी बहुत गंभीर है, जैनधर्मसे आपका बहुत अनुराग है। आपके लिखित निबंध ये हैं—

१. अनेकान्तवाद—प्र० विश्वकोष द्वि० आवृत्ति

२. जैनधर्मेनारीर स्थान—प्र० रूपनंदा (अग्रहायन-पौष १३४४)

३. The Status of women in Jain Religion.

४. The doctrine of Relativity in Jain Metaphysics.

५. सभापति भाषण—इंडियन कलचर कान्फरेन्स; जैन और बौद्ध विभाग

६. प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्य प्रो० आसुतोष कालेज (पता:—नं० ३ तारारोड़ कालीघाट कलकत्ता)

आपके लिखे हुए निबन्ध ये हैं:—

१. The Jain conception of Truth and reality (Proceedings of Indian Philosophical Congress. 1925)

२. The Jain Theory of knowledge & errors.
(प्र० जैनसिद्धान्तभास्कर १९३८ जून)

३. The Jain Theory of Existence & Evolution
(प्र० इण्डियन कलचर १९३८ एप्रिल)

४. Studies in Philosophy (प्र० मोतीलाल बनारसीदास लाहौर)

इस ग्रंथमें जैनदर्शनके सम्बन्धमें कई बातें लिखी हैं।

५. स्याद्वाद—प्र० साहित्यपरिषदपत्रिका भा० ३०, पृ० १४३ भा० ३१ पृ० १

६. Jain critique of the Sankhya & the Mimansa theories of the self relation to knowledge. प्र० जैन सि०भास्कर भाग ६, कि० १

७ डा० विमलचरणलाह M.A. B.L. PH.D.—
(पता—नं० ४३ कैलास बोस स्ट्रीट, कलकत्ता)

आप कलकत्तेके सुप्रसिद्ध जमींदार, पत्रसम्पादक एवं साहित्यिक विद्वान हैं। भारतीय प्राचीन संस्कृतिके अन्वेषणमें आपकी बड़ी दिलचस्पी है। बौद्ध एवं जैनसाहित्यसे आपका बहुत प्रेम है। आपसे मैं दो बार मिला था और आपके लिखित जैनसाहित्य-सम्बंधी लेखोंकी सूची मांगी थी और आपने कुछ समय बाद देनेकी स्वीकृति भी दी थी पर दो तीन बार फिरसे सूचना देने पर भी साहित्य-कार्योंमें विशेष व्यस्त होनेसे आपसे सूची नहीं मिल सकी अतः मुझे ज्ञात निबन्धोंकी सूची देकर ही संतोष मानना पड़ता है।

१. Mahavira (His Life and Teachings Page 113, प्रकाशक Lunac & Co; 46, G.Russel Street London W. C. I. 1939. स्व० बाबू पूर्णचंद नाहरको समर्पित। प्रस्तुत ग्रन्थ दो विभागोंमें विभक्त है—१ महावीरकी जीवनी २ उनके उपदेश। जैन संस्कृतिका तथाविध ज्ञान न होनेसे इस ग्रंथमें कई मूल भ्रान्तियें रह गई हैं, तो भी आपका परिश्रम सराहनीय है।

२. Distinguished Menarar (?) women in Jainism.—प्र० इंडियन कलचर V. II 669 V. III 89. 343.

३. The Kalpa Sutra प्र० जैनसिद्धान्त भास्कर भा० ३, किरण ३-४

४. Studies in the Vividha-Tirtha Kalpa (प्र० जैनसिद्धान्त भास्कर भा०४ कि०४ पृ०१०६)

८ प्रो० प्रबोधचंद्र बागची, कलकत्ता विश्वविद्यालय
(पता—नं०६ रुस्तमजी स्ट्रीट, कालीगंज, कलकत्ता)
आपकी निबन्ध-सूची निम्न प्रकार है—

१. The Historic beginnings of Jainism Part III, 1929.
(प्र० सरआशुतोष मुकर्जी सिलवर ज्युबली वोलयूम III Part III 1927)

२. One the Purvas प्र०Journal of Department of letters V.XIV1929.

आप चीनी भाषाके विशेषज्ञ हैं और जैन बौद्ध धर्मसे भी प्रेम रखते हैं।

९ प्रो० वेणीमाधव बुड़वाM. A. D. litt. (Lon)
आपकी निबन्ध-सूची इस प्रकार है—

1. The Ajvikas (Journal of the Department of Letters, Calcutta University, Vol. II 1120)
2. A History of Pre-Budhist India Philosophy of Mahavira published by Calcutta University 1921 (London Doctorate)
3. Historical Background of Jinology. and Buddhology(Calcutta Review 1924.)
4. Old Brahmi Inscriptions in Udayagiri and Khandagiri Caves. (Calcutta University Published 1929)
5. Minor Old Brahmi Inscriptions in the Udaigiri and Khandagiri Caves. Revised Edition (Indian Historical Quarterly 1938.)

१० सुरेन्द्रनाथदास गुप्त—
(पता—महानिर्वाण रोड बालीगंज कलकत्ता)
History of Indian Philosophy नामक ग्रंथमें आपने जैनदर्शनके सम्बंधमें कई बातें लिखी हैं।

११ प्रो० सुरमा मित्र M. A.—
(पता--नं०६ हिन्दुस्तान पार्क बालीगंज)
जैनदर्शनका आपने बहुत गंभीर अध्ययन किया है, बंगीय महिलाओंमें जैनदर्शन-प्रेमी एक मात्र आप ही हैं। आप जैनधर्मके सम्बंधमें एक ग्रंथ भी लिख रही हैं।

१२ डा० आसूतोष शास्त्री M. A. PH. D.
(पता—नं० २ C नवीन कुंडुलेन, कालेजपे)
Studies in Post Sankara Diabectics में आपने जैन दर्शनके सम्बंधमें भी कुछ बातें लिखी बतलाते हैं।

१३ सतीशचन्द्र चटर्जी M.A., PH. D.—
(पता—५६ B हिंदुस्तान पार्क)
The Nyaya Theory of knowledge नामक आपके ग्रंथमें जैनन्याय-सम्बन्धी चर्चा है।

१४ विनयकुमार सरकार प्रो०कलकत्ता युनिवर्सिटी—
(पता—पुलिस होसपिटल रोड)
Somedeva (The Political Philosopher of the tenth century) नामक निबन्ध आपका लिखा हुआ है, जो इण्डियन कलचर (V. II Page 801) में मुद्रित हुआ है।

१५ स्व० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—भारतीय न्यायशास्त्रके आप लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे, जैन न्यायसाहित्यका भी आपने गंभीर अध्ययन किया था और अपने ग्रंथमें जैनलोजिकके सम्बंधमें विस्तारसे

आलोचन किया था। उसका हिन्दी अनुवाद कई वर्ष पूर्व "जैनहितैषी" पत्रमें लगातार कई अंकोंमें प्रकाशित हुआ था। इण्डियन रिसर्च सोसायटी द्वारा सन् १६०६ में आपके द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजीमें अनुवादित 'न्यायावतार' मूल-वृत्ति सह प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त महो० यशोविजयजी गणीके सम्बंधमें आपका एक लेख भी प्रकाशित हुआ था। जैन-सम्बंधी आपके लिखित लेखोंके नाम व प्रकाशनका पता इस प्रकार है:—

1. Maharaja Manika Lekha
2. Yasovijaya gani (About 1608 1688 A. D.) प्र० एसोटिक सोसायटी बंगाल जनरल N.3 VI
3. The Sarak Caste of India identified with the Serike of Central Asia-proceedings, A. S. B. 1903.
4. Pariksamukha Sutra—Bib Ind.
5. TattvarthadhigamaSutra— Bib.Ind.
6. History of Indian Logic ग्रंथमें Jain Logic Page 157-224
7. न्यायवतार, मूल-वृत्ति इंगलिश अनुवा० सहित— प्र० इण्डियन रिसर्च सोसायटी सन् १६०६

१७ स्व० कृष्णचन्द्र घोष "वेदान्तचिन्तामणि"

१ बाबू पूर्णचंद्रजी नाहर लिखित An Epitom of jainism के सहयोगी प्रणेता।

१७ स्व० हरिहर शास्त्री—

आपके लिखित दो लेखोंका पता चला है—

१ जैनपुराणे वर्णित कृष्णचरित्र—

२ जैनदर्शन—बंगीय साहित्य परिषद्के १४वें अधिवेशनमें पठित

१८ शिवचंद्र शील—

आपके निबन्धका नामादिक इस प्रकार है—

१ दीपावली ओ भ्रातृद्वितीया पर्व—प्र० साहित्य परिषद पत्रिका भा० १४ पृ० ५१

१९ रामदास सेन M. R. A. S.—

आपके दो निबंध हैं—

१ जैनधर्म—प्र० "ऐतिहासिक रहस्य" पत्रिका

२ जैनमत-समालोचना—„ भा० ३ पृ० २४७

२० सम्पादक "उद्बोधन"-आपके द्वारा लिखित निबंधका नाम 'जैनसम्प्रदाय' है—जो "उद्बोधन" भा० १४ पृ० ७६२ भा० १५ पृ० १०५ पर मुद्रित हुआ है।

२१ उपेन्द्रनाथ दत्त—आपके द्वारा लिखित तथा अनुवादित निबंधोंकी सूची इस प्रकार है—

१ जैनधर्म
२ जैनधर्म (मू० लोकमान्य तिलक) अनुवाद
३ जैनतत्वज्ञानओ चारित्र —अनुवाद
४ जैनसिद्धांत दिग्दर्शन —अनुवाद
५ जैनसामयिक पाठ स्तोत्र—भावानुवादित
६ जिनेन्द्र-मत-दर्पण —अनुवादित
७ सार्वधर्म —अनुवादित

ये सभी ट्रैक्ट बंगीय सर्वधर्म परिषद काशीसे प्रकाशित हुए हैं। विशेष जाननेके लिये देखें मेरा "बंगला भाषामें जैन साहित्य" शीर्षक लेख, जो कि ओसवाल नवयुवक वर्ष ८ अंक १० में प्रकाशित हो चुका है।

२२ ललितमोहन मुखोपाध्याय—आपने 'जैन इतिहास समिति' का अनुवाद किया है।

२३ हरिचरनमित्र—आपके द्वारा अनुवादित "श्रावक दिनेर आचार"नामक ट्रैक्ट प्राचीन श्रावकोद्धारिणी सभा कलकत्तासे प्रकाशित हुआ था।

२४ स्व० नगेन्द्रनाथ वसु—

(पता—विश्वकोषलेन, कलकत्ता।)

आपके सम्पादित विश्वकोषमें जैनधर्मके सम्बंधमें बहुतसे लेख प्रकाशित हुए हैं। एवं एक स्वतंत्र लेख भी आपके द्वारा लिखित अवलोकनमें आया है। १ जैन पुरुष काहिनी—प्र० साहित्य परिषद् पत्रिका भा ७ पृ० ७०

२५ विभूति भूषणदत्तः—आप गणित शास्त्रके विशेषज्ञ हैं आपके लेख ये हैं—

१ जैन साहित्योनाम संख्या–प्र० बंगीय साहित्य परिषद् पत्रिका भा० ३७ पृ० २८ से ३६

२ Mathematics of Nemichandra प्र०—जैन सि० भा० भा० २ कि० २

३ A lost Jaina Treatise on Arithmatic—प्र० जैन सि० भा०२, कि०३

२६ सुकुमार रंजनदास M.A., PH. D.—

The Jaina calendar आपने लिखा है प्र० जै० सि० भा० भा०४ कि० २

२७ प्रमोदलाल पाल—आपका लेख है–

Jainism in Bengal—प्र०इण्डियन कलचर (Vol III) पृ० ५२४

२८ ईश्वरचन्द्र शास्त्री—

(पताः—नं० १ मार्कस स्कायर कलकत्ता)

१ नीतिवाक्यामृत—दि० सोमदेव सूरि रचित अद्भुत नीति ग्रन्थ पर आपने संस्कृत एवं बंगलामें टीका लिखी है, जो कि अप्रकाशित है।

२ जैनतत्त्वसारसंग्रह—जल्दसे प्रकाशित

२९ अखिलबाबूराय—(पता—प्रवर्त्तक संघ, चंदननगर)

१ महावीर—आपके "मुमुक्षु" ग्रंथके प्र०१० से १६ में संक्षिप्त भगवान् महावीरका परिचय छपा है पर इसमें १ पार्श्वनाथके शिष्य श्वेताम्बर और महावीरके शिष्य दिगम्बर हुए तथा २ सिद्धार्थ यक्षके अनुग्रहसे वीरकी बुद्धि उत्कर्ष को प्राप्त हुई आदि कई भ्रान्त बातें लिखी हैं।

३० रमेशचन्द्र मजुमदार, वाइस चान्सलर ढाका यूनिवर्सिटी—

आपका लेख है 'बौद्ध ओ जैनसाहित्ये कृष्णचरित्र' प्र० "पंच पुष्प" पत्रिका भाद्र १३३८

३१ कालीपद मित्र,प्रिन्सिपल डी०जी०कालेज मुंगेर—

आप जैन साहित्यसे बहुत प्रेम रखते हैं, आपने अध्ययनके सुफलसे समय समय पर जैन-सम्बन्धी लेख भी लिखा करते हैं। आपके प्रकाशित लेखोंकी नामावली इस प्रकार हैः—

१ Teachers and disciples—प्र० मोडर्न रिव्यू १९३७ नवम्बर

२ Magic and Miracle in Jaina literature प्र० इण्डियन हिस्टोरिकल क्वारटरली

३ The Previous Births of Sejjans—प्र० भास्कर भा० ४ पृ० ४५

४ Knowledge and Conduct in jain Scripture—प्र०जैन सिद्धान्तभास्कर भा० ४, कि० ३

५ Note on Devanuppiya—प्र० जैन सिद्धान्तभास्कर भा० ५ कि० ३

३२ यदुनाथसिंह, प्र० मीरट कालेज, पंजाब—

आपके निबन्ध ये हैं—

1. Indian Psychology Perception (By Jadunath Singh) Published by Kegan Paul, Trench Trub-

ur & co. London 1934 at 15$.

2. Indian Realism—Published 1938 at 10s 6d.

३३ अमृतलाल शील-- (पता—न्युलेन हैदराबाद) आपका लेख है 'जैनदिगेर तीर्थंकर' –प्र०"मानसी ओ मर्मवानी" पृ० १०

३४ अमूल्यचन्द्रसेन, (पता—विद्याभवन विश्वभारती शांतिनिकेतन)—आपके लेखका नाम है Schools and Sects in jain Literature—प्र० विश्वभारती।

इनके अतिरिक्त अन्य कई विद्वानोंने भी जैनधर्म सम्बन्धी लेखादि लिखे हैं ऐसा कई व्यक्तियोंसे मौखिक पता चला था पर उन्हें कई पत्र देने पर भी प्रत्युत्तर नहीं मिलनेसे इस लेखमें वह उल्लेख न कर सका।

प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य, डा० कालीदास नाग हरिन्द्रनाथदत्त अटर्नी आदि बंगीय विद्वानोंसे मैं मिला था यद्यपि इन महानुभावोंने अभी तक जैनदर्शनके सम्बंध में स्वतन्त्र कोई निबन्धादि नहीं लिखा है फिर भी इनकी जैनधर्मके प्रति असीम श्रद्धा है। कई कई विद्वान् तो जैनधर्मके प्रचारके सम्बन्धमें विचार विनिमय करने पर हार्दिक दुःख प्रगट करते हुए कहते है कि "बौद्ध धर्मके सम्बन्धमें तो नित नये २ विचार पत्र पत्रिकाओंमें आये दिन पढ़नेको मिलते हैं पर जैनी लोग कर्त्तव्य विमुख हो बैठे हैं, अन्यथा कभी संभव नहीं कि ऐसे आदर्श धर्मके अनुयायी १४ लाखमेंही सीमित रहें।"

पादरियों तथा आर्य समाजियोंने प्रचार कार्यके बल पर आज क्या कर दिखाया है। बौद्धधर्म जो शताब्दियों से भारतसे दूर हो गया था पुनः प्रकाशित हो रहा है तब जैनधर्म दिनोदिन अवनतिकी ओर अग्रसर है इसका एक मात्र कारण व्यवस्थित प्रचार-कार्यका अभाव है। बंगाल जैसे शिक्षित प्रान्तमें इसका प्रचार बहुत कम समयमें अच्छे रूपमें हो सकता है। जैनोंको अब कुम्भकर्णी निद्रा त्याग कर कर्त्तव्य-पालनमें कटिबद्ध होजाना चाहिये।

प्रिय पाठक गण! इस लेखको पढ़कर आपको विदित हो हुआ होगा कि समुचित साधन, प्रोत्साहन नहीं मिलने पर भी इन विद्वानोंने कहां तक कार्य किये हैं और साधनादि मिलने पर वे कितने प्रेम और उत्साह के साथ जैन साहित्यकी प्रशस्त सेवा कर सकते हैं।

अब किन किन उपायों द्वारा बंगीय विद्वानोंको समुचित साधन व प्रोत्साहन मिल कर उनके द्वारा बङ्ग-प्रदेशमें जैनधर्मका प्रचार हो सकता है, इस विषयमें कुछ शब्द लिखे जाते हैं।

१ जैनग्रन्थोंका एक विशाल संग्रहालय हो और उसमें यह सुव्यवस्था रहे कि प्रत्येक पाठकको सुगमता-पूर्वक पुस्तकें मिल सकें। यदि भ्रमणशील पुस्तकालय हो तो फिर कहना ही क्या! कलकत्तेके जैन पुस्तकालयोंमें सुप्रसिद्ध नाहरजीका संग्रहालय सर्वोत्कृष्ट है। यदि ऐसा पुस्तकालय सर्वोपयोगी और सार्वजनिक हो सके तो निस्सन्देह एक बड़े भारी अभावकी पूर्ति हो सकती है। प्रत्येक सुप्रसिद्ध व उपयोगी ग्रन्थकी दो दो तीन तीन प्रतियाँ पुस्तकालयमें रहना आवश्यक है; क्योंकि जो विद्वान उसकी एक प्रति मनन कर कुछ लिखनेके लिये ले गये अतः उनके यहांसे उसका देरीसे वापिस प्राप्त होना स्वभाविक है, इसी बीच अन्य विद्वानोंको उसकी विशेष आवश्यकता हुई तो अन्य प्रति हो तो उन्हें भी मिल सके। अच्छे, अच्छे ग्रन्थोंको समय पर

संगृहीत करते रहनेका भी प्रबन्ध होना चाहिये एवं इस पुस्तकालयकी सूचना प्रसिद्ध सभी संवादपत्रोंमें दे देना आवश्यक है। कलकत्तेमें बंगीय विद्वानोंका खासा जमाव है। अतः पुस्तकालय कलकत्तेमें ही होना विशेष लाभप्रद है।

पुस्तकालयका लाइब्रेरीयन (अध्यक्ष) अनुभवी विद्वान होना चाहिये, जिससे विद्वानोंकी माँगका समुचित प्रबंध कर सके। अच्छे २ ग्रन्थ जो वे लोग मांगे और अपने पुस्तकालयमें नहीं हों उन्हें तुरन्त मगाने एवं हो सके तो अन्य पुस्तकालयोंसे उन्हें प्राप्त करनेका प्रबन्ध हो सके तो उसका प्रबन्ध कर सके और जो ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं उनको भी विशेष आवश्यकता होने पर भंडारोंसे मंगा कर पाठकोंकी ज्ञान-जिज्ञासाको पूर्ण कर सके।

मेरे ध्यानमें ऐसा व्यवस्थित पुस्तकालय आगरेका विजयधर्मसूरि-ज्ञान-मंदिर है। इधर कई वर्षोंसे प्रकाशित पुस्तकोंकी उसमें कमी है उसकी पूर्तिकी जानेके और विद्वानोंको बाहर भेजने आदिका सुप्रबन्ध हो तो इस ज्ञानमन्दिरसे बहुत लाभ हो सकता है। ऐसे ही जैन-सिद्धान्त-भवन आरा, ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई, ब्यावर, झालरपाटन आदि दिगम्बर-पुस्तकालयों से भी सहयोग प्राप्तकर लेना परमावश्यक है। उनके सूचीपत्रोंकी नकल मुद्रित हो तो मुद्रित प्रति कलकत्तेके पुस्तकालयमें रखी जाय और समय २ पर आवश्यक ग्रंथ वहाँसे मंगाकर भी विद्वानोंकी मांग पूर्णकी जाय तो बड़ा भारी ज्ञानप्रचार हो सकता है। विद्वानोंको पाठ्य एवं लेखन-सामग्रीकी सुविधा प्राप्त होने पर उनकी लेखनी बहुत अधिक काय कर सकेगी। आशा है जैन-धर्म-प्रचारके प्रेमी धनी सज्जन इस परमावश्यक योजनाकी ओर अवश्य ही ध्यान देंगे। और इसे अति शीघ्र कार्यरूपमें परिणत करके प्रचारकार्यमें हाथ बटावेंगे।

हाँ, इतने विशाल पुस्तकालयके लिये बड़े भारी अर्थसंग्रहकी आवश्यकता है। पर जैनसमाजके अन्य पुस्तकालयों एवं ग्रंथसंग्रहोंमें जिन जिन ग्रंथोंकी अधिक अतिरिक्त प्रतियाँ पड़ी हैं उनको वे इस संग्रहमें प्रदान करदें एवं जैनग्रन्थ प्रकाशक अपने प्रकाशनकी १-१ प्रति इसको भेट देदें तो हजारों रुपयेके ग्रंथ सहज संगृहीत हो सकते हैं। इसी प्रकार पत्रसम्पादक एवं प्रकाशक महाशय भी पत्र फ्री भेज सकते हैं, ऐसे उपयोगी पुस्तकालयके लिये कोई अधिक कठिनता नहीं होगी कार्यकर्त्ता सेवाभावी और प्रभावशाली अनुभवी हों तो बहुत थोड़े अर्थव्ययसे बहुत अच्छा संग्रह एवं व्यवस्था हो सकती है।

(२) केवल एक पुस्तकालय स्थापनसे ही कार्य नहीं चलगा, साथ साथ जैनेतर अन्य प्रसिद्ध पुस्तकालयोंको भी जैनधर्मके उत्कृष्ट ग्रन्थोंकी प्रतियाँ देना परमावश्यक है, ताकि उस पुस्तकालयके ग्रन्थोंके पाठक विद्वानोंका भी जैनधर्मके आदर्श ग्रंथोंकी ओर ध्यान आकर्षित हो। कलकत्तेमें * विद्वानोंके केन्द्रस्थानीय पुस्तकालयोंमें इम्पीरियल लायब्रेरी, विश्वविद्यालय एवं एशियाटिक सोसायटीका पुस्तकालय, संस्कृत कॉलेज ग्रंथालय, बंगीय-साहित्य-परिषद् पुस्तकालय मुख्य हैं। इनमें उत्तमोत्तम उपयोगी जैनग्रंथोंकी १-१ प्रति अवश्य देदेनी चाहिये। या उनके पुस्तकाध्यक्षोंको उन ग्रंथोंके संग्रहकी प्रेरणा करना चाहिये।

(३) पुस्तकालयके अन्दर एक अभ्यासक मंडल भी स्थापित किया जाय। बंगीय विद्वानोंको जैनधर्म सम्बन्धी लेख-निबंध लिखनेकी प्रेरणाकी जाती रहे, प्रत्येक रविवारको भाषणका आयोजन हो जिनमें जैनधर्मके विद्वानों एवं अभ्यासी जैनेतर विद्वानोंका भाषण हो, अभ्यासियोंके भाषण लिखितरूपसे हों तो विशेष अच्छा हो। यानी वे प्रकाशित भी किये जासकें और समय भी कम लगे। मौखिकभाषण देनेवाले विशेष विद्वानोंके भाषणोंका सार भी शोर्टहेंडसे लिखा जाकर प्रकाशित किये जानेका प्रबन्ध होनेसे वह कार्य स्थायी एवं विशेष व्यापक होगा। सुन्दर विशिष्टनिबंध-लेखकोंको पारितोषिक दिये जानेका प्रबन्ध होना भी उचित है। जिससे वे समुचित उत्साहित हों। उन निबंधोंको जैन एवं

---

* देखें, मेरा 'कलकत्तेके जैन पुस्तकालय' शीर्षक लेख, प्र० ओसवाल नवयुवक वर्ष ८ अंक २

जैनेतर विशिष्ट पत्रोंमें प्रकाशित किये जानेका प्रबन्ध रहनेसे प्रचारकार्य बहुत शीघ्र आगे बढ़ेगा। निबंधोंके प्रकाशनके पूर्व अच्छी तरह परीक्षा करलेनी चाहिये ताकि किसी लेखकने कोई भूल-भ्रान्ति की हो तो वह पहले ही सुधारी जा सके, इससे लेखकको अपनी भूलें विदित हो जायँगी और प्रकाशन भी भ्रान्तिरहित होगा।

इसी प्रकार बंगीय विद्वानोंके लिखित ग्रंथोंको भी सिन्धी जैनग्रन्थमाला आदि द्वारा प्रकाशित करनेका प्रबन्ध होना चाहिये, ताकि लेखकको प्रकाशकोंके ढूंढने-की चिन्ता न हो।

(४) एक सामयिक मासिक पत्र भी पूर्व प्रकाशित "जिनवाणी" की भांति प्रकाशित किया जाय, जिसमें हिन्दी, बंगला और अँग्रेजी लेखोंको प्रकाशित किया जासके। सामयिकपत्रसे प्रगति बहुत फलवती होती है और प्रचारका प्रशस्तमार्ग सरल हो जाता है।

(५) कलकत्ता विश्वविद्यालयमें एक जैन चेयरकी बड़ी आवश्यकता है, जिसमें जैनदर्शन, साहित्य, कला आदिकी समुचित शिक्षा जैनविद्वान द्वारा बंगीय जैन, जैनेतर छात्रोंको दी जाय। योग्य छात्रोंको छात्रवृत्ति भी अवश्य दी जाय।

(६) धर्मप्रचारका कार्य जैसा त्यागी विद्वान मुनियोंसे हो सकता है वैसा अन्य से नहीं, उनके ज्ञान एवं चारित्रका प्रभाव भी बहुत अच्छा पड़ता है। जैन-दर्शन सम्बन्धी शंकाओंका बंगीय विद्वान उनसे निराकरण कर सकते हैं और भी उनके उपदेशसे कई विद्वान प्रचार एवं साहित्य-सेवामें जुट सकते हैं साथ ही, आदर्श सिद्धान्तोंका शिक्षितसमाजमें सहज प्रचार हो सकता है, पर खेद है कि हजारों जैनी आसाम-बंगालमें रहते हैं पर उनकी प्रगति इतनी सीमित है कि उसका दूसरोंको पता नहीं चलता। श्वे० जैन मुनि एवं दिगम्बर विद्वान बंगला और अँग्रेज़ी भाषाका आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके ग्राम ग्राममें घूमें तो पुनः जिस बंगाल-बिहारमें एक समय जैनधर्म ऊँचे शिखर पर चढ़ा हुआ था वह फिरसे नज़र आजाय, कमसे कम हज़ारों मनुष्य मांस-मत्स्य भक्षणका त्याग कर सकते हैं। जिससे लाखों करोड़ों जीवोंको अभयदान मिले। आशा है वे अब अपना कर्तव्य सँभालेंगे।

(७) कई स्थानोंमें मुनिमहाराजोंके जानेमें नाना असुविधायें हैं, उन स्थानोंमें कतिपय प्रचारक विद्वानों द्वारा कार्य होसकता है। अतः २-४ प्रचारकोंकी भी नियुक्ति परमावश्यक है, जिससे प्रचारकार्य व्यापक एवं विशिष्ट हो।

इसी प्रकार अल्प मूल्यमें या अमूल्यरूपसे जैन दर्शनके सारभूत कई ग्रंथोंका प्रचार इंगलिश एवं बंगला भाषामें करने द्वारा तथा अन्य विविध योजनाओं द्वारा पुनः पूर्ण प्रयत्न कर जैनधर्मका सदेश सर्वत्र प्रसारित करना परमावश्यक है। मैंने इस लघुलेखमें दिशा सूचक रूपसे महत्वकी कतिपय योजनाओंको ही जैन समाजके समक्ष रखा है, अन्य विद्वान एवं जैनधर्मके प्रचार प्रेमी सज्जन अपने अपने विचार शीघ्र ही अभिव्यक्त करें, एवं समाज उन्हें कार्य रूपमें परिणत करनेमें तन मन धनसे सहयोग दे, यही पुनः पुनः सादर विज्ञप्ति है।

स्थानीय बंगीय जैन समाजका इस दिशामें प्रयत्न करनेका सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। मुर्शिदाबाद एवं कलकत्तेके जैन भाइयोंको मैं पुनः उनके आवश्यक कर्त्तव्य-की याद दिलाता हूँ, आशा है वे इसपर अवश्य विचार करेंगे एवं अन्य प्रान्तोंके भाइयोंके सन्मुख भी आदर्श उपस्थित करेंगे।

लेख समाप्त करनेके पश्चात् नं० ५ योजनाके संबंधमें कलकत्तेकी गत महावीर जयन्ती पर श्रीयुक्त बहादुरसिंहजी सिंघीने जो विचार व्यक्त किये उनको कार्यरूपमें परिणत देखनेको मैं उत्कंठित हूँ। एवं नाहरजीके कलाभवनकी ४० हज़ारकी बहुमूल्य वस्तुएँ कलकत्तेके विश्वविद्यालयके आशुतोष म्युजियमको दान-के सबाद मिले हैं। क्या ही अच्छा हो उनका पुस्तकालय भी नं० १ योजनानुसार कर दिया जाय।

अहिंसाकी कुछ पहेलियाँ

[श्री० किशोरलाल मशरूवाला]

अहिंसाके बारेमें कभी-कभी गहरे और जटिल सवाल किये जाते हैं। इनमेंसे कुछका मैं यहाँ थोड़ा विचार करना चाहता हूँ।

(१) प्रश्न—पूर्णतया प्राप्त किये बग़ैर संपूर्ण अहिंसा शक्य नहीं है। तो फिर, सारे समाजको या हमारे जैसे अपूर्ण व्यक्तियोंको अहिंसाकी सिद्धि किस तरह मिल सकती है?

उत्तर—कभी कभी बहुत गहरे विचारमें उतर जाने से हम गगन-विहारी बन जाते हैं। कसरत करनेवाला हरेक व्यक्ति दौड़ती हुई मोटर रोकने, या चार-पाँच मनका पत्थर छाती पर रखने या गामाकी बराबरी करने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी, यह मुमकिन है कि इन लोगोंमें भी बढ़कर कोई पहलवान दुनियाँमें पैदा हो। अगर इन्हींको शारीरिक शक्तिका आदर्श माना जाये तो साधारण आदमी—चाहे वह कितनी भी मेहनतसे शरीरको मज़बूत बनानेकी कोशिश करे, तो भी—अपूर्ण ही रहेगा। तब क्या आम जनताके लिए जो अखाड़े हैं वे बन्द कर दिये जायें? उत्तर साफ़ है कि 'नहीं'। क्योंकि अखाड़ोंका मुख्य उद्देश्य गामा जैसे पहलवानोंको ही निर्माण करना नहीं है; बल्कि साधारण दुनियांदारीमें सैकड़ों आदमियोंको जितने और जिस प्रकारके शारीरिक विकासकी ज़रूरत हो उतना और उस प्रकारका विकास जो व्यायामशाला करा सकती है उसे हम सफल संस्था कहेंगे; फिर चाहे उसके सौ सालके इतिहासमें उसमेंसे एक भी गामा या राममूर्ति भले ही न निकला हो। इन अखाड़ोंमें गामा और राममूर्तियोंका सम्मान, तथा मार्गदर्शनकी हैसियतसे उपयोग हो सकता है। लेकिन उन जैसा बननेकी सबकी महत्वाकांक्षा नहीं हो सकती। उसके उस्तादके लिए भी वह कसौटी नहीं हो सकती।

दूसरा भी एक उदाहरण ले लीजिए। सेनापतिमें युद्ध-शास्त्रकी जितनी क़ाबिलियत चाहिए उतनी हरेक छोटे अमलेमें, तथा छोटे अमलेकी जितनी क़ाबिलियत सामान्य सिपाहियोंमें हो, ऐसी अपेक्षा कोई नहीं करेगा। उसी तरह गांधीजीकी अहिंसावृत्ति हरेक कार्यकर्त्ता अपनेमें पा न सके, अथवा कार्यकर्त्ताकी लियाकत साधारण जनतामें आना संभव न हो, तो इसमें घबरानेकी कोई बात नहीं। उससे उल्टी स्थितिकी अपेक्षा करना ही ग़लत होगा। ज़रूरत तो यह खोजनेकी है कि अहिंसाकी कम से-कम तालीम कितनी और किस तरहकी होनी चाहिए? उससे अधिक लियाक़त रखनेवाला मनुष्य एक छोटा नेता, या गांधी, या सवाई गांधी, भी बन सकता है। वैसी सदभिलाषा व्यक्तियोंके दिलमें भले ही हो, लेकिन जो उस तक नहीं पहुँच सकता उसे निराश होनेकी ज़रूरत नहीं। उसके लिए परीक्षाकी कम-से-कम लियाक़त हासिल करनेका ही ध्येय रखना काफ़ी है।

(२) प्रश्न—जिसे क्रोध आता हो, जो गुस्सेमें

कभी बच्चोंको पीट भी देता हो, जिसकी किसीके साथ बोलचाल भी हो जाती हो, ऐसा शख्स क्या यह कह सकता है कि उसकी अहिंसाधर्ममें श्रद्धा है ?

उत्तर—हम इस वक्त जिस प्रकारकी और जिस क्षेत्रकी अहिंसाका विचार कर रहे हैं उसमें "गुस्सेके मानीमें क्रोध" और "द्वेष, वैर, ज़हरके मानीमें क्रोध" का भेद समझना ज़रूरी है। माँ-बाप, शिक्षक आदि कभी-कभी बच्चों पर गुस्सा करते हैं और सज़ा भी देते हैं। रास्ते पर, पानीके नल या कुएँ पर कभी-कभी स्त्रियोंमें बोलचाल हो जाती है। पड़ोसियोंमें एकका कचरा दूसरेके घरमें उड़ने जैसी छोटी-सी बात पर भी झगड़ा हो जाता है। बुढ़ापे या बीमारीमें अनेक लोग बदमिज़ाज हो जाते हैं और छोटी छोटी बातोंमें चिढ़ते हैं। यह सब क्रोध ही है और दुर्गुण भी, इतने परसे हम इन लोगोंको द्वेषी, ज़हरीले, या वैरवृत्तिवाले नहीं कहेंगे। उलटे, कई बार यह भी पाया जायगा कि खुले दिलके और सरल स्वभावके लोगोंमें ही इस प्रकारका क्रोध ज़्यादा होता है और कपटी आदमी ज़्यादा संयम बताते हैं। इसप्रकारका गुस्सा जिसके प्रति प्रेम और मित्रभाव हो, उसपर भी होता है। बल्कि उसी पर ज़्यादा जल्दी होता है; पराये आदमी पर कम होता है। यह स्वभाव, शिक्षा, संस्कार वग़ैरहकी कमीका परिणाम है; लेकिन द्वेषवृत्तिका नहीं। अहिंसा-धर्ममें प्रगति करने उसके एक आदरपात्र सेवक और अगुआ बननेके लिए यह त्रुटि ज़रूर दूर होनी चाहिये। ऐसा नहीं कि ऐसी त्रुटि होनेके कारण कोई आदमी अहिंसाधर्मका सिपाही भी नहीं हो सकता। अहिंसाके लिए जो वस्तु महत्वकी है वह है अद्वेष या अवैर-वृत्ति। जब किसीने कुछ नुक़सान या अपमान किया हो तब उसका बदला किस तरह लें, उसे नुक़सान किस तरह पहुँचायें, वग़ैरह विचार जिसके मनमें आते रहते हैं और जो उस बात को भूल ही नहीं सकता; बल्कि बदला लेनेके मौक़े ही ढूँढता है, और उस आदमीका कुछ अनिष्ट हो तब खुश होता है, उसके दिलमें हिंसा, द्वेष या वैरकी वृत्ति है। क्रोध भी आये शोक भी हो, फिर भी, अगर मनमें ऐसे भाव न उठ सकें तो वह अहिंसा है। नुक़सान करने वालेका बुरा न चाहनेकी शुभवृत्ति जिसके दिलमें है वह प्रसंगवशात् क्रोधवश होता हो, तो भी वह अहिंसाधर्मका उम्मीदवार हो सकता है। यह एक दूसरी बात है कि जितनी हदतक वह अपने गुस्सेको रोकना सीखेगा उतना ही वह अहिंसामें ज़्यादा शक्ति हासिल करेगा। तात्विक दृष्टिसे कह सकते हैं कि इस 'चिढ़के क्रोध' और 'वैर के क्रोध' में सिर्फ़ मात्राका ही भेद है। फिर भी यह भेद उतना ही बड़ा और महत्व का है जितना कि नहानेका गरम पानी और उबलते हुए गरम पानीका है।

(३) प्रश्न—बहस या भाषणोंमें प्रतिपक्षीका मज़ाक उड़ाने, वाग्बाण चलाने या तिरस्कारकी भाषा इस्तेमाल करनेमें जो अहिंसा का भंग होता है वह किस हद तक निर्दोष माना जाये ?

उत्तर—मान लीजिए कि हिंसाका सादा अर्थ है घात करना। जो प्रहार दूसरेको घावके जैसा मालूम होता है, वह हिंसा है; फिर वह हाथ-पैर या शस्त्रसे किया हो, शब्दसे किया हो, याकि दिलसे छिपी हुई बद्दुआ ही हो। स्थूल घाव जब सीधी छुरीका होता है तो कम ईज़ा देता है। टेढ़ी बरछीका हो तो बदनका ज़्यादा ज़्यादा हिस्सा चीर डालता है। नकलीकी तरह नुकीला शस्त्र हो तो उसका घाव और भी ज़्यादा खतरनाक होता है। उसी तरह शब्दोंका घाव सीधा हो तो जितनी ईज़ा देता है, उससे बाह्य दृष्टिसे विनोदात्मक

लेकिन तिरस्कार और वक्रतायुक्त शब्द ज्यादा चोट पहुँचाता है। जो प्रतिपक्षीके नाजुक भागको जख्म पहुँचाता है, वह घाव ही है। और यह तो हम जान सकते हैं कि हमारा शब्द किसी आदमीको महज़ विनोद मालूम होगा या प्रहार। इसलिए अहिंसामें ऐसे प्रहार करना अयोग्य है।

(४) प्रश्न—अहिंसामें अपनी व्यक्तिगत अथवा संस्थाकी रक्षा, अथवा न्यायके लिए पुलिस या कचहरीकी मदद ली जा सकती है या नहीं? चोर, डाकू या गुंडोंके हमलेका सामना बलसे कर सकते हैं या नहीं अहिंसावादी स्त्री अपनी इज्ज़त पर आक्रमण करने वाले पर प्रहार कर सकती है या नहीं?

उत्तर—यहां पर सामान्य जनता और प्रयत्नपूर्वक अहिंसा की उपासना करने वालेमें कुछ भेद करना चाहिए। जो अपेक्षा एक विचारक अहिंसक कार्यकर्त्ता से रखी जाती है वह सामान्य जनतासे नहीं रखी जाती मतलब, सामान्य जनताके लिए अहिंसाकी मर्यादा कुछ मोटी होनी अनिवार्य है। इसलिए अगर हम इतना ही विचार करें कि सामान्य जनताके लिए अहिंसा धर्मका कब और कितना पालन ज़रूरी समझना चाहिए तो काफी होगा। समझदार व्यक्ति अपनी २ शक्ति के मुताबिक इससे आगे बढ़ सकते हैं।

इस दृष्टिसे, अहिंसाके विकासके मानी हैं जंगलके क़ानूनमें से सभ्यता अथवा क़ानूनी व्यवस्थाकी ओर प्रयाण। अगर हरेक आदमी अपने भयदाता या अन्याय कर्त्ताके सामने हमेशा बन्दूक उठाकर या अपने आदमियोंको इकट्ठा करके ही खड़ा होता रहे तो वह जंगलका क़ायदा कहा जायगा। इसलिए जहाँ पुलिस या कचहरीका आश्रय लेनेके लिए भरपूर समय या अनुकूलता हो, वहाँ जो शख्स अहिंसाकी उच्च मर्यादाका पालन नहीं कर सकता, वह उनका आश्रय ले तो समाजके लिए आवश्यक अहिंसाकी मर्यादाका पालन हुआ माना जायगा। जहाँ वैसा आश्रय लेनेकी गुंजाइश न हो (जैसे कि, जब चोर या हमला करनेवाला प्रत्यक्ष सामने आया हो) वहाँ वह अपनी आत्म-रक्षाके लिए और गुनहगारको पुलिसके हवाले करनेकी गर्ज़से उसे अपने वशमें लानेके लिए, जितना आवश्यक हो उतने ही बलका उपयोग करे तो उसमें होने वाली हिंसा क्षम्य मानी जायगी। मगर, बात यह है कि आम तौर पर लोग उतने ही बलका प्रयोग करके रुकते नहीं। कब्जेमें आये हुए गुनहगारको बुरी बुरी गालियाँ देते और इतनी बुरी तरह पीटते हैं कि बाज दफा वह अधमरा हो जाता है। यह हिंसा अक्षम्य है; यह हैवानियत है। समाजको ऐसे वर्तावसे परहेज रखनेकी तालीम देना ज़रूरी है। अहिंसा पसन्द समाजके लिए यह समझ लेना ज़रूरी है कि हरेक गुनहगारको एक प्रकारका रोगी ही मानना चाहिए। जिस तरह तलवार लेकर दौड़ते हुए किसी पागलको या सन्निपातमें उद्दंडता करने वाले किसी रोगीको जबरदस्ती करके भी वशमें लाना पड़ता है, उसी तरह चोर, लुटेरे या अत्याचारीको पकड़ तो लेना होगा, लेकिन पागल या सन्निपात वाले मरीजको वशमें करनेके बाद हम उसे पीटते नहीं रहते। उलटे, उसको रहमकी दृष्टिसे देखते हैं। यही दृष्टि दूसरे गुनहगारोंके प्रति भी होनी चाहिए। उसे हम पुलिसको सौंपते हैं इसकी मानी ये हैं कि वैसे रोगियोंका इलाज करनेवाली संस्थाके हाथ हम उसे दे देते हैं।

(हरिजन-सेवकसे)

ऊँच-नीच-गोत्र विषयक चर्चा

[लेखक—श्री० बालमुकुन्द पाटोदी जैन 'जिज्ञासु']

[इस लेखके लेखक पं० बालमुकुन्दजी किशनगंज रियासत कोटाके निवासी हैं। यद्यपि आप कोई प्रसिद्ध लेखक नहीं हैं परन्तु आपके इस लेख तथा इसके साथ भेजे हुए पत्र परसे यह साफ़ मालूम होता है कि आप बड़ी ही विनम्र प्रकृतिके लेखक तथा विचारक हैं, और अच्छे अध्ययनशील तथा लिखनेमें चतुर जान पड़ते हैं। अपने उपनामके अनुसार आप सचमुच ही जिज्ञासु हैं. इसीलिये आपने अपने पत्रमें लिखा है—"आपका अनेकान्तपत्र बहुत ऊँची श्रेणीका है और बड़े-बड़े उच्चकोटिके विद्वानोंसे सेवित है। यदि मुझ बालक (ज्ञानहीन) का यह चर्चारूप प्रश्नात्मक लेख अनेकान्तपत्रमें छापना उचित हो तो कृपया छाप दीजियेगा और नहीं तो यदि आपको अपने परोपकारस्वरूप शुभ कार्योंमें अवकाश मिले तो कृपया किसी प्रकार उत्तर लिखकर मेरा समाधान करके मेरी ज्ञानवृद्धि में सहायक तो होना चाहिये।" साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि "मैंने आजतक किसी भी जैनपत्रमें इच्छा रहने पर भी कई कारणोंके वशवर्ती होकर कुछ भी लेख नहीं लिखा है।" और इसके बाद अपनी कुछ त्रुटियोंका—जो बहुत कुछ साधारण जान पड़ती हैं—उल्लेख करते हुए लिखा है—"इतना सब कुछ होने पर भी, केवल अपनी ज्ञानवृद्धिके लिये, मेरे हृदयमें लिखनेकी इच्छा अब कुछ विशेष हुई है। इसलिये प्रश्नात्मक चर्चारूप यह लेख जिज्ञासु भावनासे प्रेरित होकर लिखा जाता है।" और इससे आपका लेख लिखने-का यह पहला ही प्रयास जान पड़ता है, जिसमें आप बहुत कुछ सफल हुए हैं। इस तरहके न मालूम कितने अच्छे लेखक अपनी शक्तिको छिपाए और अपनी इच्छाको दबाए पड़े हुए हैं—उन्हें अपनी इच्छाको कार्यमें परि-णत करने और अपनी शक्तिको विकसित करनेका अवसर ही नहीं मिल रहा है, यह निःसन्देह खेदका विषय है। मैं चाहता हूँ ऐसे लेखक संकोच छोड़कर आगे आएँ और लेखनकलामें प्रगति करके विचार क्षेत्रको उन्नत बनाएँ। अनेकान्त ऐसे लेखकोंका हृदयसे अभिनन्दन करने और उन्हें अपनी शक्तिभर यथेष्ट सहयोग प्रदान करनेके लिये उद्यत है।

लेखक महोदयकी जिज्ञासा तृप्तिके लिये मैंने लेखमें कहीं-कहीं कुछ समाधानात्मक फुट नोट्स लगा दिये हैं, उनसे पाठकोंको भी विषयको ठीक रूपसे समझनेमें आसानी होगी। विशेष समाधान श्रद्धेय बाबू सूरजभान-जी करेंगे, ऐसी आशा है, जिनके लेखको लक्ष्य करके ही यह प्रश्नात्मक लेख लिखा गया है और जिनसे समाधान मांगा गया है।

—सम्पादक]

अनेकान्तकी द्वितीय वर्षकी प्रथम किरणमें एक लेख 'गोत्रकर्माश्रित-ऊँच-नीचता' शीर्षक प्रकाशित हुआ है, जो कि वयोवृद्ध पूज्य बाबू सूरजभानजी साहब वकीलका लिखा हुआ है। लेख वास्तवमें पदार्थके अंत-स्तलमें प्रविष्ट होकर लिखा गया है, उसकी गंभीरता, गहरी छानबीन, उसका ज्ञानाविष्य, अनुभव पूर्णता आदि गुण देखते ही बनते हैं। मुझ जैसे बेपढ़े मनुष्य की शक्ति नहीं कि उसकी विशेषताओंका वर्णन कर सके।

लेखमें गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी १३वीं गाथा देकर ऊँच और नीच गोत्रके स्वरूपका वर्णन किया है अर्थात् बतलाया है कि कुलकी परिपाटीके क्रमसे चले आये

लेकिन तिरस्कार और वक्रतायुक्त शब्द ज्यादा चोट पहुँचाता है। जो प्रतिपक्षीके नाजुक भागको जख्म पहुँचाता है, वह घाव ही है। और यह तो हम जान सकते हैं कि हमारा शब्द किसी आदमीको महज़ विनोद मालूम होगा या प्रहार। इसलिए अहिंसामें ऐसे प्रहार करना अयोग्य है।

(४) **प्रश्न**—अहिंसामें अपनी व्यक्तिगत अथवा संस्थाकी रक्षा, अथवा न्यायके लिए पुलिस या कचहरीकी मदद ली जा सकती है या नहीं? चोर, डाकू या गुंडोंके हमलेका सामना बलसे कर सकते हैं या नहीं अहिंसावादी स्त्री अपनी इज्ज़त पर आक्रमण करने वाले पर प्रहार कर सकती है या नहीं?

उत्तर—यहां पर सामान्य जनता और प्रयत्नपूर्वक अहिंसा की उपासना करने वालेमें कुछ भेद करना चाहिए। जो अपेक्षा एक विचारक अहिंसक कार्यकर्त्ता से रखी जाती है वह सामान्य जनतासे नहीं रखी जाती मतलब, सामान्य जनताके लिए अहिंसाकी मर्यादा कुछ मोटी होनी अनिवार्य है। इसलिए अगर हम इतना ही विचार करें कि सामान्य जनताके लिए अहिंसा धर्मका कम और कितना पालन ज़रूरी समझना चाहिए तो काफी होगा। समझदार व्यक्ति अपनी २ शक्ति के मुताबिक इससे आगे बढ़ सकते है।

इस दृष्टिसे, अहिंसाके विकासके मानी हैं जंगलके क़ानूनमें से सभ्यता अथवा क़ानूनी व्यवस्थाकी ओर प्रयाण। अगर हरेक आदमी अपने भयदाता या अन्याय कर्त्ताके सामने हमेशा बन्दूक उठाकर या अपने आदमियोंको इकट्ठा करके ही खड़ा होता रहे तो वह जंगलका क़ायदा कहा जायगा। इसलिए जहां पुलिस या कचहरीका आश्रय लेनेके लिए भरपूर समय या अनुकूलता हो, वहाँ जो शख्स अहिंसाकी उच्च मर्यादाका पालन नहीं कर सकता, वह उनका आश्रय ले तो समाजके लिए आवश्यक अहिंसाकी मर्यादाका पालन हुआ माना जायगा। जहाँ वैसा आश्रय लेनेकी गुंजाइश न हो (जैसे कि, जब चोर या हमला करनेवाला प्रत्यक्ष सामने आया हो) वहाँ वह अपनी आत्म-रक्षाके लिए और गुनहगारको पुलिसके हवाले करनेकी गर्ज़से उसे अपने वशमें लानेके लिए, जितना आवश्यक हो उतने ही बलका उपयोग करे तो उसमें होने वाली हिंसा क्षम्य मानी जायगी। मगर, बात यह है कि आम तौर पर लोग उतने ही बलका प्रयोग करके रुकते नहीं। कब्ज़ेमें आये हुए गुनहगारको बुरी बुरी गालियाँ देते और इतनी बुरी तरह पीटते हैं कि बाज दफा वह अधमरा हो जाता है। यह हिंसा अक्षम्य है; यह हैवानियत है। समाजको ऐसे बर्तावसे परहेज़ रखनेकी तालीम देना ज़रूरी है। अहिंसा पसन्द समाजके लिए यह समझ लेना ज़रूरी है कि हरेक गुनहगारको एक प्रकारका रोगी ही मानना चाहिए। जिस तरह तलवार लेकर दौड़ते हुए किसी पागलको या सन्निपातमें उद्दडता करने वाले किसी रोगीको जबरदस्ती करके भी वशमें लाना पड़ता है, उसी तरह चोर, लुटेरे या अत्याचारीको पकड़ तो लेना होगा, लेकिन पागल या सन्निपात वाले मरीजको वशमें करनेके बाद हम उसे पीटते नहीं रहते। उलटे, उसको रहमकी दृष्टिसे देखते हैं। यही दृष्टि दूसरे गुनहगारोंके प्रति भी होनी चाहिए। उसे हम पुलिसको सौंपते हैं इसकी मानी ये हैं कि वैसे रोगियोंका इलाज करनेवाली संस्थाके हाथ हम उसे दे देते हैं।

(हरिजन-सेवकसे)

ऊँच-नीच-गोत्र विषयक चर्चा

[लेखक—श्री० बालमुकुन्द पाटोदी जैन 'जिज्ञासु']

[इस लेखके लेखक पं० बालमुकुन्दजी किशनगंज रियासत कोटाके निवासी हैं। यद्यपि आप कोई प्रसिद्ध लेखक नहीं हैं परन्तु आपके इस लेख तथा इसके साथ भेजे हुए पत्र परसे यह साफ़ मालूम होता है कि आप बड़ी ही विनम्र प्रकृतिके लेखक तथा विचारक हैं, और अच्छे अध्ययनशील तथा लिखनेमें चतुर जान पड़ते हैं। अपने उपनामके अनुसार आप सचमुच ही जिज्ञासु हैं. इसीलिये आपने अपने पत्रमें लिखा है—"आपका अनेकान्तपत्र बहुत ऊँची श्रेणीका है और बड़े-बड़े उच्चकोटिके विद्वानोंसे सेवित है। यदि मुझ बालक (ज्ञानहीन) का यह चर्चारूप प्रश्नात्मक लेख अनेकान्तपत्रमें छापना उचित हो तो कृपया छाप दीजियेगा और नहीं तो यदि आपको अपने परोपकारस्वरूप शुभ कार्योंमे अवकाश मिले तो कृपया किसी प्रकार उत्तर लिखकर मेरा समाधान करके मेरी ज्ञानवृद्धि में सहायक तो होना चाहिये।" साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि "मैंने आजतक किसी भी जैनपत्रमें इच्छा रहने पर भी कई कारणोंके वशवर्ती होकर कुछ भी लेख नहीं लिखा है।" और इसके बाद अपनी कुछ त्रुटियोंका—जो बहुत कुछ साधारण जान पड़ती हैं—उल्लेख करते हुए लिखा है—"इतना सब कुछ होने पर भी, केवल अपनी ज्ञानवृद्धिके लिये, मेरे हृदयमें लिखनेकी इच्छा अब कुछ विशेष हुई है। इसलिये प्रश्नात्मक चर्चारूप यह लेख जिज्ञासु भावनासे प्रेरित होकर लिखा जाता है।" और इससे आपका लेख लिखने-का यह पहला ही प्रयास जान पड़ता है, जिसमें आप बहुत कुछ सफल हुए हैं। इस तरहके न मालूम कितने अच्छे लेखक अपनी शक्तिको छिपाए और अपनी इच्छाको दबाए पड़े हुए हैं—उन्हें अपनी इच्छाको कार्यमें परि-णत करने और अपनी शक्तिको विकसित करनेका अवसर ही नहीं मिल रहा है, यह निःसन्देह खेदका विषय है। मैं चाहता हूँ ऐसे लेखक संकोच छोड़कर आगे आएँ और लेखनकलामें प्रगति करके विचार क्षेत्रको उन्नत बनाएँ। अनेकान्त ऐसे लेखकोंका हृदयसे अभिनन्दन करने और उन्हें अपनी शक्तिभर यथेष्ट सहयोग प्रदान करनेके लिये उद्यत है।

लेखक महोदयकी जिज्ञासा तृप्तिके लिये मैंने लेखमें कहीं-कहीं कुछ समाधानात्मक फुट नोट्स लगा दिये हैं, उनसे पाठकोंको भी विषयको ठीक रूपसे समझनेमें आसानी होगी। विशेष समाधान श्रद्धेय बाबू सूरजभान-जी करेंगे, ऐसी आशा है, जिनके लेखको लक्ष्य करके ही यह प्रश्नात्मक लेख लिखा गया है और जिनसे समाधान मांगा गया है।

—सम्पादक]

अनेकान्तकी द्वितीय वर्षकी प्रथम किरणमें एक लेख 'गोत्रकर्माश्रित-ऊँच-नीचता' शीर्षक प्रकाशित हुआ है, जो कि वयोवृद्ध पूज्य बाबू सूरजभानजी साहब वकीलका लिखा हुआ है। लेख वास्तवमें पदार्थके अंत-स्तलमें प्रविष्ट होकर लिखा गया है, उसकी गंभीरता, गहरी छानबीन. उसका आशाविष्य, अनुभव पूर्णता आदि गुण देखते ही बनते हैं। मुझ जैसे बेपढ़े मनुष्य की शक्ति नहीं कि उसकी विशेषताओंका वर्णन कर सके।

लेखमें गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी १३वीं गाथा देकर ऊँच और नीच गोत्रके स्वरूपका वर्णन किया है अर्थात् बतलाया है कि कुलकी परिपाटीके क्रमसे चले आये

जीवके ऊँचे आचरणको 'ऊँच गोत्र' और नीचे आचरणको 'नीच गोत्र' कहते हैं। ऊँचगोत्र-सूचक ऊँचे आचरणको सम्यक् चारित्र, धर्माचरण आदि न मानकर व्यवहार योग्य कुलाचरण, नागरिकका आचरण या सभ्य मनुष्यका आचरण आदि माना है। और नीचगोत्र-सूचक नीचे आचरणको मिथ्याचारित्र, अधर्माचरण आदि न मानकर खोटा लौकिक आचरण, लोकव्यवहारके अयोग्य ठग डकैतोंका निंद्य आचरण या असभ्य मनुष्योंका आचरण आदि माना है। और ऐसा मानकर सम्यक् चारित्र, धर्माचरण और व्यवहार-योग्य कुलाचरण या सभ्य मनुष्यके आचरणमें तथा मिथ्याचारित्र, अधर्माचरण और ठग-डकैतोंके निंद्याचरण या असभ्य मनुष्यके आचरणमें भेद व्यक्त किया है। और इस तरह पर ऊँचे आचरणका अर्थ व्यवहार-योग्य कुलाचरण और नीचे आचरणका अर्थ ठग-डकैतोंका निंद्य कुलाचरण लगाया है। अर्थात् उपर्युक्त अभिप्राय निकाला है।

परन्तु यदि देखा जावे तो संसारमें दो ही प्रकारके आचरण दृष्टिगोचर होते हैं—एक संयमाचरण और दूसरा असंयमाचरण। लोकव्यवहार-योग्य सभ्य कुलके मनुष्यके आचरणको संयमाचरण अर्थात् ऊँचा आचरण कहते हैं और लोकव्यवहारके अयोग्य असभ्यकुलके ठग-डकैतोंके निंद्य आचरणको असंयमाचरण अर्थात् नीचा आचरण कहते हैं। जैसे माता पितादि गुरुजनोंकी सेवा करना, रोगियोंको औषधि आदि देना, असमर्थदीनोंकी कई प्रकारसे सहायता करना, किसीकी धरोहर उसे वैसीकी वैसी वापस देना, ऋण लेकर पूरा चुकाना, ठीक पूरे तौलसे देना तथा वैसे ही पूरा लेना, झूठ नहीं बोलना, झूठी साक्षी नहीं देना, किसीको वचन देकर निभाना, दूसरेकी स्त्रीको माता-बहिन या बेटी समझना, अपनी स्त्रीसे संतुष्ट रहना. वेश्यागमन-परस्त्री गमन न करना, अति लोभ न करना, दूसरेका हक़ (स्वत्व) न दबा बैठना, ऋणीकी शक्तिसे अधिक ब्याज न लेना, अति तृष्णा न करना, अपनेसे न सँभल सके ऐसे व्यापारादिको न बढ़ाना आदि सहस्रों प्रकारके ऊँच गोत्र सूचक व्यवहारयोग्य सभ्य कुलके ऊँचे आचरण हैं। और गर्वोन्मत्त होकर निरपराधोंको मार डालना—काट डालना उन्हें सताना, अनेक प्रकारके कष्ट देना उनका चित्त दुखाना, गुरुजनोंका अपमान तिरस्कार करना, दूसरेकी धरोहर हड़प जाना, ऋण लेकर नहीं देना, अधिक तौलकर लेना तथा कम तौल कर देना, चोरी करना, डाका डालना, किसीका धन ठग लेना, झूठ बोलना, झूठी साक्षी देना, दूसरेसे विश्वासघात करना, वचन देकर नट जाना, ऐसी बात कहना जिससे दूसरा संकटमें पड़ जाय, पुत्र-भाई-नातेदार पड़ोसी मित्र आदिकी स्त्रियोंसे बलात्कार व्यभिचार करना, परस्त्री-विधवा दासी वेश्यादिको घरमें डाल लेना या उनसे छिपकर अथवा प्रकट रूपमें व्यभिचार करना, अति तृष्णा व अति लोभ करना, दूसरेके धनको-रहनेके स्थानको हड़प जाना, अधिक ब्याज लेना, अपनेसे न सँभल सके इतने व्यापार यन्त्रालयादिको बढ़ाते जाना आदि सहस्रों प्रकारके नीच गोत्र सूचक व्यवहारके अयोग्य असभ्य ठग डकैतोंके निंद्य कुलके नीचे आचरण हैं। व्यवहारयोग्य सभ्य कुलके मनुष्योंमें कम त्याग व कम संयम होता है और व्रती श्रावक व मुनियोंमें अधिक त्याग व अधिक संयम या पूर्ण संयम होता है, और इसी तरह पर ठग-डकैतोंके असभ्य कुलवालोंमें अधिक असंयम व पूर्ण असंयम होता है। और इस तरह पर व्यवहार योग्य सभ्य कुलाचरण व धर्माचरण एक ही बात है तथा असभ्य कुलाचरण व असंयमा-

चरण भी एक ही बात है।

अब मैं यहाँ प्रश्न करता हूँ कि ऊँच गोत्र सूचक ऊँचे आचरणका अर्थ व्यवहारयोग्य सभ्य कुलाचरण व संयम धर्माचरण दोनों ही प्रकारका आचरण किया जावे तथा नीच गोत्र-सूचक नीचे आचरणका अर्थ ठग-डकैतोंके असभ्य कुलका आचरण व असंयमाचरण दोनों ही प्रकारका आचरण किया जावे और व्यवहार-योग्य सभ्य कुलाचरण तथा धर्माचरणमें और ठग-डकैतोंके असभ्य कुलाचरणमें और असंयमाचरणमें भेद व्यक्त न किया जावे तो क्या हानि है?

आगे चलकर श्रीपूज्यपादस्वामीकृत सर्वार्थसिद्धिमें वर्णित ऊँचगोत्र और नीचगोत्रका स्वरूप यह बतलाया है कि 'लोक पूजित कुलोंमें जन्म होनेको ऊँच गोत्र व गर्हित कुलोंमे जन्म होनेको नीचगोत्र कहते हैं।'

यहाँ पर लोकपूजित कुल व गर्हित कुलका स्वरूप विचारना चाहिये। जो कुल अपने हिंसा झूठ-चोरी आदि पापोंके त्यागरूप अहिंसा सत्य-शील-संयम दान आदि धर्माचरणोंके धारणरूप आचरणोंके कारण पूज्य हैं—सम्मानित हैं—प्रतिष्ठा प्राप्त हैं वे ही कुल लोक-पूजित कुल माने जाने चाहियें—राज्य-धन सैन्य बल आदिके कारण पूजित कुल लोक पूजित नहीं माने जाने चाहियें। जो कुल हिंसा झूठ-चोरी आदि पापाचरणोंके कारण गर्हित हैं वे गर्हित कुल माने जाने चाहियें। और इस तरह पर धर्माचरणोंके कारण लोकोंद्वारा पूजित कुलमें जन्म लेनेवालेको 'ऊँचगोत्री' व पापाचरणोंसे गर्हित कुलमें जन्म लेनेवालेको नीच-गोत्री मानना चाहिये, और ऐसा माननेसे गोम्मटसारकी १३ वीं गाथामें वर्णित ऊँच-नीच-गोत्रके स्वरूपमें और श्रीपूज्यपादस्वामीरचित सर्वार्थसिद्धिमें वर्णित ऊँच-नीच-गोत्रके स्वरूपमें कोई विरोध प्रतिभासित नहीं होगा। क्या मेरा यह कहना ठीक है? अथवा उक्त प्रकारसे मानने पर जैनसिद्धान्तसे क्या कोई विरोध नहीं आएगा।

आगे लिखा है कि सब ही देव (कल्पवासी आदि धर्मात्मा व भवनवासी आदि पापाचारी देव) और भोग भूमियाँ जीव—चाहे वे सम्यक्दृष्टि हों या मिथ्या-दृष्टि—जो अणु मात्र भी चारित्र ग्रहण नहीं कर सकते वे तो उच्च गोत्री हैं और देशचारित्र धारण कर सकने वाले पंचम गुणस्थानी संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच नीच गोत्री ही हैं।'

श्री वीर भगवान्ने अपने शासनमें विरोध रूप शत्रुको नष्ट करनेके लिये अनेकान्त अथवा अपेक्षावाद या स्याद्वाद जैसे गंभीर सिद्धान्त-अमोघास्त्रका निर्माण किया है, फिर जहाँ हमें कुछ विरोध प्रतिभासित हो वहाँ हम अनेकान्तसे विरोधका क्यों न समन्वय कर लें क्यों न अपेक्षावादका उपयोग करें? और वह समन्वय इस प्रकारसे कर लिया जावे तो क्या कोई जैन-सिद्धान्तसे विरोध आवेगा?—

कल्पवासी देवों और भवनत्रिक देवोंमें जो उच्च-गोत्रका उदय बतलाया है वह उनके शक्तिशालीपनेकी अपेक्षा व विशिष्ट पुण्योदयकी अपेक्षासे है और वह भी केवल मनुष्योंके माननेके लिये है अर्थात् मनुष्य ऐसा मानें कि देव हमसे ऊँचे हैं, ऐसा मानना चाहिये। और इसी प्रकार तिर्यंचोंमें जो नीच गोत्रका उदय बतलाया है वह उनके पशुपने व विशिष्ट पापोदयकी अपेक्षासे है, और वह भी केवल मनुष्योंके माननेकी अपेक्षासे है अर्थात् मनुष्य ऐसा मानें कि तिर्यंच हमसे नीचे हैं, ऐसा मानना चाहिये। इसी तरह नारकियोंमें भी जो नीच गोत्रका उदय बतलाया है वह भी उनके

जीवके ऊँचे आचरणको 'ऊँच गोत्र' और नीचे आचरणको 'नीच गोत्र' कहते हैं। ऊँचगोत्र-सूचक ऊँचे आचरणको सम्यक् चारित्र, धर्माचरण आदि न मानकर व्यवहार योग्य कुलाचरण, नागरिकका आचरण या सभ्य मनुष्यका आचरण आदि माना है। और नीचगोत्र-सूचक नीचे आचरणको मिथ्याचारित्र, अधर्माचरण आदि न मानकर खोटा लौकिक आचरण, लोकव्यवहारके अयोग्य ठग डकैतोंका निंद्य आचरण या असभ्य मनुष्योंका आचरण आदि माना है। और ऐसा मानकर सम्यक् चारित्र, धर्माचरण और व्यवहार-योग्य कुलाचारण या सभ्य मनुष्यके आचरणमें तथा मिथ्याचारित्र, अधर्माचरण और ठग-डकैतोंके निंद्या चरण या असभ्य मनुष्यके आचरणमें भेद व्यक्त किया है। और इस तरह पर ऊँचे आचरणका अर्थ व्यवहार-योग्य कुलाचरण और नीचे आचरणका अर्थ ठग-डकैतोंका निंद्य कुलाचरण लगाया है। अर्थात् उपर्युक्त अभिप्राय निकाला है।

परन्तु यदि देखा जावे तो संसारमें दो ही प्रकारके आचरण दृष्टिगोचर होते हैं—एक संयमाचरण और दूसरा असंयमाचरण। लोकव्यवहार-योग्य सभ्य कुलके मनुष्यके आचरणको संयमाचरण अर्थात् ऊँचा आचरण कहते हैं और लोकव्यवहारके अयोग्य असभ्यकुलके ठग-डकैतोंके निंद्य आचरणको असंयमाचरण अर्थात् नीचा आचरण कहते हैं। जैसे माता पितादि गुरुजनोंकी सेवा करना, रोगियोंको औषधि आदि देना, असमर्थदीनोंकी कई प्रकारसे सहायता करना, किसीकी धरोहर उसे वैसीकी वैसी वापस देना, ऋण लेकर पूरा चुकाना, ठीक पूरे तौलसे देना तथा वैसे ही पूरा लेना, झूठ नहीं बोलना, झूठी साक्षी नहीं देना, किसीको वचन देकर निभाना, दूसरेकी स्त्रीको माता-बहिन या बेटी समझना, अपनी स्त्रीसे संतुष्ट रहना, वेश्यागमन-परस्त्री गमन न करना, अति लोभ न करना, दूसरेका हक़ (स्वत्व) न दबा बैठना, ऋणीकी शक्तिसे अधिक व्याज न लेना, अति तृष्णा न करना, अपनेसे न सँभल सके ऐसे व्यापारादिको न बढ़ाना आदि सहस्रों प्रकारके ऊँच गोत्र सूचक व्यवहारयोग्य सभ्य कुलके ऊँचे आचरण हैं। और गर्वोन्मत्त होकर निरपराधोंको मार डालना-काट डालना उन्हें सताना, अनेक प्रकारके कष्ट देना उनका चित्त दुखाना, गुरुजनोंका अपमान तिरस्कार करना, दूसरेकी धरोहर हड़प जाना, ऋण लेकर नहीं देना, अधिक तौलकर लेना तथा कम तौल कर देना, चोरी करना, डाका डालना, किसीका धन ठग लेना, झूठ बोलना, झूठी साक्षी देना, दूसरेसे विश्वासघात करना, वचन देकर नट जाना, ऐसी बात कहना जिससे दूसरा संकटमें पड़ जाय, पुत्र-भाई-नातेदार पड़ोसी मित्र आदिकी स्त्रियोंसे बलात्कार व्यभिचार करना, परस्त्री-विधवा दासी वेश्यादिको घरमें डाल लेना या उनसे छिपकर अथवा प्रकट रूपमें व्यभिचार करना, अति तृष्णा व अति लोभ करना, दूसरेके धनको-रहनेके स्थानको हड़प जाना, अधिक व्याज लेना, अपनेसे न सँभल सके इतने व्यापार यन्त्रालयादिको बढ़ाते जाना आदि सहस्रों प्रकारके नीच गोत्र सूचक व्यवहारके अयोग्य असभ्य ठग डकैतोंके निंद्य कुलके नीचे आचरण हैं। व्यवहारयोग्य सभ्य कुलके मनुष्योंमें कम त्याग व कम संयम होता है और व्रती श्रावक व मुनियोंमें अधिक त्याग व अधिक संयम वा पूर्ण संयम होता है, और इसी तरह पर ठग-डकैतोंके असभ्य कुलवालोंमें अधिक असंयम व पूर्ण असंयम होता है। और इस तरह पर व्यवहार योग्य सभ्य कुलाचरण व धर्माचरण एक ही बात है तथा असभ्य कुलाचरण व असंयमा-

चरण भी एक ही बात है।

अब मैं यहाँ प्रश्न करता हूँ कि ऊँच गोत्र सूचक ऊँचे आचरणका अर्थ व्यवहारयोग्य सभ्य कुलाचरण व संयम धर्माचरण दोनों ही प्रकारका आचरण किया जावे तथा नीच गोत्र सूचक नीचे आचरणका अर्थ ठग-डकैतोंके असभ्य कुलका आचरण व असंयमाचरण दोनों ही प्रकारका आचरण किया जावे और व्यवहार-योग्य सभ्य कुलाचरण तथा धर्माचरणमें और ठग-डकैतोंके असभ्य कुलाचरणमें और असंयमाचरणमें भेद व्यक्त न किया जावे तो क्या हानि है?

आगे चलकर श्रीपूज्यपादस्वामीकृत सर्वार्थसिद्धिमें वर्णित ऊँचगोत्र और नीचगोत्रका स्वरूप यह बतलाया है कि 'लोक पूजित कुलोंमें जन्म होनेको ऊँच गोत्र व गर्हित कुलोंमें जन्म होनेको नीचगोत्र कहते हैं।'

यहाँ पर लोकपूजित कुल व गर्हित कुलका स्वरूप विचारना चाहिये। जो कुल अपने हिंसा झूठ-चोरी आदि पापोंके त्यागरूप अहिंसा सत्य-शील-संयम दान आदि धर्माचरणोंके धारणरूप आचरणोंके कारण पूज्य हैं—सम्मानित हैं—प्रतिष्ठा प्राप्त हैं वे ही कुल लोक-पूजित कुल माने जाने चाहियें—राज्य-धन सैन्य बल आदिके कारण पूजित कुल लोक पूजित नहीं माने जाने चाहियें। जो कुल हिंसा झूठ-चोरी आदि पापाचरणोंके कारण गर्हित हैं वे गर्हित कुल माने जाने चाहियें। और इस तरह पर धर्माचरणोंके कारण लोकोंद्वारा पूजित कुलमें जन्म लेनेवालेको 'ऊँचगोत्री' व पापा-चरणोंसे गर्हित कुलमें जन्म लेनेवालेको नीच-गोत्री मानना चाहिये, और ऐसा माननेसे गोम्मटसारकी १३ वीं गाथामें वर्णित ऊँच-नीच-गोत्रके स्वरूपमें और श्रीपूज्यपादस्वामीरचित सर्वार्थसिद्धिमें वर्णित ऊँच-नीच-गोत्रके स्वरूपमें कोई विरोध प्रतिभासित नहीं होगा। क्या मेरा यह कहना ठीक है? अथवा उक्त प्रकारसे मानने पर जैनसिद्धान्तसे क्या कोई विरोध नहीं आएगा।

आगे लिखा है कि सब ही देव (कल्पवासी आदि धर्मात्मा व भवनवासी आदि पापाचारी देव) और भोग भूमियाँ जीव—चाहे वे सम्यग्दृष्टि हों या मिथ्या-दृष्टि—जो अणु मात्र भी चारित्र ग्रहण नहीं कर सकते वे तो उच्च गोत्री हैं और देशचारित्र धारण कर सकने वाले पंचम गुणस्थानी संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच नीच गोत्री ही हैं।'

श्री वीर भगवान्ने अपने शासनमें विरोध रूप शत्रुको नष्ट करनेके लिये अनेकान्त अथवा अपेक्षावाद वा स्याद्वाद जैसे गंभीर सिद्धान्त-अमोघास्त्रका निर्माण किया है, फिर जहाँ हमें कुछ विरोध प्रतिभासित हो वहाँ हम अनेकान्तसे विरोधका क्यों न समन्वय कर लें क्यों न अपेक्षावादका उपयोग करें? और वह समन्वय इस प्रकारसे कर लिया जावे तो क्या कोई जैन-सिद्धान्तसे विरोध आवेगा?—

कल्पवासी देवों और भवनत्रिक देवोंमें जो उच्च-गोत्रका उदय बतलाया है वह उनके शक्तिशालीपनेकी अपेक्षा व विशिष्ट पुण्योदयकी अपेक्षासे है और वह भी केवल मनुष्योंके माननेके लिये है अर्थात् मनुष्य ऐसा मानें कि देव हमसे ऊँचे हैं, ऐसा मानना चाहिये। और इसी प्रकार तिर्यंचोंमें जो नीच गोत्रका उदय बतलाया है वह उनके पशुपने व विशिष्ट पापोदयकी अपेक्षासे है, और वह भी केवल मनुष्योंके माननेकी अपेक्षासे है अर्थात् मनुष्य ऐसा मानें कि तिर्यंच हमसे नीचे हैं, ऐसा मानना चाहिये। इसी तरह नारकियोंमें भी जो नीच गोत्रका उदय बतलाया है वह भी उनके

जीवके ऊँचे आचरणको 'ऊँच गोत्र' और नीचे आचरणको 'नीच गोत्र' कहते हैं। ऊँचगोत्र-सूचक ऊँचे आचरणको सम्यक् चारित्र, धर्माचरण आदि न मानकर व्यवहार योग्य कुलाचरण, नागरिकका आचरण या सभ्य मनुष्यका आचरण आदि माना है। और नीचगोत्र-सूचक नीचे आचरणको मिथ्याचारित्र, अधर्माचरण आदि न मानकर खोटा लौकिक आचरण, लोकव्यवहारके अयोग्य ठग डकैतोंका निंद्य आचरण या असभ्य मनुष्योंका आचरण आदि माना है। और ऐसा मानकर सम्यक् चारित्र, धर्माचरण और व्यवहार-योग्य कुलाचारण या सभ्य मनुष्यके आचरणमें तथा मिथ्याचारित्र, अधर्माचरण और ठग-डकैतोंके निंद्या चरण या असभ्य मनुष्यके आचरणमें भेद व्यक्त किया है। और इस तरह पर ऊँचे आचरणका अर्थ व्यवहार-योग्य कुलाचरण और नीचे आचरणका अर्थ ठग-डकैतोंका निंद्य कुलाचरण लगाया है। अर्थात् उपर्युक्त अभिप्राय निकाला है।

परन्तु यदि देखा जावे तो संसारमें दो ही प्रकारके आचरण दृष्टिगोचर होते हैं—एक संयमाचरण और दूसरा असंयमाचरण। लोकव्यवहार-योग्य सभ्य कुलके मनुष्यके आचरणको संयमाचरण अर्थात् ऊँचा आचरण कहते हैं और लोकव्यवहारके अयोग्य असभ्यकुलके ठग-डकैतोंके निंद्य आचरणको असंयमाचरण अर्थात् नीचा आचरण कहते हैं। जैसे माता पितादि गुरुजनोंकी सेवा करना, रोगियोंको औषधि आदि देना, असमर्थदीनोंकी कई प्रकारसे सहायता करना, किसीकी धरोहर उसे वैसीकी वैसी वापस देना, ऋण लेकर पूरा चुकाना, ठीक पूरे तौलसे देना तथा वैसे ही पूरा लेना, झूठ नहीं बोलना, झूठी साक्षी नहीं देना, किसीको वचन देकर निभाना, दूसरेकी स्त्रीको माता बहिन या बेटी समझना, अपनी स्त्रीसे संतुष्ट रहना, वेश्यागमन-परस्त्री गमन न करना, अति लोभ न करना, दूसरेका हक़ (स्वत्व) न दबा बैठना, ऋणीकी शक्तिसे अधिक व्याज न लेना, अति तृष्णा न करना, अपनेसे न सँभल सके ऐसे व्यापारादिको न बढ़ाना आदि सहस्रों प्रकारके ऊँच गोत्र सूचक व्यवहारयोग्य सभ्य कुलके ऊँचे आचरण हैं। और गर्वोन्मत्त होकर निरपराधोंको मार डालना—काट डालना उन्हें सताना, अनेक प्रकारके कष्ट देना उनका चित्त दुखाना, गुरुजनोंका अपमान तिरस्कार करना, दूसरेकी धरोहर हड़प जाना, ऋण लेकर नहीं देना, अधिक तौलकर लेना तथा कम तौल कर देना, चोरी करना, डाका डालना, किसीका धन ठग लेना, झूठ बोलना, झूठी साक्षी देना, दूसरेसे विश्वासघात करना, बचन देकर नट जाना, ऐसी बात कहना जिससे दूसरा संकटमें पड़ जाय, पुत्र-भाई-नातेदार पड़ोसी मित्र आदिकी स्त्रियोंसे बलात्कार व्यभिचार करना, परस्त्री-विधवा दासी वेश्यादिको घरमें डाल लेना या उनसे छिपकर अथवा प्रकट रूपमें व्यभिचार करना, अति तृष्णा व अति लोभ करना, दूसरेके धनको-रहनेके स्थानको हड़प जाना, अधिक व्याज लेना, अपनेसे न सँभल सके इतने व्यापार यन्त्रालयादिको बढ़ाते जाना आदि सहस्रों प्रकारके नीच गोत्र सूचक व्यवहारके अयोग्य असभ्य ठग डकैतोंके निंद्य कुलके नीचे आचरण हैं। व्यवहारयोग्य सभ्य कुलके मनुष्योंमें कम त्याग व कम संयम होता है और व्रती श्रावक व मुनियोंमें अधिक त्याग व अधिक संयम वा पूर्ण संयम होता है, और इसी तरह पर ठग-डकैतोंके असभ्य कुलवालोंमें अधिक असंयम व पूर्ण असंयम होता है। और इस तरह पर व्यवहार योग्य सभ्य कुलाचरण व धर्माचरण एक ही बात है तथा असभ्य कुलाचरण व असंयमा-

चरण भी एक ही बात है ।

अब मैं यहाँ प्रश्न करता हूँ कि ऊँच गोत्र सूचक ऊँचे आचरणका अर्थ व्यवहारयोग्य सभ्य कुलाचरण व संयम धर्माचरण दोनों ही प्रकारका आचरण किया जावे तथा नीच गोत्र-सूचक नीचे आचरणका अर्थ ठग-डकैतोंके असभ्य कुलका आचरण व असंयमाचरण दोनों ही प्रकारका आचरण किया जावे और व्यवहार-योग्य सभ्य कुलाचरण तथा धर्माचरणमें और ठग-डकैतोंके असभ्य कुलाचरणमें और असंयमाचरणमें भेद व्यक्त न किया जावे तो क्या हानि है ?

आगे चलकर श्रीपूज्यपादस्वामीकृत सर्वार्थसिद्धिमें वर्णित ऊँचगोत्र और नीचगोत्रका स्वरूप यह बतलाया है कि 'लोक पूजित कुलोंमें जन्म होनेको ऊँच गोत्र व गर्हित कुलोंमें जन्म होनेको नीचगोत्र कहते हैं ।'

यहाँ पर लोकपूजित कुल व गर्हित कुलका स्वरूप विचारना चाहिये । जो कुल अपने हिंसा झूठ-चोरी आदि पापोंके त्यागरूप अहिंसा सत्य-शील-संयम दान आदि धर्माचरणोंके धारणरूप आचरणोंके कारण पूज्य हैं—सन्मानित हैं—प्रतिष्ठा प्राप्त हैं वे ही कुल लोक-पूजित कुल माने जाने चाहियें—राज्य-धन सैन्य बल आदिके कारण पूजित कुल लोक पूजित नहीं माने जाने चाहियें । जो कुल हिंसा झूठ-चोरी आदि पापाचरणोंके कारण गर्हित हैं वे गर्हित कुल माने जाने चाहियें । और इस तरह पर धर्माचरणोंके कारण लोकोंद्वारा पूजित कुलमें जन्म लेनेवालेको 'ऊँचगोत्री' व पापा-चरणोंसे गर्हित कुलमें जन्म लेनेवालेको नीच-गोत्री मानना चाहिये, और ऐसा माननेसे गोम्मटसारकी १३ वीं गाथामें वर्णित ऊँच नीच-गोत्रके स्वरूपमें और श्रीपूज्यपादस्वामीरचित सर्वार्थसिद्धिमें वर्णित ऊँच-नीच-गोत्रके स्वरूपमें कोई विरोध प्रतिभासित नहीं होगा । क्या मेरा यह कहना ठीक है ? अथवा उक्त प्रकारसे मानने पर जैनसिद्धान्तसे क्या कोई विरोध नहीं आएगा ।

आगे लिखा है कि सब ही देव (कल्पवासी आदि धर्मात्मा व भवनवासी आदि पापाचारी देव) और भोग भूमियाँ जीव—चाहे वे सम्यक्दृष्टि हों या मिथ्या-दृष्टि—जो अणु मात्र भी चारित्र ग्रहण नहीं कर सकते वे तो उच्च गोत्री हैं और देशचारित्र धारण कर सकने वाले पंचम गुणस्थानी संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच नीच गोत्री ही हैं ।'

श्री वीर भगवान्ने अपने शासनमें विरोध रूप शत्रुको नष्ट करनेके लिये अनेकान्त अपना अपेक्षावाद वा स्याद्वाद जैसे गंभीर सिद्धान्त-अमोघास्त्रका निर्माण किया है, फिर जहाँ हमें कुछ विरोध प्रतिभासित हो वहाँ हम अनेकान्तसे विरोधका क्यों न समन्वय कर लें क्यों न अपेक्षावादका उपयोग करें ? और वह समन्वय इस प्रकारसे कर लिया जावे तो क्या कोई जैन-सिद्धान्तसे विरोध आवेगा ?—

कल्पवासी देवों और भवनत्रिक देवोंमें जो उच्च-गोत्रका उदय बतलाया है वह उनके शक्तिशालीपनेकी अपेक्षा व विशिष्ट पुण्योदयकी अपेक्षासे है और वह भी केवल मनुष्योंके माननेके लिये है अर्थात् मनुष्य ऐसा मानें कि देव हमसे ऊँचे हैं, ऐसा मानना चाहिये । और इसी प्रकार तिर्यंचोंमें जो नीच गोत्रका उदय बतलाया है वह उनके पशुपने व विशिष्ट पापोदयकी अपेक्षासे है, और वह भी केवल मनुष्योंके माननेकी अपेक्षासे है अर्थात् मनुष्य ऐसा मानें कि तिर्यंच हमसे नीचे हैं, ऐसा मानना चाहिये । इसी तरह नारकियोंमें भी जो नीच गोत्रका उदय बतलाया है वह भी उनके

अत्यन्त पापोदयकी अपेक्षासे है और केवल मनुष्योंके माननेकी वस्तु है, मनुष्य यह अनुभव करें कि नारकी हमसे नीचे हैं ऐसा मानना चाहिये।

देवोंको ऊँच गोत्र वाले मानना और तिर्यंचों व नारकियोंको नीच गोत्र वाले मानना मनुष्योंके मानने की वस्तु इसलिये है कि देवोंको अपनेसे ऊँचे व अपनेको देवोंसे नीचे तथा तिर्यंचों, नारकियोंको अपनेसे नीचे व अपनेको तिर्यंच नारकियोंसे ऊँचे माननेसे जो तज्जन्य रसानुभव होता है वह मनुष्योंको ही होता है; क्योंकि मनुष्य ही ऐसा मानते हैं। और इसलिये भी उपर्युक्त प्रकारका मानना मनुष्योंके माननेकी वस्तु है। मनुष्यों द्वारा जो देव ऊँचे व तिर्यंच नारकी नीचे माने जाते हैं उसका रसानुभव देव तिर्यंच नारकियोंको कुछ भी नहीं होता।

सर्व प्रकारके देव व भोग भूमियाँ जाव अणुमात्र भी चारित्र धारण नहीं कर सकते, इसका भाव यह मानना चाहिये कि वे संप्राप्त भोगोंका त्याग करके और जो कुछ भी चारित्र धर्माचरण पालनेके अभ्यासी हैं उससे बढ़ नहीं सकते अणुमात्र चारित्र धारण नहीं कर सकनेसे यह प्रयोजन न समझना चाहिये कि उनमें चारित्रका, धर्माचरणोंका अभाव ही है। भोगभूमियां जीव अत्यन्त मंद कषाय होते हैं और इसलिये देव ही उत्पन्न होते हैं तथा वे सम्यक्त भी ग्रहण करते हैं, धर्म चर्चादि भी करते हैं और इसी तरह सर्वार्थसिद्धि आदि अनुत्तर विमानोंके देव एक भवावतारी व दो भवावतारी होते हैं तथा सदैव धर्म चर्चा व पूजा प्रभावनादि धर्माचरण किया करते हैं तथा पंचम स्वर्गके देव ब्रह्मचारी देव ऋषि होते हैं। सौधर्मादि स्वर्गोंके देव भी भगवान्‌के कल्याणकादिमें व समवसरणादिमें आते हैं तथा पूजा प्रभावनाधर्म चर्चादि किया करते हैं। इसी तरह भवनत्रिक देव भी यथाशक्ति धर्म-साधन करते हैं तथा सम्यक्त भी ग्रहण कर लेते हैं। यह सब उनके धर्माचरण ही हैं और इसलिये उनमें उच्च गोत्र भी होना ही चाहिये।

जैनशास्त्रोंमें पद पद पर यह कथन मिलता है कि शास्त्रोंमें जो भी बातें कही हैं जो भी विवेचन किया गया है, वह निरपेक्ष न कहा जाकर किसी न किसी अपेक्षासे ही कहा हुआ होता है, भले ही वहाँ उस अपेक्षाका स्पष्टीकरण या प्रकटीकरण न किया गया हो। जहाँ जो बात कही गई हो उसे निरपेक्ष न समझकर जिस अपेक्षासे कही गई हो उसी अपेक्षासे समझने पर ठीक समझी गई ऐसा कहा जा सकता है, बल्कि निरपेक्ष कही हुई व समझी हुई बात मिथ्या तक कह दी जाती है। जब यह बात है तब मेरी कही हुई यह बात कि विशिष्ट पुण्योदयकी अपेक्षा सारे देवोंमें उच्च गोत्रका उदय व विशिष्ट पापोदयकी अपेक्षा तिर्यंच व नारकियोंमें नीचगोत्रका उदय माना है, क्यों नहीं ठीक मानी जानी चाहिये? और यदि मेरी उपर्युक्त बात ठीक है तो गोम्मटसार कर्मकाण्डकी १३वीं गाथामें ऊँचे व नीचे आचरणके आधार पर वर्णित ऊँच नीचगोत्रके स्वरूपकी संगति सारे संसारके प्राणियों पर ठीक बैठ जाती है, और यहाँ ११वीं गाथासे प्रकरण भी, सारे संसारके प्राणियोंका आरहा है, इसलिये भी १३वीं गाथामें वर्णित ऊँच-नीच गोत्रका स्वरूप देव मनुष्य तिर्यंच व नारकी रूप सारे संसारके जीवोंके लिये ही वर्णित है। और वह इस तरह पर घटित होता है—

कल्पवासी, भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी देवोंके धर्माचरणोंके विषयमें तो पहले लिखा ही जा चुका है कि धर्माचरण उनमें पाये जाते हैं और पापाचरणों तथा उनमें ऊँचे नीचे और छोटे-बड़े भेद-प्रभेदोंके विषयमें पूज्य वकील बाबू सूरजभानजी साहबने अपने लेखमें

भले प्रकार वर्णन कर ही दिया है कि पापाचरण भी उनमें पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह आचरण मेरा ऊँचा है और यह आचरण मेरा जघन्य है (जैसे स्वर्गके किन्हीं देवोंने आठवें नारायण लक्ष्मणजीसे कहा कि तुम्हारे भ्राता रामचन्द्रजी मर गये हैं, यह सुनकर लक्ष्मणजी तत्काल मरणको प्राप्त हो गये) तथा अमुक-देव मुझसे नीचा है तथा इन्द्रादिक देवोंसे मैं नीचा हूँ और अमुक देवोंसे मैं ऊँचा हूँ तथा अमुकदेव मुझसे ऊँचे हैं इस प्रकारके विचार उनके होते हैं और तज्जन्य ऊँचता-नीचताका रसानुभव भी होता है, इसलिये धर्माचरणों व पापाचरणोंकी अपेक्षा देवोंमें भी ऊँच गोत्र व नीचगोत्रका उदय क्यों न मानना चाहिये?

तिर्यंचोंमें भी वनस्पतियों और पशुओंकी ऊँचता तथा नीचताका कथन तो पूज्य बाबू साहबने अपने लेखमें स्पष्ट कर ही दिया है, नीची जातिके बंबूल धतूर आदि काँटेदार व निंब आक आदि कडुए पेड़ और सूअर स्याल, सांप, बिच्छू आदि पशु सहस्रों प्रकारके पाये जाते हैं और पक्षी भी हंस, सारस, तोता, मैना आदि ऊँची जातिके व काक गृद्ध आदि नीची जातिके सहस्रों प्रकारके हैं। वनस्पतियोंके धर्माचरण-पापाचरण तो भगवान् केवली गम्य है परन्तु ये भी जीव हैं, अतः इनमें भी दोनों प्रकारके भाव होंगे अवश्य। जब इनमें रति आदि २३ कषायें बतलाई हैं तब इनमें दोनों आचरण हैं, रति कषायका कार्य प्रेम करना है और यही इनका सदाचरण है शेष कषायोंका कार्य असदाचरण है इनको अपने सदाचरण असदा-चरण जन्य ऊँच नीचताका रसानुभव भी होता है। पशु पक्षियोंके धर्माचरण विषयमें जिनागममें स्पष्ट वर्णन है ही कि ये लोग पंचम गुणस्थानी होकर देश चारित्र धारण करके श्रावक तक हो सकते हैं। पापा-चरण भी इन पशु पक्षियोंके सबको विदित ही हैं। उनके उदाहरण लिखनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं। अपनी ऊँचता नीचताका व धर्माचरण पापाचरणके रसका इन पशु पक्षियोंको भी अनुभव होता है इसलिये उच्चाचरण नीचाचरणके आधार पर इन सम्पूर्ण तिर्यंचोंमें भी ऊँच गोत्रका उदय व नीच गोत्रका उदय क्यों न मानना चाहिये।

इसी प्रकार नारकियोंकी नीचता व उनके दुष्टा-चरण तो सब पर विदित ही हैं; परन्तु उनमें ऊँचता व सदाचरण भी पाये जाते हैं। सातवें नरकके नारकियोंसे ऊपरके नारकी पहले नरक तक उत्तरोत्तर ऊँचे तथा कम पाप भोगी और कम आयु वाले हैं जैसा कि पूज्य बाबू साहबने भी लिखा है तथा उनमें सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मुनि केवली यहाँ तक कि तीर्थंकर तक होने वाले शुभ आत्मा भी उनमें पाये जाते हैं। उन्हें अपनी ऊँच नीचता व दुराचरण-धर्माचरणका रसानुभव भी बहुत ही अधिक होता है, इसलिये उच्चाचरण नीचाचरणके आधार पर नारकियोंमें उच्चगोत्र तथा नीचगोत्र क्यों न मानना चाहिये?

अब रहे मनुष्य, जिनकी ऊँच नीचताका वर्णन बाबू साहबने लेखमें अच्छा किया है, बल्कि नीचताका वर्णन तो बहुत ही विशेष रूपसे लिखा गया है, फिर भी उनको नीचगोत्री भी मनुष्य होते हैं ऐसा बतला कर केवल उच्चगोत्री ही बतलाया है। मनुष्य अपने उच्चाचरणोंसे मोक्ष तक प्राप्त कर लेता है अतः उच्च गोत्री तो है ही, परन्तु अपने दुराचारोंसे सातवीं नरक भी प्राप्त कर लेता है इसलिये उसे नीच गोत्री भी होना चाहिये। गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी गाथा २९८ से ३०१ तक मनुष्योंमें नीचगोत्रका उदय बतलाया भी है। वे गाथाएं निम्न लिखित हैं:—

मणुवे ओघो थावरतिरियादावदुगएयवियलिंदी।
साहरणिदराउतियं वेगुव्वियछक्कपरिहीणो ॥२६८॥

अर्थात् सब मनुष्योंमें उदययोग्य १२२ प्रकृतियोंमें स्थावर, तिर्यंच गति, आतप आदि २० प्रकृतियाँ कम करनेसे १०२ का उदय है। इनमें नीचगोत्र कम नहीं किया, अतः मनुष्योंमें नीचगोत्रका उदय है।

मिच्छमपुण्णं छेदो अणमिस्सं मिच्छगादितिसु अयदे
विदियकसायणराणू दुब्भगऽणादेज्जअज्जसयं ॥२९९

अर्थात्—उन मनुष्योंमें मिथ्यात्वादि तीन गुणस्थानोंके मिथ्यात्व, अपर्याप्त, अनंतानुबंधीकी ४ चौकड़ी आदि प्रकृतियोंकी उदय व्युच्छित्ति होती है। तीसरे गुणस्थान तक नीचगोत्रकी उदय व्युच्छित्ति नहीं हुई, अतः उसका उदय है।

देसे तदियकसाया णीचं एमेव मणुससामण्णे।
पज्जत्ते वि य इत्थी वेदाऽपज्जत्तिपरिहीणो ॥३००॥

अर्थात्—पाँचवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानी चौकड़ी व नीचगोत्रकी उदय व्युच्छित्ति होती है और पर्याप्त मनुष्योंमें पहली १०२ में स्त्री वेद व अपर्याप्ति कम करनेसे १०० का उदय है। इस प्रकार पंचम गुणस्थानमें नीच गोत्रकी व्युच्छित्ति हुई है, अतः यहां तक पर्याप्त मनुष्यके नीचगोत्रका उदय पाया जाता है।

मणुसिणिएत्थीसहिदा तित्थयराहारपुरिससंढूणा
पुण्णिदरेव अपुण्णे सगाणुगदिआउगं णेयं ॥३०१

अर्थात् १०० प्रकृतियोंमें स्त्री वेद मिलाकर उदययोग्य प्रकृतियोंमेंसे तीर्थंकर, आहारक युगल, पुरुष वेद, नपुंसक वेद ये पांच प्रकृतियां कम करनेसे ९६ का उदय मनुष्यणीके है। यहां भी नीचगोत्र कम नहीं हुआ, अतः पर्याप्त स्त्रीके नीचगोत्रका उदय वर्तमान है।

इस तरह पर जब मनुष्योंमें नीचगोत्रका उदय सिद्धान्तमें बतलाया गया है, तब पूज्य बाबू साहबने अपने लेखमें उसे किस प्रकार अस्वीकार किया, यह बात समझानी चाहिये अथवा मनुष्योंमें नीचगोत्रका उदय स्वीकार करना चाहिये। अनुभवमें तो नीच व उच्च दोनों गोत्रोंके भाव एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्री देव मनुष्य नारकी व तिर्यंच तक सब जीवोंके अपने प्रत्येक सदाचरण व दुराचरणके साथ साथ प्रति समय आते रहते हैं और गोम्मटसारकी १३ वीं गाथाके अनुसार सारे संसारके जीवोंपर नीच व ऊँच दोनों गोत्र जीवोंके सदाचरण व दुराचरणके आधार पर घटित भी होते हैं। तथा नीचगोत्रसे ऊंचगोत्रका और ऊँचगोत्रसे नीचगोत्रका अपने सदाचरणोंसे व दुराचरणोंसे संक्रमण भी होजाता है, ऐसा मैंने कभी जैनमित्रमें पढा है। इसलिये मान, प्रतिष्ठा, राज्य, लक्ष्मी आदिके कारण किसी दुराचारीको जन्म भरके लिये उच्चगोत्री और दरिद्रता, नीची आजीविका आदिके कारण किसी सदाचारी धर्मात्माको जन्म भरके लिये नीचगोत्री मान बैठना सरासर अन्याय व पाप बंधका कारण जान पड़ता है।

आगे पूज्य बाबू साहबने सभी मनुष्योंको उच्च गोत्री बतलाते हुए लिखा है कि:–गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १८ में साफतौरसे बतलाया है कि नीच ऊँच गोत्र भवोंके अर्थात् गतियोंके आश्रित है और जिससे यह ध्वनित किया है कि नरक-भव तिर्यंच भवके सब जीव नीचगोत्री और देवभव व मनुष्यभव वाले सब उच्चगोत्री हैं। उस गाथाका वह अंश इस प्रकार है:—

भव मस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं॥

इस गाथा वाक्यका तो 'नीच-ऊँचगोत्र गतियोंके आश्रित है' यह अर्थ नहीं लिखा है बल्कि यह अर्थ लिखा है कि 'नीचता व ऊँचता भवके आश्रित है'। "इदि गोदं" ये शब्द गाथाके तीसरे चरणके न होकर चौथे चरणके हैं, अतः "भवमस्सिय णीचुच्चं" इस पदके भावमें

इदि गोदं" का भाव पृथक् है । "भवमस्सिय णीचुचं" पदसे नरक तिर्यंचभवके सब जीव नीच व देव मनुष्य सब ऊंचगोत्री हैं यह भाव ध्वनित नहीं होता, बल्कि यह ध्वनित होता है कि नीचता व उच्चता प्रत्येक भवके आश्रित है अर्थात् सारे संसारके जो चार प्रकारके देव, मनुष्य नारकी, तिर्यंच जीव हैं उनके प्रत्येक भवमें नीचता व ऊँचता होती है, अतः उन सभीके नीच व ऊँच दोनों गोत्रोंका उदय है। प्रत्येक भवमें नीचता व ऊंचता होनेसे यह प्रयोजन है कि प्रत्येक जीव अपने दुराचरण व सदाचरणसे नीच व ऊँच कहलाता है।

आगे लिखा है कि गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी गाथा २८४ में मनुष्यगति और देवगतिमें उच्च गोत्रका उदय बतलाया है, वह तो ठीक है परन्तु "उच्चुदओ णर-देवे" इस पदमें मनुष्योंमें नीच गोत्रका उदय सर्वथा है ही नहीं ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

आगे लिखा है कि म्लेच्छखण्डके सभी म्लेच्छ सकलसंयम ग्रहण कर सकते हैं इसलिये वे उच्चगोत्री हैं, परन्तु म्लेच्छ लोग जब आर्यखण्डमें आकर आर्योंका आचार पालन करेंगे व सकलसंयम ग्रहण कर लेंगे तब वे उच्च गोत्री हो जावेंगे, * इससे पहले वे म्लेच्छखण्डमें रहें व आर्यखण्डमें आकर रहें, बिना आर्योंका आचार पालन किये उच्च गोत्री न होकर नीच गोत्री ही हैं। श्री जयधवल और श्री लब्धिसारका जो प्रमाण दिया है उससे इतना ही सिद्ध है कि म्लेच्छ लोग सकल संयमकी योग्यता रखते हैं, वे सकल संयमके पात्र हैं, उनके संयम प्राप्तिका विरोध नहीं है, उनमें संयमोपलब्धिकी संभावना है। उस प्रमाणसे यह सिद्ध नहीं है कि बिना आर्योंका आचार पालन किये या बिना सकल संयमी हुए भी वे आर्य और उच्च गोत्री हैं, बल्कि उसमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि वे मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ अर्थात् नीच गोत्री ही हैं। हाँ, वे आर्योंका आचार पालन करनेसे या पालन करते रहनेसे नीच गोत्री (म्लेच्छ) से उच्च गोत्री हो सकते हैं।

आगे लिखा है कि 'कुभोगभूमियां (मनुष्य) पशु ही हैं इन्हें किसी कारणसे मनुष्य गिन लिया है, परन्तु इनका आकृति प्रवृत्ति, और लोकपूजित कुलोंमें जन्म न होनेसे इन्हें नीच गोत्री ही समझना चाहिये।' परन्तु सारा शरीर मनुष्यका और मुख केवल पशुका होनेसे ही वे सर्वथा पशु नहीं कहला सकते, उन्हें शास्त्रमें मुखाकृति भिन्न होनेसे ही कुमानुष और म्लेच्छ कहा है, वे मंदकषाय होते हैं मर कर देव ही होते हैं, मंदकषाय होनेसे सदाचरणीही कहे जायेंगे और सदाचरणी होनेसे उच्च गोत्रीही कहे जावेंगे और हैं। उनकी प्रवृत्ति मंदकषाय रूप होनेसे उच्च ही है। लोक पूजित कुल और अपूजित कुल कर्म भूमिमें ही होता है, वहाँ कुभोग भूमि है, वहां सब समान हैं, लोक पूजित व अपूजितका भाव वहां नहीं है। लोकपूजित कुलमें जन्म होनेसे उच्च गोत्री व अपूजित कुलमें जन्म होनेसे नीच गोत्री कर्मभूमिमें ही माना जाता है। कुभोग भूमि या भोगभूमिमें नहीं माना जाता। बल्कि भोग भूमियां उच्चगोत्री ही होते हैं जिनको पूज्य बाबू साहब ने भी अपने लेखमें स्वीकार किया है। वे नीच गोत्री नहीं होते। और गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा नं० ३०२ "मणुसोयं वा भोगे दुब्भगचउणी च मंढथीणतियं" आदिमें भी भोगभूमियाँ मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय बतलाया है। उन कुमानुष लोगों में व्यभिचार नहीं, एक दूसरेकी स्त्री व कामकी वस्तुएँ

* यदि सकल संयम ग्रहण करनेके बाद उच्चगोत्री होंगे तो यह कहना पड़ेगा कि नीच गोत्री मनुष्य भी मुनि हो सकते हैं। —सम्पादक

व भोग सामग्रीके पदार्थ वे हरण नहीं करते। उनमें कोई दुराचार नहीं, मंदकषाय रूप सदाचार है फिर उन्हें नीच गोत्री कैसे समझा जावे ?

आगे लिखा है कि अन्तरद्वीपजोंको म्लेच्छ मनुष्योंमें शामिल करनेसे ही मनुष्योंमें ऊँच नीच गोत्रकी कल्पना हुई है। अन्तरद्वीपजोंको म्लेच्छ मनुष्योंमें शामिल करनेसे ही मनुष्योंमें ऊँच नीचगोत्रकी सृष्टि नहीं हुई, बल्कि ऊँच नीचताके भाव अनादिकालीन हैं और वे मनुष्योंमें ही नहीं प्राणीमात्रमें पाये जाते हैं और उन्हींके कारण अर्थात जीवोंके सद्व्यवहार (धर्माचरण) व कुत्सित व्यवहार (पापाचरण) के कारणही मनुष्योंमें क्या सारे जीवोंमें ऊँच नीच गोत्रता आई है, वह बलात्कार किसीकी लाई हुई नहीं है। और न अन्तरद्वीपजों म्लेच्छ मनुष्य नीचगोत्री ही हैं बल्कि वे तो कर्म भूमिजभी नहीं हैं। (क) भोग भूमिज हैं। शास्त्रोंमें उनके ऊँच गोत्रका उदय बतलाया है*। उनको म्लेच्छ केवल उनकी पशु-मुखाकृतिकी अपेक्षा कह दिया गया है, आचरणकी अपेक्षा वे उच्च गोत्री व सदाचारी हैं। अन्तरद्वीपजोंको नीच गोत्री व सर्वथा पशु मानना केवल पूज्य बाबू सूरजभानजी साहबही की मान्यता हो सकती है, बहुमत तो जहाँ तक मैं समझता हूँ ऐसी मान्यता वाला नहीं होगा।

आगे लिखा है कि अफरीकाके पतित मनुष्य अपने असभ्य व कुत्सित व्यवहारोंको छोड़कर सभ्य बनने लग गये हैं। जब पूज्य बाबू साहबने अपने लेखमें अफरीकाके मनुष्योंको पतित अर्थात नीचगोत्री मान लिया और यह भी मान लिया कि वे अपने कुत्सित व्यवहारों एवं पापाचरणोंको छोड़कर सभ्य बन गये हैं अर्थात अपने नीचगोत्र जन्य कुत्सित व्यवहारों-दुराचरणों को छोड़कर नीचगोत्रीसे सभ्य एवं उच्चगोत्री बन गये हैं, तब कोई मनुष्य नीचगोत्री नहीं है ऐसा मानने व लिखनेका क्या अर्थ है वह मेरा कुछ समझमें नहीं आया। बड़ी ही कृपा हो यदि वे उसे समुचित रूपसे समझानेका यत्न करें।

इसके बाद श्रीविद्यानन्दस्वामीके मतका उल्लेख करते हुए पूज्य बाबू साहबने लिखा है कि 'आर्यके उच्चगोत्रका उदय ज़रूर है और म्लेच्छके नीचगोत्रका उदय अवश्य है।' परन्तु आर्य होनेके लिये उच्चगोत्रके साथ 'आदि' शब्दसे दूसरे कारण भी श्रीविद्यानन्दने ज़रूरी बतलाये हैं और वे दूसरे कारण हैं अहिंसा सत्य-शील-संयमादि व्रताचरण अर्थात् उनके इसका विवेचन मैंने 'अन्तर द्वीपज मनुष्य' नामके उस लेखमें किया है, जो गत वर्षके 'अनेकान्त' की ६ ठी किरणमें प्रकाशित हुआ है। मालूम होता है लेखक महोदयका ध्यान उस पर नहीं गया है, उसे देखना चाहिये।

*समस्त अन्तरद्वीपजोंके उच्चगोत्रका उदय कौनसे दि० जैनशास्त्रोंमें बतलाया है उनके नामादिकको यहाँ प्रकट करना चाहिये था। मुझे तो जहाँतक मालूम है किसी भी दिगम्बर शास्त्रमें इस विषयका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्रत्युत इसके श्रीविद्यानन्दाचार्यने अन्तरद्वीपजोंके दो भेद किये हैं—एक भोगभूमि समप्रणिधि और दूसरा कर्मभूमि समप्रणिधि। भोगभूमि समप्रणिधि अन्तरद्वीपज भोगभूमियोंके समान होनेसे किसी तरह पर उच्चगोत्री हो सकते हैं; परन्तु कर्मभूमि समप्रणिधि अन्तरद्वीज भोगभूमिया नहीं हो सकते उनकी आयु, शरीरकी ऊँचाई और वृत्ति (प्रवृत्ति अथवा आजीविका) भोग भूमियोंके समान न होकर कर्मभूमियोंके समान होती है; और इसलिये उनके लिये उच्चगोत्रका नियम किसी तरह भी नहीं बन सकता। वे प्रायः नीच गोत्री होते हैं:

पूर्वरूप वाले धर्माचरण व उनके अनुरूपधारी सदाचरण व सद्व्यवहार। अहिंसा सत्य-शील-संयमादि सद्व्यवहारों के बिना आर्य मनुष्यके उच्चगोत्रका उदय नहीं है बल्कि नीचगोत्रका उदय है। इसी तरहसे म्लेच्छ मनुष्य होनेके लिये नीचगोत्रके उदयके साथ 'आदि' शब्दसे दूसरे कारण भी आवश्यक बतलाये हैं और वे दूसरे कारण हैं, हिंसा-चोरी झूठ व्यभिचार आदि पापाचरण। हिंसा झूठ चोरी कुशील आदि पापाचरणोंके बिना म्लेच्छ मनुष्योंके नीचगोत्रका उदय नहीं है, बल्कि अहिंसा सत्य शील संयमादिके पालनेके कारण उसके उच्चगोत्र का उदय है ॐ।

आगे श्री विद्यानन्द स्वामीके इस आर्य म्लेच्छ विषयक स्वरूप कथनको श्रीयुत पूज्य संपादकजी साहब ने सदोष बतलाया है जिसे बादको पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने भी अपने लेखमें (किरण ३ पृ० २०७) सदोष स्वीकार किया है। परन्तु उसमें आया हुआ 'आदि' शब्द क्या उसकी सदोषताको दूर नहीं कर सकेगा। यदि उसमें सदोषता है तो 'उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्याः' इसका अर्थ, उच्च गोत्रोदयको आदि देकर अहिंसा सत्य शील संयमादि आचरणवाले आर्य हैं ऐसा करने पर तथा "नीचैर्गोत्रोदयादेश्च म्लेच्छाः", इसका अर्थ नीचगोत्रोदयको आदि लेकर हिंसा झूठ चोरी-कुशीलादि आचरणधारी म्लेच्छ हैं ऐसा करने पर क्या फिर भी उक्त स्वरूप कथनमें सदोषता प्रतीत होगी? मेरी अल्प बुद्धिमें उपर्युक्त विद्यानन्दस्वामीके स्वरूप कथनकी सदोषता समझमें नहीं आई †।

आगे श्री अमृतचन्द्राचार्यका तत्त्वार्थसारका श्लोक लिखकर उसका अर्थ लिखा है कि "जो मनुष्य आर्य-खंडमें पैदा होवें सब आर्य हैं जो म्लेच्छ खंडोंमें उत्पन्न

ॐ आर्य और म्लेच्छके लक्षणोंमें पड़े हुए 'आदि' शब्दका जो वाच्य अहिंसा-सत्य-शील-संयमादि तथा हिंसा-झूठ व्यभिचारादिक लेखक महाशयने प्रकट किया है उसका उल्लेख विद्यानन्दस्वामीने कहाँ किया? श्लोकवार्तिकमें तो वह कहीं उपलब्ध होता नहीं। और न यही कहीं उपलब्ध होता है कि अहिंसादिक व्यवहारोंके बिना उच्चगोत्रका और हिंसादिक व्यवहारोंके बिना नीच गोत्रका उदय नहीं बन सकता। लक्षणोंमें 'आदि' शब्दके द्वारा जिन दूसरे प्रायः अप्रधान कारणोंका समावेश किया गया है वे तो 'गोत्रोदय' से भिन्न हैं तब गोत्रका उदय उनपर अवलम्बित—उनके बिना न हो सकने वाला—कैसे कहा जा सकता है? इसलिये यह विचार श्लोकवार्तिककी दृष्टिसे कुछ ठीक मालूम नहीं होता।

—सम्पादक

† 'आदि' शब्दका उक्त वाच्य मान लेने पर भी लक्षणोंकी सदोषता दूर नहीं हो सकेगी; क्योंकि तब जिन्हें क्षेत्रार्य, जात्यार्य तथा कर्मार्य कहा जायगा उन सबमें उच्चगोत्रका उदय और अहिंसादिकका व्यवहार बतलाना पड़ेगा और वह बतलाया नहीं जासकेगा—आर्यखण्डके सब मनुष्योंको क्षेत्रार्य होनेके कारण उच्च गोत्री कहना होगा, सावद्य कर्म आर्योंको इधर कर्मार्यकी दृष्टिसे यदि आर्य कहना होगा तो उधर हिंसादिक व्यवहारोंके कारण 'म्लेच्छ' भी कहना होगा, यह विरोध आएगा। साथ ही, प्रत्येक आर्यके लिये जब अहिंसादिक व्रतोंका अनुष्ठान अनिवार्य होगा तब आर्यखण्डका कोई भी अविरत सम्यग्दृष्टि आर्य नहीं कहला सकेगा और चारित्रार्य तथा दर्शनार्यके भेद भी निरर्थक हो जायँगे, जिन्हें विद्यानन्दने आर्योंके भेदोंमें परिगणित किया है। इस तरह बहुत कुछ विरोध उपस्थित होगा तथा आर्य-म्लेच्छकी समस्या और भी अधिक जटिल हो जायगी।

—सम्पादक

होनेवाले शकादिक हैं वे सब म्लेच्छ हैं और जो अन्तरद्वीपोंमें उत्पन्न होते हैं वे भी सब म्लेच्छ ही हैं।" वह श्लोक यह है :—

आर्यखंडोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखंडोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥

इस श्लोकका उपर्युक्त अर्थ मुझे रुचिकर नहीं लगा, यदि इसका यह अर्थ किया जाय कि 'आर्यखंडमें उत्पन्न होनेवाले आर्य हैं तथा आर्यखंडमें ही उत्पन्न होनेवाले कितने एक शकादिक म्लेच्छ भी हैं, और म्लेच्छ खंडोंमें उत्पन्न होनेवाले म्लेच्छ हैं तथा अन्तरद्वीपज भी म्लेच्छ हैं,' तो क्या हानि है?*

आगे लिखा है कि श्री विद्यानन्द आचार्यने यवनादिकको म्लेच्छखंडोद्भव म्लेच्छ माना है। परन्तु श्लोकोंसे तो ऐसा प्रतीत नहीं होता; श्री अमृतचंद्राचार्यने भी शकादिकोंको आर्यखंडोद्भव म्लेच्छ ही माना है और श्री विद्यानन्दाचार्यने भी "कर्मभूमिभवा-म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः" श्लोकमें यवनादिकोंको कर्मभूमि (आर्यखंड †)में होने वाले म्लेच्छ माना है। तथा जानी हुई सारी दुनियाको पूज्य बाबू साहबने अपने लेखमें आर्यखंड ही स्वीकार किया है। फिर शकादि या यवनादिकोंको म्लेच्छखंडोद्भव म्लेच्छ माननेका क्या प्रयोजन है सो समझमें नहीं आया कृपया समझाना चाहिये ‡।

* इसमें कोई हानि नहीं, बल्कि ऐसा ही अर्थ समुचित प्रतीत होता है। चुनांचे द्वितीय वर्षके 'अनेकान्त' की ५ वीं किरणमें पृ० २७९ पर मैंने ऐसा ही अर्थ करके उसका यथेष्ट स्पष्टीकरण किया है और साथ ही पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकी इस मान्यताका खण्डन भी किया है कि 'आर्यखण्डोद्भव कोई म्लेच्छ होते ही नहीं; शकादिकको किसी भी आचार्यने आर्यखण्डमें उत्पन्न होने वाले नहीं लिखा, विद्यानन्दाचार्यने भी यवनादिकको 'म्लेच्छखण्डोद्भव' म्लेच्छ बतलाया है।'

—सम्पादक

† 'कर्मभूमि' का अर्थ यदि आर्यखण्ड ही किया जायगा तो म्लेच्छखण्डोंके अधिवासी छूट जायंगे—वे म्लेच्छ नहीं रहेंगे; क्योंकि विद्यानन्दाचार्यने कर्मभूमिज और अन्तरद्वीपजके अतिरिक्त म्लेच्छोंका कोई तीसरा भेद नहीं किया है। आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड दोनों ही कर्मभूमि होनेसे 'कर्मभूमिज' म्लेच्छोंमें दोनों खण्डोंके म्लेच्छोंका समावेश हो जाता है। 'यवनादयः' पदमें प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द यवनोंके अतिरिक्त दोनों खण्डोंके शेष सब म्लेच्छोंका संग्राहक है। अतः 'कर्मभूमि' का यहाँ मात्र 'आर्यखण्ड' अर्थ करना ठीक नहीं है। —सम्पादक

‡ वर्तमान शास्त्रीय पैमाइशके अनुसार जानी हुई दुनिया 'आर्यखण्ड' के अन्तर्गत हो जाती है, इसमें तो विवादके लिये स्थान नहीं है। अब रही शक-यवनादिकों विद्यानन्दके मतानुसार म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ बतलाने अथवा माननेकी बात, वह 'यवनादयः' पदके वाच्यको पूर्णरूपमें अनुभव न करने आदिकी किसी ग़लतीका परिणाम जान पड़ता है। विद्यानन्दाचार्यने म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छोंका कोई अलग उल्लेख नहीं किया है, इसलिये 'यवनादयः' पदमें उन्हींका आशय समझ लिया गया है। इसी ग़लतीके आधार पर तत्त्वार्थसारके उक्त श्लोकका अर्थ कुछ ग़लत हुआ जान पड़ता है। वैसा अर्थ करके ही श्रीमान् बाबू सूरजभानजीने अपने लेखमें विद्यानन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यके कथनकी एक-वाक्यता घोषित की है, जो दूसरा अर्थ करने पर और भी अच्छी तरहसे घोषित होती है।

—सम्पादक

आगे लिखा है कि "सारी पृथिवी पर रहनेवाले सभी मनुष्य आर्य होनेसे उच्चगोत्री भी ज़रूर है।" आर्य होने मात्रसे कोई उच्चगोत्री नहीं हो सकता आर्य होनेके साथ साथ शील संयमादि धर्माचरण भी हों तभी उच्चगोत्री हो सकता है जैसा कि आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामीने लिखा है *। उपर्युक्त आर्यता केवल आर्यभूमिमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा है।

आगे लिखा है कि "ये कर्मार्य म्लेच्छखंडोंमें रहने वाले म्लेच्छही हो सकते हैं।" कर्म आर्य म्लेच्छ खंडके रहने वाले म्लेच्छ कैसे हो जायेंगे ? फिर उन खंडोंको म्लेच्छ खड ही क्यों कहा ? कर्मार्योंके रहनेसे वह भी आर्य खंड ही कहा जाना चाहिये था। अतः जितने भी ये भेद अभेद आर्योंके हैं वे सब आर्य खंडके रहने वाले आर्योंके ही हैं। म्लेच्छ खंडके रहने वाले म्लेच्छ ही हैं वे आर्य नहीं हो सकते। आर्योंको आर्य खंडमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा और यहां धार्मिक प्रवृत्तियां सम्भव होनेकी अपेक्षा तथा धर्माचरण पालन करनेकी अपेक्षा 'आर्य' कहा है और म्लेच्छोंको म्लेच्छ खंडमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा तथा वहां धार्मिक प्रवृत्तियां असंभव होनेकी अपेक्षा 'म्लेच्छ' कहा है†। जब सारी जानी हुई दुनियां आर्य खंड है तब कर्मार्योंको म्लेच्छ खंडके म्लेच्छ क्योंकर बतलाया ? महायोजनके हिसाबसे आर्य खंड ही बहुत बड़ा है, फिर म्लेच्छ खंड कितनी दूर और कहां होंगे। यदि जानी हुई सारी दुनियां आर्य खंड है तो जर्मन जापान रूस फ्रांस इंगलैंड आदि देशोंमें वर्ण व्यवस्था क्यों नहीं ? अथवा जर्मन जापान इटली आदि ही म्लेच्छ खंड हैं, और केवल भारतवर्ष आर्य खंड ? कृपाकर बतलाइयेगा।

अन्तमें यशस्तिलक, चम्पू, पद्मचरित, रत्नकरण्ड, धर्म-परीक्षा, धर्मरसिक आदि ग्रन्थोंके जो भी श्लोक इस लेखमें उद्धृत किये हैं उनसे तो भले प्रकार यह बात प्रमाणित हो जाती कि अपने धर्माचरणोंसे मनुष्य ऊँच गोत्री है और पापाचरणोंसे नीच गोत्री है अर्थात् अपने धर्माचरणोंसे चांडाल भी ऊँच गोत्री (ब्राह्मण) है और अपने पापाचरणोंसे ब्राह्मण भी नीच गोत्री है, इस बातमें अब कोई भी सन्देह शेष नहीं रहता है।

इस तरह पर इस लेखमें अपने अच्छे बुरे आचरणके आधार पर ही जीवोंमें अथवा मनुष्योंमें ऊँचता अथवा ऊँच गोत्र तथा नीचता व नीच गोत्र है इस प्रकारकी प्रश्नात्मक चर्चा करके लेखको समाप्त किया है।

* विद्यानन्द स्वामीने ऐसा कहां लिखा है उसे स्पष्ट रूपसे बतलाना चाहिये था। उनके "उच्चैर्गोत्रोदयादिरार्याः" इस आर्यलक्षणसे तो जिसे 'आर्य' कहा जायगा उसके उच्चगोत्रका उदय जरूर मानना पड़ेगा — भले ही वह किसी भी प्रकारका आर्य क्यों न हो। यदि क्षेत्रार्य आदि आर्यभेदोंमें उक्त लक्षण सघटित नहीं होता है तो उसे अव्याप्ति दोषसे दूषित सदोष लक्षण कहना चाहिये। ऐसे ही कारणोंके वशवर्ती उक्त लक्षणके सदोष होनेकी कल्पनाकी गई है। और इसलिये "उपर्युक्त आर्यता केवल आर्यभूमियोंमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा है" ऐसा आगे लिखना कुछ अर्थ नहीं रखता—वह निरर्थक जान पड़ता है।

—सम्पादक

† यदि इन अपेक्षाओंसे ही आर्य और म्लेच्छका कथन हो अथवा माना जाय तो फिर आर्य उच्चगोत्रका उदय और म्लेच्छके लिये नीच गोत्रका उदय अप्रयोजनीय हो जाता है अथवा लाजिमी नहीं रहता, जिसका विद्यानन्द आचार्यने आर्य-म्लेच्छके लक्षणोंमें प्रतिपादन किया है; और न आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छोंको म्लेच्छ ही कहा जा सकता है। —सम्पादक

जाता है। धर्माचरण, व्रताचरण, संयमाचरण, व्यवहार योग्य कुलाचरण, सद्व्यवहार सभ्य कुलाचरण आदि सब एक ही बात है। इन आचरणोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि कोई आचरणमें तो धार्मिकता महारूपसे है व कोई आचरणमें अणुरूपसे। इसी तरह पापाचरण असंयमाचरण निंद्य कुलाचरण असभ्याचरण कुत्सित व्यवहार आदि भी सब एक ही बात है। इन आचरणोंमें भी अन्तर केवल इतना ही है कि कोई आचरणमें तो पाप महा रूपसे है व कोई आचरणमें अणुरूपसे।

अब मैं लेखको समाप्त करके पूज्य बाबू सूरजभानजीसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि लेखमें मुझसे कुछ अनुचित लिखा गया हो तो उसके लिये वे कृपाकर मुझ अल्पज्ञको क्षमा करें तथा मेरे ऊपर वात्सल्य भाव धारण करके किये गये प्रश्नोंका सम्यक् समाधान करके मुझे अनुगृहीत करें।

अनुपम क्षमा

क्षमा अंतःशत्रुको जीतनेमे खड्ग है; पवित्र आचारकी रक्षा करनेमे बख्तर है। शुद्ध भावसे असह्य दुःखमें सम परिणामसे क्षमा रखने वाला मनुष्य भवसागरसे पार हो जाता है।

कृष्ण वासुदेवका गजसुकुमार नामका छोटा भाई महास्वरूपवान और सुकुमार था। वह केवल बारह वर्षकी वयमें भगवान् नेमिनाथके पास संसार त्यागी होकर स्मशानमें उग्र ध्यानमें अवस्थित था। उस समय उसने एक अद्भुत क्षमामय चारित्रसे महासिद्धि प्राप्त की उसे मैं यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुन्दर वर्ण संपन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। परन्तु विवाह होनेके पहले ही गजसुकुमार संसार त्याग कर चले गये। इस कारण अपनी पुत्रीके सुखके नाश होनेके द्वेषसे सोमल ब्राह्मणको भयङ्कर क्रोध उत्पन्न हुआ। वह गजसुकुमारकी खोज करते-करते उस स्मशानमें आ पहुँचा, जहाँ महामुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्ध भावसे कायोत्सर्गमें लीन थे। सोमलने कोमल गजसुकुमारके सिरपर चिकनी मिट्टीकी बाड़ बनाकर इसके भीतर धधकते हुए अंगारे भरे और उसे ईंधनसे पूर दिया। इस कारण गजसुकुमारको महाताप उत्पन्न हुआ। जब गजसुकुमारकी कोमलदेह जलने लगी, तब सोमल वहाँसे चल दिया। उस समयके गजसुकुमारके असह्य दुःखका वर्णन कैसे हो सकता है। फिर भी गजसुकुमार सम्भाव परिणामसे रहे। उनके हृदयमें कुछ भी क्रोध अथवा द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपनी आत्माको स्थिति स्थापक दशामें लाकर यह उपदेश दिया, कि देख यदि तूने इस ब्राह्मणकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्या दानमें तुझे पगड़ी देता। यह पगड़ी थोड़े दिनोंमें फट जाती और अन्तमें दुःखदायक होती। किन्तु यह इसका बहुत बड़ा उपकार हुआ, कि इस पगड़ीके बदले इसने मोक्षकी पगड़ी बाँध दी। ऐसे विशुद्ध परिणामोंसे अडिग रहकर सम्भावसे असह्य वेदना सहकर गजसुकुमारने सर्वज्ञसर्वदर्शी होकर अनन्त जीवन सुखको पाया। कैसी अनुपम क्षमा और कैसा उसका सुन्दर परिणाम। तत्त्व ज्ञानियोंका कथन है कि आत्माओंको केवल अपने सद्भावमे आना चाहिये। और आत्मा अपने सद्भावमें आई कि मोक्ष हथेलीमें ही है। गजसुकुमारकी प्रसिद्ध क्षमा कैसी शिक्षा देती है।

—श्रीमद्राजचन्द्र

श्वेताम्बर न्यायसाहित्यपर एक दृष्टि

[ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

आगम-काल*

विक्रमकी तीसरी-चौथी शताब्दिके पूर्वका श्वे० जैन-न्याय-साहित्यका एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है; इसके पूर्वका काल अर्थात् विक्रमसे पांच-सौ वर्ष पहलेसे लगा कर उसके तीनसौ-चारसौ वर्ष बाद तकका काल "आगम-काल" है। मूल आगम और आगमिक-विषयको स्पष्ट करने वाली निर्युक्तियाँ एवं चूर्णियाँ ही उस समय श्वे० जैन-साहित्यकी सीमा थी। आगमों पर ही जनताका ज्ञान निर्भर था। भगवान महावीर स्वामीके निर्वाण कालसे लगा कर निर्धारित आगम-काल तकका निर्मित साहित्य वर्तमानमें इतना पाया जाता है:—११ अंग, १२ उपांग, ५ छेद, ५ मूल, ३० पयन्ना, १२ निर्युक्तियाँ, तत्त्वार्थसूत्र जैसे ग्रंथ एवं कुछेक ग्रंथ और भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त इस कालमें निर्मित अन्य श्वे० ग्रंथोंका पता नहीं चलता है।

विक्रमकी पांचवी शताब्दिसे जैन साहित्य पल्लवित होने लगा और ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों विकसित और प्रौढ़ होता रहा है।

भारतीय-तर्कशास्त्रकी प्रतिष्ठा

भारतीय तर्क-शास्त्रके आदि-प्रणेता महर्षि गौतम हैं इन्होंने ही इस शास्त्रको व्यवस्थितरूप दिया। यद्यपि उनके पूर्व भी उपनिषदों आदि प्राचीन ग्रंथोंमें "आन्वीक्षिकी विद्या" नामसे तर्क-शास्त्रका पता चलता है किंतु भारतीय न्याय-शास्त्रकी मज़बूत नींव डालने वाले गौतम-मुनि ही हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम "न्याय-सूत्र" नामक ग्रंथकी रचना की। इनका काल ईसाकी प्रथम शताब्दि माना जाता है। इसी कालसे भारतीय-प्रांगणमें तर्क-युद्ध प्रारंभ होता है और आगे चल कर शनैः शनैः सभी मतानुयायी क्रमशः इसी मार्गका अवलम्बन लेते हैं। यहींसे भारतीय दर्शनोंकी विचार-प्रणाली तर्क-प्रधान बन जाती है और उत्तरोत्तर इसीका विकास होता चला जाता है।

सर्वप्रथम यह सोचना आवश्यक है कि महर्षि गौतमने इस प्रणालीकी नींव क्यों डाली? बात यह थी कि ब्राह्मणोंने स्वार्थवश सत्ताके बल पर वैदिक-धर्म पर एकाधिपत्य जमा लिया था, एवं धार्मिक-क्रिया-कर्मोंमें इस प्रकारकी विकृति पैदा कर दी थी कि जिससे जन-साधारणका शोषण होता था और उनके दुःखोंमें वृद्धि होती जाती थी। इसलिये जनताका झुकाव तेज़ीसे जैन-धर्म और बौद्धधर्मकी ओर होने लग गया था। क्योंकि इन दोनोंकी कार्य प्रणाली समान-वाद और मध्यममार्ग पर अवलम्बित थी। ये जातिवादका (वर्ण व्यवस्थाका) और यज्ञ आदि निरुपयोगी क्रिया काण्डोंका निषेध करते थे, एवं यह प्रतिपादन करते थे कि सभी मनुष्य समान हैं, सबके हित एक हैं, प्रत्येक व्यक्ति (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) धर्मका आराधन कर मुक्ति प्राप्त कर

* इसका दृष्टिकोण श्वेताम्बर साहित्य धाराकी अपेक्षासे है। लेखक

सकता है। शास्त्र-श्रवणका भी प्रत्येकको समान-अधिकार है; आदि आदि। इन कारणोंसे जनता वैदिक-धर्मकी छत्र-छायाका त्याग करके जैनधर्म और बौद्ध-धर्मकी छत्र छायाके नीचे तेजीसे आने लग गई थी। श्रमण संस्कृति (जैन और बौद्ध संस्कृतिका सम्मिलित नाम) ने थोड़े ही समयमें जनताके बल पर राजा महाराजाओंके शासन-चक्र तकको भी अपना अनुयायी बना लेनेकी शक्ति प्राप्त कर ली थी।

इस प्रकार श्रमण-संस्कृतिके क्रियात्मक-प्रभावको देखकर गौतम आदि वैदिक विद्वानोंने इस प्रभावका निराकरण करनेका विचार किया और इस प्रकार यह विचार ही तर्क शास्त्रकी उत्पत्तिका मूल कारण हुआ।

भारतीय तर्क-शास्त्रका अपर नाम न्याय-शास्त्र भी है। इसका कारण यह है कि इस शास्त्रके आदि आचार्य महर्षि गौतम द्वारा रचित तर्क-शास्त्रके आदि ग्रंथका नाम न्याय-सूत्र है और इसीलिये प्रत्येक दर्शनका तर्क-शास्त्र "न्याय-शास्त्र" के नामसे भी विख्यात हो गया है; जैसे कि सांख्य न्याय, बौद्ध न्याय, जैन-न्याय इत्यादि।

बौद्ध और जैन न्याय-शास्त्र

जब बौद्ध विद्वानोंको महर्षि गौतमकी इस रहस्यमय नीतिका पता चला तो उन्होंने भी तार्किक प्रणालीका आश्रय लिया। बौद्ध-तार्किकोंमें सर्वप्रथम और प्रधान आचार्य नागार्जुन हुआ। इनका काल ईसाकी दूसरी शताब्दी है। ये महान् प्रतिभाशाली और प्रचण्ड तार्किक थे। इन्होंने 'माध्यमिक-कारिका" नामक तर्कका प्रौढ़ और गंभीर ग्रंथ बनाया, एवं बौद्ध-साहित्यका मूल आधार "शून्यवाद" निर्धारित किया। इसके आधार पर वैदिक मान्यताओंका और वैदिक-मान्यतानुकूल तर्कोंका प्रबल खण्डन किया। दिङ् नागादि पश्चात्वर्ती बौद्ध तार्किकोंने इस विषयको और भी आगे बढ़ाया और इस प्रकार इस तर्क-शास्त्रीय युद्धकी गंभीर नींव डाल कर अपने प्रतिपक्षियोंको चिर-काल तक विवश किया साथ ही भारतीय तर्क- शास्त्रकी भव्य इमारतका कला-पूर्ण निर्माण किया।

इस तर्क-युद्धमें जैनेतर तार्किक विद्वान् जैन-दर्शन पर भी छींटे उछालने लगे और भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्मका उपहास करने लगे; तब जैन-विद्वानोंको भी जैनधर्मकी रक्षा करनेकी चिन्ता सताने लगी। इन्होंने सोचा कि अब केवल "आगमों" पर निर्भर रहनेसे ही कार्य नहीं चलेगा और न केवल 'आगम-रक्षा' से 'जिन-शासन' की रक्षा हो सकेगी। इसलिये जिस प्रकार बौद्ध-विद्वानोंने सम्पूर्ण बौद्ध-साहित्यकी विवेचना और रक्षाका आधार 'शून्यवाद' निर्धारित किया; उसी प्रकार इन विद्वान् साधुओंने भी जैन-साहित्यकी विवेचना और रक्षका आधार '**स्याद्वाद-सिद्धान्त**' रक्खा। बौद्ध और जैन-न्याय साहित्य-रूप भवनकी आधार शिलाका संस्थापन जिन कारणोंसे हुआ है, उनका यह संक्षिप्त दिग्दर्शन समझना चाहिये।

तर्क-शास्त्रकी उत्पत्ति और विकासके कारणोंको जान लेनेके बाद यह जानना आवश्यक है कि धर्म, दर्शन और तर्ककी परिभाषा क्या है? मुख्यतया क्रियात्मक चारित्रका नाम धर्म है, द्रव्यानुयोग सम्बन्धी ज्ञानको 'दर्शन' कहते हैं और दर्शनरूप ज्ञानके सम्बन्धमें ऊहापोह करना, भिन्न भिन्न रीतिसे विश्लेषण करना 'तर्क' अथवा 'न्याय' है।

यद्यपि श्वे० जैन-न्याय-साहित्यका प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकरके कालसे ही हुआ है; फिर भी जैन न्यायका मूल बीज विक्रमकी प्रथम शताब्दिमें होने वाले, संस्कृत

जैन वाङ्मयके आदि-लेखक आचार्य उमास्वाति वाचक द्वारा ग्रंथराज "तत्वार्थ-सूत्र" के प्रथम अध्यायके छठे सूत्र "**प्रमाणनयैरधिगमः**" में सन्निहित है । सम्पूर्ण जैनन्याय साहित्यका आलोचन किया जाय तो पता चलेगा कि उपर्युक्त सूत्रका ही सम्पूर्ण जैन न्याय-साहित्य भाष्य रूप है। अर्थात् प्रमाण और नयके आधार पर ही जैनेतर सभी दर्शनोंकी मान्यताओंकी परीक्षा की गई है और जैनदर्शन-सम्मत सिद्धान्तोंकी नैयायिक नींव डाली गई है।

स्याद्वाद

प्रमाण और नयका समन्वय ही 'स्याद्वाद' है। अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद, आदि शब्द इसके पर्यायवाची हैं। मूल आगमोंमें '**सिय अत्थि**' '**सिय नत्थि**' और '**सिय अवत्तव्वं**' अर्थात् स्यादस्ति, स्याद् नास्ति और स्यादवक्तव्यं (उर्फ़ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) ये तीन ही भाग मिलते है, अतः स्याद्वादका यही आगमोक्त रूप है। इन तीनोंकी सहायतासे ही व्यष्टि रूपसे और समष्टि रूपसे सात भाग बनते हैं । न अधिक बन सकते हैं और न कम ही। कहा जाता है कि सर्व प्रथम ये सात भांगे प्रथम शताब्दिमें होने वाले प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित 'पंचास्तिकाय' 'प्रवचन-सार' में मिलते हैं, परन्तु चौथी शताब्दिके बादसे ही इस विषयक साहित्यका विशेष विस्तार और विकास होता है, और अन्तमें शनैः शनैः बारहवीं शताब्दि तक यह विषय विकासकी चरम कोटिको पहुँच जाता है। बौद्ध दर्शन एवं वैदिक दर्शनोंको पदार्थ विवेचन-पद्धतिमें और जैनदर्शनकी पदार्थ विवेचन-पद्धतिमें इस स्याद्वादके कारणसे ही महदन्तर है। सम्पूर्ण जैन-न्यायका भवन इसी स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) के ऊपर ही टिका हुआ है। कहना न होगा कि जैनदर्शनके पास दूसरे दर्शनोंकी मान्यताओंका प्रामाणिक रूपसे खंडन करनेके लिये यही—स्याद्वाद ही—एक अमोघ अस्त्र सिद्ध हुआ है । साराँश यही है कि जैन-न्यायका एक ही दृष्टिकोण है और वह है स्याद्वाद-पद्धतिसे—अनेकान्त-पद्धतिसे वस्तु स्थितिका विवेचन किया जाना।

मूल, चूर्णि, निर्युक्ति, टीका आदि पंचांगी आगम साहित्यमें स्याद्वादका सूक्ष्म और आवश्यक विवेचन मिलता है और ज्यों ज्यों दार्शनिक संघर्षण चलता है, त्यों त्यों स्याद्वादका स्वरूप और विवेचन गंगाके प्रवाहके समान शीतल, विशाल, विस्तृत और आल्हादक होता चला जाता है।

विश्व, आत्मा, ईश्वर, प्रकृति आदि मूलभूत तत्वोंके आदि अंतका वर्णन दार्शनिकोंने जिस प्रकार किया है, और जैसा उनका एकान्त एकांगी रूप माना है; एकान्तवादके कारण वह पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् लोकालोक रूप संसार का एकांगी स्वरूप मान लेने पर ही दार्शनिक मतभेद और धार्मिक कलहकी उत्पत्ति हुई है और होती है। इन क्लेशोंको दूर करनेके लिये ही 'स्याद्वाद'की उत्पत्ति और इस विषयक साहित्यका विकास हुआ है। प्रत्येक पदार्थ विभिन्न कारणोंसे और विभिन्न अपेक्षाओंसे अनेक स्वरूप है । वह न एकान्त नित्य है और न एकान्त रूप से अनित्य ही । द्रव्य-अपेक्षासे नित्य है और पर्याय-अपेक्षासे अनित्य। इसी तरहसे स्वद्रव्य क्षेत्र आदिके हिसाबसे वह अस्तिरूप है और पर द्रव्य-क्षेत्र आदिके लिहाजसे नास्तिरूप है। यह बात जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके तत्वोंके लिये समझना चाहिये। यही स्याद्वादका रहस्य है।

जिन जैनेतर दार्शनिकोंने इसे संशयवाद या अनिश्चयवाद कहा है, निश्चय ही, उन्होंने इसका गंभीर अध्ययन किये बिना ही ऐसा लिखा है। आश्चर्य तो इस बातका है कि प्रसिद्ध प्रसिद्ध सभी विभिन्न दार्शनिकों ने इस सिद्धान्तका शब्द रूपसे खंडन करते हुए भी प्रकारांतरसे अपने अपने दार्शनिक-सिद्धान्तोंमें विरोधोंके उत्पन्न होने पर उनकी विविधताओंका समन्वय करनेके लिए इसी सिद्धान्तका आश्रय लिया है। महामति मीमांसकाचार्य कुमारिलभट्टने अपने गंभीर ग्रन्थोंमें और सांख्य, न्याय, बौद्ध आदि दर्शनोंके अनेक आचार्योंने अपने अपने ग्रन्थोंमें प्रकारान्तरसे इसी सिद्धान्तका आश्रय लिया है। इस सम्बन्धमें पं० हसराज-जी लिखित "दर्शन और अनेकन्तवाद" नामकी पुस्तक पठनीय है।

स्याद्वादके महत्त्वके विषयमें अनेक प्राचीन आचार्यों-ने संख्यातीत श्लोकों द्वारा अत्यन्त तर्क पूर्ण श्रद्धा और स्तुत्य भावनामय भक्ति प्रकाशित की है। उनमें से कुछ उदाहरण निम्न प्रकारसे है:---

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवादस्स॥
भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥

—सिद्धसेन दिवाकर

आदीपमाव्योम सम स्वभाव, स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य,—दितित्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥

—हेमचन्द्राचार्य

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥
परमागमस्य बीजं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुर-विधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

—अमृतचन्द्र सूरि

इनका संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार हैः—

जिसके अभावमें लोकव्यवहारका चलना भी असंभव है, उस त्रिभुवनके अद्वितीय गुरु 'अनेकान्त-वाद' को असंख्यात बार नमस्कार है॥१॥

मिथ्यादर्शनोंके समूहका समन्वय करनेवाला, अमृतको देनेवाला, मुमुक्षुओं द्वारा सरल रीतिसे समझने योग्य ऐसा जिनेन्द्र भगवान्का प्रवचन-स्याद्वाद सिद्धान्त-कल्याणकारी हो॥२॥

दीपकसे लगाकर आकाश तक अर्थात् सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तुसे लेकर बड़ीसे बड़ी वस्तु भी 'स्याद्वाद' की आज्ञानुवर्तिनी है। यदि कोई भी पदार्थ चाहे वह छोटा हो या बड़ा, स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार अपना स्वरूप प्रदर्शित नहीं करेगा तो उसकी वस्तु-स्थितिका वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकेगा। हे भगवान्! यह 'स्याद्वाद' से अनभिज्ञ लोगोंका प्रलाप ही है, जो यह कहते हैं कि "कुछ वस्तु तो एकान्त नित्य हैं और कुछ एकान्त अनित्य।" अतः विद्वान पुरुषोंको सभी वस्तुएँ द्रव्यापेक्षया नित्य और पर्यायापेक्षया अनित्य समझना चाहिये॥३॥

जिस प्रकार मक्खनके लिये दहीको मथनेवाली स्त्री दोनों हाथोंमें रस्सी (मन्थान रज्जु) को पकड़े रहती है। एक हाथमें ढील देती है और दूसरे हाथसे उसे खींचती है, तभी मक्खन प्राप्त हो सकता है। यदि वह एक ही हाथसे कार्य करे अथवा दूसरे हाथकी रस्सीको बिल्कुल छोड़ देवे तो सफलता नहीं मिल सकती है; यही स्याद्वादकी नीतिका भी रहस्य है। इस सिद्धान्तमें भी "ढील देना और खींचना" रूप क्रियाका वस्तु विवेचनके समय क्रमसे गौणता और मुख्यता समझना चाहिये। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्ममय है। उनमेंसे एक धर्मकी मुख्यता और शेष धर्मोंको उनका निषेध नहीं

करते हुए गौणता प्रदान करने पर ही वस्तु-तत्त्वका निर्णय हो सकता है ॥४॥

स्याद्वाद सिद्धान्त परमागमका बीज है, इसने जन्मान्ध-गज-न्यायके समान एकान्तवाद रूप मिथ्या-धारणाका सर्वथा नाश कर दिया है। यह वस्तुमें सन्निहित अनन्त धर्मोंकी अपेक्षा करता हुआ, विरोधोंको विविधताके रूपमें समन्वय करनेवाला है। ऐसे सिद्धान्त शिरोमणि "अनेकान्तवाद" को मैं अनत बार नमस्कार करता हूँ ॥५॥

इसलिये स्याद्वादको संशयवाद या अनिश्चयवाद कहना निरी मूर्खता है। स्याद्वाद सर्वानुभवसिद्ध, सुव्यवस्थित, सुनिश्चित, और सर्वथा निर्दोष सिद्धान्त है। संपूर्ण धार्मिक क्लेशोंको दूर करनेके लिये, सभी मत-मतान्तरोंका समन्वय करके उनको एक ही प्लेट फार्म पर लानेके लिये, एवं विश्वके बिखरे हुए और विरोधी रूपसे प्रतीत होनेवाले लेखों विचारों तथा हजारों संप्रदायों को एक ही सूत्रमें अनुस्यूत करनेके लिये स्याद्वाद जैसा कोई दूसरा श्रेष्ठ सिद्धान्त है ही नहीं। विश्वकी सभ्यता, संस्कृति और शांतिके विकासके लिये जैनदर्शन और जैनतर्क शास्त्रकी यह एक महान् देन है। किन्तु खेद है कि आजका जैनसमाज अनेक संप्रदायोंमें विभाजित होकरके रत्न जैसे सुन्दर सिद्धान्तोंको शीशेके टुकड़ोंके रूपमें परिणत करता हुआ भगवान् महावीर स्वामीके नामपर विश्वासघात कर रहा है! अर्थात् अनेकान्तवादी स्वयं साम्प्रदायिक व्यामोहमें एकान्तवादी हो गया है !!

प्रमाण और नय पर ऐतिहासिक दृष्टि

यह पहले लिखा जा चुका है कि प्रमाण और नय का समन्वय ही स्याद्वाद-सिद्धान्त है; अतः इस विषय पर भी एक सरसरी ऐतिहासिक दृष्टि डालना आवश्यक है। स्वपर-निश्चायक ज्ञान ही प्रमाण है। जैन वाङ्मय-में ज्ञान-दर्शनकी दो पद्धतियाँ उपलब्ध हैं। एक आगमिक और दूसरी तार्किक। आगमिक पद्धतिके भी दो रूप मिलते हैं। एक तो विशुद्ध-आगमिक और दूसरी तर्कांश मिश्रित-आगमिक। विशुद्ध आगमिक-ज्ञान निरूपण पद्धतिमें ज्ञानके पाँच भेद किये गये हैं। मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय और केवल। इनको आगमिक कहनेका कारण यह है कि आत्माकी मूलभूत शुद्धि और अशुद्धिके विवेचनमें जो 'कर्मसिद्धान्त' का वर्णन किया जाता है, उसमें ज्ञानावरण कर्मके पाँच ज्ञान-भेदके अनुसार किये गये हैं। तर्क-संघर्षणसे उत्पन्न प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्षरूप भेदोंके आधारसे प्रत्यक्षावरण और परोक्षावरणरूपभेद ज्ञानावर्ण कर्मके नहीं किये गये हैं। यदि ज्ञानावर्णके भेद प्रत्यक्षावर्ण और परोक्षावर्णके रूपमें किये जाते तो यह तर्कप्रधान ज्ञान-विवेचन-प्रणाली कहलाती। किन्तु ऐसा न होनेसे यह अतिविशुद्ध और प्राचीन आगमिक-ज्ञान प्रणाली है।

तर्कमिश्रित आगमिक ज्ञान पद्धतिमें ज्ञान रूप प्रमाणके ४ विभाग किये गये हैं। १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, और ४ आगम। तदनुसार विशुद्ध आगमिक ज्ञान पद्धतिके भेदोंका समावेश प्रत्यक्षमें समझना चाहिये और शेष भेद तर्क-संघर्षसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसा समझना चाहिये। श्री ठाणांग सूत्रमें "प्रत्यक्ष और परोक्ष" तथा "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम" इस प्रकार दोनों भेद वाली प्रणालीका उल्लेख पाया जाता है। इसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद वाली प्रणाली तो स्पष्ट रूपसे विशुद्ध तार्किक ही है। श्री भगवती सूत्रमें केवल चार भेद वाली प्रणालीका उल्लेख पाया जाता है। श्री अनुयोग द्वारा सूत्रमें चार भेद वाली प्रणालीका उल्लेख किया जाकर प्रत्यक्ष दो

भागोंमें बांट दिया गया है। एक भागमें मतिज्ञानका और दूसरेमें अवधि आदि तीनका समावेश किया गया है भी नन्दी सूत्रमें भी अनुयोगद्वारके समान ही प्रत्यक्षके दो भेद किये जाकर एकमें मतिज्ञानको और दूसरेमें अवधि आदि तीनको रक्खा है। किन्तु परोक्ष वर्णनमें पुनः मति श्रुति दोनोंका समावेश कर दिया है; यह अनुयोगद्वारकी अपेक्षा नंदी सूत्रकी विशेषता है। इस प्रकार आगमोंमें भी मिलनेवाली तर्कांशमिश्रित ज्ञान प्रणालीका यह अति स्थूलरेखा दर्शन समझना चाहिये।

विशुद्ध तार्किक ज्ञान-प्रणालीका एक ही रूप पाया जाता है और यह है प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद वाली प्रणाली। सम्पूर्ण जैन संस्कृत वाङ्मयमें सर्व प्रथम यह प्रणाली आचार्य उमास्वाति कृत "तत्वार्थसूत्र" में पाई जाती है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और दिगम्बराचार्य भट्टाकलंकदेवने इतना विश्लेषण कर पूर्णरीत्या समर्थन किया; और तत्पश्चात् जिनेश्वर सूरि, वादिदेव सूरि हेमचन्द्राचार्य तथा उपाध्याय यशोविजयजी आदि श्वेताम्बर आचार्योंने और माणिक्यनन्दी तथा विद्यानन्द आदि दिगम्बर आचार्योंने भी अपने अपने न्याय ग्रन्थोंमें इस प्रणालीको पूरी तरहसे संगुफित कर दिया जो कि अद्यापि सर्वमान्य है।

इस प्रणालीमें प्रत्यक्षके दो भाग किये गये हैं:—१ सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। प्रथम भागमें मति, श्रुतिको स्थान दिया गया है और दूसरेमें अवधि, मनःपर्यय और केवलको इस प्रकार प्रत्यक्ष भेदमें विशुद्ध आगमिक पद्धतिकी समस्याको केवल हल कर दिया है और परोक्षमें तार्किक-संघर्षसे उत्पन्न प्रमाणके भेदोंका समावेश कर दिया गया है। जैनेतर दार्शनिकों ने जितने भी प्रमाण माने हैं, उन सबका समावेश परोक्षके अन्तर्गत कर लिया गया है। जैनदृष्टिसे परोक्ष के ५ भेद किये हैं, १ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान, और ५ आगम। इस प्रकार सारांश रूप से यह कहा जा सकता है कि संपूर्ण प्रमाण वादको जैन न्यायाचार्योंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपमें सुव्यवस्थित रूपसे संघटित कर दिया है, जो कि सम्पूर्ण जैन वाङ्मयमें निर्विवाद रूपसे सर्वमान्य हो चुका है।

नयवादकी विकास-प्रणाली प्रमाणवादकी विकास प्रणालिके समान विस्तृत नहीं है। मूल आगम-ग्रंथोंमें सात नयोंका उल्लेख पाया जाता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर छह नय ही मानते हैं। वे नैगमको स्वतन्त्र नयकी कोटिमें नहीं गिनते है। द्रव्यार्थिक दृष्टिकी मर्यादा संग्रह नय और व्यवहार नय तक ही स्वीकार करते हैं। शेष चार नयोंको पर्यायार्थिक दृष्टिकी मर्यादाके अन्तर्गत समझते हैं। इन आचार्यके पूर्व कोई षट्नयवादी थे या नहीं, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसलिये यह कहा जाता है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही आदि षट्-नयवादी हैं।

प्राचीन परंपरा द्रव्यार्थिक दृष्टिकी मर्यादा ऋजुसूत्र नय तक स्वीकार करती है; किन्तु सिद्धसेन-कालके पश्चात् यह मर्यादा व्यवहारनय तक हो अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकार करली गई है। समर्थ आगमिक विद्वान् जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण एवं प्रचंड नैयायिक श्री विद्यानन्द आदि आचार्यों द्वारा चर्चित नयवाद-चर्चा उपर्युक्त कथनका समर्थन करती है।

आगम-प्रसिद्ध सप्त नयवाद और सिद्धसेनीय षट्-नयवादके अतिरिक्त जैन संस्कृत साहित्यके आदि स्रोत, आचार्य प्रवर वाचक उमास्वातिकी तीसरी नय-वाद-भेद-प्रणालि भी देखी जाती है। ये 'नैगम' से 'शब्द' तक ५ नय स्वीकार करते हैं; और अंतमें 'शब्द' के तीन भेद करके आगम प्रसिद्ध शेष दो नयोंका भी समावेश

कर देते हैं। देखा जाय तो इन तीनों परम्पराओंमें केवल विवेचन-प्रणालिकी भिन्नता है, तात्विक-दृष्टिसे कोई खास उल्लेखनीय भिन्नता नहीं है।

विक्रमकी बारहवीं शताब्दिमें होनेवाले, दार्शनिक जगतके महान् विद्वान् और प्रबल वाग्मी श्री वादिदेव-सूरि आगम-प्रसिद्ध नयवाद प्रणालिका समर्थन करते हुए नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रको 'अर्थनय' की कोटिमें रखते हैं और शब्द, समभिरूढ़ और एवं-भूतको 'शब्दनय' की कोटिमें गिनाते हैं। किन्तु पूर्व तीनों नयोंको द्रव्यार्थिककी श्रेणीमें रखकर और शेष चारको पर्यायार्थिककी श्रेणीमें रखकर सिद्धसेनीय मर्यादाका समर्थन करते हैं।

यहाँ तक आगम-काल, भारतीय-न्याय-शास्त्रकी उत्पत्ति और उसके विकासके कारण, बौद्ध और जैन न्याय शास्त्रकी आधार शिला, स्याद्वाद सिद्धान्त और उसके शाखारूप प्रमाण एवं नयका ऐतिहासिक वर्गीकरण आदि विषयोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा चुका है। न्याय ग्रंथोंमें वर्णित हेतुवाद एवं अन्यवादों पर दृष्टि डालनेकी इच्छा रखते हुए भी विस्तार-भयसे ऐसा नहीं करके; प्रसिद्ध प्रसिद्ध जैन न्यायाचार्योंका ऐतिहासिक काल क्रम बतलाते हुए, तथा संपूर्ण न्याय साहित्य पर एक उपसंहारात्मक सरसरी दृष्टि डालते हुए यह लेख समाप्त कर दिया जायगा।

कुछ प्रसिद्ध जैन न्यायाचार्य

१ सिद्धसेन दिवाकर*—श्वेताम्बर जैन न्याय-साहित्यके ये ही आद्य आचार्य हैं। इनका काल विक्रमकी तीसरी-चौथी-पाँचवीं शताब्दिमेंसे कोई शताब्दी है। ये जैनधर्म और जैन साहित्यके महान्प्रतिष्ठापक और प्रतिभा संपन्न समर्थ आचार्य थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थोंमेंसे सम्मति तर्क, न्यायावतार, तथा २२ द्वात्रिंशिकाएँ उपलब्ध हैं।

२ मल्लवादी क्षमाश्रमण—इनका काल विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि है। इनका बनाया हुआ न्याय-ग्रन्थ "नय चक्रवाल" सुना जाता है, जो कि दुर्भाग्यसे अनुपलब्ध है। कहा जाताहै कि इन्होंने शीलादित्य राजाकी सभामें बौद्धोंको हराया था और उन्हे सौराष्ट्र देशमेसे निकाल दिया था।

३ सिंहक्षमाश्रमण—इनका काल सातवीं शताब्दि माना जाता है। इन्होंने "नय-चक्रवाल" पर १८ हज़ार श्लोक प्रमाण एक सुन्दर संस्कृत टीका लिखी है। इसकी प्रति अस्त व्यस्त दशामें और अशुद्ध रूपसे पाई जाती है। उच्चकोटिके दार्शनिक ग्रंथोंमें इसकी गणनाकी जाती है।

४ हरिभद्रसूरि—इनका अस्तित्व-काल विक्रम ७५७से ८२७ तकका सुनिश्चित हो चुका है। ये 'याकिनी-महत्तरासूनु' के नामसे प्रसिद्ध हैं और १४४४ ग्रंथों-के प्रणेता कहे जाते हैं। इन्हें भारतीय साहित्य-कारोंकी सर्वोच्च पंक्तिके साहित्यकारोंमेंसे समझना चाहिये। ये अलौकिक प्रतिभासंपन्न और महान् मेधावी, गंभीर न्यायाचार्य थे। अनेकान्तजयपता-का, षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अने-कान्तवाद प्रवेश धर्मसंग्रहणी, न्यायविनिश्चय (?); आदि इन द्वारा रचित न्यायके उच्चकोटिके ग्रंथ हैं।

५ अभयदेव सूरि—ये विक्रमकी १०वीं शताब्दिके उत्तरार्ध और ११वींके पूर्वार्धमें हुए। ये तर्क-

* सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य हेमचन्द्र पर विस्तृत विचार जाननेकी इच्छा रखनेवाले पाठक मेरे द्वारा लिखित और "अनेकान्त" वर्ष २२ की किरण ४, ५, ६ और ६ एवं १०में प्रकाशित इन आचार्य विषयक निबन्ध देखनेकी कृपा करें। —लेखक

पंचानन और न्यायवनसिंहकी उपाधिसे सुशोभित थे। नवाँगीवृत्तिकार अभयदेवसे इन्हें भिन्न समझना चाहिये। इन्होंने सिद्धसेन दिवाकर रचित सम्मति तर्क पर पच्चीस हज़ार श्लोक प्रमाण न्याय शैली पर एक विस्तृत टीका लिखी है। यह अनेक दार्शनिक-ग्रन्थोंका मंथन किया जाकर प्राप्त हुए नवनीतके समान अति श्रेष्ठ दार्शनिक ग्रंथ है। दशवीं शताब्दि तकके विकसित भारतीय दर्शनोंके ग्रन्थोंकी खाता बहीके रूपमें यह एक सुन्दर संग्रह ग्रंथ है।

६ **चन्द्रप्रभ सूरि**—इनका काल विक्रमकी १२वीं शताब्दि (११४६) है। इन्होंने दर्शन-शुद्धि और प्रमेयरत्न कोश नामक न्यायग्रन्थकी रचना की है। कहा जाता है कि इन्होंने सं० ११५८ में पूर्णिमा गच्छकी स्थापना की थी।

७ **वादिदेवसूरि**—इनका काल विक्रम सं० ११३४ से १२२६ तकका है। इन्होंने 'प्रमाण नयतत्त्वालोक' नामक सूत्रबद्ध न्याय-ग्रन्थकी रचना करके उसपर चौरासी हज़ार श्लोक प्रमाण विस्तृत और गंभीर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक टीकाका निर्माण किया है। यह टीका-ग्रंथ भी जैन न्यायके चोटीके ग्रंथोंमें से है। **"प्रमेयरत्नकोटीभिः पूर्णो रत्नाकरो महान्"** पंक्तिसे इसकी महत्ता और गुरुता आँकी जा सकती है। कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंहकी राजसभामें दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्राचार्यको वाद-विवादमें इन्होंने पराजित किया था। ये वाद-विवाद करनेमें परम कुशल थे; इसीलिये "देव-सूरि" से 'वादिदेव-सूरि' कहलाये।

८ **हेमचंद्राचार्य**—इनका सत्ता-समय विक्रम ११४५ से १२२६ तक है। इनकी अगाध बुद्धि, गंभीर ज्ञान और अलौकिक प्रतिभाका अनुमान करना हमारे लिये कठिन है। कहा जाता है कि इन्होंने अपने साधुचरित जीवनमें साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण साहित्यकी रचना की थी। न्याय ग्रन्थोंमें प्रमाण-मीमांसा, अन्ययोग-व्यवच्छेद और अयोग-व्यवच्छेद नामक द्वात्रिंशिकाओंकी रचना आपके द्वारा हुई पाई जाती है।

९ **रत्नप्रभसूरि**—ये वादिदेवसूरिके शिष्य हैं, अतः वादिदेवसूरिका जो समय है वही इनका भी समझना चाहिये। प्रमाणनय-तत्त्वालोकपर इन्होंने पाँच हजार श्लोक प्रमाण 'रत्नाकरावतारिका' नामक टीका-ग्रन्थ लिखा है, जिसकी भाषा और शैलीको देख कर हम इसे 'न्यायकी कादम्बरी' भी कह सकते हैं।

१० **शांत्याचार्य**—इनका काल विक्रमकी ११वीं (?) शताब्दि है। इन्होंने सिद्धसेन दिवाकर-रचित न्यायावतारके प्रथम श्लोकके आधार पर ही एक वार्तिक लिखा है, जो कि प्रमाण-वार्तिक भी कहा जाता है। इसी वार्तिक पर इन्होंने २८७३ श्लोक प्रमाण 'प्रमाण-प्रमेय-कलिका' नामक टीका भी लिखी है जो प्रकाशित हो चुकी है, किन्तु अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं।

११ **मल्लिषेणसूरि**—ये चौदहवीं शताब्दिमें हुए हैं। आपने आचार्य हेमचन्द्र रचित 'अन्य योगव्यवच्छेद' नामक द्वात्रिंशिका पर सं० १३४६ में तीन हजार श्लोक प्रमाण "स्याद्वादमंजरी" नामक व्याख्या ग्रंथ लिखा है। इसकी भाषा प्रसाद-गुण-सम्पन्न है और विषय-प्रवाह शरद-ऋतुकी नदीकी प्रवाहके समान सुन्दर और आल्हादक है। षट् दर्शनोंका संक्षिप्त और सुन्दर ज्ञान कराने वाली इसके जोड़की दूसरी पुस्तक मिलना कठिन है।

१२ **गुणरत्नसूरि**—ये पन्द्रहवीं शताब्दिमें हुए हैं। इन्होंने हरिभद्रसूरि रचित "षट्-दर्शन-समुच्चय" पर १२५२ श्लोक प्रमाण "तर्क-रहस्य-दीपिका" नामक एक भावपूर्ण टीका लिखी है। इसमें भी षट्-दर्शनोंके सिद्धान्तों पर अच्छा विवेचन किया गया है। दार्शनिक-ग्रंथोंकी कोटिमें इसका भी अपना विशेष स्थान है।

१३ **उपाध्याय यशोविजय जी**—जैन-न्याय साहित्य रूप भव्य भवनके पूर्ण हो जाने पर उसके स्वर्ण-कलश-समान ये अन्तिम जैन न्यायाचार्य हैं। ये महान् मेधावी और साहित्य-सृजनमें अद्वितीय अव्याहत गति-शील थे। इनकी लोकोत्तर प्रतिभा और अगाध पांडित्यको देखकर काशीकी विद्वत् सभा ने इन्हें 'न्याय-विशारद' नामक उपाधिसे विभूषित किया था। तत्पश्चात् सौ ग्रन्थोंका निर्माण करने पर इन्हें 'न्यायाचार्य' का विशिष्ट पद प्राप्त हुआ था और तभीसे ये "शत-ग्रन्थोंके निर्माता" रूपसे प्रसिद्ध भी हैं। तर्क भाषा, न्यायलोक, न्यायखंड-खाद्य, स्याद्वाद, कल्पलता आदि अनेक न्यायग्रंथ आप द्वारा रचित पाये जाते हैं। इनका काल १८वीं शताब्दि है।

इन उल्लिखित आचार्योंके अतिरिक्त अन्य अनेक जैन नैयायिक ग्रथकार हो गये हैं; किन्तु भयसे इस लेख में कुछ प्रमुख प्रमुख आचार्योंका ही कथन किया जा सका है। उपाध्याय यशोविजय जीके पश्चात् जैन-न्याय-साहित्यके विकासकी धारा रुक जाती है और इस प्रकार चौथी शताब्दि के अन्तसे और पांचवींके प्रारम्भ में जो जैन न्याय-साहित्य प्रारम्भ होता है, वह १८वीं शताब्दि तक जाकर समाप्त हो जाता है।

उपसंहार

संपूर्ण जैन न्याय-ग्रंथोंमें षट्-दर्शनोंकी लगभग सभी मान्यताओंका स्याद्वादकी दृष्टिसे विश्लेषण किया गया है। और अन्तमें इसी बात पर बल दिया गया है कि अपेक्षा विशेषसेनय-दृष्टिसे सभी सिद्धान्त सत्य हो सकते हैं। किन्तु वे ही सिद्धान्त उस दशामें असत्य रूप हो जायंगे; जबकि उनका निरूपण एकान्त रूपसे एक ही दृष्टिसे किया जायगा।

न्याय-ग्रंथोंमें वर्णित कुछ मुख्य मुख्यवादोंके नाम इस प्रकार हैं:—सामान्यविशेषवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद आगमवाद, नित्यानित्यवाद, आत्मवाद, मुक्तिवाद, शून्यवाद, अद्वैतवाद, अपोहवाद, सर्वज्ञवाद, अवयव-अवयविवाद, स्त्रीमुक्तिवाद, कवलाहारवाद, शब्दवाद, वेदादि अपौरुषेयवाद, क्षणिकवाद, प्रकृतिपुरुषवाद, जडवाद अर्थात् अनात्मवाद, नयवाद, प्रमाणवाद, अनुमानवाद और स्याद्वाद इत्यादि इत्यादि।

ज्यों ज्यों दार्शनिक-संघर्ष बढ़ता गया त्यों त्यों विषयमें गंभीरता आती गई। तर्कोंका जाल विस्तृत होता गया। शब्दाडम्बर भी बढ़ता गया। भाषा सौष्ठव और पद लालित्यकी भी वृद्धि होती गई। अर्थ गांभीर्य भी विषय-स्फुटता एवं विषय-प्रौढ़ताके साथ साथ विकासको प्राप्त होता गया। अनेक-स्थलों पर लम्बे लम्बे समास-युक्त वाक्योंकी रचनासे भाषाकी दुरुहता भी बढ़ती गई। कहीं कहीं प्रसाद-गुण-युक्त भाषाका निर्मल स्रोत्र भी कलकल नादसे प्रवाहमय हो चला। यत्रतत्र सुन्दर और प्रांजल भाषाबद्ध गद्य प्रवाहमें स्थान स्थान पर भावपूर्ण पद्योंका समावेश किया जाकर विषयकी रोच-कता दुगुनी हो चली। इस प्रकार न्याय-साहित्यको सर्वाङ्गीण सुन्दर और परिपूर्ण करनेके लिये प्रत्येक जैन न्यायाचार्यने हार्दिक महान् परिश्रमसाध्य प्रयास किया है और इसलिये वे अपने पुनीत कृत संकल्पमें पूरी तरहसे और पूरे यशके साथ सफल मनोरथ हुए हैं। यही कारण है कि जैन न्यायाचार्योंकी दिगन्त व्यापिनी, सौम्य और उज्जवल कीर्तिका सुमधुर प्रकाश सम्पूर्ण विश्वके दार्शनिक क्षेत्रोंमें मूर्तिमान् होकर पूर्ण प्रतिभाके साथ पूरी तरहसे प्रकाशित हो रहा है।

हम इन आदरणीय आचार्योंकी सार्वदेशिक प्रतिभा से समुत्पन्न, गुणगारिमासे ओत प्रोत उज्जवल कृतियों-को देख कर यह निस्संकोचरूपसे कह सकते हैं कि इन की असाधारण अमर और अमूल्य कृतियोंने जैन-साहित्यकी ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय-साहित्यकी सौभाग्य श्रीको अलंकृत किया है और वे अब भी कर रही हैं।

गोत्र-विचार

[अर्सा हुआ, जब मैं 'जैन हितैषी' पत्रका सम्पादन करता था, तब मैंने 'गोत्र विचार' नामका एक लेख लिखकर उसे १५वें वर्षके 'जैन हितैषी' के अंक नं० २-३ में प्रकाशित किया था। आज कल जब कि गोत्र कर्माश्रित ऊँच-नीचताकी चर्चा जोरों पर है और गोम्मटसारादिके गोत्र लक्षणोंको सदोष बतलाया जा रहा है ❀ तब उक्त लेख बहुत कुछ उपयोगी होगा और पाठकोंको अपना ठीक विचार बनानेमें मदद करेगा, ऐसा समझकर, आज उसे कुछ संशोधनादिके साथ पाठकोंके सामने रक्खा जाता है] 'सम्पादक'

गोत्र-विचार

सन्तान क्रमसे चले आये जीवोंके आचरण विशेषका नाम 'गोत्र' है। वह आचरण ऊँचा और नीचा ऐसा दो प्रकारका होनेसे गोत्रके भी सिर्फ दो भेद हैं-एक 'उच्च-गोत्र' और दूसरा 'नीच गोत्र' ऐसा गोम्मटसारमें श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ति द्वारा जैन सिद्धान्त बतलाया गया है। जैन सिद्धान्तमें अष्टकर्मोंके अन्तर्गत 'गोत्र' नामका एक पृथक् कर्म माना गया है, उसीका यह उक्त आचार्य प्रतिपादित लक्षण अथवा स्वरूप है। परन्तु जैनियोंमें आजकल गोत्र विषयक जिस प्रकारका व्यवहार पाया जाता है वह इस सिद्धांत प्रतिपादित गोत्र-कथनसे बहुत कुछ विलक्षण मालूम होता है। जैनियोंके गोत्रोंकी संख्या भी सैंकड़ों पर पहुँची हुई है। उनकी ८४ जातियोंमें प्रायः सभी जातियाँ कुछ न कुछ संख्या प्रमाण गोत्रोंको लिये हुये हैं। परन्तु उन सब गोत्रोंमें 'उच्च' और 'नीच' नामके कोई गोत्र नहीं हैं; और न किसी गोत्रके भाई ऊँच अथवा नीच समझे जाते हैं। अनेक गोत्र केवल ऋषियोंके नाम पर उनका उपदेश माननेके कारण, अनेक गोत्र केवल नगर-ग्रामादिकोंके नाम पर उनमें निवास करनेके कारण और बहुतसे गोत्र केवल व्यापार पेशा अथवा शिल्पकर्मके नामों पर उनको कुछ समय तक करते रहनेके कारण पड़े हैं। और भी अनेक कारणोंसे कुछ गोत्रोंका नामकरण हुआ जान पड़ता है, और इन सब गोत्रोंकी वह सब स्थिति बदल जाने पर भी अभी तक उनके वही नाम चले जाते हैं-समान आचरण होते हुए भी जैनियोंके गोत्रोंमें परस्पर विभिन्नता पाई जाती है। अतः जैनियोंके लिये गोत्र सम्बन्धी प्रश्न एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है और इसलिये उसपर विचार चलने की जरूरत है। अर्सा हुआ 'सत्योदय' में 'शूद्र-मुक्ति' शीर्षक एक लेख निकला था, जो बादमें पुस्तकाकारमें भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। उसमें गोम्मटसार-प्रतिपादित गोत्र कर्मके स्वरूप पर कुछ विशेष विचार प्रकट किये गये हैं। उन विचारोंको—लेखके केवल उतने ही अंशको—पाठकोंके विचारार्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है। आशा है विज्ञ पाठक एक विद्वान्के इन विचारोंपर सविशेष रूपसे विचार करनेकी कृपा करेंगे और यदि हो सके तो अपने विशेष विचारोंसे सूचित करनेको भी उदारता दिखलायेंगे:—

❀ देखो, 'अनेकान्त' की द्वितीय वर्षकी फाइल, और उसमें भी 'गोत्र लक्षणोंकी सदोषता' नामक लेख, जो पृष्ठ ६८० पर मुद्रित हुआ है।

गोमट्टसारमें 'गोत्रकर्म' के कार्य दर्शनके लिये निम्न लिखित गाथा है:—

संताणकमेणागय-जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।
उच्चं णीचं चरणं उच्च णीचं हवे गोदं ॥
—कर्मकाण्ड १३ ।

सन्तानक्रमेणागत जीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा ।
उच्चं नीचं चरणं उच्चैर्नीचैर्भवेत गोत्रम् ॥१३॥

अर्थ—सन्तान क्रम अर्थात् कुलकी परिपाटी-के क्रमसे चला आया जो जीवका आचरण उसकी 'गोत्र' संज्ञा है। उस कुल परम्परामें ऊँचा आचरण हो तो उसे 'उच्च गोत्र' कहते हैं, जो नीचा आचरण हो तो वह 'नीच गोत्र' कहा जाता है।

गोत्रके इस लक्षण पर गौर करते हैं तो यह लक्षण सदोष मालूम होता है, और ऐसा प्रकट होता है कि कर्मभूमिके मनुष्योंकी विशेष व्यवस्था पर लक्ष्य रखकर सामाजिक व्यवहार दृष्टिसे इसकी रचना हुई है। गोत्र कर्म अष्टमूल प्रकृतियोंमें से है और इसका उदय चतुर्गतिके जीवोंमें कहा है। नारकी और तिर्यञ्चोंके नीच गोत्रकी, देवोंके उच्च गोत्रकी और मनुष्योंके उच्च और नीच दोनों गोत्रोंकी सम्भावना सिद्धान्तमें कही है। देव व नारकीका उपपाद जन्म होता है; वे किसीकी सन्तान नहीं होते और न कोई उनका नियत आचरण है। गाथोक्त गोत्रका लक्षण इन दोनों गतियोंमें किसी तरह भी लागू नहीं होता। इसी तरह एकेन्द्रियादि सम्मूर्छन जीवोंमें भी यह लक्षण व्यापक नहीं। इसके अलावा 'आचरण' शब्द भी मनुष्यों ही के व्यवहारका अर्थवाची है और मनुष्यों ही की अपेक्षासे उक्त लक्षणमें उपयुक्त हुआ है। आचरणके साथ उच्चत्व और नीचत्वकी योजना भी मानवापेक्षित ही है। पाठकोंको विदित होगा कि अमीर, गरीब, दुखिया, सुखिया, नीच, ऊंच, सभ्य, असभ्य, पंडित, मूर्ख इत्यादि द्वन्द हैं और ये द्वन्द ऐसे दो परस्पर विरोधी गुणोंके द्योतक हैं जिनका अस्तित्व निरपेक्ष नहीं किन्तु अन्योन्याश्रित है। अतएव मनुष्य गतिको छोड़कर शेष तीन गतियों जो गोत्रका एक एक प्रकार माना गया है वह अपने प्रतिपक्षीके सत्वका सूचक और अभिलाषी है। यदि देवोंमें नीच गोत्रका, और नारकी तथा तिर्यञ्चोंमें उच्चगोत्रका सम्भव नहीं है तो इन गतियोंमें गोत्रका सर्वथा ही अभाव मानना पड़ेगा; क्योंकि द्वन्द गर्भित एक प्रतिपक्षी गुणका स्वतन्त्र सद्भाव किसी तरहसे भी सिद्ध नहीं होता। उक्त गतियोंमें गोत्रके दो प्रकारोंमें से एक विशेषकी नियामकता कहनेका यह अर्थ होता है कि इन गतियोंके जीव अपनेर लोक समुदायमें समानाचरणी हैं, उनमें भेद भाव नहीं है और जब भेद भाव नहीं तो उनको उच्च या नीच किसकी अपेक्षामें कहा जाय, वे खुद तो आपसमें न किसीको नीच समझते हैं न उच्च; उनमें नीच और उच्चका ख्याल होना ही असम्भव है। इसी ख्यालसे भोग-भूमियोंके भी उच्च गोत्र ही कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि गोत्रका लक्षण मनुष्योंकी व्यवहार व्यवस्थाके अनुसार बनाया गया है, और जिस जिस गतिके जीवोंको मनुष्योंने जैसा समझा अथवा उनके व्यवहारकी जैसी कल्पना की, उसीके अनुसार उन गतियोंमें उच्च व नीच गोत्रकी सम्भावना मानी गई है। चतुर्गति के जीवोंमें बन्धोदयसत्वको प्राप्त होने वाले गोत्र कर्म तथा उसके कार्य स्वरूप गोत्रका लक्षण और

उदय जिस प्रकारसे प्रत्यक्ष ज्ञाता दृष्टा सर्वज्ञने कहा हो वह सब गाथासे प्रकट नहीं होता। इस लक्षणके मुताबिक गोत्रकर्मका उदय मनुष्यों ही में मिलेगा और अन्य गतियोंके जीवोंके आठ कर्मोंकी जगह सात ही का उदय मानना पड़ेगा।

जैन सिद्धान्तियोंमें गोत्र और गोत्र कर्मके विषयोंमें जो प्रचलित मत है वह मनुष्यों ही के व्यवहारों तथा कल्पनाओंसे बना है। इसके विशेष प्रमाणमें निम्न लिखित ऊहापोहकी बातें पाठकोंके स्वयं विचारार्थ उपस्थित करते हैं—

१—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, इस प्रकारसे देवोंके चार निकाय जैनधर्ममें कहे हैं। इन चारों प्रकारके देवोंमें इन्द्र सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक, ऐसे दश भेद होते हैं। इनमेंसे जो देव घोड़ा, रथ, हाथी, गंधर्व और नर्त्तकोंके रूपोंको धारण करते हैं वे अनीक हैं जो हाथी, घोड़ा वाहन बनकर इन्द्रकी सेवा करते हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं; और जो इन्द्रादिक देवोंके सन्मानादिकके अनधिकारी, इन्द्रपुरीसे बाहर रहने वाले तथा अन्यदेवोंसे दूर खड़े रहनेवाले (जैसे अस्पृश्यशूद्र) हैं वे किल्विषक देव हैं। यहाँ अपने आप यह प्रश्न होता है कि किल्विषक जातिके देवोंको अन्य प्रकारके देव अपनी अपेक्षा नीच समझते हैं कि नहीं? यदि नीच नहीं समझते तो किल्विषिकोंको अमरावतीसे बाहर दूर क्यों रहना पड़ता है और वे अस्पृश्य क्यों हैं? एवं अनीक तथा आभियोग्यके आचरण शेष सात प्रकारके देवोंकी दृष्टिमें उच्च हैं वा नीच? देवोंके दश प्रकारके भेद और उनके उक्त प्रकारके व्यवहारोंसे तो साफ प्रकट है कि उनमें नीच और उच्च दोनों ही प्रकारके आचरणवाले जीव होते हैं, फिर जैन-सिद्धान्तियोंने देवगतिमें नीचगोत्रका उदय क्यों नहीं कहा? पाठक विचारें।

२—इसमें कुछ विशेष कहनेकी जरूरत नहीं कि असुर, राक्षस, भूत, पिशाचादि देवोंके आचरण महान घृणित और नीच माने गये हैं और वे वैमानिक देवोंकी समानता नहीं कर सकते। यदि गोत्रके उच्चत्व नीचत्वमें जीवका आचरण मूल कारण है तो वैमानिकोंकी अपेक्षा व्यन्तरादिका गोत्र अवश्य नीच होना चाहिये। देवमात्रको उच्चगोत्री कहना जैनसिद्धान्तियोंके लक्षणसे विरुद्ध पड़ता है।

३—पशुओंमें सिंह, गज, जम्बुक, भेड़, कुक्कर आदिके आचरणोंमें प्रत्यक्ष भेद है। वीरता, साहस आदि गुणोंमें सिंहको मनुष्योंने आदर्श माना है। किसी दूसरेकी मारी हुई शिकार और उच्छिष्टको सिंह कभी नहीं खाता और न अपने वारसे पीछे रहे हुए पशु पर दुबारा आक्रमण करता है। जैनाचार्योंने १०० इन्द्रकी संख्यामें सिंहको इन्द्र कहा है, यथा—

"भवणालय चालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा चन्दो सूरो णरो तिरओ।"

इसका क्या कारण है कि आचरणोंमें भेद होते हुए भी तिर्यञ्चमात्रको समानरूपसे नीचगोत्री कहा गया है?

४—नारकियोंमें ऐसे जीव भी होते हैं जिनके तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध होता है। क्या वे जीव भी अन्य नारकियोंकी तरह नीचाचरणी ही होते? सर्व नारकी जीवोंका समान नीचाचरणी

और नीचगोत्री होना समझमें नहीं आता।

५—कुभोग-भूमिके मनुष्य नाना प्रकारकी कुत्सित आकृतियोंके होते हैं और सुभोग-भूमिकी अपेक्षा यह भी कहा जायगा कि वे कुभोगके भोगी हैं। क्या कुभोग भूमि और सुभोग भूमिके जीवोंके आचरणोंमें फ़र्क़ नहीं होता? यदि होता है तो फिर अखिलभोग-भूमि-भव उच्चगोत्री ही क्यों कहे गये?

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही मालूम होता है कि गोत्रकर्मके विषयमें जैनोंका जो सिद्धान्त है वह केवल मनुष्योंका, और मनुष्योंमें भी भारतवासियोंका व्यवहार-मत है। भारतीय लोग सब प्रकारके देवी देवताओंकी उपासना करते हैं, भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, कोई भी हो सबके देवालय भारतमें मौजूद हैं, सबके स्तोत्र पाठ संस्कृत भाषामें हैं और उनके भक्त अपने अपने उपास्यों-का कीर्तन करते हैं। इसलिये जैनोंने देवमात्रको उच्चगोत्री कहा है; क्योंकि वे मनुष्योंमें उच्च और शक्तिशाली एवं अनेक इष्टानिष्टके करनेमें समर्थ माने गये हैं। पशु और नारकियोंको कोई मनुष्य अपनेसे अच्छा नहीं समझता, न उनके गुणाव-गुणपर विचार करता है, इसलिये मनुष्योंके साधारण ख्यालके मुताबिक तिर्यञ्च और नरकगतिमें एकान्त नीचगोत्रका उदय बताया गया। यदि चतुर्गतिके जीवोंके आचरण और व्यवहारोंको दृष्टिमें रखकर गोत्रके लक्षण तथा उदय-व्यवस्थाका वर्णन होता तो उसमें 'सन्तानकर्मणागय' पदकी योजना कभी नहीं होती, और न देव, नारकी तथा तिर्यञ्चगतिमें एकान्तरूपसे एक ही प्रकारके गोत्रका उदय कहा जाता।

गोत्रके लक्षणकी उपर्युक्त आलोचना करके हमने यह दिखला दिया है कि यह लक्षण मनुष्यों-की व्यवहार-स्थितिके अनुसार बनाया गया है। इस लक्षणसे निम्नलिखित बातें और निकलती हैं:—

(१) जीवका वही आचरणगोत्र कहा जायगा जो कुल परिपाटीसे चला आता हो, अर्थात्—जो आचरण कुलकी परिपाटीके मुआफ़िक़ न होगा उसकी गोत्रसंज्ञा नहीं है और वह गोत्रकर्मके उदयसे नहीं किन्तु किसी दूसरे ही कर्मके उदयसे माना जायगा।

(२) हरएक आचरणके लिये कुलविशेषका नियत होना जरूरी है और हरएक कुलके लिये किसी विशेष आचरणका।

परन्तु, जैनधर्ममें मानव समाजके विकासका जो वर्णन है वह कुछ और ही बात कहता है; उसको यदि सही मानते हैं तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भरतक्षेत्रमें एक समय ऐसा था जब मनुष्योंमें न तो कोई कुल थे और न उनकी परिपाटीके कोई आचरण थे, इसलिये उस समय के जीवोंके गोत्रकर्मका उदय भी नहीं था। वर्तमान अवसर्पिणीके प्राथमिक तीन आरोंमें भोगभूमिकी रचना थी; भोग-भूमियोंमें कुल नहीं होते, कुलकरों-का जन्म तीसरे कालके आख़ीरमें होता है। इस प्रकार कुलोंके अभावमें भोग-भूमियोंके आचरणों की गोत्रसंज्ञा नहीं कही जायगी। यदि ऐसा कहा जाय कि समस्त भोग-भूमियोंका एक ही कुल था और उनके आचरण समान थे इसलिये भोग-भूमियोंके गोत्रका सद्भाव था, तो आगे कुलकरों, तीसरे कालके अन्तके भोग-भूमियों तथा कर्म-

भूमिके आदिके मनुष्योंमें गोत्रका अभाव स्वयमेव सिद्ध होता है; क्योंकि इनके आचरण इनके पूर्वजोंसे सर्वथा भिन्न और विरुद्ध थे। इसको हम नीचे स्पष्ट करते हैं—

भोग भूमिया मनुष्य न खेती करते थे, न मकान बनाते थे, और न भोजन-वस्तु पकाते थे; वे अपनी सब आवश्यकतायें कल्पवृक्षोंसे पूरी करते थे। इसलिये उनमें असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्पके कर्म व्यापार भी नहीं थे। उनको आपसमें किसीसे कुछ सरोकार नहीं था, अपने अपने युगलके साथ अपनी कल्पतरू-वाटिकामें सुखभोग करते थे। अतएव न कोई उनका समाज था और न कोई सामाजिक बन्धन। उनमें विवाह-संस्कार नहीं होता था; एक ही माताके उदरसे नर-मादाका युगल उत्पन्न होता था, जब यौवनवन्त होते थे तब दोनों बहिन और भाई स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध कर लेते थे। युगल पैदा होते ही उनके माता-पिताका देहान्त हो जाता था। इस प्रकार युगल मनुष्योंकी समान जीवन-स्थिति उस समय तक जारी रही जब तक कि कल्पवृक्षोंकी कमी न हुई। तीसरे आरेके अखीरमें कल्पवृक्षोंकी न्यूनतासे लोगोंने अपने अपने वृक्षोंका ममत्व करलिया और कई युगल वृक्षोंके लिये आपसमें क्लेश करने लगे। तत्पश्चात् परस्परके झगड़े निपटानेके लिये उन युगलियोंने अपनेमेंसे एक युगलको न्यायाधीश बनाया जो पहिला कुलकर हुआ और उसीके वंशज आगेको न्यायाधीश तथा दण्डनीतिविधायक होते रहे। इन्हीं कुलकरोंकी सन्तान श्रीऋषभदेव तीर्थंकर हुए जिन्होंने षट्कर्म्मकी शिक्षा दी; उनके उपदेशसे प्रथम पाँच कारीगर बनेः—१ कुम्भकार, २ लोहार, ३ चित्रकार, ४ वस्त्र बुननेवाले, ५ नापित अर्थात् नाई। ऋषभदेवने ही विवाहविधि चलाई और सगे बहिन भाईमें स्त्री-भर्तारका सम्बन्ध होना बन्द किया।

इस कथनके मुआफिक जिस जिस भोगभूमियाने अपनी सहोदराको छोड़कर दूसरी स्त्रीसे विवाह किया, अथवा ऋषभदेवजीकी शिक्षा पाकर कुम्हार, लोहार आदिके कामको किया, उसका आचरण उसके माता पिताके आचरणोंसे बिलकुल ही विपरीत और निराला था; अर्थात् उसका आचरण अपने कुलकी परिपाटीके अनुसार नहीं था, इसलिये वह गोत्रकर्म्मके उदयसे नहीं किन्तु किसी अन्य ही कर्म्मोदयका फल था। अतएव कर्म्मभूमिकी आदिमें जो मनुष्योंके आचरण थे उनकी 'गोत्र' संज्ञा नहीं कही जा सकती और उस समयके सब लोग गोत्रकर्म्मोदय रहित थे। आठ कर्म्मोंकी जगह उनके सात ही का उदय था। गोत्रकर्म्मका उदय उनकी सन्तानके माना जायगा जिन्होंने अपने आचरण माता पितासे प्राप्त किये और उन्हींका पालन किया। यदि उस समय किसी नाईके लड़केने खेतीका काम किया और नापितके कार्यको न सीखा तो उसका भी आचरण 'सन्तानक्रमागत' न होनेसे गोत्रसंज्ञक न होगा, उसके भी गोत्रकर्म्माभाव ही कहा जायगा। ऐसे सन्तानकर्म्मरहित आचरणोंके लिये कर्म्मतत्त्व-ज्ञानमें कौनसा विशेष कर्म्म है सो ज्ञानी पाठक खुद विचारें; अष्टकर्म्मके उपरान्त तो कोई कर्म्म नहीं कहा गया और इन मूलोत्तर प्रकृतियोंको इनके लक्षणानुसार उक्त सन्तान-क्रम रहित आचरणोंके कारण कह सकते नहीं।

'सन्तानक्रमागत' पद पर एक शंका यह और होती है कि जिस भोग-भूमियोंकी सन्तानने ऋषभदेवजी की शिक्षानुसार अपने पूर्वजोंके आचरणको छोड़कर नवीन आचरण ग्रहण कर लिये, उसके पुत्रका आचरण पिताके अनुकूल होने पर 'सन्तान क्रमागत' कहा जायगा कि नहीं; अर्थात् एक ही पीढ़ीके आचरणको 'सन्तानक्रमागत' कहेंगे या नहीं; मूलतः प्रश्न यह है कि कितनी पीढ़ीका आचरण सन्तान क्रमागत कहा जा सकता है ? इसका ब्योरा किसी ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आया।

अब जरा आचरणकी उच्चता नीचता पर विचार कीजिये। 'आचरण' शब्दसे असलियतमें आचार्योंका क्या क्या अभिप्राय है सो साफ़ साफ़ कहीं नहीं खोला गया। यदि 'आचरण' शब्दसे हिंसा, झूठ, चोरी, सप्त व्यसनआदिमें प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे मतलब है तब तो गोत्रके उक्त लक्षणानुसार ऐसा मानना पड़ेगा कि दो तरहके कुल यानी वंशक्रम होते हैं, एक वे जिनमें हिंसादि आचरण वंश परम्परासे नियतरूपसे कभी हुए ही नहीं, अतएव उनमें उत्पन्न हुए जीव उच्च गोत्री कहलाते हैं; दूसरे वे कुल जिनमें हिंसादिआचरण नियत रूपसे परम्परासे होते आये हैं, इसलिये उनमे जन्म लेने वाले जीव नीच गोत्री होते हैं।

चतुर्गतिके जीवोंका विचार न करें तो ऐसे उच्चाचरणी नीचाचरणी नियत कुल वा कर्मभूमिके आदिमें सर्वथा अभाव था। भोग-भूमियोंमेंसे तो ऐसे नियत कुल थे ही नहीं; अतः नियतकुलोंके अभाव मे युगादिमें सब मनुष्य गोत्र तथा गोत्र कर्म रहित थे। जैन ग्रन्थोंमें इस बातका ब्योरा कहीं भी नहीं है कि अमुक अमुक कुल तो हमेशाके लिये उच्चाचरणी हैं और अमुक अमुक नीचाचरणी। तदुपरान्त युगान्तरों तक उन कुलोंमें निरन्तर एक ही प्रकारका आचरण रहे इसकी गारंटी क्या ? किसी भी कुलमें एक ही तरहका आचरण निरन्तर बना रहेगा ऐसा मानना प्रकृति और कर्म सिद्धान्तके प्रतिकूल है, प्रत्यक्षसे बाध्य है। किसी जीवके आचरण उसके पिता या पूर्वजोंके अनुसार अवश्यमेव ही हों, ऐसा मानना एकान्त हठ है।

यदि आचार्योंका यह अभिप्राय हो कि उक्त हिंसादि आचरणोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति जीविका के षट्कर्म तथा पेशोंसे निर्योजित है; कई पेशे और कर्म तो ऐसे हैं जिनके करनेवाले नीचाचरणी नहीं होते और कोई ऐसे हैं जिनको करनेसे जीव नीचाचरणी हो ही जाता है अथवा नीचाचरणी ही उस पेशेको करता है उच्चाचरणी नहीं। प्रयोजन यह हुआ कि कई पेशोंके साथ उच्चाचरणका अविनाभावी सम्बन्ध है और कतिपयके साथ नीचाचरणका। इसमें कई अनिवार्य शंकाएँ पैदा होतीहैं। चतुर्गतिके जीवोंकी अपेक्षा तो यह सर्वथा असम्भव है। मनुष्योंकी अपेक्षा लीजिये—

(क) भोग-भूमियोंके कोई पेशे वा जीविका कर्म नहीं थे अतः वे सब नीचाचरणी तथा गोत्रकर्म रहित कहे जायेंगे। यह प्रचलित गोत्रोदय-मतसे विरुद्ध पड़ता है।

(ख) षट्कर्म और पेशोंका उपदेश आदि तीर्थंकरने दिया था और उन्होंने ही कारीगरी तथा शिल्पके कार्य सिखाये थे, अन्नादिका अग्निमें पकाना भी उन्होंने ही सिखाया। वे अवधिज्ञानी और मोक्षमार्गके आदिविधाता थे; यदि उच्चाचरणी और नीचाचरणी दोप्रकारके पेशे वास्तवमें होते तो

वे नीचाचरणके पेशोंको कभी नहीं सिखाते और न किसीको उनके व्यापार का आदेश करते, जान बूझकर वे जीवोंको पापमें न डालते, प्रत्युत सबकी ही उच्चाचरणी पेशोंकी शिक्षा देते। जीविका कर्म और पेशोंके साथ उच्चाचरण और नीचाचरण के सम्बन्धकी योजनासे भगवान् ऋषभदेव पर बड़ा भारी दूषण आता है। इससे यही कहना पड़ेगा कि या तो उच्चाचरण और नीचाचरणका सम्बन्ध पेशोंमें है नहीं, और यदि है तो षट्कर्म और भिन्न भिन्न शिल्पके कार्योंकी शिक्षा ऋषभदेव जी ने नहीं दी किन्तु प्रकृतिका विकासके नियमानुसार शनैः शनैः जनताकी जरूरतोंसे कभी कुछ और कभी कुछ, ऐसे नये नये आविष्कार होते रहे जैसे आजकल होते हैं। ऋषभदेवजीका चलाया हुआ कोई भी पेशा नीचाचरणका नहीं हो सकता, तदनुसार कुम्हार, जुलाहा, लोहार, नाई सब उच्च गोत्री हैं, पेशेकी अपेक्षा ये लोग नीचाचरणी नहीं अथवा ये कहिये कि कुम्हार आदिके पेशे ऋषभदेवजी ने नीचाचरण या नीचाचरणीके कारण नहीं समझे और न ऐसा किसीको प्रकट किया। तदनुसार जीविका कर्मकी अपेक्षासे ऋषभ देवजीकी दृष्टिमें न कोई उच्च गोत्र था, न नीच। पाठक विचार करें कि ऐसी अवस्थामें उच्च और नीच आचरणोंके नियत कुलोंका सर्वथा अभाव है कि नहीं; फिर गोत्र और गोत्रकर्मकी क्या बात रही ?

(ग) जैनधर्ममें प्रथमानुयोगके अनुसार जिन कुलोंमें क्षात्रकर्म होता है वे उच्चगोत्र कहे जायेंगे। इसका यह अभिप्राय होता है कि जिन कुलोंमें परिपाटीमें क्षात्र-कर्म होता है उनमें उत्पन्न होने वाले जीवोंके आचरण नियमतः उच्च ही होने चाहियें, तभी आचरण और जीविका-कर्ममें अविनाभावी सम्बन्ध माना जा सकता है। परन्तु कथा पुराणोंमें इसके विपरीत हजारों उदाहरण मिलते हैं। रावण क्षत्रियकुलोत्पन्न तीन खण्डका राजा था, उसने सीता परस्त्रीका हरण किया जिसके कारण लाखों जीवोंका रणमें खून हुआ। युधिष्ठिरादि पाण्डव और कौरव क्षत्रियोद्भव थे, उन्होंने जूआ खेला और व्यसनको यहां तक निभाया कि द्रौपदी स्त्रीको भी दावमें लगाकर हार बैठे। पाठक, ज़रा विचारिये कि क्या ये आचरण उच्च थे। हमने ये उदाहरण दिग्दर्शनमात्रको लिख दिये हैं, वरना (अन्यथा) पुराणोंमें अगणित मिसालें (उदाहरण) मौजूद हैं जिनसे विदित होगा कि क्षत्रियोंमें ही अधिकतर नीचाचरणी हुये हैं। ऐसी अवस्था में पेशोंके साथ आचरणोंका स्थिर सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है ?

उपर्युक्त बातोंसे यह साफ होजाता है कि लोकमें न तो ऐसे कुल ही हैं जिनके लिये यह कहा जा सके कि उनमें उच्च या नीचाचरण हमेशाके लिये परिपाटीसे चला आता है और न जीविका कर्म या पेशोंके कुलोंसे आचरणोंका अविनाभावी सम्बन्ध सिद्ध होता है।

अतः गोम्मटसारमें जो गोत्रका लक्षण है और जैन सिद्धान्तियोंने गोत्रकर्मोदय-व्यवस्था जैसी मानी है, ये सब प्रकृति-विकासके विरुद्ध हैं; ये सार्वकालिक और चतुर्गतिके जीवोंपर दृष्टि रखकर नहीं बनाये गये, किन्तु भारतवासियोंके व्यवहार और खयालोंके अनुसार इनकी कल्पना हुई है। अमुक प्रकारके कुल जैसे ब्राह्मणादि, नियमसे

उच्चारणी ही होते आये हैं और होते रहेंगे, इनमें उत्पन्न हुए जीवोंको उच्च ही मानना एवं इनसे इतर कुल जैसे कुंभकार आदि शिल्पकार नापित प्रभृति सेवा-कर्म्मी नीचाचरणी हैं, इनको सदा सर्वदाके लिये नीचही मानना, नीचता उच्चता जन्मसे है, गुण, स्वभावसे नहीं; एक कुल जाति का कर्म दूसरे कुल-जातिवाला न करे, इत्यादि धारणायें भारतमें ही हजारों वर्षोंसे अचलरूपसे चली आरही हैं। इन्हीं वंश-परम्परागत धारणाओं और व्यवहारोंके मुताबिक जैनाचार्योंने गोत्र-कर्म्मका लक्षण रचा है।

गोम्मटसारके अलावा सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंमें जो उच्च और नीच गोत्रका लक्षण लिखा है उससे भी यही निस्सन्देह प्रतीत होता है कि गोत्र-कर्मकी योजना जैन विद्वानोंने कर्म-सिद्धांतमें भारतीय मनुष्यों ही के विचारसे की है; चतुर्गतिके जीवोंमें या तो गोत्र-कर्म और गोत्रका सद्भाव नहीं और है तो वह क्या है, उसका लक्षण इन प्रचलित शास्त्र मतोंकी व्यवहार-रूढ़िसे नहीं मिल सकता। टीकाकार आचार्य सब यह लिखते हैं कि "जिसके उदयसे लोक पूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्च कुलोंमें जन्म हो, उसे 'उच्च गोत्र कर्म' कहते हैं, और जिसके उदय से निन्द्य दरिद्री अप्रसिद्ध दुःखोंसे आकुलित चाण्डाल आदिके कुलमें जन्म हो, उसे नीच गोत्र कर्म' कहते हैं। पाठक देखलें कि ये लक्षण चतुर्गतिके जीवोंमें कैसे व्यापक हो सकते हैं?

परन्तु, पाठकजन, गोत्र कर्म असलियतमें है कुछ जरूर, उसके अस्तित्वसे हम इन्कार नहीं कर सकते, चाहे लोक व्यवहारी जैनाचार्योंके निर्दिष्ट लक्षणमें हम उसका यथावत् स्वरूप नहीं पाते और अनेक अनिवार्य शंकाएं होती हैं तथापि प्रकृति-विकासमें उसकी खोज करनेसे हम गोत्र और गोत्र कर्मके शुद्ध लक्षण तक पहुँच सकते हैं।

वीरशासनांक पर कुछ सम्मतियां

(१) प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय, एम. ए. डी. लिट कोल्हापुर—

"I am in due receipt of the (वीरशासन) Number of the 'Anekant'. I feel no doubt that your 'Anekant' occupies a prominent position among Hindi Journals. A student of Jaina Literature is sure to find a good deal of valuable material in its pages; and he has to keep it always at his elbow for repeated reference."

अर्थात्—'अनेकान्त' का 'वीर शासनांक' मिला। मुझे इसमें ज़राभी सन्देह नहीं कि आपका 'अनेकान्त' हिंदी पत्रोंमें प्रधान स्थान रखता है। यह सुनिश्चित् है कि जैन साहित्यका विद्यार्थी इसके पृष्ठोंमें बहुतसी बहुमूल्य सामग्रीको मालूम करे और इसे हमेशा अपने पास बार बार उल्लेखके लिये रक्खे।

(२) न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री, न्यायाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी—

"'विशेषाङ्क' देखा, हृदय प्रसन्न होगया। लेखोंका चयन आदि बहुत सुन्दर हुआ है। बा० सूरजभानजी तो सचमुच प्रचंड रूढ़ि विघातक युवक हैं। वे रूढ़ियों के मर्मस्थानोंको खोज २ उन पर ही प्रहार करते हैं। मैं पत्रकी समुन्नतिकी बराबर शुभ भावनाएँ भाता हूँ।"

बुद्धिहत्याका कारखाना

अवतारवाद, भाग्यवाद और कलिकल्पना

['गृहस्थ' नामका एक सचित्र मासिकपत्र हालमें रामघाट बनारससे निकलना प्रारम्भ हुआ है, जिसके सम्पादक हैं श्री गोविन्द शास्त्री दुगवेकर और संचालक हैं श्रीकृष्ण बलवन्त पावगी। पत्र अच्छा होनहार, पाठ्य सामग्रीसे परिपूर्ण, उदार विचारका और निर्भीक जान पड़ता है। मूल्य भी अधिक नहीं— केवल १॥) रु० वार्षिक है। इसमें एक लेखमाला "झब्बूशाही" शीर्षकके साथ निकल रही है, जिसका पाँचवाँ प्रकरण है 'झब्बूशाहीका बुद्धिहत्याका कारखाना'। इस लेखमें विद्वान लेखकने हिन्दुओंके अवतारवाद, भाग्यवाद और कलिकालवाद पर अच्छा प्रकाश डाला है। लेख बड़ा उपयोगी तथा पढ़ने और विचारनेके योग्य है। अतः उसे अनेकान्तके पाठकोंके लिये नीचे उद्धृत किया जाता है।

—सम्पादक]

मनुष्य-जीवनमें बुद्धिका स्थान बहुत ऊँचा है। बुद्धिकी सहायतासे मनुष्य क्या नहीं कर सकता। बुद्धिके प्रभावसे वह असम्भवको भी सम्भव बना देता है। आर्य चाणक्यने कहा है:—

एका केवलमेव साधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलन-दृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मागान्मम॥

मेरी बुद्धिकी शक्ति और महिमा नन्दवंशको जड़से उखाड़ देनेमें प्रकट हो चुकी है। मैं अपने उद्देश्यकी सिद्धिमें बुद्धिको सैकड़ों सेनाओंसे बढ़कर समझता हूँ। मेरा सर्वस्व भले ही चला जाय, किन्तु केवल मेरी बुद्धि मेरा साथ न छोड़े। महाभारतमें लिखा है:—

शस्त्रैर्हतास्तु रिपवो न हता भवन्ति।
प्रज्ञाहतास्तु नितरां सुहता भवन्ति॥

शस्त्रोंके द्वारा काट डालनेसे ही शत्रुओंका संहार नहीं होता, किन्तु जब उनकी बुद्धि मार डाली जाती है, तभी उनका यथार्थ नाश होता है। गीतानेभी बुद्धि-नाशको ही मनुष्यके नाशका कारण माना है। राजनीतिज्ञ चतुर पुरुष अपने देश या राष्ट्रकी भलाईके लिये शत्रुओंकी बुद्धिका नाश करते हैं, परन्तु अधर्म और अनाचारोंके प्रवर्तक झब्बूलोग अपने स्वार्थके लिये अनन्त स्त्री-पुरुषोंकी बुद्धिहत्या कर डालते हैं।

यह हम कह आये हैं कि, मनुष्य-जातिका ज्ञान अभी अपूर्ण है और अपूर्ण ज्ञान कदापि भ्रान्ति-रहित नहीं होता। मानवी बुद्धिकी इसी दुर्बलतासे लाभ उठाकर संसारमें अनेक लफंगे झब्बू निर्माण हो गये हैं। मनुष्योंकी आवश्यकताएँ बहुत होती हैं और उनकी पूर्तिके लिये वे ऐसे साधन खोजा करते हैं कि परिश्रम कुछ भी न करना पड़े या बहुत कम करना पड़े और फल पूरा या आवश्यकतासे अधिक मिल जाय। जब उनकी बुद्धि चकरा जाती है और उन्हें कोई स्पष्ट मार्ग नहीं सूझ पड़ता, तब वे उन झब्बुओंके चक्करमें फँस जाते हैं, जो सर्वज्ञ या लोकोत्तर ज्ञानी होनेका दावा करते हों। ऐसे भ्रान्त, भले और भोले मनुष्योंकी बुद्धि को वे अपने चलाये बुद्धि-हत्याके कारखानेमें इस प्रकार पीस डालते हैं कि संसारमें उनका कहीं ठिकाना ही रह जाता।

सांसारिक दुःखोंसे व्याकुल भावुकोंको कच्चू लोग समझा देते हैं कि ईश्वर किसी अज्ञात जगतसे इस धरा धाममें अवतीर्ण होकर मानवी शक्तिसे बाहरकी अन होनी बातें कर डालता है। उन्हें वे यह भी विश्वास दिलाते हैं, कि हमें ईश्वरका दर्शन हो गया है और जिन्हें उसका दर्शन करना हो, वे हमारे पास चले आवें हम भी ईश्वरके ही एक अवतार हैं और यदि चाहें, तो मनुष्योंका भला-बुरा सब कुछ कर सकते हैं।

वास्तवमें यदि किसीको ईश्वरका साक्षात्कार हो गया होता और दूसरेको भी ईश्वरका दर्शन करानेकी किसीमें शक्ति होती, तो रेडियो यन्त्रकी तरह एक ही ईश्वर घर-घर देख पड़ता। परन्तु ईश्वरके सत्यरूपके सम्बन्धमें ही अभी एकमत नहीं है, उसका दर्शन कौन किसको करावे? किसीका ईश्वर सात आसमानके ऊपर बैठा है, तो किसीका सात समुद्रोंके पार क्षीरसागरमें शेषनागपर सोया है। किसीका ईश्वर सृष्टिके अन्तकी प्रतीक्षा करता हुआ न्यायदानके लिये उत्सुक हो रहा है तो किसीका सप्ताहमें एक दिन विश्राम करता है। किसीका ईश्वर सगुण है, तो किसीका निर्गुण। किसी-का ईश्वर क्रोधी है, तो किसीका शान्त। किसीका शून्य है तो किसीका क्रियाशील। सची बात तो यह है कि, अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार मनुष्योंने ईश्वरकी कल्पना करली है। तर्क और बुद्धिको जहांतक स्थान मिला, मनुष्य बराबर आगे बढ़ते गये; परन्तु जब दोनों की गति कुण्ठित हो गई, तब उन्होंने किसी एक ईश्वर को मान लिया और उसीपर निर्भर रहकर कर्म करनेसे हाथ पैर बटोर लिये।

हिन्दुओंकी भोली भावना है कि, संसारमें जितने कुछ बड़े बड़े काम होते हैं, अवतारी पुरुष ही करते हैं। भागवतमें तो यहां तक लिखा है कि नर-नारायणको जोड़ी कालके प्रारम्भ होते ही हिमालयकी गुहामें जाकर तपस्या कर रही है। कलिके अन्ततक हमें दुःख ही-दुःख भोगना है। इसलिये केवल रामनाम जपते हुए लाखों वर्ष दुःख सहते रहो। कलिका अन्त होते ही उक्त ऋषि अवतीर्ण होंगे और हमारे सब दुःख दूर कर देंगे। बौद्धिक दासताका इससे बढ़कर यहा प्रमाण मिल सकता है? इसी भावनासे हम राम, कृष्ण, व्यास, वाल्मीकि, शंकराचार्य, रामदास, तुलसीदास आदिकी कौन कहे, तिलक गांधी तकको अवतार मानने लगे हैं और अपनी बुद्धिका दिवाला खोल बैठे हैं। हम यह नहीं समझते कि, प्रत्येक जीव ईश्वरका अंश है और 'नर करनी करे, तो नारायण भी हो सकता है।" आश्चर्यकी बात तो यह है कि, जिन्हें हम अवतार मानते हैं, वे क्या कहते और क्या करते हैं, उस ओर ध्यान भी नहीं देते; किन्तु उनके निमित्तसे जो उत्सव करते हैं, उनमें तालियां पीटकर व्याख्यान झाड़ते या मेवा मिश्रीका भोग लगाकर उदरदेवको सन्तुष्ट करते हैं जहां तक देवताओंको मानकर और उन्हींपर जीवन कलहका सब भार सौंपकर परावलम्बी बन जाना, कैसी उपासना है?

सचमुच देखा जाय, तो हमारी इस कोरी उपा-सनाकी अपेक्षा पाश्चात्य साधनोंकी उपासना कहीं बढ़ी चढ़ी है। हम पृथ्वी, सूर्य, वायु अग्नि आदिको देवता मानते और चन्दन फूलोंसे उनकी उपासना करते हैं, जिसका कुछ भी फल नहीं होता। पाश्चात्य साधकोंने इन्हीं पंचदेवोंकी ऐसी उपासनाकी, जिससे वे उनके वशमें हो गये और नाना प्रकारसे मनुष्यजाति का उपकार करने लगे। पाणिनीने भाषाशास्त्र निर्माण किया, आर्य भट्टने गणित शास्त्रके सिद्धान्त प्रस्थापित किये, मनु याज्ञवल्क्य आदिने आचारोंका वर्गीकरण

किया। कौटिल्यने अर्थशास्त्रकी रचना की, गैलीलियोने विद्युत् शक्तिका पता लगाया, न्यूटनने गुरुत्वाकर्षणका नियम खोज निकाला, ये सब प्रकृतिक देवताओंके सच्चे उपासक थे। फिर भी मनुष्य ही थे। यदि ईश्वर को मान लिया जाय, तो वह भी स्थूल देह धारण करके ही प्राकृतिका उपभोग करता है और इस विचार-से हमें भी ईश्वर होनेका पूर्ण अधिकार है। तब हम लाखों वर्षोंतक ईश्वरके अवतार प्रतीक्षा करते हुए दुःख में क्यों पड़े रहें?

पुराणोंमें दस अवतारोंका वर्णन है। नौ अवतार होगये हैं, दसवां बाकी है। उस दसवेंको भी हम बाकी क्यों बचने दें? कलंकी अवतार घोड़े पर सवार है, हाथमें तलवार लिये है और म्लेच्छोंका संहार कर रहा है। इसी स्वरूपमें हम शिवाजी का भी चित्र देखते हैं तब क्यों न मान लें कि, शिवाजीके साथ ही सब अवतार समाप्त हो गये हैं और अब हमें अपने उत्कर्षके मार्ग पर आप ही अग्रसर होना है? अवतारवाद मब्बुओंने निर्माण किया है और सभी मब्बू अपने आपको ईश्वरके अवतार होनेकी घोषणा करते हैं। इस से उनकी तो बन आती है, किन्तु भोली-भाली जनता अकारण ठगी जाती है। अतः जब कि, हमें संसारमें सम्मानके साथ जीना है, तब मनमें दौर्बल्य उत्पन्न करनेवाले अवतारवादको भी पूर्वोक्त दो ऋषियोंके साथ हिमालयकी गहरी गुहामें बन्द कर देना नितान्त आवश्यक है। ईश्वर न कहीं जाता है, और न आता है। और वह सर्वव्यापक है, प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें स्थित है और चैतन्यरूपसे सर्वत्र व्याप्त है। उनके आनेकी अवतरित होनेकी—बाट जोहना मूर्खता है। मनुष्यको अपना उद्धार आप ही कर लेना होगा। "उद्धरेदात्म-नात्मानम्" यही गीताका उपदेश है।

मब्बुओंके बुद्धिहत्याके कारखानेमें जब कोई "आंख का अन्धा गाँठका पूरा" पहुँच जाता है, तब पहले ही प्रकोष्ठ (कमरे) में उसे अवतारवादकी दीक्षा देकर दीक्षित उर्फ आत्मीय बना लिया जाता है। दीक्षा लेते ही वह अन्धश्रद्धाकी अन्धकारमयी एकान्त गुहामें प्रवेश करनेका अधिकारी बनता है। वह गुहा उस कारखाने-का दूसरा प्रकोष्ठ है। उसमें लेजाकर उस साधकको भाग्यदेवका साक्षात् दर्शन कराया जाता है और सदा जपनेके लिये यह मन्त्र रटा दिया जाता है:—

"होहै वही जो राम रचि राखा।
को कर तर्क बढ़ावहि साखा॥"

इस मन्त्रके जपते ही उसे 'नैष्कर्म्यसिद्धि' प्राप्त हो जाती है अर्थात् अपने अधःपातके लिये वह अकर्मण्य निकम्मा 'काठका उल्लू' बन जाता है। उसमें फिर यह सोचनेकी शक्तिही नहीं रहती कि, भाग्य भी प्रयत्न (कर्म) का ही एक फल है।

कर्मके तीन विभाग हैं,—सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण। इस जन्म या पूर्व जन्मोंमें जो कर्म हम कर चुके हों, वे सञ्चित हैं। उनमें से जिनका भोग आरम्भ हो गया हो, वे प्रारब्ध हैं और जो भोग रहे हैं, वे क्रियमाण हैं। परन्तु क्रियमाण प्रारब्धका ही परिणाम हैं, इसलिये लोकमान्य तिलक और वेदान्तसूत्रोंने संचित-के ही प्रारब्ध और अनारब्ध ये दो भेद माने हैं। संचित में से जिनका भोग आरम्भ हो गया है, वे प्रारब्ध और जिनका भोग शेष है वे अनारब्ध हैं। निष्कामकर्म योगसे अथवा ज्ञानसे प्रारब्धका प्रभाव हटाया जासकता है और अनारब्ध दग्ध किये जा सकते हैं। क्योंकि मनुष्य प्रवाह में पड़े हुए लकड़ीके लट्ठेके समान नहीं है; किन्तु कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। उसमें इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति है। वह पशुकी तरह पराधीन नहीं, किन्तु

अपने भाग्यका आप विधाता है। उसे काल्पनिक भाग्य पर भरोसा नहीं रखना चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है:—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥चरैवेति॥

अर्थात् जो मनुष्य घरमें बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है; जो खड़ा रहता है, उसका भाग्य खड़ा हो जाता है; जो सोया रहता है, उसका भाग्य सो जाता है और जो चलता फिरता है, उसका भाग्य भी चलने फिरने लगता है। इसलिये उद्योग करो, पुरुषार्थी बनो।

यदि ग़ज़नी, ग़ोरी, हुमायूं या अकबर भाग्य पर भरोसा रखकर बैठ रहते, तो मुसलमान ग्यारह सौ वर्षतक भारतका शासन न कर सकते और यदि अंग्रेज़ भाग्यदेवकी शरणमें चले जाते, तो दिल्लीपर अपना झण्डा फहरा न सकते। उद्योगियोंके घर ऋद्धि सिद्धियें पानी भरा करती हैं। योगवासिष्ठमें वसिष्ठ श्रीरामचन्द्रसे कहते हैं:—"भाग्य तो मूर्खों और आलसियोंकी गढ़ी हुई एक काल्पनिक वस्तु है। उद्योगमें ही भाग्य निहित है। उद्योग न हो, तो भाग्यका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। पूर्वकर्म ही प्रारब्ध है और वह प्रबल पुरुषार्थसे नष्ट किया जा सकता है। उद्योग प्रत्यक्ष है और भाग्य अनुमान है। अनुमानकी अपेक्षा प्रत्यक्षका महत्व अधिक है। उद्योगसे स्वराज्य, साम्राज्य ही क्या, इन्द्रपद भी प्राप्त हो सकता है। राह-चलता भिखारी यदि राजा हो जाय, या किसी ग़रीबकी लड़की महारानी बन जाय, तो वह उसके पूर्वकृत सत्कर्मोंका फल है। यदि यह कहा जाय कि, जो कुछ होता है, भाग्यसे ही होता है; तो भाग्यपर निर्भर रहकर आगमें कूद पड़ना, पहाड़से लुढ़क जाना जान बूझकर विष पी लेना, बच्चोंको पढ़ने न भेजकर लण्ठ रखना क्या उचित होगा? पुरुषार्थीके लिये संसारमें असम्भव कुछ भी नहीं है। प्रयत्नवादी पुरुषके आगे भाग्य हाथ बाँधे खड़ा रहता है। प्रयत्नसे ही देवोंको अमृतकी प्राप्ति हुई। अतः हे राम! नपुंसकता उत्पन्न करनेवाले भाग्यवादको छोड़कर नवजीवन उत्पन्न करनेवाले प्रयत्नवादको अपनाओ; इसीमें तुम्हारा कल्याण है।"

समर्थ रामदासने भी कहा है:—"प्रयत्न देवता है और भाग्य दैत्य है। इसलिये प्रयत्नदेवकी उपासना करना ही श्रेयस्कर है।" सम्भव है कि, प्रयत्नरूपी देवताकी आराधना करते हुए भाग्यरूपी दैत्य वहाँ पहुँच कर विघ्न करे; इसलिये उस भाग्यरूपी दैत्यपशुको पकड़कर प्रयत्न देवके आगे उसकी बलि चढ़ा देनी चाहिये। भेड़ बकरे मारनेसे शक्ति-चामुण्डा प्रसन्न नहीं होगी, किन्तु अवतारवाद, दैव—भाग्य—वाद जैसे प्रबल पशुओंको काट गिरानेसे ही वह सन्तुष्ट होकर मनुष्यजातिका कल्याण साधन करती है। जो बुद्धिमान् मनुष्य प्रयत्नदेवको सिद्धकर लेता है, वह भब्बुओंके बुद्धिहत्याके कारख़ानेकी अन्धश्रद्धाकी अन्धी गुहातक पहुँच ही नहीं पाता और यदि किसी कारणसे पहुँच भी जाता है, तो वे रोकटोक उससे छुटकारा भी पा जाता है।

भब्बू लोग भावुकोंको अपने कारख़ानेमें लेजाकर, उनसे भाग्यवादकी तपस्या कराकर, जब परिक्रम करलेते हैं, तब उन्हें तीसरे प्रकोष्ठकी कलिकल्पनाकी चरखी (मशीन) पर चढ़ा देते हैं। पहले प्रकोष्ठमें मनुष्य अन्धश्रद्ध बनता है, दूसरेमें निकम्मा—पुरुषार्थहीन—हो जाता है और तीसरेमें लत्ते या लतख़ोरेका रूप धारण कर लेता है। यों अच्छी तरह उसकी बुद्धिहत्या

हो जाने पर, अथवा यों कहें कि कच्चा माल पक्का बन जाने पर, वह कल्युओंके कुचक्रके पटारेमें भर लिया जाता है और फिर व्यावहारिक संसारमें उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

बुद्धिहत्याके कारखानेकी कलिकल्पनाकी मशीन बड़ी ही भयानक है और उसका प्रभाव भी असाधारण है। उसके महात्म्यका कल्युओंने पहलेसे ही ऐसा वर्णन कर रक्खा है कि, जिसका कोई ठिकाना नहीं। जब कलिकालका यन्त्र अपने पूरे वेगमे चलने लगेगा, तब सब वर्ण शूद्र हो जायेंगे, ब्राह्मण धर्म कर्म छोड़ देंगे, गायें दूध और भूमि अन्न नहीं देगी, मेघ यथासमय नहीं बरसेंगे, पतिव्रताएँ भ्रष्ट हो जायंगी, पुरुष स्त्री जित,लम्पट और पर स्त्री गामी होंगे, ब्राह्मणत्वका चिन्ह जनेऊभर रह जायगा, धर्मवक्ता और साधु ढोंगी पाखण्डी- होंगे, राजा प्रजाको पीस डालेगा, पुत्र पिता की बात नहीं मानेगा, पति पत्नीमें प्रेम नहीं रहेगा, पुत्र अपनी मातासे स्त्रीकी सेवा करावेगा, विषयसुख ही प्रधान सुख माना जायगा, कामीलोग बहन बेटीका भी विचार नहीं करेंगे, अर्थप्राप्ति ही पुरुषार्थ हो रहेगा, भाई भाई एक दूसरेकी छाती पर चढ़ेंगे। भाई-बहनों, देवरानी-जेठानियों और ननद-भौजाइयोंमें अनबन रहेगी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वज्रपात, अग्निदाह, रोग, भूकम्प आदि उत्पात बारबार होंगे, देवों ब्राह्मणों और साधुओंको कोई नहीं मानेगा, सब लोग पापी और अल्पायु होंगे, सभी मनुष्य अँगूठेके बराबर हो जायेंगे, धर्मका नामतक नहीं रहेगा मोक्षका विचार उठ जायगा और अधर्म बढ़कर संसार उच्छिन्न हो जायगा इत्यादि। मानों ये सब बातें अन्य युगोंमें हुई ही नहीं।

आश्चर्य तो यह है कि, कलिकालका भविष्य कथन करनेवाले लेखकने ही ब्राह्मण वृत्रका वध करनेवाले इन्द्र मातृहत्याकारी ब्राह्मण परशुराम, नारीहरणकारी ब्राह्मण रावण, कुक्कुरका माँस भक्षण करनेकी इच्छा करनेवाले महर्षिविश्वामित्र, शुक्राचार्यको ठगनेवाले जैनमत-प्रचारक देवगुरु बृहस्पति ※ प्रजापीड़क नहुष और वेन, पत्नीकी सदा फटकार सुननेवाले द्रोण, स्त्रीलम्पट दशरथ, सपत्नियोंसे वैर करनेवाली केकयी, चन्द्रमासे पुत्र उत्पन्न करनेवाली गुरुपत्नी तारा, अर्थलोलुप ब्राह्मण धन्वन्तरी, कन्यापर आसक्त होनेवाले ब्रह्मा, पतोहूपर रीझनेवाले वसिष्ठ और अग्निसे गर्भ धारण करनेवाली ऋषिपत्नियों तथा एकसे अधिक पति करनेवाली और कौमार्यावस्था तथा वैधव्यावस्थामें सन्तानोत्पत्ति करनेवाली कितनीही स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिख मारे हैं;जो उन्हींके मतानुसार कलियुगके नहीं है। उल्कापात, वज्रपात और साठ २ हज़ार वर्षोंके अवर्षणोंकी बातें तो जहाँ तहाँ लिखी मिलती हैं। उस समय पृथ्वी तो बात बातमें डोल जाती और गौ बनकर ब्रह्माके पास भागती थी। यज्ञ-प्रसगमें मद्य मांसके लिये देवता लड़ जाते थे और सभी लोग भेड़, बकरे, सूअर, बछड़े, सांड़, गाय, घोड़े, गैंडे, खच्चरतक मार मारकर खा पचा डालते थे। कलिवर्णनके लेखककी ही बात सही मान ली जाय, तो यही कहना पड़ेगा कि अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें ही सभ्यता का अधिक विकास हुआ है।

वेदाङ्ग ज्योतिषने पांच वर्षका एक युग माना है; परन्तु कल्युओंने लाखों वर्षोंके युग बना डाले हैं। उनके हिसाबसे चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षोंका कलियुग है। जब तक वह रहेगा तबतक उनकी वर्णित परिस्थिति ही

※ इस कथनमें जैनमत प्रचारक, यह विशेषण समझकी किसी ग़लती अथवा भूलका परिणाम जान पड़ता है; क्योंकि देवगुरु बृहस्पति जैनमतके कोई प्रचारक नहीं हुए हैं। —सम्पादक

बनी रहेगी और दिन दिन अधर्म, अनीति, अन्याय, असत्य, हिंसा, अत्याचार अनाचार आदिका बाज़ार गरम रहेगा। बेचारोंने यह भी सोचनेके कष्ट नहीं उठाये कि जब हमारे देखते हुए १०-१२ वर्षोंमें ही पूर्व-परिस्थिति बदल जाती है, तब लाखों वर्षोंतक वह एकसी कैसे बनी रह सकती है? उनकी दृष्टिमें कलिका प्रताप अनिवार्य है, वह होकर ही रहेगा। नया राज्य, नयी संस्थाएँ, नये विचार, नये सुधार, जो कुछ वे नया देखते हैं, सब कलिका प्रताप है। कोई नारी हरण करे, बलात् गोमांस खिला दे, अपमान करे, मूर्तियोंको तोड़ फोड़ दे, राज पाट छीन ले, गलेमें डोरी बाँधकर बन्दरकी तरह नाच नचावे, सब कलिकी महिमा है।

प्रश्न यह उठता है कि कलि भारतवर्षके ही पीछे क्यों पड़ा है? विदेशोंमें वह अपना प्रभाव क्यों नहीं दिखाता? क्या खैबरघाटीके पार करने अथवा समुद्रके लाँघनेकी उसमें सामर्थ्य नहीं है या उन देशोंमें उसे कोई पूछता ही नहीं? हमारे पड़ौसी जापान, रूस तथा तुर्किस्तानने अपने यहाँ सुवर्णयुग प्रस्थापित कर दिया है और युद्धमें पराजित जर्मनी समराङ्गणमें ताल ठोककर फिर खड़ा हो गया है। इङ्गलैण्ड, अमेरिका, फ्रान्स, इटली आदि देशोंमेंकलिकी दाल नहीं गलती। कदाचित वहाँके स्वाभिमानी कर्मवीरों और उनकी जल-स्थल-नभोमण्डलमें मण्डित सुसज्जित युद्ध-सामग्रीको देखकर वह डर जाता हो। इससे तो यही अर्थ निकलता है कि, दुर्बल राष्ट्रोंको ही कलि सताता है, सबलोंके पास भी नहीं फटकता।

विचार करनेकी बात है कि, आज बालक बालिकाओंको जो शिक्षा दी जाती है वह बन्द कर यदि उन्हें निरक्षर रक्खा जायगा, चायके बदले तुलसीके काढ़का प्रचार किया जायगा, पतलूनके बदले लोग लुङ्गी पहनना प्रारम्भ कर देंगे, साड़ीके बदले पाँच पाँच सौ कलियोंके पुराने चालके लहँगे स्त्रियाँ पहनने लगेंगी, पण्डित लोग कलाईमें घड़ी बांधनेके बदले गलेमें जलघड़ी, धूपघड़ी या बालूकी घड़ी या घण्टा लटकावेंगे, चीनीके प्याले-चम्मचके बदले लोग अर्घा-आचमनी पञ्चपात्रका उपयोग करने लगेंगे, फ्रेन्चकट-कर्ज़नकट-आलबर्टकटके बदले जटा-दाढ़ी बढ़ा लेंगे और रेलों मोटरोंको बन्द कर बैलगाड़ियाँ-भैंसागाड़ियाँ चलायी जाने लगेंगी, तो क्या काल तुरन्त भाग जायगा

कल्लुओंने कलिके गालसे बचनेके कुछ उपाय भी बताये हैं। जो कुछ मिल जाय, उससे सन्तुष्ट रहो, सत्यनारायण, ललनछट आदि व्रतोत्सव कृपणता छोड़कर मनाया करो, दान-दक्षिणामें कल्लुओंको हाथी घोड़े, धन रत्न, धान्य-वस्त्र, मिष्टान्न-पकवान, बहू-बेटी आदि अर्पण कर सन्तुष्ट किया करो, किसी प्रकारका प्रतीकार न कर जो कुछ होता जाय, उसे देखा करो—सहा करो और हाथ पर हाथ रखकर बैठे बैठे राम नाम जपा करो। यदि कोई हाथ पैर हिलनेका उपदेश करे। तो उसे धर्महीन, पतित, वेदनिन्दक जानकर कलिवर्ज्य-प्रकरण और प्रायश्चित्तके कुछ संस्कृत श्लोक सुना दो। कलिवर्ज्य-प्रकरणमें पुरुषार्थनाशकी कोई बात नहीं छूटी है। बस, चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों तक इसी तरह चुप्पी साधे बैठ रहनेसे बेड़ा पार है। फिर ब्रह्म-साक्षात्कार या मोक्ष बहुत दूर नहीं रह जायगा।

कलि-सन्तरणका यह कैसा अच्छा उपाय है; बुद्धिहत्याका कितना उत्तम यंत्र है! इस यंत्रके आगे सिर झुका देनेसे ही भारतकी सब ओजस्विता मारी गयी है। बौद्धों, ईसाइयों अथवा मुसलमानोंने अपने धर्म या समाजमें कलिको नहीं घुसने दिया। इसीसे

बौद्धोंके चीन, जापान आदि पौर्वात्य राष्ट्र, ईसाइयोंके युरुप, अमेरिका आदि पाश्चात्य राष्ट्र और मुसलमानोंके तुर्कस्तान, काबुल आदि मध्य राष्ट्र उत्कर्षशाली हैं और हम कलिके मारे बेज़ार हैं ! यदि हमें फिर वर्द्धिष्णु और जयिष्णु बनना है तो मनोदौर्बल्य उत्पन्न करने वाली कलिकल्पनाको हिमालयमें भेज देना चाहिये। वास्तवमें किसी युगका प्रवर्तन करना राजशासकों अथवा सामाजिक नेताओंके हाथ है। ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है:—

कलि: शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापर:।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यतेचरन्॥चरैवेति॥

"जहां मनुष्यको नींद आयी और उसका कलि आया जहाँ उसने आलसको हटाया और उसका द्वापर आरम्भ हुआ, वह उठ बैठा और उसे त्रेता युगके चिन्ह दिखाई देने लगे और जहां उसने उद्योग आरम्भ किया और उसका सत्ययुग आ पहुँचा। इसलिये प्रयत्न करो।" इस वेदाज्ञाने भी यही सिद्ध होता है कि, जब हम सजग होकर अपना कर्तव्य पालन करने लगेंगे, तभी सत्ययुगका प्रवर्तन कर सकेंगे। यह हमें अपने मनमें अच्छी तरह जमा लेना चाहिये और कलिका काला मुँह कर देना चाहिये। यदि हम असावधान रहेंगे, तो निश्चयसे जान रक्खें कि, भब्बू लोग हमें अपने बुद्धिहत्याके कारखानेमें पकड़कर ले जायंगे और अवतारवाद, भाग्यवाद, कलिकल्पनाकी टिकटीपर चढ़ा कर फाँसी लटका देंगे।

साहित्य-परिचय और समालोचन

(१) षट् खंडागम ('धवला' टीका और उसके हिन्दी अनुवाद सहित) प्रथम खंडका सत्प्ररूपणा नामक प्रथम अंश—मूल लेखक, भगवान पुष्पदन्त भूतबलि ! सम्पादक, प्रोफेसर हीरालालजी जैन एम.ए.,एल्.एल्. बी, संस्कृताध्यापक किंग-एडवर्ड-कालेज अमरावती। प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द शिताबराय, जैन-साहित्योद्धारक फंड-कार्यालय अमरावती (बरार)। बड़ा साइज पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ५५६। मूल्य, सजिल्द तथा शास्त्राकार प्रत्येकका १०) रु०।

'धवल' नामसे प्रसिद्ध जिस ग्रंथके दर्शनोंके लिये जनता अर्सेसे लालायित है उसके 'जीवस्थान' नामक प्रथम खंडका यह ग्रन्थ प्रथम अंश है। इस अंशमें मूलके मंगलाचरण सहित कुल १७७ सूत्र हैं। मंगलाचरणका सूत्र प्रसिद्ध णमोकारमंत्र है और उसकी व्याख्या तथा मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्तारूपसे छह बातोंका विस्तारके साथ वर्णन पृष्ठ ७२ तक किया गया है। इसीमें मूल सूत्रके अवतारकी वह सब कथा दी है जिसे पाठक 'अनेकान्त' के गत विशेषांकमें 'धवलादि श्रुत परिचय' शीर्षकके नीचे पढ़ चुके हैं। उसके बाद जीवस्थानके कुछ प्रारंभिक सूत्रोंकी व्याख्या पृष्ठ १५४ तक दी है, जिनमें १४ जीव समासों (गति आदि मार्गणास्थानों) का उल्लेख किया गया है और फिर उनकी विशेष प्ररूपणाके लिये 'जीव स्थान' के सत्-प्ररूपणादि आठ अनुयोग द्वारोंके नाम सूत्र नं० ७ में दिये हैं। उसके बाद ८वें सूत्रसे सत् प्ररूपणाका ओघ और आदेशरूपसे विस्तारके साथ वर्णन ४१० पृष्ठ तक किया गया है। यह सब वर्णन अनेक अंशोंमें गोम्मट-सारके गुणस्थान, मार्गणा और सत्प्ररूपणाके वर्णनके साथ मिलता-जुलता है। टीकामें बहुतसी जगह 'उक्तं-च' रूपसे जो २१४ पद्य दिये हैं उनमें ११० के करीब

गाथाएँ ऐसी हैं जो गोम्मटसारमें भी प्रायः ज्यों की त्यों और कहीं कहीं कुछ पाठ-भेदके साथ पाई जाती हैं और जो किसी प्राचीन ग्रंथ—संभवतः पंचसंग्रह प्राकृत—परसे उद्धृतकी गई हैं। बाकी १०४ के करीब संस्कृत-प्राकृतके पद्य भी दूसरे ग्रंथों पर से उद्धृत किये गये हैं। और इस तरह ग्रंथमें प्रस्तुत विषयका अच्छा सप्रमाण विवेचन किया गया है।

मूल ग्रन्थ और उसकी 'धवला' टीकाका हिन्दी अनुवाद भी प्रत्येक पृष्ठ पर साथ साथ दिया गया है। परन्तु अनुवादक कौन हैं यह ग्रंथ भरमें कहीं भी स्पष्ट सूचित नहीं किया गया। जान पड़ता है जिन पं० हीरालालजी शास्त्री और पं० फूलचन्दजी शास्त्रीके सहयोगसे ग्रंथका सम्पादन हुआ है और जिन्हें ग्रंथके मुख पृष्ठ पर 'सहसम्पादकों' लिखा है उन्हींके विशेष सहयोगसे ग्रंथका अनुवाद कार्य हुआ है। अनुवादके अतिरिक्त फुटनोट्सके रूपमें टिप्पणियाँ लगानेका जो महत्वपूर्ण कार्य हुआ है उसमें भी उक्त दोनों विद्वानों का प्रधान हाथ जान पड़ता है। टिप्पणियोंमें अधिकाश तुलना श्वेताम्बर ग्रंथों परसे की गई है। अच्छा होता यदि इस कार्यमें दिगम्बर ग्रंथोंका और भी अधिकताके साथ उपयोग किया जाता। इससे तुलना-कार्य और भी अधिक प्रशस्तरूपसे सम्पन्न होता। अस्तु; अनुवादको पढ़कर जाँचनेका अभी तक मुझे कोई अवसर नहीं मिल सका, इसलिये उसके विषयमें मैं अभी विशेषरूपसे कुछ भी कहनेके लिये असमर्थ हूँ परन्तु सामान्यावलोकनसे वह प्रायः अच्छा ही जान पड़ता है।

ग्रंथके शुरूमें अमरावती, आरा और कारंजाकी प्रतियोंके फोटो चित्र और ग्रन्थोद्धारमें सहायक सेठ हीराचन्द, सेठ माणिकचन्द जी आदि ७ महानुभावोंके चित्र, चित्र-परिचय सहित देकर ७ पेजका प्राक्कथन, ४ पेजमें अंग्रेजी प्रस्तावना और फिर ८८ पृष्ठकी हिन्दी प्रस्तावना दी है। साथ, प्राक्कथनके बाद एक पेजकी विषय-सूची भी दी है, जो कि फोटो चित्रोंसे भी पहले दी जानी चाहिये थी; क्योंकि सूचीमें फोटो चित्र तथा प्राक्कथनको भी विषयरूपसे दिया गया है। प्राक्कथनादि तीनों निबन्ध प्रो० हीरालालजीके लिखे हुए हैं। उनके बाद दो पेज की संकेत सूची, तीन पेजकी सत्प्ररूपणाकी विषय-सूची, एक पेजका शुद्धि पत्र, एक पेजका सत्प्ररूपणाका मुखपृष्ठ, और फिर एक पेजका मंगलाचरण दिया है। सत्प्ररूपणाकी जो विषय-सूची दी है वह केवल सत्प्ररूपणाकी न होकर उसके पूर्वके १५८ पृष्ठोंकी भी विषय-सूची है। अच्छा होता यदि उसे जीवस्थानके प्रथम अंशकी विषय सूची लिखा जाता। और सत्-प्ररूपणाका जो मुख पृष्ठ दिया है उस पर सत्प्ररूपणाकी जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखा जाता। क्योंकि पट्खण्डागमका पहला खण्ड जीवस्थान है, उसीका णमोकारमंत्र मंगलाचरण है, न कि सत्प्ररूपणा का।

ग्रन्थके अन्तमें ६ परिशिष्ट दिये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

१ संत-प्ररूपणा-सुत्ताणि, २ अवतरण-गाथा-सूची, ३ ऐतिहासिक नाम सूची, ४ भौगोलिक नाम सूची, ५ ग्रन्थनामोल्लेख, ६ वंशनामोल्लेख, ७ प्रतियोंके पाठ-भेद, ८ प्रतियोंमें छूटे हुए पाठ, ९ विशेष टिप्पण।

प्रस्तावनामें—१ श्री धवलादि सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास, २ हमारी आदर्श प्रतियां, ३ पाठ-संशोधनके नियम, ४ षट्खण्डागमके रचयिता, ५ आचार्य-परम्परा, ६ वीर निर्वाणकाल, ७ षट्खण्डागमकी टीका धवलाके रचयिता, ८ धवलासे पूर्वके

टीकाकार, ६ धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य, १०षट् खण्डागमका परिचय, ११ सत्प्ररूपणाका विषय, १२ ग्रन्थकी भाषा, इतने विषयों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तावना बहुत अच्छी है और परिश्रमके साथ लिखी गई है। हाँ, कहीं-कहीं पर कुछ बातें विचारणीय तथा आपत्तिके योग्य भी जान पड़ती हैं, जिन पर फिर कभी अवकाशके समय प्रकाश डाला जा सकेगा। यहां पर एक बात ज़रूर प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्रस्तावनामें 'धवला' को वर्गणा खण्डकी टीका भी बतलाया गया है। परन्तु मेरे उस लेखकी युक्तियों पर कोई विचार नहीं किया गया जो 'जैन सिद्धान्त भास्कर' के ६ ठे भागकी पहली किरणमें 'क्या यह सचमुच-भ्रम निवारण है?' इस शीर्षकके साथ प्रकाशित हो चुका है और जिन पर विचार करना उचित एवं आवश्यक था। यदि उन युक्तियों पर विचार करके प्रकृत निष्कर्ष निकाला गया होता तो वह विशेष गौरवकी वस्तु होता। इस समय वह पं० पन्नालालजी सोनीके कथनका अनुसरण सा जान पड़ता है, जिनके लेखके उत्तरमें ही मेरा उक्त लेख लिखा गया था। इस विषयका पुनः विशेष विचार अनेकान्तके गत विशेषांकमें दिए हुए 'धवलादि श्रुत-परिचय' नामक लेखमें वर्गणा-खण्ड विचार' नामक उपशीर्षकके नीचे किया गया है। उस परसे पाठक यह जान सकते हैं कि उन युक्तियोंका समाधान किये बगैर यह समुचित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि धवला टीका षट् खण्डागमके प्रथम चार खण्डोंकी टीका न होकर वर्गणाखण्ड सहित पांच खंडोंकी टीका है।

इस प्रकारकी कुछ त्रुटियोंके होते हुए भी ग्रंथका यह संस्करण हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियों, प्रस्तावना और परिशिष्टोंके कारण बहुत उपयोगी हो गया है।

छपाई-सफाई भी उत्तम है। मूल्य भी परिश्रमादिको देखते हुए अधिक नहीं है। और इसलिये यह ग्रंथ विद्वानोंके पढ़ने, मनन करने तथा हर तरहसे संग्रह करनेके योग्य है। इसकी तय्यारीमें जो परिश्रम हुआ है उसके लिये प्रोफेसर साहब और उनके दोनों सहायक शास्त्रीजी धन्यवादके पात्र हैं और विशेष धन्यवादके पात्र भेलसाके श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी हैं, जिनके आर्थिक सहयोगके बिना यह सब कुछ भी न हो पाता, और जिन्होंने 'जैन साहित्योद्धारक फंड' स्थापित करके समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया है।

अन्तमें श्री गजपति उपाध्यायको, जो मोडबद्रीके सुदृढ़ कैदखानेसे चिरकालके बन्दी धवल-जयधवल ग्रंथराजोंको अपने बुद्धिकौशलसे छुड़ाकर बाहर लाये तथा सहारनपुरके रईस ला० जम्बूप्रसादजीको सुपुर्द किया, और श्री सीताराम जी शास्त्रीको, जिन्होंने अपनी दूरदृष्टिता एवं हस्तकौशलसे उक्त ग्रंथराजोंकी शीघ्रातिशीघ्र प्रतिलिपियाँ करके उन्हें दूसरे स्थानों पर पहुँचाया और इस तरह हमेशाके लिये बन्दी (क़ैदी) होनेके भयसे निर्मुक्त किया *, धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। ये दोनों महानुभाव सबसे अधिक धन्यवादके पात्र हैं। इन लोगोंके मूल परिश्रम पर ही प्रकाशनादिकी यह सब भव्य इमारत खड़ी हो सकी है और अनेक सज्जनोंको ग्रन्थके उद्धारकार्यमें सहयोग देनेका अवसर मिल सका है। यदि वह न हुआ होता तो आज हमें इस रूपमें ग्रन्थराजका दर्शन भी न हो पाता। खेद है इन परोपकारी महानुभावोंके कोई भी चित्र ग्रन्थमें नहीं दिये गये हैं। मेरी रायमें ग्रन्थोद्धारमें सहायकोंके जहाँ चित्र दिये

* यदि श्री सीतारामजी शास्त्री ऐसा न करते तो इन ग्रन्थराजोंकी सहारनपुरमें भी प्रायः वही हालत होती जो मूडबद्रीके कैदखानेमें हो रही थी।

हैं वहाँ इनके चित्र सबसे पहले तथा सर्वोपरि दिये जाने चाहियें थे। आशा है ग्रन्थका दूसरा अंश प्रकाशित करते समय इस बातका जरूर खयाल रक्खा जायगा।

(२) **श्रीमद्राजचन्द्र**-(संग्रहग्रन्थ) मूल गुजराती लेखक, श्रीमद् राजचन्द्र जी शतावधानी सम्पादक और हिन्दी अनुवादक, पं० जगदीशचन्द्र, शास्त्री एम०ए०। प्रकाशक, सेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, व्यवस्थापक श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई नं० २ बड़ा साइज पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर ६४४ मूल्य सजिल्द ६) रु०।

यह वही महान् ग्रन्थ है जिस परसे महात्मा गाँधीके लिखे हुए 'रायचन्द भाईके कुछ संस्मरण' अनेकान्तकी गत ८ वीं किरणमेंश्री मद्राजचन्द्रजीके दो चित्रों सहित उद्धृत किये गये थे और 'महात्मा गांधीके २७ प्रश्नोंका समाधान' आदि दूसरे भी कुछ लेख अनेकान्तमें समय-समय पर दिये जाते रहे हैं। इसमें श्रीमद्राजचन्द्रजीके लिखे हुए आत्मसिद्धि, मोक्षमाला, भावनाबोध, आदि ग्रन्थोंका और सम्पूर्ण लेखों तथा पत्रोंका तथा उनकी प्राइवेट डायरी आदिका संग्रह किया गया है। साथमें पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम. ए. का लिखा हुआ 'राजचन्द्र और उनका संक्षिप्त परिचय' नामका एक निबन्ध भी लगा हुआ है जो बड़ा ही महत्वपूर्ण है और जिसमें कविश्रेष्ठ श्रीमद्राजचन्द्रके जीवनका बड़ा अच्छा परिचय मिलता है। ग्रंथके शुरूमें एक विस्तृत विषय-सूची महात्मा गांधीजीके द्वारा प्रस्तावना रूपमें लिखे हुए उक्त संस्मरणोंके पूर्व लगी हुई है और अंतमें ६ उपयोगी परिशिष्ट लगाए गये हैं, जिन सबसे ग्रंथकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। यह ग्रंथ बड़ा ही महत्व-पूर्ण है और इसमें अध्यात्मादि विषयोंके ज्ञानकी विपुल सामग्री भरी हुई है। ग्रंथ बार-बार पढ़ने, मनन करने और संग्रह करनेके योग्य है। मूल्य ६) रुपया इतने बड़े आकार और पुष्ट जिल्द सहित ग्रंथका अधिक नहीं है। ग्रंथकी छपाई-सफाई सब सुन्दर और मनोमोहक है। गुजरातीमें इस ग्रंथके कई संस्करण हो चुके हैं। हिन्दीमें यह पहला ही संस्करण महात्मा गांधीजीके अनुरोध पर अनुवादित आदि होकर प्रकाशित हुआ है। और इसलिये हिन्दी पाठकोंको इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये। ग्रन्थ परसे श्रीमद्राजचन्द्रजीको भले प्रकार समझा और जाना जा सकता है। महात्मा गाँधीजीके जीवन पर सबसे अधिक छाप आपकी ही लगी है, जिसे महात्माजी स्वयं स्वीकार करते हैं। आप ३४ वर्षकी अवस्थामें ही स्वर्ग सिधार गये और इतनी थोड़ी अवस्थामें ही इस सब साहित्यका निर्माण कर गये हैं, जिससे आपकी बुद्धिके प्रकर्षका अनुभव किया जा सकता है।

(३) **त्रिभंगीसार**—(हिन्दी टीका सहित) मूल लेखक, श्रीनारायणतरण स्वामी, टीकाकार ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद। प्रकाशक सेठ मन्नूलाल जैन, मु० आगा-सोद (सागर) सी० पी०। बड़ा साइज पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर १४४ मूल्य १) रु०।

मूल ग्रंथकी भाषा न संस्कृत है न प्राकृत और न हिन्दी। व्याकरणादिके नियमोंसे शून्य एक विचित्र प्रकारकी खिचड़ी भाषा है। मालूम होता है इसके लेखक किसी भी भाषाके पंडित नहीं थे। उन्हें अपने सम्प्रदाय वालोंके लिये कुछ-न-कुछ लिखनेकी जरूरत थी, इसलिये उन्होंने अपने मनके समझौतेके अनुसार उसे उक्त खिचड़ी भाषामें ही लिखा है। पद्यों-के छन्द भी जगह जगह पर स्खलित हैं। ब्र० शीतल-प्रसादजीने मूलग्रंथको ७१ गाथाओंमें बतलाया है। परन्तु मूलके सब पद्य गाथा छन्दमें नहीं हैं। ब्रह्मचारी

जी ने बहुधा रबड़की तरह खींच खांचकर पद्योंका कुछ अर्थ बिठलाया है। उसका अन्वयार्थ, भावार्थ और विशेषार्थ तक लिखा है और इस तरह पुस्तक कुछ पढ़ने योग्य हो गई है, जिसका श्रेय ब्रह्मचारीजीको है। अन्यथा पुस्तक कोई खास महत्वकी मालूम नहीं होती और न विद्वानोंकी उसके पढ़नेमें रुचि ही हो सकती है। अस्तु; यह पुस्तक जैन मित्रके ग्राहकोंको उपहारमें दी गई है और अलग मूल्यसे भी मिलती है। ब्रह्मचारी जी तारणतरण स्वामीके साहित्यका उद्धार करनेमें लगे हुए हैं। इससे पहले तारणतरण श्रावकाचार आदि और भी पांच ग्रंथ अनुवादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। खेद है ब्रह्मचारी जी इस साहित्यकी भाषा पर कोई प्रकाश नहीं डाल रहे हैं, जिसका डालना अनुवादके समय साहित्यकी ऐसी विचित्र स्थिति होते हुए आवश्यक था।

ग्रन्थका नाम 'त्रिभंगीदल प्रोक्त' इस प्रतिज्ञा-वाक्य परसे 'त्रिभंगीदल' तो उपलब्ध होता है परन्तु 'त्रिभगी-नामकी उपलब्धि नहीं होती। सम्भव है ब्रह्मचारी जी के द्वारा ही नामका यह संस्कार अथवा सुधार किया गया है।

(४) जैनधर्ममें अहिंसा—लेखक, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, मालिक दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत। पृष्ठ संख्या. सब मिलाकर १७६। मूल्य, १) रु०।

इस पुस्तका विषय उसके नामसे ही प्रकट है। इसमें अनेक जैन ग्रन्थोंपरसे कुछ वाक्योंको लेकर उन्हें भावार्थ सहित दिया है। और यह बतलानेकी चेष्टा की गई है कि "जैन धर्मको पालनेवाले सर्वगृहस्थी भले प्रकार राज्यशासन, व्यवहार, परदेशयात्रा, कारीगरीके काम व खेती आदि कर सकते हैं व श्रावकके व्रतोंको भी पाल सकते हैं।" साथ ही, इसमें अजैन ग्रन्थोंके कुछ प्रमाण भी अहिंसाकी पुष्टिमें दिये गये हैं। पुस्तक ११ अध्यायोंमें बटी हुई होनेपर भी किसी अच्छे व्यवस्थित विषयक्रमको लिये हुए नहीं हैं। विषय-विवेचन और कथनका ढँग भी बहुत कुछ साधारण है। छपाई-सफ़ाई तो और भी मामूली है। इतनेपर भी यह पुस्तक महात्मागाँधीजीको समर्पित की गई है। मूल्य १) रु० अधिक है। ऐसी पुस्तकका मूल्य चार-छह आने होना चाहिये था। जैन मित्रके ग्राहकोंको यह पुस्तक ला० रोशनलालजी जैन बी. ए. फ़ीरोजपुरकी ओरसे अपने पूज्य पिता ला० लालमनजीकी स्मृतिमें जिनका सचित्र जीवन चरित भी साथमें लगा है, भेंटमें दी गई है।
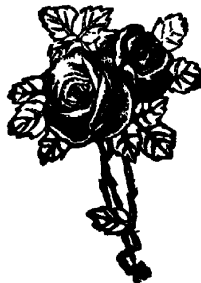
प्रातः स्मरणीय जगत्पूज्य परम योगिराज जैनाचार्य श्री मद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी विरचित—अखिल जैन ग्रन्थोंका सार सर्वस्व, अद्वितीय, अनुपमेय, विद्वजन प्रशंसित मागधी (प्राकृत) भाषाका

एकमात्र विश्वसनीय विराट् बृहद्विश्वकोश

रचना काल | सं० १९४६-१९६० |

अभिधान राजेन्द्र

| मुद्रण काल | सं० १९६४-१९८०

पृष्ठ संख्या १०,०००] (भाग १ से ७) [शब्द संख्या ६०,०००

कुछ विद्वानोंके अभिप्राय पढ़िये :—

सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन, के० सी० आई० ई० (इंग्लैंड):—"......... मुझे मेरे जैन प्राकृतके अध्ययनमें इस ग्रन्थका बहुत साह्य हुवा है............यह विश्वकोश संदर्भ तथा आधार दिग्दर्शनके लिये अति मूल्यवान तथा उपयोगी है।"

प्रो० सिल्वेन लेवी (यूनिवर्सिटी ऑफ पेरिस, फ्रांस) :—"............यह ग्रन्थ पीटर्सबर्ग डिक्शनरीसे भी बढ़कर उपयोगी है, इसमें आधार और अवतरणोंसे सज्ज पूर्ण शब्द संग्रह ही केवल नहीं मिलता है, किन्तु उन शब्दोंके साथ संबद्ध मतमतान्तर, इतिहास तथा विचारोंका पूरा-पूरा विवेचन भी प्राप्त होता है··।"

प्रो० सिद्धेश्वर वर्मा, एम० ए० (जम्मू-काश्मीर):—"............इसमें आज तक संसारको सर्वथैव अज्ञात ऐसा अमूल्य अवतरण ग्रन्थाधारका बहुत बड़ा भण्डार भरा पड़ा है।"

हरेक यूनिवर्सिटी, कॉलेज, विद्यालय, लायब्रेरी, जैन भण्डार, विद्वान्, धनी लोग, राजा, महाराजाके संग्रहमें अवश्य रखने योग्य है।

मूल्य सम्पूर्ण सातों भागके ग्रन्थका केवल रु० १७५), अधिक ग्रन्थोंके लिये तथा व्यापारियोंके लिये कमीशनके लिये पत्र-व्यवहार कीजिये।

पता:—अभिधान राजेन्द्र प्रचारक संस्था, रतलाम (मध्य भारत)

Regd. No. L. 4328

अनुकरणीय

गत वर्ष कई धर्म-प्रेमी दातारोंकी ओरसे १२१ जैनेतर संस्थाओंको अनेकान्त एक वर्ष तक भेट स्वरूप भिजवाया गया था। हमें हर्ष है कि इस वर्ष भी भेंट स्वरूप भिजवाते रहनेका शुभ प्रयास हो गया है। निम्न सज्जनोंकी ओरसे जैनेतर संस्थाओंको भेट स्वरूप अनेकान्त भिजवाया गया है।

अनेकान्त पर आए हुए लोकमतसे ज्ञात हो सकेगा कि अनेकान्तके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है। जितना अधिक अनेकान्तका प्रचार होगा उतना ही अधिक सत्य शान्ति और लोक हितैषी भावनाओंका प्रचार होगा। अनेकान्तको हम बहुत अधिक सुन्दर और उन्नतिशील देखना चाहते हैं। किन्तु हमारी शक्ति बुद्धि हिम्मत सब कुछ परिमित है। हमें समाज हितैषी धर्म बन्धुओंके सहयोगकी अत्यन्त आवश्यकता है। हम चाहते हैं समाजके उदार हृदय बन्धु जैनेतर संस्थाओं और विद्वानोंको प्रचारकी दृष्टिसे अनेकान्त अपनी ओरसे भेट स्वरूप भिजवाएँ और जैन बन्धुओंको अनेकान्तका ग्राहक बननेके लिए उत्साहित करें। ताकि अनेकान्त कितनी ही उपयोगी पाठ्य सामग्री और पृष्ठ सख्या बढ़ानेमें समर्थ हो सके। लड़ाईकी तेजीके कारण जबकि पत्रोंका जीवन सकटमय हो गया है, पत्रोंका मूल्य बढ़ाया जा रहा है। तब इस महंगीके जमानेमें भी प्रचारकी दृष्टिसे केवल ३) रु० वार्षिक मूल्य लिया जा रहा है। इसपर भी जैनेतर विद्वानों शिक्षण संस्थाओं और पुस्तकालयोंमें भेट स्वरूप भिजवाने वाले दानी महानुभावोंसे ढाई रुपया वार्षिक ही मूल्य लिया जायगा। किन्तु यह रियायत केवल जैनेतर संस्थाओंके लिये अमूल्य भिजवाने पर ही दी जायेगी। समाजमें ऐसे १०० दानी महानुभाव भी अपनी ओरसे सौ-सौ, पचास-पचास अथवा यथाशक्ति भेट स्वरूप भिजवानेको प्रस्तुत हो जाएँ तो 'अनेकान्त' आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है। जैनेतरोंमें अनेकान्त जैसे साहित्यका प्रचार करना जैनधर्मके प्रचारका महत्वपूर्ण और सुलभ साधन है।

सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या, इन्दौरकी ओरसे—

१. मंत्री शान्ति निकेतन पुस्तकालय बोलपुर (बंगाल)
२. ,, हिन्दू यूनिवर्सिटी ,, बनारस
३. ,, दी हिन्दुस्तान एकेडेमी ,, इलाहबाद
४. ,, श्री नागरी प्रचारिणी सभा ,, बनारस
५. ,, विक्टोरिया कालेज ,, ग्वालियर
६. ,, गुजरात कालेज ,, अहमदाबाद
७. ,, मद्रास यूनिवर्सिटी ,, मद्रास
८. ,, मोरिस कालेज ,, नागपुर
९. ,, कलकत्ता यूनिवर्सिटी ,, कलकत्ता
१०. ,, ओरिएन्टल कालेज ,, लाहौर

रोडमल मेघराज जैन सुसारीकी ओरसे—

११. मंत्री पब्लिक लायब्रेरी अंजड़ (बड़वानी)
१२. ,, श्रीकृष्ण पब्लिक वाचनालय बड़वानी
१३. ,, पब्लिक लायब्रेरी धार
१४. ,, श्री महावीर वाचनालय सुसारी (इन्दौर)
१५. ,, गीताजी वाचनालय सनावर (ग्वालियर स्टेट)

ला० ज्योति प्रसादजी जैन, मेरठ की ओरसे—

१६. मंत्री श्रीवीर पुस्तकालय, मेरठ

—व्यवस्थापक

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली

पौष, वीर नि० सं० २४६६
जनवरी १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ३
वार्षिक मूल्य ३)

श्रीबाहुबली स्वामी

इस कामदेवोपम सर्वाङ्ग सुन्दर बलिष्ठ पुरुषने निदारुण कायक्लेशमें वर्षके वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा हा खाते थे और निस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियां उस निर्मीलित नेत्र, मग्न-मौन, शिलाकी भांति खड़े हुए पुरुष-पुंगवके चरणोंको धो-धोकर वह पानी आँखों लगाती थीं। उसके चरणोंके पासकी मिट्टी औषधि समझी जाती थी। पर वह सब ओरसे विलग, अनपेक्ष, बन्द-आँख बन्द-मुख, मलिन देह, कृश-गात, तपस्यामें लीन था।
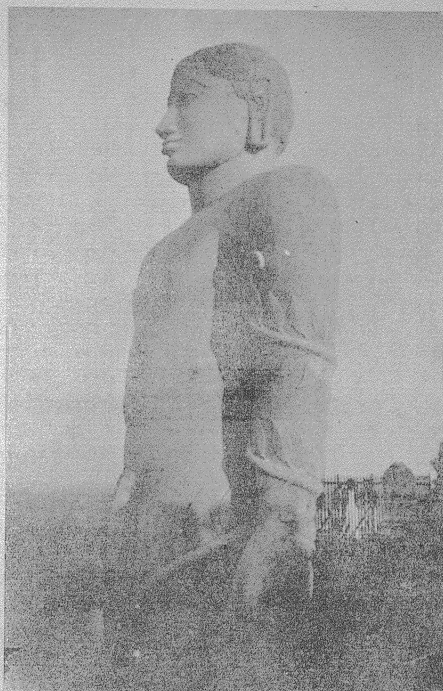
—जैनेन्द्र

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय।

विषय-सूची

पृष्ठ

१. सिद्धसेन स्मरण २०५

२. पुरुषार्थ (कविता) — [ले० श्री० मैथिलीशरण गुप्त २०६

३. धवलादि श्रुत परिचय [सम्पादकीय २०७

४. सुधार संसूचन २१६

५. उस दिन (कहानी) — श्री "भगवत्" ... २१७

६. जैनधर्म की विशेषता [श्री सूरजभान वकील २२१

७. वीर शासनांक पर सम्मतियाँ २३५

८. वास्तविक महत्ता [श्रीमद् राजचन्द्र २३६

९. ज्ञातवंशका रूपान्तर जाटवंश [मुनि श्री कवीन्द्रसागरजी ... २३७

१०. द्रव्य-मन [पं० इन्द्रचन्द्र शास्त्री ... २५०

११. अति प्राचीन प्राकृत "पंच संग्रह" [पं० परमानन्द .. २५६

१२. जैन और बौद्ध निर्वाणमें अन्तर [श्री जगदीशचन्द्र एम ए. . २६१

१३. एक महान साहित्य सेवीका वियोग [सम्पादकीय २६५

अनेकान्तकी फाइल

अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी किरणोंकी कुछ फाइलोंकी साधारण जिल्द बंधवाली गई हैं। १२ वीं किरण कम हो जानेके कारण फाइलें थोड़ी ही बन्ध सकी हैं। अतः जो बन्धु पुस्तकालय या मन्दिरोंमें भेंट करना चाहें या अपने पास रखना चाहें वे २॥) रु० मनियार्डरसे भिजवा देंगे तो उन्हें सजिल्द अनेकान्तकी फाइल भिजवाई जा सकेगी।

जो सज्जन अनेकान्तके ग्राहक हैं और कोई किरण गुम हो जानेके कारण जिल्द बन्धवानेमें असमर्थ हैं उन्हें १२वीं किरण छोड़कर प्रत्येक किरणके लिये चार आना और विशेषांकके लिए आठ आना भिजवाना चाहिए तभी आदेशका पालन हो सकेगा। —व्यवस्थापक

भूल—

मशीन पर छपते हुए कितने ही फार्मोंमें पृ० २६१ पर लेखक प्रोफेसर जगदीशचन्द्रजीके 'प्रोफेसर' में से "प्रोफे" अक्षर निकल गये हैं कृपया सुधार लीजियेगा।

— व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
पौष-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६ | किरण ३

सिद्धसेन-स्मरण

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

—हरिवंशपुराणे, जिनसेनसूरिः

श्रीसिद्धसेनाचार्यकी निर्दोष सूक्तियाँ जगत्प्रसिद्ध बोधस्वरूप भ० वृषभदेवकी सूक्तियोंकी तरह सत्पुरुषोंकी बुद्धिको बोध देती है—उसे विकसित करती हैं।

प्रवादि-करि-यूथानां केशरी नय-केशरः ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्प-नखराङ्कुरः ॥

—आदिपुराणे, श्रीजिनसेनाचार्यः

जो प्रवादिरूपी हाथियोंके समूहके लिये विकल्परूप नुकीले नखोंसे युक्त और नयरूप केशरोंको धारण किये हुए केशरीसिंह हैं, वे श्रीसिद्धसेन कवि जयवन्त हों—अपने प्रवचनद्वारा मिथ्यावादियोंके मतोंका निरसन करते हुए, सदा ही लोक-हृदयोंमें अपना सिक्का जमाए रक्खें।

मदुक्ति-कल्पलतिकां सिञ्चन्तः करुणामृतैः ।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्धयन्तु हृदिस्थिताः ॥

—यशोधरचरिते, मुनि कल्याणकीर्तिः

हृदयमें स्थित हुए श्रीसिद्धसेन-जैसे कवि मेरी उक्तिरूपी छोटीसी कल्पलताको करुणाऽमृतसे सींचते हुए उसे वृद्धिंगत करें—अर्थात् मैं सिद्धसेन-जैसे महा प्रभावशाली कवियोंको अधिकाधिक-रूपसे हृदयमें धारण करके अपनी वाणीको उत्तरोत्तर पुष्ट और शक्ति-सम्पन्न बनानेमें समर्थ होऊं।

पुरुषार्थ

[ले०-कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त]

(१)

पुरुष क्या, पुरुषार्थ हुआ न जो,
हृदयकी सब दुर्बलता तजो ।
प्रबल जो तुममें पुरुषार्थ हो,
सुलभ कौन तुम्हें न पदार्थ हो ?
प्रगतिके पथमें विचरो उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

(२)

न पुरुषार्थ बिना कुछ स्वार्थ है,
न पुरुषार्थ बिना परमार्थ है ।
समझ लो यह बात यथार्थ है,
कि-पुरुषार्थ वही पुरुषार्थ है ।
भुवनमें सुख-शान्ति भरो उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो

(३)

न पुरुषार्थ बिना वह स्वर्ग है,
न पुरुषार्थ बिना अपवर्ग है ।
न पुरुषार्थ बिना क्रियता कहीं,
न पुरुषार्थ बिना प्रियता कहीं ।
सफलता वर-तुल्य बरो उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥

(४)

न जिसमें कुछ पौरुष हो यहाँ,
सफलता वह पा सकता कहाँ ?
अपुरुषार्थ भयंकर पाप है,
न उसमें यश है न प्रताप है ।
न कृमि-कीट-समान मरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

(५)

मनुज-जीवनमें जयके लिये,
प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिये ।
विजय तो पुरुषार्थ बिना कहाँ,
कठिन है चिर-जीवन भी यहाँ ।
भय नहीं, भवसिन्धु तरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥

(६)

यदि अनिष्ट अड़ें अड़ते रहें,
विपुल विघ्न पड़ें पड़ते रहें ।
हृदयमें पुरुषार्थ रहे भरा,
जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा ।
दृढ़ रहो, ध्रुवधैर्य्य धरो, उठो
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥

(७)

यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्व है,
प्रिय तुम्हें यदि मान-महत्व है ।
यदि तुम्हें रखना निज नाम है,
जगतमें करना कुछ काम है ।
मनुज ! तो श्रमसे न डरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

(८)

प्रकट नित्य करो पुरुषार्थको,
हृदयसे तज दो सब स्वार्थ को ।
यदि कहीं तुमसे परमार्थ हो,
यह विनश्वर देह कृतार्थ हो ।
सदय हो, पर दुख हरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

धवलादि-श्रुत-परिचय

[सम्पादकीय]

धवल-जयधवलके रचयिता

(२)

गत विशेषाङ्कमें यह बतलाया जा चुका है कि धवल-जयधवल मूल ग्रन्थ न होकर संस्कृत-प्राकृत-भाषा-मिश्रित टीकाग्रन्थ हैं, परन्तु अपने अपने मूल ग्रन्थोंको साथमें लिये हुए है। साथ ही, यह भी बतलाया जा चुका है कि वे मूलग्रन्थ कौन हैं, किस भाषा के हैं, कितने कितने परिमाणको लिए हुए हैं और किस किस आचार्यके द्वारा निर्मित हुए हैं अथवा उनके अवतारकी क्या कुछ कथा इन टीका-ग्रन्थोंमें वर्णित है, इत्यादि। आज यह बताया जाता है कि धवलके रचयिता वीरसेनाचार्य और जयधवलके रचयिता वीरसेन तथा जिनसेनाचार्य कौन थे, किस मुनि-परम्परामें उत्पन्न हुए थे, टीकोपयुक्त सिद्धान्त विषयक ज्ञान उन्हें कहाँसे प्राप्त हुआ था और उनका दूसरा भी क्या कुछ परिचय इन टीकाग्रन्थों परसे उपलब्ध होता है।

श्रीवीरसेनाचार्य

धवलके अन्तमें एक प्रशस्ति लगी हुई है, जो नवगाथात्मिका है और जिसके रचयिता स्वयं श्री वीरसेनाचार्य जान पड़ते हैं, क्योंकि उसमें अन्तमंगलके तौर पर मंगलाचरण करते हुए 'मए' (मया) और 'महु' (मम) जैसे पदोंका प्रयोग किया गया है और ग्रन्थ-समाप्तिके ठीक समयका बहुत सूक्ष्मरूपसे—उस वक्तकी ग्रहस्थिति तकको स्पष्ट बतलाते हुए—उल्लेख किया है। इस प्रशस्तिकी १ली, ४थी और ५वीं, ऐसी तीन गाथाओंसे वीरसेनाचार्यका कुछ परिचय मिलता है। पहली गाथासे मालूम होता है कि एलाचार्य सिद्धान्त-विषयमें वीरसेनके शिक्षा गुरु थे—इस सिद्धान्तशास्त्र (षट्खण्डागम) का विशेष बोध उन्हें उन्हींके प्रसादसे प्राप्त हुआ था, और इसलिये इस विषयका उल्लेख करते हुए वीरसेनाचार्यने उन एलाचार्यके अपने ऊपर प्रसन्न होनेकी भावना की है—प्रकारान्तरसे यह सूचित किया है कि 'जिन श्रीएलाचार्यसे सिद्धान्त-विषयक ज्ञान को प्राप्त करके मैं उनका ऋणी हुआ था, उनके उस ऋणको आज मैं ब्याज (सूद) सहित चुका रहा हूँ, यह देखकर वे मुझ पर प्रसन्न होंगे। चौथी और पाँचवी दो गाथाओंमें यह बतलाया है कि जिन वीरसेन मुनि भट्टारकने यह टीका (धवला) लिखी है वे आचार्य आर्यनन्दीके शिष्य तथा चन्द्रसेनके प्रशिष्य थे और 'पंचस्तूप' नामके मुनिवंश * में उत्पन्न हुए थे—उस

---

*धवलामें अन्यत्र—'कर्म' नामके अनुयोगद्वारमें—वैय्यावृत्यके भेदोंका वर्णन करते हुए, मुनिकुलके १ पंचस्तूप, २ गुहावासी, ३ शालमूल, ४ अशोकवाट, ५ खंडकेसर, ऐसे पंच भेद किये हैं। यथा—

"तत्थ कुलं पंचविहं पंचथूहकुलं, गुहावासीकुलं सालमूलकुलं असोगवाडकुलं खंडकेसरकुलं चेदि।"

'पंचस्तूप' नामक मुनिवंशके मुनियोंका मूलनिवास-स्थान पंचस्तूपोंके पास था, ऐसा इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके 'पंचस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणः' जैसे

वंशरूपी आकाशमें सूर्यके समान थे। साथ ही, सिद्धांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण(न्याय)-विषयक शास्त्रोंमें वे निपुण थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरसेनके दीक्षागुरु चन्द्रसेनाचार्यके शिष्य आर्यनन्दी थे और इसलिये उनकी गुरुपरम्परा चन्द्रसेनाचार्य से प्रारम्भ होती है—एलाचार्यसे नहीं। एलाचार्यके विषयमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे पंचस्तूपान्वयमें उत्पन्न हुए थे—वे मात्र सिद्धान्त-विषयमें वीरसेनके विद्यागुरु थे, इतना ही यहां स्पष्ट जाना जाता है। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें उन्हें चित्रकूट-पुरका निवासी लिखा है, इससे भी वे पंचस्तूपान्वयी मुनियोंसे भिन्न जान पड़ते हैं।

प्रशस्तिकी शेष गाथाओंमें से दूसरीमें 'वृषभसेन' का, तीसरीमें अर्हत्सिद्धादि परमेष्ठियोंका अन्त्यमंगल-के तौर पर स्मरण किया गया है और अन्तकी चार गाथाओंमें टीकाकी समाप्तिका समय, उस समयकी राज्यस्थितिका कुछ निर्देश करते हुए, दिया है—अर्थात् यह बतलाया है कि यह धवला टीका शक संवत् ७३८ में कार्तिक शुक्ल त्रयोदशीके दिन उस समय समाप्त की गई है जब कि तुलालग्नमें सूर्य बृहस्पतिके साथ था तथा बुधका वहां अस्त था, शनिश्चर धनुराशिमें था, राहुके साथ मंगल कुम्भराशिमें था, चन्द्रमा मीनराशि का और शुक्र कुम्भराशिका था, जगतुंगदेव (गोविन्द तृतीय) आसन छोड़ चुके थे और उनके उत्तराधिकारी राजा बोद्दणराय (अमोघवर्ष प्रथम) जो कि नरेन्द्रचूड़ा-मणि थे, राज्यासनपर आरूढ हुए उसका उपभोग कर रहे थे। प्रशस्तिकी कुछ गाथाओंमें लेखकोंकी कृपा-से कोई कोई पद अशुद्ध पाये जाते हैं। प्रो० हीरालाल जीने भी, 'धवला' का सम्पादन करते हुए उनका अनुभव किया है और अपने यहांके प्रवीण ज्योतिर्विद श्रीयुत पं० प्रेमशंकरजी दवेकी सहायतासे प्रशस्तिके ग्रहस्थिति-विषयक उल्लेखोंका जांच पड़तालके साथ संशोधनकार्य किया है, जो ठीक जान पड़ता है। साथ ही, यह भी मालूम किया है कि चूंकि केतु हमेशा राहुसे सप्तम स्थान पर रहता है इसलिये केतु उस समय सिंहराशि पर था। और इस तरह प्रशस्तिपरसे ग्रन्थकी जन्मकुण्डलीकी सारी ग्रहस्थिति स्पष्ट होजाती है। अस्तु, यह पूर्ण प्रशस्ति अपने संशोधित रूप-सहित, जिसे ब्रैकट (कोष्ठक)में दिखलाया गया है, आराकी प्रतिके अनु-सार इस प्रकार है—

जस्स से(प)साएण मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुंदी (लिहिदं)।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥१॥
वंदामि उसहसेणं तिहुवणजिय-बंधवं सिवं संतं।
णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम पणासियं दिट्ठं ॥२
अरहंतपदो (अरहंतो) भगवंतो सिद्धा सिद्धापसि-द्धयाइरिया। साहू साहू य महं पसी(सि)यंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥ अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जवकम्मस्स चंदसेणस्स। तह णत्तुवेण पंचत्थूहण्णयभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥ सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ-णिवुणेण। भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५

वाक्यसे पाया जाता है। इसीसे उन मुनियोंके वंशकी 'पंचस्तूपान्वय' संज्ञा पड़ी; परन्तु वे पंचस्तूप कहां थे, इसका कोई ठीक पता नहीं चलता। साथ ही, उक्त श्रु-तावतारमें उद्धृत पुरातन वाक्योंके "पंचस्तूप्यास्तत: सेना:" "पंचस्तूप्यास्तु सेनानां" जैसे अंशोंसे यह भी जाना जाता है कि पंचस्तूपान्वय सेनसंघका ही विशेष अथवा नामान्तर है। वीरसेनकी गणना भी सेनसंघके आचार्योंमें ही की जाती है—सेनसंघकी पट्टावलीमें उनके नामका निर्देश है।

[illegible]-[illegible](सप्तम्यां) [illegible](सिते)
कुंभरासे (कुम्भराशौ)।
पा(वा)से सुतेरसीए भाव (व)-[illegible] ॥
[illegible]आदेसयके रिवम्हि कुलंम्हि संतुला कोवे।
सूरे तुलाए संते (ते) गुरुम्हि कुलविल्लए हृति ॥७॥
चावम्हि व(त)रिणवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि णेमि(मीच)
चंदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ (पा) धवला ॥८॥
बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते।
सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगंता सा ॥९॥

इस प्रशस्तिके बाद एक संस्कृतका प्रशस्ति-पद्य और दिया है, जो संभवतः वीरसेनाचार्यके किसी शिष्य-की—प्रायः जिनसेनकी—कृति जान पड़ता है, और वह इस प्रकार है:—

शब्दब्रह्मेति शाब्दैर्गणधरमुनिरित्येव राद्धान्तविद्भिः
साक्षात्सर्वज्ञ एवेत्यवहितमतिभिः सूक्ष्मवस्तुप्रणीतो (णीतैः)
यो दृष्टो विश्वविद्यानिधिरिति जगति प्राप्त भट्टारकाख्यः
स श्रीमान्वीरसेनो जयति परमतध्वांतभित्तंत्रकारः ॥१॥

इसमें बतलाया है कि—'जिन्हें शाब्दिकोंने 'शब्द ब्रह्म' के रूपमें, सिद्धान्तशास्त्रियोंने 'गणधरमुनि' के रूपमें, सावधानमतियोंने 'साक्षात् सर्वज्ञ' के रूपमें और सूक्ष्मवस्तु विज्ञोंने 'विश्वविद्यानिधि' के रूपमें देखा—अनुभव किया—और जो जगतमें 'भट्टारक' नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए, वे परमताऽन्धकारको भेदने वाले शास्त्रकार—इस ग्रन्थके रचयिता—श्रीमान् वीर-सेनाचार्य जयवन्त हैं—विद्वद्हृदयोंमें सब प्रकारसे अपना सिक्का जमाए हुए हैं।

जयधवलके अन्तमें भी एक प्रशस्ति लगी हुई है जो संस्कृत तथा प्राकृत भाषाके ४४ पद्योंमें है—अर्थात् प्रथमकी पांच गाथाएँ * प्राकृतकी और शेष सब पद्य संस्कृत भाषाके हैं। इसके रचयिता वीरसेनके शिष्य जिनसेन हैं और इसमें टीका-नाम, ग्रन्थ-संख्या तथा ग्रन्थकी समाप्तिके समयादिकी सूचनाओंके साथ वीरसेन और जिनसेन दोनों आचार्योंका कुछ-कुछ परि-चय भी दिया हुआ है। श्रीवीरसेनाचार्यके परिचय-विषयक मुख्य पद्य आराके सिद्धान्त-भवनकी प्रतिके अनुसार इस प्रकार हैं:—

‡ श्रीवीरसेन इत्यात्त-भट्टारक-पृथुप्रथः।
पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥१९॥
प्रीणित-प्राणिसंपत्तिराक्रांताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नाऽस्खलत् ॥२०॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीं।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥२१॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोध-दीधिति-प्रसरोदयं।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमं ॥२२॥
प्रसिद्ध [सिद्ध] सिद्धांत-वार्धिवाधौत शुद्धधीः।
सार्द्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥२३॥

---

* पहली गाथा टीका-नामादि-विषयक है और वह निम्न प्रकार है; शेष गाथाएँ श्रुतदेवताके स्मरणा-दिसे सम्बन्ध रखती हैं—

एत्थ समप्पइ धवलियतिहुवणभवणा पसिद्धमाहप्पा।
पाहुडसुत्ताणमिमा जयधवला सण्णिया टीका ॥१॥

‡ इस पद्यसे पहले वीरसेन-विषयक दो पद्य और हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

भूयाद्वावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनं।
भूयाद्वावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनं (?) ॥१७॥
आसीदासं (?) द्वाम्भभव्यसत्त्वकुमुद्वतीं।
मुद्वतीं कर्तुमीशो यः शशांक इव पुष्कलः ॥१८॥

पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता।
येनातिशायिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२७॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन्।
व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयाम्बरे ॥२८॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योप्यार्यनंदिनां।
कुलं गणं च संतानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२९॥

इन पद्योंमें बतलाया है कि—'श्री वीरसेनाचार्य भट्टारक पदकी महाख्यातिको प्राप्त थे और साक्षात् केवलीकी तरह अधिकांश विद्याओंके पारदृष्टा थे। उनकी अशेष विषयोंसे परिपूर्ण तथा प्राणिसम्पत्तिको—प्राणियोंमें उत्कर्षको प्राप्त मानवसंततिको अथवा प्राणिसमूहको—संतुष्ट करनेवाली भारती(वाणी)सिद्धान्तागमके षट्खण्डोंमें उसी प्रकारसे निर्बाध प्रवर्तती थी जिस प्रकार कि भरत चक्रवर्तीकी आज्ञाभरतक्षेत्रके छहोंखण्डोंमें अखण्डितरूपसे वर्तती थी—अर्थात् जिस तरह भरत चक्रीकी आज्ञा छहों खण्डोंमें प्रमाण मानी जाती थी उसी तरह वीरसेनाचार्यकी वाणीभी षट्खण्डागमके विषयमें प्रमाण मानी जाती थी। उनकी सर्वपदार्थोंमें प्रवेश करनेवाली स्वाभाविक बुद्धिको देखकरबुद्धिमान लोग सर्वज्ञके विषयमें शंकारहित होगये थे। वे प्रकर्षरूपसे स्फुरायमान ज्ञानकी किरणोंके प्रसारको लिये हुए थे और इसलिये विद्वान् जन उन्हें श्रुतकेवली तथा प्रज्ञाश्रमणोंमें उत्तम कहते थे। उनकी बुद्धि प्रसिद्ध और सिद्ध ऐसे सिद्धान्त-समुद्रके जलसे धुलकर शुद्ध हुई थी, और इसलिये वे तीव्र बुद्धिके धारक प्रत्येक बुद्धोंके साथ स्पर्धा करते थे। उन्होंने प्राचीन पुस्तकोंके गौरवको बढ़ाया था और वे अपने पूर्वके सभी पुस्तकशिष्यों-पुस्तकपाठियों अथवा पुस्तकों-द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवालोंमें बढ़े चढ़े थे। वे मुनिराज-रूपी सूर्य अपने तपकी देदीप्यमान किरणोंसे भव्यजनरूपी कमलोंको विकसित करते हुए पंचस्तूपान्वयरूपी आकाशमें सविशेष रूपसे उद्योतको प्राप्त हुए थे। वे चन्द्रसेनके प्रशिष्य तथा आर्यनन्दीके शिष्य थे और उन्होंने अपने कुल, गण तथा सन्तान (शिष्यसमूह) को अपने गुणोंसे उज्वल किया था।

यह परिचय कुछ अतिशयालंकारसे युक्त होनेपर भी बहुत कुछ तथ्यपूर्ण जान पड़ता है और इसका कितना ही अनुभव वीरसेनाचार्यकी धवला और जय-धवला ऐसी दोनों टीकाओंको देखनेसे हो सकता है। इस परिचयमें भी वीरसेनको पंचस्तूपान्वयी चन्द्रसेनके प्रशिष्य तथा आर्यनन्दीके शिष्य सूचित किया है। साथ ही, एलाचार्यका गुरुरूपसे कोई उल्लेख ही नहीं किया, जिसका यह स्पष्ट अर्थ जान पड़ता है कि वीरसेनाचार्य-की गुरुपरम्परा उक्त चन्द्रसेनाचार्यसे ही प्रारंभ होती है, एलाचार्यसे नहीं—एलाचार्यसे उन्हें प्रायः षट्खण्डा-गमविषयक ज्ञानकी ही प्राप्ति हुई थी, जयधवलके आ-धारभूत कषायप्राभृतके ज्ञानकी प्राप्ति नहीं।

वीरसेनाचार्य जयधवलाको पूरी नहीं कर सके, वे उसका पूर्वार्ध ही—जो कि प्रायः २० हज़ार श्लोक परिमाण है—लिख पाये थे कि उनका स्वर्गवास होगया, और इसलिये उत्तरार्धको—जो कि ४० हज़ार श्लोक-परिमाण है--उनके शिष्य वीरसेनने लिखकर समाप्त किया है। समाप्तिका समय शक संवत् ७५६ फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वान्हका है,जबकि नन्दीश्वर महोत्सवके अवसर पर—अर्थात् अष्टान्हिका पर्वमें—महान् पूजा-विधान प्रवर्त रहा था, और गुर्जरराजा अमोघवर्षका राज्य था। उन्हींके राज्यके वाटग्राम नगरमें यह सूत्रार्थ-दर्शिनी 'जयधवला' टीका, जिसे 'वीरसेनीया' नाम भी दिया गया है, उक्त समय पर समाप्त की गई है, जैसा कि प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे प्रकट है—

इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥६॥

फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके ।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥७॥
अमोघवर्षराजेन्द्र-प्राज्यराज्य-गुणोदया ।
निष्ठिता प्रचयं (?) यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥
षष्टिरेवसहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः ।
श्लोकानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वशः ॥९॥
विभक्तिः प्रथमस्कंधो द्वितीयः संक्रमोदयौ ।
उपयोगश्च शेषास्तु तृतीयः स्कन्ध इष्यते ॥१०॥
एकान्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥११॥

यह बात ऊपर बतलाई जाचुकी है कि धवला टीका शकसंवत ७३८में बनकर समाप्त हुई थी, उसके बाद ही यदि जयधवला टीका प्रारम्भ करदी गई थी, जिसका उसके अनन्तर प्रारम्भ होना बहुत कुछ स्वाभाविक जान पड़ता है, तो यह कहना होगा कि जयधवलाके निर्माणमें प्रायः २१ वर्षका समय लगा है। चूँकि इसका एक तिहाई भाग ही वीरसेनाचार्य लिख पाये थे, इसलिये वे धवलाके निर्माणके बाद प्रायः ७ वर्ष तक जीवित रहे हैं, और इससे उनका अस्तित्व-काल प्रायः शक संवत ७४५ तक जान पड़ता है।

इस तरह यह वीरसेनाचार्यका धवल-जयधवलके आधार पर संक्षिप्त परिचय है। अब जिनसेनाचार्यके परिचयको भी लीजिये।

श्री जिनसेनाचार्य

जयधवलके उत्तरार्धके निर्माता ये जिनसेनाचार्य वे ही जिनसेनाचार्य हैं जो प्रसिद्ध आदिपुराण ग्रंथके रचयिता हैं और प्रायः भगवज्जिनसेनके नामसे उल्लेखित किये जाते है। आदिपुराणमें भी इन्होंने "श्रीवीरसेन इत्यात्त भट्टारकपृथुप्रथः" इत्यादि वाक्योंके द्वारा श्रीवीरसेनाचार्यका अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है और साथ ही आपकी 'धवला' भारतीको स्पष्टरूपसे नमस्कार भी किया है *। वीरसेनके शिष्य होनेसे वे भी पंचस्तूपान्वयी आचार्य हैं और इसलिये इनकी भी गुरुपरम्परा चन्द्रसेनाचार्यसे प्रारम्भ होती है—एलाचार्यसे नहीं। 'विद्वद्रत्नमाला' में उसका एलाचार्यसे प्रारम्भ होना जो लिखा है वह ठीक नहीं है।

जयधवलाकी उक्त प्रशस्तिमें, वीरसेनका परिचय देनेके बाद, जिनसेनको वीरसेनका शिष्य बतलाते हुए, जो परिचयका प्रथम पद्य दिया है वह इस प्रकार है—

तस्य शिष्यो भवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः ।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥ २७ ॥

इससे मालूम होता है कि श्रीजिनसेन वीरसेनाचार्यके तीव्रबुद्धि शिष्य थे। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि आप आविद्धकर्ण थे अर्थात् आपके दोनो कान बिंधे हुए थे, फिर भी आपके कान पुनः ज्ञान-शलाका से विद्ध किये गये थे, जिसका भाव यही जान पड़ता है कि मुनि-दीक्षाके बाद अथवा पहले आपको गुरुका खास उपदेश मिला था और उससे आपको बहुत कुछ प्रबोधकी प्राप्ति हुई थी।

आप बाल-ब्रह्मचारी थे—बाल्यावस्थासे ही आपने

---

* आदिपुराणके वे पद्य इस प्रकार हैं:—

श्रीवीरसेन इत्यात्त-भट्टारकपृथुप्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥५५॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं ।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥५६॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।
मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम् ।
धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ५८ ॥

अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतका पालन किया था। अतिसुन्दराकार और अतिचतुर न होने पर भी सरस्वती आप पर मुग्ध थी और उसने अनन्य-शरणा होकर उस समय आपका ही आश्रय लिया था। साथ ही, आसन्न भव्य होने की वजहसे, मुक्तिलक्ष्मीने स्वयंवराकी तरह उत्सुक होकर आपके कण्ठमें श्रुतमाला डाली थी। इस अलंकृत भावको प्रशस्तिके नीचे लिखे पद्योंमें प्रकट किया गया है—

यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका ।
स्वयंवरितुकामेव श्रौतीं मालामयूयुजत् ॥ २८ ॥
येनानुचरितं बाल्याद् ब्रह्मव्रतमखंडितम् ।
स्वयंवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥ २९ ॥
यो नातिसुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः ।
तथाप्यनन्यशरणाऽयं सरस्वत्युपाचरत् ॥ ३० ॥

जिनसेन स्वभावसे ही बुद्धिमान्, शान्त और विनयी थे, और इन (बुद्धि, शांति, विनय) गुणोंके द्वारा आपने अनेक आचार्योंका आराधन किया था—अर्थात् इन गुणोंके कारण कितने ही आचार्य उस समय आप पर प्रसन्न थे। आप शरीरसे यद्यपि पतले-दुबले थे, तो भी तपोगुणके अनुष्ठानमें कमी नहीं करते थे। शरीरसे कृश होने पर भी आप गुणोंमें कृश नहीं थे। आपने कपिल सिद्धान्तोंको—सांख्यतत्त्वोंको—ग्रहण नहीं किया और न उनका भले प्रकार चिंतन ही किया, तो भी आप अध्यात्म-विद्या-समुद्रके उत्कृष्ट पारको पहुंच गये थे। आपका समय निरन्तर ज्ञानाराधनमें ही व्यतीत हुआ करता था, इसीसे तत्त्वदर्शीजन आपको ज्ञानमय पिण्ड कहते थे। इन सब बातोंके द्योतक पद्य, प्रशस्तिमें, इस प्रकार हैं—

धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिकाः गुणाः ।
सूरीनाराधयंति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥ ३१ ॥
यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोभूत्तपोगुणैः ।
न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥ ३२ ॥
यो नाग्रहीत्कापिलिकान्नाप्यचिन्तयदंजसा ।
तथाप्यध्यात्मविद्याब्धेः परं पारमशिश्रियत् ॥ ३३ ॥
ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरं ।
ततो ज्ञानमयं पिण्डं यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

जिनसेनने जयधवला टीकाके उत्तर-भागको अपने गुरु (वीरसेन) की आज्ञासे लिखा था। गुरुने उत्तर-भागका बहुत कुछ वक्तव्य प्रकाशित किया था। उसे देखकर ही अल्प वक्तव्यरूप यह उत्तरार्ध आपने पूर्ण किया है, जो प्रायः प्राकृत भाषामें है और कहीं कहीं संस्कृत मिश्र भाषाको लिये हुए है; ऐसा आप स्वयं प्रशस्तिके निम्न पद्यों-द्वारा सूचित करते हैं—

तेनेदमनतिप्रौढमतिना गुरुशासनात् ।
लिखितं विशदैरेभिरक्षरैः पुण्यशासनम् ॥ ३५ ॥
गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते ।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥ ३६ ॥
प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित्संस्कृतमिश्रया ।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रंथविस्तरः ॥ ३७ ॥

कुछ आगे चलकर आपने यह प्रकट करते हुए कि 'सर्वज्ञोदित इस सत्य प्रवचनमें, जोकि प्रस्पष्ट तथा मृष्ट (पवित्र) अक्षरोंको लिये हुए है, अत्युक्त अनुक्त-दुरुक्तादिक–जैसी कोई बात नहीं है, अपनी टीकाके सम्बन्धमें यह भी बतलाया है कि थोड़े ही अक्षरों-द्वारा सूत्रार्थका विवेचन करनेमें हम जैसोंकी टीका उक्त, अनुक्त और दुरुक्तका चिन्तन करने वाली (वार्तिकरूप) टीका नहीं हो सकती। इसलिये पूर्वापर-शोधनके साथ हम जैसोंका जो शनैः शनैः (शनकैस्) टीकन है, उसीको बुधजन टीकारूपसे ग्रहण करें, यही हमारी पद्धति है। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि सूत्र-

स्थताके दोषके कारण जो कुछ इस टीकामें दुरुक्त रूपसे रचा गया हो वह सब आगम धनी विद्वानोंके द्वारा परिशोधन किये जानेके योग्य है और जो निर्दोष है वही ग्रहण किया जाना चाहिये। यथा—

* अत्यल्पं किमिहास्त्ययुक्तमथवा किं वा दुरुक्तादिकं,
सर्वज्ञोदित-सूक्त-प्रवचने सुस्पष्टसूक्ष्माक्षरे।
तत्सूत्रार्थविवेचने कतिपयैरेवाक्षरैर्मादृशां,
दक्षाणुक्तदुरुक्तचिन्तनपरा टीकेति कः संभवः ॥४१॥
तत्पूर्वापरशोधनेन शनकैरस्मादृशां टीकनं,
सा टीकेत्यनुगृह्यतां बुधजनैरेषा हि नः पद्धतिः।
यत्किंचिच्च दुरुक्तमत्र रचितं छाद्मस्थ्यदोषोदयात्,
तत्सर्वं परिशोध्यमागमधनैर्ग्राह्यं च यन्निस्तुषं ॥४२॥

इन पद्योंमें आए हुए 'मादृशां' (हम जैसोंकी) और 'नः' (हमारी) शब्दोंसे यह बात साफ़तौरसे उद्घोषित होती है कि यह प्रशस्ति जयधवला टीकाके उत्तर-भागके रचयिता स्वयं श्रीजिनसेनाचार्यकी बनाई हुई है और इसके द्वारा उन्होंने आत्म-परिचय दिया है, जिससे विज्ञ पाठक आचार्य महोदयकी शारीरिक, मानसिक और बुद्धयादि-विषयक स्थितिका बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं।

प्रशस्तिमें टीकाका नाम कहीं 'वीरसेनीया' और कहीं 'जयधवला' दिया है। साथ ही, अन्तिम पद्यसे पहले निम्न आशीर्वादात्मक पद्यमें उसे अन्य विशेषणोंके साथ 'श्रीपाल-सम्पादिता' भी बतलाया है—

श्रीवीरप्रभुभाषितार्थघटना निर्लोडितान्यागम-
न्याया श्रीजिनसेनसन्मुनिवरैरादेशितार्थस्थितिः।
टीका श्रीजयचिह्नितोरुधवला सूत्रार्थसंद्योतिनी,
स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतपः श्रीपालसंपादिता ॥४६॥

इस परसे श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमीने अपनी 'विद्वद्रत्नमाला' में यह निष्कर्ष निकाला है कि—

"वास्तवमें कषायप्राभृतकी जो वीरसेन और जिन-सेनस्वामीकृत ६० हज़ार श्लोक-प्रमाण टीका है, उस का नाम तो 'वीरसेनीया' है; और इस वीरसेनीया टीका-सहित जो कषायप्राभृतके मूल सूत्र और चूर्णिसूत्र, वार्तिक वगैरह अन्य आचार्योंकी टीकाएँ हैं, उन सबके संग्रहको 'जयधवला' टीका कहते हैं। यह संग्रह 'श्रीपाल' नामके किसी आचार्यने किया है, इसीलिये जयधवलाको 'श्रीपालसम्पादिता' विशेषण दिया है।"

प्रेमीजीका यह निष्कर्ष ठीक नहीं है, और उसके निकाले जानेकी वजह यही मालूम होती है कि उस समय आपके सामने पूरी प्रशस्ति नहीं थी। आपको आगे पीछेके कुछ ही पद्य उपलब्ध हुए थे, जिन्हें आपने अपनी पुस्तकमें उद्धृत किया है। जान पड़ता है आप उन्हीं पद्योंको उस समय पूरी प्रशस्ति समझ गये हैं और उन्हींके आधारपर शायद आपको यह भी ख़याल होगया है कि यह प्रशस्ति 'श्रीपाल' आचार्यकी बनाई है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह प्रशस्ति श्रीपाल आचार्यकी बनाई हुई नहीं है, जैसा कि ऊपरके अवतरणोंमें 'मादृशां' आदि शब्दोंसे प्रकट है। और न श्रीपालके उक्त संग्रह का नाम ही 'जयधवला' टीका है। बल्कि वीरसेन और जिनसेनकी इस ६० हज़ार श्लोक-संख्यावाली टीकाका असली नाम ही 'जयधवला' है, ऐसा खुद जिनसेन ने प्रशस्तिके उक्त पद्य नं० १ व ११ में स्पष्ट रूपसे

* इस पद्यसे पूर्वके तीन पद्य इस प्रकार हैं:—
ग्रन्थच्छायेति यत्किंचिदत्युक्तमिह पद्धतौ।
सन्तुमर्हथ तत्पूज्या दोषं ह्यर्थी न पश्यति ॥३८॥
गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकं।
टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धतिपंजिकाः ॥३९॥
ते सूत्रसूत्र तद्वृत्तिविवृती वृत्तिपद्धती।
कृत्स्नाकृत्स्नश्रुतव्याख्ये ते टीकापंजिके स्मृते ॥४०

सूचित किया है। वीरसेनस्वामीने चूंकि इस टीकाको प्रारम्भ किया था और इसका एकतिहाई भाग (२० हज़ार श्लोक) लिखा भी था; साथ ही, टीकाका शेष भाग, आपके देहावसानके पश्चात्, आपके ही प्रकाशित वक्तव्यके अनुसार पूरा किया गया है, इसलिये गुरु-भक्तिसे प्रेरित होकर श्रीजिनसेनस्वामीने इस समूची टीकाको आपके ही नामसे नामांकित किया है और 'वीरसेनीया' भी इसका एक विशेषण दिया है। इन्द्र-नन्दिकृत 'श्रुतावतार' और विबुध श्रीधरकृत 'गद्य-श्रुतावतार'के उल्लेखोंसे भी इसी बातका समर्थन होता है कि वीरसेन और जिनसेनकी बनाई हुई ६० हज़ार श्लोक संख्यावाली टीकाका नाम ही 'जयधवला' टीका है। यथा—

···जयधवलैवं षष्ठिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका।

—इन्द्रनन्दिश्रुतावतार

···अमुना प्रकारेण षष्ठिसहस्रप्रमिता जयधवला-नामाङ्किता टीका भविष्यति।

—श्रीधर-गद्यश्रुतावतार०

यदि प्रेमीजी द्वारा सूचित उक्त संग्रहका नाम ही 'जयधवला' होता तो उसकी श्लोकसंख्या ६० हज़ार न होकर कई लाख होनी चाहिये थी। परन्तु ऐसा नहीं है। ऊपर के अवतरणों एवं प्रशस्तिके पद्य नं०६ में साफ़ तौरसे ६० हजार श्लोक-संख्याका ही जयधवलाके साथ उल्लेख है—साक्षात् देखनेपर भी वह इतने ही प्रमाणकी जान पड़ती है। और भी अनेक ग्रन्थोंमें इस टीकाका नाम जयधवला ही सूचित किया है *। इसके सिवाय, वीरसेन स्वामीकी दूसरी सिद्धान्त-टीकाका नाम 'धवला' है। धवलासे मिलता-जुलता ही नाम जयधवला है, जो उनकी दूसरी टीकाके लिये बहुत कुछ समुचित प्रतीत होता है। और इस दूसरी टीकाके 'जयइ धवलंग-तेये' इत्यादि मंगलाचरणसे भी इस नामकी कुछ ध्वनि निकलती है। अतः इन सब बातोंसे टीकाका असली नाम 'वीरसेनीया' न होकर 'जयधवला' ठीक जान पड़ता है। 'वीरसेनीया' एक विशेषण है जो पीछे से जिनसेनके द्वारा इस टीकाको दिया गया है।

अब रही 'श्रीपाल-संपादिता' विशेषणकी बात, उससे प्रेमीजीके उक्त निष्कर्षको कोई सहायता नहीं मिलती। श्रीपाल नामके एक बहुत बड़े यशस्वी विद्वान जिनसेनके समकालीन हो गये हैं। प्रशस्तिके अन्तिम पद्यमें आपके यशकी (सत्कीर्तिकी) उपमा भी दी गई है। वह पद्य इस प्रकार है—

सर्वज्ञप्रतिपादितार्थगणभृत्सूत्रानुटीकामिमां,
येऽभ्यस्यन्ति बहुश्रुताः श्रुतगुरुं संपूज्य वीरं प्रभुं।
ते नित्योज्ज्वलपद्मसेनपरमाः श्रीदेवसेनार्चिताः,
भासन्ते रविचन्द्रभासिसुतपाः श्रीपालसत्कीर्तयः ॥४४॥

आदिपुराणमें भी आपके निर्मल गुणोंका कीर्तन किया गया है और आपको भट्टाकलंक तथा पात्रकेसरी-जैसे विद्वानोंकी कोटिमें रखकर यह बतलाया गया है कि आपके निर्मल गुण हारकी तरहसे विद्वानोंके हृदयमें आरूढ़ रहते हैं। यथा—

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः॥

इससे स्पष्ट है कि श्रीपाल एक ऐसे प्रभावशाली आचार्य थे जिनका सिक्का अच्छे-अच्छे विद्वान् लोग मानते थे। जिनसेनाचार्य भी आपके प्रभावसे प्रभावित थे। उन्होंने अपनी इस टीकाको लिखकर आप ही से उसका सम्पादन (संशोधनादिकार्य) कराना उचित

* ··· ये कृत्वा धवलां जयादिधवलां सिद्धान्तटीकां सतां
···वन्द्यं वरवीरसेन-जिनसेनाचार्य वर्यान्बुधान्
—लब्धिसारटीकायां, माधवचन्द्रः

समझा है और इस तरह पर एक गहन विषयके सैद्धान्तिक ग्रन्थकी टीका पर एक प्रसिद्ध और बहुमाननीय विद्वानके नामकी (सम्पादनकी) मुहर प्राप्त करके उसे विशेष गौरवशालिनी और तत्कालीन विद्वत्समाजके लिए और भी अधिक उपयोगिनी तथा आदरणीया बनाया है। यही 'श्रीपाल-सम्पादिता' विशेषणका रहस्य जान पड़ता है। और इसलिये इससे यह स्पष्ट है कि एक सम्पादकको किसी दूसरे विद्वान लेखककी कृतिका उसके इच्छानुसार सम्पादन करते समय, ज़रूरत होनेपर, उसमें संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन, स्पष्टीकरण, भाषा-परिमार्जन और क्रम-स्थापन आदिका जो कार्य करना होता है, यथासम्भव और यथावश्यकता, वह सब कार्य इस टीकामें विद्वद्रत्न श्रीपाल द्वारा किया गया है। उनकी भी इस टीकामें कहीं कहीं पर ज़रूर क़लम लगी हुई है। यही वजह है कि उनका नाम सम्पादकके रूपमें खास तौरसे उल्लेखित हुआ है। अन्यथा, श्रीपाल आचार्यने पूर्वाचार्योंकी सम्पूर्ण टीकाओंका एकत्र संग्रह करके उस संग्रहका नाम 'जयधवला' रक्खा, इस कथनकी कहींसे भी उपलब्धि और पुष्टि नहीं होती।

जिनसेनके समकालीन विद्वानोंमें पद्मसेन, देवसेन, और रविचन्द्र नामके भी कई विद्वान हो गये हैं। यह बात ऊपर उद्धृत किये हुए प्रशस्तिके अन्तिम पद्यसे ध्वनित होती है।

गुर्जरनरेन्द्र महाराज अमोघवर्ष (प्रथम) जिनसेन स्वामीके शिष्योंमें थे, इस बातको स्वयं जिनसेनने अपने पार्श्वाभ्युदयके संधि-वाक्योंमें प्रकट किया है; और गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराण-प्रशस्तिके एक पद्यमें यह सूचित किया है कि महाराज अमोघवर्ष श्रीजिनसेनस्वामीके चरणकमलोंमें मस्तकको रखकर अपनेको पवित्र मानते थे *। इससे अमोघवर्ष जिनसेनके बड़े भक्त थे, यह पाया जाता है। परन्तु जिनसेनस्वामी महाराज अमोघवर्षको किस गौरवभरी दृष्टिसे देखते थे, उनपर कितना प्रेम रखते थे और उनके गुणोंपर कितने अधिक मोहित अथवा मुग्ध थे, इस बातका पता अभी तक बहुत ही कम विद्वानोंको मालूम होगा, और इसलिये इसका परिचय पाठकोंको प्रशस्तिके निम्न लिखित पद्यों परसे कराया जाता है, जिसमें गुर्जरनरेन्द्र (महाराज अमोघवर्ष) का यशोगान करके उन्हें आशिर्वाद दिया गया है—

> गुर्जरनरेन्द्रकीर्तेरन्तःपतिता शशांकशुभ्रायाः ।
> गुप्तैव गुप्तनृपतेः शकस्य मशकायते कीर्तिः ॥१२॥
> गुर्जरयशःपयोब्धौ निमज्जतीन्दौ विलक्षणं लक्ष्म ।
> कृतमलिमलिनं मन्ये धात्रा हरिणापदेशेन ॥१३॥
> भरत-सगरादि-नरपति यशांसि तारानिभेव संहृत्य ।
> गुर्जरयशसो महतःकृतावकाशो जगत्सृजा नूनम् ॥१४
> इत्यादिमकलनृपतीनतिशय्य पयः पयोधिफेनेच्छा
> गुर्जरनरेन्द्रकीर्तिः स्थेयादाचन्द्रतारमिह भुवने ॥ १५

इन पद्योंमें यह बतलाया और कहा है कि 'गुर्जरनरेन्द्र (महाराज अमोघवर्ष) की शशांक-शुभ्रकीर्तिके भीतर पड़ी हुई गुप्तनृपति (चन्द्रगुप्त) की कीर्ति गुप्त ही होगई है—छिप गई है—और शक राजाकी कीर्ति मच्छरकी गुन गुनाहटकी उपमाको लिए हुए है। मैं ऐसा मानता हूँ कि गुर्जर-नरेन्द्रके यशरूपी क्षीरसमुद्रमें डूबे हुए चन्द्रमामें विधाताने हरिण (मृगछाला) के

* वह पद्य इस प्रकार है—

> यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्,
> पादाम्भोजरजःपिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ।
> संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं,
> स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम् ॥

यशोंसे मानो एक बेढंगा अति मलिन चिन्ह बना दिया है और भरत, सगर आदि चक्रवर्ती राजाओंके यशोंका ताराओंके प्रकाशके सदृश संहार करके जगत्तुङ्गने गुर्जर-नरेन्द्रके महान् यशको फैलने और प्रकाशित होनेका अवसर दिया है। इनको आदि लेकर और भी सम्पूर्ण राजाओंसे बढ़कर क्षीरसमुद्रके फेन (झाग) की तरह गुर्जर-नरेन्द्रकी शुभ्रकीर्ति, इस लोकमें, चन्द्र-ताराओंकी स्थिति-पर्यन्त स्थिर रहे *।

यद्यपि इस वर्णनमें कवित्व भी शामिल है, तो भी इससे इतना जरूर पाया जाता है कि महाराज अमोघवर्ष, जिनका दूसरा नाम नृपतुङ्ग था, एक बहुत बड़े प्रतापी, यशस्वी, उदार, गुणी, गुणज्ञ, धर्मात्मा, परोपकारी और जैनधर्मके एक प्रधान आश्रयदाता सम्राट होगये हैं †। आपके द्वारा तत्कालीन जैन समाज और स्वयं जिनसेनाचार्य बहुत कुछ उपकृत हुए हैं और आपके उदार गुणों तथा यशकी धाकने आचार्यमहोदयके हृदयमें अच्छा घर बना लिया था। इसीसे प्रशस्तिमें गुरु वीरसेनसे भी पहले आपके गुणोंका कीर्तन किया गया है। जान पड़ता है, आपके विशेष सहयोग और आपके राज्यकी महती सुविधाओंके कारण ही 'जयधवला' का निर्माण हो सका है, और इसीसे प्रशस्तिके ८ वें पद्यमें, जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, इस टीकाको 'अमोघवर्ष राजेन्द्र-प्राज्यराज्य-गुणोदया', यह भी एक विशेषण दिया गया है।

इस प्रकार यह धवल-जयधवलके रचयिता श्रीवीरसेन जिनसेन आचार्योंका, उनकी कृतियों तथा समकालीन राजादिकों-सहित, धवल जयधवलके आधार पर संक्षिप्त परिचय है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ७-१-१९४०

---

* इस आशीर्वादके बाद निम्न पद्य द्वारा जैनशासनका जयघोष किया गया है। और उसे अजय्यमाहात्म्य, विशासित कुशासन और मुक्तिलक्ष्म्यैकशासन जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। इस पद्यके बाद ही प्रशस्तिमें वीरसेन और जिनसेनादि सम्बन्धी वे सब पद्य दिये हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है:—

जयत्यजय्यमहात्म्यं विशासित कुशासनम्।
शासनं जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्यैक शासनम् ॥ १६

† गणितसारसंग्रहके कर्ता महावीर आचार्यने भी आपकी प्रशंसामें कुछ पद्य लिखे हैं और कितने ही शिलालेखों आदिमें आपके गुणोंका परिचय पाया जाता है।

सुधार-संसूचन

(१) 'अनेकान्त' की गत दूसरी किरणके पृ० १८६ की तीसरी पंक्तिके प्रारम्भमें जो "लिखकर उसे" शब्द छपे हैं उनके स्थान पर पाठक अब "अपने प्रास्ताविक शब्दोंके साथ" ये शब्द बना लेवें। और पृष्ठ १८७ की प्रथम पंक्तिके शुरूमें तथा पृ० १११ के दूसरे कालमकी १७वीं पंक्तिके अन्तमें इनवेर्टेडकामाज़ ("...") लगा देवें, जिससे गोत्र विचार-सम्बन्धी उद्धृत मूल लेखको दूसरे विद्वान्का समझनेमें कोई भ्रम न रहे।

(२) 'अनेकान्त' की गत दूसरी किरणके पृ० ११८ पर जो फुटनोट छपा है उसके सम्बन्धमें बाबूसाहब श्री मांगीलालजी कासलीवाल यह सूचित करते हैं कि—"जैनमतानुसार बृहस्पति "जैनमत प्रचारक" न हुए हों लेकिन हिन्दुधर्मकी पद्मपुराणके सृष्टि खण्ड अध्याय १३ मुद्रित नवलकिशोर प्रेस लखनऊमें बृहस्पतिको जैनमत प्रचारक माना है।—लेखकका लेख हिन्दू मतकी पुस्तकोंके आधार पर है इसलिये 'समझकी ग़लती या भूलका परिणाम नहीं है।" अतः उक्त फुटनोटमें "समझकी" के स्थान पर "हिन्दु पुराणकारकी" बना लेवें।—सम्पादक

उस दिन——

लेखक:—श्री 'भगवत्' जैन

'आज 'धन' ही सब-कुछ है ! भाई, भाई का क़त्ल कर देता है ! ख़ूँ-रेज़ीमें बुराई नहीं दिखाई देती ! इन्साफ़को बालाए-ताक़ रखकर मासूमोंके हक़को हलाक कर दिया जाता है ! ज़िबह कर दिया जाता है ग़रीबोंकी दुनिया को ! किस लिए......? पैसेके लिए ! धनके लिए !! मगर...उस दिन यह बात नहीं थी, क़तई नहीं !!'

स्वच्छ-आकाश ! शरीर को सुखद धूप ! नगर से दूर रम्य-प्राकृतिक, पथिकोंके पद-चिन्ह से बनने वाला—ग़ैर-क़ानूनी मार्ग; पगडण्डी ! इधर-उधर धान्य- उत्पादक,हरे-भरे तथा अंकुरित-खेत ! जहाँ तहाँ अनवरत परिश्रम के आदी; विश्व के अन्न-दाता—कृषक ! ......कार्यमें संलग्न और सरस तथा मुक्त-छन्द की तानें आलापने में व्यस्त ! स-घन वृक्षों की छाया में विश्राम लेने वाले-सुन्दर, मधु-भाषी पशु-पक्षियों के जोड़े ! श्रवन प्रिय, मधु-स्वर से निनादित वायु-मण्डल ! ...और समीरकी प्राकृतिक आनन्द-दायक झंकृति !!!...

महा-मानव धन्यकुमार चला जा रहा था, उसी पगडण्डी पर ! प्रकृतिकी रूप-भंगिमाको निरखता, प्रसन्न और मुद्रित होता हुआ ! क्षण-प्रति-क्षण जिज्ञासाएँ बढ़ती चलतीं ! हृदय चाहता—'विश्व की समस्त ज्ञातव्यताएँ उसमें समा जाएँ ! सभी कला कौशल्य उससे प्रेम करने लगें !'...नया ख़ून जो ठहरा ! सुख और दुलारकी गोदमें पोषण पाने वाला !

सामनेके खेतमें हल चलाया जा रहा था !... ठिठककर रुक गया, देखने लगा—कृषक-कलाका आवश्यक-प्रयोग ! हलवाहक अपनी धुनमें मस्त ! उसे पता नहीं, कोई देख रहा है, या क्या है ? ज़रूरत भी क्या ?

कुछ देर खड़ा रहा ! लालायित-दृष्टिको स्वतंत्र किए हुए ! अचल, मंत्र-मुग्ध, या रेखांकित-चित्र की भांति !...

अचानक हलवाहककी दृष्टि पड़ी—नर पुंगव, धन्यकुमार पर ! कैसा प्यारा सुहावना-मुँह !...... सु दर्शन ! मनमें एक स्फूर्ति सी पैदा हुई, उमंग-सी पनपी ! इच्छा हुई—'कुछ बातें की जाएं, सत्कार किया जाए !'......अपरिचित है तो क्या, है तो प्रभावशाली ?......

विचारों का संघर्ष !

धन्यकुमारने देखा, हलवाहक प्रेम-पूर्ण-नेत्रोंसे उसकी ओर देख रहा है ! उसकी मज़बूत-भुजाएँ शिथिलसी होती जा रही हैं ! परिश्रमसे विरक्त-सा, ठगा-सा वह ज्यों-का-त्यों खड़ा रह गया है !......

दो-क़दम आगे बढ़कर वह कहने लगा—मन की अभिलाषा—'क्या यह कला मुझे सिखा सकते हो ?'

...फूल-से झड़े ! उसने अनुभव किया स्वर्गीय-

मुख ! बात कर सकनेका अवसर उसे स्वत: ही मिला ! अविलम्ब, यथा-साध्य स्वरको मृदु बनाते हुए बोला—'हाँ, हाँ ! अवश्य···! लेकिन एक शर्त है—···!'

दरिद्रताने बात पूरी करनेका साहस छीन लिया ! हृदय विवश ! धन्यकुमार क्षण-भर चुप, देखता-भर रहा उसकी ओर ! शर्त' सुनाना उसके लिए अब अनिवार्य था—कलाकार जो बनना था !

बोला—'क्या ?'

हलवाहकको प्रोत्साहन मिला ! बचे-खुचे धैर्यको बटोर कर कहने लगा— '···यही कि आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करें ? मैं भी उच्च-वर्ण—श्रावक—ही हूँ !···'

और देखने लगा—संशयात्मक-दृष्टिसे धन्यकुमारके भव्य-मुखकी तरफ ! जैसे अपनी आन्तरिकताकी पूर्ति खोज रहा हो !···

एक छोटी-सी नीरवता !

चाहा कि आतिथ्यको अस्वीकार करदें ! लेकिन कला-शिक्षणका लोभ···?—कहना पड़ा—'स्वीकार है मित्र !'

❀ ❀ ❀

'आप विराजिए—जरा ! मैं पात्र बनानेके लिए पल्लव एकत्रित कर लाऊँ—तबतक !' हलवाहकने बैठने-योग्य स्थानकी ओर संकेत करते हुए, स-भक्ति निवेदन किया !

'अच्छा !' –धन्यकुमार बैठ गया ! भोजन भार मालुम हो रहा था—और विलम्ब असहनीय ! पर विवशता सामने खड़ी थी ! लेकिन दृष्टि थी हल-बैल पर !···

हलवाहक चला गया ! धन्यकुमार बैठा रहा, कुछ देर ! इच्छा पर काबू किए हुए ! किन्तु··· विचार आया—'व्यर्थ बैठनेसे क्या लाभ ? अब-तक हल चलानेका अभ्यास किया जाए तो कैसा? ···खाली पड़ा है—वह !'

हृदयकी उत्कण्ठाने प्रस्तावका समर्थन किया ! वह आगे बढ़ा ! हल चलाने लगा !···

टिख ! टिख !! टिख !!!

हलवाहकका सर्वांग-अनुसरण था ! निरापराध पृथ्वीका वक्षस्थल विदीर्ण होने लगा ! हलमें लगा हुआ नुकीला-लोह करने लगा अपनी निर्दयताका सफल-प्रदर्शन !

बैल, नवीन-हलवाहकके संरक्षकत्वमें चार-छह क़दम ही आगे बढ़े थे, कि······!

ठक्···!

रुक गया हल !···क्या हुआ ?···धन्यकुमार देखने लगा—हलके रुकनेका आकस्मिक-सबब !

देखा—'पृथ्वीके गर्भमें एक कढाह—दानवकी तरह—हल के मार्गमें बाधक बना अड़ा हुआ है !

खोद कर निकाल बाहर करनेके विचारसे वह मिट्टी हटाने लगा—नवनीत जैसे कोमल हाथोंसे ! ···पर······?—

आश्चर्य-सीमा लाँघने लगा ! कढ़ाहमें अपार धन-राशि भरी हुई थी !···सोचने लगा भोला-सा धन्यकुमार—'···अनधिकार चेष्टा थी मेरी ! बिना उसकी आज्ञाके हल छूना ही नहीं चाहिए था—मुझे ! छिपाकर रखा हुआ—धन मैंने व्यक्त कर दिया ! अवश्य, असन्तुष्ट होगा—वह !'···

पश्चातापसे झुलसे हुए मनने तिलमिला दिया उसे ! जल्दी-जल्दी मिट्टी डालकर छिपाने लगा ! और जैसेका तैसा कर आ-बैठा अपने स्थान पर !

जैसे कुछ हुआ ही नहीं !
अपने स्थानसे हटा ही नहीं !!

* * *

दोनों बैठे ! दरिद्रता द्वारा सुलभ रूखे-सूखे किन्तु प्रेम-पूर्ण भोजनके लिये ! दोनों खा रहे थे—मौन ! विचार-धाराएँ शतलजकी भाँति वेगवती हो बह रहीं थीं । विपरीत, एक-दूसरीसे !

हलवाहक सोच रहा था—आजका दिन धन्य है ! एक महा-पुरुषके साथ भोजन करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है !'

और उधर—'मैं अपराधी हूँ ! उसके धनको मैंने देख लिया, भूल की न ?··· अभी उसे पता नहीं है ! पता होने पर······! बस, खा-पीकर चल देना ही ठीक है—अब ! फिर देखा जाएगा—कलाका शिक्षण···!'

हलवाहक चाहता—'जिन्दगी-भर इसी तरह खाते रहें ! वियोग न आए !' और धन्यकुमार सोचता—'कब खाना खत्म हो, कब छुट्टी मिले !'

भोजन हो चुकने पर प्रसन्नता-भरे स्वरमें हलवाहक बोला—'आपने मेरी प्रार्थनाका आदर किया ! अब मैं भी कला सिखानेके लिए उद्यत हूँ ! ···आइए!'

धन्यकुमार पर घोर-संकट ! क्या करे अब ? घबराकर बोला—' यह है, मुझे अब जल्दी है। पहुँचना भी तो है ! फिर कभी सीख लूंगा !'

और चलने लगा अपने पथ पर ! हलवाहक रहस्यसे अनभिज्ञ ! निर्निमेष देखता हुआ, बोला—'ऐसा क्यों ?'

धन्यकुमार दश-बारह क़दम आगे जा चुका था ! वहींसे घूमकर बोला—'जा रहा हूँ—अब !' —और हाथ जोड़ लिए !

हलवाहकका जैसे आशा-स्वप्न भागा जा रहा हो ! हाथ-जोड़े, जब तक धन्यकुमार दृष्टिसे ओझल न होगया, खड़ा रहा ।

फिर········ ?

निराशा, अन्यमनस्क लिए आगया अपने काम पर !

टिख ! टिख !!·········

बैल बढ़े कि—'ठक् !' अटक गया—कुछ ! मजबूत-हाथोंने मिट्टी हटाकर देखा—धनसे भरा हुआ—कढ़ाह !

दरिद्र-श्रमीकी आँखें चौंधियाने लगीं—इतना धन ?···

सोचने लगा—'यह उसी महा-भाग्यके चमत्कारका द्रव्य है ! मेरा क्या है— इसमें ?··· अगर मेरा होता तो······पूर्वज जोतते आए, मैंने जबसे होश-सम्हाला जोता—कभी एक पैसा नहीं निकला ! आज इतना-धन !···न, मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं, उसी का है ! उसे ही दे देना मेरा कर्तव्य !,

···और वह भागा, बे-तहासा, उसे लौटानेके लिए !

❀ ❀ ❀

मन, आशंकामें उलझा हुआ था, न ! भय भी था अपराधका ! यदि पंख होते तो वह कहाँ-का-कहाँ पहुँचा होता ! तो भी उसने गतिमें सामर्थ्यानुसार वृद्धि की थी ! मुड़-मुड़ कर देखता जाता—'कहीं । तो नहीं रहा !'

बहुत दूर निकल गया !—भयाकुल-चित्त धन्यकुमार ! विश्वास जम गया कि 'अब आएगा नहीं !'

लेकिन 'विश्वास' का धरातल बालुकी दीवार की तरह अस्थायी निकला। कानोंने सुना, आँखों ने देखा—वह पुकारता हुआ, भागता हुआ आ रहा है ! सच, चला आरहा है इसी ओर !

धन्यकुमारका होश ! सारा शरीर बेंतकी भाँति काँप उठा ! रुक गया जहाँ-का-तहाँ !

वह आया !

धन्यकुमारने समझा जैसे उसका अन्त-समय है, काल सामने खड़ा है !

पर इसके मुँह पर रौद्रता क्यों नहीं ? वही दीन-भाव, वही श्रद्धा-दृष्टि !!

'आप लौट चलिए ! आपका धन वहाँ रह गया है, उसे ले आइए !'

'मेरा धन···?'

'हाँ ! आपका ही···!'

'मेरे पास तो शरीर पर इन वस्त्रोंके अतिरिक्त और कुछ भी न था !'

'ठीक है ! लेकिन वह कढ़ाह—जो खेतकी मिट्टीके नीचे दबा निकला है—आपके भाग्य-चमत्कारका ही प्रसाद है !'

'वह मेरा नहीं है—भाई ! तुम्हारे खेतमें जो कुछ है, सब तुम्हारा है !'

'वह नहीं मान सकता—मैं ! अगर मेरा होता, तो आज ही न निकलकर पूर्वजोंके सामने नि.लता, या मैं इतने दिनोंसे इसे जोत रहा हूँ ! ···पहिले भी निकल सकता ! मगर···आप विश्वास कीजिए···कभी एक कौड़ी नहीं निकली ! धन आपका है, आप उसके मालिक ! मेरे लिए मिट्टी ! चलिये !'

'मैंने कहा न, धन मेरा नहीं है ! मैं उसके विषयमें कुछ नहीं जानता !'

'न जानिए ! पर उसे हटा लीजिए ! मेरे ऊपर से व्यर्थका भार उठे !'

'लेकिन वह मेरा हो तब न ?'

'धन आपका, और फिर आपका ! आप कैसी बातें कर रहे हैं !'

'भाई ! धन तुम्हारा है, मेरा नहीं !'

मेरा ? जिसने दरिद्रताकी गोदमें बैठकर जिन्दगी बिताई ! इतनी उम्र हुई—इतना धन स्वप्नमें भी नहीं देखा ! दरिद्रताका उपहास कर रहे हैं—आप !

बात, धन्यकुमारके मनमें शूल-सी चुभी ! बोला—'अच्छा, मेरा ही सही ! लेकिन मैं अब उसे तुम्हें देता हूँ ! प्रेम मानते हो, तो स्वीकार करो—उसे !'

हलवाहकके अधरोंमें स्पन्दन हुआ, कुछ शब्द —कण्ठसे बाहिर आनेके लिए उद्यत हुए ! पर वह बोल न सका !

चुप रह गया !!!

जैनधर्मकी विशेषता

[लेखक—श्री० बा० सूरजभान वकील]

जैनधर्म और अन्य धर्मोंमें आकाश पातालका सा अंतर है। जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका आधार वस्तु-स्वभाव है। जीव और अजीव संसारमें दो ही प्रकार के पदार्थ हैं। जीव सुख दुखका अनुभव करता है, सुख चाहता है और दुख दूर करनेका उपाय करता है। दुख इसका निज स्वभाव नहीं है, तब ही यह दुखके कारणोंको दूर कर परमानन्द प्राप्त कर सकता है। दुख इसका विभाव भाव है जो अजीवके संयोगसे ही इसको प्राप्त हो रहा है। वह संयोग किस प्रकार पैदा होता है, किस प्रकार इस संयोगका पैदा होना रोका जासकता है और जो संयोग हो चुका है वह कैसे दूर किया जा सकता है दूर होने अथवा निर्बंध हो जाने पर जीवकी क्या दशा हो जाती है, क्या परमानन्द प्राप्त होने लग जाता है, इन्हीं सबकार्यकारी बातों को जैनशास्त्रोंमें वैज्ञानिक रीतिसे सात तत्वोंके नामसे बताकर जीवको उसके कल्याणका रास्ता सुझाया है। और जोर देकर समझाया है कि वही शास्त्र, वही कथन, वही उपदेश, और वही आज्ञा मानने योग्य है जो वस्तु स्वभावके अनुकूल हो, तर्क और हेतु द्वारा खंडित न होता हो, कल्याणका मार्ग बताने वाला हो, सब ही जीवोंका हित करने वाला हो और पक्षपातसे रहित हो। जगतमें किसी एक परमेश्वर या अनेक देवी देवताओंका राज्य नहीं है, जिनकी आज्ञा आँख मींचकर शिरोधार्य की जावे, उनको राज़ी रखने और उनके कोपसे बचनेके वास्ते उलटा सीधा जैसा वह नाच नचावें निर्जीव कठ पुतलियोंक तरह वही नाच नाचना स्वीकार किया जावे, ज्ञानधारी जीवके स्थानमें अचेतन जड बनकर ही रहा जावे। संसारमें तो जो कुछ हो रहा है वह संसारकी वस्तुओंके अपने२ स्वभावानुसार ही हो रहा है वस्तु अनन्त हैं जिन सबका एक ही संसारमें स्थित होने, गतिशील होने, और स्वभावानुसार क्रिया करते रहनेसे उनको आपसमें अनेक प्रकारका संयोग, वियोग, और संघर्ष होता रहता है, जिनसे उनके स्वभावानुसार नाना प्रकारके परिवर्तन, पर्यायों और परिस्थितियोंका अलटन-पलटन होता रहता है। वस्तु स्वभावकी खोज करने वाले वैज्ञानिक लोग वस्तुओंके इन्हीं अटल परिवर्तनोंके कुछ एक नियमोंकी जानकारी करके ही उनके नियमानुसार उनसे काम लेने लगते हैं, जिनके इन थोड़से आविष्कारोंसे ही लोग अचम्भेमें पड़ जाते हैं और इनके इन आविष्कारोंको भी किसी अलौकिक शक्ति अर्थात् यंत्रों मंत्रोंका ही कृत्य मान लेते है।

मनुष्य जब जगतमें आते हैं तो वहां तरह २ के वृक्ष, पौदे, और बेलें फैली हुई देखकर उनके तरह२ के सुन्दर २ पत्ते, फूल और फल अवलोकन कर बहुत ही हैरान होते हैं कि यहाँ यह अद्भुत वस्तु किसने बना दी। इनमें जो बुद्धिमान होते हैं वे तो खोज करने पर यह मालूम कर लेते हैं कि अपनी २ क़िस्मके बीजोंके बीजोंसे ही यह सब पेड़ उगे हैं। इमलीके पेड़ पर जो बीज लगे हैं उन बीजोंसे जो भी पेड़ उगे हैं उनके पत्ते फूल और फल सब समान हैं, इसी प्रकार नीमके बीजों-

से भी जो वृक्ष उगे हैं उनके पत्ते, फूल और फल भी आपसमें समान हैं यही हाल अन्य सब वृक्षों, पौदों और बेलोंका है। इससे वह समझ लेता है कि भिन्न२ प्रकारके वृक्ष, और पौदे, और बेलें किसी अलौकिक शक्तिके द्वारा पैदा नहीं किये जाते हैं। किन्तु अपने २ बीजके स्वभावसे ही वे भिन्न प्रकारके पैदा होते हैं जिनपर उनकी अपनी ही अपनी तरहके पत्ते फूल और फल लगते हैं। इस अपनी बातको निश्चय करनेके वास्ते जब वह जंगलों से तरह २ के बीज बटोर कर घर ले जाता है और अपने आँगनमें डालकर उनको पानी देता है तो वहां भी जंगलके समान प्रत्येक बीजसे उस ही प्रकारके पौदे, पत्ते फूल और फल पैदा होते हैं, जिस प्रकारका वह बीज होता है, तब वह अपनी इस बातका पूर्ण श्रद्धान कर लेता है कि इन तरह २ के वृक्षों, पौदों, बेलों और उनके सुन्दर २ पत्तों, फूलों, और फलोंको बनाने वाली कोई अलौकिक शक्ति नहीं है किन्तु यह सब अपनी२ क़िस्मके बीजोंके स्वभावसे ही बन जाते हैं जिनको उनके अनुकूल हवा, मिट्टी, पानी आदि मिलनेसे उसी बीजकी क़िस्मका पौदा उग आता है, दूसरी किस्मका नहीं इस कारण अब वह जब भी जिस क़िस्मका फल पैदा करना चाहता है, तभी उस किस्मका बीज बोकर इच्छित फूल फल पैदा कर लेता है और दूसरोंको भी इस प्रकार फल फूल पैदा करना सिखा देता है। इसी ही से यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि जो कोई कांटेदार बबूल का बीज बोता है उसकी ज़मीनमें काँटेदार बबूलका ही पेड़ उगता है, जो नीमका बीज बोता है उसके यहां कड़वे नीमका वृक्ष और जो मीठे आमकी गुठली बोता है उसके यहां मीठे आमका ही वृक्ष उगता है, इसमें किसी भी अलौकिक शक्तिका कोई दखल नहीं है।

परन्तु जो बुद्धिसे काम लेना नहीं चाहता वह जंगलमें तरह २ के पौदे और फल फूल देखकर एकदम यही मानने लगता है कि ऐसी कोई अलौकिक शक्ति ज़रूर है जो इस जंगलमें ऐसे २ वृक्ष, पौदे और बेलें बनाकर, उनपर ऐसे २ सुंदर पत्ते, फूल, और फल लगाती है, जिनको देखकर अक्ल दंग रह जाती है। ऐसा विचार आते ही वह उस अलौकिक शक्तिके प्रभावसे काँप उठता है और उसको प्रसन्न कर उसके द्वारा अपने कार्य सिद्ध करनेकी फ़िकरमें लग जाता है, कल्पनाके घोड़े दौड़ाता है और सिवाय इसके और कुछ भी सूझ नहीं पाता है कि जिस प्रकार अपनेसे प्रबल मनुष्यकी खुशामद कर बड़ाई गाकर और उसको उसके इच्छित पदार्थकी भेंट चढ़ा उसको खुशकर उससे अपना कार्य सिद्ध कर लिया जाता है, इस ही प्रकार इन अलौकिक शक्तियोंको भी प्रसन्न करलिया जाता है।

यही संसारके अनेक धर्मोंकी बुनियाद है, जो जैनधर्मसे बिल्कुल ही विपरीत है। जैनधर्म ऐसी अलौकिक शक्तियोंको नहीं मानता है, इस ही कारण वह तो किसी भी अलौकिक शक्तिकी खुशामद करने और उसको भेंट चढ़ानेके स्थानमें बबूलके बीजसे बबूल और नीमके बीजसे नीम पैदा होनेके समान निश्चयरूप अपने ही किये हुए प्रत्येक बुरे, भले कर्मका फल भोगना बताकर अपने ही कर्मोंकी सम्हाल रखने, अपनी ही नियतों, (भावों और परिणामों) को शुभ और उत्तम बनाये रखनेकी शिक्षा देता है जिस प्रकार आगमें उँगली देनेसे हाथ जलेगा ही, कड़वी वस्तु खानेसे मुँह कड़वा होगा ही, आँखमें लाल मिर्च पड़ जानेसे जलन पैदा होगी ही, इस ही प्रकार हमारे प्रत्येक कृत्यका फल हमको भोगना पड़ेगा ही, इसमें कोई फल देनेवाला नहीं आएगा, किन्तु जिस कृत्यका जो फल है वह वस्तु स्वभावके अनुसार आपसे आप अवश्य

निकलेगा ही।

जो लोग बुद्धिसे काम न लेकर एकदम अलौकिक शक्तियोंकी कल्पना कर लेते हैं वे यदि मनुष्य-भक्षी होते हैं तो वे इन अलौकिक शक्तियों अर्थात् अपने कल्पित देवी देवताओंको भी मनुष्यकी ही बलि देकर प्रसन्न करनेकी कोशिश करते हैं। अबसे कुछ समय पहले अमरीका महाद्वीपमें ऐसे भी प्रान्त थे जहाँके निवासी अपने प्रान्तके बड़े देवताको हज़ारों मनुष्योंकी बलि देकर खुश करना चाहते थे, परन्तु बलिके वास्ते एकदम हज़ारों मनुष्योंका मिलना मुश्किल था, इस कारण अनेक प्रान्तवालोंने मिलकर यह सलाह निकाली, कि बलि देनेके समयसे कुछ पहले हम लोग आपसमें युद्ध किया करें, इस युद्धमें एक प्रान्तके जो भी मनुष्य दूसरे प्रान्त वालोंकी पकड़में आजावें वे सब बलि चढ़ादिये जावें। बस यह युद्ध इस ही कार्यके वास्ते होता था, हार जीत या अन्य कुछ लेने देनेके वास्ते नहीं। इस प्रकारकी बलि देना जब कुछ समय तक जारी रहता है तो मनुष्योंमें मनुष्यका मांस भक्षण करना छूट जानेपर भी देवताको बलि देना बहुत दिन तक बराबर जारी रहता है, मनुष्य अपनी लौकिक प्रवृत्तियोंमें तो समयानुकूल जल्द ही बहुत कुछ हेर फेर करते रहते हैं परन्तु देवी देवताओंकी पूजा भक्ति और अन्य भी धार्मिक कार्योंमें परिवर्तन करनेसे डरते रहते हैं। इन कार्योंको तो बहुत दिनों तक ज्योंका त्यों ही करते रहते हैं, यही कारण है कि भारतवर्षमें भी मनुष्यका मांस खानेवाले न रहने पर भी बहुत दिनों तक जहाज़ आदि चलाते समय मनुष्यकी बलि देना बराबर जारी रहा। सुनते हैं कि कहीं किसी देशमें कोई समय ऐसा भी रहा है जब आपने ही पुत्र आदिककी बलि देकर भी देवताको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की जाती थी। जब विचार बुद्धिसे कुछ काम ही न लेना हो, तब तो जो कुछ भी किया जाय उसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है। जो न हो वह ही थोड़ा है।

मनुष्यकी बलिके बाद गाय, घोड़ा, बकरा, आदि पशुओंकी बलिका ज़माना आया जो अबतक जारी है। हाँ इतने जोरोंके साथ नहीं है जितना पहले था। मुसलमानी धर्म तो विदेशी धर्म है, उसको छोड़कर जब हम अपने हिन्दू भाइयोंके ही धर्मपर विचार करते हैं तो वेदोंमें तो यज्ञके सिवाय और कोई विधान ही नहीं मिलता है जिसमें आग जलाकर पशु पक्षियोंका होम करना होता है। अस्तु, वेदोंको तो लोग बहुत कठिन बताते हैं इसी कारण बहुत ही कम पढ़े जाते हैं परन्तु मनुस्मृति तो घर घर पढ़ी जाती है और मानी भी जाती है, उसमें तो यहांतक लिखा हुआ है कि पशु पक्षी सब यज्ञके वास्ते ही पैदा किये जाते हैं। यज्ञके वास्ते विद्वान ब्राह्मणोंको स्वयम् अपने हाथसे पशु पक्षियोंका बध करना चाहिये, यह उनका मुख्य कर्म है। इस हीमें ईश्वरकी प्रसन्नता और सबका कल्याण है।

जैनधर्म इसके विपरीत इस प्रकारके सब ही अनुष्ठानोंको महा अधर्म और पाप ठहराता है। किसी जीवकी हिंसा करने या दुख देनेमें कैसे कोई धर्म या पुण्य हो सकता है, इस बातको विचार बुद्धि किसी प्रकार भी स्वीकार करनेको तैयार नहीं हो सकती है। न ऐसा कोई जगतकर्त्ता ईश्वर या देवी देवता ही हो सकता है जो जीवोंकी हिंसासे प्रसन्न होता हो। इसके सिवाय जैनधर्म तो पुकार २ कर यही शिक्षा देता है कि तुम्हारी भलाई बुराई जो कुछ भी हो रही है या होने वाली है, वह सब तुम्हारे अपने ही कर्मोंका फल है। तुम्हारे कर्मोंका वह फल किसीके भी टाले नहीं टल सकता, न कोई सुख दे सकता है और न दुख ही। इस कारण अपने-

को अशरण समझकर और किसी भी अलौकिक शक्ति का भय न कर एक मात्र अपने ही कर्मोंके ठीक रखने की कोशिशमें लगे रहो, यही एकमात्र तुम्हारा कर्तव्य है। रागद्वेष ही एक मात्र जीवके शत्रु हैं, ये ही उसके विभाव भाव हैं जिनसे इसको दुख होता है और संसार में भ्रमण करना पड़ रहा है। जितना २ भी कोई जीव रागद्वेषको कम करता है उतना २ ही उसको सुख मिलता है और बिल्कुल ही राग द्वेष दूर होने पर उसका सारा विभाव भाव दूर होकर उसका असली स्वभाव प्रकट होजाता है और परमानन्द प्राप्त होजाता है। इस ही कारण प्रत्येक जैनीको अपने अन्दर वैराग्य भाव लानेके वास्ते परमवीतराग परमात्माओंकी, और जो इस परम वीतरागताकी साधनामें लगे हुए हैं ऐसे साधुओंकी उपासना करते रहना ज़रूरी है, यही जैनियोंकी पूजा भक्ति है जो उनके वीतरागरूप गुणोंको याद कर कर अपने भावोंमें भी वीतरागता लानेके वास्ते की जाती है। इस प्रकार जैनियोंकी और अन्य धर्मियोंकी पूजा भक्तिमें भी धरती आकाशका अंतर है। अन्यमती रागी द्वेषी देवताओंकी पूजा करते हैं और जैनी वीतरागियोंकी। अन्यमती अपने लौकिक कार्योंकी सिद्धिके वास्ते और अपने राग द्वेषको पूरा करानेके वास्ते उनको पूजते हैं और जैनी लौकिक कार्योंका राग-द्वेष छोड़ उनके समान अपने अंदर भी वीतरागता लानेके वास्ते ही उनका गुणानुवाद गाता है, यही उनकी पूजा है। वह अपने इष्ट देवोंको प्रसन्न करना नहीं चाहता है, न वे किसीके किये प्रसन्नया अप्रसन्न हो ही सकते है, क्योंकि वे तो परम वीतरागी हैं। इस कारण जैनी तो उनके वीतरागरूप गुणोंको याद कर अपनेमें भी वीतरागताका उत्साह पैदा करनेकी कोशिश करता है, यही उसकी पूजा वंदना है जो अन्यमतियोंकी पूजा वंदनासे बिल्कुल ही विलक्षण है।

लोकमें भिन्न २ परिस्थितियोंके कारण समय २ पर तरह २ की विलक्षण रीतियाँ जारी होती हैं, जैसे कि आजकल हिन्दुस्थानमें स्वदेशी वस्तुओंके ग्रहण और विदेशी वस्तुओंके त्याग और विशेष कर हाथके कते सूतसे हाथसे बने हुए ही वस्त्र पहननेका भारी आन्दोलन हो रहा है। होते २ ऐसी ऐसी रीतियाँ हो बहुत समय तक जारी रहने पर विचार शून्य लोगोंके वास्ते धर्मका अंग बनजाती हैं और उनकी ज़रूरत न रहने पर भी, यहाँ तक की हानिकर हो जाने पर भी वह नहीं छोड़ी जाती हैं। धर्म समझकर तब भी उनकी पालना ही होती रहती है अन्य सब ही धर्म जो बिना विचार आँख मींचकर ही माने जाते हैं उनमें ऐसी २ अनेकों रूढ़ियाँ धर्मका रूप धारण कर लेती हैं, यहाँतककी इन रूढ़ियोंका संग्रह ही एक मात्र धर्म हो जाता है। जो बिल्कुल ही बेज़रूरत यहाँ तक कि हानिकर होजाने पर भी सेवन की जाती हैं और धर्म समझी जाती हैं। जैनधर्म ऐसी रूढ़ियोंके माननेको लोक मूढ़ता बताकर सबसे प्रथम ही उनके त्यागका उपदेश देता है। यहाँ तक कि जैनधर्मका सच्चा श्रद्धान होना ही उस समय ठहराया है जब कि मूढ़ता या अविचारिता छोड़कर प्रत्येक बातको बुद्धिसे विचार कर ही ग्रहण किया जावे और सब ही अलौकिक रूढ़ियोंको जिन्होंने धर्मका स्वरूप ग्रहण कर लिया हो, परन्तु धर्मका तथ्य उनमें कुछ भी न हो बिल्कुल भी ग्रहण न किया जावे। मूढ़दृष्टि होना अर्थात् बिना विचारे किसी रूढ़िको धर्म मान लेनेको तो जैनधर्ममें महादोष बताया है जिससे श्रद्धान तकका भ्रष्ट होना ठहराया है।

किसी समय राष्ट्रोंमें महायुद्ध छिड़जाने पर लोगोंको युद्धके लिये उत्साहित करनेके लिये यह आन्दोलन

उठाया गया कि युद्धमें मरने वालोंको स्वर्ग प्राप्त होता है, होते २ यही रूढ़ि प्रचलित होकर धर्म सिद्धान्त बन-गई है और मनुस्मृति जैसे हिन्दूधर्म ग्रन्थमें यहाँतक लिख दिया गया है कि युद्धमें मरनेवालोंके लिये मरण संस्कारोंकी भी ज़रूरत नहीं, उनकी तो वैसे ही शुभगति हो जाती है। परन्तु जैनधर्म ऐसी उल्टी बातको हरगिज़ नहीं मान सकता है, युद्ध महा-कषायसे ही होनेके कारण और दूसरोंको मारते हुए ही मरनेके कारण युद्ध करते हुए मरनेवाला तो अपने इस कृत्यसे किसी प्रकार भी ऐसा पुण्य प्राप्त नहीं कर सकता है जिससे उसको अवश्य ही स्वर्गकी प्राप्ति हो, किन्तु महा हिंसाके भाव होनेके कारण उसको तो पापका ही बंध होगा और दुर्गतिको ही प्राप्त होगा। हाँ, यह ठीक है कि संसारमें वह वीर समझा जायगा और यशको ज़रूर प्राप्त होगा।

इस ही प्रकार किसी समय एक एक पुरुषकी अनेक स्त्रियाँ होनेके कारण इस भारत भूमिमें स्त्रियाँ अपने चारित्रमें अत्यन्त शंकित मानी जाने लगी थीं। 'स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्यभाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः' स्त्री-चरित्रकी बुराईमें ऐसे २ कथनोंसे सब ही शास्त्र भरे पड़े है। उस ही समय स्त्रियाँ पैरकी जूतीसे भी हीन मानीं जाने लगीं थीं। तब पुरुषके मरने पर उसकी स्त्री खुली दुराचारिणी होकर अपने पतिके नामको बट्टा लगावे इस डरसे पुरुषोंने अपनी ज़बरदस्तीसे स्त्रियोंको अपने मृतक पतिके साथ जल मरनेका महा भयानक रिवाज जारी किया था और यह आन्दोलन उठाया गया था कि जो स्त्री अपने पतिके साथ जल मरेगी वह अवश्य स्वर्ग जावेगी और इस पुण्यसे अपने पतिको भी चाहे वह नरक ही जानेवाला हो अपने साथ स्वर्ग ले जायगी। फल इस आन्दोलनका यह हुआ कि धड़ाधड़ स्त्रियाँ जीती जल मरने लगीं और यह एक ज़रूरी धर्म सिद्धान्त होगया, पतिके साथ जल मरनेवाली ऐसी स्त्रियोंकी क़बर (समाधि) भी पूजी जाने लगी परन्तु जैनधर्म किसी तरह भी इस कृत्यको धर्म नहीं मान सकता है, किन्तु बिल्कुल ही अमानुषिक और राक्षसी कृत्य ठहराकर महा पाप ही बताता है। चाहे सारा भारत इस कृत्यकी बड़ाई गाता हो परन्तु जैनधर्म तो इसकी बड़ी भारी निंदा ही करता है।

इस ही प्रकार किसी समय विशेषरूपसे युद्ध आदिमें लग जानेके कारण लोगोंको पूजन भजन आदिका समय न मिलनेसे उस समयके लिये पूजन भजन आदिका यह कार्य कुछ ऐसे ही लोगोंको सौंप दिया गया था जो शास्त्रोंके ही पठन पाठनमें और पूजापाठमें ही अधिक लगे रहते थे और ब्राह्मण कहलाते थे या कहलाने लगे थे। होते होते लोग इस विषयमें शिथिलाचारी होगये और आगेको भी पूजा पाठ आदिका कार्य उन ही लोगोंके जिम्मे होगया। पूजन-पाठ, जप-तप और ध्यान आदि धार्मिक सब ही अनुष्ठान लोगोंकी तरफ़से इन ही ब्राह्मणोंके द्वारा होकर पुण्यफल इनका उन लोगोंको मिलना माना जाने लगा जिनसे अपनी फ़ीस लेकर ये ब्राह्मण लोग यह अनुष्ठान करें। यही रूढ़ी अबतक जारी है और धर्मका सिद्धान्त बनगई है, परन्तु जैनधर्म किसी तरह भी ऐसा सिद्धान्त माननेको तय्यार नहीं हो सकता है। वह तो पाप पुण्य सब अपने ही भावों और परिणामों द्वारा मानता है। मैं खाऊँगा तो मेरा पेट भरेगा दूसरा खायगा तो दूसरेका, यह हर्गिज़ नहीं हो सकता है कि खाय कोई और पेट भरे दूसरेका, पूजा पाठ करे कोई और उसका पुण्य मिले दूसरेको। ऐसी मिथ्या बातें जैनधर्म किसी तरह भी नहीं मान सकता है।

हिन्दुओंमें ब्राह्मणों द्वारा सब ही धार्मिक अनुष्ठान

करावे जानेकी रूढ़ी ज़ोरोंके साथ प्रचलित होजानेपर यह भी रूढ़ी होगई कि ईश्वर या किसी भी देवी देवता-को यहाँ तक कि नवग्रह आदिको भी जो कुछ भेंट करना हो तो वह ब्राह्मणको दे देनेसे ही ईश्वरको या देवी देवताको पहुँच जाती है, फिर इस बातने यहाँतक ज़ोर पकड़ा कि मरे हुए मनुष्यको अर्थात् पित्रोंको भी जो कुछ खाना कपड़ा, खाट पीढ़ा, दूध पीनेको गाय, सवारीको घोड़ा आदि पहुँचाना हो वह ब्राह्मणोंको देनेसे ही पित्रोंके पास पहुँच जायगा, चाहे वे पितर कहीं हों, किसी लोकमें हों और चाहे जिस पर्यायमें हों। यहाँ तक कि वे सब चीज़ें ब्राह्मणके घर रहते हुये भी और ब्राह्मण द्वारा उनको भोगा जाता देखा हुआ भी यह ही माना जाने लगा कि वे पित्रोंको पहुँच गई हैं। जैनधर्म ऐसी अँध श्रद्धाको किसी तरह भी नहीं मान सकता है। किन्तु माननेवालोंकी बुद्धि पर आश्चर्य करता है।

ऐसे महा अँधविश्वासके ज़मानेमें बिना किसी प्रकारके गुणोंके एकमात्र ब्राह्मणके घर पैदा होनेसे ही ऐसा पूज्य ब्राह्मण माना जाना जैसे उसके पढ़े लिखे और पूजा पाठ आदि करनेवाले पिता और पितामह थे कोई भी आश्चर्यकी बात नहीं हो सकती है। फल इसका यह हुआ कि ब्राह्मणके घर पैदा होनेवालोंको किसी भी प्रकारके गुण प्राप्त करनेकी ज़रूरत न रही। बिल्कुल ही गुणहीन दुराचारी और महामूर्ख भी ब्राह्मण के घर पैदा होनेसे पूज्य माना जाने लगा और अबतक माना जाता है। उनके गुणवान पिता और पितामह की तरह इन गुणहीनोंको देनेसे भी उसही तरह ईश्वर और सब ही देवताओंको भेंट पूजा पहुँच जाना माना जाता है, किसी बातमें भी कोई फ़रक़ नहीं आने पाया है। इन गुणहीनोंका भी वही गौरव, वही पूजा प्रतिष्ठा और ईश्वर और देवी देवताओंका एजेंटपना बना हुआ है जैसे इनके गुणवान माता पिताओंका था। इस अंधेरको भी जैनधर्म किसी तरह नहीं मान सकता है, इस कारण जैन शास्त्रोंमें श्रीआचार्योंको इस बातका भारी खंडन करना पड़ा है और सिद्ध करना पड़ा है कि मनुष्य जाति सब एक है, उसमें भेद सिर्फ़ वृत्तिकी वजहसे ही हो जाता है। जो जैसी वृत्ति करने लगता है वह वैसा ही माना जाता है। जन्मसे यह भेद किसी तरह भी नहीं माने जा सकते हैं। आदिपुराण, पद्म-पुराण, उत्तरपुराण, धर्मपरीक्षा, वरांगचरित, और प्रमेयकमलमार्तंडमें ये सब बातें बड़े ज़ोरके साथ सिद्ध की गई हैं। जैसा कि अनेकान्त वर्ष २, किरण ८ में विस्तारके साथ इन ग्रन्थोंके श्लोकों सहित दिखाया गया है।

गुणहीन ब्राह्मणोंने अपनी जन्मसिद्ध प्रतिष्ठा क़ायम रखनेके वास्ते अपने अपने बाप दादा आदि महान् पुरुषाओंकी बड़ाई और जगतमें उनकी मानमर्यादाका बड़ा भारी गीत गाना शुरू करदिया, हरएकने अपने पुरुषाओंको दूसरोंसे अधिक प्रतिष्ठित और माननीयसिद्ध करनेके सिवाय अपनी प्रतिष्ठा और पूजाका अन्य कोई मार्ग ही न देखा। जिससे उनके आपसमें भी द्वेषाग्नि भड़क उठी और एक दूसरेसे घृणा होने लग गई। हमारे पुरुषा तो ऐसे पूज्य, पवित्र और धर्मनिष्ठ थे कि अमुक के पुरुषाओंके हाथका भोजन भी नहीं लेते थे, इससे आपसमें एक दूसरेके हाथका भोजन खाना और बेटी व्यवहार भी बन्द होगया और ब्राह्मणोंकी अनेक जा-तियाँ बन गईं, जिनका एक दूसरेसे कुछ भी वास्ता न रहा। अपने अपने पुरुषाओंकी बड़ाई गा-गाकर अपनी जातिको ऊँचा और दूसरोंकी जातिको नीचा सिद्ध करना ही एकमात्र इनमें गुण रह गया।

किसी प्रकारके गुण प्राप्त किये बिना जन्मसे ही

अप पुरुषार्थोंकी मानमर्यादाके अधिकार प्राप्त करनेकी यह बीमारी महामारीकी तरह क्षत्रियोंमें भी फैली, उनमें भी अपने अपने पुरुषाओंकी बड़ाई गानेसे भेदभाव पैदा होगया और अनेक जातियाँ होकर वैमनस्य बढ़ गया। यही बीमारी फिर वैश्योंको भी लगी और होते होते शूद्रोंमें भी पहुँच गई जिसका फल यह हुआ कि अब हिन्दुओंकी चार हज़ार जातियाँ ऐसी हैं जिनमें आपसमें रोटी बेटी व्यवहार नहीं होता है और सब ही गुण नष्ट होकर एकमात्र यह भेदभाव क़ायम रखना ही धर्म कर्म रह गया है। यही वर्णाश्रमधर्म कहलाता है जिसका हिन्दुओंको भारी मान है बिना किसी प्रकारकी शास्त्र विद्या या धर्म कर्मके जब एक मात्र ब्राह्मणके घर जन्म लेनेसे ही पूज्यपना और पुरुषार्थोंके सब अधिकार मिलने लग गये, यजमानोंसे ही जीवनकी सब ज़रूरतें पूरी होने लग गईं, किसी प्रकारकी भी आजीवकाकी कोई ज़रूरत न रही तो ब्राह्मणोंको बिल्कुल ही बेफ़िकरी होगई और बेकार पड़े रहनेके सिवाय कुछ काम न रहा। परन्तु आपसमें स्पर्द्धाका होना तो ज़रूरी ही था। हम दूसरोंसे अधिक पूज्य माने जावें, यह ख़याल आना तो लाज़मी ही था, इसके सिवाय अपने ब्राह्मणपनेको क्षत्रिय और वैश्योंसे पृथक् ज़ाहिर करते रहना भी ज़रूरी था, ठाली और बेकार तो थे ही इस कारण किसी नदी या तालाबके किनारे आकर खूब अच्छी तरह मल मलकर अपने शरीरको धोते रहने, नित्य अच्छी तरह धो धोकर धौत वस्त्र पहनने, शरीर पर चन्दन और मस्तकपर तिलक लगानेमें ही बिताने लगे। खाली तो थे ही दिन कैसे बितावें, इस कारण भंग घोट घोटकर पीना, चरस और सुल्फ़ेका दम लगाना और बेसुध होकर पड़े रहना, यह ही उनके धर्मका अंग बन गया, यहाँ तक कि धर्म मंदिरोंमें नित्य यही काम होने लगा- गया, जगह जगहके भँगड़ इस ही कार्यके लिये मंदिरोंमें जमा होने लग गये। देखो अविचारिताके कारण कहाँसे कहाँ मामला पहुँच गया और धर्मस्वरूप क्याके क्या बनगया। ब्राह्मणोंने अपनी विलक्षणता, बड़ाई और प्रतिष्ठा क़ायम रखनेके वास्ते अपने हाड माँसके शरीरको महान् शुद्ध और पवित्र स्थापित कर, दूसरोंकी छूतसे अलग रहना शुरू करदिया, यदि किसी भूलसे कोई उनके शरीर या वस्त्रको छूदे तो महान पातक होजावे, तुरन्त ही दोबारा स्नान करें, कपड़े धोवें और आचमन कर और तुलसी पत्र आदि चबानेके द्वारा अपनेको पवित्र बनावें, किसीके भी हाथका न खावें, अपने ही हाथसे पकाकर खावें। इस प्रकार आत्मशुद्धिका स्थान शरीरशुद्धिने लेलिया और यही एकमात्र धर्म बन गया।

परन्तु गृहस्थीके वास्ते स्वपाकी रहना बहुत कठिन है, इस कारण लाचार होकर फिर कुटुम्ब वालों के हाथका और फिर अपनी जाति वालोंके हाथका भी खाना शुरू होगया। दूर प्रदेशमें जाना पड़ा तो उसके लिये दूधमें ओमने हुए आटेसे जो खाना बने उसको बाहर लेजानेकी भी ख़ुलम करनी पड़ी। फिर कहीं २ बिना दूधमें उसने एक मात्र घीमें पकाया पकवान भी बाहर लेजाना जायज़ होगया। आत्म शुद्धिका सब मामला छूटकर जब एक शरीर शुद्धि और खानपानकी छूत अछूत ही एक मात्र धर्म रह गया तो इसकी बड़ी देखभाल रहने लग गई। जो कोई छूत छातके इन नियमोंको तोड़े वही धर्म भ्रष्ट माना गया और एक दम अलग कर दिया गया। ब्राह्मणोंकी अनेक जातियाँ हैं जिनमें गौड़ आदि कुछ जातियोंके सिवाय बाकी सब जातियाँ मांस खानेको धर्म विरुद्ध नहीं समझती हैं। इन माँसाहारियोंमें भी जो अधिक धर्मनिष्ठ हैं वे अब

नदी या तालाब परसे स्नान करके आते हैं तो मार्गमें बड़ा विचार इस बातका रखते है कि कोई उनके शरीर या वस्त्रसे न छू जाय और यदि कोई छू जाता है तो तुरन्त वापिस जाकर नहाते हैं। यदि भोजन बनानेके वास्ते कोई मछली या अन्य कोई माँस उनके पास हो तो उससे वे अपवित्र नहीं होंगे, किन्तु किसीके छू जानेसे ज़रूर अपवित्र हो जायेंगे। इस ही प्रकार माँस मछली-के पकानेसे उनकी रसोई अपवित्र न होगी, न मांस मच्छी खानेसे उनको कोई अपवित्रता आवेगी, परन्तु उनकी रसोई बनाई और खाते समय अगर कोई मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण ही हो परन्तु उनकी जातिका न हो अभी स्नान करके आया हो, कपड़े भी पवित्र हों, तो भी यदि वह मनुष्य उनकी रसोईके चौकेकी हदके अन्दरकी धरतीको भी छू दे, तो वह रसोई भ्रष्ट होकर खाने योग्य न रहेगी।

"जैनधर्म ऐसी बातोंसे कोसों दूर है। भंग, धतूरा, चरस और गाँझा आदि मादक पदार्थ जो बुद्धिको भ्रष्ट करने वाले हैं उनको तो कुव्यसन बताकर जैन-धर्म सब से पहले ही उनके त्यागनेकी शिक्षा देता है, जो वस्तु मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देती उसकी विचार शक्तिको भ्रष्ट करती है, उसका सेवन करना तो किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकता है। ऐसी वस्तु तो सब ही मनुष्यों को त्यागने योग्य हैं।, परन्तु कैसे आश्चर्यकी बात है कि हिंदुओंके बहुतसे त्यागी और साधु वैरागी तो ज़रूर ही इन मादक पदार्थोंका सेवन करते हैं। और गृहस्थी लोग भी उनकी संगतिसे यह कुव्यसन ग्रहण करने लग जाते हैं। सब हिंदू मंदिरोंमें यह व्यसन ज़ोर शोरसे चलता रहता है, ऐसे व्यसनियोंका जमघट उनके मंदि-रोंमें लगा रहता है। इसके विपरीत जैनधर्म ऐसी बातों को पाप बताता है और ऐसी संगतिसे भी दूर रहनेकी शिक्षा देता है, जिसने धर्म-साधनमें अभी कदम भी नहीं रक्खा है उसको भी जैनधर्म तो सर्व प्रकार नशोंसे दूर रहना ज़रूरी बताता है।

अब रही स्नान और शरीर शुद्धिकी बात, यह भी हिंदूधर्ममें ही धर्म माना जा सकता है। जैनधर्ममें नहीं; जैनधर्म तो आत्म शुद्धिको ही धर्म ठहराता है और उस ही के सब साधन सिखाता है। शरीरको तो महा अशुद्ध और अपवित्र बताकर उसके प्रति अशुचि भावना रखना ज़रूरी ठहराता है। मनुष्यका यह शरीर जो हाड माँस रुधिर आदिसे बना है, विष्टा मूत्र बलग़म और पीप आदिकी जो थैली है वह तो सात समुद्रोंके पानीसे धोने पर भी पवित्र नहीं हो सकता है। किन्तु इसके छूनेसे तो पवित्र जल भी अपवित्र हो जाता है, इस कारण स्नान करना किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकता है। पद्मनन्दि पच्चीसीमें तो आचार्य महाराजने अनेक हेतुओंसे स्नान करनेको महापाप और अधर्म ही ठहराया है। परन्तु गृहस्थी लोगोंको जिस प्रकार अपनी आजी-विकाके वास्ते खेती,व्यापार,फ़ौजी नौकरी और कारीगर आदि अनेक ऐसे धंधे करने ज़रूरी होते हैं जिनमें जीव हिंसा अवश्य होती है, इस ही से वे सावद्य कर्म कहलाते हैं। जिस प्रकार गृहस्थीको अपने रहनेके मकानको झाड़ना बुहारना और लीपना पोतना ज़रूरी होता है यद्यपि मकानकी इस सफाईमें भी जीव हिंसा ज़रूर होती है परन्तु गृहस्थीके लिये यह सफ़ाई रखना भी ज़रूरी है। ऐसा ही अपने कपड़ों और शरीरको धोना और साफ़ रखना भी उसके लिये ज़रूरी है। शरीर उसका वास्तवमें महा निंदनीय और अपवित्र पदार्थोंका बना हुआ है परन्तु उससे उसका मोह नहीं छूटा है, ऐसा ही अपने कपड़ों और मकानसे भी मोह नहीं छूटा है, और न इन्द्रियोंके विषय ही छूटे हैं। इस कारण मकान

के असबाबको, वस्त्रोंको और शरीरको सब ही को सुंदर बनाये रखनेके वास्ते झाड़ना, पोंछना, लीपना, पोतना और धोना यह सब काम करना उसके लिये जरूरी है। जिनमें जीव हिंसा जरूर होती है परन्तु गृहस्थीके ये सब कार्य उसके लिये जरूरी होने पर भी किसी तरह भी धर्म कार्य नहीं होसकते हैं, हैं तो यह सब त्यागने योग्य ही, जो संसारी और गृहस्थी होनेके नातेसे ही ज़रूरी हो रहे हैं। इस ही कारण ज्यों हो वह गृहस्थी किंचित्मात्र भी पापोंका त्याग शुरू करता है, अणुव्रती बनकर दूसरी प्रतिमा ग्रहण करता है,' तब ही से उसको स्नानके त्यागका भी उपदेश मिलने लग जाता है। अव्वल तो भोगोपभोग परिमाण व्रतमें उसको शरीरके शृङ्गार आदिके त्यागमें स्नानको भी एक प्रकारका इंद्रियोंका व्यसन और भोग बताकर कुछ २ समयके लिये त्यागनेको कहा गया है। फिर प्रोषधोपवासके दिन तो अवश्य ही स्नान और शरीर शृङ्गारका त्यागना ज़रूरी ठहराया है। इस ही प्रकार ज्यों २ वह इंद्रियोंके विषय और हिंसाके त्यागकी तरफ़ बढ़ता जाता है। इन्द्रिय संयम और प्राण संयम करने लगता है त्यों २ वह स्नान करना भी छोड़ता जाता है। यहाँ तक कि मुनि होने पर तो वह स्नान या अन्य किसी प्रकार शरीरको धोना पूंछना या साफ़ करना वा बिल्कुल ही छोड़ देता है। स्नान करना या अन्य किसी प्रकार शरीरको शुद्ध रखना किसी प्रकार भी पारमार्थिक धर्मका कोई अंग नहीं हो सकता है वह एक मात्र इन्द्रियोंका विषय और शरीरका मोह ही है जो गृहस्थियोंको इसी कारण करना ज़रूरी होता है कि वे अपनी इन्द्रियोंके विषयोंको और शरीरके मोहको त्यागनेमें असमर्थ होते हैं। लाचार हैं और मोहके कारण बेबस हो रहे हैं। परन्तु जो इन्द्रियोंके विषयको और मोहको पाप समझकर त्यागनेमें समर्थ हो सकते हैं वे जितना २ उनका मोह घटता है उतना २ स्नानको और शरीरकी सफ़ाईको त्यागते जाते हैं। यहाँ तक कि मुनि होने पर तो स्नान करना और शरीर धोना पोंछना बिल्कुल ही त्याग देते हैं। यही नहीं वे तो टट्टी जाकर कमण्डलुके जिस पानीसे गुदा साफ़ करते हैं; उस ही से हाथ धोकर फिर मिट्टी आदि मलकर किसी दूसरे शुद्ध पानीसे हाथोंको पवित्र करना भी जरूरी नहीं समझते हैं। उन ही अपवित्र हाथोंसे शास्त्र तकको छूते रहते हैं। कारण कि शरीरकी शुद्धि धर्म नहीं है और न हाड मांससे बने शरीरकी शुद्धि हो ही सकती है। धर्म तो एकमात्र आत्मशुद्धि करता ही है जो राग द्वेष आदि कषायों और इन्द्रियोंके विषयोंको दूर करनेसे ही होती है। तब ही तो जैनधर्ममें दस लक्षण कथनमें शौच धर्म मात्रको शरीर शुद्धि न बताकर आत्माको कषायोंसे शुद्ध करना और विशेषकर लोभ कषायका निर्मूल करना ही शौचधर्म बताया है। संसारकी वस्तुओंसे ग्लानि करना भी जुगुप्सा नामकी कषाय ठहराया है और जैनधर्मका श्रद्धान करनेके वास्ते शुरूमें ही श्रद्धानके अंगस्वरूप चिकित्सा अर्थात् ग्लानि न करना ज़रूरी बताया है। विशेषकर जैनधर्मके मुनि और साधु जिनका तन अत्यन्त ही मलिन रहता है, जो आँखों और दाँतों तकका मैल नहीं छुड़ाते हैं और न टट्टी जाकर अपने हाथ ही मटियाते हैं उनसे किसी भी प्रकारकी घृणा न करना, उनको किसी भी प्रकार अपवित्र या अशुद्ध न समझना किन्तु राग द्वेष और विषय कषायोंके मैलसे रहित होकर अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिये शरीरका ममत्व छोड़ आत्म ध्यानमें लगे रहने वाले शरीरसे मैले कुचैले इन साधु मुनियोंको ही परम पवित्र और शुद्ध समझना सिखाता है।

मनुष्योंका जीवन या साधन दो प्रकारका होता है,

एक लौकिक या सांसारिक और दूसरा धार्मिक या आध्यात्मिक। लौकिक जीवन जो कोई जितना भी अधिक परिग्रही, अधिक सम्पत्तिवान् वैभवशाली, ठाठ बाट और शान शौकतसे रहने वाला, साफ सुथरे, चमक दमक और तड़क भड़कके सामानसे सुसज्जित, अनेक महल मकान, बाग़ बग़ीचे, हाथी घोड़े, नालकी पालकी, नौकर चाकर बांदी गुलाम रखने वाला। अनेक प्रकारकी सुँदर २ स्त्रियोंसे जिसके महल भरे हुये, अनेक देशों और अनेक राजाओंपर जिसकी हकूमत चलती हो। देश विदेश विजय करता फिरता हो, बड़ा भारी जिसका दबदबा हो वही बड़ा है, पूज्य है और प्रशंसनीय है, स्तुति और विरद गानेके योग्य है। वह अपने शरीरसे जितनी भी ममता करे थोड़ी है। शरीरकी पुष्टिके वास्ते सत्तर प्रकारके भोजन खाता हो। अनेक वैद्य जिसके लिये अत्यंत पौष्टिक और सुस्वादु औषधियां बनानेमें लगे रहते हों, अनेक चाकर और चाकरनियां जिसके शरीर को चिकना मुलायम और सुँदर बनानेमें नाना प्रकारके तेलों और उबटनोंसे उसके शरीर का मर्दन करें, दिनमें कई २ बार नहलाते रहते हों और कई२ बार नवीन वस्त्र बदलते रहते हों, उस ही का संसारी जीवन सबसे उत्कृष्ट और बढ़िया है।

परन्तु आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन इससे बिलकुल ही विपरीत है। वह जीवन सबसे उत्कृष्ट तो साधुओं का होता है, जिनके पास परिग्रहके नामसे तो एक लँगोटी मात्र भी नहीं होती है। शास्त्र तो धर्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, पीछी जीव जन्तुओंके प्राण संयम के लिये और कमण्डलमें पानी टट्टी जाकर गुदा साफ़ करनेके लिये है, इसके सिवाय उनको सब ही प्रकारके सामानका त्याग होता है। शरीरसे निर्ममत्व होकर जो न स्नान करते हैं, न किसी दूसरी प्रकार उसको झाड़ते पोंछते ही हैं। जो आंखों और दांतों तकका भी मैल नहीं छुड़ाते हैं। जो सजे सजाये महल मकान, अत्यंत जगमगाती और चहल पहल करती हुई मनुष्योंसे भरी आबादी, साफ सुथरी रहने वाली सुँदर २ स्त्रियां और सब ही वैभव छोड़कर जंगलमें जा विराजते हैं, धरती पर सोते हैं, खाकपर लेटते हैं, सर्दी, गर्मी, डांस मच्छर के दुख सहते हैं और कुछ भी परवाह नहीं करते हैं। लौकिक साधना वालेको तो अपनी इन्द्रियों और कषायोंको पुष्ट करना होता है, इस कारण वो अपने शरीरको भी साफ और सुंदर बनाये रखनेकी कोशिश करता है और अपने महल मकान और अन्य सब वस्तुओंको भी झाड़ता पोंछता रहता है वह तो अपनी प्यारी स्त्रियों नौकरों चाकरों और हाथी घोड़ों आदि पशुओंको भी साफ़ सुँदर देखना चाहता है, इस कारण आप भी बार २ नहा-धोकर सुँदर २ वस्त्रों और अलंकारोंसे सुसज्जित होता है और अपनी स्त्रियों, नौकरों, पशुओं, महल मकानों, और सभी सामानको धो-पूंछकर साफ़ कराता रहता है और तरह २ के सामानसे सजाता रहता है। इसके विपरीत अध्यात्म-साधना वालेको अपने शरीर और तत्सम्बन्धी अन्य सब ही भोगों तथा सब ही सामानसे मुँहमोड़ एक मात्र अपनी आत्माको रागद्वेष और विषय कषायोंके मैलसे दूर कर शुद्ध और पवित्र बनानेकी ही धुन होती है।

इस प्रकार जैन-धर्मके अनुसार तो जितना भी कोई शरीरका मोह छोड़, उसके प्रति सदा अशुचि भावना रख, उसके धोने, मांजने और साफ व शुद्ध करनेके बखेड़ेमें न पड़कर अपनी आत्माके ही शुद्ध करनेमें लगता है, उतना ही वह धर्मात्मा और आध्यात्मिक है, और जितना २ कोई इस शरीरको धो-माँजकर सुँदर बनानेमें मन लगाता है उतना २ ही वह संसारी है।

मुनिका जीवन सर्वथा आध्यात्मिक जीवन है, लौकिक जीवनका उसमें लेश भी नहीं है, इस कारण वह शरीर को किंचित मात्र भी धोता मांजता नहीं है। अणुव्रती का जीवन धार्मिक और लौकिक दोनों ही प्रकार मिश्रित रूप होता है, जितना २ वह धार्मिक होता है, उतना २ तो वह शरीरको धोता मांजता नहीं, किंतु विषय कषायों-के ही दूर करनेकी फिक्र करता है और जितना २ वह लौकिक हो जाता है, उतना २ वह शरीरको भी सुँदर बनाता है और अन्य प्रकार भी अपनी विषय कषायोंको पुष्ट करता है। इस अणुव्रती श्रावकको शास्त्रकारोंने दूसरी प्रतिमासे ग्यारहवीं प्रतिमातक दस श्रेणियोंमें विभाजित किया है। इन श्रेणियोंमें उत्तरोत्तर जितनी २ किसीकी लौकिक प्रवृत्ति कम होती जाती है और अध्यात्म बढ़ता जाता है उतना ही उतना शरीरका धोना मांजना सिंगार करना और पुष्ट करना भी उसका कम होता जाता है। अब रहा पहली प्रतिमा वाला जो श्रद्धानी तो होगया है किन्तु चरित्र अभी कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। किंचित् मात्र भी जिसने अभी त्याग नहीं किया है, किंतु त्याग करना चाहता ज़रूर है, वह नित्य प्रति शरीरको धोता, मांजता, शृंगार करता और पुष्ट करता ज़रूर है। अन्य भी सब प्रकारकी विषय-कषायोंमें पूर्ण रूपसे लगा भी ज़रूर होता है परन्तु इन को धर्म विरुद्ध और लोक साधना मात्र समझ कर त्यागना ज़रूर चाहता है इससे भी घटिया जिसको धर्म का श्रद्धान ही नहीं हुआ है, निरा मिथ्यात्वी ही है वह तो अपनी विषय कषायोंकी पुष्टिको और अपने शरीर को धो-मांजकर सुँदर रखने और पुष्ट बनानेको ही अपना मुख्य कर्त्तव्य और अपने जीवनका मुख्य ध्येय समझता है।

अब ज़रा खाने पीनेकी शुचिक्रियापर भी ध्यान दीजिये और जाँच कीजिये कि इस विषयमें भी हिन्दु धर्म और जैनधर्ममें क्या अन्तर है। हिन्दुओंके महा मान्य ग्रन्थ मनुस्मृतिमें हर महीने पितरोंका श्राद्ध करना और उसमें मांसका भोजन बनानेकी बहुतही ज्यादा ताकीदकी गई है और यहांतक लिखा है कि श्राद्धसे नियुक्त हुआ जो ब्राह्मण मांस खानेसे इन्कार करदे वह इस महा अपराधके कारण हरबार पशु जन्म धारण करेगा उनके इस ही महामान्य ग्रन्थमें यह भी लिखा है कि यदि कोई द्विज अर्थात् ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य लहसुन और अन्य भी अनेक बनस्पति जिनका ब्योरा उसमें दियाहै खाले,खाना तो दूर रहा खानेका मनमें विचार भी कर ले तो वह पतित हो जाता है। अर्थात् बिना प्रायश्चितके शुद्ध नहीं हो सकता है। अब विचार कीजिये कि यह दोनों कथन कैसे संगत होसकते हैं ब्राह्मण व अन्य वे जातियां जो माँस खाना उचित मानती हैं बहुधा शिकारी कुत्तों-से या अन्य शिकारी जानवरोंसे मारा हुआ पशु पक्षी, इसी प्रकार चांडाल आदि व्याधोंसे मारा हुआ मांस शुद्ध समझती हैं और ग्रहण कर लेती हैं, मुसलमान क़साईकी दुकानसे बकरेका मांस भी ले जाती हैं परन्तु वह मांस कपड़े उतारकर ही पकाया और खाया जावेगा, यहांतक कि जिस चौकेमें वह मांस पकता हो,उस चौके की धरतीको भी यदि कोई उन्हींकी जातिका पुरुष शुद्ध कपड़े पहने हुए भी छूदे तो सारी रसोई भ्रष्ट हो जावेगी,

सभी हिन्दु, जिनमें अब बहुतसे जैनी भी शामिल हैं, चौकेसे बाहर कपड़े पहने हुए यहाँ तक कि कोई २ तो जूते पहने हुए भी पानी दूध, चाय और आम अमरूद अंगूर अनार आदि फल तथा और भी अनेक पदार्थ खा पी लेते हैं। इस ही प्रकार बहुधा हिन्दु और जैनी जो मुसलमानके घरका दूध और घी खाते हैं वे भी रोटी चौकेसे बाहर खानेसे पतित समझे जाते हैं।

सबकी बाबत हम नहीं कह सकते परन्तु बहुधा ऐसे हैं जो मुसलमान और अछूतोंके हाथसे साग सब्जी लेकर खाते हैं उनसे ली हुई साग सब्जी कच्ची तो वे चौकेसे बाहर कपड़े पहने भी खा लेते हैं परन्तु पकायेंगे उसको चौकेमें कपड़े निकाल कर ही और खायेंगे भी कपड़े निकाल कर ही। यदि कपड़े पहने खालें तो महा भ्रष्ट पापी और पतित माने जायें। मुसलमान साग सब्जी बेचने वाले हमारी आंखोंके सामने अपने मिट्टीके लोटे से साग सब्जी पर पानी छिड़कते हैं, चाकूसे काटते तराशते हैं, हाथसे तोड़ते हैं, और हममें से बहुतसे उन से मोल लेकर खाते हैं। यह सच है कि घर जाकर उन को धो लेते हैं परन्तु जो पानी दिन भर उनपर छिड़का जाता रहा है वह तो उन साग सब्जियोंके अन्दर ही प्रवेश कर जाता है और इसी गरजसे उन पर छिड़का जाता है कि जिससे वे हरी भरी रहें। तब धोनेसे तो वह पानी निकल नहीं सकता है, तो भी धोकर वह साग सब्जी खाने योग्य हो जाती है, इनमें से मूली गाजर केला अनार अमरूद आदि जो फल कच्चे ही खाने होते हैं वे तो चौकेसे बाहर भी सब जगह कपड़े पहने हुए ही खा लिये जाते हैं, यहां तक कि जूता पहने हुए भी खा लिये जाते हैं। परन्तु पकाये जायेंगे चौकेमें कपड़े निकाल कर ही और पकाकर भी खाये जायेंगे निकाल कर ही। इस प्रकार यह मामला ऐसा विचित्र है कि जिसका कोई भी सिद्धान्त स्थिर नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि अग्निका सम्बन्ध होनेसे ही ऐसी शुचि क्रियाका करना ज़रूरी हो जाता है तो चने मटरके बूट और मूंगफलीके होले, तो जंगलमें भी भून कर खा लिये जाते हैं। अनेक प्रकारके चबैने और चिड़वे भी इस ही प्रकार खा लिये जाते हैं। इस प्रकार कोई भी सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाता है।

मोटे रूपसे विचार करनेसे तो यह ही मालूम होता है कि हमारे जैनी भाई हिंदुओंकी ऐसी जातियोंका जब बिलकुल ही मांस त्यागी हैं, अनुकरण कर इस विषयमें सभी नियम आँख मींचकर उन्हींके अनुसार पालने लग गये। हिंदुओंमें उनके नियम सारे हिन्दुस्तानमें प्रायः एक समान नहीं है। प्रान्त २ में भिन्न २ रूपसे बरते जाते हैं। हमारे जैनी भाई भी जिस जिस प्रान्तमें रहते हैं उस २ प्रान्तके हिंदुओंके अनुसार ही प्रवर्तते हैं और इस ही को महाधर्म समझते हैं। अजब गुल गपाड़ा मचा हुआ है। कोई भी सिद्धांत स्थिर नहीं हो पाता है।

जैनधर्ममें हिंसा, चोरी, झूठ, परस्त्रीसेवन और परिग्रह ये ही महापाप बताये हैं। इनही पापोंके त्यागके वास्ते अनेक विधिविधान ठहराये हैं। जो जितना इन पापोंको करता है वह उतना ही पापी है और जो जितना भी इन पापोंसे बचता है वह उतना ही धर्मात्मा है। परन्तु जबसे जैनियोंने अपने हिन्दु भाइयोंके प्रभावमें आकर—(हिन्दू २५ करोड़ और जैनी ११ लाख ही रहजानेसे—उनका प्रभाव पड़ना तो ज़रूरी था ही) धर्मात्मा और अधर्मी, शुद्ध और पातकीका निर्णय करनेके वास्ते अपने इन २५ करोड़ हिन्दु भाइयोंका ही सिद्धान्त ग्रहण कर लिया है, तबसे जैनियोंमें भी यदि कोई कैसा ही चोर, दग़ाबाज़, झूठा, फ़रेबी, परस्त्रीलम्पट, वेश्यागामी, महापरिग्रही, धन-लोलुपी, यहाँ तक कि अपनी दस बरसकी छोटीसी बेटीको धनके लालचसे ६० बरसके बूढ़े खूसटको बेच कर उसका जीवन ही नष्ट भ्रष्ट कर देने वाला हो; कहाँ तक कहें, चाहे जो कुछ भी करता हो। जिसको कहते शर्म आती है परन्तु चौकेके नियमोंको अपने प्रान्तकी प्रचलित रीतिके अनुसार पालता हो तो वह पातकी

नहीं है। किंतु यदि वह उपरोक्त पाँचों पापोंको करने वाला दूसरोंकी अपेक्षा और भी सख्तीके साथ इन नियमोंको पालता है तो वह धर्मात्मा है और प्रशंसनीय है। और जो जो इन पांचों पापोंसे बहुत कुछ बचता है, यहाँ तक कि शास्त्रानुसार पांचों अणुव्रत पालता है परन्तु चौकेके नियम अपने प्रान्त और अपनी जातिके अनुसार नहीं पालता है, दृष्टान्तरूप जिस प्रान्तमें रोटी कपड़े उतारकर और चौकेमें बैठकर ही खाई जाती है, उस प्रान्तका रहनेवाला पक्का अणुव्रती अगर चौकेसे बाहर दूसरे पवित्र और शुद्ध मकानमें रोटी लेजाकर शुद्ध और पवित्र कपड़े पहने हुए खा लेता है तो वह महा पतित और अधर्मी गिना जाता है।

इस ही प्रकारके अन्य भी अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं जिनमें जैनियोंमें उन पापोंसे बचनेकी बहुत शिथिलाचारिता आगई है जिनको जैनधर्ममें पाप ठहराया है। एक मात्र इन प्रान्तीय बाह्य क्रियाओंका करना ही धर्म रह गया है, जिससे ढौंग और दिखावा बहुत बढ़ गया है। वास्तविकधर्मका तो मानों बिल्कुल लोप ही होता जारहा है। अन्य मतियोंके सिद्धान्तों पर या बिना विचारे रूढ़ियों पर चलनेसे तो जैनधर्म किसी तरह भी नहीं टिक सकता है। इसी कारण आचार्योंने जैनियोंको अमूढ़दृष्टि रहने अर्थात् बिना विचारे आँख मींचकर हो किसी रीति पर चलनेसे मना किया है। दुनियाके लोगोंकी रीस न कर निर्भय होकर अपनी आत्माके कल्याणके रास्ते पर ही चलनेका उपदेश दिया है।

हिन्दूधर्म कहता है कि जिसने ब्राह्मणके घर जन्म लिया है वह गुणवान न होता हुआ भी, हीन कार्य करता हुआ भी पूज्य, परन्तु शूद्रके घर जन्म लेनेवाला यदि वेदका कोई शब्द भी सुनले तो उसका कान फोड़ देना चाहिये, यदि वह तपस्या करने लगे तो उसको जानसे मार डालना चाहिये। परन्तु जैनधर्ममें यह बात नहीं है। श्री समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि चांडालका पुत्र भी जैनधर्मका श्रद्धान करले तो देव समान हो जाता है। इस ही से आप विचारलें कि जैनधर्म में और हिन्दूधर्ममें कितना आकाश पातालका अंतर है। बाह्य शुद्धि और सफ़ाई रखना बेशक गृहस्थोंके वास्ते ज़रूरी है। परन्तु उसका कोई सिद्धान्त ज़रूर होना चाहिये, जिसके आधार पर उसके नियम स्थिर किये जावें। उन्मत्तकी तरहसे कहीं कुछ और कहीं कुछ करनेसे तो मखौल ही होता है; कारज कोई भी सिद्ध नहीं होसकता है। इस कारण विचारवान पुरुषोंको उचित है कि आपसमें विचार-विनिमय करके जैन-धर्मानुसार इसका कोई सिद्धान्त और नियम स्थिर करें जो सब ही प्रान्तों और जातियोंके वास्ते एक ही हो। कहीं कुछ और कहीं कुछ जैसा अब हो रहा है, यह न रहे और यदि यही बात स्थिर करनी हो कि जिस-जिस प्रान्तमें अन्य हिंदुओंका जो वर्ताव है वही जैनियोंको भी रखना चाहिये, जिससे उन लोगोंको जैनियोंसे घृणा न हो, तो चौकेकी इस शुद्धि-सफ़ाई और छूतछातके इन सब नियमोंको धार्मिक न ठहराकर बिल्कुल ही लौकिक घोषित कर दिया जाय, जिससे जैनियोंको इस चौका-शुद्धि के अतिरिक्त आत्म-कल्याण रूप धर्मसाधनकी भी फ़िकर होने लगजाये। धर्मात्मा और अधर्मात्माकी कसौटी यह चौकेकी अद्भुत शुद्धि नरह कर पंच पापोंका त्याग ही उसकी जाँचकी कसौटी बन जाय।

इस विषयमें बहुत कुछ लिखनेकी ज़रूरत है, परन्तु अभी इस विषयको छोड़कर हम यह जानना चाहते हैं कि हमारे विचारवान विद्वान भी कुछ इस तरफ़ ध्यान देते हैं या नहीं। या बुरा भला जो कुछ होरहा है तथा

होता रहेगा, उसीके धक्के-मुक्केसे जैनियोंमें भी जो कुछ परिवर्तन होगा उसको ही होने देना उचित समझते हैं। निर्जीवकी तरहसे दूसरी शक्तियोंके ही प्रवाहमें बहते रहना पसन्द करते हैं, खुद कुछ नहीं करना चाहते हैं।

अन्तमें हम इतना कह देना ज़रूरी समझते हैं कि आज-कल सब ही जातियोंमें परिवर्तन बड़े वेगसे होरहा है। परिवर्तनसे खाली कोई नहीं रह सकता है। वह परिवर्तन बिगाड़ रूप हो या संवार रूप, यह कोई नहीं कह सकता है। हाँ, इतनी बात ज़रूर है कि जो अपना परिवर्तन आप नहीं करेंगे किन्तु दूसरोंके ही प्रवाहमें बहना चाहेंगे उनका अस्तित्व कुछ नहीं रहेगा। उचित तो यही है कि जो भी रूढ़ियाँ जैनधर्मके विरुद्ध हममें आगई हैं उनको दूर कर हम अपना सुधार जैन सिद्धान्तानुसार करलें। यदि ऐसा नहीं करेंगे और दूसरों के ही परिवर्तनमें परिवर्तन होना पसन्द करते रहेंगे तो जैनधर्मका रहा सहा अस्तित्व भी नहीं रहेगा।

आप यह बात देख रहे हैं कि जबसे गांधी महाराजने अछूतोंसे अछूतपन न रखनेका आन्दोलन चलाया है और कांग्रेसने इसका बीड़ा उठाया है, तबसे अनेक हिन्दुओंने तदनुसार ही वर्तना शुरू करदिया है और अनेक जैनी भी उनके प्रभावमें आ तदनुसार ही प्रवर्तने लग गये हैं। इस ही प्रकार अनेक हिन्दू बैरिस्टरों, वकीलों डाक्टरों, और जजों आदिने मेज़ पर रोटी खाना शुरू करदिया है तो अनेक अँग्रेज़ी पढ़े जैनी भी उनकी देखा देखी ऐसा ही करने लग गये हैं। इस ही प्रकार बहुधा हिन्दुओंमें बरफ़ और सोडावाटर पीनेका प्रचार देख जिसके बनानेमें हिन्दू मुसलमान, छूत-अछूत सब हीका हाथ लगता है, हमारे कुछ जैनी भाई भी इनको ग्रहण करनेमें आनाकानी नहीं करते हैं। इसी प्रकारके अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि हमारे हिन्दू भाइयोंमें जिन जिन बुरी भली बातोंका प्रचार होगा वे सब बातें समयके प्रभावसे आगे भी आहिस्ता आहिस्ता जैनियोंमें भी आती रहेंगी; कारण कि जैनियोंने इस विषयमें जैनसिद्धान्तानुसार कोई नियम स्थिर नहीं कर रक्खा है, किन्तु जिस जिस प्रान्तमें हिन्दुओंका जो व्यवहार है उस ही का अनुसरण करना अपना धर्म मान लिया है यहाँ तक कि जो बातें जैन धर्मके प्रतिकूल भी हैं उनका भी अनुकरण दृढ़ता के साथ किया जाता है, जैसा कि राजपूतानेमें ब्याह शादीमें जलेबियोका बनाना और जीमना जिमाना, बड़ी हृदय विदारक मौतमें भी सबका नुकता जीमना और जिमाना आदि। यदि जैनियोंकी यही प्रगति और अनुकरणशीलता रही और अपना कोई अलग अस्तित्व स्थिर न किया गया तो नहीं मालूम हिन्दू भाईयोंके प्रवाहमें बहते बहते हम अपने धर्मकी सारी विशेषताको खोकर कहाँसे कहाँ पहुँच जायें और किस गढ़ेमें जा-पड़ें।

आजकल तो ऐसा होरहा है कि प्रचलित रूढ़ियोंके विरुद्ध अपने हिन्दू भाइयोंका अनुकरण जब कुछ थोड़े ही जैनी भाई शुरू करते हैं तब तो सेठ साहूकार और बिरादरीके पँच रूढ़ियोंकी दुहाई देकर उनको बहुत कुछ बुरा भला कहने लग जाते हैं, विद्वान लोग भी उनकी हाँ में हां मिलाकर धर्मचला धर्मचलाकी रट लगाने लग जाते हैं। फिर जब कुछ अधिक लोग इस नवीन मार्गपर चलने लग जाते हैं तो लाचार होकर सब ही पंच और पंडित भी चुप हो जाते हैं। पंचम कालमें तो ऐसा होना ही है ऐसा कहकर संतोष कर लेते हैं। इस प्रकारकी गड़बड़ जैनजातिमें बहुत दिनोंसे होती चली आरही है, यदि कोई सुधारवादी इस विषयमें कुछ आवाज़ उठाता भी है और विद्वानोंको इसमें योग

देनेके लिये ललकारता है तो ये विद्वान लोग एकदम घबरा उठते हैं, सोचते हैं कि अबतक तो कर्तव्यहीन अकर्मण्य, साहसहीन, और शिथिलाचारी होकर प्रमाद की नींद ले रहे थे, अनपढ़ पंचों और सेठ साहूकारोंकी हांमें हां मिलाकर, प्रचलित रूढ़ियोंको ही जैनधर्म बताकर, बिना कुछ करे कराये ही वाहवाही ले रहे थे, अब इन सभी रीति रिवाजोंकी जांच कर किस प्रकार उन मेंसे किसीको जैनधर्मके अनुकूल और किसीको प्रतिकूल सिद्ध करनेका भारी बोझा उठावें, किस प्रकार जैन-सिद्धान्तोंके अनुसार उनके सब व्यवहार स्थिर करके कोई उचित नियम बनावें। इस कारण वह घबराकर इस हीमें अपनी बचत समझते हैं कि सुधारकी आवाज उठानेवालोंको अश्रद्धानी और शिथिलाचार फैलानेवाला बताकर विचारहीन जनताको उनके विरुद्ध करदे और लोगोंकी मानी हुई प्रचलित रूढ़ियोंको ही धर्म ठहराकर वाहवाही प्राप्त करलें।

यह कोई नवीन बात नहीं है, सदासे ऐसा ही होता चला आया है अकर्मण्य लोग सदा ऐसा ही किया करते हैं जिससे सुधारकी प्रगतिमें बड़ी बाधा आती है। परन्तु जो सच्चे सुधारक हैं, वे इन सब चोटोंको सहकर मरते मरते अपने कर्तव्यको नहीं छोड़ते हैं और एक न एक दिन कामयाब ही होते हैं और उन ही से यश पाते हैं जो उनको अधर्मी और महापापी कह कर बद-नाम किया करते थे। प्रवाहमें बहने वालोंका अपना कोई अस्तित्व तो होता ही नहीं है, प्रवाह पूर्वको चला तो वे भी पूर्वको बह गये और प्रवाह पश्चिमको चला तो वे भी पश्चिमको बहने लग गये, उधरके ही गीत गाने लग गये। इस प्रकार महा अकर्मण्य बने रहनेसे ही, प्रत्येक समयमें और प्रत्येक दशामें वाहवाही लेते रहे।

—:*:—

'वीरशासनाङ्क' पर कुछ सम्मतियाँ

(३) पं० अजितकुमारजी शास्त्री, मुलतान सिटी—

"अनेकान्तका वीर शासनाङ्क मिला। देखकर प्रसन्नता हुई। इसका सम्पादन अच्छे परिश्रमके साथ हुआ है, उसमें आपको अच्छी सफलता भी मिली है। इस अंकमें बा० जयभगवानजी वकीलका 'सत्य अनेकान्तात्मक है' शीर्षक लेख अच्छा पठनीय है। 'यापनीय संघका साहित्य' लेख भी अन्वेषणके लिये उपयोगी है। 'जैनलक्षणावलि' का प्रकाशन जैन साहित्यकी एक संग्रहणीय वस्तु है। और भी कई लेख पठनीय हैं। वृद्ध अवस्थामें भी आप युवकोंसे बढ़कर परिश्रम कर रहे हैं. यह नव-युवक साहित्य सेवियोंके लिये आदर्श है।"

(५) श्री० भगवतस्वरूपजी जैन 'भगवत्'—

"वीर शासनअंक'को देखकर मुग्ध होगया! इतना अच्छा, महत्वपूर्ण विशेषाङ्क निकट भविष्यमें शायद ही आँखोंके आगे आए। 'अनेकान्त' जैन समाजकी जहाँ त्रुटिकी पूर्तिके रूपमें है, वहाँ हम लोगोंके लिए गौरवकी चीज़ भी! उसका सम्पादन, लेखचयन, प्रकाशन क़रीब क़रीब सब कलात्मक है! वह जितना विद्वानोंको मननीय, और रिसर्चका मैटर देता है, उतना ही बाह्याकृतिसे मुग्ध जैसोंको लुभा भी लेता होगा, इसमें शायद भूल नहीं। इस के लिए समाजकी तीनों सफल शक्तियाँ—सम्पादक, संचालक और प्रकाशक—आदरकी पात्री हैं।"

वास्तविक महत्ता

बहुतसे लोग लक्ष्मीसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे महान् कुटम्बसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे पुत्रसे महत्ता मानते हैं, तथा बहुतसे अधिकारसे महत्ता मानते । परन्तु यह उनका मानना विवेकसे विचार करनेपर मिथ्या सिद्ध होता है। ये लोग जिसमें महत्ता ठहराते हैं उसमें महत्ता नहीं, परन्तु लघुता है। लक्ष्मीसे संसारमें खान, पान, मान, अनुचरोंपर आज्ञा और वैभव ये सब मिलते हैं, और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होगे। परन्तु इतनेसे इसकी महत्ता नहीं माननी चाहिये। लक्ष्मी अनेक पापोंसे पैदा होती है। यह आनेपर पीछे अभिमान बेहोशी और मूढ़ता पैदा करती है। कुटम्ब समुदायकी महत्ता पानेके लिये उसका पालन पोषण करना पड़ता है। उससे पाप और दुःख सहन करना पड़ता है। हमें उपाधिसे पाप करके इसका उदर भरना पड़ता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नहीं रहता। इसके लिये भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहनी पड़ती है। तो भी इससे अपना क्या मंगल है? अधिकारसे परतंत्रता और अमलमद आता है, और इससे जुल्म, अनीति रिश्वत और अन्याय करने पड़ते हैं, अथवा होते हैं। फिर कहो इसमें क्या महत्ता है? केवल पाप जन्य कर्मकी। पापी कर्मसे आत्माकी नीच गति होती है। जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नहीं परन्तु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार और समतामें है। लक्ष्मी इत्यादि तो कर्म-महत्ता है। ऐसा होनेपर भी चतुर पुरुष लक्ष्मीका दान देते हैं। उत्तम विद्याशालायें स्थापित करके पर-दुःख-भंजन करते हैं। एक विवाहित स्त्रीमें ही सम्पूर्ण वृत्तिको रोककर परस्त्रीकी तरफ पुत्री भावसे देखते हैं। कुटम्बके द्वारा किसी समुदायका हित करते हैं। पुत्र होनेसे उसको संसारका भार देकर स्वयं धर्ममार्गमें प्रवेश करते हैं। अधिकारके द्वारा विचक्षणतासे आचरणकर राजा और प्रजा दोनोंका हित करके धर्म नीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे बहुतसी महत्तायें प्राप्त होती हैं सही, तो भी ये महत्तायें निश्चित नहीं हैं। मरणका भय सिरपर खड़ा है, और धारणायें धरी रह जाती हैं। संसारका कुछ मोह ही ऐसा है कि जिससे किये हुये संकल्प अथवा विवेक हृदयोंमेंसे निकल जाते हैं। इससे यह हमें निःसंशय समझना चाहिये, कि सत्य वचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य्य और समता जैसी आत्म महत्ता और कहींपर भी नहीं है। शुद्ध पाँच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है, वह ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने भी लक्ष्मी, कुटम्बी, पुत्र अथवा अधिकारसे नहीं प्राप्त की, ऐसी मेरी मान्यता है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

ज्ञात-वंशका रूपान्तर जाट-वंश

(लेखक—मुनिश्री कवीन्द्रसागरजी, बीकानेर)

[प्रस्तुत लेखका सम्बन्ध इतिहाससे है। 'ज्ञातवंश' का रूपान्तर 'जाटवंश' कैसे हुआ? क्यों हुआ? इसके पक्षमें क्या क्या प्रमाण हैं? आदि बातोंकी चर्चा इस लेखमें कीगई है। साथ ही, इस बात को भी मीमांसा की गई है कि भगवान महावीरदेवके ज्ञातवंश का मूल क्या है? यह लेख इतिहास-मर्मज्ञोंके लिये एक नई विचार-सामग्री उपस्थित करता है। आशा है विद्वान पाठक इस सम्बन्धमें ऊहापोह करेंगे एवं भगवान महावीर के ज्ञातवंश के सम्बन्ध में अधिकाधिक प्रकाश डालेंगे।]

ज्ञात वंश

पुरुषोत्तम भगवान महावीरकी जीवन-घटनासे संबद्ध होनेके कारण जैन एवं जैनेतर इतिहास-लेखकोंकी दृष्टिमें ज्ञातवंश प्रसिद्ध ही नहीं अति प्रसिद्ध है। कल्पसूत्र नामके जैनागममें बताया गया है कि 'जम्बूद्वीपके दक्षिणार्ध भारतवर्ष में माहण-कुण्डग्राम नामक नगरमें कोडालस गोत्रके ऋषभ-दत्त ब्राह्मणकी जालन्धर गोत्रवाली धर्मपत्नी श्री देवानंदाकी कुक्षिमें भगवान महावीरदेवके गर्भ-रूपसे अवतरित होने पर, देवपति इन्द्र नमस्कार करके सोचने लगा कि तीनों कालोंमें अर्हंतादि-पद-धारी पुरुषोत्तम, भिक्षुक ब्राह्मण आदि कुलोंमें नहीं आते हैं। यह भी सम्भव है कि अनन्तकाल बीतने पर नाम-गोत्रके उदयमें आनेसे अर्हंतादि-पद-धारी भिक्षुक-ब्राह्मणादि कुलोंमें आयें, किन्तु वे योनि-निष्क्रमण-द्वारा जन्म नहीं ले। अतः मेरा कर्तव्य है कि भगवान महावीरको देवनन्दाकी कुक्षिमेंसे निकालकर क्षत्रिय-कुंड-ग्राम नगरमें ज्ञातवंशीय क्षत्रियोंमें काश्यपगोत्रवाले सिद्धार्थ की धर्मपत्नी वाशिष्ठ गोत्रवाली श्रीमती त्रिशला क्षत्रियाणीकी कुक्षिमें संक्रमित कराऊं। यह विचार कर इन्द्रने अपने पदाति-सेना के अधिपति हरि-नैगमेषी देवको इसके लिये आज्ञा की। वह इन्द्रकी आज्ञा पाकर अपनी दिव्य गतिसे भारतमें आकर देवानन्दाकी कुक्षिमेंसे भगवान महावीरका अप-हरण करके त्रिशलाके गर्भमें संक्रमित कर देता है, और त्रिशलाके गर्भ में की लड़कीको देवानन्दाकी कुक्षिमें संक्रमित कर देता है।'

यहां सूत्रकारने साफ २ शब्दोंमें घोषणा की है, कि ज्ञातवंश उच्च-गोत्र-सम्पन्न है। उसमें काश्यप-गोत्र आदि कई गोत्र भी हैं। साथ ही, वह वंश महापुरुषोंके जन्म लेने योग्य है। भिक्षुक-ब्राह्मण वंश नीच गोत्र-सम्पन्न है और अर्हंतादि महापुरुषोंके जन्म लेने योग्य नहीं है। यहां ये प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होते हैं कि, ज्ञातवंशको उच्चगोत्र सम्पन्न और ब्राह्मणवंशको नीचगोत्रसम्पन्न क्यों माना? क्या इसमें श्रमण-ब्राह्मण-संघर्षकी झलक नहीं मालूम होती? और ज्ञातवंश का भविष्य क्या

इसी संघर्ष के कारण अन्धकारमय नहीं हुआ ? इन प्रश्नोंका उत्तर नीचेकी पंक्तियोंमें यथाशक्य और यथास्थान दिया जायगा।

ज्ञातवंश का मूल

अन्वेषण करने पर 'ज्ञाताधर्मकथा' आदि जैन आगमोंमें 'ज्ञातकुमारों' के दीक्षित होनेके संबंधमें संक्षिप्त नाममात्र. देखनेको मिलता है। जैनेतर साहित्यमें–महाभारत ग्रंथमें–इस वंशकी उत्पत्तिकी रूपरेखा कुछ स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है, जब कि यदुकुलतिलक महाराजा कृष्ण वासुदेव नारद महामुनिसे राज्यशासन-पद्धतिका परामर्श करते हुए कहते हैं:—

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अथ भोक्तास्मि भोगानां, वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥५॥

× × × ×

बलं संकर्षणे नित्यं, सौकुमार्यं पुनर्गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥
अन्ये हि सुमहाभागा, बलवन्तो दुरासदाः ।
नित्योत्थानेन संपन्ना, नारदान्धकवृष्णयः ॥
यस्य न स्युर्नहि स स्याद्, यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्।
द्वयोरेनं प्रचरतो, वृणोम्येकतरं न च ॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ, किं नु दुःखतरं ततः ।
यस्य चापि न तौ स्यातां, किं नु दुःखतरं ततः ॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने ।
नैकस्य जयमाशंसे, द्वितीयस्य पराजयं ॥
ममैवं क्लिश्यमानस्य, नारदोभयदर्शनात् ।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो, ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥

अर्थात—हे नारद, मैं ऐश्वर्य पाकर भी ज्ञातियोंका दासत्व ही करता हूं, यद्यपि मैं अच्छे वैभव या शासनाधिकारको भोग करता हूँ तो भी मुझे उनके कठोर शब्द सुनने ही पड़ते हैं। यद्यपि संकर्षणमें बल और गदमें सुकुमारता—राजसी ठाठ—प्रसिद्ध ही है और प्रद्युम्नकुमार अपने रूपसे मस्त है, फिर भी हे नारद, मैं असहाय हूँ। दूसरे अंधक वृष्णि लोग वास्तवमें महाभाग, बलवान और पराक्रमी हैं। हे नारद, वे लोग राजनैतिक बलसे संपन्न रहते हैं। वे जिसके पक्षमें होजाते हैं उसका काम सिद्ध हो जाता है, और जिसके पक्षमें वे नहीं रहते उसका अस्तित्व नहीं रहता। यदि आहुक और अक्रूर किसीके पक्षमें हों तो उसका कौन काम दुष्कर है? और यदि वे विपक्षमें हों तो उससे अधिक विपत्ति ही क्या हो सकती है। इसलिये दोनों दलोंमेंसे मैं निर्वाचन नहीं करसकता। हे महामुने, इन दोनों दलोंमें मेरी हालत उन दो जुआरियोंकी माताके समान है, जो अपने दोनों लड़कोंमेंसे किसी एक लड़केके जीतने की या हारनेकी भी आकांक्षा नहीं कर सकती। तो हे नारद, तुम मेरी अवस्था और ज्ञातियोंकी अवस्था पर विचार करो। कृपया मुझे कोई ऐसा उपाय बताओ कि जो दोनोंके लिये श्रेयस्कर हो। मैं बहुत दुःखी हो रहा हूँ।

नारद उवाच

आपत्योः द्विविधाः कृष्ण, बाह्याश्चाभ्यंतराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय, स्वकृता यदिवान्यतः ॥
सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यं, कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूर-भोज-प्रभवाः सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥
अर्थहेतोर्हि कामाद्वा, बीभत्सयापि वा ।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥
कृतमूलमिदानीं तद्, ज्ञातिशब्दसहायवत् ।
न शक्यं पुरा दातुं, वान्तमन्नमिव स्वयम् ॥
बभ्रूग्रसेनतो राज्यं, नाप्तुं शक्यं कथंचन ।
ज्ञाति-भेद-भयात्कृष्ण, त्वया चापि विशेषतः ॥

नारदजीने कहा—कि 'हे कृष्ण, गणतंत्रमें दो प्रकारकी आपत्तियां रहती हैं। एक बाह्य दूसरी आभ्यंतर। जिनकी उत्पत्ति बाहरी दुश्मनोंसे होती है वे बाह्य कहलाती हैं और जो अन्दरसे अपने ही

साथियोंके—सदस्योंके—आपसी विरोधसे होती हैं वे अभ्यंतर मानी जाती हैं। यहां जो आपत्ति है. वह आभ्यंतर है। वह सदस्योंके अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुई हैं। अक्रूर—भोजादि और उनके सब संबंधियों ने धनके लोभसे, किसी कामनासे अथवा वीरता की ईर्ष्यासे, स्वयं प्राप्त ऐश्वर्यको दूसरोंके हाथों सौंप दिया है। जिस अधिकारने जड़ पकड़ ली है और जो ज्ञाति शब्द की सहायता से और भी दृढ़ हो गया है, उसे वमन किये हुए अन्नकी भाँति वापिस नहीं ले सकते। बभ्रू उग्रसेनसे राज्याधिकार पाना किसी भी तरहसे शक्य नहीं है। ज्ञाति भेदके भयसे हे कृष्ण, तुम भी विशेष सहायता नहीं कर सकते। यदि उग्रसेनको अधिकारच्युत करनेके समान दुष्कर कार्यकी भी सिद्धि करलीजाय तो महाक्षय, व्यय और विनाश तक हो जानेकी संभावना है। इस जटिल समस्याको तुम लोहेके शस्त्रोंसे नहीं बल्कि कोमल शस्त्रोंसे निर्विरोध सुलझा सकोगे। कृष्णजीने पूछा, कि इन मृदु अलोह शस्त्रों को मैं कैसे जान सकूं? तब नारद जी ने जवाबमें कहा:—

ज्ञातीनां वक्तुकामानां, कटुकानि लघूनि च।
गिरा त्वं हृदयं वाचं, शमयस्व मनांसि च॥
\+ + +
भेदाद् विनाशः संघस्य, संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदे‍, देव संघ तथा कुरु॥
\+ + +
धनं यशश्च आयुष्यं, स्वपक्षोद्भावन तथा।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद्यथा कृष्ण तथा कुरु॥
आयत्यां च तदात्वे च, न तेऽस्त्यविदितं प्रभो।
षाड्गुण्यस्य विधानेन, यात्रायां न विधौ तथा॥
यादवा कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः।
त्वय्यासक्ता महाबाहो, लोकालोकेश्वराश्च ये॥

अर्थात्—कड़वी और ओछी बातें कहने की इच्छावाले ज्ञातियोंकी वाणीसे अपने हृदय और वाणीको शांत रक्खो। साथ ही अपने उत्तरसे उनके मनको प्रसन्न रक्खो। केवल भेदनीतिसे संघका नाश होता है। हे केशव. तुम संघके मुखिया हो। अथवा संघने तुमको प्रधानरूप से चुना है। इस लिये तुम ऐसा काम करो, कि जिससे ज्ञातियोंका धन, यश, आयुष्य, स्वपक्षपुष्टि एवं अभिवृद्धि होती रहे। हे राजेन्द्र, भविष्य-संबन्धी नीतिमें, वर्तमान-कालीन नीतिमें एवं शत्रुत्राको नीतिसे आक्रमण करनेकी कलासे और दूसरे राज्योंके साथ यथोचित बर्ताव करनेकी विधिमें एक भी बात ऐसी नहीं है, जो तुम्हे मालूम न हो। हे महाबाहो, समस्त यादव, कुकुर, भोज, अंधकवृष्णि, उनके सब लोग और लोकेश्वर अपनी उन्नति एवं संपन्नता के लिए तुम्हीं पर निर्भर है।*

महाभारतके कथनका सारांश

महाभारतमें उपलब्ध हुए उक्त प्रमाणका सारांश यह है, कि, यदुवंशके दो कुलों—अंधक और वृष्णि—ने एक राजनैतिक संघ स्थापित किया था। उसमें दो दल थे, जिनमेंसे एककी तरफ श्रीकृष्ण और दूसरे की तरफ उग्रसेनजी थे। श्रीकृष्ण के दलवाले लोग बलवान, बुद्धिमान होते हुए भी प्रमादी और ईर्ष्यालुप्रकृतिके थे। अतः दूसरे दलके मुकाबिलेमें वाद-विवादके समय श्रीकृष्णको अधिक परेशानी होती थी। इसी परेशानीको मिटानेके उपायके लिए श्रीकृष्ण जी ने नारद जीसे परामर्श किया था।

*महाभारतके संदर्भके उपरिलिखित उद्धरण श्रीयुत् काशीप्रसाद जायसवाल कृत 'हिंदू राज्यतंत्र' से लिये गये है।

श्रीकृष्ण प्रजातंत्रवादी थे

यह बात महाभारतसे ही सिद्ध है कि, श्रीकृष्ण प्रजातंत्रवादी थे। और उनके विरोधी दुर्योधन, जरासंध, कंस, शिशुपाल आदि शासक राजालोग साम्राज्यवादी सिद्धांतके पक्षपाती थे। इसीलिए उनका श्रीकृष्णके साथ हमेशा विरोध रहता था। विरोधियोंसे संघर्ष सफलतापूर्वक कर सकनेके लिए एवं समाजकी सुख-शांतिके स्थायित्वके लिये श्रीकृष्णने एक संघ स्थापित किया था। संघके सदस्य आपसमें संबंधी होते हैं। उनमें परस्पर ज्ञातिका-सा संबन्ध होता है। इसलिए उस संघका नाम "ज्ञाति संघ" प्रसिद्ध हुआ। कोई भी राजकुल या जाति ज्ञातिसंघमें शामिल होसकती थी। वह संघ व्यक्तिप्रधान नहीं होता था। अतः उसमें शामिल होते ही सदस्योंकी जाति या वंशके पूर्व नामोंकी कोई विशेषता नहीं रहती थी। सब सदस्य जातिके नामसे पहचाने जाते थे। समयके प्रभाव से उनमें भी कई एक राजवंशके लोग साम्राज्यवादी विचारोंके होगये, और 'सम्राट' या 'राजा' उपाधिको धारण करने लगे। तब दूसरे प्रजातंत्रवादी ज्ञातिके लोग 'राजन्य' कहलाने लगे। ज्ञातिके विधान, नियम और शासन-प्रणालीमें विश्वास रखने वाले लोग आगे चलकर 'ज्ञाति' उपाधि वाले हुए।

'ज्ञांश् अवबोधने'- इस धातु से यदि 'ज्ञात' शब्दकी उत्पत्ति मानी जाय तो इसका सीधा अर्थ प्रसिद्धताका सूचक है। कहीं कहीं 'ज्ञातृ' शब्द देखनेमें आता है, वह 'जानकार' अर्थका सूचक है। सभी अर्थ यथासंभव समुचित प्रयुक्त किये जासकते हैं।

साम्राज्यवादी संघ

जब श्रीकृष्णजीका संघ अपने एक राजनैतिक सिद्धांतके आधार पर अपना प्रभाव बढ़ाने लगा, तो दूसरा साम्राज्यवादी संघ अपना आतंक जमानेके लिये प्रजाको पीड़ित करने लगा। प्रजातंत्री सिद्धांतोंसे ज्ञातिसंघने पीड़ित प्रजाकी रक्षा की, पीड़ितोंकी रक्षा करनेसे उसका क्षत्रियत्व स्वयं सिद्ध होगया। इसीलिये कल्पसूत्रमें "नायाणं खत्तियाणं" पद पड़ा हुआ उचित ही प्रतीत होता है। श्रीकृष्णके जमानेसे ही क्षत्रियोंके ज्ञातिसंघकी नींव पड़ी, जो आगे चलकर ज्ञातिसंघके रूप में परिणत होगई।

ज्ञातवंश के गोत्र

ज्ञातवंशमें काश्यप वाह्लिक आदि कई गोत्र मौजूद थे। यह बात हमें भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ क्षत्रियके परिचयसे जाननेको मिलती है। जैसे कि-"नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्य।" यहाँ यदि कोई ऐसी शंका करे कि "नायाणं" इत्यादिका 'प्रसिद्ध क्षत्रियोंमें काश्यप गोत्रवाला सिद्धार्थ क्षत्रिय' ऐसा अर्थ किया जाय तो नाय-ज्ञात का अर्थ विशेष्य नहीं रहता, विशेषण होता है। तो फिर ज्ञातवंश कैसे सिद्ध होगा? इसका उत्तर यह है, कि नाय-ज्ञात विशेषण नाम नहीं बल्कि विशेष्य नाम है। इसीलिये तो भगवान महावीरके लिए जैनसूत्रोंमें 'नायपुत्त' प्रयोग मिलता है। यदि 'नाय' शब्द प्रसिद्ध अर्थका ही द्योतक माना जाय तो 'नायपुत्त' का अर्थ 'प्रसिद्धपुत्र' ही होगा, जो प्रसंगमें असंगत है।

भगवान महावीरका ज्ञातवंश

भ० महावीरका ज्ञातवंश महाभारत के प्रजा-

तंत्रवादी ज्ञातसंघ से भिन्न नहीं है, क्योंकि ज्ञाति संघके जो सिद्धांत महाभारतके उपर्युक्त श्लोकों में देखने को मिलते हैं, वे ही सिद्धांत ज्ञातवंशी भगवान महावीरके सांसारिक एवं त्यागीजीवनमें देखनेको मिलते हैं। जैसे कि एकेश्वरवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, स्त्री-शूद्रके मोक्ष के लिये अनधिकारित्ववाद आदि वादों का भगवान ने प्रतिवाद किया है। साथ ही, विरोधियोंके विचारोंको भी विवेक-पूर्वक अपनाने की सहिष्णुताको रखने वाले स्याद्वाद का, कर्मप्रधानवादका, किसी को कष्ट न देनेके रूप में अहिंसावाद का और इसी प्रकार के और भी अनेक सुन्दर वादों का सुचारु रूप से प्रतिपादन तथा व्यवहार उनके जीवन में ओतप्रोत मिलता है। ये बातें ऐसी हैं, जो सारे संसार की प्रजामें अशान्तिको मिटानेवाली और शान्तिको देनेवाली हैं।

हमारे जीवन-संस्कार भी हमें अपने पूर्वजोंकी एक प्रकारकी बहुमूल्य देनगियां है। भगवानका पुण्य जीवन-कल्पतरु ज्ञातवंशकी दिव्य भूमिको बहुत कुछ श्रेय-भागी बनाता है। भगवानके अवतीर्ण होने पर हिरण्यसे, सुवर्णसे, धनसे, धान्यसे, राज्यसे, साम्राज्य-संपत्ति से, और भी अनेक प्रकार से बढ़नेवाला वह ज्ञातवंश आज कहां है ? किस रूपमें है ? यह पुरातत्वके अभ्यासियोंके लिए परम अन्वेषणीय विषय है।

ज्ञात का जाट

रूपान्तर परिस्थितिको देखते हुए करीब दो हजार वर्ष हुए, 'ज्ञात' का 'जाट' हो गया प्रतीत होता है। क्योंकि दो हजार वर्ष पूर्वकी प्राकृत भाषाके जो कि सर्वसाधारणकी बोलचालकी भाषा थी—प्रयोगों में संस्कृतके 'ज्ञ' का 'ज' एवं 'त' का 'ट' उच्चारण हुआ मिलता है। न्याय-व्याकरण-तीर्थ पंडित बेचरदासजी ने कई प्राचीन प्राकृत व्याकरणोंके आधार पर जो नया 'प्राकृत व्याकरण' बनाया है, उसमें नियम लिखा है कि—

"संस्कृत 'ज्ञ' का 'ज' प्राकृत में विकल्प से होता है, और यदि वह 'ज्ञ' पदके मध्यमें हो तो उसका 'ज्ज' होता है, जैसे कि संजा–संज्ञा–सण्णा।" पृष्ठ ४१

ऊपर लिखे नियम से 'ज्ञात' के 'ज्ञा' का 'जा' होना स्वाभाविक ही नहीं नियमानुकूल भी है।

सम्राट् अशोककी धर्मलिपि

प्राचीन शिलालेखोंमें सम्राट् अशोककी जो धर्मलिपियां अंकित हैं, उनमें तकार का और संयुक्त तकारका टकार हुआ मिलता है, और जैनागमोंकी भाषा में उस स्थानपर प्राकृत प्रक्रिया के अनुसार तकार का डकार हुआ और संयुक्त तकारका 'त्त' ही हुआ मिलता है:—

अशोकलिपि	आगमभाषा	संस्कृत
पाटिवेदना	पडिवेअणा	प्रतिवेदना
पटिपाति	पडिवत्ति	प्रतिपाति
कट	कड, कय	कृत
मट	मड, मय	मृत
कटव, कटविय	कायव्व	कर्तव्य
किति, किटि	कित्ति	कीर्त्ति

—प्रा० का० पृ० ३८

अशोकलिपि के इन उदाहरणों से 'ज्ञात' शब्दमें पड़े हुए तकार का टकार होना भी प्रमाणित होता है। इस हालत में यह बात भली प्रकार मानी व जानी जा सकती है कि अशोक के जमाने में 'ज्ञात' शब्द का रूपान्तर 'जाट' बन गया हो तो कोई ताज्जुब नहीं।

रूपान्तर होना परिस्थितिके अनुकूल

बौद्ध आचार्यों की सत्संगति से किसी खास कारणवश सम्राट् अशोक बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया था। उसने बौद्ध धर्म का भारत में काफी प्रचार किया था। धर्मकी आज्ञाओंको शिला पर अंकित करवाकर उन्हें अपने देशमें सर्वत्र प्रचारित किया था। "यथाराजा तथा प्रजा" के न्यायसे अन्यान्य लोगोंके साथ ज्ञातवंशके कई लोगोंका बौद्ध धर्मावलम्बी होजाना भी सम्भावित है। उस समय संस्कृत शब्द 'ज्ञात' का 'जाट' प्राकृत हो जाना भी परिस्थिति के अनुकूल ही प्रतीत होता है।

रूपान्तर हो जाने पर भी अर्थभेद नहीं

ज्ञात शब्द का जो भावार्थ था, वह 'जाट' शब्दमें वैसे ही ज्यों का त्यों सन्निहित है; जैसे 'ज्ञात' शब्द का भावार्थ उसके रूपान्तर 'जाति' शब्द में। ऊपर की पंक्तियों में यद्यपि संस्कृत 'ज्ञात' का अपभ्रंश 'जाट' साबित किया गया है, पर वह संस्कृत के दायरे में भी अपनी हस्ती पूर्ववत् बनाये रखता है, जैसे कि—

संघातवाच्ये जटधातुतोऽसौ,
घञ्प्रत्ययेनाधिकृतार्थकेन।
सिद्धोऽनुरूपार्थकजाटशब्दो
ऽपभ्रंशितो निर्दिशति स्ववृत्तम् ॥

अर्थात्—संघातवाची 'जट' धातु से घञ् प्रत्यय आने पर 'ज्ञात' शब्द के अधिकृत अर्थ में 'जाट' शब्द समर्थक सिद्ध हुआ। अपभ्रंश हो जाने पर भी वह अपने पूर्व चरित को—ज्ञात शब्द के मूलस्वरूप को—बताता ही है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनीय के धातुपाठमें 'जट' धातुको देखकर भी अनुमान होता है कि उस समय 'ज्ञात' का अपभ्रंश 'जाट' रूपसे लोकमें पूर्णतया प्रचलित होगया होगा। और अपने पूर्व भावों की—प्रजातन्त्रीय संगठन के भावोंकी-भी रक्षा कर रहा होगा। इस हालत में 'जाट' शब्दको संस्कृत साहित्य वाले कैसे छोड़ देते? 'जाट' शब्दकी प्रकृति भावानुकूल उन्हें निर्माण करनी ही पड़ी, जो 'जट' धातुके रूपमें आज भी हमारे सामने मौजूद है।

विशेष इतिहास

'ज्ञात' और 'जाट'की एकरूपता जाननेके बाद उसके विशेष इतिहासको देखते हैं, तो काश्यप आदि गोत्र ज्ञात-जाट वंशमें समान रूपसे मिलते हैं। भगवान महावीरके पिता ज्ञात वंशके काश्यप-गोत्रीय थे*, तो जाट वंशमें भी काश्यप-गोत्र आज भी मौजूद है। "ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्रॉविंसेज ऑफ़ आगरा एण्ड अवध" नामक ऐतिहासिक ग्रंथमें मिस्टर डब्ल्यू कुर्क साहिब लिखते हैं, कि 'दक्षिणी-पूर्वी प्रान्तों के जाट अपनेको दो भागोंमें विभक्त करते हैं—शिवि-गोत्रीय और काश्यप-गोत्रीय।

'वाह्लिक कुल' भी, जोकि पूर्वकालमें भगवान महावीरके परमभक्त महाराजा श्रेणिकका था, आज जाट-वंशमें एक जातिके रूपमें मौजूद है। इसके प्रमाणके लिए शब्दचिंतामणि नामक प्रसिद्ध कोश का ११६३ वां पृष्ठ देखने काबिल है। महाराजा श्रेणिकने वैशालीके महाराजा चेटक से उनकी कन्या सुज्येष्ठाकी मँगनीकी थी, उसका

* समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिआ कासवगुत्तेणं ·····सिद्धत्थे————।

वर्णन हारिभद्रीय आवश्यक-वृत्ति पृष्ठ ६७७ में आता है। उसका उदाहरण इस प्रकार है:—

दूओ विसज्जिओ बरगो, तं भणइ चेडगो-किह हं वाहियकुले देमिति पडिसिद्धो।

अर्थात्—महाराजा चेटकने अपनी कन्या सुज्येष्ठाकी मंगनी करनेवाले महाराजा श्रेणिकके दूतको कहा कि, क्या मैं वाहिककुलमें अपनी कन्याको दूँगा? ना! ना!! ऐसा प्रतिषेध करके दूतको विसर्जित कर दिया*।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रके रचयिता कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रजी महाराज भी ऊपर लिखी बातको इस प्रकार लिखते हैं—

चेटकोऽप्यभीदेवमनात्मज्ञस्तव प्रभुः।
वाहीक-कुलजो वांछन्, कन्यां हैहयवंशजाम्॥

—त्रि० श० च० पर्व १०, सर्ग ६, पृ० ७८।

अर्थात्-चेटक इस प्रकार बोले कि तेरा राजा अपना स्वरूप भी नहीं जानता है, जो वाहीक कुल में पैदा होकर हैहयवंश की कन्याको चाहता है। अस्तु।

एक कपोल-कल्पना

महाराजा श्रेणिक भगवान महावीरदेवके परम भक्तोंमें से एक थे। आपका जैन होना ब्राह्मणों को बड़ा अखरता था। इसलिये ब्राह्मणों ने उनके वाहीक कुलके संबन्धमें एक कपोल कल्पना महाभारत† कर्णपर्व ८ में निम्न प्रकार जोड़ दी है—

वाहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ।
तयोरपत्यं वाहीका, नैषा सृष्टिः प्रजापतेः॥

अर्थात्—विपाशा पंजाबकी व्यास नदी के किनारे पर 'वाहि' और 'हीक' नामके दो पिशाच रहते थे। उनकी संतान वाहीक कहलाई। उनकी सृष्टि प्रजापति ब्रह्मा से नहीं हुई।

श्रमण-ब्राह्मण-संघर्ष

साम्प्रदायिक असहिष्णुता मनुष्यकी बुद्धि पर परदा डाल देती है। भगवान महावीर और महात्मा गौतमबुद्धकी धार्मिक क्रांतिने प्रचलित ब्राह्मणसमाजके गुरूडमवादकी ढूंबग बातोंको निस्सार साबित कर दिया था। लोगोंकी चेतना उषःकालके सुनहरे प्रभातमें जागृत हो उठी थी।

---

*"क्या मैं अपनी कन्याको वाहीक कुलमें दूँ? ना" चेटक महाराजाके ये शब्द क्या वाहीक कुलकी निम्नता नहीं जाहिर करते? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसके उत्तरमें इतना ही लिखना काफी होगा कि रुक्मिणी-हरणके समय श्रीकृष्णके लिए रुक्मी-कुमार का यह कहना कि "मेरी बहन ग्वालेको नहीं ब्याही जा सकती," इस वाक्यके भाव पर पाठक विचारें रुक्मी शिशुपालका साथी था। उसकी इच्छा थी कि रुक्मिणीका विवाह शिशुपालसे हो। श्रीकृष्ण शिशुपालके विरोधी थे। राजाओंका नियम है कि, मित्रका मित्र उनका भी मित्र होता है और मित्रका शत्रु उनका भी शत्रु होता है। इसी शत्रुतासे प्रेरित होकर रुक्मीने ऐसा कहा था। इससे श्रीकृष्णका उच्चत्व-नीचत्व सिद्ध नहीं होता। ठीक ऐसी ही बात श्रेणिकके कुलके लिए महाराजा चेटककी है। चेटक प्रधान जैन था, और श्रेणिक कट्टर तब बौद्ध धर्मावलम्बी था। यह नियम-सा है कि, एक संप्रदाय वाला दूसरे संप्रदाय वालेको नीची दृष्टिसे देखता है और अपने भाव जाति, कुल, वंश, देश, स्वभाव आदिकी ओटमें किसी न किसी तरहसे व्यक्त कर ही देता है। चेटकके वचनोंमें भी यही भाव निहित हैं, जो कि जबरन ब्याहके बाद श्रेणिकके जैन हो जाने पर मिटे दिखाई देते हैं। अधिक क्या एक कुलका ब्राह्मण दूसरे कुलके ब्राह्मणों को आज भी तो हीन समझता है। इसलिए चेटकका कथन वाहीक कुलकी निम्नता नहीं साबित करता।

†महाभारत जिसे, कि हम आज देखते हैं, यह तीन बार में और कम से कम तीन आदमियों-द्वारा बना है। आरम्भ में पांडवों के समकालीन श्रीव्यासजी द्वारा जो ग्रन्थ बना वह 'जय' नाम से प्रसिद्ध था, जिसमें केवल पांडवोंका हिमालयकी ओर जाने तक का ज़िक्र था। दूसरी बार श्री वैशंपायन ने उसमें राजा जनमेजय तक की घटनाओं का संग्रह कर दिया और उसका नाम 'भारत' कर दिया। आगे जैन-बौद्ध-काल में सूतपुत्र सौनिक ने काफी वृद्धि की और उसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध-जैन-आदि धर्मों की और उनके अनुयायियों की काफी बुराई की और गिराने की चेष्टा की। यह बात महाभारत-मीमांसा में पाठक देख सकते हैं।

यह बात ब्राह्मणोंके लिये असह्य थी। उन्होंने उनकी तर्क-संगत-युक्तियोंसे निर्वाक् होकर जैन व बौद्ध धर्मके प्रवर्तकोंको नास्तिक, उनके अनुयायियोंको पिशाचोंकी संतान, और उनकी तीर्थ-भूमियोंको अनार्यभूमि आदि आदि उपाधियोंसे विभूषित (?) कर दिया था। उस समय श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष अपनी पराकाष्ठाको पहुँच चुका था।

श्रमण-ब्राह्मण संघर्षकी तत्कालीन परिस्थितिको देखते हुए कई लोग अनुमान कर बैठते हैं, कि, जहां ब्राह्मणोंने जैन-बौद्धोंको अनार्य, पिशाच, नास्तिक आदि बताया, वहां श्रमण-सम्प्रदाय वालोंने उन्हें "ब्राह्मणाः धिग्जातयः" कहना-लिखना शुरू कर दिया। जिसकी छाया भगवान महावीरके गर्भ-परिवर्तनकी* घटनामें स्पष्टरूपसे झलक रही है। जिस ब्राह्मण-जातिके इन्द्रभूति आदि गण-धरोंको जाति-सम्पन्न और कुल-सम्पन्न जैन आगमों में बताया गया है, उन्हींमें भगवान महावीरके प्रसंगमें ब्राह्मणों को धिग्जाति—नीची जाति वाले बताना एक समस्या है।

जैनधर्म और बौद्धधर्मके साथ ब्राह्मणोंका विरोध पहिले तो सिद्धांत-भेदसे हुआ था, पर वह फिर जातिगत हो गया। इसलिये उन धर्मोंके अनुयायी क्षत्रिय वर्णको क्षत्रिय माननेसे ही ब्राह्मणोंने इनकार कर दिया। स्मृतियोंमें लिख दिया, कि "कलो सन्ति न क्षत्रियाः"—कलियुगमें क्षत्रिय होते ही नहीं। ब्राह्मणोंने, अपने इस प्रचार से यथावांच्छित परिणाम न निकलते देख, एक चाल और चली। साम्राज्यवादी विचारोंवाले चहुआण, पडिहार, सोलंकी आदि उत्तरी भारतके कई क्षत्रियोंको आबू पर्वत पर यज्ञ समारोहमें निमन्त्रित किया‡। उनमें कई ज्ञातवंशी भी शामिल हुये थे उन सबको ब्रह्मणोंने, उन पर अपनी भेद नीति चलाते हुए, अग्निकुली विशेषण देकर एक नये कुलकी स्थापना करदी। और इस समा-रोहमें जिन क्षत्रियोंने उनका साथ न दिया उनसे उनका विरोध करा दिया। इसका फल यह हुआ कि, अग्निकुली, ब्रह्मकुली आदि क्षत्रिय 'राजपूत' जैसे चमत्कारिक नामको धारण कर अपने ही वंशके भाइयोंसे घृणा करने लगे। उस घृणाका शिकार कई ज्ञात वा जाटवंश वालोंको भी होना पड़ा।

---

* मथुराके प्रसिद्ध ऐतिहासिक कङ्काली टीलेसे प्राप्त योगपट्टोंमें भगवान महावीरकी गर्भ-परिवर्तनकी घटनासे अंकित एक यागपट्ट मिला है। यह आजकल लखनऊ म्यूज़ियममें मौजूद है। उसकी रचना ऐतिहासिक लोग दोहज़ार वर्ष पूर्वकी बताते हैं।

‡ पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊने अपने 'भारतके प्राचीन राजवंश' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थमें इस घटना पर अच्छा प्रकाश डाला है और वह 'परमारवंशकी उत्पत्ति' के रूप में इस प्रकार है:—

"परमारवंश की उत्पत्ति"

राजा शिवप्रसाद (सितारेहिन्द) अपने 'इतिहास-तिमिर-नाशक' के प्रथम भागमें लिखते हैं कि 'जब विधर्मियोंका अत्याचार बहुत बढ़गया तब ब्राह्मणोंने अर्बुदगिरि (आबू) पर यज्ञ किया और मन्त्रबल से अग्निकुण्ड में से क्षत्रियोंके चार नये वंश उत्पन्न किये—परमार, सोलंकी, चौहान और पडिहार।' अबुल फ़ज़लने अपनी आईने अकबरी में लिखा है कि 'जब नास्तिकोंका उपद्रव बहुत बढ़ गया तब आबू पहाड़ पर ब्राह्मणोंने अपने अग्निकुण्डसे परमार, सोलंकी, चौहान, और पडिहार नामके चार वंश उत्पन्न किये।' पद्मगुप्त ने अपने नवसाहसांकचरितके ग्यारहवें सर्गमें परमारोंकी उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है:—

धर्मविद्वेषकी प्रधानतासे जैन बौद्धकालके बाद ब्राह्मणोंने और उनके अनुयायियोंने 'जाट क्षत्रिय नहीं हैं,' यह कहना प्रारम्भ करदिया। वरना क्या कारण है कि राजपूत परमारोंको तो क्षत्रिय रूपसे और जाट परमारोंको क्षत्रियेतर रूपसे माना जाय? इस धार्मिक विद्वेषने न केवल जाटोंको ही अपमानित किया बल्कि उनके जैसे कई विशुद्ध क्षत्रिय-वन्शोंको भी नहीं छोड़ा। इसीसे तो विदेशी आक्रामकोंने पुण्यभूमि भारतको पराधीन बनाकर उसे दासताकी जंजीरोंसे जकड़ दिया।

जाटोंका व्यवहारादि

प्रायः स्वतन्त्र विचारके होनेसे जाट लोगोंने जैसे ब्राह्मणोंको गुरु माननेका विरोध किया ठीक वैसे ही अपने बाप दादोंकी कीर्ति गानेवाले भाट-चारणोंको भी प्रोत्साहन नहीं दिया। अपनी वीरताके प्रचण्ड कारनामोंको भी उन्होंने लेखबद्ध नहीं किया। उनमें-से जो साम्राज्यवादी होगये, जिनका प्रभुत्व संसार-व्यापी होगया, श्रेणिक, कोणिक, संप्रति, समुद्रगुप्त आदि जाटवन्शीराजाओंको इतिहास-लेखकोंने 'राजपूत' बना दिया। ब्राह्मणोंकी भेदनीतिसे आपसी विद्वेष पैदा होगया। समयप्रवाहने भी कुछ साथ न दिया। इन सब कारणोंसे जाट स्वयं भी आत्म-सम्मान भूलने लगे।

कर्नल टॉड जैसे अनुभवी लेखकको इसीलिये अपने टॉडराजस्थानमें लिखना पड़ा कि—

"जिन जाट वीरोंके पराक्रमसे एक समय समस्त संसार कांप गया था, आज उनके वंशधरगण राजपूताना और पंजाबमें खेती करके अपना गुजर करते हैं × × × × अब इनको देखकर अनायास ही यह विश्वास नहीं होता कि, ये खेतिहर जाट उन्हीं प्रचण्ड वीरोंके वन्शधर हैं जिन्होंने एकदिन आधे एशिया और योरोपको हिला दिया था।

पर्शियन-हिस्ट्रीके लेखक जनरल कनिंघमने

हृतातस्यै कवाधेनु: कामसूर्गाधिसूनुना । कार्तवीर्यार्जुनेनेव जमदग्नेरनीयत ॥६५॥

× × × ×

अथाथर्व विदामाद्य, समंत्रामाहुतिं ददौ। विकसद् विकट ज्वाला, जटिले जातवेदसि ॥६७॥

ततः क्षणात्सकोदण्ड:, किरीटी कांचनाङ्गदः। उज्ज गामाग्नित: कोऽपि, सहेम कवच:पुमान् ॥६८॥

अर्थात्—इक्ष्वाकु वंशियोंके पुरोहित वशिष्ठ ऋषिकी कामधेनु गायको गाधिसुत विश्वामित्रने चुराया। तब अथर्ववेदके ज्ञाताओंमें प्रथम मुनि वशिष्ठने फैलती हुई विकट ज्वालाओंसे उत्पन्न भयंकर अग्निमें मंत्र सहित आहुतियां दीं। इससे झटपट धनुर्धारी, मुकुटवाला, स्वर्णाङ्गदवाला, एवं सोनेके कवचवाला कोई एक पुरुष अग्नि से पैदा हुआ।

परमार इति प्रापत्स मुनेर्नामचार्थवत् । मीलितान्य नृपच्छत्र, मातपत्रं च भूतले ॥७१॥

अर्थात्—उसने वशिष्ठके दुश्मनोंका नाश करडाला, अत: ऋषिने प्रसन्न हो 'परमार' ऐसा सार्थक नाम देदिया। यही बात पाटनारायण के मंदिरके १३४४ के शिला लेखमें आई है। वैसोही आबू परके अचलेश्वरके मंदिरमें लगे लेखपर भी अंकित है।

वशिष्ठ-विश्वामित्रकी लड़ाईका वर्णन वाल्मीकि रामायणमें भी है। परन्तु उसमें अग्निकुंडसे उत्पन्न होने के स्थान पर नंदिनी गोद्वारा मनुष्योंका उत्पन्न होना और साथही उन मनुष्योंका शक, यवन, पल्हव आदि जातियोंके म्लेच्छ होना भी लिखा है धनपालने १०७० के करीब तिलकमंजरी बनाई थी उसमेंभी इनकी उत्पत्ति अग्निकुंड से ही लिखी है।

अनेक विद्वानोंका मत है कि, ये लोग ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णकी मिश्रित संतान थे। अथवा ये विधर्मी थे और ब्राह्मणों द्वारा शुद्ध किये जाकर ये क्षत्रिय बनाये गये। तथा इसी कारणसे इनको 'ब्रह्मक्षत्रकुलीन:' लिख कर इनकी उत्पत्तिके लिए अग्निकुंडकी कथा बनाई गई।"

भारत के प्रा० रा० वंश प्र० भाग पृ० १७७-७८

अपनी पुस्तकमें यहांतक लिख दिया है, कि "जाट लोग एक ओर राजपूतोंके साथ और दूसरी ओर अफ़गानोंके साथ मिलगये हैं। किन्तु यह छोटी छोटी जाट-जातिकी शाखा-सम्प्रदाय पूर्वीय अंचलके राजपूत और पश्चिमीय अंचलके अफ़ग़ान १-और बलूची के नाम से अभिहित हैं।"

जाटों की वर्तमान सत्ता

कर्नल टॉडके शब्दोंमें जहां ज्ञातों-जाटोंकी राजनैतिक हानि हुई वहां कनिंघमके शब्दोंमें उनकी सामाजिक जनसंख्याकी भी काफ़ी हानि हुई है। फिर भी ज्ञात-जाट वंशकी सत्ता आज भी भारतमें आदरकी दृष्टिसे देखी जाती है। भरतपुर, पटियाला, नाभा, धौलपुर, मुरसान, झींद, फ़रीदकोट आदि कई राजस्थानोंमें जाटवंशीय राजा, महाराजा ही राज्य करते हैं। वे लोग अपने आपको जाट कहलाने में ही अपना गौरव समझते हैं। पंजाब और यू०पी० में जाटोंकी इज्ज़त राजपूतोंसे भी बढ़ी चढ़ी है। पंजाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह इसी वंशका कोहेनूर था।

जाट हूणों आदिकी संतान नहीं

कई भ्रांत लेखकोंने जाटोंको हूणोंकी संतान और शक सिथियनोंकी संतान बना दिया है। पर बात पुरातत्वसे सर्वथा अप्रमाणित है। इस संबंधमें महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री सी० वी० वैद्यने हिस्ट्री आव मीडीयावल हिन्दू इण्डियामें काफ़ी मीमांसा की है, और साबित किया है, कि जाट लोग हूणोंकी संतान नहीं, प्रत्युत हूणोंको जीतनेवाले थे।

"जाट गूजर और मराठा इन तीनों में (··· ······) जाटोंका वर्णन सबसे पुराना है। महाभारतके कर्णपर्वमें इनका वर्णन 'जटिका' नामसे मिलता है। उनका दूसरा वर्णन हमको "अजय जर्टो हूणान्" वाक्यमें मिलता है, जोकि पांचवीं सदीके चन्द्रके व्याकरणमें है, और यह प्रकट करता है कि, जाट हूणोंके संबन्धी ही नहीं किन्तु शत्रु थे। जाटोंने हूणोंका सामना किया और उनको परास्त किया, अतः वे पंजाबके निवासी ही होंगे और धावा करनेवाले तथा घुस पड़ने वाले नहीं। क्या उपर्युक्त वाक्य यह साबित करता है, कि मन्दसौरके शिलालेखवाला यशोधर्मन जिसने, कि हूणोंको लगातार परास्त किया था, जाट था ? वह जाट होगा। क्योंकि यह मालूम होचुका है कि जाट मालवा-मध्यभारतमें सिन्धकी भांति पहुँच चुके थे।" (हिस्ट्री ऑफ मीडीयावल हिन्दूइण्डिया, पृ० ८७-८८)

इसी विषयमें 'जाट इतिहास' में पृष्ठ ५९ पर लिखा है:—

१—जैनसूत्रोंमें आनेवाली आर्द्रकुमारकी कथामें आर्द्रक देशके राजा का श्रेणिकके सभाके संबंध पर जनरल कनिंघमके ऊपर लिखे विचार क्या कुछ प्रकाश नहीं डालते ? जरूर डालते हैं। आर्द्रकदेश वर्तमानका 'एडन बंदर' अथवा इटलीके मुसोलिनी की फासिस्ट नीति का शिकार बने हुए अल्बानियाके पासके 'एड्रियाटिक' से हो सकता है। आर्द्रक राजा के पूर्वज भारतसे उधर गये हों और वहां राज्य कायम करके रहने लग गये हों। श्रेणिक के पूर्वजोंसे उनका कोई संबंध हो और वह आपसमें बराबर आदान प्रदानके जरिये बना हुआ हो, इसका कोई ताज्जुब नहीं है। अनार्य देशमें रहनेसे आर्द्रक राजा आदि अनार्य माने गये हों यह भी होसकता है। कुछभी हो आर्द्रक राजा और श्रेणिक महाराजका प्रेम सकारण ही होगा। संभावित कारणोंमें पूर्वसंबंध भी एक कारण हो सकता है। सूत्रकृतांग सूत्रके दूसरे श्रुतस्कंधके छठे आर्द्रकाध्ययनकी निर्युक्ति इस संबंधमें कुछ प्रकाश डालती है।

"जाट न हूणों की संतान हैं, और न शक सिथियनोंकी, किन्तु वे विशुद्ध आर्य हैं। ऊपरके उद्धरण से यह पूर्णतया सिद्ध होजाता है, किन्तु इससे भी अधिक गहरा उतरा जाय तो पता चलता है, कि बेचारे हूणों और शकोंके आक्रमणों का जबतक नाम-निशान तक न था, जाट उस समय भी भारतमें आबाद थे। पाणिनी जो ईसा से, प्रायः ८०० वर्ष पहिले हुआ है उसके व्याकरण (धातु पाठ) में 'जट' शब्द आता है, जिसके कि माने संघके होते हैं। पंजाबमें 'जाट' की अपेक्षा 'जट' अथवा 'जट्ट' शब्दका प्रयोग अबतक होता है। अरबी यात्री अलबरूनी तो यहाँ तक लिखता है कि 'श्रीकृष्ण' जाट थे। मि० ई० बी० हेवल लिखते हैं:—

"Ethonographia investigations show that the Indo-Aryan type described in the Hindu epic—a tall. fair complexioned, long headed race, with narrow prominent noses, broad shoulders, long arms, thin waists like lion and thin legs like deer is now (as it was in the earliest times) most confined to Kashmere, the Punjab and Rajputana and represented by the Kattris, Jats. and Rajputs. (Page 32) The History of Aryan Rule in India by F. B. Havell.

अर्थात्—मानवतत्त्वविज्ञानकी खोज बतलाती है, कि भारतीय आर्यजाति जिसको कि हिन्दू-युद्धग्रन्थोंमें लम्बे क़द, सुन्दर चेहरा, पतली लम्बी नाक, चौड़े कन्धे, लम्बी भुजाएं, शेरकी सी कमर और हिरनकीसी पतली टांगोंवाली आदि बतलाया है, (जैसी कि यह प्राचीन समयमें थी) आधुनिक समयमें पंजाब, राजपूताना और काश्मीरमें खत्री, जाट और राजपूत जातियोंके नामसे पुकारी जाती है। (पृष्ठ ३२)

मिस्टर नेसफील्ड साहबने यहाँतक जोर देकर लिखा है:—

"If appearance goes for anything the Jats could not but be Aryans."

"यदि सूरत शकल कुछ समझी जानेवाली चीज़ है, तो जाट सिवा आर्योंके कुछ और हो नहीं सकते।"

भाषाविज्ञानके अनुसार जातियोंके पहचाननेकी जो तरकीब है, उसके अनुसार भी जाट आर्य हैं। इसके प्रमाणमें मिस्टर सरहेनरी एम० इलियट के० सी० बी० "डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ दी रेसेज ऑफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऑफ इंडिया" में लिखते हैं:—

"बहुत समय हुआ मैंने करांचीसे पेशावर तक यात्रा करके स्वयम् अनुभव कर लिया है, कि जाट लोग कुछ खास परिस्थितियोंके सिवा अन्य शेष जातियोंसे अधिक पृथक् नहीं है। भाषासे जो कारण निकाला गया है वह जाटोंके शुद्ध आर्यवंश में होनेके जोरदार पक्षमें हैं। यदि वे सिथियनविजेता थे, तो उनकी सिथियन भाषा कहाँके लिए चली गई ? और ऐसा कैसे हो सकता है, कि वे अब आर्य भाषाको, जोकि हिन्दीकी एक शाखा

है; बोलते हैं, तथा शताब्दियोंसे बोलते चले आये हैं। पेशावरमें डेराजाट और सुलेमान पर्वतमालाके पार कच्छ गोंडवामें यह भाषा हिन्दकी या जाटकी भाषाके नामसे प्रसिद्ध है। जाटोंके आर्यवंशमें होनेके सिद्धान्तको यदि कतई एक ओर फेंक दिया जावे तो इसके विरुद्ध बहुत ही जोरदार प्रमाण दिये जावेंगे, जैसे कि अबतक कहीं नहीं दियेगये हैं। शारीरिक-गठन और भाषा ऐसी चीजें हैं, जोकि केवल क्रियात्मक समानताके आधार पर एकतरफ़ नहीं रक्खी जा सकतीं। ख़ासकर जब कि वे शब्द जिनपर कि समानता अवलम्बित है हमारे सामने आते हैं तो वे यूनानी या चीनियोंसे भिन्न पाये जाते है।"

मिस्टर क्यार्जीलेथमके एथोनोलोजी आफ इंडिया पृष्ठ २५४ के एक नोटसे जाट-राजपूतके संबंध पर इसतरह प्रकाश पड़ता है—"The Jat in blood is neither more nor less than a converted Rajput, and vice versa; a Rajput may be a Jat of the ancient faith."

अर्थात्—जाट रक्तमें परिवर्तन किये हुए राजपूतसे न तो अधिक ही है, और न कम ही है। किन्तु अदल बदल हैं। एक राजपूत प्राचीन धर्मका पालन करनेवाला एक जाट होसकता है।"

मिस्टर इबटसन जाट और राजपूतोंके संबंध में एक और दिलचस्प बात लिखते हैं:—

"But whether jats and Rajputs were or were not originally and whatever aboriginal elements may have been affiliated to their society, I think that the two now form common stock the distinction between Jat and Rajput being social rather than ethnic. I believe that the families of that common stock whom the tide of fortune has raised to practical importance have become Rajputs almost by more virtue of their rise, and that their descendents have retained the title and its previleges on the condition strictly enforced of observing the rules by which the higher are distinguished from the lower in the Hindu scale of precedence of preserving their purity of blood by refusing its marriage with the families of lower social rank of regidly abstaining from degrading occupation. Those who transgressed these rules have fallen from their higher position and ceased to be Rajputs; while such families as attaining a dominent position in their history began to affect social exclusiveness and to observe the rules have become not only Rajas, but Rajputs or sons of Rajas".

अर्थात्—किन्तु चाहे जाट और राजपूत पहिले भिन्न थे या नहीं, और चाहे कुछ भी प्राचीन

रस्मरिवाज उनकी सोसाइटीमें बर्ती जाने लगी, मेरे विचार से अब ये दोनों जातियां एक उभय-निष्ठ स्टॉक बनाती हैं। जाट और राजपूतोंकी मित्रता केवल रस्म रिवाजों को है नकि जातीयता की। मैं विश्वास करता हूँ कि इस मिश्रित स्टाकके वे खानदान जिनको भाग्यने राजनैतिक उन्नतिमें अग्रसर कर दिया, वे अपनी उन्नतावस्थाको प्राप्त होनेसे ही 'राजपूत' कहलाने लगे, और उनके वंशजोंने इस उपाधिको बड़ाईके साथ सीमित कर दिया और छोटी जातियोंने मित्रताका सूचक बना दिया। साथ ही अपने रक्तको शुद्ध कहकर निम्न-श्रेणीके लोगोंसे विवाह-संबन्ध करना बन्द कर-दिया। पुनर्विवाहकी मनाही करदी। जिन लोगोंने इन नियमोंको नहीं माना वे अपनी स्थितिसे गिर-गये और राजपूत कहे जानेसे वंचित रहे। ऐसे कुटुम्ब जिन्हें कि अपने राज्यमें ऊंचे दर्जे मिल गये उन्होंने उन सारे नियमोंका पालन शुरू कर-दिया। वे राजा ही नहीं राजपुत्र यानी राजाके बेटे बनगये।

मिस्टर इबटसन 'राजपूत' शब्द का अर्थ इस तरह से करते हैं :—

"Though to my mind the term Rajput is an occupational rather than ethological repression."

अर्थात्—मेरे मस्तिष्कमें यह बात आती है, कि राजपूत शब्द एक जातीयताका बोधक होने की बनिस्बत पेशेका बोधक है।"

उपसंहार

वर्तमानका जाटवंश जैन आगम-संमत ज्ञात-वंशका रूपान्तर है या कुछ और। इस विषय में आशा है कि विद्वान लोग अपने मन्तव्य जाहिर करेंगे। ज्ञातवंशमें जैसे जैनधर्मका प्रचार था ठीक वैसे ही कुछ वर्ष पहले तक जाटोंमें जैन धर्मकी उपासना रही है। अंचलगच्छकी पट्टावली में सूचित जाखड़िया गच्छ क्या जाटोंकी बीका-नेरके प्रदेशमें बसी हुई जाखड़िया जातिसे संबन्ध नहीं रखता होगा ? तथा गच्छके वर्तमान साधु समुदायके मुख्य नेता-गुरु श्रीमान् वृद्धिचन्द्र जी महाराज भी इस जाटवंशके कोहेनूर थे, यह नहीं भूलना चाहिये। इस सम्बन्धमें विद्वान लोग और अधिक प्रकाश डालनेकी सफल चेष्टा करेंगे, ऐसी आशा की जाती है। इतिशम्।

द्रव्य-मन

(लेखक पं० इन्द्रचन्द्र जैन शास्त्री)

अनेकान्तकी ७वीं तथा ६वीं किरणमें 'श्रुतज्ञान-का आधार' शीर्षक लेखमें भावमनके ऊपर कुछ प्रकाश डाला गया है। किन्तु अभीतक द्रव्य-मनके ऊपर प्रकाश नहीं डालागया है। द्रव्यमनका विषय प्राय: अन्धकारमें ही है। जैन सिद्धान्तमें इस विषय पर अलग कोई कथन नहीं मिलता है। अभीतक लोगोंकी यह धारणा है कि मनका काम हेयोपादेय का विचार करना है। परन्तु आजकल-के विज्ञानवादी इस सिद्धान्तको नहीं मानते हैं। सभी डाक्टर और वैद्य भी आज इस बातको सिद्ध करते हैं कि हृदयका काम हेयोपादेयका विचार करना नहीं है।

आजकलके विज्ञानके अनुसार रक्त-परिचालक यंत्रको ही 'हृदय' कहते हैं। यह हृदय मांससे बनता है तथा दो फुफ्फुसों (फेफड़ों) के बीचमें वक्षके भीतर रहता है। यह हृदय पूर्ण शरीरमें रक्तका संचालन करते हुए दो महाशिराओं द्वारा दाहिने कोष्ठमें वापिस आजाता है। ज्योंही इस कोठरी में भर जाता है, वह सिकुड़ने लगती है, इसलिये रक्त उसमेंसे निकलकर क्षेपककोष्ठमें चलाजाता है।

हृदयमें चार कपाट होते हैं—

१—दाहिने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठोंके बीचमें २—बायें ग्राहक और क्षेपककोष्ठोंके बीच में, ३—फुफ्फुसीया धमनीमें, ४-बृहत् धमनीमें।

फुफ्फुस रक्तको शुद्ध करनेवाले अंग हैं। इन अंगोंमें रक्त शुद्ध होकर नालियों द्वारा (दो शिरायें दाहिने फुफ्फुससे आती हैं, और दो बायेंसे) बायें ग्राहक कोष्ठमें लौट आता है। भर जानेपर कोष्ठ सिकुड़ने लगता है और रक्त उसमें से निकलकर बायें कोष्ठमें प्रवेश करता है। रक्तके इस कोष्ठमें पहुँचने पर कपाटके किवाड़ ऊपरको उठकर बन्द होने लगते हैं। और जब कोष्ठ सिकुड़ता है, तो वे पूरे तौरसे बन्द हो जाते हैं, जिससे रक्त लौटकर ग्राहक कोष्ठमें नहीं जासकता क्षेपककोष्ठके सिकुड़ने से रक्त बृहत् धमनीमें जाता है। बृहत् धमनीसे बहुतसी शाखाएं फूटती हैं, जिनके द्वारा रक्त समस्त शरीरमें पहुँचता है।

इस तरहसे रक्त हृदयसे चलकर शरीरभरमें घूमकर फिर वापिस हृदयमें ही लौट आता है। इस परिभ्रमणमें १५ सेकण्डके लगभग लगते हैं।

हृदय नियमानुसार सिकुड़ता और फैलता रहता है। फैलने पर रक्त उसमें प्रवेशकरता है और सिकुड़ने पर रक्त उसमेंसे बाहर निकलता है। जब हृदय संकोच करता है, तो वह बड़े वेगसे रुधिरको धमनियोंमें धकेलता है। हृदयके संकोच और प्रसारसे एक शब्द उत्पन्न होता है, जो छातीके

पास सुनाई दिया करता है। इसी धड़कनके बन्द होनेसे या रक्तगति बन्द होनेसे मृत्यु हो जाती है। इसीको आज कल हार्ट फेल कहते हैं।

हृदयका इस प्रकार जितना भी वर्णन मिलता है, वह सब रक्त संचालनसे ही मतलब रखता है, हृदय रक्तका ही केन्द्रस्थान है।

इसके विपरीत जैन सिद्धान्तमें मनका लक्षण निम्नप्रकार किया है—आचार्य पूज्यपादने द्रव्य मनका सामान्य लक्षण "पुद्गल विपाकिकर्मोदया-पेक्षं द्रव्यमनः" (सर्वा—२-११) अर्थात पुद्गल विपाकी कर्मोदयकी अपेक्षा अथवा अंगो-पांग नामानामकर्मके उदयसे द्रव्यमनकी रचना होती है। इसी विषयको आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने, हृदयका स्थान बताते हुए जीवकांडमें कहा है कि—

हिदि होदिहु दव्वमणं वियसिय-अट्ठच्छदारविंदं वा।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंध दो णियमा ॥४४२॥

अर्थात—अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे मनो-वर्गणाके स्कन्धों द्वारा हृदयस्थानमें आठ पांखड़ीके कमलके आकारमें द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

इस गाथाके द्वारा मनका स्थान तथा उसकी उत्पत्तिका कारण बताया गया है। आजकलके वैज्ञानिक भी मनका स्थान वक्षस्थल या हृदय बताते हैं। तथा हृदयके आकारको भी बन्द मुट्ठी के सदृश बताया करते हैं। जैनाचार्योंने मनका आकार कमलाकार बताया है। इस प्रकार प्रकट रूपसे दोनों कथनोंमें विरोध मालूम होता है। परन्तु विचारकर देखा जाय तो इसमें कोई विरोध की बात नहीं है। जैनाचार्योंने आठ पांखड़ीके कमलका दृष्टान्त दिया है, इसका यह तात्पर्य कभी भी नहीं लिया जा सकता कि ठीक अष्टदल कमलके सदृश ही होना चाहिए। यह तो केवल बोध करानेके लिए दृष्टान्तमात्र है। यदि हम मांसके बने हुए हृदयमें वैसी ही पांखुड़ी तथा रज आदि खोजने लगजावें तो हमको निराशाही होना पड़ेगा। पुस्तकोंमें दिए हुए हृदयके चित्र देखनेसे ज्ञात होता है कि जो जैनाचार्योंने कमलका दृष्टान्त दिया है, वह बन्द मुट्ठीके दृष्टान्त से अच्छा है। इसलिए आकारके विषयमें विशेष विवाद नहीं हो सकता।

सैद्धान्तिक ग्रन्थोंमें किसी भी जैनाचार्यने मन काकार्य रक्तसंचालन नहीं बताया। आचार्य पूज्य-पादने

गुणदोष विचारस्मरणादि व्यापारेषु इन्द्रियानपेक्षत्वाच्च-क्षुरादिवद् बहिरनुपलब्धेश्च अन्तर्गतं करणमिति"

(सर्वा० १-१४)

इस वाक्यके द्वारा मनको गुण दोष विचार स्म-रणादिमें कारण बताया है। बृहद्द्रव्य संग्रहमें भी "द्रव्यमनस्तदाधारेणशिक्षालापोपदेशादि ग्राहक" इत्यादि पद मिलते हैं। इन प्रमाणोंसे शिक्षा, उपदेश आदि मनका व्यापार सिद्ध होता है। परन्तु वैज्ञानिक इस बातको स्वीकार नहीं करते। वैज्ञानिकोंके कथनानुसार यह सब कार्य मस्तिष्कका ही है। विचारना, स्मरण करना आदि विवेकसम्बन्धी सभी कार्य मस्तिष्क-से ही होते हैं। मस्तिष्कको संवेदनका केन्द्र माना गया है। यह मस्तिष्क आठ अस्थियोंसे निर्मित कपालके भीतर होता है। इस मस्तिष्कमें बहुतसे अंग होते हैं। उनमेंसे कुछ अंगोंके द्वारा हम वि-चार करते हैं। उन्हींके द्वारा हमको सुख, दुख,

गरमी, सर्दीका ज्ञान होता है। इन्हींकी सहायता से हमको शब्द, रस, सुगन्ध दुर्गन्ध आदिका बोध होता है। इन सबका संवेदन अलग अलग नाड़ियों द्वारा होता है।

मस्तिष्क से १२ जोड़े नाड़ियोंके लगे रहते हैं। पहिला जोड़ा गंधसे सम्बन्ध रखता है। हरएक तरफ बालों सरीखी पतली २० नाड़ियाँ रहती है। ये घ्राणनाड़ियाँ कहलाती हैं। नासिकाके घ्राण प्रदेश से प्रारम्भ होती हैं और कपालके घ्राण खण्ड से जुड़ती हैं।

दूसरा जोड़ा—दृष्टि नाड़ियां कहलाती हैं। तीसरा जोड़ा भी नेत्रचालिनी नाड़ियाँ कहलाती हैं। चौथे जोड़ेका भी नेत्र की गति से संबन्ध है। पांचवाँ जोड़ा तथा छठा जोड़ा आँखकी गतिसे सम्बन्ध रखता है। सातवाँ जोड़ा चेहरेकी पेशियों की गति से सम्बन्ध रखता है। आठवाँ जोड़ेका सुननेसे सम्बन्ध है इन्हें श्रावणी नाड़ियाँ कहते हैं। नवमें जोड़े का जिह्वा और कंठसे सम्बन्ध है। दसवें जोड़ेका स्वर, यन्त्र, फुफ्फुस, हृदय, आमाशय, यकृदादि अंगोंसे सम्बन्ध है। और ग्यारहवां तथा बारहवां जोड़ा जिह्वाके अंगोंसे सम्बन्ध रखता है।

हमारी मुख्य पाँच ज्ञान इन्द्रियां हैं, स्पर्शन (त्वचा) रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंसे केन्द्रगामी तार प्रारम्भ होकर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा मस्तिष्कमें पहुंचते हैं। मस्तिष्कके भी बहुतसे हिस्से माने गये हैं। चक्षु, कर्ण, घ्राण आदिके केन्द्रगामी तार नाड़ियों द्वारा मस्तिष्कके ज्ञानके केन्द्रोंमें आते हैं।

कल्पना कीजिए आपके हाथ पर ठंठा पानी छोड़ा गया। इस ठंडे पानीसे त्वचाके संवेदनिक कणों पर एक विशेष प्रकारका प्रभाव पड़ा या परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तनकी सूचना त्वगीथा तारों-द्वारा सुषुम्नाके पास तुरन्त पहुंचती है। ऊर्ध्वशाखा की नाड़ियां सुषुम्नाके ऊपरी भागसे निकलती है। ये तार पाश्चात्य मूलों द्वारा सुषुम्नामें घुसते हैं। सुषुम्ना में इन तारोंकी छोटी २ शाखायें तो सैलोंके पास रह जाती हैं, परन्तु वे स्वयं शीघ्र ही सुषुम्नाके बायें भागमें पहुंचकर सुषुम्नाशीर्षक और सेतुमें होते हुए स्तम्भ में पहुँचती हैं। स्तम्भ-द्वारा बायें थैलेमसमें पहुँचते हैं और यहीं रहजाते हैं, यहांसे फिर नये तार निकलते हैं, जो ऊपर चढ़कर बायें सम्वेदनाक्षेत्र में पहुँचते हैं, वहाँ सम्वेदन हुआ करता है। सम्वेदनक्षेत्रका सम्बन्ध गति क्षेत्रकी सेलोंसे तथा मानसक्षेत्रकी सेलोंसे रहा करता है। यदि हम ठंडे जलको पसन्द नहीं करते तोगति क्षेत्र मानसक्षेत्रको आज्ञा देता है कि हाथ उस क्षेत्रसे हट जावे, तो हाथ वहाँसे हट जाता है। यह सब मस्तिष्कका कार्य है। मस्तिष्कके और भी बहुतसे कार्य होते हैं, उनका उल्लेख इस लेख में उपयोगी नहीं है।

मस्तिष्कके इस विवेचनसे यह स्पष्ट होजाता है कि सभी प्रकारका सम्वेदन मस्तिष्कके द्वारा हुआ करता है। हृदयका काम सम्वेदन करना किसी भी तरह सिद्ध नहीं हो सकता।

अब विचारना यह है कि जैन सिद्धान्तसे हृदयके वर्णनमें किसी तरह विरोध दूर होसकता है या नहीं? इसके पूर्व यदि हम यह विचारलें कि हृदय और मस्तिष्कका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध

है या नहीं ? अथवा मस्तिष्क स्वतन्त्र संवेदन कर सकता है या कि नहीं ? तो ज्यादा अच्छा होगा।

मस्तिष्कका सम्बन्ध हृदय और फुप्फुस दोनों नाड़ियोंसे होता है। भयमें मस्तिष्कके हृदयकेन्द्रका दबाव हृदय परसे कम होता है, हृदय बड़ी तेजीसे धड़कने लगता है, भयमें विचारनेकी शक्ति नहीं रहती है। जिनके हृदयमें रोग होता है उनकी धारणाशक्ति तथा विचारनेकी शक्ति बहुत कम हो जाती है। इसी प्रकार जब हृदयसे कमजोरीके कारण ठीक समय पर रक्तकी उचित मात्रा मस्तिष्क में नहीं पहुंचती तो मस्तिष्कका वर्द्धन भी ठीक नहीं होता, और वह ठीक २ काम भी नहीं करसकता।

पांचों इन्द्रियोंका कार्य पृथक् २ है, इनके द्वारा इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान मस्तिष्कमें होता है। स्पर्शन इन्द्रियसे ठंडा गरम आदिका बोध होता है, तथा चक्षुसे रूपका, इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोंसे संवेदन होता है। इन इन्द्रियोंके अलावा और भी तो बहुतसे संवेदन होते हैं। वह किसका कार्य होगा ? पांचों इन्द्रियोंका विषयतो निश्चित तथा परिमित है, उनके द्वारा अपने विषयको छोड़कर अन्य प्रकारके संवेदनकी संभावना ही नहीं है। भय, हर्ष, सुख, दुख इत्यादिका संवेदन इन इन्द्रियोंके द्वारा सभव नहीं है, परन्तु इनका संवेदन होता अवश्य है। साथमें यह भी निश्चित है कि मस्तिष्क स्वयं किसीका संवेदन नहीं करता, वह तो प्रेरणाके द्वारा ही संवेदन करता है। बिना स्पर्शन इन्द्रियकी सहायताके गरमी-सर्दीका संवेदन स्वयं मस्तिष्क कभी भी नहीं करसकता। इसी प्रकार भय-हर्ष आदिके विषयमें भी समझना चाहिये।

जैनाचार्योंने पांचों इन्द्रियोंके साथ मनको भी इन्द्रिय रूपमें स्वीकार किया है, किन्तु यह मन अन्य इन्द्रियोंकी तरह भीतर रहनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये इसे अनिन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहा है। 'करण' का अर्थ इन्द्रिय, और 'अन्तः'का अर्थ भीतर होता है। इसलिए भीतरकी इन्द्रिय यह साफ़ अर्थ है। आचार्य पूज्यपादने "अनिन्द्रियं मनः अंतःकरण मित्यनर्थान्तरम्" ऐसा लिखा है। तथा कोई अनिन्द्रियका अर्थ "इन्द्रिय का अभाव" न ले लें, इसीलिए आचार्य महोदयने अनुदरा कन्याका उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहां सद्भाव रूप ही अर्थ लेना चाहिये।

मनका विषय अन्य इन्द्रियोंकी तरह निश्चित करदिया गया है। आचार्य पूज्यपादने स्पष्ट कहा है कि—

"गुणदोष विचार स्मरणादिव्यापारेषु इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवद्" अर्थात् गुणदोष के विचारने में, स्मृति आदि व्यवसायमें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती यह तो मनका ही विषय है।

जिसप्रकार स्पर्शन इन्द्रियद्वारा ऊष्णताका संवेदन नहीं होता, वह तो संवेदन करनेमें कारण है (यह मैं पहिले बता चुका हूं कि किसप्रकार संवेदन होता है) इन्द्रियोंका कार्य खुद संवेदन करनेका नहीं है। इसीप्रकार मन भी एक इन्द्रिय है, वह स्वयं संवेदन न करके अपना सीधा काम मस्तिष्कसे कराता है। मस्तिष्कसे सीधा काम कराते हुए भी वह कार्य मनका ही कहलाता है। जिस प्रकार रूपका अनुभव मस्तिष्क द्वारा ही

होता है, परन्तु "आँखने देखा" ऐसा व्यवहार किया जाता है।

पदार्थोंकी किरणें पहिले आँखकी कनीनका-पर पड़ती हैं। वहाँसे चक्षुके भीतर प्रवेश करतीं हैं, जल, रस, तारा, ताल, तथा स्वच्छ गाढ़े द्रवमें-से होकर अन्तरीय दृष्टि पटल अथवा ज्ञानी परदे पर पड़ती हैं। ज्ञानी परदेमें चक्षुकी नाड़ीको उनके द्वारा प्रोत्साहन मिलता है, वह प्रोत्साहन मस्तिष्क में पहुँचकर दृष्टिकेन्द्रके पुष्पको जागृत करता है। पश्चात् हमें देखनेका ज्ञान होता है। यह नेत्रानु-भवका तरीका है। इसीप्रकार मनके लिए भी समझना चाहिए। अत: व्यवहारमें यदि मनका काम हेयोपादेयरूप कहाजाय तो अनुचित नहीं समझना चाहिए।

जैनाचार्योंने भी मनको कारण ही बताया है। ऐसा नहीं कहा है कि मनके द्वारा हृदयके आत्म-प्रदेशोंमें संवेदन होता है। आचार्य पूज्यपादने "यतो मनो व्यापारोहिताहित प्राप्तिपरिहारपरीक्षा' ऐसा ही कहा है। मनका व्यापार हिताहित-प्राप्ति-परिहारमें होता है, इसका अर्थ यह नहीं लिया जासकता कि यह व्यापार मनके भीतर ही हुआ करता है। इसी बातको उमास्वामीने बहुत ही स्पष्ट कर दिया है-तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायमें मति-स्मृति-संज्ञा-चिन्ता अभिनिवोध-रूप मतिज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? इसका कारण बतानेके लिये "तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम्" इस सूत्रकी रचना की है। इस सूत्रमें बताया गया है कि मतिज्ञानके उत्पन्न करनेके लिये स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये छह बहिरंग कारण हैं"। यहां आचार्यने अन्य इन्द्रियोंकी तरह मनको भी ज्ञान-की उत्पत्तिका कारण बताया है। इन्द्रियोंको मति-ज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान नहीं बताया। पंचाध्या-यीकारने मन:पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान मन बताया है।

> दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
> केवल मेवमनसादवधिमन:पर्ययद्वयं ज्ञानं ॥ ७०५ ॥

अर्थात्—अवधि और मन: पर्ययज्ञान केवल मनसे दूरवर्ती पदार्थोंको लीलामात्रसे प्रत्यक्ष जानलेते हैं। यहां मनको सहायताका और कुछ अर्थ नहीं है, केवल यही अर्थ है कि द्रव्यमनके आत्मप्रदेशोंमें मन:पर्ययज्ञान होता है। मन-इन्द्रियसे मन:पर्यय ज्ञानका और कुछ भी प्रयो-जन नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय निरपेक्ष होता है। नीचेकी गाथा से इस अर्थकी और भी पुष्टि हो जाती है।

> अपिकिं चाभिनिवोधक बोधद्वैतं तदादिमं यावत।
> स्वात्मानुभूति समये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

अर्थात्—केवल स्वात्मानुभूतिके समय जो ज्ञान होता है, वह यद्यपि मतिज्ञान है तो भी वह वैसाही प्रत्यक्ष है जैसा कि आत्मभाव सापेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

यहां मतिज्ञानको भी जब इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं होती, उस समय प्रत्यक्ष कहा है, फिर यदि मन:पर्ययज्ञानको मनइन्द्रियकी सहायतासे मानें तो उसे प्रत्यक्ष कैसे कह सकेंगे।

गोमटसार-जीवकाण्डकी ३७० वीं गाथामें अवधिज्ञानके स्वामीका वर्णन करते हुए यह भी बताया है कि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शंखादिक चिन्होंके द्वारा हुआ करता है, तथा भवप्रत्यय अवधिज्ञान संपूर्ण अंगमें होता है। इसका स्पष्ट

अर्थ तत्रस्थ आत्मासे ही है। इसीप्रकार मनःपर्यय ज्ञानभी द्रव्यमनके आत्मप्रदेशोंमें होता है। ऐसाही समझना चाहिये। अतः यह शंका नहीं हो सकती कि मनःपर्ययज्ञानका संवेदन मनमें होता है या मन इन्द्रिय उसमें काम करती है। अतः मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान मनमें नहीं होते किन्तु मन केवल निमित्त कारण ही है।

बृहद् द्रव्यसंग्रहमें "द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशादि ग्राहकं" इस तृतीयान्तपदसे भी यही अर्थ निकलता है। यदि टीकाकारको "मनमें" यह अर्थ अभीष्ट होता तो सप्तमीका पद दिया जासकता था।

यहां यहभी शंका नहीं करना चाहिये कि जैनाचार्योंने हृदयका मुख्यकार्य रक्तसंचालनका वर्णन नहीं किया। क्योंकि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें सिद्धान्तका ही वर्णन किया जायगा, शरीरशास्त्र की यहां अपेक्षा नहीं है। नाकका काम सुगन्ध-ज्ञानके अलावा श्वास आदि कार्य भी है। जिह्वा-का रसज्ञानके साथ शब्दोच्चारण आदि कार्य हैं, परन्तु सभीके वर्णनकी सब जगह अपेक्षा नहीं होती। हां, वैद्यक शास्त्रोंमें इसका वर्णन किया गया है।

जिस इन्द्रियका जो कार्य होता है, उस कार्य की अधिकतासे या तेजीसे मस्तिष्कके साथ साथ उस इन्द्रियपर भी असर पड़ता है। तेज सुगन्धिसे दिमागके साथ नाक भी झनझना जाती है। किसी पदार्थको बहुत देर तक देखते रहनेसे आखें दर्द करने लगती हैं। उसी प्रकार किसी तरहके भयानक विचारोंसे अथवा भयसे हृदयकी गतिपर असर पड़ता है, हृदय धकधकाने लगता है, इससे मालूम पड़ता है ये सब गुण हृदयके हैं। अन्यथा हृदय पर असर नहीं पड़ना चाहिए था। जिस प्रकार सुगन्धि घ्राणका कार्य मानाजाता है, क्योंकि उस का असर घ्राण पर पड़ता है। उसी प्रकार भय आदिका असर हृदयपर पड़ता है, इसलिए ये सब हृदयके कार्य माने जाने चाहिएँ।

डा० त्रिलोकीनाथवर्मा शरीरविज्ञानके प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं। आपने "स्वास्थ्य और रोग" नामक एक सुन्दर पुस्तक लिखी है, इसी पुस्तकके ७८१ वें पृष्ठ पर आपने लिखा है कि "मन-सम्बन्धी जितनी बातें हैं वे सब मस्तिष्कके द्वारा होती हैं। विचार अनुभव, निरीक्षण, ध्यान, स्मृति, बुद्धि, ज्ञान, तर्क या विवेक ये सब मनके गुण हैं।"

डा० त्रिलोकीनाथके इस कथनसे हमारी और भी पुष्टि होजाती है। इसलिये जैन सिद्धान्तमें माने हुए मनके लक्षणमें किसी तरह विरोध नहीं आता।

अति प्राचीन प्राकृत 'पंचसंग्रह'

(लेखक पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

लुप्तप्राय दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमेंसे 'पंचसंग्रह' नामका एक अति प्राचीन,प्राकृतग्रन्थ अभी हालमें उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थकी यह उपलब्ध प्रति सं० १५२७ की लिखी हुईहै, जो टंवक नगरमें माघवदी ३ गुरुवारको लिखी गई थी। इसकी पत्र संख्या ६२ है, आदि और अन्तके दोपत्र एक ओर ही लिखे हुए हैं और हासिये में कहीं कहींपर संस्कृतमें कुछ टिप्पणी भी वारीक अक्षरोंमें दी हुई है। इस टिप्पणीके कर्ता कौन हैं ? यह ग्रन्थ प्रति पर से कुछभी मालूम नहीं होता। ग्रन्थमें प्राकृत गाथाओंके सिवाय, कहीं कहीं पर कुछ प्राकृत गद्य भीदिया हुआ है। ग्रन्थके अन्तमें कोई प्रशस्ति लगीहुई नहीं है और न ग्रन्थकर्ताने किसी स्थलपर अपना नाम ही व्यक्त किया है। ऐसी स्थितिमें यह ग्रन्थ कब और किसने बनाया ? आदि बातें विचारणीय और अन्वेषण किये जानेके योग्य हैं।

इस ग्रन्थकी रचना दृष्टिवाद नामके १२वें अङ्ग-से कुछ गाथाएं लेकर कीगई हैं, जैसाकि उसके चतुर्थ और पंचम अधिकारमें क्रमशः दीगई निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है:—

सुणह इह जीव गुणसण्णिहि सुठाणे सुसार जुत्ताओ।
वोच्छं कदि वइयाओ गाहाओ दिट्ठिवादाओ॥
सिद्धपदेहि महत्थं बंधोदय सत्त पयडि ठाणाणि।
वोच्छं पुण संखेवेणणिस्संदं दिट्ठिवादा दो॥

४-३, ५-२

इनमेंसे पहली गाथामें बताया है कि 'जीवस्थान और गुणस्थान-विषयक सारयुक्त कुछ गाथाओंको दृष्टिवादसे १२ वें अंगसे लेकर कथन करता हूँ।' और दूसरी गाथा में यह बताया गया है कि 'दृष्टिवादसे निकले हुए बंध, उदय और सत्वरूप प्रकृतिस्थानोंके महान् अर्थको पुनः प्रसिद्ध पदोंके द्वारा संक्षेपसे कहता हूँ। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थकी अधिकांश रचना दृष्टिवादनामक १२ वें अंगसे सार लेकर और उसकी कुछ गाथा-ओंको भी उद्धृत करके कीगई है। ग्रंथकी श्लोकसंख्या दोहजारके लगभग है। इसमें जुदे-जुदे पांच प्रकरणोंका संग्रह कियागया है, इसी-लिये इसका नाम 'पंचसंग्रह' सार्थक जान पड़ता है। वे प्रकरण इस प्रकार हैं—

१ जीवस्वरूप, २ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, ३ कर्म-स्तव, ४ शतक और ५ सप्ततिका। ग्रन्थको आद्यो-पान्त देखने और तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करनेसे यह बहुत ही महत्वपूर्ण और प्राचीन जान पड़ता है। दिगम्बर जैनसमाजमें उपलब्ध गोम्मटसार और संस्कृतपंचसंग्रह से यह बहुत अधिक प्राचीन मालूम होता है। इस ग्रंथकी बहुत सी गाथाओंका संग्रह गोम्मटसारादि ग्रन्थोंमें कियागया है, जिसे विस्तारके साथ फिर किसी स्वतन्त्र लेख द्वारा प्रकट करनेका विचार है।

पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा प्रणीत 'षट्खण्डागम्' पर 'धवला' और 'जयधवला' टीकाके

रचियता आचार्य वीरसेनने अपनी धवलाटीकामें इस ग्रन्थकी कितनीही गाथाएं 'उक्तं च रूप से या बिना किसी संकेत के उद्धृत की हैं—अथवा यों कहिये कि जिन गाथाओंको अपने कथन की पुष्टिमें प्रमाणरूपसे पेश किया है उनमेंसे बहुतसी गाथायें प्राकृत पंचसंग्रहकी हैं। धवलाका जो सत्प्ररूपणा विषयक अंश अभी हालमें मुद्रित हुआ है उसमें उद्धृत २१४ पद्योंमेंसे अधिकांश गाथाएं ऐसी हैं जो ज्योंकी त्यों अथवा थोड़ेसे पाठभेदादिके साथ इस ग्रन्थमें पाई जाती हैं। ये प्राय: इसी परसे उद्धृत जान पड़ती हैं। अभीतक किसीको पता भी न था कि ये किस प्राचीन ग्रन्थपरसे उद्धृत कीगई हैं। उनमेंसे कुछ गाथाएं नमूनेके तौर पर नीचे दी जाती हैं:--

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जाजेट्ठा सागई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति हु सागई होइ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, ४९

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जाचेट्ठा सागई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति तिय गई होइ॥
—धवला० ८४, पृ० १३५

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइदमभिगहियं अणभिगाहियंतुं तंतिविहं॥
—प्राकृत पंच सं०, १, ७

तं मिच्छत्तं जहमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइदमभिग्गहियं अणभिग्गहिदं तितंतिविहं॥
—धवला १०७, पृ० १६२

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुणणियच्छदे बहुसो।
इत्थी पुरुस णउंसय वेयंति तओ हवदि वेदो॥
—प्राकृत पंच सं०, १, १०१

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुणणियच्छदे बहुसो।
थी-पुं-णवुंसयविय वेयत्तितओ हवइ वेओ॥
—धवला ८९, पृ० १४१

जिन गाथाओं में कुछ अधिक पाठ-भेद पाया जाता है उन्हें नीचे दिया जाता है:—

छम्मासाउगसेसे उप्पणं जेसि केवलं णाणं।
तेणियमासमुग्घायं सेसेसु हवंति मयणिज्जा॥
—प्राकृत पंच सं०, १, २००

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए॥
—धव०, १६७, पृ० ३०३

छसुहेट्ठिमासु पुढविसु जोइसवण-भवण-सव्वइत्थीसु।
वारसमिच्छोवादे सम्माइट्ठिस्सणत्थि उववादो॥
—प्रकृत पं०, १, १९३

छसुहेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दुजो जीवो॥
—धव०, १३३, पृ० २०९

इसी तरह प्राकृत पंचसंग्रहके प्रथम 'जीवस्वरूप' प्रकरणकी २३, ६६, ६९, ७१, ७५, ७७, ७८, ७९, ८०, ८८, १५६, नं० की गाथाएं धवलाटीकाके उक्त मुद्रित अंश में १२१, १३४, १३५, १३७, ८६, १४६, १५०, १५१, १५२, १४०, १९६, २१२ नम्बरपर ज्यों की त्यों अथवा कुछ मामूलीसे शब्द परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं।

इन गाथाओंके सिवाय, १०० गाथाएं और भी धवलाके उक्त मुद्रित अंशमें उपलब्ध होती हैं। इस तरह कुल ११६ गाथाएं उक्त अंशमें पंच-संग्रहकी पाई जाती हैं, जिनमेंसे उक्त १०० गाथाएं ऐसी हैं जिनका प्रोफेसर हीरालालजीने अपनी प्रस्तावनामें धवलाटीकापर से गोम्मटसारमें संग्रह किया जाना लिखा है। ये गाथाएं गोम्मट-सारमें तो कुछ कुछ पाठ-भेदके साथ भी उपलब्ध होती हैं, परन्तु पंचसंग्रहमें प्राय: ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं—पाठ-भेद नहींके बराबर है और जो

है वहभी प्राय:लेखकोंकी कृपाका फल जान पड़ता है। इनके अलावा 'धवला' टीकाके अप्रकाशित भागमें भी कुछ गाथाएं पंचसंग्रहकी उपलब्ध होती हैं। जिनका पता मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीकी धवला-विषयक नोटबुकसे चला, और जिनमेंसे दो गाथाएं यहां नमूनेके तौरपर उद्धृत की जाती है :—

> वेयण कसाय उव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ ।
> तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च ॥
> —प्राकृत पंच सं० १, १९६
>
> वेयणकसाय वेउव्वियओ मरणंतिओ समुग्घादो,
> तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥
> —धव० आरा प्र० पृ० १९५
>
> णाणावरण चउक्कं दंसणतिग मंतरायगे पंच ।
> ता होंति देसघाई सम्मं संजलण णोकसायाय ॥
> —प्राकृत पंच सं०, ४-९६, पृ० ३५
>
> णाणावरणचउक्कं दंसणतिग मंतरायगा पंच ।
> ताहोंति देशघादी सम्मं संजलण णोकसायाय ॥
> —धवला० आरा प्र० पृ० ३८०

इस सब तुलनापरसे स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेनके सामने 'पंच संग्रह' जरूर था, इसीसे उन्होंने उसकी उक्त गाथाओंको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है। आचार्य वीरसेनने अपनी 'धवला' टीका शक सं० ७३८ (विक्रम सं० ८७३) में पूर्ण की है। अत: यह निश्चित है कि पंचसंग्रह इससे पहलेका बना हुआ है।

पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'जैनसिद्धान्त भास्कर, के ५ वें भागकी चतुर्थ किरणमें 'दि० जैन ग्रन्थोंकी बृहत्सूची' नामका एक लेख प्रकट किया था, उसमें 'सिद्धान्त ग्रंथ' उपशीर्षकके नीचे आचार्य वीरसेनके ग्रंथोंमें 'पंच संग्रह' का भी नाम दिया गया है, जिससे मालूम होता है कि आचार्य वीरसेनने पंचसंग्रह नामका भी कोई ग्रन्थ बनाया है। परन्तु प्रस्तुत 'प्राकृत पंचसंग्रह' की जो प्रति मेरे पास है, उसमें कर्ताका कोई नाम नहीं है। इधर 'दि० जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ नामकी पुस्तकमें वीरसेनाचार्यके ग्रन्थोंमें 'पंचसंग्रह' का कोई नाम नहीं है, और न अभी तक कहीं किसी ग्रन्थमें इस प्रकारका उल्लेखही उपलब्ध होता है, जिससे इस ग्रन्थको वीरसेनाचार्यकी कृति माना जा सके। मालूम होता है बाबा दुलीचन्द्जीने, जिनकी सूचीके आधार पर उक्त बृहत् सूची तैयार हुई अपनी सूचीमें जनश्रुति आदिके आधारपर ऐसा लिखदिया है। उस सूचीमें और भी बहुत से ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ताओंके विषय में ग़ल्ती हुई है, जिसे फिर किसीसमय प्रकट करने का प्रयत्न किया जायगा। इसके सिवाय आचार्य अमितगतिने वि० सं० १०७३ में जो अपना सस्कृत पंचसंग्रह बनाया है और जो प्राय: इसीके आधारपर बनाया गया है, उसमें भी पंचसंग्रहके नामके सिवाय आचार्य वीरसेनका कोई जिकर नहीं है। अत: इस प्राकृत पंचसंग्रहके कर्ता आचार्यवीरसेन मालूम नहीं होते। यदि वीरसेन इसके कर्ता होते तो धवला टीकामें पंचसंग्रहकी जो गाथायें 'उक्तंच' रूपसे दीगई हैं उनमेंसे किसीमें भी कोई विशेष पाठ-भेद न होता पंच-संग्रहकी १८४वीं गाथाका धवलामें पूर्वार्ध तो मिलता है परन्तु उत्तरार्ध नहीं मिलता, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि धवलाकी तरह पंचसंग्रह ग्रन्थ के कर्ता भी आचार्य वीरसेन ही होते तो यह संभव नहीं था कि वे अपने एक ग्रंथमें जिस पद्यको जिस रूपमें लिखते उसे अपने दूसरे ग्रंथमें 'उक्तंच' रूपसे देकर भी इतना अधिक बदल

देते जैसाकि निम्नलिखित पद्यमें पाया जाता है:—

पम्मा पउम सवण्णा सुक्का पुण्णकास कुसमसंकासा ।
वण्णंतरं च एदेहवंति परिपरिमिता अणंतावा ॥
—प्राकृत पंच सं. १,१८४

पम्मा पउम सवण्णा सुक्का पुण्णकास कुसम संकासा ।
किण्हादि दव्व लेस्सा वण्ण विसेसो मुणेयव्वो ॥
धवला आरा प्र० पृ० ६५

अत: आचार्य वीरसेन इस पंच-संग्रहके कर्ता नहीं हो सकते और अब इस ग्रन्थके रचनाकाल के विषयमें जो कुछ भी तुलनात्मक अध्ययन से मालूम होसका है उसे नीचे प्रकट किया जाता है:--

कसायप्राभृतके रचयिता आचार्य गु धर हैं, जिन्हें आचार्यपरम्परासे लोहाचार्यके बाद, अंगों और पूर्वोका अवशिष्ट एकदेशरूप श्रुतका परिज्ञान प्राप्त हुआ था और जो ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वस्थित दशम वस्तुके तीसरे पाहुडके पारगामी विद्वान थे उन्होंने श्रुतके विनष्ट होनेके भयमें तथा प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर १८० गाथाओंमें 'कषाय प्राभृत' की रचना की, और इन्हीं गाथाओंकी सम्बन्धसूचक एवं वृत्ति रुपक ५३ विवरणगाथाओंकी और भी रचना की। इसतरह से कषाय प्राभृतकी कुल गाथाएँ सख्या में २३३ हैं, जिन्हें उक्त मुख्तारसाहबकी जयधवला विषयक नोट-बुकपर से देखने और पंचसंग्रह की गाथाओंके साथ तुलना करने से मालूम हुआ कि दर्शनमोह का उपशम और क्षपणाके स्वरूपका निर्देश करनेवाली कषाय प्राभृतकी तीन गाथाएँ 'पंचसंग्रह' में प्राय: ज्यों की त्यों पाई जाती है और वे इस प्रकार हैं:—

दंसण मोह स्सुवसामगो दु चदु सुवि गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचिंदिओय सण्णी णियमोसो होइपज्जत्तो ॥
—कसाय पाहुड० ९१

दंसणमोह उवसामगोदु चदुसुविगई सुबोद्धव्वो ।
पंचिंदिओय सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, २०४

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्म भूमि जादोदु ।
णियमा मणुस गदीए निट्ठव गो चावि सव्वत्थ ॥
—कसाय पाहुड० १०६

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमि जादोदु ।
णियमा मणुसगदीए निट्ठवगोचावि सव्वत्थ ॥
—प्राकृत पंच सं०, १, २०२

खवणाए पट्ठवगोजम्हिभवे णियमदोतदो अण्णे ।
णादिक्कदितिण्णिभवे दंसण मोहम्मि खीणम्मि ॥
—कसाय पाहुड, १०९

खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियम दो तदोअण्णे ।
णादिक्कदि तिण्णि भवं दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥
प्राकृत पंच सं०, १, २०३

कषाय प्राभृतका रचनाकाल यद्यपि निर्णीत नहीं है तो भी इतना तो निश्चित ही है कि इसकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यसे पहले हुई है। साथ ही यह भी निश्चत है कि गुणधराचार्य पूर्ववित् थे और उनके इस ग्रंथ की रचना सीधीज्ञानप्रवाद पूर्वके उक्त अंशपरसे स्वतन्त्र हुई है—किसी दूसरे आधार को लेकर नहीं हुई। अतः यह कहना होगा कि उक्त तीनों गाथाएँ कषायप्राभृत की ही हैं और उसी परसे पंचसंग्रहमें उठाकर रक्खी गई हैं। इससे इतना तो स्पष्ट होजाता है कि पंचसंग्रह की रचना कषायप्राभृतके बाद किसी समय हुई है।

पंचसंग्रहमें पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके दार्शनिक आदि ११ भेदोंके नामोंका निर्देश करनेवाली एक गाथा १६३ नम्बरपर पाई जाती है और उक्त गाथा आचार्य कुंदकुंदके 'चारित्र प्राभृत'में भी नं० २२ पर उपलब्ध होती है। यह गाथा दोनों ग्रन्थकारोंमेंसे किसी एकने

जरूर उद्धृत की है, बहुत सम्भव है कि आचार्य कुन्दकुन्दने पंचसंग्रहसे उद्धृत की हो, और यह भी सम्भव है कि चारित्र प्राभृतसे पचसंग्रहकारने उठाकर रक्खी हो; परन्तु बिना किसी विशेष प्रमाणके अभी इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा जासकता है तो भी इससे इसमें इतना तो ध्वनित है कि पंचसंग्रहकी रचना कुन्दकुन्दसे पहले या कुछ थोड़े समय बाद ही हुई होगी। हाँ इतना जरूर कहा जासकता है कि ५वीं शताब्दीसे पहले इसकी रचना हुई है, क्योंकि विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) ने अपनी सर्वार्थसिद्धिकी वृत्तिमें आगमसे चक्षुइन्द्रियको अप्राप्यकारी सिद्ध करते हुए पंचसंग्रहकी १६८ नम्बरकी गाथा उधृत की है, जिससे स्पष्ट है कि पंचसंग्रह पूज्यपादसे पहले बना हुआ है। वह गाथा इस प्रकार है:—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूपम् ।
फासं रसंच गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि ॥

इसके सिवाय, श्वेताम्बरीय सम्प्रदायमें 'कर्म प्रकृति' के कर्ता शिवशर्मका समय विक्रमकी ५ वीं शताब्दी माना जाता है, उनका संग्रह किया हुआ एक 'शतक' नामका प्रकरण है उसमें बंधके कथन की प्रधानता होनेसे उसका बंधशतक नाम रूढ़ होगया है। इस प्रन्थमें पंचसंग्रहकी बहुत गाथायें पाई जाती हैं, जिनका विशेष परिचय एक दूसरे ही लेखमें देनेका विचार है अस्तु, यदि शिवशर्मका उक्त समय ठीक है तो कहना होगाकि रचना विक्रम की ५ वीं शताब्दीसे पहले हुई है।

इस सब तुलनात्मक विवेचनपरसे स्पष्ट है कि यह 'पंच संग्रह' उपलब्ध दिगम्बर-श्वेताम्बर कर्म साहित्यमें बहुत प्राचीन है। इसमें डेढ़ हजारके करीब गाथाओंका अच्छा संकलन है। साथमें, अंकसंदृष्टिभी दी है, जिससे गाथाओंमें दीगई बातोंका अच्छी तरहसे स्पष्टीकरण होजाता है, परन्तु इस ग्रन्थके कर्ता कौन हैं—उनका क्या नाम है और उनकी गुरुपरम्परा क्या है? तथा इस ग्रन्थकी रचना कहाँ और कब हुई है? आदि बातें अन्धकारमें होनेसे उनके विषयमें अभी विशेष कुछभी नहीं कहा जासकता है, इसके लिये ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोंकी तलाश होनी चाहिये। दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके ग्रन्थभण्डारोंमें इसके लिये अन्वेषण होने की बड़ी जरूरत है। बहुत संभव है कि उक्त ग्रंथकी पं० आशाधरजी से पहलेकी प्रतियाँ उपलब्ध हो जांय, जिनपर कर्तादि की प्रशस्तिभी साथमें अंकित हो। क्योंकि पं० आशाधरजीने भगवती आराधनापर 'मूलाराधना दर्पण' नामकी जो टीका लिखी है उसके ८ वें आश्वासमें "तथाचोक्तं" वाक्यके साथ इस पंचसंग्रह ग्रन्थकी ६ गाथाएँ उद्धृत की हैं। जो पंचसंग्रह के तीसरे अधिकारमें नं० ६० से ६५ तक ज्यों की त्यों दर्ज हैं अतः अन्वेषण करनेपर इस ग्रन्थकी प्रस्तुत प्रतिसे भी अधिक प्राचीन ऐसी प्रतियोंके मिलनेकी बहुत बड़ी संभावना है। जिनपरसे कर्तादिका परिचय प्राप्त हो सके, और प्रकृत विषयके निर्णय करनेमें विशेष सहायता मिल सके। आशा है विद्वान्‌गण मेरे इस निवेदनपर अवश्य ध्यानदेंगे। और खोज द्वारा ग्रन्थकी और भी प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होनेपर उनका विशेष परिचय प्रकट करनेकी कृपा करेंगे, अथवा मुझे उनकी सूचना देकर अनुगृहीत करेंगे।

वीर सेवा मन्दिर, सरसावा,
ता० १३-१-१९४०

जैन और बौद्ध निर्वाणमें अन्तर

[ले०—श्री० प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम. ए.]
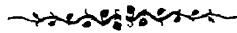
सितम्बर १९३९ के अनेकान्त (२-११) में मैंने 'जैन और बौद्धधर्म एक नहीं' नामक एक लेख लिखा था, जिसमें ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी "जैन और बौद्ध तत्वज्ञान" नामकी पुस्तककी समालोचना करते हुए यह बताया था कि ब्रह्मचारीजीका जैन और बौद्ध धर्मको एक बताना निरा भ्रम है। मेरे लेखके उत्तरमें ब्रह्मचारीजीने ३० नवम्बर १९३९ के जैन मित्रमें कुछ शब्द भी लिखे हैं, जिनमें कहा गया है कि मैं उनकी पुस्तक भूमिका-सहित आद्योपांत पढ़ लेता तो उनसे असहमत न होता। मैं ब्रह्मचारीजीसे कह देना चाहता हूँ कि मैंने उक्त पुस्तक अच्छी तरह आद्योपांत पढ़ ली है, लेकिन फिर भी मैं उनसे सहमत न हो सका। मैं समझता हूँ शायद कोई भी विद्वान् इस बातको माननेके लिये तैयार न होगा कि "जैन और बौद्ध धर्म एक हैं और उनमें कुछ भी अन्तर नहीं है।" अपने पिछले लेखमें मैंने विस्तार पूर्वक बौद्धोंकी आत्मा सम्बन्धी मान्यताका दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि उसकी जैनसिद्धान्तसे ज़रा भी तुलना नहीं की जा सकती। बौद्धग्रन्थोंमें मांसोल्लेख आदिके सम्बन्धमें भी मैंने उक्त लेखमें चर्चा की है। दुःख है कि ब्रह्मचारी जी उन आक्षेपोंका कुछ भी उत्तर न दे सके।

अब ब्रह्मचारीजीकी मान्यता है कि "निर्वाणका स्वरूप जो कुछ बौद्ध ग्रन्थोंमें झलकता है वही जैन शास्त्रोंमें है।" इस लेखमें इसी विषय पर चर्चा की जायगी।

बौद्ध साहित्य बहुत विस्तृत है। कभी कभी तो उसमें एक ही विषयका भिन्न २ रूपसे प्रतिपादन देखने में आता है। ऐसी हालतमें बौद्धवाङ्मयका गहरा अध्ययन किये बिना, ऊपर ऊपरसे दो चार ग्रन्थोंको पढ़कर अपना कोई निर्णय देना यह बड़ी भारी भूल है। निर्वाणके सम्बन्धमें भी बौद्धग्रन्थोंमें विविधतायें देखनेमें आती हैं। यही कारण है कि युरोपियन विद्वानोंमें भी इस विषयमें मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान् निर्वाणको शून्यरूप—अभावरूप—मानते हैं। जिसमें Hardy, Childers, James D' Alwis आदि हैं। दूसरे इसका विरोध करते हैं और कहते हैं कि बौद्धोंका निर्वाण भी ब्राह्मणोंकी तरह शाश्वत और अचल है। इस विभागमें Maxmullar, Stcherbatsky आदि हैं। हम यहां इस वाद-विवादमें गहरे नहीं उतरना चाहते, केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि यदि बौद्धोंका निर्वाण अच्युत और स्थायी है तो उन्हें निर्वाणके लिये बहुत सी उपमायें मिल सकती थीं, उन्होंने दीपककी उपमा ही क्यों पसंद की? "निब्बंति धीरा यथायं पदीपो" (संयुत्त २३५)—प्रदीपके समान धीर निर्वाण पाते हैं (बुझ जाते हैं; "सीतीभूतोऽस्मि निब्बुतो" (विनय १-८) निर्वृत हो जानेसे मैं शीतल हो गया हूँ (ठंडा हो गया हूँ) "पदीपस्स एव निधानं विमोक्खो आहु चेतसो" आदि बौद्ध पाली ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे मालूम होता है कि बौद्ध लोग प्रदीपनिर्वाणकी तरह आत्म निर्वाणको ही

निर्वाण मानते थे। फिर यदि अकलंक आदि जैन आचार्योंने बौद्धोंकी इस मान्यताका खंडन किया है तो उन्होंने कौनसा अन्याय किया है? ब्रह्मचारीजीका जो यह कथन है कि "अकलंक आदि जैन आचार्योंने जैसा बौद्धधर्मका खंडन किया है वैसा बौद्धधर्म मज्झिमनिकाय आदि प्राचीन पाली पुस्तकोंमें नहीं है" वह भूलसे ख़ाली नहीं है। अपने कथनकी पुष्टिमें ब्रह्मचारी जी ने W. Rys Davids के कथनका उल्लेख किया है। लेकिन W. Rys. Davids का अभिप्राय यह बिलकुल नहीं है कि जैन और ब्राह्मण ग्रन्थकारोंने बौद्धधर्मका अनुचित खंडन किया है या उन्होंने बौद्ध धर्मके विषयमें जो कहा है वह भ्रमपूर्ण है। उन्होंने 'सेक्रेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट'में बौद्धोंके कुछ ग्रंथोंका अंग्रेज़ीमें अनुवाद किया है। ये अनुवाद उन्होंने आज से साठ बरस पहले यानी सन् १८८० में किये थे। इन की भूमिकामें W. Rys. Davids ने Gegerly तथा Burnouf आदि युरोपियन विद्वानोंकी समालोचना करते हुये उनकी भूलें बताई हैं। इसी सिलसिलेमें W. Rys. Davids ने बताया है कि जबसे बौद्धोंका पाली साहित्य प्रकाशमें आया है तबसे बौद्ध धर्मके सम्बन्धमें लोगोंको नई बातें मालूम हुई हैं और लोग बौद्ध धर्मको ठीक २ समझने लगे हैं। वह उल्लेख निम्न प्रकारसे है:—

It is not too much to say that the discovery of early Buddhism has placed all previous knowledge of the subject in an entirely new light, and has turned the flank, so to speak of most of the existing literature on Buddhism. I use the term "discovery" advisedly, for though the Pali texts have entirely for many years in public libraries, they are only now beginning to be understood. Buddhims of Pali Pitakas is not only a different thing from Buddhism as hitherto commonly received, but is antagonistic to it."

अर्थात् जबसे बौद्धोंके प्राचीन साहित्यकी खोज हुई है, तबसे बहुत सी बातोंपर नया प्रकाश पड़ा है। यद्यपि पाली साहित्य वर्षोंसे पब्लिक लाइब्रेरियोंमें मौजूद था, लेकिन लोगोंने उसे अभी समझना शुरु किया है इत्यादि।

इससे Rys. Davids का कहना यही है कि लोगोंकी बौद्धधर्मके विषयमें जो मिथ्या धारणायें थीं, वे अब पाली साहित्यके प्रकाशमें आनेके कारण दूर होती जा रही हैं। इससे उनका आक्षेप युरोपियन विद्वानोंपर है। जो बौद्धधर्मको ठीक ठीक न समझकर उसपर टीका टिप्पणी करते हैं। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि अकलंक आदि विद्वानोंने बौद्ध धर्मका ग़लत खण्डन किया है। दुःख है कि ब्रह्मचारीने पूर्वापर संबंधका ध्यान रखकर, केवल उनके एक वाक्यको पढ़कर अपना मत बना लिया है।

यही बात क्षणिकवादके लिये भी कही जा सकती है। जैन और ब्राह्मण ग्रंथकारोंने बौद्धोंके क्षणिक वादमें जो कृत-प्रणाश, अकृत-कर्म-भोग, भवभंग, स्मृतिभंग आदि दोष दिखाये हैं, वे कुछ निर्मूल नहीं है। क्षणिक वाद बौद्ध मानते हैं। एक तरह यों कहिये कि 'क्षणिक वाद' के बिना बौद्ध धर्म टिका नहीं रह सकता। इस लिए ब्रह्मचारीजीका यह लिखना कि 'पाली प्राचीन पुस्तकोंमें सर्व वस्तुओंको नाशवान नहीं कहा" अमसे

लागी नहीं है। बौद्ध ग्रन्थोंमें एक कथा आती है। 'एक बार किसी चोरने एक आदमीके आम चुरा लिये। आमोंका मालिक चोरको पकड़कर राजाके पास लेगया, चोरने राजासे कहा 'महाराज, जो फल इस आदमीने लगाये थे वे दूसरे थे और जो मैंने चुराये हैं वे दूसरे हैं। अतएव मैं दण्डका भागी नहीं हूँ। इसपर राजाने कहा "यदि आमोंका मालिक आम नहीं लगाता तो तू चोरी कैसे कर सकता" इसलिए तू दण्डका भागी अवश्य है।' कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय भी क्षणभग-वाद मौजूद था। इसी लिये तो जैन विद्वानोंने उसमें 'अकृत-कर्म-भोग' नामका दोष दिया है। और वास्तवमें देखा जाय तो यह ठीक ही है। कारण कि क्षणिकवाद ही बौद्धोंकी मजबूत भित्ति है। जिसपर अनात्मवाद और शून्यवाद नामक सिद्धांत रक्खे गये हैं। इस लिए यह मानना पड़ेगा कि क्षणिकवादका सिद्धांत पहला है। हाँ उसे तार्किकरूप भले ही बादमें दिया गया हो, जैसा कि रत्न-कीर्ति, शान्तरक्षित आदि बौद्ध विद्वानोंने अपने 'क्षणभंग सिद्धि' 'तत्त्वसंग्रह' आदि ग्रंथोंमें किया है।

अब ब्रह्मचारीजीकी एक बात रह जाती है। वह यह कि बौद्ध ग्रंथोंमें निर्वाणको 'अजातं' और 'अमतं' (अमृतं) क्यों कहा? ब्रह्मचारीजीको शायद विदेशीय विद्वानों पर बहुत श्रद्धा है। इसलिए हम इसका उत्तर Childers के शब्दोंमें ही देंगे। Childers बौद्ध धर्मके एक बड़े विद्वान् हो गये हैं; उन्होंने बौद्ध धर्मका एक कोश भी लिखा है। Childers का कहना है कि बौद्ध ग्रंथोंमें निर्वाणकी दो अवस्थायें बताई गई हैं—एक अर्हत् अवस्था जो आनन्द स्वरूप है, दूसरी शून्यरूप--अभावरूप अवस्था, जो अर्हत् अवस्थाकी चरम सीमा है (The state of blissful sanctification and अर्हत् ship and the annihilation of existence in which अर्हत् ship ends.) आगे चलकर वे लिखते हैं "अब देखना है कि बौद्धधर्मका उद्देश्य क्या है?" "अर्हत् अवस्थाकी प्राप्ति बौद्धधर्मका अंतिम उद्देश्य नहीं है। क्योंकि अर्हत् अवस्था नित्य अवस्था नहीं है; अर्हत् अमुक समय बाद काल धर्मको प्राप्त होते हैं। इस बातकी पुष्टिमें बौद्धग्रन्थोंमें सैंकड़ों उल्लेख मिलते हैं कि अर्हत् मरणके पश्चात् जीवित नहीं रहते, बल्कि उनका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है"—

But since अर्हत्s die, अर्हत् ship is not an eternal state, & therefore it is not the goal of Buddhims. It is almost superfluous to add that not only is there no trance in the Buddhist scriptures of the अर्हत् continuing to exist after death, but it is deliberately stated in innumerable passages that the अर्हत् does not live again after death, but ceases to exist. उक्त विद्वान्का कथन है कि अर्हत् अवस्था 'सो पादिसेस निब्बाण' अथवा 'किलेस परिनिब्बाण' की अवस्था है, जिसमें सब क्लेशोंका क्षय हो जाता है, और जहाँ केवल पंच स्कंध शेष रहते हैं। इसी अर्हत् अवस्थाको बौद्ध ग्रन्थोंमें 'अजात' 'अमत' 'अनुत्तर' 'अकुतोभय' आदि विशेषण दिये हैं। लेकिन बौद्धोंका निर्वाण अभी इससे और आगे है। उस निर्वाणको बौद्ध ग्रंथोंमें 'अनुपादिसेसनिब्बाण' अथवा 'खंधपरिनिब्बाण' के नामसे कहा गया है। यह वह अवस्था है, जो अर्हत् अवस्थाकी चरम सीमा है। यहाँ समस्त स्कंधोंका--रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और

संस्कारका--क्षय हो जाता है। जैसे दीपका निर्वाण हो जाता है और वह शान्त हो जाता है, वैसे ही अर्हत् भी शान्त हो जाता है। उसका 'नाम रूप' कुछ भी बाक़ी नहीं रहता, उसका 'भाव निरोध' हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसकी उपमा 'शब्द रहित भग्न घंटे' (noiseless broken gong) से दी गई है जैसे घंटा टूट जानेसे निःशब्द हो जाता है, वैसी ही अवस्था निर्वाण प्राप्त करने पर अर्हत्की भी हो जाती है। आगे चलकर Childers ने स्पष्ट लिखा है।

"A great number of expressions are used with reference to निर्वाण which leave no room to doubt that it is the absolute extinction of being, the annihilation of the individual being. ...The Simile of fire is the strongest possible way of expressing annihilation intelligibly to all"

अर्थात् बौद्ध-ग्रन्थोंमें जो निर्वाणके सम्बन्धमें उल्लेख आते हैं, उनसे यह निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि अस्तित्वके पूर्ण विनाशकी अवस्था ही निर्वाण है।...तथा अग्निके बुझनेकी जो निर्वाणमें उपमा दी गई है, वह शून्यत्वके अभावको व्यक्त करनेका सबसे ज़ोरदार तरीक़ा है।

हम यहां यह बता देना चाहते हैं कि हरेक धर्म और दर्शनमें अलग२ विशेषतायें हुआ करती हैं। जैसे वेदान्तकी विशेषता ब्रह्मवाद है, जैनदर्शनकी स्याद्वाद है, वैसे ही बौद्ध धर्मकी विशेषता क्षणिकवाद और शून्यवादमें ही है। जैसे ब्रह्मवाद और स्याद्वादके निकाल देने पर वेदान्त और जैनदर्शनमें कुछ नहीं रह जाता, वैसे ही क्षणभंगवाद और शून्यवादके निकाल देने पर बौद्धधर्ममें कुछ नहीं रहता। इतना ही नहीं, बल्कि क्षणवाद और शून्यवादके सिद्धांत बौद्धदर्शनमें बहुत अच्छी तरह 'फ़िट' होते हैं। हम इन वादोंकी परस्पर तुलना अवश्य कर सकते हैं, लेकिन ब्रह्मवाद, शून्यवाद और जैनियोंका निर्वाण आदि सबको एक नहीं बता सकते। महायान सम्प्रदायने शून्यवादको 'अन्तद्वय-रहित' 'चतुस्कोटिविनिर्मुक्त' 'मध्यम प्रतिपदा' आदि विशेषण देकर उसे ब्रह्मवादके अत्यन्त समीप लानेका प्रयत्न किया, जिसका फल यह हुआ कि कालांतरमें महायान अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही खो बैठा। कारण स्पष्ट है कि जब तक कोई वस्तु अद्भुत अथवा नई होती है, तभी तक लोगोंका ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। ख़ैर!

इसके अलावा यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि इस तरह तो वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंके मोक्ष सिद्धान्तको और जैन दर्शनके मोक्षसिद्धान्तको भी एक मानना चाहिये, क्योंकि ये सब दर्शनकार भी मोक्षको अचल, स्थिर आदि मानते ही हैं।

असलमें बात तो यह है कि ब्रह्मचारी जी अपना मत बनानेमें जल्दी बहुत करते हैं। जहाँ उनको कोई बात दिखाई दी, वे झट, उस पर अपना निर्णय दे डालते हैं, उसपर अधिक विचार नहीं करते। जब ब्रह्मचारी जी 'जैन-बौद्ध-तत्वज्ञान' जैसी महत्व पूर्ण पुस्तक लिखने बैठे, तब उन्हें बौद्ध शास्त्रोंका काफ़ी समय तक अभ्यास अवश्य करना चाहिये था। उनको, बौद्ध शास्त्रोंमें आत्मा, मोक्ष आदिके सम्बन्धमें जो अनेक प्रकारके भिन्न भिन्न उल्लेख आते हैं, उन सबको एकत्रित कर उनपर विचार जरूर करना चाहिये था। बादमें जैनधर्मसे मिलान करनेकी जिम्मेवरीका काम अपने सिर पर उठाना उचित था। अन्तमें हम यह भी बतादेना चाहते हैं कि इस विषयकी चर्चा करनेमें हमारा ज़रा भी अन्यथा भाव नहीं है। बल्कि ब्रह्मचारीजीके प्रति हमारा बहुत आदरका भाव है। हम यही चाहते हैं कि ब्रह्मचारी जी अपने आग्रहको छोड़ दें। 'जैन और बौद्ध धर्म एक नहीं हैं—कमसे कम आत्मा और निर्वाण सम्बन्धी मान्यताएं तो उनकी बहुत ही भिन्न हैं।' यदि ब्रह्मचारीजी इस बातको मान जाएँ तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।
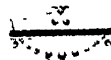
एक महान् साहित्य-सेवीका वियोग

[सम्पादकीय]

यों तो संसारमें बराबर संयोग-वियोग चला करता है। हजारों मनुष्य प्रतिदिन जन्म लेते हैं और हजारों ही मरणको प्राप्त हो जाते हैं। जो जन्मा है उसको एक दिन मरना जरूर है, ऐसा अटल नियम होते हुए किसीका भी वियोग कोई आश्चर्यकी वस्तु नहीं और न वह प्राज्ञोंके दृष्टि-कोणानुसार दुःख-शोकका विषय ही होना चाहिये, फिर भी जिनका सारा जीवन सेवामय व्यतीत होता हो और जो खासकर साहित्य-सेवाके द्वारा निरन्तर ही स्थिर लोकसेवा किया करते हों उनका अचानक वियोग साहित्य प्रेमियों, साहित्य सेवियों, साहित्यमें उपकृत होनेवालों एवं साहित्य संसार-को बहुत ही अखरता है, और इसलिये सभी उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करके अपनी कृतज्ञता व्यक्त किया करते हैं। ऐसा ही एक कर्तव्य आज मेरे सामने भी उपस्थित है जिसका पालन करता हुआ मैं 'अनेकान्त' के पाठकोंको एक ऐसे महान साहित्य-सेवीका कुछ परिचय कराना चाहता हूँ जिनका हालमें ही १ली दिसम्बर सन् १९३६ को ७० वर्षकी अवस्थामें सेवा करते करते पाटन शहरमें देहावसान हुआ है।

साहित्यसेवी दो प्रकारके होते हैं,—एक वे जो लोकोपयोगी नूतन पुष्ट साहित्यका सृजन (निर्माण) करते हैं और दूसरे वे जो ऐसे पुरातन साहित्यका संशोधन, संरक्षण, सम्पादन और प्रकाशन किया करते हैं। जिन महानुभावका यहाँ परिचय कराना है वे प्रायः दूसरी कोटिके साहित्य-सेवियोंमेंसे थे और उनका शुभ नाम है मुनिश्री 'चतुरविजय' जी

आपका जन्म प्राग्वाट (बीसा पोरवाड) जातिमें बड़ोदाके पासके छाणी गाँवमें चैत्र शुक्ला प्रतिपदा विक्रम संवत् १९२६ के दिन हुआ था। आपका गृहस्थ जीवनका नाम चुनीलाल था, माताका नाम जमनाबाई और पिताका नाम मलुकचन्द था। और भी आपके तीन भाई तथा तीन बहिनें थीं। करीब २० वर्षकी अवस्थामें ज्येष्ठशुक्ला दशमी वि० सं० १९४६ को आपने श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के साक्षात् शिष्यप्रवर्त्तक मुनि श्रीकान्तिविजयजीके पास बड़ौदा रियासतके डभोई नगरमें दीक्षा ग्रहणकी थी, और उसी समय आपका नाम 'चतुरविजय' रक्खा गया था।

दीक्षासे पूर्व आपकी शिक्षा गुजरातीकी प्रायः ७ वीं कक्षा तक ही हुई थी और उस समय आप पुरानी रीतिके हिसाब किताबमें भी निपुण थे। शेष सब शिक्षा आपकी दीक्षाके बाद हुई है, जिसका प्रधान श्रेय उक्त प्रवर्त्तकजी को है, जो आज भी अपनी वृद्धावस्थामें मौजूद हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओंका तथा काव्य, छंद, अलंकारादि-विषयक कितने ही शास्त्रोंका अभ्यास किया था। न्यायका भी थोड़ासा अभ्यास किया था. आगमिक एवं शास्त्रीय विषयोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्रकरण ग्रन्थोंका अध्ययन करके, आपने उन्हें कण्ठस्थ कर लिया था और प्रायः सभी मुख्य मुख्य आगम ग्रंथोंको देख डाला था, इससे आगमिकादि विषयोंमें

आपका प्रवेश अति गम्भीररूप धारण कर गया था।

न्यायशास्त्रादि-विषयक अभ्यास कम होनेपर भी, रात दिन सतत स्वाध्याय-परायण होनेसे, प्रायः प्रत्येक विषयमें आपका अच्छा अनुभव होगया था। सामान्यतया किसीको ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि आपका इन विषयोंमें कम अभ्यास है।

जहाँ कहीं भी आप रहते थे आपका दिन-रात विद्या-व्यासंग चलता था। आपके स्वभावमें नम्रता, कार्यमें सतर्कता, परिणतिमें सत्यग्राहिता और व्यवहारमें शुद्धता थी। साथ ही, आपके हृदयमें सदैव जिज्ञासावृत्ति और शास्त्रोद्धारकी उत्कट भावना बनी रहती थी। सबके साथ आपका प्रेमका बर्ताव था और आप दूसरे साहित्यसेवियोंको यथाशक्य अपना वाँछित सहयोग प्रदान करनेमें कभी आना-कानी नहीं करते थे। इन्हीं सब गुणोंके कारण मुनिजिनविजय और पं० सुखलालजी जैसे प्रकाण्ड विद्वान आपके प्रभावसे प्रभावित थे। पं० सुखलालजीने हालमें जो आपके कुछ संस्मरण 'प्रबुद्धजैन' नामके गुजराती पत्रमें प्रकट किये हैं उनमें इस बातको स्वीकार किया है और स्पष्ट लिखा है कि—"आपकी नम्रता, जिज्ञासा और 'निरालसताने मुझे बाँध लिया''इस सत्य-ग्राही प्रकृतिने मुझे विशेष वश किया।'''पुस्तकोंका संशोधन और सम्पादन कार्य करनेमें मुझे जो अनेक प्रेरक बल प्राप्त हुए हैं उनमें स्वर्गवासी मुनि श्रीचतुरविजयजीका स्थान खास महत्व रखता है, इस दृष्टिसे मैं उनका हमेशा कृतज्ञ रहा हूँ।"

आजसे कोई २०-२५ वर्ष पहले आप मुद्रित ग्रंथोंकी प्रस्तावना संस्कृत भाषामें ही लिखा करते थे। एकबार पं० सुखलालजीने उसकी अनुपयोगिता व्यक्त करते हुए कड़ी आलोचना की, जिसे आप, कोई खास विरोध न करते हुए, पी गये और उसके बादसे ही आपने संस्कृतमें प्रस्तावना लिखनेकी प्रथाको प्रायः बदल डाला, जिसके फलस्वरूप उनके तथा उनके शिष्यके प्रकाशनोंमें आज अनेक महत्वकी ऐतिहासिक वस्तुएँ गुजराती भाषा-द्वारा जाननी सुगम होगई हैं, ऐसा पं० सुखलालजी अपने उक्त संस्मरणात्मक लेखमें सूचित करते हैं। और यह स्व० मुनिजीकी सत्याग्राही परिणतिका एक नमूना है, जिसने पं० सुखलालजीको विशेष प्रभावित किया था। अस्तु।

सद्गत मुनि श्रीचतुरविजयजीके जीवनका प्रधान लक्ष प्राचीन साहित्यकी सेवा था, जिसके लिये आप दीक्षासे लेकर अन्त समय तक—कोई ५१ वर्ष पर्यंत—बड़ी ही तत्परता और सफलताके साथ बराबर कार्य करते रहे हैं। आप जहां कहीं भी जाते थे पहले वहांके शास्त्र भंडारोंकी जांच पड़ताल करते थे, जो भंडार अव्यवस्थित हालतमें होते थे उनकी सुव्यवस्था कराते थे, ग्रन्थोंकी लिस्ट सूची तैयार करते थे, ग्रन्थोंको टिकाऊ कागजके कवरमें लिपटवाते, गत्तोंके भीतर रखाते और अच्छे वेष्टनोंमें बंधवाते थे, उन पर लिस्टके अनुसार नम्बर डालते थे और उन्हे सुरक्षित अलमारियों, पेटियों अथवा बोक्सोंमें क्रमशः विराजमान करते थे। जो ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें होते थे अथवा अलभ्य और दुष्प्राप्य जान पड़ते थे उनकी सुन्दर नई कापियाँ स्वयं करते और कराते थे! दूसरेकी की हुई कापियोंका संशोधन करते थे, इस तरह आपके द्वारा तथा आपकी प्रेरणाको पाकर

छोटे-बड़े सैंकड़ों शास्त्र भण्डारोंका उद्धार हुआ है और वे जनताके लिये उपयोगी तथा विद्वानों-के लिये सरलतासे काम आने योग्य बने हैं। पाटन, बड़ौदा और लिम्बड़ी आदिके जो बड़े बड़े ज्ञान भण्डार आज सुव्यवस्थित अवस्थामें पाये जाते हैं, उनकी सुव्यवस्थित सूचियाँ बनकर प्रकाशित हुई हैं और जगत उनसे जो आज भारी लाभ उठा रहा है वह सब आपके और आपके गुरुदेव प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी महाराजके परिश्रमका ही फल है --इस कार्यमें सबसे अधिक हाथ आपका ही रहा है।

आपने सैंकड़ों ग्रन्थोंकी प्रतियाँ अपने हाथसे लिखी हैं और दूसरोंकी लिखी हुई प्रतियोंका संशोधन किया है। संशोधन कार्यमें आप खूब दक्ष थे, आपको प्राचीन लिपियोंकी ठीक वाचनकला आती थी। और इसी तरह प्रति लेखन-कलामें भी आप निपुण थे। आपकी हस्तलिपि बड़ी ही सुन्दर एवं दिव्य रूपा थी, आपने बहुतसे लेखकोंको अपने हाथतले रखकर उन्हें लेखन-कला सिखलाई है, कई अच्छे मर्मज्ञ लेखक तैयार किये हैं और उनसे हजारों ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ कराई हैं। अपने लिखे हुए और अपने हाथके नीचे दूसरोंसे लिखाये हुए तथा अपने द्वारा संशोधित हुए ग्रन्थोंका एक बहुत बड़ा समूह आपने पं० श्रीकान्तिविजयजीके नाम पर स्थापित बड़ौदा और छाणीके ज्ञान भण्डारोंमें स्थापित किया है। बड़ौदाका भंडार इतना अधिक पूर्ण और उपयोगी संग्रह लिये हुए है कि पं० सुखलालजीने उसे 'चाहे जिस विद्वानका मस्तक नमानेके लिये काफ़ी' लिखा है।

आपके शिष्योत्तम मुनि श्री पुण्यविजयजीने 'भारतीय जैनश्रमण संस्कृति अने लेखनकला' नाम की जो महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है वह सब आपके ही लेखनकला-विषयक अनुभवोंका फल है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजी अपने पत्रमें सूचित करते हैं। इस परसे उक्त पुस्तकका परिचय करने वाले विद्वान् इस बातका सहजमें ही अनुभव कर सकते हैं कि श्री चतुरविजयजीको लेखनकला और लिपियोंके विकासादि विषयक कितना विशाल तथा गम्भीर परिज्ञान था। और यह सब उन्हें उनके हजारों हस्तलिखित ग्रन्थोंके अवलोकन और मनन परसे ही प्राप्त हुआ था।

समाजमें मुद्रण कलाके प्रचारका प्रारम्भ होने पर आपने ग्रंथोंके प्रकाशनकी ओर खास ध्यान दिया था और यह काम आपका साहित्य-सेवा की ओर दूसरा महान क़दम था। इसके फल स्वरूप ही आत्मानन्द जैन सभा भावनगरकी ओरसे 'आत्मानन्द जैनग्रन्थरत्नमाला' का निकलना प्रारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमालाके आप मुख्य प्राण ही नहीं किन्तु सर्वस्व थे। ग्रन्थमालामें अब तक ८८ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमेंसे बृहत्कल्प सूत्रादि कितने ही ग्रन्थ बड़े महत्वके हैं। इन ग्रंथों में से अधिकांशका सम्पादन आपके द्वारा तथा आपके प्रभावसे हुआ है। आप क़रीब २९ वर्ष तक ग्रन्थमालाका सतत कार्य करते रहे हैं! इस समय कई ग्रन्थोंकी प्रेस कापियां छपानेके लिये तैयार मौजूद हैं, बृहत्कल्पके (जिसके पांच खंड निकल चुके हैं) पूरा छप जानेके बाद आपका विचार 'निशीथसूत्र' तैयार करनेका था और फिर कथारत्नकोश तथा मलयगिरि-व्याकरण आदि दूसरे भी अनेक ग्रन्थोंको हाथमें लेनेका विचार

था, ऐसा मुनिपुण्यविजयजी सूचित करते हैं।

'प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी ऐतिहासिक ग्रन्थ माला' भी आपके ही प्रभावमें चलती थी जिसमें मुनि श्री जिनविजयजीके द्वारा सम्पादित होकर विज्ञप्तित्रिवेणी, कृपारसकोश, प्राचीन जैनलेख-संग्रह आदि कितने ही महत्वके ऐतिहासिक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

गायकवाड ओरियंटल सिरीजमें प्रकाशित 'मोह पराजय' का सम्पादन भी आपका ही किया हुआ है। और भी कई ग्रन्थमालाओंमें आपने ग्रन्थ सम्पादनका कार्य किया है। श्राद्धगुण विवरणका गुजराती अनुवाद भी आप कर गये हैं। अनेक विद्वानोंको साहित्य सेवाके कार्योंमें आप अच्छी सहायता दिया करते थे। आपके ही द्वारा देश-विदेशके अनेक विद्वानोंको पाटनके भंडारोंके दर्शन और अनेक अलभ्य ग्रंथोंका मिलना सुलभ हुआ है। आपके गुरु श्रीकान्तिविजयजीके उपदेश से निर्मित हुए 'हेमचन्द्राचार्य-जैनज्ञानमन्दिर' का जो उद्घाटनोत्सव पाटनमें गत अप्रैल मासमें हुआ था और जिसका परिचय अनेकान्तकी पिछली ७वीं किरणमें दिया जा चुका है उसमें भी आपका प्रधान हाथ रहा है।

इस तरह मुनि श्रीचतुरविजयजीने अपनी ५१ वर्षकी लम्बी प्रव्रज्या-पर्यायमें ग्रन्थोंके संशोधन, संरक्षण, सम्पादन और प्रकाशनादिके द्वारा प्राचीन साहित्यके उद्धाररूपमें बहुत बड़ी साहित्य सेवा की है। शरीरके निर्बल हो जानेपर भी आपने अपना यह सेवाकार्य नहीं छोड़ा, आप युवकों जैसा उत्साह रखते थे और इसलिये जीवन के प्रायः अन्त समय तक—अन्तिम एक सप्ताहको छोड़कर आप अपने उक्त कर्तव्यका पालन करते हुए और साथ ही संयमी जीवनका निर्वाह करते हुए परलोकवासी हुए हैं।

इस सब सेवाकार्यके अतिरिक्त और भी जो बड़ा कार्य आपने अपने जीवनमें किया है वह अपने शिष्य मुनिपुण्यविजयजी को अपने ही समान बना जाना। मुनि पुण्यविजयजी १३ वर्षकी अवस्थामें आपके श्रीचरणोंमें आकर दीक्षित हुए थे। और आज उन्हें करीब ३१ वर्ष आपके सत्संग एवं अनुभवोंसे लाभ उठाते और आपके साथ काम करते होगये हैं। आपने पुत्रकी तरह उनके पालन तथा शिक्षणादिका बड़ा ही सत्प्रयत्न किया है, और यह सब उसीका सत्फल है जो आज उनमें आपके प्रायः सभी गुण मूर्तिमान तथा विकसित नज़र आते हैं और वे आपके सच्चे उत्तराधिकारी हैं। अभिमान उन्हें छूकर नहीं गया, वही सेवाभावकी स्पिरिट उनके रोम रोममें बसी हुई है और वे दूसरे साहित्यसेवियों को उनके कार्यमें सहयोग प्रदान करना अपना बड़ा कर्तव्य समझते हैं। मुझे समय समय पर आपसे अनेक ग्रन्थोंकी सहायता प्राप्त होती रही है। अभी 'जैन लक्षणावली' के लिये कुछ ग्रन्थ कीमतसे भी कहींसे नहीं मिल रहे थे, आपने उन्हें भावनगर तथा बड़ौदासे भिजवाया और लिखा कि जब तक आपका कार्य पूरा न हो जाय तब तक आप उन्हें खुशीसे रख सकते हैं। इस उदार व्यवहारके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ। ऐसे सत्पात्रको अपने उत्तराधिकारमें देकर स्व० मुनि श्रीचतुरविजयजीने बड़ी ही चतुराईका काम किया है और अपने सेवा कार्योंके भव्य भवन पर सुवर्णकलश चढ़ा दिया है। और इसलिये आपके अवसानसे साहित्य-संसारको जहां बहुत बड़ी क्षति पहुची है वहाँ आपकी इस प्रतिमूर्तिपूजाको देखकर सन्तोष होता है और भविष्यके लिये बहुत कुछ आशा बंधती है।

इस सत्प्रवृत्तिमय जीवनसे दिगम्बर जैन-समाजके मुनिजन एवं दूसरे त्यागीजन यदि कुछ शिक्षा ग्रहण करें और दि० जैन साहित्यके उद्धार का बीड़ा उठावें और उसे अपने जीवनका प्रधान लक्ष्य बनावें, तो कितना अच्छा हो?

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० २०-१-१९४०

—❀—

वीर-सेवा-मन्दिरको सहायता

हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको २०) रु० की सहायता निम्न सज्जनोंकी ओरसे प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार-महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

१) पं० बन्शीधर जी जैन व्याकरणाचार्य बीना जि० सागर

५) ला० बन्शीधर सुमेरचन्द जी जैन, बैलनगंज, आगरा (चि० प्रतापचन्दके विवाहकी खुशीमें)

५) दिगम्बर जैन समाज, पानीपत (दशलक्षण पर्व पर दानमें निकाली हुई रक़ममेंसे)

५) बा० मुख्तारसिंहजी जैन बी. ए. सी. टी. असिस्टेंट मास्टर गवर्नमेंट हाई स्कूल, मुजफ्फर-नगर (माताजीके स्वर्गवासके उपलक्षमें निकाले हुए दानमें से) ।

———

२०

अधिष्ठाता वीर-सेवा-मन्दिर
सरसावा जि० सहारनपुर

Regd. No. L. 4328

अन्धोंकी बस्ती — [—"माहिर" अकबराबादी]

यह दुनिया भी इलाही किस क़दर नादान दुनिया है।
यहाँ हर चीज़ पर बातिल का इक नापाक परदा है॥

यहाँ हर वक्त जुल्मोजोरका इक शग्ल जारी है।
यहाँ खुश रहके भी इन्सान वक्फ़े आहोज़ारी है॥

यहाँ नादार को नादार कहना इक क़यामत है।
यहाँ क़ल्लाशको ज़रदार कह देना मुरव्वत है॥

यहाँ जुहदो तक़द्दुसको समझते हैं रियाकारी।
यहाँ दींदारियोंका नाम है ऐने गुनहगारी॥

यहाँ हर झूठको सच और सचको झूठ कहते हैं।
यहाँ इन्सानियतके भेसमें शैतान रहते हैं॥

यहाँ मुल्लाए मस्जिद ही है ठेकेदार जन्नतका।
यहाँ इसके सिवा हासिल किसे है हक़ इबादत का॥

यहाँ दिलदारियोंका रूप भरती है जफ़ाकारी।
वही है यारे सादिक़ जिसको आए कारे ऐय्यारी॥

वही है दोस्त जो साथी हो शग्ले ऐशो इशरत में।
जो नेकीकी तरफ़ ले जाए दुश्मन है हक़ीक़त में॥

यहाँ हँसनेको सब हँसते हैं बेकारोंकी क़िस्मत पर।
मगर रोना नहीं आता है बेचारोंकी क़िस्मत पर॥

यहाँ की रीतको देखा यहाँकी प्रीतको समझा।
खुदाको भूल जाए जो वही है आक़िले दाना॥

चल इस बस्ती से ऐ'माहिर' यह इक अन्धोंकी बस्ती है।
यहाँ हर गुलको बढ़ बढ़ कर ज़बाने खार डसती है॥
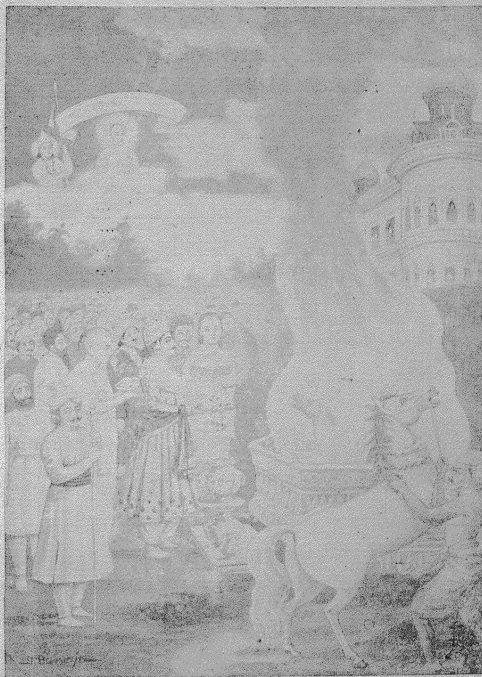
वीर प्रेस ऑफ इण्डिया कनॉट सर्कस, न्यू देहली

❁ विषय-सूची ❁

		पृष्ठ
१. विद्यानन्द-स्मरण	...	२६६
२. श्री शुभचन्द्राचार्यका समय और ज्ञानार्णवकी एक प्राचीन प्रति [श्री० पं० नाथूराम प्रेमी	...	२७०
३. शिकारी (कहानी)—[श्री० भगवत् जैन	...	२७७
४. अनुरोध (कविता)—[श्री० भगवत् जैन	...	२८०
५. आत्मिक क्रान्ति —[श्री० बा० ज्योतिप्रसाद विशारद	...	२८१
६. सम्बोधन (कविता)—[श्री० ब्र० प्रेमचन्द	...	२८३
७. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और जैन दर्शन—[श्री० पं० सुमेरचन्दजी	...	२८४
८. जीवन-साध (कविता) —[प० भवानीदत्त शर्मा 'प्रशान्त'	...	२८५
९. हरिभद्रसूरि—[श्री० पं० रतनलाल संघवी	...	२८६
१० वीर शासनांक पर सम्मतियाँ	...	२९२-२९६
११ जैनसमाजके लिये अनुकरणीय आदर्श—[श्री० अगरचन्द नाहटा	...	२९३
१२ गोम्मटसार एक संग्रह ग्रन्थ है—[प० परमानन्द जैन शास्त्री	...	२९७
१३ मानवधर्म (कविता)—[श्री० 'युगवीर'	...	३०३
१४ तत्वार्थाधिगम भाष्य और अकलंक—[प्रो० जगदीशचन्द्र एम.ए.	....	३०४
१५ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक पर सम्पादकीय विचारणा	...	३०७
१६ साहित्य परिचय और समालोचन—[सम्पादकीय	...	३१२
१७ सामायिक विचार—[श्रीमद्राजचन्द्र	...	टाईटिल
१८ सुभाषित—[कविवर बनारसीदासजी	...	,,

अनेकान्तकी फाइल

अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी किरणोंकी कुछ फाइलोंको साधारण जिल्द बंधवाली गई हैं। १२वीं किरण कम हो जानेके कारण फाइलें थोड़ी ही बन्ध सकी हैं। अतः जो बन्धु पुस्तकालय या मन्दिरोंमें भेंट करना चाहें या अपने पास रखना चाहें वे २॥) रु० मनीआर्डरसे भिजवा देंगे तो उन्हें सजिल्द अनेकान्तकी फाइल भिजवाई जा सकेगी।

जो सज्जन अनेकान्तके ग्राहक हैं और कोई किरण गुम हो जानेके कारण जिल्द बन्धवानेमें असमर्थ है उन्हें १२वीं किरण छोड़कर प्रत्येक किरणके लिये चार आना और विशेषांकके लिये आठ आना भिजवाना चाहिए तभी आदेशका पालन हो सकेगा।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
माघ-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६ | किरण ४

विद्यानन्द-स्मरण

अलंचकार यस्सार्वमाप्तमीमांसितं मतम् । स्वामिविद्यादिनन्दाय नमस्तस्मै महात्मने ॥
यः प्रमाणाप्तपत्राणां परीक्षाः कृतवान्मुमः । विद्यानन्दमिनं तं च विद्यानन्दमहोदयम् ॥
वद्या ानन्दस्वामी· विरचितवान् श्लोकवार्तिकालंकारम् ।
जयति कवि-विबुध-तार्किकचूडामणिरमलगुणनिलयः ॥—शिमोगा-नगरताल्लुकशिलालेख नं० ४६

जिन्होंने सर्वहितकारी आप्तमीमांसित-मतको अलंकृत किया है—स्वामी समन्तभद्रके परमकल्याणरूप आप्तमीमांसा ग्रन्थको अपनी अष्टसहस्री टीकाके द्वारा सुशोभित किया है—उन महान् आत्मा स्वामी विद्यानन्दको नमस्कार है ।

जो प्रमाणों, आप्तों तथा पत्रोंकी परीक्षाएँ करनेवाले हुए हैं—जिन्होंने प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा और पत्रपरीक्षा जैसे महत्वके ग्रन्थ लिखे हैं—उन विद्या तथा आनन्दके महान् उदयको लिये हुए अथवा (प्रकारान्तरसे) 'विद्यानन्द-महोदय' ग्रंथके रचयिता स्वामी विद्यानन्दकी हम स्तुति करते हैं—उनकी विद्याका यशोगान करते हैं।

जिन्होंने 'श्लोकवार्तिकालंकार' नामका ग्रंथ रचा है वे कवियोंके चूडामणि, विबुधजनोंके मुकुटमणि और तार्किकोंमें प्रधान तथा निर्मल गुणोंके आश्रयस्थान श्रीविद्यानन्दस्वामी जयवन्त हैं—सदा ही अपने पाठकों वक्तृजनोंके हृदयमें अपने अगाध पाण्डित्यका सिक्का जमानेवाले हैं ।

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः ।
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति ॥ —पार्श्वनाथचरिते वादिराजसूरिः

श्रीविद्यानन्दाचार्यके ऋजुसूत्ररूप तथा देदीप्यमानरत्नरूप अलंकारको जो सुनते भी हैं उनके भी अंगोंमें दीप्ति दौड़ जाती है, यह आश्चर्यकी बात है ! अर्थात् अलंकारों-आभूषणोंको जो मनुष्य धारण करता है उसीके अंगोंमें दीप्ति दौड़ा करती है—सुननेवालोंके अंगोंमें नहीं, परन्तु श्रीविद्यानन्दस्वामीके सत्यसूत्रमय और स्फुरद्रत्नरूप आप्तमीमांसाऽलंकार (अष्टसहस्री) और श्लोकवार्तिकालंकार (तत्त्वार्थटीका) ऐसे अद्भुत अलंकार हैं कि उनके सुननेसे भी अंगोंमें दीप्ति दौड़ जाती है—सुननेवालोंके अंगोंमें विद्युत्तेजका-सा कुछ ऐसा संचार होने लगता है कि एकदम प्रसन्नता जाग उठती है ।

श्रीशुभचन्द्राचार्यका समय

और

ज्ञानार्णवकी एक प्राचीन प्रति

[ले०—पं० श्रीनाथूरामजी प्रेमी, बम्बई]

पाटण (गुजरात)के खेतरवसी नामक श्वेताम्बर जैन भंडारमें (नं० ११) श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णवकी वैशाख सुदी १० शुक्रवार संवत् १२८४ की लिखी हुई एक प्राचीन प्रति है, जिसमें १५×२ साइजके २०७ पत्र हैं। उसके अन्तमें जो लेखकोंकी प्रशस्तियाँ हैं वे अनेक दृष्टियोंसे बड़े महत्वकी हैं, इस लिए उन्हें यहाँ प्रकाशित किया जाता है—

"इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पंडिताचार्य-श्रीशुभचन्द्रविरचिते मोक्षप्रकरणम्।

अस्यां श्रीमन्नृपुर्यां श्रीमदर्हद्देवचरणकमल-चंचरीकः सुजनजनहृदयपरमानन्दकन्दलीकन्दः श्रीमाथुरान्वयसमुद्रचन्द्रायमानो भव्यात्मा परम-श्रावकः श्रीनेमिचन्द्रो नामाभूत्। तस्याखिल-विज्ञा-नकलाकौशल-शालिनी सती पतिव्रतादिगुणगुणा-लंकार भूषित शरीरा निजमनोवृत्तिरिवाव्यभिचा-रिणी स्वर्णानाम धर्मपत्नी संजाता। अथ तयोः समासादितधर्मार्थकामफलयोः स्वकुलकुमुदवन-चन्द्रलेखा निजवंश-वैजयन्ती सर्वलक्षणालंकृतश-रीरा जाहिणि-नाम-पुत्रिका समुत्पन्ना ।छ।

तती गोकर्ण-श्रीचंद्रौ सुतौ जातौ मनोरमौ।
गुणरत्नाकरौ भव्यौ रामलक्ष्मणसन्निभौ ॥
सा पुत्री नेमिचन्द्रस्य जिनशासनवत्सला।
विवेकविनयोपेता सम्यग्दर्शनलांछिता ॥
ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं फल्गुतां च नृजन्मनः
तपसे निरगाद्गेहात् शान्तचित्ता सुसंयता ॥
बान्धवैर्वार्यमाणापि प्रण(य)तैः शास्त्रलोचनैः।
मनागपि मनो यस्या न प्रेम्णा कश्मलीकृतं।
गृहीतं मुनिपादांते तया संयतिकाव्रतं।
स्वीकृतं च मनः शुद्धया रत्नत्रयमखंडितं ॥
तया विरक्तयात्यंतं नवे वयसि यौवने।
आरब्धं तत्तपः कर्त्तुं यत्सतां साध्विति स्तुतं ॥
यमव्रततपोद्योगैः स्वाध्यायध्यानसंयमैः।
कायक्लेशाद्यनुष्ठानैर्गृहीतं जन्मनः फलम् ॥
तपोभिर्दुष्करैर्नित्यं बाह्यान्तर्भेदलक्षणैः।
कषायरिपुभिः सार्धं निःशेषं शोषितं वपुः ॥
विनयाचार सम्पत्त्या संघः सर्वोप्युपासितः।
वैयावृत्योद्यमात्शश्वत्कीर्तिर्नीता दिगंतरे ॥
किमियं भारती देवी किमियं शासनदेवता।
दृष्टपूर्वैरपि प्रायः पौरैरिति वितर्क्यते ॥
तया कर्मक्षयस्यार्थं ध्यानाध्ययनशालिने।
तपः श्रुतनिधानाय तत्वज्ञाय महात्मने ॥
रागादिरिपुमल्लाय शुभचन्द्राय योगिने।
लिखाप्य पुस्तकं दत्तमिदं ज्ञानार्णवाभिधम् ॥

संवत् १२८४ वर्षे वैशाष सुदि १० शुक्रे गो-मंडले दिगम्बरराजकुल-सहस्रकीर्ति (तें)स्यार्थे पं० केशरिसुतवीसलेन लिखितमिति।"

भावार्थ—इस नृपुरी में अरहंत भगवान्के चरण-कमलोंका भ्रमर, सज्जनोंके हृदयको परमानन्द देनेवाला माथुरसंघरूप समुद्रको उल्लसित करनेवाला भव्यात्मा श्रीनेमिचन्द्र नामका परम श्रावक हुआ, जिसकी धर्मपत्नीका नाम स्वर्णा (सोना) था जो कि अखिल विज्ञानकलाओंमें कुशल, सती, पातिव्रत्यादि-गुणोंसे भूषित और अपनी मनोवृत्तिके ही समान अव्यभिचारिणी थी। धर्म-अर्थ और कामको सेवन करनेवाले इन दोनोंके जाहिणी नामकी पुत्री हुई, जो अपने कुलरूप कुमुदवनकी चन्द्रलेखा, निजवंशकी वैजयन्ती (ध्वजा) और सर्वलक्षणोंसे शोभित थी।

इसके बाद उनके राम और लक्ष्मणके समान गोकर्ण और श्रीचन्द्र नामके दो सुन्दर, गुणी और भव्य पुत्र उत्पन्न हुए।

और फिर नेमिचन्द्रकी वह जिनशासन वत्सला, विवेक-विनयशीला और सम्यग्दर्शनवती पुत्री (जाहिणी) संसारकी विचित्रता तथा नरजन्मकी निष्फलताको जानकर तपके लिए घरसे चल दी। वह शान्तचित्त और अतिशय संयत थी। शास्त्रज्ञ बन्धुजनोंके प्रयत्न पूर्वक रोकनेपर भी उसके मनको प्रेम या मोहने ज़रा भी मैला न होने दिया।

आखिर उसने मुनियोंके चरणोंके निकट आर्यिकाके व्रत ले लिये और मनकी शुद्धिसे अखंडित रत्नत्रयको स्वीकार किया।

उस विरक्ताने नवयौवनकी उम्रमें ऐसा कठिन तप करना आरम्भ किया कि सज्जनोंने उसकी 'साधु साधु' कहकर स्तुति की।

उसने यम, व्रत और तपके उद्योगसे, स्वाध्याय ध्यान और संयमसे तथा कायक्लेशादि अनुष्ठानोंसे अपने जन्मको सफल किया।

उसने निरन्तर बाह्य और अन्तरंग दुष्कर तप तपकर कषायरिपुओंके साथ साथ अपने सारे शरीरको भी सुखा डाला।

उसने विनयाचार-सम्पत्तिसे सारे संघकी उपासना की और वैयावृत्ति करके अपनी कीर्तिको दिगन्तरोंतक पहुँचा दिया।

जिन पौरजनोंने उसे पहले देखा था वे भी इस तरहका वितर्क करने लगे कि न जाने यह साक्षात् भारती (सरस्वती) देवी है या शासनदेवता है।

उस जाहिणी आर्यिकाने कर्मोंके क्षयके लिए यह ज्ञानार्णव नामकी पुस्तक ध्यान और अध्ययनशाली, तप और शास्त्रके निधान, तत्त्वोंके ज्ञाता और रागादिरिपुओंको पराजित करनेवाले मल्ल जैसे शुभचन्द्र योगीको लिखाकर दी।

वैशाख सुदी १० शुक्रवार वि० सं० १२८४ को गोमंडल (गोंडल-काठियावाड़) में दिगम्बर राजकुल (भट्टारक ?) सहस्रकीर्तिके लिए पं० केशरीके पुत्र वीसलने लिखी।

विवेचन—ऐसा मालूम होता है कि इस पुस्तकमें लिपि-कर्त्ताओंकी दो प्रशस्तियाँ हैं। पहली प्रशस्तिमें तो लिपिकर्त्ताका नाम और लिपि करनेका समय नहीं दिया है, सिर्फ लिपि करानेवाली जाहिणीका परिचय दिया है।

हमारी समझमें आर्यिका जाहिणीने जिस लेखकसे उक्त प्रति लिखाई होगी, उसका नाम और समय भी अन्तमें अवश्य दिया होगा; परन्तु दूसरे लेखकने उक्त पहली प्रतिका वह अंश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया होगा और अपना नाम और समय अन्तमें लिख दिया होगा। इस दूसरी प्रतिके लेखक पं० केशरीके पुत्र वीसल हैं और उन्होंने गोंडलमें श्रीसहस्रकीर्तिके लिए

इसे लिखा था जब कि पहली प्रति नृपुरीमें श्रीशुभचन्द्र योगीके लिए लिखाकर दी गई थी।

दूसरी प्रति वि० सं० १२८४ की लिखी हुई है, तब पहली प्रति अवश्य ही उससे पचीस-तीस वर्ष पहले लिखी गई होगी। नृपुरी स्थान कहाँ है, ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। संभव है यह ग्वालियर राज्यका नरवर हो। नरपुर और नृपुर (स्त्रीलिंग नृपुरी) एक हो सकते हैं। नरपुरसे नरउर और फिर नरवर रूप सहज ही बन जाते हैं।

गोमंडल और गोंडल एक ही हैं। गोमडलका ही अपभ्रंशरूप गोंडल है। अभी कुछ समय पहले डा० हँसमुखलाल साँकलियाने गोंडल राज्यके ढांक नामक स्थानकी प्राचीन जैन गुफाओंके विषयमें एक लेख प्रकाशित किया था, जहाँसे कि बहुतसी दिगम्बर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। यह स्थान जूनागढ़से ३० मील उत्तर-पश्चिमकी तरफ गोंडल राज्यके अन्तर्गत है। चूंकि इस समय गोंडल और उसके आसपास दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुयायियोंका प्रायः अभाव है, इसलिए डा० साहबने अनुमान किया था कि उक्त प्रतिमायें उस समयकी होंगी जब दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद हुए अधिक समय न बीता था और दोनोंमें आज-कलके समान वैमनस्य न था। उक्त लेख जैनप्रकाश (भाग ४ अंक १-२) में प्रकाशित हुआ था और उसपर सम्पादक महाशयने अपना यह नोट दिया था कि पहले श्वेताम्बर भी निर्वस्त्र या दिगम्बर मूर्तियोंकी पूजा करते थे।

यह बात सही है कि पहले श्वेताम्बर भाई भी निर्वस्त्र मूर्तियोंकी पूजा करते थे, लगोंट आदि चिह्नों-वाली प्रतिमायें प्रतिष्ठित करनेकी पद्धति बहुत पीछे शुरू हुई है और यह भी संभव है कि ढांककी गुफाओं की मूर्तियाँ मथुराके कंकाली टीलेकी मूर्तियोंके समान बहुत प्राचीन कालकी हों; परन्तु यह नहीं कहा जा-सकता कि इस समय गोंडलराज्यमें दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुयायी नहीं हैं, इसलिए पहले भी न रहे होंगे। ज्ञानार्णवकी बीसलकी लिखी हुई उक्त प्रतिसे मालूम होता है कि विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिमें गोंडलमें दि-गम्बर-सम्प्रदाय था और उसके सहस्रकीर्ति नामक साधुके लिए वह लिखी गई थी। सहस्रकीर्ति दिगम्बर सम्प्रदायके भट्टारक जान पड़ते हैं, और इसलिए वहाँ उनके अनुयायी भी काफी रहे होंगे।

उनका दिगम्बर राजकुल विशेषण कुछ अद्भुत सा है। हमारी समझमें राजकुल 'राउल' का संस्कृत रूप है। राजकुलके गृहस्थों और पदवीधारियोंके समान यह विशेषण उस समय वहाँपर भट्टारकोंके लिए भी रूढ होगया होगा, ऐसा जान पड़ता है।

पहली प्रशस्तिमें एक विलक्षण बात यह है कि आर्यिका जाहिणीने वह प्रति ध्यानाध्ययनशाली, तपः-श्रुतनिधान, तत्त्वज्ञ, रागादिरिपुमल्ल और योगी शुभ-चन्द्रको भेंट की है और ज्ञानार्णव या योगप्रदीपके कर्त्ता शुभचन्द्राचार्य ही माने जाते हैं। उक्त विशेषण भी उनके लिए सर्वथा उपयुक्त मालूम होते हैं। ऐसी हालतमें प्रश्न होता है कि क्या स्वयं ग्रन्थकर्त्ताको ही उनका ग्रंथ लिखकर भेंट किया गया है? असंभव न होनेपर भी यह बात कुछ विचित्रसी मालूम होती है। यदि ऐसा होता तो प्रशस्तिमें आर्यिकाकी ओरसे इस बातका भी संकेत किया जा सकता था कि शुभचन्द्र योगीको उन्हींकी रचना लिखकर भेंट की जाती है। इसलिए यही अनुमान करना पड़ता है कि ग्रन्थकर्ताके अतिरिक्त उन्हींके नामके कोई दूसरे शुभचन्द्र योगी थे जिन्हें इस प्रतिका दान किया गया है। और अक्सर आचार्य-परम्परामें देखा गया है कि जो नाम एक आ-

चार्यका होता था वही उसके प्रशिष्यकाभी रख दिया जाता था, जिस तरह धर्मपरीक्षाके कर्ता अमितगतिके परदादा गुरुका भी नाम अमितगति था। बहुत संभव है कि जिन शुभचन्द्र योगीको उक्त प्रति दान की गई है, ग्रन्थकर्ता उनके ही प्रगुरु (दादा गुरु) या प्रगुरुके भी गुरु हों।

अभी तक ज्ञानार्णवका रचनाकाल निर्णीत नहीं हुआ है। उसमें आचार्य जिनसेनका स्मरण किया गया है, और जिनसेनने जयधवलटीकाका शेष भाग शकसंवत् ७५६ (वि० सं० ८९४) में समाप्त किया था। इससे यह निश्चित होता है कि विक्रमकी नवीं शताब्दिके बाद किसी समय ज्ञानार्णवकी रचना हुई होगी। कितने बाद हुई होगी यह जाननेके लिए हमने ज्ञानार्णवके उन श्लोकोंकी जाँच की,जिन्हें ग्रन्थकर्त्ताने अन्य ग्रंथोंसे 'उक्तं च ग्रंथान्तरे' कहकर उद्धृत किया है। मुद्रित ज्ञानार्णवके पृष्ठ ७५ (गुणदोषविचार)में नीचे लिखे तीन श्लोक हैं—

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥१॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥२॥
हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पंगुकः ॥३॥

यही तीनों श्लोक यशस्तिलकचम्पूके छठे आश्वास (पृ०२७१) में ज्योंके त्यों इसी क्रमसे दिये हुए हैं। इनमेंसे पहले दो तो स्वयं यशस्तिलककर्त्ता सोमदेवसूरिके हैं और तीसरा यशस्तिलकमें 'उक्तं च' कहकर किसी अन्य ग्रंथसे उद्धृत किया गया है। अकलंकदेवके राजवार्तिकमें भी यह श्लोक थोड़ेसे साधारण पाठभेदके साथ 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत ही पाया जाता है, और इससे यह श्लोक किसी प्राचीन ग्रन्थका जान पड़ता है। ज्ञानार्णवके कर्त्ताके लिए ये तीनों ही अन्यकृत थे, इसलिए उन्होंने तीनोंको 'उक्तं च ग्रन्थान्तरे' कह कर उद्धृत कर दिया। यशस्तिलककी रचना विक्रम् संवत् १०१६ में हुई है, इसलिये ज्ञानार्णवका समय इसके बादका मानना चाहिए।

ज्ञानार्णवके पृ० १७७ में एक श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपायका भी ('मिथ्यात्ववेदरागा'आदि)उद्धृत किया गया है, परन्तु उसके कर्त्ता अमृतचन्द्राचार्यका समय निश्चित् न होनेके कारण वह एक तरहसे निरुपयोगी है।

पाटणकी उक्त प्रति वि० सं० १२८४ की लिखी हुई है और आर्यिकाा जाहिणीवाली प्रति यदि उससे अधिक नहीं पच्चीस-तीस वर्ष पहलेकी भी समझ ली जाय* और ग्रन्थ उस प्रतिसे केवल तीस चालीस वर्ष पहले ही रचा गया हो, तो विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके अन्तिमपाद तक ज्ञानार्णवकी रचनाका समय जा पहुँचता है। यद्यपि हमारा खयाल है कि शुभचन्द्र इससे भी पहले हुए होंगे।

आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्र और ज्ञानार्णवमें बहुत अधिक समानता है।योगशास्त्रके पाँचवें प्रकाशसे लेकर ग्यारहवें प्रकाश तकका प्राणायाम और ध्यानवाला भाग ज्ञानार्णवके उन्तीसवेंसे लेकर ब्यालीसवें तकके सर्गोंकी एक तरह नकल ही मालूम होती है। छन्द-परिवर्तनके कारण जो थोड़े बहुत शब्द बदलने पड़े हैं उनके सिवाय सम्पूर्ण विषय दोनों ग्रंथोंमें एकसा है। इसी तरह चौथे प्रकाशमें कषायजयका उपाय 'इन्द्रियजय', इन्द्रिजयका उपाय 'मनः शुद्धि', उसका

---

*पहली प्रति नरवर (मालवा) में लिखी गई थी। और दूसरी गोंढल (काठियावाड) में मालवे से गोंढल उस समयकी दृष्टिसे काफी दूर है।

उपाय रागद्वेषका जय, उसका उपाय समत्व और समत्व की प्राप्ति ही ध्यानकी मुख्य योग्यता है, ऐसा जो कोटि-क्रम दिया है वह भी ज्ञानार्णवके २१से २७तकके सर्गोंमें शब्दशः और अर्थशः एक-जैसा है । अनित्यादि भावनाओंका और अहिंसादि महाव्रतोंका वर्णन भी कमसे कम शैलीकी दृष्टिसे समान है। शब्द-साम्य भी जगह जगह दिखाई देता है। कुछ नमूने देखिए—

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ।
—ज्ञानार्णव पृ० १३४

रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।
किम्पाकफल-संकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥७८॥
—योगशास्त्र द्वि० प्र०

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३
स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिः पथ इवामलाः ।
समीर इव निःसङ्गाः निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥१५
—ज्ञानार्णव पृ० ८४–८६

विरतः कामभोगेभ्यःस्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।
संवेगह्रदनिमग्नः सर्वत्र समता श्रयन् ॥५
सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्दायकः ।
समीर इव निस्संगः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥१६
—योगशास्त्र सप्तम् प्र०

आचार्य हेमचन्द्रका स्वर्गवास वि० सं० १२२९ में हुआ है। विविध विषयों पर उन्होंने सैंकड़ों ग्रन्थोंकी रचना की थी । योगशास्त्र महाराजा कुमारपालके कहनेसे रचा गया था और उनका कुमारपालसे अधिक निकटका परिचय वि० सं० १२०७ के बाद हुआ था। अतएव योगशास्त्र विक्रम संवत् १२०७ से लेकर १२२९ तकके बीचके किसी समयमें रचा गया है।

यह तो निश्चित है कि शुभचन्द्र और हेमचन्द्र दो में से किसी एकके सामने दूसरेका ग्रन्थ मौजूद था। परन्तु जबतक शुभचन्द्रका ठीक समय निश्चित् नहीं हो जाता, तब तक ज़ोर देकर यह नहीं कहा जा सकता कि किसने किसका अनुकरण और अनुवाद किया है।

'उक्तं च' श्लोकोंकी खोज करते हुए हमें मुद्रित ज्ञानार्णवके २८६ पृ० (सर्ग २९) में नीचे लिखे दो श्लोक इस प्रकार मिले—

उक्तं च श्लोकद्वयं
समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुंभकः ॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासा ब्रह्मपुरातनैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥

और यही श्लोक हेमचन्द्रके योगशास्त्रके पांचवें प्रकाशमें नं० ६ और ७ पर मौजूद हैं। सिर्फ इतना अन्तर है कि योगशास्त्रमें 'नाभिमध्ये' की जगह 'नाभिपद्मे' और 'पुरातनैः' की 'पुराननैः' पाठ है ।

इससे यह अनुमान होता है कि ज्ञानार्णव योगशास्त्रके बादकी रचना है और उसके कर्त्ता ने इन श्लोकोंको योगशास्त्र परसे ही उठाया है । परन्तु हमें इस पर सहसा विश्वास न हुआ और हमने ज्ञानार्णवकी हस्तलिखित प्रतियोंकी खोज की ।

बम्बईके तेरहपन्थी जैन मन्दिरके भंडारमें ज्ञानार्णवकी एक १७×७ साईजकी हस्तलिखित प्राचीन प्रति है, जिसके प्रारम्भके ३४ पत्र (स्त्रीस्वरूपप्रतिपादक प्रकरणके ४६वें पद्य तक) तो संस्कृत टीका-सहित हैं और आगेके पत्र बिना टीकाके हैं। परन्तु उनके नीचे टीकाके लिए जगह छोड़ी हुई है । टीकाकर्त्ता कौन है, सो मालूम नहीं होता। वे मंगलाचरण आदि कुछ न करके इस तरह टीका शुरु कर देते हैं—

ओं नमः सिद्धेभ्यः। अर्हं श्री शुभचन्द्राचार्यः परमात्मानमव्ययं नौमि नमामि किं भूतं परमात्मानं अजं जन्मरहितं पुनः किं भूतं परमात्मानं अव्ययं विनाशरहितं। पुनः किं भूतं परमात्मानं निष्ठितार्थं निष्पन्नार्थं पुनः किं भूतं परमात्मानं ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितं। ज्ञानमेव लक्ष्मीस्तस्या योऽसौ घनाश्लेषं निविडाश्लेषस्तस्मात् प्रभवः-उत्पन्नो योऽसौ आनन्दस्तेन नन्दितम्।"

इस प्रतिके शुरूके पत्रोंके ऊपरका हिस्सा कुछ जल-सा गया है और कहीं कहींके कुछ अंश झड़ गये हैं। प्रारंभके पत्रकी पीठपर कागज चिपकाकर बड़ी सावधानीसे मरम्मत की गई है। पूरी प्रति एक ही लेखककी लिखी हुई मालूम होती है। अन्तमें लिपिकर्त्ताका नाम तिथि-संवत् आदि कुछ भी नहीं है, फिर भी हमारे अनुमानसे वह डेढ़-दो सौ वर्षसे इधरकी लिखी हुई नहीं होगी।

इस प्रतिमें हमने देखा कि प्राणायाम-सम्बन्धी वे दो 'उक्तंच' पद्य हैं ही नहीं जो छपी हुई प्रतिमें दिये हैं और जो आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रके हैं। तब ये छपी प्रतिमें कहाँसे आये?

स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालने पं० जयचन्द्रजीकी भाषा वचनिकाको ही खड़ी बोलीमें परिवर्तित करके ज्ञानार्णव छपाया था। हमने प० जयचन्द्रजीकी वचनिका वाली प्रति तेरहपन्थी मन्दिरके भंडारसे निकलवाकर देखी तो मालूम हुआ कि उन्होंने इन श्लोकोंको उद्धृत करते हुए लिखा है कि—"इहाँ उक्तं च दोय श्लोक हैं—"

पं० जयचन्द्रजीने अपनी उक्त वचनिका माघ सुदी पंचमी भृगुवार संवत् १८०८ को समाप्त की थी। या तो इन श्लोकोंको प्रकरणोपयोगी समझ कर स्वयं पं० जयचन्द्रजीने ही योगशास्त्र परसे उक्तं च रूपमें उठा लिया होगा या फिर उनके पास जो मूल प्रति रही होगी उसमें ही किसीने उद्धृत कर लिया होगा। परन्तु मूलकी सभी प्रतियोंमें ये श्लोक न होंगे। निदान दो सौ वर्षसे पुरानी प्रतियोंमें तो नहीं ही होंगे। पाठकोंको चाहिए कि वे प्राचीन प्रतियोंको इसके लिए देखें।

लिपिकर्त्ताओंकी कृपासे 'उक्तंच' पद्योंके विषयमें इस तरहकी गड़बड़ अक्सर हुआ करती है और यह गड़बड़ समय-निर्णय करते समय बड़ी झंझटें खड़ी कर दिया करती है।

ज्ञानार्णवकी छपी हुई प्रतिको ही देखिए। इसके पृष्ठ ४३१ (प्रकरण ४२) के '**शुचिगुणयोगाद्**' आदि पद्यको 'उक्तं च' नहीं लिखा है परन्तु तेरहपन्थी मंदिर की उक्त संस्कृत टीका वाली प्रतिमें यह 'उक्तं च' है। पं० जयचन्द्रजीकी वचनिकामें भी इसे 'उक्तं च आर्या' करके लिखा है, परन्तु छपाने वालोंने 'उक्तं च' छोड़ दिया है! इसी तरह अड़तीसवें प्रकरणमें संस्कृत टीका वाली प्रतिमें और वचनिकामें भी '**शंखेन्दुकुन्दधवला ध्याना देवास्तयो विधानेन**' आदि पद्य 'उक्तं च' करके दिया है परन्तु छपी हुई प्रतिमें यह मूलमें ही शामिल कर लिया गया है।

'**ध्येयं स्याद्वीतरागस्य**' आदि पद्य छपी प्रतिके ४०७ पृष्ठमें 'उक्तं च' है परन्तु पूर्वोक्त सटीक प्रतिमें इसे 'उक्तं च' न लिखकर इसके आगेके '**वीतरागो भवेद्योगी**' पद्यको 'उक्त च' लिखा है। और छपीमें तथा वचनिकामें भी, दोनों ही 'उक्तं च' हैं।

'उक्तं च' पद्योंके सम्बन्धमें छपी और सटीक तथा वचनिकावाली प्रतियोंमें इसी तरह और भी कई जगह फ़र्क है, जो स्थानाभावसे नहीं बतलाया जा सका। अभिप्राय यह है कि ज्ञानार्णवकी छपी प्रतिमें हेमचन्द्र

के योगशास्त्रके उक्त दो पद्योंके रहनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि शुभचन्द्राचार्यने स्वयं ही उन्हें उद्धृत किया है और इस कारण वे हेमचन्द्रके पीछेके हैं। इसके लिए कुछ और पुष्ट प्रमाण चाहिए।

पाटणके भंडारकी उक्त प्राचीन प्रति तो बहुत कुछ इसी ओर संकेत करती है कि ज्ञानार्णव योग-शास्त्रसे पीछेका नहीं है।

नोट--अबसे कोई बत्तीस वर्ष पहले (जुलाई सन् १६०७) मैंने ज्ञानार्णवकी भूमिकामें 'शुभचन्द्राचार्यका समयनिर्णय' लिखा था और उस समयकी श्रद्धाके अनुसार विश्वभूषण भट्टारकके 'भक्तामरचरित' को प्रमाणभूत मानकर धाराधीशभोज, कालीदास, वररुचि, धनंजय, मानतुंग, भर्तृहरि आदि भिन्न भिन्न समयवर्ती विद्वानोंको समकालीन बतलाया था। परन्तु समय बीतने पर वह श्रद्धा नहीं रही और पिछले भट्टारकों द्वारा निर्मित अधिकाँश कथासाहित्यकी ऐतिहासिकता पर सन्देह होने लगा। तब उक्त भूमिका लिखनेके कोई आठ नौ वर्ष बाद दिगम्बरजैनके विशेषाङ्कमें (श्रावण संवत् १६७३) 'शुभचन्द्राचार्य' शीर्षक लेख लिखकर मैंने पूर्वोक्त बातोंका प्रतिवाद कर दिया, परन्तु ज्ञानार्णवकी उक्त भूमिका अब भी ज्योंकी त्यों पाठकोंके हाथोंमें जाती है। मुझे दुःख है कि प्रकाशकोंसे निवेदन कर देने पर भी वह निकाली नहीं गई और इस तीसरी आवृत्तिमें भी बदस्तूर क़ायम है। इतिहासज्ञोंके आगे मुझे लज्जित होना पड़ता है, इसका उन्हें खयाल नहीं। बंगला मासिक पत्रके एक लेखक श्रीहरिहर भट्टाचार्यने तो ज्ञानार्णवकी उक्त भूमिकाको 'उन्मत्त-प्रलाप' बतलाया था। विद्वान् पाठकोंसे निवेदन है कि 'भक्तामरचरित' की कथाका खयाल न करके ही वे श्रीशुभचन्द्राचार्यका ठीक समय निर्णय करनेका प्रयत्न करें।

बम्बई ता० १४-१-१६४०

सम्पादकीय नोट—

लेखकमहोदयके उक्त नोट परसे मुझे रायचन्द्र-शास्त्रमालाके संचालकोंकी इस मनोवृत्तिको मालूम करके बड़ा खेद हुआ कि उन्होंने भूमिका-लेखकके स्वयं अपनी पूर्वलिखित भूमिका को सदोष तथा त्रुटि-पूर्ण बतलाने और उसे निकाल देने अथवा संशोधित कर देनेकी प्रेरणा करने पर भी वह अबतक निकाली या संशोधित नहींकी गई है! यह बड़े ही विचित्र प्रकारका मोह तथा सत्यके सामने आँखें बन्द करने-जैसा प्रयत्न है! और कदापि प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। आशा है कि ग्रंथमालाके संचालकजी भविष्यमें ऐसी बातोंकी ओर पूरा ध्यान रक्खेंगे और ग्रंथके चतुर्थ संस्करणमें लेखक महोदयकी इच्छानुसार उक्त भूमिकाको निकाल देने अथवा संशोधित कर देनेका दृढ संकल्प करेंगे। साथ ही, तीसरे संस्करणकी जो प्रतियाँ अवशिष्ट हैं उनमें लेखकजीके परामर्शानुसार संशोधनकी कोई सूचना ज़रूर लगा देंगे।

ज्ञानार्णव ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोंके खोजनेकी बड़ी ज़रूरत है। जहाँ जहाँके भण्डारोंमें ऐसी प्राचीन प्रतियाँ मौजूद हों, विद्वानोंको चाहिये कि वे उन्हें मालूम करके उनके विषयकी शीघ्र सूचना देनेकी कृपा करें, जिससे उन परसे जाँचका समुचित कार्य किया जा सके। सूचनाके साथमें, ग्रंथप्रतिके लेखनका समय यदि कुछ दिया हुआ हो तो वह भी लिखना चाहिये और ग्रंथकी स्थितिको भी प्रकट करना चाहिये कि वह किस हालतमें है।

शिकारी

[ले०—श्री 'भगवत्' जैन]

कविकी कल्पनामें जब बाँध लग जाता है। मिनटों सोचने पर भी क़लम जब आगे नहीं बढ़ती, तब मनमें एक खीज पैदा हो उठती है। ठीक वैसी ही खीजकी कटुता उस शिकारीको भी विकल करती है, जो थकावटसे चूर, प्यासमे मजबूर और अपने निवाससे दूर—जंगलों-झाड़ियोंमें शिकारके पीछे या शिकारकी तलाशमें दौड़ता—हाँपता घूमता है, पर शिकार हाथ नहीं लगती!···

राजपूत-नरेशका मन खीज रहा है! रह-रह कर मनमें आ रही है—'घर लौट चलें।'

कन······?

'क्या खाली हाथ? अभी सन्ध्या होनेमें काफ़ी देर है! सम्भव है, कुछ हाथ लगे।'···

राज-पुत्रने घोड़ा बढ़ाया। हृदयमें आशाने भी दौड़ लगाना शुरू किया।···हवाका एक झोंका आया, घोड़ा घने पेड़की छाँहसे गुज़र रहा था, कितनी ठंडी हवा लगी कि राज-पुत्रका प्याससे मलिन-मुख उद्दीप्त हो उठा! किन्तु वह रुके नहीं, 'ठहरना' उनकी खीजका साथी था, और उद्देश्यका शत्रु!···

'इन झाड़ियोंके उस पार मैदान होगा, साफ़-सुथरा चटकीला-स्थान! वहाँ और कुछ नहीं, तो हिरन तो होंगे ही! ज़रूर होंगे—अक्सर ऐसा होता है। खाली हाथ लौटनेसे जो मिले वही ठीक।'

शिकारीका अनुमान—शिकारके सम्बन्धमें—प्राय: सही बैठता है। रोजका अभ्यास, पुराना अनुभव! ग़लत कैसे बैठे?···

शिकारी आगे बढ़ा। जैसे ही झाड़ियोंके बीच में पहुँचा कि दीखा वही दृश्य—जिसे अनुमानने पहले ही देख रखा था! ···लम्बे-चौड़े मैदानके एक कोनेमें हिरण-दम्पत्ति मौजमें ललक रहे हैं, प्रणय—स्वर्गीय-सरिताकी भाँति सवेग प्रवाहित हो रहा है!···

'सन्ध्याकी सुनहरी-धूपमें कितने अच्छे लग रहे हैं—वह? कैसा मुक्त-जीवन है—उनका? साफ़-सुथरी जमीन पर, मुक्ताकाशके नीचे, सभ्यताके बन्धनोंसे रहित, एकान्त आँगनमें—कैसा प्रेम-प्रमोद रच रहे हैं? गुप्त-मंत्रणा कर रहे हैं-जानें? कैसी लुभावक, कैसी उत्तेजक प्रेम-लीला है यह?'···

शिकारी कुछ देर खड़ा, सोचता-विचारता रहा—यही सब! पाठ भूले, विद्यार्थीकी तरह! या चौकड़ी भूले, हिरणकी भाँति! फिर—सहसा चेतना लौटी, परिस्थितिका ज्ञान हुआ—रात हुई जा रही है! सबेरेसे अबतक एक भी शिकार हाथ नहीं चढ़ी! जाने किसका मुँह देखकर आया गया

है आज !

इसके बाद ही, षोडषी-नारीकी भ्रू बंकके भांति, कमानको बनाया गया, फिर सधे हुए हाथोंने बाण का निशाना साधा ! और दूसरे ही पल—लक्ष्य-वेध !···बाण हिरणीके पेटमें होकर आर-पार !

शिकारीने आकर देखा—ज़मीन ख़ूनसे रंग रही है ! विवश-नेत्रोंसे हिरणी अपने प्रेमी, अपने सब-कुछ, अपने स्वामीकी ओर देख रही है ! उस 'देखने' में जैसे सारे संसारकी दीनता भरदी हो !···

आँतें बाहर निकली आ रही हैं, जीभ—हाँ, सूखी-सी जीभ—मुँहके बाहर, दाँतोंकी क़ैदके बाहर हो रही है ! बार-बार भागनेकी बेकार कोशिश करती है, और गिर-गिर जाती है ! कितनी द्रावक, कितनी दयनीय ?

मगर शिकारीके लिए हिरणीका वध—खुशी थी, दिन-भरके परिश्रमका पुरस्कार था—बहुत मामूली, बहुत छोटा-सा ! उसकी आँखोंमें एक चमक-सी आगई ! सफल मनोरथ होने पर आती है—वैसी ! कूद कर घोड़ेसे उतरा, बग़ैर ग्लानिके उसके ख़ूनसे, लाल-लाल, कालेरुख गाढ़े ख़ूनसे, सने शरीरको उठाया ! और क्षत्रियत्वकी ताकत लगाकर पेटमें घुसे हुए बाणको खींच निकाला !

ओफ !!!

हिरणीके विह्वल-नेत्रोंने एक बार चारों ओर को देखा ! क्या देखा ? क्या देखना चाहती थी ? —इसे कौन जाने ? पर दीखा उसे अपना यम, साकार-काल—क्षत्रिय-पुत्र ! ···कुछ घबराई, एक बार तड़पी, पैर भी पीटे ! फिर एकदम शान्त ! आँखें मुँद गईं—जैसे, उसे जो दीखा, वह इष्ट नहीं था, उसे देखनेकी क़तई इच्छा उसके मनमें नहीं थी, भावना-विरुद्ध दृश्यकी कठोरताने उसे आँखें बन्द करनेको विवश किया हो ! ···एक गहरी साँसके साथ सब समाप्त, जीवन-लीलाका अन्त !

शिकारीका मन—तितलीके पंखोंकी तरह सुन्दर, चारेको चोंचमें दबाए, नीड़को लौटते पंछी की भांति तीव्र-गतिसे उड़ रहा है ! ख़ूनमें तेज़ी है, शरीरमें नव-जीवन-सा प्रवेश हुआ लगता है। शायद हिरणीका जीवन भी इसीमें आ मिला है। यों ही, अलक्षित भावसे—जो मुँह पर आया वही —गुन गुनाते हुए शिकारी हिरणीके 'शव' को घोड़े पर लादनेके लिए उठाने लगा, कि सामने हिरण !!!

'अरे, यह सबसे यहीं खड़ा है ?'—विस्मयके साथ शिकारीके मुँहसे निकल गया ! और वह एकटक हिरणके मुँहकी ओर देखने लगा !

प्रकृतिके लगाये हुए काजलसे अलंकृत आँखें, वेदनाके पानीसे भीग रही हैं। जिन आँखोंकी उपमा प्रकृतिके पुजारी, भावुक कवि बड़े गौरवके साथ, सौन्दर्य-विभूतियोंको दिया करते हैं, वही आँखें शोकके अथाह-गर्तमें डूबी जा रही हैं ! जैसे उन आँखोंकी रोशनी मर चुकी हो, बुझ चुकी हो, राख बन चुकी हो !!

शिकारीका शरीर ढीला पड़ने लगा ! मनमें एक आँधी-सी उठने लगी ! आँखोंमें जलन-सी महसूस होने लगी ! हाथ निर्जीव-से, शरीर सुन्न-सा और मुँह सूखा-सूखा-सा मालुम देने लगा !!

वह टूटे-पेड़की तरह खड़ा रह गया, खण्ड-हरकी तरह स्तब्ध ! श्मशानकी तरह वीभत्स !···

विचारोंका यातायात !—

'मूर्ख, हिरण ! नहीं जानता कि जिसने हिरणीका प्राणान्त किया है, वह इसे कब छोड़ेगा ? फिर भी भागता नहीं, डरता नहीं ! प्रतिहिंसा जैसी घातकता उसके मनमें टकरा रही है ! प्रेमकी अनाल-तरंगें, प्राणोंके मोहको भुलाए दे रहीं हैं ! ओहोह:—प्रेम ! तूने इस जंगली जीवको भी अपने क़ाबूमें कर रखा है ! वह प्रेमकी समाधिमें लीन होकर अपने प्राणोंकी आहुति देते भी नहीं भयभीत होता !'

शिकारी देख रहा है—वियोगी-हिरण अपनी प्रणयकी दुनियाको, अपनी दुलारी हिरणीको, एकटक देख रहा है ! समझ नहीं पा रहा कि उस की हिरणी मर चुकी है, उसकी दुनिया उजड़ चुकी है ! वह इतना ही जानता है कि इसे कुछ हो गया है ! वैसा हो गया है, जैसा अबतक कभी नहीं हुआ सर्प-विष-संहारक बायगीकी तरह वह हिरणीके क्षत-विक्षत-शरीरके समीप—कुछ अटल-सा, कुछ विह्वल-सा कुछ ध्यानस्थ सा बैठा आँसू बहा रहा है ! जैसे प्रेम-मंदिरमें, रूठी हुई प्रेमकी देवीको, प्रेम-पुजारी मना रहा हो !···

शिकारीका मन भर आया। उसे ऐसा लगा जैसे उसके हृदय-कंजको किसीने भीतर हाथ डाल कर मरोड़ दिया हो, उसके मुँह पर जैसे अमावस्याकी कालिमा बिखरादी।

मानव-मन !!!

वह सोचने लगा—'कितना अगाध-स्नेह है इसे ? कपट-हीन, बनावट-रहित जैसे राकाकी चाँदनी ! वह ज्ञानवान् नहीं है ! अपनेको सभ्य समझनेका दावा भी वह नहीं करता। लेकिन—प्रेमकी साधनामें कितना अनुराग रखता है—वह अपनी पत्नीके प्रति कितना महान्-हृदय रखता है, कितना आदर्श है वह !'

शिकारीकी आँखोंमें करुणा-जल छलछला आया ! हिरणीकी मृतक-देह अब उसे अपनी भूल की तरह दिखाई देनेलगी, डरने लगा वह—अब !

काश ! वह अब किसी तरह उसे जीवित कर सकता !···

तृणोंमें अमृतका स्वाद लेने वाले वह दोनों मूक-प्रणयी, अपनी निर्धन, साधन-शून्य, उजड़ी सी दुनियाँमें प्रेमके बल पर स्वर्गका स्थापन कर रहे थे ! आह ! उसे भी मैं न देख सका ! मुझ-सा अधम और कौन होगा ? कितना भयंकर अपराध किया है—मैंने !···जिनके पास प्राणोंके सिवा और कुछ नहीं था ! जो दरिद्रताकी सीमा थे। उनका वह छोटा-सा धन, थोड़ी सी इच्छा, और सीमित-सा सौख्य भी मैंने छीन लिया ! उफ़ ! यह घोर-पाप !!!'

कौन सी लेखनी ऐसी है, जो हिरणकी मर्मान्तक पीड़ाको ठीक ठीक चित्रण कर सके ?··· उसके भीतर शिकारीकी सहानुभूति जैसे घुसती जा रही हो ! उसकी विकलता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही है ! वह रो रहा है, उसकी आँखें रोरही हैं, उसका हृदय रो रहा है !···

'यह क्या किया मैंने ? एक निरपराध सुखमय, दाम्पत्तिक-जीवनमें आग लगा दी ! मैंने नहीं समझा कि दूसरेके प्राण भी अपने-से ही प्राण हैं, उसे भी दुख-सुखका अनुभव होता है ! वह भी अपना-सा ही हृदय रखता है !···ओफ़ !—

स्वार्थी-विश्व ! अपने अपने स्वार्थमें मनुष्य

अन्धा हो रहा है ! कोई किसीकी पर्वाह नहीं करता !'

❀ ❀ ❀

इसके बाद क्या हुआ ?—

इसका मुझे पता नहीं ! न 'कहानी' का उससे गहरा सम्बन्ध ही है ! हाँ, यह मैं जानता हूँ, और बतलाना भी वही शेष है, कि राजपूत नरेश, अब दुनियाँकी नजरमें 'राजा' नहीं है ! लोग उसे संसार-विरक्त-साधु कहते हैं ! वह अब बनों-बीहड़ोंमें रहता है ! और वासना-शून्य-हृदयमें एक पवित्र, पुनीत, आदर्श भावना हिलोरें लिया करती है !

और………?

हाँ, वह शिकारी अब भी है । वैसी ही साधना, वैसा ही परिश्रम, वैसी ही तन्मयताको अब भी काममें लाता रहता है ! लेकिन फ़र्क इतना है—अब वह पशु पंछियोंका शिकार नहीं करता, उन पशु-प्रवृत्तियोंका शिकार किया करता है जिन्होंने उसे शिकारी बनाया !

अनुरोध

[श्री 'भगवत्' जैन]

दिखादे पथ-भ्रष्टोंको पंथ,
बनादे मूकोंको वाचाल !
होश उनको भी आजाए,
हो रहे जो दिन-दिन बेहाल !!

जी रहे आज मृतककी भाँति,
सिखादे मरना जीने-सा !
न बाक़ी रहे देशको भीरु—
कहलवानेका अन्देशा !!

बने जीवन जागृतिकी ज्योति,
मौत को समझ उठें खिलवाड़ !
हिमालय बने हमारा भाल,
और मुख ज्वालामुखी पहाड़ !!

हृदयमें वहे वेगके साथ,
प्रेम-गंगाकी मृदु-धारा !
विश्व-भरमें फैले भ्रातृत्व,
शत्रु भी लगे प्राण-प्यारा !

दानवी प्रकृति दूर भागे,
प्राकृतिकताको अपनाएँ !
अरे ! भरदे ऐसी सामर्थ्य,
रसातल-पथसे हट जाएँ !!

न समझो हँसनेमें कुछ तथ्य,
वेदना रहती रोने में !
बड़े गौरवकी समझो बात,
दुखीके साथी होने में !!

दूसरेका दुख अपना दुःख,—
माननेमें सुखका विस्तार !
सुख-दिनोका कहना ही क्या ?—
क्योंकि उनका साथी संसार !!

बनादे आँखों-सा कोमल,
हमारा सामाजिक जीवन !
पा सकें भूली-सी निधियाँ,
और सलझा पाएँ उलझन !!

आत्मिक क्रान्ति

[ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, विशारद, एम.ए०, एलएल.बी. वकील]

आज संसारके प्रायः प्रत्येक देशमें एक न एक ऐसा जनसमुदाय अवश्य अवस्थित है जिसका हार्दिक विश्वास है कि जनसाधारणके दासत्व, पतन तथा दारिद्र्यकी एक मात्र महौषधि क्रान्ति ही है। यदि समाज-विशेषकी आर्थिक अवस्था असह्य रूपसे हीन हो जाय तो उक्त समाजके लिये क्रान्ति अनिवार्य्य है। क्रान्तिके बड़े २ समर्थक कार्लमार्क्स इत्यादि का कथन है कि समस्त लौकिक बुराइयों तथा कष्टोंका कारण पूंजीवाद है जिसका विनाश अवश्यम्भावी है। अत्याचारियोंका दमन क्रान्तिचक्र-द्वारा ही संभव है। इतिहास साक्षी है कि कभी भी कोई शक्तिशाली समुदाय बिना बल-प्रयोगके पदच्युत न होसका।

क्रान्तिकारियोंके कथनानुसार मनुष्य-समाज परिवर्तनशील है। यद्यपि यह परिणमन निरन्तर होता रहता है,किन्तु शायद ही कभी व्यवस्थित एवं नियमित रूपमें लक्षित होता है। क्रान्ति भी एक परिवर्तन है; किन्तु अन्य साधारण परिवर्तनोंसे भिन्न एक विशेष प्रकारका परिवर्तन है। खाली परिवर्तन ही नहीं, एक प्रकारकी सामूहिक एवं संगठित क्रिया है। मनुष्यके आर्थिक एवं औद्योगिक पतनकी राजनैतिक प्रतिक्रिया है। यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसमें समाज विशेषकी समस्त मानसिक एवं शारीरिक शक्तियां एक आदर्श प्राप्तिके पीछे पड़ जाती हैं।

क्रान्ति-विज्ञानकी दृष्टिसे प्रत्येक क्रान्तिका मूल कारण मनुष्यकी मूल एषणाओंमें निहित है। और ये मूल-एषणाएँ चार हैं—ज्ञानैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा। यदि किसी समाजके नियमों और उसकी संस्थाओंमें उक्त मूलैषणाओंकी तृप्तिके पर्याप्त साधन मौजूद हैं तो वह समाज एक सन्तुष्ट एवं स्थायी समाज है, और यदि नहीं, तो वह क्रान्तिके लिये एक उपयुक्त क्षेत्र हो जाता है। जितने जितने अंशोंमें समाज विशेषमें इन मूल एषणाओंका दमन होता है उतने उतने ही अंशोंमें आनेवाली क्रान्ति हीनाधिक रूपसे तीव्र होती है।

इसके अतिरिक्त क्रान्तिका मूलतत्त्व आशा है। प्रारम्भसे ही आशाका संचार एवं निराशाका परिहार इसका प्रभाव है। पीड़ितोंके हृदयमें जबतक क्रान्तिकी सफलताका विश्वास तथा तज्जन्य आशाका प्रादुर्भाव नहीं होता वह क्रान्ति उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। और यह तभी हो सकता है कि जब अत्याचार तथा दमन वास्तवमें तो कुछ कम हो जाते हैं किन्तु पीड़ित व्यक्ति अपनी वस्तु-स्थिति तथा कष्टोंका पूर्ण अनुभव करने लगते हैं। अतः क्रान्तिकी मुख्य प्रेरक शक्ति आशा ही है।

क्रान्तिके उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे हमारा आशय लौकिक क्षेत्रमें क्रान्तिका खंडन अथवा मंडन करना नहीं है, वरन् यह दिखलाना है कि *समाजशास्त्र-विज्ञोंने* जो वैज्ञानिक विवेचन राजनैतिक अथवा सामाजिक क्रान्तिका दिया है, वही आश्चर्यजनक रूपमें आत्मिक क्रान्तिमें भी अक्षरशः घटित होता है।

एक भव्यात्मा जिस समय चारित्र-धनके अभावमें

इन्द्रिय-विषयक परतन्त्रतामें जकड़ा हुआ पतनके गर्तमें डूब जाता है तो उसके उद्धारका एकमात्र उपाय आत्मिक क्रान्ति ही है। समस्त सांसारिक दुखोंके कारण लोभ-मोह हैं। जिस प्रकार राजनैतिक एवं सामाजिक कष्टोंका कारण पूंजीवाद अर्थात् पूंजीपतियोंका निरन्तर वित्त शक्तिवर्धन तथा उपभोग है उसी प्रकार प्राणीके समस्त सांसारिक कष्टोंका मूल कारण लोभ-मोह-जनित परिग्रह-वृद्धि तथा विषयाकांक्षा ही है, जिससे त्राण पानेका साधन इन्द्रिय-दमन रूप प्रवृत्ति है। बिना तप संयमादिक बल-प्रयोगोंके कभी कोई आत्मा चारित्र्य-सत्ता-प्राप्तिमें सफल नहीं हुआ।

अन्य पदार्थोंकी भाँति आत्म द्रव्यभी परिणमनशील है। किन्तु यह आत्म-परिणमन सदा स्वाभाविक ही नहीं हुआ करता, वरन प्रायः वैभाविक ही होता है। आत्मा अपने निजी स्वभावको भूलकर विकारग्रस्त हो जाता है और सब प्रकारके कष्टकर दुःखोंका निरन्तर शिकार बना रहता है। उसकी दशा बहुधा उस बन्दीके समान होती है जो बन्दीखानेमें ही जन्म लेता है, किन्तु जिसे कभी ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं होता कि वह अपने जन्मस्थानके वास्तविक स्वरूपको जान सके। वह यह भी नहीं जान पाता कि उसके आस पास जो बहुमूल्य फ़र्नीचर एवं भोगोपभोगकी प्रचुर सामग्री वर्तमान है वह कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें उसके मानरूपी दुर्गकी ऐसी अलक्ष्य किन्तु सुदृढ़ दीवारें हैं जो न केवल उसकी स्वतन्त्रताका भी अपहरण किये हुए हैं, वरन उक्त स्वतन्त्रता-प्राप्तिकी इच्छाका भी अभाव किए हुए हैं। सांसारिक मोहजालमें फँसे हुए उस आत्माके लिये आत्मिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करना दुर्लभ ही नहीं किन्तु वह उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नवान भी नहीं होता। उस मोहान्ध आत्माको आत्म जागृतिके दिव्य लोकमें आनेकी इच्छा ही नहीं होती।

परन्तु यह आत्मिक क्रान्ति एक ऐसा आन्दोलन है, आत्मिक पतनकी ऐसी आध्यात्मिक प्रतिक्रिया है कि उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ और समस्त शक्तियाँ अपने आदर्श, अपनी स्वाभाविक अवस्था—पूर्ण स्वतन्त्रता-प्राप्तिके कार्यमें संलग्न हो जाती हैं। समस्त आत्मिक शक्तियाँ सामूहिक एवं सुसंगठित रूपसे क्रियावान हो जाती हैं। राजनैतिकअथवा सामाजिक क्षेत्र-सम्बन्धी क्रान्तियोंकी कारणभूत चार मूलैषणाओंकी भाँति इस आध्यात्मिक क्रान्तिका कारण भी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य--अनन्त चतुष्टय-रूप परमानन्दमय पूर्ण स्वतन्त्र अवस्थाकी प्राप्त्यर्थ आत्मिक मूलैषणाएँ ही हैं जो वास्तवमें प्रत्येक प्राणीकी आत्मामें लक्ष्य अथवा अलक्ष्य रूपमें विद्यमान हैं।

जिन आत्माओंमें उक्त मूलैषणाओंकी तृप्तिके साधन अवस्थित हैं अर्थात् जिन्हें अपने स्वाभाविक गुणोंका अपने स्वरूपका भान है और जो उसकी प्राप्तिमें संलग्न हैं उन्हें इस क्रान्तिकी आवश्यकता नहीं है। ये सम्यक्त्व युक्त आत्मायें उन्नतिशील हैं और अपने उद्योगमें सफल ही होकर रहेंगी। अपने ध्येयको, अपने आदर्शको जबतक प्राप्त नहीं करलेंगी प्रयत्न नहीं छोड़ेंगी।

किन्तु जो आत्माएँ इतनी भाग्यशाली नहीं हैं और अभी तक पतनकी ओर ही अग्रसर हो रही हैं, जिन्होंने सब सुध बुध खो रक्खी है, जो इस पञ्च परिवर्तन रूप संसारमें अनादिसे गोता खा रही हैं और यदि ऐसी ही अवस्था रही तो न मालूम कबतक इसी प्रकार जन्म मरणरूप संसारके दुःख भोगती रहेंगी। उन्हें ही इस क्रान्तिकी आवश्यकता है, जिसके लिये पतनकी तीव्रताके अनुसार ही तप संयमादिक रूप

बल प्रयोगकी तीव्रता अपेक्षित है।

इस क्रान्तिका मूल तत्त्व भी आशा है। नवोदित आशाके स्फुरणसे प्रेरित हो यह भव्यात्मा अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। उस समय आत्मिक पतनके होते हुए भी कुछ इस प्रकार मन्दकषायका उदय होता है कि अपनी वस्तु-स्थितिसे उक्त आत्मा असन्तुष्ट हो जाता है, अपनी अवस्था उसे असह्य हो जाती है। उसके अन्तरमें एक प्रकारका घोर आन्दोलन होने लगता है। वह अपनी समस्त शक्तियोंको एकत्रित करके आत्म-प्रवृत्तिका रुख बदल देता है तथा आत्मोन्नतिकी ओर अग्रसर होने लगता है।

यह परिवर्तन ही आत्मिक-क्रान्ति है और यही सच्ची क्रान्ति है। प्राणीकी सच्ची भूखसे प्रेरित हुई सदा अक्षय सुख प्राप्त करानेवाली अमर क्रान्ति यही है। अन्य समस्त, राजनैतिक, सामाजिक आदि क्रान्तियों का फल स्थायी नहीं होता, थोड़े या अधिक समय उपरान्त फिर दशा पतित हो ही जाती है, चाहे कितनी भी सफल क्रान्ति क्यों न हो। किन्तु आत्मिक क्रान्ति यदि सफल हो जाय तो इसका फल चिरस्थायी ही नहीं, अविनाशी और अनन्त होता है। अतः यदि किसी क्रान्तिके अमरत्वकी भावना लानेकी आवश्यकता है तो वह आत्मिक क्रान्तिकी ही है।

सम्बोधन

[ले० श्र० 'प्रेम' पंचरत्न]

चपल मन! क्यों न लेत विश्राम?

क्यों पीछे पड़ गया किसीके, तजकर अपना धाम?
आशा छोड़ निराशा भजले, श्रामाको ले थाम ॥चपल०॥

आज कहत कल करत नहीं है, भूलात निज काम।
कब पावे वह समय भजे जब, अपना आतमराम ॥ चपल०॥

यह काया नहिं रहे एक दिन, जिसका बना गुलाम।
माया-मोह महा ठग जगमें, मतलब इनका नाम ॥ चपल०॥

अब मत यहाँ-वहाँ पर भटके, आजा अपने ठाम।
'प्रेम' पियूष पान कर अपना, पावे सुख अभिराम ॥चपल०॥

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और जैनदर्शन

[ले०——पं० सुमेरचन्द जैन न्यायतीर्थ, 'उत्तिनीषु' देवबन्द यू. पी.]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ही हिन्दी भाषाकी सर्वतोमुखी उन्नति करने वाली एक मात्र संस्था है। इसलिए उसने अपना एक स्वतन्त्र हिन्दी-विश्व-विद्यालय कायम कर लिया है, जिसमें भारतके प्रत्येक प्रान्त और धर्मके अनुयायी बिना किसी भेद-भावके परीक्षा देते हैं। इन परीक्षाओंकी मान्यता सरकार और जनता दोनों में ही है। अतः यह संस्था अधिक सर्वप्रिय बनती जाती है। इधर हमारे समाजके विद्यार्थी सम्मेलनकी परीक्षामें अधिक सम्मिलित होने लगे हैं, परन्तु सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैनधर्म सम्बन्धी कोई विषय नहीं रक्खा है, इसलिये जैनविद्वानोंका ध्यान इस तरफ आकर्षित हुआ। इस विषयमें पंडित रतनलालजी संघवीने संस्थाके प्रधानमंत्री श्रीमान् पं० दयाशंकरजी दुबेके साथ दो वर्ष तक लगातार पत्रव्यवहार किया। इस पत्रव्यवहारमें संघवीजीने प्रथम दुबेजीको यह लिखा था कि 'सम्मेलनकी प्रथमा और विशारद परीक्षामें जैन-दर्शन वैकल्पिक विषयमें सम्मिलित कर लिया जाय।' उसपर दुबेजीने अपने अन्तिम पत्रमें यह बात प्रकट की कि 'मैं सम्मेलनकी परीक्षामें जैन-दर्शन रखनेके पक्षमें हूँ; परन्तु हमारी परीक्षा-समिति इसके लिये तैयार नहीं है।' इसके बाद क्या हुआ? इस विषयमें मुझे कुछ भी पता नहीं। पर हाँ, उनके पत्रसे निश्चित है कि उन्होंने प्रेम-पूर्ण जवाब देकर टालमटूल कर दी; इसलिये संघवीजी निराश होकर यह कार्य किसी अन्यके सुपुर्द करना चाहते थे। यही बात उन्होंने 'अनेकान्त' में प्रकट की थी। इस बातको पढ़कर मेरे मनमें यह जाननेका कौतुक उत्पन्न हुआ कि परीक्षा-समिति क्यों जैनदर्शन-ग्रन्थ रखना नहीं चाहती? इस विषयमें मैंने उन्हें एक पत्र लिखा उसमें जैनदर्शन और अपभ्रंश साहित्यकी आवश्यकता सम्बन्धी एक लेख लिखा। अन्तमें यह भी लिखा, कि बिना जैनदर्शनके समझे दर्शनोंका विकाश और अपभ्रंश भाषाके बिना हिन्दी-साहित्यके विकासका पता नहीं लगाया जा सकता है। उत्तरमें श्रीमान् पंडित रामचन्द्रजी दीक्षित रजिस्ट्रार हिन्दी-विश्वविद्यालय प्रयागका जो पत्र मिला वह इस प्रकार है:-

प्रियमहोदय!

आपका पत्र मिला।

जैनदर्शनको सम्मेलन परीक्षाओंमें स्थान देनेके सम्बन्धमें परीक्षा समितिने निश्चय कर लिया है। इस सम्बंधमें लिखा पढ़ी भी हो रही है।

भवदीय——

रामचन्द्र दीक्षित

रजिस्ट्रार हिन्दी विश्वविद्यालय प्रयाग।

इस पत्रसे विदित होता है कि रजिस्ट्रार महोदय सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन-दर्शन रखने के लिए तैयार हैं। परीक्षा-समितिने निश्चय कर

लिया है और तद्विषयक पत्र व्यवहार भी वे कर रहे हैं। लेकिन उन्होंने अपभ्रंश भाषाके विषयमें कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। इसलिए अपभ्रंश भाषाके विद्वान् बाबू हीरालालजी एम.ए. प्रोफेसर किङ्ग एडवर्ड कालेज अमरावती और जो इस विषयके पूर्ण विद्वान् हैं, उन्हें एक कोर्स बनाना चाहिए, ताकि जैनदर्शनके साथ २ प्रथमा, मध्यमा, साहित्यरत्नके कोर्समें अपभ्रंश भाषाका भी साहित्य रखवाया जा सके। इस विषयमें जो विद्वान् सलाह देना चाहें वे कृपया पत्रोंमें उसे प्रकाशित करवा देवें या मेरे पास भिजवा दें। क्योंकि अपभ्रंश साहित्यके उद्धार होने से मध्यकालीन भाषा विकास पर अधिक प्रकाश पड़नेकी आशा है। जैनदर्शन सम्बन्धी कोर्सके लिए श्रीमान् न्यायाचार्य पं० महेन्द्र-कुमार जी शास्त्री और पूज्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको प्रकाश डालना चाहिए, जिससे रजिस्ट्रार महोदयको कोर्सके रखनेमें सहूलियत हो सके। और जो विद्वान् मेरे पास भेजना चाहें वे मेरे पास भेजदें। मैं कोर्स नियत करवाकरके उनके पास भेज दूंगा। आशा है विद्वान् मेरे इस निवेदन पर ध्यान देंगे। जैनदर्शनका कोर्स सम्मेलन-की परीक्षामें रक्खे जाने का अधिकांश श्रेय भाई रतनलाल जी संघवी न्यायतीर्थको ही है, जिन्होंने इस विषयमें लगातार दो वर्षसे प्रयत्न किया है।

जीवन-साध

[ले०—पं० भवानीदत्त शर्मा 'प्रशांत']

मेरी जीवन-साध !

पर-हितमें रत रहूँ निरन्तर,
मनुज-मनुजमें करूँ न अन्तर।
नस-नसमें बह चले देशकी प्रेमधार निर्बाध ॥
मेरी जीवन-साध ॥ १ ॥

बौद्ध, जैन, सिख, आर्य, सनातन,
यवन, पारसी और क्रिश्चियन।
हिन्द-देशके सब पुत्रोंमें हो अब मेल अगाध ॥
मेरी जीवन-साध ॥ २ ॥

देश-प्रेमका पाठ पढ़े हम,
साक्षरता-विस्तार करें हम।
लिपी-भेद करनेका हमसे हो न कभी अपराध ॥
मेरी जीवन साध ॥ ३ ॥

अपने अपने मनमें प्रण कर,
एक दूसरे को साक्षरकर।
निज-स्वतन्त्रताके प्रिय पथसे दूर करें हम बाध ॥
मेरी जीवन-साध ॥ ४ ॥

हरिभद्रसूरि

[ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

विषय-प्रवेश

भारतीय साहित्यकारों और भारतीय वाङ्मयके उपासकोंमें साहित्य-महारथि, आचार्यप्रवर, विद्वान्-चक्र-चूड़ामणि, वादीभगजकेसरी, याकिनीसूनु, महामान्य श्री हरिभद्रसूरिका स्थान बहुत ही ऊंचा है। इनकी प्रखर-प्रतिभा, बहुश्रुतता, विचारपूर्ण मध्यस्थता, अगाध गंभीरता, विचक्षण वाग्मीता, और मौलिक एवं असाधारण साहित्य सृजन-शक्ति आदि अनेक सुवासित सद्गुण आपकी महानता और दिव्यताको आज भी निर्विवाद रूपसे प्रकट कर रहे हैं। आपके द्वारा विरचित अनुपम साहित्य-राशिमेंसे उपलब्ध अंशका अवलोकन करने से यह स्पष्टरूपेण और सम्यक् प्रकारेण प्रतीत होगा कि आप भारतीय साहित्य संस्कृतिके एक धुरीणतम विद्वान् और उज्ज्वल रत्न थे।

आपकी पीयूषवर्षिणी लेखनीसे निसृत सुमधुर और साहित्य-धाराका आस्वादन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जैन-आगम-साहित्य (मूल, निर्युक्तियां आदि) से इतर उपलब्ध जैन-साहित्यमें अर्थात् (Classical Jain literature) में यदि सिद्धसेन दिवाकर सूर्य तो आचार्य हरिभद्र शारदीय पूर्णिमाके सौम्यचन्द्र हैं। यदि इसी अलंकारिक भाषामें जैन साहित्याकाशका वर्णन करते चलें तो कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ध्रुव तारा हैं। इस प्रकार जैन साहित्याकाशके इन सूर्य चन्द्र और ध्रुवतारा-द्वारा प्रदर्शित दिशा निर्देशसे कोई भी जैन-साहित्यका मुमुक्षु पथिक पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकता है।

जैन पुरातत्व साहित्यके आचार्य श्री जिनविजयजी ने लिखा है कि—"हरिभद्रसूरिका प्रादुर्भाव जैन इतिहासमें बड़े महत्वका स्थान रखता है। जैनधर्मके—जिसमें मुख्यकर श्वेताम्बर संप्रदायके—उत्तर कालीन स्वरूपके संगठन कार्यमें उनके जीवनने बहुत बड़ा भाग लिया है। उत्तरकालीन जैन साहित्यके इतिहासमें वे प्रथम लेखक माने जानेके योग्य हैं। और जैनसमाज के इतिहासमें नवीन संगठनके एक प्रधान व्यवस्थापक कहलाने योग्य हैं। इस प्रकार वे जैनधर्मके पूर्वकालीन और उत्तरकालीन इतिहासके मध्यवर्ती सीमास्तम्भ समान हैं।"

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र विद्वत्ताकी दृष्टिसे तो धुरीणतम हैं ही; आचार, विचार और सुधारकी दृष्टिसे भी इनका स्थान बहुत ही ऊंचा है। ये अपने प्रकांड पांडित्यसे गर्भित, प्रौढ़ और उच्चकोटिके दार्शनिक एवं तात्विक ग्रंथोंमें जैनेतर ग्रंथकारोंकी एवं उनकी कृतियोंकी आलोचना प्रत्यालोचना करते समय भी उन भारतीय साहित्यकारोंका गौरव पूर्वक और प्रतिष्ठाके साथ उदार एवं मधुर शब्दों द्वारा समुल्लेख करते हैं। दार्शनिक संघर्षणसे जनित तत्कालीन आक्षेपमय वातावरणमें भी इस प्रकारकी उदारता रखना आचार्य हरिभद्र सूरिकी श्रेष्ठताका सुंदर और प्रांजल प्रमाण है। इस दृष्टिसे इस कोटिके भारतीय साहित्यक विद्वानोंकी श्रेणीमें

हरिभद्रसूरिका नाम प्रथम श्रेणीमें लिखनेके योग्य है।

जैन-समाजमें हरिभद्रसूरि नाम वाले अनेक जैनाचार्य और ग्रंथकार हैं। किन्तु प्रस्तुत हरिभद्र वे हैं, जो कि याकिनी महत्तरासूनुके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये ही आचार्य शेष अन्य सभी हरिभद्रोंकी अपेक्षासे गुणोंमें, ग्रंथ-रचनाओंमें और जिन-शासनकी प्रभावना करनेमें अद्वितीय हैं। इनका काल श्री जिनविजयजीने ई० सन् ७०० से ७७० तक अर्थात् विक्रम संवत् ७२७ से ८२७ तक का निश्चित किया है, जिसे जैनसाहित्यके प्रगाढ़ अध्येता स्वर्गीय प्रोफेसर हरमन याकोबीने भी स्वीकार किया है, और जो कि अन्ततोगत्वा सर्वमान्य भी हो चुका है। हरिभद्र नामके जितने भी जैन साहित्यकार हुए हैं; *उनमेंसे चरित्र-नायक प्रस्तुत हरिभद्र ही सर्वप्रथम हरिभद्र हैं।*

दार्शनिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक और सामाजिक आदिरूप तत्कालीन भारतीय संस्कृतिको तथा चारित्रिक एवं नैतिक स्थितिके धरातलको और भी अधिक ऊंचा उठानेके ध्येयसे आचार्य हरिभद्र सूरिने सामाजिक प्रवाह और साहित्य-धाराको मोड़ कर नवीन ही दिशाकी ओर अभिमुख कर दिया। सामाजिक-विकृतिके प्रति कठोर रुख धारण किया और उसकी कड़ी समालोचना की। विरोध-जन्य कठिनाइयोंका वीरता पूर्वक सामना किया, किन्तु सत्य मार्गसे ज़रा भी विचलित नहीं हुए। यही कारण था कि जिससे समाजमें पुनः स्वस्थता प्रदायक नवीनता आई और भगवान् महावीर स्वामीके आचार-क्षेत्रके प्रति पुनः जनताकी श्रद्धा और भक्ति बढ़ी।

जिस प्रकार आचार्य सिद्धसेन दिवाकरका और स्वामी समन्तभद्रका जिनशासनकी प्रभावना करनेमें एवं जैन-साहित्यकी धारामें विशेषता प्रदान करनेमें सदृश्य स्थान है; वैसा ही महत्त्वपूर्ण और आदर्शस्थान साहित्य क्षेत्रमें एवं मुख्यतः न्याय-साहित्य क्षेत्रमें भट्ट अकलंकदेव और आचार्य हरिभद्रका समझना चाहिये। आश्चर्य तो यह है कि इनके जीवन चरित्र तकमें कुछ हेरफेरके साथ काफ़ी साम्यता है। इन दोनोंने ही साहित्य-क्षेत्रमें ऐसी मौलिकता प्रदान की कि जिससे उसमें सजीवता, स्फूर्ति, नवीनता और विशेषता आई। इस मौलिकताने ही आगे चलकर भारतीय धार्मिक क्षेत्रमें जैन धर्मको पुनः एक जीवित एवं समर्थ धर्म बनाकर उसे "जन-साधारणके हितकारी धर्म" के रूपमें परिणत कर दिया। कुछ समय पश्चात् ही जैनधर्म पुनः राजधर्म हो उठा और इस प्रभावका ही यह फल था कि हेमचन्द्र और अमारिपडहके प्रवर्तक सम्राट कुमारपाल सरीखी व्यक्तियाँ जैन समाजमें अवतीर्ण हुईं। इन्हीं आचार्यों द्वारा विरचित साहित्यके प्रभावसे दक्षिण भारत, गुजरात तथा उसके आसपासके प्रदेशोंमें जैन धर्म, जैन साहित्य और जैनसमाज समर्थ एवं अनेक सद्गुणोंसे युक्त एक उच्च कोटिका धार्मिक और नैतिक संस्कृतिके रूपमें पुनः प्रख्यातः हो उठा। इन्हीं कारणों पर दृष्टिपात करनेसे एवं तत्कालीन परिस्थितियोंका विश्लेषण करनेसे यह भले प्रकार सिद्ध हो जाता है कि हरिभद्रसूरि एक युग-प्रधान और युग-निर्माता आचार्य थे।

आचार-क्षेत्र, विचार-क्षेत्र और साहित्य-क्षेत्रमें इनके द्वारा नियोजित मौलिकता, नवीनता, और अनेकविध विशेषताको देखकर झटिति मुँहसे यह निकल पड़ता है कि आचार्य हरिभद्र कलिकाल सुधर्मा स्वामी हैं। निबंधके आगेके भागसे पाठकोंको यह ज्ञात होजायगा कि यह कथन अतिरंजित केवल काव्यात्मक वाक्य ही नहीं है, बल्कि तथ्यांशको लिये हुए है।

पूर्वकालीन और तत्कालीन स्थिति

भगवान् महावीर स्वामी, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामीके निर्वाणकालके पश्चात् ही जैन आचार और जैन साहित्य-धारामें परिवर्तन होना आरंभ हो गया था। जैन-पारिभाषिक भाषामें कहें तो केवल ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया था, और साधुओंमें भी आचार-विषयको लेकर संघर्ष प्रारंभ हो गया था; जो कि कुछ ही समय बाद आगे चलकर श्वेताम्बर-दिगम्बर रूपमें फूट पड़ा। वीरसंवत्की दूसरी शताब्दि-के मध्यमें अर्थात् वीरात् १५६ वर्ष बाद ही भद्रबाहु स्वामी—जिनका कि स्वर्गवास संवत् वीरात् १७० माना जाता है—अंतिम पूर्व श्रुतकेवली हुए। श्रुत-केवल ज्ञान भी अर्थात् १४ पूर्वोंका ज्ञान भी एवं अन्य आगम ज्ञान भी भद्रबाहुस्वामीके पश्चात् क्रमशः धीरे धीरे घटता गया, और इस प्रकार वीरकी नवमीं शताब्दि तकके कालमें याने देवर्द्धि क्षमाश्रमणके काल तक अति स्वल्पमात्रामें ही ज्ञानका अंश अवशिष्ट रह गया था। हरिभद्र सूरिका काल वीरकी १३वीं शताब्दि है। इन १३०० वर्षोंका साहित्य वर्तमानमें उपलब्ध संपूर्ण जैन वाङ्मयकी तुलनामें अल्पांशके बराबर ही होगा। यह कथन परिमाणकी अपेक्षासे समझना चाहिये, न कि महत्वकी दृष्टिसे। पूर्व शताब्दियोंका साहित्य पश्चात् की शताब्दियोंकी अपेक्षासे बहुमहत्त्वशाली है, इसमें तो कहना ही क्या है।

इन प्रथम तेरह शताब्दियोंके साहित्यमें से वर्तमान में उपलब्ध कुछ मूल आगम, भद्रबाहु स्वामीकृत कुछ निर्युक्तियाँ, उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथ, पादलिप्तसूरिकी कुछ सारांशरूप कृतियाँ, सिद्धसेन दिवाकर की रचनाएँ, सिंह क्षमाश्रमण सूरिका नयचक्रवाल, और शिवशर्मसूरि, चंद्रर्षि, कालिकाचार्य, संघदास, धर्मसेन, एवं जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण आदि कुछेक आचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रंथ पाये जाते हैं। किन्तु स्थूलिभद्र आदि जो अनेक गंभीर विद्वान् आचार्य वीर-संवत् की इन त्रयोदश शताब्दियोंमें हुए हैं; उनकी कृतियोंका कोई पता नहीं चलता है। इन महापुरुषोंने साहित्यकी रचना तो अवश्य की होगी ही; क्योंकि जैन-साधुओंका जीवन निवृत्तिमय होनेसे—साँसारिक झँझटोंका अभाव होनेसे—सारा जीवन साहित्य सेवा और ज्ञानाराधनमें ही लगा रहता था। अतः जैन साहित्य वीर-निर्वाणके पश्चात् सैकड़ों विद्वान् जैनसाधुओं द्वारा विपुलमात्रामें रचा तो अवश्य गया है, किन्तु वह जैनेतर विद्वेषियों द्वारा और मुस्लिम युगकी राज्य क्रान्तियों द्वारा नष्ट कर दिया गया है—ऐसा निश्चयात्मकरूपसे प्रतीत होता है।

बौद्धधर्म और जैनधर्मने वैदिक एकान्त मान्यताओं पर गहरा प्रहार किया है। और बौद्ध-दर्शनकी विचार-प्रणालिसे तो ज्ञात होता है कि बौद्ध-दार्शनिकोंने जैनधर्म और वैदिकधर्मको भारतसे समूल नष्ट करनेका मानो निश्चय सा कर लिया था, और विभिन्न प्रणालियों द्वारा ऐसा गंभीर धक्का देनेका प्रयत्न किया था कि जिससे ये दोनों धर्म केवल नामशेषमात्र अवस्थामें रह जायँ। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बौद्ध साधु और बौद्ध-अनुयायी जनसाधारणकी मंत्र, तंत्र औरऔषधि आदि एवं धनादिकी सहायता देकर हर प्रकारसे सेवा-शुश्रूषा करने लगे, और इस तरह जनसाधारणको उपदेश एवं लोभ आदि अनेक क्रियाओं द्वारा बौद्धधर्म की ओर आकर्षित करने लगे। अशोक आदि जैसे समर्थ सम्राटोंको बौद्ध बना लिया और इस तरह भूमि तैयार कर वैदिक धर्म एवं जैनधर्म को हानि पहुँचाने लगे। वैदिक-साहित्य और जैन साहित्यको भी नष्ट

करने लगे और सैकड़ों ग्रंथ-भंडार नेस्तनाबूद कर दिये गये।

कुछ काल पश्चात् बौद्ध साधुओंमें भी विकृति और शिथिलता आगई, इन्द्रिय पोषणकी ओर प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई; केवल शुष्क तर्क-जालके बलसे ही अपनी मर्यादाकी रक्षा करने लगे; और इतर धर्मोंके प्रति विद्वेष की भावनामें और भी अधिक वृद्धि कर दी। यही कारण था कि बौद्धोंको निकालनेके लिये समय आते ही उत्तर भारतमें शंकराचार्यने प्रयत्न किया, दक्षिणमें कुमारिल भट्टने प्रयास किया और गुजरात आदि प्रदेशोंमें जैनाचार्योंने इस दिशामें योग दिया। बौद्धोंका बल क्रमशः घटने लगा और वैदिक सत्ता पुनः धीरे २ अपने पूर्व आसनपर आकर जमने लगी। अनेक राजा महाराजा पुनः वैदिक धर्ममें दीक्षित होगये और इस तरह वैदिक धर्म अपनी पूर्वावस्थामें आते ही बौद्धधर्म के साथ २ जैनधर्मका भी नाश करनेके लिये उद्यत हो गया। इस तरह पहले बौद्ध दार्शनिक और बादमें वैदिक दार्शनिक, दोनों ही जैन साहित्यपर टूट पड़े और अनेक जैन साहित्यके प्राचीन भंडारोंको अग्निके समर्पण कर उसे नष्ट कर दिया। इन कारणोंके साथ२ भयंकर दुष्काल और राज्य-क्रांतियाँ भी जैन-साहित्यको नष्ट करनेमें कारणरूप हुई हैं। यही कारण है कि हरिभद्रसूरिके पूर्व जैन-साहित्य इतना अल्प मात्रामें ही पाया जाता है। जो कुछ भी वर्तमानमें उपलब्ध है, उसका ⅞ भाग हरिभद्रसूरिके कालसे लगाकर तत्पश्चात् कालका है। अतः जैन साहित्य-क्षेत्रमें हरिभद्रसूरिका असाधारण स्थान है, यह निस्संकोचरूपसे कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्यका दैवदुर्विपाक यहीं तक समाप्त नहीं हो गया था, उसकेभाग्यमें और भी दुःख देखने शेष थे। भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण प्रारम्भ हुए। धनापहरणके साथ २ धर्मान्ध मुसलमानोंने भारतीय साहित्य भी नष्ट करना प्रारम्भ किया और इस तरह बचा हुआ जैन साहित्यका भी बहुत कुछ अंश इस राज्य-क्रांतिके समय काल-कवलित हो गया। उस काल में जैनसाहित्यकी रक्षा करनेके दृष्टिकोणसे बचा हुआ साहित्य गुप्त भंडारोंमें रखा जाने लगा; किन्तु कुछ ऐसे रक्षक भी मिले, जिनके उत्तराधिकारियोंने भंडारोंका मुख सैकड़ों वर्षों तक नहीं खोला; परिणाम स्वरूप बहुत कुछ साहित्य कीट-कवलित हो गया; पत्ते सड़ गये-गल गये और अस्त-व्यस्त हो गये। इस प्रकार जैन साहित्य पर दुःखोंका ढेर लग गया, वह कहां तक जीवित रहता? यही कारण है कि हरिभद्रसूरिके पूर्वका साहित्य ⅛ भागके बराबर है और बादका ⅞ भागके बराबर है। यह तो हुआ हरिभद्र सूरिके पूर्व कालीन और तत्कालीन साहित्यिक स्थितिका सिंहावलोकन। अब इसी प्रकार आचार-विषयक स्थितिकी ओर दृष्टिपात करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

यह पहले लिखा जा चुका है कि आचार-विषयक फूटका इतना गहरा प्रभाव हो चुका था कि जिससे श्वेताम्बर और दिगम्बर रूपसे दो भेद होगये थे। स्थिति यहीं तक नहीं रुक गई थी। आचार शिथिलता दिनों-दिन बढ़ती गई। इन्द्रिय विजयता और इन्द्रिय दमनके स्थान पर इन्द्रिय लोलुपता, स्वार्थ-परता एवं यशो-लिप्सा आदि अनेक दुर्गुणोंका साम्राज्य-आचार क्षेत्रमें अपना पैर धीरे २ किन्तु मजबूतीके साथ जमाने लग गया था। साधुओंका पतन शोचनीय दशाको प्राप्त हो गया था। आचार्य हरिभद्रसूरिने इस परिस्थिति की अत्यंत कठोर समालोचना की है। आप ही की शक्तिका यह प्रभाव था कि जिससे जनता और

साधु-संस्था पुनः वास्तविक और आदर्श मार्गके प्रति श्रद्धामय और भक्तिशील हुई। आचार्य हरिभद्रसूरिने अपने 'संबोध-प्रकरण' में तत्कालीन परिस्थितिका वर्णन इन शब्दोंमें किया है:--"ये साधु चैत्य और मठमें रहते हैं। पूजा आदि क्रियाओंका आरम्भ समारम्भ करते हैं। स्वतःके लिये देव-द्रव्यका उपयोग करते हैं। जिनमन्दिर और शालाओंका निर्माण कराते हैं। ये मुहूर्त निकालते हैं। निमित्त बतलाते हैं। इनका (साधुओंका) कहना है कि श्रावकोंके पास सूक्ष्म बातें नहीं कहनी चाहियें। ये भस्म (राख) भी तंत्र रूपसे देते हैं। ये विविध रंगके सुगंधित और धूपित वस्त्र पहिनते हैं। स्त्रियोंके सामने गाते हैं। साध्वियों द्वारा लायाहुआ काममें लाते हैं। तीर्थ-स्थानके पंडोंके समान अधर्मसे धन इकट्ठा करते हैं। दिनमें दो तीन बार खाते हैं। पान आदि वस्तुएँ भी खाते हैं। घी-दूध आदिकाभी खूब प्रयोग करते हैं। फल-फूल और सचित्त पानीका भी उपयोग करते हैं। जाति भोजनके समय मिष्टान्नको भी ग्रहण कर लेते हैं। आहारके लिये खुशामद करते हैं। पूछने पर भी सत्य धर्मका मार्ग नहीं बतलाते हैं। प्रातःकाल सूर्योदय होते ही खाते हैं।

विकृति उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंका भी बार बार उपयोग करते हैं। केश-लुंचन भी नहीं करते हैं। शरीरका मैल उतारते हैं। साधु योग्य करणीय शुद्ध चारित्रके अनुरूप क्रियाओंको करते हुए भी लज्जित होते हैं। अकारण ही कपड़ोंका ढेर रखते हैं। स्वयं पतित होते हुए भी दूसरोंको प्रायश्चित देते हैं। पडिलेहणा (प्रतिलेखना) भी नहीं करते हैं। वस्त्र, शैय्या, जूते, वाहन, आयुध, और तांबे आदिके पात्र रखते हैं। स्नान करते हैं। सुगंधित तेलका उपयोग करते हैं। शृंगार करते हैं। अत्तर फुलेल लगाते हैं। अमुक ग्राम मेरा और अमुक कुल मेरा—ऐसा ममत्वभाव रखते हैं। स्त्रियोंका प्रसंग रखते हैं। श्रावकोंको कहते हैं कि मृतकार्य (मृतभोज) के समय जिन-पूजा करो और मृतकोंका धन जिनदानमें देदो। पैसोंके लिये (दक्षिणारूपसे प्राप्त करनेके लिये) अंग उपांग आदि सूत्रोंको श्रावकोंके आगे पढ़ते हैं। शालामें या गृहस्थोंके घरपर खाजा आदि पाक पदार्थ तैयार करवाते हैं। पतित-चारित्रवाले अपने गुरुओंके नामपर उनके दाह-स्थलों पर स्मारक बनवाते हैं। बलि करते हैं। उनके व्याख्यानमें स्त्रियाँ उनकी तारीफ करती हैं। केवल स्त्रियोंके आगे व्याख्यान देते हैं। साध्वियाँ भी केवल पुरुषोंके आगे व्याख्यान देती हैं। भिक्षार्थ घर घर नहीं घूमते हैं। मंडलीमें बैठ करके भी भोजन नहीं करते हैं। संपूर्ण रात्रिभर सोते रहते हैं। गुणवानोंके प्रति द्वेष रखते हैं। क्रय विक्रय करते हैं। प्रवचनकी ओटमें विकथाएँ करते हैं। धन देकर छोटे छोटे बालकोंको शिष्यरूपसे खरीदते हैं। मुग्ध पुरुषोंको ठगते हैं। जिन-प्रतिमाओंका क्रय-विक्रय करते हैं। उच्चाटन आदि मंत्रतंत्र भी करते हैं। डोरा धागा करते हैं। शासन-प्रभावनाकी ओटमें कलह करते हैं। योग्य साधुओंके पास जानेके लिये श्रावकोंको निषेध करते हैं। श्राप आदि देनेका भय बतलाते हैं। द्रव्य देकर अयोग्य शिष्योंको खरीदते हैं। ब्याजका धंधा करते हैं। अयोग्य कार्योंमें भी शासन-प्रभावना बतलाते हैं। प्रवचनमें कथन नहीं किये जानेपर भी ऐसे तपकी प्ररूपणा कर उसका महोत्सव करवाते हैं। स्वतः के उपयोगके लिये वस्त्र, पात्र आदि उपकरण और द्रव्य अपने श्रावकोंके घर इकट्ठे करवाते हैं। शास्त्र सुनाकर श्रावकोंसे धनकी आशा रखते हैं। ज्ञानकोशकी वृद्धि के लिये धन इकट्ठा करते हैं और करवाते हैं। आपसमें सदैव संघर्ष

करते रहते हैं। अपनी-अपनी तारीफ करके अन्य सदाचारीका विरोध करते हैं। सब ये नाम धारी साधु स्त्रियोंको ही उपदेश देते हैं। स्वच्छन्द रूपसे विचरण करते हैं। अपने भक्तके राई समान गुणको भी मेरु समान बतलाते हैं। विभिन्न कारण बतलाकर अनेक उपकरण रखते हैं। घर-घर कथाओंको कहते रहते हैं। सभी अपने आपको अर्हमिन्द्र समझते हैं। स्वार्थ आने पर नम्र हो जाते हैं और स्वार्थ पूरा होते ही ईर्षा रखने लग जाते हैं। गृहस्थोंका बहुमान करते हैं। गृहस्थोंको संयमके मित्र बतलाते हैं। परस्परमें लड़ते रहते हैं और शिष्योंके लिये भी कलह करते हैं।" इस प्रकार आचार-विषयक शोचनीय पतनका वर्णन करते हुए अन्तमें आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं, कि—"ये साधु नहीं हैं, किन्तु पेट भरनेवाले पेटु हैं। इनका (साधुओंका) यह कहना कि—"तीर्थंकरका वेश पहिनने वाला वन्दनीय है"—धिक्कार योग्य है, निन्दास्पद है।" आचार्यश्रीने ऐसे साधुओंकी "निर्लज्ज, अमर्याद, क्रूर" आदि विशेषणोंसे गम्भीर निन्दा की है। ऐसा ही साधु चरित्र-चित्रण महानिशीथ, शतपदी आदि ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रदर्शित आचार-पद्धति एक आदर्श त्याग वृत्ति और असिधारा सम अत्यन्त कठोर एक असाधारण निवृत्तिमय मार्ग है। इस मार्गमें सब प्रकारके दुःख, कठिनाइयाँ उपसर्ग एवं परिषह सहन करने पड़ते हैं। स्वयं भगवान् महावीर स्वामीने अत्यन्त उग्ररूपसे इसका परिपालन किया था। उसी आदर्श त्याग-वृत्तिकी जैन साधुओं द्वारा ही इस प्रकारकी दशा की जाती हुई देखकर आचार्य हरिभद्रसूरिको मार्मिक एवं हार्दिक वेदना हुई। आचार्यश्रीने विरोध होनेकी दशामेंभी इस स्थितिमें परिवर्तन लानेका सफल प्रयास किया और पुनः सुधार मार्गकी नींव डाली। इस दृष्टिसे हरिभद्रसूरिका साहित्यक्षेत्रमें जो स्थान है; वैसा ही गौरवपूर्ण स्थान आचार क्षेत्रमें भी समझना चाहिये।

आचार्य हरिभद्रसूरि दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामीके श्रद्धालु और स्थिर चित्तवाले अनुयायी थे। यही कारण है कि अपने समयमें जैन आचारोंकी ऐसी दशा देखकर उन्हें हार्दिक मनोवेदना हुई। और उन्होंने अपने ज्ञानबल एवं चारित्रबल-द्वारा इस क्षेत्रमें पुनः दृढ़ता स्थापित की।

भगवान् महावीर स्वामीके उद्देश्यको पूर्ण करने, उन्नत करने और विकसित करनेमें साधु संस्थाका बहुत ऊँचा स्थान है। इसके महत्व और गौरवको भुलाया नहीं जा सकता है। जैन-धर्म, जैन समाज और जैन साहित्य आज भी जीवित है, इसका मूल कारण अधिकाँशमें यह साधु-संस्था ही है। इसकी पवित्रता और आरोग्यतामें ही जैन संस्कृतिका विकास संनिहित है। किन्तु आजकी साधु-संस्थामें भी पुनः अनेक रोग प्रविष्ट हो गये हैं। अतः पुनः ऐसे ही हरिभद्र समान एक महापुरुषकी आवश्यकता है; जोकि महावीर स्वामीके आचार क्षेत्रको फिरसे सुदृढ़, स्वस्थ, और आदर्श बना सके।

'संबोध-प्रकरण' में लिखित और अत्र उद्धृत यह चारित्र-पतन तत्कालीन चैत्यवासी संप्रदायके साधुओं में पाया जाता था। यह संप्रदाय विक्रम संवत् ४१२ के आसपासमें उत्पन्न हुआ था; ऐसा धर्मसागर-कृत पट्टावलीसे ज्ञात होता है। चरित्र-नायकका काल विक्रम संवत ७५७ से ८२७ तकका है, अतः मालूम होता है कि संवत् ४१२ से ७५७ तकके कालमें इस संप्रदायने अपने पैर बहुत मजबूत जमा लिये होंगे।

हरिभद्रसूरि चैत्यवासी संप्रदायके थे या अन्य संप्रदाय के, यह कह सकना कठिन है। किन्तु कोई २ इन्हें चैत्यवासी संप्रदायके ही मानते हैं। उस समयमें चैत्य वासी और वस्तिवासी ऐसे दो प्रबल दल उत्पन्न होगये थे। इन दोनोंके परस्परमें समाचारी विषयको लेकर काफी वाद-विवाद, वाक्कलह एवं संघर्ष चलता था, और इस प्रकार ये दो विरोधी दल होगये थे—ऐसा ज्ञात होता है। अंतमें चैत्यवासी संप्रदाय विक्रम सं० १००० के आसपास समाप्त होगया और खरतर गच्छके संस्थापक श्रीजिनेश्वरसूरिने अपने अनुयायियोंके लिये वि० सं० १०८० में वस्तिवास स्थिर किया। *

इस परिस्थितिके सिंहावलोकनसे हरिभद्रसूरिका काल जैन साहित्य, जैन संस्कृति और जैन आचार क्षेत्रमें एक संक्रान्ति 'काल कहा जा सकता है। अतः हरिभद्रसूरिका आविर्भाव जैन-इतिहासमें अत्यन्त महत्वका स्थान रखता है। इसलिये यदि इन्हें "कलि-काल-सुधर्मा" कहा जाय तो यह युक्तिसंगत प्रतीत होगा। यही संक्षेपमें आचार्यश्रीके पूर्वकालीन और तत्कालीन साहित्यिक एवं आचार विषयक स्थितिकी स्थूल रूप रेखा है। अब आगे इनकी जीवनी और तत्मीमांसा, साहित्य-रचना अ ं तत्प्रभाव एवं निबन्ध से संबंधित अन्य अंगोंके संबंधमें लिखनेका प्रयास करूँगा।

---

*ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर संप्रदायमें विक्रमकी १५ वीं शताब्दिके आसपास या इसके कुछ पूर्व पुनः साधु संस्थामें चैत्यवासी जैसी स्थिति पैदा होगई होगी; इसीलिये आचारकी दृढताके लिये धर्मप्राण लोकाशाहने पुनः वस्तिवासी अपर नाम स्थानकवासी संप्रदायकी नींव डाली है।—लेखक।

'वीरशासनांक' पर कुछ सम्मतियाँ

(६) श्री बालमुकन्दजी पाटौदी 'जिज्ञासु,' किशनगंज कोटा—

"अनेकान्तका विशेषांक मुझे मिल गया है। उसके गढ साहित्य, गहरे अन्वेषण व पूर्णविचारसे लिखे गये लेखोंकी प्रशंसामें कुछ लिखनेके लिये मैं स्वयं अयोग्य हूँ—लिखनेकी शक्ति नहीं रखता। मैं इसे भले ही पूर्ण रूपेण न समझ पाऊँ परन्तु पढ़ता मैं उसे बड़े ध्यानसे और बड़ी शान्तिसे हूँ। मैं उसे एकाग्र मनसे एकान्तमें पढ़कर बड़ा ही आनन्द लाभ करता हूँ। और हृदयसे मैं उसकी उन्नति चाहता हूँ और चाहता हूँ उसके सदैव निरन्तराय दर्शन।

जैन लक्षणावली लिखनेका आपका अनुष्ठान बहुत ही प्रशंसनीय है और ऐसे ग्रन्थकारोंकी जैन संसार व जैनेतर संसारको बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह ग्रन्थ जैन संसारके रत्नकी उपमा धारणकर-ने वाला होगा। इससे लोगोंकी बहुत बड़ी ज्ञान-वृद्धि होगी।"

"श्रीमान्‌की 'मीनसंवाद' नामक कविता बड़ी ही हृदयस्पर्शी है उसका यह वाक्य "गूंजी ध्वनी अंबर-लोकमें यों, हा! वीरका धर्म नहीं रहा है !!" तो बड़ा ही हृदयमें चुभ जानेवाला और घुलजाने-वाला है।"

जैनसमाजके लिये अनुकरणीय आदर्श

[ले०—श्री अगरचन्द नाहटा, सम्पादक 'राजस्थानी']

संसारके सारे समाज द्रुतगतिसे आगे बढ़ रहे हैं, नवीन नवीन आदर्शोंका अवलम्बन कर उन्नति लाभ कर रहे हैं और एक-दूसरेसे प्रतिस्पर्धा करते हुए घुड़दौड़-सी लगा रहे हैं, पर हमारे जैनसमाजको ही न मालूम किस कालराहुने ग्रसित किया है कि उसकी आभा इस प्रगति-शील युगमें भी तिमिराच्छन्न है। उसकी कुम्भकर्णी निद्रा अब भी ज्योंकी त्यों बनी हुई है। विश्वमें कहाँ कैसी उन्नति हो रही है, इसके जानने-विचारने की हमें तनिक भी पर्वाह नहीं है। विश्व चाहे कहीं भी जाय हम तो अपने वर्त्तमान स्थानको नहीं छोड़ेंगे, ऐसा दुराग्रह प्रतीत हो रहा है। कई युवक धीरे धीरे पुकार कर रहे हैं, कुछ होहल्ला मचा रहे हैं, पर समाजके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। युवकोंको पद-पद पर विघ्न बाधाएँ उपस्थित हैं, आए दिन तिरस्कारकी बोछारें उनके धधकते हृदयकी ज्वालाको शान्त कर रही हैं। वे अपनी हार मान कर मन मसोस कर बैठ जाते हैं! कोई नवीन आदर्श उपस्थित किया जाता है तो स्थान-स्थान पर उसका विरोध होता है, उस पर गम्भीर विचार नहीं किया जाता; तब आप ही कहिये उन्नतिकी आशा क्या निराशा नहीं है?

जो व्यक्ति या समाज विश्वमें जीवित रहना चाहता है उसके लिये आवश्यक है कि तत्कालीन परिस्थितिका भलीभाँति अनुभवकर यथोचित मार्ग ग्रहण करें। जिन पुराने विचारोंसे अब काम नहीं चलता है उन्हें परित्याग कर नवीन मार्गग्रहण करें क्योंकि सभी काम परिस्थितिके आधीन होते हैं। परिस्थितिका मुक़ाबला करने वाले व्यक्ति हैं कितने? आज नहीं कल उन्हें अन्ततः उसी मार्ग पर आना पड़ेगा जिसे परिस्थिति प्रतिसमय बलवान बना रही है। जो संसारकी गतिविधिकी ओरसे सर्वथा उदासीन रहकर उसकी उपेक्षा या तिरस्कार करेंगे वे पीछे रह जायंगे, और फिर पछतानेसे होना भी कुछ नहीं। क्योंकि घुड़सवार व्यक्तिको पैदल कभी नहीं पहुँच सकता। इसीलिये जैनधर्ममें 'अनेकान्त' को मुख्य स्थान दिया गया है—कहा गया है कि अपना दृष्टिकोण विशाल रखो, विरोधीके विचारोंको पचानेकी शक्ति संचय करो, देश-कालके अनुसार अपना मार्ग निश्चित करो। पर हमें धर्मके बाहरी साधन ही ऐसी भूल-भुलैयामें डाल रहे हैं कि तत्वके आंतरिक रहस्य तक पहुँचने ही नहीं देते। स्वयं नया मार्ग निर्धारण या उपयोगी आदर्श उपस्थित करनेकी शक्ति-सामर्थ्य हममें कहाँ? दूसरेके उपस्थित किये हुए आदर्शोंका भी अनुसरण नहीं करते। न मालूम वह सुदिन हमारे लिये कब आवेगा जब हम अग्रगामी बनकर विश्वके सामने नवीन आदर्श

स्थापन करेंगे। इस लेखमें अन्य व्यक्तियों द्वारा उपस्थित किये हुए दो नवीन आदर्शोंकी ओर जैन-समाजका ध्यान आकर्षित करता हूँ। आशा है समाजके नेता एवं विद्वान्गण उनपर गंभीर विचार करेंगे।

गत वर्ष इधर कलकत्ता आते समय रास्तेमें आगरे ठहरा था तो वहाँकी 'दयालबाग' नामक संस्थाके आदर्शको देखकर दंग रह गया! इतने थोड़े वर्षोंमें इतनी महती उन्नति सचमुच आश्चर्य-जनक है! मनुष्य जीवनको सुखप्रद बनाने एवं बितानेकी जो सुव्यवस्था वहाँ नजर आई वह भारतके सभी समाजोंके लिये अनुकरणीय बोध पाठ है। जीवनोपयोगी प्रायः सभी वस्तुएँ वहाँ प्रस्तुत की जाती हैं, और उस संस्थामें रहने वाले सभी लोगोंको उन्हींका व्यवहार करना आवश्यक माना गया है। बड़े-बड़े बुद्धिशाली इन्जिनियर आदि कम वेतनमें संस्थाको अपनी समझ कर कर्त्तव्यके नाते सेवा कर रहे हैं। उनकी पवित्र सेवा एवं लगनका ही यह सुफल है कि थोड़े ही वर्षोंमें करोड़ों रुपयोंकी सम्पत्ति वहाँ हो गई है और दिनोदिन संस्थाका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है। संस्थामें काम करने वाले सभी सुशिक्षित हैं, शिक्षाका प्रबन्ध भी बहुत अच्छा है। एक-दूसरेमें बहुत प्रेम है और सभी व्यक्ति स्वस्थ एवं सुखी दिखाई देते हैं।

धार्मिक संस्कारोंके सुदृढ़ बनानेके लिये संस्था में रहने वाले सभी व्यक्ति सुबह शाम नियत समय एकत्र होकर प्रार्थना, व्याख्यान श्रवण ज्ञान-गोष्ठी करते हैं। लाखों रुपयोंकी लागतका एक नया मन्दिर बन रहा है। यद्यपि मैंने इस संस्थाका केवल दो ही घंटेमें अवलोकन किया था अतः उसके पूरे विवरणसे मैं अज्ञात हूँ, फिर भी थोड़े समयमें जो कुछ देखा उससे वह संस्था एक आदर्श संस्था प्रतीत हुई। जैन समाजकी स्तुतिके इच्छुक व्यक्तियोंको यहांसे कुछ बोध ग्रहण करना चाहिये।

इसी प्रकार एक बार आते समय दिल्लीमें एक आदर्श मन्दिरको देखनेका सुअवसर मिला, उसका नाम है 'बिडला मंदिर।' परवार बन्धुके सुयोग्य सम्पादक श्रीयुत् धन्यकुमारजी जैन भी साथ थे। निःसन्देह यह एक दर्शनीय देवस्थान है। भारतवर्षमें यह अपने ढंगका एक ही है। इस मंदिरसे सर्व-धर्मसम-भावका सुन्दर आदर्श-पाठ मिलता है। यद्यपि मुख्य रूपसे यह मंदिर बिड़ला जी के उपास्य श्री लक्ष्मीनारायणजीका है, पर वैसे सभी प्रसिद्ध धर्मोंके उपास्यदेवों-महापुरुषोंकी-मूर्तियाँ एवं चित्र इसमें अंकित हैं, स्थान स्थान पर प्रसिद्ध महापुरुषोंके उपदेश वाक्य चुन चुन कर उत्कीर्ण किये गये हैं, जिससे प्रत्येक दर्शन वाले निसंकोचसे वहां दर्शनार्थ जा सकते है और सब एक साथ एक ही मंदिरमें बैठकर अपने अपने उपास्य देवोंकी उपासना कर सकते हैं। कहां सर्व-धर्मसम-भावका इतना ऊँचा आदर्श और कहां हमारा जैन समाज, जो दिगम्बर श्वे-ताम्बर मूर्तियों एवं तीर्थोंके लिये लाखों रुपये व्यर्थ बरबाद कर रहा है। इस आदर्शका अनुसरणकर यदि हमारा जैन समाज थोड़ा सा उदार होकर अपनी साम्प्रदायिक कट्टरताको कम करदे तो आज ही समाज उन्नतिकी ओर अग्रसर होने लगे। लाखों रुपयोंका व्यर्थ खर्च बच जाय और वे रुपये दयालबाग-जैसी संस्थाके स्थापनमें, जैन-

धर्मके प्रचारमें, नवीन जैन बनाने में लगाये जाएँ तो कोई कारण नहीं कि हम विश्वमें गौरव प्राप्त नहीं कर सकें।

देहलीसे बनारस आने पर वहांके भेलुपुरेके जैन मन्दिरको देखकर प्रथम मुझे आनन्द एवं आश्चर्य हुआ कि वहां श्वेताम्बर जैन मंदिरमें श्वेताम्बर मूर्तियोंके साथ साथ कई दिगम्बर मूर्तियां भी स्थापित हैं। पर पीछेसे मालूम हुआ कि उसीके पासमें दिगम्बर भाइयोंका एक और मंदिर है जिसमें बहु संख्यक मूर्तियां हैं। यदि हमारे मंदिरोंमें दोनों सम्प्रदायोंकी मूर्तियाँ पासमें रखी रहें और हम अपनी अपनी मान्यतानुसार बिना एक दूसरेका विरोध किये समभाव पूर्वक पूजा करते रहें तो जो अनुपम आनन्द प्राप्त हो सकता है यह तो अनुभवकी ही वस्तु है। ऐसा होने पर हम एक दूसरेसे बहुत कुछ मिल-जुल सकते हैं। आपसी विरोध कम हो सकता है, एक दूसरेके विधि-विधानसे अभिज्ञ होकर जिस सम्प्रदायकी विधिविधानमें जो अनुकरणीय तत्व नजर आवे अपने में ग्रहण कर सकते हैं। एक दूसरेके विद्वान आदि विशिष्ट व्यक्तियोंसे सहज परिचित हो सकते हैं। दोनों मंदिरोंके लिये अलग अलग जगहका मूल्य मकान बनानेके खर्च, नौकर, पूजारी, मुनीम रखने आदिका सारा खर्च आधा हो जाय। अतः आर्थिक दृष्टिसे यह योजना बहुत उपयोगी एवं लाभप्रद है। पर हमारा समाज अभी तक इसके योग्य नहीं बना, एक दूसरेके विचारोंको हीन क्रियाकाण्डोंको अयुक्त और सिद्धान्तोंको सर्वथा भिन्न मान रहे हैं, इधर उधरसे जो कुछ साधारण मान्यता-भेद सुन रखे हैं उन्हींको बहुत महत्व देकर दिनोंदिन हम अधिकाधिक कट्टरता धारण कर रहे हैं। साधारणतया यही धारणा हो रही है कि उनसे हमारा मिलान-मेल हो ही नहीं सकता, उनकी धारणा सदा भ्रान्त है, पर वास्तवमें वैसी कुछ बात है नहीं, यह मैंने अपने "दिगम्बर श्वेताम्बर मान्यता-भेद शीर्षक लेखमें जो कि 'अनेकान्तके' वर्ष २ अंक १० में प्रकाशित हुआ है, बतलाया है। हमारी वर्तमान विचारधाराको देखते हुए उपर्युक्त योजना केवल कल्पना-स्वप्नसी एवं असम्भवसी प्रतीत होती है, संभव है मेरे इन विचारोंका लोग विरोध भी कर बैठें, पर वे यह निश्चयसे स्मरण रखें कि बिना परस्परके संगठन एवं सहयोगके कभी उन्नति नहीं होनेकी।

श्वेताम्बर एक अच्छा काम करेंगे तो दिगम्बर उसमें असहिष्णु होकर उसकी असफलताका प्रयत्न करेंगे। दिगम्बर जहां प्रचार कार्य करना प्रारम्भ करेंगे श्वेताम्बर वहां पहुँच कर मतभेद डाल देंगे। तब कोई नया जैन कैसे बन सकता है? अन्य समाजमें कैसे विजय मिल सकती है? अर्थात हमारा कोई भी इच्छित कार्य पूर्ण रूपसे सफल नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ दिगम्बर महावीर जयंतीकी छुट्टीके लिये या अन्य किसी उत्तम कार्यके लिये आगे बढ़ेंगे तो श्वेताम्बर समझेंगे कि हम यदि सहयोग देंगे और कार्य सफल हो जायगा तो यश उन्हें मिल जायगा अतः हम अपनी तूती अलग ही बजावें, तब कहिये सफलता मिलेगी कैसे? सर्वप्रथम यह परमावश्यक है कि जो आदर्श काय हम दोनों समाजोंके लिये लाभप्रद है कमसे कम उसमें तो एक दूसरेको पूर्ण सहयोग दें। महावीर जयन्ती आदिके उत्सव एक साथ

मनावें तो उनकी शोभा द्विगुणित हो जाती है और आपसमें प्रेम एवं जानकारी बढ़ती है।

मंदिरोंकी उपर्युक्त योजनाको अभी अलग भी रखदें तो अन्य कई ऐसे कार्य हैं जो दोनों समाजें यदि थोड़ीसी उदारतासे काम लें तो लाखों रुपये बच सकते हैं। जैसे दि० श्वे० शिक्षा संस्थाओंको एक कर दिया जाय तो बहुतसा व्यर्थ खर्च बचता है। एक कलकत्तेमें ही देखिये, केवल श्वेताम्बर समाजके तीनों सम्प्रदायोंकी तीन भिन्न २ शिक्षा संस्थाएँ हैं जिनको एक कर लेनेपर आधेसे भी कम खर्चमें ठोस कार्य हो सकता है। जो जो संस्थाएँ द्रव्याभावसे आगे नहीं बढ़ सकतीं वे उस बचे हुए खर्चसे सहज ही उन्नति कर सकती हैं। इसी प्रकार कॉन्फ्रेंस, परिषद् आदि अलग अलग होते हैं उनमें हजारों रुपयोंका व्यय प्रतिवर्ष होता है उन संगठन सभाओंका परस्परमें सहयोग नहीं होनेके कारण प्रस्ताव भी कोरे 'पोथीके बेंगण' की भाँति कागजी घोड़े रह जाते हैं। अन्यथा एक ही जैनकॉन्फ्रेंस हो तो हजारों रुपयोंका खर्च भी बच जाय और काम भी अच्छा हो, पर हमारे समाज की दशा अभी "निर्नायकं हतं सैन्यं" की हो रही है! कौन किसकी सुनता है? सब अपनी अपनी डफलीमें अलग अलग राग आलापते हैं। श्वेताम्बर दिगम्बर संस्थाएँ अभी एक न हो सकें तो कमसे कम श्वेताम्बर समाजके तीन मुख्य सम्प्रदाय तथा अन्य पार्टी बंदियाँ एक होनेको कटिबद्ध होजाँय और इसी प्रकार दि० समाजकी संस्थाएँ भी, तो कितना ठोस कार्य हो सकता है। अनेकान्त के उपासक क्या आपसी साधारण मत भेदोंको नहीं पचा सकते? अनेकान्त तो वह उदार सिद्धान्त है जहाँ वैर-विरोधको तनिक भी स्थान नहीं। विशालदृष्टि-द्वारा वस्तुके भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंको उनकी अपेक्षासे समभावपूर्वक देख सकना, सभी की संगति बैठा लेना ही तो 'अनेकान्त' है। पर हमने उसके समझनेमें पूर्णतया विचार नहीं किया, इसीसे हमारी यह उपहास्य दशा हो रही है। आशा है समाज-हितैषी सज्जनगण मेरे इन विचारोंपर गम्भीरतासे विचार करेंगे। शासनदेव दोनों सम्प्रदायोंको सद्बुद्धि दें, यही कामना है।

'वीरशासनाङ्क' पर सम्मति

(७) प्रो० जगदीशचन्द्रजी एम० ए० रुइया कालिज बम्बई—

'वीर शासनाङ्क मिला। कुछ लेख पढ़े, लेख संग्रह ठीक है। जैन समाजके लिए ऐसे पत्रकी बड़ी आवश्यकता थी। हर्ष है कि आप इस आवश्यकताको पूर्ण करनेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। ......जैन लक्षणावलिमें जो आप परिश्रम कर रहे हैं वह सराहनीय है।"

गोम्मटसार एक संग्रह ग्रन्थ है

[लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

दिगम्बर जैन-सम्प्रदायके ग्रन्थकर्ता आचार्योंमें आचार्य नेमिचन्द्र अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आप अपने समयके विक्रमकी ११वीं शताब्दीके एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार हो गये हैं, और धवल, महाधवल तथा जयधवल नामके महान् सिद्धान्त ग्रन्थोंमें निष्णात थे। इसीसे 'सिद्धान्त चक्र-वर्ती' कहलाते थे। गंगवंशीय राजा राचमल्लके प्रधान सेनापति समरकेशरी वीर मार्तण्ड आदि अनेक उपाधियोंसे विभूषित राजा चामुण्डरायके आप विद्या-गुरु थे। आपने उक्त तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंका और अपने समयमें उपलब्ध अन्य कर्म साहित्यका दोहन करके जो गोम्मटसार रूप नवनीत निकाला है वह बड़े ही महत्वका है और श्वेताम्बर सम्प्रदायके उपलब्ध कर्म ग्रन्थोंसे बहुत कुछ विशेषता रखता है। इस गोम्मटसारके पठन-पाठनकी दि० जैनसमाजमें विशेष प्रवृत्ति है। आपने गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड) के सिवाय, त्रिलोकसार, लब्धिसारकी भी रचना की है और 'कर्म प्रकृति' नामका एक ग्रन्थ भी इन्हींका बनाया हुआ कहा जाता है, परन्तु वह अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया।

आचार्य नेमिचन्द्रनेगोम्मटसारके जीवनकाण्ड और कर्मकाण्ड नामक दोनों खण्डोंमें षट्खण्डागम-सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंध स्वामित्व, वेदना और वर्गणा इन पांच विषयोंका संग्रह किया है। इसी कारण गोम्मटसारका दूसरा नाम 'पंचसंग्रह' प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। गोम्मटसारके जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड रूप दोनों भागोंका संकलन करनेमें जिन ग्रन्थोंका उप-योग किया गया है यद्यपि वे सभी मेरे सामने नहीं हैं, परन्तु उनमें से जो ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं, उनके तुलनात्मक अध्ययनसे मालूम होता है कि उक्त काण्डों की रचनामें उन धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंके सिवाय, 'प्राकृत पंचसंग्रह' से भी विशेष सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त कर्मविषयक वह साहित्य भी संभवतः आचार्य नेमिचन्द्रके सामने रहा होगा जिस परसे आचार्य पूज्यपादने अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' में कर्मसाहित्यसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी कुछ गाथाएँ 'उक्तंच' रूपसे या बिना किसी सकेतके उद्धृतकी हैं। क्योंकि आ-चार्य पूज्यपाद द्वारा उधृत गाथाओंमेंसे कुछ गाथाएँ आचार्य नेमिचन्द्रने भी अपने ग्रन्थोंमें संकलित की हैं, और अवशिष्ट गाथाएं उपलब्ध दि० कर्मसाहित्यमें कहीं पर भी नहीं पाई जाती हैं। इससे किसी ऐसे ग्रंथ-का अनुमान होना स्वाभाविक है जिसपरसे ये गाथाएँ पूज्यपाद और नेमिचन्द्रने उद्धृत की हैं। और यह भी संभव है कि आचार्य नेमिचन्द्रने पूज्यपादके ग्रंथपरसे ही उन्हें लेलिया हो।

गोम्मटसारका गम्भीर अध्ययन करने और दूसरे प्राचीन ग्रंथोंके साथ तुलना करनेमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी रचना करनेमें उन प्राचीन ग्रंथों परसे विशेष अनुकरण किया गया है। यहाँ तक कि उनके पद्योंको ज्योंका त्यों अथवा कुछ पाठ-भेदके साथ अपने ग्रन्थमें शामिल किया गया है। इसीलिये गोम्मट-सार ग्रन्थ आचार्य नेमिचन्द्रकी बिल्कुल ही स्वतन्त्रकृति

मालूम नहीं होता किन्तु यह एक संग्रह ग्रन्थ है,जिसका उक्त आचार्यने चामुण्डरायके निमित्त संकलन किया था। गोम्मटसारके सकलित होनेके बाद इसके पठन-पाठनका जैनसमाजमें विशेष प्रचार होगया और वह यहाँ तक बढ़ा कि गोम्मटसारको ही सबसे पुराना कर्म ग्रन्थ समझा जाने लगा। किन्तु जिन महा बन्धादि प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थोंके आधारपर इसकी रचना हुई थी उनके पठन पाठनादिका बिल्कुल प्रचार बन्द हो गया और नतीजा यह हुआ कि वे धवलादि महान् सिद्धान्त ग्रन्थ केवल नमस्कार करनेकी चीज़ रह गये। इसी कारण इसे ही विशेष आदर प्राप्त हुआ और उन सिद्धान्तग्रन्थोंकी प्राप्तिके अभावमें इन्हें ही मूल सिद्धान्त ग्रन्थ समझा जाने लगा। इसी ग्रन्थके कारण आचार्य नेमिचन्द्रकी अधिक ख्याति हुई और उनका यह सकलन जैन समाजके लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ। अस्तु, गोम्मटसारकी रचनाके आधारके विषयमें कुछ विचार करना ही इस लेखका मुख्य विषय है। अतः सबसे पहले उसके जीव कांडके विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

गोम्मटसारके जीवकाण्डमें जीवोंकी अशुद्ध अवस्थाका वर्णन किया गया है। गाथाओंकी कुल संख्या ७३३ दी है। ग्रंथके शुरुमें मगलाचरणके बाद बीस अधिकारोंके कथनकी प्रतिज्ञा की गई है और उन बीस अधिकारोंका—जिनमें १४ मार्गणाएं भी शामिल हैं—ग्रन्थमें विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। साथ ही अंतर्भावाधिकार और आलापाधिकार नामके दो अधिकार और भी दिये गये हैं जिससे कुल अधिकारों की संख्या २१ हो गई है जिनमें गाथाओंका और उनके प्रतिपाद्य विषयका स्पष्टीकरण, विवेचन एवं संग्रह बहुत ही अच्छे ढंगसे किया गया है। इसीलिये इसकी रचना सुसम्बद्ध जान पड़ती है और अपने विषयको पूर्णतया स्पष्ट करती है। ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयोंके लक्षण बहुत अच्छी तरह संकलित किये गये हैं जिनके कारण यह ग्रन्थ सभी जिज्ञासुओंके लिये बहुत उपयोगी होगया है। यद्यपि श्वेताम्बरीय प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथमें भी इसी विषयका संक्षिप्त वर्णन दिया हुआ है परन्तु उसमें जीवकाण्ड जैसा स्पष्ट एवं विस्तृत कथन नहीं और न उसमें इस तरहके सुसम्बद्ध लक्षणोंका ही समावेश पाया जाता है। इसी लिये प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने अपनी चतुर्थकर्म ग्रंथकी प्रस्तावनामें जीवकाण्डको देखनेकी विशेष प्रेरणा की है। अस्तु।

पंचसंग्रह और जीवकाण्ड

प्राकृत पंच संग्रहके 'जीवप्ररूपणा' नामके प्रथम अधिकारकी २०६ गाथाओंमेंसे गोम्मटसार जीवकाण्डमें १२७ गाथाएँ पाई जाती हैं। ये गाथाएँ प्रायः वे हैं जिनमें प्राण, पर्याप्ति आदिके विषयोंके लक्षण दिये गये हैं। इन १२७ गाथाओंमेंसे १०० गाथाएँ तो वे ही हैं जिन्हें धवलामें आचार्य वीरसेनने उक्तं च रूपसे दिया है और जिनका अनेकान्तकी गत तृतीय किरणमें 'अतिप्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' शीर्षकके नीचे परिचय दिया जा चुका है। शेष २७ गाथाएँ और उपलब्ध होती हैं। अतः ये सब गाथाएँ आचार्य नेमिचन्द्रकी बनाई हुई नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि पंचसंग्रह गोम्मटसारसे बहुत पहलेकी रचना है। मालूम होता है कि आचार्य नेमिचन्द्रके सामने 'प्राकृत पंचसंग्रह' जरूर था और उसी परसे उन्होंने जीवकाण्डमें ये १२७ गाथाएँ उद्धृत की हैं। पंचसंग्रहकी जो गाथाएँ जीवकाण्डमें बिना किसी पाठभेदके या थोड़से साधारण शब्द परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं उनमेंसे नमूनेके

तौर पर दो गाथाएँ नीचे दी जाती हैं:—

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥

—प्रा० पञ्च सं० १,११

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥

—गो० जी०, २९

णट्ठा सेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुव समओ य खवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो ॥

—प्रा० पंच स०, १,१६

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुव समओ अ खवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥

—गो० जी०, ४६

इन दो गाथाओंके सिवाय, प्राकृत पञ्चसंग्रहकी गाथाएँ न० २, ३, ४, ६, ८, ९, १०, १२, १४, १५, १७, १८, १९, २०, २१, २३, २५, २७, २९, ३०, ३१, ३२, ३४, ४४, ४६, ४८, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ६०, ६३, ६४, ७४ ७६, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८९, ९०, ९१, ९२ ९३, ९५, ९७, १००, १०५, १०६, १०८, १०९, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२२, १२३, १२६, १२७, १२९, १३०, १३१, १३३, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१ १५२, १५३, १५४, १५६, १५७, १५९, १६०, १६१, १६९, १७०, १७३, १७४, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८५, १९६, २०१, गोम्मटसार जीवकाण्डमें क्रमशः गाथा न० ७, ८, ९, १७, १८, २०, २२, २७, २७, ३३, ३४, ५१, ५२, ५४, ५६, ५७, ५८, ६२, ६३, ६४, ६५, ६८, ७०, ७०, ७२, ११८, १२९, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १४०, १४१, १४६, १५०, १५३, १६३, १७३, २०१, १८५, १९१, १९२, १९५, १९६, १९७, २०२, २१७, २१८; २१९, २२०, २२९, २३१, २३८, २४२, २७३, २७२, २७४, २८१, २८८, २९८, ३०२, ३०३, ३०४, ३१४, ३६९, ४५९, ४६४, ४६९, ४७०, ४७१, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४८१, ४८३, ४८४, ४८५, ४८८, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५५५, ५५७, ५५६, ५५८, ५६०, ६०४५, ६४६, ६५४, ६५५, ६६०, ६६१, ६६४, ६६५, ६७१, ६७३, ६७४, ६२८, ६६६, ६५७ पर पाई जाती हैं।

प्राकृत पंचसंग्रहकी उपर्युक्त नम्बर वाली गाथाओंके अतिरिक्त जिन गाथाओंका जीवकाण्डमें थोड़ा-सा पाठ-भेद पाया जाता है उनमेंसे नमूनेके तौर पर दो गाथाएँ नीचे दी जाती हैं:—

जो तस वहाउ विरदो णोविरओ अक्खथावर वहाओ ।
पडिसमयं सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥

—प्रा० पञ्च सं०, १,१३

जो तस वहाउ विरदो अविरदओ तहय थावर वहादो ।
एक्क समयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥

—गो० जी० ३१

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो हु जे जीवा ।
मणउक्कडाय जम्हा तम्हा ते माणुसा भणिया ॥

—प्रा०पंचस०, १,६२

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा ।
मणुब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिदा ॥

—गो० जी० १४८

इन दो गाथाओंके अलावा पञ्च संग्रहकी गथाएं न० ५, [illegible], [illegible], [illegible], ६१, ६४, ६६, ६८, ६९, १०७, १२५, १६६, १८८ १८९ भी ऐसी ही हैं जो जीवकांड

में क्रमशः नं० १०, ६१, ११७, १२८, १४७, २३०, २३३, २३६, २४०, २७४, ४३७, ४४६. ५३३, ५३४ पर थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ उपलब्ध होती हैं।

इनके सिवाय, एक गाथा जीवकाण्डमें पंचसंग्रह की ऐसी भी पाई जाती है जो अधिक पाठ भेदको लिये हुए है—उसका पूर्वार्ध तो मिलता है परन्तु उत्तरार्ध नहीं मिलता। वह बदला हुआ है। किन्तु धवलाके मुद्रित अंशमें वह पंचसंग्रहके अनुसार ही उपलब्ध होती है। वह इस प्रकार है:—

अहिमुहनियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदइंदियजं।
बहु उग्गहाइणाखलु कयछत्तीसा-ति-सय-भेयं ॥

—प्रा० पंचसं०, १,१२१

अहिमुहणिय मियबोहण माभिणि बोहियमणिदइंदियजम्
अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं ॥

—गो० जी०, ३०५

मूलाचार और जीवकाण्ड

मूलाचार दि० जैन समाजका एक मान्य ग्रन्थ है। इसके विषयमें, मैं एक लेख 'अनेकान्त' की द्वितीय वर्षकी किरण नं० ५ में लिख चुका हूँ। इसी से यहाँ उसके विषयमें अधिक कुछ नहीं लिखा जाता। उसकी कुछ गाथाएँ भी गोम्मटसार जीवकाण्डमें प्रायः ज्योंकी त्यों रूपमें उपलब्ध होती हैं। अर्थात् मूलाचारकी गाथाएँ नं० २२१, २२३, २२६, ३२८, ३१५, ३१६, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३६, १०४०, ११०२, ११०३, ११४८,११५१ गोम्मटसार जीवकाण्डमें क्रमशः नं० ११३, ११४, ८६, २२१, २२४, २२५, २५, ३६, ३७, ३८, ४०, ४१ ४२, ८१, ८२, ४२६, ४२६, पर पाई जाती हैं।

पंचसंग्रह और कर्मकाण्ड

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, कर्म विषयक साहित्यका एक अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें बंध, उदय, उदीरणा और कर्मोंकी सत्ताका बहुत ही अच्छे तरीके पर वर्णन दिया गया है। साथ ही, कर्म क्या है, उनके कितने भेद हैं और उनका जीवके साथ कैसा संबंध होता है। किस जीवके कितनी प्रकृतियोंका बंध और उदयादि होते हैं। इन सबका विवेचन इसमें किया गया है। ग्रंथमें ६ अधिकार दिये हैं और मय प्रशस्तिके गाथाओंकी कुल संख्या ६७२ दी है। जब तक मेरे देखनेमें 'प्राकृत पंच-संग्रह' नहीं आया था उस समय तक मेरा यह खयाल था कि कर्म प्रकृतियोंका इस प्रकारका बटवारा कर देने-वाला कोई अन्य प्राचीन कर्म ग्रन्थ भी आचार्य नेमि-चन्द्रके सामने रहा होगा, जिसपरसे उन्होंने संक्षिप्तरूपसे गोम्मटसार कर्मकाँडका संकलन किया है। यद्यपि पंच-संग्रहका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे मालूम होता है कि कर्मकाँडकी रचनामें कुछ क्लिष्टता आगई है। परंतु प्राकृत पंचसंग्रहमें वह सरलता बनी हुई है, इसलिये उसके द्वारा अर्थ-बोध करनेमें कोई कठिनाई मालूम नहीं होती। दूसरी विशेषता उसमें यह भी है कि जिस बातको पंचसंग्रहकार गाथाबद्ध करनेमें कठिनाई समझते थे या उससे अर्थ बोध होनेमें कुछ क्लिष्टताका अनुभव करते थे उसे उन्होंने प्राकृत गद्यमें दे दिया है और साथमें अङ्क संदृष्टि भी दे दी है, जिससे जिज्ञासुओंको उसके समझनेमें बहुत कुछ आसानी होगई है। फिर भी गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कितना ही वर्णन पंचसंग्रह से भिन्न पाया जाता है। उदाहरणके लिये इंगिनी और प्रायोपगमन सन्यास आदिका वर्णन तथा कर्मोंका नो-कर्मवाला कथन पंचसंग्रहमें नहीं है। इसी तरह कदली-घात या अकाल मरणके कारणोंको सूचित करनेवाली

गाथा भी उसमें नहीं है *। इसके सिवाय, ८७६ नं० की गाथामें ३६३ मतोंका–क्रियावादी और अक्रियावादी आदि केभेदोंका—और उसके बाद उनका संक्षिप्त स्वरूप १३ गाथाओंमें दिया है, उसके अनन्तर दैववाद, संयोगवाद और लोकवादका संक्षिप्त स्वरूप देकर उनका मिथ्यापना बताया है। साथ ही, उक्त मतोंके विवाद मेटनेका तरीक़ा बताकर उक्त प्रकरणको समाप्त किया है। यह सब कथन प्राकृत पंचसंग्रहमें नहीं है। इससे मालूम होता है कि ये सब कथन आचार्य नेमिचन्द्रने दूसरे ग्रन्थों परसे लेकर या सार खींचकर रक्खे हैं।

परन्तु गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी एक बात बहुत खटकती है और वह यह है कि गाथा नं० २२ में कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या तो बताई है परन्तु उन उत्तर प्रकृतियोंके स्वरूप और नाम आदिका क्रमशः कोई वर्णन नहीं किया गया है, जिसके किये जानेकी खास जरूरत थी। हाँ, २३, २४ और २५ नं० की गाथाओंमें दर्शनावरण कर्मकी नौ प्रकृतियोंमेंसे स्त्यानगृद्धि, निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला और प्रचला प्रचला इन पाँच प्रकृतियोंका स्वरूप ज़रूर दिया है—शेषका नहीं दिया। इस कमीको संस्कृत टीकाकारने पूरा किया है। परन्तु प्राकृत पंचसंग्रहके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक द्वितीय अधिकारमें मंगलाचरणके बाद, कर्म प्रकृतियोंके दो भेद बताकर पहले मूलप्रकृतियोंके नाम दिये हैं और फिर एक गाथामें उनके स्वभावको उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। इसके पश्चात् एक गाथामें उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या दी है और फिर प्राकृत गद्यमें उनके नाम, भेद और स्वरूपको दिया है। अतः गोम्मटसार कर्मकाण्डकी अपेक्षा 'प्राकृत पंचसंग्रह' कर्मसाहित्यके जिज्ञासुओंके लिये विशेष उपयोगी मालूम होता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डकी रचनापरसे एक बातका और भी पता चलता है और वह यह कि इसमें अधःकरण, अपूर्वकरणके लक्षणवाली गाथाएँ जो जीवकाण्डमें दी गई हैं, उन्हें कर्मकाण्डमें भी दुबारा मूल गाथाओंके साथ दिया गया है। इसके सिवाय, जो गाथाएँ कर्मकाण्डमें १५५ नं० से लगाकर १६२ तक दी हैं फिर उन्हीं गाथाओंको ६१४ नं० से लेकर ६२१ तक दिया है, जिससे ग्रंथमें पुनरुक्ति मालूम होती है। शायद लेखकोंकी कृपासे ऐसा हुआ हो। कुछ भी हो, परन्तु इस कर्मकाण्डके संकलन करनेमें 'प्राकृत पंचसंग्रह' से विशेष सहायता ली गई मालूम होती है। क्योंकि पंचसंग्रहकी कुछ गाथाएँ कर्मकाण्डमें भी ज्योंकी त्यों अथवा कुछ थोड़ेसे शब्द परिवर्तनके साथ उपलब्ध होती हैं। उनमेंसे दो गाथाएँ यहां नमूनेके तौर पर दी जाती हैः—

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ॥

—प्रा० पंच सं० २, ३

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तह विय कम्मा मुणेयव्वा ॥

—गो० क०, २१

पयडीणं अंतराए उवघाए तप्पदोस णिण्हवणे ।
आवरणदुयं भूओ बंधइ अच्चासणाए य ॥

—प्रा० पंच सं०, ४, २००

---

* कदलीघात मरणके कारणोंका दिग्दर्शन कराने वाली दो गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्दके 'भावपाहुड' में २५, २६ नम्बर पर पाई जाती हैं। उनमेंसे गोम्मटसार कर्मकाण्डमें २५ नं० की गाथा संग्रहकी गई है। इस गाथाको आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें भी 'उक्तं च' रूपसे दिया है और वह धवलाके मुद्रित अंशमें पृष्ठ २३ पर छपी है।

परिवीत मंतराए उवघादो तप्पदोस णिण्हवणे।
आवरणदुगंभूयो बंधदि अच्चासणाएवि ॥

—गो० क० ८००

इसी प्रकार पंचसंग्रहकी २, ४, ५, २६, ४७, ५०, १०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०६, २१०, २१७, २४०, २५१, ४१२, ४२३, ४२७, ४२८, ४२६, ४३०, ४४५, ४५४, ८५५, ४६३, ४८८, ४८६, ४६५, ४६७, ५०१, ५०२, ५०३, ५०५, ५०६, ५११, ५३३, ५४७, ५५५, ७३६, नम्बरकी गाथाएँ गोम्मटसार कर्मकाण्डमें क्रमशः नं० २०, २२, ३५, ३१४, २७६, २८१, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०६, ८१०, ४५५, १२२, ४६३, ११६, १५२, १५४, १३४, १३५, १३६, १७८, १६३, १६४, १६५, १८३, १८२, ४८, १८५, १६२, २०७, २०८, २०६, २११, २१५, २१०, ६३०, ४६३, ५०८, ७०५, नम्बर पर पाई जाती हैं।

इनके अतिरिक्त जिनगाथाओंमें कुछ पाठ-भेद पाया जाता है उन्हें नीचे दिया जाता है:—

णामस्स य बंधोदयसंताणिगुणं पडुच य विभजं।
तिगयोगे णय पुरा दु भणियव्वं अत्थजुत्तीए॥

—प्रा० पंच सं० पत्र ५६

णामस्स य बंधोदय सत्ताणि गुणं पडुच उत्ताणि।
पत्तेया दो सव्वं भणिदव्वं अत्थजुत्तीए॥

—गो० क०, ६६५।

चवचवया पणवासा तेमाल कुपालसत्त तीसाय।
चउवीस दु बावीसा सोलस एऊण आवणवसत्ता॥

—प्रा० पंचसं० ३, ७८

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सत्ततीसा य।
चदुवीसा बावीसा बावीसमपुव्वकरणोत्ति॥
थूले सोलसपहुदी एगूणं जावहोदि दसठाणं।
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव॥

—गो० क० ७८६, ७६०

अट्ठत्तीससहस्सा बे चेव सयाइवंति सगतीसा।
पदसंखा णायव्वा लेस्सं पडि मोहणीयस्स॥

—प्रा० पंचसं०पत्र, ५५

अट्ठत्तीससहस्सा बेण्णिसया होंति सत्ततीसा य।
पयडीणं परिमाणं लेस्सं पडि मोहणीयस्स॥

—गो० क०, ५०५

इनके अलावा पंचसंग्रहके पत्र ५७ और ६१ की दो गाथाएँ और भी गोम्मटसारमें ७१०, और २७१ नं० पर उपलब्ध होती हैं। और कुछ गाथाएँ ऐसी भी पाई जाती हैं जिनका पूर्वार्ध तो मिलता है पर उत्तरार्ध नहीं मिलता—वह बदला हुआ है। उन्हें लेख वृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है।

इस सब तुलना परसे मालूम होता है कि गोम्मटसार एक संग्रह ग्रंथ है। और इसके संग्रह करनेमें आचार्य नेमिचन्द्रने प्राकृत पंचसंग्रहसे विशेष सहायता ली है।

वीर सेवामन्दिर, सरसावा;
ता० १६—२—१६४०

मानव-धर्म

मानव-धर्म मानवोंसे, नहिं करना घृणा सिखाता है;
मनुज-मनुजको एक बताता भाई-भाईका नाता है।
असली जाति-भेद नहिं इनमें गो-अश्वादि-जाति-जैसा;
शूद्र-ब्राह्मणीके संगमसे उपजे मनुज भेद, कैसा ? ॥१॥
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये भेद कहे व्यवहारिक हैं;
निज-निज कर्माश्रित, अस्थिर, नहिं ऊँच-नीचता-मूलक हैं।
सब हैं अंग समाज-देहके क्या अन्त्यज, क्या आर्य महा;
क्या चांडाल-म्लेच्छ, सब ही का अन्योऽन्याश्रित कार्य कहा ॥२॥
सब हैं धर्मपात्र, सब ही हैं धार्मिकताके अधिकारी,
धर्मादिक अधिकार न दे जो शूद्रोंको वह अविचारी।
शूद्र तिरस्कृत पीडित हो निज कार्य छोड़ दें यदि सारा,
तो फिर जगमें कैसी बीते ? पंगु समाज बने सारा ॥३॥
गर्भवास औ' जन्म समयमें कौन नहीं अस्पृश्य हुआ ?
कौन मलोंसे भरा नहीं ? किसने मल-मूत्र न साफ़ किया ?
किसे अछूत जन्मसे तब फिर कहना उचित बताते हो ?
तिरस्कार भंगी-चमारका करते क्यों न लजाते हो ? ॥४॥
जाति-कुमदसे गर्वित हो जो धार्मिकको ठुकराता है;
वह सचमुच आत्मीय-धर्मको ठुकराता न लजाता है।
क्योंकि धर्म धार्मिक पुरुषोंके बिना कहीं नहीं पाता है;
धार्मिकका अपमान इसीसे वृष-अपमान कहाता है ॥५॥
मानव-धर्मापेक्षिक सब हैं धर्मबन्धु अपने प्यारे;
अपनोंसे नहिं घृणा श्रेष्ठ है, हैं उद्धार-योग्य सारे।
अतः सुअवसर-सुविधाएँ सब उन्हें सुनामिव देना है;
इस ही से कल्याण उन्होंका औ' अपना भी होना है ॥६॥
बन करके 'युग-वीर' उठादो रूढ़ि-जनित संस्कारोंका—
पर्दा हृदय-पटलसे अपने ढादो गढ़ हुंकारोंका।
तब होगा दर्शन सुसत्यका, मानवधर्म-पुण्यमयका;
जीवन सफल बनेगा तब हो, अनुगामी हो सत्पथका ॥७॥

"युगवीर"—

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक

[ले०—श्री० प्रोफेसर जगदीशचन्द्र, एम.ए.]

आजसे सात-आठ वर्ष पहलेकी बात है जब मैं बनारस हिन्दु-युनिवर्सिटीमें एम. ए. में पढ़ता था। उस समय श्रीमान् पं० सुखलालजीका उमास्वाति और तत्त्वार्थाधिगम भाष्यके सम्बन्धमें अनेकान्त (प्रथमवर्ष कि०६ से १२)में एक लेख निकला, जिसे पढ़कर मनमें नाना विचार-धाराओंका उद्भव हुआ और इस विषयमें विशेष अध्ययन करनेकी इच्छा बलवती हो उठी। संयोगवश अगले साल ही मुझे बहैसियत एक रिसर्च-स्कालरके शाँतिनिकेतन जाना पड़ा, और वहाँ मुनि जिनविजयजीके प्रोत्साहनसे मैंने तत्त्वार्थराजवार्त्तिकके सम्पादनका काम हाथमें ले लिया। इस ग्रंथके प्रकाशनकी आयोजना सिंघी सीरिज़में की गई। मैं पहलेसे ही राजवार्त्तिकपर अत्यन्त मुग्ध था। भाँडारकर इन्स्टिट्यूट पूनासे राजवार्त्तिककी कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ मँगाई गई और मैंने अपना काम शुरू कर दिया। दुर्भाग्यवश राजवार्त्तिकके नूतन और शुद्ध संस्करणके निकालनेका कार्य तो पूर्ण न हो सका, लेकिन इसके बहाने मुझे कुछ लिखनेके लिये मनोरंजक सामग्री अवश्य मिल गई।

वर्त्तमानका मुद्रित राजवार्त्तिक कितना अशुद्ध है, और इतना अशुद्ध होने पर भी कितने मज़ेसे दिगम्बर पाठशालाओंमें उसका अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, इसकी कल्पना मुझे तब पहली बार हुई। बहुतसे स्थल तो ऐसे हैं जहाँ वार्त्तिककी टीका बन गई है और टीका वार्त्तिक बन गई है। खैर, इसके लिये तो स्वतंत्र लेखकी ही आवश्यकता है। हम इस लेखमें सिर्फ़ कुछ ऐसे मुद्दे पेश करना चाहते हैं, जिनसे जान पड़ता है कि अकलंकके राजवार्त्तिक लिखते समय उनके सामने उमास्वातिका तत्त्वार्थाधिगम भाष्य मौजूद था। और उन्होंने अपनी वार्त्तिकमें उसका उपयोग किया है:—

(१) (क) **'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च'** दिगम्बरीय पाठ है। इसके स्थानमें तत्त्वार्थभाष्य-सम्मत पाठ है ***'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ'।*** *उक्त पाठ राजवार्त्तिक*कारके सामने मौजूद था। अकलंक देव लिखते हैं:— **"समाधिकावित्यपरेषाँ पाठः—बंधे समाधिकौ पारिणामिकावित्यपरे सूत्रं पठंति।"**

(ख) दिगम्बर-परम्परामें **'द्रव्याणि' 'जीवाश्च'** दोनों सूत्र अलग अलग हैं, लेकिन श्वेताम्बर-परम्परामें दोनों सूत्रोंके स्थानपर एक सूत्र है—**'द्रव्याणि जीवाश्च'**। इसपर राजवार्त्तिककार लिखते हैं—**"एकयोग इति चेन्न जीवानामेव प्रसंगात्—स्यान्मतं एक एव योगः कर्त्तव्यः द्रव्याणि जीवा इत्येवं च शब्दाकरणात् लघिरिति, तन्न, किं कारणं जीवानामेव प्रसंगात्।"**

(ग) **'अवग्रहेहावायधारणाः'** दिगम्बर-परम्पराका सूत्र है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके सूत्रोंमें 'अवाय' के स्थानमें 'अपाय' है। इस पर अकलंकदेव लिखते हैं— **"आहकिमयमपाय उतावाय इत्युभयथा न दोषोऽन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात्।"** यहां अवाय और अपाय दोनोंही पाठोंको अकलंकने निर्दोष बताया है।

(घ) **'अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य' 'स्वभावमार्दवं च'** ये दो सूत्र दिगम्बर-परम्पराके हैं। इनके स्थनामें श्वेताम्बर-परम्परामें एक सूत्र है—**'अल्पारंभ-**

परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य'। इस पर शंका करते हुए राजवार्त्तिककार कहते हैं—"एकयोगीकरणमिति चेन्नोत्तरापेक्षत्वात्—बाम्मतं एको योगो कर्तव्यः—अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्येति ? तन्न, किं कारणं उत्तरापेक्षत्वात् ।"

इत्यादि रूपमें राजवार्त्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रोंके पाठभेदका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि उनके सामने कोई दूसरा पाठ अवश्य था, जिसे अकलंकने स्वीकार नहीं किया।

(२) यह शंका हो सकती है कि सूत्रपाठमें भेद होनेका जो अकलंकने उल्लेख किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि उनके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ था, जिसे दिगम्बर लोग न मानते थे, लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह सूत्रपाठ तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यका ही था। संभव है वह अन्य कोई दूसरा ही पाठ रहा हो।

यह निर्विवाद है कि अकलंकके सामने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि मौजूद थी। तथा उन्होंने सर्वार्थसिद्धिको सामने रखकर ही राजवार्त्तिकको लिखा है। निम्न लिखित तुलनात्मक उदाहरणोंसे हम यह बताना चाहते हैं कि राजवार्तिककारके समक्ष सर्वार्थसिद्धि तो थी ही, लेकिन उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका भी उन्होंने काफ़ी उपयोग किया है:—

(क) अपि च तंत्रांतरीया असंख्येयेषु लोकधातुष्वसंख्येया पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः। तत्प्रतिषेधार्थं च सप्तग्रहणमिति।" —तत्त्वार्थ० भाष्य (३-१)	सर्वार्थसिद्धिमें इस स्थान पर असंख्य लोकधातु आदिकी कोई चर्चा नहीं की गई। यहाँ सिर्फ़ इतना ही कहा गया है "सप्तग्रहणं संख्यान्तरनिवृत्त्यर्थं।" —सर्वार्थ० (३-१)	"संति हि केचित्तंत्रांतरीया अनंतेषु लोकधातुष्वनंताः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः।"—राजवार्तिक (३-१)
(ख) "तत्रास्रवैर्यथोक्तैर्नारकसंवर्तनीयैः कर्मभिरसंज्ञिनः प्रथमायामुत्पद्यन्ते। सरीसृपा द्वयोरादितः प्रथमद्वितीययोः एवं पक्षिणस्तिसृषु। सिंहाश्चतसृषु। उरगाः पंचसु। स्त्रियः षट्सु। मत्स्यमनुष्याः सप्तस्विति। न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवंति।" —त० भाष्य (३-८)	सर्वार्थसिद्धिमें इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा गया है।	"अथोत्पादः क केषामित्यत्रोच्यते—प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यंते। प्रथमाद्वितीययोः सरीसृपाः। तिसृषु पक्षिणः। चतसृषूरगाः। पंचसु सिंहाः। षट्सु स्त्रियः। सप्तसु मत्स्यमनुष्याः। न च देवनारका वा नरकेषु उत्पद्यंते।" —राज० (३-६)

(ग) (i) "अशुभनामप्रत्ययादशुभाङ्गोपांगनिर्माणसंस्थानस्पर्शरसगंधवर्णस्वराणि । हुण्डानि निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरुणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि ।" (त०भाष्य ३-३, पृ०६६ पंक्ति १०-१२)...

(ii) श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतोमलरुधिरवसामेदपूयानुलेपनतलाः श्मशानमिव पूतिमांसकेशास्थिचर्मदन्तनखास्तीर्णभूमयः ।"

(त० भाष्य ३ ३, पृष्ठ ६६, पंक्ति ३-४)

(iii) "दीप्ताग्निराशिपरिवृतस्य व्यभ्रे नभसि...यादृगुष्णजं दुःखं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टमुष्णवेदनेषु नरकेषु भवति ।"

—(त० भाष्य ३-३, पृष्ठ६७ पंक्ति ३-४)

सर्वार्थसिद्धिमें यह नहीं है ।

"अशुभनामप्रत्ययादशुभांगोपांगस्पर्शरसगंधवर्णस्वराणि हुण्डसंस्थानानि लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरुणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि, यथेह श्लेष्ममूत्रपुरीषमलरुधिरवसामेदःपूयवमनपूतिमांसकेशास्थिचर्माद्यशुभमौदारिकगतं......।.........तद्यथा निदाघे मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि......दीप्ताग्निशिखापरीतस्य...... यादृगुष्णजं दुःखं ततोऽप्यनंतगुणमुष्णनरकेषु दुःखं भवति ।" (राज०, ३-३ पृ० ११५)

(घ) "तद्यथा । तप्तायो रसपायननिष्टप्तायः स्तम्भालिंगनकूटशाल्मल्यग्रारोपणावतारणायोघनाभिघातवासी क्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचनायःकुम्भपाकाम्बरीषतर्जनयंत्रपीडनायः शूलशलाकाभेदनक्रकचपाटनांगारदहनवाहनासूचीशाड्वलापकर्षैः तथा सिंहव्याघ्रद्वीपिश्वशृगालवृककोकमार्जारनकुलसर्पवायसगृध्रकाकोलूकश्येनादिखादनैः तथा तप्तवालुकावतरणासिपत्रवनप्रवेशनवैतरण्यवतारणपरस्परयोधनादिभिरिति ।" (त० भाष्य ३-५)

(इससे आगेका पाठ भी भाष्य और राजवार्तिक दोनोंमें क़रीब-क़रीब समान ही है) ।

"सुतप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तंभालिंगनकूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघनाभिघातवासी क्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनायःकुम्भीपाकांबरीषभर्जनवैतरणीमज्जनयंत्रनिष्पीडनादिभिः......।"

—सर्वार्थ० (३-५)

राजवार्तिकमें 'भन' शब्द तक क़रीब-क़रीब सर्वार्थसिद्धिका ही अक्षरशः पाठ है, इसलिये यहाँ फिरसे नहीं दिया गया उसके आगेका पाठ भी भाष्यसे क़रीब-क़रीब अक्षरशः मिलता है ।

(३) इतना ही नहीं, राजवार्तिककारने तत्त्वार्थ-भाष्यकी पंक्तियाँ उठाकर उनकी वार्तिक बनाकर उन पर विवेचन किया है। उदाहरणके लिये 'श्रद्धासमय-प्रतिषेधार्थं च' यह भाष्यकी पंक्ति है (५-१); इसे "**अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च**" वार्तिक बनाकर इस पर अकलंकका विवेचन है (५-१)। इत्यादि। इसी तरह अकलंकदेवने भाष्यमें उल्लिखित काल, परमाणु आदि की मान्यताओं पर भी यथोचित विचार किया है। और उनमें अपने कथनकी संगति बैठानेका प्रयत्न किया है। अवश्य ही कहीं विरोध भी किया है। इससे ऊपरकी शंकाका निरसन हो जाता है, और इससे मालूम होता है कि अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्र-पाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्त्वार्थ-भाष्य मौजूद था, जिसका उपयोग उन्होंने वार्तिक अथवा वार्तिकके विवेचनरूपमें यथास्थान किया है।

(४) नीचे कुछ उद्धरण ऐसे दिये जाते हैं, जिनमें अकलंकदेवने भाष्यके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है, इतना ही नहीं उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शन किया है:—

(क) उक्तं हि **अर्हत्प्रवचने** "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इति। यहाँ अर्हत् प्रवचनसे तत्त्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय मालूम होता है। श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धसेन गणि भी इसका 'अर्हत्प्रवचन' नामसे उल्लेख करते हैं—"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वाति-वाचकोपज्ञ सूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः।"

(ख) "**कालोपसंख्यानमिति चेन्न वक्ष्यमाण लक्षणत्वात्**"—स्यादेतत् कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति अतश्चास्ति यद् भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं अतोस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यं इति? तन्न, किं कारणं वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्।" अर्थात् काल भी अजीव पदार्थ है, जिसका उल्लेख भाष्य में कई बार किया गया है, फिर आपने यहाँ उसका कथन क्यों नहीं किया? यह बात नहीं, क्योंकि उसकी चर्चा आगे चलकर होगी।

(ग) मुद्रित राजवार्तिकके अन्तमें जो कारिकायें दी हैं, वे कारिकायें भी तत्त्वार्थभाष्यमें पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त पूनाकी हस्तलिखित प्रतिमें जो इन कारिकाओंके अन्तमें कारिका दी है, वह इस तरह है:—

इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः।

यत्र संनिहितस्तर्कः न्यायागमविनिर्णयः॥

अर्थात्—'उत्तम पुरुषोंने तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य लिखा है, उसमें तर्क संनिहित है और न्याय आगमका निर्णय है।' यह कारिका बनारसकी मुद्रित राजवार्तिक प्रतिमें नहीं है। इससे जान पड़ता है कि अकलंकदेव तो तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसे अच्छी तरह परिचित थे, और वे तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्त्ताको एक मानते थे।

र विद्वान् विशेष विचार करेंगे।

सम्पादकीय विचारणा

इस लेखमें लेखक महोदयने जो विषय विद्वानोंके विचारार्थ प्रस्तुत किया है—जिस पर विद्वानोंको विशेष विचार करनेके लिये आमंत्रित किया है—वह निःसन्देह बहुत विचारणीय है। लेखकके विचारानुसार उमा-

स्वातिके तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका जो भाष्य आजकल श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें प्रचलित है वही भट्टाकलंकदेवके सामने उपस्थित था, उन्होंने अपने राजवार्त्तिकमें उसका यथेष्ट उपयोग किया है और वे उक्त भाष्य तथा मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताको एक व्यक्ति मानते थे। यह सब बात जिस आधार पर कही गई है अथवा जिन मुद्दों (उल्लेखों आदि) के बल पर सुझानेकी चेष्टा की गई है उन परसे ठीक—बिना किसी विशेष बाधाके—फलित होती है या कि नहीं, यही मेरी इस विचारणाका मुख्य विषय है।

इसमें सन्देह नहीं कि अकलंकदेवके सामने तत्त्वार्थसूत्रका कोई दूसरा सूत्रपाठ ज़रूर था, जिसके कुछ पाठोंको उन्होंने स्वीकृत नहीं किया। इससे अधिक और कुछ उन अवतरणों परसे उपलब्ध नहीं होता जो लेखके नं० १ में उद्धृत किये गये हैं। अर्थात् यह निर्विवाद एवं निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि अकलंकदेवके सामने यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था। यदि यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद होता तो उक्त नं० १ के 'घ' भागमें जिन दो सूत्रोंका एक योगीकरण करके रूप दिया है उनमें से दूसरा सूत्र **'स्वभावमार्दवं च'** के स्थान पर **'स्वभावमार्दवार्जवं च'** होता और दोनों सूत्रोंके एक-योगीकरणका वह रूप भी तब **'अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्येति'** दिया जाता; परन्तु ऐसा नहीं है।

वास्तवमें नं० १ के कथन परसे जो शंका उत्पन्न होती है और जिसे नं० २ में व्यक्त किया गया है वह ठीक है, और उसका समाधान बादके किसी भी कथन परसे भले प्रकार नहीं होता। चौथे नम्बरके 'ख' भागमें राजवार्तिकका जो अवतरण दिया गया है उसमें प्रयुक्त हुए **"षड्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं"** इस वाक्यमें जिस भाष्यका उल्लेख है वह श्वेताम्बर-सम्मत वर्तमानका भाष्य नहीं हो सकता; क्योंकि इस भाष्यमें बहुत बार तो क्या एक बार भी **'षड्द्रव्याणि'** ऐसा कहीं उल्लेख अथवा विधान नहीं मिलता। इसमें तो स्पष्ट रूपसे पांच ही द्रव्य माने गये हैं, जैसा कि पाँचवें अध्यायके **'द्रव्याणि जीवाश्च'** इस द्वितीय सूत्रके भाष्यमें लिखा है—**"एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पंच द्रव्याणि च भवन्तीति"** और फिर तृतीय सूत्रमें आए हुए **'अवस्थितानि'** पदकी व्याख्या करते हुए इसी बातको इस तरह पर पुष्ट किया है कि—**"न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति"** अर्थात् ये द्रव्य कभी भी पाँचकी संख्यासे अधिक अथवा कम नहीं होते। सिद्धसेन गणीने भी उक्त तीसरे सूत्रकी अपनी व्याख्यामें इस बातको स्पष्ट किया है और लिखा है कि 'काल किसीके मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचकके मतसे नहीं, वे तो द्रव्योंकी पाँच ही संख्या मानते हैं।' यथा—

"कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते, वाचकमुख्यस्य पंचैवेति।"

ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि अकलंकदेवके सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था। जब दूसरा ही भाष्य मौजूद था तब लेखके नं० २ में कुछ अवतरणोंकी तुलना परसे जो नतीजा निकाला गया अथवा सूचन किया गया है वह सम्यक् प्रतिभासित नहीं होता—उस दूसरे भाष्यमें भी उस प्रकारके पदोंका विन्यास अथवा वैसा कथन हो सकता है। अवतरणोंमें परस्पर कहीं कहीं प्रतिपाद्य-विषय-सम्बन्धी कुछ मतभेद भी पाया जाता है, जैसा नं० २ के 'क'-'ख' भागोंको देखनेसे स्पष्ट जाना जाता है। ख-भागमें जब तत्त्वार्थभाष्यका सिंहोंके लिये चार नरकों तक और उरगों (सर्पों) के

लिये पाँच नरकों तक उत्पत्तिका विधान है, तब राजवार्तिकका उरगोंके लिये चार नरकों तक और सिंहोंके लिये पाँच नरकों तककी उत्पत्तिका विधान है। यह मतभेद एक दूसरेके अनुकरणको सूचित नहीं करता, न पाठ-भेदकी किसी अशुद्धि पर अवलम्बित है; बल्कि अपने अपने सम्प्रदायके सिद्धान्त-भेदको लिये हुए हैं। राजवार्तिकका नरकोंमें जीवोंके उत्पादादि सम्बन्धी कथन 'तिलोयपण्णत्ती' आदि प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थोंके आधार पर अवलम्बित है *।

यहाँ पर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह है कि श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धिमें, प्रथम अध्यायके १६ वें सूत्रकी व्याख्यामें, 'क्षिप्रानिःसृत' के स्थानपर 'क्षिप्रनिःसृत' पाठ भेदका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"**अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः। त एवं वर्णयन्ति—श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते।**"

जिस पाठभेदका यहाँ '**अपरेषां**' पदके प्रयोगके साथ उल्लेख किया गया है वह 'स्वोपज्ञ' कहे जानेवाले उक्त तत्त्वार्थभाष्यमें नहीं है, और इसमे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पूज्यपादके सामने दूसरोंका कोई ऐसा सूत्रपाठ भी मौजूद था जो वर्तमान एवं प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य के सूत्रपाठसे भिन्न था। ऐसा ही कोई दूसरा सूत्रपाठ अकलंकदेवके सामने उपस्थित जान पड़ता है, जिसमें "**अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य**" ऐसा सूत्रपाठ होगा—'**स्वभावमार्दवं**' की जगह '**स्वभावमार्दवार्जवं च**' नहीं। इसी तरह "**बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ**" सूत्रपाठ भी होगा, जिसके "**समाधिकौ**" पदकी आलोचना करते हुए और उसे 'आर्षविरोधि वचन' होनेसे विद्वानोंके द्वारा अग्राह्य बतलाते हुए '**अपरेषां पाठः**' लिखा है—यह प्रकट किया है कि दूसरे ऐसा सूत्रपाठ मानते हैं। यहाँ '**अपरेषां**' पदका वैसा ही प्रयोग है जैसा कि पूज्यपाद आचार्यने ऊपर उद्धृत किये हुए पाठभेदके साथमें किया है। परन्तु इस '**समाधिकौ**' पाठभेदका सर्वार्थसिद्धिमें कोई उल्लेख नहीं, और इससे ऐसा ध्वनित होता है कि सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादके सामने प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य अथवा तत्त्वार्थभाष्यका वर्तमानरूप उपस्थित नहीं था, जिसका 'स्वोपज्ञ भाष्य' होनेकी हालतमें उपस्थित होना बहुत कुछ स्वाभाविक था, और न वह सूत्रपाठ ही उपस्थित था जो अकलंकके सामने मौजूद था और जिसके उक्त सूत्रपाठको वे 'आर्षविरोधी' तक लिखते हैं, अन्यथा यह संभव मालूम नहीं होता कि जो आचार्य एकमात्रा तक के साधारण पाठभेदका तो उल्लेख करें वे ऐसे विवादापन्न पाठभेदको बिल्कुल ही छोड़ जावें।

सिद्धसेन गणीकी टीकामें अनेक ऐसे सूत्रपाठोंका उल्लेख मिलता है जो न तो प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्यमें पाये जाते हैं और न वर्तमान दिगम्बरीय अथवा सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें ही उपलब्ध होते हैं। उदाहरणके लिये "**कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि**" सूत्रको लीजिये, सिद्धसेन लिखते हैं कि इस सूत्रमें प्रयुक्त हुए '**मनुष्यादीनाम्**' पदको दूसरे (अपरे) लोग '**अनार्ष**' बतलाते हैं और साथ ही यह भी लिखते हैं कि कुछ अन्य जन जो '**मनुष्यादीनाम्**' पदको तो स्वीकार करते

* देखो जैनसिद्धान्तभास्करके ४ वें भागकी तीसरी किरणमें प्रकाशित 'तिलोयपण्णत्ती' का नरक विषयक प्रकरण, (गाथा २८५, २८६ आदि) जिसमें वह विषय बहुत कुछ वर्णित है जो लेखीय नं० २ के अनेक भागोंमें उल्लेखित राजवार्तिकके वाक्योंमें पाया जाता है।

हैं वे इस सूत्रके अनन्तर **"अतीन्द्रियाः केवलिनः"** यह एक नया ही सूत्रपाठ रखते हैं * । यह सब कथन वर्तमानके दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्र पाठोंके साथ सम्बद्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पहले तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रपाठ प्रचलित थे और वे अनेक आचार्य परम्पराओंसे सम्बन्ध रखते थे। छोटी-बड़ी टीकाएँ भी तत्त्वार्थसूत्रपर कितनी ही लिखी गई थीं। जिनमेंसे बहुतसी लुप्त हो चुकी हैं और वे अनेक सूत्रोंके पाठभेदोंको लिये हुए थीं।

ऐसी हालतमें लेखके नं० ३ में प्रोफेसर साहबने उक्त शंकाका निरसन होना बतलाते हुए, जो यह नतीजा निकाला है कि "अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था" वह समुचित प्रतीत नहीं होता। इसी तरह भाष्यकी पंक्तिको उठाकर वार्तिक बनाने आदिकी जो बात कही गई है वह भी कुछ ठीक मालूम नहीं होती। अकलंकने अपने राजवार्तिकमें पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि का प्रायः अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धिमें पाँचवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखा है— **"कालो वक्ष्यते, तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कालग्रहणम्।"** इसी बातको व्यक्त करते हुए तथा कालके लिये उसके पर्याय नाम 'अद्धा' शब्दका प्रयोग करते हुए राजवार्तिकमें एक वार्तिक "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" दिया है और फिर इसकी व्याख्यामें लिखा है—**"अद्धा शब्दो निपातः कालवाची स वक्ष्यमाणलक्षणः तस्य प्रदेश-प्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणं क्रियते।"** इससे स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक सर्वार्थसिद्धिके शब्दोंपर ही अपना आधार रखता है,और इसलिये यह कहना कि भाष्यकी **'अद्धा-समयप्रतिषेधार्थं च'** इस पंक्तिको उक्त वार्तिक बनाया गया है कुछ संगत मालूम नहीं होता। ऊपरके सम्पूर्ण विवेचनकी रोशनीमें वह और भी असंगत जान पड़ता है।

अब रही नं० ४ में दिये हुए प्रोफेसर साहबके दो मुद्दों ('क-ग' भागों) की बात। **'उक्तं हि अर्हत्प्रवचने "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा" इति'** यह मुद्रित राजवार्तिकका पाठ जरूर है;परन्तु इसमें उल्लेखित 'अर्हत्प्रवचन' से तत्त्वार्थ भाष्यका ही अभिप्राय है ऐसा लेखकमहोदयने जो घोषित किया है वह कहाँसे और कैसे फलित होता है, यह कुछ समझमें नहीं आता। इस वाक्यमें गुणोंके लक्षणको लिये हुए जिस सूत्रका उल्लेख है वह तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके पाँचवें अध्यायका ४०वाँ सूत्र है, और इसलिये प्रकट रूपमें 'अर्हत्प्रवचन' का अभिप्राय यहाँ उमास्वातिके मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका ही जान पड़ता है—तत्त्वार्थभाष्यका नहीं। सिद्धसेनगणीका जो वाक्य प्रमाणमें उद्धृत किया गया है उसमें भी 'अर्हत्प्रवचन' यह विशेषण प्रायः तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है—मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं। इसके सिवाय, राजवार्तिकमें उक्त वाक्यसे पहले यह वाक्य दिया हुआ है—**"अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्।"** और तत्सम्बन्धी वार्तिकभी इस रूपमें दिया है—**"गुणाभावा दयुक्तिरिति चेन्नाऽर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्।"** इससे उल्लेखित ग्रन्थका नाम **'अर्हत्प्रवचनहृदय'** जान पड़ता है, जो उमास्वति-कर्तृकसे भिन्न कोई दूसरा ही महत्वका ग्रन्थ होगा। बहुत संभव है कि

* **"अपरेऽतिविसंस्थुलमिदमालोक्य भाष्यं विपश्चितः सन्तः सूत्रे मनुष्यादिग्रहणमनार्षमिति संगिरन्ते"। इदमन्तरालमुपजीव्यापरे वार्तकिनः स्वयमुपरच्य सूत्रमधीयते–'अतीन्द्रियाः केवलिनः' येषां मनुष्यादीनां ग्रहणमस्ति सूत्रेऽनन्तरे त एवमाहुः—मनुष्यग्रहणात् केवलिनोऽपि पंचेन्द्रियप्रसक्तेः अतस्तदपवादार्थमतीन्द्रियाणि केवलिनो वर्तन्त इत्याख्येयम्।"**

'अर्हत्प्रवचनहृदये' के स्थान पर 'अर्हत्प्रवचने' छप गया हो। इस मुद्रित प्रतिके अशुद्ध होनेको प्रोफेसर साहबने स्वयं अपने लेखके शुरूमें स्वीकार भी किया है। अतः उक्त वाक्यमें 'अर्हत्प्रवचने' पदके प्रयोगमात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जासकता कि अकलंकदेवके सामने वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाला श्वेताम्बर सम्मत तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था, उन्होंने उसके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है और उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शित किया है।' अकलंक देवने तो इस भाष्यमें पाये जानेवाले कुछ सूत्रपाठोंको आर्षविरोधी-अनार्ष तथा विद्वानोंके लिये अग्राह्य तक लिखा है। तब इस भाष्यके प्रति, जिसमें वैसे सूत्रपाठ पाये जाते हों, उनके बहुमान-प्रदर्शनकी कथा कहाँ तक ठीक हो सकती है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

राजवार्तिककी मुद्रितप्रतिके अन्तमें जो ३२ कारिकाएँ 'उक्तं च' रूपसे पाई जाती हैं वे उस दूसरे भाष्यपर से ली हुई होसकती हैं, जिसके सम्बन्धमें राजवार्तिकमें ही "बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं" ऐसा उल्लेख किया गया है—अर्थात् यह बतलाया है कि उसमें बहुत-बार छह द्रव्योंका विधान किया गया है और जिसकी चर्चा लेखांक नं० ४ के ख-भागका विचार करते हुए ऊपर की जा चुकी है। वे प्रक्षिप्त भी हो सकती हैं अथवा दूसरे किसी प्राचीन प्रबन्धपरसे उद्धृत भी कहा जासकती है। ऐसा एक प्राचीन प्रबन्ध * जयधवलामें उद्धृत भी किया गया है, जिसके प्रारम्भकी पाँच कारिकाएँ निम्न प्रकार हैं:—

अनादिकर्मसम्बन्धपरतंत्रो विमूढधीः।
संसारचक्रमारूढो बंभ्रमीत्यात्मसारथिः ॥१॥
सत्वन्तर्बाह्यहेतुभ्यां भव्यात्मा लब्धचेतनः।
सम्यग्दर्शनसद्रत्नमादत्ते मुक्तिकारणम् ॥२॥
मिथ्यात्वकर्दमापायात्प्रसन्नतरमानसः।
ततो जीवादितत्त्वानां याथात्म्यमधिगच्छति ॥३॥
अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जराक्षयः।
कर्मणामिति तत्त्वार्थस्तदा समवबुध्यते ॥४॥
हेयोपादेयतत्त्वज्ञो मुमुक्षुः शुभभावनः।
सांसारिकेषु भोगेषु विरज्यति मुहुर्मुहुः ॥५॥

इनके अनन्तर ही '**एवंतत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशं**' इत्यादि कारिकाएँ प्रारम्भ होती हैं। इन पाँच-कारिकाओंके साथ उत्तरवर्ती उन '**एवं तत्त्वपरिज्ञाद्**' आदि कारिकाओंका कितना गाढ़सम्बन्ध है और इनके बिना उक्त ३२ कारिकाओंमें की पहली कारिका कैसी असम्बद्धसी, अप्रस्तुतसी तथा कारिकाबद्ध पूर्वकथनकी अपेक्षाको रखती हुई मालूम होती है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं, सहृदय विद्वान पाठक स्वयं समझ सकते हैं। अतः उन ३२ कारिकाओंके उद्धरणपरसे यह नहीं कहा जासकता कि अकलंकने उन्हें प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य परसे ही लिया है। इन सब कारिकाओंके सम्बन्धमें किसी समय विशेष विचार प्रस्तुत करनेकी भी मेरी इच्छा है। अस्तु।

अब रही राजवार्तिककी समाप्तिसूचक-कारिकाकी बात। इस कारिकाको मैंने आजसे कोई २० वर्ष पहले आराके जैन सिद्धान्तभवनकी एक प्रतिपरसे मालूम करके अपने नोटके साथ सबसे पहले 'जैनहितैषी' (भाग १५, अंक १-२, पृष्ठ ६) में प्रकट किया था। बादको यह अनेकान्तके प्रथम वर्षकी पाँचवीं किरणमें भी 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षकके नीचे प्रकट की

*** इस प्रबन्धको उद्धृत करनेके बाद जयधवलामें लिखा है—"एवमेत्तिएण पबंधेण णिव्वाणफलपज्जवसाणं" इत्यादि।**

आचुकी है। इसमें जिस 'भाष्यं' पदका प्रयोग हुआ है उसका अभिप्राय राजवार्तिक नामक तत्वार्थभाष्यके सिवा किसी दूसरे भाष्यका नहीं है। वह 'तत्त्वार्थ-सूत्राणां' पदके साथ तत्त्वार्थ-विषयकसूत्रों अथवा तत्त्वार्थशास्त्रपर बने हुए वार्तिकोंके भाष्यकी सूचनाको लिये हुए है। राजवार्तिक 'तत्त्वार्थभाष्य' के नामसे प्रसिद्ध भी है। धवलादि ग्रन्थोंमें 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' जैसे शब्दोंके साथ भाष्यके वाक्योंको उद्धृत किया गया है। पं० सुखलालजी तो इसे ही दिगम्बर सम्प्रदायका 'गंधहस्ति महाभाष्य' बतलाते हैं। इसीमें वह तर्क, न्याय और आगमका विनिर्णय अथवा तर्क, न्याय और आगमके द्वारा (वस्तुतत्वका विनिर्णय) संनिहित है जिसका उक्त कारिकामें उल्लेख है—'स्वोपज्ञ' कहे जानेवाले तत्त्वार्थ भाष्यमें यह सब बात नहीं है। और कारिकामें प्रयुक्त हुए 'उत्तमैः' पदका अभिप्राय 'उत्तमपुरुषों' से इतना संगत मालूम नहीं होता जितना कि 'उत्तम पदों' के साथ जान पड़ता है। प्रसन्नादि-गुणविशिष्ट उत्तम पदों-के द्वारा इस भाष्यका निर्माण हुआ है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है। यदि उत्तम पुरुषोंका ही अभिप्राय लिया जाय तो उसके वाच्य स्वयं अकलंक देव हैं। ऐसी हालतमें इस कारिका परसे जो नतीजा निकाला गया है वह नहीं निकाला जा सकता—अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि 'अकलंकदेव वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाले इस श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थाधिगम भाष्यसे अच्छी तरह परिचित थे और वे तत्त्वार्थसूत्र और उसके इस भाष्यके कर्ताको एक मानते थे तथा उसके प्रति बहुमान प्रदर्शित करते थे।'

आशा है इस सब विवेचन परसे प्रोफ़ेसर साहब तथा दूसरे भी कितने ही विद्वानोंका समाधान होगा और वे इस विषयपर और भी अधिक प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे। इत्यलम्।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १५-२-१९४०

साहित्य-परिचय और समालोचन

(१) उर्दू-हिन्दी कोश—संयोजक एवं सम्पादक पं० रामचन्द्र वर्मा (सहायक सम्पादक 'हिन्दी-शब्द-सागर' और सम्पादक 'संक्षिप्त शब्द सागर')। प्रकाशक, पं० नाथूराम प्रेमी मालिक हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई नं० ४। बड़ा साइज़, पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर ४४०। मूल्य, सजिल्दका २॥) रु०।

यह कोश प्रकाशक महोदय पं० नाथूरामजीकी प्रेरणापर तय्यार हुआ है। बड़ा ही सुन्दर तथा उपयोगी है। इसमें उर्दूके शब्दोंको, जिनमें अक्सर अरबी फ़ारसी-तुर्की आदि भाषाओंके शब्द भी शामिल होते हैं, देव-नागरी अक्षरोंमें दिया है। साथमें यथावश्यकता भाषाके निर्देशपूर्वक शब्दोंके लिंग तथा वचनादि-विषयक व्याकरणकी कुछ विशेषताओंका भी उल्लेख किया है और

फिर हिन्दीमें उसका स्पष्ट अर्थ दिया है। इससे यह कोश हिन्दी पढ़ने-लिखनेवालोंके लिये एक बड़ी ही कामकी चीज़ होगया है। इसके लिये लेखक और प्रेरक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं।

आज-कल हिन्दी भाषामें बहुत करके उर्दू के शब्दों-का और उर्दूकी कविताओंका प्रयोग होने लगा है— हिन्दुस्तानी भाषा दोनोंके मिश्रणसे बन रही है और बहुत पसन्द की जा रही है। जो लोग उर्दू नहीं जानते उन्हें आधुनिक पत्रों तथा पुस्तकोंके ठीक आशयको समझनेमें कभी-कभी बड़ी दिक़्क़त होती है और यदि सुन-सुनाकर वे कभी कोई उर्दूका शब्द बोलते या लिखते हैं और वह शुद्ध बोला या लिखा नहीं जातातो पढ़ने-सुनने वालोंको बुरा मालूम होता है, और कभी-कभी उसके कारण शरमिन्दगी भी उठानी पड़ती है। ऐसी हालतमें ऐसे कोशका पासमें होना बड़ा ज़रूरी है इसमें १०१६० शब्दोंका अच्छा उपयोगी संग्रह है, लेखक अथवा संयोजककी प्रस्तावना भी बड़ी महत्वपूर्ण है, और वह कोशके अनेक विषयों पर अच्छा प्रकाश डालती है। काग़ज़ तथा बम्बईकी छपाई सफ़ाई और गेट-अप सब उत्तम हैं। जिल्द खूब पुष्ट तथा मनोमोहक है। मूल्य भी अधिक नहीं है। पुस्तक सब प्रकारसे संग्रह किये जाने और पासमें रखनेके योग्य है।

(२) ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह—सम्पादक अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक— शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५-६ आरमेनियन स्ट्रीट कलकत्ता। साइज, २०×३०, १६ पेजी, पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ६६२ मूल्य सजिल्द ३।) रु०।

इस सचित्र ग्रन्थमें विक्रमकी १२ वीं शताब्दीसे लेकर २० वीं शताब्दी तकके काव्यों, गीतों, रासों आदिका संग्रह किया गया है। काव्य प्रायः हिन्दी राजस्थानी, गुजराती और अपभ्रंश भाषामें है। कुछ नमूने संस्कृत और प्राकृतके भी दिये हैं। काव्यकार प्रायः खरतर गच्छीय श्वे० साधु हैं-कुछ तपागच्छीय भी हैं। काव्योंमें कितना ही ऐतिहासिक वर्णन है और इसलिये ग्रंथका 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह' नाम सार्थक जान पड़ता है।

भाषा-विज्ञानका अध्ययन करने वालोंके लिये यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इससे ८०० वर्ष तकके काव्योंकी रचना-शैली शताब्दीवार सामने आजाती है और उसपर से हिन्दी-भाषाके क्रमविकासका कितना ही पता चल जाता है और अनेक प्रान्तीय भाषाओंका थोड़ा-बहुत बोध भी हो जाता है। ग्रंथमें काव्योंका सार देते हुए काव्यकारों आदिका अच्छा परिचय दिया है, कठिन शब्दोंका कोष भी लगाया है, काव्योंमें पाए हुए विशेष नामोंकी सूची भी अलग दी है। और भी कुछ सूचियाँ दी हैं, साथमें प्रो० हीरालाल जी जैन, एम. ए. अमरावतीकी ८ पेजकी प्रस्तावना भी है, इन सबसे इस ग्रंथकी उपयोगिता खूब बढ़ गई है। सम्पादकोंने इस ग्रन्थकी सामग्री और संकलनमें जो परिश्रम किया है, वह निःसन्देह प्रशंसनीय है और उसके लिये वे ऐतिहासिक जगत एवं साहित्यिक संसार दोनों हीके द्वारा धन्यवादके पात्र हैं। ग्रंथकी छपाई-सफाई और जिल्द बंधाई उत्तम है। १८ चित्र भी साथमें लगे हैं, यह सब देखते हुए मूल्य बहुत कम जान पड़ता है। और यह सम्पादक महोदयों तथा प्रकाशक महानुभावोंके विशिष्ट साहित्य-प्रेम एवं सेवा-भावका द्योतक है। आपका यह सत्प्रयत्न दिगम्बर समाजके उन धनिकों तथा विद्वानों के लिये अनुकरणीय है, जो अपने इधर-उधर बिखरे

हुए साहित्यकी ओर बिल्कुल ही पीठ दिये हुए हैं और उसके प्रति अपना कुछ भी कर्तव्य नहीं समझते हैं।

(३) युग प्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि—लेखक अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५ ६ आरमेनियन स्ट्रीट कलकत्ता। साइज २०×३० १६ पेजी। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ४१२। मूल्य सजिल्द १) रु०।

इस ग्रन्थका विषय इसके नामसे ही प्रकट है। ग्रन्थमें १७ वीं शताब्दीके विद्वान आचार्य युग प्रधान श्री जिनचन्द्र जी का परिचय बड़ी खोजके साथ दिया गया है। आप अपने समयके बड़े ही प्रभावशाली आचार्य थे, सम्राट अकबर आपके प्रभावसे बहुत प्रभावित हुआ था और उसने अपने राज्यमें कितने ही दिन हिंसा न किये जानेके लिये घोषित किये थे और फिर आपका अनुकरण करके दूसरे राजाओंने भी कुछ-कुछ दिनोंके लिये अपने राज्योंमें अमारिकी (किसी जीवको न मारनेकी) घोषणा की थी और इससे जैन-धर्मकी बड़ी प्रभावना हुई थी। और भी कितनी ही अनुकूलताएँ जैनियोंको अकबरके राज्यमें आपके प्रतापसे प्राप्त हुई थीं। यह सब वर्णन इस ग्रंथमें शाही फर्मानोंकी नकल के साथ दिया हुआ है। एक खास घटनाका भी इसमें उल्लेख है और वह यह है, कि—अकबरके पुत्र सलीम के घर लड़की मूल नक्षत्रके प्रथम पादमें पैदा हुई थी, ज्योतिषियोंने उसका फल शहजादा सलीमके लिये अनिष्टकारक बतलाया था और लड़कीका मुंह न देखने तथा उसका जल-प्रवाह कर देने आदिके द्वारा परित्याग की व्यवस्था दी थी। तब इस दोषकी उपशान्तिके लिये अकबरने अपने मन्त्रीश्वर कर्मचन्द बच्छावतसे परामर्श करके जैन-विधिसे बृहत् शान्तिविधान कराया था, जिसमें सोने, चान्दीके कलशोंसे सुपार्श्वनाथ भगवानका अष्टोत्तरी स्नान (अभिषेक) हुआ था और इस महोत्सवमें एक लाख रुपयेके क़रीब खर्च हुआ था। पूजन समाप्तिके अनन्तर मंगल दीपक और आरतीके समय स्वयं सम्राट् अकबर अपने पुत्र शाहज़ादे सलीम तथा अनेक मुसाहिबोंके साथ शान्ति विधानके स्थानपर उपस्थित हुआ था और उसने १० हज़ार रुपये जिनेन्द्र भगवानके सन्मुख भेंटकर प्रभुभक्ति तथा जिनशासनका गौरव बढ़ाया था। साथ ही, शान्तिके निमित्त अभिषेक जलको अपने नेत्रोंपर लगाया और अन्तःपुरमें भी भक्तिपूर्वक लगानेके लिये भेजा था। कहते हैं इस अष्टोत्तरी अभिषेकके अनुष्ठानसे सर्वदोष उपशान्त हुए, जिससे सम्राट्को परम हर्ष हुआ और वह जिनधर्मका और अधिक भक्त बना। मालूम नहीं यह घटना कहाँ तक सत्य है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अकबरके समयमें जैनधर्मका प्रभाव बहुत कुछ व्यापक हुआ था और उसके अनुयायियोंकी संख्या तब करोड़ोंकी कही जाती है। यह सब सच्चरित्र एवं विद्वान् साधु सन्तोंके प्रभावका ही फल है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा महोदयने, पुस्तकपर दी हुई अपनी सम्मतिमें, स्पष्ट स्वीकार किया है कि इन सूरिजीका उपदेश उस समयके तत्कालीन मुग़ल बादशाह अकबरने सुनकर अपने साम्राज्यमेंसे हिंसावृत्ति बहुत कुछ रोक दी थी। इनकी तपस्या और त्यागवृत्तिने बादशाहका चित्त जैनधर्मकी ओर खींच लिया था, जिससे जैनधर्मका विकास होकर उस तरफ उत्तरोत्तर आस्था बढ़ती जाती थी। फलतः बादशाह अपने यहाँ प्रायः जैनसाधुओंको बुलाकर उनसे उपदेश ग्रहण किया करता था। वह जैनसमाजके लिये

स्वर्णयुग था और कर्मचन्द बच्छावत जैसे श्रावक उसमें मौजूद थे।''

यह ग्रन्थ बहुतसे ग्रन्थोंकी सहायतासे तैय्यार हुआ है, जिनकी एक विस्तृत सूची साथमें दी गई है। साथ ही श्री मोहनलाल देवीचन्द देशाई एडवोकेट बम्बईकी महत्वपूर्ण प्रस्तावनासे भी अलंकृत है, जिसकी पृष्ठ संख्या ७१ है और अन्तमें ४८ पृष्ठोंपर ग्रन्थमें आए हुए विशेष नामोंकी सूचीको भी लिये हुए है, जिन सबसे ग्रन्थकी उपयोगिता बढ़ गई है। कागज़, छपाई, सफ़ाई तथा जिल्द उत्तम है। मूल्य एक रुपया बहुत कम है और वह लेखक महोदयों तथा प्रकाशक जीकी गुरुभक्ति एवं साहित्य प्रीतिको स्पष्ट घोषित करता है, और साथ ही दूसरोंके लिये सेवाभावसे कमी मूल्यका आदर्श भी उपस्थित करता है।

(४) विधवा कर्तव्य— लेखक अगरचंद नाहटा। प्रकाशक, शङ्करदान भैरुंदान नाहटा, नाहटोंकी गवाड़, बीकानेर। साइज़ २०×३०, १६ पेजी। पृष्ठ संख्या, ६२। मूल्य, दो आना।

इसमें सबसे पहले 'विधवा-कुलक' नामका एक दशगाथात्मक प्राकृत प्रकरण भावार्थ तथा विवेचन-सहित दिया गया है। यह प्रकरण पाटनके भण्डारसे ताड़पत्रपर लिखा हुआ उपलब्ध हुआ है और इसमें विधवाओंको शील रक्षाके लिये क्या क्या काम नहीं करने चाहिये, इस विषयका अच्छा उपदेश दिया है। विवेचन कहीं कहीं पर मूलकी स्पिरिटसे बाहर भी निकला हुआ जान पड़ता है; जैसे केशोंका संस्कार अथवा पुष्पादिसे शृङ्गार न करनेकी बात कही गई थी, तब विवेचनमें "विधवाओंको केश रखने भी न चाहिये" यहाँ तक कहा गया है और प्रमाणमें 'अरवारूढं पति दृष्ट्वा' नामका एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें केश सहित विधवा स्त्रीको भी देखनेपर सवस्त्र स्नान करनेकी बात कही गई है। यह श्लोक कहाँका और किसका है, यह कुछ बतलाया नहीं—ऐसी ही हालत विवेचनमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी है। इसमें सकेशा विधवाको देखनेपर जिस प्रायश्चित्तकी बात कही गई है वह जैन नीतिके साथ कुछ संगत मालूम नहीं होती। अस्तु, उक्त कुलकके विवेचनादिके अनन्तर पुस्तकमें 'विधवा-कर्तव्य' नामका एक स्वतंत्र निबन्ध दिया हुआ है, जिसमें लेखकने अपने विचारानुसार विधवाओं, घरवालों तथा समाजको भी बहुतसी अच्छी शिक्षाएँ दी हैं। पुस्तकमें कहीं कहीं पर छपाईकी कुछ अशुद्धियाँ खटकती हुईसी हैं।

(५) दादा श्री जिनकुशलसूरि— लेखक, अगरचंद नाहटा और भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक, शङ्करदान शुभैराज नाहटा नं० ५-६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता। साइज़, २०×३०, १६ पेजी। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर १२०। मूल्य, चार आना।

इसमें विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान आचार्य श्रीजिनकुशलसूरिका जीवन चरित्र ऐतिहासिक दृष्टिसे खोजके साथ दिया गया है और उससे सूरिजीकी अनेक जीवन-घटनाओं तथा ग्रन्थ रचनाओंपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और कितना ही इतिहास सामने आजाता है

इस पुस्तककी प्रस्तावना प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री जिनविजयजीकी लिखी हुई है, जिसमें आपने इस जीवन चरित्रको चमत्कारिक घटनाओंसे शून्य शुद्ध इतिहासप्रसिद्ध जीवनवर्णन (Pure Historical bio-

graphy) बतलाया है और सूरिजीकी सच्चरित्रता और विद्वत्ताकी प्रशंसा करते हुए उनकी 'चैत्यवन्दना कुलक-वृत्ति' नामकी उपलब्ध रचनाका बड़ा ही गुणगान किया है। साथ ही, इस वृत्तिके कुछ वाक्योंका उल्लेख एवं उद्धरण करते हुए यह भी बतलाया है कि—

"जैन समाजमें परस्पर एकता और समानताका व्यवहार रहना चाहिये, इस बातका भी इन्होंने (सूरिजीने) स्पष्ट विधान किया है जो वर्तमानमें जैनसमाजको सबसे अधिक मनन और अनुसरण करने योग्य है। इस विषयमें साधर्मिक वात्सल्यवाले प्रकरणमें इन्होंने कहा है कि— जैनधर्मका अनुवर्तन करनेवाले सब मनुष्योंको परस्पर सम्पूर्ण बन्धुभाव और समान व्यवहारमें वर्तना चाहिये—चाहे फिर कोई किसी भी देश और किसी भी जातिमें क्यों न उत्पन्न हों। जो कोई मनुष्य सिर्फ़ नमस्कार मंत्रमात्रका स्मरण करता है वह भी जैन है और अन्य जैनोंका परम बन्धु है और इसलिये उसके साथ किसी भी प्रकारका भेदभाव न रखना चाहिये और किसी प्रकारका वैर-विरोध न करना चाहिये।' धार्मिक एकताकी दृष्टिसे ये विचार कितने उदार और अनुकरणीय हैं। जिनकुशलसूरिकी चरण पूजा करनेवाले भक्तजन यदि उनके इस कथनका बुद्धि पूर्वक अनुपालन करें तो, गुरुपूजाका सबसे उत्तम-फल प्राप्त कर सकते हैं और कमसे कम अपने गच्छका तो गौरव बढ़ा सकते हैं।"

पुस्तकमें चार उपयोगी परिशिष्टोंके साथ विशेष नामोंकी सूची लगी हुई है, जिनसे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। इतिहास प्रेमी विद्वानोंके लिये पुस्तक पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है। अपने पूज्य-पुरुषोंके इतिहासको इस तरह खोज खोजकर प्रकट करनेके सत्प्रयत्नके लिये बन्धुद्वय लेखक महोदय निःसन्देह धन्यवादके पात्र हैं।

(६) सती मृगावती—लेखक, भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक, शकरदान भैरुंदान नाहटा। नाहटोंकी गवाड़ बीकानेर पृष्ठ संख्या, ४०। मूल्य, दो आना।

यह एक पौराणिक आधारपर अवलम्बित श्वेताम्बर कहानी है और भगवान महावीरके समयादिके साथ सम्बन्ध रखती है।

(७) श्रीदेव-रचना- लेखक, कवि ला० हरजसराय जैन ओसवाल। संशोधक, मुनि छोटेलाल (पञ्चनदीय)। प्रकाशक, प्यारालाल जैन (सन्हाणी) साइकसगंज, स्यालकोट शहर। पृष्ठ संख्या, १६८। मूल्य, सजिल्दका १।) अजिल्दका १) रु०।

इसमें मुख्यतासे भवनवासी आदि चार प्रकारके देवोंका और गौणतासे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि ६३ शलाका पुरुषोंका वर्णन अनेक प्रकारके छन्दोंमें दिया है, जिनमें चित्र छन्द भी हैं। पद्योंकी कुल संख्या ८४३ है। नाना छन्दोंकी दृष्टिसे पुस्तक सामान्यतया अच्छी है, विषय-वर्णन भी कुछ बुरा नहीं। भाषाका नमूना जाननेके लिये अन्तका छप्पयछंद निम्न प्रकार है, जिसमें पुस्तक रचनेका समयादिक भी दिया हुआ है:

अठारह सय सत्तरेव पंचम थिति मांहे।
बुध जन उत्तर मीन चन्द सुवस्सन उछाहे॥
कुशपुर वासी ओसवाल हरजस रचलानी।
सुर रचना जिनधर्म पुष्ट समकित रस भीनी॥
जिह सुन पठ चित अर्थ धर बढ़े ज्ञान मत बुद्ध।
नमो देव अरिहन्तजी कर जो समकित शुद्ध॥ ८४३॥

सामायिक-विचार

[ले०—स्व० श्रीमद्राजचन्द्र]

आत्म-शक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध,समाधि भावमें प्रवेश कराने वाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, राग द्वेषसे मध्यस्थ बुद्धि करने वाला सामयिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम+आय+इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' का अर्थ राग द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस सम्भावनासे उत्पन्न हुआ ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप मोक्ष मार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो, वह सामायिक है। आर्त और रौद्र इन दो प्रकार के ध्यानका त्याग करके, मन, वचन और कायके पाप-भावोंको रोक कर विवेकी मनुष्य सामायिक करते हैं।

मनके पुद्गल तरंगी है। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणाममें रहना बताया गया है, उस समय भी यह मन आकाश पातालके घाट घड़ा करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायमें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके, और बारह कायके इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है, इनके जानने से मन सावधान रहता है।

मनके दोष कहता हूँ।

१. अविवेक दोष—सामायिक-स्वरूप नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करना कि इससे क्या फल होना था? इससे तो किसने पार पाया होगा, ऐसे विकल्पोंका अविवेक दोष है।

२. यशोवाञ्छादोष—हम स्वयं सामायिक करते हैं, ऐसा दूसरे मनुष्य जानें तो प्रशंसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना वह यशोवाञ्छादोष है।

३. धनवाञ्छादोष—धनकी इच्छासे सामायिक करना धनवाञ्छादोष है।

४. गर्वदोष—मुझे लोग धर्मात्मा कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसे ही करता हूँ ऐसा अध्यवसाय होना गर्व दोष है।

५. भयदोष—मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ। मुझे लोग बड़ा मानकर मान देते हैं यदि मैं सामायिक न करूं तो लोग कहेंगे कि इतनी क्रिया भी नहीं करता, ऐसी निन्दाके भयसे सामायिक करना भय दोष है।

६. निदानदोष—सामायिक करके उसके फल से धन, स्त्री पुत्र आदि मिलनेकी इच्छा करना निदान दोष है।

७. संशयदोष—सामायिकका फल होगा अथवा नहीं होगा, ऐसा विकल्प करना संशयदोष है।

८. कषायदोष—क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाना, अथवा पीछेसे क्रोध, मान, माया और लोभमें वृत्ति लगाना वह कषाय दोष है।

९. अविनयदोष—विनय रहित होकर सामायिक करना अविनय दोष है।

१०. अबहुमानदोष—भक्तिभाव और उमंगपूर्वक सामायिक न करना वह अबहुमान दोष है।

Regd. No. L.4328

सुभाषित

ज्यों काहू विषधर डसै, रुचि सों नीम चबाय।
त्यों तुम ममतामें मढ़े, मगन विषय सुख पाय॥

ज्यों सछिद्र नौका चढ़े, बूड़ई अंध अदेख।
त्यों तुम भव जलमें परे, बिन विवेक धर भेख॥

तैसे ज्वरके जोर सों, भोजनकी रुचि जाय।
तैसे कुकरमके उदै, धर्म वचन न सुहाई॥

जैसे पवन झकोर तैं, जल में उठे तरंग।
त्यों मनसा चंचल भई, परिगहके पर संग॥

ज्यों सुवास फल फूलमें, दही दूधमें घीव,
पावक काठ पषाणमें, त्यों शरीरमें जीव।

चेतन पुद्गल यों मिले, ज्यों तिलमें खलि तेल,
प्रकट एकसे दीखिए, यह अनादिको खेल॥

वह वाके रसमें रमे, वह वासों लपटाय,
चुम्बक करषे लोहको, लोह लगे तिह धाय।

कर्मचक्रकी नींद सों, मृषा स्वप्नकी दौर,
ज्ञानचक्रकी ढरनिमें, सजग भांति सब ठौर॥

—स्व० कविवर बनारसीदास

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया, कनॉट, सर्कस न्यू देहली।

फाल्गुन, वीर नि० सं०२४६६
मार्च १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ५
वार्षिक मूल्य ३ रु०

वीर अवतार कालीन

बलिदान का एक दृश्य

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० [illegible] न्यू देहली।

विषय-सूची

१. प्रभाचन्द्र-स्मरण... ... ... ३१७
२. बढ़े चलो [ले० श्री० माईदयाल बी. ए. (ऑनर्स) बी. टी. ... ३१८
३. अहिंसा-तत्त्व [पं० परमानन्दजी शास्त्री... ... ३१९
४. मनुष्य जातिके महान् उद्धारक [श्री बी. एल. सराफ़ वकील ... ३२५
५. हरिभद्र सूरि [श्री० रतनलाल संघवी ३२८
६. वीर-नहुवा (कहानी)—[पं० मूलचन्द वत्सल ... ३३९
७. सरल योगाभ्यास [श्री० हेमचन्द्र मोदी ३४१
८. होलीका त्योहार [सम्पादकीय ३५०
९. होली होली है (कविता) [युगवीर ३५१
१०. दर्शनोंकी आस्तिकता और नास्तिकताका आधार [पं० ताराचन्द ... ३५२
११. होली है (कविता) [युगवीर ३५९
१२. जातियाँ किस प्रकार जीवित रहती हैं [श्री० ला० हरदयाल एम. ए.... ३६०
१३. भगवान महावीर और उनका उपदेश [बा० सूरजभान जी वकील ... ३६९
१४. साहित्य परिचय और समालोचन ... ३७४

अनेकान्तकी फाइल

अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी किरणोंकी कुछ फाइलोंकी साधारण जिल्द बंधवाली गई हैं। १२ वीं किरण कम हो जानेके कारण फाइलें थोड़ी ही बन्ध सकी हैं। अतः जो बन्धु पुस्तकालय या मन्दिरोंमेंभें ट करना चाहें या अपने पास रखना चाहें वे २॥) रु० मनिआर्डर भिजवा देंगे तो उन्हें सजिल्द अनेकान्तकी फाइल भिजवाई जा सकेगी।

जो सज्जन अनेकान्तके ग्राहक हैं और कोई किरण गुम हो जानेके कारण जिल्द बंधवानेमें असमर्थ हैं उन्हें १२ वीं किरण छोड़कर प्रत्येक किरणके लिये चार आना और विशेषांकके लिए आठ आना भिजवाना चाहिए तभी आदेशका पालन हो सकेगा।

—व्यवस्थापक

दो शब्द

यदि अनेकान्तके पाठक दो दो भी अनेकान्तके ग्राहक बनानेकी कृपा करें तो अनेकान्त बहुत कुछ उन्नत हो सकता है। आशा है उत्साही पाठक इस ओर अवश्य प्रयत्न करेंगे।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
फाल्गुन-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६ | किरण ५

प्रभाचन्द्र-स्मरण

अभिभूय निजविपक्षं निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधिः ।
सविता जयतु जिनेन्द्रः शुभप्रबन्धः प्रभाचन्द्रः ॥—न्यायकुमुदचन्द्र-प्रशस्तिः

अपने विपक्ष-समूहको पराजित करके जो समस्त मतोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले हैं वे गुण-समुद्र, जितेन्द्रियोंमें अग्रगण्य और शुभप्रबन्ध—न्यायकुमुदचन्द्र जैसे पुण्य-प्रबन्धोंके विधाता—प्रभाचन्द्राचार्य नामके सूर्य जयवन्त हों—अपने वचन-तेजसे लौकिकजनोंके हृदयान्धकारको दूर करनेमें समर्थ होवें ।

चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे ।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाल्हादितं जगत् ॥—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

जिन्होंने चन्द्रका उदय करके—'न्यायकुमुदचन्द्र' ग्रंथकी रचना करके—जगतको सदाके लिये आनन्दित किया है उन चन्द्र-किरण-समान उज्ज्वल यशके धारक विचारक मुनि प्रभाचन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ ।

माणिक्यनन्दी जिनराज-वाणी-प्राणाधिनाथः परवादि-मर्दी ।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्ड-वृद्धौ नितरां व्यदीपीत् ॥
सुखिने न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।
शाकटायन कृत्सूत्र न्यासकर्त्रे व्रती(प्रभे)न्दवे ॥—शिमोगा-नगरताल्लुक-शिलालेख नं० ४६

जो माणिक्य (आचार्य) को आनन्दित करनेवाले—उनके परीक्षामुख ग्रंथपर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामका महाभाष्य लिखकर उनकी प्रसन्नता सम्पादन करनेवाले—थे, जिनराजकी वाणीके प्राणाधार थे—जिन्हें पाकर एक बार जिनवाणी सनाथ हुई थी—और जो परवादियोंका मानमर्दन करनेवाले थे, वे प्रभाचन्द्र आश्चर्य है कि इस पृथ्वीपर निरन्तर ही मार्तण्डकी वृद्धिमें प्रदीप्त रहे हैं! अर्थात् प्रभापूर्ण चंद्रमा यद्यपि मार्तण्ड (सूर्य) की तेजोवृद्धिमें कोई सहायक नहीं होता—उलटा उसके तेजके सामने हतप्रभ हो जाता है, परन्तु ये प्रभाचन्द्र मार्तण्ड (प्रमेयकमलमार्तण्ड) की तेजोवृद्धिमें निरन्तर ही अव्याहतशक्ति रहे हैं एक विचित्रता है ।

जो न्यायकुमुदचन्द्रके उदयकारक—जन्मदाता—हुए हैं और जिन्होंने शाकटायनके सूत्र—व्याकरणशास्त्र-पर न्यास रचा है, उन प्रभाचन्द्र मुनिको नमस्कार है ।

अपनी कुत्सित चित्तवृत्तिके अनुकूल उस प्राणिको दुखी करनेके अनेक साधन जुटाये जाते हैं; मायाचारी से दूसरोंको उसके विरुद्ध भड़काया जाता है, विश्वास-घात किया जाता है—कपटसे उसके हितैषी मित्रोंमें फूट डाली जाती है–उन्हें उसका शत्रु बनानेकी चेष्टा की जाती है, इस तरहसे दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने रूप व्यापारके साधनोंको संचित करने तथा उनका अभ्यास बढ़ानेको समारम्भ कहा जाता है×। फिर उस साधन-सामग्रीके सम्पन्न हो जाने पर उसके मारने या दुखी करनेका जो कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है उस क्रिया को आरम्भ कहते हैं ‡। ऊपरकी उक्त दोनों क्रियाएँ तो भावहिंसाकी पहली और दूसरी श्रेणी हैं ही, किन्तु तीसरी आरम्भक्रियामें द्रव्य-भाव रूप दोनों प्रकारकी हिंसा गर्भित है, अतः ये तीनों ही क्रियाएँ हिंसाकी जननी हैं। इन क्रियाओंके साथमें मन वचन तथा काय की प्रवृत्तिके संमिश्रणसे हिंसाके नव प्रकार हो जाते हैं और कृत–स्वयं करना, कारित–दूसरोंसे कराना, अनु-मोदन–किसी को करता हुआ देखकर प्रसन्नता व्यक्त करना, इनसे गुणा करने पर हिंसाके २७ भेद होते हैं। चूँकि ये सब कार्य क्रोध, मान, माया, अथवा लोभके वश होते हैं। इसलिये हिंसाके सब मिला कर स्थूलरूप से १०८ भेद हो जाते हैं। इन्हींके द्वारा अपनेको तथा दूसरे जीवोंको दुःखी या प्राणरहित करनेका उपक्रम किया जाता है। इसीलिये इन क्रियाओंको हिंसाकी जननी कहते हैं। हिंसा और अहिंसाका जो स्वरूप जैन ग्रन्थोंमें बतलाया गया है, उसे नीचे प्रकट किया जाता है—

> सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते त्रसस्थावराङ्गिनाम्।
> प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्य-भावस्वभावकाः॥
>
> —अनगारधर्मामृते, आशाधरः ४, २२

अर्थात्—क्रोध-मान-माया और लोभके आधीन हो कर अथवा अयत्नाचारपूर्वक मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे त्रसजीवोंके—पशु पक्षी मनुष्यादि प्राणियोंके—तथा स्थावर जीवोंके—पृथ्वी, जल, हवा और वनस्पति आदिमें रहने वाले सूक्ष्म जीवोंके—द्रव्य और भाव प्राणोंका घात करना हिंसा कहलाता है। हिंसा नहीं करना सो अहिंसा है अर्थात् प्रमाद व कषायके निमित्तसे किसी भी सचेतन प्राणीको न सताना, मन वचन-कायसे उसके प्राणोंके घात करनेमें प्रवृत्ति नहीं करना न कराना और न करते हुएको अच्छा समझना 'अहिंसा' है। अथवा—

> रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति भासिदं समये।
> तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥
>
> —सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादेन उद्धृतः।

अर्थात्—आत्मामें राग-द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्ति नहीं होने देना 'अहिंसा' है और उन विकारोंकी आत्मामें उत्पत्ति होना 'हिंसा' है। दूसरे शब्दोंमें इसे इस रूपमें कहा जा सकता है कि आत्मामें जब राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया और लोभादि विकारोंकी उत्पत्ति होती है तब ज्ञानादि रूप आत्मस्वभावका घात हो जाता है इसीका नाम भाव हिंसा है और इसी भाव हिंसासे—

× परिदावकदो हवे समारम्भो॥
—भग० आराधनायां, शिवार्यः ८१२

साध्यसमभ्यासीकरणं समारम्भः।
—सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः, ६, ८।

साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारंभः।
—विजयोदयायां, अपराजितः, गा० ८११।

‡ आरंभो उद्दवओ,
—भ० आराधनायां शिवार्यः, ८१२।

प्रक्रमः आरम्भः। —सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः ६, ८।

संचितहिंसाद्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरंभः।
विजयोदयायां; अपराजितः, गा० ८११

आत्म परिणामोंकी विकृतिसे—जो अपने अथवा दूसरोंके द्रव्यप्राणोंका घात हो जाता है उसे द्रव्यहिंसा कहते हैं।

हिंसा दो प्रकारसे की जाती है—कषायसे और प्रमादसे। जब किसी जीवको क्रोध, मान, माया और लोभादिके कारण या किसी स्वार्थवश जान बूझकर सताया जाता है या सताने अथवा प्राणरहित करनेके लिये कुछ व्यापार किया जाता है उसे कषायसे हिंसा कहते हैं। और जब मनुष्यकी आलस्यमय असावधान एवं अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्तिसे किसी प्राणीका वधादिक हो जाता है तब वह प्रमादसे हिंसा कही जाती है। इससे इतनी बात और स्पष्ट हो जाती है कि यदि कोई मनुष्य बिना किसी कषायके अपनी प्रवत्ति यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे करता है उस समय यदि दैवयोगसे अचानक कोई जीव आकर मर जाय तो भी वह मनुष्य हिंसक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस मनुष्यकी प्रवृत्ति कषाययुक्त नहीं है और न हिंसा करनेकी उसकी भावना ही है। यद्यपि द्रव्यहिंसा जरूर होती है परन्तु तो भी वह हिंसक नहीं कहा जा सकता, और न जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा कहता है। हिंसात्मक परिणति ही हिंसा है, केवल द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहलाती, द्रव्यहिंसाको तो भावहिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहा जाता है। वास्तवमें हिंसा तब होती है जब हमारी परिणति प्रमादमय होती है अथवा हमारे भाव किसी जीवको दुःख देने या सतानेके होते हैं। जैसे कोई समर्थ डाक्टर किसी रोगीको नीरोग करनेकी इच्छासे ऑपरेशन करता है और उसमें दैवयोगसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो वह डाक्टर हिंसक नहीं कहला सकता, और न हिंसाके अपराधका भागी ही हो सकता है। किन्तु यदि डाक्टर लोभादिके वश जान बूझकर मारनेके इरादे से ऐसी क्रिया करता है जिससे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो जरूर वह हिंसक कहलाता है और दण्डका भागी भी होता है। इसी बातको जैनागम स्पष्ट रूपसे यों घोषणा करता है:—

उच्चालिदम्मिपादे इरियासमिद स्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिङ्गो मरेज्जतं जोगमासेज्ज॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये।

—सर्वार्थसिद्धौ पूज्यपादेन उद्धृत:

अर्थात्—जो मनुष्य देख भालकर सावधानीसे मार्ग पर चल रहा है उसके पैर उठाकर रखने पर यदि कोई जन्तु अकस्मात् पैरके नीचे आ जाय और दब कर मर जाय तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता है।

जो मनुष्य प्रमादी है—अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है—उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हुई है तो भी वह '**प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः**' के वचनानुसार हिंसक अवश्य है—उसे हिंसाका पाप जरूर लगता है। यथा—

मरदु वो जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

—प्रवचनसारे कुन्दकुन्दः ३, १७

अर्थात्—जीव चाहे मरे, अथवा जीवित रहे, असावधानीसे काम करने वालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है, किन्तु जो मनुष्य यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे अपनी प्रवृत्ति करता है उससे प्राणि-वध हो जाने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता—वह हिंसक नहीं कहला सकता, क्योंकि भावहिंसाके बिना कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहला सकती।

सकषायी जीव तो पहले अपना ही घात करता है, उसके दूसरोंकी रक्षा करनेकी भावना ही नहीं होती। वह तो दूसरोंका घात होनेसे पहले अपनी कलुषित

चित्तवृत्तिके द्वारा अपना ही घात करता है, दूसरे जीवों का घात होना न होना उनके भवितव्यके आधीन है*।

हिंसा दो प्रकारकी होती है एक अन्तरंग हिंसा और दूसरी बहिरंग हिंसा। जब आत्मामें ज्ञानादि रूप भाव प्राणोंका घात करने वाली अशुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है तब वह अंतरंग हिंसा कहलाती है। और जब जीवके बाह्य द्रव्यप्राणोंका घात होता है तब बहिरंग हिंसा कहलाती है। इन्हींको दूसरे शब्दोंमें द्रव्यहिंसा और भाव हिंसाके नामसे भी कहते हैं। यदि तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो सचमुचमें हिंसा क्रूरता और स्वार्थकी पोषक है। मनुष्यका निजी स्वार्थ ही हिंसाका कारण है। जब मनुष्य अपने धर्मसे च्युत हो जाता है तभी वह स्वार्थवश दूसरे प्राणियोंको सतानेकी चेष्टा किया करता है; आत्मविकृतिका नाम हिंसा है और उसका फल दुःख एवं अशान्ति है। और आत्मस्वभाव का नाम अहिंसा है तथा सुख और शान्ति उसका फल है अर्थात् जब आत्मामें किसी तरहकी विकृति नहीं होती चित्त प्रशान्त एवं प्रसादादि गुणयुक्त रहता है उसमें क्षोभकी मात्रा नज़र नहीं आती, उसी समय आत्मा अहिंसक कहा जाता है। द्रव्यहिंसाके होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है उसे तो भाव हिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहते हैं, वास्तवमें द्रव्यहिंसा तो भावहिंसासे जुदी ही है। यदि द्रव्यहिंसाको भावहिंसासे अलग न किया जाय तो कोई भी जीव अहिंसक नहीं हो सकता, और इस तरहसे तो शुद्ध वीतराग-परिणति वाले साधु महात्मा भी हिंसक कहे जाँयगे; क्योंकि पूर्ण अहिंसाके पालक योगियोंके शरीरसे भी सूक्ष्म वायुकायिक आदि जीवोंका वध होता ही है, जैसा कि आगमकी निम्न प्राचीन गाथासे स्पष्ट है:—

> जदि सुद्धस्स य बंधो होदि बाहिरवत्थुजोगेण ।
> णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ॥
>
> विजयोदयायां–अपराजितः–६ । ८०६

हिंसा और अहिंसाके इस सूक्ष्म विवेचनसे जैनी अहिंसाके महत्वपूर्ण रहस्यसे अपरिचित बहुतसे व्यक्तियोंके हृदयमें यह कल्पना होजाती है कि जैनी अहिंसा का यह सूक्ष्मरूप अव्यवहार्य है—उसे जीवनमें उतारना नितान्त कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतएव इसका कथन करना व्यर्थ ही है। यह उनकी समझ ठीक नहीं है; क्योंकि जैनशासनमें हिंसा और अहिंसाका जो विवेचन किया गया है वह अद्वितीय है, उसमें अल्पयोग्यतावाले पुरुष भी बड़ी आसानीके साथ उसका अपनी शक्तिके अनुसार पालन कर सकते हैं और अपने को अहिंसक बना सकते हैं। साथ ही, जैनधर्ममें अहिंसाका जितना सूक्ष्मरूप है वह उतना ही अधिक व्यवहार्य भी है। इस तरहका हिंसा और अहिंसाका स्पष्ट विवेचन दूसरे धर्मोंमें नहीं पाया जाता, इसलिये उसका जैनधर्मकी अहिंसाके आगे बहुत ही कम महत्व जान पड़ता है।

जैनशासनमें किसीके द्वारा किसी प्राणीके मर जाने या दुःखी किये जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सब जगह जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं, परन्तु फिर भी, जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा नहीं कहता; क्योंकि जैनधर्म तो भावप्रधान धर्म है इसीलिये जो दूसरोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता प्रत्युत उनके बचानेके भाव रखता है उससे दैववशात् सावधानी करते हुए भी यदि किसी जीवके द्रव्य प्राणोंका वध होजाता है तो उसे हिंसाका पाप नहीं

* स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यंतराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥
—सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत, पृ० २११

लगता। यदि हिंसा और अहिंसाको भाव प्रधान न मान जाय तो फिर बंध और मोक्षकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। जैसे कि कहा भी है—

विष्वग्जीवचिते लोके क चरन कोप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥

—सागारधर्मामृत; ४, २३

अर्थात्—जब कि लोक जीवोंसे खचाखच भरा हुआ है तब यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर ही निर्भर न होते तो कौन पुरुष मोक्ष प्राप्त कर सकता? अतः जब जैनी अहिंसा भावोंके ऊपर ही निर्भर हैं तब कोई भी बुद्धिमान पुरुष जैनी अहिंसाको अव्यवहार्य नहीं कह सकता।

अब मैं पाठकोंका ध्यान इस विषयकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि जिन्होंने अहिंसा तत्वको नहीं समझकर जैनी अहिंसापर कायरताका लाँछन लगाया है उनका कहना नितान्त भ्रममूलक है।

अहिंसा और कायरतामें बड़ा अन्तर है। अहिंसाका सबसे पहला गुण आत्मनिर्भयता है। अहिंसामें कायरता को स्थान नहीं। कायरता पाप है, भय और संकोचका परिणाम है। केवल शस्त्र संचालनका ही नाम वीरता नहीं है किन्तु वीरता तो आत्माका गुण है। दुर्बल शरीरसे भी शस्त्रसंचालन हो सकता है। हिंसक वृत्तिसे या माँसभक्षणसे तो क्रूरता आती है, वीरता नहीं; परंतु अहिंसासे प्रेम, नम्रता, शान्ति, सहिष्णुता और शौर्यादि गुण प्रकट होते हैं।

दुर्बल आत्माओंसे अहिंसाका पालन नहीं हो सकता उनमें सहिष्णुता नहीं होती। अहिंसाकी परीक्षा अत्याचारीके अत्याचारोंका प्रतीकार करनेकी सामर्थ्य रखते हुए भी उन्हें हँसते हँसते सहलेनेमें है; किन्तु प्रतीकारकी सामर्थ्यके अभावमें अत्याचारीके अत्याचारोंको चुपचाप अथवा कुछ भी विरोध किये बिना सहलेना कायरता है—पाप है—हिंसा है। कायर मनुष्यका आत्मा पतित होता है, उसका अन्तःकरण भय और संकोचसे अथवा शंकासे दबा रहता है। उसे आगत भयकी चिन्ता सदा व्याकुल बनाये रहती है—मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके विनाश होनेकी चिन्तासे वह सदा पीड़ित एवं सचिन्त रहता है। इसीलिये वह आत्मबल और मनोबलकी दुर्बलताके कारण-विपत्ति आनेपर अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता है। परंतु एक सम्यग्दृष्टि अहिंसक पुरुष विपत्तियोंके आनेपर कायर पुरुषकी तरह घबराता नहीं और न रोता चिल्लाता ही है किन्तु उनका स्वागत करता है और सहर्ष उनको सहनेके लिये तैय्यार रहता है तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका धीरतासे मुकाबिला करता है—प्रतीकार करता है—उसे अपने मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके समूल विनाश होनेका कोई डर ही नहीं रहता, उसका आत्मबल और मनोबल कायर मनुष्यकी भाँति कमज़ोर नहीं होता, क्योंकि उसका आत्मा निर्भय है—सप्तभयोंसे रहित है। जैनसिद्धान्तमें सम्यग्दृष्टिको सप्तभय-रहित बतलाया गया है *। साथ ही, आचार्य अमृतचन्द्रने तो उसके विषय में यहाँतक लिखा है कि यदि त्रैलोक्यको चलायमान कर देनेवाला वज्रपात आदिका घोर भय भी उपस्थित होजाय तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक एवं निर्भय रहता है—वह डरता नहीं है। और न अपने ज्ञानस्वभावसे च्युत होता है, यह सम्यग्दृष्टिका ही साहस है। इससे स्पष्ट है कि आत्म निर्भयी-धीर-वीर पुरुष ही सच्चे अहिंसक हो सकते हैं, कायर नहीं। वे तो ऐसे घोर भयादिके

---

* सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥

समयसार, कुन्दकुन्द २२८;

आनेपर भयसे पहले ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं। फिर भला ऐसे दुर्बल मनुष्योंसे अहिंसा जैसे गम्भीर तत्त्वका पालन कैसे हो सकता है? अतः जैनी अहिंसापर कायरताका इल्ज़ाम लगाकर उसे अव्यवहार्य कहना निरी अज्ञानता है।

जैन शासनमें न्यूनाधिक योग्यतावाले मनुष्य अहिंसाका अच्छी तरहसे पालन कर सकते हैं, इसीलिये जैनधर्ममें अहिंसाके देशअहिंसा और सर्वअहिंसा अथवा अहिंसा-अणुव्रत और अहिंसा-महाव्रत आदि भेद किये गये हैं। जो मनुष्य पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें असमर्थ है, वह देश अहिंसाका पालन करता है, इसीसे उसे गृहस्थ, अणुव्रती, देशव्रती या देशयतीके नामसे पुकारते हैं; क्योंकि अभी उसका सांसारिक देह-भोगोंसे ममत्व नहीं छूटा है—उसकी आत्म शक्तिका पूर्ण विकास नहीं हुआ है—वह तो असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, विद्यारूप षट् कर्मोंमें शक्त्यानुसार प्रवृत्ति करता हुआ एकदेश अहिंसाका पालन करता है। गृहस्थ-अवस्थामें चार प्रकारकी हिंसा संभव है। संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमेंसे गृहस्थ सिर्फ एक संकल्पी हिंसा-मात्रका त्यागी होता है और वह भी त्रस जीवों की। जैन आचार्योंने हिंसाके इन चार भेदों को दो भेदोंमें समाविष्ट किया है और बताया है, कि गृहस्थ-अवस्थामें दो प्रकारकी हिंसा हो सकती है, आरम्भजा और अनारम्भजा। आरम्भजा हिंसा कूटने, पीसने आदि गृहकार्योंके अनुष्ठान और आजीविकाके उपार्जनादिसे सम्बन्ध रखती है; परन्तु दूसरी हिंसागृही कर्तव्यका यथेष्ट पालन करते हुए मन-वचन-कायसे होने वाले जीवोंके घातकी ओर संकेत करती है। अर्थात् दो इंद्रियादि त्रसजीवोंको संकल्पपूर्वक जान बूझकर सताना या जानसे मारना ही इसका विषय है, इसीलिये इसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। गृहस्थ अवस्थामें रहकर आरम्भजा हिंसाका त्याग करना अशक्य है। इसीलिये जैन ग्रन्थोंमें इस हिंसाके त्यागका आमतौरपर विधान नहीं किया है * परन्तु यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेकी और संकेत अवश्य किया है जो कि आवश्यक है; क्योंकि गृहस्थ अवस्थामें ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिसमें हिंसा न होती हो। अतः गृहस्थ सर्वथा हिंसाका त्यागी नहीं हो सकता। इसके सिवाय, धर्म-देश-जाति और अपनी तथा अपने आत्मीय कुटम्बी जनोंकी रक्षा करने में जो विरोधी हिंसा होती है उसका भी वह त्यागी नहीं हो सकता।

जिस मनुष्यका सांसारिक पदार्थोंसे मोह घट गया है और जिसकी आत्मशक्ति भी बहुत कुछ विकास प्राप्त कर चुकी है वह मनुष्य उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग कर जैनी दीक्षा धारण करता है और तब वह पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें समर्थ होता है। और इस तरह से ज्यों ज्यों आत्म-शक्तिका प्राबल्य एवं उसका विकास होता जाता है त्यों त्यों अहिंसाकी पूर्णता भी होती जाती है। और जब आत्माकी पूर्णशक्तियोंका विकास होजाता है, तब आत्मा पूर्ण अहिंसक कहलाने लगता है। अस्तु, भारतीय धर्मोंमें अहिंसाधर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाला पुरुष परमब्रह्म परमात्म कहलाता है। इसीलिये आचार्य समन्तभद्रने अहिंसाको परब्रह्म कहा है *। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम जैन शासनके अहिंसातत्त्वको अच्छी तरहसे समझें और उसपर अमल करें। साथ ही, उसके प्रचारमें अपनी सर्वशक्तियोंको लगादें, जिससे जनता अहिंसाके रहस्यको समझे और धार्मिक अन्धविश्वाससे होनेवाली घोर हिंसाका—राक्षसी कृत्यका—परित्यागकर अहिंसाकी शरणमें आकर निर्भयतासे अपनी आत्मशक्तियोंका विकास करनेमें समर्थ हो सके।

वीर सेवामन्दिर, सरसावा, जि० सहारनपुर

* हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभजत्वतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च॥

गृहवास सेवन रतो मन्द कषाया प्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियमात्॥

श्रावकाचारे, अमितगतिः, ६, ६, ७

* अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥ ११९

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः।

मनुष्य जातिके महान् उद्धारक

[ले०-श्री बी. एल. सराफ़, बी. ए एलएल. बी, वकील, सागर]

समाजके तत्कालीन हवन-कुण्डकी प्रचण्ड हुताशन तो नरमेधके वास्ते भी तैयार थी। यज्ञके अनर्थकारी टीकाकारोंने गीताकी ओर आँख उठाकर देखनेकी आवश्यकता तक नहीं समझी। मूक जीवोंके कलेवरसे ही सन्तुष्ट होनेकी भावना तब अपनी चरम सीमा पर थी। वैशाली, मल्ल, शाक्य, कौशल, मगध और मिथिला जैसे गण राज्यों तथा प्रजातन्त्र शासनोंके होते हुए भी समाजका वैषम्य सामने था। मनुष्यको हृदय लगानेमें बाधाभूत अपनेको श्रेयस्कर समझनेवाले प्राणियोंकी अछूत भावना उद्दण्डतासे सिर उठाये हुए थी। सत्यता के ऊपर आवश्यकतासे अधिक आवरण था, जो उसे प्रकाशित ही नहीं होने देता था। सब इस ढकी हुई आडम्बरित वस्तुको ही नमन करने लग गये थे। सत्यता और मोक्षकी ओर दौड़ लगानेवाले अपनी धुनमें मस्त थे। केवल तपस्या ही मोक्ष सम्पादन भले ही न करा सके, निरा ज्ञान भी भले ही उस अनन्त के साथ संबंध जोड़नेको पर्याप्त न हो, केवल दृश्यमान, खोखली भक्ति और चन्दन-चर्चन भी अक्षय सत्यके साथमें साक्षात् करानेमें समर्थ न हो, जीवोंके प्राणपर पैर रख उनके अस्थि-माँससे पुष्ट तथा सशक्तिशाली होनेकी वासना भले ही अमोक्ष-कर हो, पर अपनी दौड़ कम करके खड़े हो पीछे देखनेका इन धावकोंको अवकाश नहीं था यदि ऐसे समयमें प्रकृतिने स्वतः त्रस्त हो अवतारके लिये आवाज उठाई तो स्वाभाविक ही था। यदि प्रकृति की पुकार पर त्रिशला-नन्दन और शुद्धोदन-कुमारके दर्शनोंने कुण्डग्राम और कपिल वस्तुकी त्रासोन्मुखी प्रजा को पुनीत किया तो क्या आश्चर्य?

आत्मान्वेषण तथा सत्यान्वेषणके दुर्गम पथके उभय पथिक विघ्न बाधाओंके बीचमें भी अपनेको भूले नहीं। यद्यपि थोड़ा अन्तर भले ही रहा, एकने तात्कालिक मात्रा-द्वारा चिकित्साकी तो दूसरेने शास्वतिक प्रयोगों का उपयोग किया। एक यदि अतिवर्ज्य पथानुगामी हुए तो दूसरे 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' पर चलकर वहाँ जनसमूहको ले जानेमें प्रयत्नशील हुए। विश्वको दुःखोंसे छुड़ानेका दोनोंने निष्कपट प्रयास किया। एकने यदि अचेल ब्रह्मचर्य व्रतधारण द्वारा मानवजीवनकी अन्तिम दुर्बलताको तिलाँजली देदी और उसपर विजयी हुए तो दूसरेने उसके शरीरपर होते हुए भी उसमें सम्मोहको स्थान नहीं दिया। एकने व्यवहारको भी अप्रधान बताते हुए मनसाकृत कर्ममें ही हिंसा देखी तो दूसरेने मन्शाके पैमानेको तिरस्कृत करते हुए कार्यफल-मात्रमें हिंसा देखी।

निविड़ आकुलित तिमिरके युगके अवसानके बाद प्रभात-पक्षी उषाने जगद्वन्द्य सिद्धार्थ सुत के अवतरित होनेपर अपने मुखारविन्दपर प्रसन्नता प्राप्त लालिमा प्रदर्शित की तो क्या आश्चर्य? यदि इन विभूतियोंके सिद्धान्तों और कृतियोंने विश्वविजय की तो क्या आश्चर्य?

भगवान् सिद्धार्थ-कुलभानु न केवल अहिंसाके प्रकाशको लेकर अवतीर्ण हुए थे किन्तु जीवमात्रकी समानताको प्रत्यक्षीभूत कराने आये थे। विचार-वैषम्य द्वारा होनेवाले विरोधके शमनको स्याद्वाद जैसी विभूति के साथ भगवानने दर्शन दिया था।

भगवान वर्धमानका अहिंसा और विश्वशाँतिका पाठ अज्ञान और क्लैब्यके छिपानेका विधान नहीं था। उसका जन्म नाथवंशी युद्धवीर क्षत्रियकुल-पुंगवके परीक्षित और विक्रान्त हृदयमें हुआ था।

वीर जिनेन्द्रकी तपोरत आत्माने वास्तवमें इन्द्रभूत, वायुभूत, अग्निभूत जैसे गणधरों श्रेणिक-बिम्बसार और अंगेश कुणिक-अजात-शत्रु, कौशल-रक्षक प्रसेनजित जैसे नरेशोंके ही नहीं किन्तु ज्येष्ठा, चन्दना, चेलना जैसी धर्मांगनाओंके हृदयोंको भी आलोकित किया था और विश्वशांति तथा भ्रातृत्व फैलानेको दीक्षित किया था।

"न गच्छेज्जैनमन्दिरम्"के शमन करनेकी शक्ति सौम्यमूर्ति जिनराज तुम्हारे हाथमें ही है, अर्थवादकी ओर क्षिप्रगतिसे दौड़नेवाले संसारको रुकाये बग़ैर विश्व कल्याण हो ही नहीं सकता, पर इसका सेहरा तुम्हारे जैसे सिरोंपर ही बाँधा जा सकता है। सिद्धान्तोंके दिग्विजयकी वाँछा जिनके हृदयोंमें उद्वेलित रहती है उनका शौर्य्य आजकलकी जैन समाजमें प्राप्त कराना तुम्हारी ही कृपापर अवलम्बित है।

भगवन्! तुम्हारे द्वारा प्रचारित धर्ममें भगवान् बुद्धकी प्रश्न-अवहेलना वा अपलापको स्थान नहीं। प्रभु ईसाकी दया तुम्हारी जैसी तपस्याओंमें निष्णात नहीं। वस्तुनिरूपणमें बात बातमें युद्ध होनेकी आवश्यकताको तुम्हारे सापेक्ष-वादने सदाके लिये दूर कर दिया। प्राणीमात्रसे जहाँ भ्रातृत्व हो सकता है वहाँ राष्ट्रकी स्वातन्त्र्यलिप्सा और एक उद्देश्याधिकृत बन्धुत्व का प्रश्न उठानेकी आवश्यकता नहीं, वह तो स्वभावसे ही उसमें गर्भित है किन्तु वहाँ राजनीतिकी ग्रंथियाँ खोलनेवाला कर्मयोगी गाँधीत्व नहीं।

असिधारी हाथ कृपाणरिक्त होते हुए भी विश्व नायकत्व सफलतापूर्वक कर सकते हैं, इसके तुमसे बढ़कर और कौन जीवित उदाहरण हो सकता है? निरतिशय-क्राँतिके युवराजका हृदय इतनी अबाधशाँतिसे शामित हो यह भारतवर्षके ही भाग्य और जलवायुकी विचित्रता है।

क्षत्रियके नृशंस, दयाविहीन और कर्कश हृदयमें विश्वशाँतिकी कल्लोल प्राणीदयाका अविरल स्रोत, राज्यलिप्सासे ओतप्रोत वक्षस्थलमें मानवसमताकी आवाज अपञ्चेन्द्रिय जीवोंको भी उद्धारका संदेश, कैसा विचित्र विरोध है।

तुम्हारे सुन्दर शरीर सम्पत्ति-युत नव-हृदयमें रूक्ष तथा भयंकर तपनिगृहीत किन्तु स्वभाव-सरल आत्मसंयम है। देवाँगनाओंके मधुर हास्य तथा प्रलोभनोंमें भी मदनपर रुष्ट हो उसे दहन करनेको शिवशक्तिकी आवश्यकता नहीं। बिना भोग तथा तलवारके मदनविजय ही नहीं, विश्वविजय करनेवाले अतिवीरको क्यों न बोधिसत्व आदरकी दृष्टिसे देखते? कुसीनाराके निर्माण पथगामी समवयस्क तथा गतक्लेशसे यदि तुम्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहकर विभूषित किया तो इससे अधिक बुद्धभगवान् जैसे आपके प्रति और क्या कह सकते थे? हृदयोंको द्रवित करनेवाले और बरबस आँसू बहा देनेवाले उपसर्गोंके बीचमें भी शाँति और क्षमाके अविचल अवतार यदि तुम्हारी तपस्या पूर्ववत् बनी रही तो क्या आश्चर्य? यदि विश्वके सबसे बड़े शाँतिके अवतार कहकर तुम्हारा आवाहन किया जाय तो क्या अत्युक्ति?

तुम्हारे अखण्ड ब्रह्मचर्यने यदि देवाँगनाओंको लज्जित किया तो तुम्हारे चरित्रकी पवित्रताकी और कौनसी साक्षीकी आवश्यकता ? समकालीन दो महर्षियोंमें केवल दुर्धर्ष तथा निष्कलंक तपस्या ही तुमको समवसरणमें आकाश आसन दिलानेको पर्याप्त थी। तुम्हारे पंच कल्याणकोंमें यदि देवी हर्ष न हो तो और किन आत्माओंके आगमनमें आनन्द दुंदुभि निनादित की जावेगी।

तुम्हारे अहिंसा और त्यागव्रतने यदि शेर बकरीको एक घाट पानी पिला दिया और समवशरणमें खिरनेवाली वाणीका लाभ देकर उन्हें मोक्षोन्मुख बनाया तो इसमें क्या आश्चर्य ? बाल-सुलभ लीलामें ही मदमत्त कुंजरको वशंवद किया और तत्वज्ञानके सिंहनाद द्वारा यदि अभयताका संदेश प्राणिमात्रको तुमने भेजा तब वनराजके चिन्ह-द्वारा तुम्हारे संकेकित होनेमें क्या अनौचित्य। तुम्हारे सिंह गर्जनमें माँस-भोजी जीवका भक्षण प्राप्त आनन्द लिप्साका दम्भ नहीं, वहाँ प्राणियोंको भयभीत करनेका घोर निनाद नहीं। तुमने वास्तवमें सिंहके नाममें पवित्रता लादी, जिसके बिना सिंहके रूपमें मोहकता ही नहीं, उसके सामने हंसतेर अपनेको मिटा देनेकी इच्छा ही नहीं हो सकता। तुम भले ही धर्मके आदि संस्थापक न हो पर जिस अमर स्फूर्तिके तुम पिता हो. वह अमर स्फूर्ति तो तुम्हें आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवके पास तक बरबस पहुँचा देती है।

तुम्हारी तपस्या द्वारा दिलायेगये अधिकार छिनाये जाने लगे—तुम्हारे द्वारा खोले गये मोक्षद्वार अब फिर मुंदने लगे। मनुष्योंके हृदयोंमें फिर वही संकुचित चित्तता वास करने लगी प्रचार और विकाशका फिर रत्न-खचित मन्दिरोंके बाहिर आनेमें शंकित होने लगा नारिजातिके प्रति तुम्हारी पवित्र और सम्मान भावना का दुरुपयोग-काम-लिप्सा तृप्तिके रूपमें पुरुष और स्त्री समाजको न जाने किस बीहड़ पथकी ओर ले जा रहा है। मनुष्यको मनुष्य माननेकी रसायन तुम्हींतक परिमित थी, आत्मवादकी फिर अनावश्कता प्रतीत होने लगी और द्रव्यवादका सिंहासन फिर दृढ़ होने लगा ? जब कि अद्रव्यवान मनुष्य नेत्रोंसे केवल जीवन-धारणार्थ भोजनोंके लिये हाथ फैलाये सामने खड़े हुए हैं। अहिंसाका असलीरूप फिर अनुकरणीय कहा जाने लगा बुद्ध भगवान्की मृतमाँस-भक्षण मीमाँसामें फिर मोहकता आने लगी।

महानिर्वाणके समय पावापुरीमें छोड़ी गई तुम्हारी प्रतिनिधि ज्योति इस युगको आलोकित न कर सकी। तुम्हारे उपसर्गों पर आंसू बहा देनेवाले यदि साधारण परिषदोंसे भागनेका प्रयत्न करनेलगे तो तुम्हें आमन्त्रित करनेका और कौन अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है ?

अतएव हे वीतराग ! हे विश्वशाँति, अहिंसा, भ्रातृत्व, और सत्यशोधमें अग्रणी तथा सामाजिक शाँति के जनक मुक्तदेव दूत ! हे गरीबों और पतितोंकी सम्पत्ति ? हे त्रिशला आत्मजाता ! इस पुण्यभूमिको अपने पुनीत पदरज चूमनेका फिर अवसर दो।

हरिभद्र-सूरि

[ले० पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

(गत किरण से आगे)

जीवन-सामग्री और तत्मीमाँसा

भारतीय साहित्यकारोंके पवित्र इतिहासमें यह एक दु:खद घटना है कि उनका विश्वनीय और वास्तविक जीवन-चरित्र नहींके बराबर ही मिलता है। इसका कारण यही है कि प्राचीन कालमें आत्मकथा लिखनेकी प्रणाली नहीं थी, और आत्मश्लाघासे दूर रहने की इच्छाके कारण अपने सम्बन्धमें अपने ग्रन्थोंमें भी लिखना नहीं चाहते थे। कुछेक साहित्यकारोंने अपनी कृतियोंमें प्रशस्तिरूपसे थोड़ा सा लिखा है; किन्तु उसमे जन्म-स्थान, गुरु-नाम, माता पिता-नाम, एवं स्व-गच्छ आदिके नामका सामान्य ज्ञान-मात्र ही हो सकता है, विस्तृत नहीं। पीछेके साहित्यकारोंने प्राचीन-साहित्यकारोंके सम्बन्धमें इतिहासरूपसे लिखनेका प्रयास किया है; किन्तु उसमें इतिहास-अंश तो अति स्वल्प है और किंवदन्तियाँ एवं कवि-कल्पना ही अधिक परिमाणमें है। यह सिद्धान्त केवल जैन साहित्यकारोंके सम्बन्धमें ही नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्यकारोंके सम्बन्धमें पाया जाता है।

"जिन शासनकी अधिकाधिक प्रभावना हो;" इसी एक उद्देश्यने संग्रहकारोंको किंवदन्तियों और कवि-कल्पनाओंकी ओर वेगसे प्रवाहित किया है। इसके साथ २ काल व्यवधानने भी इतिहास सामग्रीको नष्ट-प्राय: कर दिया; और इसीलिये उन्हें प्रभावनाके ध्येयकी पूर्तिके लिये अवशिष्ट चरित्र सामग्रीके बलपर तथा किंवदन्तियों और कवि कल्पनोंके सहारे ही तथा कथित इतिहासोंकी रचना करनी पड़ी। वर्तमान कालीन इतिहासकारोंको भी उन्हीं तथा कथित इतिहासों, उपलब्ध कृतियों, और अस्तव्यस्तरूपसे पाये जानेवाले उद्धरणोंके आधारसे ही चरित्र चित्रण करना पड़ रहा है।

चरित्र-नायक हरिभद्र सूरिकी जीवन-सामग्री भी उपर्युक्त निष्कर्षके प्रति अपवादस्वरूप नहीं है। हरिभद्र सूरिकी जीवन-सामग्री वर्तमानमें इतनी पाई जाती है:—

(१) श्री मुनिचन्द्र सूरिने संवत् ११७४ में श्री हरिभद्र सूरि कृत उपदेशपदकी टीकाके अन्तमें इनके जीवनके सम्बन्धमें अति संक्षेपात्मक उल्लेख किया है।

(२) संवत् १२९५ में श्री सुमतिगणिने गणधर-सार्धशतककी बृहद् टीकामें भी इनके सम्बन्धमें कुछ थोड़ा सा लिखा है।

(३) भद्रेश्वर सूरि कृत २३८०० श्लोक परिमाण प्राकृत कथावलीमें भी हरिभद्र सूरिके सम्बन्धमें कुछ परिचय मिलता है। श्री जिनविजयजीका कहना है कि इसका प्रणयन बारहवीं शताब्दीमें हुआ होगा।

(४) संवत् १३३४ में श्री प्रभाचन्द्र सूरि द्वारा विरचित प्रभावक चरित्रमें चरित्र नायकके सम्बन्धमें विस्तृत काव्यात्मक पद्धतिसे जीवन कथा पाई जाती है।

(५) संवत् १४०५ में श्री राजशेखर सूरि द्वारा निर्मित प्रबन्ध कोषमें भी प्रभावक चरित्रके समान ही अति विस्तृत जीवन चरित्र पाया जाता है।

इसी प्रकार इसी प्राचीन सामग्रीके आधारपर कुछ नवीन जीवन सामग्रीका भी निर्माण हुआ है; उसमेंसे पं० हरगोविन्ददासजी कृत 'श्री हरिभद्र सूरि चरित्र', पं० बेचरदासजी द्वारा लिखित 'जैन दर्शनकी विस्तृत भूमिका', श्री जिनविजयजी लिखित "हरिभद्र सूरिका समय निर्णय" और प्रोफेसर हरमन जेकोबी द्वारा लिखित "समराइच्चकहा कि भूमिका" आदि रचनाएँ भी मुख्य हैं। इसी सामग्रीके आधारपर मैं अब श्री हरिभद्र सूरिका चरित्र-निर्णय करनेका प्रयास करता हूँ और उसपर कुछ निष्कर्षात्मक मीमाँसा भी करनेका प्रयास करूँगा।

प्रारम्भिक-परिचय

भारतीय राजनैतिक इतिहासमें मेवाड़का महत्त्वपूर्ण और गौरवपूर्ण स्थान है। इसी पवित्र भूमिपर महाराणा हमीरसिंह, महाराणा लक्ष्मणसिंह, महाराणा संग्रामसिंह और महाराणा प्रतापसिंह सदृश शूरवीर एवं नररत्न भामाशाह सरीखे पुरुष पुंगव उत्पन्न हुए हैं। हमारे चरित्रनायक हरिभद्रकी जन्मभूमि भी मेवाड़ ही है। कहा जाता है कि चित्तौड़ ही आपका जन्म स्थान है। तत्कालीन चित्तौड़ नरेश जितारिके हरिभद्र पुरोहित थे। इस प्रकार आप जातिसे ब्राह्मण और कर्मसे पुरोहित थे। ये चौदह विद्याओंमें निपुण और अजानप्रतिवादी थे। इसीलिये राज-प्रतिष्ठा और लोक प्रतिष्ठा दोनों ही इन्हें प्राप्त थीं। विद्याबल, राजबल और लोकप्रतिष्ठासे हरिभद्रकी वृत्ति अभिमानमय हो चली थी, एवं तदनुसार इन्हें यह मिथ्या आत्म-विश्वास सा हो गया था कि मेरे बराबर प्रगाढ़ वैयाकरण, उत्कट नैयायिक, प्रखर वादी और गम्भीर विद्वान् इस समय सम्पूर्ण पृथ्वी पर कोई नहीं है। किंवदन्तियोंमें देखा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकरके समान ही ये भी अपने इस मिथ्या-विश्वासके प्रदर्शनके लिये एक सोपान-पंक्तिका (नीसरनी), एक कुदाला, एक जाल और जम्बू वृक्षकी एक लता अपने पास रखते थे। इसका तात्पर्य यही था कि यदि प्रतिवादी आकाशमें उड़ जायगा तो उसे इस सोपान-पंक्तिके द्वारा पकड़ लाऊँगा; जलमें प्रविष्ट हो जायगा तो जाल द्वारा खींच लूंगा, और इसी प्रकार यदि पातालमें प्रवेश कर जायगा तो कुदाले द्वारा खोद निकाल लूंगा। जम्बूलताका रहस्य यह था कि मेरे सदृश विद्यावान् सम्पूर्ण जम्बूद्वीपमें कोई नहीं है। इसी प्रकार कहा जाता है कि विद्याके भारसे पेट कहीं फट नहीं जाय, इसीलिये पेटपर एक स्वर्णनिर्मित पट भी बाँधकर रखते थे। साथमें यह भी प्रतिज्ञा थी कि जिसका कथित वाक्य नहीं समझ सकूंगा, उसका तत्काल शिष्य हो जाऊँगा।

एक दिनकी बात है कि हरिभद्र एक सुन्दर शिविकामें बैठकर बाजारमें जा रहे थे, शिविकाके आगे आगे उनके शिष्य उनकी विरुदावलीके रूपमें "सरस्वती कण्ठाभरण, वैयाकरणप्रवण, न्यायविद्याविचक्षण, वादिमतगजकेसरी, विप्रजननरकेसरी" इत्यादिरूपसे बोलते हुए चल रहे थे। इतनेमें थोड़ी दूरपर "जनतामें घबराहट और इधर उधर भागा दौड़ी हो रही" का दृश्य दिखलाई पड़ा। हरिभद्रके शिष्य और शिविका-वाहक मजदूर भी इधर उधर बिखर गये। इस परिस्थितिको देखकर विप्रवर हरिभद्रने भी बाहर दृष्टि दौड़ाई, तो क्या देखते हैं कि एक मदोन्मत्त प्रचण्डकाय पागल हाथी जनतामें भय उत्पन्न करता हुआ तेजीसे दौड़ा चला आ रहा है। मार्गमें ही शिविका-स्थित हरिभद्र शिविकाको छोड़कर प्राण रक्षार्थ समीपके एक जैन मन्दिरपर चढ़ गये। तब उन्हें ज्ञात हुआ कि "हस्तिना

ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्" एक कल्पित उक्ति है। सामने ही जिन प्रतिमा दिखलाई पड़ी और जैन दर्शनके प्रति विद्वेषकी सहसा झटिति मुँहसे निकल पड़ा कि:—

वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टं मिष्टान्न भोजनम्।
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः॥

अर्थात्—तुम्हारा शरीर स्पष्ट ही मिष्टान्न भोजनके प्रति ममत्वभावको बतला रहा है। क्योंकि यदि वृक्षके कोटरमें अग्नि है, तो फिर वह हरा भरा कैसे रह सकता है!

हाथीके निकल जानेपर तत्पश्चात् हरिभद्र अपने घर पहुँचे।

विनीत हरिभद्र

एक दिनकी बात है कि विप्रवर हरिभद्र राजमहल से निकलकर अपने घरकी ओर जारहे थे; मार्गमें एक जैन उपाश्रय पड़ता था। वहाँपर कुछ जैन साध्विएँ अपना स्वाध्याय कर रही थीं। स्वाध्यायकी ध्वनी हरिभद्रके कर्णगोचर हुई और उन्हें सुनाई दिया कि एक साध्वीः—

"चक्की दुगं हरि पणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दुचक्की, केसव चक्की य॥

इस प्रकार च-प्राचुर्यमय छन्दका उच्चारण कर रही है। इन्हें यह छन्द कौतुकमय प्रतीत हुआ और अर्थका विचार करनेपर भी कुछ समझमें नहीं आया, इसपर वे स्वयं उपाश्रयमें चले गये और आर्याजीसे बोले कि इस छन्दमें तो खूब चकचकार है। आर्याजीने उत्तर दिया कि भाई! अबोध अवस्थामें तो इस प्रकार पहले पहल आश्चर्यमय नवीनता प्रतीत होती ही है। इसपर उन्हें अपनी वह भीष्म प्रतिज्ञा याद हो आई कि जिसका कथित नहीं समझ सकूँगा, उसका तत्काल शिष्य हो जाऊँगा। उसी समय नम्रता पूर्वक बोले कि "माताजी! मुझे अपना शिष्य बना लीजियेगा और कृपया इस गाथाका अर्थ समझाइयेगा।" ज्ञान चारित्र सम्पन्न आर्याजीने समझाया कि "दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामीके चारित्र क्षेत्रमें स्त्रियोंका पुरुषोंको दीक्षा देनेका आचार नहीं है। यदि आपको यह परम पवित्र आदर्श संयम धर्म ग्रहण करना है तो इसी नगरमें स्थित आचार्य प्रवर श्री जिनभटजी मुनिके पास पधारिये; वे आपको अनगार धर्मकी दीक्षा देंगे"। हरिभद्रने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और आर्याजीके साथ साथ दीक्षा ग्रहणार्थ प्रस्थान किया। मार्गमें वही जैन मन्दिर मिला जिसके शरण ग्रहणमें हरिभद्रका जीवन मदोन्मत्त हाथीसे सुरक्षित रह सका था। पुनः वही जिन प्रतिमा दृष्टि गोचर हुई। दृष्टिभेदसे इस समय इन्हें उसमें वीतरागत्वमय शांतरसकी प्रतीति हुई। तत्काल मुखसे ध्वनि प्रस्फुटित हुई कि **"वपुरेव तवाऽचष्टे भगवन्! वीतरागताम्॥"** वहाँपर कुछ समय ठहरकर हरिभद्रने भक्तिरससे परिपूर्ण स्तुति की और तत्पश्चात् आर्याजीके साथ श्री जिनभटजीके समीप पहुँचे और मुनि धर्मकी जैन दीक्षा विधिवत् विशुद्ध हृदयसे ग्रहण की।

स्वयं हरिभद्र सूरिने अपनी आवश्यक सूत्रकी टीका के अन्तमें अपने गच्छ और गुरुके सम्बन्धमें इस प्रकार उल्लेख किया है:—

"समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यकटीका, कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुल-तिलक-आचार्य जिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमह-त्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।" इस उल्लेख परसे निश्चित रूपसे ज्ञात होता है कि हरिभद्र सूरिके जिनभटजी गच्छपति गुरु थे, जिनदत्तजी दीक्षाकारी गुरु थे, याकिनी

महत्तरा धर्मजननी माता थीं, विद्याधर गच्छ और श्वेताम्बर सम्प्रदाय था।

आचार्य हरिभद्र सूरिने याकिनी महत्तराजीके प्रति अत्यन्त भक्ति, कृतज्ञता, लघुता, श्रद्धा और पुत्रभाव प्रदर्शित करनेके लिये अपनी अनेक कृतियोंमें अपनेको 'याकिनी महत्तरा सूनु' के नामसे अंकित किया है, जैसा कि उनके द्वारा रचित श्री दशवैकालिकनिर्युक्ति टीका, उपदेशपद, पंचसूत्रटीका, अनेकान्तजयपताका, ललितविस्तरा और आवश्यक निर्युक्ति टीका आदि पवित्र कृतियों द्वारा एवं अन्य ग्रन्थकारों द्वारा रचित ग्रन्थोंसे सप्रमाण सिद्ध है।

आचार्य हरिभद्र

अब विप्रप्रवर हरिभद्रसे अनगार-प्रवर हरिभद्र हो गये। पहले राज पुरोहित थे, अब धर्म-पुरोहित हो गये। ये वैदिक साहित्य और भारतीय जैनेतर साहित्य-धाराके तो पूर्ण पण्डित और अद्वितीय विद्वान थे ही। अतः जैन साहित्य और जैन दर्शनके आधार-भूत, ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप त्रिपदीके भी अल्प समयमें ही और अल्प परिश्रमसे ही पूर्ण अध्येता एवं पूर्ण ज्ञाता हो गये। शनैः शनैः जैन दर्शनके गम्भीर मननसे ये आचार क्षेत्रमें भी एक उज्ज्वलनक्षत्रवत् चमक उठे और जैसे एक चक्रवर्ती अपने पुत्रको भार सौंपकर चिन्ता मुक्त हो उठता है, वैसे ही श्री जिनभटजी भी अपने गच्छके सम्पूर्ण भारको हरिभद्र पर छोड़कर चिन्ता मुक्त हो गये। इस प्रकार मुनि हरिभद्र आचार्य हरिभद्र हो गये और ज्ञान, दर्शन, चारित्रमें, अव्याहत गतिसे विकास करने लगे।

हरिभद्रसूरिके शिष्य

कहा जाता है कि हरिभद्र सूरिके हंस और परमहंस नामके दो भगिनी-पुत्र (भाणेज) थे। ये दोनों किसी कारण वशात् वैराग्यशील होकर अनगार-धर्मकी दीक्षा ग्रहणकर इनके शिष्य हो गये थे। आचार्य हरिभद्र सूरिने व्याकरण, साहित्य, दर्शन एवं तत्त्वज्ञान आदि विषयोंमें इन्हें पूर्ण निष्णात बना दिया था। किन्तु फिर भी इनकी इच्छा बौद्ध विद्या पीठमें ही जाकर बौद्ध दर्शनके गम्भीर अध्ययन करनेकी हुई। उस समयमें मगध प्राँतकी ओर बौद्धोंका प्रबल प्रभाव था। मगध आदि प्राँतकी ओर अनेक विद्याकेन्द्र थे। एक विद्यापीठ तो इतना बड़ा था कि जिसमें १५०० अध्यापक और १५००० छात्र थे। उस समयमें बौद्धोंने शुष्क तर्क-क्षेत्रमें अपना अत्यधिक आधिपत्य जमा रक्खा था। हँस और परमहँस सदृश विद्वानोंका ऐसी स्थितिमें उस ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही था। यद्यपि आचार्य हरिभद्र स्वय बौद्ध दर्शनके महान् पण्डित और असाधारण अध्येता थे, जैसा कि उनके उपलब्ध ग्रंथोंमें उन द्वारा बौद्ध दर्शनपर लिखित अंशसे सप्रमाण सिद्ध है। फिर भी हँस और परमहँसकी बौद्ध विद्यापीठमें ही जाकर बौद्ध दर्शनके अध्ययन करनेकी प्रबल और उत्कृष्ट उत्कण्ठा जाग्रत हो उठी। हरिभद्र सूरिने बौद्धोंकी विद्वेषमय प्रवृत्तिके कारण ऐसा करनेके लिये निषेध किया; किन्तु पूर्वकर्मोदय वशात् भावी अनिष्ट ही हँस और परमहंसको उस ओर आकर्षित करने लगा। सच है भवितव्यताकी शक्ति सर्वोपरि है।

यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि वे दोनों शिष्य गुरुके अनन्य प्रेमी और असाधारण भक्त थे। गुरुके वचनोंपर सर्वस्व होम कर देनेकी पवित्र भावनावाले थे। किन्तु भवितव्यतावश गुरुकी पुनीत आज्ञासे इस समय विमुख हो गये। भावी अनिष्ट इन्हें बौद्ध विद्यापीठकी ओर खींचता चला गया। अन्ततो-

गत्या चलते चलते ये विद्यापीठमें पहुँच ही गये।

जैसे आजकल सर्व धर्म सहिष्णुताका अथवा पर-धर्म प्रति उदारताका अभाव-सा है; वैसा ही उस समयमें भी स्वपक्षको येनकेन प्रकारेण सिद्धि करना और पर-पक्षका इसी प्रकार खण्डन करना ही धर्म प्रभावना अथवा धर्मरक्षा समझी जाती थी। बौद्ध साधुओंका आचार विचार लोक-कल्पनाकी भावनासे रहित हो चला था। महाकारुणिक भगवान बुद्धकी आदर्शता और लोक-कल्याणकी भावना विलुप्त सी हो गई थी। केवल तर्क-बल पर अन्य दर्शनोंको वाद विवादके क्षेत्रमें परा-जितकर अपनी प्रतिष्ठा जनसाधारणमें स्थापित करते हुए, अपनी इहलौकिक तृष्णामय आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हुए अपने धर्मका आधिपत्य प्रतिष्ठित करना ही बौद्ध भिक्षुओंका एक मात्र उद्देश्य रह गया था। महावीर कालीन वैदिक स्वच्छंदताकी तरह इस समय भी बौद्ध-स्वच्छंदताका साम्राज्य-सा था। विद्यापीठोंकी स्था-पनाका ध्येय भी यही था और तदनुसार अनेक विक-ल्पात्मक शुष्क न्याय विषयोंका ही उनमें विशेष अध्य-यन कराया जाता था।

इस असहिष्णुतामय वातावरणमें हंस और परमहंस जैन साधुके वेशमें कैसे रह सकते थे? बौद्ध भिक्षुओंके समान वेश-परिवर्तन करना पड़ा। मुनिहंस और मुनि-परमहंससे भिक्षु हंस और भिक्षु परमहंसकी उपाधि धारण करनी पड़ी। यह है विद्या-व्यसन और विघ्न-मोहकी प्रबल उत्कण्ठाका विकृत परिणाम। इस व्यसन और मोहकी कृपासे ही पवित्र आचार विचार छोड़ने पड़े; गुरुकी पुनीत आज्ञाकी अवहेलना की और इस प्रकार आत्म-विचारोंकी हत्या करनी पड़ी।

इन्हें बौद्ध-भिक्षु समझकर विद्यापीठके कुलपतिने इनके लिये भोजन और अध्ययनकी सर्व सुलभता और पूर्ण व्यवस्था कर दी। अब ये शाँति पूर्वक पूर्ण निर्भ-यताके साथ क्लिष्टसे क्लिष्ट दर्शन-शास्त्रोंका भी अति शीघ्रतासे अध्ययन करने लगे। उपयोगी भागको कंठस्थ भी करने लगे। साथमें जैन दर्शनके प्रतिवाद अंशका भी प्रतिवाद अत्यंत सूक्ष्म रीतिसे किन्तु मार्मिकरूपमें दो एक पृष्ठोंपर इन्होंने लिख लिया।

परीक्षा और कुलपति-कोप

हंस और परमहंस उन पृष्ठोंको गुप्त ही रखते थे, किन्तु देवयोगसे एक दिन ये पृष्ठ हवासे उड़ गये और एक बौद्ध भिक्षुके हाथ लग गये। पृष्ठोंको उठाकर वह कुल-पतिके समीप ले गया। कुलपतिने ध्यानपूर्वक उन पृष्ठोंको पढ़ा। बौद्ध दर्शनके प्रति जैन दर्शनकी युक्तियों की गंभीरता, मौलिकता और अकाट्यतापर कुलपति मुग्ध हो उठा और इस बातपर आश्चर्यजनक प्रसन्नता हुई कि मेरे विद्यापीठमें ऐसे प्रखर बुद्धिशील विद्वान विद्यार्थी भी हैं। किन्तु थोड़ी ही देरमें संप्रदायान्धताकी मादकता ने मस्तिष्कमें विकृतिकी लहर दौड़ा दी। कुलपतिको यह जाननेकी उत्कण्ठा हुई कि इन पन्द्रहहजार छात्रों में से वे कौनसे छात्र हैं; जिन्होंने कि इतनी प्रखर बुद्धि का इतना सुन्दर परिचय दिया है। निश्चय ही वे जैन हैं; किन्तु ज्ञात होता है कि वे यहाँपर बौद्ध भिक्षुके रूपमें रहते हैं।

निष्करुण परीक्षाका दारुण समय उपस्थित हुआ और यह युक्ति निर्धारित की गई कि एक जिन-प्रतिमा मार्गमें रक्खी जाय और उसपर विद्यापीठका प्रत्येक ब्रह्मचारी पाँव रखते हुए आगे बढ़े। इस रीति अनुसार बौद्ध छात्र तो निर्भयता पूर्वक प्रतिमापर पैर रखते हुए आगे बढ़ गये। किन्तु जब हंस और परमहंसका क्रम आया तो इन्होंने भी एक प्रतियुक्ति सोची। वह यह थी

कि प्रतिमाके कण्ठ-स्थानपर इन्होंने तीन रेखाएँ खींच दीं; जिससे कि यह प्रतिमा जिन की नहीं रहकर बौद्धकी बन गई और तदनुसार उसपर पैर रखकर ये दोनों भी आगे बढ़ गये। रेखा-प्रक्रियासे कुलपतिको विश्वास हो गया कि ये दोनों नवीन ब्रह्मचारी ही जैन हैं। "जैन हैं" ऐसा ज्ञात होते ही प्रतिशोधकी और प्रतिहिंसाकी भयंकर ज्वाला प्रज्वलित हो उठी और मृत्यु दण्ड देना ही कुलपतिको उचित दण्ड ज्ञात हुआ। हंस और परमहंस को जब ऐसे भयंकर दण्ड-विधानके समाचार सुनाई पड़े तो वे वहाँसे गुप्त रीतिसे भाग निकले। कुलपतिको उनके भागनेके समाचारसे प्रचंड क्रोध आया और उसने तत्काल विद्यापीठमें उपस्थित किसी बौद्ध-राजाकी सेनाके कुछ सैनिकोंको उन्हें पकड़कर लानेका कठोर आदेश दिया।

आदेश-पालक सेनाके कुछ पदाति और अश्वारोही उनका पीछा करनेके लिये चल पड़े और जब यह बात हंस और परमहंसको पीछेकी ओर मुड़कर देखनेपर ज्ञात हुई तो हंसने परमहंसको कहा कि देखो! अब अपनी रक्षा होनी कठिन है; अतः यही श्रेष्ठ होगा कि तुम तो सामने दिखलाई पड़नेवाले इस नगरमें चले जाओ और यहाँके राजा सूरपालको संपूर्ण वृत्तान्तसे अवगत करके इसकी सहायतासे गुरुजी (हरिभद्र सूरि जी) के पास चले जाना। सारा वृत्तान्त उनकी सेवामें सविनय निवेदन करना और आज्ञाकी अवहेलना करनेसे प्राप्त पापके लिये प्रायश्चित्त करना; एवं मेरी ओरसे भी आज्ञा-अवज्ञाके लिये क्षमा माँगते हुए निवेदन करना कि हंस तो धर्मकी रक्षा करते हुए वीर-गतिको प्राप्त होगया है। परमहंस बड़े भाई की इस करुणा-रसपूर्ण बातसे विह्वल हो उठा, किन्तु भयानक स्थिति और समय देखकर बड़े भाईको श्रद्धा पूर्वक प्रणामकर नगर की ओर प्रस्थान कर दिया। आक्रमणकारियोंके समीप आते ही हंस उनसे अभिमन्युकी तरह युद्ध करता हुआ वहीं वीर-गतिको प्राप्त होगया।

परमहंसका वाद विवाद और अवसान

परमहंस वहाँसे शीघ्रगतिसे भागता हुआ राजा सूरपालकी राज-सभामें पहुँचा और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजाने शरणागतको अभयदान दिया। तत्पश्चात् हंसको मारकर वे आक्रमणकारी भी सूरपालकी सभामें पहुँचे और परमहंसकी माँगणी की। सूरपालने देनेसे इंकार कर दिया। सेनाकी टुकड़ीके अध्यक्षने अनेक प्रकारके भय बतलाये, किन्तु सूरपाल अचल रहा। अंतमें यह निश्चय हुआ कि परमहंसके साथ बौद्धोंका वाद विवाद हो और यदि परमहंस पराजित हो जाय तो उसे बौद्धोंको सौंप दिया जाय। तदनुसार इस प्राणघातक परीक्षामें भी परमहंस स्वर्णवत् प्रामाणिक ठहरा और विजयी हुआ। आक्रमणकारी अपना सा मुँह लिये हुए लौट गये। परमहंस सूरपालके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हुआ वहाँसे चल दिया। तेज़ गतिसे चलता हुआ और अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता हुआ अन्तमें परमहंस अपने गुरु हरिभद्रसूरिके समीप पहुँचा। सारा इतिहास करुणाजनक भाषामें बतलाया और गुरु-आज्ञाकी अवहेलना करनेके लिये अपनी ओरसे एवं बड़े भाई हंसकी ओरसे क्षमा माँगते हुए दैव दुर्विपाकसे वार्तालाप करते हुए ही तत्काल स्वर्गवासी होगया।

बौद्धोंके प्रति हरिभद्रसूरिका प्रचण्ड प्रकोप

हरिभद्र सूरिको इस प्रकार बौद्ध-कुकृत्यों और दुराचारोंका ज्ञान होते ही भयंकर क्रोधका समुद्र उमड़ आया। यद्यपि हरिभद्र सूरि एक योगी और आध्यात्मिक

महापुरुष थे; किन्तु फिर भी जिस प्रकार शीतल नन्दन के आल्हादक बनमें भी दावानल सुलग जाता है, वैसे ही चरित्र नायकके भी उदार एवं शीतल हृदयमें क्रोध-ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। मोहकी माया बड़ी प्रबल हुआ करती है; शिष्य मोह और बौद्ध-मदान्धताने समु-ज्जवल सुधाकरकी सुमधुर सुधाको विकराल विषके विषम विषके रूपमें परिणत कर दिया। हरिभद्र सूरि उठे और वेग पूर्वक वायुकी चालसे चलते हुए बौद्धों से बदला लेनेके लिये राजा सूरपालकी सभामें पहुँचे। राजाको तदनुरूप आशीर्वाद दिया और परम हंसकी रक्षाके लिये भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए धन्यवाद दिया; एवं बौद्धोंसे वाद विवाद कर प्रतिशोधकी प्रज्वलित विकराल ज्वालाको शांत करनेकी अपनी अभिलाषा प्रकट की। राजाने नम्रता पूर्वक निवेदन किया कि बौद्ध प्रतिवादी तो अनेक हैं और आप केवल एक ही हैं, अतः यह सामञ्जस्य कैसे हो सकेगा? हरिभद्रसूरिने सिंहवत् निर्भयता पूर्वक उत्तर दिया कि आप निश्चिंत रहें। मैं अकेला ही उन प्रतिवादी रूप हाथियों के समूहमें सिंहवत् पराक्रमी सिंह होऊँगा। इस पर राजा ने एक वाचाल किन्तु बुद्धिमान दूतको बौद्ध कुलपति के समीप शास्त्रार्थका निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये भेजा। सन्देश वाहकने जाकर कठोर भाषामें गर्जना की कि "हे बौद्ध-शिरोमणि तर्क-पंचानन" आप अपनेको न्याय वन-सिंह समझ बैठे हो; किन्तु अभी तक प्रति-वादी मतंगज स्वच्छंदता पूर्वक विचरण कर रहे हैं; उन-का दमन क्यों नहीं करते हो? ऐसा ही कोई दुर्दमनीय मतंगज राजा सूरपालकी राज-सभामें आया हुआ है; उसने प्रतिमल्लवत् ललकारा है कि यदि अपनी मान-मर्यादाकी रक्षा करना चाहते हो तो विवादात्मक युद्ध-क्षेत्रमें आओ; अन्यथा बौद्ध-धर्मकी पराजय स्वीकार करते हुए दीन वचनोंमें प्रार्थना करो कि हम शृगाल हैं सिंह नहीं। वाचालदूतकी दर्पपूर्ण कटुक्तियों पर कुल-पतिको उत्तेजनात्मक रोष हो आया और क्रोधसे दांतों द्वारा ओष्ठको दबाता हुआ बोल उठा कि "अरे मूर्ख दूत! जाओ, हमें उस उद्धत प्रतिवादीका निमन्त्रण स्वीकार है। हे अभिमानी सन्देश वाहक! उस धृष्ट प्रतिवादीको साथमें यह शर्त भी कह देना कि जो परा-जित होगा; उसे प्राण दण्ड दिया जावेगा। यह शर्त स्वीकार हो तो हम वाद-विवादमें सम्मिलित हो सकते हैं; अन्यथा नहीं"। दूतने तत्काल उत्तर दिया कि "पराजितको जलते हुए तेलके कड़ाहेमें कूदना होगा; यही प्राण-दंडकी रूप रेखा होगी। यदि आपको पूरा २ आत्म विश्वास हो कि मैं ही विजयी होऊँगा; तो ही आपको वाद-विवादके क्षेत्रमें उतरना चाहिये, अन्यथा पराजयके भीषण कलंकके साथ प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा और साथ साथ बौद्ध शासनके सौभाग्य भालको भी भीषण धक्का लगेगा; एवं बौद्ध-शासन-प्रभावना पर कलंक-मुद्राकी अमिट छाप लग जायगी"। इन वचनों से कुलपतिको मार्मिक आघात पहुँचा और चोट खाये हुए सर्पकी भांति दूतको भर्त्सना देता हुआ बोला कि "हे मूर्खाधिराज! हमारी चिन्ता न कर और अधिक प्रलाप मत कर। जा; हम शास्त्रार्थके लिये आते हैं; राजासे कह देना कि सब व्यवस्था करे, किसी बातकी त्रुटि नहीं होने पावे।"

विवाद-सभाकी सर्व प्रकारेण पूरी व्यवस्था की गई। सभापति, सभ्य, मध्यस्थ, दर्शक और श्रोताओंसे सारी सभा सुशोभित होने लगी। समय होते ही राजाभी उपस्थित हुआ। प्राण-घातक शर्तके कारण प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें उत्सुकता और व्याकुलताका आश्चर्य जनक संमिश्रण था। संपूर्ण सभामें सूची भेद्य नीर-

वता थी। दोनों वादी प्रतिवादी भी नियमानुसार शास्त्रार्थके लिये तैयार हो गये और वाद विवाद प्रारंभ हुआ।

प्रथम बौद्ध कुलपतिने पूर्व पक्षके रूपमें "क्षणवाद" का प्रबल युक्तियों, हेतुओं और अनुमानों द्वारा पूर्ण समर्थन किया और अजेयरूप देनेका भरपूर प्रयास किया। तदन्तर हरिभद्रसूरि उठे और मंगलाचरण करने एवं राजा तथा सभाको आशीर्वाद देनेके बाद शांति पूर्वक किन्तु प्रखर तर्कों द्वारा क्रमशः क्षणवाद का खण्डन करते हुए कुलपतिकी सारी शब्दाडम्बरमय तर्कोंको इस प्रकार अस्त व्यस्त कर दिया, जिस प्रकार कि वायु मेघोंके प्रवाहको कर देता है। अन्तमें "वस्तु स्थिति नित्यानित्यात्मक है" इसी सिद्धान्तको सर्वोपरि ठहराया। अपने पक्षको प्रबल रीतिसे सिद्ध कर दिया। अन्ततोगत्वा प्रतिपक्षी इस सम्बन्धमें अपने आपको अनाथ और असहाय सा अनुभव करने लगा; एवं **"मौनं स्वीकृति-लक्षणं"** के अनुसार पराजय स्वीकार कर ली।

सम्पूर्ण सभा स्तब्ध और शांत थी। **"कुलपतिः पराभूतः"** सभासदोंके इन शब्दों द्वारा वह नीरव शांति भंग हुई। कुलपति उठा और पूर्व प्रतिज्ञानुसार उसने गरम २ तेलके कड़ाहेमें गिरकर मृत्युका आलिंगन कर लिया। इस प्रकार जब पांच छः के लगभग बौद्धोंका तेलके कड़ाहेमें गिर कर होम हो गया, तब सम्पूर्ण बौद्ध संसारमें हाहाकार मच गया। बौद्ध शासन-रक्षिका तारादेवी बुलाई गई; उसने यही कहा कि हंस और परमहंसकी हत्याका ही यह परिणाम है; अतः इसीमे कल्याण है कि सब बौद्ध यहांसे चले जाँय।

हरिभद्र सूरिका क्रोध अभी तक शाँत नहीं हुआ था; वे क्रोधसे प्रज्वलित हो रहे थे और और भी बौद्धोंका नाश करना चाहते थे। किन्तु कहा जाता है कि जब यह घटना आचार्य जिनभट सूरिजीको ज्ञात हुई तो उन्होंने क्रोधको शाँत करनेके लिये अपने दो शिष्योंके साथ तीन प्राकृत गाथाएँ भेजीं। कहा जाता है कि वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

गुण-सेण-अग्गिसमा, सीहाऽणन्दा य तह पिया पुत्ता।
सिहि जालिणि माइसुया धणधणसिरिमो य पइ भज्जा ॥
जय विजया य सहोयर धरणो लच्छी य तह पई भज्जा।
सेणविसेणापित्तियउत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥ २ ॥
गुणचंद वाणमंतर समराइच्च-गिरिसेणपाणो उ।
एक्कस्स तओ मोक्खो बीयस्स अणन्त संसारो ॥ ३ ॥

इन गाथाओंका यही तात्पर्य है कि क्रोधके प्रतापसे दो जीव नौ जन्म तक साथमें रहने पर भी अंतमें एक को तो मुक्ति प्राप्त होती है और दूसरेका अनन्त संसार बढ़ जाता है। अतः क्रोधके बराबर दूसरा कोई शत्रु नहीं है। इसलिये कषायगणनाके प्रारम्भमें ही इसका नाम निर्देश है।

गाथाओंका मनन करते ही हरिभद्रसूरिका क्रोध तत्काल शाँत होगया; उन्हें अपने इस हिंसाकाँडसे भयंकर पश्चात्ताप हुआ और वहाँसे वे तत्काल चित्रकूटकी ओर मुड़े। तीव्रगतिसे चलते हुए गुरुजीके समीप पहुँचे और चरणोंमें गिरकर प्रायश्चित्त लेते हुए पापोंकी आलोचना की। उन तीन गाथाओंके आधारसे ही बादमें हरिभद्र सूरिने प्रशमरसपूर्ण "समराइच्च कहा" नामक कथा-ग्रंथकी रचना की; जोकि कथा-साहित्यमें विशिष्ट गौरव पूर्ण ग्रथ-रत्न है।

राजशेखर सूरिने अपने प्रबंधकोशमें शास्त्रार्थ होने की बात न लिखकर केवल मंत्र-बलद्वारा ही बौद्धोंका नाश करनेके संकल्पकी बात लिखी है।

इसी प्रकार सम्वत् १८३४ में हुये अमृतधर्म गणि

के शिष्य श्री क्षमाकल्याण मुनिने भी राजशेखर सूरि-वत् ही उल्लेख किया है। और यह भी विशेषता बतलाई है कि हरिभद्र सूरिके क्रोधको शाँत करनेवाले श्री जिनभट सूरिजी नहीं थे; किन्तु "याकिनी महत्तराजी" ही थी।

सुना जाता है कि इन्होंने १४४४ अथवा १४४० बौद्धोंको नाश करनेका संकल्प किया था; अतः उस संकल्पजा हिंसाकी निवृत्तिके लिये १४४४ अथवा १४४० ग्रंथोंके रचनेकी आदर्श प्रतिज्ञा ली थी। आपने उज्ज्वल जीवनमें ये इतने ग्रंथ रच सके थे या नहीं; इस सम्बन्धमें कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं पाया जाता है। केवल इतने ग्रन्थोंके रचनेवाले कहे जाते हैं एवं माने जाते हैं।

हरिभद्र सूरिने अपने कुछेक ग्रन्थोंके अन्तमें 'विरह' शब्दको अपने विशेषण रूपसे संयोजित किया है। यह शब्द हंस और परमहंसकी अकाल मृत्युका द्योतक है-ऐसी मान्यता है। उनके दुःखसे उत्पन्न वेदना स्वरूप ही एवं उनकी स्मृतिके लिये ही "विरह" शब्द लिखा है।

श्री प्रभाचन्द्र सूरिने अपने प्रभावक चरित्रमें लिखा है कि आचार्य हरिभद्र सूरिने अपने ग्रंथोंका व्यापक और विशाल प्रचारार्थ तथा ग्रन्थोंकी अनेक प्रतियाँ तैयार करनेके लिये "कार्पासिक" नामक किसी भव्य आत्माको व्योपारमें लाभकी भविष्यवाणी की थी; और तदनुसार उसने व्योपारकर पुष्कल द्रव्य-लाभ किया था, जिससे उसने अनेक प्रतियाँ तैयार कराई और स्थान २ पर पुस्तक भंडारोंमें उन्हें भिजवाई थी।

कथा-भिन्नता

श्री महेश्वर सूरि कृत कथावलिमें हरिभद्र सूरिका जन्म-स्थान "पिवंगुई" नामक कोई ब्रह्मपुरी बतलाई गई है। माताका नाम गंगा और पिताका नाम शंकर-भट्ट बतलाया गया है। इसी प्रकार याकिनी महत्तराजी के साथ चरित्र-नायक श्री जिनभटजीकी सेवामें नहीं गये थे, किन्तु श्री जिनदत्त सूरिजीके समीप गये थे; ऐसा उल्लेख है। श्री जिनदत्त सूरिजीसे हरिभद्रसूरिने प्रश्न किया था कि "धर्म कैसा होता है"? इसपर गुरुजीने उत्तर दिया कि धर्म दो प्रकारका होता है:—१ सकामवृत्तिस्वरूप धर्म और २ निष्कामवृत्तिस्वरूप धर्म। प्रथमसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और द्वितीयसे "भव-विरह" होता है। इसपर भद्र-प्रकृति हरिभद्र सूरिने सविनय निवेदन किया कि "हे करुणासिंधो! मुझे तो "भव-विरह" ही प्रिय है। इसपर श्री जिनदत्त सूरिजीने प्रसन्न होकर उन्हें साधु-धर्मकी पवित्र दीक्षा दी।

शिष्योंके सम्बन्धमें कथावलिमें इस प्रकार उल्लेख है कि इनके दो शिष्य थे, जिनके नाम क्रमसे जिनभद्र और वीरभद्र थे। इन दोनोंको बौद्धोंने किसी कारण-वशात् एकान्तमें मार डाला था, इससे हरिभद्र सूरिको मार्मिक आघात पहुँचा एवं आत्मघात करनेके लिये वे तैयार होगये। किन्तु ऐसा नहीं करने दिया गया। अन्तमें हरिभद्र सूरिने ग्रंथ-रचना ही शिष्य अस्तित्व समझा और तदनुसार इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की।

इसी प्रकार कथावलिमें यह भी देखा जाता है कि हरिभद्र सूरिको "लल्लिग" नामक एक सद्गृहस्थने ग्रन्थ-रचनामें बाह्य सामग्रीकी बहुत सहायता प्रदान की थी। यह जिनभद्र वीरभद्रका चाचा (पितृव्य) था। इसे चरित्र नायकजीकी द्रव्य-विषयक भविष्य वाणीसे पुष्कल लाभ हुआ था। इसने उपाश्रयमें एक ऐसा रत्न रख दिया था कि जिसका प्रकाश रात्रिमें दीपकवत् फैलता

था और उस प्रकाशकी सहायतासे आचार्यश्री रात्रिमें भी ग्रंथ रचनाका कार्य भलीभाँति कर सकते थे और करते थे।

हरिभद्र सूरि जब भोजन करने बैठते थे, उस समय लल्लिग शंख बजाता था, जिसे सुनकर याचकगण वहाँ एकत्रित हो जाते थे। याचकोंको उस समय भोजन कराया जाता था और तदनन्तर याचकोंके हरिभद्रसूरि को नमस्कार करने पर आचार्यश्री यही आशीर्वाद देते थे कि "भवविरह करनेमें उद्यमवन्त हो।" इसपर याचक गण पुनः "भवविरह सूरि चिरंजीवी हो" ऐसा जयघोष करते थे। इसीलिये जिन-शासन शृंगार आचार्य हरिभद्रसूरिका अपर नाम "भवविरह सूरि', भी प्रसिद्ध हो गया था।

सम्पूर्ण कथा-मीमाँसा

यह तो सत्य है कि कथाका कुछ अंश कल्पित है, कुछ अंश विकृत है और कुछ अंश रूपक अलंकारसे संमिश्रित है। साधु-शिरोमणि आचार्य हरिभद्र सूरिके उज्ज्वल और आदर्श जीवन चरित्रका अधिकाँश भाग विस्मृतिके गर्भमें विलुप्त होगया है; जिसे अब हमारी कल्पनाएँ ठीक ठीकरूपमें ढूंढ निकालनेमें शायद ही समर्थ हो सकेंगी।

ये प्रकृतिसे भद्र, उदार, सहिष्णु, गम्भीर और विचारशील थे; यह तो पूर्ण सत्य है और इनकी सुन्दर कृतियोंसे यह बात पूर्णतया प्रामाणिक है। दार्शनिक क्षेत्रमें इनके जोड़का शाँत विद्वान् और लोकहितकर उपदेष्टा शायद ही कोई दूसरा होगा। पं० बेचरदासजीके शब्दोंमें ये वादियोंके वादज्वरको, हठियोंके हठज्वरको और जिज्ञासुओंके मोहज्वरको शाँत करनेमें एक आदर्श रामबाण रसायन-समान थे।

यह भी पूर्ण सत्य है कि विद्याधरगच्छ और श्वेताम्बर संप्रदायमें श्री याकिनी महत्तराजीकी किसी अज्ञात प्रेरणासे श्री जिनदत्त सूरिजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। और श्री जिनभटजीके साथ इनका सम्बन्ध गच्छपति गुरुरूपसे था।

जन्म-स्थान और माता पिताके नामके सम्बन्धमें ऐतिहासिक सत्यरूपसे कुछ कह सकना कठिन है। किन्तु ये ब्राह्मण थे, अतः कथावलिका उल्लेख सत्य हो सकता है। प्रभावक-चरित्रके अनुसार चित्तौड़ नरेश जितारिका पुरोहित बतलाना सत्य नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि चित्तौड़के इतिहासमें हरिभद्र-कालमें "जितारि" नामक किसी राजाका पता नहीं चलता है। इसी प्रकार हाथीवाली घटना भी कितना तथ्याँश रखती है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है; क्योंकि इस घटना की श्री-मुनिचन्द्र सूरि कृत उपदेशपदकी टीकाके उल्लेखमें कोई चर्चा नहीं है। यह कथाभाग पीछेसे जोड़ा गया है, ऐसा ज्ञात होता है। पाँडित्य-प्रदर्शन और तत्सम्बन्धी अंशका इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि इनकी वृत्ति प्रारंभमें अभिमानमय होगी और ये अपनेको सबसे अधिक विद्वान् समझते होंगे तथा शेषके संबंधमें हीन-कोटिकी धारणा होगी। इसी धारणाका यह रूप प्रतीत होता है; जो कि कवि-कल्पना द्वारा इस प्रकार कथाके रूपमें परिणत हो गया है।

श्री याकिनी महत्तराजीके साथ इनका सम्पर्क और इतना भक्ति-पूर्ण सम्बन्ध कैसे हुआ? यह एक अज्ञात किन्तु गम्भीर रहस्यपूर्ण बात है। एक श्लोक अथवा गाथा के आधार से ही इतना प्रचण्ड गम्भीर दार्शनिक वैदिक दर्शनको छोड़कर एकदम जैन-साधु बनकर जैन-दर्शन भक्त बन जाय; यह एक आश्चर्य-जनक बात

प्रतीत होती है। यह सम्भावना हो सकती है कि कोई अति जटिल दार्शनिक समस्या इनके मस्तिष्कमें चक्कर लगाती रही होगी और उसका समाधान इन्हें बराबर नहीं हुआ हो; ऐसी स्थितिमें सम्भव है कि अनेकान्त सिद्धान्त द्वारा पूज्य याकिनी महत्तराजीसे इनका समाधान हो गया होगा और इस दशामें स्याद्वादकी महत्ता और दार्शनिक समस्याके समाधानसे इन्हें परम प्रसन्नता हुई होगी और इस प्रकार यह प्रसन्नता ही इन्हें जैन दर्शनके प्रति अनुरक्त बनानेमें एवं साधु बनानेमें कारण भूत हुई होगी, ऐसा ज्ञात होता है। यही श्री याकिनी-महत्तराजीके प्रति इनकी भक्ति और श्रद्धाका रहस्य प्रतीत होता है।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद जैनदर्शनका हृदय है। इसकी मौलिक विशेषता यही है कि इसके बलसे जटिल से जटिल दार्शनिक समस्याका भी सरल रीत्या पूर्ण समाधान हो जाता है। अतः हो सकता है कि असाधारण दार्शनिक हरिभद्रकी दार्शनिक समस्याएँ इस सिद्धांत के बल पर हल होगई हों और इस प्रकार ये जैन धर्मानुरागी बन गये हों।

शिष्य-संबंधी कथा-भागका आधार यही हो सकता है कि इनके शिष्य तो दो अवश्य ही हुए होंगे इनका गृहस्थ नाम शायद हँस और परमहँस होगा और दीक्षा नाम संभव है कि जिनभद्र और वीरभद्रके रूपमें हो। प्रभावक चरित्र और कथावलिमें पाये जाने वाले नाम-भेदसे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। कथा-अंशसे यह भी सत्य हो सकता है कि बौद्धोंने इन दोनोंको कोई महान् कष्ट पहुँचाया हो और इन्हें भयंकर प्रताड़ना दी हो; जिससे संभव है कि ये दोनों शिष्य काल कर गये हों। इस पर आचार्य हरिभद्र सूरिको यदि प्रचंड क्रोध आ जाय तो मानव-प्रकृतिमें यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। बौद्धोंसे इन्होंने अवश्य शास्त्रार्थ किया होगा और उन्हें अपमान पूर्वक पराजयकी कलंक-कालिमासे चोट पहुँचाई होगी। किन्तु बौद्धोंका इस प्रकार नाश किया हो; यह कुछ विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता है। यह हो सकता है कि मानवप्रकृति अपूर्व है और इसलिए बौद्धोंका नाश करने का संकल्प कर लिया हो और उस संकल्पजा हिंसाकी निवृत्तिके लिये ही एवं शिष्यमोहकी निवृत्तिके लिये ही १४४४ या १४४० ग्रन्थोंको रचनेका विचार किया हो। और यथा शक्ति इस संख्याको पूर्ण करनेका प्रयत्न किया हो, इस सत्य पर अवश्य पहुँचा जा सकता है कि बौद्धों और इनके बीचमें कोई न कोई तुमुल युद्ध अवश्य मचा है और वह कटुताकी चरम-कोटि तक अवश्य पहुँचा होगा। बौद्धोंकी तत्कालीन नृशंसतापूर्ण निरंकुशता और उत्तरदायित्वहीन स्वच्छंदता पर हरिभद्र-सूरिको अवश्य क्रोध आया होगा और संभव है कि वह क्रोध हिंसाकी अक्रियात्मक अवस्थाओंमेंसे अवश्य गुजरा होगा। इस प्रकार तज्जनित पापकी निवृत्तिके लिये ग्रंथ रचनाकी प्रतिज्ञाकी हो। अतः इस विस्तृत आद्योपाँत घटनाका यही मूल आधार प्रतीत होता है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बौद्धोंकी स्वच्छंदतापर ये अंकुश लगानेवाले और उनकी उन्मत्तताका दमन करने वाले थे। अतः भारतीय संस्कृतिके और खास तौर पर जैन संस्कृतिके ये प्रभावक संरक्षक और विकासक महापुरुष थे; इसमें कोई संदेह नहीं है।

इनकी प्रतिभा संपन्न कृतियों और साहित्य सेवाके संबंधमें अगली किरणमें लिखनेका प्रयत्न करूंगा।

(अपूर्ण)

वीर-नतुवा

[लेखक पं० मूलचन्दजी जैन [illegible]]

---

(१)

वह स्वधर्म अनुरक्त, सत्यभक्त और मातृभू[illegible] प्रेमासक्त था। उज्वल अहिंसामें उसका हृदय परिप्लुत था।

मातृभूमि-संरक्षणके लिए, वीर माताकी आज्ञानुसार प्रतिस्पर्धीका निमंत्रण स्वीकार कर भीषण रण स्थलमें अपने अटल कर्तव्यको पूर्ण करनेवाला स्वधर्मनिरूपित अंतिम उत्कृष्ट क्रियाओंक[illegible] पूर्ण अवस्थामें परिपूर्ण कर स्वर्ग प्राप्त करनेवाला वह था एक 'बारहव्रत धारी जैन श्रावक।'

उसका नाम था 'वैराग नाग नतुवा।'

(२)

कल उपवासका दिन था और आज था उ[illegible] पारणे का दिन। नतुवा आसन पर पारणा कर को बैठा ही था कि उसी समय भेरी की [illegible] उसके कानोंमें पड़ी। नगरके शान्तिपूर्ण वातावरण में कुछ असाधारण उपद्रव जगने की उसे आशंका उत्पन्न हुई। भोजन त्याग कर वह उसी समय उठा और बाहर आया। नगर पर किसी शत्रु सैन्यने आक्रमण किया है, आक्रमणका प्रतिकार करनेके लिए स्वदेश और स्वजनोंके रक्षणार्थ राजाने समस्त वीर क्षत्रिय सैनिकों को अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होनेका निमंत्रण दिया है। यह उसने ज्ञात किया।

भे[illegible] न रही है, लोकसमूह इस नवीन उत्पन्न [illegible] अपने अपने योग्य कार्यको हस्त[illegible] लिए शीघ्रतासे एकत्रित हो रहे हैं। [illegible] सदैव जागृत है ऐसे नतुवाके लिए [illegible] स्थितिको अनुभव करनेमें कुछ भी [illegible]।

[illegible] आया और बातकी बातमें सज[illegible] होगया। शरीर पर लोहेका कवच और [illegible], [illegible]में तलवार, उसके ऊपर कटार [illegible] ढाल, तीरोंसे भरा तरकस और हाथमें धनुष।

योद्धाका साज सजकर, इष्ट देवका स्मरण कर, [illegible] आशीर्वाद और वीर पत्नीके वीरो[illegible] शब्दोंसे उत्तेजित नतुवा शत्रु दलका सामना करनेके लिए बाहर निकल पड़ा।

(३)

वीरताके कारण सेनामें उसका पद ऊँचा था, वह रथी था। बाहर रथ तैयार था, अधीर हुए उन्मत्त घोड़े चारों पैरोंसे हवामें उड़नेको तैयार हो रहे थे। सारथी कठिनाईसे उन्हें स्वाधीन रख रहा था। शासन देवका स्मरणकर वीर नतुवा रथपर सवार हुआ। पृथ्वीको कंपाते हुए घोड़े प्रबल वेगसे उड़ने लगे।

वह क़िलेके बाहर अपनी सेनामें सम्मिलित

हुआ। सामने शत्रु दल कटिबद्ध था, रणभेरी फिरसे भारी उत्साहके साथ बजी और युद्धका भीषण वेग प्रारम्भ हुआ।

युद्ध नवीन नहीं था, पैदलसे पैदल, हाथीसे हाथी और रथीसे रथी लड़ने लगे। मीलों तक गोला फेंकनेवाली तोपों, जहरीली गैसों और घातक यंत्रोंका वर्तमानमें जितना मान है इससे कहीं अधिक मान प्राचीन युद्ध पद्धतिमें मनुष्यको प्राप्त था।

(४)

हमारा रथी नायक युद्ध विद्यामें निपुण निर्भय प्रकृति शूरवीर और अपना कर्तव्य पालन करनेमें सदा सावधान रहनेवाला धार्मिक योद्धा था। सामने दूसरा रथी था, मोरचा मौंडकर नतुवा उसके सन्मुख डट गया।

"इस युद्धके कारण हम नहीं, तुम्हारे राजाका राज्य-लोभ है, तुम हमारे ऊपर आक्रमण करने आए हो, तुम्हारी युद्ध तृष्णाका प्रतिकार और अपना संरक्षण करनेके लिए हमें इस युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा है। राजाज्ञासे निर्दोष सैनिकोंका वध करनेवाले ओ वीर! सावधान हो, आयुध ले और मेरे ऊपर वार कर" दाएँ हाथपर लटकते हुए तरकसमेंसे एक बाण निकालकर धनुषपर चढ़ाते हुए प्रतिद्वंदीको लक्षितकर नतुवाने कहा।

शब्दका उच्चारण समाप्त होनेके प्रथम ही सनसनाट करता हुआ एक बाण कवचको छेदकर नतुवाकी छातीमें भिद गया, प्रचंड ज्वालसे वीरका रक्त खौलने लगा, नेत्रोंसे ज्वलंत अग्निकी लपटें निकलने लगीं, वीरत्व उमड़ आया, नसोंको तोड़ कर बाहिर पड़नेके लिए रक्त उभरने लगा। डोर को कान पर्यंत खेंचकर उसने सामने एक भीषण बाणका प्रहार किया, बाणके वेगके साथ साथ उसका भीषण परिणाम हुआ। प्रतिस्पर्धीका रथ टूटा, घोड़ा मरा, रथवाह कभिदा और सवारकी छातीको तोड़ता हुआ तीर उस पार निकल गया।

नतुवाका कर्तव्य पूर्ण हो चुका। उसने मातृ-भूमिका ऋण चुका दिया, छातीमें से तीर निकालते ही प्राण निकल जायेंगे। अब युद्धको आगे चलानेके लिए वह असमर्थ हो चुका था।

(५)

युद्ध भूमिके समीप एक वृक्ष था, वह रथसे उतरा और शस्त्रास्त्र उतार डाले। पद्मासन लगाया, सन्यास ग्रहण किया और जागृत आत्मा के ज्वलंत भावोंमें तन्मय होगया। उसने तीर निकाला, रक्तकी धार बह उठी। मानव-जीवन कृतार्थ करने वाले दृढ़ प्रणी-कर्मठ, वीर नतुवाने कर्तव्य परायणताकी जागृत ज्योतिके सामने, उपवासका पारणा पूर्ण किए बिना ही, खुशी खुशी इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

सुख सम्पत्तिको लात मारने वाले, शरीरसे ममत्व हटा अपने कर्तव्य पालनमें अटल रहने वाले, उज्वल अहिंसाके उच्च आदर्श पर निश्चल रह स्वदेश संरक्षणकी आज्ञा शिरोधार्य करने और युद्ध भूमिमें-कर्मभूमिमें प्राण त्यागने वाले ओ विजेता जैन वीर! तुझे सहस्रों धन्यवाद हैं।

सरल योगाभ्यास

[लेखक—श्री हेमचन्द्रजी मोदी]
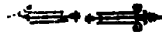
'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी सँयुक्त किरण नं० ८-९-१० में मैंने 'योगमार्ग' शीर्षक एक लेख लिखा था और उसमें योगविद्याके महत्व और उसके इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला था। अब मैं 'अनेकान्त' के पाठकोंको योगाभ्यासके कुछ ऐसे सरल उपाय बतलाना चाहता हूँ जिनसे इस विषयमें रुचि रखनेवाले सज्जन ठीक मार्गका अनुसरण करते हुए योगाभ्यासमें अच्छी प्रगति कर सकें और फलतः शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंका विकासकर अपने इष्टकी सिद्धि करनेमें समर्थ हो सकें। लेखमें इस बातका विशेष ध्यान रखा गया है कि हरेक श्रेणीके लोग गृहस्थ, ब्रह्मचारी, मुनि आदि सब ही इनसे लाभ उठा सकें। गृहस्थोंके लिये ऐसे अभ्यास दिये जायेंगे जिन्हें वे बिना अड़चनके और बिना कोई खास समय दिये कर सकें; तथा जिनके पास समय है उनके लिये ऐसे अभ्यास दिये गये हैं जिनसे कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक लाभ उठाया जा सके। साथ ही, मौके मौकेपर मैंने अपने अल्प समयके अनुभवोंका हाल भी लिख दिया है, जिनसे कि मुमुक्षुओंको सहायता मिल सके। वास्तवमें योग ही एक ऐसी विद्या है जिसकी सबको समानरूपसे आवश्यकता है। भारतवर्षके सभी विज्ञानों-सभी शास्त्रों का अन्तिम लक्ष्य और यहाँ तक कि जीवनका भी अंतिम लक्ष्य मोक्ष है, और योग वह सीढ़ी है जिससे होकर ही हरेकको—चाहे वह मुनि हो या गृहस्थी, वैयाकरण हो या नैयायिक और चाहे वैद्य हो अथवा अन्य और कोई—गुज़रना पड़ता है। योगका ही मोक्षसे सीधा सम्बन्ध है। श्री हरिभद्रसूरि कहते हैं:—

विद्वत्तायाः फलं नान्यत्सद्योगाभ्यासतः परम्।
तथा च शास्त्रसंसार उक्तो विमलबुद्धिभिः ॥१०७

—योगबिन्दु

अर्थात्—योगाभ्याससे बढ़कर विद्वत्ताका और कोई फल नहीं है; इसके बिना संसारकी अन्य वस्तुओंके समान शास्त्र भी मोहके कारण हैं, ऐसा विमलबुद्धियोंने कहा है।

सम्यग्ज्ञानकी विरोधिनी तीन वासनायें हैं और ये वासनायें बिना योगाभ्यासके नष्ट नहीं होतीं। जैसा कि कहा है—

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथा वन्नैव जायते ॥ २ । २
जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥१९॥

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमुक्तिकोपनिषद्

अर्थात्—लोकवासनासे, शास्त्रवासनासे और देहवासनासे जीवको ज्ञान नहीं होता। जन्म-जन्मान्तरोंसे अभ्यास की हुई संसारवासना बिना योगके चिरकालीन अभ्यासके क्षीण नहीं होती।

इस प्राक्कथनके बाद अब योगके प्रथम और सर्व प्रधान अभ्यासकी चर्चा की जाती है।

प्रथम अभ्यास

सदा जाग्रत रहना

सदा जाग्रत एवं सावधान रहना, यह योगकी पहली सीढ़ी और प्रथम शर्त है। इस विषयमें कुछ योग-निपुण आचार्योंके वाक्य जानने योग्य हैं:—

भवभुवनविभ्रान्ते नष्टमोहास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥

—श्रीशुभचंद्राचार्य-ज्ञानार्णव

अर्थात्—जन्म जन्मके भ्रमणसे भ्रांत हुए तथा मोहसे नष्ट और अस्त होगई है चेतना जिसकी, ऐसे जगत्में केवल योगी ही रातदिन जागता है।

कालानलमहाज्वालाकलापि परिवारिताः ।
मोहांधाः शेरते विश्वे नरा जाग्रति योगिनः ॥१०

—श्रीनंदिगुरुविरचित योगसारसंग्रह

अर्थात्—कालरूपी महा अग्निकी ज्वालाकी कलाओंसे घिरे हुए इस विश्वमें मोहाँध लोग सोते हैं और योगी लोग जाग्रत रहते हैं।

जा णिसि सयलहं देहियहं जोग्गिउ तहिं जग्गेइ ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ॥१७२

—श्री योगीन्दुदेव-परमात्मप्रकाश

अर्थात्—जो सब देहधारिजीवोंकी रात्रि है उसमें योगी जागता है और जहाँ सारा जगत् जागता है वहाँ योगी उसे रात्रि समझकर (योगनिद्रामें) सोता है।

योगका सर्वप्रथम उद्देश्य कर्मके परमाणुओंका संवर—अर्थात् उन्हें लगनेसे रोकना है। ये कर्मके परमाणु मनुष्यको अपने स्वरूपकी असावधानी-सुषुप्तिकी अवस्थामें ही लगते हैं। जबसे यह जीव संसारमें जन्मता है तबसे मृत्युपर्यन्त वह जागनेकी अपेक्षा सोता ही अधिक है। काम-क्रोधादि कषायें मनुष्यको इस सुषुप्त अवस्थामें ही सताती हैं; क्योंकि यदि उसे अपने स्वरूप का पूरा बोध हो और यह मालूम रहे कि मैं क्या कर रहा हूँ तो वह कषायोंके फेरमें कभी न फँसे। अक्सर यह देखा जाता है कि मनुष्य कोई काम करके उसी प्रकार पछताता है जिस प्रकार कि स्वप्नमें बुरी बातें देख कर जागृत होने पर दुःखी होता है। वह सोचता है कि उस समय किसीने मुझे जगा क्यों न दिया? सावधान क्यों न कर दिया? हाय! मुझे ऐसे विचार क्यों उत्पन्न हुए। यही बात वह तब सोचता है जब कि काम-क्रोधादिके आवेशमें कुछ कर बैठता है।

यदि सूक्ष्मतासे देखा जाय तो संसारके बीजरूप कर्मोंकी जड़ यह असावधानता ही है। यदि यह निकल जाय तो नवीन कर्मोंका आस्रव बिल्कुल रुक जाय तथा पुराने कर्म बिना किसी प्रतिक्रियाके नष्ट होते चले जायँ। यह सावधानी या जाग्रति सबसे प्रधान योग है, इसके बिना और सब योग वृथा हैं; क्योंकि अक्सर देखा जाता है कि बहुतसे योगियोंमें संवर-निर्जराकी अपेक्षा आस्रव-बन्ध ही बढ़ जाता है।

अनेक बार यह ही देखनेमें आया है कि बहुतसे लोग काम-क्रोधादिका कारण न मिलने देनेके लिये जंगल-पहाड़ आदिका आश्रय लेते हैं; परन्तु स्वप्नोंके समय वे भी असंख्य कर्मोंका बन्ध कर लेते हैं। इस लिये योगीको चाहिए कि वह रात्रिको भी सावधान रहे। दिनकी अपेक्षा काम-क्रोधादि रिपु रातको ही अधिक सताते हैं। वैज्ञानिकोंका कथन है कि इसका सूर्यसे सम्बन्ध है।

योगके ग्रन्थोंमें जो यह जाग्रत रहनेकी क्रियाका उपदेश दिया है इसकी खोजमें मैंने बहुत दिन सोच-विचार और प्रयोगोंमें बितायें और तब वह क्रिया बड़ी मुश्किलसे मेरे हाथ लगी। यह क्रिया मैंने आज तक

किसी ग्रन्थमें नहीं देखी; क्योंकि योगग्रन्थोंमें अधिकांश बातें गुरुगम्य और अनुभवगम्य ही रक्खी गई हैं; पढ़कर कोई अभ्यास नहीं कर सकता तथा राजयोगके सच्चे गुरु मिलना एक तरहसे असंभवसा है।

इस क्रियाके बतलानेके पहले निद्राका सूक्ष्म विश्लेषण करना आवश्यक है। यह विश्लेषण सांख्य पद्धतिसे होगा।

निद्रा तीन प्रकारकी होती है—सात्विक, राजसिक तामसिक। इन सब प्रकारकी निद्राओंमें तमोगुणकी प्रबलता रहती है। जिसमें सत्वगुणकी ही पूर्ण प्रबलता हो उसे योगनिद्रा कहते हैं, वह इन तीन प्रकारासे जुदी है।

सत्वगुण आत्माका चैतन्यगुण है, इसमें निर्मलता और व्यवस्थिति रहती है। रजोगुण क्रियाशीलताका गुण है और तमोगुण निष्क्रियता, जड़ता और अंधकार का गुण है।

जिस निद्रामें तमोगुणका नम्बर पहला और सत्वगुणका दूसरा होता है उसे सात्विक निद्रा कहते हैं। जिस निद्रामें तमोगुणका नम्बर वही प्रथम, परन्तु रजोगुणका नंबर दूसरा होता है उसे राजसिक निद्रा कहते हैं, और जिसमें तमोगुणका नम्बर प्रथम तथा द्वितीय दोनों ही रूप है उसे तामसिक निद्रा कहते हैं।

सात्विक निद्राको सुषुप्ति कहते हैं, इसमें स्वप्न नहीं आते तथा 'मैं हूँ' इसका भान रहता है तथा जीव विश्रांति और सुखका अनुभव करता है:—

सुषुप्ति काले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति।

—कृष्णयजुर्वेदीय कैवल्योपनिषद्।

अर्थात्—सुषुप्तिके समयमें तमोगुणसे अभिभूत होकर सब कुछ विलीन हो जाता है और जीव अपनेको सुखरूप अनुभव करता है।

राजसिक निद्रामें स्वप्न देखता है परन्तु इन स्वप्नोंमें वह द्रष्टा स्वप्न लोकके सृष्टाके रूपमें होता है और देख देखकर सुख-दुखका अनुभव करता है।

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पित-विश्वलोके।

—कैवल्योपनिषद्

अर्थात्—यह जीव स्वप्नमें अपनी मायासे बनाये हुए विश्वलोकमें सुख-दुःखका भोग करता है।

तामसिक सुषुप्तिमें मनुष्यको यह खयाल ही नहीं रहता कि मैं कौन हूँ और क्या कर रहा हूँ। उस समय विषयोंके आक्रमण होने पर वह विमूढ़-जड़के समान आचरण करता है। राजसिक सुषुप्तिमें अच्छे बुरेका कुछ ज्ञान रहता है परन्तु तामसिक निद्रामें वह नहीं रहता।

सात्विक निद्राके बाद मनुष्यमें फुर्ती रहती है और वह खुश होता है। राजसिक निद्राके बाद मनुष्य कुछ अन्यमनस्क रहता है तथा उसे विश्रांतिके लिये अधिक सोनेकी आवश्यकता होती है। परन्तु तामसिक निद्राके बाद मनुष्यको ऐसा अनुभव होता है मानो वह किसी वजनदार शिलाके नीचे रात्रि भर दबा पड़ा रहा हो।

योगग्रंथोंमें मनुष्य शरीरके तीन विभाग किये हैं, जिन्हें तीन लोकका नाम दिया गया है तथा कहा गया है कि मन या लिंगात्माके सहित प्राण जिस लोकमें जाते हैं आत्मा वहांके सुख-दुःखोंका अनुभव करता है। इस विषयमें 'योगमार्ग'-शीर्षक लेख देखें। स्वप्नके समय प्राण इन भिन्न भिन्न लोकोंमें विहार करता है, जिससे विचित्र विचित्र दृश्य देखता है:—

पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्।

—कैवल्योपनिषद्

सोनेके पहले उत्तम विचारोंसे तथा शीर्षासनके अभ्याससे अथवा कमरके नीचे तकिया रखकर सोनेसे भी स्वप्न नहीं आते, क्योंकि इनसे प्राणोंकी गति ऊर्ध्व होती है, यह मेरा खुदका अनुभव है। प्राणोंकी गति निम्न होनेसे कामुक स्वप्न आते हैं और उत्तेजना होती है।

हमेशा जाग्रत होनेके अभ्यासके लिये सबसे पहले जाग्रत अवस्थामें भी जो असावधानी रहती है उसे दूर करना चाहिए। क्योंकि—

पुनश्च जन्मांतरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।

—कैवल्योपनिषद्

अर्थात्—जन्मांतरोंके कर्मयोगके कारण वही जीव जगा हुआ भी सोता है। सदा सतत् जाग्रत रहनेका अभ्यास करनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह सुबह उठनेके बादसे रात्रिको सोने तक हर एक काम करते समय मनन-पूर्वक इस बातका खयाल करता रहे कि वह क्या कर रहा है। उठते समय मन ही मन जाप करे कि मैं उठ रहा हूँ। बैठते समय जाप किया करे कि मैं बैठ रहा हूँ। इतने पर भी यदि ख़याल भूल जाय, तो यह जाप ज़ोर ज़ोरसे बोला जाना चाहिए, जिसमें सबको सुन सके; परन्तु मन ही मन जाप करने का फल अधिक है। इस जपका शुभ परिणाम तुम्हें एक ही दिनमें मालूम होगा। यहाँ तक कि रात्रिमें सोते वक्त ही तुम्हारे अन्दर यह जाप चालू रहेगा तथा स्वप्न यदि कभी आवेंगे तो उसमें भी तुम अपनेको जाप करते हुए पाओगे। उस समय तुम्हारी आंतरिक सद-सद्विवेकबुद्धि जाग्रत रहेगी और हरेक खोटे कामोंसे बचाती रहेगी। जब तुम्हारी उठनेकी इच्छा होगी तब ही तुम्हारी नींद खुलेगी और इस क्रियाके फल-स्वरूप तुम्हें आत्म दर्शन भी हो सकेगा, जो कि असली सम्यग्दर्शन है। इस अभ्यासपूर्वक तुम जो भी सांसारिक व्यावहारिक काम करोगे उन सबमें तुम्हारी अत्यल्प आसक्ति होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि कर्मोंका आस्रव अत्यल्प हो जायगा। यह कहना भी अत्युक्त न होगा कि किसी समय आस्रव बिल्कुल बन्द भी हो जायगा; क्यों कि—

विषयैर्विषयस्थोऽपि निरासंगो न लिप्यते।
कर्दमस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैरिव ॥ ६०।६

नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुंजानोऽपि न बध्यते।
संखः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि ॥१७।४

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः॥६

—अमितगति-योगसार

अर्थात्—विषयोंमें रचापचा होने पर भी निरासंग (अनासक्त) जीव उनसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि विशुद्धात्मा स्फटिक कीचड़में रह कर भी उससे लिप्त नहीं होता। नीराग मनुष्य अप्रासुक द्रव्य खाकर भी उससे बद्ध नहीं होता। कीचड़में रहकर क्या शंख काला हो जाता है? बाह्य वेशादिसे जो निवृत्त मालूम होता है उसकी पूजा संसारी लोग करते हैं, परन्तु मोक्ष जानेकी इच्छा रखने वाले ऐसे मनुष्यकी पूजा करते हैं जो भावसे निवृत्त है।

हम ऐसे कई गृहस्थाश्रमी साधुओंका चरित्र सुन चुके हैं, जो संसारमें रहकर भी उससे निर्मोही रह सके, परंतु ऐसे मनुष्य करोड़ोंमें एक दो ही होते हैं। महात्मा गांधी ऐसे पुरुषोंमेंसे एक हैं। करोड़ों रुपये आने जाने में इन्हें हर्ष शोक नहीं होता और न अपने कार्यके पलट जानेसे ही इन्हें हर्ष-शोक होता है।

इस योगकी साधक एक हठयोगकी क्रिया भी वर्णित कर देना हम यहाँ उचित समझते हैं। हठयोग हमेशा राजयोगका सहायक होताहै। वह अकेला कोई कार्य सिद्ध नहीं कर सकता तथा राजयोग भी हठयोगके बिना अपूर्ण और समयसाध्य तथा अनेकबार असंभव हो जाता है।

किसी समतल स्थानमें चित्त लेट जाओ तथा नख-पर्यंत समस्त नाड़ियोंमेंसे प्राणशक्ति—मन-खींच कर नाभिमें, हृदयमें अथवा भ्रूमध्यमें धारण करनेकी कोशिश करो, तथा ऐसा करते समय पाँवके अगूठेको स्थिरदृष्टि-से देखते रहो। ऐसा करनेसे श्वासोच्छ्वासकी गति धीमी पड़ जायगी तथा हाथपैर हिलाने डुलानेमें मुर्देके समान दिखेंगे-डोलेंगे तथा धीरे धीरे एक मीठी निद्रासी आ जावेगी। इस निद्राका नाम 'योगनिद्रा' या 'मनो-न्मनी' है और करीब १ माहके अभ्याससे सिद्ध हो जाती है। यह बच्चोंको सबसे जल्दी, जवानोंको देरसे और बूढ़ोंको बहुत देरसे सिद्ध होती है। इस अभ्या-सके करनेके पहले शवासनका अभ्यास करना चाहिए। इस आसनमें हाथ-पैर आदि अंग इतने ढीले छोड़ने पड़ते हैं कि वे मुर्देके अंगोंके समान हो जाते हैं। किसी मित्रसे हाथ-पैर हिलवा-डुलवाकर इस आसनकी परीक्षा करवा लेनी चाहिये।

इस अभ्यासके सिद्ध होने पर तुम देखोगे कि जितनी विश्रांति और लोग दस घंटेकी नींदसे भी नहीं पाते उतनी विश्रान्ति तुम दो घंटेकी नींदसे ही प्राप्त कर सकोगे। नैपोलियनको यह निद्रा सिद्ध थी, वह २४-२४ घंटेकी थकावट घोड़े पर चढ़े-चढ़े २०—२५ मिनिटकी नींदसे निकाल लेता था। सुनते हैं कि महात्मा गाँधीको भी यह निद्रा सिद्ध है; योगियोंमें यह साधारण वस्तु है।

दूसरा अभ्यास

प्रेमयोग

जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहारकी सांस लेत बिनु प्रान॥

—कबीर

प्रेमयोगके विषयमें सबसे पहले घेरण्डसंहिताका निम्न वाक्य जानने योग्य हैं:—

स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिंतयेत् प्रेमयोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनंदाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः संभवेत्तेन संभवेच्च मनोन्मनी॥

इसमें बतलाया है कि—अपने हृदयमें इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करके परम आह्लादपूर्वक प्रेमयोगसे उसका चिंतवन करे। ऐसा करनेसे इस सारे शरीरमें रोमांच हो आता है, आँखोंसे आनंदके अश्रु गिरने लगते हैं और कभी कभी समाधि लग जाती है तथा मनोन्मनी (योगनिद्रा) भी संभव होती है।

वास्तवमें आत्माका आत्माके प्रति जो आकर्षण है उसका नाम प्रेम है। प्रेम वह आग है जो न जाने कितने कालसे और न जाने किसके लिये मनुष्यमात्रको विकल कर रही है। कभी कभी यह आग किसीके संगसे, किसीके स्पर्शसे कुछ समयके लिये ठंडी हुईसी मालूम होती है परन्तु फिर वह उससे कहीं तीव्र गतिसे प्रज्वलित हो उठती है। कवियोंमें वह काव्यरूपमें, तप-स्वियोंमें तपरूपमें, योगियोंमें ध्यानरूपमें, पक्षियोंमें गानरूपमें तथा सिद्धोंमें मैत्री, करुणा, क्षमा और अ-हिंसारूपमें फूट पड़ती है।

विश्वमें प्रेमके सिवाय एक और भी आकर्षण है जो लोकमें कभी कभी भूलसे प्रेमके नामसे पुकारा

जाता है। यह आकर्षण प्रत्येक जड़वस्तुमें है। काँचके किन्हीं भी दो समतल टुकड़ोंको एक दूसरेपर रखनेसे वे चिपकसे जाते हैं और ज़ोर देनेपर छूटते हैं। इसी प्रकार लोहेके टुकड़ोंमें, लोहे और लोहकांत (चुंबक) में, लोहकांतके विभिन्न ध्रुवों (Poles) में तथा एक ही प्रकारकी दूसरेसे विभिन्न गुण वाली सृष्टिओं—नर और मादाओंमें—यह आकर्षण बहुत ही प्रबल है।

मनुष्य आदि उच्च प्राणियोंमें उक्त दोनों प्रकारके आकर्षणोंका एक विचित्र संमिश्रण है। अनेक बार देखा जाता है कि आध्यात्मिक प्रेम अनेक बार इस शारीरिक जड मोहमें परिणत होता है और शारीरिक प्रेम अनेक बार आध्यात्मिक रूप ले लेता है। स्त्री-पुरुषका आकर्षण इसी प्रकारका है।

जडपदार्थोंमें जो आकर्षण है वह प्रेमका असली रूप नहीं है वह उसका बहुत ही विकृत और तामसी रूप है। आध्यात्मिक प्रेम ही सत्य है और सब प्रेम झूठ हैं, माया हैं और मोह हैं। आध्यात्मिक प्रेमग्राह्य है और जडप्रेम त्याज्य है। आध्यात्मिक प्रेम आत्मिक उन्नतिका कारण है और जडप्रेम अवनतिका।

आत्माके विकासके लिये प्रेमकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। वह विश्वके प्रत्येक प्राणीके प्रति प्रेम ही था जिसने भगवान महावीर और बुद्धको महान् बनाया। वह सीताके प्रति प्रेम ही था जिसने रामचन्द्रजीको महान् बनाया और जिसे कवि लोग गाते गाते नहीं थकते। शारीरिक प्रेम भी वियोग होनेके बाद आध्यात्मिक प्रेममें परिणत हो जाता है। प्रेमका सौन्दर्य वियोगमें ही है, संयोगमें तो उसका अवांश भी नहीं है। मेघदूत इसी लिये सर्वोत्तम काव्य है—उसमें हमें उस चिरंतन वियोगका एक आभास मिलता है और आत्मा उसे अतृप्त पिपासासे पीती जाती है।

जिन लोगोंमें उस सनातन वियोगकी चिरंतन अग्नि जल रही है वे ही सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, दार्शनिक हैं और योगी हैं। जिनमें वह अग्नि विभ्रांतिसे दब गई है—जिनकी विषयलालसाओंने उसे दबा दिया है—जिनके कर्म उसे जानने नहीं देते उनका कर्तव्य है कि वे भ्रांति दूर करें—विषयोंसे बचें। यह वह अग्नि है जिसके तीव्र होनेपर सब कर्ममल काफूरके समान उड़ जाते हैं। कहा भी है—"प्रेमाग्निना दह्यते सर्वपापं।"

प्रेमके विकासके लिये योगद्वारा प्रदर्शित जुदी-जुदी प्रकृतिके लोगोंके लिये साधककी योग्यतानुसार जुदे-जुदे मार्ग हैं।

सात्विक प्रकृतिके साधकोंके लिये ईश्वर-भक्ति या ईश्वर-प्रेम उत्तम उपाय है, ईश्वरप्रेम क्या है और किस तरह किया जाना चाहिए, यह बतानेके पहले यह जानना आवश्यक है कि दरअसलमें ईश्वर है क्या वस्तु?

ईश्वर शब्द प्राचीनसे प्राचीन वेदादि ग्रंथोंमें तीन अर्थोंमें आया है, इनको समझ लेनेके बाद इनका समन्वय अनेकान्त दृष्टिसे किया जा सकता है।

ईश्वर या ब्रह्मका प्रथम अर्थ आध्यात्मिक है। इस अर्थमें आत्मा ही शाश्वत और अविनाशी ब्रह्म है। यथा—

पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि।
वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो विश्वविद्वेदविदेव चाहं।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्।
एवं ज्ञात्वमाप्नोति संसारार्णवनाशनं।
तस्मादेवं विदित्वैवं कैवल्यं पदमश्नुते॥

—अथर्ववेदीया कैवल्योपनिषद्

ईश्वरका दूसरा अर्थ आधिभौतिक या सामाजिक

है। इस अर्थमें ईश्वर राष्ट्रकी, समाजकी, देशकी अमूर्त आत्मा है जिसके द्वारा राष्ट्र, समाज या देशका प्रत्येक व्यक्ति स्पंदित, प्रेरित या प्रभावित होता है। इस राष्ट्र-पुरुष, समाज-पुरुष, देश-पुरुष या विश्व-पुरुषके जाग्रत या सुप्त होनेपर जुदे जुदे सत्, कलि आदि युगोंका आविर्भाव होता है, ऐसा ऐतरय-ब्राह्मणमें लिखा है। इस समाज-पुरुष या राष्ट्र-पुरुषकी जाग्रतिके चिह्न हम वर्तमान भारतीय आन्दोलनमें देख रहे हैं। यह पुरुष समष्टिरूप है, इसीलिये कहा है कि—

सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

—ऋग्वेद-पुरुषसूक्त

अर्थात्—यह हज़ार सिरवाला, हज़ार आँखोंवाला और हजार पैरों वाला पुरुष है। जिसप्रकार हम यह कहे कि इस सभा या परिषद्के हज़ार सिर हैं अथवा भारत माताके ३० कोटि बच्चे, उसी प्रकारका यह कथन है। इस पुरुषके—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥

—ऐतरेय ब्राह्मणः ।

सोनेपर कलि, जंभाई लेनेपर द्वापर, खड़े होनेपर त्रेता और चलने लगनेपर सत्युग होता है। वर्णोंके वर्गीकरणके बाद जिस समाज-पुरुष—

ब्राह्मणवक्त्रं भुजो क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्राः तस्मै वर्णात्मने नमः ॥

के ब्राह्मण मुखरूप हैं, क्षत्रिय भुजारूप हैं, वैश्य पेटरूप हैं तथा शूद्र पैरोंके आश्रित हैं, उस वर्णात्माको मेरा नमस्कार है।

ईश्वरका तीसरा अर्थ आधिदैविक है। जिस प्रकार जैन लोग त्रिलोकको पुरुषाकार मानते हैं उसी प्रकार वेदोपनिषद् और योगके ग्रन्थोंमें भी माना है। इसके आगे उनकी कल्पना इतनी और आगे बढ़ी है कि इस विराट् पुरुषाकृतिमें किसी नियंताशक्ति आत्माकी आवश्यकता है, जिसकी कल्पना विश्वप्रकृतिके रूपमें ही की गई है। यथा—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येष सर्वलोकान्तरात्मा ॥

—मुण्डकोपनिषद् ।

सर्वा दिशः ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वा
एवं सदेवो भगवान्वरेण्यो विश्वस्वभावादधितिष्ठत्येकः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ।

अर्थात्—जिसकी मूर्धा अग्नि है, सूर्य-चन्द्र आँखें हैं, दिशायें कान हैं, वचनादि देव हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, पैरोंमें पृथ्वी है ऐसा सर्वलोकांतरात्मा है। ऊपर नीचे बाजूकी सारी दिशाओंको प्रकाश करने वाला जो भगवान् वरेण्यदेव है वह विश्वके रूपमें अवस्थित है।

इस विश्वको परिचालित करनेवाली वह शक्ति कौनसी है, इस विषयमें मतभेद हैं। जड़वादी वैज्ञानिक उसे 'विद्युत' मानते हैं तथा कोई उसे 'सूर्य' मानते हैं, तथा अध्यात्मवादी उसे 'सत्य' अथवा 'अहिंसा' मानते हैं; क्योंकि इन्हीं नैतिक नियमोंसे सब बंधे मालूम होते हैं। महात्मा गाँधी 'सत्य' को ही परमेश्वर मानते हैं। कुछ भी हो, जैनधर्मसे इनका कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि इनमेंसे कोई भी इस ईश्वरको मनुष्यके समान चेतन तथा रागद्वेषपूर्ण नहीं मानता। जैनधर्म तो बाइबल, कुरान और भारतीय पाशुपत और वैष्णवमतके रागद्वेषी व्यक्तिगत ईश्वरका विरोधी है।

जैनधर्मानुसार मुक्त आत्माएँ सब एकसी ही हैं। उनमें जो भेद था वह काल और कर्मकृत् था, और

काल और कर्मनष्ट हो जानेपर वे एक ही हैं क्योंकि कालकर्म कुछ जीव थोड़े ही हैं। जैसा कि निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

जीवहं भेउ जि कम्मकिउ, कम्मुवि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहं, कालु लहेविणु कोइ ॥ २२३
एक्कु करे मण बिण्णि करि, मं करि वण्णविसेसु ।
इक्कइं देवइं जि वसइ, तिहुयणु एहु असेसु ॥ २२४

—योगीन्दुदेव-परमात्मप्रकाश

अर्थात्—जीवोंमें जो भेद है वह कर्मोंका किया हुआ है, कर्म जीव नहीं होता किसी कालको पाकर उनके द्वारा (कर्मों द्वारा) वह विभिन्न होता है। इसलिये, हे योगी ! आत्माको एक ही समझ उन्हें दो मत कर और न उसमें कोई वर्ण भेद कर। यह अशेष त्रिभुवन एक ही देव-द्वारा वसा है ऐसा समझ। अर्थात् सब जीवोंमें आत्माका दर्शन कर।

ईश्वरके उपर्युक्त अर्थों पर विचार करनेसे ईश्वर-प्रेमका मार्ग शीघ्र हाथ लग जायगा। सब जीवोंमें आत्माका दर्शन करो—समाजकी, देशकी तथा विश्व की प्रत्येक व्यष्टि पर प्रेम करो और उसकी सेवा करो। ईश्वरको पहिचाननेका सेवासे बढ़कर स्पष्ट कोई उपाय नहीं है। बुद्धदेवने तो अपने भिक्षुओंको यहाँ तक उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें समाधि-द्वारा मोक्षकी भी प्राप्ति होने वाली ही हो और उस समय किसीको तुम्हारी सेवाकी आवश्यकता हो तो समाधि छोड़कर पहले उस प्राणीकी सुश्रुषा करो। मोह चाहे वह मोक्षका ही क्यों न हो, मोक्षका विघातक ही है। इसी प्रकार यदि देश तुम्हारा बलिदान चाहता है तो कायर बनकर यदि तुम मुनि हो जाओ और समाधि साध कर बैठो तो भी तुम्हें कुछ मिलने वाला नहीं है; क्योंकि कायरतासे परब्रह्म प्राप्त नहीं होता। कायरता अशक्तकी वासना है। श्रीयोगीन्दुदेवने परमात्मप्रकाशमें अच्छा कहा है—

परमसमाहि धरेवि मुणि, जे परबंभु ण जंति ।
ते भवदुक्खइं बहुविहइं, कालु अणंतु सहंति ॥२२४॥

अर्थात्—परमसमाधिको धारण करके भी जो मुनि परब्रह्मको नहीं प्राप्त होते वे अनेक तरहके संसार-दुःख अनंतकाल तक सहते हैं। वास्तवमें उनकी विषय-वासना नष्ट नहीं होती, चाहे वह मोक्षकी ही क्यों न हो; क्योंकि वासना अशक्तिसे ही उत्पन्न होती है।

बुद्धदेवने योगाभ्यासको गौण और सेवाधर्मको मुख्य रक्खा है, परंतु जैनादि धर्मोंमें दोनोंको समान कोटिमें रक्खा मालूम होता है और मोक्षके लिये दोनोंका साथ साथ अभ्यास आवश्यक माना है।

जैनधर्म तथा वैदिक धर्ममें सेवामार्गके लिये तथा निम्न प्रकृतिके लोगोंमें प्रेमके विकासके लिये गृहस्थाश्रम उपयुक्त माना गया है। राजसिक और तामसिक प्रकृतिवालोंके कठोर, स्वार्थी निष्प्रेम हृदय प्रायः विवाह के द्वारा ही मृदु, निःस्वार्थ और प्रेमसे भीने बनाये जा सकते हैं। सात्विक ईश्वर-प्रेमके लिये इन्हीं वस्तुओंकी आवश्यकता है। शरीर और स्वास्थ्य पर भी इस प्रेमका बड़ा अच्छा असर होता है। पहले जो दुर्बल, शोक-ग्रस्त और दुखी होते हैं उनमें अधिकांश विवाहके बाद हृष्ट-पुष्ट, खुश और संतुष्ट मालूम होने लगते हैं। मस्तिष्क-विद्या (Phrenology) तथा शरीर-विद्याके आचार्योंका कथन है कि प्रेमका असर शरीरके प्रत्येक अवयव पर अपूर्व दिखाई देता है। हृदय और फुप्फुसपर अजब प्रभाव पड़ता है। मस्तक और हृदय इन दोनोंको एक कर डालनेकी मंथन क्रिया शुरू हो जाती है। हृदयमें रुधिरका प्रवाह तीव्र वेगसे बहने लगता है, फुप्फुसोंमें गतिका संचार होता है और मुख-गाल-ओष्ठ तथा नयन इनमें प्रेमकीलाली दौड़ आती है। मस्तिष्क

के अन्दरकी प्राण-ग्रंथिका प्रदेश एक अजब प्रकारका कार्य करने लग जाता है, जिससे जिजीविषाकी वृद्धि होती है। प्रेमीके सहवासमें सूखी रोटी भी मीठी लगती है, प्रेमके भावसे परोसा अन्न शुभ परिपाकको प्राप्त होकर शुभ भावोंको प्रदीप्त करनेमें बड़ा उपयोगी होता है। इन भावोंके कारण मन अनेक सुखानुभव करता है, जिससे शरीरका प्रत्येक अवयव संतुष्ट होता है और अपना काम अच्छी तरह करता है।

इससे पचनेन्द्रियों तथा अनेक सचालक मस्तिष्क के अवयवों पर गहरा लाभदायक असर होता है। इस प्रकार शरीरकी प्रत्येक शक्ति वृद्धिंगत होती है। रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा शुक्र और ज्ञानतंतु पुष्ट होते हैं और शरीर देखनेमें सुंदर और मधुर हो जाता है। यकृत, पित्ताशय, और स्थूलांत्र पर भी प्रेमका बड़ा लाभकारी असर पड़ता है। अनेक यकृत और स्थूलांत्र के रोगी विवाहसे अच्छे हो गये हैं। उत्कृष्ट और पवित्र प्रेमका असर हृदयकी बीमारियोंको दूर करनेमें दिव्यौषधि के रूपमें होता है। मंदाग्नि और पाचन क्रियाके अनेक रोग शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।

ऊपरके वर्णनको पढ़कर कोई यह न समझले कि ये सब फायदे प्रेमके न होकर वीर्यपातके हैं। ऐसा समझना नितान्त भूल तथा भ्रम होगा; क्योंकि वीर्यपातसे इन फायदोंमें उलटी कमी होने लग जाती है और प्रेमके अच्छे असरको वीर्यपातका बुरा असर नष्ट कर देता है। यही कारण है कि जो दम्पति शुरूमें फायदा उठाते हुए मालूम पड़ते थे वे ही धीरे धीरे रोगी और दुर्बल हो जाते हैं। जिन दम्पतियोंमें असली प्रेम न होकर विषयोंका प्रेम होता है उनकी भी यही दशा होती है। परन्तु अनेकबार प्रेमका फ़ायदा अन्य प्रकारके नुकसानोंकी अपेक्षा अधिक भारी होनेके कारण वीर्यपातका नुकसान नहीं मालूम होता। प्रेमसे अधिकतम लाभ उठानेके लिये ब्रह्मचर्यसे रहना ज़रूरी है। प्रेमके बंधनमें बँधे हुए स्त्रीपुरुष पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखते हुए उपर्युक्त फायदे अधिकतम मात्रामें प्राप्त करते हैं। जिन मनुष्योंकी प्रकृति उन्हें ईश्वरप्रेममें लीन नहीं होने देती उनके लिये ही इस प्रकारके प्रेमकी व्यवस्था की गई है। जो ईश्वर-प्रेममें लीन रह सकते हैं वे प्रेमके सम्पूर्ण लाभ ईश्वरप्रेमसे ही प्राप्त कर लेते हैं। प्रेमका असर चाहे वह किसी प्रकारका क्यों न हो स्वास्थ्य और मनपर एक ही प्रकारका होता है।

ईश्वरीय प्रेम निरंकुश और स्वतंत्र है, परन्तु अन्य प्रेम अन्य व्यक्तिपर आश्रित है। ईश्वरीय प्रेम प्रत्युत्तर की आशा नहीं रखता, परन्तु अन्य प्रकारका प्रेम प्रत्युत्तरके बिना नष्ट हो जाता है। इस प्रकारके असंतुष्ट प्रेमका असर शरीरपर संतुष्ट प्रेमसे ठीक उल्टा पड़ता है। अधिकाँश विधवायें बिना किसी दुष्ट कारणके यकृत, हृदय, और फुप्फुसकी बीमारियोंसे पीड़ित रहती हैं, इसका कारण असंतुष्ट प्रेम है—वे बेचारी पतिप्रेम को ईश्वरप्रेममें लीन नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार पुरुष भी असंतुष्ट प्रेमके कारण अनेक बीमारियोंके शिकार होते हैं और इंग्लैंड वगैरह देशोंमें तथा भारत में विवाहितोंकी अपेक्षा कुँआरोंकी अधिक मृत्यु संख्या होनेका कारण भी यही है। असंतुष्ट प्रेम आत्महत्याकी प्रवृत्तिको उत्तेजित करता है।

प्रेमके विकासका राजमार्ग तो विवाह ही है। अन्य मार्ग साधारण लोगोंके लिए सुलभ नहीं हैं, परन्तु इस में एक बड़ी भारी अड़चन है। अनेक बार मनुष्य इस से तीव्र मोहमें पड़ जाता है और विषयोंका गुलाम हो जाता है। विवाह विषय-वासनाओंको जीतनेका—निर्विकार बननेका—मार्ग होना चाहिए, न कि नारकी होनेका इस अवस्थामें इन्द्रियां किस प्रकार सम्पूर्ण रीतिसे जीती जा सकती हैं तथा नाडि-तन्तुओंमें प्रेमकी विद्युत् उत्पन्न कर किस प्रकार आध्यात्मिक लाभ उठाया जा सकता है, इस पर आगेके लेखमें विचार किया जायगा तथा राजयोग, लययोग और हठयोगकी कुछ क्रियाएं भी बताई जाएँगी। यहाँ पर एक सूचना कर देना चाहता हूँ और वह यह है कि पाठक यदि विवाहित हों तो देखें कि बीच बीचमें कुछ दिनके लिये अपनी स्त्रीको उसके मायके भेज देनेसे किस प्रकार उनमें प्रेम तीव्र होता है और निर्विकारता आती है। सालमें ऐसा २-३ दफे एक एक दो दो महीनेके लिये करना अच्छा है। इससे आध्यात्मिक प्रेम भी बढ़ेगा।

होलीका त्यौहार

[सम्पादकीय]

भारतके त्यौहारोंमें होली भी एक देशव्यापी मुख्य त्यौहार है। अनेक धर्म-समाजोंमें इसकी जो कथाएँ प्रचलित हैं वे अपनी अपनी साम्प्रदायिक दृष्टिको लेकर भिन्न भिन्न पाई जाती हैं। यहाँ पर उन सबके विचारका अवसर नहीं है। होलीकी कथाका मूलरूप कुछ भी क्यों न रहा हो, परन्तु यह त्यौहार अपने स्वरूपपरसे समता और स्वतन्त्रताका एक प्रतीक जान पड़ता है; अथवा इसे सार्वजनिक हँसी-खुशी एवं प्रसन्न रहनेके अभ्यासका देशव्यापी सक्रिय अनुष्ठान कहना चाहिये।

इस अवसरपर हरएकको बोलने, मनका भाव व्यक्त करने, स्वाँग-तमाशे नृत्य गानादिके रूपमें यथेष्ट चेष्टाएँ करने, आनन्द मनाने और मानापमानका ख़याल छोड़कर—बड़ाई-छोटाई अथवा ऊँचता नीचताकी कल्पनाजन्य व्यर्थका संकोच त्यागकर—एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेकी स्वतन्त्रता होती है। साथ ही, किसीके भी रंग डालने, धूल उड़ाने, हँसी मज़ाक करने तथा अप्रिय चेष्टाएँ करने आदिको स्वेच्छापूर्वक खुशीसे सहन किया जाता है—अपनी तौहीन(मानहानि आदि)समझकर उस पर क्रोधका भाव नहीं लाया जाता, न अपनी पोज़ीशनके बिगड़नेका कोई ख़याल ही सताता है, और यों एक प्रकारसे समता-सहनशीलताका अभ्यास किया जाता है। अथवा यों कहिये कि इसके द्वारा राष्ट्रके लिये विघातक ऐसे राग द्वेषादि मूलके अनुचित भेद-भावोंको कुछ समयके लिये भुलाया जाता है— उन्हें भुलाने तथा जलाने तकका उपक्रम एवं प्रदर्शन किया जाता है—और इस तरह राष्ट्रीय एकताको बनाये रखने अथवा राष्ट्रीय समुत्थानके मार्गको साफ़ करनेका यह भी एक क़दम अथवा ढंग होता है। 'होलीकी कोई दाद फर्याद नहीं' यह लोकोक्ति भी इसी भावको पुष्ट करती है, और इसलिये इस त्यौहारको अपने असली रूपमें समता और स्वतन्त्रताका रूपक ही नहीं किन्तु एक प्रतीक कहना ज़्यादा अच्छा मालूम होता है।

समय भी इसके लिये अच्छा चुना गया है, जो कि वसंत ऋतुका मध्यकाल होनेसे प्रकृतिके विकासका यौवन-काल है। प्रकृतिके इस विकाससे पदार्थ पाठ लेकर हमें उसके साथ साथ अपने देश-राष्ट्र एवं आत्माका विकास अथवा उत्थान सिद्ध करना ही चाहिये। उसीके प्रयत्नस्वरूप—उसी लक्ष्यको सामने रख कर—यह त्यौहार मनाया जाता था, और तब इसका मनाना बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। परन्तु खेद है कि आज वह बात नहीं रही! उसका वह लक्ष्य अथवा उद्देश्य ही नहीं रहा जो उसके मूलमें काम करता था! उसके पीछे जो शुभ भावनाएँ दृष्टिगोचर होती थीं और जिन्हें लेकर ही वह लोकमें प्रतिष्ठित हुआ था उन सब का आज अभाव है!! आज तो यह त्यौहार इंद्रियविषयोंको पुष्ट करनेका आधार अथवा चित्तकी जघन्यवृत्तियोंको प्रोत्तेजन देनेका साधन बना हुआ है, जो कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंके ही पतनका कारण है—त्यौहारके रूपमें उसका कोई भी महान् ध्येय सामने नहीं है। इसीसे होलीका वर्तमान रूप विकृत कहा जाता है, उसमें प्राण न होनेसे वह देशके लिये भाररूप है और इसलिये उसे उसके वर्तमान रूपमें मानना उचित नहीं है। उसमें शरीक होना उसके विकृत रूपको पुष्ट करना है।

यदि समता और स्वतन्त्रताके सिद्धान्त पर अव-

न्मिलत राष्ट्रीय एकता आदिकी दृष्टिसे चित्तकी शुद्धि को क़ायम रखते हुए यह त्यौहार अपने शुद्ध स्वरूपमें मनाया जाय और उससे जनताको उदारता एवं सहनशीलतादिका सक्रिय सजीव पाठ पढ़ाया जाय तो इसके द्वारा देशका बहुत कुछ हित साधन हो सकता है और वह अपने उत्थान एवं कल्याणके मार्ग पर लग सकता है। इसके लिये जरूरत है काँग्रेस-जैसी राष्ट्रीय संस्था के आगे आनेकी और इसके शरीरमें घुसे हुए विकारों को दूर करके उसमें फिरसे नई प्राण-प्रतिष्ठा करने की। यदि कांग्रेस इस त्यौहारको हिन्दू धर्मकी दलदलसे निकाल कर विशुद्ध राष्ट्रीयताका रूप दे सके, एक राष्ट्रीय सप्ताह आदिके रूपमें इसके मनानेका विशाल आयोजन कर सके और मनानेके लिये ऐसी मर्यादाएँ स्थिर करके दृढताके साथ उनका पालन करानेमें समर्थ हो सके जिनसे अभ्यासादिके वश कोई भी किसीका अनिष्ट न कर सके और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनोंके उत्थानमें सहायक हों, तो वह इस बहाने समता और स्वतन्त्रताका अच्छा वातावरण पैदा करके देशका बहुत ही हितसाधन कर सकेगी और स्वराज्यको बहुत निकट ला सकेगी। यदि कांग्रेस ऐसा करनेके लिये तैयार न हो तो फिर हिन्दू समाजको ही इस त्यौहारके सुधारका भारी यत्न करना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो, यदि देशसेवक जन इस त्यौहारके सुधार-विषयमें अपने अपने विचार प्रकट करने की कृपा करें और सुधार-विषयक अपनी अपनी योजनाएँ राष्ट्रके सामने रखकर उसे सुधारके लिये प्रेरित करें। यदि कुछ राष्ट्र-हितैषियोंने इसमें दिलचस्पीसे भाग लिया तो मैं भी अपनी योजना प्रस्तुत करूँगा और उसमें उन मर्यादाओंका भी थोड़ा बहुत उल्लेख करूँगा जिनकी सुधारके लिये नितान्त आवश्यकता है। मर्यादाएँ पहले भी ज़रूर थीं, जिनके भंग होनेसे लक्ष्य-भ्रष्ट होकर ही यह त्यौहार विकृत हुआ है। और इसी लिये बहुत अर्सेसे मैंने भी होलीका मनाना—उसमें शरीक होना—छोड़ रक्खा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

होली होली है !

(१)
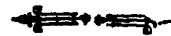
ज्ञान-गुलाल पास नहिं, श्रद्धा—
समता रंग न रोली है।
नहीं प्रेम-पिचकारी करमें,
केशर-शान्ति न घोली है॥
स्याद्वादी सुमृदङ्ग बजे नहिं,
नहीं मधुर-रस बोली है।
कैसे पागल बने हो चेतन!
कहते 'होली होली है'!!

(२)

ध्यान-अग्नि प्रज्वलित हुई नहिं,
कर्मेन्धन न जलाया है।
असद्भावका धुआँ उड़ा नहिं,
सिद्ध-स्वरूप न पाया है॥
भीगी नहीं ज़रा भी देखो,
स्वानुभूतिकी चोली है।
पाप-धूलि नहिं उड़ी, कहो फिर—
कैसे 'होली होली है'!!

—'युगवीर'

दर्शनोंकी आस्तिकता और नास्तिकताका आधार

[ले० पं० ताराचन्द जैन न्यायतीर्थ, दर्शन शास्त्री]

एक समय था जब लोग आत्मिक-उन्नतिकी ओर बड़े जोरोंसे बढ़ रहे थे। आत्मिक-उन्नतिके विषयमें दार्शनिकोंका परस्परमें मतैक्य न था, प्रत्येक दार्शनिक अपने मन्तव्य व दर्शन (Philosophy) को सर्वोत्तम बतलाकर उसको ही आत्मोन्नतिका प्रमुख साधन घोषित करता था। ये दार्शनिक कभी कभी आपसमें वादविवाद भी किया करते थे, वादविवादका परिणाम कभी सुखद और कभी कलहवर्द्धक हुआ करता था। आत्मिक-उन्नतिके लिये अनेक नये दर्शन, मत और मज़हब पैदा हुए। आध्यात्मिक उन्नति व सुखके नामपर जहाँ इन दर्शनोंने जितनी अधिक सुख और पावन-कृत्योंकी सृष्टिकी है; उन्होंने उसी उन्नतिके बहाने दुःखों और अत्याचारोंका कम सर्जन नहीं किया। मायावियों, स्वार्थियों और अपनेको ईश्वरका प्रतिनिधि घोषित करनेवाले लोगोंने देवी-देवता तथा यज्ञादिकी कल्पना कर धर्मकी ओटमें मनुष्य-समाज और मूक-पशुओंके ऊपर जो जुल्म ढाये हैं, उनकी दास्तांके पढ़ने, सुनने और स्मरण करने मात्रसे मस्तक घूमने लगता है। यही कारण है कि बहुत लोग धर्मसे घृणा करने लगे हैं; परन्तु धर्म जीवनमें उतना ही आवश्यक है, जितनी हवा। धर्म व दर्शनोंके नाम पर जो जुल्म हुए हैं, उनमें उन धर्मों और दर्शनों का कोई दोष नहीं है। इसका सारा दोष तो धर्म-का स्वांग रचनेवालों पर है। धर्म व दर्शन तो अपने उद्देशसे कभी विचलित नहीं होते। हाँ, अपूर्ण पुरुषों द्वारा जो दर्शन चलाये जाते हैं वे पूर्ण आत्मिक-उन्नति करनेमें प्रायः असफल रहते हैं। खैर, यहाँ पर दर्शनोंकी वास्तविकता-अवास्तविकता वा पूर्णता-अपूर्णतासे कोई सरोकार नहीं, यहाँ तो सिर्फ इतना ही बतलाना है कि दर्शनों की आस्तिकता वा नास्तिकताका अमुक आधार है।

मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ कि दार्शनिक अपने अपने मन्तव्यको लेकर आपसमें वाद-विवाद किया करते थे और उसका नतीजा कभी कभी कलह वर्धन भी हुआ करता था। अति प्राचीन-कालमें ईश्वरादि विषय पर अनेक शास्त्रार्थ हुए, इन शास्त्रार्थोंमें प्रमुख दो विरुद्ध-मनोवृत्तिवाले दार्शनिकोंने भाग लिया। इन शास्त्रार्थों अथवा वादोंमें मत-भेद मिटने वा तत्वनिर्णयके बजाय, और अधिक द्वेषाग्नि भड़की। जिन बातों (ईश्वरादि)के निर्णयके लिये दर्शनोंका जन्म हुआ, वे विषय आज भी जहाँके तहाँ अन्धकाराच्छन्न हो रहे हैं और दर्शनोंके वाद-विवादोंके विषयमें कविका यह कथन अक्षरशः सत्य मालूम होता है—

सदियोंसे फ़िलासफ़ी की चुनाचुनी रही।
पर ख़ुदाकी बात जहाँ थी वह वहीं ही रही॥

इन दोनों विरुद्ध मनोवृत्तियोंने आपसमें अत्यन्त उग्ररूप धारण कर दार्शनिक-जगत्, और साथ ही साधारण जनताको भी दो भागोंमें विभक्त कर दिया। एक भागको आस्तिक और दूसरे भागको नास्तिक कहते हैं, दोनों एक दूसरे के दुश्मन हैं। हमें उस बुनियाद—आधारको ढूंढ़ निकालना है, जिसके बल पर इन विरोधि-मनोवृत्तियोंका बीज बोया गया, और जिसका परिणाम हमेशा दुखद तथा कटु ही रहा। अपने अगुओंके फुसलावमें आकर साधारण जनता भी इन मनोवृत्तिओंके प्रवाहमें बहनेसे अपने आपको न रोक सकी। इस विरोधने इतना जोर पकड़ा कि आये दिन धर्मके नामपर मानवताका खुले आम गला घोंटा गया, इस भावनाने मानव-समाजको टुकड़े टुकड़ेमें विभक्त कर दिया, जिससे उनकी वा उनके देशकी अपार क्षति हुई। इस युगमें भी कभी कभी ये हत्यारी भावनाएं जाग उठती हैं, जिससे राजनैतिक आन्दोलनको भी इसका कटु परिणाम भुगतना ही पड़ता है। इस समय तो हमें ऐसी दशा उत्पन्न कर देना चाहिये, जिससे सभी दार्शनिक वा जनसाधारण एक दूसरेको अपना भाई समझकर देशोद्धार आदि कार्योंमें कन्धासे कन्धा जुटाकर आगे बढ़ते जावें। इसके लिये पक्षपात वा अपने कुलधर्मका मोह छोड़कर युक्ति-अविरुद्ध दर्शनकी आस्तिकता और नास्तिकता पर हमें विचार कर लेना चाहिये, व्यर्थ दूसरोंको नास्तिक कह कर, उन्हें दु:खित करने और भड़कानेसे क्या लाभ? इन्हीं दुर्भावनाओंने तो भारतको गारत कर दिया; अब तो सम्हलें।

बहुत कुछ विचार करने वा आस्तिक-नास्तिक कहे जानेवाले दर्शनोंकी विवेचनाओंकी जानकारी करनेके बाद, मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ, कि किसी पदार्थके अस्तित्वके स्वीकार करनेसे आस्तिक, तथा उसी पदार्थके न माननेसे दर्शन नास्तिक कहलाये। किसीने ईश्वर, ब्रह्मा, खुदाको जगतका बनानेवाला स्वीकार करने, किसीने वेद-प्रमाण, किसीने अदृष्ट—पुण्य-पाप, और किसीने परलोकका अस्तित्व माननेवाले दर्शनको आस्तिक घोषित किया। और जिनने इनके माननेसे इंकार किया उन्हें नास्तिक घोषित किया गया। ऊपर लिखी आस्तिक नास्तिक मान्यताओंके विषयमें यहाँ पर कुछ विवेचन करना आवश्यक है; जिससे विषयका स्पष्टीकरण हो जावे और आस्तिकता तथा नास्तिकताकी भी जानकारी सरलतासे हो जाय।

ईश्वरवादी दार्शनिक—जिन दर्शनोंमें ईश्वरको जगतका कर्ता-हर्ता माना गया है—जैन-दर्शन, बौद्धदर्शन और चार्वाक-दर्शनको ईश्वर न माननेके कारण नास्तिक घोषित करते आये हैं। यह ठीक है, कि जैनदर्शन ईश्वर नहीं मानता, पर ईश्वरास्तित्व सिद्ध होनेसे पहले उसे नास्तिक कहना उचित न होगा, युक्तिके बलपर यदि ईश्वर सिद्ध होजाय तो जैनदर्शनको नास्तिक ही नहीं, और जो कुछ चाहे कहें। हाँ, तो यहाँ पर ईश्वरके विषयमें विवेचना की जाती है। कतिपय ईश्वरवादी दार्शनिकोंका अभिमत है कि इस युगसे बहुत पहले इस दुनियाँका कोई पता न था, केवल ईश्वर ही मौजूद था। एक समय ईश्वरको—यद्यपि वह परिपूर्ण था—एकसे अनेक होने वा सृष्टि-रचना करने

की लालसा हुई। चूंकि वह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ, और व्यापक था; इसलिये उसने स्वेच्छानुसार तमाम जड़ी और चेतन-जगत्—पर्वत, समुद्र, नद-नदी, भूखण्ड, बनखण्ड, देश, द्वीप और पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा, देव, मनुष्य आदिका निर्माण किया। इस कार्यके निर्माणमें उसे किसी भी अन्य साधन—उपादानादि कारणोंकी—ज़रूरत नहीं हुई; अर्थात् स्वयं ईश्वर ही उपादान और निमित्त कारण था।

पाठको! आप लोग जानते ही होंगे कि प्रत्येक कार्यके करनेमें उपादान-कारण और निमित्त कारणकी आवश्यकता हुआ करती है। जो अपनी हस्ती वर्तमान पर्याय-मिटाकर खुद कार्य रूपमें तब्दील हो जाय उसे उपादान कारण कहते हैं; और जो कार्य करने में सहायक हो उसे निमित्त या सहायक कारण कहते हैं। जैसे, रोटी बनानेके लिये आटा, रसोइया, पानी आग आदिकी आवश्यकता हुआ करती है; रोटी कार्यमें आटा उपादान कारण है; आटा अपनी वर्तमान चूर्ण पर्यायको छोड़कर पानी आदिके सहयोग-सम्मिश्रणसे पिंडादि आकृतियोंको धारण करता हुआ, रसोइया के हाथोंकी चपेट वा चकला-बेलनकी सहायतासे चपटा तथा गोलाकारमें परिवर्तित होकर अग्निपर सेकनेसे रोटी-कार्यमें बदल जाता है, पर वह अपने रूप-रसादि गुणोंको नहीं छोड़ता। स्वर्णसे कड़ा, बाली, कुण्डल आदि अनेक भूषण बनाये जाते हैं; परन्तु सोना अपने स्वर्णत्व, पीतत्वादि स्वरूपको कभी नहीं छोड़ता, केवल अपनी पिंड, कुण्डल आदि पर्यायों और आकृतियोंका ही परित्याग करता है। तांबा, पीतल, लोहा, मट्टी, काष्ठ आदि से भी जिन कार्योंका निर्माण किया जाता है, उनमें तांबा आदि—जिस मूल वस्तुसे कार्य पैदा हुआ है—बराबर अन्वयरूपसे पाया जाता है। उपादान कारण अपनी पर्यायों-हालतोंको तो छोड़ देता है, पर वह खुद कभी विनष्ट नहीं होता, उससे जिन कार्योंकी सृष्टि की जाती है, उन कार्योंमें उपादानके समस्त गुण अविवाद रूपसे पाये जाते हैं।

ईश्वरवादी लोग जगत-कार्यकी रचनामें ईश्वरको ही उपादान वा निमित्त कारण बतलाते हैं, पर युक्ति और बुद्धिकी कसौटी पर कसनेसे यह बात बिल्कुल झूठ साबित होती है; क्योंकि मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि कार्यमें उसके उपादानके समस्त गुण पाये जाते हैं। अब सोचिये, यदि जगत्-कार्य का उपादान कारण ईश्वर है, तो लाज़मी तौरपर ईश्वरके सर्वज्ञत्व, व्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्त्वादि गुण जगतमें पाये जाना चाहिये। परन्तु संसारमें जितने कार्य नज़र आते हैं, उनमें ईश्वरके गुणोंका खोजने पर भी सद्भाव नहीं मिलता, फिर न जाने किस आधारके बल पर ईश्वरवादी ईश्वरको जगतका उपादान कारण बतलाकर उसे कलंकित करते हैं। भले ही अन्धश्रद्धालु ईश्वरको वैसा मानते रहें, परन्तु जिनके पास समझने-तर्क करनेकी बुद्धि है, वे तो इसे निरी युक्तिशून्य कपोल-कल्पना कहेंगे।

अन्य ईश्वरवादी लोग ईश्वरको जगतका उपादान कारण न मान, निमित्त कारण बतलाते हैं; उनका कहना है कि—सृष्टि-रचनाके पहले ब्रह्मांडमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन ही पदार्थ थे। ईश्वरने स्वेच्छानुसार जीव और प्रकृतिसे चेतन तथा अचेतन जगत्की उत्पत्ति की। जिस

तरह कुम्हार मिट्टीसे घट, दीपक, सकोरा आदि मिट्टीके बर्तन, बढ़ई लकड़ीसे कुरसी, मेज, पलंग किवाड़ आदि और जुलाहा (बुनकर) सूतसे धोती, दुपट्टा, चादर, तौलिया, रूमाल आदि कपड़ा तैयार करता है; यदि मिट्टी उपादान कारण तथा अन्य चक्रादि (घड़े बनानेका चाक) निमित्त कारण मौजूद भी रहें और कुम्हार न हो तो घड़े आदिका बनना सर्वथा असम्भव रहता है। उसी प्रकार यद्यपि जीव और प्रकृति—उपादान-कारणोंके द्वारा ही चेतन अचेतन विश्वकी रचना हुई है; तो भी इस तमाम अत्यन्त कठिन दुरूह और व्यवस्थित जगत्-रचनाका करनेवाला कोई बहुत बुद्धिमान् व्यक्ति जरूर है। जो इस रचनाका कर्त्ता है, वह ईश्वर है, ईश्वरसे भिन्न कोई अन्य साधारण व्यक्ति इतने महान् कार्यको नहीं कर सकता। चूंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वत्र व्यापक है, इसलिये वह एक ही समयमें अनेक देशवर्ती, एक देशवर्ती अनेक कार्य और भिन्न समयमें भिन्न भिन्न देशमें होनेवाले अनेक कार्योंको सरलतासे करता रहता है।

ईश्वरवादी दार्शनिकोंकी तरह निरीश्वरवादी दार्शनिक भी कार्यकी उत्पत्ति उभय कारणोंसे (उपादान और निमित्तसे) मानते हैं। जैनदर्शनने ईश्वरकी जगत्-कर्तृताका युक्तिपूर्वक खंडन किया है, वह सब यहाँ नहीं लिखा जा सकता यहाँ मोटी दलीलें पेश करूँगा, जिससे जगत्की प्राकृतिकताका भान हो सके।

हमारे ईश्वरवादी भाई कहा करते हैं, कि हर-एक कार्यकी उत्पत्ति बुद्धिमान् सहायकके बिना नहीं होती; परन्तु संसारमें ऐसे बहुतसे कार्य नजर आते हैं जिनका कर्ता बुद्धिमान नहीं होता, अपने आप बनते बिगड़ते रहते हैं। घास, कीड़ा-मकौड़ा, जड़ निमित्तके मिल जानेसे उत्पन्न होते हैं और विनाश हेतुओंके साहचर्यसे विनिष्ट होते रहते हैं। हीरा, मणि, पन्ना, पुखराज आदि नियत स्थानमें ही पैदा होते हैं। स्वाति की बूंद यदि सीपमें पड़ जाय तो मोती बन जाता है, किसी हाथीके गण्ड-स्थलमें भी गजमुक्ता (एक किस्मका मोती) का सद्भाव माना गया है, सर्पराज—मणियार सर्पके मस्तक पर मणिकी उत्पत्ति होती है; इसी तरह और भी असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनके बनानेमें प्रकृतिके सिवाय अन्य किसी भी ईश्वरादि व्यक्तिका जरा भी दखल नहीं है। शायद ईश्वरवादी दार्शनिक उपर्युक्त उदाहरणोंमें भी ईश्वरका दखल बतलाते हुए कहें, कि ये कार्य भी सातिशय परमात्मा द्वारा ही निर्मित होते हैं; परन्तु घासादिकी उत्पत्तिको देखते हुए, उसकी बुद्धिमत्ताकी कलई खल जाती है। आबाद मकानों की छत, आंगन भित्ति आदि उपयोगी स्थानों पर भी बारिशके दिनोंमें व्यर्थ ही घास पैदा होजाया करता है, यह कार्य भी क्या बुद्धिमत्ताका सूचक है?

ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वरको जगत् निर्माता माननेमें यह दलील भी देते हैं कि, अगर जगत्का बनाने वा व्यवस्था करनेवाला महान् बुद्धिमान न होता, तो यह विश्व-रचना इतनी व्यवस्थित और सुन्दर न होती। यह उसी सर्वशक्तिमान परमात्मा की लीला है जिसने जगत्को एक सुन्दर ढाँचेमें ढाला है। भाइयो, जरा विश्व-रचनाकी ओर भी गौर कीजिये, आया यह व्यवस्थित है या अव्यव-

स्थित ? कहीं भयंकर दुर्गम पर्वत ही पर्वत, कहीं वन ही वन, कहीं पानी ही पानी, कहीं पानीका बिलकुल अभाव—मरुस्थ जैसे स्थानोंमें, निर्जन स्थानोंमें जलप्रपात और सुन्दर झरनोंका बहना, जहाँ ऊँची जमीन चाहिये वहाँ जमीनका नीचा होना, जहाँ भूभागका नीचा शोभास्पद होता वहाँ उसका ऊँचा होना, अकाल, महामारी, अनावृष्टि अतिवृष्टि उल्कापात आदिका होना, डांस, मच्छर, कीड़ा-मकोड़ा सांप बिच्छू सिंह व्याघ्रकी सृष्टि होना, मनुष्यमें एक धनवान् दूसरा निर्धन एक मालिक दूसरा नौकर, एक पुत्र-स्त्री-बाल बच्चे आदि के अभावसे दुखी, दूसरा इस सबके होते हुए भी दरिद्रताके कारण महान दुखी, एक पंडित दूसरा अक़लका दुश्मन-मूर्ख, चन्दनका पुष्प विहीन होना, स्वर्णमें सुगन्धका न होना और गन्नामें फलका न लगना इत्यादि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनके कारण विश्वरचनाको कोई भी बुद्धिमान व्यस्थित और सुन्दर नहीं कह सकता। इस लिये बुद्धिमान ईश्वरको जगतका निर्माता वा व्यवस्थापक कहना बिलकुल ही सारहीन मालूम होता है। इसीसे किसी कविने ऐसे ईश्वरकी बुद्धिका उपहास करते हुए स्पष्ट ही लिखा है—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदंडे नाकारि पुष्पं किलचन्दनेषु विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपिन-बुद्धिदोऽभूत् ॥

पाठक महानुभाव उपर्युक्त कथनसे संक्षेपमें यह तो समझ ही गये होंगे, कि ईश्वरको जगत कर्ता मानना युक्तिकी कसौटी पर किसी प्रकार भी कसकर सिद्ध नहीं किया जा सकता और वास्तवमें वह न जगतका बनानेवाला, वा पालन करनेवाला और न नाश करनेवाला हो है। भले ही अन्धविश्वासी उसको वैसा मानते रहें। जो ज्ञाना वरणादि अष्ट कर्मोंके बन्धनमें हमेशाके लिये छूट गया है अर्थात कर्मोंकी गुलामीकी जंजीरोंको जिसने काट फेंका है, जिसने समस्त कार्य कर लिये हैं—कृतकृत्य होगया है—और जिसने पूर्णता प्राप्त करली है, ज्ञान, सुख, वीर्य-आदिका धनी है जो मोक्ष पानेके बाद संसारमें कभी न लौटता है और न संसारकी झंझटोंमें फँसता है वही ईश्वर है। उसको महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु परमात्मा, खुदा गौड (God) आदि भी कहते हैं। जैन दर्शनमें इसी प्रकारका ईश्वर-परमात्मा माना गया है और ऐसा ईश्वर कोई एक विशेष व्यक्ति ही नहीं है। अब तक अनंत जीव परमात्मपद पा चुके हैं और भविष्यमें भी अगणित जीव तरक्की करते करते इस पदको प्राप्त करेंगे। अब तक जितने जीवोंने परमात्मपद प्राप्त किया है और भविष्यमें आत्मिक उन्नति करते करते जितने जीव इस पदकी प्राप्ति करेंगे, वे सब परस्पर एक समान ज्ञान-सुख वीर्य आदि गुणोंके धारक होंगे। उनके गुणोंमें रंच-मात्र भी तारतम्य न तो पाया जाता और न कभी पाया जायगा। जिनसे पूज्य-पूजक भाव सदाके लिये दूर होगया है और वे सभी मुमुक्षु जीवों द्वारा समानरूपसे उपास्य हैं। इन मुक्त जीवोंसे भिन्न जगत सृष्टा, जगत्पालक और जगत्-विध्वंसक त्रि-शक्ति सम्पन्न सदेश्वर नामका कोई भी व्यक्ति नहीं है। अतः ईश्वर (जगत् कर्ता आदि रूपसे) न माननेवाले दर्शनोंको नास्तिक दर्शन नहीं कहा जा सकता; इसलिये उपर्युक्त दलीलसे जैनदर्शन आदिको नास्तिकदर्शन कहना महान

अपराध होगा।

भ० महावीर और महात्मा गौतमबुद्धसे क़रीब सौ वर्ष पहले जन्म लेनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक महर्षि कपिलने (कहते हैं सबसे प्रथम कपिलने ही दर्शन पद्धतिको जन्म दिया था, उनसे पहले आत्मा आदिके विषयमें न तर्कणा की जाती थी और न इन गूढ़ प्रश्नोंके सुलझानेका प्रयत्न ही किया जाता था।) जगतकी उत्पत्तिको स्वाभाविक बतलाया है और ईश्वर नामके पदार्थका खंडन किया है; परन्तु किसी दार्शनिकने कपिल द्वारा चलाये सांख्यदर्शनको नास्तिकदर्श नहीं लिखा। इससे समझ लेना चाहिये कि नास्तिकताकी कोई अन्य ही बुनियाद है। कुछ लोग—जो वेदको ही हरएक बातमें प्रमाण मानते हैं—ऋग्वेद आदि वेदोंको प्रमाण न माननेवाले और वेदोंके अप्राकृतिक, असंगत तथा युक्ति-विरुद्ध अंशोंका खंडन करनेवाले दार्शनिकोंको *'नास्तिकोवेद निन्दकः'*—वेद निन्दक नास्तिक है—कहकर व्यर्थ बदनाम करते हैं। वेदोंमें ऐसी ऐसी बीभत्स और घृणाके योग्य बातें लिखी हैं, जिनको कोई भी निष्पक्ष बुद्धिमान माननेको तैयार न होगा। गोमेध, नरमेध आदि यज्ञोंका वैदिक कालमें और उसके पश्चात् कई शताब्दी तक खुले आम धर्मके नाम पर प्रचार किया गया और जो जुल्म ढाये गये वे कम निन्दाके योग्य नहीं हैं। उनकी निन्दा तो की ही जावेगी। महर्षि कपिलने भी वेदोंके ऐसे निन्दाई अंशों पर आपत्ति की थी, खंडन भी किया था। भगवान् महावीर व म० गौतम बुद्धने तो धर्मके नामपर किये जानेवाले अत्याचारोंको जड़से उखाड़ फेंका। तबसे फिर आज तक वैसे कठोर जुल्म नहीं हुए। जैनदर्शन वेदोंके हिंसात्मक विधानोंका खंडन करता है, परन्तु इससे उसे नास्तिकदर्शन नहीं कहा जा सकता। यदि वेद निन्दक नास्तिक माने गये होते तो कपिल व उनका सांख्यदर्शन भी नास्तिकके नामसे मशहूर होना चाहिये था। परन्तु उन्हें किसीने नास्तिक नहीं लिखा। जैन धर्मने वैदिक विधानोंका खुले आम विरोध किया, इसलिये कुछ मनचलों (वैदकों) ने जैनदर्शनको भी नास्तिक दर्शन कहकर बदनाम करना शुरू कर दिया। चूंकि वैदिक विधान पूर्ण तौरसे जगत्-हित करनेमें असमर्थ साबित हुए और इनसे संसारमें सुख और समृद्धिकी सृष्टिकी जगह दुःख और अशान्त तथा क्षुब्ध वातावरण पैदा होगया। एक उच्च मानी जानेवाली क़ौमके सिवाय समस्त मनुष्योंको अनेक तरहसे पतित और अधम घोषित किया गया उनके अधिकार हड़पे जाने लगे, पशुओंके बड़े बड़े गिरोह अग्नि कुण्डोंमें धर्मके नाम पर बेरहमीके साथ झोंके गये। सभीका जीवन दूभर होगया। इन्हीं वैदिक विधानोंका जैन, बौद्ध आदि सुधारक लोगोंने खण्डन किया, जिससे इन कृत्योंकी कमी दिनों दिन होती चली गई। और इन्हींके बलपर जिनकी आजीविका और शान-शौक़त अवलम्बित थी वे लोग घबराये और वे ऐसे सभी सुधारकों और उनके मत या दर्शनको बदनाम करनेके लिये कोई अन्य उपाय न सूझनेके कारण *'नास्तिकोवेदनिन्दकः'* इस तरह घोषित करने लगे। इस तरहसे तो प्रत्येक मजहब और दर्शन नास्तिकताके शिकार होनेसे न बचेंगे। जिस तरह वैदिक लोग वेद

प्रमाण न माननेवालोंको नास्तिक कहते हैं, वैसे ही दूसरे लोग भी वैदिक लोगोंको उनके ग्रन्थ व शास्त्र प्रमाण न माननेके कारण नास्तिक कह सकते हैं, और प्रायः ऐसा देखा भी जाता है। मुसलमान लोग कुरानकी बातों और मुस्लिम संस्कृतिसे बहिष्कृत सभी लोगोंको काफ़िर—नास्तिक कहते हैं। दूसरे लोग भी कोई मिथ्यात्वी और कोई अन्य हीन शब्दके द्वारा अपने मतके न माननेवाले लोगोंको कुत्सित वचनोंके द्वारा सम्बोधित करते हैं। इससे वेद-निन्दक अथवा वेद वचनोंको प्रमाण न स्वीकार करनेवाले दार्शनिकोंको 'नास्तिक' कहना बिलकुल युक्तिशून्य और स्वार्थसे ओतप्रोत जँचता है। अतः वेद-वाक्य-प्रमाण न माननेसे भिन्न ही नास्तिकताका कोई आधार होना चाहिये।

इस तरह ईश्वर-विश्वास और वेदवचन-प्रमाण आस्तिकता की सच्ची कसौटी नहीं है, इन दोनोंसे भिन्न ही आस्तिकता की युक्तिसंगत मन-को लगनेवाली कोई कसौटी होना चाहिये। मेरे विचारसे तो भौतिक-जगतसे भिन्न चैतन्ययुक्त आत्मा या जीवका मानना ही आस्तिकताकी सर्व-श्रेष्ठ कसौटी, आधार या बुनियाद है। इससे भिन्न आस्तिकताकी जितनी परिभाषायें देखनेमें आती हैं वे सभी अधूरी, असंगत और सदोष मालूम होती हैं। जीवका अस्तित्व स्वीकार करने पर ही ईश्वर-विश्वास, वेद-वाक्य प्रमाण आदिकी चर्चा बन सकती है। बिना जीवके उक्त समस्त कथन निराधर और निष्फल प्रतीत होता है। अदृष्ट-पुण्य-पाप और परलोककी कथनी भी जीव हेतुक होनेसे जीवास्तित्व पर ही निर्भर है। जीव अपने अदृष्ट-स्वोपर्जित पुण्य-पाप कर्मसे मरण कर किसी एक मनुष्यादि गतिसे दूसरी देवादि गतिमें जन्म लेता है, उसीको परलोक कहते हैं। यदि जीवास्तित्व भौतिक-जगतसे भिन्न और शाश्वतिक न माना जायगा तो परलोक आदि भी न बन सकेंगे; क्योंकि परलोक-गामीके अस्तित्व होनेपर ही परलोक अस्तित्व बनता है।

हम देखते हैं कि जीवास्तित्वको आस्तिकता-की कसौटी मानने पर संसारकी जन-संख्याका बहुभाग आस्तिक कोटिमें सम्मिलित हो जाता है। बौद्ध दार्शनिकोंको नैरात्म्यवादी होनेपर भी एकान्ततः नास्तिक कहना उपयुक्त न होगा; क्योंकि बौद्धदर्शनमें भी सन्तानादि रूपसे जीवका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, भले ही उनका वैसा मानना युक्तिसंगत न हो, पर जीव या आत्माका तो अस्तित्व किसी न किसी रूपमें माना ही गया है। चार्वाक दर्शन और इसीकी शाखा प्रशाखारूप अन्य दर्शन जो जीव-आत्मको पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे भिन्न पदार्थ नहीं स्वीकार करते, किन्तु इन्हींके विशिष्ट संयोगसे जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें जरूर नास्तिक कोटिमें सम्मिलित किया जा सकता है। प्रत्यक्षसे ही हमें देहादिसे भिन्न सुख-दुःखका अनुभव कर्ता मालूम होता है। जो अनुभव करता है उसीको जीव कहते हैं। मरनेके बाद पंचभूतमय शरीर मौजूद रहनेपर भी उसमें चेतनशक्तिका अभाव देखा आता है। जब तक देहमें आत्मा विद्यमान रहता है तभी तक उसकी क्रियायें देखनेमें आती हैं। चेतन शक्तिके बाहिर निकल जानेपर मिट्टीकी तरह केवल पुद्गलका पिण्ड ही पड़ा रहता है।

उस समय चेतन आत्माके स्वरूपका उसमें एक दम अभाव नजर आता है। इसलिये जीवको भूतजन्य या भूतमय कहना भ्रमसे खाली नहीं है।

जीवास्तित्वको आस्तिकताकी कसौटी मान लेनेपर आस्तिकता और नास्तिकताके नाम पर होनेवाले संसारके अनेक संघर्ष सरलतासे दूर किये जा सकते हैं। आपसके वैमनस्य तथा घृणा आदि दोषोंका शमन इससे बहुत जल्द हो सकता है। और भारतवर्ष पारस्परिक प्रेम-सूत्रमें सुसंवद्ध हो उन्नतिकी चरम सीमा तक पहुँच सकता है, तथा गुलामी जैसे असह्य अभिशापको हम सुसंगठित हो क्षण भरमें नेस्त व नाबूद कर सकते हैं। जीव या आत्मा शाश्वतिक और अमर है इसमें किसी भी आस्तिक दार्शनिकको लेशमात्र संशय नहीं है और होना भी न चाहिये। सभी दार्शनिकोंने जीव सिद्धि प्रबल प्रमाणोंसे की है। अतः इस संसारको सुखमय स्वर्गीय बनानेके लिये हमें इसी श्रेयस्करी मान्यताको आस्तिकता की सच्ची कसौटी सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा,

होली है !

(१)

बच्चे व्याहें, बूढ़े व्याहें कन्याओंकी होली है!
संख्या बढ़ती विधवाओंकी, जिनका राम रखोली है!!
नीति उठी, सत्कर्म उठे, औ' चलती बचन-बसोली है!
दुख-दावानल फैल रहा है, तुमको हँसी-ठठोली है!!

(२)

नहीं वीरता, नहीं धीरता, नहीं प्रेमकी बोली है!
नहीं संगठन, नहीं एकता, नहीं गुणीजन-टोली है!!
हृदयोंमें अज्ञान-द्वेषकी बेल विषैली बो ली है!
भाई-भाई लड़ें परस्पर, पत अपनी सब खो ली है!!

(३)

बेचें सुता, धर्म-धन खावें, ऐसी नीयत डोली है!
भाव-शून्य किरिया कर समझें, पाप कालिमा धो ली है!
ऊच-नीचके भेद-भावसे लुटिया साम्य डुबो ली है!!
रूढ़ि-भक्ति औ' हठधर्मीसे हुआ धर्म बस डोली है!!

(४)

सत्य नहीं, समुदार हृदय नहिं, पौरुष-परिणति खो ली है!
प्रण-दृढ़ताकी बात नहीं, समताकी गति न टटोली है!!
आर्तनाद कुछ सुन नहिं पड़ता, स्वारथ चक्की ओली है!
बल-विक्रम सब भगे, बनी हा! देह सबोंकी पोली है!!

(५)

उठती नहीं उठाए जाती, यद्यपि बहुतों गां ली है!
ख़बर नहीं कुछ देश-दुनीकी, सचमुच ंनी भोली है!!
बाइस जैनी प्रतिदिन घटते, तो भी आँ न न खोली है!
इन हालों तो उन्नति अपनी गे जैनो! बस हो ली है!!

'युगवीर'

जातियाँ किस प्रकार जीवित रहती हैं ?

[ले०—श्री० ला० हरदयाल, एम० ए०]

जातिका जीवन किस वस्तुमें है ? किस चीज़में जातिकी आत्मा छिपी हुई है ? क्या तावीज़ है, जिसे जाति अपनी रक्षाके लिये पहने रहती है। क्या कस्तूरी है, जिसे एक अधमरी जातिको सुँघाना चाहिए कि वह कुछ तो होशमें आवे? वह क्या रहस्य है जिसमें शेष सब भेद छिपे हुए हैं ? वह क्या कुंजी है, जिससे जातीय प्रश्नोंके सब ताले खुलते हैं ? अलीबाबाको एक मंत्र याद था, जिससे तरह तरहके बहुमूल्य मोती-जवाहर उसके हाथ आये थे। उसका भाई वह शब्द भूल गया; और वह अपने भाग्यको पीटता रहा; दौलतका द्वार न खुला, पर न खुला। इसी तरह हम पूछते हैं कि जातिके लिए वह क्या मंत्र है, जिससे मनमानी मनोकामना मिलती है—धन, मान, बल स्वराज्य, चक्रवर्ती राज्य सब प्राप्त होते हैं ?

यह स्पष्ट प्रकट है कि जातिके जीवनका संसार व्यापी सिद्धान्त अवश्य है, अन्यथा जातिके कर्णधार किस प्रकार अपने देश-वासियोंकी भलाईका प्रयत्न कर सकते हैं। किस नियमसे वह काम करनेमें सहायता लें, किस नेताके अनुयायी बनें, किस गुरुसे शिक्षा ग्रहण करें ? यदि कोई सिद्धान्त नहीं है तो बड़ी निराशाकी बात है। सब मामला अटकल-पच्चू और अनिश्चित् रहा। किसी आन्दोलनकी बुराई-भलाईको पहचानना असम्भव हो गया। प्रकृतिकी अँधेरी रात्रिमें मनुष्य जैसे कमज़ोर यात्रीके लिये कोई कुतुब (ध्रुव) मार्ग दिखानेवाला नहीं रहा। सिद्धान्त अवश्य होगा। प्रकृति नियमकी प्रेमिणी है; नियमबद्ध आन्दोलनकी मतवाली है। प्रकृतिको पूर्वी रजवाड़ोंकी सी बदइन्तज़ामी पसन्द नहीं। प्रकृति फूहड़ नहीं है। पार्थिव संसारमें हर वस्तु अटल नियमके अनुसार अपना असर दिखाती है। फिर नैतिक और देशोंकी दुनियामें भी अवश्य किसी न किसी तरकीबके अनुसार काम होता होगा। या कार्यवाही न होती होगी। यदि तमाम जातियोंकी उन्नति और उनकी अवनतिसे हम कोई सिद्धान्त नहीं निकाल सकते, जिससे हम अपने मार्गसे काँटे हटा सकें, तो इतिहासको धिक्कार है। उसके लड़ाईके मैदान केवल क़स्साईख़ाने और उसकी क्रान्तियां केवल होलीका स्वांग रही हैं। अफ़सोस है कि लाखों निरपराध जानें गईं, ज़मानेमें उथल-पथल हुई एक क्षण भी मनुष्यको चैन न मिला। अगर इस पर भी इतिहाससे कोई सिद्धान्त जातीय जीवनको बनाए रखनेके लिए नहीं मिल सकता, तो उसे व्यर्थ समझना उचित है। क्या यह संसारकी जातियोंको यों ही यह नाच नचा रहा है ? अवश्य ही जातीय जीवनका कोई विश्वव्यापी सिद्धान्त है जो हमको मालूम हो सकता है। जिस प्रकार कठोपनिषद्में लिखा है कि नचिकेताने यमसे पूछा—मुझे मनुष्यकी मृत्युका रहस्य बताओ ? मुझे हाथी घोड़े सोना-चाँदीकी आवश्यकता नहीं। उसी तरह हमारे मनमें निरन्तर प्रश्न उठता रहता है कि क्या जातीय जीवनका कोई सिद्धान्त है ? यदि है, तो हम जाननेके लिये उद्यत हैं। जंगलोंमें घूमनेसे हम

नहीं डरते, पहाड़ोंकी गुफाओंसे परहेज़ नहीं करते। जो तप आवश्यक होगा करेंगे। अगर पेरिस पहुँचना हो, तो एक पल भरमें जा धमकेंगे। अगर समुद्रकी तहमें प्रयोग करना हो, तो पानीके कीड़े बनकर रहेंगे, क्योंकि हम उस अमृतकी तलाशमें हैं। आज भारतवर्ष जातीय जीवनका गुर ढूँढता है। जान निकल रही है। धर्म और जाति पर प्रत्येक ओरसे आक्रमण हो रहे हैं। आस पासकी जातियाँ कहती हैं कि इसमें अब क्या रहा है। राम-नाम लो और तैयारी करो। इतिहासकारोंकी सम्मति है कि अब आगे इससे कुछ नहीं बनेगा—ऐसी दशामें हम उस आत्म-जीवन बूटीके लेनेको हिम्मतकी कमर बाँधकर चले हैं, जिससे हमारी जाति पुनः जीवित हो। हनूमानजी ने एक लक्ष्मणजी के लिए पहाड़ उलट डाले। हम क्या अपने हिन्दू बच्चोंके लिए, जिनमें से एक-एक राम-लक्ष्मणकी तस्वीर है, सारी ज़मीनको उलट पलट न कर देंगे कि उनकी बर्बादीके जो समान दिखाई देते हैं उनको दूर किया जाय।

संसारके इतिहासके अध्ययनसे क्या सिद्धान्त मालूम हुए हैं, जिन्हें पूर्व और पश्चिमके विद्वानोंने अपनी किताबोंमें बयान किया है। जातीय उन्नतिके नियम भूतकालके वर्णनोंमें छिपे हुए हैं। मरने वाले मर गये। परन्तु हमको जीवित रहनेकी तरकीब बता गये हैं। जो कुछ मनुष्य जातिने किया है, उस दास्तान का अक्षर अक्षर हमारे लिए पवित्र है, क्योंकि हम उससे जातीय और देशके आन्दोलनको सफलताके साथ चलानेकी तदबीर सीखते हैं।

संसारका इतिहास क्या ही समुद्र है, जिसमें अगणित जवाहर मौजूद हैं; जिन्हें बुद्धिमान गोताख़ोर निकालते हैं और अपनी प्रियतमा जातिके सम्मुख उपस्थित करते हैं। इन विचारों और सिद्धान्तोंको जाति बड़े यत्नसे रखती है। इनकी इस प्रकार रक्षा करती है जैसे साँप ख़ज़ाने पर बैठता है। वैज्ञानिक विद्वान् सोच-विचारके पश्चात् जो ज्ञान इतिहाससे प्राप्त करते हैं उनसे जातिकी मुक्ति होती है। उस ज्ञानकी क़द्र न करने वाले नष्ट होते हैं। उसको सर-आँखों पर रखने वाले इस लोकमें भी और परलोकमें भी अपने मनोरथोंको पाते हैं।

हिन्दुस्तानके लिए संसारका इतिहास क्या सन्देश लाता है? जो जातियाँ चल बसी हैं उन्होंने भीष्म पितामहकी तरह मृत्यु-शैय्यासे हमारे लिए क्या संदेश छोड़ा है? जिन जातियोंको आज सब तरहसे चलती है उनकी मिसालसे हमको क्या शिक्षा मिलती है? जातीय उन्नतिके एक मोटे सिद्धांत पर विचार करना उचित मालूम देता है। सारे अंगों पर विचार करना असम्भव है। गागरमें सागरको क्योंकर बंद किया जा सकता है।

"जातीय जीवनका एक बड़ा सिद्धान्त जातीय इतिहासको जीवित रखना है।"

कुछ दक़ियानूसी पण्डित यों कहेंगे कि क्या बात बताई है। जप नहीं बताया, तप नहीं सिखाया; श्राद्ध, कर्म, पाठ आदि कुछ अच्छी तरकीब भी नहीं समझाई जिससे जातिका लाभ होता। यह क्या वाहियात व्यर्थका सिद्धांत निकाला है। यह भी कोई सिद्धांत है! इसमें क्या ख़ूबी है! यह कौन सी बारीक बात है। दर्शन नहीं, वेदान्त-सूत्र नहीं, योगाभ्यास नहीं, सर्व-दर्शन संग्रह नहीं। यह हेतु हेतुमद्भूतकी गणना किस रोगकी दवा है? यह मरघटकी सैर किस बीमारीके लिए लाभकारी है? इतिहास क्या है, यही कि अमुक मरा, अमुक पैदा हुआ। अस्तु, अब मुर्दोंका क्या रोना। स्यापे

की मियाद निश्चित है। यह जातीय स्यापेको सदा क़ायम रखनेकी सलाह क्या अर्थ रखती है। वाह, यह क्या भाटका काम है जिसमें ईश्वरीय ज्ञान नहीं, आत्माका नाम नहीं, सत-असतका विचार नहीं। वह था, वह था; हम थे, तुम थे–इस व्यर्थके वर्णनसे जातीय उन्नति क्या हो सकती है! इस अनुमतिसे तो मृतक शरीरकी सी गंध आती है। उच्च मस्तिष्क वाले और न्यायप्रिय मनुष्य इसको कदापि सहन न करेंगे कि मुर्दोंकी क़ब्रें उलटा करें। यह तो जातीय मृत्युका कारण हो सकता है। जातीय जीवनकी शकल तो दिखाई नहीं देती। आदमी पंछी है। आज आया, कल चला गया। दस दिन ज्यों-त्योंकर बिता गया। अंतमें एक मुट्ठी राख बनकर गंगाजीकी शरणमें आगया। इतिहास ऐसे-ऐसे ही नौचंदीके मेलेके दर्शकोंके कारोबारका वर्णन है। इतिहास केवल एक बड़ा भारी पुलिसका रोज़नामचा तथा व्यापारिक बहीखाते और म्युनिसिपेलिटीके मौत और पैदाइशका रजिस्टर अथवा तीर्थके पण्डोंकी पोथीका संग्रह है। इससे अधिक उसकी और क्या प्रतिष्ठा है? इतिहाससे कुछ सत्व प्राप्त नहीं होता कोई मतलब नहीं पूरा होता कोई सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होता। फिर व्यर्थकी माथापच्ची क्यों की जावे? हज़ारों राजा हुए हैं और लाखों और होंगे। प्रत्येकके राज्य कालका हाल पढ़ते-पढ़ते अक़ल चक्करमें आजावे और कुछ हाथ न लगे। कोई भी मीमांसाका सिद्धान्त मालूम न हो। ब्रह्म-जीव की महत्ता, आत्माका उद्गम और उसके भविष्यका हाल, मनुष्यकी मानसिक शक्तियोंका वर्णन आदि। इनमें से कौनसे प्रश्नका इतिहास हल कर सकता है। इतिहास तो भाटों आदिकीजीविका का साधन है। बच्चोंके दिल बहलानेका खिलौना है। रातको लोरीके बदले इतिहासकी एक कहानी सुनाई कि बच्चा अच्छी तरह सो जाये। अलिफ़लैला न पढ़ी हिंदुस्तानका इतिहास पढ़ लिया। किन्तु जातिके मार्ग प्रदर्शकोंको, बुद्धिमानोंको, पण्डित ज्ञानियोंको अपनी लियाक़त इस व्यर्थकी विद्यामें नष्ट नहीं करनी चाहिए। मीमांसा पढ़ें, षट् शास्त्र पढ़ें, व्याकरण घोटें तो एक बात है। किन्तु इतिहाससे न आत्माकी शुद्धि होती है, न परमात्मा मिलता है यह किसी अर्थका नहीं है।

हमारे पण्डितगण आज तक इतिहासकी ओर से ग़ाफ़िल हैं। कोई कवि है, कोई व्याकरण जानता है, कोई तर्कशास्त्र पढ़कर बालकी खाल निकालता है, कोई ज्योतिषसे ग्रहणका समय बता सकता है। किन्तु इतिहासके ज्ञाता कहाँ हैं? पण्डितोंको तो यह भी मालूम नहीं होता है कि मुसलमानोंको इस देशमें आये हुए कितना समय हुआ, अथवा सिकन्दर महान कब सतलजसे अपना सा मुँह लेकर लौट गया था। जातीय इतिहासके सिलसिलेसे वे अनभिज्ञ होते हैं। उन्हें इससे क्या प्रयोजन कि कौन सी घटना कब हुई, या हुई भी कि नहीं हुई। उनको अन्य जातियोंका इतिहास तो अलग रहा, उनके अस्तित्वका भी ज्ञान नहीं होता। इसी कारणसे प्राचीन कालमें किन-किन जातियोंसे हमारा सम्बन्ध था, इस प्रश्नपर वे कुछ सम्मति नहीं दे सकते। दुःखका विषय है कि एक प्राचीन जातिके विद्वानोंका उसके इतिहाससे परिचय न हो। काशीजी से, नदियामें सब प्रकारकी विद्याका प्रचार है, शास्त्र, वेद,व्याकरण, सबकी प्रतिष्ठा है,किन्तु एक बेचारे इतिहासकी शकलसे पण्डित बेज़ार हैं। इस विषयपर न कोई प्रमाणित ग्रन्थ है, न सूत्र रचे गये हैं, न वाद-विवाद होता है, न टीका लिखी जाती है।

जब हम इतिहासके अध्ययनको जातीय जीवनका सिद्धान्त मानते हैं, तो पण्डितोंकी इस दशाको देखकर हमको यह कहानी याद आती है कि एक चौबेजी भोजन करने यजमानके घर गये। लड़का भी साथ था। उन्होंने उससे पूछा कि न्योता जीमनेका क्या नियम है? लड़केने कहा कि आधा पेट खाना चाहिए, चौथाई पेट पानीके लिए और बाकी जगह हवाके लिए रखना ज़रूरी है। तब चौबेजीने कहा—तुम अभी बच्चे हो, अक्लके कच्चे हो। देखो, भोजनका सिद्धान्त यह है कि पूरा पेट खानेसे भर लो। पानीका गुण है कि इधर-उधरसे भोजनके बीचसे अपना रास्ता निकाल ही लेता है। और हवाका क्या है, आई गई, न आई न सही। इसी प्रकार पण्डितगण तर्क और व्याकरणपर लट्टू होते हैं। परन्तु जातीय इतिहासकी चिन्ता नहीं करते, जिसके बग़ैर न तर्क चलेगा न कवित्त लिखे जायेंगे।

"कौड़ी को तो खूब सँभाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया" जातीय इतिहासको जीवित रखना जातीय जीवनका उत्तम सिद्धान्त है।

प्रत्येक जातिका भाग्य उसके गुणोंपर निर्भर है। प्रत्येक जाति अपनी क़िस्मतकी ख़ुद मालिक होती है। यदि किसी जातिके बुरे दिन आ जायँ; यदि उसका धन दौलत, प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, राज-पाट, धर्म कर्म सब मिट्टीमें मिल जाय तो उस समय उस जातिका क्या कर्तव्य है? क्या विजयीको गालियाँ देनेसे उसका काम बन जायगा? क्या विजयी लोगोंकी बदी, वादा-ख़िलाफ़ी, लालच या मक्कारीको प्रमाणित कर देनेसे उस जातिका भला हो जायगा? क्या विजयीकी निन्दा करनेसे उसके अवगुणोंका पूरा इलाज हो जायेगा? क्या शब्दाडम्बर, वाक्य कौशल और डींग-डपाल काम देगा? क्या वाक्य-चातुरी और मृदुभाषिता उसका बेड़ा पार लगावेगी? क्या विजयी लोगोंकी पोलिसी (कार्य प्रणाली) पर पुस्तकें लिखने और उनको दुनियाँ भरका दग़ाबाज़ और चालबाज़ प्रमाणित कर देनेसे ही उस गिरी हुई जातिकी मोक्ष हो जायेगी? नहीं, कदापि नहीं। जब कोई जाति अपने देशमें दुःख पाती है, जब उसकी कन्याएँ विजयी लोगोंकी लौंडियाँ और उसके नौजवान उनके गुलाम बनाये जाते हैं, जब उसका अन्न उसके बच्चोंके पेटमें नहीं पड़ता और वे भूखसे त्राहि त्राहि करते हैं, जब उसके धर्मका नाश होता है और उसके राजा और पुरोहित विजयी लोगोंकी अर्दली में नौकर रखे जाते हैं, जब उसकी औरतोंकी इज़्ज़त विजयी लोगोंकी कुदृष्टिसे नहीं बच सकती और वे ऐसे देशमें रहनेसे मौतको बेहतर समझकर ज़हरका घूंट पीकर चल बसती हैं, जब किसी जातिकी ऐसी अप्रतिष्ठा और बदनामी होती है, तो उसके लिए आवश्यक है कि अपने हृदयको टटोले, अपने गुणोंकी परीक्षा करे, अपने आचरणकी जाँच पड़ताल करे और मालूम करे कि वे कौनसे अवगुण हैं, जिनके कारण उसकी ऐसी गति हुई है। क्योंकि जब तक कोई जाति, जो संख्याकी दृष्टिसे पर्याप्त प्रतिष्ठा रखती हो, लालच, काहिली, ख़ुदग़र्ज़ी, इन्द्रिय लोलुपता और बुज़दिलीमें गिरफ़्तार न हो, उसपर तमाम दुनियाँकी जातियाँ मिलकर चढ़ आयें, तो भी विजय नहीं प्राप्त कर सकतीं। ऐसी जातिको चाहिए कि उन भीतरी शत्रुओंका मुक़ाबिला करे जो उसके जीवनको घुनकी तरह खा रहे हैं। तब वह बाहरी दुश्मनोंके सामने खड़ी रह सकेगी। जिसने मन जीता उसने जग जीता। और ऐसी जाति के उद्धारके लिए व्याख्यानदाताओं और लेखकों, वकीलों, बैरिस्टरों और एडवोकेटोंकी इतनी ज़रूरत नहीं है जितनी साधु सन्तोंकी, जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंपर

विजय प्राप्त करली हो। क्योंकि जाति लेखनकलाकी अनभिज्ञता या क़ानूनकी अवहेलना करनेसे नहीं गिरी, बल्कि उन सद्गुणोंके न होनेसे जो स्वतंत्र जातियोंमें पाये जाते हैं। अतः कोई विजित जाति पूछे कि मेरे अपमानका कारण कौन जाति है, तो जवाब दो कि तुम खुद हो, तुम खुद हो। विजयी जाति किसी विजित जातिकी हारका कारण कभी भुले-भटके ही होती है। क्या गिद्ध जो लाशसे बोटियाँ नोच-नोचकर अपनी क्षुधाशान्त करता है, उस शख्सकी मौतका कारण होता है? मरता तो आदमी बीमारी या दुर्घटनासे है। गिद्ध तो केवल इस बातको सब पर प्रकट करता है कि यहाँ लाश पड़ी है। वह चिन्ह है, सबब नहीं। परिणाम है, कारण नहीं।

जातीय इतिहास उन सद्गुणोंको जीवित रखता है जिनपर जातीय अस्तित्वका दारमदार है। चिराग़ ही से चिराग़ जलता है। महापुरुषोंकी मिसाल ही हमको उनका अनुकरण करनेपर तैयार करती है। इस वास्ते जिस जातिका कोई इतिहास न हो, उसकी उन्नतिके लिए ज़रूरी है कि वह किसी और जातिके साथ ऐसा सम्बन्ध पैदा करे कि उसके बुज़ुर्गोंको अपना समझने लगे, या ऐसा धर्म ग्रहण करे जिससे किसी जातिका इतिहास उसके लिए जोश दिलाने वाला बन जावे। उदाहरणार्थ अफ़रीकाके हब्शी स्वयम् उन्नति करनेके अयोग्य हैं, क्योंकि उनके पास कोई आदर्श नहीं है, कोई नाम नहीं है, जो उनको परोपकार, बहादुरी, सचाई सिखाये। उन हब्शियोंकी उन्नति आजकल मुसलमानी धर्मके द्वारा हो रही है। जब वे मुसलमान लोगोंके नबियों और औलियाओंके जीवन-चरित्र पढ़ते हैं और उनके कामोंकी तारीफ़ करते हैं, तो वे सभ्यता के सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं। अगर इस तरह किसी सभ्य जातिके इतिहाससे अपना सम्बंध स्थापित न करें, और उसकी ज्योतिसे अपनी ज्योति प्रज्वलित न करें, तो वे प्रलयतक अज्ञान और दुर्बलताके शिकार बने रहें। अतः इतिहास ही सब गुणोंका दाता है। इतिहास सब धर्मोंका संग्रह है। इतिहासके द्वारा हम महात्मा बुद्ध, श्रीशङ्कराचार्य, गुरु नानक आदि समस्त धार्मिक और नैतिक मार्ग प्रदर्शकोंके जीवन चरित्रसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इतिहासकी मुट्ठीमें सब धर्मोंका अनुकरण है। इतिहाससे बचकर कोई कहाँ जायेगा? यह तो हाथी है, जिसके पाँवमें सबका पाँव है।

इतिहास हमको स्मरण कराता है कि हमारा कर्तव्य क्या है। दुनियाँके झगड़ोंमें फँसकर जब हम उच्च विचारोंको भूलने लगते हैं, तो बुज़ुर्गोंकी आवाज़ सुनाई देती है कि ख़बरदार हमारी आन रखना, हमारा काम जारी रखना, सपूत रहना, जिस तरह हमने जाति और धर्मके लिए कोशिश की, उसी तरह करते रहना, ऐसा न हो कि हमारा प्रयत्न योंही नष्ट हो जाय। यह शङ्ख जातिको हर समय जगाता रहता है। इतिहास जातीय मञ्ज़िलकी अँधेरी रातमें चौकीदारकी तरह कहता है कि सोना मत; अपने मालकी रक्षा करो। यह सिद्धान्त कभी नहीं भूलना चाहिए कि नैतिक उन्नतिका प्रारम्भिक स्रोता मनुष्य होता है। जीता-जागता पाँच फुटका कोई आदमी ही जातिको सुधारता है। किताबें, मसले, रस्में, बाहरी टीम-टाम, कहावतें, मीमाँसाकी शुष्क बातें—ये सब उस आदमीके नौकर हैं, उसके मालिक नहीं। किताबें केवल रद्दीका ढेर हैं, यदि एक आदमी उनके अनुसार जीवन बसर करके नहीं दिखलाता। भजन, प्रार्थना, संस्कारके तरीके, शिक्षाका प्रबन्ध, नियम और उप-नियम, सभा, समाज,

मठ और टोल, अख़बार—ये सब ज़रिये व्यर्थ हैं, अगर कोई आदमी हमारे सामने उदाहरणके रूपमें न हो। ये सब मसाला तो तेल-बत्तीकी तरह है। एक आदमी का जीवन ही आग है, जिससे रोशनी फैलती है। यह सारा सामान बारातकी टीम-टाम है। दूल्हा तो वह महापुरुष है जिसके प्रत्येक कामसे हज़ार शिक्षाएँ मिलती हैं; जिसकी प्रत्येक बात जादूका असर रखती है; जिसका नाम समय यदि घिस-घिसकर भी मिटावे तो इतिहासकी पट्टीसे नहीं मिटेगा; जिसकी तस्वीर हर दिलमें रहेगी चाहे लोग और सब कुछ भूल जायँ। नैतिक उन्नतिपर मुल्की, दुनियावी और हर तरहकी उन्नतिका दारमदार है। अगर जातिके आदमी लालची, डरपोक और स्वार्थी हैं, तो वह जाति अवश्य नष्ट होगी, चाहे प्रत्येक गाँवमें पार्लियामेंट (राजसभा) बन जाय और दुनियाँ भरके अधिकार उन्हें दान कर दिये जायँ। यदि जातिका आचरण ठीक है तो प्रत्येक दशामें वह प्रसन्न रहेगी, चाहे कोई भी सभा या समाज या जलसे न होते हों। अत: इतिहाससे हम उन महात्माओंके वचन सुनते हैं, जिनके जीवनकी यादके बिना, मोटी मोटी किताबें चाहे वे कितनी ही प्राचीन क्यों न हों, गम्भीर प्रश्न जो नारदजीकी समझमें भी न आवें; मीठे भजन जिनको सुनते सुनते लोग आनन्द मग्न हो जायँ; बड़ी कॉन्फ्रेन्सें (सभाएँ) जिनमें भारतवर्षका प्रत्येक परिवार तक प्रतिनिधि भेज दे; कॉलेज जिनकी छत आसमानसे बातें करती हों; व्याख्यान जिनको सुनने सरस्वती भी उतर आवे; समाचार पत्र जिनका प्रचार हर गाँवमें हो, बिल्कुल बेकार हैं। ये सब चीज़ किसी जातिको नहीं उठा सकती। इतिहास मनुष्योंसे हमारा परिचय कराता है और इस कारण हमारा सबसे बड़ा शिक्षक है, इतिहास सन्तोंकी समाधि है। केवल समाधि चुप होती है। इतिहास उनकी हर बातका राग गाता है। समाधि शक्ल दिखाती है, किन्तु इतिहास प्रत्येक वचन और कार्य, प्रत्येककी आदत और प्रकृतिपर प्रकाश डालता है।

अतः जातीय आचरणपर जातीय अस्तित्व अवलम्बित है। जातीय आचरण उन आदमियोंके जीवन का सहारा है, जिन्होंने धर्म और सत्यका पालन किया है। इतिहास इन महात्माओंके जीवनचरित्रका नाम है। इसलिए इतिहासपर जातीय अस्तित्व अवलम्बित है। दो बड़े सिद्धान्त जिनसे यह सचाई प्रमाणकी हद तक पहुँचती है, हमें याद रखने आवश्यक हैं। पहला है—

"जातीय आचरण की महत्ता"

छोटी जातियां जिनके पास धन न हो, न हथियार, केवल आचरणमें उच्च होनेके कारण बड़ी जातियोंकी दौलत और शक्ति छीन सकती हैं। आचरण ही मनुष्यों के जीवनको सफल करता है और हमारी मानुषिक शक्तियोंको उन्नति करनेका अवसर देता है। जिस जाति के पास आज सद्गुण मौजूद नहीं हैं, किन्तु दुर्ग हैं, मन्दिर हैं, खज़ाने हैं, तोपें हैं, तो समझ लो कि वह जाति उस मकानकी तरह है, जो खोखली नींव पर खड़ा है। उसके मन्दिर गिराए जायँगे और उनकी ईंटों में उसके बच्चे चुने जायेंगे, उसके ख़ज़ाने लूटे जायँगे और उसके शत्रुओंको मालामाल करेंगे, उसकी तोपें उसीका नाश करनेके लिए काममें लाई जायँगी और उसके घरोंकी ओर उनके मुँह किये जायँगे। इसके विपरीत यदि जातिमें अच्छे गुण हैं, तो वह न केवल अपनी रक्षा कर सकेगी, बल्कि दूसरोंकी सहायता भी देगी। उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी न देख सकेगा। उसके सरका बाल तक बाँका न होगा। उसकी मर्यादा बढ़ेगी। उसके खेत हरे-भरे रहेंगे और उससे ईर्ष्या करनेवालोंका मुंह काला होगा। दूसरा सिद्धान्त है—

"नैतिक उन्नतिके लिए जीवनकी उपमा की आवश्यकता

आचरण तो करनेकी विद्या है, कहनेकी तो बात ही नहीं है। जर्मनीके प्रसिद्ध कवि गेटेने कहा है कि तुम्हारा प्रति दिवसका जीवन अत्यन्त शिक्षा जनक पुस्तकसे अधिक उपदेश दे सकता है। प्रत्येक मनुष्यका बर्ताव ऐसा होना चाहिए कि वह स्वयं मूर्तिमान शास्त्र

हो। परोपकारपर व्याख्यान देनेकी उसे आवश्यकता न रहे, क्योंकि उसकी शक्ल ही हज़ार व्याख्यानोंका असर रखती हो। लालचके विरुद्ध उसे उपदेश देना न पड़े। प्रसिद्ध है कि एक कविका एक शिष्य नित्य उसे ज़िक्र करता कि आपने यह शुद्धि किस किताबके आधार पर की है, वह शुद्धि किस नियमके अनुसार है। एक दिन गुरुजी झल्ला गये और कहा, अरे हम कविता कहते कहते स्वयं पुस्तक बन गये हैं, तू यह क्या पूछता रहता है। इसी तरह वे ही मनुष्य जातिको पुनः उन्नतिके मार्गपर ले जा सकते हैं, जिनसे अगर पूछा जाय कि यह बात आप किस आदर्शकी दृष्टिसे करते हैं, परोपकार किस सिद्धान्तसे करना आवश्यक है, तो वे कह सकें कि भाई हम स्वयं आदर्श और सिद्धान्त हैं। हमारा जीवन ही हमारे अनुकरणका प्रमाण है। अधिक क्या कहें। केवल पुस्तक अवसरपर काम न आवेगी। मंत्र समयपर धोखा देगा। प्रार्थना क्या ख़बर है सुनी जाय या न सुनी जाय, तावीज़ कठिनाईमें टूटकर गिर पड़ेगा। श्लोक और ऋचाएँ हृदयको ढाढ़स न देंगी। ये सब उसी समय काम आवेंगी जब किसी महापुरुष का चित्र आँखोंमें फिरता हो, जिसने उन परीक्षाओंका मुकाबिला किया हो जिनका हमें सामना करना है। उनकी सहायता ही हमारी मुक्तिका कारण होगी।

अतएव सम्मिलित महापुरुष-पूजाको ही अँगरेज़ी लेखक कार्लाइल सारी उन्नतिका मूल मानता है। उसकी सम्मतिमें संसारका इतिहास केवल महान पुरुषोंकी करामातका प्रत्यक्ष रूप है।

जातीय इतिहाससे अपने रिवाजों, प्रथाओं और जातीय संस्कारोंकी प्रतिष्ठा होती है।

प्रत्येक जातिका अस्तित्व आचरणके अतिरिक्त उन रिवाजोंपर निर्भर है जिन्हें वह मानती है। ये रिवाज भी आचरणको बनाये रखनेके अभिप्रायसे चलाये जाते हैं और बहुधा प्राचीन पुरुषोंकी स्मृतिको बनाये रखने का कारण होते हैं। प्रत्येक जातिकी अलग चाल-ढाल होती है। आदमी आदमीमें अन्तर है। कोई हीरा है कोई पत्थर है। हर जातिकी भाषा, रहनेका तर्ज़, त्योहार, मेले तमाशे, शादी और ग़मीके दस्तूर अलग-अलग हैं। वे उसके भूत-कालीन अनुभवके परिणाम हैं। ये विशेषताएँ उसके देश और उसकी आवश्यकताओंके अनुसार होती हैं और उसकी क़ौमी हैसियत को प्रकट करता है। इस तरह हर क़ौम, हिन्दु मुसलमान, अंग्रेज़ फ्रांसीसी अलग पहचानी जाती है। उस के जीवनका प्रत्येक अंग यह प्रकट करता है कि उसके विशेष गुण हैं और विशेष कर्तव्य और विशेष शक्तियाँ हैं। अतः जातीय विशेषनाओंका बनाये रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ पोशाक ही को लीजिए। यों तो कपड़े पहननेका बड़ा अभिप्राय गरमी-सरदीसे बचना और लाज-शरम को बनाये रखना है। किन्तु जब कोई जाति एक विशेष पोशाक ग्रहण कर लेती है, तो एक अभिप्राय भी हो जाता है। वह पोशाक उस जातिकी एकताका चिन्ह हो जाती है, और उसे दूसरोंसे अलग करती है। हर जातिके लिये उसकी प्रथाएँ और उसके समाजका ढाँचा सीपीकी तरह है, जिसमें उसके सद्गुणों और विचारोंका मोती छिपा रहता है। जब मोती सीपीकी शरणसे निकला तो ग़ैरोंके हाथ बिक गया। या यों कहो कि जातिके रिवाजोंका चौखटा उसके हृदय और दिमाग़के दर्पणको रौनक़ देता है ताकि वह संसारके इतिहासकी प्रदर्शनीमें दीवार पर अच्छी जगह रखे जानेके योग्य हो। जाति यदि सिपाही है, तो उसकी संस्थाएँ (अर्थात् स्थायी जातीय विशेषताएँ, जैसे भाषा त्योहार आदि) और उसके संस्कार लोहेके कवच हैं, जो उसे दुश्मनोंके तीरोंसे बचाते हैं। यदि जाति हीरा है तो संस्थाएँ अँगुठी हैं, जिसमें वह अपनी चमक-दमक दुनियाँके बाज़ारके जौहरियोंको दिखलाता है।

जातीय इतिहाससे हमको पता लगता है कि हमारे रिवाजों और संस्थाओंकी क्या वास्तविकता है, किस अभिप्रायसे उन्हें स्थापित किया गया था; उनमें क्या खूबियाँ हैं, उनसे जातिकी एकता और आचरण को किस प्रकार सहायता मिलती है। जिन रिवाजोंके लाभोंसे हम अनभिज्ञ हैं उनके लिए हमारे दिलमें इज़्ज़त नहीं हो सकती। उनको अवश्य ही हम बेहूदा और व्यर्थ समझने लगेंगे। उनसे घृणा करने लगेंगे।

इस प्रकार हमारा दैनिक जीवन कण्टकाकीर्ण हो जायगा। क्योंकि हमको अपने जातीय चाल-ढालमें प्रेम न रहेगा। फिर हमको अपने दस्तूर और नियम पीजड़ेकी तीलियाँ दिखाई देने लगेंगी, जिनमें हम पङ्ख मारते-मारते घायल हो जाएँगे।

जातीय इतिहास ऐक्यका द्वार है

आज कल एकता की बड़ी धूम है। कौवों की सी कायँ-कायँ सब ओर हो रहा है। शायद यह आशा है कि कौवों का सा एका इनकी तरह शोर मचाने से हो जायेगा। कोई कुछ प्रस्ताव पेश करता है, कोई कुछ उपाय बतलाता है। वास्तव में जातीय इतिहास ही एकता की बड़ी कुंजी है क्योंकि जाति के कारनामों और संस्थाओं में सबका भाग है। सबको वे जान से प्यारे हैं। आज कुछ भी झगड़ा टण्टा हो, धोकबन्दियाँ हों, परन्तु त्योहारके दिन सब भेद भाव भूल जाते हैं। बुजुर्गोंका नाम लेकर सब गले मिलते हैं और जातीय उत्थानकी मन-मोहक कहानियाँ सुनकर, सुनाकर खुशी से फूले नहीं समाते हैं। जातीय महापुरुषोंका नाम सदैव जातिके समस्त दलोंको प्रिय होता है और वास्तवमें देखो तो जातीय इतिहास ही जातीय प्रतिष्ठाका चिन्ह है। जातिमें प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती रहती है। समय सारी प्रथाओंको कुछका कुछ कर दिखाता है। वस्त्र, भोजन, भाषा, सब बातोंमें थोड़ा थोड़ा हेर-फेर होता रहता है। धर्ममें क्रान्ति उपस्थित हो जाती है। इंगलिस्तान जो आज रोमके नामसे चिढ़ता है, कई-सौ वर्ष पहले रोमके धर्मका अनुकरण करने वाला था। अब अंग्रेज व्यापार, शिल्प और कला-कौशलमें जीविका कमाते हैं। सारा देश एक भट्टी बना हुआ है भूतकालमें खेतोंसे पेट भरते थे। सारा देश खेतोंसे लह-लहाता था। सारांश यह कि यदि अंग्रेजोंके पित्र अब वापिस आवें तो, अपनी सन्तानको पहचान भी नहीं सकते। अतः वह क्या वस्तु है, जिससे यह विचार बना रहता है कि हम एक जाति हैं और सदासे रहे हैं? जातीय शक्तिकी वृद्धि करना हमारा कर्तव्य है? केवल जातीय इतिहाससे यह भावना बनी रहती है। जाति की क्षणिक संस्थाओंमें इतिहास अटल संस्था है। जातिका अन्य प्रथाएँ और विशेषताएँ तोताचश्म हैं। जो आज उन्नतिका कारण हैं, कल वही हानिकारक प्रमाणित हुई हैं। एक समय जातिको विजय दिखाती हैं, दूसरे अवसर पर उसको नीचा दिखलाती हैं। किन्तु जातीय इतिहास वह वस्तु है, जो हमेशा मूल्य रखता है। यह कभी जातिको किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचा सकता। हमेशा सदाचरण और एकता सिखाता रहता है। अतः हम देखते हैं कि जातिकी समस्त बातें बदलती रहती हैं, बल्कि समय मजबूर करता है कि जाति उनको बदलती रहे। किन्तु जातीय इतिहास उन सब रिवाजोंके मोतियोंको जो किसी समय जातिके प्रिय पात्र रहे हों, एक लड़ीमें गूंथकर एक ऐसी माला बनाता है, जिसका पहिनना बच्चेका अधिकार और कर्तव्य है और जिससे जातिकी मानसिक और नैतिक उन्नतिका पता चलता है।

अतः जातीय इतिहास ही जातिके व्यक्तियोंको मिला सकता है। क्योंकि बुजुर्गोंसे किसको दुश्मनी है? आपसमें कितना ही लड़ें, श्राद्धके दिन तो सब सम्बन्धी जमा हो ही जाते हैं। जातीय इतिहास यह स्मरण करता रहता है कि तुम वास्तवमें वही हो, जो पहले ऐसा ऐसा करते रहे। तुम्हारे विकासका मूल वही है। तुम पर यह बीती है। तुमने अमुक-अमुक काम किये हैं। ये सब बातें जातिके प्रत्येक मनुष्य पर सही उतरती हैं। वह अपने वंश, अपने धर्म, अपने रिवाजों और प्रथाओंसे इन्कार नहीं कर सकता। अतः जिस जाति का इतिहास जीवित है, वह कभी भीतरी झगड़ोंसे नष्ट नहीं हो सकती।

इसलिए सभी जातियाँ अपने इतिहासको जीवित रखना अपना धर्म समझती हैं। बुजुर्गोंकी यादगार कायम करने को मुख्य कर्तव्य ख्याल करती हैं। निम्न लिखित उपायोंसे इतिहासका ज्ञान फैलाया जाता है:—

(१) त्योहारके दिन जातिके इतिहासमें मुबारक हैं—उनके आने पर खुशी मनाना जातीय इतिहास सिखानेका सुगम मार्ग है। जैसे अमेरिका और फ्रांसमें स्वाधीनताके आन्दोलनकी सफलताकी यादगारमें जुलाईमें त्योहार मनाया जाता है। इंगलिस्तानमें अब एक

नया त्योहार एम्पायर डे (साम्राज्य दिवस) स्थापित करनेकी सम्मति है, जो विक्टोरियाके जन्मके दिन मनाया जाता है। इसका अभिप्राय है कि बच्चोंको ब्रिटिश साम्राज्यकी ओर अपने कर्तव्यका स्मरण रहे।

(२) शहरों, बाजारों और अन्य स्थानोंकानाम बुजुर्गोंके नाम पर रखना। यह रिवाज सारे संसारमें पाई जाती है। पेरिसमें सारे शहरमें नेपोलियनका नाम गूँजता है। उसकी विजय जयन्तियोंकी तारीख हर गली-कूचेकी दीवारों पर लिखी हुई है। यहाँ तक कि जिन तारीखोंपर कोई प्रसिद्ध जातीय घटना हुई है, उसको भी किसी जगहका नाम बना दिया है, मसलन एक गली और स्टेशनका नाम "४ सितम्बर" है। पहले पहल मैं चकित रह गया कि यह क्या मामला है। यह ४ सितम्बर क्या वस्तु है? किन्तु मालूम हुआ कि इसी प्रकार १४ जुलाई आदि नाम भी हैं। लन्दनमें ट्राफलगर चौक, वाटरलू स्टेशन इंगलिस्तानकी जल और थल शक्तिकी यादगारें हैं। फ्राँसके कोई कोई जहाज़ फ्राँसके विद्वानोंके नाम पर हैं।

(३) खास तौर पर मूर्ति या मकान बनाना— मूर्ति सदासे बुजुर्गोंकी यादगार स्थापित करनेका अच्छा तरीका चला आया है। अतः लन्दन और पैरिसमें मूर्तियोंसे बड़े मन्दिर बन रहे हैं। पेरिसमें लूवर अजायब घरकी छतपर सैंकड़ों मूर्तियाँ बराबर बराबर लगाई गई हैं। मानों वे पत्थरकी शक्लें अपने बच्चोंको बारो बार प्रेम भरी दृष्टिसे देख रही हैं। लन्दनमें प्रत्येक पग पर किसी न किसी महापुरुषकी मूर्ति दिखलाई पड़ती हैं। मानों हर गलीमें जातीय इज्जतका चौकीदार खड़ा है। एल्बर्टकी स्मृतिमें एक बड़ा ही शानदार मकान बनाया गया है और नेपोलियनका मक़बरा पेरिसमें एक देखने योग्य वस्तु है।

(४) बच्चोंके नाम रखना—जाति अपने मकानों और बाज़ारोंको महापुरुषोंके नामसे पवित्र करती है, तो क्या अपने प्यारे बच्चोंको, जो उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, इस आशीर्वादसे वञ्चित रख सकती है? प्रत्येक जाति अपने बच्चोंको वे नाम देती है, जिनका जीवित रखना उसका कर्तव्य है। मानों हमारे बच्चे उत्पन्न होते ही जातीय इतिहासमें भाग लेने वाले बन जाते हैं। और यद्यपि अभी तुतलाना भी नहीं सीखा, तो भी चुपचाप जातीय, प्रतिष्ठाको प्रकट करते हैं। क्यों न हो; इतिहास उन्हींकी तो बपौती हैं। जो कुछ बुजुर्गों ने कमाया था और जो कुछ हमने प्राप्त किया है, सब उन्हींके लिए है, और किसके लिए है?

(५) पाठशालाओंमें शिक्षा—पहले सभ्य जाति बच्चोंको पाठशालाओंमें अपना इतिहास सिखाती है और उसको रोचक बनाती है महापुरुषोंके चित्र उसमें लगाती है। देशभक्तिपूर्ण कविताएँ पढ़ाई जाती हैं।

(६) कवियोंकी वाणी—जब कोई कवि क़लम लेकर बैठता है, तो वह बहुधा महापुरुषोंकी गाथा सुनाता है। जातीय इतिहासके अगणित आकर्षक दृश्य, जातीय सूरमाओंके कारनामे, जातीय अस्तित्व और उन्हींके लिए प्रयत्नोंका कथाएँ, ये सब उसकी आँखोंमें फिरती हैं और उसकी जिव्हाको पावन शक्ति प्रदान करती है:—

बैठे तनरे तवाको जब गर्म करके मीर,
कुछ शीरमाल सामने कुछ नान कुछ पनीर।

जातीय इतिहासकी सैकड़ों कथाओंमें से कोई फड़कती हुई कहानी कह डालता है और जातिको सदा के लिए अपना प्रेमी बना जाता है।

(७) इतिहास विद्याके विद्वानोंकी सहायता— प्रत्येक युनीवर्सिटी (विश्वविद्यालय) में कई प्रोफेसर (शिक्षक) होते हैं, जो इतिहासके अध्ययनमें लगे रहते हैं; और जातिको अपनी जानकारीसे लाभ पहुँचाते हैं। वे दिन-रात परिश्रम करते हैं और जातीय इतिहासके सम्बन्धमें छान बीन और अन्वेषण करनेमें संलग्न रहते हैं। * (चाँदसे उद्धृत)

* अनुवादक—श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, बी० ए० भूतपूर्व एम० एल० सी०

भगवान महावीर और उनका उपदेश

[ले०—श्रीमान् बा० सूरजभानजी वकील]

वीर भगवानका जन्म विदेह देशकी प्रसिद्ध राजधानी वैशालीके निकट कुण्डग्राममें हुआ था, जिसको कुडलग्राम या कुंडलपुर भी कहते हैं। आपके पिता राजा सिद्धार्थ कुण्डग्रामके राजा थे और आपकी माता वैशालीके महाराजा चेटककी बेटी प्रियकारिणी थी, जो त्रिशलाके नामसे भी प्रसिद्ध थी। राजा चेटक की दूसरी लड़की चेलना मगध देशके प्रसिद्ध महाराजा श्रेणिकसे ब्याही गई थी। वीर भगवान ३० बरसकी आयु तक अपने पिताके घर ब्रह्मचर्य अवस्थामें रहे, फिर संसारके सारे मोहजालसे नाता तोड़, सन्यास ले, नग्न अवस्था धारण कर परम वैरागी होगये और आत्म ध्यानमें लीन होकर अपनी आत्माकी शुद्धिमें लग गये। बारह वर्ष तक वे पूरी तरह इसी साधनामें लगे रहकर घातिया कर्मोंका नाशकर केवल ज्ञानी हो गये। तब उन्होंने दूसरोंको भी इस संसाररूपी दुःखसागरसे निकालनेके लिये नगर नगर और ग्राम ग्राम घूमना शुरु किया। नीच-ऊँच, अमीर गरीब सबही को अपनी सभा में जगह देकर कल्याणका मार्ग बताया। प्रायः ३० वर्ष इस ही काममें बिताये और फिर ७२ वर्षकी आयु में आयुकर्म पूरा होने पर इस शरीरका भी सदाके लिये संग छोड़, पूर्ण शुद्ध बुद्ध और सत्-चित्-आनन्द स्वरूप होकर तीन लोकके शिखर पर जा विराजे, जहाँ वह अनन्तकाल तक इसही अवस्थामें रहेंगे। कभी भी संसारके चक्करमें नहीं पड़ेंगे।

वीर भगवानने स्वयं स्वतन्त्र होकर दूसरोंको स्वतन्त्र होनेका रास्ता बताया और इसके लिये अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया। कर्मोंकी जंजीरोंमें जकड़े हुए विषय-कषायोंके गुलाम बने हुए, बेबस संसारी जीवोंको समझाया कि—जिस प्रकार आगकी गर्मी पाकर ठंडा शांत और स्वच्छ पानी गर्म होकर खलबलाने लगता है, तरह तरहके जोश आकर देगचीमें चक्कर लगाने लग जाता है इसी प्रकार कर्मके सम्बन्ध में तुम्हारी जीवात्माके शान्ति स्वरूप और ज्ञान गुणमें फ़रक आरहा है, विषय कषायोंके उबाल उठते हैं और यह जीव इन्द्रियोंका गुलाम होकर संसारमें चक्कर लगाता फिर रहा है। अगर वह हिम्मत करे तो इस गुलामीसे निकल कर आज़ाद हो सकता है और अपना ज्ञानानन्द स्वभाव प्राप्त कर सकता है। परन्तु विषय कषायोंकी यह गुलामी उनकी ताबेदारी करने और उन के अनुसार चलनेसे दूर नहीं हो सकती, किन्तु अधिक अधिक ही बढ़ती है। विषय-कषायोंसे कर्मबंधन और कर्मोदयसे विषय-कषाय उत्पन्न होते रहते हैं। वह ही चक्कर चल रहा है और जीव इससे छूटने नहीं पाता, विषय कषायोंके नशेमें उत्पन्न हुआ भटकता फिर रहा है। जिस तरह रामचन्द्रजी सीताके गुम होने पर वृक्षों से भी सीताका पता पूछने लग गये थे अथवा जिस तरह थालीके खोये जानेपर उसकी तलाशमें कभी कभी कोई घड़ेमें भी हाथ डाल देते हैं, उसी ही तरह विषय-कषायोंकी पूर्तिके लिये यह जीव संसार भरकी खुशामद करने लगता है। आग, पानी, हवा, धरती, पहाड़, सूरज, चांद, झाड़, झूंड़ और नदी-नाले आदि पदार्थों को भी पूजने लग जाता है। नहीं मालूम कौन हमारा कारज सिद्ध कर दे, ऐसा बेसुध होनेके कारण यदि कोई किसी ईंट पत्थरको भी देवता बता देता है तो उससे ही अपनी इच्छाओंकी पूर्तिकी प्रार्थना करने लग जाता है। अपने ज्ञान गुणसे कुछ भी काम नहीं लेता है, महा नीच-कमीना बन रहा है और कण-कणसे डर कर उसको पूजता फिरता है।

परन्तु इस जीवमें केवल एक भय कषाय ही नहीं है जो हर वक्त खुशामद ही करता फिरता रहे। इसको तो क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, ग्लानि, हास्य, शोक और कामदेव यह सब ही कषाय सताती हैं और सब ही तरहके उबाल उठते हैं। कभी घमण्डमें आकर अपनेसे कमज़ोरोंको पैरों तले ठुकराता है, ऊँचे दर्जेके काम करने और उन्नतिके मार्ग

पर चढ़नेकी उनको इजाज़त नहीं देता है और यहां तक बढ़ जाता है कि धर्मके कामोंके करने से भी उनको रोक देता है, धर्मका जाननेका भी मौका नहीं देता है। मायाचारके चक्करमें आकर चालाक लोगोंने तरह तरहके देवता और तरह तरहकी मिथ्या धर्म क्रियाओंमें पड़कर भटकते हुये भोले लोगोंको ठगना शुरू कर दिया है।

यह सब कुछ इस ही कारण होता है कि लोग संसारके मोहमें अन्धे होकर बिना जांचे तोले आँख मीचकर ही एक एक बातको मान लेते हैं और झूठे बहकावेमें आ जाते हैं। वीर भगवानने लोगोंको इस भारी जंजालसे निकालनेके वास्ते साफ शब्दोंमें समझाया कि वह आँख मीचकर किसी बातको मान लेनेकी मूर्खता (मूढ़ता) को त्याग कर, वस्तु स्वभावकी खोज करके नय प्रमाणके द्वारा हर एक बातको मानकर खवामख्वाह ही न डरने लग जावे; इस तरह लोगोंके मिथ्या अन्धकारको दूर करके और उनके झूठे भ्रम को तोड़करके उनको बेखौफ बनाया और अपने आप को कर्मोंके फन्देसे छुड़ाकर आजाद होनेके लिये कमर कसना सिखाया। वस्तु स्वभाव ही धर्म है, जबयह नाद वीर भगवान्ने बजाकर लोगोंको गफलतकी नींद से जगाया, पदार्थके गुण बताकर लोगोंका भय हटाया और सब ही जीवोंमें अपने समान जीव बनाकर आपस में मैत्री तथा दयाभाव रखनेका पाठ पढ़ाया, और इस प्रकार जगत भरमें सुख शांति रहनेका डंका बजाया, तब ही लोगोंको होश आया।

वस्तुस्वभाव ही धर्म है, इस गुरु-मंत्रके द्वारा वीर भगवान्ने लोगोंको समझाया कि विषय कषायोंकी गुलामीसे आज़ाद होना और अपना ज्ञानानन्द असली स्वरूप प्राप्त करना ही जीवका परमधर्म है, जिसके लिये किसीकी खुशामद करते फिरने या प्रार्थनायें करनेसे काम नहीं चल सकता है, किन्तु स्वयम् अपने पैरों पर खड़े होने और हिम्मत बाँधनेसे ही काम निकलता है। जिस प्रकार बीमारको अपनी बीमारी दूर करनेके लिये स्वयं ही दवा खानी पड़ती है, स्वयं ही कुपथ्यसे परहेज़ रखना होता है, किसी दूसरेके करनेसे कुछ नहीं हो सकता है और न किसीकी खुशामद करने या भक्ति-स्तुति करनेसे ही यह काम बन सकता है। बीमारी तो शरीरमें से मल दूर होनेसे ही शांत होती है, इस ही प्रकार यह जीवात्मा भी विषय-कषायोंके फन्देसे तब ही छूट सकता है जब कि कर्मोंका मैल उससे अलग हो जाय और वह शुद्ध और पवित्र होकर ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप ही रह जाय। परन्तु यह काम तो जीवात्माके ही करनेका है, किसी दूसरेके करनेसे तो कुछ भी नहीं हो सकता है।

संसारमें हज़ारों देवी-देवता बताये जा रहे हैं जिनकी तरफ़से चारों खूट यह विज्ञापन दिया जाता है कि वह सर्व शक्तिमान हैं, जो चाहें कर सकते हैं, उनको राज़ी करो और अपना काम निकालो। हजारों लोग इन देवी देवताओंके ठेकेदार बनते हैं, और दावा बाँधते हैं कि हमको राज़ी कर लो तो सब कुछ सिद्ध हो जाय, परन्तु इसके विरुद्ध वीर भगवान्ने यह नाद बजाया कि जीव तो अपनी ही करनीसे आप बँधता है और अपनी ही कोशिशसे इस बँधनसे निकल सकता है, किसी दूसरेके करनेसे तो कुछ भी नहीं हो सकता है। और इसी कारण इन्द्रादिक देवताओंसे पूजित श्री वीर भगवानने अपनी बाबत भी यही सुनाया कि मैं भी किसीका कुछ बिगाड़ सुधार नहीं कर सकता हूँ। इस कारण किसी दूसरेका भरोसा छोड़कर जीवको तो आप अपने ही पैरों पर खड़ा होना चाहिये। कर्मोंका बन्धन तोड़नेके वास्ते आप ही विषय-कषायोंसे मुँह मोड़ना चाहिये। विषय कषायोंसे ही कर्मबन्धन होता है और कर्मोंके उदयसे ही विषय-कषाय पैदा होते हैं, यह ही चक्कर चल रहा है, जो अपनी ही हिम्मतसे बन्द किया जा सकता है। किन्तु जिस प्रकार पुराना बीमार एकदम तन्दुरुस्त और शक्तिशाली नहीं हो सकता है, दीर्घ काल तक इलाज करते करते आहिस्ता आहिस्ता ही उन्नति करता है, उस ही प्रकार कर्मोंका यह पुराना बन्धन भी साधना करते करते आहिस्ता आहिस्ता ही दूर हो पाता है।

इस ही साधनाके लिये वीर भगवानने गृहस्थी और मुनि यह दो दर्जे बताये हैं। जो एकदम रागद्वेष और विषय कषायोंको नहीं त्याग सकते हैं उनके लिये गृहस्थ

मार्गका उपदेश दिया, जिसमें वह कुछ-कुछ रागद्वेषको कम करते हुए अपने विषय कषायोंको भी पूरा करते रहें और उन्हें रोकते भी रहें। इस तरह कुछ कुछ पाबन्दी लगाते लगाते अपने विषय कषायोंको कम करते जावें और रागद्वेषको घटाते जावें। जिन लोगोंने हिम्मत बाँधकर अपनेको विषय कषायोंके फंदेसे छुड़ा लिया है, रागद्वेषको नष्ट करके कर्मोंकी जंजीरोंको तोड़ डाला है और अपना असली ज्ञानानन्द स्वरूप हासिल कर लिया है! उनकी कथा कहानियाँ सुनकर, उनकी प्रतिष्ठा अपने हृदयमें बिठाकर खुद भी हौसला पकड़ें और विषय कषायों पर फ़तह पाकर आगे ही आगे बढ़ते जावें। यह ही पूजा भक्ति है जो धर्मात्माओं को करनी वाजिब है। और जो पूरी तरहसे विषय कषायों को त्याग सकते हैं, राग-द्वेषको दबा सकते हैं उन्हें गृहस्थदशा त्याग कर मुनि हो जाना चाहिये। दुनियाका सब धन्धा छोड़कर अपनी सारी शक्ति अपनी आत्माको राग-द्वेषके मैलसे पवित्र और शुद्ध बनाने और अपना ज्ञानानन्दस्वरूप हासिल करनेमें ही लगा देनी चाहिये।

वस्तु-स्वभावके जानने वाले सच्चे धर्मात्मा अपना काम दूसरोंसे नहीं लिया चाहते। वह दीन हीनाकी तरह गिड़गिड़ा कर किसीसे कुछ नहीं माँगते हैं। हाँ, जिन्होंने धर्म-साधन करके अपने असली स्वरूपको हासिल कर लिया है, उनकी श्रद्धा और भक्ति अपने हृदयमें बिठा कर खुद भी वैसा ही साधन करनेकी चाह अपने मनमें जरूर जमाते हैं। धर्मका साधन तो राग-द्वेष को दूर करने और विषय-कषायोंसे छुटकारा पानेके वास्ते ही होना है, न कि उल्टा उन्हींको पोषनेके वास्ते। इसही कारण वीर भगवानका यह उपदेश था कि कोई गृहस्थी हो या मुनि धर्मात्माको तो हरगिज़ भी किसी भी धर्म-साधनके बदले किसी सांसारिक कार्यकी सिद्धिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। अगर कोई ऐसा करता है तो सब ही करे करायेको मेटकर उल्टा पापोंमें फँसता है। धर्मसेवन तो अपनी आत्मिक शुद्धिके वास्ते ही होता है न कि सांसारिक इच्छाओंकी पूर्तिके वास्ते, जिससे आत्मा शुद्ध होनेके स्थान में और भी ज्यादा खराब होती है—उन्नति करनेके बदले और ज्यादा नीचेको गिरती है। इस कारण जितना भी धर्मसाधन हो वह अपनी इन्द्रियोंको क़ाबूमें करनेके वास्ते ही हो। अधिक धर्म-साधन नहीं हो सकता है तो थोड़ा करो, रागद्वेष बिल्कुल नहीं दबाये जा सकते हैं तो शुभ भाव ही रखो, सबको अपने समान समझ कर सब ही का भला चाहो। दया भाव हृदयमें लाकर सब ही के काम में आओ। किसीसे भी द्वेष और ग्लानि न करके सब ही को धर्म मार्ग पर लगाओ। सांसारिक जायदादकी तरह धर्म बाप-दादाकी मीरासमें नहीं मिलता है और न माल-असबाबकी तरह किसीकी मिलकियत ही हो सकता है। तब कौन किसीको धर्मके जानने या उसका साधन करनेसे रोक सकता है? जो रोकता है वह अपने को ही पापोंमें फँसाता है। घमण्डका सिर नीचे होता है। जो अपनेको ही धर्मका हक़दार समझता है और दूसरोंको दुर-दुर-पर-पर करता है वह आप ही धर्मसे अनजान है और इस घमण्डके द्वारा महापाप कमा रहा है। धर्मका प्रेमी तो किसीसे भी घृणा नहीं करता है। घृणा करना तो अपने धर्म श्रद्धानमें विचिकित्सा नामका दूषण लगाना है। सच्चा धर्मात्मा तो सब ही जीवोंके धर्मात्मा हो जानेकी भावना भाता है। नीचसे नीच और पापीसे पापीको भी धर्मका स्वरूप बताकर धर्ममें लगाना चाहता है। धर्म तो वह वस्तु है जिसका श्रद्धान करनेसे महा हत्यारा चाण्डाल भी देवोंसे पूजित हो जाता है और अधर्मी स्वर्गोंका देव भी गन्दगीका कीड़ा बन कर दुःख सठाता है। इस ही कारण वीर भगवानने तो महानीच गंदे और महा हत्यारे मांस भक्षी पशुओंको भी अपनी सभामें जगह देकर धर्म उपदेश सुनाया। धर्मका यह ही तो एक काम है कि वह पापी को धर्मात्मा बनावे, जो उसे ग्रहण करे वह ही उन्नति करने लग जावे, नीचेसे ऊँचे चढ़ जावे और पूज्य बन जावे। धर्म तो पापियोंको ही बताना चाहिये, नीचों से उनकी नीचता छुड़ाकर उनको ऊपर उभारना चाहिये। जो कोई महानीच-पापियोंको धर्मका स्वरूप बता कर उनसे पाप छुड़ानेकी कोशिश करनेको अच्छा नहीं समझता है, पापसे घृणा नहीं करता है, कठोर

चित्त होकर उनको पापमें ही पड़ा रहने देना चाहता है, वह तो आप ही धर्मसे अनजान और दीर्घ संसारी है। धर्मका द्वार तो सब ही के लिये खुला रहना चाहिये और जितना कोई ज्यादा पापी है उतना ही ज्यादा उसको धर्मका स्वरूप समझानेकी कोशिश करना चाहिये। यही वीर भगवानकी कल्याणकारी शिक्षा थी, जो सर्व प्रिय हो जाती थी।

वीर भगवान्ने यह भी बताया था कि जिस तरह पुराना बीमार इलाज कराता हुआ कभी २ बद परहेज़ी भी कर जाता है और दवा नहीं खाता है, जिससे उस की बीमारी फिर उभर आती है और कभी २ तो पहले से भी बढ़ जाती है तो भी घरवाले उसका इलाज नहीं छोड़ देते हैं किन्तु फिरसे इलाज शुरू करके बराबर उस बीमारीको दूर करनेकी ही कोशिशमें लगे रहते हैं। उस ही प्रकार अगर कोई धर्मात्मा अधर्मी हो जावे, ऊँचे चढ़कर नीचे गिर जावे तो फिर उसको समझा-बुझाकर तसल्ली-तशफ्फी देकर और ज़रूरी सहायता पहुँचाकर धर्ममें लगा देना चाहिये। यह स्थितिकरण भी धर्म श्रद्धानका एक अङ्ग है, जो सच्चे श्रद्धानीमें होना ज़रूरी है। गृहस्थियोंको तो अपने धर्मसे गिर जानेके बहुत ही अवसर आते है। इस वास्ते उनको तो स्थितिकरणके द्वारा फिर धर्ममें लगा देना ज़रूरी है। किन्तु मुनि भी यदि धर्मसे भ्रष्ट हो जावे तो उसको भी फिर ऊपर उठाकर धर्ममें लगा देना चाहिये। उसका छेदोपस्थापन हो जाना चाहिये। अगर ज्यादा ही भ्रष्ट हो गया हो तो दोबारा दीक्षा मिल जानी चाहिये। जिस तरह बच्चा गिर गिर कर और उठ उठ कर ही खड़ा होना सीखता है उस ही प्रकार संसारी जीव भी धर्म ग्रहण करके बार बार गिरकर और फिर संभलकर ही पक्का धर्मात्मा बनता है। सातवें गुण स्थान से छटेमें और छटेसे सातवेमें तो मुनि बार-बार ही गिरता और चढ़ता है और ग्यारहवें गुणस्थान पर चढ़कर तो अवश्य ही नीचे गिर जाता है। तब गिरे हुयेको फिर ऊपर न उठने दिया जाय तो काम किस तरह चले? सबसे पहले जीवको उपशम सम्यक्त्व ही होता है, जो दो घड़ीसे ज्यादा नहीं ठहर सकता है। वह इसके बाद मिथ्यादृष्टि हो जाता है और फिर दो-बारा संभलने से ही सम्यक् श्रद्धानी होता है।

धर्मका स्वरूप समझाते हुये वीर भगवान्ने यह भी बताया था कि, धर्म कोई नौकरी नहीं है जो किसी की आज्ञाओंको पालन करनेसे ही निभ सकती हो या फौज़की क़वायद नहीं है जो शरीरके विशेषरूप साधन से आ सकती हो। या कोई कुशता नहीं है जो शरीरको आगमें तपाने, तरह तरहका कष्ट पहुँचाने, दुबला पतला और कमज़ोर बनाने या धूपमें सुखाने और भूखा मारनेसे बन जाता हो। धर्म तो वस्तुके असली स्वभावका नाम है। जीवका असली स्वरूप ज्ञानानन्द है, जिसमें बिगाड़ आकर और राग द्वेष और विषय-कषायके उफ़ान उठते हैं। इस कारण जिस जिस तरकीबसे विषय-कषायोंका जोश ठण्डा होकर जीवका राग-द्वेष दूर हो सके वह ही धर्म-साधन है। वह ही साधन अपनी अपनी अवस्थाके अनुसार जैसा जिसके लिए ठीक बैठता हो वैसा ही उसको करने लग जाना चाहिये। वीर भगवान्ने भी भिन्न भिन्न साधन बताये हैं। गृहस्थियोंके ११ दर्जे करके उनके अलग अलग साधन सुनाये हैं और १४ गुणस्थानोंका कथन करके मुनियोंके वास्ते भी ध्यान आदिके कई दर्जे बताये हैं। फिर भी यह कथन दृष्टांतरूप बताकर हर एकका साधन उसकी ही अवस्था पर छोड़ा है। इस प्रकार साधन तो सबका भिन्न भिन्न हो गया परन्तु साँचा सबका एक यह ही होना चाहिये कि राग-द्वेष दूर होकर हमारा जीवात्मा अपने असली स्वभावमें आजाय।

प्रत्येक मतके चलाने वालोंने और समय-समयके लीडरोंने अपने समयके सांसारिक रीति रिवाजोंमें भी अपने समयके अनुसार कुछ कुछ सुधार करना ज़रूरी समझा है और उनको पक्का बनानेके लिये धर्म पुस्तकोंमें भी उनको लिख देना ज़रूरी समझा है। जो होते होते धर्मके ही नियम बन जाते हैं, और लकीर के फ़क़ीर दुनियाके लोग भी अपने प्रचलित रीति रिवाजोंको धर्मके अटल नियम मानने लग जाते हैं। इस प्रकार सांसारिक रीति-रिवाज धर्मका रूप धारण करके धर्ममें मिल जाते हैं और यह भेद करना मुश्किल

हो जाता है कि इनमें कौन नियम सांसारिक है और कौन धार्मिक ? इससे धर्मकी असलियत गुम होकर भारी गड़-बड़ी पड़ जाती है, और सांसारिक प्रगति भी रुक जाती है, द्रव्य; क्षेत्र; काल; भाव और अवस्थादि सब कुछ बदल जाने पर भी उन सांसारिक नियमोंको धर्मके अटल नियम मानकर ज्योंका त्यों उनका पालन होता रहता है। हज़ार दुःख उठाने पर भी उनमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। उनके विरुद्ध करना महा अधर्म और अशुभ समझा जाता है।

मकान कैसा बनाया जावे, उसका दरवाजा किधर रक्खा जावे, दरवाजे कितने हों और कितने ऊँचे हो, खूँटी कहाँ लगाई जाय और शरण कहाँ मिलाई जाय, दाढ़ी मूँछ और सिरके बाल किस तरह मुंडाये जावें, उनका क्या ढंग रक्खा जावे, वस्त्राभूषण कैसे हों, सिर किस तरह ढका जाय, कपड़ा किस रंगका पहना जाय, और किस ढंगका पहना जाय, इसी तरह जाति और बिरादरी, आपसका बर्ताव, छूतछात, किस के हाथका पानी पीना, किसके हाथकी कच्ची और और किसके हाथकी पक्की रसोई खाना, रसोईकी सफाई के नियम, किस खानेको कहां बैठकर खाना, किस बर्तनमें खाना, कौन कौन कपड़े पहन कर खाना, किससे ब्याह-शादी करना, मरने पर किसको वारिस बनाना, मरने जीने और ब्याह शादीमें क्या क्या रीति होना, यह सब सांसारिक रीतियें धर्मके तौर पर मानी जाती हैं। और अन्य मतोंकी धर्म पुस्तकोंमें भी लिखी पाती हैं। जिनके कारण धर्मकी असली बातें लोप होकर यह ही धर्मकी बातें बन जाती हैं। इन ही कारणोंमे वीर भगवान्ने अपने उपदेशमें केवल धर्मके स्वरूप और उसके साधनोंका ही कथन किया है। और सांसारिक सारी बातोंको संसारी पुरुषों पर छोड़कर साफ़ साफ़ कह दिया है कि इनका धर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ही कारण है कि जैन ग्रन्थोंमें सांसारिक कार्यों के नियम बिल्कुल भी नहीं मिलते हैं। हां, यह सूचना ज़रूर मिलती है कि गहस्थी लोग अपने लौकिक कार्य समय और अवस्थाके अनुकूल जिस तरह चाहें करें परन्तु इस बातका ध्यान ज़रूर रक्खें कि उनसे उनके धार्मिक श्रद्धान और धार्मिक आचरणोंमें किसी भी प्रकारकी खराबी न आने पावे।

वीर भगवानके समयमें महात्मा बुद्ध भी अपने बौद्ध धर्मका प्रचार कर रहे थे, और मगध देशमें ही अधिकतर दोनों का विहार हुआ है। इस ही कारण वह देश अब विहार ही कहलाने लग गया है,परन्तु वीर भगवान और महात्मा बुद्धके उपदेशोंमें प्रायः धरती-आकाशका अन्तर रहा है। वीर भगवानने तो वस्तु-स्वभावको ही धर्म बताकर प्रत्येक बातको उसकी असलियत अच्छी तरह ढूंढ पहचान कर ही मानने का उपदेश दिया है, जीवात्माको अपना सच्चा स्वरूप समझ कर ही उसकी प्राप्तिके साधन में लगाया है। परन्तु महात्मा बुद्ध अपने धर्मको वस्तु स्वभावकी बुनियाद पर खड़ा करनेसे यहां तक घबराये हैं कि जीवात्माका स्वरूप बतानेसे ही साफ़ इनकार कर दिया है। जगत अनादि है वा किसीका बनाया हुआ है, उसका अन्त हो जायगा वा नहीं, जीव आत्मा शरीरसे अलग कोई वस्तु है वा शरीरके ही किसी स्वभाव का नाम है, मरनेके बाद जीव कायम रहता है या नहीं इन बातोंकी बाबत तो महात्मा बुद्धने साफ़ शब्दोंमें ही कह दिया है कि मैं कुछ नहीं बता सकता हूं इसलिए यह पता नहीं लगता है कि उनका धर्म किस आधार पर टिका हुआ है। बेशक वह अहिंसाका सभी उपदेश देता था, और दया धर्मको मुख्य ठहराता था, परन्तु उस समयमें हिंसाका प्रचार अधिक होनेके कारण उसको यह पाबन्दी लगानेका भी साहस नहीं हुआ कि उसके धर्मको अङ्गीकार करने वालेको मांस का त्याग ज़रूरी है। इसके अतिरिक्त उसने मरे हुए जीवोंका मांस खानेकी तो इजाज़त दे दी थी। किन्तु वीर भगवानने जैनी के लिए माँस, मदिरा और शहद त्याग आवश्यक ठहराया और मरे हुए पशुका मांस खाना भी महापाप बताया, क्योंकि उसमें तुरन्त ही त्रस जीव पैदा होने लगते हैं और मांस खानेसे घृणा न रहकर जीवोंको भी मार कर खाजानेको मन चलने लगता है। इस ही कारण बौद्धोंमें जीते जानवरोंको भी मारकर खाजानेका बहुत

प्रचार हो गया है और अहिंसा का एक नाम ही बाकी रह गया है।

अन्तमें हम सब ही पाठकोंसे प्रार्थना करते हैं कि वह वीर भगवानके उपदेशको पढ़ें और वस्तु स्वभावको समझें। जैनियोंसे भी हमारी यह प्रार्थना है कि आप ही वीर भगवानके उपदेशोंके अमानतदार हैं इस ही कारण इस बातके ज़िम्मेदार हैं कि वीर भगवानने जीव मात्रके कल्याणके अर्थ ३० वर्ष तक ग्राम २ फिर कर जिस धर्म तत्वको सब लोगों को सुनाया, उस समयमें होती हुई हिंसाको बन्द कराकर सुख और शान्ति का मार्ग चलाया वीर भगवानके उस कल्याण कारी तत्व उपदेश को और सुख और शान्तिके देनेवाले उस दया धर्मको आप भी सब तक पहुँचावें। आजकलमें जो हिंसा हो रही है उसका बन्द न होना क्या आप हीकी ग़फ़लतका नतीजा नहीं है? पूरी तरह प्रयत्न करलेने पर भी कार्य की सिद्धि न होनेमें मनुष्य अपनी जिम्मेदारीसे बच जाता है, परन्तु कुछ भी प्रयत्न न करनेकी अवस्थामें तो सारा दोष अपने ऊपर ही आता है।

साहित्य-परिचय और समालोचन

(१) जीतकल्पसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य भूषित)—**लेखक, श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण। संशोधक (संपादक) मुनि श्री पुण्यविजय।** प्रकाशक, भाई श्री बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, हाजापटेलाकी पोल, अहमदाबाद। पृष्ठ संख्या, २२४। मूल्य, लिखा नहीं।

इस ग्रन्थका विषय निर्ग्रन्थ जैन साधु-साध्वियोंके अपराधस्थान विषयक प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। इसमें मूल सूत्र गाथाएँ २०३ और भाष्यकी गाथाएँ २६०६ हैं। मूलकी तरह भाष्यकी गाथाएँ भी प्राकृत भाषामें हैं। भाष्यमें मूलके शब्दों और विषयका प्रायः अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है, और इससे वह बड़ा ही सुन्दर तथा उपयोगी जान पड़ता है। इस भाष्यकी बाबत अभी तक किसीको निश्चितरूपसे यह मालूम नहीं था कि यह किसकी रचना है, क्योंकि न तो इस भाष्यमें भाष्यकारने स्वयं अपने नामका उल्लेख किया, न चूर्णिकारने अपने ग्रंथमें इस भाष्य विषयक कोई सूचना की और न अन्यत्रसे ही ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख मिलता था जिसके आधारपर भाष्यकारके नामका ठीक निर्णय किया जाता। ग्रन्थ सम्पादक मुनि श्री पुण्यविजयजीने अपनी प्रस्तावनामें, इस भाष्यकी गाथा नं० ६०* और उसमें खास तौरसे प्रयुक्त हुए '**हेट्ठा**' शब्द परसे जिसका अर्थ 'पूर्व' होता है, यह निर्णय किया है कि यह भाष्य उन्हीं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका बनाया हुआ है जो आवश्यक-भाष्यके कर्ता हैं, और इसीसे उन्होंने इस गाथामें यह सूचित किया कि '**तिसमयहार**' अर्थात् "**जावइया तिसमया**" (आव० निर्युक्ति० गाथा ३०) इत्यादि आठ गाथाओंका स्वरूप जिस प्रकार पहले (पूर्व) आवश्यक (भाष्य) में विस्तारसे कहा गया है उसी प्रकार यहाँ भी वह वर्णनीय है। क्योंकि आवश्यक निर्युक्तिके अन्तर्गत "**जावइया तिसमया**" आदि गाथाओंका भाष्यग्रन्थ द्वारा, विस्तृत व्याख्यान करने वाले श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके सिवाय दूसरे और कोइ भी नहीं हैं। इससे यह भाष्य मूल ग्रथकारका ही निर्माण किया होनेसे स्वोपज्ञ है। इतनेपर भी यह भाष्य ग्रथ प्रायः कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, पंचकल्पभाष्य, पिण्ड निर्युक्तिआदि ग्रथोंकी गाथाओंका संग्रहरूप ग्रंथ है; क्योंकि इस ग्रथमें ऐसी बहुत गाथाएँ हैं जो उक्त ग्रंथों की गाथाओंके साथ अक्षरशः मिलती जुलती हैं, ऐसा प्रस्तावनामें सूचित किया गया है। साथ ही, यह भी सूचित किया गया है कि श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी महाभाष्यकारके रूपमें ख्याति होते हुए भी प्रस्तुत भाष्य में श्री संघदासगणि कृत भाष्यादि ग्रन्थोंकी गाथाओंके होनेमें कोई बाधा नहीं है; क्योंकि वे उनसे पहले हो चुके हैं। अस्तु, ग्रंथका सम्पादन बहुत अच्छा हुआ है,

* तिसमय हारादीयं गाहाणऽट्ठण्ह वी सरूवं तु।
वित्थरयो वण्णेज्जा जह हेट्ठाऽऽवस्सए भणियं

मूल और भाष्यकी गाथाओंको भिन्न भिन्न टाइपोंमें दिया गया है, विषय सूची अलग देनेके अतिरिक्त ग्रंथमें जहाँपर जो विषय प्रारम्भ होता है वहाँपर उस विषयकी सूचना सुन्दर बारीक टाइपमें हाशियेकी तरफ दे दी है, इससे ग्रन्थ बहुत उपयोगी होगया है। छपाई-सफाई सुन्दर है और कागज भी अच्छा लगा है। ग्रंथ आत्मशुद्धिमें दत्तचित्त साधु-साध्वियोंके अतिरिक्त पुरानी बातोंका अनुसंधान करनेवाले विद्वानोंके संग्रह योग्य है।

(२) निजात्मशुद्धिभावना और मोक्षमार्गप्रदीप (हिन्दी अनुवाद सहित)—मूल लेखक, मुनि कुंथुसागरजी। —अनुवादक, प० नानूलाल शास्त्री, जयपुर —प्रकाशिका, श्री संघवी नानीब्हेन मितवाडा निवासी। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर १८४। मूल्य, स्वाध्याय। मिलनेका पता, प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, 'कल्याण' प्रेस, शोलापुर।

ये दोनों ग्रन्थ एक साथ निबद्ध हैं—पहलेमें ६४ और दूसरेमें १६४ संस्कृत पद्य हैं तथा पिछले ग्रन्थके साथमें ३८ पद्योंकी एक प्रशस्ति भी लगी हुई है, जिसमें लेखकने अपने गुरु आचार्य शान्तिसागरके यशादिकका कीर्तन किया है अपनी दूसरी रचनाओंका उल्लेख किया है और इस ग्रंथका रचना-समय ज्येष्ठ-कृष्ण १३ वीर निर्वाण संवत् २४६२ दिया है। साथ ही, अनुवादक और अनुवादके समयका भी उल्लेख कर दिया है। पहले ग्रंथका रचना-समय उसके अन्तिम पद्योंमें फाल्गुन शुक्ला ३ वीर नि० सं० २४६२ दिया हुआ है।

दोनों ग्रंथ अपने नामानुकूल विषयका प्रतिपादन करनेवाले, रचना-सौन्दर्यको लिये हुए, पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य हैं। अनुवाद भी प्रायः अच्छा ही हुआ है और उसके विषयमें अधिक लिखनेकी कुछ ज़रूरत भी मालूम नहीं होती, जबकि मूलकारने स्वयं उसे स्वीकार किया है और अपनी प्रशस्ति तकमें स्थान दिया है। अनुवादक महाशयने इस ग्रन्थकी एक हजार प्रतियाँ अपनी ओरसे बिना मूल्य वितरण भी की हैं, जिससे उनका ग्रंथके प्रति विशेष अनुराग होनेके साथ साथ सेवाभाव प्रकट है, और इसके लिये वे विशेष धन्यवादके पात्र हैं। ग्रंथकी दूसरी एक हज़ार प्रतियाँ प्रकाशिका नानी ब्हेनकी ओरसे बिना मूल्य वितरित हुई हैं। जिनका चित्र सहित परिचय भी साथमें दिया हुआ है।

लेखकने यह ग्रंथ अपने गुरु आचार्य शान्तिसागरको समर्पित किया है। दोनोंके अलग अलग फोटो चित्र भी ग्रंथमें लगे हुए हैं और पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्रीने अपने 'आद्यवक्तव्य' में दोनोंका कुछ परिचय भी दिया है। परन्तु ग्रंथके साथमें कोई विषय-सूची नहीं है, जिसका होना ज़रूरी था।

(३) धर्मवीर सुदर्शन—लेखक, मुनि श्री अमरचन्द। प्रकाशक, वीर पुस्तकालय, लोहा मंडी, आगरा पृष्ठसंख्या, सब मिला कर ११२। मूल्य, पांच आना।

सेठ सुदर्शनकी कथा जैन समाजमें खूब प्रसिद्ध है। यह उसीका नई तर्ज़के नये हिन्दी पद्योंमें प्रस्फुटित और विशद रूप है। इसमें धर्मवीर सेठ सुदर्शनके कथानकका ओजस्वी भाषामें बड़ा ही सुन्दर जीता-जागता चित्र खींचा गया है। पुस्तक इतनी रोचक है कि उसे पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको मन नहीं होता वह पशु बल पर नैतिक बलकी विजयका अच्छा पाठ पढ़ाती है। पद-पद पर नैतिक शिक्षाओं, अनीतिकी अवहेलनाओं और कर्तव्य-बोधकी बातोंसे उसका सारा कलेवर भरा हुआ है। साथ ही, कविता सरल, सुबोध और वर्णन-शैली चित्ताकर्षक है। लेखक महोदय इस जीवनीके लिखनेमें अच्छे सफल हुए जान पड़ते हैं। प्राचीन पद्धतिके कथानकोंको नवीन पद्धतिमें लिखनेका उनका यह प्रथम प्रयास अभिनन्दनीय है। उन्हें इसके लिखनेकी प्रेरणा अपने मित्र श्री मदनमुनिजीसे प्राप्त हुई थी। प्रेरणाका प्रसंग भी एक स्थान पर होलीके भारी हुल्लड़में सदाचारका हत्याकाण्ड और भारतीय सभ्यताका खून देखकर उपस्थित हुआ था, जिसका 'आत्म निवेदन' में उल्लेख है, और उससे यह भी मालूम होता है कि इस चरित्र ग्रंथका निर्माण राधेश्याम-रामायणके ढंग पर भारतीय गांवोंमें सदाचारका महत्व समझाने-बुझानेके उद्देश्यसे हुआ है।

श्रीमान् दानवीर जैन समाज भूषण स्वर्गीय सेठ ज्वालाप्रसादजी, कलकत्ताकी धर्मपत्नी सेठानी साहिबा के आर्थिक सहयोगसे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। आपने इसका पूरा व्यय 'श्री वीर पुस्तक माला' लोहा मंडी आगराको, जिसका यह ग्रन्थ द्वितीय पुष्प है, प्रदान किया है। और इस तरह एक ग्रंथमालाको अपना कार्य चलानेमें मदद की है, जिसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं। आपके दो छोटे छोटे पुत्रोंका चित्र पुस्तकमें देखकर समाजके हितार्थ लाखों रुपये खर्च करनेवाले सेठ साहबके असमय वियोगकी स्मृति ताज़ा होकर दुःख होता है और इन बच्चोंके चिरायु होने आदिके लिये अनायास ही हृदयसे आशीर्वाद निकल पड़ता है। पुस्तक छपाई, सफ़ाई तथा गेट-अपकी दृष्टिसे भी अच्छी है और सर्व साधारणके पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है।

(४) **श्री आदिनाथ स्तोत्र** (समश्लोकी पद्यानुवादसे युक्त)—अनुवादक, स्व० पं० लक्ष्मणजी अमरजी भट्ट गरोठ। प्रकाशक, सेठ हज़ारीलाल जी हरसुखजी जैन, सुसारी (इन्दौर)। पृष्ठ संख्या, ३४। मूल्य, नित्य पाठ।

यह प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्रका उसी छंदमें रचित हिन्दी पद्यानुवाद है। मूलकी तरह अनुवादका भी एक एक ही पद्य है—मूलका संस्कृत पद्य ऊपर और उसके नीचे अनुवादका पद्य दिया है। अनुवाद साधारण है और कहीं कहीं बहुत कुछ अस्पष्ट जान पड़ता है—मूलके आशयका पूर्ण रूपसे व्यञ्जक एवं प्रभावक नहीं है। नमूनेके तौर पर 'भिन्नेभकुम्भ' नामक ३९वें पद्यका अनुवाद इस प्रकार है—

शार्दूल जो द्विरद मस्तकसे गिराके,
भूभाग भूषित करे गज मौक्तिकोंको।
सो भी प्रहार करदे यदि आश्रितों पै,
होता समर्थ न कदापि त्रिलोकमें भी॥

उक्त पद्यका जो अनुवाद कविवर पं० गिरधर शर्माजी ने किया है वह निम्न प्रकार है—

नाना करीन्द्रदलकुम्भ विदारके की,
पृथ्वी सुरम्य जिसने गज मोतियोंसे।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उसपै,
तेरे पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है॥

इन दोनों अनुवादोंकी मूलके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि गिरिधरशर्माजीका अनुवाद मूलके बहुत अनुकूल तथा भावपूर्ण है। दूसरे पद्योंके, अनुवादकी तुलना परसे भी ऐसा ही नतीजा निकलता है और खूबी यह है कि यह अनुवाद भी उसी छंदमें किया गया है जिसमें कि मूलस्तोत्र निबद्ध है और आजसे बहुत वर्ष पहले वीरनिर्वाण संवत् २४५१ मे मेरी भावनाके साथ छपकर बम्बईसे प्रकाशित भी हो चुका है। ऐसी हालतमें प्रस्तुत पुस्तककी 'दो शब्द' नामकी प्रस्तावनामें साहित्य रत्न पं० भंवरलाल भट्टने अपने पितामहकी इस कृतिका कीर्तन करते हुए और इस प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा कुशल काव्यज्ञानका फल बतलाते हुए जो यह कल्पना की है कि समश्लोकी अनुवादकी कठिनाईके कारण ऐसे अनुवादको असंभव समझकर ही अब तक इस काव्यके समश्लोकी अनुवाद न किये गये होंगे, वह निःसार जान पड़ती है। अस्तु, यह पुस्तक जैन महिलादर्शके १८वें वर्षके ग्राहकोंको श्री० सौ० नाथीबाईजी धर्मपत्नी सेठ हरसुखजी रोडमल जी सुसारीकी ओरसे भेटस्वरूप वितरित हुई है।

(५) **गोम्मटसार कर्मकांड**—(मराठी सस्करण) मूल लेखक, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। अनुवादक और प्रकाशक श्री नेमचन्द बालचन्द गांधी वकील, धाराशिव। बड़ा साइज पृष्ठ संख्या ५२४ मूल्य सजिल्द का ५) रु०।

यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवादादिके साथ अनेक बार प्रकाशित हो चुका है और जैन समाजका कर्म साहित्य विषयक एक प्रधान ग्रंथ है। अभी तक मराठी भाषामें इसका कोई अनुवाद नहीं हुआ था। इसका यह मराठी संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। इसमें मूल ग्रन्थकी गाथाओंके साथमें क्रमशः अनुवाद देनेकी पद्धतिको नहीं अपनाया गया है, बल्कि गाथा अथवा गाथाओंके नम्बर देकर उनके विषयका यथावश्यकता

अनुवाद, व्याख्यान तथा कोष्टकों आदिकी रचना-द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। एक विषयको एक ही स्थान पर जानेके लिये अनेक गाथाओंका सार एक दम दिया गया है। और इसी प्रकार अनेक गाथाओंके विषयको मिला कर एक ही कोष्टक भी करना पड़ा है। गाथाओंको क्रमशः अनुवाद पूर्वक साथ साथ देने पर ऐसा करनेमें दिक्कत होती थी, इस कठिनाईको दूर करनेके लिये सब गाथाओंको क्रम पूर्वक अधिकार-विभाग-सहित एक साथ (पृ० ४६६ से ५१२ तक) अलग दे दिया है। कोष्टकोंके निर्माणसे विषयको समझने ग्रहण करनेमें पाठकों तथा विद्यार्थियोंको आसानी हो गई है। इस संस्करणमें संदृष्टि आदिको लिये हुए २४५ कोष्टक दिये गये हैं, कोष्टकोंका निर्माण बड़े अच्छे ढंगसे किया गया है और उनमें विषय दर्पणकी तरह प्रायः साफ़ झलकता है। जहां कोष्टककी किसी विषयको विशेष स्पष्ट करनेकी जरूरत पड़ी है वहाँ उसका वह स्पष्टीकरण भी नीचे दे दिया गया है। इस तरह इस ग्रंथको परिश्रमके साथ बहुत उपयोगी बनाया गया है। जो लोग मराठी नहीं जानते वे भी इस ग्रंथके कोष्टकों परसे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं।

इस ग्रंथको लिखकर तैयार करनेमें ७॥ वर्षका समय लगा है, जिसमें पं० टोडरमलजी की भाषा टीका और श्री केशववर्णी तथा अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की संस्कृत टीकाका ब्र० शीतलप्रसादजी से अध्ययन काल भी शामिल है। अध्ययन कालके साथ साथ ही भाषान्तर (अनुवाद) का कार्य भी होता रहा है। ता० २० जुलाई सन् १९२९से कार्य प्रारम्भ होकर २२ फरवरी सन् १९३७ को समाप्त हुआ है। इस संस्करणके तैयार करनेमें वकील श्री नेमिचंद बालचंद्र जी गाँधी जीको जो भारी परिश्रम करना पड़ा है उसके लिये आप विशेष धन्यवादके पात्र हैं। आपने इसके लिये ब्र० शीतल प्रसादजीका बहुत आभार माना है और यहाँ तक लिखा है कि इसमें जो कुछ भी अच्छी बात है उस सबका श्रेय उक्त ब्रह्मचारीजीको है। अतः ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी भी ऐसे सत्कार्यमें सहयोग देनेके कारण खासतौरसे धन्यवादके पात्र हैं।

ग्रन्थमें एक छोटासा (५ पृष्ठका) शब्दकोश भी लगा हुआ है, जिसम दो भाग हैं—पहलेमें कुछ शब्दों का अर्थ मराठी भाषामें दिया है और दूसरेमें कुछ शब्दों के अर्थके लिये उन गाथाओंके नम्बर सामने लिखे हैं जिनमें उनका अर्थ दिया है। साथ ही '२१ पेजकी' विस्तृत विषय सूची भी लगी हुई है जिसमें ग्रंथके ४०७ विषयोंका उल्लेख है, दोनों ही उपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त ६ पेजका शुद्धिपत्र और ३ पेजका "मीं काय केलें" नामका अनुवादकीय वक्तव्य भी है। इस वक्तव्य में मूल ग्रंथका निर्माणकाल ईसाकी आठवीं शताब्दी बतला दिया गया है, जो किसी भूलका परिणाम जान पड़ता है, क्योंकि जिन चामुण्डरायके समयमें इस ग्रंथकी रचना हुई है उनका समय ईसाकी दसवीं शताब्दी है—उन्होंने शक सम्वत् ९०० (ई० ९७८) में 'चामुण्डराय पुराण'की रचना समाप्त की है।

ग्रंथमें गाथाओंको जो एक साथ मिलाकर Running matter के तौरपर—छापा गया है वह कुछ ठीक मालूम नहीं हुआ। प्रत्येक गाथाको दो पंक्तियोंमें छापना अच्छा रहता—थोड़े ही कागजका फर्क पड़ता। गाथाओंकी एक अनुक्रमणिका भी यदि ग्रंथमें लगादी जाती तो और अच्छा होता। अस्तु।

ग्रन्थकी छपाई सफाई और कागज़ सब ठीक है और वह सब प्रकारसे संग्रह करनेके योग्य है।

Register No L 4328

अनुकरणीय

गत वर्ष कई धर्म-प्रेमी दाताओंकी ओरसे १२१ जैनेतर संस्थाओंको अनेकान्त एक वर्ष तक भेंट स्वरूप भिजवाया गया था। हमें हर्ष है कि इस वर्ष भी भेंट स्वरूप भिजवाते रहनेका शुभ प्रयास होगया है। निम्न सज्जनोंकी ओरसे जैनेतर संस्थाओंको भेंट स्वरूप अनेकान्त भिजवाया गया है।

अनेकान्त पर आए हुए लोकमतसे ज्ञात हो सकेगा कि अनेकान्तके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है। जितना अधिक अनेकान्तका प्रचार होगा उतना ही अधिक सत्य शान्ति और लोक हितैषी भावनाओंका प्रचार होगा। अनेकान्तको हम बहुत अधिक सुन्दर और उन्नतिशील देखना चाहते हैं। किन्तु हमारी शक्ति बुद्धि हिम्मत सब कुछ परिमित हैं! हमें समाज हितैषी धर्म बन्धुओंके सहयोगकी अत्यन्त आवश्यकता है। हम चाहते हैं समाजके उदार हृदय बन्धु जैनेतर संस्थाओं और विद्वानोंको प्रचारक दृष्टिसे अनेकान्त अपनी ओरसे भेंट स्वरूप भिजवाएँ और जैन बन्धुओंको अनेकान्तका ग्राहक बननेके लिए उत्साहित करें। ताकि अनेकान्त कितनी ही उपयोगी पाठ्य सामग्री और पृष्ठ संख्या बढ़ानेमें समर्थ हो सके। लड़ाईकी तेजीके कारण जबकि पत्रोंका जीवन संकटमय हो गया है, पत्रोंका मूल्य बढ़ाया जा रहा है। तब हम मंहगीके जमानेमें भी प्रचारकी दृष्टिसे केवल ३) रु० वार्षिक मूल्य लिया जा [illegible]। इस पर भी जैनेतर विद्वानों शिक्षण संस्थाओं और पुस्तकालयोंमे भेंट स्वरूप भिजवाने वाले दानी महानुभावोंसे ढाई रुपया वार्षिक ही मूल्य लिया जायगा। किन्तु यह रियायत केवल जैनेतर संस्थाओंके लिये अमूल्य भिजवाने पर ही दी जायेगी। समाजमें ऐसे १०० दानी महानुभाव भी अपनी ओरसे सौ-सौ, पचास-पचास अथवा यथाशक्ति भेंट स्वरूप भिजवानेको प्रस्तुत हो जाएँ तो 'अनेकान्त' आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है। जैनेतरोंमें अनेकान्त जैसे साहित्यका प्रचार करना जैनधर्मके प्रचारका महत्वपूर्ण और सुलभ साधन है।

बा० मोहनलालजी जैन देहली की ओर से:—

१. लायब्रेरियन, महावीर जैन पुस्तकालय, चादनी चौक देहली।

ला० चिरञ्जीलालजी बड़जात्या, वर्धा की ओरसे:—

१. सैक्रेटरी, मारवाड़ी लायब्रेरी चाँदनी चौक देहली।

साहू अजितप्रसाद इन्द्रसैन जैन नजीबाबाद की ओरसे:—

१. मंत्री, गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज पुस्तकालय बनारस।

२. मंत्री, महाराणा कालेज पुस्तकालय उदयपुर।

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली।

चैत्र, वीर नि० सं० २४६६
अप्रैल १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ६
वार्षिक मूल्य ३ रु०

वीर-स्तवन

[१]

जयति जिनेश-पद-पदम पराग रेणु,
परसि परम-पापी पावन पलाये हैं।
वानसे प्रचण्ड-चण्ड-चण्डकोश नागपति,
पल माँहि घोर क्रूर भाव विसराये हैं॥
विनय-विनत-नर अमर चमर-इन्दू-
माथके मुकुट चूम जाहि शोभा पाये हैं।
भवके गहन जल-निधिमें शरण-हीन
पोतसम तिन्हें भवजलसे तिराये हैं॥

[२]

रजनि भयावनीमें गाजे घनघोर घन,
घन अन्धकार सब तारागण मन्दजी।
कड़-कड़ कड़क सौदामिनि-दमक घोर,
जग-जीव काँपें, यह कैसो दुःख-कन्दजी॥
दुख दलिवेको तब प्रकटे हैं वीर मानो-
वीर घन-चीवरको पूनमके चन्द जी।
जयति जिनन्द जगजीवके आनन्द-कन्द,
टारे भव-फन्द-द्वन्द, त्रिशलाके नन्दजी॥

[३]

कौन पोत-सम भव-जलसे उतारे पार?
कौन मेघ-सम जग-ज्वालन बुझात है?
कौन महा-मोह व्याधि शमन करन-हित-
चतुर भिषग-सम भेषज बहात है?
संसार गहन निरजन बन-बीच भूले-
जनको दे शान्ति कौन मारग सुझात है?
कहत 'बसन्त'-सम कौन उपवन-हित
तजि वीर-पादपद्म और न लखात है॥

[४]

कौन चिन्तामणि-सम पूरे जन-मन-काज?
कौन दिनमणि-सम मोहको नसात है?
कौन हिमकण-सम तप्त-जन-मुदकारी?
कौन इन्दु-सम भवि-चकोर सुहात है?
कौन सिंह-सम कर्म-करिको विदारे कुम्भ?
कौन अरविन्द संत भ्रमर लुभात है?
चातकको मेघ-जिम कहत 'बसन्त' ताहिं
तजि वीर-पाद-पद्म और न लखात है॥

[ले०—श्री० बसन्तीलाल न्यायतीर्थ]

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय।

विषय-सूची

पृष्ठ

१. उमास्वाति-स्मरण ३७७

२. श्वेताम्बर कर्म-साहित्य और दिगम्बर पंचसंग्रह [पं० परमानन्दजी ३७८

३. धर्माचरणमें सुधार [बा० सूरजभान वकील ३८५

४. महावीर-गीत (कविता)—[शान्तिस्वरूप जैन "कुसुम" ३८९

५. अहिंसा [श्री० बसन्तकुमार एम. एस. सी. ३९०

६. संसारमें सुखकी वृद्धि कैसे हो ? [श्री दौलतराम मित्र ३९२

७. प्रभाचन्दका तत्त्वार्थ सूत्र [सम्पादकीय ३९३

८. मोक्ष-सुख [श्रीमद् रायचन्द ४०७

९. वीर-श्रद्धाञ्जलि [श्री रघुवीरशरण एम. ए. 'घनश्याम' ४०८

१०. प्राकृत पंचसंग्रहका रचना-काल [प्रो० हीरालाल जैन एम.ए. ४०९

११. प्रश्न (कविता)—[श्री रत्नेश विशारद ४१०

१२. साहित्य सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन दर्शन [पं० रतनलाल संघवी ४११

१३. वीरका जीवन मार्ग [बा० जयभगवान बी. ए एल. एल. बी. वकील ४१४

१४. वीर स्तवन (कविता)— [श्री बसन्तीलाल न्यायतीर्थ .. ... टाइटिल पृष्ठ १

१५. साहित्य परिचय और समालोचन ... ... „ „ ३

सूचना—

विलम्ब होनेके कारण इस किरणमें १६ पृष्ठ कम जा रहे हैं, उनकी पूर्ति आगामी किरणोंमें करदी जावेगी।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर | किरण ६

प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० न० ४८, न्यूदेहली

चैत्र-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९७

उमास्वाति-स्मरण

तत्त्वार्थसूत्र-कर्तारमुमास्वाति-मुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुण मन्दिरम् ॥

—नगरताल्लुक शिलालेख नं० ४६

तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उन उमास्वाति मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ—उनके श्रीचरणोंमें नतमस्तक होता हूँ—जो गुणोंके मन्दिर थे और क़रीब क़रीब श्रुतकेवली थे ।

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥

—श्रवणबेलगोल शिलालेख नं० १०५

श्रीमान् उमास्वाति वे मुनीन्द्र हैं जिन्होंने उस तत्त्वार्थसूत्रको प्रकट किया है जो कि मुक्तिमार्ग पर चलने को उद्यमी प्रजाजनों के लिये मूल्यवान पाथेय (कलेवा) के समान है—मोक्षमार्ग पर चलनेके लिये कमर कसे हुओं की आवश्यकताको पूरा करता हुआ उन्हें चलनेमें समर्थ बनाने वाला है ।

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येनजिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृध्रपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छं ॥

—श्रवणबेलगोल शिलालेख नं० १०८

उन (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) के पवित्र वंशमें वे उमास्वाति मुनि हुए हैं जो संपूर्ण पदार्थोंके जानने वाले थे, मुनिपुंगव थे और जिन्होंने जिनदेव-प्रणीत आगमके संपूर्ण अर्थसमूहकी सूत्ररूपमें रचना की है । वे प्राणियों की रक्षामें बड़े सावधान थे और इसके लिये उन्होंने एक बार पिंछी के रूपमें गृध्रके परोंको धारण किया था, उस वक्त से बुध-जन आपको 'गृध्रपिच्छाचार्य' कहने लगे थे ।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य
और
दिगम्बर 'पंचसंग्रह'

[ले०—पं० परमानन्द शास्त्री]

बंधशतक और पंचसंग्रह

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें 'कर्मप्रकृति' ग्रंथके कर्ता आचार्य शिवशर्म माने जाते हैं, और आपको पूर्वधर भी बताया जाता है। आप कर्म साहित्यके विशेषज्ञ होते हुए अन्य सिद्धान्त आदि विषयोंमें भी अच्छी योग्यता रखते थे। आपका समय यद्यपि पूरी तौरसे निर्णीत नहीं है, फिर भी संभवतः विक्रमकी ५वीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। 'कर्मप्रकृति' ग्रन्थके अवलोकन करनेसे आपकी विद्वत्ताका यथेष्ट परिचय मिल जाता है। इस ग्रंथकी रचना सुसम्बद्ध है और प्रतिपाद्य विषयके अच्छे प्रतिपादनको लिये हुए है। इसमें जिस रूपसे बध-उदय, उदीरणा, सक्रमण और उपशम आदिका वर्णन दिया है वैसा सूत्रबद्ध, संक्षिप्त कथन अन्य श्वेताम्बरीय कर्म ग्रन्थोंमें बहुत ही कम देखनेमें आता है। इन्हीं आचार्य-द्वारा संकलित एक 'शतक' नामका प्रकरण भी कहा जाता है* जो इस समय मेरे सामने उपस्थित है। इस ग्रंथमें बंध कथनकी प्रधानता होनेसे इसका नाम 'बध-शतक' भी रूढ हो गया है। परन्तु इस शतक प्रकरणकी रचनाका सामञ्जस्य 'कर्मप्रकृति' के साहित्य आदिके साथ ठीक नहीं बैठता। जो गम्भीरता और सूत्र-कथन-शैली कर्मप्रकृतिमें है वह इस शतक प्रकरणमें उपलब्ध नहीं होती, और इससे इसके शिव-शर्मकर्तृक होनेमें संदेह होता है। ऐसा मालूम होता है कि यह 'शतक' प्रकरण किसी अन्य के द्वारा ही संग्रह किया गया है। इसके शुरुमें मगलाचरण और ग्रंथप्रतिज्ञाकी जो गाथा पाई जाती है वह इस प्रकार है—

> **अरहन्ते भगवन्ते अणुत्तरपरक्कमे पणमिऊणं।**
> **बंधसयगे निबद्ध संग्रह मिणमो पवक्खामि॥**

इस गाथामें अणुत्तर पराक्रम वाले अरहंत भगवान् को नमस्कार करके बधशतकमे निबद्ध इस संग्रहको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है, इससे इस ग्रंथके एक संग्रह ग्रंथ होने में तो कोई संदेह मालूम नहीं होता। परन्तु

* आचार्य मलधारी हेमचन्द्र जो इस शतक प्रकरणके टीकाकार हैं उन्होंने इस ग्रंथ की गाथासंख्या १०० बतलाई है जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे स्पष्ट है :-"श्री शिवशर्म सूरिभिः संक्षिप्ततरं सुखावबोधं च गाथाशतपरिमाणनिष्पन्नं यथार्थनामकं शतकाख्यं प्रकरणमभ्यधायीति"। जब कि इस प्रकरणकी गाथासंख्या मंगलाचरणकी गाथा सहित १०८ होती हैं। यदि मंगलाचरणकी गाथाको मूलग्रंथकी न मानी जावे तो भी गाथाओंकी संख्या १०७ होती हैं जिसका 'गाथाशत परिमाणनिष्पन्नं' वाले वाक्यके साथ विरोध होता है।

प्रश्न यह है कि वह संग्रह किसका किया हुआ है और कहांसे किया गया है। सटीक प्रतिमें उक्त गाथा पर कोई नम्बर नहीं दिया और न चूर्णीकारने इसकी व्याख्या ही की है। इसीलिये मलधारी हेमचन्द्रने इसकी टीका नहीं की और लिखा है कि 'यह गाथा इस ग्रंथके शुरुमें देखी जाती है परन्तु उसकी व्याख्या पूर्व चूर्णीकारने नहीं की, इसलिये उक्त गाथा प्रक्षिप्त मालूम होती है और सुगम भी है', ऐसा लिखकर उसके दो-तीन पदोंकी साधारण व्याख्या दी है। इससे स्पष्ट है कि मलधारी हेमचंद्र भी इस गाथाको मूल ग्रंथकी माननेमें संदिग्ध थे। अस्तु, यदि इस गाथाको मूल ग्रंथकी मानना इष्ट नहीं है तो इस ग्रंथके शिवशर्म-कर्तृक होनेकी हालतमें मंगलाचरणकी कोई दूसरी गाथा होनी चाहिये। क्योंकि आचार्य शिवशर्मने अपनी 'कर्मप्रकृति' में मंगलाचरण किया है*। यह नहीं हो सकता कि एक हीग्रंथकार अपने एक ग्रंथमें तो मंगलगानपूर्वक ग्रंथ रचनेकी प्रतिज्ञा करे और दूसरेमें न मंगलगान करे और न ग्रंथ रचनेकी कोई प्रतिज्ञा ही करे। जब मंगलादिककी दूसरी कोई गाथा नहीं है तब या तो इस ग्रन्थको शिवशर्मकृत न कहना चाहिये। और या यह मानना चाहिये कि उक्त गाथा इसी ग्रंथकी गाथा है और उसके कथनानुसार यह ग्रन्थ एक संग्रह ग्रंथ है। दोनों हालतोंमें यह ग्रंथ शिवशर्मकृत नहीं ठहरता; क्योंकि यह ग्रंथ जैसा कि आगे प्रकट किया जायगा, अर्थशः नहीं किन्तु शब्दशः इतना अधिक संग्रहग्रंथ है कि इसे शिवशर्म-जैसे आचार्यकी कृति नहीं कहा जा सकता। उनके कर्मप्रकृति ग्रंथकी पद्धति-कथनशैली और साहित्यके साथ इस

* सिद्धं सिद्धत्थसुयं वंदियणिद्धो य सव्वकम्ममलं।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठुदय संताणि वोच्छामि॥
—कर्मप्रकृति १

का कोई मेल भी नहीं बैठता और इसलिये इसका संग्रह किसी दूसरे ही विद्वान्ने किया है। कहाँसे किया है, इसका कुछ दिग्दर्शन आगे कराया जाता है।

दि० जैन सम्प्रदायमें प्राकृत पंचसंग्रह नामका जो एक प्राचीन कर्मग्रंथ उपलब्ध है और जिसका संक्षिप्त परिचय अनेकान्तके इसी वर्षकी तीसरी किरणमें 'अति प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' शीर्षकके नीचे कराया जा चुका है, उसके 'शतक' नामक चतुर्थ प्रकरण की, जिसमें १०० बातें ३०० गाथाओंमें वर्णित हैं, ६४गाथाएँ इस 'शतक' नामक प्रकरणमें प्रायः ज्योंकी त्यों अथवा कुछ थोड़ेसे पाठ-भेद या सामान्य शब्द-परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं। उनमें एक गाथा ऐसे परिवर्तनको भी लिये हुए है जिसमें थोड़ासा साधारण मान्यता भेद उपलब्ध होता है और जो सम्प्रदाय-विशेष की मान्यताका सूचक है।

प्राकृत पंचसंग्रहकी जो गाथाएँ उक्त 'शतक' अथवा 'बन्धशतक' में पाई जाती हैं उनमेंसे तीन गाथाएँ यहाँ नमूनेके तौर पर नीचे दी जाती हैं:—

चोद्दससरायचरिमे पंचणियट्टीणियट्टि एयारं।
सोलसमं दुगुभायं संजमगुणपत्थिओ जयइ॥
—प्रा० पञ्चसं० ४, ४७०

चोद्दससरागचरिमे पंचमनियट्टिनियट्टि एक्कारं।
सोलसमं दुग्गभागा संजमगुणपत्थिओ जयइ॥
—बन्धशतक, ७४

आहारमप्पमत्तो पमत्तसुद्धो दु अरइ सोयाणं।
सोलस माणुस तिरिया सुर णिरया तमतमा तिण्णि॥
—प्रा० पञ्चसं०, ४, ४७६

आहारमप्पमत्तो पमत्तसुद्धो उ अरइ सोगाणं।
सोलस माणुसतिरिया सुरनारग तमतमा तिन्नि॥
—बन्धशतक, ७५

सम्माइट्ठी मिच्छो व अट्ठ परियत्तमज्झिमो जयइ ।
परियत्तमाण मज्झिम मिच्छाइट्ठी दु तेवीसे ॥

—प्रा० पंचस०, ४, ४८३

सम्माइट्ठी मिच्छो व अट्ठ परियत्त मज्झिमो जयइ ।
परियत्तमाण मज्झिम मिच्छदिट्ठी उ तेवीसं ॥

—बन्धशतक, ७६

इनके सिवाय, पंचसंग्रहकी गाथाएँ नं० ३, ४, ५, ६, २०, ५५, ५६, ६६, ७६, ७७, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०६, २१०, २१३, २१६, २२०, २२१, २२३, २२४, २, ४, २३०, २३१, २३६, २३७, ३०२, ३०३, ३०६, ३१८, ३२१, ३२२, ४२४, ४२६, ४२७, ४२८, ४२६, ४३०, ४३१, ४३५, ४३६, ४३७, ४४५, ४४६, ४४७, ४५१, ४५४, ४५५, ४६६, ४७०, ४७६, ४७६, ४८०, ४८३, ४८८, ४६५, ४६७, ४६६; ५००, ५०५, ५०६; ५११, ५१४, ५१६, ५१६, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, <u>बंध शतकमें क्रमशः</u> नं० १, २, ३, ५, ६, ६, १०, ११, १४, १५, १६, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, ३०, ३१, ३२, ३४, ३५, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५; ४७, ४६, ५०, ५१, ५५, ५६, ५७, ५८, ६०, ६१. ६२, ६३, ६४, ६५, ६६ ६८, ६६, ७०. ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७६, ८२, ८७, ८८, ६०, ६१; ६५, ६७, ६६, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, पर पाई जाती हैं।

इनके अतिरिक्त जिन गाथाओंमें कुछ उल्लेखनीय पाठभेद उपलब्ध है उनमेंसे नमूनेके तौरपर दो गाथाएं नीचे दी जाती हैं:—

आवरणदेसघायंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।
चउविहभावपरिणया तिभावसेसा सयं तु सत्तहियं ॥

—प्रा० पचसग्रह ४८६

आवरणदेसघायंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।
चउविहभावपरिणया तिविह परिणया भेव सेसा ॥

—बन्धशतक, ८६

तिरियारमिच्छेयारइसुर मिच्छो तिरिया जयइ पयडीओ
उज्जोवं तमतमगा सुरणेरइया हवे तिरिय ॥

—प्रा० पंचसंग्रह ४६६

पंचसुर सम्मदिट्ठी सुरमिच्छोतिन्नि जयइ पयडीओ ।
उज्जोयं तमतमगा सुरणेरइया भवे तिण्हं ॥

—बंधशतक, ७३

इसी प्रकार पंचसग्रहकी गाथाएँ नं० ४०, ५४, २१८, २२२; २२५, ३०४, ३१३, ४२३, ४६३, ४८६, ४८७, ४६८, ५०२, ५०७, ५१३, भी थोड़से पाठ भेदके साथ <u>बंधशतकमें क्रमशः</u> नं० ७, ८, २६, ३३, ३६. ४६, ४८, ५४, ७१, ८०, ८१, ८६, ६३, ६६, ६८, पर उपलब्ध होती हैं।

नीचे वह गाथा भी दी जाती है जिसमें मान्यता-भेदको लेकर कुछ साधारणसा परिवर्तन किया गया जान पड़ता है:—

आउक्कस्स पदेसं छच्चं मोहस्स णव दु ठाणाणि ।
सेसाणि तणु कसाओ बधइ उक्कस्स जोगेण ॥

—प्रा० पंचसंग्रह, ५०५

आउक्कस्स पएसस्स पंच मोहस्स सत्त ‡ ठाणाणि ।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोसए जोगे ॥

—बंधशतक, ६४

‡ बंध शतककी इस ६४ नं० की गाथाकी टीका करते हुए आचार्य मलधारी हेमचंद्रने लिखा है-'**अन्ये तु सास्वादनमिश्रावपि संगृह्य''मोहस्स णवदु ठाणाणि'' त्ति पठन्ति**'। इससे स्पष्ट है कि उक्त संस्कृत टीकाकारके सामने मोहके नवस्थानोंका निर्देश करनेवाला प्राकृत पंचसग्रहका अथवा अन्य कोई दिगम्बरीय पाठ अवश्य रहा है इसी कारण टीकाकारने उक्त सूचना दी है।

कर्मस्तव और पंचसंग्रह

श्वेताम्बरीय सम्प्रदायमें 'कर्मस्तव' नामका एक छोटा सा कर्मविषयक प्रकरण और भी है, जिसके कर्ता तथा रचनाकालका कोई पता नहीं और जिसे द्वितीय प्राचीन कर्मग्रन्थके नामसे कहा जाता है। परन्तु इस प्रकरणका यथार्थ नाम 'बन्धोदय-सत्व-युक्त-स्तव' जान पड़ता है। जैसा कि उसके **'बन्धुदयसंतजुत्तंवोच्छामि थयं निसामेह'** पदसे मालूम होता है *। इस प्रकरण में बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तारूप प्रकृतियों का सामान्य कथन किया गया है। इसकी कुल गाथासंख्या ५५ है ‡। परन्तु उक्त प्रकरणमें बंध और उदयादिके कोई लक्षण या स्वरूप निर्देश नहीं किये गये जिनके निर्देशकी वहाँ पर निहायत जरूरत थी। और इस लिये उसमें बंध उदयादिके स्वरूपादिक का न होना बहुत खटकता है। इतना ही नहीं, किन्तु ग्रंथकी अपूर्णता और अव्यवस्थाको भी सूचित करता है; क्योंकि उसमें मंगलाचरणके बाद एकदम बिना किसी पूर्व सम्बन्धके दूसरी गाथा में ही बंधसे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों की संख्या गुणस्थानक्रमसे बतला दी है। इसके सिवाय, उसकी एक बात और भी खटकती है और वह यह कि बन्ध व्युच्छिन्न, उदय-व्युच्छिन्न और उदीरणारूप प्रकृतियोंकी संख्या गिनानेके बाद ६ वीं गाथामें मूल कर्मप्रकृतियोंके आठ नाम दिये हैं और १० वीं गाथामें उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या बताई है, जिन सबका वहाँ उस प्रकरणके साथ कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता, ऐसी स्थितिमें उक्त प्रकरण किसी दूसरे ही ग्रन्थ परसे संकलित किया गया है और उसका संकलन-कर्ता मोटी मोटी त्रुटियोंके कारण कोई विशेष बुद्धिमान मालूम नहीं होता। वह दूसरा ग्रन्थ जहाँ तक मैंने अनुसंधान किया है, दिगम्बर जैन समाजका 'प्राकृत पंचसंग्रह' जान पड़ता है। उसमें 'बन्धोदय-सत्व युक्त-स्तव' नामका ही एक तृतीय प्रकरण है, जिसकी कुल गाथा संख्या ७८ है। इस प्रकरणमें मंगलाचरणके बाद बंध, उदय, उदीरणा और सत्ताका सामान्य स्वरूप दिखाकर तीन चार गाथाओं-द्वारा उनके विषयका कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया है। पश्चात् उसमें यथाक्रम बन्धादिसे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों का खुलासा कथन किया है और साथमें अंक-सहष्टि भी होनेसे वह विशेष सुगम तथा उपयोगी हो गया है। और इस तरहसे पंचसंग्रह का वह प्रकरण सुसम्बद्ध और नामकरणके अनुसार अपने विषयका स्पष्ट विवेचक है। जो बातें श्वेताम्बरीय 'कर्मस्तव' को देखनेसे खटकती हैं और असंगत जान पड़ती हैं वे सब यहाँ यथास्थान होनेसे सुसंगत और सुसम्बद्ध जान पड़ती हैं। पंचसंग्रहके इस प्रकरणकी ५३ गाथाएं साधारणसे कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ प्रायः ज्योंकी त्यों उक्त श्वे० 'कर्मस्तव' में पाई जाती हैं। और पंचसंग्रहके 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' नामक अधिकारकी दो गाथाएं नं० २ और ४ हैं, जो मूल प्रकृतियोंके नाम तथा उत्तर प्रकृतियोंकी संख्याकी निर्देशक हैं, वे

---

* प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने भी द्वितीय कर्मग्रन्थकी प्रस्तावनामें 'ग्रन्थ रचनाका आधार' शीर्षकके नीचे 'कर्मस्तव' नामके द्वितीय प्राचीन कर्म ग्रन्थका असली नाम 'बन्धोदय-सत्व-युक्त स्तव' ही लिखा है। देखो, कर्मस्तव नामक द्वितीय ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ०४

‡ इसकी मुद्रित मूल प्रतिमें गुणस्थानोंके नाम वाली दो गाथाओंको शामिल करके गाथा संख्या ५७ दी है। परन्तु टीकाकारने उनपर कोई टीका नहीं लिखी, इस कारण उन्हें प्रक्षिप्त बतलाया जाता है।

कर्मस्तवमें ६, १० नं० पर पाई जाती हैं। इस तरहसे उक्त कर्मस्तव ग्रन्थ में ५५ गाथाओंका जो संकलन हुआ है वह सब इसी पचसंग्रह परसे हुआ जान पड़ता है। पाठकोंकी जानकारीके लिये तुलनाके तौर पर यहां दो गाथाएं दी जाती हैं:—

मिच्छणउंसयवेयं णिरयाऊ तहय चेव णिरयदुगं।
इगि वियलिंदियजाई हुंडमसपत्तमायावं॥
थावर सुहुमंच तहा साहारणयं तहेव अपज्जत्तं।
ए ए सोलह पयडी मिच्छम्मि य बंध-वुच्छेओ॥

—प्रा० पंचस० ३, १५, १६

मिच्छनपुंसगवेयं नरयाउं तहयचेव नरयदुगं।
इग वियलिंदिय जाई हुंडमसंपत्तमायावं॥
थावरसुहुमं च तहा साहारणयं तहेव अपज्जत्तं।
एया सोलह पयडी मिच्छंमि य बंधवोच्छेओ॥

—कर्मस्तव, ११, १२

इसी तरहसे प्राकृत पंचसंग्रहकी गाथाएं नं० १, ११, १२, २६, ५०, ५१, ५२, ५३, २, ४, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५५, ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, कर्मस्तवमें क्रमशः नं० १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, पर ज्योंकी त्यों रूपसे उपलब्ध होती हैं।

सप्ततिका और पंचसंग्रह

श्वेताम्बरीय कर्म ग्रंथोंमें 'सप्ततिका' नामका भी एक प्रकरण ग्रन्थ है। जिसे प्राचीन षष्ठ कर्मग्रन्थ भी कहते हैं। इसकी कुल गाथा संख्या ७५ है। इस प्रकरणके संकलन-कर्ता आचार्य चन्द्रर्षि माने जाते हैं। कहा जाता है कि आपने स्वयं इस पर २३०० श्लोक प्रमाण एक टीका भी लिखी है। परन्तु वह अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आई। आचार्य चन्द्रर्षि कर्मसाहित्यके अच्छे विद्वान थे। 'पंचसंग्रह' नामकी आपकी कृतिका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें विशेष आदर है। यह पंचसंग्रह उक्त दिगम्बर पंचसंग्रहसे भिन्न है। इस पंचसंग्रहमें शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म, और कर्मप्रकृतिलक्षण नामक ग्रंथोंका; अथवा योग, उपयोग-मार्गणा, बन्धक, बधव्य, बन्धहेतु और बन्धविधिरूप प्रकरणोंका संग्रह कियागया है*। जिससे इसका पंचसंग्रह नाम अधिक सार्थक जान पड़ता है। इस ग्रन्थकी कुल गाथा संख्या ६६१ है। इसपर ग्रंथकर्ताने खुद ६००० श्लोक प्रमाण एक टीका लिखी है जो मूलग्रंथके साथ मुद्रित हो चुकी है। यद्यपि इस ग्रथमें शिवशर्मकी प्रकृतिका विशेष अनुकरण है परन्तु वह सब अपने ही शब्दोंमें लिखा गया है। कहीं कहीं पर कुछ कथन दिगम्बर ग्रंथोंमें भी लिया गया मालूम होता है, परन्तु वह बहुत ही अल्प जान पड़ता है। आचार्य चन्द्रर्षिने पंचसंग्रहमें आदि मंगल करके ग्रंथके कथन करनेकी प्रतिज्ञाकी है ‡ और अन्त की निम्न गाथा में

* पंचानां शतक सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृतिलक्षणानांग्रन्थानां, अथवा पंचानां मर्थानामर्था धिकाराणां योगोपयोगविषय मार्गणा-बंधक-बंधव्य-बन्धहेतु-बन्धविधिलक्षणानां संग्रहः पंचसंग्रहः।

—पंचस० व० मलयगिरी गा० १

‡ नमिऊण जिणं वीरं सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं।
वोच्छामि पंचसंगहमेय महत्थं जहत्थंच॥ १॥

—पंचसंग्रहे, चन्द्रर्षिः।

अपने उक्त प्रकरणकी समाप्ति के साथ अपना नाम भी व्यक्त किया है।

सुयदेविपसायाओ पगरणमेयं समासओ भणियं।
समयाओ चंदरिसिणा समईविभवाणुसारेण ॥

इस गाथामें बताया है कि आगम और श्रुतदेवीकी प्रसन्नतासे यह प्रकरण मुझ चंद्रर्षिने अपनी बुद्धिविभव के अनुसार संक्षेपसे कहा है।

इसके सिवाय, पंचसंग्रहकी अपनी स्वोपज्ञवृत्तिमें भी चन्द्रर्षिने मंगलाचरण किया है और टीकाके अंतमें प्रशस्ति भी दी है जिसमें अपनेको पार्श्वर्षिका शिष्य बतलाया है। परंतु 'सप्ततिका' नामके इस प्रकरणमें कोई मंगलाचरण नहीं किया है और न ग्रंथके अन्तमें संकलन कर्ताने अपना नाम ही व्यक्त किया है। अतः चन्द्रर्षिही इस प्रकरणके संकलनकर्ता हैं या कोई अन्य, यह बात जरूर विचारणीय है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही ग्रंथकार अपने एक ग्रंथमें और उसकी टीका तकमें तो मंगलाचरण दे और ग्रंथके अन्तमें अपना नाम भी प्रकट करे, परंतु दूसरे ग्रंथमें आदि, अन्तकी उक्त दोनों बातोंमें से एक भी न करे। इसके अतिरिक्त चंद्रर्षिने अपने पंचसंग्रहमें 'सप्ततिका' नामका एक प्रकरण भी लिखा है, जिसमें विस्तारसे इन्हीं सब बातोंका कथन किया गया है, जो इस सप्ततिका प्रकरणमें तथा दिगम्बरीय कर्मग्रंथोंमें पाई जाती हैं। परंतु वह सब कथन अपने अनुभवादिके साथ अपने शब्दोंमें निरूपित है, जिससे उक्त प्रकरण बहुत अच्छा है। उस प्रकरणसे इस प्रकरणमें कोई विशेषता मालूम नहीं होती, जिससे उनके द्वारा उसीके फिरसे रचे जानेकी कल्पना की जा सके। इस प्रकरणमें पंचसंग्रह जैसा स्पष्ट तथा उससे अपूर्व कुछ भी कथन नहीं है। इसीसे यह प्रकरण आचार्य चंद्रर्षिका संकलन किया हुआ मालूम नहीं होता, किन्तु किसी दूसरे ही के द्वारा इधर उधरसे संग्रह किया हुआ जान पड़ता है।

दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रहके सत्तर भंगवाले अंतिम अधिकारकी ५१ गाथाएं उक्त प्रकरणमें प्रायः ज्योंकी त्यों अथवा कुछ थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ उपलब्ध होती हैं। उसमेंसे दो गाथाएं यहां नमूनेके तौर पर दी जाती हैं:—

कदिबंधंतो वेददि कइया कदि पयडिठाण कम्मंसा।†
मूलुत्तरपयडीसु य भंगवियप्पा दु बोहव्वा ॥

—प्रा० पंचसं०, ५२८

कइ बंधंतो वेयइ कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि।
मूलुत्तरपगईसुं भंगवियप्पा उ बोहव्वा ॥

—सप्ततिका ७२

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा।
एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो अबंधम्मि ॥

प्रा० पंचसंग्रह, ५२६

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥

—सप्ततिका ३

इनके अतिरिक्त पंचसंग्रहकी गाथाएं नं० ५२७, ५३०, ५३१, ५३३, ५४७, ५५५, ५५६, ५५१, ५६२, ५७३, ५७४, ७४२, ७७४, ७७५, ७७६, ७८५, ७८८, ८२६, ८३०, ६११, ६४६, ६८२, ६८३, ६८४, ६८६, ६८७, ६६०, ६६१, ६६५, १००३, १०१४, १०१५, १०१६, १०१७, थोड़ेसे साधारण शब्द परिवर्तनके साथ सप्ततिका(षष्ठकर्मग्रंथ) में क्रमशः नं० १, ४, ५, ७, ११, १३, १४, १५, १६, २४, २५, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४६, ४७,

† अत्र अंश इतिशब्देन सत्ता गृह्यते।

५०, ५४, ५५, ५६, ५७, ५६, ६०, ६१, ६२, ६७, ७३, ७४ ७५ पर पाई जाती हैं।

इनके सिवाय, जिन गाथाओंमें थोड़ा या बहुत पाठ-भेद अथवा मान्यताभेद पाया जाता है उनमेंसे उदाहरण के तौरपर यहाँ तीन गाथाएँ दी जाती हैं।

एक्कं च दोव चत्तारि दो एयाधिया दसुक्कस्सं।
ओघेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणाणि णव होंति॥

—प्रा० पंचसं०, ५५२

एक्कं च दोव चउरो एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा।
ओहेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणा नव हवंति॥

—सप्तति, १२

मणुयगई पंचिदिय तस बायरणामसुहयमादिज्जं।
पज्जत्तं जसकित्ती तित्थयरं णाम णव होंति॥

—प्रा० पंचसं०, ६८५

मणुयगइ जाइतस बायरं च पज्जत्त सुभगमाइज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति एया (उच्चं)॥

—सप्ततिका, ५८

बारस पणट्ठाइं उदय वियप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीदि सत्तत्तरि पयबंधसदेहिं विण्णेया॥

—प्रा० पंचस०, ८३१

बारसपणसट्ठसया उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीई सत्तुत्तरि पयविंद सएहिं विन्नेया॥

—सप्ततिका ४८

इसी तरह की प्राकृत पंचसंग्रह की गाथाएं नं० ५६८, ७७०, ७७१, ८२८, ६१७, ६१८, ६३७, ६६२, ६६३, ६६६, १०११, १०१४ हैं, जो सप्ततिकामें क्रमशः नं० २०, ३३, ४३, ४५, ५१, ५२, ५३, ६३, ६६, ७२, पर उक्त प्रकारके पाठ भेदादिके साथ उपलब्ध होती हैं।

उपसंहार

इस सब तुलना परसे पाठक सहजमें ही जान सकेंगे कि प्राकृत पंचसंग्रह की गाथाओं का उक्त तीनों श्वेताम्बरीय कर्म ग्रन्थोंमें कितना अधिक उपयोग हुआ है। और उपयोगिता की दृष्टिसे यह ग्रंथ कितने अधिक महत्वका है। उक्त प्रकरणके संकलित करनेमें पंचसंग्रहकी जिन गाथाओंका उपयोग हुआ है उनमेंसे अधिकाँश गाथाओंका उपयोग प्राचीन दिगम्बर कर्म साहित्यमें बराबर होता रहा है और आचार्य वीरसेनकी धवला टीकामें भी हुआ है। इससे उन गाथाओंका अधिकतर दिगम्बर साहित्यसे ही सम्बंध रहा जान पड़ता है श्वेताम्बरीय कर्म प्रकृति ग्रंथमें इस तरहकी प्रायः दो-तीन गाथाएँ ही उपलब्ध होती हैं †। और चन्द्रर्षिके पंचसंग्रहमे ऐसी गाथाएं ८-१०के करीब ही पाई जाती है*। मालूम होता है कि चन्द्रर्षिके सामने दिगम्बरीय प्रा० पंचसंग्रह अथवा और इसी तरहका अन्य दि० साहित्य अवश्य रहा है।

वीर सेवामंदिर, सरसावा ता० १५-४ १६४०

† उदाहरणके लिये उसकी एकगाथा नीचे दी जाती है—

घाईणं छउमत्था उदीरगा रागिणो य मोहस्स।
तइयाऊण पमत्ता जोगंता उत्ति दोण्हं च॥

—कर्म प्र०, ४, ४

यह गाथा दिगम्बरीय पंचसंग्रहके चौथे प्रकरणमें २१४ नं० पर और गोम्मट्टसार-कर्मकाण्डमे ४५५ नं० पर पाई जाती है।

* उदाहरण केलिए दो गाथाएं नीचे दीजाती हैं—

अट्ठग सत्तग छक्कग चउ तिग दुग एगाहिया वीसा।
तेरस बारेक्कारस संते पंचाइ जा एक्कं॥

—पंचसं० ३१, पृ० २४४

यह गाथा दि० पंचसंग्रहमें ५५१ नं० पर और गो० कर्मकाण्डमें ५०८ नं० पर उपलब्ध होती हैं।

तेवीसा पणुसा छव्वीसा अट्ठावीस दुगुणतीसा।
तीसेग तीस एगो बंधट्ठाणाइ नामेट्ठ॥

—पंचसं०, ५५, पृ० २५०

यह गाथा दि० पंचसंग्रहमें ५७४ नं० पर पाई जाती है।

धर्माचरणमें सुधार

[ले०—बा० सूरजभानुजी वकील]

हवा, गर्द गुबार आदिके कारण हर वक्त ही मकानों में कूड़ा कचरा इकट्ठा होता रहता है, जिससे दिनमें दो बार नहीं तो एक बार तो ज़रूर ही मकानों-को साफ़ करना पड़ता है। मकानमें रक्खे हुए सामान पर भी गर्दा जम जाता है, इस कारण उनको भी झाड़ना पोंछना पड़ता है। हम जो शुद्ध वायु सांसके द्वारा ग्रहण करते हैं वह भी अन्दर जाकर दूषित हो जाती है, इस ही कारण वह गंदी वायु सांसके ही द्वारा सदा बाहर निकालनी पड़ती है, पसीना भी हमारे शरीरकी शुद्धि करता रहता है। मल मूत्र त्याग करनेके द्वारा तो रोज़ ही हमको अपने शरीरकी शुद्धि करनी होती है। किसी कारणसे यदि किसी दिन मल मूत्रका त्याग न हो तो चिंता हो जाती है और औषधि लेनी पड़ती है। अनेक निमित्त कारणोंसे अन्य भी अनेक प्रकारके विकार शरीरमे हो जाते हैं, जिनके सुधारके वास्ते वैद्य हकीमसे सलाह लेनी पड़ती है. गेहूँ चावल आदि अनाज में जीव पड़ जाते हैं, इस कारण नित्य उनको भी काम में लानेसे पहले बीनना पड़ता है। पानीको भी कुछ समयके बाद फिर छाननेकी ज़रूरत पड़ती है। ग़रज़ बाह्य निमित्त कारणोंसे सब ही वस्तुओंमें विकार आता रहता है, इस ही कारण सब ही का सुधार भी नित्य ही करना पड़ता है। सुधार किये बिना किसी तरह भी गुज़ारा नहीं चल सकता है।

हमारी धार्मिक मान्यताओं क्रियाओं और साधनों में भी बाह्य निमित्त कारणोंसे अन्य मतियोंकी संगति उनके सिद्धान्तोंके पढ़ने सुनने और उनकी धर्म क्रिया तथा साधनोंके देखने सुननेसे—और हमारी भी अनेक प्रकारकी कषायों तथा ज्ञानकी मंदतासे अनेक प्रकारके विकार पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है। इस कारण धार्मिक मान्यताओं और क्रियाओंकी शुद्धि होती रहना भी इतना ही ज़रूरी है जितना कि झाड़ पोंछकर नित्य मकानकी शुद्धि करते रहना, स्नान करनेके द्वारा शरीर की शुद्धि करते रहना और धोने मांजनेके द्वारा कपड़ों बर्तनोंकी शुद्धि करते रहना ज़रूरी है। इस शुद्धिका मार्ग हमको धर्म शास्त्रोंके वचनोंसे बहुत ही आसानी से मिल सकता है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी मान्यताओं, धर्म क्रियाओं और साधनोंको शास्त्रोंके वचनोंसे मिलाते रहें और जहां भी ज़रा विकार देखें, तुरन्त उसका सुधार करते रहें। नित्य शास्त्र स्वाध्याय करना तो इसी वास्ते प्रत्येक श्रावकके लिये ज़रूरी ठहराया गया है कि वह नित्य ही धर्मके सच्चे स्वरूप को याद कर करके अपने धर्म साधनमें किसी भी प्रकारका कोई विकार न आने दे और यदि कोई विकार आजाय तो उसका सुधार करता रहे।

विकारोंका होना और उनका सुधार करते रहना जैनधर्ममें इतना जरूरी ठहराया है कि मुनि महाराजों-के लिये भी नित्य शास्त्र स्वाध्याय करते रहना ज़रूरी बताया है, जिससे धर्मका सत्य स्वरूप नित्य ही उनके सामने आता रहे और वे विचलित न होने पावें। फिर उनको नित्य ही अपने भावों-परिणामों और कृत्योंकी

आलोचना प्रतिक्रमणादि करते रहना भी ज़रूरी ठहराया है जिससे हर रोज़की अपनी ग़लती उनको मालूम होती रहे और उसका सुधार भी प्रतिदिन होता रहे। अगर कोई दोष विशेष प्रकारका होगया है तो उस दोषको आचार्य महाराजके सामने साफ़ २ प्रकट कर दिया जाय और जो कुछ वे दंड दें उसको अपने सुधारके अर्थ निस्संकोच भावसे स्वीकार किया जाय। यदि मुनि के अन्दर कोई बहुत ही ज़्यादा विकार आगया तो आचार्य महाराजको उचित है कि उसके सुधारके वास्ते उसको मुनि पदसे ही अलग कर देवें और फिर आहिस्ता २ उसका सुधार कर दोबारा मुनि दीक्षा देवें। इस प्रकार जब मुनियों तकमें विकार आजानेकी सम्भावना और उनका सुधार होना ज़रूरी है तब श्रावकोंमें तो विकार उत्पन्न होते रहनेकी बहुत ही ज़्यादाःसम्भावना है, उनमें भी पहली प्रतिमा धारी अव्रती श्रावकों में तो विषय कषायोंकी अधिकताके कारण विकारोंके पैदा होते रहनेकी और भी ज़्यादा सम्भावना और उन का सुधार होते रहनेकी और भी ज़्यादा ज़रूरत है।

जैनधर्मके सिवाय अन्य मतोंमें तो, जिनमें एक ईश्वर वा अनेक देवी देवताओंके द्वारा ही जीवोंको सुख-दुख मिलना माना जाता है, उस एक ईश्वर वा देवी देवताओंको प्रसन्न करते रहना ही एक मात्र धर्म साधन ठहराया गया है—उन्हींके प्रसन्न होनेसे पूर्वकृत पाप क्षमा हो जाते हैं और बिना पुण्य कर्म किये ही सब सुख मिल जाते हैं। उनको प्रसन्न करनेके वास्ते भी उन मतोंमें भेंट चढ़ाने, स्तुति गाने, मुखसे नाम जपते रहने या दूसरोंसे जाप करा देने,गंगा आदि नदियों में नहाने आदिकी ऐसी बाह्य क्रियायें निश्चित् हैं, जिनमें अन्तरंगकी शुद्धिकी प्रायः कुछ भी जरूरत नहीं पड़ती है, बाह्य विधियोंके पूरा होनेसे ही देवता प्रसन्न हो जाते हैं और सब संकट दूर कर इच्छित मनोकामना पूरी करनेको तय्यार हो जाते हैं, ऐसी अन्य मत वालों की मान्यता है। इस कारण उनकी सब धर्म क्रियायें प्रायः बाह्य साधन रूप ही होती हैं।

परन्तु जैनधर्मका सिद्धान्त इससे बिल्कुल ही विलक्षण है। जैनधर्ममें तो किसी भी ईश्वर परमात्मा वा देवी देवताको प्रसन्न करना नहीं है, किन्तु अपनी ही आत्माको विषय कषायों और राग द्वेषके मैलसे शुद्ध करना है। जिस प्रकार बीमारको स्वास्थ्य प्राप्त करनेके वास्ते औषध आदिके द्वारा अपने शरीरमें से दोषोंका निकाल देना ज़रूरी है, शरीरके जितने जितने दोष शांत होते रहते हैं उतना ही उतना उसको स्वास्थ्य लाभ और सुख शांतिकी प्राप्ति होती रहती है। उसी प्रकार धर्म-सेवनके द्वारा राग द्वेष और विषय-कषायोंमें जितनी कमी होती है उतनी ही उतनी उसकी आत्माकी शुद्धि होती जाती है और सुख शांति मिलती जाती है।अतः जैनधर्ममें वे ही साधन धर्म साधन माने जाते हैं और वही क्रियायें धर्म क्रियायें समझी जाती हैं, जिनसे राग द्वेष और विषय कषायों में मंदता आती हो और होते होते उनका सर्वथा ही नाश हो जाता हो। दूसरे शब्दोंमें यूँ कहिये कि जैन-धर्ममें अन्य मतोंकी तरह बाह्य क्रियायें करना ही धर्म नहीं है किन्तु इसके विपरीत जैनधर्मका असली धर्म साधन एकमात्र राग द्वेष और विषय कषायोंसे अपनी आत्माको शुद्ध करना ही है। बाह्य क्रियायें तो इस असली धर्म-साधनकी सहायक ही हो सकती हैं। राग-द्वेष और विषय कषायोंकी मंदताके बिना कोई भी क्रिया धर्म क्रिया नहीं मानी जाती है। परन्तु मनुष्य के लिये बाह्य क्रियाओंका करना आसान होता है और अंतरंगको शुद्ध करना बहुत ही कठिन। मनुष्य धर्मके

नामसे सर्व प्रकारके शारीरिक कष्ट उठा सकता है और धन भी खर्च कर सकता है, क्योंकि ऐसा उसको अपने सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके वास्ते सदा ही करना पड़ता है। सांसारिक मनुष्य कष्ट उठाने और धन खर्च करने का तो पूर्ण रूपसे अभ्यासी ही होता है। संसारी मनुष्य तो अपनी आजीविका आदिके वास्ते भी फौजमें भरती हो कर और युद्धमें जाकर अपनी जान तककी भी परवाह नहीं करता है। माता अपने बच्चेकी पालनाके वास्ते सब कुछ तपस्या करनेको तय्यार होती है। ब्याह शादी आदि अनेक गृहस्थ कार्योंमें संसारी मनुष्य क़रज़ लेकर भी इतना ख़र्च कर देते हैं कि उमर भर भी उसे नहीं चुका सकते हैं। ग़रज़ कष्ट उठाना और पैसा खर्च करना तो मनुष्यके लिये आसान है परन्तु अन्तरंगसे राग द्वेषको घटाना और विषय कषायोंको कम करना बहुत ही मुश्किल है। इस कारण जैनियोंके लिये असली धर्म-साधनसे फिसलना—अन्तरंग शुद्धिको छोड़कर बाह्य क्रियाओंको ही सब कुछ समझ-लेना—बहुत ज्यादा सम्भव है। विशेषकर जब वे अपने पड़ौसी अन्यमतियोंको सिर्फ़ बाह्य क्रियाओं द्वारा ही धर्म साधन करता देखते हैं—यहां तक कि दूसरे २ पुरुषोंके द्वारा पूजन और जाप आदि करानेसे भी उनका धर्म साधन हो जाता है, तो इस सहज रीतिका असर जैनियों पर भी पड़ता है और वे भी अपनी अन्तरंग शुद्धिको छोड़कर केवल बाह्यक्रियायें ही करने लगजाते हैं। इस प्रकारसे अनेक भारी विकार जैनियोंमें आते रहते हैं जिनका सुधार होते रहना अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो ऐसे विकारोंके द्वारा जैनी अन्यमतके सिद्धान्तोंको मानते हुए भी और अन्यमतके अनुसार ही धर्म साधन करते हुए भी इस अपनी सब मान्यताओं और साधनोंको ही जैनधर्म बतलाते हुए जैनधर्मको भी बदनाम करते हैं और बड़ी भारी क्षति पहुँचाते हैं।

बाह्य क्रियायें जब उस उद्देश्यकी सिद्धिके वास्ते की जाती हैं जिनकी वे साधन हैं। तब तो वे क्रियायें बहुत ही कार्यकारी और जरूरी होती हैं! लेकिन अगर असली ग़रज़को छोड़कर सिर्फ बाह्यक्रियायें ही की जावें तो वे एक प्रकारकी मूर्खता और नादानी ही होती है। जैसा कि आगके बिना भोजन नहीं पक सकता है। भोजन पकानेके वास्ते आगकी सहायताकी अत्यन्त जरूरत है। परन्तु यदि कोई आटा दाल आदि भोजनकी सामग्रीके बिना ही नित्य चूल्हेमें आग जलाया करै और तवा गर्म किया करै तो क्या वह मूर्ख नहीं समझा जायगा? इसी प्रकार यदि कोई पढ़ना तो न चाहे एक अक्षर भी, किन्तु पुस्तकें लेकर अध्यापकके पास अवश्य जाया करे और उसकी सेवा भी सब तरहसे किया फिर तो क्या उसकी यह सब कोशिश व्यर्थ नहीं है? इस ही प्रकार यदि कोई बीमार वैद्य हकीम तो बढ़िया २ बुलाया करे और उनकी बताई औषधि भी तय्यार कराया करे, परन्तु दवाका खाना तो दूर रहा, उसको चाखकर देखनेका भी साहस न किया करे, उल्टा कुपथ्य सेवन ही करता रहा करे तो क्या उसको कुछ स्वास्थ्य लाभ हो सकेगा? इसी ही प्रकार यदि कोई खेतमें बीज तो डालना न चाहे किन्तु बाहना, जोतना क्यारियां बनाना, पानी सींचना और पहरा देना आदि सब आवश्यक क्रियायें बड़ी सावधानीके साथ करता रहा करै, तो क्या उसके खेतमें कुछ पैदा होगा या उसकी सब मेहनत निष्फल ही जायगी? ऐसा ही धर्म साधन की सहायक सब ही बाह्य क्रियाओंकी बाबत समझ लेना चाहिए। यदि वे क्रियायें इस विधिसे की जाती

हैं जिससे राग द्वेष और विषय कषायकी मंदता होती हो और अपनी आत्मा शुद्ध होती हो, तब तो वे क्रियायें लाभदायक और जरूरी हैं और यदि इस विधिसे की जाती हों जिससे रागद्वेष और विषय कषायोंकी कुछ भी मंदता न होती हो, तो वे सब धर्म क्रियायें भी एक मात्र ढोंग और संसारमें ही भ्रमानेवाली हैं—संसारसे तिराने वाली नहीं हो सकती हैं।

आजकल बहुधा हमारी दशा ऐसी ही हो रही है, जिससे धर्म-क्रियाओं द्वारा हमने आत्म-शुद्धि करना, रागद्वेष और विषय कषायों को मंद करना तो बिल्कुल भुला दिया है, किन्तु बिना आटे दालके एक मात्र आग जलाया करनेके समान, मात्र बाह्य क्रियाओंका करना ही धर्म समझ लिया है और यह ही करना शुरू कर दिया है। यदि हम पंचपरमेष्ठीका जाप करते हैं तो उनके वीतराग रूप गुणोंको जाननेकी जरूरत नहीं समझते, जिनका हम जाप करते हैं कोई २ तो पंचनमस्कारका जाप करते हुए उसके अर्थके जाननेकी भी ज़रूरत नहीं समझते, किन्तु मन्त्रके शब्दों या मंत्रोंका मुंहसे निकलते रहना ही काफ़ी समझते हैं। और कोई कोई तो उलटा अपने राग-द्वेष और विषय कषायकी सिद्धिके वास्ते ही इन मन्त्रों को जपते हैं। अनेक भाई बिना अर्थ समझे भक्तामर स्तोत्रके संस्कृत काव्योंको पढ़कर ही अपने सांसारिक कार्यों की सिद्धि हो जानेकी आशा किया करते हैं। उपवासके दिन निराहार रहना ही काफ़ी समझते हैं। उस दिन सर्वथा आरम्भ त्याग कर धर्म-सेवनमें ही दिन व्यतीत करना ज़रूरी नहीं समझते। इस ही कारण संसारके सब कार्य करते हुए भी एक मात्र निराहार रहनेसे ही उपवासका होना समझ लेते हैं। तीर्थयात्राके द्वारा भी अपने भावोंकी शुद्धि नहीं की जाती है किन्तु भाव हमारे चाहे कुछ ही हों, तीर्थ पर जानेसे ही महापुण्यकी प्राप्ति होती है, इस ही श्रद्धासे जाते हैं। दान देनेके लिए भी करुणा आदिकी जरूरत नहीं, किंतु देना ही दान है। देनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है, इस ही वास्ते दिया जाता है—यहां तक कि कोई २ तो अपने किसी कष्टके निवारणार्थ ही दान देने लगते हैं। इसी तरह दूसरेके द्वारा पूजन कराना, यहां तक कि नित्य पूजन करते रहनेके वास्ते कोई नौकर रख देना भी धर्म साधन समझते हैं। गरज़ कहाँ तक गिनाया जाय, हमारी तो सब ही क्रियायें थोथी रह गई हैं। मानो जैनधर्म ही पृथ्वी परसे लोप हो गया है।

हम यह नहीं कहते कि यह सब क्रियायें धर्म-क्रियायें नहीं हैं, जरूर हैं और अवश्य हैं। इन बाह्य क्रियाओंके बिना तो धर्म-साधन हो ही नहीं सकता है। परन्तु आटा दालके बिना अग्नि जलानेके समान, यदि असली ग़रज़को छोड़कर केवल ये बाह्य क्रियायें ही की जावें तो यह धर्म क्रियायें नहीं हैं। केवल इन बाह्य क्रियाओंको ही धर्म मानना कोरा मिथ्यात्व है और इनको फिर जैनधर्मकी क्रियायें बताना तो जैनधर्मको लजाना है। परन्तु अफ़सोस है कि जब भी इनमें सुधार करनेकी आवाज़ उठाई जाती है, तब ही हमारे भोले भाई ही नहीं किन्तु अनेक विद्वान पंडित भी चिल्ला उठते हैं कि यह तो साक्षात् धर्मपर ही कुठाराघात है, जो हो रहा है वह ही होने दो, असली या नक़ली जो भी क्रिया हो रही है उस ही से जैनधर्म का नाम कायम है, नहीं तो वह भी नहीं रहेगा। परन्तु हम इसके विरुद्ध यह देखते हैं कि आजकल अन्धश्रद्धा वाले लोग कम होते आते हैं और परीक्षा

कर असलियत को ढूंढने वाले बढ़ते जाते हैं। जब वे देखते हैं कि विद्वान लोग भी निर्जीव थोथी क्रियाओंको ही धर्म बताते हैं और सुधारकोंको अधर्मी ठहराते हैं। तब जैनधर्म वास्तवमें यह थोथा ही धर्म होगा, जिसका समर्थन विद्वानों द्वारा हो रहा है। ऐसा देखकर उनकी श्रद्धा जैनकी तरफसे शिथिल होती जाती है। अतः हमको लाचार होकर अब यह कहने की ज़रूरत पड़ती है कि हमारे परीक्षा प्रधानी भाई स्वयं जैन शास्त्रोंकी स्वाध्याय कर जैनधर्मके स्वरूपको पहचानें। जैनधर्ममें तो इस ही कारण सबसे पहले तत्वोंके स्वरूपको भलीभांति समझकर उन पर श्रद्धान लाना ज़रूरी बताया है। चारित्र तो उसके पीछे ही बताया है। और वह ही चारित्र सच्चा चारित्र ठहराया है जो सम्यक श्रद्धान और सम्यक् ज्ञानके अनुकूल हो, जिससे आत्माकी शुद्धि होकर उसका विभाव भाव दूर होता हो और असली स्वभाव प्रगट होता हो। इस कारण किसीके भी बहकायेमें आकर विचलित नहीं होना चाहिए किन्तु धर्मके जाननेके वास्ते धर्मशास्त्रोंको ही आधार मानना चाहिये।

जो विद्वान भाई जैनधर्मके असली स्वरूपको समझ कर वैसा ही सर्व साधारणमें प्रगट करनेका साहस रखते हैं, उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे साहस कर सुधारके लिये कमर बांधें। दुनियांके लोग तो आजकल दुनियांकी बातोंमें सुधार होनेके वास्ते भी अपना तन, मन, धन अर्पण करनेको तैयार हैं, तो क्या जैनधर्ममें ऐसे सच्चे श्रद्धानी नहीं मिलेंगे जो धर्ममें सुधार करनेके लिये उसके मानने वालोंकी मान्यताओंमें जो विकार आरहा है उसको जैनशास्त्रोंके आधारसे दूर कर शास्त्रानुकूल सत्यधर्मका प्रचार करनेके लिये खड़े हो जावें और अपने भाइयोंके विरोधका कुछ भी बुरा न मान उसको हंसते २ सहन कर जावें। ऐसे सच्चे धर्मात्मा अवश्य हैं, उन ही से हमारी यह अपील है।

महावीर-गीत

[ले०—शान्तिस्वरूप जैन 'कुसुम']

तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत।

जीवन नौका लिये गुणागर !
आये जब तरने भव सागर,
मुदित हुए सब जीव जगत्के, विपद हुई भय भीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत ॥

कितनी नावें उब चुकी थीं,
कितनी इनमें डूब चुकी थीं,
कितनी झंझाके झोकोंसे, बहती थीं विपरीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत ॥

पर तुम थे इन सबसे न्यारे,
बाधक, साधक हुए तुम्हारे,
पहुँच गये मंज़िल पर अपनी, लेकर लक्ष्य पुनीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत ॥

विषय-तप्त इस दीन जगत् पर,
बर्षाया वचनामृत झर-झर,
कण-कणने पाया नवजीवन, उलट गयी सब रीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत ॥

जगसे जड़ता दूर भगाकर,
सत्य अमर संगीत सुनाकर,
उसी रागसे जाग उठी फिर सोई जगकी प्रीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत ॥

आज मनाते जन्म तुम्हारा,
गद्गद् होता हृदय हमारा,
गाता है, गायेगा प्रभुवर ! जगत तुम्हारे गीत !
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगत के मीत।

अहिंसा

[ले०—श्री बसन्तकुमार, एम.एस.सी.]

जीवनका ध्येय निरन्तर विकसित होना है । विकासकी पूर्णावस्था जीवनकी वह स्थिति है जहाँ पहुँचकर विश्वके जीवनके साथ उसका कोई विरोध न रह सके । विकासकी यह अन्तिम अवस्था है और जीवनका आदर्श है । ज्यों ज्यों इस आदर्शकी ओर हम बढ़ते हैं त्यों त्यों हम सत्यके निकट पहुँचते हैं । इस प्रकार विकासकी ओर बढ़नेका मार्ग सत्यकी शोध और विश्व-कल्याणका मार्ग है ।

जीवकी सारी प्रेरणायें और प्रक्रियायें सुखी बनने के लिये होती हैं, और ज्यों ज्यों उसकी प्रसुप्त शक्तियाँ विकसित होती जाती हैं वह सुखकी ओर बढ़ता जाता है । विकास और सुख एक ही वस्तुके दो भिन्न भिन्न पहलू हैं, अथवा यों कहिये सिक्केकी दो तरफें (Sides) हैं । एकके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं । जितना हमारा जीवन अविरोधी और विकसित होगा उतनी ही मात्रामें हम अधिक सुखी होंगे । जीवन-सम्बन्धी सारी समस्याओं पर इसी स्वयंसिद्धिको लेकर विवेचन किया जा सकता है ।

संसारके प्राणियोंके जीवनकी प्रवृत्तियाँ अधिकांशमें स्व-केन्द्रित (Self centred) होती हैं । अर्द्धविकसित और अविकसित प्राणियोंमें यह बात और भी अधिक मात्रामें पाई जाती है । उनका प्रत्येक कार्य अपने अस्तित्वको क़ायम रखनेके लिये होता है । जीवनकी इस होड़में एक प्राणी दूसरे प्राणीका आहार बना हुआ है । इसीलिये जीवनके इस स्तरमें आपको बीभत्सता, नारकीयता और अशान्तिके दर्शन होते हैं । जीवकी प्रवृत्तियोंमें ज्यों ज्यों इस स्वकेन्द्रीकरणकी मात्रा कम होती जाती है त्यों त्यों वह अधिक विकसित होता चला जाता है ।

संसारकी अशान्ति और अराजकताका मूल कारण प्रवृत्तियोंका स्व-केन्द्रीकरण है । एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की सम्पदाको हड़प कर सुखी बनना चाहता है, एक समाज दूसरे समाजको बर्बाद कर अधिक शक्तिशाली बननेकी कल्पना करता है । अधिक व्यापक रूपमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अधिकार कर अपना प्रभुत्व बढ़ाने में लगा हुआ है । पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, नाजीवाद, तथा फ़ैसिज़्म ये सब प्रवृत्तियोंके स्व-केन्द्रीकरणके आधार पर ही स्थिर हैं । इसीलिये उनका परिणाम है दुःख और अशान्ति । प्रवृत्तियोंके इस स्वकेन्द्रीकरणको देखकर शायद नैशेने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था कि जीवकी मूलभावना लोकमें शक्ति (प्रभुत्व) प्राप्त करना है । वर्तमान जर्मनी नैशेके विचारोंका मूर्तिमंत रूप है । नैशेके इस सिद्धान्तको लेकर हम किसी भी प्रकारकी स्थायी सामाजिकव्यवस्थाकी कल्पना नहीं कर सकते; उसके सारे फलितार्थ हमें अराजकता (Chaos) की ओर ले जाते हैं ।

तब संसारके दुःखोंको किस प्रकार दूर किया जा सकता है ? जब तक व्यक्तिके स्वार्थका समाजके स्वार्थ के साथ अविरोधीपन नहीं होता तब तक न तो व्यक्ति ही सुखी हो सकता है और न समाजही सुखका अनु-

भव कर सकता है। जीवकी प्रवृत्तियाँ जब व्यक्तिको छोड़कर समष्टिकी ओर बढ़ने लगती हैं तब ही उस वस्तुका जन्म होता है जिसे हम 'अहिंसा' कहते हैं। 'सर्वभूतहित' और 'निष्कामकर्म' के सिद्धान्त 'अहिंसा' के ही दूसरे रूप हैं। अहिंसाकी व्यापक भावना 'सर्वभूत-हित' में समाई हुई है।

जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण शक्ति (Force of gravitation) अनन्त आकाशमें तारों, ग्रह-नक्षत्र इत्यादिको एक व्यवस्थामें बांधे हुए हैं, उसी प्रकार अहिंसामें भी संसारको व्यवस्थित करनेकी शक्ति संनिहित है। हिंसा हमारी राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक-कठिनाइयोंका मूल कारण है और अहिंसा उनको दूर करनेका साधन है।

अव्यवस्थित वर्गीकरण और शोषण समाजके दुखका मूल कारण है। मौजूदा राजनैतिक तथा आर्थिक कानून और विधान 'संगठित-हिंसा' को जन्म देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अल्पसंख्यक वर्गके हाथमें शक्ति आजाती है और वह उसका उपयोग समाजके बहुसंख्यक वर्गके शोषणमें करता है। संसारकी अधिकतम शासन-व्यवस्थायें संगठित हिंसाका मूर्तिमंत रूप हैं। हिटलर यदि पोलैंड पर आक्रमण करता है तो इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जर्मनी की साधारण जनता हिटलरकी इन प्रवृत्तियोंसे सहानुभूति रखती है। नाज़ी सरकार संगठित हिंसाके बलपर जर्मन-जनताको युद्धके लिये विवश करती है। यही बात अन्य साम्राज्यवादी शासन-प्रणालियों पर लागू होती है। 'विज्ञान' को औद्योगिक केन्द्रीकरण तथा उसके दुष्परिणाम पूंजीवाद, समाजकी बेकारी, इत्यादिका दोषी ठहराया जाता है। हमारे अर्थशास्त्री भी इन बुराइयोंको विज्ञानके आविष्कारोंका स्वाभाविक परिणाम स्वीकार करके एक महत्वपूर्ण तथ्यको भुला देते हैं। वे यह नहीं सोचते कि इन बुराइयोंका मूल-कारण संगठित-हिंसा-द्वारा व्यवस्थित हमारे कानून और विधान हैं और इसी कारण विज्ञानके आविष्कार शोषण के साधन बन जाते हैं।

साम्यवाद समाजके दुखोंको नष्ट करनेके लिए आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है, लेकिन समाजके लिए व्यक्तिके जीवनको यांत्रिक बना कर वह ऐसा करना चाहता है, और जब जीवन मशीनकी तरह काम करने लगता है तो विकास और सुख स्वप्नकी वस्तु बन जाते हैं। इस प्रकार साम्यवाद जिन बुराइयोंको दूर करनेकी प्रतिज्ञा करता है उन्हींमें उलझता हुआ प्रतीत होता है। अहिंसा जीवनको यंत्रवत् नहीं बनाती, वह जीवनमें 'आत्मौपम्य-बुद्धि' जागृत कर समाजहितमें प्रवृत्त होनेके लिये प्रेरणा करती है। साम्यवाद सार्वजनिक हितके लिये हमारी प्रवृत्तियों पर बन्धन लगाता है, अहिंसामें हमारी प्रवृत्तियाँ स्वतः ही लोक-हितके लिये होती हैं। साम्यवाद मनोविज्ञानकी अवहेलना करता है, अहिंसा मनोविज्ञानको साथ लेकर मनुष्यकी वृत्तियोंको शुद्ध करती हुई विकासकी ओर ले जाती है। इसलिये कोई भी राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था जिसका आधार सर्वभूतहित या अहिंसा नहीं है, अपूर्ण और अधूरी है।

युगोंसे हिंसात्मक-व्यवस्था-द्वारा अनुशासित रहनेके कारण अहिंसात्मक व्यवस्थाकी कल्पना कुछ अजीब सी मालूम पड़ती है और हम सोचते हैं कि इस प्रकार की व्यवस्थासे शायद अराजकताकी मात्रा और अधिक न बढ़ जाय, लेकिन हिंसासे भी अव्यवस्था घटती नहीं, और यह जान लेने पर कि समाजकी बीमारीका कारण हिंसा है उसके पक्षमें कोई दलील देने को नहीं

रहजाती। अहिंसामें सन्देह करने का दूसरा कारण यह है कि हम नैतिक नियमों को उपयोगी और अच्छा समझते हुए भी उनकी व्यावहारिकतामें अविश्वास रखते हैं। राजनीति और अर्थनीति को जितना नैतिकतासे दूर रक्खा जाता है उतनी ही उनमें कृत्रिमता की मात्रा अधिक बढ़ती हैं और वे लोकहितके लिये उतनी ही अनुपयोगी सिद्ध होती हैं। सम्पूर्ण यांत्रिक उपायोंसे सुव्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती। इस नग्न सत्य को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। अहिंसा का तत्व इतना मनोवैज्ञानिक और आवश्यक है कि उसकी अवहेलना नही की जासकती। टाल्स्टायके निम्न शब्दों के साथ हमें सहमत होना पड़ता है—

"अहिंसाके अवलम्बन करने का केवल यही कारण नहीं है कि यह हमारी तमाम सामाजिक बुराइयों का एकमात्र रामबाण उपाय है, बल्कि हमारे ज़मानेके प्रत्येक मनुष्यके नैतिक सिद्धान्तके वह पूरी तरह अनकूल भी हैं। जन साधारणके दुखोंको दूर करनेके लिये जिस तत्वकी आवश्यकता है वही प्रत्येक मनुष्यकी आत्मिक शान्तिके लिये भी परमावश्यक है।"

इस प्रकार अहिंसा व्यक्ति और समाजके कल्याण के लिये एक आवश्यक तत्व है और उसमें जीवनकी सारी समस्याओंको हल करनेकी शक्ति संनिहित है। २५०० वर्ष पहिले भगवान् महावीर और भगवान् बुद्धने सिद्धान्तके रूपमें विश्वके लिये अहिंसाका सन्देश दिया था; गांधीजी आज एक प्रयोगवेत्ताके रूपमें व्यवहारमें उसके फलितार्थोंको दुनियाके सामने रख रहे हैं।

संसार में सुखकी वृद्धि कैसे हो?

—[श्री० दौलतराम मित्र]

एक कमरेमें मैं और मेरे पास ही दूसरेमें एक टैंथ क्लासका छात्र, दोनों पढ़ रहे थे। छात्रने पढ़ाः-

"The man whose silent days,
in harmless joys are spent"

अर्थात् सज्जन वह है जो अपनी सुख-घड़ीको दूसरोंकी दुःख घड़ी न बनने दे।

मालूम हुआ, यह कैंपियन कविकी कविता है। सज्जनताके इस लक्षणका मेरे दिल पर खासा असर हो आया, और तुरन्त ही इससे मिलता जुलता और एक लक्षण मुझे याद आगयाः—

"सदाचारी वह है जो सुख-साधनोंकी लूट नहीं चाहता, किन्तु उनका विभाजन करनेकी चेष्टा करता है। सुख-साधनोंकी लूट चाहने वाला दुराचारी है।" (दरबारीलाल सत्यभक्त)। थाकृइे में सज्जनता इसीका नाम है।

चाहे वह कोई हो, जो मनुष्य श्रमसाध्य (कृषि-इत्यादि) कर्मोंको छोड़कर बुद्धि और सम्पत्तिका दुरुपयोग करके उसके बलपर दूसरोंके कधों पर बैठ कर जन साधारणके सुख-साधनोंकी लूट खसोटमें लगा हुआ है, जिससे दूसरोंके सत्व-रक्षाकी पर्वाह नहीं है वह तो सज्जन नहीं हो सकता।

अतएव यदि हम संसारमें सुखकी वृद्धि देखना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम संसार भरमें अति परिग्रह-विरोधी जैनाचारकी उपयोगिताके प्रचार प्रसिद्ध करनेका उद्योग करें, ताकि दुराचारियोंकी संख्या बढ़ने न पावे, सदाचारियोंकी संख्या बढ़े और संसारमें सुखकी वृद्धि होवे।

परन्तु अफ़सोस आज दुनियाकी सूझ (दृष्टि) औंधी (मिथ्या) हो रही है। जैसा कि "एल.पी. जैक्स" का कथन है कि—

'आजकी दुनिया सम्पत्तिको सामाजिक (सर्व साधारणकी चीज) बनाना चहती है; लेकिन मनुष्यको—उसके स्वभावको—सामाजिक बनानेकी बात उसे सूझती नहीं। जब तक यह नहीं होगा, तब तक कोई भी "इज़्म" (वाद) स्थापित नहीं हो सकेगा। अगर मनुष्यका चरित्र सुधर जाय तो चाहे जिस "इज़्म" से निभ जायगा।

आओ हम सब मंगल कामना करें और साथ ही तदनुकूल प्रयत्न भी करें कि दुनियाँको सीधी (सम्यक्) सूझ (दृष्टि) प्राप्त हो। इसीसे ससारमें सुखकी वृद्धि हो सकेगी।

प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र

[सम्पादकीय]

अभी तक हम उमास्वाति या उमास्वामी आचार्यके तत्त्वार्थसूत्रको ही जानते हैं—'तत्त्वार्थसूत्र' नामसे प्रायः उसीकी प्रसिद्धि है। परन्तु हालमें एक दूसरा पुरातन तत्त्वार्थसूत्र भी उपलब्ध हुआ है, जिसके कर्त्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। ग्रंथकी सन्धियोंमें प्रभाचन्द्राचार्यके साथ 'बृहत्' विशेषण लगा हुआ है, जिससे यह ध्वनित होता है कि प्रकृत ग्रंथ बड़े प्रभाचन्द्रका बनाया हुआ है। प्रभाचन्द्र नामके अनेक आचार्य हो गये हैं†। बड़े प्रभाचन्द्र आम तौर पर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचंद्र' के कर्त्ता समझे जाते हैं; परंतु इनसे भी पहले प्रभाचंद्र नामके कुछ आचार्य हुए हैं, जिनमेंसे एक तो परलुरु-निवासी 'विनयनन्दी' आचार्यके शिष्य थे और जिन्हें चालुक्य राजा 'कीर्तिवर्मा' प्रथमने एक दान दिया था ‡। ये आचार्य विक्रमकी छठी और सातवीं शताब्दीके विद्वान थे; क्योंकि उक्त कीर्तिवर्माका अस्तित्व समय शक सं० ४८९ (वि० स०६२४) पाया जाता है। दूसरे वे प्रभाचंद्र हैं जिनका श्री पूज्यपादाचार्यकृत 'जैनेन्द्र' व्याकरणके 'रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य' इस सूत्रमें उल्लेख मिलता है, और इस लिये जो विक्रमकी छठी शताब्दीसे पहले हुए हैं; क्योंकि आचार्य पूज्यपादका समय विक्रमकी छठी शताब्दी सुनिश्चित है। और तीसरे वे प्रभाचन्द्र हैं जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के प्रथम शिलालेखमें पाया जाता है, और जिनकी बाबत यह कहा जाता है कि वे भद्रबाहुश्रुतकेवलीके दीक्षित शिष्य सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' थे। इनका समय विक्रम सं० से भी कोई तीनसौ वर्ष पहले का है। तब यह ग्रंथ कौनसे बड़े प्रभाचंद्राचार्यकी कृति है, यह बात निश्चितरूपसे नहीं कही जासकती। इसके लिये विशेष खोज होनेकी ज़रूरत है। फिर भी इतना तो कह सकते हैं कि यह भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य प्रभाचन्द्रकी कृति नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा किसी भी ग्रंथ-रचनाके होने का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

† देखो, माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना, पृ० ५७ से ६६ तक।

‡ देखो, 'साउथइण्डियन जैनिज़्म', भाग दूसरा, पृ० ८८।

ग्रन्थप्रति और उसकी प्राप्ति

उक्त तत्त्वार्थसूत्रकी यह उपलब्ध प्रति पौने दस इञ्च लम्बे और पांच इञ्च चौड़े आकारके आठ पत्रों पर है। प्रथम पत्रका पहला और अन्तिम पत्रका दूसरा पृष्ठ खाली है, और इस तरह ग्रंथ की पृष्ठ-संख्या १४ है। प्रत्येक पृष्ठपर ५ पंक्तियां हैं, परन्तु अन्तके पृष्ठपर ४ पंक्तियां होनेसे कुल पंक्ति-संख्या ६९ होती है। प्रति पृष्ठ अक्षर संख्या २० के करीब है, और इसलिये ग्रंथकी श्लोकसंख्या (३२ अक्षरोंके परिमाणसे) ४४ के करीब बैठती है।

कागज देशी साधारण कुछ पतला और खुर्दरासा लगा है। लिखाई मोटे अक्षरोंमें है और उसमें कहीं

कहीं स्वरादि-संधि-सूचक संकेतचिन्ह, पदोंकी विभिन्नता-सूचक चिन्ह तथा संख्या-सूचक अंक भी बारीक टाइपमें (लघुआकारमें) अक्षरोंके ऊपरकी ओर लगाये गये हैं।

टिप्पणी एक स्थान को छोड़कर और कहीं भी नहीं है, और वह है "त्रिविधा भोगभूमयः" सूत्र पर "जघन्य १ मध्य २ उत्कृष्ठ ३" के रूपमें, जो प्रायः प्रतिलिपि करने वालेके ही हाथ की लिखी हुई जान पड़ती है और इस बात को सूचित करती है कि जिस प्रति परसे यह प्रति उतारी गई है संभवतः उसमें भी वह इसी रूपमें होगी।

इस प्रतिमें अनुस्वारको कहीं भी पंचमाक्षर नहीं किया गया है। ओकार की आकृति 'उ' और औकार की 'ऊं' दी है। अंकोंमें ६-६ की आकृति क्रमशः '६' और 'ण' दी है।

ग्रंथप्रति यद्यपि अधिकांशमें शुद्ध है, फिर भी उसमें कुछ साधारण तथा महत्वकी अशुद्धियां भी पाई जाती हैं। व-ब का भेद तो बहुत ही कम रक्खा हुआ जान पड़ता है—कहीं कहीं तो इन अक्षरोंका प्रयोग ठीक हुआ है, और कहीं वकार की जगह बकार और बकार की जगह वकारका प्रयोग कर दिया गया है—जैसे बिधो, बिषः, द्रब्य, बिग्रहा, देब्यः, बर्षाणि, बिधा, चतु र्बिंशति, बैमानिका, बिघ्न, बिरति, बिषं, पंचबिंन्शति, अष्टाबिंशति, ज्ञानाबरण, बिंशति, संबरः और बिरचिते (सर्वत्र) इनमें 'व'के स्थान पर 'ब' का प्रयोग हुआ है; और जंवू ब्रह्मालया तथा वहु, इन शब्दोंमें 'ब' के स्थान पर 'व' का प्रयोग हुआ है, जो अशुद्ध है, और यह सब प्रायः लिपिकारकी नित्यकी बोलचालके अभ्याससे सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है।

ग्रन्थप्रतिके अन्तमें यद्यपि लिपि-सम्वत् दिया हुआ नहीं है, फिर भी यह प्रति अपने काग़ज़की स्थिति और लिखावट आदिपरसे २५०–३०० वर्षसे कमकी लिखी हुई मालूम नहीं होती। इसे पण्डित रतनलालने कोटषावदामें लिखा है, जैसा कि इसकी निम्न अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है:—

"पंडित रतनलालेन लिषितं कोटषावदामध्ये संपूर्णजातः"

मालूम नहीं यह 'कोटषावदा' स्थान कहाँपर स्थित है। परन्तु इस ग्रन्थप्रतिकी प्राप्ति वर्तमानमें कोटा रियासतसे हुई है। कोटामें भाई केसरीमलजी एक प्रमुख खण्डेलवाल जैन तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं, उनके पास रामपुर जि० सहारनपुर निवासी बाबू कौशलप्रसादजीने, जो आजकल सहारनपुरमें तिलक बीमा कम्पनीके चीफ़ एजेंट हैं, यह ग्रन्थ देखा और इसे एक अपूर्व चीज समझकर उनके पाससे ले आए तथा विशेष जाँच पड़ताल एवं परिचयादिके लिये मेरे सुपुर्द किया, जिसके लिये मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ।

भाई केसरीमलजीने इस ग्रंथकी प्राप्तिका जो इतिहास बा० कौशलप्रसादजीको बतलाया उससे मालूम हुआ कि 'कोटामें भट्टारककी एक गद्दी थी, उस गद्दीपर दुर्भाग्यसे एक ऐसा ही आदमी आगया जिसने वहाँका सारा शास्त्रभण्डार रद्दीमें बेच दिया! कुछ दिन पहले केसरीमलजीने इस प्रकारकी रद्दीकी एक बोरी एक मुसलमान बोहरेके यहाँ देखी और उसे आठ आनेमें खरीद लिया। उसी बोरीमेंसे इस ग्रन्थरत्नकी प्राप्ति हुई है।' ग्रंथ प्राप्तिकी यह छोटीसी घटना बड़ी ही हृदयद्रावक है और इससे जैनियोंके शास्त्रभण्डारोंकी अव्यवस्था, अपात्रोंके हाथमें उनकी सत्ता और साथ ही अनोखी श्रुतभक्तिपर दो आँसू बहाये बिना नहीं रहा जाता! जैनियोंकी इस लापर्वाही और ग्रन्थोंकी बेदर-

कारीके कारण न मालूम कितने ग्रंथरत्न पसारियोंकी दुकानोंपर पुड़ियाओंमें बँध बँधकर नष्ट हो चुके हैं!! कितने ही ग्रंथोंका उल्लेख तो मिलता है परन्तु वे ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। इस विषयमें दिगम्बर समाज सबसे अधिक अपराधी है, उसकी ग़फ़लत अब-तक भी दूर नहीं हुई और वह आज भी अपने ग्रंथोंकी खोज और उनके उद्धारके लिये कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं कर रहा है। और तो क्या, दिगम्बर ग्रन्थोंकी कोई अच्छी व्यवस्थित सूची तक भी वह अबतक तैय्यार करानेमें समर्थ नहीं हो सका; जबकि श्वेताम्बर समाज अपने ग्रंथोंकी ऐसी अनेक विशालकाय-सूचियाँ प्रकट कर चुका है। जिनवाणी माताकी भक्तिका गीत गाने-वालों और उसे नित्य ही अर्घ चढ़ानेवालोंके लिये ये सब बातें निःसन्देह बड़ी ही लज्जाका विषय हैं। उन्हें इनपर ध्यान देकर शीघ्र ही अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये—ऐसा कोई व्यवस्थित प्रयत्न करना चाहिये जिससे शीघ्र ही लुप्तप्राय जैन ग्रंथोंकी खोजका काम ज़ोरके साथ चलाया जासके, खोजे हुए ग्रन्थोंका उद्धार हो सके और सम्पूर्ण जैन ग्रंथोंकी एक मुकम्मल तथा सुव्यवस्थित सूची तैयार हो सके। अस्तु।

अब मैं मूल ग्रन्थको अनुवादके साथ अनेकान्तके पाठकोंके सामने रखकर उन्हें उसका पूरा परिचय करा देना चाहता हूँ। परन्तु ऐसा करनेसे पहले इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि यह ग्रंथ आकारमें छोटा होनेपर भी उमास्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रकी तरह दश अध्यायोंमें विभक्त है, मूल विषय भी इसका उसीके समान मोक्षमार्गका प्रतिपादन है और उसका क्रम भी प्रायः एक ही जैसा है—कहीं कहीं पर थोड़ासा कुछ विशेष ज़रूर पाया जाता है, जिसे आगे यथावसर सूचित कर दिया जायगा। इन अध्यायोंमें सूत्रोंकी संख्या क्रमशः १५, १२, १८, ६, ११, १४, ११, ८, ७, ५ है, और इस तरह कुल सूत्र १०७ हैं। इस सूत्रमें दश अध्याय होनेके कारण इसे '**दशसूत्र**' नाम भी दिया गया है—उमास्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रको भी 'दशसूत्र' कहा जाता है,—और यह नाम ग्रंथकी प्रथम पंक्तिमें ही, उसका लिखना प्रारम्भ करते हुए, '**अथ**' और '**लिख्यते**' पदोंके मध्यमें दिया है। ग्रंथके अन्तमें—१०वीं संधि (पुष्पिका) के अनन्तर—'**इति**' और '**समाप्तं**' पदोंके मध्यमें इसे '**जिनकल्पी सूत्र**' भी लिखा है। इस प्रकार ग्रंथप्रतिके आदि, मध्यम और अन्तमें इस सूत्रग्रंथके क्रमशः दशसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र और जिनकल्पी सूत्र, ऐसे तीन नाम दिये हैं। पिछला नाम अपनी खास विशेषता रखता है और उसने बा० कौशलप्रसादजीको इस ग्रन्थको कोटामें लानेके लिये और भी अधिक प्रेरित किया है। हाँ, मात्र १०वीं संधिमें 'तत्त्वार्थसूत्र' के स्थानपर 'तत्त्वार्थसारसूत्र' ऐसा नामोल्लेख भी है, जिसका यह आशय होता है कि यह ग्रंथ तत्त्वार्थ विषयका सार-भूत ग्रंथ है अथवा इस सूत्रमें तत्त्वार्थशास्त्रका सार खींचा गया है। पिछले आशयसे यह भी ध्वनित हो सकता है कि इस ग्रंथमें सम्भवतः उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रका ही सार खींचा गया हो। ग्रन्थ-प्रकृति और उसके अर्थ सादृश्यको देखते हुए, यद्यपि, यह बात कुछ असंगत मालूम नहीं होती बल्कि अधिकतर झुकाव उसके माननेकी ओर होता है; फिर भी ६ संधियोंमें 'सार' शब्दका प्रयोग न होनेसे १०वीं संधिमें उसके प्रयोगको प्रक्षिप्त भी कहा जा सकता है। कुछ भी हो, अभी ये सब बातें विशेष अनुसंधानसे सम्बन्ध रखती हैं, और इसके लिये ग्रंथकी दूसरी प्रतियोंको भी खोजनेकी ज़रूरत है। साथ ही, यह भी मालूम होना ज़रूरी है कि इस सूत्रग्रन्थपर कोई टीका-टिप्पणी भी लिखी गई है

या कि नहीं—जिसके लिखे जानेकी बहुत बड़ी सम्भावना है। यदि कोई टीका-टीप्पणी उपलब्ध है तो उसे भी विशेष परिचयादिके द्वारा प्रकाशमें लाना चाहिये।

फिर भी इस ग्रंथके विषयमें इतना कह देनेमें तो कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि इसके सूत्र अर्थ-गौरवको लिये होने पर भी आकारमें छोटे, सुगम, कण्ठ करने तथा याद रखनेमें आसान है, और उनसे तत्त्वार्थ-शास्त्र अथवा मोक्षशास्त्रका मूल विषय सूचनारूपमें संक्षेपतः सामने आ जाता है।

एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि इस सूत्रग्रन्थके शुरूमें प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्ध-को व्यक्त करता हुआ एक पद्य मंगलाचरणका है, परन्तु अन्तमें ग्रंथकी समाप्ति आदिका सूचक कोई पद्य नहीं है! ऐसे गद्यात्मक सूत्रग्रंथोंमें जिनका प्रारम्भ मंगलाचरणादिके रूपमें किसी पद्य-द्वारा होता है उनके अन्तमें भी कोई पद्य समाप्ति आदिका जरूर होता है, ऐसा अक्सर देखनेमें आया है। उदाहरणके लिये परीक्षा-मुखसूत्र, न्यायदीपिका और राजवार्तिकको ले सकते हैं, इन ग्रंथोंमें आदिके समान अन्तमें भी एक एक पद्य पाया जाता है। जिन ग्रंथ-प्रतियोंमें वह उपलब्ध नहीं होता उनमें वह लिखनेसे छूट गया है, जैसे कि न्याय-दीपिका और राजवार्तिककी मुद्रित प्रतियोंमें अन्तका पद्य छूट गया है, उसे दूसरी हस्तलिखित प्रतियों परसे खोजकर प्रकट किया जा चुका है*। ऐसी स्थिति होते हुए इस सूत्रग्रंथके अन्तमें भी कमसे कम एक पद्यके होनेकी बहुत बड़ी सम्भावना है। मेरे ख्यालसे वह पद्य इस ग्रंथप्रतिमें अथवा जिसपरसे यह प्रतिकी गई है उसमें छूट गया है। उसके सामने आने पर और भी कुछ बातों पर प्रकाश पड़नेकी संभावना है, और इस लिये इस ग्रंथकी दूसरी प्रतियोंको खोजनेकी और भी ज्यादा ज़रूरत है। आशा है इसके लिये साहित्य-प्रेमी विद्वान् अपने अपने यहाँके शास्त्रभंडारोंको ज़रूर ही खोजनेका प्रयत्न करेंगे और अपनी खोजके परिणामसे मुझे शीघ्र ही सूचित कर अनुगृहीत करेंगे।

मूलग्रंथ और उसका अनुवादादिक

नीचे मूल ग्रंथके सूत्रादिको उद्धृत करते हुए जहाँ मूलका पाठ स्पष्टतया अशुद्ध जान पड़ा है वहाँ उसके स्थान पर वह पाठ दे दिया गया है जो अपनेको शुद्ध प्रतीत हुआ है और ग्रन्थप्रतिमें पाये जाने वाले अशुद्ध पाठको फुटनोटमें दिखला दिया है, जिससे वस्तुस्थितिके ठीक समझनेमें कोई प्रकारका भ्रम न रहे और न मूल सूत्रोंके पढ़ने तथा समझनेमें कोई दिक्कत ही उपस्थित होवे। परन्तु वकारके स्थान पर बकार और बकारके स्थान पर वकार बनानेकी जिन अशुद्धियोंको ऊपर सूचित किया जा चुका है उन्हें फुटनोटोंमें दिखलानेकी ज़रूरत नहीं समझी गई। इसी तरह संधि तथा पद-विभि-क्तनादिके संकेतचिन्होंको भी देनेकी जरूरत नहीं समझी गई। इसके अतिरिक्त जो अक्षर सूत्रोंमें छूटे हुए जान पड़े हैं उन्हें सूत्रोंके साथ ही [ ] इस प्रकारके कोष्ठकके भीतर रख दिया है और जो पाठ अधिक संभाव्य प्रतीत हुए हैं उन्हें प्रश्नांकके साथ (…?) ऐसे कोष्ठकमें देदिया है। पाई(।) दो पाई (।।)के विरामचिन्ह ग्रंथमें लगे हुए नहीं हैं, परंतु उनके लिये स्थान छुटा हुआ है, उन्हें भी यहां दे दिया है। और इस तरह मूल ग्रंथको उसके असली रूपमें पाठकोंके सामने रखनेका भरसक यत्न किया गया है; फिर भी यदि

* देखो, प्रथम वर्षके 'अनेकान्त' की ४ थी किरण में 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षक लेखका नं०१२, १३ पृ० १७२।

कोई अशुद्धियाँ रह गई हों तो उन्हें विज्ञ पाठक सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे उनका सुधार हो सके।

अनुवादको मूल सूत्रादिके अनन्तर अनुवादके रूपमें ही रक्खा गया है—व्याख्यादिके रूपमें नहीं। और उसे एक ही पैराग्राफमें सिंगल इनवर्टेडकामाज़ के भीतर देदिया गया है, जिससे मूलको मूलके रूपमें ही समझा जा सके। जहां कहीं विशेष व्याख्या, स्पष्टीकरण अथवा तुलनाकी ज़रूरत पड़ी है वहां उस सब को अनुवादके अनन्तर भिन्न पैरेग्राफोंमें अलग दे दिया।

इस प्रकार यह मूल ग्रन्थ और उसके अनुवादादिक को देनेकी पद्धति है, जिसे यहां अपनाया गया है।

ग्रन्थारंभसे पूर्व का अंश

॥ ऐं ॥ ॐ नमःसिद्धं। अथ दशसूत्रं‡ लिख्यते।

'ऐं, ॐ, सिद्ध को नमस्कार। यहां (अथवा अब) दशसूत्र लिखा जाता है।'

यह प्रायः लिपिकर्ता लेखकका मंगलाचरणके साथ ग्रंथका नामोल्लेख-पूर्वक उसके लिखनेकी प्रतिज्ञा एवं सूचनाका वाक्य है। हो सकता है कि यह वाक्य प्रकृत ग्रंथप्रतिके लेखक पं० रतनलालकी खुदकी कृति न हो बल्कि उस ग्रंथप्रतिमें ही इस रूपसे लिखा हो जिस पर से उन्होंने यह प्रति उतारी है। मूल ग्रंथ के मंगलाचरणादिके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है।

पहला अध्याय

मूलका मंगलाचरण

सदृष्टिज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः सनातनः।
आविरासीद्यतो वंदे तमहं वीरमच्युतं ॥१॥

‡ ग्रन्थप्रतिमें 'दशसूत्र' ऐसा अशुद्ध पाठ है।

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप सनातन मोक्ष-मार्ग जिससे—जिसके उपदेशसे—प्रकट हुआ है उस अच्युत वीरकी मैं वन्दना करता हूँ।'

इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय मोक्षमार्ग है, उस सनातन मोक्षमार्गका जिनके उपदेश द्वारा लोकमें आविर्भाव हुआ है—पुनः प्रकटीकरण हुआ है—उन अमर-अविनाशी वीर प्रभुका उनके उस गुणविशेषके साथ वन्दन-स्मरण करके यहां यह व्यक्त किया गया है कि इस ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका सम्बंध वीरप्रभुके उपदेशसे है— उसीके अनुसार सब कुछ कथन किया गया है।

सूत्रारम्भ

सम्यग्दर्शनाऽवगमवृत्तानि मोक्षहेतुः ॥१॥

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिले हुए—मोक्षका साधन है।'

यह सूत्र और उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका पहला सूत्र दोनों एकही टाइप और एक ही आशयके हैं। अक्षर-संख्या भी दोनोंकी १५-१५ ही है। वहां ज्ञान, चारित्र और मार्ग शब्दोंका प्रयोग हुआ है तब यहाँ उनके स्थान पर क्रमशः अवगम, वृत्त और हेतु शब्दोंका प्रयोग हुआ है, जो समान अर्थके ही द्योतक हैं।

जीवादिसप्ततत्त्वं ॥२॥

'जीव आदि सात तत्त्व हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे छह तत्त्वोंके ग्रहणका निर्देश है, क्योंकि जैनागममें जीव सहित इन तत्त्वोंकी ही 'सप्ततत्त्व' संज्ञा है। यह सूत्र और उमास्वातिका ४था सूत्र दोनों एकार्थ-वाचक हैं। उसमें सातों तत्त्वोंके नाम दिये गये हैं तब इसमें 'आदि' शब्दसे शेष छह रूढ़ तत्त्वोंका संग्रह किया गया है, और इसलिये इसमें अक्षरोंकी संख्या अल्प हो गई है।

तदर्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ॥३॥

उनके—सप्ततत्वोंके—अर्थश्रद्धानको—निश्चयरूप रुचिविशेषको—सम्यग्दर्शन कहते हैं ।'

यह उमास्वातिके द्वितीय सूत्रके साथ मिलता जुलता है। दोनोंकी अक्षर संख्या भी समान है—वहाँ 'तत्त्वार्थ-श्रद्धानं' पद दिया है तब यहां 'तदर्थश्रद्धानं' पदके द्वारा वही आशय व्यक्त किया गया है। भेद दोनोंमें कथन-शैलीका है। उमास्वातिने सम्यग्दर्शनके लक्षणमें प्रयुक्त हुए 'तत्त्व' शब्दको आगे जाकर स्पष्ट किया है और प्रभाचन्द्रने पहले 'तत्त्व' को बतला कर फिर उसके अर्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है और इस तरह कथनका सरल मार्ग अंगीकार किया है। कथनका यह शैली-भेद आगे भी बराबर चलता रहा है।

तदुत्पत्तिर्द्विधा ॥४॥

'उस—सम्यग्दर्शन—की उत्पत्ति दो प्रकारसे है ।'

यहां उन दो प्रकारोंका–आगमकथित निसर्ग और अधिगम भेदोंका–उल्लेख न करके उनकी मात्र सूचना की गई है; जबकि उमास्वातिने 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' इस तृतीय सूत्रके द्वारा उनका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

नामादिना तन्न्यासः ॥५॥

'नाम आदिके द्वारा उनका–सम्यग्दर्शनादिका तथा जीवादि तत्त्वोंका—न्यास (निक्षेप) होता है— व्यवस्थापन और विभाजन किया जाता है ।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे स्थापना, द्रव्य और भावके ग्रहणका निर्देश है; क्योंकि आगममें न्यास अथवा निक्षेपके चार ही भेद किये गये हैं और वे षट्खण्डागमादि मूल ग्रंथोंमें बहुत ही रूढ़ तथा प्रसिद्ध हैं और उनका बार बार उल्लेख आया है। और इसलिये इस सूत्रका भी वही आशय है जो उमास्वातिके पाँचवें सूत्र **"नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः"** का होता है।

प्रमाणे द्वे ॥६॥

'प्रमाण दो हैं ।'

यहाँ दोकी संख्याका निर्देश करनेसे प्रमाणके आगम-कथित प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों भेदोंका संग्रह किया गया है। यह उमास्वातिके १०वें सूत्र **"तत्प्रमाणे"** के साथ मिलता-जुलता है, परन्तु दोनोंकी कथनशैली और कथनक्रम भिन्न हैं। इसमें प्रमाणके सर्वार्थसिद्धि-कथित 'स्वार्थ' और परार्थ नामके दो भेदोंका भी समावेश हो जाता है।

नयाः सप्त ॥७॥

'नय सात हैं ।'

यहाँ सातकी संख्याका निर्देश करनेसे नयोंके आगम कथित नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे सात भेदोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिने नयोंका उल्लेख यद्यपि **'प्रमाण-नयैरधिगमः'** इस छठे सूत्रमें किया है परन्तु उनकी *सात संख्या और नामोंका सूचक सूत्र प्रथम अध्याय के अन्तमें दिया है। यहाँ दूसरा ही क्रम रक्खा गया है और उक्त छठे सूत्रके आशयका जो सूत्र यहाँ दिया है वह इससे अगला आठवाँ सूत्र है।

*** श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ और उसके भाष्यमें नयों की मूल संख्या नैगम, संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द, ऐसे पांच दी है, फिर नैगमके दो और शब्द नयके साम्प्रत, समभिरूढ, एवंभूत ऐसे तीन भेद किये गये हैं, और इस तरह नयके आठ भेद किये हैं। परन्तु पं० सुखलालजी अपनी तत्वार्थसूत्रकी टीकामें यह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि जैनागमों और दिगम्बरीय ग्रंथों की परम्परा उक्त सात नयोंकी ही है।**

तैरधिगमस्तत्त्वानां ॥८॥

'उन—प्रमाणों तथा नयों—के द्वारा तत्त्वोंका विशेष ज्ञान होता है।'

इस सूत्रमें '**प्रमाणनयैः**' की जगत 'तैः' पदके प्रयोग से जहां सूत्रका लाघव हुआ है वहां '**तत्त्वानां**' पद कुछ अधिक जान पड़ता है। यह पद उमास्वातिके उक्त छठे सूत्रमें नहीं है फिर भी इस पदसे अर्थमें स्पष्टता जरूर आ जाती है।

सदादिभिश्च ॥९॥

'सत् आदिके द्वारा भी तत्त्वोंका विशेष ज्ञान होता है।'

यहां 'आदि' शब्दसे संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व नामके सात अनुयोगद्वारोंके ग्रहणका निर्देश है; क्योंकि सत्-पूर्वक इन अनुयोगद्वारोंकी आठ संख्या आगममें रूढ़ है—षट्खण्डागमादिकमें इनका बहुत विस्तारके साथ वर्णन है। इस सूत्रका और उमास्वातिके '**सत्संख्यादि**' सूत्र नं० ८ का एक ही आशय है।

†मत्यादीनि [पंच] ज्ञानानि ॥१०॥

'मति आदिक पांच ज्ञान हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दके द्वारा श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, इन चार ज्ञानोंका संग्रह किया गया है, क्योंकि मति-पूर्वक ये ही पाँच ज्ञान आगममें वर्णित हैं।

क्षयोपशम [क्षय] हेतवः ॥११॥

'मत्यादिक ज्ञान क्षयोपशम-क्षय हेतुक हैं।'

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, ये चार ज्ञान तो मतिज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होते हैं, इसलिये 'क्षायोपशमिक' कहलाते हैं और केवलज्ञान ज्ञानावरणादि-घातियाकर्म-प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न होता है, इसलिये 'क्षायिक' कहा जाता है।

षड्विधोऽवधिः ॥१२॥

'अवधिज्ञान छह भेदरूप है।'

यहां छहकी सख्याका निर्देश करनेसे अवधिज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेदोंका ग्रहण किया गया है,जो सब क्षयोपशमके निमित्तसे ही होते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान जो देव-नारकियोंके बतलाया गया है वह भी क्षयोपशमके बिना नहीं होता और छह भेदोंमें उसका भी अन्तर्भाव हो जाता है, इसीसे यहाँ उसका पृथक् रूपसे ग्रहण करना नहीं पाया जाता। यह सूत्र उमास्वातिके '**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां**' इस २२ वें सूत्रके साथ मिलता-जुलता है।

द्विविधो मनःपर्ययः ॥१३॥

'मनः पर्ययज्ञान दो भेदरूप हैं।'

यहां दोकी सख्याके निर्देश द्वारा मनः पर्ययके ऋजुमति और विपुलमति दोनों प्रसिद्ध भेदोंका संग्रह किया गया है और इसलिये इसका वही आशय है जो उमास्वातिके '**ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः**' इस सूत्र नं० २३ का होता है।

अखंडं केवलं ॥ १४ ॥

'केवलज्ञान अखंड है—उसके कोई भेद-प्रभेद नहीं है।'

इस सूत्रके आशयका कोई सूत्र उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रमें नहीं है।

समयं† समयमेकत्र चत्वारि ॥ १५ ॥

'कभी कभी एक जीवमें युगपत् चार ज्ञान होते हैं।'

केवलज्ञानको छोड़ कर शेष चार ज्ञान एक स्थान ......

† स।

† ब

पर किसी समय युगपत् हो सकते हैं। इससे दो तीन ज्ञानोंका भी एक साथ होना ध्वनित होता है। दो एक साथ होंगे तो मति, श्रुत होंगे, और तीन होंगे तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत और मनः पर्यय होंगे। एक ज्ञान केवलज्ञान ही होता है—उसके साथमें दूसरे ज्ञान नहीं रहते। यह सूत्र उमास्वातिके **'एकादी-नि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः'** इस सूत्रके समकक्ष है और इसी-जैसे आशयको लिये हुए है। परन्तु इसकी शब्द-रचना कुछ सन्दिग्धसी जान पड़ती है। संभव है **'एकत्रचत्वारि'** के स्थान पर **'एकत्रैक द्वित्रिचत्वारि'** ऐसा पाठ हो।

इति श्री बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

'इस प्रकार श्री बृहत् प्रभाचन्द्र-विरचित तत्वार्थ-सूत्रमें पहला अध्याय समाप्त हुआ।'

दूसरा अध्याय

जीवस्य पंचभावाः ॥ १ ॥

'जीवके पंचभाव होते हैं।'

यहां पाँचकी संख्याका निर्देश करनेसे जीवके आगम-कथित औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ऐसे पांच भावोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिके दूसरे अध्यायका "औप-शमिकक्षायिकौ" आदि प्रथम सूत्र भी जीवके भावोंका द्योतक है। उसमें पांचोंके नाम दिये हैं, जिससे वह बड़ा सूत्र हो गया है। आशय दोनोंका प्रायः एक ही है।

उपयोगस्तल्लक्षणं ॥ २ ॥

'जीवका लक्षण उपयोग है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका **'उपयोगो लक्षणं'** नामका सूत्र एक ही अर्थके वाचक हैं।

सद्विद्*विधः ॥ ३ ॥

'वह (उपयोग) दो प्रकारका होता है।'

यहां दोकी संख्याका निर्देश करनेसे उपयोगके आगमकथित दो मूल भेदोंका संग्रह किया गया है—उत्तर भेदोंका वैसा कोई निर्देश नहीं किया जैसा कि उमास्वातिके **"सद्विविधोऽष्टचतुर्भेदः"** इस सूत्र नं० ६ में पाया जाता है।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ ४ ॥

'द्वीन्द्रियादिक जीव त्रस हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा संज्ञी-असंज्ञीके भेदरूप पंचेन्द्रिय जीवोंके ग्रहणका निर्देश है। यह सूत्र और उमास्वातिका १४ वाँ सूत्र अक्षरशः एक ही हैं †।

शेषाः‡ स्थावराः ॥ ५ ॥

'शेष (एकेन्द्रिय) जीव स्थावर हैं।'

उमास्वातिके दिगम्बरीय सूत्रपाठके **'पृथिव्यप्ते-जोवायुवनस्पतयः स्थावराः'** सूत्र नं० १३ का जो आशय है वही इस सूत्रका है। और इसलिए स्थावर जीव पृथिवी आदिके भेदसे पांच प्रकारके हैं।

द्रव्यभावभेदादिंद्रियं द्विप्रकारं ॥ ६ ॥

'द्रव्य और भावके भेदसे इन्द्रिय दो प्रकार है।'

इस सूत्रमें यद्यपि उमास्वातिके **"द्विविधानि'** १६,

---

* द्वि।

† श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें १४वें सूत्रका रूप **'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः'** ऐसा दिया है; क्योंकि श्वेता-म्बरीय भाई अग्नि और वायुकायके जीवोंको भी त्रस जीव मानते हैं।

‡ पा

'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं' १७, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं १८, इन तीन सूत्रोंके आशयका समावेश है, परन्तु द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदोंको खोला नहीं।

विग्रहाद्या गतयः ॥७॥

'विग्रहा आदि गतियाँ हैं।'

यहाँ गतियोंकी कोई संख्या नहीं दी। विग्रहागति समारी जीवोंकी और अविग्रहा मुक्त जीवोंकी होती है। अविग्रहाको 'इषुगति' भी कहते हैं, और 'विग्रहा' के तीन भेद किये जाते हैं—१ पाणिमुक्ता २ लाङ्गलिका ३ गोमूत्रिका। आर्षग्रंथोंमें इषुगति-सहित इन्हें गतिके चार भेद गिनाये हैं। यदि इन चारोंका ही अभिप्राय यहाँ होता तो इस सूत्रका कुछ दूसरा ही रूप होता। अतः विग्रहा, अविग्रहाके अतिरिक्त गतिके नरकगति, तिर्यंचगति, देवगति, मनुष्यगति ऐसे जो चारभेद और भी किये जाते हैं उनका भी समावेश इस सूत्रमें हो सकता है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें इस प्रकारका कोई अलग सूत्र नहीं है—यों '**अविग्रहाजीवस्य, विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः, एकसमयाऽविग्रहा**' आदि सूत्रोंमें गतियोंका उल्लेख पाया ही जाता है।

सचित्तादयो योनयः ॥ ८ ॥

'सचित्त आदि योनियाँ हैं।'

यहाँ सूत्रमें यद्यपि योनियोंकी संख्या नहीं दी; परंतु सचित्त योनिसे जिनका प्रारम्भ होता है उनकी संख्या आगममें नव है—ग्रंथप्रतिमें '**योनयः**' पद पर ६ का अंक भी दिया हुआ है। ऐसी हालतमें उमास्वातिके "**सचित्त-शीत संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः**" इस सूत्र नं० ३२ का जो आशय है वही इस सूत्रका आशय समझना चाहिये।

औदारिकादीनि शरीराणि ॥९॥

'औदारिक आदि शरीर होते हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण नामके चार शरीरोंके ग्रहणका संकेत है; क्योंकि औदारिक-सहित शरीरोंके पांच ही भेद आगममें पाये जाते हैं। और इसलिये इस सूत्रका वही आशय है जो उमास्वातिके '**औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि**" इस सूत्र नं० ३६ का है।

एकस्मिन्नात्मन्याचतुर्भ्यः ॥१०॥

'एक जीवमें चार तक शरीर (एक साथ) होते हैं।'

यह सूत्र उमास्वातिके "**तदादीनिभाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः**" इस सूत्रके साथ मिलता जुलता है; परन्तु इस सूत्रमें '**तदादीनि**' पदके द्वारा 'तैजस और कार्मण नामके दो शरीरोंको आदि लेकर' ऐसा जो कथन किया गया है और उसके द्वारा एक शरीर अलग नहीं होता ऐसा जो नियम किया गया है वह स्पष्ट विधान इस सूत्रमें उपलब्ध नहीं होता।

आहारकं प्रमत्त[संयत]स्यैव ॥११॥

'आहारक प्रमत्तसंयतके ही होता है।'

आहारक शरीरके लिये यह नियम है कि वह प्रमत्तसंयत नामके छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ही होता है—अन्यके नहीं। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें इसी आशयका सूत्र नं०४९ पर है। उसमें आहारक शरीरके शुभ, विशुद्ध, अव्याघाति ऐसे तीन विशेषण दिये हैं। मूल बात आहारक शरीरके स्वामित्वनिर्देशकी दोनोंमें एक ही है। श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें '**प्रमत्तसंयतस्यैव**' के स्थान पर '**चतुर्दशपूर्वधरस्यैव**' पाठ है, और इसलिये वे लोग चौदह पूर्वधारी (श्रुतकेवली) मुनिके ही आहारक शरीरका होना बतलाते हैं।

तीर्थेश देव-नारक-भोगभुवोऽखंडायुषः† ॥१२॥

---

† **अखंडायुषः।**

'तीर्थंकर, देव, नारकी और भोगभूमिया अखंड आयु वाले होते है।'

अकालमरणके द्वारा बद्ध आयुका बीचमें खण्डित न होना 'अखण्डायु' कहलाता है। तीर्थंकरों आदिका अकालमरण नहीं होता—बाह्य निमित्तोंको पाकर उनका आयु छिदता-भिदता अथवा परिवर्तनीय नहीं होता—वे कालक्रमसे अपनी पूरी ही बद्धायुका भोग करते हैं। दूसरे मनुष्य-तिर्यंचोंके अखण्डायु होनेका नियम नहीं—वे अखण्डायु हो भी सकते हैं और नहीं भी। यह सूत्र उमास्वातिके 'औपपादिकचरमोत्तमदेहा‡ऽसंख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः' इस ५३वें सूत्रकी अपेक्षा बहुत कुछ सरल स्पष्ट तथा अल्पाक्षरी है, इसमें उक्त सूत्र-जैसी जटिलता नहीं है।

इति श्रीप्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे द्वितीयोध्यायः ॥ २ ॥

'इस प्रकार श्री प्रभाचंद्र-विरचित तत्वार्थसूत्रमें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय

रत्नप्रभाद्याः सप्तभूमयः ॥१॥

'रत्नप्रभा आदि सात भूमियां हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा इन छह भूमियोंका संग्रह किया गया है; क्योंकि आगममें रत्नप्रभाको आदि लेकर ये ही सब सात नरक भूमियां वर्णित हैं। यह सूत्र उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके मूल आशयके साथ मिलता-जुलता है। उसमें 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः' और 'अधोऽधः' पदों के द्वारा इन नरकभूमियोंके सम्बन्धमें कुछ विशिष्ट एवं स्पष्ट कथन और भी किया है।

तासु नारकाः सपंचदुःखाः ॥ २ ॥

'उन सातों भूमियोंमें नारकी जीव रहते हैं और वे पंच प्रकारके दुःखोंसे युक्त होते हैं।

नारकी जीव स्वसंक्लेशपरिणामज, क्षेत्रस्वभावज, परस्परोदीरित और असुरोदीरित आदि अनेक प्रकारके दुःखोंसे निरन्तर पीडित रहते हैं। यहाँ उन सब दुःखों को पांच भेदोंमें सीमित किया गया है, जिनके स्पष्ट नाम नहीं मालूम हो सके। उमास्वातिके प्रायः २ से ५ तकके सूत्रोंका आशय इसमें संनिहित जान पड़ता है।

जम्बूद्वीपलवणोदादयोऽसंख्येयद्वीपोदधयः ॥३॥

'जम्बूद्वीप और लवणोदधिको आदि लेकर असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।'

यह सूत्र और उमास्वातिका "जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः' यह सूत्र नं० ७ दोनों एक ही आशयको लिये हुए हैं। एकमें द्वीप-समुद्रोंका 'शुभनामानः' विशेषण है तो दूसरेमें 'असंख्येय' विशेषण है।

तन्मध्ये लक्षयोजनप्रमः सचूलिको मेरुः ॥ ४ ॥

'उन द्वीप-समुद्रोंके मध्यमें लाख योजन प्रमाण वाला चूलिका सहित मेरु (पर्वत) है।'

उमास्वातिने 'तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो' इत्यादि सूत्रके द्वारा मेरुपर्वतको नाभिकी तरह मध्यस्थित बतलाते हुये उसका कोई परिमाण न देकर जम्बूद्वीपको लक्ष योजन प्रमाण विस्तार वाला बतलाया है, जब कि

‡ श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें 'औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषा" ऐसा पाठ है जिसके द्वारा सभी चरम शरीरी तथा उत्तम पुरुषोंको अखण्डायु बतलाया है। उसमें भी यह द्वितीय अध्यायका अन्तिम सूत्र है परन्तु इसका नम्बर वहाँ ५२ है।

यहाँ जम्बूद्वीपका कोई परिमाण न देकर मेरुका ही परिमाण दिया है। जम्बूद्वीप और मेरुपर्वत दोनों ही एक एक लाख योजनके हैं।

हिमवत्प्रमुखाः षट्कुलनगाः ॥ ५ ॥

'हिमवान्‌को आदि लेकर षट् कुलाचल हैं।'

यहां छहकी संख्याका निर्देश करनेसे 'प्रमुख' शब्दके द्वारा महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी शिखरी इन पांच कुलाचलोंका संग्रह किया गया है, क्योंकि आगममें हिमवान्-सहित छह पर्वतोंका वर्णन है जो जम्बूद्वीपादिकमें स्थित हैं। उमास्वातिने ११ वें सूत्रमें उन सबका नाम-सहित संग्रह किया है।

तेषु पद्मादयो ह्रदाः ॥ ६ ॥

'उन कुलाचलों पर 'पद्म' आदि ह्रद हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे महापद्म, तिगिंछ, केसरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके पांच ह्रदोंका संग्रह किया गया है, जो शेष महाहिमवान् आदि कुलाचलों पर स्थित है। और जिनका उमास्वातिने अपने १४ वे **'पद्ममहापद्म'** आदि सूत्रमें उल्लेख किया है।

तन्मध्ये श्र्यादयो देव्यः ॥ ७ ॥

'उन ह्रदोंके मध्यमें श्री आदि देवियां रहती हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे आगम-वर्णित ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी नामकी पांच देवियोंका संग्रह किया गया है, जिन्हें उमास्वातिने अपने १९ वें सूत्रमें ह्रद स्थित कमलोंमें निवास करने वाली बतलाया है।

तेभ्यो* गंगादयश्चतुर्दशमहानद्यः ॥ ८ ॥

'उन (ह्रदों) से गंगादिक १४ महा नदियां निकलती हैं।'

यहां १४ की संख्याके निर्देशके साथ 'आदि' शब्दसे आगमवर्णित सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा, इन १३ नदियोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिने अपने **'गंगासिंधु'** आदि सूत्र नं० २०† में इन सबका नामोल्लेख-पूर्वक संग्रह किया है। इसीसे वह सूत्र बड़ा हो गया है।

भरतादीनि वर्षाणि ॥ ९ ॥

'भरत आदि क्षेत्र हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नामके छह क्षेत्रोंका संग्रह किया गया है। षट् कुलाचलोंसे विभाजित होनेके कारण जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी संख्या सात होती है। यह सूत्र और उमास्वातिका १० वाँ (**'भरतहैमवत हरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि'**) सूत्र एक ही आशयके हैं।

त्रिविधा भोगभूमयः ॥१०॥

'भोग भूमियां तीन प्रकारकी होती हैं।'

यहाँ जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन प्रकार की भोगभूमियोंका निर्देश है। हैमवत-हैरण्यवत क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमि, हरि-रम्यकक्षेत्रोंमें मध्यमभोगभूमि और विदेहक्षेत्र-स्थित देवकुरु-उत्तरकुरुमें उत्तमकर्मभूमिकी व्यवस्था है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें यद्यपि इस प्रकारका कोई स्वतन्त्र सूत्र नहीं है परन्तु उसके **'एकद्वित्रिपल्योपम'** आदि सूत्र नं० १६ और **'तथोत्तराः'** नामके सूत्र नं० २०* में यह सब आशय संनिहित है।

भरतैरावतेषु षट्कालाः ॥११॥

'भरत और ऐरावत नामके क्षेत्रोंमें छह काल वर्तते हैं।'

---

* तस्माद्।

† श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें यह सूत्र ही नहीं है।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें ये दोनों ही सूत्र नहीं हैं।

इस सूत्रका प्रायः वही आशय है जो उमास्वातिके ''भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्' इस सूत्र नं० २७† का है।

विदेहेषु सन्ततश्चतुर्थः ॥१२॥

'विदेहक्षेत्रोंमें सदा चौथा काल वर्तता है।

इस आशयका कोई सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है। सर्वार्थसिद्धिकारने 'विदेहेषु संख्येयकालाः' सूत्र* की व्याख्या करते हुए 'तत्र कालः सुषमदुःषमाद्योपमः सदाऽवस्थितः इस वाक्यके द्वारा वहाँ सदा चतुर्थ कालके होनेको सूचित किया है।

आर्या म्लेच्छाश्च नरः ॥१३॥

'मनुष्य आर्य और म्लेच्छ होते हैं।

यह सूत्र और उमास्वातिका 'आर्या म्लेच्छाश्च' सूत्र (नं० ३६) एक ही आशयके हैं। इसमें 'नरः' पद 'नृ' शब्दका प्रथमाका बहुवचनान्तपद है, जो यहाँ अधिक नहीं, किन्तु कथन-क्रमको देखते हुए आवश्यक जान पड़ता है।

त्रिषष्ठि‡शलाकापुरुषाः ॥१४॥

एकादशरुद्राः ॥१५॥

नवनारदाः ॥१६॥

चतुर्विंशति कामदेवाः ॥१७॥

'त्रेसठ शलाका पुरुष होते हैं।'

'ग्यारह रुद्र होते हैं।'

'नव नारद होते हैं।'

'चौबीस कामदेव होते हैं।'

इन चारों सूत्रोंके आशयका का कोई भी सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं है।

मनुष्यतिरश्चामुत्कृष्ट-जघन्यायुषी त्रिपल्योपमान्तमुहूर्ते‡ ॥१८॥

'मनुष्य और तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तकी होती है।

उमास्वातिके ''नृस्थितिपरापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते'' और ''तिर्यग्योनिजानां च'' इन दो सूत्रों (३८, ३९) में जो बात कही गई है वही यहां इस एक सूत्रमें वर्णित है-अक्षर भी अधिक नहीं हैं।

इति श्रीबृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे तृतीयोध्यायः ॥३॥

'इस प्रकार श्रीबृहत्प्रभाचंद्र-विरचित तत्त्वार्थसूत्रमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।'

चौथा अध्याय

दशाष्टपंचभेदभावन-व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥१॥

'भवनवासियों, व्यन्तरों और ज्योतिषियोंके क्रमशः दश, आठ और पाँच भेद होते हैं।

भवनवासी आदि देवोंकी यह भेद-गणना उमास्वातिके ''दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः'' सूत्र (नं० ३) में पाई जाती है।

वैमानिका द्विविधाः[1]कल्पजकल्पातीत[2]भेदात् ॥२॥

'वैमानिक (देव) कल्पज और कल्पातीतके भेदसे दो प्रकारके होते हैं'।

इस सूत्र-विषयके लिये उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें

† श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें यह सूत्र भी नहीं है।

* यह सूत्र भी श्वेताम्बरीय सूत्र पाठमें नहीं है।

‡ सलाका।

‡ मुहूर्तौ।

१ भा। २ ता

'**वैमानिकाः**' और '**कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च**' ऐसे दो सूत्र पाये जाते हैं।

सौधर्मादयः षोडशकल्पाः ॥३॥

'सौधर्म आदि सोलह कल्प हैं।'

इस सूत्रमें कल्पोंकी संख्या १६ निर्दिष्ट करनेसे 'आदि' शब्दके द्वारा ईशान आदि उन १५ स्वर्गोंका संग्रह किया गया है जिनके नाम उमास्वातिके दिगम्बर पाठानुसार १९ वें सूत्रमें दिये हैं।

ब्रह्मालयाः लौकांतिकाः‡ ॥४॥

'लौकान्तिक (देव) ब्रह्मकल्पके निवासी होते हैं।'

यह सूत्र और उमास्वातिका 'ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः' सूत्र प्रायः एक ही है।

ग्रैवेयकाद्या अकल्पाः ॥५॥

'ग्रैवेयक आदि अकल्प हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामके उन आगमोदित विमानोंका संग्रह किया गया है जिनका उमास्वातिके भी उक्त १९ वें सूत्रमें उल्लेख है। उमास्वातिने भी '**प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः**' इस सूत्रके द्वारा इन्हें 'अकल्प' सूचित किया है।

सामान्यतो देवनारकाणामुत्कृष्टेतरस्थितिस्त्रय-स्त्रिशत्सागराऽयुताब्दाः † ॥ ६ ॥

'सामान्यतया देवनारकोंकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर और जघन्य स्थिति १० हज़ार वर्षकी है।'

उमास्वातिने '**दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्**' इत्यादि अनेक सूत्रोंमें इसी आशयको वर्णित किया है। इस सूत्रका '**सामान्यतया**' पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य है, और उससे विशेषावस्थामें किसी अपवादके होनेकी भी सूचना मिलती है।

इति श्रीवृहत्प्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे
चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

'इस प्रकार श्री बृहत्प्रभाचंद्रविरचित तत्त्वार्थसूत्रमें चौथा अध्याय पूर्ण हुआ।'

पाँचवाँ अध्याय

पंचास्तिकायाः॥ १ ॥

'पाँच अस्तिकाय हैं।'

यहाँ अस्तिकायके लिये पाँचकी संख्याका निर्देश करनेसे आगमकथित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसे पांच द्रव्योंका संग्रह किया गया है। इनका अस्तित्व और बहुप्रदेशत्व गुणोंके कारण 'अस्तिकाय' संज्ञा है उमास्वातिने इनका संग्रह '**अजीवकाया-धर्माधर्माकाशपुद्गलाः**' और '**जीवाश्च**' इन सूत्रों (नं० १, ३) में किया है।

नित्यावस्थिताः ॥ २ ॥

'(पाँचों अस्तिकाय) नित्य हैं और अवस्थित हैं।'

ये पाँचों द्रव्य अपने सामान्य-विशेषरूपको कभी छोड़ते नहीं, इसलिये नित्य हैं और अस्तिकायरूपसे अपनी पाँचकी संख्याका भी कभी त्याग नहीं करते—चार या छह आदि रूप नहीं होते—इसलिये अवस्थित हैं। उमास्वातिका '**नित्यावस्थितान्यरूपाणि**' सूत्र इस सूत्रके साथ मिलता जुलता है।

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ३ ॥

'पुद्गल रूपी होते हैं।'

‡ लो।

† **सागरप्रयुताब्दाः, यह पाठ इसलिये ठीक नहीं है कि 'प्रयुत' शब्द १० लाखका वाचक होता है, उतनी जघन्य स्थितिका होना सिद्धान्तके विरुद्ध है। 'अयुत' का अर्थ १० हज़ार होता है, इसलिये उसीका प्रयोग ठीक जान पड़ता है।**

पंचास्तिकायरूप द्रव्योंमेंसे पुद्गलोंको रूपी बतलानेका फलितार्थ यह होता है कि जीव, धर्म, अधर्म, और आकाश, ये चार द्रव्य अरूपी हैं—स्पर्श, रस,गंध, और वर्णसे रहित अमूर्तिक हैं। यह सूत्र और उमास्वातिका चौथा सूत्र अक्षरसे एक ही हैं।

धर्मादेरक्रियत्वं‡ ॥४॥

'धर्म आदिके अक्रियत्व है।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे अधर्म और आकाशका संग्रह किया गया है, क्योंकि पंचास्तिकायमें धर्म द्रव्यके बाद ये ही आते हैं। ये तीनों द्रव्य क्रियाहीन हैं। जब ये क्रियाहीन हैं तब शेष जीव और पुद्गल द्रव्यक्रियावान् हैं, यह सूत्र-सामर्थ्यसे स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है। उमास्वातिके **'निष्क्रियाणि च'** सूत्रका और इसका एक ही आशय है।

जीवादेर्लोकाकाशेऽवगाहः ॥५॥

'जीवादिकका लोकाकाशमें अवगाह है।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे पुद्गल, धर्म, और अधर्म का संग्रह किया गया है—चारों द्रव्योंका आधार लोकाकाश है। आकाश स्वप्रतिष्ठित—अपने ही आधार पर स्थित—है इसलिये उसका अन्य आधार नहीं है। यह सूत्र और उमास्वतिका १२ वाँ **'लोकाकाशेऽवगाहः'** सूत्र प्रायः एक ही हैं।

सत्त्वं द्रव्यलक्षणं ॥६॥

उत्पादादियुक्तं सत् ॥७॥

'द्रव्यका लक्षण सत्व (सत्ताभाव) है।'

'उत्पाद आदि (व्यय, ध्रौव्य) से जो युक्त है वह सत् है।'

ये सूत्र उमास्वातिके **'सद्द्रव्यलक्षणं'** और **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** इन सूत्रोंके साथ पूर्ण सामंजस्य रखते हैं और एक ही आशयको लिये हुए हैं।

सहक्रमभाविगुणपर्ययवद्द्रव्यं ॥८॥

'द्रव्य सहभावि गुणों तथा क्रमभावि-पर्यायों वाला होता है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'गुणपर्ययवद्द्रव्यं'** सूत्रसे कुछ विशेषताको लिये हुए है। इसमें गुणका स्वरूप सहभावी और पर्यायका क्रमभावीभी बतला दिया है।

कालश्च ॥९॥

'काल भी द्रव्य है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका ३९ वाँ सूत्र अक्षरसे एक हैं *।

अनंतसमयश्च ॥१०॥

'(कालद्रव्य) अनन्त समय (पर्याय) वाला है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'सोऽनन्तसमयः'** सूत्रके साथ बहुत मिलता जुलता है और एक ही आशयको लिये हुए है।

गुणानामगुणत्वं ॥११॥

'गुणोंके गुणत्व नहीं होता।'

गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। गुणोंमें भी यदि अन्य गुणोंकी कल्पना की जाय तो वे गुणी, गुणवान् एवं द्रव्य हो जाते हैं, फिर द्रव्य और गुणमें कोई विशेषता नहीं रहती और अनवस्था भी आती है। यह सूत्र उमास्वातिके **'द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः'** इस सूत्र (नं० ४१, श्वे० ४०) के समकक्ष है। **'द्रव्याश्रयाः'** पदका आशय इससे पूर्व ८ वें सूत्रमें **'सहभावी'** विशेषणके द्वारा व्यक्त कर किया गया है।

इति श्रीबृहत्प्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे पंचमोध्यायः ॥५॥

'इस प्रकार श्रीबृहत्प्रभाचन्द्र-विरचित तत्वार्थसूत्रमें पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।'

(आगामी किरणमें समाप्त)

‡ क्र।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें इसके अनन्तर 'इत्येके' जुड़ा हुआ है और इसे ३८ नम्बर पर दिया है।

मोक्ष-सुख—[श्रीमद् रायचन्द्रजी]

इस पृथ्वी मंडल पर कुछ ऐसी वस्तुयें और मन की इच्छायें हैं जिन्हें कुछ अंशमें जानने पर भी कहा नहीं जा सकता। फिर भी ये वस्तुयें कुछ संपूर्ण शाश्वत अथवा अनंत रहस्यपूर्ण नहीं है। जब ऐसी वस्तुका वर्णन नहीं हो सकता तो फिर अनंत सुखमय मोक्षकी तो उपमा कहाँसे मिल सकती है? भगवान्से गौतमस्वामीने मोक्षके अनंत-सुखके विषयमें प्रश्न किया तो भगवान्ने उत्तरमें कहा—गौतम! इस अनंत सुखको जानता हूँ परन्तु जिससे उसकी समता दी जा सके, ऐसी यहाँ कोई उपमा नहीं। जगत्में इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु अथवा सुख नहीं ऐसा कहकर उन्होंने निम्नरूपसे एक भीलका दृष्टान्त दिया था।

किसी जंगलमें एक भोलाभाला भील अपने बाल बच्चों सहित रहता था। शहर वगैरहकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेश भर भी भान न था। एक दिन कोई राजा अश्वक्रीड़ाके लिये फिरता फिरता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी। राजाने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जल पीकर राजा संतुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफ़से मिले हुए अमूल्य जल-दानका बदला चुकानेके लिये भीलको समझाकर राजाने उसे साथ लिया। नगरमें आनेके पश्चात् राजाने भीलको उसकी ज़िन्दगीमें न देखी हुई वस्तुओंमें रक्खा। सुन्दर महल, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर छत्र पलंग, स्वादिष्ट भोजन, मंद मंद पवन और सुगन्धी विलेपनसे उसे आनन्द आनन्द कर दिया। वह विविध प्रकारके हीरा, माणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रंग विरंगी अमूल्य चीज़ें निरन्तर उस भीलको देखनेके लिये भेजा करता था, उसे बाग़-बगीचों में घूमने फिरनेके लिये भेजा करता था। इस तरह राजा उसे सुख दिया करता था। एक रातको जब सब सोये हुए थे, उस समय भीलको अपने बाल-बच्चोंकी याद आई, इसलिये वह वहाँसे कुछ लिये करे बिना एकाएक निकल पड़ा, और जाकर अपने कुटुम्बियोंसे मिला। उन सबोंने मिलकर पूछा कि तू कहाँ था? भीलने कहा, बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने लायक वस्तुएँ देखीं।

कुटुम्बी—परन्तु वे कैसी थीं, यह तो हमें कह।

भील—क्या कहूँ, यहाँ वैसी एक भी वस्तु नहीं।

कुटुम्बी—यह कैसे हो सकता है? ये शंख, सीप, कौड़े कैसे सुन्दर पड़े हैं! क्या वहाँ कोई ऐसी देखने लायक वस्तु थी?

भील—नहीं भाई, ऐसी चीज तो यहाँ एक भी नहीं। उनके सौवें अथवा हज़ारवें भाग तककी भी मनोहर चीज़ यहाँ कोई नहीं।

कुटुम्बी—तो तू चुपचाप बैठा रह। तुझे भ्रमणा हुई है। भला इससे अच्छा क्या होगा?

हे गौतम! जैसे यह भील राज-वैभवके सुख भोगकर आया था, और उन्हे जानता भी था, फिर भी उपमाके योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ नहीं कह

सकता था, इसी तरह अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानन्द स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागको भी योग्य उपमाके न मिलनेसे मैं तुझे कह नहीं सकता।

मोक्षके स्वरूपमें शंका करनेवाले तो कुतर्कवादी हैं। इनको क्षणिक सुखके विचारके कारण सत्सुखका विचार कहाँसे आ सकता है? कोई आत्मिक ज्ञान हीन ऐसा भी कहते है कि संसारसे कोई विशेष सुखका साधन मोक्षमें नहीं रहता इसलिये इसमें अनन्त अव्याबाध सुख कह दिया है, इनका यह कथन विवेकयुक्त नहीं। निद्रा प्रत्येक मानवीको प्रिय है, परन्तु उसमें वे कुछ जान अथवा देख नहीं सकते; और यदि कुछ जाननेमें आता भी है, तो वह केवल मिथ्या स्वपनोपाधि आती है। जिसका कुछ असर हो ऐसी स्वप्न रहित निद्रा जिसमें सूक्ष्म स्थूल सब कुछ जान और देख सकते हों, और निरुपाधिसे शान्ति नींद ली जा सकती हो, तो भी कोई उसका वर्णन कैसे कर सकता है, और कोई इसकी उपमा भी क्या दे? यह तो स्थूल दृष्टान्त है, परन्तु बालविवेकी इसके ऊपरसे कुछ विचार कर सकें इसलिये यह कहा है।

भीलका दृष्टान्त समझानेके लिये भाषा-भेदके फेर फारसे तुम्हें कहा है।

वीर-श्रद्धाञ्जलि

[ले०-श्रीरघुवीरशरण अग्रवाल, एम.ए. 'घनश्याम']

(१)

लिच्छिवी वंशके रत्न! अमर है कीर्ति तुम्हारी।
भारत-नभमें चमक रही है ज्योति तुम्हारी॥
धर्म-कर्म-उद्धार-हेतु अवतरित हुए थे।
धर्म अहिंसा प्रसर-हेतु सब चरित किये थे॥

(२)

यदपि जन्म को वर्ष अनेकों बीत गये हैं।
फिर भी अद्भुत कार्य तुम्हारे दीख रहे हैं॥
धन्य त्याग है राज-सुखों का यश-वैभव का।
महा पुरुष! था तुम्हें ध्यान नित निज गौरव का।

(३)

आत्म-सदृश हाँ, सभी जीव तुमने बतलाये।
बलि-वधयुत सब यज्ञ पापकी खान जताये॥
हिंसाका कर नाश, दयाके भाव बढ़ाये।
परउपकृतिके काम धर्मके रूप गिनाये॥

(४)

जित-इन्द्रिय थे, महावीर! सच्चे व्रतधारी।
जीवोंके कल्याण-हेतु थी [illegible] तुम्हारी॥
राज सुखोंको छोड़, धर्मकी ध्वजा उठाई।
धर्ममयी भारत सुभूमि निज हाथ बनाई॥

(५)

वह ही सच्चा वीर, इन्द्रियाँ जीत सके जो।
परम इष्टसे इष्ट वस्तुको त्याग सके जो॥
धन, दारा औ पुत्र सभी का मोह तजे जो।
सत्य-प्रेमसे युक्त हुआ निज-आत्म भजे जो॥

(६)

करो नित्य कल्याण सभी विधि भक्तजनों का।
भू-तल पर हो चहुँ ओर विस्तार गुणों का॥
श्रद्धाञ्जलि यह प्रेमपूर्ण अर्पित करता हूँ।
प्रभुवरसे बहुवार विनय मनसे करता हूँ॥

प्राकृत पंचसंग्रहका रचना-काल

[ले०—प्रो० हीरालाल जैन एम. ए.]

प्राचीन जैन साहित्यका बहु भाग अभी भी अंधकारमें है। हर्षकी बात है कि अब धीरे धीरे अनेक प्राचीन ग्रंथ प्रकाशमें आ रहे हैं। अभी अनेकान्त वर्ष ३ कि० ३ के पृ० २५६ पर पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अब तक अज्ञात एक 'अति प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' का परिचय प्रकाशित किया है। इसकी जो प्रति लेखकको उपलब्ध हुई वह सं० १५२७ में टंवक नगरमें माघ वदी ३ गुरुवारको लिखी गई थी और उसकी पत्र संख्या ६२ है। ग्रन्थमें प्रशस्ति आदि कुछ नहीं है अतः उसपरसे उसके कर्ता व समयका कोई ज्ञान नहीं होता। किन्तु इस ग्रंथमें बहुत सी ऐसी गाथाएँ पाई गई हैं जो धवलामें भी उद्धृत पाई जाती हैं। इसपरसे उक्त परिचयके लेखकने यह निर्णय किया है कि "आचार्य वीरसेनके सामने 'पंच संग्रह' जरूर था। इसीसे उन्होंने उसकी उक्त गाथाओंको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है। आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीका शक सं० ७३८ (विक्रम सं० ८७३) में पूर्ण की है। अतः यह निश्चित है कि पंचसंग्रह इससे पहिलेका बना हुआ है।" यही नहीं, पंचसंग्रहमें एक गाथा ऐसी भी है जो आचार्य कुन्दकुन्दके 'चरित्र प्राभृत' में भी उपलब्ध होती है। इससे लेखकने यह निष्कर्ष निकाला है कि "बहुत सम्भव है आचार्य कुन्दकुन्दने पंच संग्रहसे उद्धृत की हो और यह भी सम्भव है कि चरित्र प्राभृतसे पंचसंग्रह कारने उठाकर रक्खी हो। परन्तु बिना किसी विशेष प्रमाणके अभी इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, तो भी इससे इतना तो ध्वनित है कि पंचसंग्रहकी रचना कुन्दकुन्दसे पहिले या कुछ थोड़े समय बाद ही हुई होगी"। पंचसंग्रहकी एक गाथा सर्वार्थसिद्धि वृत्तिमें भी पाई जाती है जिस परसे लेखकके मतसे "स्पष्ट है कि पंचसंग्रह पूज्यपादसे पहिलेका बना हुआ है"।

पंचसंग्रहमें तीन गाथाएँ ऐसी भी हैं जो जयधवलाके मूलाधार गुणधर आचार्य कृत कषाय प्राभृतमें भी पाई जाती हैं किन्तु यहाँ लेखकने यह अनुमान किया है कि " उक्त तीनों गाथाएँ कषाय प्राभृतकी ही हैं और उसी परसे पंचसंग्रहमें उठाकर रक्खी गई हैं।"

हमारे सामने उपर्युक्त पं० परमानन्दजीके लेखके अतिरिक्त पंचसंग्रहकी प्रति आदि कोई सामग्री ऐसी नहीं है जिस परसे हम उक्त ग्रंथके निर्माण-कालका कोई अनुमान लगा सकें। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों परसे लेखकने जो उस ग्रंथको वीरसेन व पूज्यपाद देवनन्दीसे पूर्व कालीन रचना सिद्ध की है वह युक्ति संगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह अनिवार्य नहीं कि वीरसेन व पूज्यपादने इसी संग्रह परसे वे गाथाएँ उद्धृत की हों। जैसा कुन्दकुन्दकी रचनाओंमें उसकी एक गाथा पाये जानेसे लेखकने केवल यह अनुमान किया है कि दोनोंमेंसे कोई भी आगे पीछे की हो सकती है, वैसा वीरसेन व पूज्यपादके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। पंचसंग्रहको कुन्दकुन्दसे

पीछेकी मानने पर उसे कुछ बादका ही क्यों माना जाय सो भी समझमें नहीं आता। चारित्र-पाहुड़से उद्धरण तो तबसे लगाकर अबतक कभी भी किया जा सकता हैं।

यदि कहा जाय कि वीरसेन व पूज्यपादने अपनी टीकाओंमें वे गाथाएँ स्पष्टतः उद्धृत की हैं, किन्तु पंचसंग्रहमें वे बिना ऐसे किसी संकेतके आई हैं इस कारण वे पंचसंग्रहकारकी मूल रचना ही समझी जानी चाहियें तो यह भी युक्ति संगत नहीं होगा। गोम्मटसारमें भी वे सैकड़ों गाथाएँ बिना किसी उद्धरणकी सूचनाके आई हैं जो धवलामें 'उक्तं च' रूपसे पाई जाती हैं और यदि हमें गोम्मटसारके कर्ताके समयका ज्ञान नहीं होता तो संभवतः उक्त तर्क सरणिसे उसके विषयमें भी यही कहा जा सकता था कि उसी परसे धवलाकारने उन्हें उद्धृत किया है। अतः गोम्मटसार पहिलेकी रचना है। किन्तु हम प्रामाणिकतासे जानते हैं कि गोम्मटसारमें ही वे धवलासे संग्रह की गई हैं। इसी प्रकार यह असम्भव नहीं है कि पंचसंग्रह कारने ही उन्हें गुणधर आचार्य, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद वीरसेन आदि आचार्योंकी रचना परसे ही संग्रह किया हो। यह भी होसकता है कि पूज्यपाद व वीरसेन तथा पंचसंग्रहकारने उन्हें किसी अन्य ही ग्रंथसे उद्धृत किया हो। ऐसी अवस्थामें अभी केवल समान गाथाओंके पाये जानेसे पंचसंग्रहको वीरसेन व पूज्यपादसे निश्चयतः पूर्ववर्ती कदापि नहीं कह सकते। संग्रहकारके समय-निर्णयके लिये कोई अन्य ही प्रबल व स्वतंत्र प्रमाणोंकी आवश्यकता है। विशेषकर जब कि ग्रंथकार स्वयं ही अपनी रचनाको 'संग्रह' कह रहे हैं तब सम्भव तो यही जान पड़ता है कि वह बहुतायतसे अन्य ग्रंथों परसे संग्रह की गई है। ये 'सार' या 'संग्रह' ग्रंथ प्रायः इसी प्रकार तैयार होते हैं। उनमें कर्ताकी निजी पूंजी बहुत कम हुआ करती है। आश्चर्य नहीं जो उक्त पंचसंग्रह धवलासे पीछेकी रचना हो। उसका सिद्धान्त-ग्रंथसे कुछ सम्बन्ध होनेके कारण गोम्मटसारके समकालीन होनेकी सम्भावना की जा सकतीहै।

प्रश्न

[श्री 'रत्नेश' विशारद]

शून्य विश्व के अन्तस्तल को,
ज्योति-युक्त करता है कौन ?
जग-जीवन-जर्जर-सा होवे,
प्राणदान देता है कौन ?

अन्धकारमय हृदय-पटल में,
वह अनन्त बल लाता कौन ?
इस अस्थिर-मय क्रूर देह की,
चंचलता को हरता कौन ?

साहित्य-सम्मेलनकी परिक्षाओंमें जैन-दर्शन

[ले० पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

शिक्षाप्रेमी पाठकोंको मालूम है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयागकी परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयोंमें जैन-दर्शनको भी स्थान दिलानेके लिये गत दो वर्षोंसे मैं बराबर प्रयत्न करता आ रहा हूँ। हर्षका विषय है कि परीक्षा-समितिने अब जैन-दर्शनको भी स्थान देना स्वीकार कर लिया है। इस सम्बन्धमें आये हुए पत्रकी प्रतिलिपि इस प्रकार है :—

प्रिय महोदय !

जैन-दर्शनको प्रथम तथा मध्यमा परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयोंमें स्थान देनेके लिये हमने आपका पत्र परीक्षा समितिके सामने विचारार्थ उपस्थित किया था। समितिने इस संबंधमें निम्नलिखित निश्चय किया है :—

(१) प्रथम परीक्षाके लिये एक ऐसी पुस्तक तैयार की जाय जिसमें सार्वभौमिक धर्म अच्छे रूपसे छोटे बच्चों के सामने रखा जाय और जिसमें भारतमें प्रचलित भिन्न भिन्न धर्मोंके विशेष आचार्योंके वाक्यांश उद्धृत हों। पुस्तकके प्रकाशनके संबंधमें यह प्रस्ताव साहित्य समिति के पास भेजा जाय।

(२) मध्यमा परीक्षामें इस विषयकी पुस्तकोंको स्थान देनेके संबंधमें श्री संघवीजीसे पूछा जाय कि वे कौनसी पुस्तक निर्धारित करना चाहते हैं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिये जिसमें विवादास्पद विषय न हों।

(३) उत्तमा परीक्षाके दर्शन-विषयक चौथे प्रश्न-पत्रमें जैनदर्शनका समावेश किया जाय।

इसके लिये पुस्तकोंकी सूची मेरे पास भेजिये।

भवदीय—

दयाशंकर दुबे, परीक्षा-मंत्री।

समितिके उपर्युक्त प्रस्तावोंसे यही ज्ञात होता है कि प्रथमा परीक्षामें तो जैन-दर्शन नहीं रक्खा जायगा। मध्यमाके वैकल्पिक विषयोंमें जैन-दर्शन रह सकेगा। इसी प्रकार उत्तमामें भी दर्शन विषयके चौथे प्रश्नपत्रमें जैन दर्शनको स्थान मिल सकेगा।

प्रस्तावानुसार मैंने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया है। उसकी प्रतिलिपि इसी निवेदनके अन्तमें दे रहा हूँ। मैंने इस कोर्सकी प्रतिलिपि पं० सुखलालजी, श्री जैनेन्द्रकुमारजी (दिल्ली), पं० नाथूरामजी प्रेमी, पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल आदि अनेक विद्वानोंकी सेवामें भी भेजी है। अब सभी शिक्षा-प्रेमी सज्जनों एवं अन्य पाठक महानुभावोंकी सेवामें इसे समाचार पत्रों द्वारा पेश कर रहा हूँ। आशा है विद्वज्जन इस पर अपनी बहुमूल्य सम्मति एवं संशोधन भेजनेकी कृपा करेंगे। जिससे कि मैं इसे अंतिम रूप देकर प्रामाणिक रूपसे सम्मेलनके अधिकारियोंको भेज सकूँ।

रजिस्ट्रार परीक्षा विभागके पत्र नं० १४०२२ द्वारा ज्ञात हुआ है कि जैन-दर्शनका समावेश संवत् १९९८ में हो सकेगा। इसी प्रकार पत्र नं० १३३०० द्वारा

सुझे सूचित किया गया है कि पाठ्यक्रममें निर्धारित पुस्तकोंकी तीन तीन प्रतियाँ भी सम्मेलन-कार्यालयमें भिजवाइयेगा। क्योंकि इन पुस्तकोंकी जाँच पड़ताल परीक्षा-समिति करेगी। बिना पुस्तकोंके देखे परीक्षा-समिति पाठ्यक्रममें स्थान नहीं दे सकेगी। अतः जिन प्रकाशकोंकी पुस्तकें पाठ्यक्रममें निर्धारित हों उन्हें सूचना पाकर उनकी तीन तीन प्रतियाँ शीघ्र भेजने की कृपा करनी चाहिये। पुस्तकें मध्यमा और दर्शन-रत्न चतुर्थ प्रश्न-पत्रकी भेजना होंगी।

'पाठ्यक्रम सरल और महत्वपूर्ण हो,' यही एक दृष्टिकोण रक्खा गया है। क्योंकि मध्यमामें जैन-दर्शनके साथ अन्य दो विषय और भी रहेंगे। अतः सरल होने पर ही जैन छात्र एवं अन्य जैनेतर छात्र इस ओर आकर्षित हो सकेंगे। अन्यथा जटिल होनेकी दशामें यह प्रयास और ध्येय व्यर्थ ही सिद्ध होगा। यह स्पष्ट ही है कि यदि जैन दर्शनका पाठ्यक्रम जटिल होगा तो छात्र इसे न चुन कर किसी अन्य वैकल्पिक विषय का चुनाव कर लेंगे। इस लिये सरलता किन्तु महत्ताका ख्याल रख करके ही यह पाठ्यक्रम बनाया गया है। इसी प्रकार इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों पक्षके ग्रंथोंको स्थान दिया गया है, जिससे कि यह एक पक्षीय न होकर सार्वदेशिक जैन-दर्शनका प्रतिनिधित्व करता है। इससे परस्परमें सांप्रदायिक भावनाओंके स्थान पर एक ही जैनत्वकी भावनाओंका छात्रोंमें प्रसार होगा तथा कटुताके स्थान पर भ्रातृत्व भावना और विशालताका फैलाव होगा।

इस पाठ्यक्रममें जैन दर्शन-सम्मत तत्ववाद, द्रव्य-वाद, गुणस्थानवाद, कर्मवाद, अहिंसावाद, रत्नत्रयवाद, प्रमाण-नयवाद, स्याद्वाद आदि आदि मूलभूत सिद्धान्तों का आवश्यक और महत्वपूर्ण विवेचन आगया है। जानने योग्य खास खास आचार्योंके जीवन चरित्रोंका भी इसमें समावेश है। एवं तीनों संप्रदायोंके समाचार पत्रोंका पठन भी आवश्यक माना गया है, इससे परस्परकी स्थिति एवं भावनाओंका ज्ञान भी छात्रोंको हो सकेगा। आशा है कि विद्वान् महानुभाव इस दृष्टिकोण का विचार करते हुए अपना संशोधन और अपनी बहु मूल्य सम्मति निम्न पते पर १५ मई तक भेजनेकी कृपा करेंगे, जिससे कि मईके अंतिम सप्ताह तक सम्मेलन-कार्यालयमें पाठ्यक्रमकी अन्तिम रूपरेखा भेजी जा सके।

पता—रतनलाल संघवी, पो० छोटी सादड़ी (मेवाड़) वाया नीमच।

पाठ्य-क्रम मध्यमा परीक्षा

प्रथम प्रश्नपत्र

पाठ्य ग्रंथ—१ कर्म-ग्रंथ १ला भाग भूमिका सहित (गाथाऐं कंठस्थ नहीं) पं० सुखलालजी कृत आगरा वाला।

२ जैन-सिद्धान्त प्रवेशिका (प्रथम अध्याय और प्रश्न ३७८ से ३११ तक छोड़कर) पं० गोपालदासजी बरैया कृत।

सहायक ग्रन्थ—१ श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र (बैरिस्टर चम्पतरायजी कृत) हिन्दी अनुवाद।

२ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (श्री अमृतचंद्र स्वामी) हिन्दी अनुवाद—श्री नाथूरामजी प्रेमीवाला।

३ स्याद्वाद और सप्तभंगीका साधारण आवश्यक ज्ञान।

अंकोंका क्रम—पाठ्य ग्रंथ ७० अंक और सहायक ग्रंथ ३० अंक।

द्वितीय प्रश्न पत्र

पाठ्य ग्रंथ—१ तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी (पं० सुखलालजी)

२—द्रव्य संग्रह-हिन्दी (नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती) अनु० पं० पन्नालालजी।

सहायक ग्रंथ—१ निर्ग्रन्थ प्रवचन (गाथाएँ कंठस्थ नहीं) मुनि श्री चौथमलजी संग्रहीत।

२—कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, अकलंकदेव, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र आदिका जीवन चरित्र (संक्षिप्त) वीर पाठावलि (कामताप्रसादजी कृत) के आधारसे अथवा अन्य आधारसे।

३—सिद्धसेन दिवाकर, उमास्वाति, हरिभद्र, हेमचंद्र, यशोविजय आदिका जीवन चरित्र (अनेकांत वर्ष २ और ३ की फाइलोंके आधारसे)

परीक्षार्थियोंको जैन समाजकी सामयिक स्थितिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये निम्न लिखित पत्र पत्रिकाओंका अध्ययन करते रहना चाहियेः—१ अनेकांत (न्यू देहली) २ जैन मित्र (सूरत) ३ जैन संदेश (आगरा) ४ जैन (भावनगर) ५ जैन प्रकाश (बम्बई) ६ जैन युग (बम्बई)

अंकोंका क्रमः—पाठ्य ग्रंथ ७० अंक और सहायक ग्रंथ तथा पत्र पत्रिकाओंका अध्ययन ३० अंक

उत्तमा परीक्षा

दर्शन-विषयक चतुर्थ प्रश्नपत्र

१ "स्याद्वादमंजरी—हिन्दी-(श्री जगदीशचन्द्रजी संपादित)

२ प्रमाण मीमाँसाकी हिन्दी टिप्पणियाँ (पं० सुखलालजी)

३ आप्तमीमाँसा मूल (श्री समंतभद्राचार्य)

४ अकलंक-ग्रंथत्रयकी प्रस्तावना।
(पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य)

५ सूत्र कृतांग, हिन्दी (स्थानकवासी कान्फ्रेन्स वाला)

नोट—इस लेखमें जो पाठ्यक्रम दिया है वह अभी बहुत कुछ विचारणीय है उसमें कितनी ही त्रुटियाँ जान पड़ती हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी शिक्षा शास्त्रियों को उस पर गंभीरताके साथ विचार करना चाहिये, और अपना अपना संशोधन यदि कुछ हो तो उसे शीघ्र ही उपस्थित करना चाहिये। साथ ही पाठ्यक्रम को निर्धारित करते समय परीक्षा समितिके इस प्रस्ताव वाक्य पर खास तौरसे ध्यान रखना चाहिये कि—"पुस्तक ऐसी होनी चाहिये जिसमें विवादास्पद-विषय न हो।" बाकी यह अपील संयोजक महोदयकी बहुत समुचित है कि जिन प्रकाशकोंकी पुस्तकें पठन-क्रममें रखनेके लिये परीक्षा समितिको भेजनेकी जरूरत हो उनकी तीन तीन कापियाँ वे सूचना पाते ही भेज देनेकी कृपा करें और इस तरह इस शुभ कार्यमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें।

—सम्पादक

वीरका जीवन-मार्ग

[ले०—श्री जयभगवान जैन, बी. ए. एल एल. बी. वकील]

जीवनकी विकटता:—

जीवन सुनहरी प्रभातके साथ उठता है, अरुण सूर्यके साथ उभरता है, उसके तेजके साथ खिलखिलाता है, उसकी गतिके साथ दौड़ता-भागता है, उसकी संध्याकी छायाके साथ लम्बा हो जाता है और उसके अस्त होने पर निश्चेष्ट हो सो जाता है।

सुबह होती है शाम होती है,
उम्र यों ही तमाम होती है।

तो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है? काम और अर्थ ही उद्देश है? साँझ-सवेर-वाला ही लोक है?

यदि यों ही श्रम और विश्रामका सिलसिला बना रहता, यदि यों ही काम और अर्थका रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था। जीवन और जगत कभी प्रश्नके विषय न बनते। परन्तु जीवन इतनी सीधी-साधी चीज नहीं है। माना कि इसमें सुस्वप्न हैं, कामनायें हैं, आशायें हैं, पर अत्यन्त रोचक, अत्यन्त प्रेरक हैं। जी चाहता है कि इनके आलोकमें सदा जीवित रहे, परन्तु इन ही के साथ कैसे कैसे दुःस्वप्न हैं, असफलतायें हैं, निराशायें हैं, विषाद है! यह कितने कटु और घिनावने हैं। जी चाहता है कि इनके आलोकसे छुपकर कहीं चला जाये।

कितना खेद है कि जीवनको कामना मिली पर सिद्धि न मिली! उस सिद्धिके लिये यह कितना आतुर है, कितना वेदनासे भरा है। उसके लिये कैसे कैसे आघात-प्रघात सहन करता है! कैसी २ बाधाओं विपदाओंमेंसे गुज़रता है! परन्तु यह सब कुछ होने पर भी सिद्धिका कहीं पता नहीं। यदि भाग्यवश कहीं सिद्धि हाथ भी आई तो वह कितनी दुःखदायी है? वह प्राप्तिकालमें आकुलतासे अनुरञ्जित है, रक्षाकालमें चिन्तासे संयुक्त है और भोगकालमें क्षीणता और शोकसे ग्रस्त है। इसका आदि, मध्य और अन्त तीनों दुःख पूर्ण हैं! यह वास्तवमें सिद्धि नहीं, यह सिद्धिका आभासमात्र है। इस सिद्धिमें सदा अपूर्णता बसती है। यह सब कुछ प्राप्त करने पर भी रङ्क है, रिक्त है, वाँछायुक्त है।

यह ज़िन्दगी दो रंगी है। इसकी सुन्दरतामें कुरूपता बसती है। इसके सुखमें दुःख रहता है। इसकी हँसीमें रोना है। इसके लालित्यमें भयानकता है। इसकी आसक्तिमें अरूचि है। इसके भोगमें रोग है, योगमें वियोग है, विकास में ह्रास है, बहारमें खिज़ाँ है, यौवनमें जरा है। यहाँ हर फूलमें शूल है, इतना ही नहीं यह समस्त ललाम लीला, यह समस्त उमंगभरा जीवन, यह समस्त साँझ-सवेर वाला लोक मृत्युसे व्याप्त है!

जीवन के मूल प्रश्न:—

यह देख दिल भयसे भर आता है, अनायास शंकायें उठनी शुरू होती हैं। क्या यह ही लोक है जहां कामना का तिरस्कार है, आशाका अनादर है, पुरुषार्थ

की विफलता है ? क्या यह ही जीवन है जहां हजार प्रयत्न करने पर भी सन्तुष्टिका लाभ नहीं, और हजार रोक थाम करने पर भी अनिष्ट अनिवार्य है! क्या यह ही उद्देश है कि सुखकी लालसा रखते हुये दुःखी बना रहे, सिद्धि की चाह करते हुये वाञ्छासे जकड़ा रहे, जीवन की भावना भाते हुये मृत्युमें मिल जाये ? क्या इसीके लिये चाह और तृष्णा है ? क्या इसीके लिये उद्यम और पुरुषार्थ है ? क्या इसीके लिये संघर्ष और प्राणाहुति है ?

इसपर एक छोटीसी आवाज़ बोल उठती है, नहीं ! यह मन-चाहा जीवन नहीं, यह तो उस जीवनकी पुकार है, ढूंढ है, तलाश है, उस तक पहुंचनेका उद्यम है, उसे पाने का प्रयोग है। इसीलिये यह जीवन असन्तुष्ट और अशान्त बना हैं; उद्यमी और कर्मशील बना है, अस्थिर और गतिमान बना है।

पुनः शंका आ उठती है। यदि ऐसा ही है तो जीवन अपने पुरुषार्थ में सफल क्यों नहीं होता ? यह पुरुषार्थ करते हुये भी विफल क्यों है ? आशाहत क्यों है ? खेद खिन्न क्यों है ?

इसका कारण पुरुषार्थकी कमी नहीं, बल्कि सद् लक्ष्य, सद्ज्ञान, सदाचारकी कमी है। जीवनका समस्त पुरुषार्थ भूलभ्रान्तिसे ढका है, अज्ञानसे आच्छादित है, मोहसे ग्रस्त है। इसे पता नहीं कि जिस चीज़की इसमें भावना बसी है वह क्या है, कैसी है, कहाँ है। इसे पता नहीं कि उसे पानेका क्या साधन है। उसे सिद्ध करनेका क्या मार्ग है। यह पुरुषार्थ जीवनको उस ओर नहीं ले जारहा है जिस ओर यह जाना चाहता है। उस चीज़की प्राप्तिमें नहीं लगा है जिसे यह प्राप्त करना चाहता है। यह केवल परम्परागत मार्ग-का अनुयायी बना है, उन्हीं रूढीक पदार्थोंका साधन बना है। जिन्हें सिद्ध करते करते यह इतना अभ्यस्त हो गया है कि वे जीवनके मार्ग, जीवनके उद्देश्य ही बन गये हैं। इसीलिये यह आशायुक्त होते हुए भी आशा-हत है। पुरुषार्थ होते हुए भी विफल है।

इन भूल, अज्ञान और मोहके कारण यद्यपि जीवने अपने वास्तविक जीवनको भुला दिया, उसे बन्दी बना अन्धकूपमें डाल दिया, परन्तु उसने इसे कभी नहीं भुलाया, वह सदा इसके साथ है। वह घनाच्छादित सूर्यके समान फूट २ कर अपना आलोक देता रहता है। वह इसके सुस्वप्नोंमें बस कर, इसकी आशाओंमें बैठकर, इसकी भावनाओंमें भरकर इसके जीवनको सुन्दर और सरस बनाता रहता है। वह अन्तर्गुफामें बैठकर मृदुगिरासे आश्वासन देता रहता है। 'तू यह नहीं, तू और है, भिन्न है, तेरा उद्देश इतना मात्र नहीं, वह बहुत ऊँचा है, तेरा यह लोक नहीं, तेरा लोक दूर है, परे है।'

इस अन्तःप्रतीतिसे प्रेरित हुआ जीव बार बार प्राणोंकी आहूति देता है, बार २ मरता और जीता है, बार बार पुतलेको घड़ता है, बार बार इसे रक्तक्रान्ति वाले मादकरससे भरता है, बार बार इसके द्वारोंसे बाहिर लखाता है। परन्तु बार २ इसी नाम रूप कर्मा-त्मक जगतको अपने सामने पाता है, जिससे यह चिर-परिचित है। बार२ यह देखकर इसे विश्वास हो जाता है—निश्चय हो जाता है—कि यही तो है जिसकी हमें चाह है, यही है जो इसका उद्देश है; इसके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं, और कोई उद्देश नहीं, और कोई लोक नहीं। परन्तु ज्यों ही यह धारणा धारकर यह नाम-रूप कर्मात्मक जीवनमें प्रवेश करता है फिर वही विफलता, वही निराशा, वही अपूर्णता आ उपस्थित होती है। फिर वही भय फिर वही शंका, फिर वही प्रश्न,

उठने शुरू होते हैं। क्या दुःखी जीवन ही जीवन है? क्या मरणशील जीवन जीवन है? यदि यह नहीं तो जीवन क्या है? उद्देश क्या है? फिर वही तर्क वितर्क, फिर वही मीमाँसा दुहरानी शुरू होती हैं।

प्रश्न हल करनेका विफल साधनः—

जीवने इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये बुद्धि-ज्ञान से बहुत काम लिया, उसके पर्याप्त साधनों पर—इन्द्रिय और मन पर बहुत विश्वास किया, इन्हें अनेक प्रकार उपयोगमें लाकर जीवन तथ्य जाननेकी कोशिश की; परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया कि 'लौकिक जीवन ही जीवन है; शरीर ही आत्मा है, भोग रस ही सुख है, धन धान्य ही सम्पदा है, नाम ही वैभव है, रूप ही सुन्दरता है; भौतिक बल ही बल है, सन्तति ही अमरता है। इन्हें ही बनाये रखने, इन्हें ही सुदृढ़ बलवती करने, इन्हें ही सौम्यसुन्दर बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। जीवनका मार्ग-प्रवृत्ति मार्ग है;प्रकृतिके नियमानुसार कर्म करते हुये, भोगरस लेते हुये विचरना ही जीवन-पथ है। और सुखदुःख! सुखदुःख स्वयं कोई चीज़ नहीं हैं, यह सब वाह्य जगतके आधीन हैं। इसीकी कल्पनामें रहते हैं, इसे दुःखदायी कल्पित करनेसे दुःख और सुखदायी कल्पित करनेसे सुख पैदा होता है। अतः दुःखदायी पहलूको भुलाने और सुखदायी पहलूमें मग्न रहने का अभ्यास करना चाहिये।'

इस बुद्धि अनुसार दुःखको भुलाने और सुखको अनुभव करनेके लिये जीवने क्या कुछ नहीं किया। अनेक पहलू बदले, अनेक मार्ग ग्रहण किये; परन्तु कुछ भी न हुआ, प्रश्न ज्योंके त्यों खड़े रहे!

जीवनके विफल मार्गः—

जीवने अज्ञान मार्गका आश्रय लिया। निद्रा, तन्द्रा और मूर्च्छाको अपनाया, मांस-मैथुन-मदिराको ग्रहण किया। अनेक आमोद-प्रमोद, हँसी-मज़ाकके उपाय निकाले। अनेक खेल कूद और व्यसन ईजाद किये, परन्तु दुःखने साथ न छोड़ा।

यह देख उद्योग मार्ग पर अधिक जोर दिया। अनेक उद्योग धन्धे, अनेक काम काज अनेक व्यवसाय बनाये। इनमें उपयुक्त रहना ज़रूरी माना गया, बेकार रहनेसे बेगारमें लगे रहना भला समझा गया; परन्तु दुःखका अन्त न हुआ।

इसपर मनुष्यने विचारा कि सुख दुःख काल्पनिक नहीं हैं। दुःख भुलाने से नहीं भुलाया जा सकता और सुख कल्पना करने से सिद्ध नहीं हो सकता। यह वास्तविक है, परन्तु यह अपने आधीन नहीं, बाह्य लोक के आधीन है, जगतकी प्राकृतिक शक्तियोंके आधीन है, शक्तियोंके अधिष्ठाता देवी-देवताओंके आधीन है। देवी देवता महा बलवान हैं, अजयी हैं, अपनी मर्जीके मालिक हैं। इनका अनुग्रह हासिल करनेके लिये इन्हें पूजा-प्रार्थना, स्तुति-वंदना, यज्ञ-होम से सन्तुष्ट करना चाहिये। यह सोच मनुष्यने याज्ञिक मार्गको ग्रहण किया, परन्तु इष्ट फलकी सिद्धि न हुई। जगत ज्योंका त्यों अन्ध, स्वच्छन्द, विवेक हीन बना रहा। वह उपासक और निन्दकमें, अच्छे और बुरेमें कोई भेद न कर सका, उसका उपकार है तो सबके लिये, उसका अपकार है तो सबके लिये।

तब मनुष्य ने इन मार्गोंको निरर्थक मान स्वावलम्बनका आश्रय लिया। पूजा-प्रार्थनाको छोड़ जगत-शक्तियोंको बलपूर्वक अपने वश करनेका इरादा किया। शुरू शुरूमें तान्त्रिक मार्गको आजमाया। देवी देवताओंको विजय करनेके लिये अनेक मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र ईजाद किये। शरीरको दृढ़ बलिष्ठ करनेके लिये,

ऋद्धि सिद्धि प्राप्त करनेके लिये अनेक यौगिक कर्म मालूम किये। परन्तु मूल प्रश्नका हल न हुआ।

इन्हें विफल जान विज्ञान मार्गको अपनाया, अनेक विद्याओं और आविष्कारोंको उत्थान मिला। प्रकृतिकी शक्तियोंको निर्घातक बनाने और काममें लानेके लिये अनेक ढंग मालूम किये। नगर और ग्राम बसाये, दुर्ग और प्रासाद खड़े किये, खाई और परकोट रचे, अनेक औषधि, रसायन और उपचार प्रयोगमें लाये; परन्तु रोग-शोक, जन्म-मरणका वहिष्कार न हुआ, आनन्दका लाभ न हुआ, सुन्दरताका आलोक न हुआ।

इस कमीको पूरा करनेके लिये शिल्पकलाकी ओर ध्यान दिया, बस्तियोंको उद्यान-वाटिका, ताल-बावड़ी चौक-राजपथसे सजाया, भवनोंको खम्भ, तोरण, शिखर, उत्तालिकाओंसे ऊँचा किया। इन्हें फूल फुलवाड़ी, मूर्ति-चित्रकारीसे सुशोभित किया। शरीरको वस्त्राभूषण, तेल फुलेल, रूपशृंगारसे अलंकृत किया। इस मार मार, घसाघसीमें नृत्य-संगीत, नाटक-वादित्र भरकर जीवनको सरस बनाया, परन्तु जीवनकी कुरूपता, भयानकता, जड़ताका अन्त न हुआ।

तब मनुष्यने व्यक्तिगत परिश्रमको निर्बल जान, पुरुषार्थको संगठित करनेका विचार किया, अनेक संस्थायें व्यवस्थायें स्थापित हुईं, अनेक संघ और समाज बने, अनेक सभ्यता और साम्राज्य उदयमें आये। कभी जाति को, कभी संस्कृतिको, कभी देशको इनका आधार बनाया। परन्तु यह संगठित शक्ति भी प्रकृतिके अनिवार्य उत्पातोंका, शरीरके स्वाभाविक रोगोंका, मनकी व्यथा व्याधियोंका जन्म-मरण रूप संसारका अन्त न कर सकी।

आखिर मनुष्यकी दृष्टि नीति मार्गकी ओर गई। सहयोग सहमन्त्रणाको धर्म बनाया। संयम-सहिष्णुता, दान-सेवा, प्रेम-वात्सल्यका पाठ पढ़ा, परन्तु सुख शांति का राज्य स्थापित न हुआ, पाप अत्याचारका अन्त न हुआ, मारपीट, लूट खसोट, दलन मलनका अभाव न हुआ। दीन-हीन, दुःखी-दरिद्री, दलित-पतित बने ही रहे। ऊँच नीच, छोटे बड़ेके भाव जमे ही रहे।

तब विचार उत्पन्न हुआ कि यह नीतिका मार्ग नहीं, यह नीतिका अभाव है। इसमें सत्याग्रह, साम्यता और अहिंसाका अभाव है। इसका उद्देश परमार्थ-सिद्धि नहीं, स्वार्थ सिद्धि है। इसका रचयिता सद्ज्ञान नहीं, बुद्धि चातुर्य है। इसका आधार अन्तः उद्गार नहीं, बाह्य उपयोगिता है (Utalitarianism)। इस की उत्पत्ति पूर्णतामें से नहीं हुई, यह वांछाकी सृष्टि है। इसलिये यह अपने ही संघ, जाति, सम्प्रदाय और देश में सीमित होकर रह जाती है। इससे बाहिर समस्त लोक अनीतिका क्षेत्र है। यह नीति मानव-गौरवकी वस्तु नहीं, यह तो चोर डाकुओंके संघमें भी मौजूद है, क्रूर पशु पक्षियोंके समूहमें भी मिलती है।

इस प्रकार जीवने बुद्धि-द्वारा जीवन-तथ्यको समझनेकी अनेक विध कोशिश की; इसके साधनोंको अनेक विध प्रयोगमें लाया, इसके बतलाये हुये तथ्योंको अनेक विध स्वीकार किया, इसके बताये हुये जगको अनेक विध टटोला, इसके सुझाये हुये मार्गोंको अनेक विध ग्रहण किया; परन्तु वाँछाकी तृप्ति न हुई। वेदना बनी ही रही, पुकारती ही रही।

तब कहीं निश्चित हुआ कि बुद्धि निरर्थक है। इसकी धारणा मिथ्या है। इसका मार्ग निष्फल है; इसका जग वांछित जग नहीं। यह और है और वह कोई और है। इसजगकी सिद्धिमें सुख नहीं, इसकी असिद्धिमें दुःख नहीं, सुख और दुःख इस जगसे निर्पेक्ष

हैं। वे इसकी कल्पना पर निर्भर नहीं, इसके विधाता के आधीन नहीं। वे जगको, जगकी शक्तियोंको, शक्तियों के अधिष्ठातृ देवी देवताओंको विजय करके, व्यवस्थित करके, खुश करके वश नहीं किये जा सकते। सुख-दुःख किसी और ही सिद्धि असिद्धिमें बसे हैं।

जीवनके प्रश्न हल करनेका वास्तविक साधनः—

फिर वह कौनसी चीज़ है जिसकी असिद्धिमें जीवन दुःखी है और जिसकी सिद्धिसे यह सुखी हो सकता है।

इसके लिये वाञ्छाको ही पूछना होगा, कि आखिर वह क्या चाहती है। उसीके लोकको टटोलना होगा, जहाँ वह रहती है। उसीकी वेदनामयी अनक्षरी भाषाको सुनना होगा, जिसमें वह पुकारती है। उसीके भावनामयी अर्थको समझना होगा जिसमें वह अपनी रूप रेखा प्रगट करती है। इसके लिये बुद्धि ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त है। असमर्थ है। यह काम उस प्रकाश द्वारा हो सकता है जो अन्तः लोकका द्योतक है, अन्तर्गुफा में बैठी हुई सत्ताको देखने वाला है, उस ज्ञान द्वारा जो सहज सिद्ध है, स्वाश्रित है, प्रत्यक्ष है, उस ज्ञान द्वारा जिसे अन्तर्ज्ञान होनेके कारण मनोवैज्ञानिक Intuition कहते हैं। जिसे अन्तः पुकार सुननेके कारण अध्यात्मवादी श्रुतज्ञान कहते हैं, जिसकी अनुभूति 'श्रुति' नामसे प्रसिद्ध है।

इस ज्ञानको उपयोगमें लगानेके लिये साधकको शान्त चित्त होना होगा। समस्त विकल्पों और द्विवधाओं से, अपनेको पृथक करना होगा, निष्पक्ष एक रस हो पूछना होगा-- "जीवन क्या होना चाहता है और क्या होने से डरता है !" इस प्रश्नके उत्तरमें उठी हुई अन्तर्ध्वनिको सुनना होगा।

इष्ट जीवनका स्वरूपः—

जीव जीवन चाहता है, ऐसा जीवन—जो निरा अमृतमय है, जिसमें जन्म-मरणका नाम नहीं, जो सर्वथा स्वाधीन है, जिसे अन्य अवलम्बकी ज़रूरत नहीं जो अत्यन्त घनिष्ठ है, ओत प्रोत और एक है, जो तनिक भी जुदा नहीं, जो अत्यन्त निकट है, लय रूप और समाया हुआ है, जिसे ढूंढनेकी ज़रूरत नहीं जो अत्यन्त साक्षात्, ज्योतिमान जाज्वल्यमान है, जिसे देखने जाननेकी ज़रा भी वेदना नहीं, जो अत्यन्त ऊंचा और महान है जिससे परे और कुछ भी नहीं, जो अत्यन्त तैजस् और स्फूर्तिमान है; जिसकी उड़ानमें काल क्षेत्र दिशा कोई भी बाधक नहीं, जो अत्यन्त सुन्दर और मधुर है, ललाम और अभिराम है, जो खुद अपनी लीलामें लय है, मस्तीमें चूर है, शोभामें निमग्न है। जो सब तरह सम्पूर्ण-परिपूर्ण है जिसमें किसी चीज़ की वाञ्छा नहीं, रंकता और रिक्तताका भाव नहीं; जो सर्वभू है, सर्वव्यापक है, अनन्त है, सबमें है, सब उसमें हैं, पर जिसमें अपने सिवा कुछ भी नहीं। जो निर्मल, निर्दोष, परिशुद्ध है, परके मेलसे सर्वथा दूर है; जो केवल वह ही वह है।

यह है जीवका इष्ट जीवन, यह है जीवका वास्तविक उद्देश। इसके प्रति कभी भय पैदा नहीं होता, कभी शंका पैदा नहीं होती, कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रश्न उसी भावके प्रति होता है जो अनिष्ट है, जैसे पाप, दुःख और मृत्यु। इसीलिये ये सदा प्रश्नके विषय बने रहे हैं। परन्तु इष्टके प्रति कभी आशंका नहीं उठती कि "जीवन सुखी क्यों है ! जीवन अमर क्यों है !" क्योंकि इष्ट जीवन आत्माका निज धर्म है, निज स्वभाव है। आत्मा इसे निज स्वरूप मानकर

स्वीकार करता है, उसकी प्राप्तिकी सदा भावना रखता है। इसलिये यह विवादका विषय नहीं, समस्याका विषय नहीं। यह आसक्ति का विषय है, भक्तिका विषय है, सिद्धि का विषय है।

यह इसीका आलोक है जिसे देखनेको जीवन तरस रहा है, जिसे पानेको वाञ्छाओं से घिरा है, जिसे सिद्ध करनेको उद्यम और पुरुषार्थ से भरा है। यह इसीका आलोक है जो जीवनको दुःखदर्द सहनेको दृढ बनाता है, आपद-विपदाओं में से गुज़रनेको साहसी बनाता है, असफलता निराशाओंके लाँघने को बलवान बनाता है, मर मर कर ज़िन्दा रहने को समर्थ बनाता है। यही वास्तव में निर्बलका बल है। निराशामयकी आशा है। निस्सहायका सहारा है। दीन-दलितका दिलासा है, जीवनका जीवन है। इस आलोकके बिना जीवन एक निरी दुःख-दर्द भरी कहानी है। इसका आलोक ही जीवनके लिये हित अहित, सत्य-असत्य, हेय-उपादेयका निश्चय करता रहता है; युक्त अयुक्त, उचित अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करता रहता है; हित-प्राप्ति अहित-परिहारके लिये प्रेरणा करता रहता है। यही जीवनका निश्चयकार है, निर्णयकार है, आज्ञाकार है, स्वामी है, ईश्वर है, विधाता है।

यदि यह जीवन एकबार मिल जाये तो और कुछ पाना बाक़ी नहीं रहता, यह परमार्थ पद है, परमेष्ठि पद है। इसे सिद्ध कर और कुछ सिद्ध करना शेष नहीं रहता, यह सिद्ध पद है, कृतकृत्य पद है। इससे परे इससे ऊपर और कुछ नहीं रहता। यह परमपद है, परमात्म-पद है। इसे पा समस्त विकल्प, द्विधा, वाञ्छा, तृष्णाका अन्त होजाता है यह कैवल्य पद है। इसकी प्राप्ति में समस्त वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, और रूपका अभाव होजाता है, यह शून्य पद है, युक्तिपद है, निर्वाण पद है, इसे पा फिर छोड़ना नहीं होता, यह अच्युत पद है।

यद्यपि यह जीवन सर्वथा अलौकिक है, अद्भुत और अनुपम है। यह शरीर, इन्द्रिय और मन से दूर है। इस लोककी वस्तु नहीं। परन्तु भूल, अज्ञान, मोहके कारण कस्तूरी-मृगके समान, यह जीव इसकी धारणा जगत में करता है, इसे व्यर्थ ही वहाँ ढूँढता है, वहाँ न पाकर व्यर्थ ही खेद खिन्न होता है।

इष्ट जीवन साध्य जीवन है :-

इस भोले जीव को पता नहीं कि, वह चीज़ जिस का आलोक इसे उद्विग्न बना रहा है, बाहिर नहीं अन्दर है। दूर नहीं, निकट है। दोरंगी नहीं, एक रस है। यह जीवन स्वयं आत्मलोक में बसा है। आत्माकी अपनी अन्तर्वस्तु है यह इसमें ऐसी ही छिपी है जैसे अन-गढ पाषाणमें मूर्ति, बिखरी रेखाओंमें चित्र, वीणाके चुप-चाप तारों में राग, अचेत भावना में काव्य ये भाव जब तक इन पदार्थों में अभिव्यक्त नहीं होते, दिखाई नहीं देते, ये वहाँ सोये पड़े रहते हैं। बाहिरसे देखनेवालों को ऐसा मालूम होता है कि यह भाव भिन्न हैं, और यह पदार्थ भिन्न है, यह भाव और हैं, वह पदार्थ और है। ये भाव महान हैं, विलक्षण हैं, दूर हैं, और वह पदार्थ तुच्छ है, हीन है साधारण है। भला इनका उनसे क्या सम्बन्ध, क्या तुलना? ऐसे ऐसे इन पर हज़ार न्यो-छावर हो सकते हैं। ये भाव दुर्लभ हैं, अमूल्य हैं। असाध्य हैं, अप्राप्य हैं।

परन्तु ये भाव इन पदार्थोंसे ऐसे भिन्न नहीं, ऐसे दूर नहीं कि वह इनमें प्रगट ही न हो सकें। उनकी विभिन्नता ज़रूर है परन्तु वह विभिन्नता वास्तविक विभिन्नता नहीं, यह केवल अवस्थाकी विभिन्नता है।

उनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं वह केवल दुर्व्यवस्थाकी दूरी है। यदि विधिवत् पुरुषार्थ किया जाय तो वे भाव इनमें उदय हो सकते हैं। इनमें सिद्ध हो सकते हैं।

जब पाषाण, उत्कीर्ण होजाता है, वह पाषाण नहीं रहता, वह मूर्ति बन जाती है। वह कितनी माननीय और आदरणीय है? जब रेखायें सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखायें नहीं रहतीं वे चित्र बन जाती हैं। वे कितनी रोचक और मनोरञ्जक हैं। जब मूकतार झंकार उठता है, वह तार नहीं रहता, वह राग बन जाता है, वह कितना मधुर और सुन्दर है। जब भावना मुखरित हो उठती है, वह भावना नहीं रहती। वह काव्य बन जाता है, साक्षात् भाव बन जाता है। वह कितना महान और स्फुर्तिदायक है।

इस पाषाण और मूर्तिमें, इस रेखा और चित्रमें इस तार और रागमें, इस भावना और भावमें कितना अन्तर है। दोनोंके बीच अलक्ष्यता, मूर्च्छा, अव्यवस्था का अगाध मरुस्थल है। जो धीर अपनी अटल लक्ष्यता ज्ञान और पुरुषार्थसे इस दूरीको लाँघकर, इस सिरेको इस सिरेसे मिला देता है वह कितना कुशल कलाकार है। वह भूरि भूरि प्रशंसा और आदरका पात्र है। चंचल लक्ष्मी उसके चरणोंको चूमती है, और घातक काल उसकी कीर्तिका रक्षक बनता है।

जीवन भी एक कला है। जब तक यह आत्मामें अभिव्यक्त नहीं होती, बाहिरसे देखने वालोंको ऐसा प्रतीत होता है कि वह जीवन और है और यह जीवन और। वह जीवन इस जीवनसे अत्यन्त भिन्न है, अत्यंत दूर है, अत्यन्त परे है। यह जीवन एक दीन हीन तुच्छ-साधारण सी चीज़ है। वह जीवन अत्यन्त विलक्षण, महान, अचिन्तनीय ईश्वर है। यह जीवन दुःख दर्दसे भरा है, अनेक त्रुटियों और दोषोंसे परिपूर्ण है। वह पूर्ण आनन्दमय है, शुद्ध-बुद्ध निरंजन है। इनके सम्मिलनकी भावना केवल एक सुन्दर स्वप्न है, एक सुविचार है, जो भक्तिका विषय हो सकता है, प्राप्तिका नहीं। इसकी प्राप्ति नितान्त असम्भव है। इसकी वाँछा ऐसी ही मूढ और उपहास-जनक है जैसी कि चन्द्र-प्राप्ति की।

एक ओर अन्तर्वेदना इसके आलिंगनको उत्सुक है, दूसरी ओर बाह्य प्रतीति इसे छुड़ानेको उद्यत है। कैसी उलझन है। न अप्राप्य है न प्राप्य है! क्या किया जाये? कर्तव्य-विमूढ-हृदय इस विस्मयमें डूबकर रह जाता है। शिर भक्तिसे झुककर झूम जाता है और कण्ठ अनायास गुञ्जार उठता है 'तू तू ही है' तू तू ही है।

क्या वास्तवमें इष्ट जीवन इस जीवनसे नितान्त भिन्न है? क्या इस जीवनके लिये परमार्थ जीवन असाध्य है! नहीं। इष्ट जीवन इस जीवनसे भिन्न ज़रूर है, दूर ज़रूर है परन्तु ऐसा भिन्न नहीं, ऐसा दूर नहीं कि इनका सम्मेलन न हो सके। इनका भेद वस्तु-भेद नहीं है, केवल अवस्था भेद है। यह जीवन मूर्छित है-अचेत है, वह जागृत है सचेत है, यह असिद्ध है वह सिद्ध है, यह भावनामयी है वह भावमय है। यह वेदना है वह वेदना की शान्ति है, यह वाँछा है वह वाँछाकी वस्तु है, यह उद्यम है वह उद्यमका फल है। इनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं है, केवल दुर्व्यवस्थाकी दूरी है, वरना यह दोनों हर समय साथ हैं। जहाँ भावना रहती है वहीं भाव रहता है, जहाँ दर्द रहता है वहीं राहत रहती है, भाव अभिव्यक्ति है और भावना भावरूप होनेकी शक्ति है। क्या अभिव्यक्ति शक्तिसे पृथक हो सकती है? कदापि नहीं। शक्ति अँकुर है और अभिव्यक्ति उसका प्रफुल्लित फल है।

जब जीवमें अलौकिक जीवनकी भावना अंकित हो जाती है, चित्रित हो जाती है, साक्षात् भाव बन जाती है तब आत्मा आत्मा नहीं रहता, यह परमात्मा हो जाता है, यह ब्रह्म नहीं रहता, परब्रह्म बन जाता है। यह पुरुष नहीं रहता पुरुषोत्तम होजाता है।

इस आत्मा और परमात्मामें कितना अन्तर है। दोनोंके बीच भूल-भ्रान्ति, मिथ्यात्व-अविद्या, मोह तृष्णा का अथाह सागर ठाठें मार रहा है। जो धीर वीर अपने ध्रुवलक्ष्य, सद्ज्ञान और पुरुषार्थ बलसे इस दूरीको लाँघकर इस पारको उस पारसे मिला देता है। मर्त्यको अमृतसे मिला देता है वह निस्संदेह सबसे बड़ा कलाकार है। वह साक्षात् संसार-सेतु है, तीर्थंकर है। वह लोकतिलक है, जगतवन्द्य है। काल उसका द्वारपाल है, इंद्र, चंद्र उसके चारण हैं, लक्ष्मी, सरस्वती, शक्ति उसके उपासक हैं।

जीवन अभ्युदयकी रुकावटः—

इस जीवन अभ्युदयमें भूल, अज्ञान, मोह ही सबसे बड़ी रुकावट है, इनके आवेशमें कुछका कुछ सुझाई देता है। कहींका कहीं चला जाना होता है। जो पर है, असत् है, अनात्म है वह स्व, सत् और आत्म बन जाता है। जो सत् और आत्म है वह भ्रम मात्र हेय बन जाता है। कैसी विडम्बना है। यह मिथ्यात्व कितना प्रभावशाली है। जो बाह्य है, जड़ है, सदा बनता और बिगड़ता है, मिलता और बिखरता है वह पुद्गलमयी लोक ब्रह्मलोक बन गया है, वह पुद्गलमयी शरीर ब्रह्म बन गया है। वह पुद्गलमयी धन धान्य सम्पदा बन गया है। मूढ आत्मा इनके नामको वैभव, इनके रूपको सुन्दरता इनके कर्मको बल समझने लग गया है। इनके भोगको सुख, इनकी सन्ततिको अमरता मानने लग गया है। मोही आत्मा इनके लाभसे अपना लाभ, इनकी वृद्धिमें अपनी वृद्धि इनके हाथमें अपना हाथ, इनके नाशमें अपना नाश धारण करने लग गया है।

इस मिथ्या धारणाके कारण जगत जीवन बन जाता है। उसमें तन्मयता पैदा हो जाती है, मोह और ममता जग जाती है। यह ममता जगतकी तरङ्गोंसे तरङ्गित हो अपनी तृष्णामयी तरङ्गोंसे झुला झुलाकर जीवको अधिक अधिक जगत्की ओर उछालती है। इस तरह यह संसार-चक्र आगे ही आगे चलता रहता है। इस तरह यह जीव प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न होने पर भी प्रकृति समान देहधारी बना है। तुच्छ और सपरिमाण बना है। नाम-रूप-कर्मवाला बना है। विविध सम्बंध वाला बना है। जन्मने और मरने वाला बना है।

इस तरह ये मिथ्यात्व, अज्ञान और मोह जन्म जरा मृत्युके संसारक लौकिक दुःखी जीवनके मूल कारण हैं। ये ही जीवनके महान शत्रु हैं। इनका विजय ही विजय है। जिसने इन्हें जीत लिया उसने दुःख शोकको जीत लिया, जन्म मरणको जीत लिया, लोक परलोकको जीत लिया। इनका विजेता ही वास्तवमें विजेता है, जिन है, जिनेन्द्र है अर्हन्त है‡।

जीवन-सिद्धिका मार्गः—

भूल भुलैय्याका अंत उसके पीछे पीछे चलनेसे नहीं होता, न उसकी असलियतसे मुँह छुपाकर बैठनेसे होता है। न प्रमादमें पड़े रहनेसे होता है, वह मरीचिका है, वह आगे ही आगे भागती रहती है। वह सब ओरसे घेरे हुये है। उससे दौड़कर छुपना नहीं हो सकता। उस-

‡ उत्तराध्ययन ६, १४-१६, २१, ३८, धम्मपद ८-४ धर्मरसायन ॥१३५॥

को अन्त अपने ही स्थानमें डटकर खड़ा हो जानेसे होता है, उसका सामना करनेसे होता है, उसका तार तार करनेसे होता है, उसका तिरस्कार करनेसे होता है।

अज्ञानका अन्त उसकी सुझाई हुई बातोंको माननेसे नहीं होता, न संशयमें पड़े रहनेसे होता है, न अनिश्चित गति रखनेसे होता है। उसका अन्त उसके मन्तव्योंको साक्षात् करनेसे होता है, उनका अनुसन्धान और परीक्षा करनेसे होता है, उनमें निज परका, सत्य असत्यका हित-अहितका विवेक करनेसे होता है।

मोहका अन्त मुग्ध भावोंमें तल्लीन रहनेसे नहीं होता, न उन्हें चुपचुपाते हृदयमें छुपाये रहनेसे होता है। उसका अन्त मुग्ध भावोंकी मूढ़ता निरखनेसे होता है, उनकी मूढ़ताकी निन्दा, आलोचना प्रायश्चित करनेसे होता है। ममकार ग्रंथियोंका अन्त उन्हें पुष्ट करनेसे नहीं होता; उन्हें शिथिल करनेसे होता है। वासनाओंका अन्त भोगसे नहीं होता; संयमसे होता है। इच्छाओंका अन्त परिग्रहसे नहीं होता, संयमसे होता है। तृष्णाओंका अन्त तृप्तिसे नहीं होता, त्यागसे होता है†। वैरका अन्त वैरशोधनसे नहीं होता, क्षमासे होता है।

भव-भ्रमणका अन्त बाह्यरमणसे नहीं होता, अन्तः रमण से होता है। इस नाम-रूप-कर्मात्मक जगत का अन्त उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे नहीं होता, उन तन्तुओंके विच्छेदसे होता है जिन के द्वारा जीवन जगतके साथ बँधा है। यह विच्छेद-मन वचन-कायके कर्म-धर्म विधान करनेसे नहीं होता, दण्ड दण्ड-विधान करनेसे होता है,‡ इन्हें गुप्त करनेसे होता है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, काय गुप्ति पालनेसे होता है*।

इनका निरोध करनेसे होता है—इनका संवर करनेसे होता है। इन्हें बाह्य उद्योगोंसे हटा पारमार्थिक उद्योगोंमें लगानेसे होता है। इस तरह संसारका अन्त प्रवृत्ति मार्गसे नहीं होता निवृत्ति मार्गसे होता है।

परन्तु जीवन-सिद्धिका मार्ग केवल इतना ही नहीं है। यह केवल निषेध, संवर, और सन्यास रूप ही नहीं है। यह विधिमुख्य भी है। निषेध, संवर, सन्यास आत्म-साधनाकी पहली सीढ़ी है। साधककी पाद-पीठिका है। इसमें अभ्यस्त होनेसे आत्मा साक्षात् सिद्ध मार्ग पर आरूढ़ होनेके लिये समर्थ हो जाता है। अबाध और निर्विघ्न हो जाता है। वह स्थिर, उज्वल और शांत हो जाता है। परन्तु इतना मात्र होकर रह जानेसे काम नहीं चलता। इससे मिथ्यात्व, अज्ञान और मोहका समूल नाश नहीं हो जाता। वे अनादि-कालसे अभ्यासमें आते आते संस्कार, संज्ञा, और भाव बन गये हैं। अतः चेतनाकी गहराईमें उतर कर बैठ गये हैं। वे दूसरा जीवन बन गये हैं। वे किसी भी समय फूट निकलते हैं। वे निष्कारण भी आत्मा-को उद्विग्न, भ्रान्त और अशान्त बना देते हैं*। जब तक इनका उच्छेद नहीं होता, संसार चक्रका अन्त नहीं होता।

इन संस्कारोंको निर्मूल करनेके लिये निषेधके साथ विधिको जोड़ना होगा। प्रमाद छोड़ना होगा। साव-धान और जागरुक रहना होगा। समस्त परम्परागत भावों, संज्ञाओं और वृत्तियोंसे अपनेको पृथक् करना होगा। इन्द्रिय और मनको बाहिरसे हटा अन्दर ले जाना होगा। अपने ही में आपको लाना होगा। ध्यानस्थ होना होगा।

† सूत्रकृताङ्ग १, १२, १५।

‡ मज्झिमनिकाय।

* तत्वार्थाधिगम सूत्र ६. १. २.

* समाधिशतक ॥ ७९ ॥

अन्दर बैठ निर्वात हो ज्ञान-दीपक जगाना होगा। ज्ञान प्रकाशको उसीके देखनेमें लगाना होगा। जिसके लिये यह सब देखना जानना है—ढूंढना भालना है। उसीकी भावनाओंको सुनना और समझना होगा। जिसके लिये यह सब उद्यम हैं—पुरुषार्थ हैं। जो निरन्तर पुकारता रहता है "मैं अजर हूँ-अमर हूँ, तैजस-ज्योतिमान् हूँ, सुन्दर-मधुर हूँ, महान् और सम्पूर्ण हूँ।"

समस्त लक्ष्योंको त्याग इसी भावनामयी जीवनको अपना लक्ष्य बनाना होगा। इसे ध्रुव-समान दृष्टिमें समाना होगा। अपनेको निश्चय-पूर्वक विश्वास कराना होगा। "सोऽहं, सोऽहं", मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।

समस्त विद्वानोंको छोड़ ज्ञानको इसी अमृतमयी जीवनकी ओर ध्यान देना होगा। इसे स्पष्ट और पुष्ट करना होगा। अन्दर ही अन्दर देखना और जानना होगा। 'सोऽहं सोऽहं।'

समस्त रूढ़ीक भावों और बंधनोंसे हटा ममत्वको इसी लक्ष्यमें आसक्त करना होगा। इसीके पीछे २ चलना होगा, इसीके समरसमें डूबना होगा। हर समय अनुभव करना होगा। 'सोऽहं सोऽहं।'

यह मार्ग आत्म-श्रद्धा, आत्म-विद्या, आत्मचर्याका मार्ग है*। यह मार्ग सत्यपारमिता, प्रज्ञापारमिता, शील-पारमिताका मार्ग है†। यह मार्ग आत्म निश्चित, आत्मबोध, आत्मस्थितिका मार्ग है‡। यह मार्ग सम्यक-दर्शन सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्रका मार्ग है*।

यह है वह विधिनिषेधात्मक सिद्धि मार्ग, जो गहरेसे गहरे बैठे हुये संस्कारोंको निर्जीर्ण कर विध्वंस कर देता है। जो सोई हुई आत्म-शक्तियोंको जगा देता है, उन्हें भावनासे निकाल साक्षात् भाव बना देता है। यह मार्ग बहुत कठिन है। इसके लिये अनेक प्राकृतिक और मानुषिक विपदाओं और क्रूरताओंको सहन करना पड़ता है, अनेक शारीरिक और मानसिक त्रुटियों एवं बाधाओंसे लड़ना पड़ता है। यह मार्ग परिषहोंसे पूर्ण है। इसके लिये अदमनीय उत्साह, सत्याग्रह और साहसकी जरूरत है। यह मार्ग कठिन ही नहीं लम्बा भी बहुत है। इसके लिये दीर्घ पुरुषार्थ और भेदी बद्ध अभ्यासकी जरूरत है। इसे अभ्यस्त करनेके लिये इस मार्ग पर निरन्तर चलते रहना होगा। सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते, हर समय इस पर चलते रहना होगा। विचार है तो 'सोऽहं', आलाप है तो 'सोऽहं', आचार है तो 'सोऽहं'। इस मार्गको जीवन तन्तुओंमें रमा देना होगा। यहां तक रमाना होगा कि यह मार्ग जीवनमें उतर पाये, जीवनमें समा जाये। साक्षात् जीवन बन जाये। यहां तक कि 'मैं' और 'वह' का भेद भी विलय हो जाये। केवल वह ही वह रह जाता है।

यह मार्ग किसी बाह्य विधि विधान, क्रिया काण्ड, परिग्रह आडम्बरमें नहीं रहता; यह किसी भाषा, आलाप ग्रन्थमें नहीं रहता, यह किसी सामायिक प्रथा, संस्था-व्यवस्थामें नहीं रहता, यह किसी पूजा-प्रार्थना, स्तुति-वन्दनामें नहीं रहता। यह मार्ग साध्यके समान ही अलौकिक और गूढ है, साध्यके साथ ही आत्माकी

---

* प्रश्न उप० १-१०. ४-३, मुण्ड उप० ३-१-४,' १-२-११,' कैवल्य उप० १-१.

† दीघ निकाय—दूसरा सुत्त, छटा सुत्त, १०वाँ सुत्त, १२वाँ सुत्त।

‡ साठी संहिता—अध्याय १

* तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १-१, रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३,

अन्तः शक्तियोंमें रहता है; उसके उद्देश्य बल, ज्ञान बल, पुरुषार्थ बलमें रहता है। केवल इनकी गतिको बदलनेकी ज़रूरत है। इनका उपयोग बाहिरसे हटा अन्दरकी ओर लगाना है। इन्हें बजाय अनात्म-उद्देश, अनात्म दान, अनात्म पुरुषार्थके ज्ञान, आत्म पुरुषार्थ में तबदील करना है। फिर ये जीवनके बजाये इस पारके उस पार ले जाने वाले हो जाते हैं। यह बजाय संसारके मोक्षका साधन बन जाते हैं, बजाय मृत्युलोकके अमृतलोकका मार्ग बन जाते हैं।

बाह्यमुखी रूपसे इन तीनोंकी एकता संसारकी रचयिता है। अन्तःमुखी रूपसे इन तीनोंकी एकता मोक्ष की रचयिता है। जैसे संसारमें किसी भी पदार्थकी सिद्धि केवल उसकी कामना करने से, केवल उसे जान लेने से नहीं होती, बल्कि उसकी सिद्धि कामना तथा ज्ञान के साथ पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है ऐसे ही परमात्म स्वरूपकी सिद्धि केवल उसमें श्रद्धा रखनेसे, केवल उसे जान लेनेसे नहीं होती; बल्कि उसकी सिद्धि आत्म-श्रद्धा, आत्म ज्ञानके साथ आत्म-पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है।†

जो केवल परमात्म पदकी श्रद्धा और भक्तिमें अटक कर रह जाता है, वह अग्नि विदग्ध नगरीमें पड़े हुये उस आलसीके समान है जो सुखकी कामना करता हुआ भी अपनी सहायता करनेमें असमर्थ है।

जो परमात्म-तत्त्वके रहस्यको जानकर केवल उसके ज्ञानमें मग्न हो अपनेको अहो भाग्य मानता है वह उस सुस्वप्नि कुम्भकारके समान है जो अपने सुविचारसे अपनी दीनताको और अधिक दीन बना लेता है।

जो बिना आत्म श्रद्धा, बिना आत्म-ज्ञानके केवल पुरुषार्थी बना है, वह नाविक-हीन उस स्वच्छंद नावके समान है जो प्रकृतिके सहारे छोड़ दी गई है। जिधर मौज ले चली, चल पड़ी, जहां टकरा दिया टकरा गई, जहां डाल दिया, गिर गई।

यह तीनों ही मृत्युके ग्रास हैं, बार बार काल चक्र से पीसे जाते हैं †। इसलिये जीवनका सिद्धि-मार्ग त्रि-गुणात्मक है, सद्‌लक्ष्य, सद्‌ज्ञान और सद्‌-पुरुषार्थ जो आत्म-लक्ष्यको लक्ष्य बनाकर मिथ्यात्वका अंत करता है, जो अन्य ज्ञानसे उसे देखता जानता हुआ अविद्याका अंत करता है, जो आत्माचार्यासे लक्ष्यको जीवनमें उतारता हुआ मोहका अन्त करता है वह ही निश्चय पूर्वक धर्म है, धर्म-मार्ग है, धर्म-तीर्थ है। वह ही साक्षात् धर्म-मूर्ति है, धर्म-अवतार है ‡।

आत्मा में ही परमात्मा छुपा हुआ है। आत्मामें ही उसे सिद्ध करनेकी वेदना और वांछा बनी है। आत्मामें ही उसे सिद्ध करनेकी शक्तियाँ मौजूद हैं। अतः आत्मा ही साध्य है, साधक है, साधन है। आत्मा ही इष्ट पद है पथिक है, पथ है। आत्मा ही 'उस पार है, नाविक है और नाव है ※।

जो आत्मलक्षी है, आत्मज्ञानी है, आत्मनिष्ठ है, निरहकार-निर्ममत्व है, जिसके समस्त संशय, समस्त भ्रम दूर हो गये हैं, समस्त ग्रन्थियाँ, समस्त सम्बन्ध शिथिल हो गये हैं। समस्त आशायें-तृष्णायें शाँत हो गई हैं, समस्त उद्योग बन्द हो गये हैं, जिसने अपनी आशा अपने ही में लगाली है, अपनी दुनिया अपने ही में

---

† व्याख्या प्रज्ञप्ति ८-१० बोध प्राभृत २१

† सन्मतितर्क ३, ६८

‡ भाव प्राभृत ८३; योगसार ८३; तत्त्वानुशासन ३२ द्रव्य संग्रह ४०, ४१;

※ "I am the way, the truth and the life." Bible St. John 14. 6.

बसाली है, यह कृतकृत्य है, अचल है, ईश है, उसके लिये काञ्च और कंचन क्या ! अरि और मित्र क्या ! स्तुति और निन्दा क्या ! योग और वियोग क्या ! जन्म और मरण क्या ! दुख और शोक क्या ! वह सूर्यके समान तेजस्वी है, वायुके समान स्वतंत्र है, आकाशके समान निर्लेप है। मृत्यु उसके लिये मृत्यु नहीं, वह मृत्युकी मृत्यु है, वह मोक्षका द्वार है, वह महोत्सव है* ।

यह सिद्धिमार्ग वेशधारीका मार्ग नहीं, तथागतका मार्ग है। यह मूढका मार्ग नहीं। सन्मतिका मार्ग है। यह निर्बलका मार्ग नहीं, वीरका मार्ग है† ।

* सूत्रकृतांग' १-१२,' उत्तराध्ययन ९-१४,

† मुण्डक उप० ३-२-४.

साहित्य परिचय और समालोचन

(१) तत्त्वन्यायविभाकर—लेखक, आचार्य विजयलब्धि सूरि। प्रकाशक, शा० चन्दूलाल जमनादास, छाणी (बडोदा)। पृष्ठ संख्या, १२४। मूल्य, आठ आना।

यह 'लब्धिसूरीश्वर-जैनग्रंथमालाका ४था ग्रंथ है। इसमें १ सम्यक् श्रद्धा, २ सम्यग्ज्ञान और ३ सम्यक् चरण ऐसे तीन विभाग करके, पहलेमें जीवादि नवतत्त्वोंका (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षके क्रमसे) गुणस्थान मार्गणादि निरूपण-सहित, दूसरेमें मत्यादि पंचज्ञानों-प्रत्यक्षादि-प्रमाणों-आभासों-सप्तभंगों-नयों तथा वादोंका, और तीसरेमें चरण-करणभेदसे यतिधर्मका वर्णन संस्कृत गद्यमें दिया है। वर्णनकी भाषा सरल और शैली सुगम तथा सुबोध है। यतिधर्मका वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है और वह बारह भावनाओं, लोक तथा पुलाकादि निर्ग्रन्थोंके स्वरूप-कथनको भी लिये हुए है। श्रावकाचारका कोई वर्णन साथमें नहीं है, जिसकी सम्यक्चरण विभागमें होनेकी ज़रूरत थी। प्रस्तावना साधारण दो पृष्ठकी है और वह भी संस्कृतमें। अच्छा होता यदि प्रस्तावना हिन्दीमें विस्तारके साथ लिखी जाती और उसमें ग्रंथकी उपयोगिता एवं विशेषताको तुलनादि-द्वारा अच्छी तरहसे व्यक्त किया जाता। पुस्तकके साथमें विषयसूची तकका न होना बहुत ही खटकता है। फिर भी पुस्तक संस्कृत जाननेवालोंके लिये पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है। मूल्य कुछ अधिक है।

(२) चैत्यवन्दन चतुर्विंशतिः—लेखक, श्रीविजयलब्धिसूरि। प्रकाशक, चंदुलाल जमनादास शाह, छाणी (बड़ौदा स्टेट)। पृष्ठ संख्या, ३४। मूल्य दो आना।

यह लब्धिसूरीश्वर-जैनग्रंथमालाका ८वाँ ग्रन्थ है। इसमें मुख्यतया चौबीस तीर्थंकरोंकी चैत्यवन्दनारूपमें स्तुति भिन्न भिन्न छंदोंमें की गई है—२३ तीर्थंकरोंकी स्तुति तीन तीन पद्योंमें और महावीरकी पाँच पद्योंमें है। तदनन्तर सीमंधर जिन, सिद्धगिरि, सिद्धचक्र, पर्युषणपर्व, ज्ञानपंचमी मौनैकादशी, ऋषभानन जिन, चन्द्राननजिन, वारिषेणजिन और फिर वर्धमान जिन की भी चैत्यवन्दन रूपमें स्तुतियाँ भिन्न भिन्न छंदों तथा एकसे अधिक पद्योंमें दी हैं। स्तुतियाँ सब संस्कृत में हैं और जिन छंदोंमें हैं उनके लक्षण भी संस्कृतमें ही फुटनोटोंमें दिये गये हैं। पुस्तक अच्छी है और सुंदर छपी है।

Register No. L 4328.

वीर-सेवामन्दिरको सहायता

गत फरवरी और मार्चके महीनोंमें वीर-सेवामन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे २८५) रु० की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं:—

२००) बाबू नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता ।
५०) बाबू दीनानाथजी सरावगी, कलकत्ता ।
२५) बाबू छोटेलालजी सरावगी, कलकत्ता ।
७) ला० मेहरचन्दजी जैन, अम्बाला छावनी (पुत्र विवाहकी खुशीमें)
२) ला० जम्बूप्रसाद प्रेमचन्द जैन, गढी पुख्ता, जि० मुजफ्फरनगर (पुत्र विवाहकी खुशीमें)
१) श्रीमती मखमलीदेवी धर्मपत्नी बा० जिनेश्वरप्रसाद जैन, देहरादून ।

२८५)

अधिष्ठाता—'वीर सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर ।

सूचना—

जो सज्जन 'अनेकान्त' की पिछली किरण न लेकर नवीन किरणसे ही ग्राहक बनना चाहते हैं, उन्हें सहर्ष सूचित किया जाता है कि वे १।।) रु० मनीआर्डर से भिजवा देने पर ७ वीं किरणसे १२ वीं किरण तकके ग्राहक बनाये जा सकेंगे। उन्हें नवीन प्रकाशित किरणें ही भेजी जाएँगी और जो १।।) रु० के बजाए १।।।) रु० भेज देंगे उन्हें समाधितन्त्र और जैन-समाज दर्पण दोनों उपहारी पुस्तकें भी भिजवाई जा सकेंगी।

—व्यवस्थापक

वीर प्रेस ऑ[illegible] सर्कस न्यू देहली ।
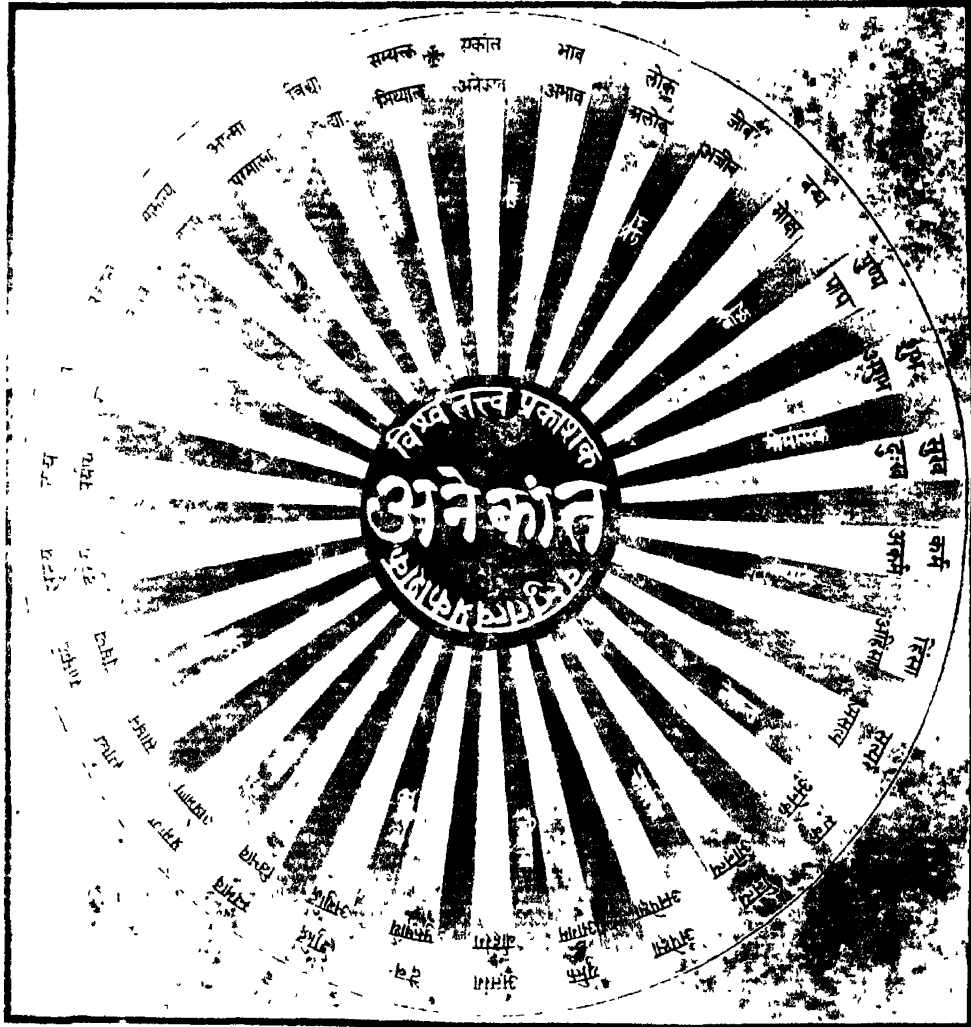
ॐ अर्हम्
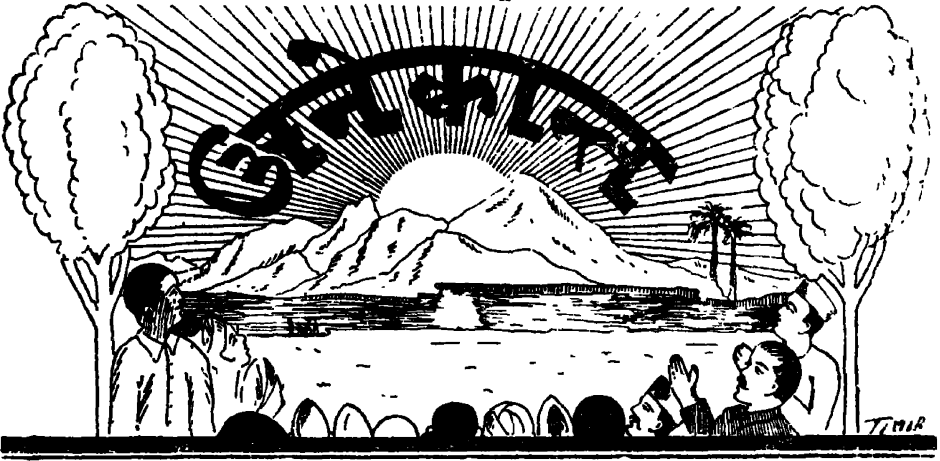
नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
वैशाख-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९७ | किरण ७

श्रीकुन्दकुन्द-स्मरण

वन्द्योविभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्त्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारुचारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् । —श्रवणबेल्गोलशिलालेख नं० ५४

जिनकी कुन्द-कुसुमकी प्रभाके समान शुभ्र एवं प्रिय कीर्तिसे दिशाएँ विभूषित हैं—सब दिशाओंमें जिनका उज्ज्वल और मनोमोहक यश फैला हुआ है—, जो प्रशस्त चारणोंके—चारणऋद्धिधारक महामुनियोंके—करकमलोंके भ्रमर थे और जिन्होंने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी—आगम-शास्त्रकी—प्रतिष्ठा की है, वे पवित्रात्मा स्वामी कुन्दकुन्द इस पृथ्वीपर किनसे वन्दनीय नहीं हैं?—सभीके द्वारा वन्दना किये जानेके योग्य हैं।

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥ —श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० ४०

उन (श्रीचन्द्रगुप्त मुनिराज) के प्रसिद्ध वंशमें वे श्री कुन्दकुन्दमुनीश्वर हुए हैं जिनका पहला—दीक्षा समयका—नाम 'पद्मनन्दी' था और जिन्हें सत्संयमके प्रसादसे चारण ऋद्धिकी—पृथ्वी पर पैर न रखते हुए स्वेच्छासे आकाशमें चलनेकी शक्तिकी—प्राप्ति हुई थी।

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः ॥ —श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० १०५

यतिराज (श्रीकुन्दकुन्द) रजःस्थान पृथ्वी तलको छोड़कर जो चतुरंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे उसके द्वारा, मैं समझता हूँ, वे इस बातको व्यक्त करते थे कि वे अंतरंगके साथ साथ बाह्यमें भी रजसे अत्यंत अस्पृष्ट हैं—अंतरंगमें रागादिकमल जिस प्रकार उनके पास नहीं फटकते उसी प्रकार बाह्यमें पृथ्वीकी धूलि भी उन्हें छू नहीं पाती।

उपासनाका अभिनय

[ले०—श्री० पं० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ]

भगवन् ! तेरी सेवाका व्रत बहुत कठिन है। जगत्के प्रलोभनोंसे प्रेरित होकर उपासकके रूपमें उपासनाके रंग-मञ्च पर मैं अनेक बार आया। आपको देखते ही मेरे अङ्गोपाङ्ग मानों ताण्डव-नृत्यमें घूमने लगते थे, जैसे मेरे शरीरका प्रत्येक अणु सेवाव्रतका अनुभव कर रहा हो। दर्शक लोग मेरे इस अभिनयको देखकर बड़े प्रसन्न होते और उपासकके महान् पद-द्वारा मेरा अभिवादन करते। मैं उनकी मधुर वाणीको सुन कर बड़ा प्रसन्न होता। मैं अनुभव करता कि सच-मुच मैं उपासक हो गया हूँ। "जगतकी प्रसन्नता-से तेरा कोई तादात्म्य नहीं है" इस आध्यात्मिक रहस्यका ज्ञान मुझे न था। मैं नहीं जानता था कि तेरी सेवाका व्रत बहुत कठिन है।

मैं भक्तोंकी वन्स-मोर (once more)की ध्वनि को सुनकर उन्मत्त हो जाता,इस ध्वनिके उन्मादने मेरे और तेरे अन्तरको और भी अधिक बढ़ा दिया, पर मैं विमूढ इस सूक्ष्म रहस्यको न समझ सका। मैं तो मोहोन्मत्त हो अज्ञातकी ओर खिंचा जा रहा था। समझता था कि जीवन सफल हो रहा है; पर यह तो आत्म-वंचना थी। संसार प्रसन्न हो रहा था, किन्तु तुम्हारी उदासीनताका मुझे पता न था। जहाँसे पारितोषिककी आशा थी, वहाँ तो कृपाका लेश भी न था। बाहरसे आने वाली निःसार करतल ध्वनिमें क्या था ?

इस अभिनयमें अनेक युग बीत गये, पर तुम्हारे बिठाने योग्य एक मनोहर उच्च और पवित्र आसनका निर्माण मैं न कर सका। मद, मत्सर, काम और स्वार्थके राक्षस इस देवासनके निर्माण में बाधक थे। मैं तुम्हें निमन्त्रण देता, पर स्वाग-तकी योग्यता न थी। तुम्हारे गीत गाता था, किन्तु तुमसे बहुत दूर रह कर। शायद तुममें तन्मय होनेका वह ढोंग था। तुम्हारे पास रह कर भी मैं तुम्हें न पा सकता था। क्योंकि मेरा विवेक अंध-कारसे आवृत था। पर आश्चर्य है कि दुनिया मुझे त्यागी, तपस्वी और उपासक कहती थी !

इस विडम्बनामें धीरे धीरे जीवन समाप्त हुआ। मैंने विचारा कि उपासकके लिये देवदूत आवेंगे, पर राक्षसोंने आकर कहा चलो ! मैं उन्हें देखकर भयभीत हो गया ! मैंने कहा–'मैं उपासक हूँ, तुम मुझे गलतीसे लेने आये हो। मैं तुम्हारे साथ न चलूंगा।' यम-किंकर भयंकर मुँह बना कर बोले—'चुप दंभी ! जीवन भर उपासनाका अभि-नय खेल कर भी देवदूतोंकी आशा करता है।'-मैंने कहा—'सारा जीवन उपासनामें व्यतीत किया है।' मुझे घसीटते हुये उन्होंने कहा—'अरे मूर्ख ! भा-वोपासकके लिये देवदूत आते हैं, द्रव्य-पूजकके लिये नहीं।'

श्रीपाल-चरित्र-साहित्यके सम्बन्धमें शेष ज्ञातव्य

[ले०—श्री० अगरचन्द नाहटा, सम्पादक 'राजस्थानी']

अनेकान्त वर्ष २ की द्वितीय किरणमें "श्रीपाल चरित्र साहित्य" शीर्षक हमारा लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रीपाल चरित्र सम्बन्धी ४६ श्वे० और १५ दि० कुल ६१ ग्रन्थोंकी सूची दी गई है *। उसके पश्चात् उन ग्रन्थों सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य एवं कुछ नवीन साहित्यका पता चला है, उसीका संक्षिप्त परिचय इस लेखमें दिया जा रहा है।

जैनसमाजमें श्रीपालचरित्रका लोकादर दिनोंदिन बढ़ रहा है। अभी कई मास पूर्व कलकत्तेमें मैना सुन्दरी नाटक भी खेला गया था व ग्रामोफोनमें 'मैनासुन्दरी'के नामसे कई रेकार्ड भी निकल चुके हैं। कन्नड भाषाके भी श्रीपाल चरित्रोंका पता चला है।

* पूर्व लेखमें संख्या ४२।१६ सूचित की है पर रत्नशेखर रचित चरित्रकी ४ टीकाओंके नम्बर बढ़ानेसे ६२ होते हैं, उनमें रैधू कविके चरित्रका उल्लेख दोबार हो गया है उसे देने पर संख्या ६१ होती हैं।

पूर्व लेखमें मुद्रण दोषवश नीचे लिखी महत्वपूर्ण अशुद्धियाँ रह गई हैं पाठक उन्हें सुधार लें। ताकि उस के द्वारा और कोई फिर भूल न कर बैठें—

	अशुद्ध	शुद्ध
पृ० १५५ पंक्ति १३	२ बडी भंडार	लींबडी भंडार
पृ० १६१ पंक्ति ११	रत्नलाभ	रत्नलाभ
पृ० १६२ पंक्ति १६	मगदानन्द	सागरानंद
पृ० १६३ पंक्ति ६	सं० १४३६	सं० २४३६

विशेष ज्ञातव्य—

पूर्व लेखमें श्रीपालचरित्र सम्बन्धी सबसे प्राचीन ग्रंथ सं० १४२८ का बतलाया गया है पर मैनासुंदरी का नाम निर्देश बारहवीं शताब्दीके खरतर गच्छीय विद्वान् आचार्य जिनवल्लभसूरि (स्वर्ग सं०११६७) के वृद्ध नवकार*में भी मिलता है, अतः श्वेताम्बर समाजमें भी १२वीं शताब्दीके पूर्वका रचित कोई ग्रंथ अवश्य था यह सिद्ध है। पंडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके पास दि० भंडारोंकी जो प्राचीन सूचियाँ हैं उनमें भी पंडित नरसेन कृत प्राकृत श्रीपाल चरित्रका उल्लेख है, अतः दि० विद्वानोंको खोजकर प्रकट करना चाहिये कि वह कबका रचित है? संभवतः वह प्राचीन होगा।

दि० चरित्रोंमें से जिन ग्रन्थोंका केवल उल्लेख ही मिला था पर प्रतियोंका पता पहले मुझे नहीं मिला था उनमें से जिन जिनका पता चला है वे इस प्रकार हैं:-

१ ब्र० नेमिदत्त (सं०) भ० सकलकीर्ति एवं दौलतरामजी की भाषावचनिका की प्रतियाँ जयपुरके दि० भंडारोंमें उपलब्ध हैं।

कलकत्तेके बड़े दि० जैन मंदिरमें सकलकीर्ति और परिमल्ल कवि रचित चरित्रोंकी प्रतियाँ भी मैंने स्वयं देखी हैं उनके सम्बन्धमें जो विशेष बातें ज्ञात हुई वे ये

* 'मयणासुंदरी' तणीपरे नवपय भाव करंत।
(हमारे प्र० अभयरत्नसार पृ० १२७)

हैं:—सकलकीर्ति रचित संस्कृत पद्यमय चरित्रकी २२ पत्रोंकी प्रति सं० १५६१ मार्गशीर्ष शुक्ला ६ शनिवारको लिखित है। इसमें ७ परिच्छेद और कुल श्लोक संख्या ८०४ है।

परमल्ल कविके हिन्दी पद्यमय चरित्रकी ६ प्रतियाँ उक्त मन्दिरमें हैं। ग्रन्थ प्रशस्तिसे पता चलता है कि कविके पूर्वज गोपगिरिके राजा मानके मान्य चांदन चौधरी थे उनके पुत्र रामदासके पुत्र आसकरण बरहिया के आप पुत्र थे और आगरेमें निवास करते थे। प्रस्तुत चरित्र सं० १६५१ आषाढ शुक्ला ८ शु० अकबरके राज्यमें प्रारम्भ किया था।

कलकत्तेके नित्यमणि विनय श्वे० जैन लायब्रेरीमें दि० विद्यानंदि रचित चरित्रकी प्रति अवलोकनमें आई। यह प्रति ३२ पत्रात्मक प्राचीन है। चरित्र श्लोकबद्ध है और ११ पटलोंमें क्रमशः १६८, १३५, १४२, ८२, २३३, २१६, २४२, २३१, १४६, १६५, ११५, कुल १६०५ श्लोक हैं। ग्रन्थकर्ताने अपनी परम्परा इस प्रकार बतलाई है:—कुंदकुंदान्वय गुणकीर्ति-रत्नकीर्ति प्रभाचंद्र पद्मनंदि शि० देवेन्द्रकीर्ति शि० विद्यानंदि। ग्रन्थके प्रारम्भमें कुंदाकुंदाचार्यादिकी कई श्लोकोंमें प्रशंसा की है। पुष्पिका लेख इस प्रकार है:—

"ग्रंथ संख्या २०००। संवत् १५३० वर्षे वैशाख बदि ५ शुभ नक्षत्रे। श्री सिद्ध चक्र श्रीपाल चरित्र समाप्त।" कर्त्ताने पूर्व ग्रन्थानुसार रचनेका उल्लेख किया है। पूर्व सूचीमें उल्लिखित दि० वादिचंद्र कृत श्रीपाल व्याख्यानकी प्रशस्ति देखने पर ज्ञात हुआ कि उस ग्रंथके चरित्रनायक हमारे श्रीपालसे भिन्न हैं। कथा के अन्तमें "इति श्री विदेह क्षेत्र श्रीपाल सोभागी चक्रवर्ती हवो तेहनी कथा" ऐसा स्पष्ट निर्देश है।

इसी प्रकार श्वे० विवंदनीक गच्छीय पद्मसुन्दरके श्रीपाल चौपईकी प्रशस्तिसे भी उसका चरित्र नायक हमारे श्रीपालसे भिन्न ही कोई श्रीपाल प्रतीत होता है। यह रास "दान" के महात्म्यपर कथाकोष ग्रन्थके आधारसे रचा गया है, ऐसा ग्रन्थकी अन्त प्रशस्तिसे स्पष्ट है। फिर भी मूलग्रन्थको पूरा पढ़े बिना या उसके आधार भूत कथाकोषको देखे बिना निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता।

पूर्व लेखमें सकलकीर्त्ति और ब्रह्मजिनदासके गुरु शिष्य-सम्बन्धके कारण चरित्रोंके एक होनेका अनुमान किया गया था पर वह ठीक नहीं था, क्योंकि दोनोंके भिन्न भिन्न ग्रंथ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार नेमिदत्त और मल्लिभूषणके रचित चरित्र भी भिन्न भिन्न ही होंगे। पं० कैलाशचन्द्रजीकी प्राप्त सूचियोंमें भिन्न भिन्न लिखा मिलता है। नेमिदत्तका तो जयपुर भंडारमें उपलब्ध है ही। पंडितजीकी प्राप्त सूचियोंमें शुभचन्द्रके नामके साथ साथ भट्टारक छोटा विशेषण लगा है। अब अनुपलब्धादि चरित्रोंमें १ नरसेन २ मल्लिभूषण ३ छोटा शुभचन्द्र ४ प० जगन्नाथ कृत ही रहे हैं, विद्वानोंको उन्हें खोजकर प्रकाश डालना चाहिये।

नवीन ज्ञातसाहित्य

अब पूर्व सूचीमें निर्देशित चरित्रोंके अतिरिक्त जितने साहित्यका पीछेसे पता चला है उसका परिचय दिया जाता है।

श्वेताम्बर

१. श्रीपालचरित्र (सं० गद्य):—लोंकागच्छीय ऋषिकेशव रचित (रचनाकाल:—१८७७ आश्विन शुक्ला ४ बालूचर) इसकी प्रति विजयधर्मसूरि ज्ञानमन्दिर

आगराके नं० १५३८में ५६ पत्रोंकी हमारे अवलोकनमें आई है।

२. श्रीपालरासः—गुणसुन्दर (उपरोक्त ज्ञानमंदिरमें ३ प्रतियें नं० ३५८५-८६-८७ पत्र १४, १५, १०)

३. श्रीपालः—गुजराती (गद्य) में जैन आफिससे प्रकाशित

४. श्रीपालः—(संक्षिप्त) धीरजलाल टो० लि० ज्योति कार्यालयसे प्र०

दिगम्बर

१. श्रीपालचरित्र—(सं०), पं० जगन्नाथ कृत० उ० पं० कैलाशचन्द्रजीको प्राप्त प्राचीन सूचियोंमें

२. श्रीपालचरित्र—भाषावचनिका, अमीचंद कृत. जयपुर दि० भंडार

३ श्रीपालचरित्र—भाषावचनिका, विनोदीलाल जयपुर दि० भंडार

४. श्रीपालचरित्र—भाषावचनिका, मू० सकलकीर्त्ति रचित पर जयपुर दि० भंडार कर्त्ता अज्ञात.

५. श्रीपालचरित्र—(हिन्दी पद्यमय) सदासुख (?) कृत० (रचनाकाल सं० १८५७ आषाढकृष्णा ६ रवि. संधि ६ छंद २२६४) इसकी १०४ पत्रेकी एक प्रति मैंने कलकत्तेके दि० बड़े मंदिरमें देखी है। कर्त्ताने अपना नाम स्पष्ट नहीं सूचित कर कहीं "सुखकर्न" अन्तके छन्दमें "अतिसुख" इस प्रकार दिया है अतः नाम सुखकरन या सदासुख होनेकी संभावना है। अपने परिचयमें कविने इतना ही कहा है कि "वे पहले पाढिम नगरके निवासी थे फिर सकूराबादमें रहने लगे थे।"

कन्नड भाषा

६. श्रीपालचरित्र—मंगरसइय रचित सं० १५०८

७. ,, देवरस ,, (सं०१७०० लगभग)

८. ,, वर्द्धमान ,, (सं०१६५० ,,)

९. ,, तृतीयगंगरस

१०. ,, इन्द्रदेवकृत भी माना जाता है।

तामिल साहित्यमें भी सम्भव है श्रीपालचरित्र हो पर प्रो० चक्रवर्तीको रिप्लाइ कार्ड देने पर कोई सूचना नहीं मिली। इनमेंसे नं० १ कैलाशचन्द्रजी नं० २,३, ४ की मास्टर मोतीलालजी संघवी, जयपुर, नं० ६ से १० की पं० भुजबलिजी शास्त्रीसे सूचना मिली है एतदर्थ मैं उनको धन्यावाद देता हूँ। अन्य विद्वान भी इसी प्रकार विशेष ज्ञातव्य प्रकट करें यही नम्र विज्ञप्ति है।

अहिंसाका अतिवाद

[ले० श्री दरबारीलालजी सत्यभक्त]

अतिवाद एक ऐसा विष है जो स्वादमें अमृत सरीखा भले ही लगे पर परिपाकमें सर्वनाश ही करता है। इसलिए अहिंसाका भी अतिवाद घोर हिंसा बढ़ाने वाला हो जाता है। इसका एक नमूना मुझे अभी अभी एक जैन पत्रमें पढ़नेको मिला। लेख के लेखक हैं प्रसिद्ध विद्वान श्री कालेलकर, शीर्षक है 'हृदय नो ममभाव।'

लेखकने पशुपक्षियोंकी दयाका चित्रण किया है आनन्दसे उछलने वाले बैंटेकी हिंसाका करुण चित्रण किया है, इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया है कि बकरे के अंग खाते समय लोग यह क्यों नहीं विचारते हैं कि इसी सिरमें कैसा उल्लास आनन्द था। इसके बाद अहिंसाकी यह धारा बहते बहते वनस्पतियोंमें पहुँची है। यहाँ तक कि लकड़ियाँ वृक्षोंकी हड्डियाँ कहलाकर दयापात्र बनी हैं इमारतके लिये लकड़ी चीरी जाती है तो लेखकको हड्डी चीरनेका कष्ट होता है इस प्रकार वृक्षके फल खाना और जानवर खाना, दोनोंकी क्रूरता एक ही श्रेणीमें खड़ी कर दी गई है।

इसमें सन्देह नहीं कि विश्वप्रेमी या परम अहिंसक वृक्षोंकी भी दया करेगा। जैनाचारमें जैन मुनियोंके लिए सूक्ष्म-अहिंसाके पालनके लिये काफी विधान हैं फिर भी जैनधर्मकी अहिंसामें ऐसा अतिवाद या एकान्त दृष्टि नहीं है अनेकान्त दृष्टिने जैनधर्मकी अहिंसाको निरतिवाद या व्यवहार्य बना दिया है।

वर्षों पहिले जब मैंने जैनशास्त्रोंमें यह पढ़ा कि जिस चीजमें तुम्हें माँसकी कल्पना आजाय वह मत खाओ, तब मैं महात्मा महावीरकी अहिंसाका पाठ पढ़ानेवाली शैलीसे आश्चर्यचकित हो गया। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी चीज़को अगर तुम माँसकी कल्पना करते हुए खा सकते हो तो एक दिन माँसके प्रति तुम्हारी सहज घृणा नष्ट हो जायगी।

मुझे याद है कि जब मैं छोटा था तब सक्रान्तिके अवसर पर गड़ियाघुल्ला (शक्करके हाथी घोड़े ऊँट आदि) खाते समय कह बैठता था-मैं इसकी पूंछ खाता हूँ, सिर खाता हूँ आदि। तब पिताजी नाराज होते थे और अन्तमें उन्होंने शक्करके जानवर खरीदना बन्द कर दिया था तबसे वे शक्करके मन्दिर मकान आदि खरीद देते थे। उनने मुझे यह सिखा दिया था कि शक्करमें भी अगर पशुकी कल्पना आ जाय तो उसके खानेमें पाप लगता है।

जब हम वृक्षकी छाल आदिको पशुके चमड़े, हड्डी, माँस, नस, खून आदि की तुलनामें खड़ा करके अतिवादी भावुकतामें अहिंसाकी साधना करते हैं तब मंत्र भ्रष्ट साधककी तरह हमारे जीवनमें प्रतिक्रिया होती है। जब हम टमाटरके रससे बकरेके रक्तमाँसकी तुलना करेंगे सूखी वनस्पतिको सूखा माँस और हड्डी समझेंगे, और इनके बिना जीवन-निर्वाह न होनेसे उन्हें खाते भी जाँयगे, तो इसका परिणाम यह होगा कि एक दिन टमाटरकी घृणाकी तरह बकरेके माँसकी घृणा भी शिथिल हो जायगी। इस प्रकार यह अहिंसाका अतिवाद हिंसाके प्रचारमें साधक बन जायगा। विवेकहीन अहिंसाका प्रवाह अशक्यताकी पर्वत श्रेणीसे टकराकर ठेठ हिंसाकी

चरम सीमा तक पहुँचता है। इसीलिये चारित्रके मूलमें भ. महावीरने सम्यग्ज्ञानके होने पर ज़ोर दिया है। विवेकहीन चारित्रको अचारित्र ही नहीं मिथ्याचारित्र तक कहा है। श्री कालेलकर साहिबके लेखमें अहिंसाका ऐसा ही अतिवादीरूप है जिसकी ऐसी प्रतिक्रिया होगी कि उससे रही सही अहिंसा भी बह जायगी।

भगवती अहिंसाका साधक वृक्षोंकी दया भी रक्खेगा और जहाँ जीवन निर्वाहका माँसाहार सिवाय दूसरा साधन न होगा वहाँ माँसाहारको भी क्षन्तव्य मान लेगा, इतना होने पर भी वह बनस्पति आहार और माँसाहारकी विभाजक रेखाको नष्ट न करेगा, न उसकी चौड़ाई कम करेगा। हृदयके समभावको निर्विवेक न बनायगा।

जैनधर्मने हिंसा अहिंसाका बहुत ही गम्भीर विवेचन किया है। जहाँ उसने जड़ोपम प्राणियोंके सुख दुःखका खयाल रक्खा है वहाँ अहिंसाको व्यवहार्य बनानेके लिये हिंसाकी तरतमताका भी खयाल रक्खा है इसलिये प्राणियोंकी गिनती पर ध्यान न देकर उनकी चैतन्यमात्रा पर ध्यान दिया है। इसलिये बनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, पशु आदिकी हिंसामें संख्यगुणा असख्यगुणा अनन्तगुणा अन्तर बतलाया है। अगर इस प्रकारका विवेक न रक्खा जाय तो अहिसा अव्यवहार्य होजाय।

जैनधर्मकी इस अनेकान्त दृष्टिको भुला कर जब हम भावुकताके अतिवादसे बकरेकी हिंसा और झाड़ोंकी हिंसाको एक ही कोटिमें लानेकी कोशिश करेंगे, बकरेकी हिंसाकी घृणा वृक्षहिंसामें लागू करना चाहेंगे तो इसका परिणाम यह होगा कि वृक्ष हिंसाकी अघृणा या उपेक्षा बकरेकी हिंसामें आ उतरेगी। इस प्रकारका अतिवादी समभाव रही सही अहिंसाको चौपट न कर जाय इसलिए बनस्पत्याहार और माँसाहारके बीचमें जो खाई है उसको अधिकसे अधिक बड़ी बनानेकी ज़रूरत है।

माँसभक्षीमें दया मानना उससे प्रेम करना आदि एक बात है पर माँसभक्षण और शाकाहारका भेद भुला देना दूसरी बात है। हम दैशिक परिस्थितिका विचार करके, उनकी संस्कृतिका विचार करके या सर्वसाधारण का व्यापक दोष समझ कर माँसाहारियोंको क्षम्य मानें, परन्तु शाकाहार माँसाहारके विषयमें अपनी भावनाओंको अभिन्न न बनायें। इसका खयाल रक्खें कि बनस्पत्याहारमें माँसाहारका संकल्प न आने पावे। इसके लिए इन बातोंका विचार ज़रूरी है।

१—जीवन-निर्वाहके लिए हिंसा तो अनिवार्य है परन्तु विश्वसुखवर्धनका विचार करते हुए अधिक चैतन्यवालेका विचार हमें पहिले करना चाहिए। बनस्पति, कीटपतग, पशुपक्षी, मनुष्य इन चारोंकी हिंसा को बराबर न मानना चाहिये।

२—बनस्पति आदि स्थावर तथा पशुपक्षी आदि त्रसके वधका प्रकार एकसा नहीं है। अनेक प्रकारका अंगच्छेद पशुओंको नुकसान पहुँचाता है, पर बनस्पतियोंको नुकसान नहीं पहुँचाता।

वृक्षोंके फल अगर हम न तोड़ें तो वृक्ष उन्हें स्वयं फेंक देंगे। और उनके स्थान पर दूसरे फलफूल पत्र पैदा होंगे। पर बकरेमें यह बात नहीं है कि अगर हम उसका सिर न काटेंगे तो वह स्वयं पुराना सिर फेंक कर वसन्तमें नया सिर लगा लेगा।

वृक्षकी शाखा काटने पर उसी जगह दूसरी शाखा उगती है, बहुतसी जगह तो शाखा प्रशाखा न काटने पर उनका विकास ही रुक जाता है। एकबार वैज्ञ

गुलाबका झाड़ लाया उसे पानी तो अच्छा दिया उसमें नये नये पत्ते भी आये पर कटिंग न किया, धीरे धीरे उसके पत्ते काले पड़ गये और झाड़ उखड़ गया। एक जानकारसे पूछने पर मालूम हुआ कि उसका कटिंग करना जरूरी था। तबसे मैं बराबर कटिंग करता हूँ। कटिंगके बाद ही उसमें बाढ़ होती है फूल आते हैं। बकरेकी टांग काटना ऐसा जरूरी नहीं है, न टांग काटनेसे उसमें बाढ़ आती है। इसलिये अब मैं वृक्षोंके फलों पत्रों आदिको गायके दूधकी तरह ही मानता हूँ। शाखाओंके कटिंगको एक तरहका अपरेशन मानता हूँ। और खास कर गुलाबके कटिंगको तो इसी तरह करता हूँ जैसे छोटे बच्चेके बाल बनवा रहा होऊँ। बकरेकी टांग तोड़ने सरीखी कल्पना मुझे नहीं होती।

जंगलवालोंसे मालूम हुआ कि सागौन आदिके झाड़ काटने पर तीन चार सालमें फिर वैसी ही शाखाएँ तैयार हो जाती हैं अन्यथा पुराने अंग ही जरठ होते रहते हैं। पशु पक्षियोंके अंग कट जाने पर वे इस प्रकार दूने उत्साहसे नहीं बढ़ते।

मेरा मतलब यह नहीं है कि वनस्पतियों तक हमारा दयाभाव न पहुँचे, मतलब इतना ही है कि हम पशु-वधसे उसकी समानता बताने न लग जाँय। अगर हम यह सोचने लगें कि घरके झाड़ोंका काटना तो ठीक, पर जो बेचारे जंगलमें ऊगे हैं उनका क्या अपराध? उनके लिये हमने क्या किया है? इस प्रकार हम जंगल से लकड़ी लेना बन्द करदें तो शहरोंके महलोंकी बात तो दूर, वे तो शायद लोहा और कांक्रीटके बल पर बन भी जाँय जिनमें वृक्षोंकी हड्डियाँ दिखाई न दें, पर गांवों की झोपड़ियाँ मुश्किल हो जाँयगी। बेचारे ग्रामीण लोहा चूना सिमिट कहाँसे लायेंगे। शहर वाले तो बिजलीका बटन दबाकर प्रासुक और शुद्ध भोजन तैयार करलेंगे पर बेचारे गाँव वालोंकी तो वृक्षोंकी हड्डियाँ जलाये बिना गुजर ही नहीं। इस प्रकार अति-वादी अहिंसा भाव अगर बेचारे गरीब लोगोंके मनमें घुस जाय और उसके अनुसार आत्महत्या करनेको अगर वे अपनेको तैयार न पायें, अहिंसाको अव्यवहार्य समझ बैठें, तो शताब्दियोंमें जो थोड़ा बहुत विकास हो पाया है यह ध्वस्त हो जाय। घर घरमें शाक और मांस सब एकाकार हो जाय।

हृदयके समभावको खूब बढ़ाइये, पर समभावके नाम पर हमारे भाव ऐसे अतिवादी न हो जाँय कि कौड़ियाँ गिननेमें हम मुहरें लुटा दें और दोई दीनमे जाँय। अगर कभी भावुकताके उफानमे ऐसे भाव हो भी जाँय तो उन्हे आत्मनेपद ही रक्खें। दुनियाके सामने रखकर उन्हे परस्मैपद बनाना और फिर भी आत्मनेपद की दुहाई देना चिल्ला चिल्लाकर अपने वर्तमान मौनकी घोषणा करना है।

अन्तमें यही कहना है कि जैनधर्मका अहिंसावाद बहुत सूक्ष्म होकर भी वह निरतिवाद है, व्यवहार्य है, उसमें योग्यायोग्य विवेक है वह प्राणियोंके चैतन्यकी तरतमताके अनुसार हिंसा अहिंसाका विचार करता है और मांसाहार शाकाहारकी विभाजक रेखाको काफी स्पष्ट रखता है। शाकाहारमें मांसाहारकी कल्पना भी नहीं होने देता। यह अहिंसाका विवेकपूर्ण सच्चा रूप है। जिन पत्रोंने श्री कालेलकर साहिबके भावुकता पूर्ण विचार प्रगट किये हैं उनका कर्तव्य है कि वे उनका दूसरा पहलू, जो कि विवेक तथा व्यावहारिकता पर अवलम्बित है अवश्य प्रगट करें। अन्यथा इस प्रकार अहिंसाका अधूरा और अतिवादी विवेचन घोर हिंसाका उत्तेजक होगा।

—सत्य सन्देशसे

प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र

[सम्पादकीय

(गत किरणसे आगे)

छठा अध्याय

त्रिकरणैः कर्म योगः ॥१॥

'तीन करणोंसे (मन वचन-कायसे) की जाने वाली क्रियाको योग कहते हैं।'

प्रशस्ताप्रशस्तौ ॥२॥

पुण्यपापयोः [हेतू] ॥३॥

'योग प्रशस्त अप्रशस्त दो हैं।'

'प्रशस्त योग पुण्यका अप्रशस्त योग पापका (आस्रव-) हेतु है।'

उमास्वातिके **'शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य'** सूत्रका अथवा श्वे० मान्यताके अनुसार **'शुभः पुण्यस्य'**, **'अशुभः पापस्य'** सूत्रोंका जो आशय है वही इन सूत्रोंका है।

गुरुनिन्हवादयो ज्ञानदर्शनावरणयोः* ॥४॥

'गुरुनिन्हव (गुरुका छिपाना) आदि ज्ञानावरण-दर्शनावरणके हेतु हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे मात्सर्य, अन्तराय, आसादन उपघात आदि उन हेतुओंका ग्रहण करना चाहिये जो आगममें वर्णित हैं, और जिनका उमास्वातिने **'तत्प्रदोष-निन्हव'** नामके सूत्रमें उल्लेख किया है।

दुःखभ्रा† त्यनुकंपाद्या असाता‡ सातयोः ॥५॥

'दुःख आदि असाताके, भत्यनुकम्पा आदि साताके हेतु हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे असातावेदनीयके आस्रवहेतुओंमें शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवनका और सातावेदनीयके हेतुओंमें दान, सरागसंयम, क्षमा, शौचादिका संग्रह किया गया है। उमास्वातिके दो सूत्र नं० ११, १२ का जो आशय है वही इसका समझना चाहिये। यहाँ सूचनारूपसे बहुत ही संक्षिप्त कथन किया गया है।

के† वल्यादिविवादो (अवर्णवादो ?) दर्शनमोहस्य‡ ६ *

केवली आदिका विवाद (अवर्णवाद?)—उन्हें झूठे दोष लगाना—दर्शनमोहका हेतु है।'

यहाँ 'आदि' शब्दके द्वारा श्रुत, संघ, धर्म और देवके अवर्णवादका भी सग्रह किया गया है। यह सूत्र उसी आशयको लिये हुए जान पड़ता है जो उमास्वातिके **'केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य'** सूत्रका है।

कषायजनिततीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥७॥

'कषायसे उत्पन्न हुआ तीव्र परिणाम चारित्रमोहका हेतु है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका **'कषायोदयात्तीव्र'** नामका सूत्र प्रायः एक ही है—मात्र **'उदयात्'** और

*** वरणादयः। † द्व। ‡ याः साता।**

† कै। ‡ श्च। *** यहाँ मूल पुस्तकमें नं० ७ दिया है जो गलत है; क्योंकि इससे पहिले 'चतुर्विंशतिकामदेवाः' नामका एक सूत्र पुनः गलतीसे नं० ६ पर लिखा गया था, जिसे निकाल देनेका संकेत किया हुआ है; परन्तु उसे निकालने पर आगेके नम्बरोंको बदलना चाहिये था जिन्हें नहीं बदला। इसलिये इस अध्यायके अगले सब नम्बर ग्रन्थप्रतिमें एक एककी वृद्धिको लिए हुए हैं।**

'जनित' शब्दोंका अन्तर है ।

बह्वारंभपरिग्रहाद्या नारकाद्यायुष्कहेतवः ॥ ८ ॥

'बहु आरंभ-परिग्रह आदि नारक आदि आयु के हेतु हैं ।'

इस सूत्रमें दो जगह 'आद्य' शब्दका प्रयोग करके नारक आदि चारों ही गतियोंके आस्रव हेतुओंका एकत्र संग्रह किया गया है, परन्तु दूसरी गतियोंका एक एक भी कारण सूचना एवं दूसरे कारणोंको ग्रहण करनेकी प्रेरणारूपमें साथमें नहीं दिया है, इससे यह सूत्र आवश्यकतासे कहीं अधिक संक्षिप्त और अजीबसा ही जान पड़ता है । यह विषय उमास्वातिने १५ से २१ तक सात सूत्रोंमें वर्णित किया है।

योगवक्रताद्या अशुभ†नाम्नः ॥ ९ ॥

योगकी—मन वचन-कायकी - वक्रता आदि अशुभ नामके आस्रवहेतु हैं ।'

यहां 'आद्याः' पद बहुवचनान्त होनेसे उसके द्वारा उमास्वातिके २२वें सूत्रमें निर्दिष्ट एकमात्र 'विसंवादन (अन्यथा प्रवर्तन)' का ही ग्रहण नहीं किया जा सकता बल्कि दूसरे कारणोंका भी ग्रहण होना चाहिये । उन कारणोंमें सर्वार्थसिद्धिकारने मिथ्यादर्शन, पैशून्य, अस्थिरचित्तता, कूटमानतुलाकरणको भी बतलाया है । और लिखा है कि सूत्रमें प्रयुक्त हुए 'च' शब्दसे उनका ग्रहण करना चाहिए ।

तद्वैपरीत्यं शुभस्य ॥ १० ॥

'अशुभ नामके आस्रवहेतुओंसे विपरीत—योगकी सरलता और अनुकूल प्रवर्तनादि—शुभ नामके आस्रवहेतु हैं।

उमास्वातिका 'तद्विपरीतं शुभस्य' सूत्र और यह सूत्र दोनों एक ही हैं ।

दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनास्तीर्थकरत्वस्य ॥११॥

'दर्शन विशुद्ध आदि सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नामके आस्रवकी हेतु हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे आगमप्रसिद्धविनयसम्पन्नता आदि उन १५ भावनाओंका संग्रह किया गया है जिनका उमास्वातिने अपने २४ वें सूत्रमें नामोल्लेखपूर्वक संग्रह किया है ।

आत्मश्लाघ†नाद्या नीचैर्गोत्रस्य ॥ १२ ॥

आत्मश्लाघा (अपनी प्रशंसा) आदि नीचगोत्रके हेतु हैं।

यहाँ 'आदि' शब्दसे परनिन्दा, सद्गुणोंका उच्छादन और असद्गुणोंका उद्भावन, ऐसे तीन हेतुओंका संग्रह किया गया जान पड़ता है, जो उमास्वातिके 'परात्मनिन्दाप्रशंसे' आदि सूत्रमें स्पष्टतया उल्लेखित मिलते हैं।

तद्व्यत्ययो महतः ॥ १३ ॥

'नीचगोत्रके हेतुओंसे विपरीत—आत्मनिन्दादिक—ऊंच गोत्रके हेतु है ।'

यह सूत्र उमास्वातिके 'तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य' सूत्रके आशयके साथ मिलता जुलता है ।

दानादिविघ्नकरणमंतरायस्य ॥ १४ ॥

'दानादिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मके आस्रवका हेतु है ।'

यहां 'आदि' शब्दसे लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्यका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि अन्तराय कर्मके दानान्तराय आदि पाँच ही भेद हैं । इस सूत्रमें उमास्वातिके सूत्रसे सिर्फ 'दानादि' शब्द अधिक है ।

इति श्रीबृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्वार्थसूत्रे षष्टो‡ध्यायः ॥ ६ ॥

'इस प्रकार श्रीबृहत्प्रभाचन्द्र विरचित तत्वार्थसूत्रमें छठा अध्याय समाप्त हुआ ।'

† अशुभ

† विकथ । ‡ षष्टिमो ।

सातवाँ अध्याय

हिंसादिपंचविरतिर्व्रतं ॥ १ ॥

'हिंसादिपंचकसे विरक्त (निवृत्त) होना व्रत है।'

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह ये पञ्च पाप कहलाते हैं। इनसे निवृत्त होना ही 'व्रत' है, और इसीलिये व्रतके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे पाँच भेद हैं। यह सूत्र और उमास्वातिका **'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं'** सूत्र दोनों एक ही टाइप और आशयके हैं। उमास्वातिने प्रसिद्ध पाँचों पापोंके नाम दिये हैं, यहाँ हिंसाके साथ शेषका 'आदि' शब्दके द्वारा संग्रह किया गया है।

महाऽणु* भेदेन तद्द्विविधं ॥ २ ॥

'वह व्रत (व्रतसमूह) महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारका है।'

यह सूत्र उमास्वातिके दूसरे सूत्र **'देशसर्वतोऽणुमहती'** के समकक्ष है और उसी आशयको लिये हुए है। इसके और पूर्व सूत्रके अनुसार महाव्रतों तथा अणुव्रतोंकी संख्या पाँच पाँच होती है।

तद्दार्ढ्यार्थं भावनाः पंचविंशतिः ॥ ३ ॥

'उन (व्रतों) की दृढताके लिये पच्चीस भावनाएँ हैं।

यह सूत्र उमास्वातिके **'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच'** सूत्र (नं० ३) के समकक्ष है और उसीके आशयको लिये हुए है। वहाँ प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ बतलाई हैं, तब यहाँ उन सबकी एकत्र संख्या पच्चीस दे दी है। दिगम्बर पाठानुसार उमास्वातिके अगले पाँच सूत्रोंमें उनके नाम भी दिये हैं, परन्तु यहाँ संख्याके निर्देशसे उनका संकेतमात्र किया गया है। श्वेताम्बर सूत्रपाठमें भी ऐसा ही किया गया है—नामोंवाले अगले पाँच सूत्र नहीं दिये।

मैत्र्यादयश्चतस्रः ॥ ४ ॥

'मैत्री आदि चार भावनाएँ और हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे आगमनिर्दिष्ट प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य नामकी तीन भावनाओंका संग्रह किया गया है। मैत्री सहित ये ही चार प्रसिद्ध भावनाएँ हैं। उमास्वातिने **'मैत्रीप्रमोद०'** नामक सूत्रमें इन चारोंका नाम सहित संग्रह किया है।

श्रमणा*नामष्टाविंशतिर्मूलगुणाः‡ ॥ ५ ॥

'श्रमणोंके अट्ठाइस मूलगुण हैं।'

इस आशयका कोई सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं है। इसमें जैन साधुओंके मूल गुणोंकी जो २८ संख्या दी है उसमें मूलाचारादि प्राचीन दिगम्बर ग्रंथोंके कथनानुसार अहिंसादि पंच महाव्रत, ईर्यादि पंच समितियाँ, पाँचों इन्द्रियोंका निरोध, सामायिकादि छह आवश्यक क्रियाएँ, अस्नान, भूशयन, केशलोंच, अचेलत्व (नग्नत्व), एकभुक्ति, ऊर्ध्वभुक्ति (खड़े होकर भोजन करना) और अदन्तघर्षण नामके गुणोंका समावेश है।

श्रावकाणामष्टौ ॥६॥

'श्रावकोंके मूलगुण आठ हैं।'

आठ मूल गुणोंके नामोंमें यद्यपि आचार्योंमें कुछ मत भेद पाया जाता है, जिसके लिये लेखकका लिखा हुआ 'जैनाचार्योंका शासन-भेद' नामका ग्रंथ देखना चाहिये। परन्तु यहाँ चूँकि व्रती श्रावकोंका अधिकार है इसलिये आठ मूलगुणोंमें स्वामी समन्तभद्र-प्रतिपादित पाँच गुणव्रतों और मद्य-माँस-मधुके त्यागको लेना चाहिये। इस आशयका भी कोई सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं है।

* ऽनु

* श्रवणा। ‡ मूलगुणा।

शीलसप्तकं च ॥ ७ ॥

'सात शील भी श्रावकोंके गुण हैं।'

सप्त शीलके नामोंमें भी आचार्योंमें परस्पर कुछ मत भेद है *। उमास्वातिने अपने 'दिग्देशानर्थदण्ड' नामक सूत्रमें उनके नाम दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाण, अतिथिसंविभाग दिये हैं जब कि कुन्दकुन्दाचार्यने चारित्र प्राभृतमें देशव्रतका ग्रहण न करके सप्तम स्थान पर 'सल्लेखना' का विधान किया है। इसी तरह और भी थोड़ा थोड़ा मतभेद है। यहाँ संभवतः कुन्दकुन्द प्रतिपादित गुणव्रत-शिक्षाव्रतात्मक सप्त शीलोंका ही उल्लेख जान पड़ता है; क्योंकि आगे संन्यास (सल्लेखना) का कोई अलग विधान न करके १० वें सूत्रमें उसके अतीचारोंका उल्लेख किया गया है।

शंकाद्याः † सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ ८ ॥

'शंका आदि सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं।'

यहाँ अतीचारोंकी संख्याका निर्देश न होनेसे 'आदि' शब्दद्वारा जहाँ उमास्वाति-सूत्र-निर्दिष्ट कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव इन चार अतीचारोंका ग्रहण किया जा सकता है वहाँ सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगको छोड़कर शेष सात अंगोंके प्रतिपक्षभूत कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना नामके दोषों—अतीचारों—का भी ग्रहण किया जा सकता है। सर्वार्थसिद्धिमें अष्ट अंगोंके प्रतिपक्षभूत आठ अतीचार होने चाहियें, ऐसी शंका भी उठाई गई है और फिर उसका समाधान यह कहकर कर दिया है कि ग्रन्थकारने व्रत-शीलादिकके भी पाँच पाँच ही अतीचारोंका अपना क्रम रक्खा है, इसलिये सम्यग्दर्शनके शेष अतीचारोंका प्रशंसा-संस्तवमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। यहाँ 'शंकाद्याः' पद पर आठका अंक दिया है, इससे भी आठ अतीचारोंका ही ग्रहण जान पड़ता है।

बंधाद्योव्रतानां ॥ ९ ॥

'बंध आदिक व्रतोंके अतीचार हैं।'

यहाँ 'व्रतानां' पदके द्वारा अहिंसादिक सब व्रतोंका और 'आदि' शब्दके द्वारा उनके पृथक् पृथक् अतीचारोंका संग्रह किया गया है। परन्तु उनकी संख्याका किसी रूपमें भी उल्लेख नहीं किया है। यह सूत्र बहुत ही संक्षिप्त—सूचनामात्र है। इसमें उमास्वातिके २५ से ३२ अथवा ३६ नम्बर तक सूत्रोंके विषयका समावेश किया जा सकता है *।

मित्रस्मृत्याद्याः सं‡न्यासस्य ॥ १० ॥

'मित्रस्मृति आदि संन्यास (सल्लेखना) के अतीचार हैं।'

यहाँ भी अतीचारोंकी संख्याका कोई निर्देश नहीं किया। 'आदि' शब्दसे सुखानुबन्ध, निदान नामके अतीचारोंका और क्रम-व्यतिक्रम करके यदि ग्रहण किया जाय तो जीविताकांक्षा तथा मरणाकांक्षाका भी ग्रहण किया जा सकता है, जिन सबका उमास्वातिके 'जीवितमरणाशंसा' इत्यादि सूत्रमें उल्लेख है।

स्वपरहिताय स्वस्यातिसर्जनं दानं ॥ ११ ॥

'अपने और परके हितके लिये अपनी वस्तुका त्याग करना दान है।'

यह सूत्र उमास्वातिके 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो

---

* देखो, जैनाचार्योंका शासनभेद, गुणव्रत और शिक्षाव्रत प्रकरण पृ० ४१ से ४४।

† आ।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठके अनुसार ये सूत्र नं० २० से प्रारंभ होते हैं और ३१ तक हैं।

‡ आ स।

दानं' इस सूत्रके समकक्ष है। दोनोंका आशय एक ही है। इस सूत्रका 'स्वपरहिताय' पद उमास्वातिके 'अनुग्रहार्थं' पदसे अधिक स्पष्ट जान पड़ता है।

इति प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

'इस प्रकार प्रभाचन्द्रविरचित तत्त्वार्थसूत्रमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।'

आठवाँ अध्याय

मिथ्यादर्शनाद्यो बंधहेतवः ॥ १ ॥

'मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारण हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे आगम-कथित उन अविरत, प्रमाद, कषाय और योग नामके बन्धहेतुओंका संग्रह किया गया है, जिनका उमास्वातिने भी अपने इसी अध्यायके पहले सूत्रमें नामनिर्देशपूर्वक संग्रह किया है।

चतुर्धा बन्धाः ॥ २ ॥

'बन्ध चार प्रकारका होता है।'

यहाँ चारकी संख्याका निर्देश करनेमें आगम-निर्दिष्ट प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबन्ध नामके चारों बन्धोंका संग्रह किया गया है। और इसलिये यह सूत्र और उमास्वातिका '**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः**' सूत्र दोनों एक ही आशयको लिये हुए हैं।

मूलप्रकृतयोऽष्टौ ॥ ३ ॥

'मूल प्रकृतियाँ आठ हैं।'

आगम-कथित कर्मोंकी मूल आठ प्रकृतियाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं, और इसलिये इस सूत्रका वही आशय है जो उमास्वातिके '**आद्यो ज्ञानदर्शनावरण**' इत्यादि सूत्रका है।

उत्तरा अष्ट‡ चत्वारिंशच्छतं‡ ॥ ४ ॥

'उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस हैं।'

ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी ६, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २८, आयुकी ४, नामकी ९३, गोत्रकी २ और अन्तरायकी ५ प्रकृतियाँ मिलकर उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या १४८ होती है। उमास्वातिने मूल प्रकृतियोंके नामाऽनन्तर उत्तर प्रकृतियोंकी संख्याका निर्देशक जो सूत्र '**पंचनवद्व्यष्टाविंशति**' इत्यादि दिया है उसमें नाम कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या ४२ बतलाते हुए उत्तर प्रकृतियोंकी कुल संख्या ९७ दी है। नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृतियोंको भी शामिल करके उत्तर प्रकृतियोंकी कुल संख्या १४८ हो जाती है। उन्हीं सब उत्तर प्रकृतियोंका यहाँ निर्देश है।

ज्ञानावरणादित्रयस्यांतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः पराध्या (परा?) स्थितिः ॥५॥

'ज्ञानावरणादि तीन कर्मोंकी और अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा कोड़ी सागरकी है।'

यह सूत्र उमास्वातिके '**आदितस्तिसृणामन्तरायस्य**' इत्यादि सूत्रके समकक्ष है और उसी आशयको लिये हुए है।

मोहनीयस्य सप्ततिः ॥६॥

'मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तरकोड़ाकोड़ी सागर की है।'

उमास्वातिके सूत्रमें '**सप्ततिः**' पद पहले और '**मोहनीयस्य**' पद बादमें है।

त्रयस्त्रिंशदे*वायुषः ॥७॥

'आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस ही सागर की है।'

यह सूत्र उमास्वातिके '**त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः**' सूत्रके समान है। इसमें प्रयुक्त हुआ 'एव' शब्द

‡ उत्तराष्ट। ‡ त्। * दे।

कोटी कोटिकी निवृत्त्यर्थ जान पड़ता है।

नामगोत्रयोर्विंशतिः‡ ॥८॥

'नाम और गोत्र कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ा कोड़ी सागरकी है।

यह सूत्र उमास्वातिके 'विंशतिर्नामगोत्रयोः' सूत्र के बिल्कुल समकक्ष है। परन्तु यह सूत्र नम्बर ७ पर होना चाहिये; क्योंकि ८ वें नम्बर पर होनेके कारण इस में वर्णित स्थिति पूर्व सूत्रके सम्बन्धानुसार २० सागरकी हो जाती है—२० कोडाकोडी सागरकी नहीं रहती—और यह सिद्धान्त शास्त्रके विरुद्ध है।

इति श्रीबृहत्प्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे अष्टमोध्याय ॥८॥

'इस प्रकार श्री बृहत्प्रभाचंद्र विरचित तत्त्वार्थ सूत्र में आठवां अध्याय समाप्त हुआ।'

नववाँ अध्याय

गुप्त्यादिना संवरः ॥१॥

'गुप्ति आदिके द्वारा संवर (कर्मास्रवका निरोध) होता है।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र नामके आगम कथित संवर-भेदोंका उनके उपभेदों-सहित संग्रह किया गया है, और इस लिये इस सूत्रका विषय बहुत बड़ा है। उमास्वातिका 'सगुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः' नामका सूत्र इसी आशयका स्पष्टतया व्यंजक है। उनके तत्त्वार्थ-सूत्रमें गुप्ति आदिके उपभेदोंका भी अलग अलग सूत्रों में निर्देश किया गया है, जब कि यहाँ वैसा कुछ भी नहीं है।

तपसा निर्जराऽपि ॥२॥

'तपसे निर्जरा भी होती है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका दूसरा सूत्र दोनों प्रायः एक ही है—वहाँ 'च' शब्दका प्रयोग है तब यहाँ उस के स्थान पर 'अपि' शब्दका प्रयोग है। अर्थमें कोई भेद नहीं। तपसे संवर और निर्जरा दोनों ही होते हैं, यह 'च' और 'अपि' शब्दोंके प्रयोगका अभिप्राय है।

उत्तमसंहननस्यांतर्मुहूर्तावस्थापि ध्यानं ॥३॥

'उत्तम संहननवालेके ध्यान अन्तर्मुहूर्त पर्यंत अवस्थित रहने वाला होता है।'

ध्यान अन्तरंग तपका एक भेद है, वह ज्यादासे ज्यादा अन्तर्मुहूर्त—एक मुहूर्त—पर्यन्त ही स्थिर रहने वाला होता है, और वह भी उत्तम संहनन वालेके। हीन सहननवालेका ध्यान किसी भी विषय पर एक साथ इतनी देर तक नहीं ठहर सकता। उमास्वातिका 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' यह २७वाँ* सूत्र भी इसी आशयका है। विशेषता इतनी ही है कि उमास्वातिने 'एकाग्रचिन्तानिरोधः' पदके द्वारा ध्यानका स्वरूप भी साथमें बतला दिया है।

तच्चतुर्विधं ॥४॥

'वह ध्यान चार प्रकारका है।'

यहाँ चारकी संख्याका निर्देश करनेसे आगमप्रसिद्ध आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ऐसे चारों भेदोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिका इसके स्थान पर 'आर्त-रौद्रधर्म्यशुक्लानि' सूत्र है, जो ध्याननामोंके स्पष्ट उल्लेखको लिये हुए है।

आद्यं संसारकारणं ॥५॥

परे मोक्षस्य ॥६॥

---

‡ ति।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें 'ध्यानम्' तकके अंशको २७ वाँ सूत्र और 'आमुहूर्तात्' को २८ वाँ सूत्र बतलाया है।

'पहले दो (आर्त, रौद्र) ध्यान संसारके कारण हैं।'

'दूसरे दो (धर्म्य, शुक्ल) मोक्षके कारण हैं।'

उमास्वातिने इन दोनों सूत्रोंके स्थान पर **'परे मोक्षहेतू'** नामका एक ही सूत्र रक्खा है और उसके द्वारा दूसरे दो ध्यानोंको मोक्षका हेतु बतलाया है, जिसकी सामर्थ्यसे पहले दो ध्यान स्वतः ही संसारके हेतु हो जाते हैं। यहाँ स्पष्टतया संसार और मोक्षके हेतुओंका अलग अलग निर्देश कर दिया है।

पुलाकाद्याः‡ पंचनिर्ग्रन्थाः ॥ ७ ॥

'पुलाक आदि पाँच निर्ग्रन्थ हैं।'

यहाँ पाँचकी संख्याके निर्देशपूर्वक 'आदि' शब्दसे आगमप्रसिद्ध बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक नामके चार निर्ग्रन्थोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिने **'पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः'** इस सूत्रमें पाँचोंका स्पष्ट नामोल्लेख किया है।

इति बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे नवमोऽध्याय ॥ ९ ॥

'इस प्रकार बृहत्प्रभाचन्द्रविरचित तत्त्वार्थसूत्रमें नवमाँ अध्याय समाप्त हुआ।'

दसवां अध्याय

मोहक्षये घातित्रयापनोदात्कैवल्यं ॥ १ ॥

'मोहनीय कर्मका क्षय होने पर तीन घातिया कर्मों ज्ञानावरण दर्शनावरण, अन्तराय—के विनाशसे केवल ज्ञान होता है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'** इस प्रथम सूत्रके बिलकुल समकक्ष है। दोनों एक ही आशयको लिये हुए हैं।

अशेषकर्मक्षये मोक्षः ॥ २ ॥

'सब कर्मोंका क्षय होने पर मोक्ष होता है।'

इस सूत्रके स्थान पर उमास्वातिका दूसरा सूत्र **'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षोमोक्षः'*** है, जिसमें **'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां'** यह कारण निर्देशात्मक पद अधिक है। और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि अशेष कर्मोंका विनाश बन्धके हेतुओंके अभाव और संचित कर्मोंकी निर्जरासे होता है।

तत ऊर्ध्वं गच्छत्या‡ लोकांतात् ॥ ३ ॥

'तत्पश्चात् (मोक्षके अनन्तर) मुक्त जीव लोकके अन्त तक गमन करता है।'

यह सूत्र उमास्वातिके पाँचवें सूत्र **'तदनन्तर मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्'** के बिलकुल समकक्ष है तथा एकार्थक है और उससे तीन अक्षर कम हैं।

ततो न गमनं धर्मास्तिकायाभावात्* ॥ ४ ॥

'लोकके अन्तिम भागके परे अलोकमें गमन नहीं है, क्योंकि वहां धर्मास्तिकायका अभाव है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'धर्मास्तिकायाभावात्'** सूत्रके समकक्ष है—मात्र **'ततो न गमनम्'** पदोंकी विशेषताको लिये हुए है, जो अर्थको स्पष्ट करते हैं।

क्षेत्रादिसिद्धभेदाः साध्याः ॥ ५ ॥

---

‡ या

*श्वे० सूत्र पाठमें यह सूत्र दो सूत्रोंमें विभक्त है। इसका पहला पद दूसरा सूत्र और शेष दो पद 'विप्रमोक्षो' के स्थान पर 'क्षयो' पदकी तबदीलीके साथ तीसरा सूत्र है।

‡ त्या।

*कायस्याभाव।

'क्षेत्र आदिके द्वारा सिद्धभेद साध्य हैं—विकल्पनीय—हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे उन आगमोदित काल, गति, लिंग, तीर्थ, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व भेदोंका संग्रह किया गया है जिनके द्वारा सिद्धोंमें नयविवक्षासे विकल्प किया जाता है—उन्हें भेदरूप माना जाता है—और जिनका उल्लेख उमास्वातिने अपने 'क्षेत्रकालगति··· बहुत्वतःसाध्याः' सूत्रमें किया है । और सर्वार्थसिद्धिकारादिने जिनका विशेष विवेचन किया है।

इति श्री बृहत्प्रभाचंद्राचार्यविरचिते† तत्त्वसारे सूत्रे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

इति जिनकल्पिसूत्रं‡ समाप्तं ॥

'इस प्रकार बृहत्प्रभाचन्द्राचार्य विरचित तत्त्वार्थसार सूत्रमें दसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।'

'इस प्रकार जिनकल्पी सूत्र समाप्त हुआ।'

वीरसेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० २१-४-१९४०

---

† विविरचिते । ‡ जिनकल्पी सूत्र

परमाणु !

[रच०—श्री०चैनसुखदास न्यायतीर्थ]

अजब हैं तेरे सब व्यापार !

(१)

तू अनित्य औ' नित्य कथञ्चित् ।
कभी न मिलता तुझसे सञ्चित्
बन जाता जब स्कन्ध बन्ध-मय
हो जाता सविकार ।

(२)

आदि-मध्य-अवसान न होता
फिर भी तू षट्कोण कहाता
सॉंख्य पतञ्जलिकी तन्मात्रा
तू त्वन्मय संसार ।

(३)

यह अनन्त रचना सब तेरी
विश्व-प्रकृति है तेरी चेरी
जल-थल-सूरज-चन्द्र आदिमें
तेरा ही विस्तार ।

(४)

स्पर्श द्वय-रस-गन्ध-रूप-मय
विश्वोदय औ' लयका आलय
पा अनन्त परिवर्तन, फिर भी —
रहता है अविकार ।

(५)

शाक्य-छिद्र सहित बतलाते
छिद्र रहित सब दर्शन गाते
तुझे बताते विधि-विधानमें
आदि-अन्तका द्वार ।

(६)

सर्व तन्त्र-सिद्धान्त बनाते
तुझे तत्ववेत्ता बतलाते
विविध क्रिया-गतिका आश्रय तू
अवपत्ति का है सार ।

परवार जातिके इतिहास पर कुछ प्रकाश

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी 'प्रेमी']

उपोद्घात

इस समय इस बातकी चर्चा बड़े ज़ोरों पर है कि परवार जातिका एक इतिहास तैयार किया जाय। अपनी प्राचीनता और गत-गौरवकी कहानी जाननेकी किसे इच्छा नहीं होती? परन्तु वास्तवमें जिसे इतिहास कहते हैं उसका लिखना इतना सहज नहीं है जितना कि लोग समझते हैं। जातियोंका इतिहास लिखना तो और भी कठिन है। क्योंकि इसके लिए जो उपयोगी सामग्री है अभी तक उसे प्रकाशमें लानेकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है। फिर भी जो कुछ सामग्री मिल सकी है उसके आधार पर मैं इस लेखमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न करूँगा।

परवार जातिका परिचय और उसके भेद

लेख शुरू करनेके पहले यह ज़रूरी है कि परवार जातिका थोड़ा सा परिचय दे दिया जाय। इस बारेमें हमें इतना ही कहना है कि वैश्योंकी जो सैकड़ों जातियाँ है, परवार जाति भी उन्हींमें से एक है। बुँदेलखण्ड, मध्यप्रदेशके उत्तरीय ज़िले, मालवेकी ग्वालियर और भोपाल आदि रियासतोंके कुछ हिस्से, प्रधानतासे इन्हींमें यह जाति आबाद है। दि० जैन डायरेक्टरी (सन् १९१४) के अनुसार परवारोंकी जनसंख्या लगभग ४२ हज़ार है। साहूकारी, ज़मींदारी, दूकानदारी और बज़ाज़ी इस जातिकी मुख्य जीविकाएँ हैं। रंग रूप और शरीर-संगठनसे यह शुद्ध आर्य जाति ही मालूम होती है। जैनधर्मके दिगम्बर सम्प्रदायकी यह अनुयायिनी है। अन्य जातियोंके समान न इसमें कोई श्वेताम्बर सम्प्रदायका अनुयायी है और न जैनेतर सम्प्रदायोंका। हाँ, इसमें कुछ लोग तारन पंथके अनुयायी अवश्य हैं जो 'समैया' कहलाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायकी और सब बातोंको मानते हुए भी मूर्ति-पूजा नहीं करते, केवल शास्त्रोंको पूजते हैं और वे शास्त्र गिनतीमें चौदह हैं, जिन्हें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीमें तारनस्वामी नामक एक संतने रचा था।

परवारोंके अठसखे, छहसखे, चौसखे और दोसखे ये चार भेद किसी समय हुए थे, जिनमें से इस सम केवल अठसखे और चौसखे रह गये हैं। सुना जाता है कि दोसखे परवारोंके भी कुछ घरोंका अस्तित्व है, परन्तु हमें उनका ठीक पता नहीं है।

जातियोंकी उत्पत्ति कैसे होती है?

परवार जातिकी उत्पत्ति पर गहराईसे विचार करनेके लिए यह ज़रूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि भारतवर्षकी उसके समान अन्य जातियोंकी उत्पत्ति कैसे होती रही है। इसके लिए पहले हम भगवज्जिनसेनाचार्यका मत उद्धृत करते हैं। भगवज्जिनसेनके कथनानुसार पहले मनुष्य जाति एक ही थी, पीछे जीविकाओंके भेदके कारण वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भेदोंमें बँट गई।‡

‡ आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४५।

महाभारतके शान्तिपर्वमें भी यही बात कही गई है ⊛। परन्तु इस समय भारतवर्षमें सब मिला कर २७३८ जातियाँ हैं। अब प्रश्न यह होता है कि मूलके उक्त चार वर्णोंमें से ये हज़ारों जातियाँ कैसे बन गईं? इस विषयमें इतिहासकारोंने बहुत कुछ छानबीन की है। हम यहाँ जाति बननेके कारण बहुत ही संक्षेपमें बतलाएँगे।

कुछ जातियाँ तो भौगोलिक कारणोंसे-देश प्रांत-नगरोंके कारण बनी हैं। जैसे ब्राह्मणोंकी औदीच्य, कान्यकुब्ज, सारस्वत, गौड़ आदि जातियाँ और वैश्यों-की श्रीमाली, खण्डेलवाल, पालीवाल या पल्लीवाल, ओसवाल, मेवाड़ा, लाड आदि जातियाँ। उदीची अर्थात उत्तर दिशाके औदीच्य, कान्यकुब्ज देशके कान्यकुब्ज या कनवजिया, सरस्वती तटके सारस्वत और गौड़ देश या बंगालके गौड़। इसी तरह श्रीमाल नगर जिनका मूल स्थान था वे श्रीमाली कहलाये, जो ब्राह्मण भी हैं, वैश्य भी हैं और सुनार भी हैं। इसी तरह खंडेलाके रहनेवाले खंडेलवाल, पालीके रहनेवाले पालीवाल या पल्लीवाल, ओसियाके ओसवाल, मेवाड़के मेवाड़ा, लाट (गुजरात) के लाड आदि। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जब किसी राजनीतिक या धार्मिक कारणसे कोई समूह अपने प्रांत या स्थानका परिवर्तन करके दूसरे स्थानमें जाकर बसता था, तबसे ये नाम प्राप्त होते थे और नवीन स्थानमें स्थिर-स्थावर हो जाने पर धीरे धीरे उनकी एक स्वतंत्र जाति बन जाती थी। उदीची या उत्तरके ब्राह्मणोंका दल जब गुजरात में आकर बसा तब यह स्वाभाविक था कि वह अपने जैसे अपने ही दलके लोगोंके साथ सामाजिक सम्बन्ध रक्खें और अपने दलको औदीच्य कहें *। कुछ जातियाँ सामाजिक कारणोंसे बन गई हैं जैसे प्रत्येक जाति के दस्सा, बीसा, पाँचा आदिभेद और परवारोंके चौसखे, दोसखे आदि शाखायें। कुछ जातियाँ विचार भेदसे या धर्मसे बन गई हैं जैसे वैष्णव और जैन; खंडेलवाल, श्रीमाल, पोरवाड़, गोलापूरब आदि।

पेशोंके कारण बनी हुई भी बीसों जातियाँ हैं, जैसे सुनार, लुहार, धीवर, बढ़ई, कुम्हार, चमार आदि ×। इन पेशेवाली जातियोंमें भी फिर प्रांत, स्थान, भाषा आदिके कारण सैकड़ों उपभेद हो गये हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवालने अपने 'हिन्दू-राजतन्त्र' नामक ग्रन्थमें बतलाया है कि कई जातियाँ प्राचीन कालके गणतंत्रों या पंचायती राज्योंकी अवशेष हैं, जैसे पंजाबके अरोड़े (अरट्ट) और खत्री (क्षत्रोई) और गोरखपुर आजमगढ़ ज़िलेके मल्ल आदि। अभी अभी डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकारने अग्रवाल जातिके इतिहासमें यह सिद्ध किया है कि अग्रवाल लोग 'आग्रेय' गणके उत्तराधिकारी हैं। ये गणतंत्र एक तरहके पंचायती राज्य थे और अपना शासन आप ही करते थे। कौटिल्यने अपने अर्थ-शास्त्र में इन्हें 'वार्ताशस्त्रोपजीवी' बतलाया है। 'वार्ता' का अर्थ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य है। ये तीनों कर्म वैश्योंके हैं। इसके साथ शस्त्र-धारण भी वे करते थे।

⊛ शांतिपर्व अ० १८८ श्लोक १०।

* अनहिलवाड़ाके सोलंकी राजा मूलराज (ई० ९६१-९६६) ने यज्ञके लिये जिन ब्राह्मण परिवारोंको उत्तर भारतसे बुलाकर अपने यहाँ बसाया था, उन्हें ही औदीच्य कहते हैं।

× इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें भी मिलता है, परन्तु वह केवल पेशोंकी पहचानके रूपमें, वर्तमान जातिरूपमें नहीं। जैसे पूर्वोंके लुहार बढ़ई आदि।

जब इनकी स्वाधीनता छिन गई और एकतंत्र राज्योंमें इनको समाप्त कर दिया, तब ये शस्त्र छोड़कर केवल वैश्य कर्म ही करने लगे और अब उनमें से कितने ही पुराने नामोंको लिए हुए जातिके रूपमें अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। संभव है कि अन्य वैश्य जातियोंके विषयमें भी खोज करनेपर उनका मूल भी अरोड़ा, खत्री, मल्ल आदि जातियों के समान प्राचीन गणतत्रोंमें मिल जाय *। इस विषयमें यह भी संभव है कि कई बार स्थान-परिवर्तनके कारण नये स्थानों परसे नये नाम प्रचलित हो गये हों और पुराने गणतत्र वाले नाम भूल गये हों।

परवारोंके विषयमें प्रचलित मान्यताओंका खंडन और अपने मतका स्थापन

परवार जातिके विषयमें अधिक खोज करनेसे पहले यह जरूरी है कि इसके सम्बन्धमें प्रचलित मान्यताओं का विचार किया जाय।

'परवार' शब्दको बहुतमे लोग 'परिवार' का अपभ्रष्ट रूप बतलाते हैं जिसका अर्थ कुटुम्ब होता है। कोई यह भी कल्पना करते हैं कि शायद परवार 'परमार' राजपूतोंमेंसे हैं, जिन्हें आजकल पवार भी कहते हैं। परन्तु ये सब कल्पनायें हैं। मूल शब्दसे अपभ्रष्ट होनेके भी कुछ नियम हैं और उनके अनुसार 'परमार' से 'परवार' नहीं बन सकता। अपभ्रंशमें 'म' का कुछ अंश शेष रहना चाहिए जैसा कि 'पँवार' में वह अनुस्वार बनकर रह गया है। हमारी समझमें परवार† शब्द पल्लीवाल, ओसवाल, जैसवाल जैसा ही है और उसमें नगर या स्थानका संकेत सम्मिलित है। महलसों या महाब्राह्मणोंसे जो परवारोंकी उत्पत्तिका अनुमान किया है वह तो निराधार और हास्यास्पद है ही, इस लिये उस पर कुछ लिखनेकी जरूरत ही नहीं मालूम होती।

अगर हम 'परवार' शब्दके अन्तका 'वार' 'वाट' के अर्थमें लें तो यह सिद्ध करना ज़रूरी है कि इस समय परवार जातिका जहाँ आवास है वहाँ वह किसी समय कहीं अन्यत्रसे आकर बसी है। उसे वर्तमान आवास स्थानमें आये हुए कई शताब्दियाँ बीत गई हैं इसलिए उनके रहन-सहन, रीति-रिवाजोंमें पहले कुछ खोज निकालना, अशक्य सा है, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे बाहरसे आनेका अनुमान ज़रूर हो सकता है। सबसे पहली बात पंचायती संगठन है। बुंदेलखंड और मध्यप्रदेशमें शायद ही कोई ऐसी मूल जाति हो जिसमें इस तरहका पंचायती अनुशासन हो यह अनुशासन उन्हीं जातियोंमें होना स्वाभाविक है जो कहीं अन्यत्रसे आकर बसती हैं और जिन्हें दूसरोंके बीच अपना स्थान बनाकर रहना पड़ता है या जो गणतंत्रोंकी अवशेष हैं। इनके व्याह शादी आदिके रीति-रिवाज भी अन्य पड़ोसी जातियोंसे निराले हैं। ब्राह्मणोंको इस जातिने अपने सामाजिक और धार्मिक कार्योंसे बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया है। यहाँ तक कि उनके हाथका भोजन भी ये नहीं करते। यदि ये जहाँ हैं वहींके रहने वाले होते, तो ब्राह्मणोंका प्रभाव इनपर भी होता जो प्रत्येक प्रांतकी प्रत्येक जातिमें परम्परागत रहा है। इनकी स्त्री-पुरुषोंकी पोशाकमें भी विशेषता थी, जो अब लुप्त हो रही है। हमारी समझमें घाँघरा,

---

* इस विषयकी विशेष जानकारीके लिए देखो स्वर्गीय अ० म० के० पी० जायसवाल कृत 'हिन्दू राज्यतंत्र'।

† परवार, पल्लीवाल वगैरह शब्दोंका 'वार' या 'वाल' शब्द संस्कृतके 'वाट' या 'पाट' शब्दसे बना है। देखो आगे इसी विषयकी एक टिप्पणी।

चूनरी और तनीदार चोली परवार स्त्रियोंकी ही विशेषता थी, जो पड़ोसी जातियोंमें नहीं थी और यदि थी तो इन्हीके अनुकरण-पर।

परवार जाति बाहरसे आकर बसी है, इसके अन्य प्रमाण इसी लेखमें अन्यत्र मिलेंगे।

परवार जातिका प्राचीन नाम

अब देखना चाहिए कि प्राचीन लेखोंमें इस जाति का नाम किस रूपमें मिलता है। मेरे सम्मुख परवारों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं और मन्दिरोंके जो थोड़ेसे लेख हैं, उनमें से सबसे पहला लेख अतिशय क्षेत्र 'पचराई' के शांतिनाथके मन्दिरका है जो वि० सं० ११२२ का है। उसका यह अंश देखिए—

पौरपट्टान्वये शुद्धे साधुनाम्ना महेश्वरः।
महेश्वरेव विख्यातस्तत्सुतः घ(मं) संज्ञकः॥ *

अर्थात् पौरपट्ट वंशमें महेश्वरके समान साहु महेश्वर थे जिनका पुत्र घ (मं) नाम का था।

दूसरा लेख चदेरीके मन्दिरकी पार्श्वनाथकी प्रतिमा पर इस तरह है:—

"संवत् १२५२ फाल्गुन सुदि १२ सोमे पौरपाटान्वये साधु यशाह्रद रुद्रपाल साधु नालु भार्यायनि······ पुत्र सोलू मीमू प्रणमंति नित्यम्।"

साहु सोलु भीमूने सं० १२५२ में यह प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी और वे पौरपाट अन्वय या वंशके थे।

"तीसरा लेख प्रानपुरा (चँदेरी) की एक प्रतिमाका है—

"संवत् १३४५ आषाढ़ सुदि २ बुधौ (धे) श्री मूल संघे भट्टारक श्रीरत्नकीर्तिदेवाः पौरपाटान्वये साधुदा हृद भार्यावानी सुतश्च सौ प्रणमति नित्यं।"

इसमें भी मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले पौरपाट अन्वयके हैं।

स्पष्ट मालूम होता है कि इन लेखोंमें 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' शब्द परवारोंके लिए ही आया है क्योंकि इन प्रांतोंमें जैनियोंमें परवार लोग ही ज्यादा हैं। फिर भी अगर इस पर शंका की जाय कि पौरपट्ट या पौरपाट वंश परवार ही है, इसका क्या प्रमाण? तो इसके लिए चन्देरीकी श्री ऋषभदेवजीकी मूर्तिका यह लेख देखिए—

संवत् ११०३× वर्षे माघ सुदी ६ बुधौ (धे) मूलसंघे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव–शिष्य–देवेन्द्रकीर्ति पौरपाट अष्टशाखा आम्नाय सं० थणऊ भार्या पु तत्पुत्र सं० कालि भार्या आमिखि तत्पुत्र सं० जैसिंघ भार्या महासिरि तत्पुत्र सं०············"

इसी तरह का लेख देवगढ़ में है * जिसका एक अंश ही यहाँ दिया जाता है —

"संवत् १४६३ शाके १३५८ वर्षे वैशाख बदि ५ गुरौ दिने मूलनक्षत्रे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवाः तच्छिष्य वादिवादीन्द्रभट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवाच्छिष्य श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवाः पौरपाटान्यवे अष्ट–

---

* यह लेख पचराई तीर्थकी रिपोर्टमें छपा है। इस का कटिंग बाबू ठाकुरदासजी बी० ए० टीकमगढ़ने कृपा करके मेरे पास भेज दिया है। उसके नीचे छपा है, 'पुरातत्त्वविभाग ग्वालियरसे प्राप्त'। इस निबन्धके अन्य प्रतिमा-लेख भी उक्त बाबू सा० की कृपासे ही प्राप्त हुए हैं। लेखोंकी कापी सावधानीसे नहीं की गई है। छापेमें भी भ्रम हुआ है।

× यह संवत् शायद १४६३ हो। प्रतिलिपि करने वाले ने गलत पढ़ लिया है, ऐसा जान पड़ता है।

* यह लेख हमें बाबू नाथूरामजी सिं० की कृपासे प्राप्त हुआ है। इसकी नकल बहुत ही अशुद्ध की हुई है।

शाखे आहारदानदानेश्वर सिंघई लक्ष्मणतस्य भार्या-असयसिरिकुक्षिसमुत्पन्न अर्जुन... ।"

उक्त लेखोंमें 'पौरपाट' के साथ 'अष्टशाखा' लिखा गया है और चूंकि आठसखा परवार ही होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'पौरपाट' शब्द 'परवार' जातिके ही लिये प्रयुक्त किया गया है।

अब एक और लेखांश देखिये जो पपौराजीके भौंहिरेके मन्दिरके दक्षिण पार्श्वके मन्दिरकी एक प्रतिमा पर खुदा है।

..........'संवत् १७१८ वर्षे फाल्गुने मासे कृष्णपक्षे ....श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंद-कुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री ६ धर्मकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री ६ पद्मकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री ६ सकलकीर्तिरुपदेशेनेयं प्रतिष्ठाकृता तद्गुरूराद्योपाध्याय नेमिचन्द्रः पौरपट्टे अष्टशाखाभये घनामूले कासिल्ल गोत्रे साहु अभार भार्या लालमती..........* '

एक और लेख थूबोनजीकी एक प्रतिमा पर इस प्रकार है—

"सं० (१६) ४५ माघ सुदी ५ श्री मूलसंघे कुंदकुन्दाचार्यान्वये भ० यशकीर्ति पट्टे भ० श्री ललित-कीर्ति पट्टे भ० श्री धर्मकीर्ति उपदेशात पौरपट्टे छिंतरा-मूर गोहिल गोत्र साधु दीनू भार्या.........."

इस तरहके और भी अनेक लेख हैं जिनमें मूर और गोत्र भी दिये हैं। इससे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पौरपट्ट या पौरपाट‡ परवारोंका ही पर्यायवाची है।

लगभग इसी समयका एक और लेख अनपुरा (चँदेरी) षोडशकारण यंत्र पर खुदा हुआ देखिये—

"० १६८२ मार्गसिर वदि रवौ भ० ललितकीर्ति-पट्टे भ० श्री धर्मकीर्ति गुरूपदेशात् परवार घनामूर सा० हठोले भार्या दमा (या) पुत्र दयाल भार्या केसरि मोजे गरीबे भालदास भार्या सुभा......"

यह यन्त्र भी उन्हीं भट्टारक धर्मकीर्तिके उपदेशसे स्थापित हुआ है जिन्होंने थूबोनकी पूर्वोक्त प्रतिमाको प्रतिष्ठित कराया था। पर उसमें तो 'पौरपट्ट' खुदा है और इसमें 'परवार'। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि पौरपट्ट और परवार एक ही हैं और यह लेख लिखने-वालेकी इच्छा पर था कि वह चाहे पौरपट्ट या पौरपाट लिखे और चाहे परवार। अर्थात् परवार शब्द ही संस्कृत लेखोंमें 'पौरपट्ट' बन जाता था।

परवार और पोरवाड़

अब हमें यह देखना चाहिये कि इस 'पौरवाट' या 'पौरपाट' के सम्बन्धमें अन्यत्र भी कुछ जानकारी मिलती है या नहीं। यह सोचते ही हमारा ध्यान सबसे पहले नाम साम्यके कारण वैश्योंकी एक और प्रसिद्ध जाति पोरवाड़की ओर जाता है, जिसकी आबादी दक्षिण मारवाड़, सिरोही राज्य और गुजरातमें काफी तादादमें है। कुछ लेखों और ग्रंथोंमें इसे भी परवार जातिके समान पौरवाट या पौरपाट कहा गया है

---

* साहु अभारके ही वंशका सं० १७०१ का एक लेख ललितपुरके क्षेत्रपालके दक्षिण तरफ पार्श्वनाथकी खड्गासनस्थ मूर्तिपर खुदा है। इसमें भट्टारकोंकी परम्परा तो वही दी है पर मूर और गोत्र नहीं है। सिर्फ 'पौरपट्टे अष्टशाखान्वये' लिखा है।

‡ 'वाट' या 'वाटक' और 'पाट' या 'पाटक' शब्द भौगोलिक नामोंके साथ विभागके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। 'वाट' से ही 'वार' हो जाता है। इसके लिये देखो रा० ब० हीरालाल कृत इन्सक्रिप्शन्स आफ सी० पी एण्ड बरार, पृ० २४ और ८०

जैसे—

श्रीमाली उसपालाश्च पौरवाडाश्च नागराः ।
दिक्पालाः गुर्जराः मोढाः ये वायुवटवासिनः ॥

वायुपुराण *

इसमे वायुवट अर्थात् वायड (पाटणके समीप) में रहने वाली वैश्य-जातियोंके नाम बतलाए हैं— श्रीमाली, उसपाल (ओसवाल), पौरवाड (पोरवाड), नागर दिक्पाल (डीसावाल या दीसावाल), गुर्जर और मोढ़ ।

यह बात विद्वानोंने मान ली है कि गुजरातकी 'पौरवाट' जाति पोरवाड़ ही है, वहांके पोरवाड़ भी अपनेको 'पोरपाट' या 'पौरवाट' मानते हैं ।

ऐसी दशामें यदि यह अनुमान किया जाय कि पोरवाड़ और परवार मूलमें एक ही थे तो वह अयुक्त न होगा । और यह सिद्ध हो जाने पर कि 'पोरवाड़' और 'परवार' एक ही हैं, 'पोरवाड़ों' का इतिहास एक तरह से परवारों का ही इतिहास हो जाता है और पोरवाड़ोंकी उत्पत्ति जहाँसे हुई है वहांसे ही परवारोंकी उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है । अब हम यह देखेंगे कि विद्वानोंका पोरवाड़ोंकी उत्पत्तिके विषयमें क्या कहना है ।

परवारों और पोरवाड़ोंका मूल स्थान

पोरवाड़ोंका पुराना नाम 'पौरपाट' 'पौरवाट' और प्राग्वाट मिलता है । इस सम्बन्धमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा अपने 'राजपूतानेका इतिहास' की पहिली जिल्दमें लिखते हैं—

"करनबेल (जबलपुरके निकट) के एक शिला-लेखमें प्रसंगवशात् मेवाड़के गुहिलवंशी राजा हंसपाल, वैरिसिंह और विजयसिंहका वर्णन आया है जिसमें उनको 'प्राग्वाट' का राजा कहा है । अतएव 'प्राग्वाट' मेवाड़का ही दूसरा नाम होना चाहिए । संस्कृत-शिला-लेखों तथा पुस्तकोंमें 'पोरवाड़' महाजनोंके लिए 'प्राग्वाट' नामक प्रयोग मिलता है और वे लोग अपना निकास मेवाड़के 'पुर' नामक कस्बेसे बतलाते हैं जिससे सम्भव है कि प्राग्वाट देशके नाम पर वे अपने-को प्राग्वाट वंशी कहते रहे हों ।"

हम विभिन्न प्रतिमा-लेखोंसे ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि 'परवार' शब्दमें जो 'वार' प्रत्यय है वह 'वाट' या 'पाट' शब्दसे बना है जिसका प्रचलित अर्थ होना है 'रहनेवाले' । इस तरह 'पौरपाट' शब्दका अर्थ 'पौरके रहनेवाले' होता है । मेरे ख्यालसे इसी पुर नाममें 'पौर' बन गया है और परवार और पोरवाड़ लोग मूल-में इसी 'पुर' के रहनेवाले थे । 'पौरपाट' का अर्थ 'पुरकी तरफके' भी लिया जा सकता है । 'पुर' गाँव जिसका कि ऊपर ज़िक्र है, अब भी मेवाड़में भीलवाड़े के पास एक क़स्बा है जो किसी समय बड़ा नगर था ।

कभी कभी शब्दोंके दुहरे रूप भी बना लिये जाते हैं जैसे 'नीति' शब्दसे 'नैतिकता' । 'नीति' से 'नैतिक' बना और फिर उसमें भी 'ता' जोड़कर 'नैतिकता' बनाया गया यद्यपि 'नीति' और 'नैतिकता' के अर्थ एक ही हैं । इसी तरह मालूम होता है 'पुर' से भी 'पौर' बनाकर उसमें 'वाट' या 'पाट' लगा लिया गया जबकि 'पुर' के आगे 'वाट' या 'पाट' लगा देनेसे भी काम चल सकता था ।

पर यदि 'पुर' का पौर न कर सीधा ही उसमें 'वाट' या 'पाट' प्रत्यय जोड़ दें तो 'पुरवाट' 'पुरपाट'

* यह उद्धरण श्री मणिलाल बकोरभाई व्यास लिखित 'श्रीमालीओना ज्ञातिभेद' नामक पुस्तक परसे लिया गया है ।

या 'पुरवार' शब्द बनता है जो 'परवार' शब्दके अधिक निकट है। संभव है 'परवार' लोग अपने 'पोरवाड़' कहलानेवाले भाइयोंसे पहले ही मेवाड़ छोड़ चुके हों पर बादमें बहुत दिनों तक सम्बन्ध बना रहा हो और तब जिस तरह लेखोंमें पोरवाड़ 'पौरपाट' लिखे जाते रहे हों उसी तरह इन्हें भी 'पौरपाट' लिखा जाता रहा हो। पर बोलचालमें 'पुरवार' या 'परवार' ही बने रहे हों।

इसके सिवाय एक संभावना और भी है। वह यह कि गुजराती और राजस्थानी भाषाओंमें शब्दके शुरू और बीचका 'उ' कार 'ओ' कारमें बदल जाता है। अक्सर लोग 'बहुत' का उच्चारण 'बहोत' 'लुहार' का 'लोहार' 'सुपारी' का 'सोपारी' 'मुहर' का 'मोहर' 'गुड़' को 'गोड़' 'पुर' का 'पोर' करते हैं और लिखते भी हैं। इस तरह सहजमें ही उस तरफके लोग 'पुरवार' या 'पुरवाट' को 'पोरवार' 'पोरवाट' या 'पोरवाड़' उच्चारण करने लगे हों और एक ही जाति इस तरह दो बन गई हों। कुछ भी हो पर यह बात निश्चित् है कि 'पौरपाट' शब्द जब बना तब वह 'पोरवाड़' का ही संस्कृत रूप माना गया।

'वैश्यवंशविभषण' नामक पुस्तकमें जो बहुत पहले एंग्लो ओरियण्टल प्रेस लखनऊमें छपी थी परवारों का नाम 'पुरवार' छपा है। इससे मालूम होता है कि परवारोंके लिए 'पुरवार' शब्द भी व्यवहृत होता था।

परवार जातिका मूल राजस्थानमें है, यह बात सुननेमें कुछ लोगोंको भले ही विचित्र मालूम हो, पर जातियोंके इतिहासका प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि वैश्योंकी क़रीब क़रीब सभी जातियाँ राजस्थानसे ही निकली हैं। उदाहरणार्थ बघेरवालोंका मूलस्थान 'बघेरा' साँभरके आसपास था *। पर बघेरवाल आज कल बरारमें ही अधिक हैं। पल्लीवालोंका मूलस्थान 'पाली' मारवाड़में है जो अब यू० पी० के अनेक जिलोंमें फैले हुए हैं। इसी तरह श्रीमाल, ओसवाल, मेड़वाल, चित्तौड़ा आदि जातियाँ हैं जिनके मूलस्थान राजस्थान में निश्चित हैं+। ऐसी दशामें परवारोंका भी मूल-स्थान मेवाड़में होना संभव है। आज भी अपने देशको छोड़कर दुनियाँभरमें व्यापार निमित्त जानेकी जितनी

* पं० आशाधरजी बघेरवाल थे। वे मांडलगढ़में पैदा हुए और शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर बहुत लोगोंके साथ मालवेमें आ बसे थे। देखो मेरी विद्वद्रत्नमालाका पृ० १२-१३। पूर्वकालमें इसी तरहके कारणोंसे जातियाँ बन जाती थीं।

+ इनमें 'नेमा' और 'गोलालारे' जातिको भी शामिल किया जासकता है। मालवा और सी० पी० में 'नेमा' वैष्णव और जैन दोनों हैं। बरारमें ये 'नेवा' कहलाते हैं और श्वेताम्बर जैन डायरेक्टरीके अनुसार १६०८ में गुजरातमें इनकी संख्या ११०२ थी। सिर्फ बागड़में इनके कई हज़ार घर हैं। सूरत जिलेमें और उसके आसपास एक 'गोलाराड़े' नामकी जाति आबाद है जिसके बारेमें मेरा अनुमान है कि यही बुन्देलखण्डमें आकर 'गोलालारे' कहलाने लगी है। ये लोग अपनेको क्षत्रिय बताते हैं और वैश्य हैं। स्व० मुनि बुद्धिसागर सम्पादित 'जैन-धातु-प्रतिमा-लेख-संग्रह' नामक पुस्तक के पहले भागके ४० नं० के एक लेखमें एक प्रतिमाके स्थापकको 'गोलाबास्तव्य' लिखा है जिससे मालूम होता है कि 'गोला' नामका कोई नगर था जिसमेंसे गोलापूरब, गोलालारे और गोलसिंघाड़े ये तीनों ही समय समय पर निकले होंगे।

प्रवृत्ति राजस्थानी और मारवाड़ी लोगोंमें है उतनी और किसीमें नहीं।

पोरवाड़ोंकी उत्पत्तिके संबंधकी कथाएँ और गलत धारणाएँ

प्राग्वाट और पौरवाड़ोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक कल्पित कथायें 'श्रीमालीपुराण' और 'विमल-प्रबन्ध' आदि ग्रन्थोंमें मिलती हैं। परन्तु वे सब शब्दों-के अर्थ परसे ही गढ़ी गई जान पड़ती हैं। जब लोग किसी जातिके मूल इतिहासको भूल जाते हैं, तब कुछ न कुछ कहनेके लिए संभव असंभव कथायें रच डालते हैं। उन्हें क्या पता कि मेवाड़का एक नाम 'प्राग्वाट' भी था और वहाँ कोई 'पुर' नामक नगर था। उदा-हरणके लिये एक कथा देखिये—

जब लक्ष्मीजीको श्रीमाल नगरकी समृद्धिकी चिंता हुई, तब विष्णु भगवानने उनके मनकी बात जानकर ६० हज़ार वणिकोंको श्रीमाल नगरमें दाखिल किया। तब उनमेंसे जो पूर्व दिशामें बसे, वे प्राग्वाट कहलाये। 'प्राग्' का अर्थ पूर्व होता है और वाटका दिशा, स्थान आदि। बस शब्दार्थमेंसे ही कथा बन गई।

गरज यह कि इस तरहकी कथाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए। प्रायः सभी जातियोंके सम्बन्धमें इस तरहकी अद्भुत अद्भुत कथायें प्रचलित हैं ‡।

'महाजन-वंश मुक्तावली' के लेखक यति रामलाल जी ने और 'जैन-सम्प्रदाय-शिक्षा' के लेखक यति श्रीपालजीने पोरवाड़ोंका मूल-स्थान 'पारेवा' या 'पारा' नगर बतलाया है मगर वह कहाँ पर है इसका कुछ पता नहीं दिया। संभव यही है कि 'पुर' सबका ही बिगड़कर 'पारा' या 'पारेवा' बन गया हो।

मेवाड़से बाहर फैलाव

जातियोंके एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके अनेक कारण होते हैं। उनमें मुख्य है आर्थिक कारण। अक्सर प्राचीन समृद्ध नगर राजनीतिक उथलपु-थलोंसे, आक्रमणकारियोंके उपद्रवोंसे और प्रकृति-प्रकोप से उजड़ जाते हैं। जहाँ जीविकाके साधन नहीं रहते तब जातियाँ वहाँसे उठ कर दूसरे समृद्धिशाली नगरों या प्रान्तोंमें चली जाती हैं। वर्तमान स्थानकी अपेक्षा दूसरे स्थानोंमें लाभकी अधिक आशासे भी गमन होता है। अक्सर प्रतापी राजा नये नगर बसाते हैं और उनमें पुरुषार्थियोंको बुलाकर बसाते हैं। ऐसे ही किसी कारण से पोड़वाड़ या परवार जातिने मेवाड़से बाहर क़दम रक्खा होगा। जहाँ जहाँ जाकर ये बसे वहाँ वहाँ इन्होंने अपना परिचय प्राग्वाट या पोरवाड़ विशेषणके साथ दिया और तभीसे ये इस नामसे प्रसिद्ध हुए।

पद्मावती-पुरवार परवारोंकी एक शाखा

ऐसा जान पड़ता है कि प्राग्वाटों या पोरवाड़ोंका एक दल पद्मावती नगरीमें भी आकर बसा था। पीछे जब यह महानगरी ऊजड़ हो गई, और इस कारण उसे वहाँसे अन्यत्र जाना पड़ा तब उस दलका नाम पद्मा-वती पोरवाड़' या 'पद्मावती पुरवार' हुआ।

पद्मावती किसी समय बड़ी ही समृद्धिशाली नगरी थी। खजुराहाके एक शिलालेखमें ‡ जो ईस्वी सन्

‡ चौलुक्य या सोलंकी राज्यवंशके विषयमें भी ऐसी ही एक कथा शब्द परसे गढ़ी गई है। 'चुलुक' शब्दसे चौलुक्य बन सकता है और 'चुलुक'का अर्थ होता है, चुल्लू। ब्रह्माजी ने या किसी देवताने चुल्लू भर पानी डालकर जिला दिया बस उसीसे चौलुक्य वंश उत्पन्न हो गया।

‡ देखो इण्डियन एण्टिक्वेरी पहला खंड पृ० १३४

१००१ का है इसकी समृद्धिकी अत्यन्त प्रशंसा की गई है। उसे ऊँचे गगनचुंबी भवनोंसे सुशोभित अनुपम नगर बतलाया है, जिसके राज मार्गोंमें बड़े बड़े घोड़े दौड़ते हैं, और जिसकी दीवारें चमकती हुई, स्वच्छ, शुभ्र और आकाशसे बातें करती हैं।

ग्वालियर राज्यका 'पदम पवाँया' नामक स्थान प्राचीन पद्मावतीके स्थान पर बसा हुआ है † यह बहुत समय तक नाग-राजाओंकी राजधानी रही है।

'पद्मावती पोरवाड़' परवारोंकी ही एक शाखा है, इस बातका प्रमाण पं० बख़तरामजी कृत 'बुद्धिविलास' नामक ग्रंथके 'श्रावकोत्पत्ति-प्रकरण' में भी मिलता है *

सात खाँप परवार कहावैं,
तिनके तुमकौं नाम सुनावैं।
अठसखा फुनि हैं चौसखा,
सेंह सखा फुनि हैं दो सखा।
सोरठिया अरु गाँगज जानौ,
पद्मावतिया सप्तम मानौ।

अर्थात् परवार सात खाँपके हैं—१ अठसखा, २ चौसखा ३ छहसखा, ४ दो सखा, ५ सोरठिया, ६ गांगज ७ और पदमावतिया। इनमें से पहले चार तो परवारोंके प्रसिद्ध भेद हैं ही जिनमें से अब केवल अठसखा और चौसखा रह गये हैं और पदमावतियासे मतलब पद्मावती पोरवाड़से है जो इस समय एक जुदी जाति है +। परवारोंसे दूर पड़ जानेके कारण ही कालान्तरमें इसका परवार सम्बन्ध टूट गया होगा।

पद्मावती पोरवाड़ोंमें जिस तरह 'पाँडे' हुआ करते हैं उसी तरह परवारोंमें भी हैं। पहिले शायद इनसे वही काम लिया जाता था, जो अन्य जैनेतर जातियोंमें ब्राह्मणोंसे लिया जाता है। ❀

परवारोंके मूल-गोत्रोंमें भी 'वासल्ल' गोत्रका एक मूर 'पद्मावती' नामका है†। जान पड़ता है इस मूर के लोग ही दूर चले जाने पर एक स्वतंत्र जातिके रूप में परिणत होगए होंगे। जो थोड़े लोग परवारोंके साथ रह गये, वे पद्मावती मूर वाले कहलाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा है यह नाम पद्मावती नगरीके नामसे ही पड़ा होगा।

जातियोंके इतिहासमें ऐसी बहुत-सी जातियाँ है जो पहले एक बड़ी जातिके अन्तर्भूत गोत्र रूपमें थीं और फिर पीछे एक अलग जाति बन गई।

† झाँसी-आगरा लाइन पर देवरा स्टेशनसे कुछ दूर पर ग्वालियर राज्यमें।

* इसे मेरे मित्र लाला नेमिनाथ पांमाने बहुत बरस पहिले बारसी टाउनके जैन मन्दिरसे लेकर भेजा था। उस समय मैंने एक नोट भी जैनहितैषी (भाग ६ अंक ११-१२) में प्रकाशित किया था। इस समय वह ग्रन्थ मेरे सम्मुख नहीं है। इसलिए यह नहीं कह सकता कि ग्रन्थ किस समयका बना हुआ है।

+ दि० जैन डिरेक्टरीके अनुसार पद्मावती पोरवाड़ोंकी जन संख्या ११२११ थी। इनका एक खासा सौ दो सौ वर्ष पहले शायद बघेरवालोंके ही साथ बरारमें आ बसा था जो भाषा वेष आदिमें बिलकुल दक्षिणी हो गया है। इससे उत्तरभारत वालोंका इनके साथ विवाह-सम्बन्ध टूट गया था; जो अब जारी किया गया है।

❀ हमारे गाँवमें एक पाँडे परिवार है, अमरावती में भी एक पांडे हैं। अन्यत्र भी इनके घर होंगे।

† एक सूचीमें कासल्ल गोत्रका मूर भी पद्मावती लिखा है। कोछल्ल गोत्रके एक मूरका नाम 'पद्मावती सिंग' भी है।

सोरठिया परवार

'सोरठिया पोरवाड़' नामकी जाति गुजरातमें है। सोरठमें बसनेके कारण इसका यह नाम पड़ा है। इस जातिमें जैन और वैष्णव दोनों धर्मोंके अनुयायी हैं। इन्हें परवारोंकी एक खाँप बतलाया है और इस तरफ ये पोरवाड़ ही माने जाते हैं, इससे भी परवार और पोरवाड़ पर्यायवाची मालूम होते हैं।

जाँगड़ा परवार

अब शेष रहे 'गाँगज' सो मेरा ख्याल है कि लिखने वालेकी भूलसे यह नाम अशुद्ध लिखा गया है। सम्भवतः यह 'जाँगड़' होगा जो 'जाँगड़ा पोरवाड़ों' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जाँगड़ा पोरवाड़ वैष्णव और जैन दोनों हैं। चम्बल नदीकी छायामें रामपुरा, मन्दसोर मालवा तथा होल्कर राज्यमें वैष्णव जाँगड़ा और बड़वाहा नीमाड़के आसपास तथा कुछ बरारमें जैन जाँगड़ा रहते हैं जो सिर्फ दिगम्बर सम्प्रदायके ही अनुयायी हैं।

जोधपुर राज्यका उत्तरी भाग जिसमें नागौर आदि परगने हैं 'जांगल देश' कहलाता था। शायद इसी कारणसे ये जाँगड़ा कहलाये होंगे और मेवाड़से निकल कर पहले उधर बसे होंगे।

इनका रहन-सहन और आचार-विचार परवार जातिसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दूसरोंके हाथमें खाने-पीनेका इन्हें भी बड़ा परहेज है। रंगरूपमें भी ये परवारोंके समान हैं।

बुन्देलखण्डी और गढ़ावाल

परवारोंका सबसे पिछला भेद बुन्देलखंडी और गढ़ावाल है जो पृथक् जातिके रूपमें परिणत न हो सका। पर इससे यह पता लगता है कि महा-कौशलमें जबलपुर, नरसिंगपुर, सिवनी आदिकी तरफ परवार दो स्थानोंसे आकर आबाद हुए हैं। जो सीधे बुन्देलखंडसे आये वे बुन्देलखंडी और जो गढ़ा (जबलपुरके पास) से आये वे गढ़ावाले। गढ़ा पहले समृद्धिशाली नगर था। उसके उजड़ जाने पर इन्हें नीचेकी तरफ आना पड़ा होगा।

'बुन्देलखंडी' और 'गढ़ावाले' यह भेद परवारोंकी पड़ौसिन गहोई जातिमें भी है। वैश्य होनेके कारण यह जाति भी साथ साथ ही नई जगहोंमें आबाद हुई होगी। गहोइयोंमें इन दोनों दलोंमें बेटी व्यवहार तक बन्द हो गया था जो बड़े आन्दोलनके बाद अब जारी हुआ है।

परवारों और पोरवाड़ोंके बाकी उपभेद

परवारोंकी सात खाँपें ऊपर बतलाई जा चुकी हैं। उनमेंसे दोसखे छहसखे समाप्त होकर दो खाँपें अठसखा और चौसखा रह गई हैं। चौसखे भी अब अठसखोंमें मिल रहे हैं *। तारनपंथी समैया उपजातिका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। इसका सम्बन्ध भी अब परवारोंसे होने लगा है और अब सिर्फ एक पन्थके रूपमें ही इसका अस्तित्व रह गया है।

---

* श्री मणिलाल बकोर भाई व्यासके पास संवत् १७०० के आस पास का लिखा हुआ एक 'पाना' है जिसमें राजौर जातिके १ बड़ी सखा, २ लहुरी सखा, ३ चउसखा, ४ छिसखा और ५ राजसखा ये पाँच अन्तर्भेद बतलाये हैं। 'जैन-सम्प्रदाय-शिक्षा' के अनुसार इस जाति का उत्पत्ति-स्थान 'राजपुर' बतलाया है। क्या पूर्वकालमें परवार जातिसे इस जातिका भी कुछ सम्बन्ध था? कहीं 'पुर' का ही दूसरा नाम 'राजपुर' न हो?

हाँ परवारोंमें दस्से भी हैं जो 'बिनैकया' कहलाते हैं। उनमें भी नये और पुराने ये दो भेद हैं। पुराने बिनैकया वैसे ही हैं जैसे श्रीमाली, हूमड़ आदि जातियोंमें दस्सा हैं, अर्थात् उनमें विधवा-विवाह नहीं होता और पहले कभी हुआ था, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। नये विनैकयोंसे भी इनका कोई सम्बन्ध नहीं है ‡। पुराने विनैकया कहीं २ अपनेको 'जैसवार' भी कहलाने लगे हैं, पर वास्तवमें जैसवारोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक दल ऐसा भी है जो अपनेको चौसखा परवार कहता है। जान पड़ता है कि पंचायती दंड विधानकी सख्ती और प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करनेकी बंदी ही विनैकयोंकी उत्पत्तिके लिये जिम्मेवार है। पुराने विनैकयोंके विषयमें तो हमारा खयाल है कि किसी समय किसी हुक्म-उदूली आदिके अपराधमें ही ये अलग किये गये होंगे और फिर अल्पसंख्यक होनेके कारण लाचारीसे इन्हें अपने मूर गोत्रोंको अलग रख देना पड़ा होगा।

पोरवाड़ोंके तीन भेद हैं शुद्ध पोरवाड़, सोरठिया पोरवाड़, और कंडुल या कपोल †।

फिर इन सबमें गुजरात और राजपूतानेकी अन्य जातियोंके समान बीसा और दस्सा ये दो मुख्य भेद और हैं। प्राचीन लेखोंमें 'वृहत्शाखा' और 'लघुशाखा' नामसे इनका उल्लेख मिलता है। परन्तु दस्सा कहला कर भी इनमें विधवा-विवाहकी चाल नहीं है और पहले भी थी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है †।

धर्मोंके कारण पड़े हुए पोरवाड़ोंके उक्त भेदोंके दो दो भेद और हैं, जैन और वैष्णव। जैनोंमें भी मूर्तिपूजक और स्थानकवासी हैं।

इनके सिवाय सूरती, खंभाती, कपड़वंजी, अहमदाबादी, मांगरोली, भावनगरी, कच्छी आदि स्थानीय भेद हो गये हैं और इससे बेटी व्यवहारमें बड़ी मुसीबतें खड़ी हो गई हैं। क्योंकि* ये सब अपने अपने स्थानीय गिरोहोंमें ही विवाह-सम्बन्ध करते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि पोरवाड़ जाति पहले दिग-

---

‡ दिगम्बर जैन डिरेक्टरी (सन् १९१४) के अनुसार विनैकेया परवारोंकी संख्या ३६८९ और चौसखोंकी १२७७ थी।

† ततो राजप्रसादात्समीपपुरनिवासतो वणिजः प्राग्वाटनामनो बभूवुः। तेषां भेदत्रयम्। आद्यौ शुद्ध प्राग्वाटाः। द्वितीयाः सुराष्ट्रं गताः। केचित्सौराष्ट्रप्राग्वाटाः। तदवशिष्टाः कंडुल महास्थाने निवासिताऽपि कंडुल प्राग्वाटा बभवुः।

—'श्रीमालीओनो ज्ञातिभेद' के १०० वें पेजका श्लोकों का अनुवाद।

† कई प्रबन्धों और पुस्तकोंमें लिखा है कि आबूके संसार प्रसिद्ध जैनमन्दिर बनवानेवाले महामात्य वस्तुपाल-तेजपालकी माता बाल-विधवा थीं। ये दोनों पुत्र उन्हें पुनर्विवाहसे प्राप्त हुए थे। इस बातको कोई जानता न था। पुत्रोंकी ओरसे एकबार तमाम वैश्य जातियोंको महाभोज दिया जा रहा था कि यह बात किसी जानकारकी तरफसे प्रकट कर दी गई। तब जो लोग भोजमें शामिल रहे वे दस्सा कहलाये और जो उठकर चले गये वे बीसा। कहा जाता है कि उसी समय तमाम जातिमें दस्सा-बीसा की ये दो दो तड़ें हो गईं।

* श्वेताम्बर जैन डिरेक्टरीके अनुसार बीसा पोरवाड़ोंकी संख्या १६०१० और दस्सा पोरवाड़ोंकी ६२८३ थी और बम्बई अहातेकी सन १९११ की सरकारी मनुष्य गणनाके अनुसार वैष्णव पोरवाड़ोंकी संख्या ७७४८ थी। सोरठिया वैष्णव इनसे अलग ११४२६ थे।

म्बर सम्प्रदायको भी मानने वाली थी। 'नेमि-निर्वाण' दिगम्बर सम्प्रदायका श्रेष्ठ काव्य है। उसके कर्ता पं० वाग्भट अहिच्छत्रपुरमें उत्पन्न हुए थे। अहिच्छत्रपुर नागौर (मारवाड) का प्राचीन नाम था। ÷ गुजरातादिमें श्वेताम्बर सम्प्रदायका प्राधान्य था, इसलिए वहाँ पोरवाड़ श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुयायी रहे और मालवा बुन्देलखंड आदिमें दिगम्बर सम्प्रदायकी प्रधानता थी इससे परवार और जाँगड़ा पोरवाड़ दिगम्बर रहे। जातियोंमें धर्म-परिवर्तन और सम्प्रदाय-परिवर्तन भी अक्सर होते रहे हैं।

परवार तथा अन्य जातियोंकी उत्पत्तिका समय

अब सवाल यह उठता है कि परवार जातिकी उत्पत्ति कब हुई? इसका निर्णय करनेके लिए यह जानना जरूरी है कि *अन्य जातियाँ कब पैदा हुईं?* अन्य जातियोंकी उत्पत्तिका जो समय है लगभग वही समय परवार जातिकी उत्पत्तिका भी होगा। इसके लिए पहले उपलब्ध सामग्रीकी छान-बीन की जानी चाहिए।

भगवज्जिनसेनका 'आदि-पुराण' विक्रमकी दशमी शताब्दीका ग्रन्थ है उसमें वर्ण-व्यवस्थाकी खूब विस्तार से चर्चा की गई है, परन्तु वर्तमान जातियोंका वहाँ कोई जिक्र नहीं है। जैनोंका कथा साहित्य बहुत विशाल है। उसमें पौराणिक और ऐतिहासिक सैकड़ों स्त्री पुरुषोंकी कथाएँ लिखी गई हैं परन्तु उसमें भी कहीं कोई पात्र ऐसा नहीं मिलता जो इनमें से किसी जाति का हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, नामसे ही सब पात्र परिचित किये गये हैं। इससे मालूम होता है कि उक्त कथा साहित्य जिस समय अपने मौलिक रूपमें लिखा गया था, उस समय ये जातियाँ थीं ही नहीं।

जैन साहित्यमें जातिका सबसे पहला उल्लेख

आचार्य अनन्तवीर्यने अपनी 'प्रमेयरत्नमाला' हीरपनामक सज्जनके अनुरोधसे बनाई थी। इन हीरपके पिताको उन्होंने 'बदरीपाल' वंशका सूर्य कहा है †। *यह कोई वैश्य जाति ही मालूम होती है। अनन्तवीर्यका* समय विक्रमकी दसवीं शताब्दी है। जहाँ तक हम जानते हैं, जैन साहित्यमें जातिका यही पहला उल्लेख है। दूसरा उल्लेख महाराजा भीमदेव सोलंकीके सेनापति और आबूके आदिनाथके मन्दिरके निर्माता विमलशाह पोरवाड़का वि० सं० १०८८ का है। इनकी वंशावलीमें इनके पहलेकी भी तीन पीढ़ियोंका उल्लेख है। यदि प्रत्येक पीढ़ीके लिये २०—२५ वर्ष रख लिये जाँय तो यह समय वि० सं० १०२० के लगभग तक पहुँचेगा।

जैन प्रतिमा-लेखोंमें प्रायः प्रतिमा स्थापित करनेवालोंका परिचय रहता है। दिगम्बर सम्प्रदायकी प्रतिमाओंके तो अब तक बहुत ही कम लेख प्रकाशित हुए हैं *।

÷ अहिच्छत्रपुरोत्पन्नः प्राग्वाटकुलशालिनः।
छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबन्धं वाग्भटः कविः॥

श्री ओझाजीके अनुसार अहिच्छत्रपुर नागौरका प्राचीन नाम था। बरेलीके जिलेका रामनगर भी अहिच्छत्र कहलाता है, जो प्राचीन तीर्थ है। परंतु वाग्भट नागौरमें ही उत्पन्न हुए होंगे, ऐसा जान पड़ता है।

† 'बदरीपालवंशालीव्योमद्युमणिरूर्जितः'।

वर्तमान जातियोंकी सूचीमें हमें इस जातिका नाम नहीं मिला। या तो यह लुप्त हो गई है या कुछ नामान्तर हो गया है।

* जहाँ तक हम जानते हैं बाबू कामताप्रसादजी का एक छोटासा संग्रह और प्रो० हीरालालजीका जैन-

श्वेताम्बर सम्प्रदायके विद्वानोंने अवश्य ही इस ओर बहुत ध्यान दिया है। उनके प्रकाशित किये हुए कई हजार लेखोंको मैंने देखा है परन्तु उनमें भी कोई लेख ग्यारहवीं शताब्दीके पहिलेका ऐसा नहीं मिला जिसमें किसी जातिका उल्लेख हो।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान जातियाँ नौवीं-दसवीं शताब्दीमें पैदा हुई होनी चाहिएँ +। और यही समय परवार जातिकी उत्पत्तिका भी होगा।

जातियोंकी उत्पत्तिके पहलेकी सामाजिक अवस्था–गोष्ठियाँ

ग्यारहवीं सदीके कई लेख ऐसे मिले हैं जिनमें मन्दिरों या प्रतिमाओंके स्थापित करनेवालोंको या तो केवल 'श्रावक' विशेषण दिया गया है या गोष्ठिक। इसीसे ऐसा मालूम होता है कि जातियाँ निर्माण होनेके पहले गोष्ठियाँ थीं जिन्हें हम संघ, या जत्थे कह सकते है।

सिरोही राज्यके कायन्द्रागाँवके श्वेताम्बर जैन मन्दिरकी एक देवकुलिका पर वि० स० १०९१ का लेख है, जिसमें उसके निर्माताको **'भिल्लमालनिर्यातः प्राग्वाट वणिजांवरः'** अर्थात् भिल्लमालसे निकाला हुआ प्राग्वाट वणिकोंमें श्रेष्ठ कहा है*। एक और शिलालेख दुबकुंड (ग्वालियर) गांवमें सं० ११४५ का है† जिसमें वहाँके दिगम्बर जैन मन्दिरके निर्माताको **'जायसपूर्वविनिर्गतवणिग्वंश'** का सूर्य कहा है। इसका अर्थ होता है पूर्वमें जायससे निकले हुए वैश्य वंशका प्रसिद्ध पुरुष। यह वह समय मालूम होता है जब जातियोंको नाम प्राप्त हो रहा था अर्थात् उनके संघों या जत्थोंको उनके निकासके स्थानके नामसे अभिहित किया जाने लगा था।

दक्षिण महाराष्ट्र और उससे और नीचेके भागके धर्मानुयायियोंमें तो उत्तर भारतके समान जाति-संस्था का विस्तार शायद हुआ ही नहीं। जैन शिलालेख सग्रहके शक स० १०४२ के न० ४९ (१२९) मे चामुंड नामक राजमान्यवणिक् की पत्नी देवमतीके समाधिमरणका उल्लेख है। उसमें किसी जातिका निर्देश नहीं। शक १०५९ के लेख नम्बर ६८ (१५९) में चट्टिकव्वे नामक स्त्रीने अपने पति मल्लिसेट्टिकी निषद्या बनवाई। इसी तरह नं० ७८ (१८२), ८१ (१८६), ९२ (२४२), ३२९ (१३७) के भी हैं जिनमें सबको सेट्टि (श्रेष्ठि) या व्यापारी ही लिखा है। इन से यह स्पष्ट है कि निदान विक्रमकी १३वीं शताब्दी तक कर्नाटकमे वैश्योंकी विविध जातियाँ नहीं थीं।

असगकविका महावीर चरित सं० ९१० (शायद शक संवत्) चोल देशकी विरला नगरीमें बना है। असगने अपने पिता पटुमतिको केवल श्रावक लिखा है। अर्थात् चोल देशमें भी विक्रमकी ग्यारहवीं सदी तक वैश्योंकी वर्तमान जातियाँ नहीं थीं।

लेखसंग्रह ये दो ही संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पहलेमें मैनपुरी, एटा आदिके मन्दिरोंकी प्रतिमाओंके लेख हैं और पिछलेमें श्रवणबेलगोला और उसके समीपके ही लेख हैं।

\+ स्वर्गीय इतिहासज्ञ पं० चिन्तामणि विनायक वैद्यने अपने 'मध्ययुगीन भारत' में लिखा है कि विक्रमकी आठवीं शताब्दी तक ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके समान वैश्योंकी सारे भारतमें एक ही जाति थी।

* मुनि श्री जिनविजयजी सम्पादित 'प्राचीन जैन लेखसंग्रह' के द्वि० भागका ४२७ वें नंबरका लेख।

† एपिग्राफिया इंडिका जिल्द ९ पृ० १२७मांक।

स्थानों परसे जातियाँ बन जाने पर जब उनका फैलाव हुआ और वे दूर दूर तक फैल गई, तब यह भी लिखा जाने लगा कि अमुक जातिका अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ या रहने वाला । जिस तरह नेमि-निर्वाणके कर्त्ता वाग्भटने अपनेको '**अहिच्छत्रपुरोत्पन्नः प्राग्वाटकुलशालिनः**' लिखा है अथवा गिरनारपर्वतके नेमिनाथ मन्दिरकी सं० १२८८ की प्रशस्तिमें वस्तुपाल-तेजपालको '**अणहिलपुरवास्तव्य-प्राग्वाटान्वयप्रसूत**' लिखा है ‡ अर्थात् अणहिलपुरके निवासी प्राग्वाट जातिके । इसके बाद और आगे चलकर जातियोंके गोत्रादि भी लिखे जाने लगे ।

जातियोंकी उत्पत्तिके समयके बारेमें अन्य मतोंका खण्डन

चौदहवीं सदीके भट्टारक इन्द्रनन्दिने अपने नीति-सारमें लिखा है कि विक्रमादित्य और भद्रबाहुके स्वर्ग-गत होने पर जब प्रजा स्वच्छन्दचारिणी होगई तब जातिसंकरतासे डरनेवाले महर्द्धिकोंने सबके उपकारके लिए ग्रामादिके नामसे जातियाँ बनाईं * परन्तु इसके लिए कोई विश्वासयोग्य प्रमाण नहीं है । विक्रम या भद्रबाहुका समय भी एक नहीं है । इसके सिवाय जातियोंका संकर न हो जाय अर्थात् मिश्रण न होजाय, इसका अर्थ भी कुछ समझमें नहीं आता है । जाति संकरताका अर्थ यदि वर्णसंकरता है तब तो प्राचीन जैनधर्म इसका विरोधी नहीं था, क्योंकि भगवज्जिनसेन अपने आदिपुराणमें अनुलोम-विवाहोंका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करते हैं * और अनुलोम-विवाहोंसे अर्थात् ऊपरके वर्ण वालोंका नीचेकी वर्णकी कन्याके साथ सम्बन्ध होनेसे वर्णसंकरता होती ही है और यदि 'जाति संकरता' में जातिका अर्थ वर्तमान जातियाँ हैं, तो वे तो इन्द्रनन्दिके कथनानुसार उस समय थीं ही नहीं । आदिपुराणके मतसे तो वर्णसंकरताका अर्थ वृत्ति या पेशेको बदलना है, अर्थात् किसी वर्णके आदमीका अपना पेशा छोड़ कर दूसरे वर्णका पेशा करने लगना है और उस समय इस संकरताको रोकना राजाका धर्म था + । ग़रज़ यह कि जातियोंके स्थापित करने और वर्ण संकरताको मिटानेमें कोई कारण-कार्य-सम्बन्ध समझमें नहीं आता है ।

एक और प्रमाण जातियोंकी प्राचीनताके विषयमें यह दिया जाता है कि चूंकि आचार्य गुप्तिगुप्त परवार थे, कुन्दकुन्दस्वामी पल्लीवाल थे, उनके गुरु जिनचन्द्र चौसखे परवार, वज्रनन्दि गोलापूर्व और लोहाचार्य लमेचू थे, इसलिए सिद्ध होता है कि कुन्दकुदाचार्यसे भी पहले जातियाँ थीं । परन्तु जिस पट्टावलीके आधार से यह बात कही जाती है उसकी प्रामाणिकतामें घोर सन्देह है और वह भी चौदहवीं सदीसे पहलेकी नहीं है । उसके कर्ताको शायद इसके सिवाय कोई धुन ही नहीं रही है, कि बड़े बड़े आचार्योंकी खास खास

---

‡ एपिग्राफिका इंडिका जिल्द २ पृ० २३७-४० ।

* स्वर्गे गते विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि ।
प्रजाः स्वच्छन्दचारिण्यो बभूवुः पापमोहिताः ॥
तदा सर्वोपकाराय जाति संकरभीरुभिः ।
महर्द्धिकैः परं चक्रे ग्रामाद्यभिधया कुलम् ॥—नीतिसार ।

* आदिपुराण पर्व १६ श्लोक २४७ ।

+ स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत् ।
स पार्थिवैर्नियंतव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥
—पर्व १६ श्लोक २४८ ।

अर्थात् जुदा जुदा वर्णोंकी जो वृत्ति (पेशा) नियत की गई है, उसे छोड़कर दूसरे वर्णकी वृत्ति करने लगनेको राजा लोग रोकें, अन्यथा वर्णसंकरता हो जायगी ।

जातियोंमें खतौनी करदी जाय । उस बेचारेने यह सोचनेकी भी आवश्यकता नहीं समझी कि जिस सुदूर कर्नाटकमें कुंदकुंदादि हुए हैं वहाँ कभी पल्लीवाल, चौसखों और गोला पूर्वोंकी छाया भी न पड़ी होगी। इसके सिवाय और किसी प्राचीन गुरुपरम्परामें भी गुरुओंकी इन जातियोंका उल्लेख नहीं।

जैन जातियोंकी उत्पत्तिकी सारी दन्त कथाओंमें प्रायः एक ही स्वर सुनाई देता है और वह यह कि अमुक जैनाचार्यने अमुक नगरके तमाम लोगोंको जैन धर्मकी दीक्षा दे दी और तब उस नगरके नामसे अमुक जातिका नाम करण होगया और उक्त सब आचार्य पहली शताब्दी या उसके आस पासके बतलाये जाते हैं परन्तु ये सब दन्तकथायें ही हैं, और जब तक कोई प्राचीन प्रमाण न मिले तब तक इनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि कभी जत्थेके जत्थे भी जैनी बने होंगे, परन्तु यह समझमें नहीं आता कि उनमें सभी जातियोंके ऊँच नीच लोग होंगे और वे सब के सब एक ग्रामके नामकी किसी जातिमें कैसे परिणत हो गये होंगे। क्योंकि ऐसी प्रायः सभी जातियोंमें जो स्थानोंके नामसे बनी हैं जैनी-अजैनी दोनों ही धर्मोंके लोग अब भी मिलते हैं। जैनी अजैनी भी बनते रहे हैं और अजैनी जैनी।

गोत्र

परवार जातिके बारह गोत्र हैं, परवारोंके इतिहासके लेखकके लिये जरूरी है कि गोत्रोंके बारेमें भी वह लिखे। गोत्रोंके विषयमें कुछ लिखनेके पहले हमें यह जानना चाहिये कि गोत्र चीज क्या है? वैयाकरण पाणिनिने गोत्रका लक्षण किया है 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्'। अर्थात् पौत्रसे शुरू करके संतति या वंशजोंको गोत्र कहते हैं। वेद कालसे लेकर अब तक ब्राह्मणोंमें, चाहे वे किसी भी प्राँतके हों, यह गोत्र-परम्परा अखण्डरूपसे चली आ रही है। महाभारतके अनुसार मूल गोत्र चार हैं-अंगिरा, कश्यप, वशिष्ठ और भृगु ❀। इन्हींसे तमाम कुलों और लोगोंकी उत्पत्ति हुई है और आगे चलकर इनकी संख्या हजारों पर पहुँच गई है ×। ज्यों ज्यों आबादी बढ़ती गई त्यों त्यों कुलों और परिवारोंकी संख्या बढ़ने लगी। किसी कुलमें यदि कोई विशिष्ट पुरुष हुआ, तो उसके नामसे एक अलग कुल या गोत्र प्रख्यात हो गया। उसके बाद आगे की पीढ़ियोंमें और कोई हो गया, तो उसका भी जुदा गोत्र प्रसिद्ध होगया। इसी तरह यह संख्या बढ़ी है।

गोत्रोंके बारेमें वैश्योंकी अपनी विशेषता

क्षत्रियोंकी गोत्र-परम्पराके विषयमें इतिहासज्ञोंका कथन है कि वह बीचमें शायद बौद्धकालमें विच्छिन्न हो गई और उसके बाद जब वर्णव्यवस्था फिर कायम हुई, तो क्षत्रियोंने अपने पुरोहितोंके गोत्र धारण कर लिये। अर्थात् पुरोहितका जो गोत्र था वही उनका हो गया। विज्ञानेश्वरने मिताक्षरामें यही कहा है कि क्षत्रियोंके अपने गोत्र-प्रवर नहीं है, पुरोहितोंके जो हैं वही उनके हैं। परन्तु बहुतसे विद्वानोंका इस विषयमें मत-भेद है। वैश्योंके विषयमें भी यही कहा जाता है कि उनकी गोत्र-परम्परा नष्ट हो चुकी थी और पुरोहितोंके गोत्र उन्होंने भी ग्रहण कर लिये होंगे। परन्तु अग्रवाल आदि जातियोंके गोत्र देखनेसे यह बात गलत मालूम होती है। उनके गोत्र पुरोहितोंसे जुदे हैं।

बहुत-सी वैश्य जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें गोत्र

❀ शांतिपर्व अध्याय २८६।

× गोत्राणां सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
—प्रवरमंजरी।

है ही नहीं । ओसवाल आदि कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनके गोत्र ग्रामों या पेशों आदिके नामसे पड़े हैं और बहुतोंके ऐसे अद्भुत हैं कि उनके विषयमें कुछ कल्पना ही नहीं हो सकती। उनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें तरह तरह की कथायें भी गढ़ ली गई हैं ।

परवारोंके गोत्र और उनका अन्य जातियोंके गोत्रोंसे मिलान

हमारा अनुमान है कि परवारोंके गोत्र गोत्रकृत् या वंशकृत् पुरुषोंके ही नामसे प्रारम्भ हुए होंगे और उनकी परम्परा बहुत पुरानी होनी चाहिए ।

परवारोंके बारह गोत या गोत्र हैं। इनमेंसे कुछ गोत्र गहोइयों और अग्रवाल आदि जातियों जैसे हैं। इसका कारण शायद यह हो कि मूलमें ये एक ही रहीं हों और आगे चलकर अलग हो गई हों। जो गोत्र मिलते नहीं है, भिन्न हैं, वे शायद अलग होनेके बादके हैं।

आगे हम परवार, गहोई और अग्रवाल जातिके गोत्र दे रहे हैं—

परवार	गहोई	अग्रवाल
१ गोहिल्ल	गांगल	गोभिल
२ गोइल्ल	गोइल, गोयल या गोल	गोयल
३ वाछल्ल	वाछिल	वत्सिल
४ कासिल्ल	काछिल	कासिल
५ वासिल्ल	वासिल	
६ भारिल्ल	भारल या भाल	
७ कोछल्ल	कोछिल	
८ वाभल्ल	बादल	
६ कोइल्ल	कोइल, कोहिल	
१० खोइल्ल	(जैतल)	
११ माडिल्ल	(कासव)	
१२ फागुल्ल	(सिंगल)	सिंहल

ऊपरकी सूचीमें परवारोंके और गहोइयोंके नौ गोत्र बिलकुल एक जैसे हैं और अग्रवालोंके चार गोत मिलते हुए हैं।

गहोइयोंके परवारोंके ही समान बारह गोत्र हैं परंतु अग्रवालोंके अठारह गोत्र हैं।

गहोई कौन हैं ?

अग्रवालोंका थोड़ा परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अब हम परवारोंके अतिशय सामीप्यके कारण गहोइयोंका थोड़ा परिचय देना ज़रूरी समझते हैं।

संस्कृत लेखोंमें गहोई वंशको 'गृहपति-वंश' लिखा गया है। गृहपतिसे गहवइ और फिर गहोई हो गया है। बौद्ध ग्रंथोंमें गृहपति शब्द बहुत जगह वैश्यके अर्थमें आता है *। हमारा ख्याल है कि जिस समय वैश्योंमें भेद नहीं हुए थे, आम तौरसे सभी वैश्य लोग गहवई कहलाते होंगे, पीछे जातियोंके बनने पर एक समूह गहवई या गहोई ही कहलाता रहा, उसने अपना नाम नहीं बदला जब कि दूसरे समूह नगर स्थानादिके नामोंसे आपको परिचित कराने लगे।

गहोइयोंका बुंदेलखण्डमें प्रवेश

गहोई जातिके पटिया एक दन्तकथा कहा करते हैं कि पवाँया या पद्मावती नगरीके कई द्वार थे। एक दिन अम्बिका देवी एक द्वार छेंक कर लेटी

---

* देखो महाबोधिसभा द्वारा प्रकाशित दीघनिकाय पृ० ५१, १४३, १५४ १७५। पउमचरिय (२०-११६) में गृहस्थ, गृही, संसारीके अर्थमें भी 'गहवइ' शब्द आया है।

हुई थीं। नगरकी स्त्रियाँ उनकी परवा किये बिना ऊपर-से निकल गईं, परन्तु पटियोंके पूर्वज बोधा-पाँड़ेकी पत्नी सम्मानपूर्वक बचकर निकली, इससे प्रसन्न होकर अम्बिकाने पाँड़ेजीको स्वप्नमें कहा कि मैं अन्य स्त्रियों-की अशिष्टताके कारण इस नगरीको नष्ट करने वाली हूँ, तुमसे जितनी दूर भागा जा सके भाग जाओ। आखिर पाँड़ेजी अपने ग्यारह शिष्योंके साथ भाग निकले। आगे उन्हींकी सन्तान गहोई हुए और पाँड़े जी की सन्तान पटिया। इस कथासे यह मालूम होता है कि परवारोंके समान गहोई भी पद्मावती छोड़कर बुन्देलखंडकी तरफ आबाद हुए थे और इन दोनों जातियोंका बहुत पुराना सम्बंध है।

समस्त वैश्य जातियोंकी मौलिक एकता

गहोई और परवार जातिके नौ गोत्र एकसे होना बहुत अर्थपूर्ण है। हमारे बहुतसे पाठक शायद यह न जानते होंगे कि पूर्वकालमें गहोई भाई भी जैनधर्मके अनुयायी थे। इस जातिके बनाये हुए कई जैन मंदि-रोंका पता लगा है ※। इसके सिवाय गहोइयोंका एक मूर या आँकना 'सरावगी' नामका है, जो इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि वर्तमान सरावगी गहोइयोंके पुरखा श्रावक या जैन थे।

झाँसी, चिरगाँव आदिमें परवारों और गहोइयोंमें पक्की रसोईका व्यवहार अब तक है, यह भी इस बातका सुबूत है कि पूर्वकालमें इन दोनों जातियोंमें घनिष्ठता थी और इन दोनोंका मूल स्रोत एक ही होगा। पद्मा-वति नगरीसे गहोइयोंके निकलनेकी दन्तकथा भी इस बातको पुष्ट करती है।

परवारों, गहोइयों और अग्रवालोंके गोतोंकी समा-नता इस बातका भी संकेत करती है कि पूर्वमें वैश्य जाति एक ही थी और ये सब भेद 'स्थानस्थितिविशे-षतः' बहुत बादमें हुए हैं।

परवारोंके मूर

ऊपर जो बारह गोत्र बतलाये गये हैं, उनके प्रत्येकके बारह बारह मूर बतलाये जाते हैं। इस तरह सब मिला कर १४४ मूर हैं।

गोत–मूरोंका मिलान किये बिना परवारोंमें कोई विवाह सम्बन्ध नहीं होता है, फिर भी दुर्भाग्य देखिए कि इन मूर–गोतोंकी एक भी प्रामाणिक सूची उनके पास नहीं है। एक तो उनके नाम ही अतिशय अपभ्रष्ट होगये हैं और दूसरे जो मूर एक सूचीमें एक गोत्रके अन्तर्गत है, वही दूसरी सूचीमें दूसरे गोत्रमें गिना गया है। किसी गोत्रके मूर बारहसे कम हैं और किसीके ज्यादा। डावडिम, रकिया, पद्मावती, कुआ, भारूं, खौना आदि मूर ऐसे हैं जो दो दो गोतोंमें आते हैं ※।

※ अहार क्षेत्र (टीकमगढ़से १० मील पूर्व) में श्रीशान्तिनाथकी प्रतिमाके आसन पर एक लेख वि० सं० १२३७ का है। उसमें 'गृहपतिवंशसरोरुहसहस्ररश्मि' (गहोई वंश रूपी कमलके सूर्य) देवपालका वर्णन है जिन्होंने बाणपुर (अहारके १९ मील) में सहस्रकूट नामका जैनमन्दिर बनवाया था; और फिर जिनके उत्तम पुरुषोंमेंसे एकने यह शान्तिनाथका मन्दिर बन वाया और प्रतिष्ठा कराई। यह लेख प्रो० हीरालाल जैन द्वारा नागरी प्रचारिणी-पत्रिकामें प्रकाशित हो चुका है।

※ हमारे सामने इस समय मूर-गोतोंकी चार सूचियाँ हैं एक जैनमित्रके पौष सुदी ६ सं० ६६ के अंक में प्रकाशित पं० जम्बूप्रसाद शास्त्रीकी भेजी हुई, दूसरी दो भिन्न सूचियाँ माघवदी ८ सं० ६६ के जैनमित्रमें

इस बातका पता लगाने की भी कभी कोशिश नहीं की गई है कि इस समय इन १४४ मूरोंमें से कितने जीते जागते हैं और कितनोंका नाम शेष हो चुका है।

परवारोंके मूर और गहोइयोंके आँकने

गहोइयोंमें भी मूर हैं, परन्तु उन्हें वे आँकने कहते हैं। कहा तो यह जाता है कि प्रत्येक गोतके छह छह मिला कर ७२ आँकने हैं; परन्तु अब इनका परिवार बढ़ कर सौके पास पहुँच गया है ‡। इन आँकनोंकी सूची देखनेसे मालूम होता है कि खेड़ों या गाँवोंके नामोंसे इनका नाम-करण हुआ होगा जैसे बड़ेरिया, रूसिया, नगरिया, बजरंगढ़िया आदि। कुछ आँकने पेशोंके कारण भी बने हुए जान पड़ते हैं जैसे सोनी, गंधी आदि।

'मूर' का शुद्ध रूप 'मूल' होता है। मूरको एक रूढ़ शब्द ही मानना पड़ता है जो गोत्रोंके अन्तर्गत भेदोंको बतलाता है और शायद उनसे मूल गोत्रोंका ही बोध होता है। किसी मूरमें पेशेकी गन्ध नहीं मिलती।

मूरोंके जो अपभ्रष्ट नाम हमे इस समय उपलब्ध हैं, उनसे उनकी उत्पत्ति बिठाना कठिन है। यही ख्याल होता है कि गहोइयोंके समान खेड़ों या गांवोंके नामोंसे ही इनका नाम करण हुआ होगा। पद्मावती, सकेसुर, बड़ेरिया, डेरिया, बैसाखिया, बहुरिया आदि मूरोंमें ग्रामों या नगरोंका आभास मिलता भी है।

इस समय इस विषयमें इससे और अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि गोत्र प्रख्यात पुरुषोंके नामसे स्थापित हुए हैं, और मूर गावों या खेड़ोंके नामसे। गोत्र और मूरोंके विषयमें हमें यही मालूम होता है।

पोरवाड़ोंके गोत

चूंकि परवार और पोरवाड़ हमारे ख्यालसे एक ही हैं इसलिये हम पोरवाड़ोंके गोत्रों की भी यहाँ चर्चा कर देना चाहते हैं। पोरवाड़ोंके चौबीस गोत्र बतलाये जाते हैं * परन्तु उनमें गोत्र-परम्परा एक तरहसे नष्ट हो गई है। जो चौबीस नाम मिलते हैं वे पुस्तकोंमें ही लिखे हैं उनका कोई उपयोग नहीं होता है। गुजरातकी तो प्रायः सभी जातियोंने अपने गोत भुला दिये हैं। यहाँ तक कि मारवाड़में जिन ओसवालों श्रीमालोंमें गोत्रोंका व्यवहार अब भी होता है, वे ही ओसवाल, श्रीमाल गुजरातमें आकर गोत्रोंको बिलकुल ही भूल चुके हैं। इसी तरह पद्मावती पोरवाड़ोंमें भी गोत्र नहीं रहे हैं। कमसे कम उनका उपयोग नहीं किया जाता है।

क्या परिवार क्षत्रिय थे ?

वर्तमानकी अनेक वैश्य जातियाँ अपनेको क्षत्रिय

मास्टर मोतीलालजी की भेजी हुई, और चौथी बा० ठाकुरदासजी बी. ए द्वारा भेजी हुई सौ डेढसौ वर्ष पहलेकी हस्तलिखित पिछली सूचीमें दो गोतोंमें तेरह तेरह, दो में ग्यारह ग्यारह, एक में दस और एकमें नौ ही मूर हैं।

‡ देखो 'गहोई वैश्यबन्धु' के दिसम्बर १९३८ के अंकमें श्रीयुत कुंजीलाल वकीलका विस्तृत लेख जिसमें प्रत्येक गोतके आँकनों पर विचार किया गया है।

* १ चौधरी, २ काला, ३ धनद्याव, ४ रतनावत, ५ धन्यौत, ६ मनाथर्या, ७ ढवकरा, ८ भादक्या, ९ कामल्या, १० सेठिया, ११ मथिया, १२ वरवरड, १३ मूत, १४ फरक्या, १५ लमेपर्या, १६ मंडावर्या, १७ मुनियां, १८ डांट्या, १९ गखिया, २० मेसौटा २१ नवेपर्या, २२ दानगड, २३ मेहता २४ खरड्या।

बतलाती हैं। यह सम्भव भी है। जैसा कि प्रारम्भमें लिखा जा चुका है, बहुतसी वैश्य जातियाँ प्राचीन गणों या संघोंकी अवशेष हैं और वे गण 'वार्ता-शस्त्रोपजीवी' थे अर्थात् कृषि, गोपालन, वाणिज्य और शस्त्र उनकी जीविकाके साधन थे। गणराज्य नष्ट हो जाने पर यह स्वाभाविक है कि उन्हें शस्त्र छोड़ देने पड़े और केवल कृषि, गोपालन और वाणिज्य ही उनकी जीविकाके साधन रह गये। कालान्तरमें अहिंसा की भावना तीव्र होने पर खेती करना भी उन्होंने छोड़ दिया, जिसके साथ साथ गोपालन भी चला गया और तब उनकी केवल वाणिज्यवृत्ति रह गई।

इसके सिवाय इतिहासके विद्यार्थी जानते हैं कि प्रख्यात गुप्तवंश मूलमें वैश्य ही था जिसमें समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त जैसे महान् सम्राट हुए हैं। सम्राट हर्ष वर्धन भी वैश्य वंशके ही थे। ऐसी दशामें बहुतसी वैश्य जातियाँ यदि अपनेको क्षत्रियोंका वंशज कहती हैं, तो कुछ अनुचित नहीं है। वृत्तियाँ तो सदा ही बदलती रही हैं।

प्राग्वाटों या पोरवाड़ोंमें तेरहवीं सदी तक बड़े २ योद्धाओंका पता लगता है। प्राचीन कालमें इस जातिको 'प्रकटमल्ल' का विरुद मिला हुआ था। पाटण नरेश भीमदेव सोलंकी (ई० स० १०२२-१०६२) के प्रसिद्ध सेनापति विमलशाह पोरवाड़ ही थे जिन्हें द्वादशसुरत्राणछत्रोत्पाटक (बारह सुलतानोंका छत्र छीनने वाला) कहा जाता था और जो आबूके प्रसिद्ध आदिनाथके मन्दिरके निर्माता थे। इसी तरह आबूके जगत् प्रसिद्ध जैनमन्दिरोंके निर्माता वस्तुपाल तेजपाल (वि० सं० १२८८) भी पोरवाड़ ही थे, जो महाराजा वीरधवल बाघेलाके मन्त्री और सेनापति थे। वे जैसे वीर थे वैसे ही दाता और धर्मोद्योतक थे। इनके बादमें भी पोरवाड़ोंमें अनेक राजनीतिज्ञ और वीर मन्त्री और सेनापति हुए हैं, जिससे यदि पोरवाड़ोंको क्षत्रिय कहा जाय तो अनुचित न होगा।

पोरवाड़ और परवार मूलमें एक ही हैं यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। परन्तु परवारोंका इतिहास अभी तक अन्धकारमें ही है। हम सिर्फ मंधु चौधरी नामक परवार वीरको ही जानते हैं जिन्होंने नागपुरके भोंसला राजाकी ओरसे उड़ीसा पर चढ़ाई की थी और जिनके वंशके लोग अब भी कटकमें रहते हैं।

परवारोंके इतिहासकी सामग्री

लेख समाप्त करनेके पहले मैं अपने पाठकोंके समक्ष यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि साधन सामग्रीकी कमीसे यह लेख जैसा चाहिये वैसा नहीं लिखा जा सका। मित्रोंका अत्यन्त आग्रह न होता तो शायद मैं इसके लिखनेकी कोशिश भी न करता। लिखते समय जिन जिन साधन-सामग्रियोंकी कमी महसूस हुई, उनका उल्लेख भी मैं इसलिए यहाँ कर देना चाहता हूँ कि परवार—समाज यदि वास्तवमें अपना प्रामाणिक इतिहास तैयार करना चाहती है तो इस ओर ध्यान दे और इस सामग्रीको लेखकोंके लिये सुलभ कर दे।

१ मूर-गोतावलीका शुद्ध पाठ—इस समय मूर गोतोंके जो पाठ मिलते हैं वे बहुत ही भ्रष्ट हैं उनमें परस्पर विरोध भी है। इसलिए जरूरी है कि पुराने २ लिखे हुए 'मकेसरा' जगह जगहसे खोजकर संग्रह किए जाँय और फिर उन सबका मिलान करके किसी इतिहासज्ञ विद्वान्से एक शुद्ध पाठ तैयार कराया जाय।

२ प्रतिमा—लेख-संग्रह—प्रायः प्रत्येक धातु-पाषाणकी प्रतिमाओंके आसन पर कुछ न कुछ लेख

रहता है, जिसमें प्रतिमा स्थापित करने वालों और प्रतिष्ठाचार्यका उल्लेख अवश्य रहता है। उसमें संघ, गण, गच्छ, और जाति गोत्रादि भी लिखे रहते हैं। नवीं-दसवीं शताब्दिसे इधरके ऐसे हजारों लेख संग्रह किए जा सकते हैं। कहीं कहीं उस समयके राजाओंका भी उल्लेख मिल जाता है। मध्यकालीन इतिहास पर इन लेखोंसे बहुत प्रकाश पड़ सकता है। इन लेखोंके प्रकाशित हो जाने पर वर्तमान सभी जातियोंका इतिहास लिखा जा सकेगा, उन जातियोंका भी पता लगेगा जो पहिले जैन धर्म धारण करतीं थीं परन्तु अब छोड़ बैठीं हैं। इससे जैनाचार्योंकी भी गण-गच्छादि-सहित एक सिलसिलेवार सूची समय-क्रमसे तैयार हो जायगी जो जैन साहित्यके इतिहासके लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

इनके लेखोंके समक्ष होने पर हम बड़ी आसानीसे बतला सकेंगे कि जातियोंका अस्तित्व कबसे है। इनका विकास और विस्तार किस क्रमसे हुआ, अठसखा, चौसखा दो सखा आदि भेद कब हुए, असली गोत्र-मूर आदि क्या थे, उनमें प्रसिद्ध और प्रभावशाली पुरुष कौन कौन हुए और किस किस जाति की बस्ती किन किन प्राँतोंमें और कब तक थी।

ये लेख शुरूसे लेकर अब तकके संगृहीत किए जाने चाहिए और सभी जातियोंके होने चाहिएँ। इस कार्यमें अन्य सब जातियोंका सहयोग भी वाँछनीय है।

३ लेख और दान-पत्रादि संग्रह—प्रतिमाओंके अतिरिक्त मन्दिरोंको दिए हुए दानोंके भी सैकड़ों लेख मिलते हैं। बहुतसे इन्डियन एंटिक्वेरी, एपिग्राफिआ इन्डिया आदिमें प्रकाशित हो चुके हैं। वे सब भी संग्रह किये जाने चाहिए।

४ ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ और लिपि कराने वालोंकी प्रशस्तियाँ—प्रत्येक ग्रन्थके अन्तमें जो लेखकोंकी और ग्रन्थ लिखने वालोंकी प्रशस्तियाँ रहती हैं, उनमें भी जातियोंका तथा दूसरी बातोंका परिचय रहता है। इन सबका संग्रह भी बहुत उपयोगी होगा।

५ पटियोंके कागज़-पत्रोंका अन्वेषण—प्राचीन कालमें वंशावलियों और कुलोंका इतिहास भाट-चारण लोग रक्खा करते थे। प्रत्येक घरसे इन्हें ब्याह शादीके मौकों पर और दूसरे शुभ कार्यों पर बन्धी हुई दक्षिणा मिला करती थी। उसके बदलेमें वे लोग पीढ़ी दर पीढ़ी यह काम किया करते थे। बुन्देलखण्डमें इन्हें 'पटिया' कहते हैं। वंशावलीको पट्टावली भी कहते हैं। इन पट्टावलियोंके कारण ही शायद इनका नाम 'पटिया' प्रसिद्ध हुआ है। इन लोगोंका अब पहलेके समान सम्मान नहीं रहा, इनको दक्षिणा भी लोग नहीं देते, इसलिए अब यह जाति नष्ट प्राय है। गहोई और परवार दोनों जातियोंके 'पटिया' हैं जिनमेंसे गहोइयोंके पटिये अब भी अपने पेशेसे किसी कदर चिपटे हुए हैं। बन्धुवर सियारामशरण गुप्तके पत्र से मालूम हुआ कि गहोई जातिके पटिया कहते हैं कि उनके पास 'गृहपतिवंशपुराण' है जिसमें गहोइयोंका इतिहास है परवारजातिके पटियोंका भी अभीतक अस्तित्व है। बहुत संभव है कि उनके पास परवार वंशके सम्बन्धमें भी कोई पुस्तक हो। उनके पासके कागज़ पत्रों और पुरानी बहियोंकी छानबीन करनी चाहिए। उनके पाससे और कुछ नहीं तो पुरानी वंशावलियाँ, किंवदन्तियाँ और मूर-गोत्रावलियाँ संग्रह की जा सकती हैं। मूरों और खेड़ोंके सम्बन्धकी जानकारी भी उनसे मिल सकती है।

विविध सामग्री—अनेक भारतीय और यूरोपियन लेखकोंने जातियोंके सम्बन्धमें बीसों ग्रन्थ लिखे हैं, जो अंग्रेजीमें हैं। मर्दुमशुमारीकी रिपोर्टोंमें भी जाति भेद सम्बन्धी अध्याय रहते हैं, इनके सिवाय प्रत्येक जिले के गैजेटियरोंमें भी वहाँकी जातियोंके विषयमें साधारण सा इतिहास और किंवदन्तियाँ लिखी रहती हैं, ये सब पुस्तकें संग्रह की जानी चाहिए। हिन्दीमें पृथक् पृथक् जातियों पर और समग्र जातियों पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। कुछ पुराण भी उपयोगी हो सकते हैं। इतिहासके अन्य ग्रन्थोंका संग्रह तो होना ही चाहिए। उनकी चर्चा करनेकी ज़रूरत नहीं।

अहिंसाके कुछ पहलू

(लेखक—श्री० काका कालेलकर)

शरीर-धारण और दण्ड के लिये हिंसा

हिंसा-अहिंसाका सवाल हमारे बचपनमें खाने-पीनेके संबंधमें ही उठता था। जब वैष्णवोंका दया धर्म और प्रेम-धर्म हमारे जीवनमें दाखिल हुआ तब 'किसी भी व्यक्तिको अपने क्रोधसे या कठोर वचनसे दुःख पहुँचानेमें भी हिंसा है और प्रिय और पथ्यवचनसे और सेवासे सबको राजी रखनेमें अहिंसा है'—इतना हम स्थूल रूपसे समझ गये।

इसके बाद इस प्रश्नने एक नया ही रूप पकड़ा। 'जालिमको सजा देनेके लिये, गुनहगारको दण्ड देनेके लिये, भी हम हिंसाका आश्रय न करें'—यह खयाल गांधीजीने हमारे सामने पेश किया। जलियानवाला बागके बाद जो राष्ट्रव्यापी आन्दोलन गांधीजीने शुरू किया, उसमें यह खासियत थी कि गांधीजी जनरल डायरको सजा नहीं दिलाना चाहते थे। हिन्दुस्तानके पैसेसे जो पेन्शन डायरको मिलती थी उतनी बन्द करानेसे और सरकारके डायरका दोषी होना स्वीकार करनेसे गांधीजीको संतोष था। इसी दृष्टि और वृत्तिको गांधीजीने देशसे भी स्वीकार कराया।

अहिंसाके चार पहलू

निरामिष आहार करके पशु-पक्षियोंकी हिंसा न करना अहिंसाका एक पहलू था। कठोरताको छोड़कर सभोंके साथ कोमलतासे पेश आना अहिंसाका दूसरा पहलू था। अत्याचारी और गुनहगारको सजा न देकर केवल उसे दोषी जाहिर करके ही संतोष मानना अहिंसाका तीसरा पहलू था। फिर "गुनहगारने गुनाह किया, हत्या करनेमें वह सफल हुआ, या निष्फल हुआ, किन्तु अन्तमें वह राजपुरुषोंके हाथमें आगया। अब कानूनकी दुहाई देकर हम उसका बदला लें यह उचित है?—या केवल उसे दोषी ठहरा कर छोड़ दें यही अच्छा है"?—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न, या पहलू, हमारे सामने आया।

इससे आगे बढ़कर 'आत्मरक्षाके लिये भी हम किसीकी हत्या करें या न करें, कहीं पर प्रतिहिंसाका प्रयोग करें या न करें'—यह महत्वका सवाल है।

आत्मरक्षणार्थ हिंसा

कुछ लोग यह कहते हैं कि पेट पालनेके लिये जो हिंसा करनी पड़ती है उसे तो सदोष नहीं समझना चाहिये, कम-से-कम उसे क्षम्य तो समझना ही चाहिये। यह दृष्टि बहुतसे लोगोंकी है। अगर भरण-पोषणके लिये हिंसा जायज है, तो आत्म-रक्षाके लिये वह जायज क्यों नहीं है?" —यह सवाल स्वाभाविकतया उठता है। और आत्म-रक्षाका सवाल इतना गूढ़ है कि आत्म-रक्षण किसे कहें और आक्रमण किसे कहें, इसका निर्णय बड़े बड़े धर्मज्ञ पंडित भी नहीं कर सकते।

अगर एक सांप मेरे बगीचेमें या घरमें घुस जाये, तो मैं उसे मारूं या नहीं? न तो उसने किसीको काटा है, न किसी पर आक्रमण किया है। तो भी लोग उसे मार डालते हैं और कहते हैं कि शायद वह काट ले, शायद वह आक्रमण करे।

यह बात तो ऐसी ही हुई कि हलवाईकी दूकानके सामने जो बच्चे खड़े हैं, वे मिठाई उठाकर खा जायेंगे इतनी संभावनाके लिये उन्हें पकड़ कर क़ैदमें भिजवा दिया जाये! आज इङ्गलेण्ड और जर्मनी—दोनों—आत्म रक्षाके लिये लड़ रहे हैं। जापान भी शायद चीनसे आत्म-रक्षा ही के लिये लड़ रहा है।

गांधीजी कहते हैं कि आत्म-रक्षाका प्रयत्न भी अहिंसक पद्धतिसे ही करना चाहिये। अपवादके रूपमें उनका इतना ही कहना है कि कायर बनकर भागजाना और मनसे हिंसा करते रहना ज्यादा बुरा है। इसकी अपेक्षा निर्भय और बहादुर होकर हिंसा करना भी अच्छा है; क्योंकि उस रास्ते किसी न किसी दिन मनुष्य अहिंसा तक पहुँच जायगा।

जीवनमें हिंसा और अहिंसाका स्थान

जब मैं अहिंसाका विचार करने लगता हूँ, तो मुझे गीताका वह वचन याद आता है, जहाँ भगवानने कहा है कि यह दुनिया सत और असत्, दोनों, तत्त्वोंसे बनी हुई है; दोनों भगवान्की ही विभूतियाँ हैं। उसी तरह जीवन में हिंसा और अहिंसा दोनोंको स्थान हैं; किन्तु दोनोंमें यह भेद है कि हिंसाको जीवनमें स्थान होते हुए भी उसमें जीवनकी कृतार्थता नहीं है। हिंसाको स्थान होते हुए भी उसका समर्थन नहीं हो सकता। Violence is the fact of Life, Non-Violence is the Law of Life. Violence sometimes makes for Life, Non-violence is the fulfilment of Life.

(हिंसा जीवनकी एक वास्तविकता है, अहिंसा जीवनका धर्म है। हिंसा कभी कभी जीवनको निबाहती है; अहिंसामें जीवनकी परिपूर्णता है।)

ऐसी हालतमें जिस प्रकार हम यह प्रार्थना करते हैं कि "हे प्रभो! हमें असत से सतका और अंधकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ"; उसी तरह हमें यह भी प्रार्थना करनी होगी कि "हे भगवन, हमें हिंसा से अहिंसा की ओर ले जाओ"। प्रारंभ तो हिंसामें ही है, उसपर विजय पाकर हमें अहिंसाकी ओर बढ़ना है।

अहिंसाका प्रथम उदय

जब मैं सोचता हूँ कि इतिहास-पूर्वकालमें, जब कि मनुष्य-प्राणी अग्नि सुलगाना भी नहीं जानता था और जब हाथीसे भी बड़ी छिपकली दुनियामें घूमती थी और बड़े बड़े अजगर गाय, बैल जितने बड़े जानवरोंको खा जाते थे तब मनुष्य अपनी रक्षा किस अहिंसासे कर सकता था? वहाँ जीनेके लिये हिंसा अपरिहार्य ही थी? अहिंसाका खयाल तक लोगोंको नहीं था। उस ज़मानेमें दिन-रात एक ही बात हर एकके दिलमें उठती थी कि हम अपनी जान कैसे बचावें? हमें

आहार कैसे मिले? औरोंका ख़याल करनेके वे दिन थे ही नहीं। किन्तु ऐसे वायुमण्डलमें भी माता के दिलमें अपने बच्चोंके प्रति प्रथम अहिंसा का ख़याल पैदा हुआ, बादमें स्वार्थ-त्यागका और बलिदानका। उस ज़मानेमें अगर हम सांप, सिंह, हाथी आदि जानवरोंसे बचनेके लिये अहिंसाका ही प्रयोग करते, तो कौन जाने क्या नतीजा आता?

आज हम मांसाहारके बिना जी सकते हैं। एक ज़माना था जब मनुष्यको यह विश्वास ही न था कि मांसाहारके बिना भी जिया जा सकता है। आज हम मानते हैं कि 'वनस्पतिको मार कर खाये बिना हम जी ही नहीं सकते, और इस लिये हमें वनस्पतिकी हिंसाको हिंसा नहीं समझना चाहिये।'

हिंसाके कुछ समाज-मान्य रूप

इसी तरह आज हम सामाजिक जीवन सुरक्षित करनेके लिये प्लेग आदि रोगोंके जन्तुओं का नाश करनेमें कोई दोष नहीं देखते। मच्छरोंको और खटमलोंको मारते समय किसीको यह ख़याल नहीं होता कि ऐसा करनेका हमें कोई अधिकार नहीं है।

गांधीजीने भी इस बातको स्वीकार किया है कि राष्ट्र-राष्ट्र के बीच अहिंसाका पालन करनेका इतना आग्रही प्रचार करते हुए भी चोरों और लुटेरोंके उपद्रवसे बचनेका और उनपर अहिंसाका प्रभाव डालनेका उनके पास कोई उपाय या तरकीब नहीं है। आदमी जब मतवाले होकर किसी शहर में खून-खराबी करने लगते हैं, या मकान जलाने लगते हैं, तब भी उन परगोली न चलानेकी सलाह जो गांधीजी देते हैं और कहते हैं कि ऐसी हालतमें चन्द शूरवीरोंको अपने प्राणों की परवाह न कर मतवाली जनताके सामने अपना बलिदान देनेके लिये जाना चाहिये, वे ही गांधीजी चोर और डाकुओंके साथ वैसा करनेकी सलाह नहीं देते। उन्मत्त जनता चाहे 'जितनी पागल क्यों न हो, आखिर वह समाजकी प्रतिनिधि है। किन्तु चोर और डाकू समाजकी केवल विकृति ही हैं।' इसलिये चोरों और डाकुओं को समाज-प्रतिनिधि सरकारके द्वारा सज़ा दिल-वाना जायज़ माना जाता है।

स्वाभाविक हिंसाका निग्रह

अब जो लोग लूट-खसोट ही का धन्धा करते हैं, आजीविकाका दूसरा कोई साधन जानते ही नहीं, उनके द्वारा जो हिंसा होती है वह उसी कोटिकी हिंसा है, जो बिल्ली चूहेको मारते समय करती है। बिल्लीको यह ख़याल तक नहीं होता कि वह चूहेको दुःख दे रही है। इसी तरह लूट-खसोट करने वाले लोग और मनुष्यका अपहरण करके उसका धन छीनकर उसको छोड़ देनेवाले पठान भी हिंसा-अहिंसाका ख़याल ही नहीं कर सकते।

जिसकी समझ में हिंसाका दोष आ सकता है, जिसके मनमें अहिंसाका उदय हो सकता है, उसी के लिये सत्याग्रहका मार्ग है। हिटलर, मुसोलिनी और स्टेलिन अपनी संहार-लीला भले ही चलाते हों; किन्तु वे भी अहिंसाको समझ सकते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु अहिंसासे प्रभावित भी हो सकते है। किन्तु शेर या भालूके ख़िलाफ़ हम

चाहे जितना सत्याग्रह क्यों न करें, वे हमारी बात समझ ही नहीं सकते।

घर में जब बिल्ली घुस जाती है तब हम उसे बाहर जानेके लिये मुँह से नहीं कहते, किसीके द्वारा सूचना भी नहीं देते, किन्तु उसे प्रयत्न-पूर्वक भगा देते हैं। उसी तरह जो लोग स्वभावतः अत्याचारी हैं और जिनके पास दूसरा कोई पेशा ही नहीं है ऐसे लोगोंको सामाजिक संगठन-द्वारा रोकना बहुत ही जरूरी है और ऐसे रोकनेके प्रयत्नमें थोड़ी हिंसा भी हो जाय तो भी हमें उसे अहिंसा ही समझना चाहिये।

सरहद में क्या उपाय करें ?

सरहद से जब मनुष्यके अपहरणकी, जबरदस्ती धर्मान्तर करानेकी और खून आदिकी खबरें हम सुनते हैं तब यह सोचने लगते हैं कि इसका क्या इलाज करें ?

लोगोंके जान-मालकी रक्षा करनेका ठेका जिसने लिया है वह सरकार इसका इलाज या तो कर नहीं सकती है, या करना नहीं चाहती है। और अगर चाहती भी हो, तो उसके लिये काफी प्रयत्न नहीं करती है। ऐसी हालत में हमें क्या करना चाहिये ? जवाब स्पष्ट है। यदि हम अपना बलिदान दे सकते हैं तो शुद्ध अहिंसक बनकर प्रसन्नता से बलिदान दे दें। यदि यह हमसे न बनें, तो अपनी जानको खतरे में डालकर जिस तरह हो सके, अत्याचारोंका प्रत्यक्ष विरोध करना सीखें। और अगर यह भी न कर सकें या ऐसा करने में राजकीय परिस्थितिके कारण कामयाब न हो सकें, तो हिजरत करके अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिये और साथ साथ सरकारको भी ठीक करने की कोशिश करनी चाहिये।

जब तक ऐसा कोई इलाज हाथमें नहीं आया है, तब तक या तो सब तरहके कष्ट सहन कर लेने चाहियें, सब तरहकी यन्त्रणायें बरदाश्त करनी चाहियें, या फिर आत्महत्या करनी चाहिये।

सरकार जिम्मेवार है

कहा जाता है कि काठियावाड़के बहारवटिया-बार्गी लोग जब किसी राजासे न्याय नहीं पा सकते थे, तो निर्दय होकर उस राजाकी बेकसूर रियायाको परेशान करते थे। अब जब सरहदकी मुसलमान प्रजासे हम बच नहीं पाते हैं, तब उनके साथ लड़नेकी अपेक्षा हमें अपनी सरकारको ही तङ्ग करना चाहिये। राजाके दोषके लिये जनताको दण्ड देना उतना न्याय नहीं है जितना कि जनताके दोषके लिये राजाको दण्ड देना है। अगर देशी राजा हमें परेशान करते हैं, तो हम इसका इलाज ब्रिटिश सरकारको ही ठीक करके कर सकते हैं। अगर सरहदके मुसलमान हिन्दुओं का अपहरण करते हैं, तो उसका इलाज उन मुसलमानोंसे बैर करनेसे नहीं होगा; किन्तु ऐसी हालतको मंजूर रखने वाली सरकारको ही दण्ड देने से हो सकता है। तब जाकर सरकार अपने कर्तव्यको पहचानेगी। *

* 'सर्वोदय' के वर्तमान मई मासके १०वें अंक से उद्धृत।

छोटे राष्ट्रोंकी युद्ध-नीति

(लेखक—श्रीकाका कालेलकर)

हिटलरने कितना बड़ा अत्याचार किया है। अयुद्ध्यमान नार्वे पर आक्रमण करके उस देश पर उसने कब्जा कर लिया! नार्वेके लोगों का कुछ भी कसूर नहीं था। उनका दोष एक ही था कि वे पागल होनेसे इनकार करते थे। उनका तटस्थ रहना न इंगलैंडको पसन्द था, न जर्मनी को। जबरदस्त लोगोंका एक सिद्धान्त अंग्रेजीमें बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—

'Those who are not with us, are against us' (जो हमारे साथ नहीं हैं वे हमारे खिलाफ हैं।) सत्ताभक्त इसीमें थोड़ा सुधार करके कहते हैं—"Those who are not under us, are against us." (जो हमारे काबूमें नहीं हैं वे हमारे दुश्मन हैं।) नार्वेके कठिन कालमें भी चर्चिल साहब उसकी हंसी करनेसे बाज नहीं आए। आप कहते हैं कि 'हम जब कहते थे, तब तुम हमारे साथ नहीं हुए। तुमने तटस्थ रहना मंजूर किया। अब भुगतिये उसका फल।!" हिटलर भी उनसे कहता होगा, "तुम्हारा तटस्थ रहना हमारे लिये खतरनाक है। तुम तटस्थ रह ही नहीं सकते। इंगलैंड आत्म-रक्षाके लिये तुम पर आक्रमण किये बिना नहीं रह सकता। देखो, ये सुरङ्ग तुम्हारे समुद्रमें वे बोने लगे हैं। कहाँ रही तुम्हारी तटस्थता? यह दुनिया या तो ईश्वर की रहे या शैतान की। इसमें तीसरा कोई भी रह नहीं सकता। या तो हमारे अधीन हो जाओ, या फिर हमारे विरोधमें हो रहो।"

तमाम दुनियाका शस्त्रवाद एक मुखसे कहता है, 'Woe to the neutrals! (तटस्थोंका बुरा हाल है!) और दुनियाभरके तानाशाह इसीको प्रतिध्वनित करते हुए कहते हैं, Woe to the small nationalities that dream of an independent existence.'(जो छोटे छोटे देश आजाद रहना चाहते हैं उनकी कजा है!)

हम भी जरा अपने देशका इतिहास देखें। प्राचीनइतिहास नहीं, अंग्रेजोंके आगमनके बादका।

अंग्रेजोंको अपनी फौज सिंधमें से लेजानी थी। सिंध मीरोंका स्वतंत्र मुल्क था। अंग्रेजोंको अपनी फौज सिंधमें से लेजाने का कोई अधिकार नही था। सिंधके मीरोंने अंग्रेजोंका कोई भी नुकसान नहीं किया। उन्होंने अंग्रेजोंसे कहा, 'तुम्हारे झगड़ेमें हमें नहीं पड़ना है। हमें तटस्थ ही रहना है।' किन्तु अंग्रेजोंको अपनी फौज लेही जानी थी उन्होंने कहा कि, 'अगर तुम हमारी आक्रमणकारी नीति में मदद नहीं करते, तो तुम हमारे दुश्मन हो' अंग्रेजोंने सर चार्लस् नेपीयरको हुक्म दिया कि वह सिंधपर धावा बोलदे और उस सूबेपर हमेशाके लिये कब्जा भी करले। अगर अंग्रेज जबरदस्ती अपनी फौज लेजाते और सिंधके मीरोंसे कहते, 'माफ कीजिये, राज-नीतिमें न्याय-अन्याय हमेशा नहीं देखा जा सकता। हमने जबरदस्ती तो की; किन्तु अब हमारा काम हो चुका है। आपका सिंध हड़प करनेका हमें कोई कारण नहीं है। आप अपने देशमें अमन-चैनसे राज कर सकते हैं'—तो भी हम उनकी बात समझ सकते। लेकिन बहाना मिलते ही—बल्कि असल बात तो यह थी कि बहाना नहीं; वरन् मौका मिलते ही—सर चार्लस्, नेपीयरने सिंधपर कब्जा कर लिया। बेचारा

फौजका अफ़सर ठहरा। Theirs not to question why, Theirs not to make reply.

उसको बहुत बुरा लगा। लेकिन उसने सिंध पर कब्जा तो किया ही। जब उसे सरकारको यह लिखना था कि सिंध मेरे हाथमें आगया है, तो उसने लिपिसे लाभ उठाकर अपने दिलका दर्द भी व्यक्त किया। I have Sind लिखने की जगह उसने लिखा I have Sin'd,

कोई भी अंग्रेज, अमलदार या इतिहासकार, इस अत्याचारका समर्थन नहीं कर सका है। चन्द निर्लज्ज लेखक लिखते हैं कि हमारे अत्याचारके फलस्वरूप सिंधके लोगोंको अच्छी राज-व्यवस्था मिलगई, यही सिंध लूटनेका समर्थन है!

यूरोपका वर्तमान युद्ध अभी खतम तो नहीं हुआ है। अगर फ्रांस या इङ्गलैण्ड आक्रमणके रास्ते और सख्तीकी राजी खुशीसे बेलजियनोंसे उनका देश ले लें, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

हमें हिटलरके राक्षसी कृत्यका समर्थन बिलकुल नहीं करना है। हमें तो इतना ही कहना है कि— **'युद्धातुराणां न नयो न लज्जा'**—जो युद्धातुर होते हैं वे न धर्मको पहचानते हैं, न लोक-लज्जाका नियन्त्रण जानते हैं।

एबेसीनियासे लेकर नार्वे तकका इतिहास जो हम अपनी आंखोंके सामने बनता देख रहे हैं, उससे सिद्ध होता है कि युद्धका रास्ता इङ्गलेंण्ड फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली, अमेरिका और जापान के लिये है। बाकीके जितने राष्ट्र हैं उनके लिये फ़ौज रखना और न रखना बराबर ही है। युद्ध करके देशके बहादुर से बहादुर नवयुवकोंका युवकोंका नव दिनका बलिदान देकर गुलाम बनो, अथवा "Thank God we surrender (भगवान्‌को धन्यवाद, हम शरण गये!) कहके बिना लड़े गुलाम बन जाओ। ऐबीसीनिया, स्पेन, पोलेण्ड आदि देशोंके लोग कुछ कम बहादुर नहीं थे। नसीबवादी चीन देशके लोगोंने तो— चन्द वीरोंने ही नहीं, किन्तु सारीकी सारी जनता ने—जो वीरता बताई है, उसे भविष्यका इतिहास आश्चर्य-चकित होकर अंकित करेगा और उसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दैववादमें ईश्वर-निष्ठा से कम शक्ति नहीं है। लेकिन केवल बहादुरी से कुछ नहीं होता। धन-जनकी बहुतायत, विज्ञानका वैभव और दंभ-मिश्रित अधार्मिक वृत्ति-इतनी तैयारीके बिना दुनियामें स्वतन्त्र रहना ही अशक्य-सा हो गया है। और अगर इतनी तैयारी है तो आपस में लड़े बिना चल ही नहीं सकता।

शान्तिके दिनोंमें ये छोटे राष्ट्र आपसमें लड़ नहीं सकते, क्योंकि बड़े राष्ट्र उनका नियंत्रण करते रहते हैं; और बड़ोंका कभी सवाल ही नहीं उठता। पोलैण्ड बननेके लिये अलबत्ता लड़ सकते हैं। मगर पोलैण्डके जैसा अनुभव कोई भी राष्ट्र दो दफ़ा नहीं ले सकता।

तब छोटे राष्ट्रोंकी फ़ौज किस कामकी? फ़ौजके पीछे जो खर्च किया जाता है, वह किस कामका? "कुत्ते की ताक़त शिकारीकी मददके लिये," इसी न्यायसे जेक-प्रजा और ऑस्ट्रीयन प्रजा नॉर्वे पर आक्रमण करनेके ही काम आ-सकती है।

क्या इससे बेहतर यह नहीं है कि ऊपर बताए हुए राष्ट्रसप्तकको ही लड़नेका सारा ठेका देकर बाकीके सब-के-सब राष्ट्र अपनी अपनी फौज तोड़कर, या विसर्जन कर, अहिंसक नीतिका प्रयोग करें और अपना एक बड़ा अहिंसक संगठन करके हिंसावादको ही निर्वीय कर डालनेकी कोशिश करें?

अब देखना यह है कि इसपर अमल कैसे हो सकता है? इस हिटलर-युद्धके अन्तमें दुनियाके सामने सबसे महत्वका सवाल यही रहेगा।*

*'सर्वोदय' के वर्तमान मई मासके १०वें अंकसे उद्धृत।

भारतीय दर्शनोंमें जैन-दर्शन का स्थान

(लेखक—श्री० हरिसत्य भट्टाचार्य B.A.,B.L.)

अनुवादक—श्री रामेश्वरजी वाजपेई

[अनेकान्त वर्ष ३ किरण २ में "बंगीय विद्वानोंकी जैन साहित्यमें प्रगति" शीर्षक लेख छपा है, उसमें श्री हरिसत्य भट्टाचार्यजीका परिचय दिया गया है। उन्हींके लिखित एक निबंधका यह हिन्दी अनुवाद पाठकोंकी सेवामें उपस्थित है। मूल लेख बंगला भाषामें 'जिनवाणी' पत्रिका में प्रगट हुआ था, बादको उसका गुजराती में अनुवाद श्रीयुत् सुशील महोदयने स्वतंत्र रूपसे प्रकाशित किया था और फिर वह 'जिनवाणी' नामक ग्रन्थ में भी भट्टाचार्यजीके अन्य लेखों के गुजराती अनुवादोंके साथ प्रगट हुवा था। मुझे भट्टाचार्यजीका यह लेख बहुत पसंद आया और मेरे मित्र श्रीरामेश्वरजी वाजपेईको, जो कि जैनधर्मके परम अनुरागी हैं, अनुवाद करनेके लिये कहने पर उन्होंने काफी परिश्रम करके उसे सम्पन्न किया है। आशा है पाठकोंको भी यह जरूर पसंद आएगा। यदि मेरा यह प्रयत्न पसंद पड़ा तो भविष्यमें भट्टाचार्यजीके अन्य लेखोंका भी हिन्दी अनुवाद प्रकट करनेका प्रयत्न किया जायगा। अगरचन्द नाहटा]

अतीतके दुर्भेद्य अन्धकारमें जितने भी तथ्य मौजूद हैं उनके प्रगट करनेके पक्षमें जो भी प्रयत्न आजतक तत्व-विद्गण करते आये हैं, वे सब प्रशंसाके योग्य होते हुये भी कभी कभी जिन घटना-समूहों या सामाजिक, विषयों का काल-निरूपण अङ्कपात-द्वारा—अर्थात् ईसवी-सन्के पहलेके हैं या उसके अन्तर्गत—नहीं किया जा सकता, उन्हें निरूपण करनेके प्रसङ्गमें प्राय: देखा जाता है कि विद्वद्गण बड़े भ्रममें पड़ जाया करते हैं। वैदिक कर्मकाण्डके प्रति सबसे पहले किस समय युक्ति-चालित समालोचना अवतरित हुई थी, विद्वान् लोग प्राय: उस समयको निर्दिष्ट-रूपमें निरूपण करते हुये आपसमें वादानुवाद ही नहीं करते किन्तु लड़ तक बैठते हैं। वैदिक क्रिया-काण्ड और बहु-देववादके समीप कहीं कहीं जो जो अध्यात्मवाद और तत्व-विचार देखनेमें आता है, अनेक पण्डितोंके मतानुसार वह परवर्ती कालका प्रक्षेप-मात्र है; किन्तु तत्व-विचार क्रिया-काण्डके साथ एकत्र नहीं रह सकता, तत्व-विचार किस निर्दिष्ट निरूपण-योग्य समयमें अथवा किस शुभ मुहूर्तमें सहसा उठ खड़ा हुआ है, ऐसी बातोंके सोचनेका कोई भी हेतु नहीं है। जैन-धर्म पहलेका है या बौद्ध धर्म, इस विषयमें बड़ा झगड़ा या वाद-विसम्वाद चल रहा है। किसी किसी पण्डितके मतसे जैन धर्मकी उत्पत्ति बौद्ध-धर्मसे है, पक्षान्तरमें किसी किसीके मतसे जैन धर्म बौद्ध धर्मसे भी प्राचीन है। इन वाद-विसम्वादोंके मध्य जो सत्यान्वेषणकी स्पृहा वर्तमान है वह अवश्य ही सम्मानके योग्य है। नि:सन्देह जहाँतक अनुमान है, इन सब तर्कोंका अधिक अंश बहुधा रुचिकर होते हुये भी केवल मूल्यहीन ही नहीं किन्तु किसी भी देशके तत्व-

चिन्ता-विकाशके क्रमके विषयमें उत्पन्न हुई भ्रान्त-धारणाके ऊपर अवलम्बित जान पड़ता है।

कारण, विचार-वृत्ति, जब मनुष्य-प्रकृतिका एक विशिष्ट लक्षण माना जाचुका है, तब यह निम्सन्देह कहा जा सकता है कि, मनुष्य समाज में चिरकालसे कुछ न कुछ अध्यात्मचिन्ता या तत्वविचार होता ही चला आरहा है। यहाँतक कि जिस समय समाज अर्थहीन क्रियाकाण्डके जालमें फँसा हुआ जान पड़ता है उस अवस्थामें भी कुछ न कुछ अध्यात्म चर्चा बनी ही रहती है। वस्तुतः क्रियाकाण्डके सम्बन्ध ही में यह कहा जा सकता है कि क्रियाकाण्ड भी सामाजिक शैशवकी सोई हुई मूढ़ताके ऊपर एक प्रकारकी आध्यात्मिकताकी अवतारणा है। सम्यक्रूपमें परिस्फुट न होने पर भी समाजकी प्रत्येक अवस्थामें ही एक विचार-वृत्ति प्रचलित नीति-पद्धतिको अतिक्रम करनेकी तथा ऊँचेसे ऊँचे आदर्शकी ओर आगे बढ़नेकी स्पृहारूपमें सदा बनी ही रहती है। इसीलिये दर्शनोंका जन्मकाल-निरूपण प्रायः असाध्य होजाता है। जो लोग भिन्न भिन्न दर्शनोंके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं, उनलोगोंके पहले भी वे ही दर्शन-मत बीजरूपमें विद्यमान थे, यह कहनेमें अत्युक्ति न होगी। बौद्धमत बुद्धके द्वारा एवं जैनमत महावीरसे पैदा हुआ है, यह भी एक प्रकारकी भ्रान्त धारण है। इन दोनों महापुरुषोंके जन्मग्रहणके बहुत पहलेसे बौद्ध तथा जैनशासनके मूलतत्त्व-समूह सूत्ररूपमें प्रचलित थे, उन तत्व-समूहोंको विस्तृतरूपमें प्रगट करके उनकी मधुरता तथा गम्भीरताको सर्व साधारण जनताके समक्ष प्रचार करना अवश्य ही गौरवमय व्रत था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हमारी समझमें इसके अतिरिक्त उनलोगों ने तो कुछ भी नहीं किया। मूलतत्त्वकी दृष्टिसे बौद्ध और जैनमत बुद्ध और वर्द्धमानके जन्मकालके बहुत पहलेसे ही वर्तमान था, अतः उपनिषद्की तरहसे दोनों ही मत प्राचीन कहे जासकते हैं।

बौद्ध और जैन मतको उपनिषद्के समकालीन होनेका कोई निदर्शन नहीं मिल रहा, इसी कारणसे इन दोनों मतोंको उपनिषद्की तरह प्राचीन नहीं कहा जा सकता, ऐसी युक्तियाँ कदापि समीचीन नहीं हो सकतीं। स्पष्टतया उपनिषदें वेदोंके प्रतिकूल नहीं थीं, इसीलिये उनकी शिष्यमण्डलीकी संख्या सबसे अधिक थी। पहले पहल अवैदिक मतसमूह किंचित् रूपमें सन्देहपूर्ण थे, इसीलिये उन्हें आत्मप्रकाशके लिये बहुत दिनों तक प्रतीक्षा भी करनी पड़ी; किन्तु अध्यात्मवादके रूपमें वे उपनिषदके समयमें मौजूद थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। चिन्ताशील महापुरुषोंने तत्वचर्चा-प्रसङ्गमें केवल उपनिषदोंके बताये हुए मार्ग ही को एकमात्र मार्ग नहीं समझा जबकि चिन्ता गति वे रोक थी और तत्वलोचनाके फलस्वरूप अवैदिक मार्ग भी आविष्कृत हो चुके थे। ऐसी दशामें अन्यान्य मतवादोंकी अपेक्षा उपनिषद् मतवाद भी कुछ ऐमा सहजबोध्य नहीं था कि यह अनुमान किया जा सके कि सबसे पहले यही आविष्कृत हुआ था।

वैदिक या अवैदिक मतवादोंने यदि एक ही समयमें पैदा होकर क्रमशः उत्कर्ष लाभ किया हो

तो उनके अन्दर बहुत से तत्व समान भी रह गये होंगे, ऐसा अनुमान असङ्गत नहीं हो सकता। अतएव भारतीय किसी भी विशिष्ट दर्शनके अध्ययन करनेके समय भारतवर्षके अन्यान्य प्रसिद्ध दर्शनोंकी तुलनाकी भी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

बङ्ग देशमें जैन-दर्शनकी अधिक चर्चा या जैसा चाहिये वैसा उसका आदर न होने परभी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतवर्षके यावतीय दार्शनिक मतवादोंमें इसका एक गौरवमय स्थान अवश्य रहा है, और आज भी है। तत्वविद्याके यावतीय अङ्ग इसमें विद्यमान होनेके कारण जैन दर्शनको एक **सम्पूर्ण दर्शन** मान लेनेमें कोई मत-भेद नहीं होना चाहिये। वेदोंमें तर्कविद्याका उपदेश नहीं है, वैशेषिक कर्माकर्म या धर्माधर्मकी शिक्षा नहीं देता; किन्तु जैन-दर्शनमें न्याय, तत्व-विचार, धर्मविचार, धर्मनीति, परमात्मतत्व आदि सभी बातें विशदरूपमें विद्यमान हैं। जैनदर्शन प्राचीनकालके तत्वानुशीलनका सचमुच एक अनमोल फल है, क्योंकि जैन दर्शनको यदि छोड़ दिया जाय तो सारे भारतीय दर्शनोंकी आलोचना अधूरी रह जायगी, यह अकाट्य सत्य है।

किस ढङ्गसे जैन दर्शनकी आलोचना करनी चाहिये, ऊपर बताया जा चुका है। हम लोगोंकी आलोचना तुलनामूलक हुआ करती है और ऐसी आलोचनायें निम्सन्देह एक कठिन विषय है, सुतरां इस प्रकारकी आलोचनाओंके लिये जबतक प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंके सम्बन्धमें पूरी अभिज्ञता या जानकारी न हो सफलता प्रायः असम्भव है। किन्तु हम तो इस प्रबन्धमें मूलतत्वके विषय में ही दो चार बातें बतानी हैं। जैनमतके निर्देशके लिए उसके साथ अन्यान्य मतवादोंकी तुलना नीचे लिखे गये ढङ्ग से ही की जा सकती है। वस्तुतः जैमिनीय दर्शनको छोड़कर भारतवर्षके प्रायः सभी दर्शन खुले या छिपे रूपमें वेदोक्त क्रियाकलापके अन्धविश्वासके प्रति विद्वेषभावापन्न देखे जाते हैं। सच पूछिये तो संसारमें प्रायः सर्वत्र अन्धविश्वासके प्रति युक्तिवादके अविराम संग्राम ही को दर्शनके नामकी आख्या दी जा सकती है। वर्तमान प्रबन्धमें हमें भारतीय दर्शन-समूहोंको जो इसी दृष्टिकोणसे उनके प्रत्येक प्रधानतत्वोंकी आलोचना करना है। स्मरण रहे भारतीय दर्शन-समूहोंका जो क्रम-विकास इस प्रबन्धमें दिखलाया जायगा वह मात्र युक्तिगत Logical है, कालगत Choronological नहीं।

अनन्तकल्प, अर्थहीन वैदिक क्रियाकाण्डोंका पूर्ण प्रतिवाद उपस्थित चार्वाक् सूत्रों ही में प्रायः देखा जाता है। प्रत्येक समाजमें प्रतिवाद करनेवाला एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय सदासे चला आ रहा है, तदनुसार प्राचीन वैदिकसमाजमें भी एक ऐसा सम्प्रदाय अवश्य था। वैदिक क्रियाकाण्डों पर भाषामें आक्रमण करना किसी समयमें भी कठिन बात न थी। असल बात तो यह है कि कोई भी विचारशील या तत्वका जाननेवाला मनुष्य बहुत दिनों तक ऐसे कर्मकाण्डोंमें सन्तुष्ट नहीं रह सकता। ऐसी दशा में प्रतिवाद करनेका उच्छ्वास सारे यज्ञसम्बन्धीय विधि-विधानोंके लिये यदि एक निन्दाकर कारण बन जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है। यही चार्वाकदर्शन है, वैदिक कर्मकाण्डोंका अविराम

प्रतिवाद, चार्वाक-दर्शनको प्रतिवादका दर्शन कहना चाहिये। ग्रीक देशके सोफिष्ट सम्प्रदायकी तरह चार्वाक-दर्शन भी इस विराट् विश्व-ब्रह्माण्डके विषयमें कभी कोई मतामत नहीं प्रगट करता, तोड़ना, दोष, मढ़ देना और न मानना यही तो चार्वाकदर्शनका सिद्धान्त है। प्रशंसा करना तो दूर, किसी भी वस्तुको गाड़देना ही चार्वाकोंका एकमात्र कार्य था। वेद परलोकको मानता था, चार्वाक उसे अस्वीकार करता था। कठोपनिषद्की द्वितीय वल्लीके छठे श्लोकमें इस प्रकारके नास्तिकवादका परिचय भी मिलता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं-
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

उक्त श्लोकमें परलोकके प्रति विश्वासहीन मनुष्यके विषयमें ही ऐसा कहा गया है। कठोपनिषदकी छठी वल्लीके द्वादश श्लोकमें इस प्रकार नास्तिकवादके दोष दिखलाये गये हैं।

"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते"

कठोपनिषद्की प्रथम वल्लीके बीसवें श्लोकमें भी परलोक अविश्वासी व्यक्तियोंकी ही भर्त्सना है-

"येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्योस्तीऽत्यके
नायमस्तीति चेके"

वेद यज्ञसम्बन्धीय कर्मकाण्डोंका उपदेश देता है, किन्तु आस्तिकगण उन यज्ञ कर्मोंकी निःसारता बतलाते हैं, और न केवल उनका खण्डन ही करते थे किन्तु उन विधानोंको जनताके समक्ष हास्यास्पद बनानेमें भी किंचित्मात्र कुण्ठित नहीं होते थे। जिन उपनिषदोंको वेदोंका अंश माना जाता है, उन्हीं उपनिषदों में भी यत्र-तत्र कर्मकाण्डोंके दोष बतालाये गये हैं। बहुत से उदाहरणोंमें से नीचेका एक यह भी है:—

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशो-
क्तमवरं येषु कर्म ऐतत् श्रेयो येऽभिनन्दति
मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।

मुंडक १।२।७

तात्पर्य यह है—

यज्ञसमूह और उसके अष्टादश अङ्ग व कर्म सभी अदृढ़ और नाशवान हैं। जो मूढ़ उन्हें श्रेय मानकर पालन करते हैं वे पुनः पुनः जरा-मृत्युको प्राप्त होते हैं।

किन्तु उपनिषद और चार्वाक मतमें जो प्रभेद है वह यह है—उपनिषदोंमें एक ऊंचेसे ऊंचे और महानसे महान् सत्यका मार्ग दिखलानेके लिये कर्मकाण्डकी समालोचना की गई है, पर नास्तिक और चार्वाक केवल दोषान्वेषण और उन्हें बुरे बतलानेके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करते थे। चार्वाक दर्शन विधिहीन निषेधवाद तथा वैदिक विधि-विधानोंकी निन्दा करना ही अपना एकमात्र उद्देश्य समझता था। हाँ, यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि युक्तिवादकी उत्पत्ति चार्वाक दर्शनसे ही हुई थी और भारतवर्षके अन्यान्य दर्शनो द्वारा इस युक्तिवादकी पुष्टि होती चली गई।

नास्तिक चार्वाक मतकी तरह जैनदर्शनमें भी वैदिक कर्मकाण्ड की असारता बतलाई गई है, जैनदर्शनने खुलमखुल्ला वेदके शासनको न मानते हुए नास्तिकोंकी तरह यज्ञादिकी निंदा भी अवश्य की है, जहांतक अनुमान होता है, चार्वाक मतके

साथ इसीसे उसकी ममता भी की जाती है। किन्तु विचारपूर्वक यदि देखा जाय तो यह कहना ही पड़ेगा कि जैनदर्शन चार्वाक मतकी तरह निषेधमय नहीं है, वरन एक सम्पूर्ण दार्शनिक मतकी सृष्टि करना ही इस जैन दर्शनका एकमात्र मुख्य उद्देश्य था। सबसे पहिले ध्यान देनेकी बात तो यह है कि चार्वाकमतकी घृणाके योग्य इन्द्रिय-सुख परमार्थताको जैनदर्शन बड़ी अवज्ञा के साथ त्याग करता है। निःसार वैदिक क्रिया-कलापोंकी आवश्यकताओंको स्वीकार न करना चार्वाक मतके लिये चाहे असङ्गत न हो, पर उन लोगोंने कभी विषयकी गम्भीरता पर ध्यान नहीं दिया और मनुष्य प्रवृत्तिके 'प्रायः उसी अंशकी ओर खिंचे रहे जोकि पशुभाव पूर्ण है। उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि वैदिक क्रियाकाण्डके द्वारा लालसा दमन होती थी और बेरोक इन्द्रिय चरितार्थके मार्गमें काँटोंकी सृष्टि होती थी, इसीलिये वे उसे स्वीकार नहीं करते थे यदि उस क्रियाका प्रतिवाद करना ही मुख्य उद्देश्य है तो प्रतिवादका ढंग और ही किसी रूपमें होना उचित है, निःसार क्रियाकलापके अन्ध-अनुष्ठान से मनुष्यकी विचार बुद्धि तथा तर्क वृत्तिका मार्ग बंद हो जाता है, केवल इसी खयालसे प्रतिवाद उचित समझा जाना चाहिये। पर बात तो यह है कि इन्द्रियपरायण मनुष्य इस बातको नहीं समझने, केवल इसीलिये बौद्धमतके अनुसार अध्यात्मवादी जैनदर्शन चार्वाक मतको कोई स्थान नहीं देना चाहता।

चार्वाक मतके बाद ही प्रसिद्ध बौद्ध-दर्शनके साथ जैन-दर्शनकी तुलना की जा सकती है। नास्तिक मतकी तरह बौद्ध-दर्शन भी अन्ध वैदिक क्रिया-कलापका विरोध करता है, किन्तु बौद्धोंका दोषारोप तर्क और युक्तिसे रहित नहीं कहा जा सकता। बौद्धमतके अनुसार जीवनका दुःखमय अस्तित्व एकमात्र कर्मनिमित्तिक है, जो कुछ किया गया है और किया जारहा है उसीके द्वारा ही हमारी अवस्थाका निरूपण हुआ करता है। असार और अवस्तुका भोगविलास ही असावधान जीवगणोंके हृदयमें मोह पैदा करता है, और उसी भोग-लालसाके पीछे पीछे दौड़ते रहनेके कारण हम लोग जन्म-जन्मान्तर तक इस जन्ममरणरूपी संसारचक्रसे कभी छुटकारा पानेमें समर्थ नहीं होते। इस अविराम दुःख और क्लेशसे छुटकारा पानेके लिये कर्मबन्धनको अवश्य तोड़ना चाहिये। यदि कर्मके अधिकारको अतिक्रम करना है, तो कुकर्मोंको छोड़कर सुकर्मोंका अनुष्ठान, लालसाको त्याग करते हुए सन्न्यासका अभ्यास, हिंसाके बदलेमें अहिंसाके आचरणोंको अपनाना ही होगा।

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानसे मात्र बहुतसे प्राणियोंका, जो कि निरपराध हैं, जीवन नाश ही नहीं होता, वरन् उन कर्मोंके अनुष्ठान करनेवालोंके अच्छे किये हुये कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गादि भोगमय स्थानमें भी अवश्य जाना पड़ता है, अतः वदिक क्रियाकलाप इसी प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें जीवोंके दुःखपूर्ण जन्ममरणका एकमात्र कारण बन जाता है। इसीलिये बौद्धमतके अनुसार वैदिक कर्मकाण्डको त्याज्य माना गया है, और यही मूलसूत्र है। कर्मकाण्डके राज्यको यदि अतिक्रम करना है तो हिंसाका त्याग अवश्य

करना ही पड़ेगा। वैदिककर्मकाण्ड हिंसा-कलुषित होनेके कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें निर्वाणके मार्गमें रोड़े अटकाने वाला है, इसीलिये वैदिक विधि-विधानोंका त्याग परमावश्यकीय हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है, कि वेदके शासनको न माननेके प्रसङ्गमें चार्वाक दर्शनसे मिलते-जुलते हुये, बौद्धदर्शनने चार्वाकोंकी इन्द्रिय परायणताके प्रति दृढ़ताके साथ आक्रमण किया है। वैदिक कर्मकाण्डको त्याग करते हुये कहीं लालसाके शिकार न बन जायँ इसके लिये बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है, इसीसे कठिन सयम और सन्न्यासके द्वारा कर्मोंकी जंजीरको तोड़ डालना ही बौद्ध-दर्शनका मूल्यवान उपदेश है।

कर्मके बन्धनोंके कारण ही जीव संसारमें दुःख और क्लेशको भोगते हैं, जैन दर्शन भी इस बातको मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है। स्मरण रहे बौद्धमतके अनुसार जैन-दर्शन भी एक ओर जैसे वेदके विधानोंको नहीं मानता वैसे ही दूसरी ओर वह चार्वाककी इन्द्रियपरायणताकी भी हृदय से घृणा ही किया करता है। अहिंसा और विरति अनुष्ठानके योग्य हैं, इस बातको जैन और बौद्ध, दोनों ही समस्वरसे स्वीकार करते हैं, पर जैन मतके अनुसार अहिंसा और विरतिका अनुष्ठान विशेष-रूपसे तीव्रभाव वाला अनुमान किया जाता है। कुछ भी हो, जैन-दर्शन और बौद्ध दर्शन में बहुत कुछ समता होते हुए भी इन दोनोंमें बड़ा अन्तर मौजूद हैं। बौद्ध-दर्शनकी नींव उतनी दृढ़ नहीं जितनी कि जैन-दर्शनकी है।

जाँचकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह स्पष्टरूपमें प्रगट हो जायगा कि बौद्धमतकी इस सुहावनी नीतिके ऊँचे महलकी नींव कितनी दुर्बल है। वेदके शासनको न माननेका उपदेश ग्रहण योग्य हो सकता है, अहिंसा या सन्न्यासका अनुष्ठान चित्तग्राही माना जा सकता है, कर्मबन्धनों के तोड़नेका आदेश सारगर्भित स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु यदि बौद्ध दर्शनसे यह पूछा जाय कि हम क्या हैं, हमारा उद्देश्य और परमपद क्या है ? तो जो उत्तर कि बौद्ध-दर्शनकी ओर से हमें मिलेगा वह कदाचित बड़ा ही डरावना और रोंगटे खड़े कर देने वाला होगा। यदि यह उत्तर दिया जाता है, कि हम कुछ भी नहीं, ऐसी दशामें यह प्रश्न उठ खड़ा होता है तो क्या हम केवल अन्धकार ही में भटक रहे हैं ? सारहीन महाशून्यता ही क्या जीवोंका चरमस्थान है ? और क्या उसी भाँति पैदा करनेवाले महानिर्वाण और अनन्त कालकी महानिस्तब्धताको बुलानेके लिये ही यह जीव कठोर सन्न्यास व्रत ग्रहण करते हुए जीवनके छोटे से छोटे (?) सुख तकको त्याग कर देगा ?

यह जीवन असार है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह नहीं चाहिये, बौद्धदर्शनके इस निरात्मवादसे साधारण मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते, यह तो निश्चितरूपमें मानना ही पड़ेगा। किसी समय बौद्धदर्शनका प्रचार बहुत बड़े रूपमें हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु वह उसकी निरात्मवादिताके कारण नहीं प्रसिद्ध "मध्य-पथ" अर्थात् बुद्धके बताये हुए मध्यमार्गकी सहज

तपस्याके आकर्षणने ही जैनों तकको बौद्धमत ग्रहण करनेमें प्रवृत्त किया था। मैं हूँ यह सभी अनुभव करते हैं, कौन इस बातको नहीं समझता कि मैं केवल निःसार छाया नहीं हूँ और सत्य हूँ।

आत्मा अनादि अनंत है यह तो उपनिषदोंकी हर एक पंक्ति में बड़े ही चमकने वाले रूपमें अङ्कित है। वेदान्त-दर्शन भी इस तत्वकी दिगन्त मुखरित करनेवाली आवाजसे जोरोंके साथ प्रचार कर रहा है। आत्मा है आत्मा सत्य है, वह सृष्ट पदार्थ नहीं किन्तु अनन्त है, आत्मा जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करता चला आरहा है, सुख और दुःखका भोक्ता है, ऐसा अवश्य प्रतीयमान होता है; किन्तु यह सत्ता है, असीम ज्ञान और आनन्दके सम्बन्ध में भी उसे असीम और अनन्त ही समझना होगा। वेदान्तका यही मूल प्रतिपाद्य विषय है। आत्माकी असीमता और अनन्तत्वको जैन-दर्शन भी स्वीकार करता है, इसीलिये यहाँ जैन-दर्शन और वेदान्त-दर्शनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं पाया जाता।

बौद्ध-दर्शनके निरात्मवादके प्रति आक्रमण और आत्माकी अनन्त सत्ताको स्वीकार करनेके कारण ही जैनमत और वेदान्तमत में कोई भेद नहीं जान पड़ता, फिर भी ये दोनों एक नहीं है। वेदान्तिक जीवात्माकी सत्ताको केवल स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि दर्शन जगतमें वे और भी कुछ आगे बढ़कर निर्भीकरूपमें जीवात्मा और परमात्मा का अभेद प्रचार किया करते हैं। वेदान्तमतके अनुसार यह चिदचिन्मय विश्व उसी एक और अद्वितीय सत्ताका विकासमात्र है। "मैं," "वह" और विश्व का उपादान "वह," मैं उससे भिन्न नहीं, कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, यह दिखलाई पड़ने वाला अनन्त जगत यद्यपि मुझसे अलग सा जान पड़ रहा है, वह भी उससे अलग स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं, एक अद्वितीय सत्ता—वह तुम हम चिदाचिद भाव उस 'सत्यस्य सत्यम्' से सम्पूर्ण रूपसे अपृथक् ही हैं।

वेदान्तका 'एकमेवाऽद्वितीय' वाला सिद्धान्त निस्सन्देह बहुत गम्भीर और महान है, किन्तु साधारण मनुष्यके लिये इतने ऊंचे भावका ग्रहण एक कठिन विषय होजाता है। जीवात्मा एक सत्ता है, साधारण मनुष्य यह तो अवश्य अनुभव करते हैं; किन्तु एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमें कोई भेद नहीं, मन, जड़ पदार्थ और अन्यान्य देख पड़नेवाली सभी वस्तुओंमें कोई भेद नहीं, इस बातको वे स्वीकार नहीं करना चाहते।

यदि कोई ज्ञानी पुरुष ऐसा सिद्धान्त करना चाहे कि वह दूसरे मनुष्यसे या अन्यान्य अचेतन और चेतन भावोंसे भी स्वतन्त्र है और यह संसार चिदचित् अगणितभावोंसे परिपूर्ण है, तो उसके इस सिद्धान्तको युक्तिहीन नहीं कहा जा सकता, हम भी यही कहना चाहते हैं कि ऐसे सिद्धान्त कदापि युक्तिहीन नहीं होसकते, बल्कि संसारके अधिकांश मनुष्य इस प्रकारके अनुभवगम्य सुयोग्य सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया करते हैं, इसीलिये प्रायः वेदान्तमतको बहुतसे लोग ग्रहण नहीं करना चाहते।

कपिलके प्रसिद्ध सांख्यदर्शनके मतवादका भी विचार यहाँ करना आवश्यक है। वेदान्तकी तरह

सांख्य भी आत्माके अनादित्व और अनन्तत्वको अवश्य स्वीकार करता है, किन्तु सांख्य आत्माके एकत्वको नहीं मानता। सांख्य और वेदान्तमें और भी एक पार्थक्य है, सांख्यमतके अनुसार पुरुष या आत्माके साथ मिले हुये रूपमें क्रिया करने वाली अचेतना प्रकृतिके नामकी एक विश्व-रचना करनेवाली शक्ति विद्यमान रहती है। इस प्रकारसे आत्माके अनादित्व अनन्तत्व और और असीमत्वको सांख्य मानता है और उस मतके अनुसार आत्मा अनेक है। कपिलके मतानुसार पुरुषसे स्वतन्त्र और पृथक एक अचेतन प्रकृति है, पुरुषसे पृथक होते हुए भी वह थोड़ी देरके लिये पुरुषसे मिली हुई जान पड़ती है, इस विजातीय प्रकृतिके अधिकारसे आत्माको पृथक रूपमें अनुभव करनेका नाम ही मोक्ष है।

जैन-दर्शन भी आत्माके अनन्तत्व और अनादित्वको मानता है। कपिल-दर्शनकी तरह जैन दर्शन भी स्वभावतः स्वतन्त्र आत्माको बन्धन में लाने वाले एक विजातीय पदार्थका होना स्वीकार करता है। सांख्य मतके अनुसार जैन मतमें भी आत्माको अनेक कहा गया है, सांख्य और जैन इन दोनो ही दर्शनोंके मतानुसार विजातीय पदार्थके सम्बन्धसे आत्माको पृथक् करनेका नाम ही मोक्ष है।

अब यहाँ देखना है कि, प्रत्येक मनुष्य अपने सामने अपने आप ऊँचेसे ऊँचा और बड़ेसे बड़ा एक आदर्श रखना चाहता है। भक्तोंका विश्वास है एक ऐसा पुरुष ईश्वर, प्रभु या परमात्मा है, जो कि पूर्णताका अनन्त आधार है। महान् पवित्र आदर्श और पूर्ण ज्ञानवीर्य-आनन्दके आधार एक पुरुष प्रधानके होनेका विश्वास मनुष्यकी प्रकृति-सिद्ध बात है, गहरी दैवसत्तामें विश्वास ही का नाम यदि धर्म है तो धर्मके प्रति विश्वास या धार्मिक होना ही मनुष्यकी प्रकृतिगत बात हुई। ऐसा भी कहा जा सकता है कि ज्ञान, वीर्य, पवित्रता आदि सभी बातोंमें हमलोग क्षुद्र, ससीम और बँधे हुए हैं, ऐसी दशामें जिन सब बातोंमें हम अधिकार पाना चाहते हैं वे सभी बातें जिसमें उज्ज्वल या पूर्णरूपसे विद्यमान हों, ऐसे शुद्ध और पवित्र प्रभु या परमात्माके प्रति यदि हम स्वभावतः विश्वास रखते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है।

टीकाकारोंकी व्याख्याको यदि छोड़ भी दिया जाय तो स्पष्टरूपमें समझमें आजायगा कि सांख्य दर्शनमें ऐसे शुद्ध और पूर्ण परमात्माका कोई स्थान नहीं है, ऐसे शुद्ध परमात्माके होनेमें विश्वास करनेकी जो जीवोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है भारतीय-दर्शनोंमें उसी आकांक्षाको पूरी करने की पूरी पूरी चेष्टा की गई है।

सांख्यकी तरह योगदर्शन भी आत्माकी सत्ता और अनेकत्वको स्वीकार करता है, किन्तु योगदर्शन थोड़ा सा और भी आगे बढ़कर जीवात्माओंका अधीश्वर अनन्त आदर्शरूपी एक परमात्माको बतलाया है। यही योगदर्शन और जैन दर्शनमें समता पाई जाती है। योगदर्शनकी तरह जैनमत भी परमात्मरूपी प्रभुके अस्तित्व में विश्वास करता है, वह अर्हत पद वाच्य है। अर्हतरूपी ईश्वर जगतका सृष्टिकर्ता नहीं है, वह

पूर्णताका अनन्त आदर्श शुद्ध और पवित्र परमात्मा हैं, उसी अनन्त पवित्र और पूर्ण परमात्माके बद्धजीव एकाग्र चित्तसे ध्यान करे । परमात्माके सम्मुख होनेमें ही जीवोंकी उन्नति होती है, परमात्माकी भावनासे हृदयमें निर्मल ज्ञान और बंधे हुए जीव एक नवीन प्राण और नये तेजको प्राप्त होते हैं । जैन और पातञ्जल उभय दर्शन इसी सिद्धान्तको मानने वाले हैं ।

अब यहाँ कणादके बताये हुए वैशेषिकदर्शन की बात आती है । वैशेषिकदर्शनका स्थान यों दिखलाया जा सकता है—आत्मा या पुरुषसे जो कुछ भी अलग है, वही सर्वग्रासी प्रकृतिके अन्तर्गत है, यही सांख्य और योगदर्शनका सूक्ष्म अभिप्राय है । उनके मतानुसार सत् पदार्थमात्र विश्वप्रधानके बीजरूपमें वर्तमान थे, इसीलिये कपिल और पतञ्जलने आकाश, काल और परमाणुके तत्वनिर्णयमें विशेष ध्यान नहीं दिया । उनके कथनानुसार यह सब प्रकृतिका विकृतरूप है, किन्तु ऐसी धारणा कोई सहज बात नहीं है । साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें दिक, काल, परमाणु सभी अनादि हैं और स्वतन्त्र सत् पदार्थ हैं । जर्मनदार्शनिक काण्टेका कहना है कि दिक् और काल मनके संस्कारमात्र हैं, किन्तु जहाँतक अनुमान है, इस मतकी उन्होंने आद्योपान्त रक्षा नहीं कर पाई । मनसे दिक्-कालकी सत्ता पृथक् है । जहाँ तहाँ काण्टने भी यही बात कही है । साथ ही डिमोक्रिटाससे लेकर आजकलके वैज्ञानिक तक भी परमाणुओंके अनादित्व और अनन्तत्वको स्वीकार करते आये हैं । किन्तु कपिल और पतञ्जलने दिक्, काल और परमाणुओंका अनादि और अनन्त होना नहीं स्वीकार किया । दिक्, काल और परमाणुओंकी प्रकृति और लक्षण अलग अलग होते हुए भी वे सभी उसी एक अद्वीतीय विश्वप्रधानके विकार हैं, यह धारणा अनुभवगम्य न होते हुये भी सांख्य और योगमतके अनुसार तत्वके रूपमें मानी गई है ।

वैशेषिकदर्शनमें भी परमाणु दिक् और कालका अनादि और अनन्तत्व स्वीकार किया गया है ।

प्रत्यक्षवादी चार्वाक मतके अनुसार कदाचित दिक् कालादिका स्वभाव निर्णय अनावश्यक समझ कर उसके प्रति उपेक्षाकी दृष्टि की गई है । दिक् , कालादि हम लोगोंकी दृष्टिमें सत्य प्रतीत होते हुए भी, शून्यवादी बौद्ध उसे अवस्तुके आख्या ही देते आ रहे हैं । वेदान्तका सिद्धान्त भी प्रायः इसी प्रकारका है । सांख्य और योगके मतानुसार दिक् , काल ये अज्ञेय प्रकृतिके अन्दर ही छिपे हुए, माने जाते हैं । केवलमात्र कणाद के मतमें ही दिक् काल और परमाणु-समूहोंका नित्यत्व, सत्ता और स्वतन्त्रता स्वीकृत हुई है । जैनदर्शनमें भी, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वैशेषिकदर्शनमें, उन सबोंके अनादि और अनन्तत्वको स्वीकार किया गया है । सुयुक्तिवादके ये उपादेय फलसमूह भारतीय-दर्शनोंके अङ्गीभूत विषय हैं ।

न्यायदर्शनमें प्रायः युक्तियोंके प्रयोगसे ही काम लिया गया है । तर्कविद्याकी जटिल नियमावलि इसी दर्शनके अन्तर्गत है । हेतुज्ञानादि विषय गौतमदर्शनमें विस्तृत रूपसे विशेष रूपसे वर्णन किये गये हैं । संसारके दार्शनिक तत्वसमूहों का समृद्ध-भण्डार जैन दर्शन ही है । तर्क तत्वादि भी इसी दर्शन में विशेषरूपसे

आलोचित हुए हैं। अत: इस विषयमें जैन और न्यायदर्शनमें बहुत कुछ समता पाई जाती है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि न्यायदर्शनके अध्ययन करलेने पर जैनदर्शनके अध्ययनकी आवश्यकता ही नहीं, तो यह एक बहुत बड़ी भूल की बात होगी। कारण, ये दोनों दर्शन बहुत अंशोंमें मिलते-जुलते हुए भी एक दूसरेसे सम्पूर्णतया पृथक पृथक हैं। स्याद्वाद और सप्तभंगीनय नामक प्रसिद्ध युक्तिवाद गौतमदर्शनमें नहीं है, वह जैनदर्शनका ही गौरव है, इस बातको मानना ही पड़ेगा।

भारतीय दर्शन समूहों में जैन दर्शनका क्या स्थान है। यह उपर्युक्त वर्णनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। बहुतोंका मत है कि जैनमत बौद्धमतके अन्तर्गत है। लासेन और वेबर ने जैन धर्मकी सत्ताको स्वतन्त्ररूप से स्वीकार नहीं किया। यहाँ तक कि ईसवी सन्के सप्तम शताब्दीके व्यक्ति हुएनसङ्गने भी जैनधर्मको बौद्ध धर्मकी एक शाखा मात्र ही माना है। बीलर और जैकोबीके मतानुसार जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है. और बौद्ध धर्मके पहले भी यह मत वर्तमान था ऐसा स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है। कुछ भी हो हम लोग इस पुराने तत्वके विषय में किसी प्रकारका विवाद नहीं करना चाहते, यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि हम लोगोंका यह दृढ़ विश्वास है कि बौद्ध तथा जैन धर्म उनके उस समयके प्रवर्तकगणोंके बहुत पहले ही से वर्तमान थे। बौद्धमत बुद्धदेवसे उत्पन्न नहीं, उसी प्रकार जैनमत भी वर्द्धमानके द्वारा ही नहीं उत्पन्न हुआ। प्रतिवादोंके कारण जिस प्रकार उपनिषदोंकी उत्पत्ति मानी जाती है, ठीक उसी प्रकार वेदशासन और कर्मकाण्डोंके विरुद्ध जैन तथा बौद्धदर्शनकी उत्पत्ति मानना चाहिये। हुएनसङ्गने जिन कारणोंसे जैनधर्मको बौद्ध धर्मके अन्तर्गत माना है, वे यहाँ स्पष्टरूप से प्रगट हो रहे हैं। वे जिस समय यहाँ आये थे उस समय भारतवर्षमें बौद्धधर्म प्रबल हो रहा था। हम लोगोंने पहले भी कहा है कि अहिंसा और त्याग ये दोनों बौद्ध धर्मके मुख्य उपदेश हैं, वैदिक क्रिया कलापोंके विरुद्ध बौद्धोंका जो युद्ध हो रहा था, उसमें आत्मरक्षा तथा आक्रमणके लिये अहिंसा और त्याग ये ही दो प्रधान अस्त्र थे। और अवैदिक सम्प्रदायमात्र अहिंसा और त्यागके पक्षपात में थे। वैदिक यज्ञादि हिंसालिप्त एवं परलोकके नाशशील सुख प्राप्तिके लिये ही अनुष्ठित हुआ करते थे। जैन धर्मको भी वेदका शासन अमान्य था। जहाँतक अनुमान है, त्याग और अहिंसाको जैन समाजमें इसीलिये इतना ऊँचा स्थान दिया गया है। कदाचित इसी दृष्टिसे बाहरी रूपमें जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म एकसे प्रतीत होते थे, क्योंकि दोनों ही वेदविधिको न माननेवाले तथा सन्न्यास और अहिंसाके पक्षपाती थे। ऐसी दशामें बाहरीरूपको देखकर यदि कोई विदेशी पर्यटक इन दोनों धर्मोंको एकही वस्तु समझले तो इस विषयमें कोई आश्चर्यकी बात न होगी। पर इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ये दोनों धर्म तत्वत: एकही हैं। इन दोनों धर्मोंके आचार-समूह प्राय: एकसे होते हुये भी तत्वत: वे एक दूसरे से पूर्ण भिन्न हो सकते हैं। दृष्टान्तके रूपमें कहा जा सकता है

कि संसारके क्षणिक सुख-शान्तिको त्याग करते हुये कठोर संयममय शुद्ध जीवन व्यतीत करनेके फलस्वरूप मोक्ष लाभ होता है, भारतीय प्रत्येक दर्शनकी यही राय है, इसमें सन्देह नहीं, पर प्रत्येक दर्शन एक दूसरेसे तत्वतः भिन्न ही है। जैसे कि उत्तर तथा दक्षिण मेरुमंडल परस्पर विभिन्न हैं उसी तरह ग्रीक देशीय सिमिक सम्प्रदायके मूलसूत्र साईरेनके सम्प्रदायके मूलसूत्रोंसे पृथक् थे। फिर भी कोई दिन ऐसा था जबकि दोनों सम्प्रदाय वालोंने सर्वत्यागको ही अपनी अपनी आदर्श नीति मान रक्खा था। ऐसी दशामें आचारोंकी विभिन्नताको लक्ष्यमें रखते हुये, जैन और बौद्ध धर्मको अपृथक् समझ लेना समीचीन नहीं होगा। बाह्यरूपमें जैन तथा बौद्धधर्ममें जो कुछ भी समता पाई जाती है उससे वे एक दूसरेसे उत्पन्न हुये हैं, ऐसा कभी प्रमाणित नहीं होता। हाँ, यदि यह कहा जाय कि वैदिक सम्प्रदायके निष्ठुर क्रिया कलापोंके विरुद्ध उठ खड़े होनेवाले युक्तिवाद ही इनके उत्पत्तिके एकमात्र कारण हैं तो अनुचित न होगा।

जैन तथा बौद्ध धर्मके तत्वोंकी यदि ठीक ठीक आलोचना की जाय तो यह स्पष्ट रूपमें प्रकट होजायगा कि ये दोनों धर्म एक दूसरेसे पूर्णतया पृथक् हैं। बौद्धोंका कहना है कि शून्य ही एकमात्र तत्व है। जैनोंके मतानुसार सत्पदार्थ है एवं उसकी संख्यायें अगणित हैं। बौद्धमतके अनुसार आत्माका कोई अस्तित्व नहीं है, परमाणुका भी कोई अस्तित्व नहीं, दिक्, काल, धर्म (गति) ये कुछ भी नहीं हैं, ईश्वर नहीं है; किन्तु जैनोंके मतमें इन सबोंकी सत्ता मानी जाती है। बौद्धोंका कहना है कि निर्वाण लाभ होते ही जीवशून्यमें विलीन हो जाता है, किन्तु जैन मतके अनुसार मुक्तजीव का अस्तित्व चिर-आनन्दमय है और वही उसका सच्चा अस्तित्व हुआ करता है। यहाँ तक कि बौद्ध दर्शनका कर्म भी जैनदर्शनके कर्मसे भिन्नार्थ वाचक ही हुवा करता है।

उपर्युक्त कारणोंसे ही हम जैनधर्मको बौद्धधर्मकी एक शाखा माननेके लिये तैय्यार नहीं हैं। बौद्धदर्शनकी अपेक्षा तो सांख्यदर्शनके साथ जैनदर्शनका निकट सम्बन्ध अधिक रूपमें प्रतीत होता है। सांख्य और जैनदर्शन दोनों ही वेदान्तके अद्वैतवादको त्याग करते हुये, आत्माके बहुत्वको स्वीकार करते हैं। ये उभय दर्शन जीवातिरिक्त अजीव तत्वके पक्षमें पाये जाते हैं। फिर भी इन उभय दर्शनोंमेंसे कौनसा दर्शन किससे निकला है अथवा मूलतः इन दोनोंमें कहाँ समता है, यह बतलाना कठिन होगा। साधारणतः यही देखनेमें आता है, कि सांख्य और जैनदर्शनमें बहुत कुछ समता है, पर हैं ये दोनों ही एक दूसरेसे पूर्ण विभिन्न।

सबसे पहले यही देखनेमें आता है कि सांख्यदर्शनमें अजीव-तत्व या प्रकृति एक ही है, किन्तु जैन-दर्शनने अजीव-तत्वकी पाँच संख्यायें की हैं और उन पाँच अजीवोंमें पुद्गलाख्य अजीव असंख्यरूपमें विद्यमान हैं। अब इससे यही स्पष्ट होता है कि सांख्य दो तत्वोंको ही मानता है, पर जैन बहु-तत्वोंका मानने वाला है और भी इन दोनों दर्शनोंमें बहुतसे भेद हैं। सबसे बड़ा भेद

तो यह कि कपिल दर्शन अधिकांशमें चैतन्यवादी है और जैन-दर्शन विशेषरूपमें जड़वादी है। सांख्य दर्शनकी आलोचना करने वालेके हृदयमें पहले ही यह उदय होगा कि प्रकृतिका स्वरूप क्या है? वह जड़ है या चैतन्य? स्वभावतः प्रकृति सम्पूर्णरूपमें जड़ है, यह नहीं कहा जा सकता। जिसे जड़-पदार्थ कहते हैं; साधारणतः वह प्रकृति की विकृत क्रियाका ही शेष परिणाम हुआ करता है, तो फिर प्रकृति क्या है? भिन्नभावापन्न गुण समूहोंकी साम्यावस्था ही प्रकृतिका स्वरूप है। सांख्य दर्शनमें अस्पष्टरूपसे प्रकृतिके ये ही लक्षण बतलाये हैं। इन्द्रिय-गोचर जड़-पदार्थ विभिन्न भाव वाले तीन गुणोंकी साम्यावस्था नहीं है। यह तो सहज ही में समझमें आने वाली बात है। वस्तुमें जो कि एक है, वह नाना प्रकारके गुण पर्यायोंमें रहकर भी जब कि अपने एकत्वकी रक्षा करनेमें समर्थ है, वह अवश्य ही कोई जड पदार्थ न होकर कोई अध्यात्म पदार्थ होगा, यह सभी समझ सकते हैं, भूयो दर्शन या तत्व विचारमें भी यह सिद्ध होने योग्य बात है। ऐसी दशामें विभिन्न भावापन्न त्रिगुणात्मक प्रकृतिके द्वारा यदि जगद्विवर्त-क्रिया सम्पन्न होती है ऐसा स्वीकार कर लिया जाय, तो प्रकृतिको एक अध्यात्म पदार्थ मानना ही पड़ता है, और भिन्न २ तीनों गुणोंको उसी अध्यात्म पदार्थ प्रकृतिके स्वात्मविकाशके तीन प्रकार भी मानना पड़ता है, । यदि प्रकृतिको स्वभावतः एकान्त भिन्न तीन गुणोंका अचेतन संघर्ष मात्र विवेचन किया जाय तो प्रकृतिके द्वारा किसी भी पदार्थका पैदा होना संभव नहीं होता। सुतरां प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थके रूपमें स्वीकार कर लेने ही से जगत विकाशन कार्य सम्भव हो सकता है।

प्रकृतिसे पैदा होने वाले, तत्व समूहोंमें पहले तत्त्व, महत्तत्त्व-बुद्धितत्त्व हैं। वे जड परमाणु पत्थर या किसी प्रकारके जड पदार्थ नहीं हैं, बल्कि ये एक अध्यात्म पदार्थ हैं, अहङ्कार कहलाने वाला दूसरा तत्व भी अध्यात्म पदार्थ ही है, उसके बाद इन्द्रिय, पंचतन्मात्रा, इसी प्रकार क्रमशः महाभूतोंकी सृष्टि देखनेमें आती है। यदि प्रकृतिको सम्पूर्ण जड प्रकृति ही स्वीकार कर लिया जाय, तो प्रकृतिकी यह विश्व सृष्टि-क्रिया एक बे मतलब और समझमें न आनेवाला विषय बन जाता है। महतत्त्व और अहङ्कार अध्यात्म पदार्थ हैं, कपिलके मतसे ही स्पष्ट है कि कार्य और कारण एक ही स्वभावके पदार्थ हैं। ऐसी दशामें पैदा हो चुकने वाले तत्व समूहोंकी तरह प्रसव करने वाली प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थ कहना कोई युक्तिहीन बात नहीं हो सकती। यदि सचमुच प्रकृति सम्पूर्णतः जड स्वभाव वाली है, तो जड-स्वभाव व पंचतन्मात्राके पैदा होनेके पहले क्यों और कैसे दो अध्यात्म पदार्थोंका समुद्भव होता है, यह समझके बाहरकी बात है।

हाँ यदि प्रकृतिको अध्यात्म पदार्थ अनुमान कर लिया जाय, तो सभी बातें सुगम हो जाती हैं इसमें कोई भी सन्देह नहीं। प्रकृति बीजरूपी चित्पदार्थ है, इसके पूर्णरूपसे विकसित या विकाश-प्राप्त होनेकी दशामें सबसे पहले आत्मज्ञान और बाह्यज्ञानकी आवश्यकता होती है। बुद्धितत्व और

अहंकार तत्वकी उत्पत्ति भी इसीसे है। तदनन्तर प्रकृति अपने आत्मविकासके कारणस्वरूप आवश्यकतानुसार क्रमशः इन्द्रिय, तन्मात्रा, कहे जाने वाले जड़तत्वोंकी सृष्टि अपने आप ही करती रहती है। इस तरह प्रकृतिको अध्यात्मपदार्थ और उसमें पैदा होनेवाले तत्त्वोंको प्रकृतिके स्वात्म-विकासका साधन मान लेनेसे सांख्यकी बताई हुई जगत्-विवर्त-क्रिया बहुत कुछ समझमें आजाती है। प्रकृति तत्वको अध्यात्म पदार्थके रूपमें मानना वस्तुतः अपरिहार्य है। प्राचीन कालमें भी प्रकृति अध्यात्मपदार्थके रूपमें न मानी गई हो ऐसा नहीं है। कठोपनिषद्की तृतीय वल्लीके निम्न श्लोक नं० १०, ११ में प्रकृतिको अध्यात्मस्वभावके रूपमें प्रकाश करने एवं उसके द्वारा सांख्य दर्शनको वेदान्त दर्शनमें परिणत करनेकी जो चेष्टा की गई है वह सुस्पष्ट है:—

इन्द्रियेभ्यः परो ह्यर्थ अर्थेभ्यश्च परो मनः।
मनसश्च: परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष: परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

अर्थात्—इन्द्रियोंसे अर्थ समूह श्रेष्ठ है, अर्थ समूहोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ, बुद्धिसे महदात्मा, महदात्मासे अव्यक्त, अव्यक्तसे पुरुष, पुरुष से बढ़कर कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं, पुरुष ही शेष सीमा है और वही श्रेष्ठ गति भी है।

जैन दर्शनका मत और ही कुछ है। जैन दर्शन में अजीव तत्त्व केवल संख्यामें ही एकसे अधिक है, यही नहीं; बल्कि प्रत्येक अजीव तत्व अनात्म स्वभाव है। उपर्युक्त कथनानुसार सांख्यके अजीव तत्व या प्रकृतिको तो अध्यात्म पदार्थके रूपमें परिणत किया जा सकता है। किन्तु जैन दर्शनके अजीव तत्व समूहोंको किसी भी प्रकारसे जीव स्वभावापन्न नहीं बनाया जा सकता। जैनमतके अनुसार अजीव तत्व पंच संख्यक है—पुद्गलाख्य जड़ परमाणु पुंज, धर्माख्य गतितत्व, अधर्माख्य स्थैर्यतत्व, काल और आकाश। ये सब जड़पदार्थ अथवा उसके सहायक हैं, यहाँ तक कि आत्माको भी जैन दर्शनने अस्तिकाय माना है याने परिमाण अनुसार आत्माका "कर्मज लेश्या" या वर्णभेद है। जैनदर्शनमें आत्मा अत्यन्त लघु पदार्थ और ऊर्द्ध-गतिशील कहा जाता है। ये सब बातें सांख्यमतके विरुद्ध हैं। हमने पहले ही कहा है कि सांख्य दर्शन बहुत कुछ चैतन्यवादके निकटवर्ती है, और जैन दर्शन प्रायः जड़वादकी ओर झुकता रहता है।

जैनदर्शन सांख्य दर्शनसे विभिन्न है, सुतरां सांख्य दर्शनसे जैनदर्शनकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। बहुतसे ऐसे विषय हैं कि जिनमें सांख्य और जैनदर्शनमें परस्पर सम्पूर्ण विरोध है। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि सांख्यके मतानुसार आत्मा निर्विकार और निष्क्रिय है, किन्तु जैनदर्शनका कहना है कि वह अनन्त उन्नति और परिपूर्णताकी ओर झुकने वाला अनन्त क्रिया-शक्ति का आधार है।

हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि अहिंस-

दर्शन मुक्तिमूलक दर्शन है, और इसकी उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्डके प्रतिवादसे ही हुई थी। नास्तिक चार्वाक वादका इसके निकट कोई भी आदर नहीं। भारतीय अन्यान्य दर्शनोंकी तरह इसके भी अपने मूल सूत्र तत्व विचार और अपना मत-अमत पाया जाता है।

जैनधर्म और वैशेषिक दर्शनमें भी इतनी समता पाई जाती है कि यह बेधड़क कहा जा सकता है कि इन दोनोंमें तत्वतः कोई प्रभेद नहीं। परमाणु, दिक्, काल, गति, आत्मा प्रभृति तत्व-विचार इन उभय दर्शनोंका प्रायः एक ही प्रकारका है, किन्तु साथ ही पार्थक्य भी कम नहीं है। वैशेषिक दर्शन बहुतत्व वादी, ईश्वरको स्वीकार करते हुए एक तत्ववादकी ओर कुछ अग्रसर है, किन्तु जैनदर्शन तो नानातत्ववादके ऊपर ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है।

उपसंहारमें इतना ही कहना है कि जैनदर्शन विशेष विशेष विषयोंमें बौद्ध, चार्वाक, वेदान्त, सांख्य, पातंजलि, न्याय, वैशेषिक दर्शनोंके सदृश होते हुए भी, एक स्वतन्त्र दर्शन है। वह अपनी उत्पत्ति एवं उत्कर्षके लिए अन्य किसी भी दर्शन के निकट ऋणी नहीं है। भारतीय अन्यान्य दर्शनोंके साथ जैनदर्शन समता रखते हुए भी वह बहुतसे विषयोंमें सम्पूर्ण, स्वतन्त्र और सविशेष रूप से अनोखा है।

Register No L 4328.

❀ विषय-सूची ❀

पृष्ठ

१. श्रीकुन्दकुन्द-स्मरण ४२५
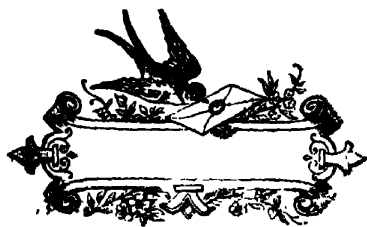
२. उपासनाका अभिनय [ले० पं० चैनसुखदासजी ४२६

३. श्रीपाल-चरित्र-साहित्यके सम्बन्धमें शेष ज्ञातव्य [श्री० अगरचन्द नाहटा ... ४२७

४. अहिंसाका अतिवाद [श्री० पं० दरबारीलालजी ४३०

५. प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र [सम्पादकीय ४३३

६. परमाणु (कविता)—[पं० चैनसुखदासजी ४४०

७. परवार जातिके इतिहास पर कुछ प्रकाश [श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी .. ४४१

८. अहिंसाके कुछ पहलू [श्री काका कालेलकर ४६१

९. छोटे राष्ट्रोंकी युद्धनीति [श्री. काका कालेलकर ४६५

१० भारतीय दर्शनोंमें जैन दर्शनका स्थान [श्री. हरिसत्य भट्टाचार्य ... ४६७

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली।

ज्येष्ठ-आषाढ़ वीरनि॰सं॰२४६६
जून-जुलाई १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ८-९
वार्षिक मूल्य ३ रु०

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

फूलसे

[श्री घासीराम जैन]

चार दिनकी चाँदनीमें फूल ! क्योंकर फूलता है ?
बैठकर सुखके हिंडोले हाय ! निश दिन झूलता है !

आयगा जब मलय पावन
ले उड़ेगा सुख सुवासित,
हाथ मल रह जायँगे माली—
बनेगा शून्य उपवन !
फिर बता इस क्षणिक जीवनमें अरे क्यों भूलता है ?

कर रहा शृंगार नव नव
नित्य नित्य सजा सजाकर
गा रहा आनन्द-धुरपद
प्रेम-वीणाको बजाकर ।
कालकी इसमें सदा रहती अरे प्रतिकूलता है !

आज तुम सुकुमारतामें—
मग्न हो निश दिन निरंतर।
एक क्षणभरमें अरे !
हो जायगा अति दीर्घ अन्तर !
है यही जगरीत क्षण क्षण सूक्ष्म और स्थूलता है !

आज जो हर्षा रही
पाकर तुझे सुकुमार डाली,
कल वही हो जायगी
सौभाग्यसे बस हाय खाली !
देखकर लाली जगतकी काल निशदिन झूलता है !

आज जो तेरे लिये
सर्वस्व करते हैं निछावर,
कल वही पद धूलमें
तेरे लिये फेंकें निरंतर
स्वार्थ-मय लीला जगतकी मूर्ख ! क्योंकर हूलता है !

विश्वका नाटक क्षणिक है
पलटते हैं पट निरंतर
आज जो है कल उसी में—
हो रहा ! ! [illegible] अंतर !
है अभी अज्ञात इसमें "चन्द्र" क्या निर्मूलता है ?

चार दिनकी चाँदनीमें फूल क्योंकर फूलता है ?

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

❀ विषय-सूची ❀

			पृष्ठ
१. फूलसे (कविता)—	[श्री घासीराम जैन 'चन्द्र'		टाइटिल पर
२. पात्रकेसरि-स्मरण	....	...	४८१
३. धर्मका मूल दुःखमें छुपा है	[श्री जयभगवान वकील	...	४८२
४. तामिल भाषाका जैन-साहित्य	[प्रो० ए. चक्रवर्ती	...	४७८
५. जैनागमोंमें समय-गणना	[श्री अगरचन्द नाहटा	...	४९४
६. यति-समाज	[श्री अगरचन्द नाहटा	...	४९८
७. बावली घास	[श्री हरिशंकर शर्मा	...	५१०
८. अर्थप्रकाशिका और पं० सदासुखजी	[पं० परमानन्दजी	...	५१४
९. जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार	[श्री पं० के. भुजबली शास्त्री	...	५२१
१०. परिग्रहपरिमाणव्रतके दास दासी गुलाम थे	[श्री नाथूराम प्रेमी	...	५२९
११. अमर मानव	[श्री सन्तराम बी.ए.	...	५३३
१२. भूल स्वीकार	[श्री सन्तराम बी. ए.	...	५३५
१३. गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति	[पं० परमानन्द	...	५३७
१४. धर्म बहुत दुर्लभ है	[श्री जयभगवान वकील	...	५४५

विनीत प्रार्थना

पिछले माह प्रेसकी अव्यवस्था और प्रबन्ध आदिमें परिवर्तनके कारण 'अनेकान्त' प्रकाशित नहीं हो सका। हमारे लिये यह प्रथम अवसर है कि जब अनेकान्त अपने कृपालु पाठकोंके पास निश्चित समय पर नहीं पहुँचा। अन्यथा हर माहकी अंग्रेजी २८ ता०को डिस्पैच हो जाता है। यह संयुक्त किरण लगभग प्रस्तुत पृष्ठों से दूनी होनी चाहिये थी किन्तु यथा समय मैटर न मिलनेके कारण इतने ही पृष्ठोंकी यह संयुक्त किरण प्रकाशित की जा रही है। इन पृष्ठोंकी पूर्ति आगामी तीन किरणोंमें अवश्य कर दी जायगी ऐसी विनीत प्रार्थना है।

—व्यवस्थापक

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३	सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली ज्येष्ठ, आषाढ़-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं०२४६६, विक्रम सं०१९९७	किरण ८-९

पात्रकेसरि-स्मरण

भूभृत्पादानुवर्ती सन् राजसेवापराङ्मुखः ।
संयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसौ पात्रकेसरी ॥—नगरताल्लुक-शिलालेख नं०४६

जो राजसेवासे पराङ्मुख होकर—उसे छोड़कर—मोक्षके अर्थी संयमी मुनि बने हैं, वे पात्रकेसरी (स्वामी) भूभृत्पादानुवर्ती हुए—तपस्याके लिये गिरिचरणकी शरणमें रहते हुए—खूब ही शोभाको प्राप्त हुए हैं।

महिमा सपात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत् ।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥ —श्रवणबेलगोल-शिलालेख नं०५४

जिनकी भक्तिसे पद्मावती (देवी) 'त्रिलक्षणकदर्थन' करनेमें—बौद्धों द्वारा प्रतिपादित अनुमान-विषयक हेतुके त्रिरूपात्मक लक्षणका विस्तारके साथ खण्डन करनेके लिये 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रंथके निर्माण करनेमें—जिनकी सहायक हुई है, उन श्रीपात्रकेसरी गुरुकी महिमा महान् है—असाधारण है ।

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः ।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥ —आदिपुराणे, जिनसेनः

भट्टाकलंक और श्रीपाल आचार्योंके अतिनिर्मल गुणोंके साथ पात्रकेसरी आचार्यके अतिनिर्मल गुण भी विद्वानोंके हृदयों पर हारकी तरहसे आरूढ हैं—विद्वजन उन्हें हृदयमें धारणकर अतिप्रसन्न होते तथा शोभाको पाते हैं।

विप्रवंशाग्रणीः सूरिः पवित्रः पात्रकेसरी ।
स जीयाज्जिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥—सुदर्शनचरित्रे, विद्यानन्दी

वे पवित्रात्मा श्रीपात्रकेसरी सूरि जयवन्त हों—लोकहृदयों पर सदा अपने गुणोंका सिक्का जमानेमें समर्थ हों—जो ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर उसके अग्र नेता थे और (बादको) जिनेन्द्रदेव के पद-कमलोंका सेवन करनेवाले असाधारण मधुमक्ष (के रूपमें परिणत हुए) थे ।

धर्मका मूल दुःखमें छुपा है।

[ले०—श्री जयभगवान जैन बी.ए. एलएल. बी. वकील]

जीवनकी दो मूल अनुभूति—

शैशव-कालमें जीवन उज्ज्वल, अद्भुत, विस्मयकारी लीलामय दिखाई देता है और जगत आनन्दकी रङ्गभूमि। यहाँकी हरएक चीज सुन्दर, सौम्य और आकर्षक प्रतीत होती है। जी चाहता है कि यहाँ हिलमिल कर बैठें, हँस-हँस कर खेलें, रोष तोषसे लड़ें और छलक छलक कर उड़ जायें।

परन्तु ज्यों ज्यों जीवनकी गति प्रौढताकी ओर बढ़ती है, यह रङ्गभूमि और उसकी ललाम लीला डरावनी और घिनावनी मूर्ति धारण करती चली जाती है। पद पद पर भान होने लगता है—जीवन दुःखमय है*, जगत निष्ठुर और क्रूर है, यहाँ मनका चाहा कुछ भी नहीं, सर्व ओर पराधीनता है, बहुत परिश्रम करने पर भी इष्टकी प्राप्ति नहीं और बहुत रोक थाम करने पर भी अनिष्टकी उपस्थिति अनिवार्य है।

यह जगत निस्सार है, केवल तृष्णाका हुंकार है। उसीसे उन्मत्त हुआ जीवन अगणित बाधा, अमित वेदना, असंख्यात आघात-प्रघात सहता हुआ संसार-वनमें घूम रहा है, वरना यहाँ सन्तुष्टिका, सुख शान्तिका कहीं पता नहीं। वही अपूर्णता, वही तृष्णा, वही वेदना हरदम बनी है। यह लोक-तृष्णा पूर्तिका स्थान नहीं, यह निर्दयी मरीचिका है। यह दूर दूर रहने वाला है। यह नितान्त अग्राह्य है। यह झूठी आशाके पाशोंसे बान्ध बान्ध कर जीवनको मृत्युके घाट उतारता रहता है।

यह जगत मृत्युसे व्याप्त है ❀। सब ओर क्रन्दन और चीत्कार है। लोक निरन्तर कालकण्ठ में उतरा चला जा रहा है। भूमण्डल अस्थिपञ्जर से ढका है। पर, रुण्डमुण्ड पहिने हुए कालका अट्टहास उसी तरह बना है। यहाँ जीवन नितान्त अशरण है †।

यहाँ कोई चीज स्थायी नहीं, जो आज है वह कल नहीं, अंकुर उदय होता है, बढ़ता है, पत्र पुष्पसे सजता है, हँसता है, ऊपर को लखाता है; परन्तु अन्तमें धराशायी हो जाता है। यहाँ भोगमें रोग बसा है, यौवनमें जरा रहती है, शरीरमें मृत्युका वास है। यहाँकी सब ही वस्तुएँ भयसे ढकी हैं ‡।

प्रौढ अनुभूति और धर्म मार्ग—

यह है प्रौढ अनुभूति, जो मानव समाजमें

---

* मज्झिमनिकाय—१४१वाँ सूत्त

❀ "यदिदं सर्वं मृत्युना ऽऽप्तं, सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं"
—बृ०उ० १. १. ३

† द्वादशानुप्रेक्षा ॥८॥ धम्मपद २०. १६

‡ भर्तृहरि—वैराग्यशतक ॥३२॥

धर्म-मार्गकी आविष्कारक हुई है* । कोई युग ऐसा नहीं, कोई देश ऐसा नहीं जहाँ इस प्रौढ अनुभूति का उदय न हुआ हो और इसके साथ साथ जीवन के अलौकिक आदर्श और तत्प्राप्तिके लिये धर्म-मार्गका जन्म न हुआ हो । वैदिक ऋषियोंकी यह अनुभूति वैदिक साहित्योक्त यम, मृत्यु व काल विवरणमें छुपी है ❀। असुर लोगोंकी यह अनुभूति प्रचण्ड-भीषण रुद्र, और नाग सभ्यताके रूपमें हम तक पहुँची है । लिंगायत-लोगोंमें यह रुद्रकी मूर्ति और शिवके ताण्डव नृत्यमें अङ्कित है †। और बंगालदेशके तान्त्रिक लोगोंमें काली कराली चण्डी दुर्गाके चित्रमें चित्रित है §। औपनिषदिक कालमें यही अनुभूति "ब्रह्म सत्य है और नाम-रूप कर्मात्मक जगत असत्" है इस सत्यासत्यवादमें बसी है†। यह अनुभूति आधुनिक वेदान्तदर्शनके मायावाद, तुच्छवादमें प्रकट है‡। 'महाभारत' में यही अनुभूति मेधावी ब्राह्मण पुत्रके विचारोंमें गर्भित है ¶। बौद्ध कालीन भारतमें बुद्ध भगवान द्वारा बतलाये हुये चार आर्य सत्योंमें ❀ और वीर भगवान् द्वारा बतलाई हुई द्वादश भावनाओंमें❀ इस अनुभूतिका आलोक होता है ।

यों तो यह अनुभूति समस्त धर्म-मार्गोंकी आधार है; परन्तु निवृत्ति परक दर्शनोंकी, श्रमण-संस्कृतिकी तो यह प्राण है । इसीलिये औपनिषदिक संस्कृति, वेदान्त, बौद्ध और जैनदर्शनोंको समझने के लिये इसका महत्व अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है ।

जीवनके मूल प्रश्न—

मनुष्य-जीवनमें चाहे वह सभ्य हो, या असभ्य, धनी हो या निर्धन, पण्डित हो या मूढ, पुरुष हो या स्त्री, यह अनुभूति जरूर किसी समय आती है और उसके उज्ज्वल लोकको भयानक भावोंसे भर देती है । उस आतङ्कमें वह सोचता है :—

"मैं कौन हूँ ? क्या मैं वास्तवमें निरर्थक हूँ ? पराधीन और निस्सहाय हूँ ? क्या मेरा यह ही अन्तिम तथ्य है कि मैं मंगल-कामना करते हुये भी दुःखी रहूँ, आशा रखते हुए भी आशाहीन बनूं, जीवन चाहते हुए भी मृत्युमें मिल जाऊँ ? यदि दुःख ही मेरा स्वभाव है तो सुखकी कामना क्यों ? यदि यह जीवन ही जीवन है तो भविष्यकी आशा क्यों ? यदि मृत्यु ही मेरा अन्त है तो अमृतकी भावना क्यों ? क्या यह कामना, आशा, भावना, सब भ्रम है, मिथ्या है, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं ? क्या यह लोक ही मेरा लोक है, जहाँ इच्छाओंका खून है, पुरुषार्थकी विफलता है ?

* A. C. Das—Rigvedic Culture 1925 p. 396.

❀ अथर्ववेद १९.४३; १९.४४; ऋग्वेद १०.१८.

† R. G. Bhandarker Vaisnavesin & Saivana vesin 1928 pages 145-151.

§ R. Chanda The Indo Aryan Races 1916 pages 136-138.

† बृह उप० १.४.१. "आत्मो एकः सन्नेतत् अयम्"

‡ श्रीशंकराचार्य—दश श्लोकी ॥१॥

¶ महाभारत—शान्ति पर्व—१७५वाँ अध्या० ।

❀ दीघनिकाय—महासति पट्ठानसुत्त ।

संयुत्तनिकाय ५५-२-१.

❀ उत्तराध्ययन अध्याय १९ ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा ।

स्वास्थ्यमें स्थापन करना चाहता है। ऐसे ही दुःख स्वयं अनिष्ट नहीं; अनिष्ट का उत्पादक नहीं, वह तो अनिष्टकी चेतावनी है, जो प्राणोंको खेंच खेंच कर, हृदयको मसल मसल कर, मनको उथल पुथल कर निरन्तर मूलभाषामें पुकारता रहता है—"उठो, जागो, होशियार हो, यह जीवन इष्ट जीवन नहीं। यह जीवनकी रुग्ण दशा है, वैभाविक दशा है, बन्ध दशा है।" यह तो अनिष्ट निरोधका उद्यम है। जो यथा तथा जीवनको अनिष्टसे निकाल कर इष्टमें स्थापन करना चाहता है।

इसीलिये संसारके सब ही महापुरुषोंने, जिन्होंने सत्यका दर्शन किया है। जिन्होंने अपने जीवन को अमर किया है, जिन्होंने अपने आदर्श से विश्वहितके लिये धर्ममार्गको कायम किया है, इस दुःखानुभूतिको अपनाया है, इसके आलोकमें रहकर अन्तःशक्तियोंको जगाया है इसे श्रेयस और कल्याणकारी कहा है ❀।

जो दुःखसे अधीर नहीं होता, इससे मुँह नहीं छुपाता, जो इसे सच्चे मित्रके समान अपनाता है, इसके अनुभवोंके साथ प्रयोग करता है, इसकी आवाजको सुनता है, इसके पीछे पीछे चलता है, वह जीवन-शत्रुओंको पकड़ लेता है, वह जन्ममरण के रोगका निदान कर लेता है, वह दुःखसे सुखका मार्ग निकाल लेता है, वह मार्ग पर चलकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है, पूर्ण हो जाता है, अक्षय-सुखका स्वामी हो जाता है। परन्तु जो दुखकी कटुतासे डर कर चुभे हुए शूलको तनसे नहीं निकालता भीतर बैठे हुए रोगके कारणोंका बहिष्कार नहीं करता, वह निरन्तर दुःखका भोग करता रहता है।

जो दुःखसे डर कर दुःखका साक्षात् करना नहीं चाहता, उसके अनुभवोंसे प्रयोग करना नहीं चाहता, उसकी सुझाई हुई समस्याओंको हल करना नहीं चाहता, इसके जन्म देने वाले कारणों पर—उसका अन्त करने वाले उपायों पर विचार करना नहीं चाहता, जो धर्म-मार्ग पर चल कर उन कारणोंका मूलोच्छेद करना नहीं चाहता, जो केवल दुःखानुभूतिको भुलानेकी चेष्टामें लगा है वह मूढ़ अपनी ठगाईसे खुद ठगा जाता है, बार बार जन्म-मरण करता हुआ दुःखसे खेद खिन्न होता है।

यदि जीवन और जगत्के रहस्योंको समझना है, लोक और परलोकके मार्गोंको जानना है तो आत्माको प्रयोगक्षेत्र बनाओ, दुःख-अनुभवोंको प्रयोगके विषय बनाओ, इनका मथन और मनन करनेके लिये आत्मचिन्तवनसे काम लो।

जैसे कमलका मूल पंकमें छुपा है, वसन्तका मूल हिममें छुपा है, ऐसे ही धर्मका मूल दुःखमें छुपा है।

पानीपत, ता० २६—५—१९४०

❀ (अ) क, उप २. १.

(आ) तत्त्वार्थ सूत्र ८. ४

(इ) मनुस्मृति ६. ४७, ४८, ४९

(ई) Blessed are the poor in spirit, for their is the kingdom of heaven. Blessed are they that mourn, for they shall be comforted.

Bible-st. Matthew 5. 34.

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[लेखक—प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती एम. ए. आई. ई. एस, प्रिंसिपल कुंभ कोणम् कालेज]
[अनुवादक—पं० सुमेरुचन्द्र जैन दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री, बी. ए. एलएल. बी. सिवनी]

तामिल साहित्य पर सरसरी निगाह डालनेसे यह बात विदित होगी कि वह प्रारंभिक कालसे ही जैनधर्म और जैन-संस्कृतिसे प्रभावित था। यह बात सुप्रसिद्ध है कि जैनधर्म उत्तर भारतमें ही उदित हुआ था, अतएव उसका आर्य संस्कृतिसे सम्बन्ध होना चाहिये। जैन लोग कब तो दक्षिणको गए तथा किस भाँति उनका मूल तामिल-वासियोंसे सम्बन्ध हुआ, ये समस्याएँ ऐसी हैं जो अब तक भी अन्धकारमें हैं। किन्तु इन प्रश्नों पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है, यदि हम इस बात पर अपना ध्यान दौड़ावें कि सिंधुकी घाटीमें आर्योंकी अवस्थितिके आदिकालसे ही उन आर्य लोगोंमें एक ऐसा वर्ग था जो बलि-विधानका विरोधी था और जो अहिंसाके सिद्धांत का समर्थक था। ऋग्वेदके मंत्रोंमें भी इस बातको प्रमाणित करने योग्य साक्षी विद्यमान है। ब्राह्मण तरुण शुन:सेफ की—जो विश्वामित्रके द्वारा बलि किये जानेसे मुक्त किया गया था,—कथा एक महत्व पूर्ण बात है। राजर्षि विश्वामित्र तथा वशिष्ठका द्वन्द्व संभवतः उस महान् विरोधके प्रारंभको बताता है जो ब्राह्मण ऋषियोंके द्वारा संचालित बलिदान-विधायक सम्प्रदाय तथा वीर-क्षत्रियों द्वारा संचालित बलिविरोधी अहिंसा सिद्धान्तके बीचमें था। ऋग्वेद संहितामें भी हम ऋषभ तथा अरिष्टनेमिका उल्लेख पाते हैं, जिनमें पहले तो जैनियोंके आदि तीर्थंकर हैं और दूसरे बावीसवें तीर्थंकर जो श्रीकृष्णके चचेरे भाई थे।

जब हम संहिताओंके कालको छोड़कर ब्राह्मण ग्रंथोंके कालमें प्रवेश करते हैं, तब हमें आर्य लोगों के इस पृथक्करणके विषयमें और भी मनोरंजक बातें मिलती हैं। इस समय तक आर्य लोग गंगा की घाटी तक चले गए थे और उन्होंने राज्य स्थापित किए थे तथा काशी, कौशल, विदेह और मगध देशोंमें अपना स्थायी निवास बनाया था। इन देशोंमें रहने वाले आर्य लोग प्रायः पौर्वात्य आर्य कहे जाते थे। ये सिंधु नदीकी तराई सम्बन्धी कुरु पांचाल देशोंमें बसने वाले पाश्चिमात्य आर्यों से भिन्न थे। ये लोग पूर्वके आर्योंको अपनी अपेक्षा हीन समझ कर हीन दृष्टिसे देखते थे, कारण उनने कुरु पांचालीय आर्योंकी कट्टरताका परित्याग किया था। पूर्वीय भाषाओंके वेत्ता यह सुझाते हैं कि संभवतः गंगाकी तराई सम्बन्धी पूर्वीय आर्य आक्रमणकारी उन आर्योंकी प्रारंभिक लहरको सूचित करते हैं, जो सिंधुकी तराईमें बसी हुई आक्रमणकारी पाश्चिमात्य जातियोंसे पूर्वदिशा की ओर भगा दिए गए थे। इस प्रकार के विचारों

का निश्चय करना आवश्यक है, जिससे दो भागों में विद्यमान कतिपय मौलिक भिन्नताओंको समझा जा सके। आर्योंके दो समुदायोंके मध्यमें विद्यमान राजनैतिक तथा सांस्कृतिक भेदोंके सद्भावको ब्राह्मण-साहित्य स्पष्टतया बताता है। अनेक अवसरों पर पूर्वीय आर्योंके विरुद्ध पूर्वीय देशकी ओर सेनाएँ ले जाई गई थीं। ब्राह्मण-साहित्यमें दो अथवा तीन प्रधान बातोंका उल्लेख है, जो सांस्कृतिक भिन्नताके लिए मनोरंजक साक्षीका काम देती हैं। काशी, कौशल, विदेह और मगधके पूर्वीय देशोंमें व्यवहार करनेके सम्बन्धमें शतपथ ब्राह्मणमें पांचाल देशीय कट्टर ब्राह्मणोंको सचेत किया गया है। उसमें बताया गया है कि कुरु पांचाल देशीय ब्राह्मणोंका इन पूर्वीय देशोंमें जाना सुरक्षित नहीं है, क्योंकि इन देशोंके आर्य लोग वैदिक विधि विधान-सम्बन्धी धर्मोंको भूल गए हैं इतना ही नहीं कि उन्होंने बलि करना छोड़ दिया बल्कि उनने एक नए धर्मको प्रारंभ किया है, जिसके अनुसार बलि न करना स्वयं यथार्थ धर्म है। ऐसे अवैदिक आर्योंसे तुम किस सन्मानकी आशा कर सकते हो, जिन्होंने धर्मके प्रति आदर-सन्मानका भाव छोड़ दिया है। इतना ही नहीं, वेदोंकी भाषासे भी जिन्होंने अपना सम्पर्क नहीं रक्खा है। वे संस्कृतके शब्दोंका शुद्धता पूर्वक उच्चारण नहीं कर सकते। उदाहरणके तौर पर संस्कृतमें जहाँ 'र' आता है वहाँ वे 'ल' का उच्चारण करते हैं।

इसके सिवाय इन पूर्वीय देशोंके क्षत्रियोंने सामाजिक महत्व प्राप्त कर लिया है, यहाँ तक कि वे अपनेको ब्राह्मणोंसे बड़ा बताते हैं। क्षत्रियोंके नेतृत्वमें सामाजिक गौरवके अनुरूप पूर्वीय आर्य लोग यह मानते हैं, कि कुरु पांचालीय वैदिकोंके द्वारा अत्यंत उच्च माने गए वाजपेय यज्ञके स्थानमें राजसूय यज्ञ श्रेष्ठ है। ये कुछ कारण उन कारणोंमें से हैं जो पूर्वीय देशोंमें कुरु पांचालीय वैदिक ब्राह्मणोंका पर्यटन क्यों निषिद्ध है, इस विषयमें बतलाए गए हैं।

पंचविंशब्राह्मणके एक प्रमाणसे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि कुछ समय तक आर्योंके क्रियाकाण्ड विरोधी दलोंका विशेष प्राबल्य था और वे लोग इन्द्र यज्ञके, जिसमें बलि करना भी शामिल था, विरुद्ध उपदेश करते थे। जो इन्द्र-पूजा तथा यज्ञात्मक क्रियाकाण्डके विपरीत उपदेश देते थे, उन्हें मुंडित मुंड यतियोंके रूपमें बताया है। जब वैदिक दलके प्रभावसे प्रभावित एक बलशाली नरेशके द्वारा 'इन्द्र यज्ञ'का पुनरुद्धार किया गया, तब इन यतियोंका ध्वंस किया गया और इनके सिर काट करके भेड़ियोंकी ओर फेंक दिये गये थे। जैनेतर साहित्यमें वर्णित ये बातें विशेष महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये अहिंसाधर्मकी प्राचीनताकी ओर संकेत करती हैं।

अब जैन साहित्यकी ओर देखिये, उसमें आप क्या पाते हैं? ऋषभदेवसे लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हैं, जो सब क्षत्रियवंशके हैं। यह कहा जाता है कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभने पहले अहिंसा सिद्धान्तका उपदेश दिया था तथा तपश्चर्या अथवा योग द्वारा आत्मसिद्धी की ओर ज्ञानियोंका ध्यान आकर्षित किया था। इन जैन तीर्थंकरोंमें अधिकतम पूर्वीय देशोंसे सम्बन्धित हैं। अयोध्यासे ऋषभदेव, मगधसे महावीर और मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरोंका बहुधा

उपदेश वे क्षत्रियवीर देते थे जो धनुष बाण लेकर भ्रमण करते थे और जिनका संग्राम संबंधी कार्यों से विशेष संबंध रहा करता था।

यह विषय अज्ञात है कि उनका अहिंसासे संबंध कैसे हुआ, किन्तु यह बात सन्देह रहित है कि वे लोग अहिंसा-सिद्धान्तके संस्थापक थे। ये क्षत्रिय नेता जहाँ कहीं जाते थे अपने साथ मूल अहिंसा धर्मको ले जाते थे, पशु-बलिके विरुद्ध प्रचार करते थे तथा शाकाहारको प्रचलित करते थे। इन बातोंको भारतीय इतिहासके प्रत्येक अध्येता को स्वीकार करना चाहिये। यह बात भवभूतिके नाटक, उत्तर राम-चरित्रमे बाल्मीकि-आश्रमके एक दृश्यमें वर्णित है। जनक और वशिष्ठ अतिथि के रूपमें आश्रम पहुँचते हैं। जब जनकका अतिथि सत्कार किया जाता है तब उन्हें शुद्ध शाकाहार कराया जाता है, आश्रम स्वच्छ और पवित्र किया जाता है किन्तु जब आश्रममें वशिष्ठ आते हैं तब एक मोटा गो-वत्स मारा जाता है। आश्रमका एक विद्यार्थी व्यंग्यके रूपमें अपने साथीसे पूछता है कि, क्या कोई व्याघ्र आश्रममें आया था। दूसरा छात्र वशिष्ठका अपमान पूर्ण शब्दोंमें उल्लेख करनेके कारण उसे भला बुरा कहता है। प्रथम विद्यार्थी क्षमा माँगता हुआ अपनी बातका इस प्रकार स्पष्टीकरण करता है कि मुझे ऐसा अनुमान करना पड़ा कि आश्रममें कोई व्याघ्र जैसा मांसाहारी जानवर अवश्य आया होगा, कारण एक मोटा ताजा गोवत्स गायब हो गया है। इस पर वह विद्यार्थी यह स्पष्ट करता है कि राजऋषि तो पक्के शाकाहारी हैं अतः उनका उसी प्रकार सत्कार होना चाहिये था किन्तु वशिष्ठको उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराया गया, कारण वे पक्के शाकाहारी नहीं थे। यह बातें अहिंसा सिद्धान्तका महत्व तथा उसकी प्रबलताको स्पष्टतया बताती हैं। ये बातें तामिल साहित्यमें भी भली भाँति प्रति-विम्बित होती हैं, जब कि जैन दक्षिणकी ओर गये थे और उनने तामिल साहित्य के निर्माणमें भाग लिया था। प्रारंभिक जैनियोंने अपने धर्मके प्रचारका कार्य किया होगा, और इसलिये वे देशके आदमनिवासियोंके साथ निःसकोच भावसे मिले होंगे। आदिमनिवासियों के साथ उनकी मैत्रीसे यह बात भी प्रगट होती है।

जिन देशवासियोंके विरुद्ध आर्य लोगोंको संग्राम करना पड़ा था, वे दस्यु कहे जाते थे। यद्यपि अन्यत्र उनका निंदापूर्ण शब्दोंमे वर्णन किया गया है, किन्तु उनका जैन साहित्यमें कुछ सम्मानके साथ वर्णन है। इसका एक उदाहरण यह है कि वालमीकि-रामायणमें जो बंदर और राक्षसके रूपमें अलंकृत किए गए हैं, वे जैन रामायणमें विद्याधर बताए गए हैं। जैनसाहित्यसे यह बात भी स्पष्ट होती है कि आर्य वंशीय वीर क्षत्रिय विद्याधरोंके यहाँकी राजकुमारियोंके साथ स्वतंत्रतापूर्वक विवाह करते थे। इस प्रकारकी वैवाहिक मैत्री बहुत करके राजनैतिक एवं यौद्धिक कारणोंसे की जाती थी। इसने अहिंसा सिद्धान्त को देशके मूल निवासियोंमें प्रचारित करनेका द्वार खोल दिया होगा। उत्तरसे तामिल देशकी ओर प्रस्थान करने एवं वहाँ अहिंसा पर स्थित अपनी संस्कृतिका प्रचार करनेमें इस प्रकारके कारणकी कल्पना करनी पड़ी होगी। कट्टर (वैदिक) आर्योंका

संप्रदाय तामील देशके मैदानमें बहुत विलम्बसे आया होगा, कारण यह बात हिन्दुधर्मके पश्चात कालवर्ती उस पुनरुद्धारसे पूर्णतया स्पष्ट होती है, जिसने दक्षिणमें जैनियोंकी प्रभुताको गिराया।

साधारणतया यह कल्पना की जाती है कि, चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु भद्रबाहुके समयमें जैनियोंने दक्षिण भारतकी ओर गमन किया था और उत्तर भारतमें द्वादश वर्षीय भयंकर दुष्काल आने पर भद्रबाहु संपूर्ण जैन संघको दक्षिणकी ओर ले गए थे और उनका अनुसरण उनके शिष्य चन्द्रगुप्तने किया था एवं अपना राज्यासन अपने पुत्रको प्रदान किया था। वे कुछ समय तक मैसूर प्रांतमें ठहरे। भद्रबाहु और चंद्रगुप्तने श्रवणबेलगोलाके चंद्रगिरि पर्वत पर प्राण त्याग किया तथा शेष लोग तामिल देशकी ओर चले गए। इन बातोंको पौर्वात्य विद्वान् स्पष्टतया स्वीकार करते हैं, किन्तु जैसा मैंने अन्यत्र कहा है,यह जैनियोंका दक्षिणकी ओर प्रथम प्रस्थान नहीं समझना चाहिये। यही बात तर्क संगत प्रतीत होती है कि, दक्षिणकी ओर इस आशासे गमन हुआ होगा कि सहस्रों साधुओं को, बंधुत्व भावपूर्ण जातिके द्वारा हार्दिक स्वागत प्राप्त होगा। खारवेलके हाथीगुफा वाले शिलालेख से यह बात स्पष्ट होती है कि सम्राट् खारवेलके राज्याभिषेकके समय पांड्य नरेशने कई जहाज भरकर उपहार भजे थे। खारबेल प्रमुख जैन-सम्राट थे और पांड्यनरेश उसी धर्मके अनुयायी थे; ये बातें तामिल-साहित्यके शिलालेखसे स्पष्ट होती हैं। तामिल ग्रंथ 'नालदियर" के सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि, उत्तरमें दुष्कालके कारण अष्ट सहस्र जैन साधु पांड्यदेशमें आए थे, वहाँ ठहरे थे तथा अपने देशको वापिस जाना चाहते थे, उनका यह वापिस जाना पांड्य नरेशको इष्ट नहीं था। अत: उन सबोंने समुदाय रूपसे एक रात्रिको पांड्यनरेशकी राजधानीको छोड़ दिया। प्रत्येकने एक२ ताड़ पत्र पर एक २ पद्य लिखा था और उसको वहाँ ही छोड़ दिया था। इन पद्योंके समुदायमें "नालदियर' नामक ग्रंथ बना है। यह परम्परा कथन दक्षिणके जैन तथा अजैनोंको मान्य है। इससे इस बातका भी समर्थन होता है कि तामिल देशमें भद्रबाहुके जानेसे पूर्व जैन नरेश थे। अब स्वभावत: यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, वह कौनसा निश्चित काल था जब जैन लोग तामिल देशकी ओर गए? तथा ऐसा क्यों हुआ? परन्तु हमारे प्रयोजनके लिए इतना ही पर्याप्त है यदि हम यह स्थिर करनेमें समर्थ होते हैं कि, ईसासे ४०० वर्ष पूर्वसे भी पहले दक्षिणमें जैनधर्मका प्रवेश होना चाहिये। यह विचार तामिल विद्वानोंकी विद्वत्तापूर्ण शोधसे प्राप्त परिणामोंके अनुरूप है। श्री शिवराज पिल्ले "आदिम तामिलोंके इतिहास"में आदि तामिलवासियोंके सम्बन्ध में लिखते हैं—

'जैसा कि मैं अन्यत्र बता चुका हूँ, आर्य लोगोंके संपर्कमें आनेके पूर्व द्रावेड़ लोग विशेषकर भौतिक सभ्यताके निर्माण करने, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवनकी अनेक सुविधाओंको प्राप्त करनेमें लगे हुए थे, इसलिए स्वभावत: उनकी जीवनियोंने भौतिक रंग स्वीकार किया और वे उस रूपमें तत्कालीन साहित्यमें प्रतिबिम्बित हुई धार्मिक भावना उस समय अविद्यमान थी और वह उनमें पीछे उत्पन्न हुई थी। सब बातों एवं

जैनधर्म गुरुओंका संगम था, जिसने बहुत करके उस नमूनेके अनुसार वैदिक पक्षको अपने साहित्यिक संगमकी कथा कल्पित कथाओंका भाग दिखाया। संगम् शब्दसे प्राचीन तामिल वासियोंका अपरिचित होना ही उसकी बादकी उत्पत्तिको बताता है। उसके उत्तेजक कारण संगम नामधारी साहित्य पर लक्षित विचारको लानेका प्रयत्न एक प्रकारसे ज्वलंत और मिथ्या विषमतापूर्ण है। (?)"

इसमें मैं जिस बातको जोड़ना चाहता हूँ वह है द्राविड़ संघका अस्तित्व जिसे दूसरे शब्दोंमें मूल संघ भी कहते हैं और जो ईसासे १०० वर्ष पूर्व इस दक्षिण पाटलिपुत्रमें था। जो कुड्डेलोर अहातेका वर्तमान तिरुप्पाप्पुलियूर समझा जाता है। इस द्राविड़ संघके अधिनायक महान जैनाचार्य श्री कुंदकुंद थे, जो सम्पूर्ण भारतवर्षके द्वारा अत्यन्त पूज्य माने जाते हैं वज्रनन्दि द्वारा तामिल नाडूमें तामिल संगमके पुनरुद्धारका प्रयत्न श्री कुंदकुंदाचार्यसे सबंधित आदि मूलसंघकी अवनतिको बताता है। यह बात उन शोध खोजके विद्यार्थियोंकी सूचनार्थ लिखी जाती है, जिनकी तामिल देशीय निर्ग्रंथोंके प्रभाव-विषयक इतिहासमें विशेष रुचि हो।

इस प्रसंगमें दूसरी मनोरंजक तथा उल्लेखनीय बात प्राकृत भाषा और उसकी सब देशोंमें प्रचार की है। अगस्त्य कृत महान व्याकरण शास्त्रका अवशिष्ट अंश समझे जाने वाले सूत्रोंके संग्रहमें उत्तर प्रांतकी भाषाओं—संस्कृत भाषाओं पर एक अध्याय है। उसमें संस्कृत और अपभ्रंश भाषाका उल्लेख करनेके अनन्तर सब देशोंमें प्रचलित प्राकृतम् नामकी भाषाका वर्णन है। हमें पहले उत्तरके विचारशील नेताओंसे विशेष रीतिसे संबंध रखने वाली प्राकृत भाषाके उल्लेख करनेका अवसर मिला था। तामिल व्याकरणमें उस प्रदेशकी प्राकृत भाषाके रूपमें इसका उल्लेख होना विशेष महत्वकी बात है। कारण इसमें प्राकृत साहित्यका आदि प्रवेश एवं तामिल देशमें प्राकृत भाषा लोगोंके गमनका ज्ञान होता है। इससे सबंधित एक बात और है कि कुछ संगम संग्रहोंसे नामांकित ग्रंथोंमें 'वाद विककत्तल' या सल्लेखनाका वर्णन पाया जाता है। इस 'वादविककत्तल' का कुछ राजाओंने पालन किया था और जिनका अनुकरण उनके मित्रोंने किया था। जैनियोंसे सबंधित एक प्रधान धार्मिक क्रियाको सल्लेखना कहते हैं। जब कोई व्यक्ति रोग या कष्टसे पीड़ित है और वह यह जानता है, कि मृत्यु समीप है और शरीरको औषधि देनेमें काल व्यय करना व्यर्थ है, तब वह अपने अवशिष्ट जीवनको ध्यान तथा प्रार्थनामें व्यतीत करनेका निश्चय करता है वह मरण पर्यन्त आहार एवं औषधि स्वीकार नहीं करता। इस क्रियाको 'सल्लेखना' कहते हैं। सबसे प्राचीन तामिल संग्रहोंमें इसका उल्लेख पाया जाता है। वहाँ इसे 'वादविककत्तल' के नामसे कहा है। इसका महत्व यद्यपि बिल्कुल स्पष्ट है किन्तु इस शब्दके उद्भवके विषयमें तनिक सन्देह है। जैनियोंने तामिल भाषामें जिस साहित्यका निर्माण किया और जिससे साथ हमारा सांप्रति सम्बन्ध है उसका उल्लेख न करते हुए भी, ये सब बातें मिलकर हमें बलात् यह विश्वास करनेके लिये प्रवृत्त करती हैं कि, उपलब्ध प्राचीनतम तामिल साहित्यमें भी जैनियोंके प्रभाव सूचक चिन्ह पाये जाते हैं।* क्रमशः

---

* जैन एण्टीक्वेरीमें प्रकाशित अंग्रेजी लेखका अनुवाद।

जैनागमोंमें समय-गणना

[लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा]

जैनागम भारतीय प्राचीन संस्कृति, साहित्य और इतिहासके भंडार हैं। दार्शनिक और साहित्यिक दोनों विद्वानोंके लिये उनमें बहुत कुछ मननीय एवं गवेषणीय सामग्री भरी पड़ी है। पर दुःखकी बात है कि भारतीय जैनेतर विद्वानोंने इन जैनागमोंकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। हाँ पाश्चात्य विद्वानोंमें से डाक्टर हर्मन जैकोबी आदि कुछ विद्वानोंने उनका वैदिक एवं बौद्ध साहित्यके साथ तुलनात्मक अध्ययन ज़रूर किया है और उसके फलस्वरूप अनेक नवीन तथ्य साहित्यप्रेमी संसारके सन्मुख लेखों तथा ग्रन्थोंके रूपमें प्रकट किये हैं। इधर कुछ वर्षोंसे हमने कई जैनागमोंका साहित्यिक दृष्टिकोणसे अध्ययन किया, उनको सिर्फ साहित्यक ही नहीं बल्कि विविध दृष्टियोंमें बहुमूल्य पाया। प्रत्येक विषयके विद्यार्थियोंको उनमें कुछ न कुछ नवीन और तत्थ पूर्ण सामग्री मिल सकती है। उनमें कई विषय तो हमें तुलनात्मक दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए, अतः उनको साहित्य संसारके समक्ष रखते हुए विद्वानोंका ध्यान उस ओर आकर्षित करना हमें परमावश्यक मालूम होता है। इस दृष्टिसे, प्रस्तुत लेखमें, 'समयगणना' का जैसा रूप जैनागमोंमें प्राप्त होता है उसे पाठकोंके सन्मुख रखा जाता है।

जैनदर्शनमें कालद्रव्यका सबसे सूक्ष्म अंश 'समय' है। समयकी जैसी सूक्ष्मता जैनागमोंमें बतलाई गई है वैसी किसी भी दर्शनमें नहीं पाई जाती। इस सूक्ष्मता का कुछ आभास उदाहरण-द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

प्रश्न—शक्ति सम्पन्न, स्वस्थ और युवावस्था वाला कोई जुलाहेका लड़का एक बारीक पट्टसाड़ी—वस्त्रका एक हाथ प्रमाण टुकड़ा—बहुत शीघ्रतासे एक ही झटके से फाड़ डाले तो इस क्रियामें जितना काल लगता है क्या वही समयका प्रमाण है ?'

उत्तर—'नहीं, उतने कालको समय नहीं कह सकते, क्योंकि संख्यात् तन्तुओंके इकट्ठे होने पर वह वस्त्र बना है, अतः जब तक उसका पहला तन्तु छिन्न नहीं होगा तब तक दूसरा तन्तु छिन्न नहीं होना। पहला तन्तु एक कालमें टूटता है, दूसरा तन्तु दूसरे कालमें, इस लिये उस सख्येय तन्तुओंको तोड़नेकी क्रिया वाला काल समय संज्ञक नहीं कहा जा सकता।'

प्रश्न—'जितने समयमें वह युवा पट्टसाटिकाके पहले तन्तुको तोड़ता है क्या उतना काल समय-संज्ञक होता है ?'

उत्तर—'नहीं, क्योंकि पट्टसाटिका एक तन्तु संख्यात सूक्ष्म रोमोंके एकत्रित होने पर बनता है, अतः तन्तुका पहला—ऊपरका रूआँ जब तक नहीं टूटता तब तक नीचे वाला दूसरा रूआँ नहीं टूट सकता।'

प्रश्न—'तब क्या जितने कालमें वह युवा पट्टसाटिकाके प्रथम तन्तुके प्रथम रोयेंको तोड़ता है उतना काल समय संज्ञक हो सकता है ?'

उत्तर—'नहीं, क्योंकि अनन्त परमाणु-सघातोंके एकत्रित होने पर वह रोयाँ बनता है। अतः रोयेका प्रथम परमाणु-संघात जब तक नहीं टूटता तब तक नीचे का सघात नही टूट सकता। ऊपरका संघात एक कालमें टूटता है, नीचेका सघात उससे भिन्न दूसरे कालमें। इसलिये एक रोयेंके टूटनेकी क्रियावाला काल भी समय सज्ञक नहीं हो सकता।'

अर्थात् एक रोयेके टूटनेमें जितना समय लगता है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्मतर कालको 'समय' कहते हैं। जैनदर्शनमें मनुष्य आँख बन्दकर खोलता है या पलके मारता है, इस क्रियामें लगने वाले कालमें असख्यात समयका बीत जाना बतलाया गया है।

उपर्युक्त उदाहरणमें पाठकोंको जैनदर्शनके समयकी सूक्ष्मताका कुछ आभास अवश्य मिल सकता है। ये दृष्टान्त केवल विषयको बोधगम्य करनेके लिये ही दिये गये हैं। समयका वास्तविक स्वरूप तो कल्पनातीत है। अब समयके अधिक कालकी गणनाको संक्षेपसे बतलाया जाता है।

१ निर्विभाज्य काल रूप — १ समय
२ असंख्यात समयोंकी — १ आवलिका
३ संख्येय आवलिकोंका — १ उश्वास (स्वस्थ युवाका)
४ संख्येय आवलिकोंका — १ निश्वास (,,)
५ उश्वास युक्त निश्वासका — १ प्राण
६ सात प्राणोंका — १ स्तोक
७ सात स्तोकोंका — १ लव
८ ७७ लवोंका — १ मुहूर्त

(इस प्रकार ३७७३ श्वासोच्छ्वासोंका एक मुहूर्त—२ घड़ी ४८ मिनिट—होता है)

९ ३० मुहूर्तोंका — १ अहोरात्र (दिन)
१० १५ दिनोंका — १ पक्ष
११ २ पक्षोंका — १ मास
१२ २ मासोंकी — १ ऋतु
१३ ३ ऋतुओंका — १ अयन
१४ २ अयनोंका — १ वर्ष
१५ ५ वर्षोंका — १ युग
१६ २० युगोंकी — १ शताब्दी
१७ १० शताब्दियों का एक हज़ार वर्ष
१८ १०० हजार वर्षोंका — १ लक्ष वर्ष
१९ ८४ लक्ष वर्षोंका — १ पूर्वांग
२० ८४ लक्ष पूर्वांगोंका — १ पूर्व

(७०५६०००००००००० वर्ष)

२१ ८४ लक्ष पूर्वोंका — १ त्रुटितांग
२२ ८४ लक्ष त्रुटितांगोंका — १ त्रुटित
२३ ८४ लक्ष त्रुटितोंका — १ अड्डांग
२४ ८४ लक्ष अड्डांगोंका — १ अड्ड
२५ ८४ लक्ष अड्डोंका — १ अववांग
२६ ८४ लक्ष अववांगोंका — १ अवव
२७ ८४ लक्ष अववोंका — १ हुहुकांग
२८ ८४ लक्ष हुहुकांगोंका — १ हुहु
२९ ८४ लक्ष हुहुकोंका — १ उत्पलांग
३० ८४ लक्ष उत्पलांगोंका — १ उत्पल
३१ ८४ लक्ष उत्पलोंका — १ पद्मांग
३२ ८४ लक्ष पद्मांगोंका — १ पद्म
३३ ८४ लक्ष पद्मोंका — १ नलितांग
३४ ८४ लक्ष नलितांगोंका — १ नलित
३५ ८४ लक्ष नलितोंका — १ अर्थनिपूरांग
३६ ८४ लक्ष अर्थनिपूरांगोंका — १ अर्थनिपूर
३७ ८४ लक्ष अर्थनिपूरोंका — १ अयुतांग
३८ ८४ लक्ष अयुतांगोंका — १ अयुत
३९ ८४ लक्ष अयुतोंका — १ नयुतांग

४०	८४ लक्ष नयुतांगोंका	१ नयुत
४१	८४ लक्ष नयुतोंका	१ प्रयुतांग
४२	८४ लक्ष प्रयुतांगोंका	१ प्रयुत
४३	८४ लक्ष प्रयुतोंका	१ चूलिकांग
४४	८४ लक्ष चूलिकांगोंकी	१ चूलिका
४५	८४ लक्ष चूलिकाओंकी	१ शीर्षप्रहेलिकांग
४६	८४ लक्ष शीर्षप्रहेलिकांगोंकी	१ शीर्षप्रहेलिका

अंकोंमें ७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७६७३ ६६६७५६६६४०६२१८६६६८४८०८०१८३२९६ इनके आगे १४० शून्य अर्थात् इस १९४ अंक वाली संख्या को शीर्ष प्रहेलिका कहते हैं। संख्याका व्यवहार यहीं तक है। अब इससे अधिक संख्या वाले (असंख्यात वर्षों वाले) पल्योपम और सागरोपमका स्वरूप दृष्टान्तों से बतलाया जाता है।

औपमिक काल प्रमाण दो प्रकारका होता है—पल्योपम एवं सागरोपम। पल्योपम तीन प्रकारका होता है—१ उद्धार पल्योपम, २ अद्धापल्योपम, ३ क्षेत्र पल्योपम। उद्धार पल्योपम दो प्रकार का होता है—१ सूक्ष्म उद्धारपल्योपम, २ व्यवहारिक पल्योपम।

१ व्यवहारिक उद्धार पल्योपम—एक योजन‡की

‡ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें योजनका प्रमाण इस प्रकार बतलाया गया है—

पुद्गल द्रव्यका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्श परमाणु कहलाता है, अनन्त सूक्ष्म परमाणुओंका एक व्यवहार परमाणु। अनन्त व्यावहारिक परमाणुओंका एक उष्ण श्रेणिया इस प्रकार क्रमशः आठ आठ गुणा वर्द्धित:—शीतश्रेणिया, ऊर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, देवगुरु उत्तरकुरुके युगलियोंका बालाग्र, हरिवर्षरम्यक वर्षके युगलियोंका बालाग्र, हेमवय ऐरण्यवयके मनुष्योंका बालाग्र पूर्व महाविदेहक्षेत्रके मनुष्योंका बालाग्र भरत ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योंका बालाग्र, उनके आठ बालाग्रोंकी एक लीख, फिर क्रमसे आठ गुणित यूका, यवमध्य, (उत्सेध) अंगुल— ६ (उत्सेध) अंगुलोंका एक पाद बारह अंगुलोंका एक बैत, चौबीस अंगुलोंका एक हाथ, अड़तालीस अंगुलोंकी एक कुक्षी, छियानवे अंगुलोंका एक अक्ष या दंड, धनुष्य, युग, मूसल, नालिका अर्थात चार हाथोंका १ धनुष्य, दो हजार धनुष्योंका एक गाऊ (वर्तमान कोस २ माईल) चार गाऊका एक योजन होता है।

लम्बाई-चौड़ाई एवं ऊँचाई वाली धान्य भरनेकी पाली के समान गोलाकार ऐसे एक कुएँकी कल्पना की जाय, जिसकी गोल परिधिका नाप तीन योजनसे कुछ अधिक होता है। उसमें, सिर मुंडानेके बाद एक दिनके दो दिनके यावत् सात अहोरात्रि तकके बढ़े हुए केशोंके टुकड़ोंको ऊपर तक दबा दबा कर इस प्रकार भरा जाय कि उनको न अग्नि जला सके, न वायु उड़ा सके और न वे सड़े या गलें—उनका किसी प्रकार विनाश न हो सके। कुएँको ऐसा भर देनेके बाद प्रति समय एक एक केश-खंडको निकाला जाय। जितने समयमें वह गोलाकार कुआँ खाली हो जाय—उसमें एक भी केशका अंश न बचे—उतने समयको व्यवहारिक उद्धारपल्योपम कहते हैं।

ऐसे दस कोड़ाकोड़ी व्यवहारिक उद्धार पल्योपमका एक व्यवहारिक उद्धार सागरोपम होता है। इस कल्पनासे केवल काल प्रमाणकी प्ररूपणाकी जाती है।

२ सूक्ष्म उद्धार पल्योपम:—उस उपर्युक्त कुएँको एकसे सात दिन तकके बढ़े हुए केशोंके असंख्य टुकड़े करके उनसे उसे उपर्युक्त विधिसे भरकर प्रति समय एक एक केशखंड यदि निकाला जाय, तो इस प्रकार निकाले जानेके बाद जब कुआँ सर्वथा खाली हो जाय,

उतने कालका एक सूक्ष्म उद्धार पल्योपम होता है।

३ व्यवहार अद्धापल्योपमः—उपरोक्त कुएँको व्यवहारिक उद्धारके उपर्युक्त विधिसे भरकर दबे हुए केशखण्डोंमें एक एक केशको सौ सौ वर्षों बाद निकाले जाने पर जब कुँआ खाली हो जाय तब उतने समयको व्यवहारिक अद्धापल्योपम कहते हैं।

४ सूक्ष्म अद्धापल्योपमः—पूर्वोक्त कुएँको १ दिनसे ७ दिनके बढ़े हुए केशोंके असख्य टुकड़े करके पूर्ववत् विधिसे दबा कर भर दिया जाय और फिर सौ सौ वर्ष अनन्तर एक एक केशखंड निकाला जाय। जितने कालमें वह कुँआ खाली हो जाय, उतने काल को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते हैं।

५ व्यवहार क्षेत्र पल्योपम—व्यवहार उद्धार पल्योपमके केशग्रोंने जितने आकाश प्रदेशको स्पर्श किया है, उतने आकाश प्रदेशोंमेंसे एक एकको प्रति समयमें अपहरण करनेमें जितना काल लगे उसे व्यवहारिक क्षेत्र पल्योपम कहते हैं (आकाशके प्रदेश केशखण्डोंसे भी अधिक सूक्ष्म हैं।

६ सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमः—सूक्ष्म उद्धार पल्योपमके केश खण्डोंसे जितने आकाश प्रदेशोंका स्पर्श हुआ हो और जिनका स्पर्श न भी हुआ हो, उनमेंसे प्रत्येक प्रदेशसे प्रति समय अपहरण करते हुए जितना समय लगे उसे सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम कहते हैं।

दश कोड़ाकोड़ी पल्योपमका एक सागरोपम होता है। पल्योपमके ६ भेदोंके अनुसार सागरोपमके भी ६ भेद हो सकते हैं। ऐसे दश कोड़ा कोड़ी सूक्ष्म अद्धा सागरोपमोंकी १ उत्सर्पिणी या १ अवसर्पिणी होती है। इन दोनोंको मिलानेसे अर्थात् २० कोड़ाकोड़ी सागरोपमका एक काल चक्र होता है। इससे अधिक समयको अनंत काल कहते हैं।

इस प्रकार जैनागमोंमें वर्णित समयगणनाका संक्षेपसे निरुपण किया गया है। यह निरुपण अनुयोगद्वार सूत्र एव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के आधारसे लिखा गया है। जो कि मूल एव सपांग ग्रथ माने जाते हैं ज्योतिष-करंड पयन्ना और अन्य बादके ग्रन्थोंमें इस निरुपणसे कुछ तारतम्य भी पाया जाता है, पर लेख विस्तारके भयसे उसकी आलोचना यहाँ नहीं की गई। विशेष जाननेके इच्छुक जिज्ञासुओंको 'लोकप्रकाश' एवं अर्हतदर्शन-दीपिकादि ग्रन्थ देखने चाहिये। जैनागमोंमें वर्णित समय गणनाकी बौद्ध एवं वैदिक प्राचीन साहित्यसे तुलना करना आवश्यक है। आशा है साहित्यप्रेमी इस ओर प्रयत्नशील होंगे।
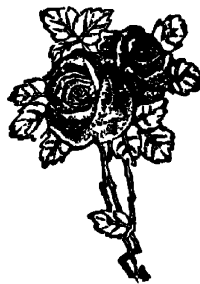
यति-समाज

[लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा]

जैनागमों एवं कोषग्रन्थोंमें यति, साधु, मुनि, निर्ग्रन्थ, अनगार और वाचंयम आदि शब्द एकार्थबोधक माने गये हैं * अर्थात् यति साधुका ही पर्यायवाची शब्द है, पर आज कल इन दोनों शब्दोंके अर्थमें रात और दिनका अन्तर है। इसका कारण यह है कि जिन जिन व्यक्तियोंके लिये इन दोनों शब्दोंका प्रयोग होता है, उनके आचार-विचारमें बहुत व्यवधान हो गया है। जो यति शब्द किसी समय साधुके समान ही आदरणीय था, आज उसे सुन कर काल-प्रभावसे कुछ और ही भाव उत्पन्न होते हैं। शब्दोंके अर्थमें भी समयके प्रभावसे कितना परिवर्त्तन हो जाता है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

जैनधर्ममें साधुओंके आचार बड़े ही कठोर और दुश्चरणीय हैं। अतएव उनका यथारीति पालन करना 'असिधार पर चलनेके समान ही' कठिन बतलाया गया है। कहीं कहीं 'लोहेके चने चबाने' का दृष्टान्त भी दिया गया है, और वास्तवमें है भी ऐसा ही। जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है, और मनुष्य-प्रकृतिका झुकाव प्रवृत्तिमार्गकी ओर अधिक है—पौद्गलिक सुखोंकी ओर मनुष्यका एक स्वाभाविक आकर्षण-सा है। सुतरां जैन साध्वाचारोंके साथ मनुष्य-प्रकृतिका संघर्ष अवश्यम्भावी है। इस संघर्षमें जो विजयी होता है, वही सच्चा साधु कहलाता है। समय और परिस्थिति बहुत शक्तिशाली होते हैं; उनका सामना करना टेढ़ी खीर है। इनके प्रभावको अपने ऊपर न लगने देना बड़े भारी पुरुषार्थका कार्य है। अतः इस प्रयत्नमें बहुतसे व्यक्ति विफल-मनोरथ ही नजर आते हैं। विचलित न होकर, मोरचा बाँध कर डटे रहने वाले वीर विरले ही मिलेंगे। भगवान् महावीरने यही समझ कर कठिनसे कठिन आचार-विचारको प्रधानता दी है। मनुष्य प्रकृति जितनी मात्रामें आरामतलब है, उतनी ही मात्रामें कठोरता रखे बिना पतन होते देर नहीं लगती। आचार जितने कठोर होंगे, पतनमें भी उतनी देरी और कठिनता होगी। यह बात अवश्य है कि उत्थानमें जितना समय लगता है, पतनमें उससे कहीं कम समय लगता है फिर भी एक पैड़ीसे गिरे

---

* अथ मुमुक्षुः श्रमणो यतिः ॥ ७५ ॥ वाचयंमो व्रती साधुरनगार ऋषिर्मुनिः, निर्ग्रन्थो भिक्षुः। यतते मोक्षायेति यतिः (मोक्षमें यत्न करने वाला यति है)। यतं यमनमस्त्यस्य यती (नियमन, नियंत्रण रखने वाला यति है।)

—अभिधानचिन्तामणि।

जइ (पु०) यति, साधु, जितेन्द्रिय संन्यासी (औपपातिक, सुपार्श्व, पाइअस इमहण्णवो भा० २ पृ० ४२७)

हुए मनुष्य और पचास पैड़ीसे गिरे हुए मनुष्यमें समयका अन्तर अवश्य रहेगा।

अब साध्वाचारकी शिथिलताके कारणों एवं इतिहासकी कुछ आलोचना की जाती है, जिससे वर्तमान यति-समाज अपने आदर्शसे इतना दूर क्यों और कैसे हो गया? इसका सहज स्पष्टीकरण हो जायगा; साथ ही बहुतसी नवीन ज्ञातव्य बातें पाठकोंको जाननेको मिलेंगी।

भगवान् महावीरने भगवान पार्श्वनाथके अनुयाइयोंकी जो दशा केवल दो सौ ही वर्षोंमें हो गई थी, उसे अपनी आँखों देखा था। अतः उन्होंने उन नियमोंमें काफी संशोधन कर ऐसे कठिन नियम बनाये कि जिनके लिये मेधावी श्रमणकेशी जैसे बहुश्रुतको भी भगवान् गौतमसे उनका स्पष्टीकरण कराना पड़ा ❀। सूत्रकारों† ने उसे समयकी आवश्यकता बतलाई और कहा कि प्रभु महावीरसे पहलेके व्यक्ति ऋजुप्राज्ञ थे और महावीर-शासन कालके व्यक्तियोंका मानस उससे बदल कर वक्र जड़की ओर अग्रसर हो रहा था। दो सौ वर्षोंके भीतर परिस्थितिने कितना विषम परिवर्तन कर डाला, इसका यह स्पष्ट प्रमाण है। महावीरने वस्त्र परिधानकी अपेक्षा अचेलकत्वको अधिक महत्व दिया, और इसी प्रकार अन्य कई नियमोंको भी अधिक कठोर रूप दिया।

भगवान् महावीरकी ही दूरदर्शिताका यह सुफल है कि आज भी जैन साधु संसारके किसी भी धर्मके साधुओंसे अधिक सात्विक और कठोर नियमों-आचारोंको पालन करने वाले हैं। अन्यथा बौद्ध और वैष्णवोंकी भांति अवस्था हुए बिना नहीं रहती। पर यह भी तो मानना ही पड़ेगा कि परिस्थितिने जैन मुनियोंके आचारोंमें भी बहुत कुछ शिथिलता प्रविष्ट करादी। उसी शिथिलताका चरम शिकार हमारा वर्तमान यति-समाज है।

इस परिस्थितिके उत्पन्न होनेमें मनुष्य प्रकृति के अलावा और भी कई कारण हैं—जैसे (१) बारहवर्षीय दुष्काल, (२) राज्य विप्लव, (३) अन्य धर्मोंका प्रभाव, (४) निरंकुशता, (५) समयकी अनुकूलता, (६) शरीर-गठन और (७) संगठन-शक्तिकी कमी इत्यादि।

प्रकृतिके नियमानुसार पतन एकाएक न होकर क्रमशः हुआ करता है। हम अपने चर्मचक्षु और स्थूलबुद्धिसे उस क्रमशः होनेवाले पतनकी कल्पना भी नहीं कर सकते, पर परिस्थिति तो अपना काम किये ही जाती है। जब वह परिवर्त्तन बोधगम्य होता है, तभी हमें उसका सहसा भान होता है—"अरे! थोड़े समय पहले ही क्या था और अब क्या हो गया? और हमारे देखते देखते ही?" यही बात हमारे साधुओंकी शिथिलताके बारेमें लागू होती है। बारह वर्षके दुष्काल आदि कारणोंने उनके आचारको इतना शिथिल बना दिया कि वह क्रमशः बढ़ते बढ़ते चैत्यवासके रूप में परिणत हो गया। चैत्यवासकी उत्पत्तिका समय पिछले विद्वानोंने वीरसंवत् ८८२ में बतलाया है, पर वास्तवमें वह समय प्रारम्भका न होकर मध्य कालका है ❀। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि परिवर्तन बोधगम्य हुए बिना हमारी समझमें नहीं

❀ उत्तराध्ययन सूत्र "केशी-गौतम-अध्ययन"

† कल्पसूत्र

❀ पुरातत्वविद् श्री कल्याणविजयजीने भी प्रभावक चरित्र पर्यालोचनमें यही मत प्रकाश किया है।

आ सकता।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि भविष्य जब पतन या उत्थानका होता है तब एक ही ओरसे पतन या उत्थान नहीं होता, वह चारों ओरसे प्रवेश कर अपना घर बना लेता है। यही बात जैनश्रमण-संस्था पर लागू है। जैनागमोंके अनुशीलनसे पता चलता है कि पहले ज्ञानबल घटने लगा। जंबुस्वामीसे केवलज्ञान विच्छेद हो गया, भद्रबाहु से ११ से १४ पूर्वका अर्थ, स्थूलिभद्रसे ११ से १४ वाँ पूर्व मूल और वज्रस्वामिसे १० पूर्वका ज्ञान भी विच्छिन्न होगया †। इस प्रकार क्रमशः ज्ञान बल घटा और साथ ही साथ चारित्रकी उत्कट भावनायें एवं आचरणायें भी कम होने लगीं। छोटी-बड़ी बहुत कमजोरियोंने एक ही साथ आ दबाया। इन साधारण कमजोरियोंको नगण्य समझ कर पहले तो उपेक्षा की जाती है। पर एक कमजोरी आगे चलकर—प्रकट होकर—पड़ोसिन बहुत सी कमजोरियोंको बुला लाती है, यह बात हमारे व्यावहारिक जीवनमें स्पष्ट है। प्रारम्भमें जिस शिथिलताको, साधारण समझकर अपवाद-मार्गके रूपमें अपनाया गया था, वही आगे चल कर राजमार्ग बन गई। द्वादश वर्षीय दुष्कालमें मुनियोंको अनिच्छासे भी कुछ दोषोंके भागी बनना पड़ा था, पर दुष्काल निवर्तनके पश्चात भी उनमेंसे कई व्यक्ति उन दोषोंको विधानके रूपमें स्वीकार कर खुल्लमखुल्ला पोषण करने लगे। उन की प्रबलता और प्रधानताके आगे सुविहिताचारी मुनियोंकी कुछ नहीं चल सकी।

सम्राट संप्रति * के समयमें जैन मंदिरोंकी संख्या बहुत बढ़ गई। मुनिगण इन मन्दिरोंको अपने ज्ञान-ध्यानके कार्यमें साधक समझ कर वहीं उतरने लगे। बनको उपद्रवकारक समझ कर, क्रमशः वहीं ठहरने एवं स्थायी रूपसे रहने लगे। इस कारणसे उन मन्दिरोंकी देखभालका काम भी उनके जिम्मे आ पड़ा, और क्रमशः मन्दिरोंके साथ उनका सम्पर्क इतना बढ़ गया कि वे मन्दिरों को अपनी पैतृक सम्पत्ति (बपौती) समझने लगे। चैत्यवासका स्थूलरूप यहींसे प्रारम्भ हुआ मालूम पड़ता है। एक स्थानमें रहनेके कारण लोकसंसर्ग बढ़ने लगा, कई व्यक्ति उनके दृढ़ अनुयायी और अनुरागी हो गये। इसीसे गच्छोंकी बाड़ाबन्दीकी नींव पड़ी। जिस परम्परामें कोई समर्थ आचार्य हुआ और उनके पृष्ठपोषक तथा अनुयायियां-की संख्या बढ़ी, वही परम्परा एक स्वतन्त्र गच्छरूपमें परिणत हो गई। बहुतसे गच्छोंके नाम तो स्थानोंके नामसे प्रसिद्ध हो गये। रूद्रपल्लीय, मंडरक उपकेश इत्यादि इस बातके अच्छे उदा-हरण हैं। कई उस परम्पराके प्रसिद्ध आचार्यके किसी विशिष्टकार्यसे प्रसिद्ध हुए, जैसे खरतर, तपा आदि। विद्वत्ता आदि सद्गुणोंके कारण उनके प्रभावका विस्तार होने लगा और राज-

† इस सम्बन्धमें दिगम्बर मान्यताके लिये "अनेकान्त" वर्ष ३ किरण १ में देखें।

* कहा जाता है सम्प्रतिने साधुओंकी विशेष भक्तिसे प्रेरित होकर कई ऐसे कार्य किये जिससे उनको शुद्ध आहार मिलना कठिन हुआ और राजाश्रयसे शिथिलता भी आ घुसी।

दरबारोंमें भी उनकी प्रतिष्ठा जम गई। जनतामें तो प्रभाव था ही, राजाश्रय भी मिल गया; बस और चाहिये क्या था? परिग्रह बढ़ने लगा, क्रमशः वह शाही ठाटबाट सा हो गया। गद्दी तकियोंके सहारे बैठना, पान खाना, स्नान करना, शारीरिक सौन्दर्यके बढ़ानेके साधनोंका उपयोग, जैसे बाल रखना, सुगंधित तेल और इत्रफुलेलादि सेवन करना, और पुष्पमालाओंको पहनना आदि विविध प्रकारके आगम-विरुद्ध आचरण प्रचलित हो गये *।

सुविहित मुनियोंको यह बातें बहुत अखरीं, उन्होंने सुधारका प्रयत्न भी किया, पर शिथिलाचारियोंके प्रबल प्रभाव और अपने पूर्ण प्रयत्नके अभावके कारण सफल नहीं हो सके। समर्थ आचार्य हरिभद्रसूरिने भी अपने संबोध-प्रकरणमें चैत्यवासियोंका बहुत कड़े शब्दोंमें विरोध किया है। इन प्रकरणोंसे चैत्यवासका स्वरूप स्पष्ट रूपसे प्रकट होता है। प्रसिद्ध कहावत है कि "पापका घड़ा भरे बिना नहीं फूटता"। समयके परिपाकके पूरे होने पर ही कार्य हुआ करते हैं। व्रण भी जब तक पूरा नहीं पक जाता, तब तक नहीं फूटता। ग्यारहवीं शताब्दीमें चैत्यवासियोंका प्राबल्य इतना बढ़ गया कि सुविहितोंको उतरने या ठहरनेका स्थान तक नहीं मिलता था। पाटण उस समय उनका केन्द्रस्थान था। कहा जाता है कि वहाँ उस समय चैत्यवासी चौरासी आचार्योंके अलग अलग उपाश्रय थे। सुविहितोंमें उस समय श्री वर्द्धमानसूरिजी मुख्य थे। उनके शिष्य जिनेश्वरसूरिसे जैनमुनियोंकी इतनी मार्गभ्रष्टता न देखी गई, अतः उन्होंने गुरुजीसे निवेदन किया कि पाटण जाकर जनताको सच्चे साधुत्वका ज्ञान कराना चाहिये, जिससे कि धर्म, जो कि केवल बाहरके आडम्बरोंमें ही माना जाने लगा है, वास्तविक रूपमें स्थापित हो सके। इन विचारोंके प्रबल आन्दोलनसे उनमें नये साहसका सञ्चार हुआ और वे १८ मुनियोंके साथ पाटण पधारे। उस समय उन्हें वहाँ ठहरनेके लिये स्थान भी नहीं मिला पर आखिर उन्होंने अपनी प्रतिभासे स्थानीय राजपुरोहितको प्रभावित कर लिया, और उसीके यहाँ ठहरे। जैसा कि पहले सोचा गया था, चैत्यवासियोंके साथ विरोध और मुठभेड़ अवश्यम्भावी थी उन लोगोंने जिनेश्वरसूरिजीके आनेका समाचार पाते ही जिस किसी प्रकारसे उन्हें लाञ्छन कर निर्वासित करानेकी ठान ली। विरुद्ध प्रचार उनका पहला हथियार था। उन्होंने अपने कई शिष्यों और आश्रित व्यक्तियोंको यह कहा कि तुम लोग सर्वत्र इस बातका प्रचार करो कि "यह साधु अन्य राज्योंके छद्मवेशी गुप्तचर हैं, यहाँका आन्तरिक भेद प्राप्त कर राज्यका अनिष्ट करेंगे। अतः इनका यहाँ रहना मंगलजनक न होकर उलटा भयावह ही है। जितनी शीघ्र हो सके इनको यहाँसे निकाल देना चाहिये। राष्ट्रके हितके लिये हमें इस बातका

* विशेष जाननेके लिये देखें हरिभद्रसूरिजी रचित संबोध-प्रकरण, गणधरसार्द्धशतक बृहद् वृत्ति, संघपट्टकवृत्ति आदि। पं० बेचरदासजी रचित, 'जैन साहित्य माँ विकार थवाथी थयेली हानी' ग्रन्थमें भी संबोध सत्तरीके आधारसे अच्छा प्रकाश डाला गया है।

स्पष्टीकरण करना पड़ रहा है।" फैलते फैलते यह बात तत्कालीन नृपति दुर्लभराजके कानोंमें पहुँची उन्होंने राजपुरोहितसे पूछा और उससे सच्ची वस्तुस्थिति जानने पर उनके विस्मयका पार न रहा, कि ऐसे साधुओंके विरुद्ध ऐसा घृणित और निन्दनीय प्रयत्न!

समयका परिपाक हो चुका था; चैत्यवासियों ने अन्य भी बहुत प्रयत्न किये, पर सब निष्फल हुए। इसके उपरान्त चैत्यवासियोंसे श्री जिनेश्वर-सूरिजीका शास्त्रार्थ हुआ, चैत्यवासियोंकी बुरी तरहसे हार हुई ‡। तभीसे सुविहिताचारियोंका प्रभाव बढ़ने लगा। जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि और जिनपतिसूरि, इन चार आचार्योंके प्रबलपुरुपार्थ और असाधारण प्रतिभासे चैत्यवासियोंकी जड़ खोखली हो गई। जिनदत्तसूरि-जी तो इतने अधिक प्रभावशाली समर्थ आचार्य हुए कि विरोधी चैत्यवासियोंमेंसे कई आचार्य स्वयं उनके शिष्य बन गये। जिनपतिसूरिजीके बाद तो चैत्यवासियोंकी अवस्था हतप्रभाव हो ही गई थी, उनकी शक्ति अब विरोध एवं शास्त्रार्थ तो दूरकी बात, अपने घरको संभाल रखनेमें भी पूर्ण समर्थ नहीं रही थी, कई आत्मकल्याणके इच्छुक चैत्यवासियोंने सुविहित मार्गको स्वीकार प्रचारित किया। उनकी परंपरासे कई प्रसिद्ध गच्छ प्रसिद्ध हुए। खरतर गच्छके मूल-पुरुष वर्द्धमानसूरिजी भी पहले चैत्यवासी थे। इसी प्रकार तपागच्छके जगच्चन्द्रसूरिजीने भी क्रिया-उद्धार किया। इन्हींके प्रसिद्ध खरतरगच्छ तथा तपागच्छ आज भी विद्यमान हैं। वर्धमानसूरिजी के शिष्य जिनेश्वरसूरिने दुर्लभराजकी सभामें (सं० १०७०-७५) चैत्यवासियों पर विजय प्राप्त की, अतः खरे-सच्चे होनेके कारण वह खरतर कहलाये और जगच्चन्द्रसूरिजीने १२ वर्षोंकी आयंबिलकी तपश्चर्या की इससे वे तपा (सं० १२८५) कहलाये। इसी प्रकार अन्य कई गच्छों का भी इतिहास है।

‡ विशेष वर्णनके लिये देखें, सं० १२९५ में रचित—"गणधर-सार्द्ध-शतकबृहद्वृत्ति"।

इसके बाद मुसलमानोंकी चढ़ाइयोंके कारण भारतवर्ष पर अशांतिके बादल उमड़ पड़े। उनका प्रभाव श्रमण-संस्था पर पड़े बिना कैसे रह सकता था? जनसाधारणके नाकों दम था। धर्मसाधनामें भी शिथिलता आ गई थी क्योंकि उस समय तो लोगोंके प्राणों पर संकट बीत रहा था। फलतः मुनियोंके आचरणमें भी काफ़ी शिथिलता आगई थी। यह विषम अवस्था यद्यपि परिस्थिति के आधीन ही हुई थी, फिर भी मनुष्यकी प्रकृतिके अनुसार एक बार पतनोन्मुख होनेके बाद फिर सँभलना कठिनता और विलंबसे होता है। अतः शिथिलता दिन-ब-दिन बढ़ने ही लगी। उस समय यत्र तत्र पैदल विहार करना विघ्नोंसे परिपूर्ण था। यवनोंकी धाड़ अचानक कहींसे कहीं आपड़ती, देखते देखते शहर उजाड़ और वीरान हो जाते। लूट खसोटकर यवन लोग हिन्दुओंके देवमन्दिरों को तोड़ डालते, लोगोंको बेहद सताते और भाँति भाँतिके अत्याचार करते। ऐसी परिस्थितिमें श्रावक लोग मुनियोंकी सेवा संभाल—उचित भक्ति नहीं कर सके, तो यह अस्वभाविक कुछ भी नहीं है।

शिथिलता क्रमशः बढ़ती ही गई, यहाँ तक कि १६ वीं शताब्दीमें सुधारकी आवश्यकता आ

पड़ी! चारों ओरसे सुधारके लिये व्यग्र आवाजें सुनाई देने लगीं। वास्तवमें परिस्थितिने क्रांति-सी मचा दी। श्रावक समाजमें भी जागृति फैली। सोलहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें प्रथम लोंकाशाह (सं० १५३०) ने विरोधकी आवाज उठाई, कड़वाशाहने उस समयके साधुओंको देख वर्त्तमान काल (१५६२) में शुद्ध साध्वाचारका पालन करना असंभव बतलाया और संवरी श्रावकोंका एक नया पंथ निकाला, पर यह मूर्तिपूजाको माना करते थे। लोंकाशाहने मूर्तिपूजाका भी विरोध किया, पर सुविहित मुनियोंके शास्त्रीय प्रमाण और युक्तियोंके मुकाबले उनका यह विरोध टिक नहीं सका। पचास वर्ष नहीं बीते कि उन्हीं के अनुयायियोंमेंसे बहुतोंने पुनः मूर्तिपूजाको स्वीकार कर लिया‡, बहुतसे शास्त्रार्थमें पराजित होकर सुविहित मुनियोंके पास दीक्षित होगये। सुविहित मुनियोंकी दलीलें शास्त्रसम्मत, प्रमाणयुक्त, युक्तियुक्त और समीचीन थीं, उनके विरुद्ध टिके रहनेकी विद्वत्ता और सामर्थ्य विरोधियोंमें नहीं थी।

इधर आत्मकल्याणके इच्छुक कई गच्छोंके आचार्योंमेंभी अपने अपने समुदायके सुधार करने की भावनाका उदय हुआ; क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं शास्त्रविहित मार्गका अनुसरण नहीं करता, उसका प्रभाव दिन-ब-दिन कम होता चला जाता है। खरतरगच्छके आचार्य श्री जिनमाणिक्य सूरिजीने अपने गच्छके सुधार करनेका निश्चय कर लिया और इसी उद्देश्यसे वे जिनकुशलसूरिजीकी यात्रार्थ देरावर पधारे। पर भावी प्रबल है, मनुष्य सोचता कुछ है, होता कुछ और ही है। मार्ग ही में उनका स्वर्गवास हो गया, अतः वे अपनी इच्छाको सफल और कार्यमें परिणत नहीं कर सके। उनके तिरोभावके बाद उनके सुयोग्य शिष्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजीने अपने गुरुदेवकी अन्तिम आदर्श भावनाको सफलीभूत बनानेके लिये सं० १६१३ में बीकानेरमें क्रिया-उद्धार किया *। इसी प्रकार तपागच्छमें आनन्दविमलसूरिजीने सं० १५८२ में, नागोरी तपागच्छके पार्श्वचन्द्रसूरिजीने सं० १५६५ में, अञ्चलगच्छके धर्ममूर्त्तिसूरिजीने सं० १६१४ में क्रिया-उद्धार किया।

सत्रहवीं शताब्दीमें साध्वाचार यथारीति पालन होने लगा। पर वह परम्परा भी अधिक दिन कायम नहीं रह सकी, फिर उसी शिथिलताका आगमन होना शुरू हो गया; १६८७ के दुष्काल†का भी इसमें कुछ हाथ था। अठारहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें शिथिलताका रूप प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा, खरतरगच्छमें जिनसूरिजीके पट्टधर, जिनचन्द्र सूरिजीने शिथिलाचार पर नियंत्रण करनेके लिये

‡ उदाहरणके लिये सं० १५२७ में लोंकामतसे बीजामत निकला जिसने मूर्तिपूजा स्वीकृत की। (धर्मसागर-रचित पट्टावली एवं प्रवचन परीक्षा)। जैनेतर समाजमें भी इस समय कई मूर्तिपूजाके विरोधी मत निकले पर अन्तमें उन्होंने भी मूर्तिपूजा स्वीकार की।

* विशेष जाननेके लिये देखें हमारे द्वारा लिखित 'युग-प्रधान जिनचन्द्र सूरि' ग्रन्थ।

† इस दुष्कालका विशद वर्णन कविवर समयसुन्दरने किया है, जो कि मेरे लेखके साथ श्री जिन विजयजी द्वारा सम्पादित 'भारतीय विद्या' के दूसरे अंकमें शीघ्र ही प्रगट होगा। इस दुष्कालके प्रभावसे उत्पन्न हुई शिथिलताके परिहारार्थ समयसुन्दरजीने सं० १६९२ में क्रिया-उद्धार किया था।

सं० १७१८ की विजयादशमीको) कुछ नियम † बनाये। एक बातका स्पष्टीकरण करना यहाँ आवश्यक है कि यद्यपि शिथिलाचार अपना प्रभाव दिन ब दिन बढ़ा रहा था फिर भी उस समय व्यवस्थाका बहुत कुछ परिचय मिलता है। नं० ६ व्यवस्थापत्र अप्रकाशित होनेके कारण उससे तत्कालीन परिस्थितिका जो तथ्य प्रकट होता है वह नीचे लिखा जाता है:—

१ यतियोंमें क्रय-विक्रयकी प्रथा ज़ोर पर हो चली थी, श्रावकोंकी भाँति ब्याज-बट्टेका काम भी जारी हो चुका था, पुस्तकें लिख लिख कर बेचने लगे थे। शिष्यादिका भी क्रय विक्रय होता था।

२ वे उद्भट उज्वल वेष धारण करते थे। हाथमें धारण करने वाले दंडेके ऊपर दाँतका मोगरा और नीचे लोहेकी साँब भी रखते थे।

३ यति लोग पुस्तकोंके भारको वहन करनेके लिये शकट, ऊंट, नौकर आदि साथ लेते थे।

४ ज्योतिष वैद्यक आदिका प्रयोग करते थे; जन्म पत्रियाँ बनाते व औषधादि देते थे।

५ धातुका भाजन, धातुकी प्रतिमादि रख पूजन करते थे।

६ सात आठ वर्षमें छोटे एवं अशुद्ध जातिके बालकोंको शिष्य बना लेते थे, लोच करनेके विषयमें एवं प्रतिक्रमणकी शिथिलता थी।

७ साध्वियोंको विहारमें साथ रखते थे व ब्रह्मचर्य यथारीति पालन नहीं करते थे।

८ परस्पर झगड़ा करते थे, एक दूसरेकी निन्दा करते थे।

(अठारहवीं शताब्दीके यति और श्रीपूज्योंके पारस्परिक युद्धों तथा मारपीटके दो बृहद वर्णन हमारे संग्रहमें भी हैं)

---

† समय समय पर गच्छकी सुव्यवस्थाके लिये ऐसे कई व्यवस्थापत्र तपा और खरतर गच्छके आचार्योंने जारी किये जिनमें से प्रकाशित व्यवस्थापत्रों की सूची इस प्रकार है:—

१ जिनप्रभसूरि (चौदहवीं शताब्दी) का 'व्यवस्थापत्र' (प्र० जिनदत्त सूरि चरित्र--जयसागर सूरि लि०)

२ तपा सोमसुन्दर सूरि-रचित संविग्न साधु योग्य-कुलकके नियम (प्र० जैनधर्म प्रकाश, वर्ष ५२ अंक ३ पृ०३)

३ सं० १५८३ ज्येष्ठ; पट्टनमें तपागच्छीय आनन्द विमल सूरिजीका 'मर्य्यादापट्टक' (प्र० जैनसत्यप्रकाश वर्ष २ अङ्क ३ पृ० ११२)

४ सं० १६१३ यु० जिनचन्द्रसूरिजीका क्रिया उद्धार नियम पत्र (प्र० हमारे द्वारा लि० युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि)

५ सं० १६४६ पो० सु० १३ पत्तने हीरविजय सूरिपट्टक (जैनसत्य प्रकाश वर्ष २ अङ्क २ पृ० ७५)

६ सं० १६७७ वै० सु० ७ सावलीमें विजयदेव सूरिका 'साधुमर्यादापट्टक' (प्र० जैनधर्म प्रकाश वर्ष ५२ अङ्क १ पृ० १७)

७ सं० १७११ मा० सु० १३ पत्तन, विजयसिंह सूरि (प्र० जै० धर्म प्रकाश वर्ष ५२ अंक २ पृ० ५५)

८ सं० १७१८ मा० सु० ६ 'विजय क्षमासूरि पट्टक' (जैन सत्यप्रकाश वर्ष २ अंक ६ पृ० ३७८)

९ उपर्युक्त जिनचन्द्रसूरिजीका पत्र अप्रकाशित हमारे संग्रहमें है।

इन मर्यादा-पट्टकोंसे तत्कालीन यति समाजकी

जैनाचार्योंका प्रभाव साधु एवं श्रावक संघ पर बहुत अच्छा था, अतः उनके नियंत्रणका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता था। उनके आदेशका उल्लंघन करना मामूली बात नहीं थी, उल्लंघनकारीको उचित दण्ड मिलता था। आज जैसी स्वच्छन्द-चारिता उस समय नहीं थी। इसीके कारण सुधार होनेमें सरलता थी।

अठारहवीं शताब्दीमें गच्छ-नेता गण स्वयं शिथिलाचारी हो गये, अतः सुधारकी ओर उनका लक्ष्य कम हो गया। इस दशामें कई आत्मकल्याणेच्छुक मुनियोंने स्वयं क्रिया उद्धार किया। उनमें, खरतर गच्छमें श्रीमद्देवचन्द्रजी (सं० १७७७) और तपागच्छमें श्रीसत्यविजयजी पन्यास प्रसिद्ध हैं। उपाध्याय यशोविजयजी भी आपके सहयोगी बने इस समयकी परिस्थितिका विशद विवरण उपाध्याय यशोविजयजीके "श्रीमंधरस्वामी" विनती आदिमें मिलता है।

अठारहवीं शताब्दीके शिथिलाचारमें द्रव्य रखना प्रारम्भ हुआ था। पर इस समय तक यति-समाजमें विद्वत्ता एवं ब्रह्मचर्य आदि सद्गुणोंकी कमी नहीं थी। वैद्यक, ज्योतिष आदिमें इन्होंने अच्छा नाम कमाना आरम्भ किया। आगे चल कर उन्नीसवीं शताब्दीसे यति-समाजमें दोनों दुर्गुणों (विद्वत्ताकी कमी और असदाचार) का प्रवेश होने लगा। आपसी झगड़ोंने आचार्योंकी सत्ता और प्रभावको भी कम कर दिया। १८ वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें क्रमशः दोनों दुर्गुण बढ़ते नजर आते हैं। वे बढ़ते बढ़ते वर्त्तमान अवस्थामें उपस्थित हुए हैं। कई श्रीपूज्योंने यतिनियोंका वृद्धि। करना व्यभिचारके प्रचारमें साधक समझ कर यतिनियोंको दीक्षा देना बन्द कर दिया। इनमें खरतर गच्छके जयपुर शाखा वाले भी एक हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें तो यति लोग मालदार कहलाने लग गये। परिग्रहका बोझ एवं विलासिता बढ़ने लगी। राजसम्बन्धसे कई गाँव जागीरके रूपमें मिल गये, हजारों रुपये वे ब्याज पर धरने लगे, खेती करवाने लगे, सवारियों पर चढ़ने लगे, स्वयं गाय, भैंस, ऊँट इत्यादि रखने लगे। संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे एक प्रकारसे घर-गृहस्थीसे बन गये। उनका परिग्रह राजशाही ठाट-बाट-सा हो गया। वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र तंत्रमें ये सिद्धहस्त कहलाने लगे और वास्तवमें इस समय इनकी विशेष प्रसिद्धि एवं प्रभावका कारण ये ही विद्याएँ थीं। अठारहवीं शताब्दीके सुप्रसिद्ध सुकवि धर्मवर्द्धनजीने भी अपने समयके यतियोंकी विद्वत्ता एवं प्रभावके विषयमें कवित्त रचना करके अच्छा वर्णन किया है।

औरङ्गजेबके समयसे भारतकी अवस्था फिर शोचनीय हो उठी, जनताको धन-जन उभय प्रकारकी काफी हानि उठानी पड़ी। आपसी लड़ाइयोंमें राज्यके कोष खाली होने लगे तो उन्होंने भी प्रजासे अनुचित लाभ उठा कर द्रव्य संग्रहकी ठान ली। इससे जनसाधारणकी आर्थिक अवस्था बहुत गिर गई; जैन श्रावकोंके पास भी नगद रुपयोंकी बहुत कमी हो गई। जिनके पास ५-१० हजार रुपये होते वे तो अच्छे साहूकार गिने जाते थे, साधारणतया ग्राम-निवासी जनताका मुख्य आधार कृषिजीवन था, फसलें ठीक न होनेके कारण उसका भी सहारा कम होने लगा, तब

श्रावक लोग, जो साधारण स्थितिके थे, यतियोंके पास ब्याज पर रुपये लेने लगे। अतः आर्थिक सहायताके कारण कई श्रावक यतियोंके दबेलसे बन गये, कई वैद्यक-तंत्र-मंत्र आदि द्वारा अपने स्वार्थ साधनोंमें सहायक एवं उपकारी समझ उन्हें मानते रहे, फलतः संघसत्ता क्षीण-सी हो गई। यतियोंको संघसत्ता-द्वारा भूल बतला कर पुनः कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं रही। इससे निरंकुशता एवं नेतृत्वहीनताके कारण यति समाजमें शिथिलाचार स्वच्छंदतासे पनपने एवं बढ़ने लगा। यतिसमाजने भी रुख बदल डाला। धर्मप्रचारके साथ साथ परोपकार को उन्होंने स्वीकार किया. श्रावक आदिके बालकों को वे पढ़ाई कराने लगे, जन्मपत्री बनाना, मुहूर्त्तादि बतलाना रोगोंके प्रतिकारार्थ औषधोपचार चालू करने लगे जिनसे उनकी मान्यता पूर्ववत बनी रहे।

उनकी विद्वताकी धाक राज दरबारोंमें भी अच्छी जमी हुई थी, अतः राजाओंसे उन्हें अच्छा सन्मान प्राप्त था, अपने चमत्कारोंसे उन्होंने काफी प्रभाव बढ़ा रक्खा था। इस राज्य-सम्बन्ध एवं प्रभावके कारण स्थानकवासी मत निकला तब उनके साधुओंके लिये इन्होंने बीकानेर, जोधपुर आदिसे ऐसे आज्ञापत्र भी जारी करवा दिये थे जिनसे वे उन राज्योंमें प्रवेश भी नहीं कर सकें।

१८ वीं शताब्दी तक यति-समाजमें ज्ञानोपासना सतत चालू थी, अतः उनके रचित बहुतसे अच्छे अच्छे ग्रन्थ इस समय तकके मिलते हैं; पर १९ वीं शताब्दीसे ज्ञानोपासना क्रमशः घटती चली (अतः इस शताब्दीके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ बहुत कम मिलते हैं) और वह घटते घटते वर्त्तमान अवस्थाको प्राप्त हो गई।

यतिसमाजकी पूर्वावस्थाके इतिहास पर सरसरी तौरसे ऊपर विचार किया गया है। इस उत्थान-पतनकालके मध्यमें यतिसमाजमें धुरंधर विद्वान, शासन प्रभावक, राज्यसन्मान-प्राप्त अनेक महापुरुष हो गये हैं, जिन्होंने जैनशासनकी बड़ी भारी सेवा की है, प्रभाव विस्तार किया है, अन्य आक्रमणोंसे रक्षा की एवं लाखों जैनेतरोंको जैन बनाया, हजारों अनमोल ग्रंथरत्नोंका निर्माण किया जिसके लिये जैन समाज उनका चिर ऋणी रहेगा। अब यति समाजकी वर्तमान अवस्थाका अवलोकन करते हुए इसका पुनः उत्थान कैसे हो सकता है। इस पर मैं अपने विचार प्रकट करता हूँ। यद्यपि वर्त्तमान अवस्था * का वास्तविक चित्र देनेसे तो लेखके अश्लील अथवा कुछ बातों के कटु हो जानेका भय है एवं वह सबके सामने ही है, अतः विशद वर्णनकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती! फिर भी थोड़ा स्वरूप दिखलाये बिना भविष्यके सम्बन्धमें कुछ कहना उचित नहीं होगा।

जो पहले साधु या मुनि कहलाते थे, वे ही यति कहलाते हैं। पतनकी करीब करीब चरम सीमा हो चुकी है। जो शास्त्रीय ज्ञानको अपना आभूषण समझते थे, ज्ञानोपासना जिनका व्यसन सा था, वे अब आजीविका, धनोपार्जन और प्रतिष्ठा-

* इसका संक्षेपमें कुछ वर्णन कालूरामजी बरड़िया लिखित 'ओसवाल समाजकी वर्त्तमान परिस्थिति' ग्रंथ में भी पाया जाता है।

रक्षाके लिये वैद्यक, ज्योतिष और मंत्र-तंत्रके ज्ञान को ही मुख्यता देने लगे हैं। कई महात्मा तो ऐसे मिलेंगे जिन्हें प्रतिक्रमणके पाठ भी पूरे नहीं आते। गम्भीर शास्त्रालोचनके योग्य तो अब शायद ही कोई व्यक्ति खोजने पर मिले। क्रियाकाण्डोंको जो करवा सकते हों (प्रतिक्रमण, पोसह, पर्व-व्याख्यान-वाचन, तप उद्यापन एवं प्रतिष्ठाविधि) वे अब विद्वान गिने जाने लगे हैं।

जिस ज्ञानधनको उनके पूर्वजोंने बड़े ही कष्ट से लिख लिख कर संचित एवं सुरक्षित रखा, वे अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थोंको सँभालते तक नहीं। वे ग्रंथ दीमकोंके भक्ष्य बन गये, उनके पृष्ठ नष्ट हो गये, सर्दी आदिसे सुरक्षा न कर सकनेके कारण ग्रन्थोंके पत्र चिपक कर थेपड़े हो गये। (हमारे संग्रहमें ऐसे अनेक ग्रंथ सुरक्षित हैं)। नवीन रचनेकी विद्वत्ता तो सदाके लिये प्रणाम कर विदा हुई; पुराने संचित ज्ञानधनकी भी इतनी दुर्दशा हो रही है कि सहृदय व्यक्तिमात्रको सुन कर आँसू बहाने पड़ रहे हैं। सहज विचार आता है कि इन ग्रंथोंको लिखते समय उनके पूर्वजोंने कैसे भव्य मनोरथ किये होंगे कि हमारे सपूत इन्हें पढ़ पढ़ कर अपनी आत्मा एवं संसारका उपकार करेंगे। पर आज अपने ही योग्य वंशजोंके हाथ इन ग्रंथों की ऐसी दुर्दशा देखकर पूर्वजोंकी स्वर्गस्थ आत्माएँ मन ही मन न जाने क्या सोचती होंगी? उन्होंने अपने ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंमें कई बातें ऐसी लिख रखी हैं कि उन्हें ध्यानसे पढ़नेवाला कोई भी व्यक्ति ऐसा काम नहीं कर सकता।

"भग्नपृष्ठिकटिग्रीवा, वक्रदृष्टिरधोमुखम्।
(बद्धमुष्टिकटिग्रीवा, मंददृष्टिरधोमुखम्)
कष्टेन लिख्यते शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्॥"

एवं ग्रन्थोंकी सुरक्षाकी व्यवस्था करते हुये लिखा है—

जलाद्रक्षेत् स्थलाद्रक्षेत् रक्षेत् शिथिलबन्धनात्।
मूर्खहस्ते न दातव्या एवं वदति पुस्तिका॥
अग्ने रक्षेत् जलाद्रक्षेत् मूषकेभ्यो विशेषतः।
(उदकानिलचौरेभ्यो मूषकेभ्यो हुताशनात्।)
कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥

मुनि आचारकी तो गंध भी नहीं रहने पाई; पर जब हम उन्हें श्रावकोंके कर्त्तव्यसे भी च्युत देखते हैं, तब कलेजा धड़क उठता है, बुद्धि भी कुछ काम नहीं देती कि हुआ क्या? भगवान् महावीरकी वाणीको सुनाने वाले उपदेशकोंकी भी क्या यह हालत हो सकती है? जिस बातकी सम्भावना तो क्या, कल्पना भी नहीं की जा सकती, आज वह हमारे सामने उपस्थित है। बहुतों के तो न रात्रिभोजनका विचार, न अभक्ष्य वस्तुओंका परहेज, न सामायिक प्रतिक्रमण वा क्रियाकाण्ड और न नवकारसीका पता! आज इनमें कई व्यक्ति तो भांग-गाँजा आदि नशीली चीजोंका सेवन करते हैं, बाजारोंमें वृष्टि आदिका सौदा करते हैं। उपाश्रयोंमें रसोई बनाते हैं, व्यभिचारका बोलबाला है। अतएव जगतकी दृष्टिमें वे बहुत

---

* श्वेताम्बर समाजमें जिस प्रकार यति समाज है; दिगम्बर समाजमें लगभग वैसे ही भट्टारक प्रथालीका इतिहास आदि जाननेके लिये जैनहितैषीमें श्रीनाथूरामजी प्रेमीका निबंध एवं जैनमित्र कार्यालय सूरतसे प्राप्त "भट्टारक-मीमांसा" ग्रन्थ पढ़ना चाहिये।

गिर चुके हैं ‡। पंच महाव्रतोंका तो पता ही नहीं, अणुव्रतधारी श्रावकोंसे भी इनमें से कई तो गये बीते हैं।

कहाँ तक कहें—विद्वत्ता भी गई, सदाचार भी गया, इसीलिये स्थानकवासी एवं तेरह पन्थियोंकी बन आई, वे उनके चरित्रोंको वर्णन कर अपने अनुयायियोंकी संख्या बढ़ाने लगे। जैनेतर लोग गुरुजीके चरित्रोंको लेकर मसखरी उड़ाने लगे। जिनके पूर्वजोंने नवीन नवीन ग्रंथ रचकर अजैनोंको जैन बनाया, अपनी विद्वत्ता एवं आचार-विचारके प्रभावसे राजाओं तथा बादशाहों पर धाक जमाई, वे ही आज जैनधर्मको लाँछित कर रहे हैं!

‡ इसीलिये राजपूताना प्रांतीय प्रथम यति सम्मेलन (संवत १९९१, बीकानेर) में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये गये थे। खेद है उनका पालन नहीं हो सका—(१) उद्भट वेश न रखना। (२) दवा आदिके सिवा ज़मीकन्द आदिके त्यागका भरसक प्रयत्न करना (३) दवा आदिके सिवा पंच तिथियोंमें हरी वनस्पति आदिके त्यागका भरसक प्रयत्न करना (४) रात्रि भोजनके त्यागकी चेष्टा करना। (१०) आवश्यकताके सिवाय रातको उपाश्रयसे बाहर न होना (२०) अंग्रेज़ी फैशनके बाल न रखना (२२) दीक्षित यतिको साग सब्जी खरीदनेके समय बाज़ार न जाना (२३) धूम्रपानका त्याग। (२४) साईकिल पर बैठ बाज़ार न घूमना। (पंच प्रतिक्रमणके ज्ञाता न होने तक किसीको दीक्षा न देना। (२९) पर्वतिथियोंमें प्रतिक्रमण अवश्य करना। इन प्रस्तावोंसे प्रगट है कि वर्तमानमें इन सब बातोंके विपरीत प्रचार है, तभी इनका विरोध समर्थनकी आवश्यकता हुई।

यतिनियोंकी तो बात ही न पूछिये, उनके पतनकी हद हो चुकी है, उनकी चरित्रहीनता जैन-समाजके लिये कलंकका कारण हो रही है!

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः!"

महात्मा भर्तृहरिकी यह उक्ति सोलहों आने सत्य है। मनुष्यका आदर व पूजन उसके गुणों हीके कारण होता है। गुणविहीन वही मनुष्य पद पद पर ठुकराया जाता है। यतियोंका भी समाज पर प्रभाव तभी तक रहा जब तक उनमें एक न एक गुण (चाहे ज्ञान हो, विद्वत्ता हो, वैद्यक हो; मंत्रादिका ज्ञान अथवा परोपकारकी भावना हो) अनेक रूपोंमें विद्यमान रहा। ज्यों ज्यों उन गुणोंके अस्तित्वका विलोप होता गया त्यों त्यों उनका आदर कम होने लगा। अन्तमें आज जो हालत हुई है उसके वह स्वयं भुक्तभोगी हैं। न तो उनको कोई भक्तिसे वंदन करता है, न कोई श्रद्धाकी दृष्टिसे उन्हें देखता है। गोचरीमें भी पहले अच्छे अच्छे पदार्थ मिलते थे, आज बिना भावके, केवल पारपाटोंके लिहाजसे बुरीसे बुरी वस्तुएँ उन्हे बहराई जाती हैं। आदर से उनका तिरस्कार किया जाता है, कई व्यक्ति तो उनसे घृणा तक करते हैं। उनका आदर भक्तिशून्य और भावविहीन, केवल दिखावेका रह गया है, अतः उनका भविष्य कितना अन्धकारमय है, पाठक स्वयं उसकी कल्पना कर लें। मुझे तो उनकी वर्त्तमान दशा देखकर अतिशय परिताप है, हृदय बेचैन-सा हो जाता है। अगर अदूर भविष्यमें यह समाज न सम्भला तो इसका कहाँ तक पतन होगा यह सोचा नहीं जा सकता। जैनधर्मका ज्ञान उनसे किनारे हो रहा है अतः मथेरणोंकी भांति ये अगर

जैनधर्मको भी छोड़ बैठें तो कोई आश्चर्य नहीं है। समाज इनसे असन्तुष्ट है, ये समाजसे। अतएव सुधारकी परमावश्यकता है यह तो हर एक को मानना पड़ेगा। यतिसमाजकी यह दशा आँखों देखकर विवेकी यतियोंके हृदयमें आजसे ३५ वर्ष पूर्व ही सामूहिक सुधारकी भावना जागृत हुई थी, खरतर गच्छके बालचन्द्राचार्यजी आदिके प्रयत्न के फलसे सं०१९६३ में उनकी एक कान्फ्रेन्स हुई थी और उसमें कई अच्छे प्रस्ताव भी पास हुए थे यथा—(१) व्यावहारिक और धार्मिक शिक्षा का सुप्रबन्ध (२) बाह्य व्यवहार शुद्धि (३) ज्ञानोपकरणकी सुव्यवस्था (हस्तलिखित ग्रन्थोंका न बेचना (४) संगठन (५) यति डायरेक्टरी इत्यादि; पर प्रस्तावोंकी सफलता तभी है जब उनका ठीक ठीक पालन किया जाय। पालन होनेके दो ही मार्ग हैं—(१) स्वेच्छा और (२) संघसत्ता। स्वेच्छासे जो पालन करे वे तो धन्य हैं ही, पर जो न करें, उनके लिये संघसत्ताका प्रयोग करने लायक सुव्यवस्थाका अभी तक अभाव ही है।

उस कॉन्फ्रेंसका दूसरा अधिवेशन हुआ या नहीं, अज्ञात है। अभी फिर सं० १९९१ में बीकानेर राजपूताना प्राँतीय यति-सम्मेलन हुआ था और उसका दूसरा अधिवेशन भी फलौदीमें हुआ था, पर सभी कुछ परिणाम शून्य ही रहा। अस्तु।

अब भी समय है कि युगप्रधान जिनचन्द्र सूरिजीकी तरह×कुछ सत्ता बलका भी प्रयोग किया जाना चाहिये। जो भी साधारण मर्यादा बनायें जायँ वे पूरी मुस्तैदीसे पालन किये-करवाये जायँ। जो विरुद्ध आचरण करें उन्हें बहिष्कृत कर समाजसे उनका सम्बन्ध तोड़ दिया जाय, इस प्रकार कठोरतासे काम लेना होगा। जो पालन न कर सकें वे दिगम्बर पंडितोंके तौर पर गृहस्थ बन जावें और उपदेशकका काम करें।

एक विद्यालय,ब्रह्मचर्य आश्रम केवल यतिशिष्योंकी शिक्षाके लिये खोला जाय। यहाँ पर अमुक डिग्री तक प्रत्येक यतिशिष्यको पढ़ना लाजिमी किया जाय, उपदेशकके योग्य पढ़ाईकी सुव्यवस्था की जाय। उनसे जो विद्यार्थी निकलें उनके खर्च आदिका योग्य प्रबंध करके उन्हें स्थान स्थान पर उपदेशकोंके रूपमें प्रचार कार्यमें नियुक्त कर दें, ताकि उन्हें जैनधर्मकी सेवाका सुयोग मिले। श्रावक समाजका उसमें काफी सहयोग होना आवश्यक है। हम अपनी सद्भावना एवं सहायतासे ही गिरे हुये यतिसमाजको उन्नत बना सकते हैं, घृणासे नहीं।

आशा है कि जैनसमाजके कर्णधार एवं उन्नतिकी सद्आकाँक्षा वाले विद्वान यति श्रीपूज्य मार्गविचार-विनिमय द्वारा भविष्यको निर्धारित करनेमें उचित प्रयत्न करेंगे।

मैंने यह निबंध द्वेषवश या यतिसमाजको नीचा दिखलानेकी भावनासे नहीं लिखा। मेरे हृदयमें उनके प्रति सद्भावनाका जो श्रोत निरन्तर प्रभावित है उसके एवं उनकी अवनतिको देख कर जो परिताप हुआ, उसकी मार्मिक पुकारसे विवश होकर ही इस प्रबंधको मैंने लिखा है। आशा है पाठक इसे उसी दृष्टिसे अपनावेंगे और

× देखें, हमारे द्वारा लिखित युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि' ग्रन्थ। उन्होंने जो साध्वाचार न पालन कर सके, उन्हें गृहस्थवेष दिलवा मथेरण बनाया जिससे साधु-संस्था कलंकित न हो।

यदि इसमें कोई कटु अथवा अयोग्य वाक्य नज़र आवे तो उसे दुखित हृदयके दावानलकी चिङ्गारी समझ मुझे क्षमा करेंगे। एक स्पष्टीकरण और भी आवश्यक है कि—इस लेखमें जो कुछ कहा गया है वह मुख्यताको लक्ष्यमें रखकर ही लिखा है, अन्यथा क्या यति समाजमें और क्या चैत्य-वासियोंमें पहले भी बहुत प्रभावक आचार्य एवं महान् आत्माएँ हुई हैं एवं अब भी कई महात्मा बड़े उच्च विचारोंके एवं संयमी हैं। इनको मेरा भक्तिभावसे वंदन है। उन महानुभावोंके गुण-वर्णनमें मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ।

यतिसमाज ही क्यों साधु समाजकी दशा भी विचारणीय एवं सुधारयोग्य है। उस पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। समयका सुयोग मिला तो भविष्यमें इन दोनों समाजों पर एवं इसी प्रकार जैनधर्मके क्रियाकाण्डोंमें जो विकृति आ गई है, उस पर भी प्रकाश डालनेका विचार है।

'तरुण ओसवाल' से उद्धृत

—×—

जीवन के अनुभव—

बावली घास

[लेखक—श्री हरिशंकर शर्मा]

बावले आदमी, बावले कुत्ते, बावले गीदड़, बावले बन्दर आदि तो सबने देखे सुने होंगे, परन्तु 'बावली घास' से बहुत कम लोग परिचित हैं। फिर मजे की बात यह है कि पशु पक्षी और मनुष्य तो बावले होकर जीव-जन्तुओंकी जानके गाहक बन जाते हैं; परन्तु 'बावली घास' मरते हुए को अमृत पिलाती है, और उसे दुःखसे मुक्त कर वर्षों जिलाती है। एक सर्वथा सत्य घटनाके आधार पर आज हम पाठकोंको बावली घास का कुछ परिचय कराते हैं।

मेरे पूज्य पिता (स्वर्गीय पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा) चायके बड़े आदी थे। उनकी यह टेव व्यसन तक पहुँच गई थी। वे सुबह-शाम दोनों वक्त आध आध सेर चायका पानी पीते। यहाँ तक कि बैसाख और जेठमें भी उसे न छोड़ते थे। तिस पर भी तुर्रा यह कि कटोरा-भर चायमें दूधका नाम नहीं। अगर भूलसे चायमें एक चम्मच भी दूध पड़ जाय, तो वे उसे अस्वीकार कर दें। प्रकृति भला किसको क्षमा करने वाली है? पिताजी पर भी उसका कोप हुआ, और उन्हें भयंकर रक्तार्श (खूनी बवासीर) से व्यथित होना पड़ा। यह घटना अबसे ३० वर्ष पहिले की है।

* * *

पहले तो पिताजीके शौच-मार्गसे थोड़ा-थोड़ा खून आया, फिर तिल्लियाँ बँधने लगीं। यहाँ तक कि वे

चारपाई पर पड़ गए। निर्बलता हद दरजे की हो गई। पिताजीके घनिष्ट मित्र साहित्याचार्य प० पद्मसिंह शर्मा भी बीमारीका हाल सुनकर हरदुआगञ्ज आ गए। उस समय हम लोगोंकी चिंताका ठिकाना न था, तरह २ के इलाज-मुआलजे कराए गए। कनखल-निवासी वैद्यराज स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शर्माने आयुर्वेदोक्त औषधियाँ दीं, और भी कई प्रसिद्ध वैद्योंकी चिकित्सा हुई; कितने ही डाक्टरोंका ईलाज कराया गया; परन्तु खून बहना बन्द न हुआ। पिताजीको परेशानी और कमजोरीका ठिकाना न रहा। उनका मोटा ताजा शरीर सूख कर काँटा बन गया। करवट बदलने और बात करनेमें भी कष्ट होने लगा। हम लोगोंकी चिंता निराशामें परिणित हो गई। स्वयं पिताजीको अच्छा होनेकी उम्मेद न रही। बीसियों मिलने-जुलने वाले रोज आते और बड़ी मन्द वाणीमें, अत्यंत उदासीनताके साथ, "जब तक सांस तब तक आस" की लोकोक्ति सुनाकर चले जाते। इस समय तक हम लोगोंमें अगर किसीका धैर्य नहीं छूटा था, तो वह थे पं० पद्मसिंह शर्मा। शर्माजी सबको धैर्य बँधाते हुए बराबर प्रयत्नशील बने रहनेका प्रोत्साहन देते रहे। हमारे हृदय निराशासे भर चुके थे, केवल बाहरी बचन-विलासमें आशावादिताकी झलक दिखाई देती थी, सो भी रोगीको बहकाने या दम-दिलासा देने के लिए।

* * *

अन्तमें प० पद्मसिंह शर्माके परामर्शसे एक मशहूर जर्राह बुलाया गया। जर्राह आया, मगर मरीज़को देख कर उसके होश उड़ गए, अक्ल चकरा गई। कहने लगा—"उफ, ऐसी कमज़ोरी! इतनी नकाहत! हालतमें भला नश्तर कैसे लगाया जाय! जहाँ करवट बदलनेमें दम निकलनेका अन्देशा हो, वहाँ कैसी चीर-फाड़!" शर्माजीको सम्बोधित होकर बोला—"पण्डित साहब! मैंने आपके दोस्तको बड़े ग़ौरसे देखा, मरज बहुत बढ़ गया है, मेरे बसकी बात नहीं रही। बाबू-साहब, माफ करना, ऐसी हालत देख कर मेरा तो कलेजा काँपता है. नश्तरका तो कोई सवाल ही नहीं। मैं भी खुदावन्द तालासे दुआ करूँगा कि वह इन पण्डितजीको जलदसे जलद शफ़ा बख्शे। बस, इतना ही मेरे इमकानमें है। और कुछ नहीं। अच्छा, मैं जाता हूँ, आदाब अर्ज़।"

जिस जर्राहके लिए श्री स्व० पद्मसिंह शर्माने इतना ज़ोर दिया, जिसके नश्तरकी रवानगी पर सारा घर टकटकी लगाए बैठा था, जिसके दस्ते-मुबारिक पर काफी भरोसा था, वह भी टका-सा जवाब देकर चलता बना। अब शर्माजीके हृदयमें भी निराशाका समुद्र उमड़ने लगा। उनकी भावुकता, जो अब तक धैर्यके बन्धनसे जकड़ी पड़ी थी, आँखोंमें झलझला आई। उन्होंने अपनेको बहुत कुछ सँभालते हुए, भरे हुए कण्ठसे कहा "भाई, अब हम लोगोंका फ़र्ज़ है कि 'कविजीकी खूब सेवा करें और उन्हें ज़रा भी तकलीफ़ न होने दें, जिससे जो टहल-चाकरी बन पड़े, करनी चाहिए। फिर तो कविजीकी सूरत भी…" कहते २ शर्माजीकी हिचकियाँ बँध गईं, और हम सब बुरी तरह व्याकुल होने लगे। मेरी माता और हम सब बुरी तरह व्याकुल होने लगे। मेरी माताने तो चिन्ताके कारण कई दिनोंसे अन्न तक त्याग दिया था। वह पाँच-सात मुनक्के (दाख) खाकर रात-दिन पिताजी की चारपाई पकड़े बैठी रहती थीं।

* *

पिताजी जहाँ प्रसिद्ध कवि थे, वहाँ चिकित्सक भी बड़े अच्छे थे। बड़े २ रोगोंका सफलतापूर्वक इलाज करना उनके लिये साधारण बात थी। दूर-दूरके लोग उनसे चिकित्सा कराने आते रहते थे। उन्होंने चिकित्सा कार्यसे निर्वाह अवश्य किया; परन्तु धनी होनेकी बात कभी स्वप्नमें भी न सोची। उनकी बताई कौड़ियोंकी दवासे रोगी बराबर अच्छे होते रहते थे। उनकी फीस निश्चित न थी, जिसने जो दे दिया ले लिया, ग़रीबोंसे तो कुछ लेते ही न थे बल्कि उनकी दवा-दारू और पथ्य-की व्यवस्था भी उन्हें करनी पड़ती थी। इस सेवा-भावके कारण पिताजी बड़े लोक-प्रिय हो गये थे। किसान, गरीब तथा अछूत लोग उन पर अपना पूरा अधिकार समझते थे। पिताजी भी अमीरोंसे पीछे बात करते, पहले गरीबोंकी कष्ट कथा सुनते थे। इसलिये बीमारीमें उनके भक्त दर्शनार्थियोंका ताँता लगा रहता था।

* * *

"क्यों भाई कैसे आए, कहाँ रहते हो?" सामने खड़े हुए एक ग्रामीण भाईसे पं० पद्मसिंह शर्माने बड़ी उदासीनतासे पूछा।

"पण्डितजीकी बीमारीका हाल सुनकर आया हूँ··· का पटवारी हूँ सुना है, उन्हें बवासीरकी बीमारी है।" —मोटे झोटे कपड़े पहने हुए उस आगन्तुकने उत्तर दिया।

"अरे भई! अब पण्डितजीको क्या देखोगे? दो-एक दिनके मेहमान हैं। मिलने जुलनेसे उन्हें कष्ट होता है। मैं सुबहसे अब तक लगभग ५० आदमियों को उनके पास जानेसे रोक चुका हूँ आप भी क्षमा करें।"—शर्माजी बड़ी निराशा और दुःखसे बोले।

"नहीं साहब, मैं पण्डितजीके दर्शन करके लौट जाऊँगा। उन्होंने जीवन भर सबका भला किया है। मैं दस मील चल कर आया हूँ, ज़रा झाँकी तो कर लेने दीजिए।"

* * *

पटवारीजी पिताजीकी दशा देखकर दङ्ग रह गए। वे उन्हें देखकर बैठकमें आए और बड़ी निराशापूर्वक एक पुड़िया देते हुए बोले—"देखिये यह एक साधुकी बताई हुई बूटी है, खूनी बवासीरको तुरंत आराम कर देती है। मैंने इसे कितने ही मरीज़ों पर आजमाया है, सब अच्छे हो गए। यह ठीक है कि पण्डितजी बहुत कमज़ोर हैं, उनमें साँस ही साँस बाकी है, फिर भी परमात्माका नाम लेकर आप इस बूटीको उन्हें जरूर पिलाइये।"

पटवारीजीकी यह पुड़िया पं० पद्मसिंह शर्माने बड़े बेमनसे ली। खोलकर देखा, तो घास-फूस कूड़ा-करकट? अरे, यह क्या बवाल?

"नहीं, नहीं, बवाल नहीं, यह तो अमृत है। आप इस दवामेंसे दस माशे लेकर पन्द्रह-बीस काली मिर्च मिलवाइये और भंग की तरह घोट पीस तथा डेढ़ पाव जलमें छानकर अभी पिला दीजिए और इसी तरह सुबह पिलाइए। तीन-चार दिन करके तो देखिए, परमात्माने चाहा, तो आराम हो जायगा।" ग्रामीण भाईने कहा।

पं० पद्मसिंह शर्माके निराश हृदयमें एक बार फिर आशाका सञ्चार हुआ, उन्होंने मेरे भाई स्वर्गीय उमाशङ्करजीसे कहा— "लो इसे पीसो और छानो। कभी-कभी ऐसी जड़ी-बूटी बड़ा काम कर जाती हैं, फिर यह तो एक साधुकी बताई है।" शामको दवाकी पहली मात्रा दी गई और फिर सुबह पिलाई गई। इतने ही से खूनका वेग कुछ कम हुआ। निपट निराशा-निशामें आशाकी किरण

दिखाई दी। उदासीनता घटी, चिन्तामें कमी हुई, साहसने फिर उद्योगशीलताकी बाँह पकड़ी। चार दिन में खून आना बन्द हो गया। पिताजीको भी अपने जीवनकी आशा होने लगी, और उन्होंने अब उस घास-फूसको 'जीवन-मूरि' कहना शुरू किया।

पुड़ियाकी आठ खुराकें चार दिनमें खतम हो गईं। मैं ताँगा लेकर पटवारीजीके पास पहुँचा, २१) रु० और कुछ मिठाई उनके आगे रखकर निवेदन किया—"दीवानजी अब पिताजी अच्छे हैं। खून बन्द हो गया है, नींद आने लगी है, अब तो सिर्फ कमजोरी शेष है। थोड़ी दवा और दे दीजिए, बड़ी कृपा होगी। आपकी सेवामें हम लोगोंकी तरफसे यह तुच्छ भेंट अर्पित है, कृपया स्वीकार करें।"

पटवारीजीकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा, वे बोले—"पण्डितजी अच्छे हो गए, मैंने सब कुछ भर पाया। अब वे सैंकड़ोंका भला करेंगे। ऐसे परोपकारी जितने अधिक जीवें, उतना ही अच्छा। मैं वेद-हकीम नहीं हूँ। रुपए आप उठा लीजिए, मैं तो मुफ़्तमें यह बांटता रहता हूँ। मेरा लगता ही क्या है। आठ आने में मनों घास इकट्ठा हो जाती है। आप चाहें, तो इस मिठाई को मुहल्लेके बालकोंको बाँट सकते हैं, नहीं तो इसे भी ले जाइए। मैं कुछ भी न लूंगा।"

पटवारीजीका दो टूक इन्कार देखकर फिर इसरार करनेकी मेरी हिम्मत न हुई। रुपये उठा लिए और मिठाई बालकोंको बाँट दी। पटवारीजीने अबकी बार प्रचुर मात्रामें दवाई देते हुए कहा—"लीजिए, यह बीस दिनको काफी होगी। इसीसे पण्डितजी चलने-फिरने लगेंगे, भूख खूब लगेगी, दस्त साफ आवेंगा। यह दवा जरा सर्दीसी करती है, उसकी फिक्र न करना। एक बात और सुनिए, अब दवाके लिए मेरे पास आने का कष्ट न करें। वह तो आपके हरदुआगंजके पास ही कपास, ज्वार, मक्के और बाजरेके खेतोंमें बहुत होती है। वहींसे ताजा उखड़वा मँगाइए और सुखाकर रख लीजिये। अभी तो कार्तिक ही है, आपको बहुत-सी घास मिल जायगी। यह गँवारू बूटी है। इधर गाँवके लोग इसे 'बावली घास' कहते हैं। इसका पौधा डेढ़ फुट ऊँचा होता है, पत्तियाँ लम्बी लगती हैं, फली भी आती हैं, जिनमें बीज होते हैं।"

अभिप्राय यह कि 'बावली घास' से पिताजी बिलकुल अच्छे हो गए। उनकी कृश काया फिर मोटी-ताजी और तन्दुरुस्त दिखाई देने लगी। पूज्य शर्माजी सेरों घास उखड़वा कर अपने साथ ले गए। पिताजीने भी खूब प्रचार किया। मैं भी प्रतिवर्ष पचासों पैकेट भेजता रहता हूँ। जो मित्र या परिचित मिलता है, बराबर उससे उसका जिक्र करता हूँ। अर्शके जिस रोगीको वह दी गई, उसीको लाभ हुआ।

न जाने भगवती वसुन्धराके गर्भमें क्या-क्या विभूतियाँ छिपी पड़ी हैं। संसारमें प्रकृति माताकी व्यापकता और विचित्रता समझने वाले बहुत थोड़े हैं, वे ही सच्चे ज्ञानी और पूरे पण्डित हैं। * (दीपकसे)

लोहामण्डी आगरा]

* यह घास क्वार-कातिकमें ही होती है। इस साल जितनी इकट्ठी की गई थी, वह सब बाँट दी गई।

अर्थप्रकाशिका और पं० सदासुखजी

[ले० पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

श्री उमास्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रकी हिन्दी टीकाओंमें 'अर्थप्रकाशिका' अपना खास स्थान रखती है। इसमें प्राचीन जैन ग्रन्थोंके अनुसार सूत्रोंका स्पष्ट अर्थ ही नहीं दिया गया, बल्कि उनका विशद व्याख्यान एवं स्पष्टीकरण भी किया गया है—सूत्रमें आई हुई प्रायः उन सभी बातोंका इसमें यथेष्ट विवेचन है, जिनसे तत्त्वार्थके जिज्ञासुओंको तत्त्वार्थ विषयका बहुत कुछ परिज्ञान हो जाता है। टीकाकी प्रामाणिकताके विषयमें पण्डित सदासुखदासजीके निम्न उद्गार खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। जिनसे स्पष्ट है कि इस टीका में जो कुछ विशेष कथन किया गया है वह सब राजवार्तिक, गोम्मटसार और त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंका आश्रय लेकर किया गया है—पंडितजीने अपनी ओरसे उसमें एक अक्षर भी नहीं लिखा है। वे तो सूत्र विरुद्ध लिखने वालेको मिथ्यादृष्टि और सूत्रद्रोही तक बतलाते हैं। और ऐसा करने को बहुत ही ज्यादा अनुचित समझते हैं, और इसीलिये ऐसे सूत्रकी आज्ञानुसार वर्तन वाले तथा पाप भयसे भयभीत विद्वानोंके द्वारा अन्यथा अर्थ के लिखे जानेकी सम्भावना प्रायः नहींके बराबर है। पंण्डितजीके वे उद्गार इस प्रकार हैं:—

"ऐसैं अर्थ प्रकाशिका नाम देश भाषा बचनिका श्री राजवार्तिक नाम ग्रन्थका अल्प लेश लेय अपना उपयोगकी विशुद्धताके अर्थि तथा तथा संस्कृतके बोधरहित अल्पज्ञानिके तत्त्वार्थसूत्रनिके अर्थ समझनेके अर्थि अपनी बुद्धिके अनुसार लिखी है। परन्तु राजवार्तिकका अर्थ कहूँ कहूँ गोम्मटसार, त्रिलोकसारका अर्थ लेय लिखा है। अपनी बुद्धिकी कल्पनातैं इस ग्रन्थमें एक अक्षर हूँ नहीं लिखा है। जाकै पापका भय होयगा, अर जिनेन्द्रकी आज्ञाका धारने वाला होयगा सो जिनेन्द्रके आगमकी आज्ञा बिना एक अक्षर स्मरणगोचर नहीं करेगा लिखना तो क्यौं ही कैसें ? अर जे सूत्र आज्ञा छाँड़ि अपने मनकी युक्ति तैं ही अपने अभिमान पुष्ट करनेकूं योग्य अयोग्य कल्पना करि लिखैं हैं ते मिथ्यादृष्टि सूत्रद्रोही अनन्त संसार परिभ्रमण करेंगे"।

इस टीकाके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे एक बातका और भी पता चलता है और वह यह कि; यह टीका अकेले पण्डित सदासुखदासजीकी ही कृति नहीं है, किन्तु दो विद्वानोंकी एक सम्मिलित कृति है। इस बातको सूचित करने वाले प्रशस्तिके पद्य निम्न प्रकार हैं—

चौपाई

"पूरव मैं गंगा तट धाम,
अति सुंदर आरा तिस नाम।

तामैं जिन चैत्यालय लसैं,
अग्रवाल जैनी बहु बसैं ॥ १३ ॥
बहुज्ञाता तिन मैं जु रहाय,
नाम तासु परमेष्ठिसहाय ।
जैनग्रन्थमें रुचि बहु करै,
मिथ्या धरम न चित में धरै ॥ १४ ॥

दोहा

सो तत्त्वारथ सूत्रकी,
रची वचनिका सार ।
नाम जु अर्थ प्रकाशिका,
गिणती पाँच हजार ॥ १५ ॥
सो भेजी जयपुर विषैं,
नाम सदासुख जाय।
सो पूरण ग्यारह सहस,
करि भेजी तिन पास ॥ १६ ॥

सवैया

अग्रवाल कुल श्रावक कीरतचन्द,
जु आरे माँहि सुवास ।
परमेष्ठी सहाय तिनके सुत,
पिता निकट करि शास्त्राभ्यास ॥१७॥
कियो ग्रंथ निज पर हित कारण,
लखि बहु रुचि जग मोहनदास ।
तत्त्वारथ अधिगम सु सदासुख,
रास चहुँ दिश अर्थप्रकाश ॥ १८ ॥

इन पद्योंसे स्पष्ट है कि आरा निवासी पंडित परमेष्ठीसहायजी अग्रवाल जैन थे। आपने अपने पिता कीरतचन्दजीके सहयोगसे ही जैन सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था और आप बड़े धर्मात्मा सज्जन थे तथा उस समय आरामें अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। उन्होंने साधर्मी भाई जगमोहनदासकी तत्त्वार्थ विषयके जाननेकी विशेष रुचिको देखकर स्वपरहितके लिये यह 'अर्थप्रकाशिका' टीका सब से पहले पाँच हजार श्लोक प्रमाण लिखी थी और फिर उसे संशोधनादिके लिये जयपुरके प्रसिद्ध विद्वान् पं० सदासुखदासजीके पास भेजा था। पण्डित सदासुखजीने संशोधन सम्पादनादि के साथ टीकाको पल्लवित करते हुए उसे वर्तमान ११ हजार श्लोक परिमाणका रूप दिया है और इसीसे यह टीका प्रायः पण्डित सदासुखजीकी कृति समझी जाती है।

उक्त परिचय परसे इतना और भी साफ़ ध्वनित होता है कि पण्डित सदासुखजीकी कृतियों (भगवती आराधना टीका आदि) का उस समय आरा जैसे प्रसिद्ध नगरोंमें यथेष्ट प्रचार हो चुका था और उनकी विद्वत्ता एवं टीका शक्तिका सिक्का तत्कालीन विद्वानोंके हृदय पर जम गया था। यही कारण है कि उक्त पण्डित परमेष्ठीसहायजीको तत्त्वार्थसूत्रकी टीका लिखने और उसे जयपुर पण्डितजीके पास संशोधनादिके लिये भेजनेकी प्रेरणा मिली। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें यथेष्ट परिवर्धन करनेकी अनुमति भी देनी पड़ी है। तभी पंडित सदासुखजी उस टीकाको दुगनेसे भी अधिक विस्तृत करनेमें समर्थ हो सके हैं।

इस टीकाके सम्पादनादि करनेमें पंडित सदासुखजीका पूरे दो वर्षका समय लगा था। और वह विक्रम संवत १९१४ में वैसाख शुक्ला दशमी रविवारके दिन पूर्ण हुई थी। जैसा कि प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

संवत् उगणी से अधिक,
चौदह आदितवार ॥
सुदि दशमी वैसाखकी,
पूरण किया विचार ॥३॥

यह टीका अपने विषयकी स्पष्ट विवेचक होने के साथ साथ पढ़नेमें बड़ी ही रुचिकर प्रतीत होती है। इसीसे इसके पठन-पाठनका जैनसमाजमें काफी प्रचार है।

इस टीकाके प्रधान लेखक पंडित सदासुखजी तेरापन्थ आम्नायके प्रबल समर्थक थे। आप विक्रमकी १९ वीं २० वीं शताब्दीके बड़े अच्छे विद्वान् हो गये हैं। आपका जन्म खण्डेलवाल जातिमें हुआ था और आपका गोत्र 'कासलीवाल' था। आप डेडराजके वंशज थे और आपके पिता का नाम दुलीचन्द था, जैसा कि अर्थ प्रकाशिका-प्रशस्तिकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

डेडराजके वंश मांहि,
इक किंचित ज्ञाता।
दुलीचन्दका पुत्र,
कासलीवाल विख्याता ॥ ४ ॥
नाम सदासुख कहैं,
आत्मसुखका बहु इच्छुक।
सो जिनवानि प्रसाद,
विषयतैं भए निरिच्छुक ॥ ५ ॥

आपका जन्म विक्रम संवत् १८५२ में अथवा उसके लगभग हुआ जान पड़ता है; क्योंकि आप की रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीका विक्रम सं० १९२० की चैत कृष्णा चतुर्दशीको पूर्ण हुई है और उस समय उसकी प्रशस्तिमें आपने अपनी आयु ६८ वर्षकी प्रकट की है। आपकी जन्म भूमि जयपुर है। उस समय जयपुरमें राजा रामसिंहका राज्य था। कहा जाता है कि पं० सदासुखदासजी राज्यके खजांची थे और आपको जीवन-निर्वाहके लिये राज्यकी ओरसे ८) रु० माहवार मिला करते थे। इन्हींसे आपका और आपके कुटुम्बका पालन-पोषण होता था। इस विषयमें एक किम्वदन्ती इस तरहसे भी कही जाती है कि आपको जयपुर राज्यसे ८) रु० माहवार जिस समयसे मिलना शुरू हुआ था, वह उन्हें बराबर उसी तरह से मिलता रहा उसमें जरा भी वृद्धि नहीं हुई। एकबार महाराजाने स्वयं अपने कर्मचारियों आदि के वेतनादिका निरीक्षण किया, तब राजाको मालूम हुआ कि राज्यके खजाँचीके सिवाय, चालीस वर्ष के अर्सेमें सभी कर्मचारियोंके वेतनमें वृद्धि हुई है —वह दुगुना और चौगुना तक हो गया है। परन्तु खजाचीके वही आठ रुपया हैं। यह सब जानकर राजाको बहुत कुछ आश्चर्य और दुःख हुआ। राजाने पंडितजीको बुलाकर कहा कि— मुझसे भूल हुई है जो आज तक आपके वेतनमें किसी तरहकी वृद्धि नहीं हो सकी। इतने थोड़ेसे खर्चमें आपके इतने बड़े कुटुम्बका पालन-पोषण

कैसे होना होगा ? उत्तरमें पंडितजीने कहा—कि आपकी कृपासे सब हो जाता है । तब राजाने बड़े आग्रहसे कहा कि अब आपको जो ज़रूरत हो सो मांगलें, मैं उसे पूरा कर दूंगा और आजसे आपको वेतन २०) रु० माहवार मिला करेगा। इतना सब होने पर भी परम संतोषी पण्डित सदासुखदासजीने कहा कि यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें तो मैं निवेदन करूँ, इस समय मैं रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीका लिख रहा हूँ, स्वयं अपनी इस अस्थायी पर्यायका कोई भरोसा नहीं है और मुझे किसी चीज़की कोई आकांक्षा नहीं है । अतः आजसे मैं आठ घंटेके बजाय ६ घंटे ही खजांचीका कार्य किया करूंगा और वेतन भी आप मुझे ८) रु० की बजाय ६) रु० मासिक ही दे दिया करें। तब राजाने कहा कि कलसे आप खजांचीका कार्य ६ घण्टे ही किया करें, परन्तु वेतन यदि आप अधिक नहीं लेना चाहते तो वह ८) रु०से किसी तरह भी कम नहीं किया जा सकता ।

यदि यह घटना सत्य हो; तो इससे पण्डित जीकी संतोषवृत्तिका और धार्मिक साहित्यके निर्माणका कितना अधिक अनुराग प्रतीत होता है, इसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं रहती। यदि भट्टारकीय प्रथाके खिलाफ़ तेरहपन्थ दि० जैनसमाज में स्थापित न होता और इस तरहसे खासकर जयपुर राज्यके विद्वान् दिगम्बर साहित्यको अनुवादादिसे अलंकृत कर उसका प्रचार न करते तो दि० जैन समाजमें धार्मिक ग्रन्थोंके पठन-पाठनादि का और उनके ग्रंथोंके टीका-टिप्पणादिके निर्माण-रूप जो कार्य बराबर चालू रहा है वह शायद ही देखनेको मिलता ।

पंडितजीकी जीवन-घटनाओंका और कौटुम्बिक जीवनका यद्यपि कोई परिचय उपलब्ध नहीं है तो भी जो कुछ टीका ग्रन्थोंमें दी गई संक्षिप्त प्रशस्ति आदिसे जाना जाता है उससे पं० जीकी चित्तवृत्ति, उनकी सदाचारता, आत्म-निर्भयता, अध्यात्मरसिकता, विद्वत्ता और सच्ची धार्मिकता पद पद पर प्रकट होती है । आपका जिनवाणीके प्रति बड़ा भारी स्नेह था, और उसकी देश देशान्तरोंमें प्रचार करनेकी आवश्यकताको आप बहुत ही ज्यादा अनुभव किया करते थे। इसलिये आपका अधिक समय शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक, तत्त्वचिंतवन पठन-पाठन और ग्रंथोंके अनुवादादि कार्योंमें ही व्यतीत होता था । रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीकाके अवलोकनसे आपके सैद्धान्तिक अनुभवका कितना ही पता चल जाता है और साथ ही आपकी विचार पद्धतिका भी बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। यद्यपि इस टीकामें कहीं कहीं पर चरणानुयोगके विषयको उसके पात्रकी सीमासे कुछ घटा बढ़ाकर लिखा गया है, जो प्रायः पण्डितजीकी उदासीन चित्तवृत्तिका परिणाम जान पड़ता है। फिर भी स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारका यह महाभाष्य पंडितजीके विशाल अध्ययन, विद्वत्ता और कार्यतत्परताकी ओर संकेत करता है । यदि आज दिगम्बर समाजके विद्वानोंमें जैनसाहित्यके उद्धार एवं प्रचारकी उन जैसी लगन हो जाय तो निस्सन्देह कुछ वर्षोंमें ही बहुत कुछ ठोस साहित्यका

निर्माण होकर संसारमें उसका प्रचार किया जा सकता है।

पण्डित सदासुखदासजीके एक प्रधान शिष्य थे। उनका नाम था पन्नालालजी संघी। आपका उक्त पंडितजीसे विक्रम सं० १९०१ से १९०७ के मध्यवर्ती किसी समयमें साक्षात्कार हुआ था। पण्डितजीके सदुपदेश एवं प्रभावसे संघीजीकी चित्तवृत्ति पलट गई और जैनधर्मके ग्रन्थोंके अभ्यासकी ओर उनका चित्त विशेषतया उत्कंठित हो उठा। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की, कि मैं आजसे रात्रिको १० बजे प्रति दिन पंडितजीके मकान पर पहुँच कर जैनधर्मके ग्रंथोंका अभ्यास एवं परिशीलन किया करूँगा। जब संघीजी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार रात्रिको १० बजे पंडितजीके मकान पर पहुँचे तब पण्डितजीने कहा कि आप बड़े घर के हैं—सुखिया हैं—अतः आपसे ऐसे कठिन प्रण-का निर्वाह कैसे हो सकेगा? उत्तरमें संघीजीने उस समय अपने मुँहसे तो कुछ भी नहीं कहा किन्तु जब तक पंडित सदासुखजी जीवित रहे तब तक आप बराबर नियम पूर्वक उसी समय उनके पास पहुँचते रहे। पंडितजीके सहयोगसे आपने कितने ही सिद्धान्त ग्रंथोंका अवलोकन किया और जैनधर्मके तत्त्वोंका मनन एवं परिशीलन किया।

पंडित सदासुखदासजीने अन्त समयमें अपने शिष्य संघीजीसे कहा कि—"अबमें इस अस्थायी पर्यायको छोड़कर विदा होता हूँ। मैंने तथा मेरे पूर्व वर्ती पंडित टोडरमलजी, मन्नालालजी और जयचन्द्रजी आदि विद्वानोंने असीम परिश्रम करके अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी सुलभ भाषा वचनिकाएँ की हैं, और अनेक नवीन ग्रंथ भी बनाएँ हैं, परन्तु अभी तक देश-देशान्तरोंमें उनका जैसा प्रचार होना चाहिये था वैसा नहीं हुआ है। और तुम इस कार्यके सर्वथा योग्य हो, तथा जैनधर्मके मर्मको भी अच्छी तरह समझ गये हो, अतएव गुरुदक्षिणामें मैं तुमसे केवल यही चाहता हूँ कि जैसे बने तैसे इन ग्रंथोंके प्रचारका प्रयत्न करो। वर्तमान समयमें इसके समान पुण्यका और धर्म-की प्रभावनाका और कोई दूसरा कार्य नहीं है।" यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि पण्डितजीके सुयोग्य शिष्य संघीजीने गुरु दक्षिणा देनेमें जरा भी आना कानी नहीं की। और आपने अपने जीवनमें राजवार्तिक, उत्तर पुराण आदि आठ ग्रन्थों पर भाषा वचनिकाएँ लिखी हैं और २७००० हजार श्लोक प्रमाण 'विद्वज्जन बोधक' नामके ग्रंथका निर्माण भी किया है। इसके सिवाय सरस्वती पूजा आदि कुछ पुस्तकें पद्यमें लिखी हैं। अन्य साधर्मी भाइयोंकी सहायतासे आपने जयपुर में एक "सरस्वती भवन" की स्थापना की थी जिससे बाहरसे ग्रंथोंकी माँग आने पर ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि कराकर भेज देते थे। उस कार्यको आप पंडितजीकी अमानत समझते थे, और उस का जीवन पर्यंत तक निर्वाह करते रहे †।

यद्यपि पण्डित सदासुखदासजीके मरण-समय

---

† पं० पन्नालालजी संघीका परिचय 'विद्वज्जन-बोधक' के मुद्रित प्रथमभागकी प्रस्तावनासे लिया गया है। देखो—पृष्ठ ६, ७।

का ठीक ठीक बोध नहीं हो सका है। परन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी प्रशस्तिसे इतनी बात जरूर निश्चित है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी वचनिका पंडितजीकी अन्तिम कृति है। वह विक्रम संवत् १९२० में चैत्र कृष्णा चतुर्दशीके दिन पूर्ण हुई है। उस समय पंडितजीकी उम्र ६८ वर्षकी हो चुकी थी*। इसके बाद आप अधिकसे अधिक दो-चार वर्ष ही जीवित रहे होंगे। रत्नकरण्ड श्रावकाचार की आपकी यह टीका जैनशास्त्रोंका विशेष अनुभव प्राप्त कर लेनेके बाद लिखी गई है, इसी कारण इसमें दिए हुए वर्णनसे पंडितजी, उनकी चित्तवृत्तिका और सांसारिक देह भोगोंसे वास्तविक उदासीनताका बहुत कुछ आभास मिल जाता है। उसमें समाधि आदिका जो महत्व पूर्ण वर्णन दिया है उससे पण्डितजीकी समाधि-मरण-विषयक जिज्ञासा एवं भावनाका भी कितना ही दिग्दर्शन हो जाता है। और भगवती आराधना की टीकाके अन्तके निम्न दो पद्योंसे, जिनमें समाधि मरणकी आकांक्षा व्यक्त की गई है, मेरे उपर्युक्त निष्कर्षकी पुष्टि होती है:—

मेरा हित होनेको और,
दीखे नाँहि जगतमें ठौर।
यातैं भगवति शरण जु गही,
मरण आराधन पाऊँ सही ॥ १३ ॥

हे भगवति तेरे परसाद,
मरण समै मति होहु विषाद।
पंच परम गुरुपद करि ढोक,
संयम सहित लहूँ परलोक ॥ १४ ॥

इन पद्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पण्डित सदासुखदासजी अपने समाधि मरणके लिये कितने उत्सुक थे। जरूर ही उनका मरण समाधि पूर्वक हुआ है और उसके प्रसादसे वे निसन्देह सद्गतिको प्राप्त हुए होंगे।

पंडित सदासुखजीने जो साहित्य सेवा की है, और अपने अमूल्य समयको जिनवाणीके अध्ययन अध्यापन और टीका कार्यमें बितानेका जो प्रयत्न किया है वह सब विद्वानोंके द्वारा अनुकरणीय है। संस्कृत-प्राकृतके जैनग्रन्थोंका हिन्दी भाषामें अनुवादादि कर जो जैनसमाजका उपकार वे कर गये हैं वह बड़ा ही प्रशंसनीय और आदरणीय है। इससे जैनसंसारमें आपका नाम अमर हो गया है। इस समय तक मुझे आपकी ७ कृतियोंका पता चला है। संभव है और भी किसी ग्रंथकी वचनिका लिखी गई हो या कोई स्वतन्त्र ग्रंथ बनाया गया हो। प्रस्तुत 'अर्थप्रकाशिका' टीका और उक्त रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीकाके अतिरिक्त जिन पाँच कृतियोंका पता और चला है वे इस प्रकार हैं:—

१—भगवती आराधना टीका, संवत् १९०८ में भादों सुदी दोयजको पूर्ण हुई।

---

* अठसठ बरस जु आयुके, बीते तुम आधार।
शेष आयु तव शरणतैं, जाहु यही मम सार ॥१७
—प्रशस्ति, रत्नकरण्ड श्रावकाचारटीका।

२—पण्डित बनारसीदासकृत नाटक समयसार टीका

३—नित्यनियम पूजा संस्कृतकी टीका।

४—अकलंक स्तोत्रकी टीका।

५—तत्त्वार्थसूत्रकी लघु टीका।

पिछली चार टीकाओंके सामने न होनेके कारण उनके विषयमें रचना संवत् और प्रशस्ति आदिका कोई ठीक परिचय नहीं मिल सका। आशा है समाज पंडितजीके उपकारको स्मरण करता हुआ उनके सेवा भावका आदर्श सामने रक्खेगा और जिनवाणीके प्रचारका जो सन्देश उन्होंने अपने शिष्य पंडित पन्नालालजी संघीको दिया था उसे कार्यमें परिणत करनेका अपना भी कर्त्तव्य समझेगा, और तदनुसार जैन ग्रन्थों का अनेक भाषाओंमें अनुवादादि कर प्रचार करनेका जरूर कोई संगठित प्रयत्न करेगा। ऐसा करके ही वह अपने उपकारीके ऋणसे उऋण हो सकेगा †।

वीर सेवामन्दिर सरसावा

ता० ५—५—१९४०

---

† यह लेख श्रीमूलचन्द किसनदासजी कापड़ियाके 'दिगम्बर जैन पुस्तकालय' सूरतसे शीघ्र प्रकाशित होने वाली 'अर्थप्रकाशिका' टीकाके लिये प्रस्तावनाके रूपमें लिखा गया है।

—लेखक
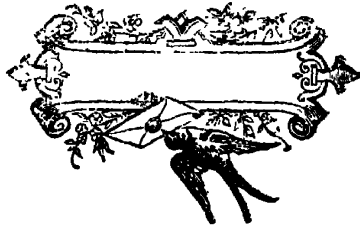
जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार

[लेखक—पंडित के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण, स० "जैनसिद्धान्तभास्कर"]

इस महत्वपूर्ण प्रस्तुत विषयका मैं दो दृष्टियोंसे विचार करूँगा, जिनमें पहली दृष्टि पौराणिक और दूसरी ऐतिहासिक होगी। जैनियोंकी मान्यता है कि वर्तमानकालमें भारतक्षेत्रान्तर्गत आर्यखण्डमें एक दूसरेसे दीर्घ-कालका अन्तर देकर स्व-पर-कल्याणार्थ चौबीस महापुरुष अवतरित हुए, जिन्हें जैनी तीर्थंकरके नामसे सम्बोधित करते और पूजते हैं। इन तीर्थङ्करोंमें १९ वें तीर्थङ्कर श्रीमल्लिनाथ, २० वें तीर्थङ्कर श्रीमुनिसुव्रत, २१ वें तीर्थङ्कर श्रीनमिनाथ एवं २४ वें तीर्थङ्कर श्रीमहावीरकी जन्म-भूमि कहलानेका सौभाग्य इसी बिहार प्रान्तको है। मल्लिनाथ और नमिनाथकी जन्मनगरी मिथिला, मुनिसुव्रतकी राजगृह तथा महावीर-की वैशाली है। चौबीस तीर्थङ्करोंमेंसे २२ वें श्रीनमिनाथ और १ ले श्री ऋषभदेवको छोड़-कर शेष २२ तीर्थङ्कर इसी बिहारसे मुक्त हुए हैं जिनमेंसे २० तीर्थङ्करोंने तो वर्तमान हजारी-बाग जिलान्तर्गत सम्मेदशिखर (Parshwanath hill) से मुक्तिलाभ किया है और शेष दो में से महावीरने पावासे तथा वासुपूज्यने चम्पा-से। सम्मेदशिखर, पावापुर और चम्पापुर (भागलपुर) के अतिरिक्त राजगृह, गुणावा, गुलजारबाग (पटना) जैसे स्थानोंको भी जैनी अपने अन्यान्य महापुरुषोंका मुक्ति-स्थान मानते आरहे हैं। इतना ही नहीं, सम्मेदशिखर, पावापुर और राजगृहादि स्थानों पर जैनियोंने अतुल द्रव्य व्यय कर बड़े-बड़े आलीशान मन्दिर निर्माण किये तथा धर्मशालाएँ आदि बनवाई हैं और प्रतिवर्ष हजारोंकी संख्यामें समूचे भारत-वर्षसे जैनी यात्रार्थ वहाँ आते हैं। जिस बिहार प्रांतमें अपने परमपूज्य एक-दो नहीं बीस तीर्थ-ङ्करोंने दिव्य तपस्याके द्वारा कर्म-क्षय कर मोक्ष लाभ किया है, वह पावनप्रदेश जनी मात्रके लिए कैसा आदरणीय एवं श्लाघनीय है—यह यहाँ कहनेकी आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि एक श्रद्धालु जैनीके लिए इस बिहारका प्रत्येक कण, जो तीर्थङ्करों एवं अन्यान्य महापुरुषोंके चरणरजसे स्पृष्ट हुआ है, शिरोधार्य तथा अभिनन्दनीय है। इसकी विस्तृत कीर्ति-गाथा जैन-ग्रन्थोंमें बड़ी श्रद्धासे गायी है।

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय राजकुमार थे। हिन्दूपुराणोंके अनुसार ये स्वयम्भू मनुकी पाँचवीं पीढ़ीमें हुए बतलाये गये हैं। इन्हें हिन्दू [1] एवं बौद्ध [2] शास्त्राकार भी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और युगके आरम्भ में जैन-धर्म-का संस्थापक मानते हैं। हिन्दू अवतारोंमें यह

१ देखो, भागवत ५। ४, ५, ६। २ देखो, 'न्यायबिन्दु' अ० ३।

आठवें माने गये हैं और सम्भवतः वेदोंमें भी इन्हींका उल्लेख मिलता है। इन्हीं ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र सम्राट भरतके नामसे यह देश भारत-वर्ष कहलाता है। बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत-नाथके कालमें ही मर्यादा-पुरुष रामचन्द्र एवं लक्ष्मण हुए थे। श्रीकृष्ण २२ वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ के समकालीन ही नहीं, बल्कि इनके चाचाजाद भाई थे। अब कई विद्वान भगवान् नेमिनाथको भी ऐतिहासिक व्यक्ति मानने लगे हैं। गुजरातमें प्राप्त ई० पूर्व लगभग ११ वीं शताब्दीके एक ताम्रपत्रके आधार पर हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके सुयोग्य प्रोफेसर डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार तो इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति स्पष्ट घोषित करते हैं। बल्कि प्रोफेसर प्राणनाथ-जी का कहना है कि 'मोहेनजोदारो' से उपलब्ध पाँचहजार पूर्वकी वस्तुओंमें कई शिलाएँ भी हैं जिनमें से कुछ में '**नमो जिनेश्वराय**' साफ अंकित मिलता है।[३]

यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथके पूर्वके तीर्थङ्करोंके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिये हमारे पास सबल ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं, फिर भी जैन-ग्रन्थोंके कथन एवं आजसे लगभग ढाई-तीन हजार वर्ष पूर्व निर्मित अवशेष[४] तथा शिलालेखादि[५] से शेष तीर्थङ्करोंके अस्तित्वका पता अवश्य चलता है। बल्कि कई विद्वान् रामायण, महाभारतादि ग्रन्थोंमें ही नहीं किन्तु यजुर्वेदादि सुप्राचीन वैदिक साहित्यमें जैन-धर्म एवं श्री नेमिनाथ आदि कतिपय तीर्थङ्करोंका उल्लेख मानते हैं[६]। आधुनिक खोजमें जैनियों-के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरके पूर्व-गामी २३वें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथको सभी इतिहासवेत्ता सम्मिलितरूपसे ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार कर चुके हैं, जो भगवान् महावीरसे प्रायः ढाईसौ वर्ष पहले हुए थे। अतएव आधुनिक दृष्टिसे एक विशेष विश्वसनीय जैन इतिहास ई० पूर्व नवमी शताब्दीसे प्रारम्भ हुआ था यह निर्विवादरूपसे माना जा सकता है। अस्तु, यह विषयान्तर है। अब आइये प्रस्तुत विषय पर।

'जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार' इस विषयपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करता हुआ मैं सर्व-प्रथम अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरको ही लूँगा। भगवान् महावीरका जन्म आजसे २५३८ वर्ष पूर्व चैत्र शु० त्रयोदशीके शुभ दिन वर्तमान मुजफ्फरपुर जिलेके वसाढ़ नामक स्थानमें हुआ था, जिसका प्राचीन वैभवशाली नाम वैशाली था। भगवान् महावीरके श्रद्धेय पिता नृप सिद्धार्थ थे। ये काश्यपगोत्रीय इक्ष्वाकु अथवा नाथ या ज्ञातवंशीय क्षत्रिय थे[७]। इनका विवाह वैशालीके लिच्छिवी क्षत्रियोंके प्रमुखनेता राजा चेटककी पुत्री प्रियकारिणी अथवा त्रिशलाके साथ हुआ था। राजा चेटक-जैसे संभ्रान्त राजवंशसे सिद्धार्थ-का वैवाहिक सम्बन्ध होना ही इनकी प्रतिष्ठा और गौरवका ज्वलन्त निदर्शन है। जैनग्रन्थोंमें

३ देखो, 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली' भाग ७, नं० २।

४ देखो, कंकालीटीले वाला मथुरा-जैनस्तूप।

५ देखो, खण्डगिरि-उदयगिरि-सम्बन्धी हाथी-गुफाका शिलालेख।

६ देखो, 'संक्षिप्त जैन इतिहास' प्रथम भागकी प्रस्तावना और 'वेद पुराणादि ग्रन्थोंमें जैनधर्मका अस्तित्व'।

७ देखो, 'उत्तरपुराण' पृष्ठ ६०५।

सिद्धार्थ नाथवंशके मुकुटमणि कहे गये हैं। आधुनिक साहित्यान्वेषणसे प्रकट हुआ है कि ज्ञात्रिक-क्षत्रियोंका निवास-स्थान प्रधानतया वैशाली (बसाढ़), कुण्डग्राम एवं वणियग्रामोंमें था। साथ ही, यह भी ज्ञात हुआ है कि नाथ-वंशीय क्षत्रिय कुण्ड ग्रामसे ऐशान्य दिशामें अवस्थित कोल्लागमें अधिक संख्यामें रहते थे। वैशालीके बाहर निकट ही कुण्डग्राम वर्तमान था, जो संभवतः आजकलका वसुकुण्ड गाँव है। जैनग्रन्थोंके कथनानुसार भगवान् महावीरका जन्म यहीं पर हुआ था। कोई-कोई विद्वान कोल्लागको ही महावीरका जन्मस्थान बताते हैं। परन्तु यह बात दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी मान्यताके प्रतिकूल है। नाथवंशीय क्षत्रिय वज्जिप्रदेशीय प्रजातन्त्रात्मक राजसंघमें सम्मिलित थे। कौटिलीय अर्थशास्त्रसे स्पष्ट है कि, प्रजातन्त्रीय राजसंघमें क्षत्रियकुलोंके मुखियाओंकी कौंसिल मुख्यकार्यकर्त्री थी और इस कौंसिलके सदस्योंका नामोल्लेख राजाके रूपमें होता था[८]। यही कारण है कि भगवान् महावीरके पिता सिद्धार्थकुंडपुरके राजा कहलाते थे।

नाथवंशीय क्षत्रिय मुख्यतः जैनियोंके २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथके अनुयायी थे। बादको जब भगवान् महावीरके दिव्य कर-कमलोंमें जैनधर्मका शासनसूत्र आया तब वे नियमानुसार उनके उपासक बनगये[९]। बौद्धग्रन्थोंमें भगवान् महावीर 'निग्गंथनाथपुत्त' के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यह है कि उस जमानेमें जैनसंघ इसी नामसे अधिक परिचित था। यह निर्विवाद बात है कि भगवान् महावीरके समय वैशालीमें जैनियोंकी संख्या अत्यधिक थी। चीनयात्री हुएनत्सांग (सन् ६३५) के भारतयात्रा कालतक जैनियोंकी संख्यामें वहाँ कमी नहीं हुई थी; क्योंकि उन्होंने अपने यात्राविवरणमें स्पष्ट लिखा है कि वैशाली-राज्यका घेरा क़रीब एक हज़ार मीलका था, वहाँकी जलवायु अनुकूल थी, लोगोंका आचरण पवित्र और श्रेष्ठ था, लोग धर्मप्रेमी थे, विद्याकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, और जैनी बहुत सँख्यामें मौजूद थे[१०]। तीस वर्षकी अवस्थामें भगवान् महावीरने संसारसे विरक्त हो अपने आत्मोत्कर्षको साधने एवं संसारके जीवोंको सन्मार्गमें लगानेके लिये सम्पूर्ण राज्यवैभवको ठुकराकर जंगलका रास्ता लिया। दीन दुखियोंकी पुकार उनके उदार हृदयमें घर कर गयी और उनकी सच्ची सेवा बजानेके लिये वे दृढप्रतिज्ञ होगये। विशेष सिद्धिके लिये विशेष तपस्याकी आवश्यकता होती है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। इसी लिये महावीरको बारह वर्षों तक घोर तपश्चरण करना पड़ा। क्योंकि तपश्चरण ही आन्तरिक मलको छाँटकर आत्माको शुद्ध, सुयोग्य एवं कार्यक्षम बना सकता है। इस दुर्द्धर तपश्चरण-की कुछ घटनाओंको ज्ञातकर रोंगटे खड़े होजाते हैं। परन्तु साथ ही साथ आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चय, दृढ आत्मविश्वास, अगाध साहस एवं लोकोत्तर क्षमाशीलताको देखकर भक्तिसे मस्तक झुक जाता है और मुख स्वयमेव

८ देखो, 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' का मैसूर सँस्करण पृष्ठ ४५५

९ देखो, मिसेज स्टिवेन्सन् का 'हार्ट आफ़ जैनिज्म' (लंडन)

१० देखो, 'बंगाल बिहार उड़ीसाके प्राचीन जैनस्मारक'। पृष्ट२३

स्तुति करने लग जाता है। बारह वर्षों के उग्र तपश्चरणोंके बाद वैशाख शु० दशमी को जृम्भक गाँवके निकट, ऋजुकूला नदीके किनारे सालवृक्षके नीचे केवल ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञज्योतिको वे प्राप्त हुए। इस प्रकार मुक्तिमार्गका नेतृत्व ग्रहण करनेके जब आप सर्वप्रकारसे उपयुक्त हुए तब जन्म-जन्मान्तरमें संचित अपने विशिष्ट शुभ संकल्पानुसार महावीरने लोकोद्धारके लिये अपना विहार (भ्रमण) प्रारम्भ किया। संसारी-जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देनेके लिये लगभग ३० वर्षों तक प्राय: समग्र भारतमें अविश्रान्त रूपसे आपका विहार होता रहा। खासकर दक्षिण एवं उत्तर विहारको यह लाभ प्राप्त करनेका अधिक सौभाग्य प्राप्त है। विद्वानोंका कहना है कि इस प्रदेशका 'विहार' यह शुभ नाम महावीर एवं गौतम बुद्धके विहारकी ही चिरस्मृति है। जहाँ पर महावीरका शुभागमन होता था, वहाँ पशु-पक्षी तक भी आकृष्ट होकर आपके निकट पहुँच जाते थे। आपके पास किसी प्रकारके भेद-भावकी गुञ्जायश नहीं थी। वास्तवमें जिस धर्ममें इस प्रकारकी उदारता नहीं है वह विश्वधर्म—सार्वभौमिक—होनेका दावा नहीं कर सकता। भगवान् महावीरकी महती सभामें हिंसक जन्तु भी सौम्य बन जाते थे और उनकी स्वाभाविक शत्रुता भी मिट जाती थी। महावीर अहिंसाके एक अप्रतिम अवतार ही थे, इस बातको स्वर्गीय बाल गङ्गाधर तिलक, महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे जैनेतर विद्वानोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। भगवान् महावीरने अपने विहारमें असंख्य प्राणियोंके अज्ञानान्धकारको दूर किया, उन्हें यथार्थ वस्तुस्थितिका बोध कराया, तत्वको समझाया, भूलें दूर कीं, कमजोरियाँ हटाईं, आत्मविश्वास बढ़ाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डको घटाया, मिथ्यात्व छुड़ाया, पतितोंको उठाया, अत्याचारोंको रोका, हिंसाका घोर विरोध किया, साम्यवादको फैलाया और लोगोंको स्वावलम्बी बनानेका उपदेश दिया [११]। ज्ञात होता है कि आपके विहारका प्रथम स्थान राजगृह के निकट विपुलाचल और वैभार पर्वत आदि पंच पहाड़ियोंका पुण्यप्रदेश था। उस समय राजगृहमें शिशुनागवंशका प्रतापी राजा श्रेणिक या बिम्बसार राज्य करता था। श्रेणिक ने भगवान्की परिषदों में प्रमुख भाग लिया है और उसके प्रश्नों पर बहुत से रहस्योंका उद्घाटन हुआ है। श्रेणिककी रानी चेलना भी वैशालीके राजा चेटककी पुत्री थी। इसलिए वह रिश्तेमें महावीर स्वामीकी मौसी होती थी। जैन ग्रन्थोंमें राजा श्रेणिक भगवान महावीरकी सभाओंके प्रमुख श्रोताके रूप में स्मरण किये गये हैं। हाँ, एक बात और है और वह यह है कि बौद्ध ग्रन्थोंमें बिम्बसार गौतम बुद्धके एक श्रद्धालु भक्तके रूपमें वर्णित हुए हैं। प्रारम्भावस्थामें बिम्बसारका बुद्धानुयायी होना जैनग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। अत: बहुत कुछ सम्भव है कि बिम्बसार पहले गौतमबुद्धका भक्त रहा हो और पीछे भगवान् महावीरकी वजह से जैन धर्ममें दीक्षित हो गया हो।

---

११ देखो, 'अनेकान्त' वर्ष १ कि० १ में प्रकाशित और फिर स्वतन्त्ररूपसे मुद्रित मुख्तार श्रीजुगलकिशोरका 'भगवान् महावीर और उनका समय' शीर्षक निबन्ध।

एक दृष्टि से विहारको यदि जैन-धर्मका उद्गम स्थान माना जाय तो भी कोई ऐसा घोर विरोध नहीं दिखता। क्यों कि इस समय जैन धर्मका जो कुछ मौलिक सिद्धान्त उपलब्ध है, वह अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरके उपदेशका ही सार समझा जाता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आपका सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती शेष तेईस तीर्थङ्करों के सिद्धान्तकी पुनरावृत्ति मात्र है। जैनियोंकी यह दृढ श्रद्धा है कि अपने वन्दनीय चौबीस तीर्थङ्करों के मौलिक उपदेश में थोड़ा भी अन्तर कभी नहीं रहा है। ऐसी दशामें विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि जैनियोंकी दृष्टिमें विहार कितना महत्वपूर्ण अग्रस्थान रखता है। अब मैं यहाँ पर संक्षेपमें इस बातका दिग्दर्शन करा देना चाहता हूँ कि भगवान् महावीरके उपरान्त इस विहारमें शासन करनेवाले भिन्न भिन्न राजवंशोंका जैन-धर्मसे कहाँतक सम्बन्ध रहा है।

शिशुनागवंश—ई० पूर्व छठी शताब्दी मे मगधराज्य भारतमें सर्वप्रधान था। इस प्रमुख राज्यके परिचयसे ही भारतका एक प्रामाणिक इतिहास प्रारम्भ होता है। उस समय यहाँके शासनकी बागडोर शिशुनागवंशीय वीर क्षत्रियोंके हाथमें थी। इस वंशके राजाओंने ई० पूर्व ६४५ से ई० पूर्व ४८० तक यहाँ पर राज्य किया है। उत्तरपुराण, आराधना-कथाकोश और श्रेणिक-चरित्र आदि जैन ग्रंथोंसे इस वंशके शासकोंमें से (१) उपश्रेणिक, (२) श्रेणिक (बिम्बसार) (३)कुणिक (अजातशत्रु),(४)(दर्शक, (५) उदयन ये पाँचों जैन धर्मावलम्बी सिद्ध होते हैं [१२]। उल्लिखित ग्रन्थों में ये सभी शासक धर्मात्मा, वीर एवं राजनीतिपटु कहे गये हैं। इन राजाओंमें खासकर श्रेणिक या बिम्बसारको जैनग्रंथोंमें प्रमुख स्थान प्राप्त है, यह बात मैं पहले ही लिख चुका हूँ। कुणिक या अजातशत्रु भी अपने समयका एक प्रख्यात प्रतापी राजा था। इसने बौद्ध धर्म से असन्तुष्ट होकर जैनधर्मको विशेषरूपसे अपनाया था। मालूम होता है कि इसीलिये बौद्धग्रंथोंमें यह दुष्कर्मोंका समर्थक एवं पोषक कहा गया है। भगवान् महावीर का निर्वाण इसीके राज्य-कालमें हुआ था। परन्तु एक बात जरूर है कि इस कुणिक या अजातशत्रुके राज्याधिकारी होते ही इसका व्यवहार अपने पिता श्रेणिकके प्रति बुरा होने लगा था। जैनग्रंथ कहते हैं कि पूर्व वैरके कारण अजातशत्रु अपने पिताको काठके पिंजरे में बन्दकर उसे मनमाना दुःख देने लगा था। किन्तु बौद्ध ग्रन्थोंसे पता चलता है कि इसने बुरा कार्य देवदत्त नामक एक बौद्ध-संघ-द्वेषी साधुके बहकानेसे किया था।

नन्द-वंश—सर विन्सेन्टस्मिथ, एम० ए० का कहना है कि नन्द राजा ब्राह्मण धर्मके द्वेषी और जैनधर्मके प्रेमी थे[१३]। कैम्ब्रिज हिस्ट्री भी इस बातका समर्थन करती है। नव नन्दोंके मन्त्री तो निस्सन्देह जैनधर्मानुयायी थे। महापद्मका मन्त्री कल्पक था, इसीका पुत्र परवर्ती नन्द का मन्त्री रहा। अन्तिम नन्द सकल्प

१२ देखो, विशेष परिचय के लिये 'संक्षिप्त जैन इतिहास' भाग २, खण्ड २। १३ देखो, 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया'

अथवा घननन्द था। इसका मन्त्री शकटार जैन धर्मानुयायी था, जो अन्त में मुनि होगया था।[१४]

इसके पुत्र स्थूल भद्र और श्रीयक थे। स्थूल भद्र जैन मुनि होगये थे और श्रीयक को मन्त्री-पद मिला था।[१५] इसीका अपर नाम सम्भवत: राक्षस था। यद्यपि उस समय भारतमें घननन्द सबसे बड़ा राजा समझा जाता था फिर भी इसमें इतनी योग्यता नहीं थी कि यह इतने विस्तृत राज्यको समुचित रीतिसे सँभाल लेता। फलत: उधर कलिंगको ऐरवंशके एक राजाने इससे जीत लिया; इधर चाणक्यकी सहायतासे चन्द्रगुप्त ने इसपर आक्रमण कर दिया। अन्त में ई० पूर्व ३२६ में नन्द-वंशाकी इतिश्री होगई। सर स्मिथके कथनानुसार इसने ही जैनियोंके तीर्थ पंचपहाड़ीका निर्माण पटनामें कराया था।

मौर्य्य-वंश—जैन-साहित्य और शिलालेखोंसे मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त जैन-धर्मका परम भक्त प्रमाणित होता है। इतिहास-लेखक दीर्घ-काल तक इस बात पर विश्वास करनेको तैयार नहीं हुए। परन्तु अब इधर कुछ वर्षोंसे ऐतिहासिक विद्वानोंने बहुमतसे चन्द्रगुप्तका जैन-धर्मानुयायी होना स्वीकार कर लिया है। इन विद्वानोंमें मि० विन्सेन्ट ए० स्मिथ, मि० ई० थामस, मि० विल्सन, मि० बी० लुईस राइस, सं० इन्साइक्लो पीडिया आफरिलीजन, मि० जार्ज सी० एम० वर्डवुड और श्रीयुत स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल प्रमुख हैं।[१६] ईसा की ५ वीं शताब्दी तकके प्राचीन जैन-ग्रन्थ एवं बाद के शिलालेखों का कथन है कि जब उत्तरभारत-में बारह वर्षोंका घोर दुर्भिक्ष पड़ा था तब चन्द्रगुप्त अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहुके साथ दक्षिणकी ओर चला गया और वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेल्गोल में—जहाँ अब तक उसके नामकी यादगार है—मुनि के तौर पर रहकर अन्तमें वहीं पर वह उपवासपूर्वक स्वर्गासीन हुआ। श्रवणबेल्गोलकी स्थानीय अनुश्रुति भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तका सम्बन्ध जोड़ती है। इतना ही नहीं; अनुश्रुति द्वारा श्रवण-बेल्गोलके साथ इन दोनोंका भी सम्बन्ध जुड़ता है। श्रवणबेल्गोलके दो पर्वतों में से छोटेका नाम 'चन्द्रगिरि' है जो कि चन्द्रगुप्त नामक किसी महान् व्यक्तिका स्मृति चिन्ह है। इसी पर एक गुफा भी है जिसका नाम 'भद्रबाहु' गुफा है। इसी पर्वत पर एक सुन्दर प्राचीन मन्दिर भी है, जिसका नाम 'चन्द्रगुप्तवस्ति' है।

सम्राट चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी बिन्दुसार भी परिशिष्ट पर्व आदि जैन ग्रन्थों से जैन धर्मावलम्बी सिद्ध होता है। जैन ग्रन्थोंमें इसका दूसरा नाम सिंहसेन मिलता है। बिन्दुसार अपने श्रद्धेय पिता के समान बड़ा प्रतापी था। इसकी विजयों का पूर्ण वृत्तान्त उपलब्ध होने पर निस्सन्देह इसे भी चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे सम्राटोंकी श्रेणी में अवश्य स्थान मिल सकता है।

१४ देखो, 'आराधना कथा कोश' भाग ३, पृष्ठ ७८-८१।

१५ देखो, 'हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर आफ जैनिज़्म'।

१६ देखो, 'मौर्य साम्राज्य के जैन वीर' पृष्ठ। ११८-१४८।

जैनग्रंथ भी आचार्य चाणक्यको सम्राट् बिन्दुसार का प्रधानमंत्री प्रकट करते हैं। बिन्दुसारके स्वर्गस्थ होने पर ई० पूर्व २७२ में इसका पुत्र अशोक राज्यारूढ़ हुआ। कई विद्वानोंका मत है कि सम्राट् अशोकने अपनी प्रशस्तियोंमें जो अहिंसा, सत्य, शील आदि गुणों पर जोर दिया उससे प्रतीत होता है कि वह स्वयं जैनधर्मावलम्बी रहा हो तो आश्चर्य नहीं। प्रो० कर्नका कहना है कि 'अहिंसाके विषयमें अशोकके जो नियम हैं वे बौद्धोंकी अपेक्षा जैनियोंके सिद्धान्तों से अधिक मिलते हैं। जैनग्रंथोंमें इसके जैन होनेका प्रमाण भी स्पष्ट उपलब्ध है[17]। कवि कल्हणकी 'राजतरंगणी' में अशोक द्वारा काश्मीरमें जैनधर्मका प्रचार किये जानेका वर्णन है[18]। यही बात अबुलफजलकी 'आइने अकबरीसे भी विदित होती है। कुछ विद्वानोंका मत है कि अशोक पहले जैनधर्मका उपासक था, पश्चात् बौद्ध होगया था[19]। इसका एक प्रमाण यह दिया जाता है कि अशोक के उन लेखोंमें जिनमें उसके स्पष्टतः बौद्ध होनेके कोई संकेत नहीं पाये जाते बल्कि जैन सिद्धान्तोंके ही भावोंका आधिक्य है, राजाका उपनाम 'देवानांपिय पियदसी' पाया जाता है। 'देवानां पिय' विशेषतः जैनग्रन्थोंमें ही राजाकी पदवी पायी जाती है। श्वेताम्बरी 'उवाई' (औपपातिक) सूत्रग्रन्थोंमें यह पदवी जैन राजा श्रेणिक (बिम्बसार) और उसके पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के नामोंके साथ लगाई गयी है। पर अशोकके २२ वें वर्षकी 'भाबरा' की प्रशस्तिमें जिसमें उसके बौद्ध होनेके स्पष्ट प्रमाण हैं, उसकी पदवी केवल 'पियदसि' पायी जाती है, 'देवानांपिय' नहीं। इसी बीचमें वह जैनसे बौद्ध हुआ होगा। पर आजकल बहुत मत यही है कि अशोक बौद्ध था। (जैन इतिहासकी पूर्व पीठिका)

जैनियों की वंशावलियों और अन्य ग्रन्थोंमें उल्लेख है कि अशोकका पौत्र 'सम्प्रति' था, उसके गुरु 'सुहस्ति' आचार्य थे और वह जैनधर्मका बड़ा प्रतिपालक था। उसने 'पियदसि' के नामसे बहुतसी प्रशस्तियाँ शिलाओं पर अंकित करायी थीं। इस कथनके आधार पर प्रो० पिशेल और मि० मुकर्जी जैसे विद्वानोंका मत है कि जो शिलाप्रशस्तियाँ अब अशोकके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे सम्भवतः 'सम्प्रति' ने लिखवायी होंगी। पर सरविन्सेन्ट स्मिथकी राय इसके विरुद्ध है। वे उन सब लेखोंको अशोकके ही प्रमाणित करते हैं। अशोकके समयमें सम्प्रति युवराज था और उसीने अपने अधिकारसे अशोकको राजकोषमें से बौद्धसंघको दान देनेका विरोध कर दिया था। सम्राट् कुनालके शासनमें भी शासन-सूत्र उसी के हाथ में था। दशरथ के समय में भी वही वास्तविक शासक रहा। यही कारण है कि बहुतसे ग्रन्थोंमें सम्प्रतिको ही अशोकका उत्तराधिकारी लिख दिया है। जैन-साहित्यमें सम्प्रतिका वही स्थान है जो बौद्ध-साहित्यमें अशोक-

---

१७ देखो, 'राजावलिकथे' (कन्नड़)

१८ देखो, 'यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्। शुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमंडले ॥ अ० १

१९ देखो, 'अर्ली फेथ आफ़ अशोक', थामस-कृत।

का। उसने अपने प्रियधर्म को फैलाने के लिए बहुत प्रयत्न किया था।[२०] परिशिष्ट पर्वके कथनानुसार सम्प्रतिने अनार्य देशोंमें भी जैन-धर्म का प्रचार किया था। दानशाला-निर्माण आदि अनेक लोकोपकारक कार्य भी जैनधर्मके प्रचार में सम्प्रतिके पर्याप्त सहायक हुए हैं।

बृहस्पतिमित्रको जीतकर मगधको वशमें लाने वाला सम्राट् खारवेल भी कट्टर जैन-धर्मावलम्वी था। खारवेलने जैनधर्मकी बहुत बड़ी सेवा की थी। हाथीगुफा वाले शिलालेखमें खारवेलको 'धर्मराज' एवं 'भिक्षुराज' कहा गया है। कलिंगके कुमारी पर्वतपर खारवेल और उसकी रानीने अनेक मन्दिर तथा विहार बनवाये थे। खासकर सम्राट्के द्वारा निर्मित वहाँकी गुफाओंका मूल्य अत्यधिक है[२१]।

बादके विहारमें शासन करनेवाले गुप्तवंश आदि अन्यान्य राजाओंका जैनधर्मसे क्या संबंध रहा, इस बात को खुलासा करनेसे लेखका कलेवर विशेष बढ़ जायगा। इसलिये अपनी इस इच्छाका यहीं संवरण करना पड़ता है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि राजगृह, पाटलिपुत्र आदि पुरातन स्थानोंसे जैनधर्मका बहुत पुराना अभेद्य सम्बन्ध है। १९३७ के फरवरी महीनेमें पटना जंक्सनसे एक मीलकी दूरी पर लोहनीपुर मुहल्लेमें जो दो दिगम्बर जैन मूर्तियाँ खोदते वक्त मिली हैं उनके सम्बन्धमें पुरातत्त्वके अनन्य मर्मज्ञ स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवालका कहना है कि भारतवर्षमें आजतककी उपलब्ध मूर्तियोंमें ये सबसे प्राचीन हैं। जायसवाल महोदय इन मूर्तियोंको ईसासे ३०० वर्ष पूर्वकी मौर्यकालीन मानते हैं[२२]। कुलहा पहाड़ (हजारी बाग) श्रावक पहाड़ (गया), पचार पहाड़ (गया) आदि स्थानों की खोज की बड़ी आवश्यकता है। संभव है इन स्थानोंकी खोजसे कुछ नयी बातें इतिहासको उपलब्ध हों। कुछ विद्वानोंका खयाल है कि कुलहा पहाड़ भगवान् शीतलनाथ तीर्थंकर की तपोभूमि है[२३]।

---

२० देखो, सत्यकेतु विद्यालङ्कारका 'मौर्यसाम्राज्य'का इतिहास।

२१ देखो, विशेष विवरणके लिये 'सक्षिप्तजैनइतिहास' भाग
७ खंड २।

२२ देखो, 'जैन ऐन्टीक्वेरी' भाग ३, नं० १ पृष्ठ १७-१८

२३ देखो, 'दिगम्मबरीय जैन डाइरेक्टरी।'

परिग्रह-परिमाण-व्रतके दासी-दास गुलाम थे

[लेखक—श्री पण्डित नाथूराम प्रेमी]

संसारमें स्थायी कुछ नहीं। सभी कुछ परिवर्तनशील है। हमारी सामाजिक व्यवस्थाओंमें भी बराबर परिवर्तन होते रहते हैं, यद्यपि उनका ज्ञान हमें जल्दी नहीं होता।

जो लोग यह समझते हैं कि हमारी सामाजिक व्यवस्था अनादिकालसे एक-सी चली आ रही है, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। वे ज़रा गहराईसे विचार करके देखें तो उन्हें मालूम हो जाय कि परिवर्तन निरन्तर ही होते रहते हैं, हरएक सामाजिक नियम समयकी गतिके साथ कुछ-न कुछ बदलता ही रहता है।

उदाहरणके लिए इस लेखमें हम दास-प्रथा की चर्चा करना चाहते हैं। प्राचीनकालमें सारे देशोंमें दास-प्रथा या गुलाम रखनेका रिवाज था। भारतवर्षमें भी था। इस देशके अन्य प्राचीन ग्रन्थों के समान जैन-ग्रन्थोंमें भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

जैनधर्मके अनुसार बाह्यपरिग्रहके दस भेद हैं—

> बाहिरसंगा खेत्तं
> वत्थं धणधण्णकुप्पभण्डानि।
> दुपय-चउप्पय-जाणा-
> णि चेव सयणासणे य तहा।१११६
>
> —भगवती आराधना

इसपर श्रीअपराजितसूरिकी टीका देखिए—

"बाहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः। खेत्तं कर्षणाद्यधिकरणं। वत्थं वास्तु-गृहं। धणं सुवर्णादि। धण्ण धान्यं व्रीह्यादि। कुप्प कुप्यं वस्त्रं। भण्ड भाण्डशब्देन हिंगुमरिचादिकमुच्यते। द्विपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादि। चउप्पय गजतुरगादयः चतुष्पदाः। जाणाणि शिविकाविमानादिकं यानं। सयणासणे शयनानि आसनानि च।"

अर्थात्—खेत, वास्तु (मकान), धन (सोना-चाँदी), धान्य (चावल आदि), कुप्य (कपड़े), भाण्ड (हींग मिर्चादि मसाले), द्विपद (दोपाये दास-दासी) चतुष्पद (चौपाये हाथी, घोड़े आदि) यान (पालकी विमान आदि), शयन (बिछौने और आसन ये बाह्य परिग्रह हैं।

लगभग यही अर्थ पण्डित आशाधरजी और आचार्य अमितगतिने भी अपनी टीकाओं में किया है। इन दसमेंसे हम अपने पाठकोंका ध्यान द्विपद और चतुष्पद अर्थात् दोपाये और चौपाये शब्दोंकी ओर खींचना चाहते हैं। ये दोनों परिग्रह हैं। जिस तरह सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र आदि चीज़ मनुष्यकी मालिकी समझी जाती हैं, इसी तरह दोपाये और चौपाये जानवर भी। चौपाये तो खैर, अब भी मनुष्य की जायदाद में गिने जाते हैं, परन्तु पूर्व कालमें दास-दासी भी जायदादके अन्तर्गत थे। पशुओंसे उनमें यही भिन्नता थी कि उनके

चार पाँच होते हैं और इनके दो। पाँचवें परिग्रह त्याग व्रतके पालनमें जिस तरह और सब चीजोंके छोड़नेकी जरूरत है उसी तरह इनकी थी। परन्तु शायद इन द्विपदोंको स्वयं छूटनेका अधिकार नहीं था।

दास दासियोंका स्वतन्त्र व्यक्तित्व कितना था, इसके लिए देखिए—

> सचित्ता पुरागंथा
> वधंति जीवे सयं च दुक्खंति।
> पावं च तण्णिमित्तं
> परिगिह्नं तस्स से होई ॥११६२

"सचित्ता पुरागंथा वधंति जीवेगंथा परिग्रहाः दासी दास गोमहिष्यादयो घ्नन्ति जीवान् स्वयं च दुखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्य-मानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीव-कृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति।"

—विजयोदया टीका

अर्थात्—जो दासी-दास गाय-भैंस आदि सचित्त (सजीव) परिग्रह हैं वे जीवोंका घात करते हैं और खेती आदि कामोंमें लगाये जाने पर स्वयं दुखी होते हैं। इसका पाप इनके स्वीकार करने वाले या मालिकोंको होता है। क्योंकि मालिकोंके निमित्तसे ही वे जीव-वधादि करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक तरहसे था ही नहीं, अपने किये हुए पाप-पुण्यके मालिक भी वे स्वयं नहीं थे। अर्थात् दस तरहके बाह्यपरिग्रहोंमें जो 'दास-दासी' परि-ग्रह है उसका अर्थ जैसा कि आजकल किया जाता है 'नौकर नौकरानी' नहीं है, किन्तु गुलाम (Slave) है। इस समयके नौकरका तो स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह पैसा लेकर काम करता है, गुलाम नहीं होता। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें गुलाम के लिये 'दास' और नौकरके लिये 'कर्मकर' शब्दों-का व्यवहार किया गया है।

अनगारधर्मामृत अध्याय ४ श्लोक १२१ की टीकामें स्वयं पं० आशाधरने दास शब्दका अर्थ किया है—"दासः क्रयक्रीतः कर्मकरः।" अर्थात् खरीदा हुआ काम करने वाला। पं० राजमल्लजीने लाटीसंहिताके छठे सर्गमें लिखा है—

> दासकर्मरता दासी
> क्रीता वा स्वीकृता सती।
> तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं
> कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥१५०॥
> यथा दासी तथा दासः ········।

अर्थात्,—दास-कर्म करने वाली दासियाँ चाहे वह खरीदी हुई हों और चाहे स्वीकार की हुई, उनकी संख्या भी व्रतकी शुद्धिके लिये बिना अतिक्रमके नियत कर लेनी चाहिये। इसी तरह दासों की भी।

इससे मालूम होता है कि काम करने वाली दासियाँ खरीदी जाती थीं और उनमें से कुछ स्वीकार भी करली जाती थीं। स्वीकृताका अर्थ शायद 'रखैल, होगा। 'परिग्रहीता' शब्द शायद इसीका पर्यायवाची है।

यशस्तिलक में श्रीसोमदेवसूरिने लिखा है—

> वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
> माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥

अर्थात—पत्नी और वित्त-स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंको माता, बहिन और बेटी समझना गृहस्थाश्रमका ब्रह्म या ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

वित्तका अर्थ धन होता है, वित्त-श्री से तात्पर्य धनसे खरीदी हुई दासी होना चाहिये। इसका अर्थ वेश्या भी किया गया है परन्तु अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दासी अर्थ ही अधिक उपयुक्त होगा। कोशों में वार-योषित, गणिका पण्यस्त्री आदि नाम वेश्याके मिलते हैं, जिनके अर्थ समूहकी, बहुतोंकी या बाजारू औरत होता है, पर धन-स्त्री या वित्त-स्त्री जैसा नाम कहीं नहीं मिला।

गृहस्थ अपनी पत्नी और दासीको भोगता हुआ भी चतुर्थ अणुव्रतका पालक तभी माना जा सकता है, जब दासी गृहस्थकी जायदाद मानी जाती हो। जो लोग इस व्रतकी उक्त व्याख्या पर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं वे उस समयकी सामाजिक व्यवस्थासे अनभिज्ञ हैं, जिसमें 'दासी' एक परिग्रह या जायदाद थी। अवश्य ही वर्तमान दृष्टिकोणसे जब कि दास-प्रथाका अस्तित्व नहीं रहा है और दासी किसीकी जायदाद नहीं है, ब्रह्माणुव्रतमें उसका ग्रहण निन्द्य माना जाना चाहिये।

कौटिलीय अर्थशास्त्रमें 'दासकल्प' नामक एक अध्याय ही है, जिससे मालूम होता है कि दासी-दास खरीदे जाते थे, गिरवी रक्खे जाते थे और धन पाने पर मुक्त कर दिये जाते थे। दासियों पर मालिकका इतना अधिकार होता था कि वह उनमें सन्तान भी उत्पन्न कर सकता था। और उस दशामें वे गुलामीसे छुट्टी पाजाती थीं।

स्वामिनोऽस्यां दास्यां जातं समातृकमदासं विद्यात् ।३२।
गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तनी माता भ्राता भगिनी चास्याः दास्याः स्युः ।३३।

—धर्मस्थीय तीसरा अधिकरण।

अर्थात्—यदि मालिकसे उसकी दासीमें सन्तान उत्पन्न हो जाय तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों ही दासतासे मुक्त कर दिये जायँ। यदि वह स्त्री कुटुम्बार्थचिन्तनी होनेसे ग्रहण करली जाय, भार्या बन जाय तो उसकी माता, बहिन और भाइयोंको भी दासतासे मुक्त कर दिया जाय।

इन सूत्रोंकी रोशनीमें सोमदेवसूरिका ब्रह्माणुव्रतका विधान अयुक्त नहीं मालूम होता।

स्मृति-ग्रन्थोंमें दासोंका वर्णन बहुत विस्तारसे किया गया है।

मनुस्मृतिमें सात प्रकारके दास बतलाये हैं—

ध्वजाहृतो भुक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥

८—१५

अर्थात—ध्वजाहृत (संग्राममें जीता हुआ) भुक्त-दास (भोजनके बदले रहने वाला, गृहज) (दासी-पुत्र), क्रीत (खरीदा हुआ), दत्त्रिम (दूसरे का दिया हुआ), पैत्रिक (पुरखोंसे चला आया), और दण्डदास (दण्डके धनको चुकानेके लिए जिसने दासता स्वीकारकी हो), ये सात प्रकार के दास हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके टीकाकार विज्ञानेश्वर (१२ वीं सदी) ने पन्द्रह प्रकारके दास बतलाये हैं, जिनमें ऊपर बतलाये हुए तो हैं ही, उनके

सिवाय जुएमें जीते हुए, अपने आप बिके हुए, दुर्भिक्षके समय बचाये हुए आदि अधिक हैं। ये दास जो कुछ कमाते थे, उस पर उनके स्वामीका ही अधिकार होता था।

पूर्वकालमें भारतवर्षमें दास-विक्रय होता था, इसके अपेक्षाकृत आधुनिक प्रमाण भी अनेक मिलते हैं—

ईसा की चौदहवीं सदीके प्रसिद्ध भारतयात्री इब्नबतूताने बङ्गालका व०न करते हुए लिखा है कि "यहाँ तीस गज लम्बा सूती वस्त्र दो दीनार में और सुन्दर दासी एक स्वर्ण दीनार-में मिल सकती है। मैंने स्वयं एक अत्यन्त रूप-वती 'आशोरा' नामक दासी इसी मूल्यमें तथा मेरे एक अनुयायीने छोटी अवस्था का 'लूलू' नामक एक दास दो दीनारमें मोल लिया था*। अर्थात् उस समय दास-दासी अन्य चीज़ोंके ही समान मोल मिल सकते थे।

बङ्गला मासिक 'भारतवर्ष' (वर्ष ११ खण्ड २ अङ्क ६ पृ० ८४७) में प्रो० सतीशचन्द्र मित्र का 'मनुष्यविक्रय पत्र' नामक एक लेख छपा है। जिसमें दो दस्तावेज़ों की नक़ल दी है—

(१) प्राय: २५० वर्ष पहले बरीसालके एक कायस्थने ७ छोटे बड़े स्त्री-पुरुषों को ३१) रुपये-में बेचा था। यह दस्तावेज फाल्गुन १३१६ (बंगला संवत्) के 'ढाका रिव्यू' में प्रकाशित हुई है। (२) दूसरी दस्तावेज १६ पौष ११९४ (बं० सं०) की लिखी हुई है। उसका सार यह है कि, अमीराबाद परगना (फरीदपुर-जिला) के गोयाला ग्राम-निवासी रामनाथ चक्रवर्तीने अपने पद्मलोचन नामक सात वर्षकी उम्रके दासको दुर्भिक्षवश अन्न-वस्त्र न दे सकनेके कारण २) पण लेकर राजचन्द्र सरकारको बेच दिया। यह सदैव सेवा करेगा। इसे अपनी दासीके साथ ब्याह देना। ब्याहसे जो सन्तान होगी वह भी यही दास-दासी कर्म करेगी। यदि यह कभी भाग जाय तो अपनी क्षमतासे पकड़वा लिया जाय। यदि मुक्त होना चाहे तो १२ मन सीसा (?) और रसून (लशून ?) देकर मुक्त हो जाय। दस्तावेज लिख दी कि सनद रहे।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकाल में दास-दासी एक तरहकी जायदाद ही थे,। ख़रीदे-बेचे जा सकते थे, वे स्वयं अपने मालिक न थे, इसीलिए उनकी गणना परिग्रहमें की गई है।

यह सच है कि अमेरिका-यूरोप आदि देशों-के समान यहाँ गुलामों पर उतने भीषणअत्याचार-न होते थे जिनका वर्णन पढ़कर रोंगटे खड़े हो आते हैं और जिनको स्वाधीन करनेके लिए अमेरिका में (सन् १८६०) चार पाँच वर्ष तक जारी रहने वाला 'सिविल-वार' हुआ था*। फिर भी इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्षमें भी गुलाम रखनेकी प्रथा थी और उनकी हालत लगभग पशुओं जैसी ही थी। सन् १८५५ में ब्रिटिश पार्लमेंटने एक नियम बना-कर इसे बन्द किया है। यद्यपि इनके अवशेष अब भी कहीं कहीं मौजूद हैं।

* देखो, काशीविद्यापीठ-द्वारा प्रकाशित 'इब्नबतूता की भारतयात्रा' का पृष्ठ ३६१।

* गुलामीका परिचय प्राप्त करने के लिए बुकर टी० वाशिंगटनका 'आत्मोद्धार' और मिसेज एच० बी० स्टो की लिखी हुई 'टाम काका की कुटिया' आदि पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

अमर मानव

[लेखक—श्री सन्तराम बी० ए०]

एक फौजी डाक्टर लिखता है,—"चिकित्सा-शास्त्र ही रोगियोंकी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता। कोई भी डाक्टर, जिसने युद्ध-क्षेत्रमें काम किया है, यह बात जानता है। अनेक ऐसे मनुष्य देखनेमें आये हैं, जिनको दवा-दारू और शस्त्र-चिकित्सा बचानेमें सर्वथा विफल रही और घायल मनुष्य केवल अपनी इच्छाशक्तिसे ही तन्दुरुस्त होकर पुनः लड़नेके लिये क्षेत्रमें चले गये।"

मैं एक उदाहरण देता हूँ। सन् १९१८ में शेरोथियरीके मोर्चेके पीछे एक अस्थायी अस्पताल-में कई घायल सिपाही पड़े थे। उनमें आयोवाका एक आयरिशमैन भी था। एक गोली उसके दाहिने पार्श्वमें, हँसलीकी हड्डीके पीछेसे घुसी और उसके फेफड़े, डायाफ्राम (Diaphragm) पित्तकोष और यकृतमेंसे होकर निकल गयी थी। उसकी अँतड़ियोंमें १३ छेद हो गये थे, उनमेंसे छः दुहरे रन्ध्र थे।

मैंने पूछा—"क्या वह होश में था?"

"बिलकुल होशमें, और बातें करता था। जब हम उसके शरीरकी परीक्षा कर रहे थे और आपरेशनकी तैयारी हो रही थी, तो उसने इतने उच्च स्वरसे कहा, जिसे कि, अस्पतालमें मौजूद प्रत्येक सचेत मनुष्यने सुना,—"डाक्टर! मैं बिल-कुल तन्दुरुस्त हो जाऊँगा, मेरी कुछ चिन्ता न कीजिये।"

हमने उसे ईथरसे अचेत किया, उसका पेट चीरकर खोला, उसके छेदोंको सिया और दूसरी सभी आवश्यक बातें कीं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि, वह जीता बच निकला। ईथरका असर दूर होते ही वह बड़े बलके साथ बोला—"मैं बिलकुल ठीक हूँ।" उसके निकट ही एक दर्जन दूसरे सिपाही भयङ्कररूपसे आहत पड़े थे। उनमेंसे एक खम्भ की तरह उठकर बैठ गया। उसने आयोवाके सिपाहीको ध्यानपूर्वक देखा और खिलखिलाकर हँस पड़ा। वह बोला,—"यदि यह इस कष्टमेंसे जीता निकल सकता है, तो मैं भी बच सकता हूँ।"

उस दिनसे लेकर एक सप्ताह पीछेतक, जब मैं बदलकर दूसरे सेक्शनमें चला गया, रोगी मुझे प्रणाम कहनेके बजाय यही कहा करता—"डाक्टर! मैं बिलकुल तन्दुरुस्त हो जाऊँगा, मेरी कुछ चिन्ता न कीजिये।" वह एक ऐसा मानव बन गया, जो मरेगा नहीं और उसने अपने इर्द-गिर्द के दूसरे घायलोंमें जीते रहनेका निश्चय कर दिया! उसकी अवस्था कई बार बिगड़ी, तापमान बहुत ऊँचा हो गया, नाड़ी तेजीसे चलने लगी और बड़े ही दुःखद लक्षण प्रकट हुए; परन्तु अपने बारबार होनेवाले विसभ्रमोंमें एकबार भी उसका यह विश्वास शिथिल न हुआ कि, मैं चङ्गा हो जाऊँगा।

उसने नर्सके द्वारा सन्देश भेजने आरम्भ किये। वह नर्ससे कहता,—"आप जाकर उस

उदास लेटे हुए सिपाही से कहिये कि, मेरे शरीरके भीतर १३ से २० तक छेद हैं और मैं फिर भी तन्दुरुस्त होकर पुनः रण-क्षेत्रमें जाऊँगा।" उस व्यक्तिसे कहिये,—जो समझ रहा है कि, उसे पक्षाघात हो जायगा,—कि,—"यह युद्ध अभीतक आरम्भ ही नहीं हुआ" और कहिये कि—"जितनी जल्दी हो सके, वह अपने काम पर चला जाय।" एक अफसरका दायाँ पार्श्व छर्रे से उड़ गया था। उससे इसने कहा,—"जब तक आपकी छातीमें हृदयमें मौजूद है, आपको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आप जैसा नवयुवक बड़ेसे बड़ा कष्ट सहन करके भी जीता बच सकता है। जब मैं चङ्गा होकर वापस घर जाऊँगा, तो अपने छोटे बच्चोंसे कहूँगा कि अस्पतालमें मैंने एक मास की 'फरलो' की छुट्टी काटी है।"

विदाके दिन मैं उनको नमस्कार कहनेके लिये ठहर गया। मैंने कहा,—डाक्टर! मुझे अपना पता बताते रहना, मैं आपको पत्र लिखूंगा। इस प्रकार आपको मालूम हो जायगा कि, मैं कब अपनी रेजीमेंट में वापस जाता हूँ। वीर मनुष्य यहाँ लेटकर नरसोंसे सेवा कराते हुए जीवन नहीं बिता सकता। डाक्टर! नमस्कार, मेरी कुछ चिन्ता न करना।"

ये आशाजनक शब्द अनिवार्यरूपसे रोज दुहराये जाते थे और अस्पतालमें प्रत्येक व्यक्तिको अनुप्राणित करते थे। अधिक शोचनीयरूपसे आहत १२ व्यक्तियोंमेंसे चार मर गये; परन्तु बाकी आठ इतने पूर्णरूपसे उसके प्रभावके नीचे आ गये कि, वे सबके सब उस महासंकटमेंसे बचकर निकल आये। डाक्टर और नरसें एक समान अनुभव करती थीं और इतने उच्च स्वरसे कि, जिसे सब कोई सुन सकता था, कहती थीं,—"मैं बिलकुल तन्दुरुस्त हूँ।"—बादको जब वह आशावादी रोगी चङ्गा होकर अस्पतालसे चला गया, एक सर्जन मिला। उसने मुझे बताया कि, अस्पतालके वार्डमें प्रत्येक व्यक्ति विश्वास करता था, कि उस आर्यरिशमैनने उसे मृत्युके मुखसे निकाला है।

उस सिपाहीने मुझे सिखाया कि, हतोत्साहित सिपाही मृत्यु-मुखकी ओर खिसकने लगता है और आशाके बिना दवा-दारू कुछ भी काम नहीं देती। मैं युद्धसे जो निशानियाँ लाया हूँ, उनमें एक चिट्ठी है, जो मोरचेमेंसे एक ऐसे सिपाहीकी लिखी हुई है, जो तन्दुरुस्त होकर पुनः अपनी रेजीमेंटमें गया था। वह मैं यहाँ पूरीकी पूरी उद्धृत करता हूँ—

"डाक्टर! मैं बिलकुल तन्दुरुस्त हूँ, मेरी कुछ चिन्ता न कीजिये।"

(गृहस्थसे)

भूल स्वीकार

[लेखक—श्री सन्तराम बी० ए०]

अमेरिकामें डेलकारनेगी नामके एक सज्जन लोगोंको मित्र बनाने और जनता को प्रभावित करनेकी कलाके विशेषज्ञ हैं। उन्होंने इस विषयपर कई उत्तम ग्रंथ भी लिखे हैं। दूसरे लोगों को अपने विचारका बनाना एक गुर वे यह बताते हैं कि, यदि हम ग़लती पर हों, तो हमें अपनी ग़लतीको मान लेना चाहिये। इससे दूसरा व्यक्ति शस्त्र डाल देता है। वे अपने जीवनकी एक घटना इस प्रकार लिखते हैं,—

"यद्यपि मैं न्यूयार्कके औद्योगिक केन्द्रमें रहता हूँ, तो भी मेरे घरसे मिनटकी दूरीपर जंगली लकड़ीका एक छोटासा नैसर्गिक वन है, जहाँ वसन्त ऋतुमें ब्लेकबैरीके सफ़ेद फूलोंका वितान तन जाता है, जहाँ गिलहरियाँ घोंसले बनाकर बच्चे पालती हैं और जहाँ घोड़ा-घास घोड़ेके सिरके बराबर लंबी उगती है। यह प्राकृतिक वन-भूमि फ़ॉरिस्टपार्क कहलाती है। मैं बहुधा अपने कुत्ते, रेक्सके साथ इस पार्कमें घूमने जाया करता हूँ। रेक्स एक स्नेही और निर्दोष कुत्ता है पार्कमें हमें क्वचित् ही कोई मनुष्य मिलता है। इसलिये मैं रेक्सके गलेमें न तसमा बाँधता हूँ और न मुँह-पर मुसका।

एक दिन हमें पार्कमें एक घुड़सवार पुलिसमैन मिला। उसे अपना अधिकार दिखानेकी खुजली हो रही थी। उसने मुझे तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा,—"आपने कुत्तेको इस पार्कमें तसमे और मुसकेके बिना क्यों छोड़ रक्खा है? क्या आप नहीं जानते कि, यह क़ानूनके विरुद्ध है?" मैंने नरमीसे उत्तर दिया:—"हाँ, मैं जानता हूँ। परन्तु मैं समझता था कि, यह यहाँ कोई हानि नहीं पहुँचायेगा।" "आप नहीं समझते थे! आप नहीं समझते थे! आप क्या समझते हैं, क़ानूनको इसकी रत्ती भर भी परवाह नहीं हो सकती है कि यह कुत्ता किसी गिलहरीको मार डाले अथवा किसी बच्चेको काट खाये। अब इस बार तो मैं आपको छोड़ देता हूँ; परन्तु यदि मैंने फिर कभी इस कुत्तेको यहाँ बिना तसमे और मुसकेके देख लिया, तो आपको जजके सामने पेश होना पड़ेगा।"

मैंने विनीत भावसे उसकी आज्ञाका पालन करनेका वचन दिया और मैंने आज्ञा-पालन किया—थोड़ी बार। परन्तु रेक्स मुसकेको पसन्द नहीं करता था। और न मैं करता था। इसलिये हमने अवसर देखनेका निश्चय किया। कुछ समय तक प्रत्येक बात मनोहर थी; परन्तु हम फिर पकड़े गये। एक दिन तीसरे पहर रेक्स और मैं एक पर्वतकेमाथे पर दौड़ रहे थे। वहाँ सहसा क़ानून की विभूति कुम्मैत घोड़े पर सवार देख पड़ा। रेक्स मेरे आगे-आगे सीधा पुलिस अफ़सरके पीछे दौड़ा जा रहा थाइससे मुझे बड़ी व्याकुलता हुई।

मैं इसमें फँसता था, यह बात मुझे मालूम थी। इसलिए मैंने पुलिसमैनके बात आरम्भ

करनेकी प्रतीक्षा नहीं की । मैंने आप ही पहल करदी। मैंने कहा—"अफसर महोदय, आपने मुझे अपराध करते हुए पकड़ लिया है । मैं अपराधी हूँ। मेरे पास अपराधके समय किसी दूसरी जगह होनेका कोई उज्र या बहाना नहीं। आपने गत सप्ताह मुझे चेतावनी दी थी कि, यदि तुम इस कुत्तेको बिना मुसका लगाये यहाँ लाये, तो तुम्हें जुर्माना हो जायगा ।"

पुलिसमैनने मृदुस्वरमें उत्तर दिया,—"हाँ, ठीक है, मैं जानता हूँ कि, यहाँ जब कोई मनुष्य इर्द-गिर्द न हो, तो इस जैसे छोटे कुत्तेको खुला दौड़ने देने का प्रलोभन हो ही जाता है।"

मैंने उत्तर दिया,—"निश्चय ही यह प्रलोभन है। परन्तु यह क़ानूनके विरुद्ध है।"

पुलिसमैनने प्रतिवाद करते हुए कहा,—"इस जैसा छोटा कुत्ता किसीको हानि नहीं पहुंचायगा ।"

मैंने कहा,—' नहीं, परन्तु हो सकता है कि, वह किसी गिलहरीको मार डाले ।"

उसने मुझे बताया।—"मैं समझता हूँ आप इसे बहुत गम्भीर भावसे ले रहे हैं। मैं बताता हूँ कि आप क्या करें। आप उसे वहाँ पहाड़ पर दौड़ने के लिए छोड़ दिया कीजिये, जहाँ मैं उसे न देख सकूँ—और हमें इसकी कुछ याद ही न रहेगी।"

वह पुलिसमैन होनेके कारण, महत्ताका भाव चाहता था । इसलिये जब मैं अपनेको धिकारने लगा, तो अपनी आत्म-पूजाको पोषित करनेका एक ही मार्ग उसके पास रह गया और वह था उदारभावसे दया दिखाना ।

परन्तु मान लीजिये, मैंने अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेका यत्न किया होता—ठीक, क्या आपने कभी पुलिसमैनके साथ वाद-विवाद किया है ?

परन्तु उसके साथ लड़नेके बजाय, मैंने स्वीकार कर लिया कि, वह बिलकुल सच्चा है और मैं सरासर ग़लती पर हूँ । मैंने यह बात शीघ्रता से, स्पष्टतासे और उत्साहपूर्वक मानली, उसके मेरा पक्ष लेने और मेरे उसका पक्ष लेनेसे मामला अनुकूलता-पूर्वक समाप्त होगया ।

दूसरोंके मुखसे निकली हुई डाँट-फटकार सहन करनेकी अपेक्षा क्या आत्म-आलोचना सुनना अधिक सहज नहीं ? यदि हमें पता हो कि, दूसरा मनुष्य हम पर बरसेगा, तो क्या यह अच्छा नहीं कि उसके बोलनेके पूर्व स्वयं ही उसके हृदयकी बात कह दी जाय ?

अपने सम्बन्धकी वे सब निन्दासूचक बातें कह डालिये, जो आप समझते हैं कि, दूसरा व्यक्ति आपसे कहनेके लिए सोच रहा है, या कहना चाहता है, या कहनेका विचार रखता है—और उन्हें उसे कहनेका अवसर मिलनेके पूर्व ही कह दीजिये—और उसका क्रोध शान्त हो जायगा। सौ पीछे निन्नानवें दशाओंमें वह उदार और क्षमाशील भाव ग्रहण कर लेगा और आपकी भूलोंको यथासम्भव कम करके दिखलायगा—ठीक जिस प्रकार पुलिसमैनने कारनेगी और उनके कुत्तेके साथ किया ।

—(गृहस्थसे)

गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति

[लेखक—पं० परमानन्द शास्त्री]

आचार्य नेमिचन्द्र-विरचित गोम्मटसारके पठन पाठनका दिगम्बर जैनसमाजमें विशेष प्रचार है। इस ग्रन्थमें कितना ही महत्व-पूर्ण कथन पाया जाता है, जो अन्य ग्रन्थोंमें बहुत कम देखनेमें आता है। इससे करणानुयोगके जिज्ञासुओंको वस्तु तत्त्वके जाननेमें विशेष सहायता मिलती है। इस ग्रंथके दो विभाग हैं, एक जीवकाण्ड और दूसरा कर्मकाण्ड। इनमेंसे प्रथम काण्डकी रचना बहुत ही सुसम्बद्ध और त्रुटिरहित है। किन्तु उसके उपलब्ध दूसरे काण्डके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक प्रथम अधिकारमें बहुत कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जिनके कारण उसकी रचना असम्बद्ध-सी हो गई है। अनेक विद्वानोंको उसके विषयमें कितना ही सन्देह हो रहा है। मुद्रित प्रतिको ध्यान पूर्वक पढ़नेसे त्रुटियों और तज्जन्य असम्बद्धताका बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। यद्यपि संस्कृत और भाषा टीकाकारोंने उक्त अधिकारकी अपूर्णता एवं असम्बद्धताको बहुत-कुछ अंशोंमें दूर कर दिया है फिर भी उसकी मूल-विषयक-त्रुटियाँ अभी तक ज्योंकी त्यों बनी हुई हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ उनमें से कुछ खास खास त्रुटियोंका दिग्दर्शन कराया जाता है:—

(१) उक्त 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक अधिकारमें कर्मकी मूल आठ प्रकृतियोंके नाम, लक्षण, तथा उनके कार्योंका वर्णन, क्रम स्थापन और उदाहरण द्वारा स्वभाव निर्देशके अनन्तर २२वीं गाथामें मूलकर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्याका क्रमिक निर्देश किया गया है ‡। इसके बाद अधिकार भरमें कहीं भी उत्तर प्रकृतियोंके क्रमशः नाम और स्वरूप आदिका कोई वर्णन न करके एकदम बिना किसी पूर्व सम्बन्धके दर्शनावरणकर्मके नव भेदोंमेंसे पांच निद्राओंका कार्य २३, २४ और २५ नं०की तीन गाथाओं द्वारा बतला दिया गया है। और इससे यह कथन सम्बन्ध विहीन तथा क्रम विहीन होनेके कारण स्पष्टतया असंगत जान पड़ता है। २२वीं गाथाके अनन्तर तो ज्ञानावरण कर्मके पाँच भेदों तथा दर्शनावरण कर्मके प्रथम चक्षु, अचक्षु आदि चार भेदोंके नाम स्वरूपादिका वर्णन होना चाहिये था, तब कहीं पाँच निद्राओंके कार्यका वर्णन संगत बैठता। परन्तु ऐसा नहीं है, और इसलिये यह स्पष्ट है कि यहाँ निद्राओंसे पूर्वका कथन त्रुटित है।

(२) निद्रा-विषयक २५ वीं गाथाके बाद २६ वीं गाथामें बिना किसी सम्बन्धके मिथ्यात्व

---

‡ यह गाथा इस प्रकार है:—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी।
ते उत्तरं सयं वा दुग पणगं उत्तरा होंति ॥२२॥

द्रव्यके तीन भेद किस तरह हो जाते हैं, यह कथन किया गया है, जब कि कथनको संगत बनानेके लिये यह आवश्यक था कि क्रम प्राप्त वेदनीयकर्म और मोहनीय कर्मके भेद-प्रभेदादिका कथन किया जाता; और उसके बाद २६ वीं गाथाको दिया जाता, जैसा कि संस्कृत और भाषा टीकाकारोंने किया है। बिना ऐसा किये ग्रंथ सन्दर्भके साथ यह गाथा संगत मालूम नहीं होती और अपनी स्थिति परसे इस बातको सूचित करती है कि उससे पहलेकी कुछ गाथाएँ वहाँ छूट रही हैं।

(३) दर्शनमोह-विषयक २६ वीं गाथाके बाद चारित्र मोहनीय कर्मके २५ भेदों और आयु कर्मके चार भेदोंका तथा नाम कर्मकी पिण्ड-अपिण्ड प्रकृतियोंके उल्लेखपूर्वक गति-जाति-विषयक प्रकृतियोंका कोई वर्णन न करके और शरीरके नामों तक का उल्लेख न करके २७ वीं गाथामें औदारिकादि पाँच शरीरोंके संयोगी भेदोंका कथन किया गया है। इससे इस गाथाकी स्थिति भी २६ वीं गाथा जैसी ही है और यह भी अपने पूर्वमें बहुतसे कथन के त्रुटित होनेको सूचित करती है।

(४) २८ वीं गाथाकी स्थिति भी उक्त दोनों गाथाओं जैसी ही है; क्योंकि इसके पूर्वमें शरीर के बन्धन, संघात और संस्थान नामके भेद-प्रभेदों का तथा अंगोपांग नामके औदारिकादि मुख्य तीन भेदोंका भी कोई वर्णन अथवा उल्लेख न करके, इसमें मात्र शरीरके आठ अंगोंके नाम दिये हैं और शेषको उपांग बतलाया है। बन्धनादिका उक्त सब कथन बादको भी नहीं किया गया है और इसलिये यह सब यहाँ पर त्रुटित है, जिसे टीकाकारोंने पूरा किया है।

(५) अंगोपांग-विषयक २८ वीं गाथाके बाद विहायोगति नामकर्म तथा छह संहननोंके नाम और उनके स्वरूपका कोई उल्लेख न करके छह संहनन वाले जीव किस किस संहननसे कौन कौन गतिमें उत्पन्न होते हैं इत्यादि वर्णन २९-३०-३१-३२ नं० की चार गाथाओंमें किया गया है। और वर्णन भी मात्र वैमानिक देवों तथा नारकियोंमें उत्पत्तिके नियमका निर्देश करता है तथा कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहननोंका ही उदय बतलाता है। शेष मनुष्य तिर्यंचोंमें कितने संहननों का उदय होता है ऐसा कुछ भी नहीं बतलाया और न गुणस्थानों, कालों अथवा क्षेत्रोंकी दृष्टिसे ही संहननोंका कोई विशेष कथन किया है। ऐसी हालतमें उक्त चारों गाथाओंका वर्णन असंगत होनेके साथ साथ अधूरा और लँडूरा जान पड़ता है। इन गाथाओंके पूर्वमें तथा मध्यमें भी कितना ही कथन छूटा हुआ मालूम होता है।

इन गाथाओंकी ऐसी स्थिति देखकर ही आज से कोई २१ वर्ष पहले पं० अर्जुनलालजी सेठीने 'सत्योदय' पत्रमें लिखे हुए अपने 'स्त्री-मुक्ति' नामक निबन्धमें कर्मकाण्डके उक्त 'प्रकृति समुत्कीर्तन' अधिकारको त्रुटि-पूर्ण एवं सदोष बतलाते हुए संहनन-विषयक उक्त चारों गाथाओंको क्षेपक क़रार दिया था और यह भी बतलाया था कि इन का संकलन यहाँ पर अनुपयुक्त है।

मोटी मोटी त्रुटियोंके इस दिग्दर्शन परसे कोई भी सहृदय विद्वान् यह नहीं कह सकता कि नेमिचन्द्र जैसे सिद्धान्त चक्रवर्ति विद्वान् आचार्यने

अपने कर्मकाण्डको ऐसा त्रुटि-पूर्ण बनाया होगा, खासकर ऐसी हालतमें जब कि उनका जीवकाण्ड बहुत ही सुसंगत और सुव्यवस्थित जान पड़ता है, अवश्य ही इसमें लेखकोंकी कृपासे कुछ गाथाएँ छूट गई हैं।

हालमें मुझे आचार्य नेमिचन्द्रके 'कर्म प्रकृति', नामक एक दूसरे ग्रन्थका पता चला और इससे उसको देखनेके लिये मेरी इच्छा बलवती हो उठी। प्रयत्न करने पर आरा जैनसिद्धान्त भवन के अध्यक्ष पं० के. भुजबलीजी शास्त्रीके सौजन्यसे मुझे इस ग्रन्थकी एक दस पत्रात्मक प्रतिकी प्राप्ति हुई, जो विक्रम संवत् १६६९ की लिखी हुई है *। इसमें कुल गाथाएँ १५९ हैं, परन्तु लिपिकर्तानें गाथाओंकी संख्या १६४ दी है जो कुछ गाथाओं पर ग़लत अंक पड जानेका परिणाम जान पड़ता है, और यह भी हो सकता है कि ५ गाथाएँ लिखनेसे छूट गई हों, जिसका पता दूसरी प्रतियों के सामने आनेसे ही चल सकता है, अस्तु।

इस ग्रन्थ-प्रतिको देखने और कर्मकाण्डके साथ उसकी तुलना करनेसे मेरे आनन्दका पार नहीं रहा, क्योंकि मैंने जिन त्रुटियोंकी कल्पना की थी वह सब ठीक निकली और उनकी पूर्तिका मुझे सहज ही मार्ग मिल गया। इस प्रकरण ग्रंथ परसे कर्मकाण्डका वह सब अधूरापन और असंगतपन दूर हो जाता है जो अर्सेसे विद्वानोंको खटक रहा है। इस 'कर्म प्रकृति' प्रकरणकी १५९ गाथाओंमेंसे ७५ गाथाएँ ऐसी हैं जो उक्त काण्डमें नहीं पाई जातीं और जिन्हें यथास्थान जोड़ देनेसे कर्मकांडका सारा अधूरापन दूर होकर सब कुछ सुसम्बद्ध हो जाता है। शेष ८४ गाथाएँ उसमें पहलेसे ही मौजूद हैं। इन ७५ गाथाओंमें ७० गाथाएँ तो कर्मकांडके उक्त प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें उपयुक्त बैठती हैं और शेष ५ गाथाएँ कर्मकाण्डकी ८०८ नंबरकी गाथाके बाद होनी चाहियें, क्योंकि इन ५ गाथाओंके बाद कर्मप्रकृति में जो दो गाथाएँ और दी हैं वे उक्त काण्डमें ८०९ और ८१० नम्बर पर पाई जाती हैं।

अब वे ७५ गाथाएँ कौनसी हैं और उनमें से कौन कौन गाथा कर्मकाण्डमें कहाँ पर ठीक बैठती हैं उसे क्रमशः बतलाया जाता है—

कर्मकाण्डके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक प्रथम अधिकारमें मंगलाचरणसे लेकर १५ नं० तक जो गाथाएँ हैं वे सब 'कर्म प्रकृतिमें भी ज्योंकी त्यों पाई जातीहैं और यह बात दोनोंके एक ही प्रकरण होनेको सूचित करती है। १५वीं गाथामें सप्तभंगों द्वारा पदार्थोंके श्रद्धानकी बात कही गई है, परन्तु वे सप्तभंग कौनसे हैं यह कर्मकाण्डसे मालूम नहीं होता, कर्म प्रकृतिमें उनकी सूचक निम्न गाथा दी है जो १६वें नम्बर पर ठीक जान पड़ती है —

सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो वि तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१६॥

कर्मकाण्डकी २० नं०की गाथाके बाद, जिसका नं० एक गाथाके बढ़ जानेके कारण २१ हो जाता है, कर्म प्रकृतिमें निम्न पाँच गाथाएँ और दी हैं, जिनमें कर्म बंधका विशेष एवं संगत वर्णन पाया जाता है :—

* 'ऐलक पन्नालाल सरस्वति भवन' बम्बईमें भी इस ग्रन्थकी एक प्रति है।

जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा ।
होंति घणणिविडभूवं संबंधो होइ णायव्वो ॥२२॥
अत्थि अणाईभूओ बंधो जीवस्स विविहकम्मेण ।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण राय-दोस-मओ ॥२३॥
भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहुपुग्गला हु लग्गंति ।
जह तुप्पि य गत्तस्स य णिवडारेणुव्व लग्गंति ॥२४॥
एक समयणिबद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेयंहि ।
परिणमइ आउकम्मं बंधं भूयाउ सेसेण ॥२५॥
सो बंधो चउभेयो णायव्वो होदि सुत्तणिद्दिट्ठो ।
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पएसबंधोहु चउविहो कहियो ॥२६॥

कर्मकाण्डकी २१वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें निम्न आठ गाथाएँ और पाई जाती हैं, जिनमें उक्त गाथोल्लेखित आठ कर्मोंके स्वभाव विषयक दृष्टान्तोंको स्पष्ट करके बतलाया है, और इसलिये ये सब वहाँ सुसंगत जान पड़ती हैं—

णाणावरणंकम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं ।
जह पडिमोपरिखित्तं कप्पडयं छायणं होइ ॥२८॥
दंसणआवरणं पुण जह पडिहारो हु णिवदुवारम्हि ।
णवविहं पउत्तं पुरुसवागिहि सुत्तम्हि ॥२९॥
महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु ।
सायासायविभिण्णं सुह-दुक्खं देइ जीवस्स ॥३०॥
मोहेइ मोहणीयं जह मयिरा अहव कोदवा पुरिसं ।
तं अडवीस विभिण्णं णायव्वं जिणु वदेसेण ॥३१॥
आउं चउप्पयारं णारय-तिरिक्ख मणुय सुरगईयं ।
हडिखित्तपुरिससरिसं जीवे भवधारणं समत्थं ॥ ३२
चित्तं पडंवविचित्तं णाणा णाम णिवत्तणं णामं ।
तेण णवणिव गणियं गइ-जाइ-सरीर-आईयं॥३३॥
गोदं कुलाल सरिसं णीचुच्चकुलेसु पायणे दच्छं ।
घडरंजणाय करणे कुंभायारो जहा णेवणो ॥३४॥

जह भंडयार पुरिसो धणं णिवारेइ राजिणा दिण्णं ।
तह अंतराय पणगं णिवारणं होइ लद्धीणं ॥३५॥

कर्मकाण्डकी २२वीं गाथाके बाद कर्म प्रकृतिमें निम्न १२ गाथाएँ और पाई जाती हैं जिनसे उस त्रुटिकी पूर्ति हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं०१में किया गया है—

अहिमुहणियमयबोहणमाभिणि बोहियमणिदइंदियजं ।
बहुआदि उग्गहादिक कय छत्तीसा-तिसय भेदं ॥३७॥*
अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं ।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥३८॥*
*अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये ।
भवगुणपच्चयविहियं जं ओहि णाणत्ति णं विति ॥३९॥
चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतिय मणेयभेयगयं ।
मणपज्जवंति उच्चइजं जाणइ तं खु णरलोए ॥४०॥*
संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ॥४१॥*
मदसुदओहिमणपज्जवकेवलणाण आवरणमेवं ।
पंचवयप्पं णाणावरणीयं जाण जिणभणिदं ॥४२॥
जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु मायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥४३॥*
चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खू दंसणं विंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खुत्ति ॥४४॥*
परमाणुआदियाइं अंतिमखंधत्ति मुत्तिदव्वाइं ।
तं ओहि दंसणं पुण जं पस्सइ ताइ पच्चक्खं ॥४५॥*
बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोयालोयवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो ॥४६॥*

* इस चिन्ह वाली गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डमें क्रमशः नम्बर ३०५, ३१४, ३६६, ४३७, ४५८, ४८१, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८९, ४८५, ४८६, ४८८, ४८५, ४८६, ४८३, ४८६, ४८५, ४८६, ४८१, ४८३, ४८५ ...

चक्खु अचक्खू ओही केवलणाणोवयोगमावरणं ।
इत्तो य भणिस्सामो पचविहा दंसणावरणं ॥४७॥
अह थीणगिद्धिणिद्दा णिद्दाणिद्दा य तहेव पयला य ।
णिद्दा पयला एवं णवभेयं दंसणावरणं ॥४८॥

कर्मकाण्डकी २५ वीं गाथाके अनन्तर कर्म-प्रकृतिमें निम्न दो गाथाएँ और हैं जिनसे उस त्रुटिकी पूर्ति हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं० २ में किया गया है। क्योंकि इनमेंसे पहली गाथामें क्रमप्राप्त वेदनीयकर्मके साता-असाता रूपमें दो भेदों और मोहनीयकर्मके दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय ऐसे दो भेदोंका उल्लेख करके दूसरी गाथामें यह प्रकट किया है कि दर्शन मोहनीय बंधकी अपेक्षा एक मिथ्यात्व रूप ही है और उदय तथा सत्ताकी अपेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिके भेदसे तीन भेदरूप हैं। और इसलिये इनके बाद २६ वीं गाथाका वह कथन संगत बैठ जाता है जिसका उक्त नं० २ में उल्लेख है:—

दुविहं खु वेयणीयं सादमसादं च वेयणीयमिदि ।
पुण दुवियप्पं मोहं दंसणचारित्तमोहमिदि ॥५२॥
बंधादिगं मिच्छं उदयं सत्तं पडुच्च तिविहं खु ।
दंसणमोहं मिच्छं मिस्सं सम्मत्तमिदि णाम ॥५३॥

कर्मकाण्डकी २६ वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृति में निम्न गाथाएँ और हैं जिनसे उस त्रुटिकी पूर्ति हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं० ३ में दिया गया है:—

दुविहं चरित्तमोहं कसायवेयणियणोकसायमिदि ।
पढमं सोलवियप्पं विदियं णवभेयमुद्दिट्ठं ॥५४॥
अणं अपच्चक्खाणं पच्चक्खाणं तहे व संजलणं ।
कोहो माणं माया लोहो सोलस कसा एदे ॥५५॥

सिलपुढविभेदधूली जलराइसमाणओ हवे कोहो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥५७॥⊛
सिलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणाणुहरंतओ माणं ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥५८॥⊛
वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।
सरिसीमायाणारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जीवं॥५९॥⊛
किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो ।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो ॥६०॥⊛
सम्मत्तं देससयलचरित्तजहखादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कसाया चउसोलसअसंखलोगमिदा ॥६१॥⊛
हस्स-रदि-अरदि-सोयं भयं जुगुच्छा य इत्थि-पुंवेयं ।
संढं वेयं च तहा णव एदे णो कसाया य ॥६२॥
छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परंपि दोसेण
छादणसीला जम्हा तम्हा सो वण्णिया इत्थी ॥६३॥⊛
पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरुउत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ॥६४॥⊛
णेवित्थी णेव पुमं णपुंसओ उहयलिंगविदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥६५॥
णारयतिरियणरामरआउमिदि चउभेयं हवे आऊं ।
णामं बादालीसं पिंडापिंडप्पभेयेण ॥६६॥
णारयतिरियमाणुसदेवगइत्ति य हवे गई चदुधा ।
इगिबितिचउपंचक्खा जाई पंचप्पयारेहिं ॥६७॥
ओरालियवेगुव्वियआहारय तेजकम्मणसरीरं ।
इदि पंच सरीरा खलु ताण वियप्पं वियाणाहि ॥६८॥

कर्मकाण्डकी २७वें नम्बरकी गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें चार गाथाएँ और हैं, जिनमें बंधन-संघात-संस्थान और अंगोपांगके भेदोंका उल्लेख है। और जिनसे वह त्रुटि दूर हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर नं० ४ में किया गया है। वे चारों गाथाएं इस प्रकार हैं:—

पंच य सरीरबंधणणामं ओरालं तह य वेउव्वं ।
आहारतेजकम्मणसरीरबंधण सुणाममिदं ॥७०॥
पंच संघादणामं ओरालियं तहय जाण वेउव्वं ।
आहारतेजकम्मण सरीरसंघादणाम मिदि ॥७१॥
समचउरणिग्गोहं सादीकुज्जं च वामणं हुंडं ।
सठाणं छब्भेयं इदि णिद्दिट्ठं जिणागमे जाण ॥७२॥
ओरालियवेगुव्वियआहारयअंगुवंगमिदिभणिदं ।
अंगोवंगं तिविहं परमागमकुसलसाहूहिं ॥७३॥

कर्मकाण्डकी २८ वीं गाथाके बाद कर्म प्रकृतिमें आठ गाथाएँ और हैं, जिनमें विहायोगति नाम कर्मके दो भेदोंका और छह संहननोंके नाम तथा उनके स्वरूपका पृथक पृथक रूपसे निर्देश किया गया है। इसलिये जिनके अनन्तर उक्त-काण्डकी २९, ३०, ३१ नं० की ३ गाथाओंको रखनेसे उनका कथन पूर्णरूपसे संगत हो जाता है और फिर उन गाथाओंके क्षेपक होनेकी भी कोई कल्पना नहीं की जा सकती, और न वे क्षेपक कही जा सकती हैं। वे आठों गाथाएँ इस प्रकार हैं :—

दुविहं विहायणामं पसत्थअपसत्थगमण इदि णियमा।
वज्जरिसहणारायं वज्जणाराय-णारायं ॥७५॥
तह अद्धनारायं कीलियसंपत्तपुव्वसेवट्टं ।
इदि संहडणं छव्विह मणाइणिहणारिसे भणियं ॥७६॥
जस्स कम्मस्स उदये वज्जमयं अट्ठीरिसहणाराय ।
तस्संहडणं भणिदं वज्जरिसहणारायणाममिदि ॥७७॥
जस्सुदये वज्जमयं अट्ठीणारायमेव सामण्णं ।
रिसहो तस्संहडणं णामेण य वज्जणारायं ॥७८॥
जस्सुदये वज्जमया हड्डाओ वज्जरहियणारायं ।
रिसहो तं भणियव्वं णारायसरीरसंहडणं ॥७९॥
वज्जविसेसेण रहिदा अट्ठीओ अद्धविद्धणारायं ।
जस्सुदये तं भणियं णामेण तं अद्धणारायं ॥८०॥
जस्स कम्मस्स उदए अवज्जहड्डाणि कीलिया चाहं ।
दिढबंधाणि हवंति हु कीलिय णाम संहडणं ॥८१॥
जस्स कम्मस्स उदए अण्णोण्णमसंपत्तहड्डसंधीओ ।
णरसिर बंधाणिहवे तं खु असंपत्तसेवट्टं ॥८२॥

कर्मकाण्डकी ३१वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें चार गाथाएँ और हैं, जिनमेंसे पहलीमें उन नरक भूमियोंके नाम देकर जिनके संहनन-विषयका कथन ३१वीं गाथामें किया गया है, शेषमें संहनन-विषयक कुछ विशेष वर्णन किया है—अर्थात् गुणस्थानोंकी दृष्टिसे संहननोंका सामान्यरूपसे विधान करते हुए यह बतलाया है कि मिथ्यात्वादि सात गुणस्थानोंमें छहों, अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानोंमें प्रथम तीन संहनन और क्षपकश्रेणी के पाँच गुणस्थानोंमें पहला एक वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है। विकल चतुष्कमें—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंमें—असंप्राप्तासृपाटिका नामका छठा संहनन बताया है, असंख्यात वर्षकी आयुवाले देवकुरु-उत्तरकुरु आदि भोगभूमिया जीवोंमें प्रथम वज्रवृषभनाराच नामके संहननका विधान किया है और चतुर्थ, पंचम तथा छट्ठे कालमें क्रमसे छह, अंतके तीन और आखीरके एक संहननका होना बतलाया है। इसी तरह सर्व विदेहक्षेत्रों, विद्याधरक्षेत्रों, म्लेच्छ खण्डोंके मनुष्य-तिर्यंचों और नागेन्द्र पर्वतसे आगेके तिर्यंचोंमें छहों संहननके होनेका विधान किया है। इस सब कथनके बाद उक्त काण्डकी ३२ नं० की गाथा आती है, जिसमें कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहननोंका कथन किया गया है और यह स्पष्ट लिखा है कि उनके आदिके तीन संहनन नहीं होते। और

इसलिये उसे किसी तरह भी प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, जिसे प्रक्षिप्त ठहराकर सेठीजीने अपने स्त्रीमुक्ति विषयकी पुष्टि करनी चाही थी। ३१ वीं और ३२ वीं गाथाओंके मध्यमें इस सत्र कथन वाली गाथाओंके जुड़नेसे संहनन विषयक वर्णन का वह सब अधूरापन और लंडूरापन दूर हो जाता है जिसका ऊपर नं० ५ में उल्लेख किया गया है। उक्त चारों गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

घम्मा वसा मेघा अजणारिट्ठा तहेव अणवज्जा।
छट्ठी मघवी पुढवी सत्तमिया माघवी णामा ॥८६॥
मिच्छाऽपुव्वदुगा(खवा ?)दिसु सगचदुपणठाणगेसु णियमेण।
पढमादियाथि छत्तिगि ओघेण विसेसदो णेया ॥८७॥
विथलचउक्के छट्ठं, पढमं तु असंखआउजीवेसु।
चउत्थे पचमछट्ठे कमसो छत्तिगेक्क संहडणा ॥८८॥
सव्वविदेहेसु तहा विज्जाहरम्लेच्छमणुयतिरिएसु।
छस्संहडणा भणिया णगिंदपरदो य तिरिएसु ॥८९॥

कर्मकाण्डकी ३२ वीं गाथाके बाद कर्म प्रकृति में ५ गाथाएँ और हैं जिनमें नामकर्मकी १४ पिण्ड प्रकृतियोंमेंसे अवशिष्ट वर्ण, रस, स्पर्श और आनुपूर्वी नामकी प्रकृतियोंका कथन करके पिण्ड-प्रकृतियोंके कथनको समाप्त किया गया है, और साथ ही २८ अपिण्डप्रकृतियोंके कथनकी प्रतिज्ञा करके उनमेंसे आदिकी अगुरुलघु आदि ६ प्रकृतियोंका उल्लेख किया है। जिनमें आताप और उद्योत नामकी वे प्रकृतियाँ भी शामिल हैं जिनके उदयका नियम कर्मकाण्डकी ३३ वीं गाथामें बतलाया गया है। और जिनके बिना ३३ वीं गाथाका कथन असंगत जान पड़ता है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

पंचय वण्णस्सेदं किण्हं णीलं च लोहिदं हरिदं सुक्किलमिदि।
गंधं दुविहं णेयं सुगंधदुग्गंधमिदि जाण ॥९१॥
तित्तं कडुवकसायं अंबिलमहुरमिदि पंचरसणामं।
मउगं कक्कस गुरुलहु सीदुण्हं णिद्धलुक्खमिदि ॥९२॥
फासं अट्ठ वियप्पं चत्तारि आणुपुव्वि णामाणि।
णिरयाणु तिरियाणु णराणुदेवाणुपुव्वित्ति ॥९३॥
एदा चोद्दस पिंडप्पयडीओ वण्णिदा समासेण।
एत्तो (?) अपिंडप्पयडीओ अडवीसं वण्णयिस्सामि ॥९४॥
अगुरुलहुगं उवघाद परघादं च जाण उस्सासं।
आदाव उज्जोवं छप्पयडी अगुरुलघुक्कमिदि ॥९५॥

कर्मकाण्डकी ३३वीं गाथाके बाद कर्मप्रकृतिमें छह गाथाएँ और हैं, जिनमेंसे प्रथम दो गाथाओं में नामकर्मकी अवशिष्ट २२ अपिंड प्रकृतियोंके नाम गिनाए हैं। दूसरी दो गाथाओंमें नामकर्मकी उन्हीं अपिण्ड प्रकृतियोंका शुभ-अशुभ रूपसे विभाजन किया है—जिनमेंसे त्रस १२ और स्थावर प्रकृतियाँ १० हैं। और शेष दो गाथाओंमें नाम कर्मकी ९३ प्रकृतियोंके कथनकी समाप्तिको सूचित करते हुए क्रमप्राप्त गोत्र और अन्तराय कर्मकी प्रकृतियोंको बतलाकर कर्मोंकी सब उत्तर प्रकृतियाँ इस प्रकारसे १४८ होती हैं ऐसा निर्देश किया है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

तसथावरं च बादर सुहुमं पज्जत्त तह अपज्जत्तं।
पत्तेय सरीरं पुण साहारणसरीरं थिर अथिरं ॥९७॥
सुह-असुह सुहग-दुब्भगं-सुस्सर-दुस्सर तहेव णायव्वा।
आदिज्जमणादिज्जं जसअजसकित्तिणिमिणतित्थयरं।
तसबादरपज्जत्तं पत्तेयसरीरथिरं सुहं सुहगं।
सुस्सरआदिज्जं पुण जसकित्तिणिमिणतित्थयरं ॥९९॥
थावरसुहुमअपज्जत्तं साहारणसरीरं अथिर मसुहं।
असुहं दुब्भगदुस्सरणादिज्जं अजसकित्तित्ति ॥१००॥

इदि णामप्पयडीओ तेणवदी उच्च णीच मिदि दुविहं ।
गोदं कम्मं भणिदं पंचविहं अंतरायं तु ॥१०१॥
तह दाण लाह भोगोवभोग वीरिय अंतराय विण्णेयं ।
इदि सव्वुत्तरपयडीओ अडदालसयप्पमा हुंति ॥१०२

इन गाथाओंके बाद १९ गाथाएँ (१०३ से १२० नम्बर की) वे ही हैं जो कर्मकाण्डमें ३४ से ५१ नम्बर तक दर्ज हैं। शेष ३९ गाथाओंमेंसे ३२ गाथाएँ (नं० १२१ से १५२) कर्म कांडके दूसरे अधिकारमें और दो गाथाएँ (नं० १५८,१५९) छठे अधिकारमें पाई जाती हैं। बाकीकी पाँच गाथाएँ जो 'कर्मकांडमें नहीं पाई जातीं और उसके छठे अधिकारमें गाथा नं० ८०८ के बाद त्रुटि न जान पड़ती हैं वे इस प्रकार हैं:—

दंसणविसुद्धिविणयं संपण्णत्तं तहेव सीलवदे ।
सयदीचारो त्ति फुडं णाणवजोगं च संवेगो ॥१२३॥
सत्तीदो चागतवा साहुसमाही तहेव णायव्वा ।
विज्जावच्चं किरियं अरिहंतायरियबहुसुदे भत्ती ॥१२४॥
पवयणपरमाभत्ती आवस्सयकिरिय अपरिहाणी य ।
मग्गप्पहावणं खलु पवयणवच्छल्लमिदि जाणे ॥१२५॥
एदेहिं पसत्थेहिं सोलसभावेहिं केवलीमूले ।
तित्थयरणामकम्मं बंधदि सो कम्मभूमिजो मणुसो ॥१२६
तित्थयरसत्तकम्मं तदियभवे तब्भवे हु सिज्झदियं ।
खाइयसम्मत्तो पुण उक्कस्सेण दु चउत्थभवे ॥१२७॥

इन गाथाओंमें तीर्थंकर नामकर्मकी हेतुभूत षोडशकारण भावनाओंके नाम दिये हैं, और यह बताया है कि इन प्रशस्त भावनाओं के द्वारा केवलीके पादमूलमें कर्मभूमिका मनुष्य तीर्थंकर-प्रकृतिका बंध करता है। साथ ही, यह भी बताया गया है कि तीर्थंकर नामकर्मकी सत्तावाला जीव तृतीय भवमें अथवा उसी भवमें मुक्तिको प्राप्त करता है और क्षायिक सम्यक्त्व वाला जीव उत्कृष्टरूपसे चतुर्थभवमें मुक्त होजाता है।

उपसंहार

ऊपरके इस संपूर्ण विवेचन और स्पष्टीकरण परसे सहृदय पाठकोंको जहाँ यह स्पष्ट बोध होता है कि गोम्मटसारका उपलब्ध कर्मकाण्ड कितना अधूरा और त्रुटियोंसे परिपूर्ण है, । वहाँ उन्हें यह भी मालूम हो जाता है कि त्रुटियोंको सहज ही में दूर किया जा सकता है—अर्थात् उक्त ७५ गाथाओंको, जो कि स्वयं नेमिचन्द्राचार्यकी कृति रूपसे अन्यत्र (कर्मप्रकृतिमें) पाई जाती हैं और जो संभवतः किसी समय कर्मकाण्डसे छूट गई अथवा जुदा पड़ गई हैं उन्हें, फिरसे कर्मकाण्डमें यथा स्थान जोड़ देनेसे उसे पूर्ण सुसंगत और सुसम्बद्ध बनाया जा सकता है। आशा है विद्वान् लोग इस अनुसंधान एवं खोज परसे समुचित लाभ उठाएँगे। और जो सज्जन कर्म-काण्डको फिरसे प्रकाशित करना चाहें वे उसमें उक्त ७५ गाथाओंको यथास्थान शामिल करके उसे उसके पूर्ण संगत और सुसम्बद्ध रूपमें ही प्रकाशित करना श्रेयस्कर समझेंगे साथ ही जिन्हें इस विषयमें अनुकूल या प्रतिकूल रूपसे कुछ भी विशेष कहना हो वे अपने उन विचारोंको शीघ्र ही प्रकट करने की कृपा करेंगे।

ता०२७-६-१९४० वीरसेवामन्दिर, सरसावा

धर्म बहुत दुर्लभ है

[ले० श्री जयभगवान जैन बी. ए., एलएल. बी. वकील]

यह जीवन दुःखी है:—

जिधर देखो, जीवन दुःखी है। यह समस्त जीवन, जो चार महाभूतों-द्वारा आकाशको घेरकर शरीरवाला बना है, रूप-संज्ञा-कर्मवाला बना है, जो इन्द्रियोंसे देखनेमें आता है, बुद्धिसे जाननेमें आता है, दुःखी है।

क्यों?

इसलिये कि इसमें लगातार परिवर्तन है, लगातार अस्थिरता है, लगातार अनित्यता है, लगातार इष्टताका वियोग है।

इसलिये कि इसका आदि भोलीभाली बाल्य-लीला में होता है, मध्य मदमस्त जवानीमें होता है, उत्कर्ष चिन्तायुक्त बुढ़ापेमें होता है और अन्त निश्चेष्टकारी मृत्युमें होता है।

इसलिये कि यह प्रकृति-प्रकोपसे, आकस्मिक उपद्रवोंसे सदा लाचार है। भूक-प्यास, गर्मी-सर्दी, रोग-व्याधिसे सदा व्यथित है। चिन्ता-विषाद, शोक-सन्ताप से सदा सन्तप्त है। अनिष्ट घटनाओंसे सदा त्रस्त है, नित्य नई निराशाओंसे सदा निराश है और मृत्युसे सदा कायर है।

यह जीवन दुःखी है, इसके माननेमें किसीको विवाद नहीं। यह सर्व मान्य है, सब ही के अनुभव सिद्ध है। यह आर्य सत्य है, श्रेष्ठ सत्य है।*

* दीघनिकाय २२ वाँ सुत्त।

दुःखी रहना जीवनका उद्देश नहीं:—

प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकारका दुःखी जीवन जीवनका अन्तिम ध्येय है? मरणशील जीवन ही जीवनकी पराकाष्ठा है? क्या जीवन इसीके लिये बना है—इसीके लिये रहता है? क्या इससे आगे ढूंढनेके लिए, इससे आगे बढ़नेके लिये जीवनमें और कुछ नहीं?

इनका उत्तर नफ़ीमें ही देना होगा। चूँकि जहाँ यह आर्य सत्य है कि यह जीवन दुःखी है, वहाँ यह भी आर्य सत्य है कि दुःखी रहना जीवनका उद्देश्य नहीं, मरना जीवनका अन्त नहीं। जीवन इससे कहीं अधिक बड़ा है, ऊँचा है, अपूर्व है।

इस सत्यके निर्धारित करनेमें क्या प्रमाण है? इसके लिये दो प्रमाण पर्याप्त हैं। एक स्वात्मअनुभूति दूसरा महापुरुष-अनुभूति।

स्वात्मानुभूति की साक्षी:—

अन्तरात्मा इसके लिये सबसे बड़ा साक्षी है। सबसे बड़ा प्रमाण है। वह दुःखकी सत्ताको आत्मतथ्य मान कर कभी स्वीकार नहीं करता। वह बराबर इससे लड़ता रहता है। वह बराबर इसके प्रति प्रश्न करता रहता है, शंकायें उठाता रहता है। इसीलिये वह इसकी निवृत्ति के लिये, इससे भिन्न सत्ताके लिये सदा जिज्ञासावान् बना है।

वह इसमें कभी आत्मविश्वास धारण नहीं करता। वह सदा कहता रहता है—"दुःख आत्मा नहीं, आत्म-स्वभाव नहीं, यह अनिष्ट है, अनात्म है, यह न मेरा है, न मैं इसका हूँ, न यह मैं हूँ, न मैं यह हूँ ‡।

वह इसके रहते कभी संतुष्ट नहीं होता, कभी कृत्यकृत्य नहीं होता। वह इसके रहते जीवनमें सदा किसी कमीको महसूस करता रहता है, किसी पूर्तिके लिये भविष्यकी ओर लखाता रहता है, किसी इष्टकी भावनाको भाता रहता है, इसलिये वह सदा इच्छावान् आशावान् बना है।

वह दुःखके रहते नित्य नये नये प्रयोग करता रहता है, नये नये सुधार करता रहता है, नये नये मार्ग ग्रहण करता है, इसीलिये वह सदा उद्यमशील बना है।

यह कहना ही भूल है कि जीवन इस दुःखी जीवन के लिये बना है, इस दुःखी जीवनके लिये रहता है। यह न इसके लिये बना है, न इसके लिये रहता है। यह तो उस जीवनके लिये बना है, उस जीवनके लिये टिका है जो इसकी भावनाओंमें बसा है, इसकी कामनाओंमें रहता है, जो अदृष्ट है, अज्ञेय है।

यदि जीवन इतना ही होता जितना कि यह दृष्टिगत है तो यह क्यों जिज्ञासावान् होता? क्यों प्राप्तसे अप्राप्तकी ओर, नीचेसे ऊपरकी ओर, यहाँसे वहाँकी ओर, सीमितसे विशालकी ओर, बुरेसे अच्छेकी ओर अनित्यसे नित्यकी ओर, अपूर्णसे पूर्णकी ओर बढ़नेमें संलग्न होता?

इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं कि यदि जीवन इतना ही होता, तो जीव इसे सर्वस्व मान कर विश्वास कर लेता, इसमें संतुष्ट होकर रह जाता, इसमें कृतकृत्य हो अपना अन्त कर लेता। परन्तु यह जीवन इतना नहीं, यह भव्य भावनाओंके सहारे, भावी आशाओंके सहारे, अदृष्ट इष्टके सहारे बराबर चला जा रहा है, बराबर ज़िन्दा है।

महापुरुषोंकी साक्षीः—

यदि यह जानना हो कि वह अदृष्ट इष्ट कौनसा है, उसका स्वरूप कैसा है, वह कहाँ रहता है, उसे पानेका क्या मार्ग है, तो इसके लिये अन्तरात्माको टटोलना होगा। यदि अन्तरात्माको टटोलना कष्टसाध्य दिखाई दे तो उन महापुरुषोंके अनुभवोंको अध्ययन करना होगा जिन्होंने तमावरणको फाड़कर अन्तरात्मा को टटोला है, जिन्होंने तृष्णाके उमड़ते प्रवाहको रोक कर अपना समस्त जीवन सत्य-दर्शनमें लगाया है, जिन्होंने भयरहित हो आत्माको मन्थनी, दुःखोंको पेय चिन्तवनको बलोनी बनाकर संसार सागरको मथा है, जिन्होंने मायाप्रपञ्चको फाँदकर सत्यकी गहराईमें ग़ोता लगाया है, जिन्होंने रागद्वेषको मिटाकर मौत और अमृतको अपने वश किया है, जिन्होंने शुद्ध-बुद्ध हो दिव्यताका सन्देश दिया है, जो परम पुरुष, दिव्यदूत, देव, भगवान् अर्हंत, तीर्थंकर, सिद्ध आप्त आदि नामों से विख्यात् हैं, जो संसारके पूजनीय हैं। इस क्षेत्रमें इन्हीका वचन प्रमाण है *।

‡ संयुक्तनिकाय २१. २.

* (अ) आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।

—न्यायदर्शन-वात्सायन टीका १-१-७

(आ) येषाहं परमैश्वर्यं परानंदसुखास्पदं।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः॥

—आप्तस्वरूप ॥२३॥

इन्हें छोड़कर साधारण जनसे इस तथ्यका पता पूछना ऐसा ही है जैसा कि अन्धेसे मार्गका पता पूछना। वह अण्डेमें बन्द शावकके समान अन्धकारसे व्याप्त हैं। वे स्वयं प्रकाशके इच्छुक हैं। उन्होंने अन्तरात्माको अभी नहीं देख पाया है। उनका वचन इस क्षेत्रमें प्रमाण नहीं हो सकता।

ये सब ही आप्त जन एक स्वरसे उच्चारण करते हैं कि जीवनका इष्ट इस जीवनसे बहुत ऊँचा है, बहुत महान् है, बहुत सुन्दर है, बहुत आनन्दमय है। वह इष्ट सुखस्वरूप है, सुख पूर्णतामें है, पूर्णता आत्मामें है*, अतः आत्मा ही इष्ट है आत्मा ही प्रिय है, आत्मा ही देखने, जानने और आसक्त होने योग्य है‡।

ये सब ही आश्वासन दिलाते हैं कि जीवन और जीवनका इष्ट दो नहीं, दूर नहीं, भिन्न नहीं, एक ही है। दोनों एक ही स्थानमें रहते हैं। केवल अन्तर अवस्था का है—इनमेंसे एक भोक्ता है, दूसरा केवल ज्ञाता है। एक कर्मशील है दूसरा कृतकृत्य है। जब आत्मा इस अवस्थाकी महिमाको देख पाता है तो वह स्वयं महान् हो जाता है†।

ये सब ही आशा बंधाते हैं, कि इष्ट-सिद्धिका मार्ग भी स्वयं आत्मामें छुपा है। आत्मा स्वयं भाव है, स्वयं भावना है, स्वयं मार्ग है *।

इस मार्गका नाम सत्य है, चूंकि यह मर्त्यको अमृतसे मिला देता है ‡। इसका नाम धर्म है चूंकि यह जीवनको संसार दुःखसे उभार कर सुखमें धर देता है §। यह नीचेसे उठाकर सर्वोच्चपदमें बिठा देता है †। यह असम्भव चीज नहीं, प्रत्येक हितैषी इसका साक्षात् कर सकता है। आओ और स्वयं देखलो ‡।

ये सब ही प्रेरणा करते हैं "उठो, जागो, प्रमादको त्यागो, सचेत बनो, सत्संगति करो, सत्यको पहिचानो, धर्मका आचरण करो *।" देर करनेका समय नहीं,

---

(इ) स देवो यो अर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च।
स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः कर्म च प्रव्रज्याः॥
—बोधप्राभृत (संस्कृतछाया) २४

* "यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैवसुखम्"
—छा० उप० ७-२३-१

‡ न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥"
—बृह० उप० २.४.५.

† (अ) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व-जाते।"
—ऋग्वेद १.१६४.२० = मुण्डक उप० ३-१-१-३
—श्वेताश्वतर उप० ४-६.७

(आ) "I and my fother are one."
—Bible-St. John. 10.30

* (अ) तत्त्वानुशासन ॥३२॥

(आ) "I am the way, the truth and the life"
—Bible-St. John. 14.6.

‡ छा० उप० ८-३-५.

§ (अ) "संसारदुःखतःसत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।"
—रत्नकरण्डश्रावका०॥८॥

(आ) तामिल वेद—प्रस्तावना ४.१

† पञ्चाध्यायी २-७१४

‡ अंगुत्तरनिकाय ३-१२

* (अ) उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत"
—कठ० उप० ३.१४

(आ) धम्मपद ॥१६८॥

शंका समाधानका समय नहीं, मौत मुँह फाड़े खड़ी है, इससे पहले कि रोग शरीरको निकम्मा करे, बुढ़ापा शक्तियोंको जीर्ण करे, तुम अपने आपको धर्मसाधनामें लगादो †। जो आत्माको जाने बिना, मौतको जीते बिना इस भव से विदा हो जाता है वह सदा यमका अतिथि बना रहता है ‡।

इस परिवर्तनशील जगमें एक ही चीज़ अविचल है, वह धर्म है। उसीकी शरण जाओ ❀। सल्लक्ष्य इस का शिर है, सद्ज्ञान इसका नेत्र है और सदाचार इस के पग हैं, इन तीनोंकी एकतासे ही इसकी सत्ता सुदृढ़ बनी है। यह सदा लक्ष्यको दृष्टिमें गाड़कर, सद्ज्ञानसे हेय उपादेयका विवेक करता हुआ उस पार चला जाता है। यह नाश होने वाली चीज़ नहीं, यह नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत् है। इस पर चलकर ही पूर्वमें मनुष्योंने सिद्धिका लाभ किया है। इस पर चलकर मनुष्य भविष्यमें सिद्धिका लाभ करेंगे *।

ये सब ही अचलपद पर खड़े हुये अपने आदर्श-द्वारा शिक्षा देते हैं, "यदि इष्ट जीवनकी कामना है, उसके उत्कृष्ट स्वरूपको जानना है, उसके मार्गको समझना है तो हमारी ओर देखो, जो हमारा जीवन है, वही इष्ट जीवन है, जो हमारा पद है, वही उत्कृष्ट पद है, जो हमारा मार्ग है, वही सिद्धीका मार्ग है, जो हम पर विश्वास लाता है, हमारे बतलाये हुये तत्त्वोंको ठीक समझता है, हमारे चले हुए मार्ग पर चलता है, वह पुनः अन्धकारमें नहीं पड़ता, वह इधर उधर नहीं भटकता, वह व्यर्थ ही शक्तिका ह्रास नहीं करता। वह हमारे समान श्रद्धावान, प्रज्ञावान, कार्यकुशल हो जाता है, परम सुखी होजाता है। वह फिर जन्ममरणमें नहीं पड़ता ‡।

धर्म मार्ग ग्रहण करनेकी कठिनताः—

परन्तु कितने हैं जो इस धर्म-मार्गको जानते हैं? कितने हैं जो इसे जाननेकी सामर्थ्य रखते हैं? कितने

---

† उत्तराध्ययन ४-९, मज्झिमनिकाय ६३वाँ सुत्त

‡ बृह० उप० ४.४.१४; केन उप०२.५.

❀ उत्तराध्ययन २३, ६८-७४; सूत्रकृताङ्ग १.८.५,६.

* निर्ग्रन्थप्रवचन ३.१४; मज्झिमनिकाय—२१वाँ सुत्त

‡ (अ) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् ॥
—गीता ६.३२.

(आ) गीता १८-६६

(इ) मुण्डक० उप० ३.१.३.

(ई) तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा।
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥"
—भक्तामर ॥१०॥

(उ) I am the light of the world, he that followeth me shall not walk in darkness, but shall have the light of life."
—Bible-St. John 8-12

(ऊ) "He that hearth my word, and believeth on him that sent me hath everlasting life and shall not come into condemnation but is passed from death unto life,"
Bible-St. John 5-24

(ए) "And whosoever liveth and believeth in me shall never die,"
—Bible-St. John. 11-26

(ऐ) "If ye had known me, ye should have known my Father also...he that hath seen me hath seen the Father.... Believe me that I am in the Father and the Father in me. Verily verily I say unto you, he that believeth on me, the works that I do, shall he do also"
—Bible-St. John. Chapter 14.

हैं जो इसे जाननेकी कोशिश करते हैं ! कितने हैं जो जानकर इसपर श्रद्धा लाते हैं ! कितने हैं जो श्रद्धा लाकर इस पर चलते हैं ! कितने हैं जो चलकर इष्टका साक्षात् करते हैं, मनोरथमें सफल होते हैं, दुःख के विजेता होते हैं ?

बहुत विरले, कुछ गिने चुने मनुष्य—जो जीवन-लोकके उत्तुङ्ग शिखर कहला सकते है। शेष समस्त जीवन-लोक पहाड़ी घाटियोंके समान अन्धकारसे व्याप्त हैं, पहाड़ी नदियोंके समान शीघ्रतासे संसार-सागरकी ओर चला जा रहा है।

यह क्यों ? क्या शेष जीवन-लोक दुःखका अनुभव नहीं करता ? दुःखसे छुटकारा नहीं चाहता ? शेष जीवन-लोक दुःखका अनुभव ज़रूर करता है, दुःखसे छुटकारा भी चाहता है। परन्तु वह दुःखसे अपना उद्धार करनेमें असमर्थ है। मनुष्यको छोड़कर समस्त प्राणियोंका जीवन-समस्त एकेन्द्रियलोक समस्त वनस्पति लोक, समस्त विकलेन्द्रिय लोक, समस्त पशुपक्षिलोक गाढ़ अन्धकारसे ढका है, मोहसे व्याप्त है, भय और दुःखसे ग्रस्त है। इन पर भयने, दुःखने इतना काबू पाया है कि यह भय और भयके कारणोंकी ओर, दुःख और दुःखके कारणोंकी ओर लखानेसे भी भयभीत हैं। इसीलिये यह उनकी ओरसे मुँह फेर कर रह गये हैं, आँख मूँदकर रह गये हैं, ज्ञान रोक कर रह गये हैं। इसीलिये इनकी ज्ञानशक्ति, देखने भाननेकी शक्ति, स्मरण रखनेकी शक्ति, कल्पना करनेकी शक्ति, सब ही आच्छादित होगई हैं, खोईसी हो गई है। इन्होंने दुःख को ओझल करनेकी चेष्टामें ज्ञानको ही ओझल कर दिया है, समस्त जानने वाली चीज़ोंको ही ओझल कर दिया है, समस्त लोक और आत्माको ही ओझल कर दिया है। ये यन्त्रकी भाँति अभ्यस्त संस्कारों, संज्ञाओं के सहारे ही अपनी जीवन-नौकाको चलाते हुए आगे चले जारहे हैं। इन्होंने दुःखकी समस्या समझने, सुख का रहस्य मालूम करने, वर्तमान दशासे दूर लखाने, वर्तमान जीवनसे भिन्न जीवनको लक्ष्य करने, रूढिक मार्गको छोड़ अन्य मार्गको अपनानेकी शक्तिका ही लोप कर दिया है ‡। इन्हें धर्मतत्त्वको समझने, धर्मतत्त्वमें श्रद्धा लाने, धर्म-मार्ग पर आरूढ़ होनेका सामर्थ्य ही प्राप्त नहीं है। मनुष्य-जीवन ही ऐसा जीवन है, जिसमें दुःखानुभूतिके साथ दुःखसुखके रहस्यको समझने, उनके कारणोंको मालूम करने, एक लक्ष्यको छोड़ दूसरेको लक्ष्य बनाने एक मार्गको त्याग दूसरेको ग्रहण करनेकी ताकत मौजूद है। मनुष्य जीवन ही हेयोपादेय बुद्धि, तर्क वितर्क-शक्ति उद्यम पुरुषार्थका क्षेत्र है †। मनुष्यभवमें ही धर्म-साधना सम्भव है *।

जब मनुष्य-भवमें धर्मसाधना सम्भव है, तो मनुष्य-में धर्म-साधना क्यों नहीं ? मनुष्यका जीवन सुखी क्यों नहीं ? सफल क्यों नहीं ? कृतार्थ क्यों नहीं ? मनुष्य-जीवनमें भी इतना संक्लेश क्यों ? इतनी दुःख पीड़ा, क्यों ? इतना भेद भाव क्यों ? इतना संघर्ष क्यों ?

निस्सन्देह मनुष्य-भवमें ही धर्मसाधना सम्भव है परन्तु समस्त मनुष्य धर्म साधनाके योग्य नहीं, धर्मके अधिकारी नहीं। इनमें से बहुतसे तो नाममात्रके ही मनुष्य हैं। आकृतिको छोड़कर वे शील शक्ति, आचार व्यवहारमें पशु समान ही हैं, पशु समान ही बुद्धिहीन हैं, ज्ञानहीन हैं, जड़ और मूढ़ हैं। उनके ही समान स्व-च्छन्द और अनर्गल गतिसे चलने वाले हैं। उन्हें दीन

‡ पञ्चास्तिकाय ॥१६॥

† कार्तिकेयानुप्रेक्षा ॥२९९॥ गोम्मटसार (जीवकांड १४८)

* प्रश्न० उप० ५.१.

और दुनियाका कुछ पता नहीं, भूत और भविष्यका कुछ पता नहीं, उनके लिए वर्तमान क्षण ही काल है, वर्तमान जीवन ही जीवन है।

बहुतसे पशु-समान तो नहीं हैं, परन्तु दुर्बुद्धि हैं, आलसी और शक्तिहीन हैं। वे पशुसमान अचेत जीवन को, पुरुषार्थहीन जीवनको सुखी मानते हैं। वे जान बूझ कर पशु-समान अज्ञानमार्गके अनुयायी बने हैं। वे निद्रा-तन्द्रामें पड़े हुए, सुरापानमें झूमते हुए, नशैली वस्तुओंके नशेमें ऊँघते हुए, दुःखको भुलानेमें लगे हैं।

बहुतसे विचारवान् हैं, रसिक और भावुक हैं, परन्तु शक्तिहीन हैं, वे बिना पुरुषार्थ आनन्द भोगी होना चाहते हैं, वे भोगमार्गके अनुयायी बने हैं। वे विषयवासनामें सने हुए, संगीत-सुरासुन्दरीमें रमे हुए, सुख-आस्वादनमें लगे हैं, दुःख-कारणोंको बहकानेमें लगे हैं।

बहुतसे कुशाग्र बुद्धि हैं, बड़े पुरुषार्थी और उद्यमी हैं, व्यवहार-कुशल और कर्मयोगी हैं; परन्तु बाह्यमुखी हैं, अपनेसे बाहिर सुख ढूंढने वाले हैं, प्रपञ्चमें विश्वास रखने वाले हैं, वे लोकको विजय करनेमें लगे हैं। विभिन्न वस्तुओंके जमा करनेमें लगे हैं। वे धन-धान्य कञ्चन-पाषाण, ज़र-ज़मीन, महलमाड़ी बटोरने में लगे हैं। वे स्वार्थसिद्धिमें विश्वास करने वाले हैं, वे सिद्धि-मार्गकी शिष्टता-अशिष्टतामें विश्वास करने वाले नहीं। इसीलिए वे आपसमें लड़ते-भिड़ते, कटते-मरते, लूटते-खसोटते वृथा तथा आगे बढ़ रहे हैं। वे व्यवहार मार्ग के अनुयायी हैं, उद्योग-मार्गके अनुयायी हैं। ये परिग्रह-द्वारा अपूर्णताका अन्त करना चाहते हैं, व्यवसाय-द्वारा दुःखका अभाव करना चाहते हैं। वे 'शठ प्रति शाठ्यं' के अनुयायी हैं। वैर संशोधन द्वारा वैरका उच्छेद करना चाहते हैं, भय-उत्पत्ति द्वारा भयको निर्मूल करना चाहते हैं।

बहुतसे सात्विक बुद्धि हैं, सरल हृदय हैं, नम्रभाव हैं, वे अपने सुख-दुखका विधाता अपनेसे बाहिर, अपनेसे भिन्न, अपनेसे दूर मानते हैं। वे उस सत्ताको समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त सुख, समस्त पूर्णताका भण्डार जानते हैं। वे उसकी भक्ति उपासनासे, प्रार्थना याचनासे दुखका अभाव, सुखका लाभ होना समझते हैं। ये याज्ञिक मार्गके अनुयायी हैं। ये अपनेको धर्मको जानने वाला, धर्म पर चलने वाला मानते हैं। परन्तु वे धर्म जानते हुए भी धर्म नहीं जानते, धर्म मानते हुए भी धर्म नहीं मानते, धर्म पर चलते हुए भी धर्म पर नहीं चलते। ये सब मिथ्यात्वसे पकड़े हुए हैं। मोह मायासे ठगे हुए हैं।

ये वृक्ष वनस्पतिमें, पशु-पक्षियोंमें, हवा पानीमें, नदी पर्वतोंमें, वनखण्ड-देशभूमिमें, चान्दसूरजमें, ग्रह-नक्षत्रमें, आकाश-कालमें, प्रकृति-विभूतिमें, परम शक्तिवान देवताका दर्शन करते हैं। वे विशेष दिशाको दिव्य दिशा, विशेष देशको दिव्य देश, विशेष कालको दिव्यकाल, विशेष रूपको दिव्यरूप मानते हैं। ये विशेष भाषाको दिव्य भाषा, विशेष वाक्यको दिव्य-वाक्य, विशेष वाक्य-समूहको दिव्य शास्त्र समझते हैं। वे विशेष जाति वाले, विशेष कर्माचारी, विशेष रूपधारी को गुरु ग्रहण करते हैं। ये विशेष प्रकारका रूप धारण करना, विशेष भाषा बोलना, विशेष वाक्यका जप करना, विशेष विधि अनुसार विशेष २ कर्म करना धर्म मानते हैं। इनमें भला देवता कहाँ? दिव्यता कहाँ? धर्म कहाँ?

ये सब अपनेसे बाहिर, अपनेसे भिन्न तत्त्वके भक्त बने हैं, ये सब नाम, रूप, कर्मके उपासक बने हैं। ये

देश-काल परिमित सत्ताके सेवक बने हैं। वे सब धर्मके लोभमें धर्माभासके पीछे चलने वाले हैं, जलके लोभमें मरीचिकाके पीछे दौड़ने वाले हैं, अमृतके लोभमें ससार-वनमें घूमने वाले हैं *। ये सब धर्म हीन हैं।

इसका क्या कारण है ? जब सब ही जीव सुखके अभिलाषी हैं, सब ही सुखके लिए प्रयत्नशील हैं, तो वे सुख मार्ग पर क्यों नहीं चलते ? उनकी दृष्टि धर्मकी ओर क्यों नहीं जाती ? वे धर्मका आचरण क्यों नहीं करते ? क्यों यह धर्म एक ढकोसला है ? भ्रम है ? दिल बहलानेकी वस्तु है ? केवल एक शुभ कामना है ?

धर्म वास्तविक है:—

नहीं, धर्म ढकोसला नहीं, भ्रम नहीं, बहलानेकी चीज नहीं, यह वास्तविक है। यह इतना ही वास्तविक है जितना कि सुख और सुखकी भावना, पूर्णता और पूर्णताकी भावना, अमृत और अमृतकी भावना। यदि सुख और सुखकी भावना वास्तविक हैं तो सुखका मार्ग वास्तविक क्यों नहीं ? कोई भावना ऐसी नहीं, जिसका भाव न हो, कोई भाव ऐसा नहीं, जिसकी सिद्धी का मार्ग न हो। जहाँ भावना रहती है, वहीं उसका भाव रहता है, जहाँ भाव रहता है वहीं उसका मार्ग रहता है। सुखकी भावना, पूर्णताकी भावना, अमृतकी भावना आत्मामें बसी हैं। इसलिये सुखमयी तत्त्व, पूर्णतामयी तत्त्व, अमृतमयी तत्त्व भी आत्मामें रहता है। आत्मामें ही उसकी सिद्धीका मार्ग छुपा है। परन्तु इस तत्त्वको समझने, इस मार्गको ग्रहण करनेमें दो कठिनाइयाँ हैं—१. धर्म तत्त्वकी सूक्ष्मता २. जीवन की विमूढता।

* भावप्राभृत ॥११०॥

धर्म तत्त्वकी सूक्ष्मता:—

यह धर्म-तत्त्व यद्यपि बहुत सीधा और सरल है, बहुत निकट और स्वाश्रित है। यह ऐसा ही सीधा है जैसे दीप-शिखा, ऐसा ही सरल है जैसे दीप-प्रकाश, ऐसा ही निकट है जैसे दूधमें घी, ऐसा ही स्वाश्रित है जैसे शरीरमें स्वास्थ्य। यद्यपि यह सर्वप्राप्य है, सकल भेद भाव-रहित प्राणिमात्रमें मौजूद है। यद्यपि इसीके सहारे समस्त जीवनका विकास नीचेसे ऊपरकी ओर हो रहा है—शारीरिक जीवनसे सामाजिक जीवनकी ओर, सामाजिकसे आर्थिककी ओर, आर्थिकसे मानसिककी ओर, मानसिकसे नैतिककी ओर, नैतिकसे आध्यात्मिक की ओर—परन्तु इस तत्त्वका जानना कठिन हो गया है, इसके जाननेका जो साधन अन्तर्ज्ञान है, वह काम में न आनेसे—अभ्यासमें न रहनेसे कुण्ठित होगया है, मलीन हो गया है, खोया सा हो गया है, और जो इसके विपरीत तत्त्वको देखने जाननेका साधन है, वह इन्द्रियज्ञान, बुद्धिज्ञान, नित्य प्रति अभ्यासमें लानेसे अधिक अधिक तीक्ष्ण हो गया है।

धर्मका तत्त्व कोई ऐसी बाह्य वस्तु नहीं जो इन्द्रियों से दिखाई दे, बुद्धिसे समझमें आये, हाथ पाँवोंसे पकड़ में आये, रुपये-पैसेसे खरीदी जाए, यह अन्तरङ्ग वस्तु है, तर्क और बुद्धिसे दूर है, हाथ और पाँवोंसे परे है। यह जीवनमें छुपा है, जीवनको विकल करनेवाली अनुभूतियोंमें छुपा है, जीवनको ऊपर उभारनेवाली भावनाओंमें छुपा है। यह अत्यन्त गहन है, यह सूक्ष्मतासे दिखाई देने वाला है, अन्तर्ज्ञानसे समझमें आनेवाला है जो अनुभवी पण्डित हैं, वे ही इसे देख सकते हैं *।

* कठ० उप० १.१२। गीता ७. २५। मज्झिमनिकाय २६वाँ सुत्त

इसीलिये अनेक विध जानने पर भी यह बतलाया नहीं जाता, अनेक प्रकार शास्त्रोंके पढ़ने और मनन करनेसे भी यह दृष्टिमें नहीं आता ‡। इसका बोध बहुत दुर्लभ है ※।

इस धर्मके मर्मको जाने बिना, जीवन उद्देश्यको जानना, उद्देश-सिद्धिके मार्गको जानना, उत्थान उपायों को जानना, शरीर, गृहस्थ, समाज और राष्ट्र प्रति कर्तव्योंको जानना, उनके अनुसार जीवनको बनाना, नितान्त असम्भव है। जब लक्ष्यका ही पता नहीं, मंजिल का ही पता नहीं, तो मार्गका पता कैसे लग सकता है? इसीलिए जीवनमें विविध प्रसंग आ पड़ने पर बहुत बार साधारण जन ही नहीं बड़े२ बुद्धिमान भी कर्म-अकर्मके मामलेमें कर्तव्य विमूढ हो जाते हैं †। उस वक्त यह निर्णय करना कि अमुक स्थितिमें क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये बहुत मुश्किल हो जाता है।

जहाँ धर्म-तत्वको जानना दुर्लभ है, धर्म-मार्गको निश्चित करना कठिन है, वहाँ धर्मतत्व पर श्रद्धा लाना, धर्म-मार्ग पर चलना और भी मुशकिल है, धर्म का मार्ग बालाग्रसे भी अधिक नेड़ा है, क्षुर धारसे भी अधिक तीक्ष्ण है। बहुत थोड़े हैं, जो धर्मको जानते हैं बहुत ही कम हैं जो इस पर श्रद्धा लाते हैं। बहुत ही विरले हैं जो इस पर चलते हैं *।

यह मार्ग लक्ष्यमें ज़रासी भ्रान्ति होने से, ज़रासा प्रमाद होनेसे नीचेसे निकल जाता है। इसका पथिक मोहके पैदा हो जानेसे आचारमें विषमता आजानेसे पथसे स्खलित हो जाता है।

धर्म-मार्गपर कौन चल सकता है?

जो निर्भ्रान्त है, आस्तिक बुद्धि वाला है, जीवन-लक्ष्यको सदा दृष्टिमें रखनेवाला है, जो आध्यात्मिक जीवनको साध्य और अन्य समस्त जीवनको अर्थात् शारीरिक, गृहस्थ सामाजिक, राष्ट्रिक, नैतिक जीवनको साधन मानने वाला है, जो मोक्ष पुरुषार्थको परम पुरुषार्थ और अन्य समस्त पुरुषार्थोंको सहायक पुरुषार्थ समझने वाला है। जो समदृष्टि है, सब ही 'प्राणियोंको अपने समान देखने वाला है' जो समबुद्धि है; सब ही अवस्थाओंमें एक समान रहने वाला है जो सुखके समय हर्षको और दुःखके समय विषादको प्राप्त नहीं होता वह ही धर्ममार्ग पर चल सकता है।

जो तत्व ज्ञानी है, आत्म अनात्मका भेद जानने वाला है। जो भावनामयी तत्वको आत्मा और नाम, रूप, कर्मात्मक तत्वको अनात्म मानने वाला है, जो विवेकशील है, हित अहितका विचार रखने वाला है, जिसके लिये न कुछ अच्छा है, न कुछ बुरा है। जो हित-साधक है वही अच्छा है, जो हित-बाधक है वही बुरा है। जो प्रत्येक कर्मके अच्छेपन और बुरेपनको केवल उसके अभिप्रायसे नहीं जाँचता, बल्कि उसके फल, उसके परिणामसे जाँचने वाला है। जो विशाल-

---

‡ मुण्डक० उप० ३.२.३

※ "बोहि सुदुल्लहं होदि" द्वादशानुप्रेक्षा ॥८३॥

† "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"
—गीता ४.१६.

* (अ) "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथः तत्कवयो वदन्ति" —कठ० उप० ३.१४.

(आ) उत्तराध्ययन सूत्र ३.२०; १०,४; १६.४.

(इ) "Because strait is the gate and narrow is the way which leadeth unto life, and few there are that find it."

--Bible-St. Matthew, 7-14.

दृष्टि है, अनेकान्ती है, प्रत्येक तत्वको, प्रत्येक घटनाको प्रत्येक पुरुषार्थको अनेक अपेक्षाओंसे देखने वाला है। अनेक अपेक्षाओंसे समझने वाला है, जो सर्वग्राहक है, जो अपनी दृष्टिको एकान्तमें डालकर संकीर्ण नहीं होने देता। जो स्वहित-परहित, व्यक्तिगत हित समष्टिगत हित, वर्तमान हित, भावि हित सब ही हितों की अपेक्षासे पुरुषार्थके हेय उपादेयपनका निर्णय करने वाला है, जो प्रज्ञावान है, जो साध्य और साधन, व्यवहार और निश्चयमेंसे किसीकी भी उपेक्षा नहीं करता, जो यथावश्यक अपने समय और शक्तिको सब ही पुरुषार्थोंमें बाँटने वाला है। जो सदा अपनेको स्थिति अनुरूप बनाने वाला है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है।

जो निर्मोही है; नाम-रूप-धर्मात्मक जगतमें रहता हुआ भी कभी उसको अपना नहीं मानता, कभी उसका होकर नहीं रहता, जो कमल समान सदा ऊपर होकर रहता है, सदा आत्महितका विचार रखता है। जो समस्त जगत, उसके समस्त पदार्थ, समस्त सम्बन्ध, समस्त रीतिरिवाज, समस्त संस्थाप्रथा, समस्त विधि-विधान, समस्त क्रियाकर्मको व्यवहार मानता है, ऊपर उठनेका साधन मानता है, साधन मानकर उनको ग्रहण करता है, रक्षा करता है, प्रयोग करता है, यथा-वश्यक उनमें हेरफेर करने, सुधार करनेमें तत्पर रहता है, यथावश्यक सदा उन्हें त्यागने, आहुति देनेमें तय्यार रहता है, वही धर्ममार्ग पर चल सकता है।

जो अहिंसावान है, दयावान है, सबके हितमें अपना हित मानता है, सबके उद्धारमें अपना उद्धार मानता है; जो सबका हितैषी है, सबका मित्र है, जो आप रहता है दूसरोंको रहने देता है, जो खुद स्वतन्त्र है, दूसरोंकी स्वतन्त्रताका आदर करता है, जो अपनी उन्नति करता हुआ दूसरोंकी उन्नतिको नहीं रोकता, जो अपने उठनेके साथ दूसरोंको उठाता चलता है उभारता चलता है; वही धर्म मार्ग पर चल सकता है।

जो जितेन्द्रिय है, वशी है, शान्त चित्त है, विषयों की आसक्तिसे लक्ष्यको नहीं भूलता, कषायोंकी तीव्रतासे कर्तव्यको नहीं छोड़ता, बाधाओंसे घबराकर धीरताको नहीं खोता, वही धर्म पर चल सकता है।

जो आत्म-विश्वासी है; जो सहायता-अर्थ बाह्य देवी देवताओंकी ओर नहीं देखता, उनके प्रति याचना-प्रार्थना नहीं करता, उनके प्रति यज्ञ हवन, पूजा भक्तिमें समय नहीं खोता, जो स्वयं आत्मशक्तियोंमें भरोसा रखने वाला है, दृढ़ संकल्प शक्ति वाला है, निर्भय है, साहसी है, उद्यमी है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है।

जो सदा जागरूक और सावधान है, जो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचारसे अपने मार्गको दूषित नहीं होने देता। जो निरहंकार है, "मैं" और "मेरे" के प्रपंचमें नहीं पड़ता; जो निष्काम है, निराकारी है, जो कोई भी काम मान, मिथ्यात्व, निदानके वशीभूत होकर नहीं करता, जो अपने कियेका फल धन-दौलत, पुत्र-कलत्र, मान-प्रतिष्ठा आदि किसी भी दुनियावी अर्थ के रूपमें नहीं चाहता, जो अपनी समस्त शक्ति, समस्त पुरुषार्थ, समस्त जीवन, ब्रह्मके लिये अर्पण करता है, समस्त विचार, समस्त वाणी, समस्त कर्म ब्रह्मके लिये होम करता है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है।

जो कर्म-कुशल है, योगी है, जो बालक-समान एक बार ही चान्दको पकड़ना नहीं चाहता, जो सहायक शक्तियोंको बढ़ाता हुआ, विपक्ष शक्तियोंको घटाता हुआ, श्रेणीबद्ध मार्गसे ऊपरको उठाता है, वही धर्म मार्ग पर चल सकता है।

अर्थात् जो सम्यक्दृष्टि है, स्थितप्रज्ञ है, स्थिर बुद्धि है, समदर्शी है, योगी है, आस्तिक्य-प्रशम-संवेग-अनुकम्पा गुण वाला है। निशंकित आदि अष्ट अंग वाला त्रिमूढता और अष्ट मद रहित है, त्रिशल्यसे खाली है, मैत्री-प्रमोद-करुणा, माध्यस्थ भावसे भरा है, अविरोध रूपसे धर्म-अर्थ-काम-पुरुषार्थोंकी सेवा करने वाला है, वही धर्म-मार्ग पर चल सकता है, वही वास्तवमें धर्मात्मा है, वही सुखका अधिकारी है।

लोक विमूढ है:—

जहाँ धर्म-तत्त्व इतना सूक्ष्म है, धर्म-मार्ग इतना कठिन है, वहाँ यह लोक अन्धा है, यहाँ देखने वाले बहुत थोड़े हैं †। यहाँ जीवन अनादिकी भूलभ्रान्तिसे ढका है, अविद्यासे पकड़ा हुआ है, मोहसे ग्रसा हुआ है, यह अपनेको भुलाकर परका बना हुआ है, अपनेको न देखकर बाहिरको देख रहा है, अपनेको न टटोलकर बाहिरको टटोल रहा है, अपनेको न पकड़ कर बाहिरको पकड़ रहा है। इसकी सारी रुचि, सारी आसक्ति, सारी शक्ति बाहिरकी ओर लगी हुई है, सारी इन्द्रियाँ बाहिर को खुली हुई हैं, सारी बुद्धि बाहिरमें धसी हुई है, सारे अवयव बाहिरको फैले हुए हैं ‡।

इसके लिये इस दिखाई देने वाले लोकसे भिन्न और लोक ही कौनसा है ? इस सुख दुःख वाले जीवनसे भिन्न और जीवन ही कौनसा है ? इस इन्द्रिय-ज्ञानसे भिन्न और ज्ञान ही कौनसा है ? इस लोककी छोड़कर और किधर जाये ? इस जीवनको छोड़कर और किधर लखाये ? इस ज्ञानको छोड़कर और किसका सहारा ले ? इस तरह देखता जानता हुआ यह बहिरात्मा बना है। यह नास्तिक बना है †। अपनेसे विमुख बना है ‡।

जो इस प्रकार परासक्तिमें पड़ा है, परासक्तिमें रत है, परासक्तिमें प्रसन्न है, उसके लिए दुःखको साक्षात् करना, दुःखके कारणोंको समझना, दुःख-निरोधका संकल्प करना, दुःख निरोधके मार्ग पर लगना बहुत कठिन है *। जो इस प्रकार इन्द्रिय बोधको ही बोध मानता है, इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही वस्तु मानता है, उसके लिये अदृष्टमें विश्वास करना, अदृष्टके लिये उद्यम करना बहुत मुश्किल है।

धर्म दृष्टि लोक दृष्टिसे भिन्न है:—

लोककी इस दृष्टिमें और धर्मकी दृष्टिमें बड़ा अंतर है—ज़मीन आस्मानका अन्तर है। इनमें यदि कोई समानता है तो केवल इतनी कि दोनोंका अन्तिम उद्देश्य एक है—दुख-निवृत्ति, सुख-प्राप्ति। इसके अतिरिक्त दोनोंमें विभिन्नता ही विभिन्नता है। दोनोंकी सुख-दुःख की मीमाँसा भिन्न है। दोनोंका निदान भिन्न है। दोनों का निदान-साधन भिन्न है। दोनोंकी चिकित्सा भिन्न है दोनोंकी चिकित्सा-विधि भिन्न है और दोनोंके स्वास्थ्य-मार्ग भिन्न हैं।

पहिली दृष्टि आनन्द, सुन्दरता, वैभव और शक्ति का आलोक बाह्य जगतमें करती है, दूसरी इनका

---

† अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति

—धम्मपद ॥ १७४

‡ (अ) "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् —कठ० उप० ४. १.

(आ) बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥

—समाधितंत्र ॥ ७ ॥

† कठ० उप० २. ६; तैत० उप० २. ६. ३.

‡ मोक्ष प्राभृत ॥ ८, ११ ॥ योगसार ॥ ७ ॥

* मज्झिमनिकाय २९वाँ सुत्त।

आलोक अन्तरात्मामें करती है। पहिली बाह्य लोकको महान् और आशावान मानती है; दूसरी अन्तःलोकको महान् और आशावान ठहराती है। पहिली बाह्यलोकके प्रति कामना, आसक्ति, परिग्रहका व्यवहार करना सिखाती है; दूसरी बाह्य लोकके प्रति प्रशमता, उदासीनता और त्यागका वर्ताव बतलाती है।

पहिलीकी भावना है धन-धान्यकी प्राप्ति, सन्तानकी प्राप्ति, दीर्घ आयुकी प्राप्ति, आरोग्यकी प्राप्ति, पितृलोक और स्वर्ग लोककी प्राप्ति †। दूसरीकी भावना है सत्की प्राप्ति, ज्ञानकी प्राप्ति, उच्चताकी प्राप्ति, अनन्तकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, अमृतकी प्राप्ति, अपवर्गकी प्राप्ति ‡।

पहिलीके लिये प्रश्न हल करनेका साधन, तत्त्व-निर्णय करनेका प्रमाण इन्द्रिय-ज्ञान है, बुद्धि-ज्ञान है, दूसरीके लिये जाननेका साधन, निर्णय करनेका प्रमाण अन्तर्दृष्टि है, अनुभवज्ञान है।

पहिलीके लिए जीवनका विधाता, आत्मासे भिन्न, आत्मासे बाहिर प्राकृतिक शक्ति है—शक्तियोंके अधिष्ठाता देवी देवता हैं, देवी देवताओंके नायक ईश्वर हैं। दूसरीके लिए जीवनका विधाता—जीवनका अधिष्ठाता स्वयं आत्मा है, आत्माके ही शुभाशुभ भाव हैं, शुभाशुभ कर्म हैं। ये ही जीवनमें सुख-दुःख, उत्थान-पतन उच्चगति-नीचगतिके करने वाले हैं *। आत्मा ही संसारका हेतु है, आत्मा ही संसारका उच्छेदक है, आत्मा ही आत्माका मित्र है, आत्मा ही आत्माका शत्रु है ×।

पहिलेके लिए दुःखका कारण बाह्य शक्तिका प्रकोप है, देवी-देवताओंका प्रकोप है, ईश्वरका प्रकोप है, दूसरीके लिए दुःखका कारण स्वयं आत्माकी दूषित वृत्ति है, उसकी अपनी विपरीत श्रद्धा, अज्ञान-अविद्या, मोह-तृष्णा है।

धर्मका मार्ग लोक मार्गसे भिन्न है:—

पहिलीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय दुःखविस्मृति है, अज्ञान है, निद्रा-तन्द्रा है, सुरापान है। दूसरीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय ज्ञान है; दुःखको साक्षात् करना है, दुःखके कारणोंको जानना है, उन कारणोंका विच्छेद करना है।

पहिलीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय बाह्य शक्तियों—देवी-देवताओं ईश्वरकी—याचना-प्रार्थना है, पूजा वंदना है, भक्ति-उपासना है। दूसरीके लिए दुःख निवृत्तिका उपाय आत्म-विश्वास है, आत्म-पुरुषार्थ है, आत्म-शक्ति है। जो आत्माकी शरण जाता है, आत्माके लिए ही सब कुछ समर्पण करता है, वह दुःख नहीं पाता †। जो बाह्य देवी देवताओंकी उपा-

---

† अथर्व० ६. १२०. ३। यजु० १६. ३० । ऋग्वेद १०. १११.४ । अथर्व १२.१ ।

‡ (अ) असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमयेति—बृ० उप०८.१४

(आ) अमृतस्य देवधारणो भूयासम्"

—तैत्त० उप०१.४.१.

* धम्मपद ॥ १६२ ॥, सामायिकपाठ ॥ ३० ॥ समयसार ॥ १०२ ॥ कौशिकी. उप० १.२, कठ० उप० १.२, ७, श्वेताश्वतर० उप० १.२,३

× गीता ६.५; निर्ग्रन्थप्रवचन १.३.

† द्वादशानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

सना करता है, वह धर्म तत्वको नहीं जानता, वह देवताओंके पशुके समान है ‡।

पहिलीके लिये दुःख निवृत्तिका उपाय प्राकृतिक विजय है, लौकिक विजय है। उसका साधन वशीकरन मन्त्रतन्त्र है वैज्ञानिक आविष्कार है। दूसरीके लिये दुःख-निवृत्तिका उपाय आत्म-विजय है। उसका साधन इन्द्रिय-संयम है, मन-वचन कायका वशीकरण है, आध्यात्मिक शिल्प है।

पहिलीके लिये सुखका मार्ग इच्छावृद्धि है; परिग्रह-वृद्धि है, भोगवृद्धि है। दूसरीके लिए सुखका मार्ग इच्छात्याग है, परिग्रहत्याग है, भोगत्याग है।

पहिलीके लिए सुखका मार्ग अहकार, विज्ञान और विषयवेदनामें बसा है। दूसरीके लिये सुखमार्ग साम्यता, अन्तर्ध्यान और अन्तर्लीनतामें रहता है।

पहिलीका मार्ग प्रवृति मार्ग है। दूसरीका मार्ग निवृत्ति-मार्ग है। पहिलीका फल संसार है, दूसरीका फल मोक्ष है।

जो-जैसी श्रद्धा रखता है वैसी ही कामना करता है, जैसी कामना करता है वैसा ही मार्ग ग्रहण करता है, वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही संस्कार, वैसी ही शक्तिको उपजाता है, वैसा ही वह हो जाता है †।

प्रकृतिमें विश्वास रखने वाला प्रकृतिरूप हो जाता है। पशुपक्षियोंकी अज्ञानमय भोगदशाको पसन्द करने वाला पशु पक्षिरूप हो जाता है। देवताओंमें श्रद्धा रखने वाला देवतारूप, पितरोंमें श्रद्धा रखने वाला भूतप्रेतरूप होजाता है। और आत्मामें श्रद्धा रखने वाला आत्मस्वरूप होजाता है †।

इस तरह बाह्य दृष्टि वाला संसारकी ओर चला जाता है और अन्त दृष्टिवाला मोक्षकी ओर चला जाता है। संसारका मार्ग और है और मोक्षका मार्ग और है*।

संसार-मार्गमे चलकर धन-दौलतकी प्राप्ति हो सकती है, परिग्रह आडम्बरकी प्राप्ति हो सकती है, भोग उपभोगकी प्राप्ति हो सकती है। बल वैभवकी प्राप्ति हो सकती है, मान मर्यादाकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पूर्णताकी प्राप्ति नहीं हो सकती, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अमृतकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

धर्म-मार्ग ही ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य लौकिक सुख, लौकिक विभूतिको प्राप्त होता हुआ अन्तमें निर्माणसुखको प्राप्त कर लेता है।

यदि पूर्णताकी इच्छा है तो सिद्ध पुरुषो की ओर देख, यदि अक्षय सुखकी अभिलाषा है तो निराकुल सुखी पुरुषोंकी ओर देख। यदि अमृतकी भावना है तो अमर पुरुषोंकी ओर देख। जो उनका मार्ग है उसे ही ग्रहण कर।

—※—

‡ अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते, अन्यो ऽसौ अन्यो ऽहम् अस्मीति, न स वेद, यथ पशुरेव स देवानाम्''
—बृह० उप० १.४.१०

† (अ) अथ खल्वाहुः काममयः एवायं पुरुष इति, स यथा कामो भवति, तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते, तदपिसम्पद्यते।
—बृह० उप० ४-४-५.

(आ) श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः—गीता १०-३.

(इ) निरुक्तपरिशिष्ट २.६;

† गीता ७.२१-२३, ६. २५.

* धम्मपद ॥ ७५ ॥

वीरशासन-जयन्ती-उत्सव

इस वर्ष वीर-सेवामंदिरमें श्रावण कृष्णा प्रतिपदा ता० २० जुलाई सन् १९४० शनिवारको वीरशासन-जयन्तीका उत्सव गत वर्षसे भी अधिक समारोहके साथ मनाया गया। नियमानुसार प्रभात-फेरी निकली, झंडाभिवादन हुआ, मध्यान्ह के समय गाजे बाजेके साथ जलूस निकला और फिर ठीक दो बजे पं० श्री० मक्खनलालजी अधिष्ठाता ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी-मथुराके सभापतित्वमें जलसेका प्रारम्भ हुआ और वह ५॥ बजे तक रहा। जलसेमें बाहरसे सहारनपुर मुज़फ़्फ़रनगर, देहली, मथुरा, नकुड़ कैराना अम्बदुल्ला पुर, जगाधरी और नानौता आदि स्थानोंसे अनेक सज्जन पधारे थे।

मंगलाचरण, तिथि-महत्त्व और आगत पत्रों का सार सुनानेके अनन्तर सभामें भाषणादिका कार्य आरम्भ हुआ, जिसमें निम्न सज्जनोंने भाग लिया—

ला० नाहरसिंहजी सम्पादक जैन प्रचारक सरसावा, चि० भारतचन्द्र, ओमप्रकाश, मा० रामानन्दजी गायनाचार्य, प्रो० धर्मचन्द्रजी, बा० कौशलप्रसादजी, ला० हुलाशचन्दजी, पं० रामनाथ-जी वैद्य, पं० राजेन्द्रकुमारजी कुमरेश, पं० जुगल-किशोरजी मुख्तार, सौ० इन्द्रकुमारी 'हिन्दीरत्न' शारदादेवी और सभाध्यक्ष पं० मक्खनलालजी।

भाषणोंमें प्रो० धर्मचन्द्रजी, बा०कौशलप्रसाद-जी, मुख्तार साहब और सभापति महोदयके भाषण बहुत ही प्रभावक एवं महत्वके हुए हैं। इन भाषणोंमें वीर-शासनके महत्वका दिग्दर्शन करानेके साथ साथ उनके पवित्रतम शासन पर अमल करनेकी ओर विशेष लक्ष दिया गया है। वीर भगवान्‌के अहिंसा आदि ख़ास सिद्धान्तोंका इस ढंगसे विवेचन किया गया कि उससे उप-स्थित जनता बड़ी ही प्रभावित हुई। और सभीके दिलों पर यह गहरा प्रभाव पड़ा कि हम वीर-शासनकी वास्तविक चर्यासे बहुत दूर हैं और उसे अपने जीवनमें ठीक ठीक न उतार सकनेके कारण ही इतनी अवनत दशाको पहुँच गये हैं। जब कि वीरकी अहिंसा और सत्यके एक अंशका पालन करनेसे गाँधीजी महात्मा हो गये और सारे संसारकी दृष्टिमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए, तब वीरके उन अहिंसा और सत्य आदि सिद्धान्तोंका पूर्णतया पालन करके—उन्हें अपने जीवनमें उतार कर अथवा वीरके नक्शे क़दम पर चल करके—संसारका ऐसा कौनसा प्रतिष्ठित पद है जिसे हम प्राप्त न कर सकें। फिर भी हम वीरशासनके रहस्यको भूले हुए हैं—उसके अनेकान्त और स्या-द्वाद सिद्धान्तसे अपरिचित हैं—इसी कारण हम वीर-शासनका स्वयं आचरण नहीं करते और न दूसरोंको ही करने देते हैं; मात्र उसे अपनी बपौती समझ कर ही प्रसन्न हो रहते हैं! जो शासन संसारके समस्त धर्मोंसे श्रेष्ठतम, अबाधित एवं सुखशान्तिका मूल है, जिससे दुनयाके सभी

Regd. No. L. 4328.

विरोधोंका समन्वय हो सकता है तथा जो जीवात्माकी प्रगति एवं विकासका ख़ास साधन है और जिसका आश्रय पाकर अधमसे अधम मनुष्य एवं पशु-पक्षी तक सभी जीव अपनी आत्माका उत्थान कर सकते हैं उसमें हम अनभिज्ञ रहें, उसे स्वयं अमलमें न लाएँ और न दूसरोंको ही उस पर अमल करने दें, यह कितनी बड़ी लज्जा एवं खेद की बात है ! ऐसी हालतमें हमारा अपनेको वीरका अनुयायी उपासक या सेवक बतलाना कितना हास्यजनक है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं रहती । वीर-शासनका सच्चा उपासक या अनुयायी वही हो सकता है जो वीरके नक़शे क़दम पर चलता हो । अथवा उनके सिद्धान्तों पर स्वयं अमल करता हुआ दूसरोंको भी अमल करनेके लिये प्रेरित करता हो, और जो अमल करनेको उद्यमी हो उन्हें सब प्रकारसे अपना सहयोग प्रदान करता हो और इस तरह तन मन धनसे वीरके सिद्धान्तोंका प्रचार करने करानेके लिये कटिबद्ध हो ।

भाषणोंका जनता पर अच्छा असर पड़ा और उसने अपनी भूल तथा ग़लतीको बहुत कुछ महसूस किया ।

भाषणोंके अतिरिक्त गायनोंका भी अच्छा आनन्द रहा । मा० रामानन्दजीका महावीरके जीवन सम्बन्धमें बहुत ही अच्छा गायन और प्रभावक उपदेश हुआ । चि० भरतचन्दका गायन बहुत ही सुन्दर एवं चित्ताकर्षक था । चि० भरतचन्दकी अवस्था इस समय १३ वर्षकी है, इतनी छोटीसी वयमें वह गायनकलामें प्रवीण विद्वानकी भाँति मनोमोहक गाना गाता है । उसकी आवाज़ बहुत ही मधुर और सुरीली है और वह एक होनहार बालक जान पड़ता है । उसका भविष्य उज्ज्वल हो यही हमारी भावना है । इस तरह यह जलसा बहुत ही शानदार एवं प्रभावक हुआ है ।

—परमानन्द जैन शास्त्री

वीर-सेवामन्दिरको सहायता

हालमें वीरसेवा मन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे ४८ रु० की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

२१) ला० मुरलीधर बनवारीलाल जैन कचौरा जि० इटावा (पिताश्रीके स्वर्गवासके समय निकाले हुए दानमेंसे)
१५) ला० विश्वम्भरदास जिनेश्वरदास बजाज मैंसी जि० मुज़फ़्फ़रनगर (वेदी प्रतिष्ठाके अवसर पर) ।
७) ला० बालमल उग्रसैन जैन, जगाधरी जि० अम्बाला (पुत्र विवाहकी खुशीमें)
५) ला० मनोहरलाल ताराचन्द जैन आढती बड़ौत जि० मेरठ (विवाहकी खुशीमें)

४८)

अधिष्ठाता—'वीरसेवामंदिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर ।

'वीर प्रेस ऑफ इण्डिया' कनॉट सर्कस न्यू देहली में छपा ।
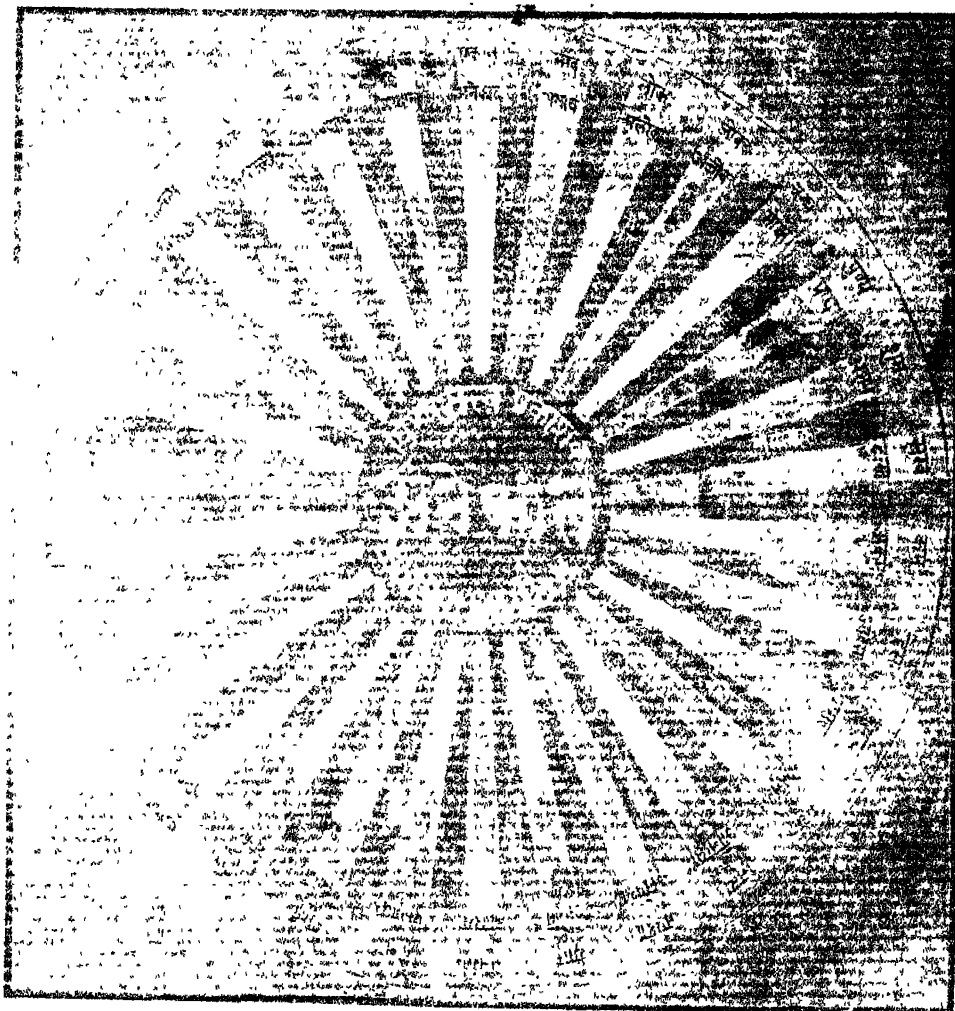
विषय-सूची

१. देवनन्दि-पूज्यपाद-स्मरण ५५७
२. हम और हमारा यह सारा संसार—[बा० सूरजभान वकील ५५९
३. क्या स्त्रियाँ संसारकी क्षुद्र रचनाओंमें से हैं ?—[श्रीललिताकुमारी जैन विदुषी, प्रभाकर ५६९
४. दीपक के प्रति—[श्रीरामकुमार 'स्नातक' ५७२
५. आत्मोद्धार-विचार—[श्री अमृतलाल चंचल ५७३
६. सफेद पत्थर अथवा लाल हृदय—[दीपक से ५७७
७. नृपतुंग का मतविचार—[श्री एम. गोविन्द पै ५७८
८. नवयुवकोंको स्वामी विवेकानन्दके उपदेश—[अनु० डा० बी० एल० जैन पी० एच० डी० ५९६
९. तामिलभाषाका जैन साहित्य —[प्रो० ए० चक्रवर्ती एम. ए. आई. ई. एस. ... ५९७
१०. अहिंसा सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण प्रश्नावली—[विजयसिंह नाहर ६०१
११. वीरोंकी अहिंसाका प्रयोग—[श्री महात्मा गाँधी ६०७
१२. उच्च कुल और उच्च जाति [श्री. बी. एल. जैन ... ... टाइटिल ३

संशोधन

गत जून-जुलाई मासकी संयुक्त किरण (८-९) में मुद्रित 'परिग्रह-परिमाण-व्रतके दासी-दास गुलाम थे' इस लेखके छपनेमें कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं; जिनमेंसे खटकने वाली चंद खास अशुद्धियोंका संशोधन नीचे दिया जाता है। पाठकजन उसे अपनी अपनी प्रतिमें बना लेवें:—

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२६	१	१८	पग्रिहके	परिग्रहके
,,	२	७	खोत	खेत
५३०	२	१५	१५०	१०५
५३१	२	४	दास्या:स्यु:	अदासा:स्युः
,,	,,	२०	५८-१५	८-७१५
५३२	१	२६	१११४	११६४

—प्रकाशक

दानवीर रा० ब० सेठ हीरालालजी, इन्दौर

आपने १५० जैनेतर संस्थाओं—यूनिवर्सिटियों, कालेजों, हाईस्कूलों और लाइब्रेरियों को १ वर्ष के लिए और १०० जैनमन्दिरों पुस्तकालयोंको ६ माहके लिए 'अनेकान्त' अपनी ओरसे भिजवानेकी उदारता दिखाई है।

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
श्रावण-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं०२४६६, विक्रम सं०१९९७ | किरण १०

देवनन्दि-पूज्यपाद-स्मरण

यो देवनन्दि-प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं ॥ —श्रवणबेल्गोल शि०नं० ४०

जिनका प्रथम नाम—गुरुद्वारा दिया हुआ दीक्षानाम—'देवनन्दी' था, जो बादको बुद्धिकी प्रकर्षताके कारण 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहलाए, वे आचार्यश्री 'पूज्यपाद' नामसे इसलिये प्रसिद्ध हुए हैं कि उनके चरणोंकी देवताओं ने आकर पूजा की थी।

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमविभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत् स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥— श्रवणबेल्गोल शि०ले०नं० १०८

श्री पूज्यपादने धर्मराज्यका उद्धार किया था—लोकमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की थी—इसीसे आप देवताओंके अधिपति-द्वारा पूजे गये और 'पूज्यपाद' कहलाये। आपके विद्याविशिष्ट गुणोंको आज भी आपके द्वारा उद्धार पाये हुए—रचे हुए—शास्त्र बतला रहे हैं—उनका खुला गान कर रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्व-बुद्धिके धारक समस्त शास्त्रविषयोंके पारंगत थे और कामदेवको जीतने वाले थे, इसीसे आपमें ऊँचे दर्जेके कृत-कृत्यभावको धारण करने वाले योगियोंने आपको ठीक ही 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है।

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि र्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजल-संस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ —श्र० शि० नं० १०८

जो अद्वितीय औषध-ऋद्धिके धारक थे, विदेह-स्थित जिनेन्द्र भगवानके दर्शनसे जिनका गात्र पवित्र

हो गया था और जिनके चरण-धोए जलके [illegible] सोना बन गया था, वे श्रीपूज्यपाद मुनि जयवन्त हों—अपने गुणोंसे लोक [illegible] को अलंकृत [illegible]

कवीनां तीर्थकृद्देवः [illegible] वर्ण्यते ।

विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ —आदिपुराणे [illegible]

जिनका वाङ्मय—शब्दशास्त्ररूपी व्याकरण—तीर्थ विद्वज्जनोंके [illegible] को नष्ट करने वाला है, वे देवनन्दी कवियोंके—नूतन संदर्भ रचने वालोंके—तीर्थंकर हैं, उनके विषयमें और अधिक क्या कहा जाय ?

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा ।

शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥—पार्श्वनाथचरिते, [illegible]

जिनके द्वारा—जिनके व्याकरणशास्त्रको लेकर—शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, वे देवनन्दी अचिन्त्य महिमायुक्त देव हैं और अपना हित चाहने वालोंके द्वारा सदा वन्दना किये जानेके योग्य हैं ।

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम् ।

व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः ॥ —पाण्डवपुराणे, शुभचन्द्रः

जो पूज्योंके द्वारा भी सदा पूज्यपाद हैं, व्याकरण-समुद्रको तिर गये हैं और विस्तृत सद्गुणोंके धारक हैं, वे श्री पूज्यपाद आचार्य मुझे सदा पवित्र करो—नित्य ही हृदयमें स्थित होकर पापोंसे मेरी रक्षा करो ।

अपा कुर्वन्ति यद्वाचः काय-वाक्-चित्तसंभवम् ।

कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥ —ज्ञानार्णवे, श्रीशुभचन्द्रः

जिनके वचन प्राणियोंके काय, वाक्य और मनः सम्बंधी दोषोंको दूर कर देते हैं—अर्थात् जिनके वैद्यक-शास्त्रके सम्यक् प्रयोगसे शरीरके, व्याकरणशास्त्रसे वचनके और समाधिशास्त्रसे मनके विकार दूर हो जाते हैं—उन श्रीदेवनन्दी आचार्यको नमस्कार है ।

न्यासं जैनेन्द्र संज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो-

न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।

यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपाद-

स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥ —नगरताल्लुक शि० लेख नं० ४६

जिन्होंने सकल बुधजनोंसे स्तुत 'जैनेन्द्र' नामका न्यास (व्याकरण) बनाया, पुनः पाणिनीय-व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामका न्यास लिखा तथा मनुज-समाजके लिये हितरूप वैद्यक शास्त्रकी रचना की और इन सबके बाद तत्त्वार्थसूत्रकी टीका (सर्वार्थसिद्धि) का निर्माण किया, वे राजाओंसे वन्दनीय—अथवा दुर्विनीत राजासे पूजित—स्वपर-हितकारी वचनों (ग्रन्थों) के प्रणेता और दर्शन ज्ञान-चारित्रसे परिपूर्ण श्रीपूज्यपाद स्वामी (अपने गुणोंसे) खूब ही प्रकाशमान हैं ।

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा

सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकविता जैनाभिषेकः स्वकः ।

छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-

माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥—श्रवणबेल्गोल शि० लेख नं० ४०

जिनका 'जैनेन्द्र' (व्याकरण) शब्दशास्त्रमें अपने अतुलित भागको 'सर्वार्थसिद्धि' (तत्त्वार्थटीका) सिद्धान्तमें परम निपुणताको, 'जैनाभिषेक' ऊँचे दर्जेकी कविताको, छन्दःशास्त्र बुद्धिकी सूक्ष्मता (रचनाचातुर्य) को और 'समाधिशतक' जिनकी स्वात्मस्थिति (स्थितप्रज्ञता) को संसारमें विद्वानों पर प्रकट करता है वे 'पूज्यपाद' मुनीन्द्र मुनियोंके गणोंसे पूजनीय हैं ।

हम और हमारा यह सारा संसार

[लेखक—बा० सूरजभान वकील]

उत्थानिका

कोई कोई पुरुष भाग्यको ही सब कुछ मानकर, उसके द्वारा ही सब कुछ होना स्थिर करके उसके विरुद्ध कुछ भी न हो सकनेका सिद्धान्त स्थिर कर लेते हैं और हौसला, हिम्मत, कोशिश और पुरुषार्थ सब ही को व्यर्थ समझ बैठते हैं। जिस देश या जातिमें ऐसी लहर चल जाती है वह नष्ट हो जाते हैं और गुलाम बन जाते हैं। अतः इस लेखके द्वारा इस बातके समझानेकी कोशिश की गई है कि भाग्य क्या है वह किस प्रकार बनता है, उसकी शक्ति कितनी है और उसका कार्य क्या है; संसारके जीवों और अजीव पदार्थोंके साथ प्रत्येक जीवका संयोग किस प्रकार होता है और उस संयोगका क्या असर उस जीव पर पड़ता है; वह सयोग किस प्रकार मिलाया जा सकता है, किस प्रकार रोका जा सकता है और किस प्रकार उससे लाभ उठाना या उसकी हानियोंसे बचनेकी कोशिश की जा सकती है किस प्रकार आगे के लिये अपना भाग्य उत्तम बनाया जा सकता है और किस प्रकार बने हुए खोटे भाग्यको सुधारा जा सकता है। आशा है पाठक इस लेखको आद्योपान्त पढ़कर ही इस पर अपनी मति स्थिर करेंगे और यदि उन्हें यह कथन लाभदायक तथा सबके लिये हितकारी और ज़रूरी प्रतीत हो तो हर तरहसे इसके प्रचारका यत्न करेंगे इसको सब तक पहुँचानेकी पूरी कोशिश करेंगे।

आकस्मिक घटनायें

हमारा यह सारा संसार अनन्तानन्त प्रकारके जीवों और अनन्तानन्त प्रकारके अजीव पदार्थोंसे भरा पड़ा है। सब ही जीव और अजीव अपने २ स्वभाव और शक्तिके अनुसार क्रिया करते रहते हैं, जिसका असर उनके आस पासकी चीज़ों पर पड़कर उनमें भी तरह तरहका अलटन-पलटन होता रहता है। सूरज निकलता है और छिपता है, पृथ्वी पर उसकी धूपके पड़नेसे पानीकी भाप बनकर हवामें मिल जाती है, कोई वस्तु सूखती है कोई सड़ती है। हवाके चलनेसे सूखे पत्ते, घास फूंस और धूल-मिट्टी उड़कर कहींसे कहीं जा पड़ती हैं। पानी भी बहता हुआ अपने साथ बहुत चीज़ोंको बहा ले जाता है और गला सड़ा देता है। आग भी किसी वस्तुको जलाती है, किसीको पिघलाती है, किसी को पकाती है और किसीको नर्म या कड़ी बना देती है। संसारके इन अजीव पदार्थोंमें न तो ज्ञान है और न कोई इच्छा या इरादा, न सुख दुख महसूस करनेकी शक्ति ही है; तब इनमें न तो कोई कर्मबंधन ही होता है और न इनका कोई भाग्य ही बनता है। इस कारण दूसरे पदार्थोंकी क्रियाओंसे इनमें जो अलटन पलटन हो जाता है, वह आकस्मिक या इत्तफ़ाक़िया ही कहा जाता है। जैसाकि कुछ ईंट बाज़ारसे लाकर उनमेंसे कुछसे तो रोटी बनानेका चूल्हा बना लिया, कुछसे पूजाकी वेदी और कुछसे टट्टी फिरनेका पाखाना। इस

ही प्रकार बाज़ारसे कुछ कपड़ा लाकर कुछकी टोपी, कुछ की [illegible] और कुछका कुर्ता [illegible] साफ करनेका झाड़न बना लिया। इस प्रकारके सब भेद ज़रूरत या अवसरके अनुसार आकस्मिक या इत्तफ़ाकिया ही होते रहा करते हैं। पहलेसे तो उनका कोई भाग्य बना हुआ होता ही नहीं, जिसके अनुसार यह सब घटनायें होती हों।

बेजान वस्तुओंकी क्रियाओंका असर जैसा कि अजीव पदार्थों पर होता है वैसा ही जीवों पर भी होता है। जेठ-आषाढ़के कड़ाकेकी धूपमें छोटे छोटे कीड़े मर जाते हैं, तालाबका पानी सूख जाता है, जिससे उसकी सब मछलियाँ और अन्य भी जीव मर जाते हैं। बरसातकी पूर्वी हवा चलनेसे फूलों और फलोंमें कीड़े पड़ जाते हैं, पानीके बरसनेसे अनेक प्रकारके कीड़े पैदा हो जाते है और लाखों करोड़ों मर भी जाते हैं; परन्तु जेठ आषाढमें कड़ी धूपका पड़ना, बरसातमें पूर्वी हवाका चलना और पानीका बरसना, यह सब तो उन वस्तुओंके अपने स्वभावसे ही होता रहता है, किसी जीवके भाग्यसे नहीं होता। इस वास्ते उनसे जीवों पर जो असर पड़ता है वह तो अकस्मात् ही होता है।

हवा, पानी, अग्नि आदि अजीव पदार्थोंमें तो ज्ञान नहीं, इच्छा नहीं, इरादा नहीं, इस कारण उनकी तो सब क्रियायें उनके स्वभावसे ही होती हैं, किन्तु जीवों की जो क्रियायें इच्छा और इरादेसे होती हैं उनसे भी दूसरी वस्तुओं पर ऐसे असर पड़ जाते हैं, ऐसे अलटन-पलटन हो जाते हैं जिनकी न उनको इच्छा ही होती है और न इरादा ही। जैसे कि जंगलका एक हिरण शिकारीसे अपनी जान बचानेके वास्ते अँधाधुंध दौड़ा जा रहा है, परन्तु जहाँ जहाँ उसका पैर पड़ता जाता है वहाँके पौधे घास पात और मिट्टी सब चूर चूर होते चले जा रहे हैं, छोटे छोटे जीव भी सब कुचले जारहे हैं, परन्तु उस बेचारेको तो इसका कुछ भी ध्यान नहीं है कि क्या हो रहा है। इस तरह एक आदमी गाड़ी में बैठा जा रहा है, गाड़ीके चलनेसे बेहद गर्दा उड़ता जा रहा है, जिससे उसको भी बहुत दुख हो रहा है और उस रास्ते पर चलने वाले दूसरोंको भी। गाड़ीके पहियोंकी रगड़ और बैलोंके पैरोंकी टापोंसे रास्तेमें पड़े हुए अनेक छोटे छोटे जीव भी कुचले जा रहे हैं। जिनके कुचलनेका इरादा गाड़ी वालेके मनमें बिल्कुल भी नहीं है, तब यह सब अकस्मात् ही तो होरहा है।

सब कुछ भाग्यसे ही होता रहना असंभव है

यदि यह कहा जाय कि यह सब कुछ अचानक नहीं हुआ किन्तु उन जीवोंके भाग्यसे ही हुआ तो साथ ही इसके यह भी मानना पड़ेगा कि इन जीवोंके भाग्य ही गाड़ीको खींच कर यहाँ लाये। परन्तु गाड़ी वाले पर और गाड़ीके बैलों पर सड़कके इन जीवोंके भाग्य की जबरदस्ती क्यों चली? इसका कोई भी सही जवाब न बन पड़नेसे अकस्मात् ही इनका कुचला जाना मानना पड़ता है। कसाईने गायको मारकर उसका मांस बेच, अपने बाल बच्चोंका पेट पाला, तो क्या गायके खोटे भाग्यने ही क़साईके हाथों गायके गले पर छुरा चलाया। डाकूने साहूकारके घर डाका डाल कर उसको और उसके सब घर वालोंको मारकर सब माल लूट लिया, तो क्या साहूकारका भाग्य ही डाकूको खैंच कर लाया और यह कृत्य कराया? तब तो न तो क़साईने ही कुछ पाप किया और न डाकूने ही कोई अपराध किया; बल्कि उल्टा गायके भाग्यने ही कसाई को गायके मारनेके वास्ते मजबूर किया और साहूकार का भाग्य ही बेचारे डाकूको खींचकर लाया। यदि

ऐसा ही माना जावे तब तो कोई भी किसी पापका करने वाला, अथवा अपराधी नहीं ठहरता है। तब तो राज्य का सारा प्रबन्ध, अदालत और पुलिस, धर्मशास्त्र और उपदेश सब ही व्यर्थ हो जाते हैं और बिल्कुल ही अँधा-धुंधी फैल जाती है।

यदि कोई यह कहने लगे कि सुख या दुख, जो कुछ भी मुझको होता है, वह सब मेरे ही अपने किये कर्मोंका फल या मेरे अपने भाग्यका ही कराया होता है, अकस्मात् कुछ नहीं होता। तो यह भी कहना होगा कि उम्र भर मैंने जो कुछ देखा, सूंघा, चखा, छुआ या सुना, उससे थोड़ा या बहुत दुख-सुख मुझको ज़रूर ही होता रहा है। इस वास्ते वे सब वस्तुएँ मेरे ही भाग्यसे संसारमें पैदा होती रही हैं। आज सुबह ही जिस मोटरकी गड़गड़ाहटने मुझे जगा दिया वह मेरे भाग्यसे ही चलकर उस समय यहाँ आई। उस समय मैं जाग तो गया परन्तु मुझे संदेह रहा कि सुबह हो गई या नहीं। कुछ देर पीछे ही रेलकी सीटी सुनाई दी वह सदा ६ बजे आती है, इसलिये उससे मुझे सुबह होनेका यक़ीन होगया। तब मेरा भाग्य ही मेरा संदेह दूर करनेके लिये रेलको खींचकर लाया। उस समय ठंडी हवा बड़ा आनन्द दे रही थी तब वह भी मेरे भाग्यकी ही चलाई चल रही थी। मैं उठकर जंगल को चल दिया, रास्तेमें लोगोंके घरोंसे बोलने चालनेकी आवाज़ आ रही थी। जिससे मेरा दिल बहलता था, तब उनको भी मेरे भाग्यने ही जगाकर बोलचाल करा रखी थी। रास्तेमें पेड़ों पर पक्षी तरह तरहकी बोलियाँ बोल रहे थे, जो बहुत प्यारी लगती थीं, तो उनको भी मेरे भाग्यने ही यह बोलियाँ बोलनेके वास्ते कहीं कहींसे लाकर वहाँ इकट्ठा किया था।

कुछ रोशनी हो जाने पर रास्तेके दोनों तरफ़के पेड़ भी बहुत ही सुहावने लगने लगे; तब मेरे भाग्यने ही तो वे सब पेड़ वहाँ उगाकर खड़े कर रखे थे। एक पेड़ टुंड मुंड सूखा खड़ा था, वह मुझे अच्छा नहीं लगा; तब मेरा कोई खोटा भाग्य ज़रूर था, जिसने यह सूखा पेड़ खड़ा कर रखा था। फिर जहाँ मैं टट्टी बैठा वहाँ हज़ारों डाँस मच्छर मुझे दिक़ करने लगे, उनको भी मेरा खोटा भाग्य ही खींचकर लाया था। लौटते समय रास्तेमें अनेक स्त्री पुरुष आते जाते दीख पड़े, जिनसे मन-बहलाव होता रहा; तब वे भी मेरे भाग्यके ही ज़ोरसे वहाँ आ जा रहे थे। फिर आबादीमें आकर तो ढोर-डंगरों, स्त्री पुरुषों और बूढ़े बच्चोंकी बहुतसी चहल पहल देखनेमें आई; तब यह सब दृश्य भी मेरे भाग्यने ही तो मेरे देखनेके वास्ते जुटा रखे थे। एक कुत्ता भौंक भौंक कर मुझे डराने लगा और मेरा पीछा भी करने लगा जिसको मैंने लाठीसे भगाया, उसको भी मेरे खोटे भाग्यने ही मेरे पीछे लगाया था। इसके बाद सूरज निकला तो मेरे भाग्यसे धूप फ़ैली तो मेरे भाग्यसे, फिर दिन भर जो मेरी आँखोंने देखा और कानोंने सुना, संसारके मनुष्यों और पशु पक्षियोंकी वे सब क्रियायें भी मेरे ही भाग्यसे हुईं; और केवल उस ही दिन क्या किन्तु उम्र भर जो कुछ मैंने देखा या सुना, वह सब मेरे ही भाग्यसे होता रहा, मेंह बरसा तो मेरे भाग्यसे, बादल गर्जा तो मेरे भाग्यसे, बिजली चमकी तो मेरे भाग्यसे, पर्वा-पछुवा हवा चली तो मेरे भाग्यसे, रातको अनन्तानन्त तारे निकले तो मेरे भाग्य से।

परसों रातको सोते सोते एकदम रोनेकी आवाज़ आई जिससे मैं जाग गया, मालूम हुआ कि कोई मर गया है, मैं बड़े मज़ेकी नींद सो रहा था, इस रोनेके शोरसे मेरी नींद टूट गई, तब यह भी मानना पड़ेगा

कि मेरे खोटे भाग्यसे ही पड़ौसीकी मौत हुई, जिससे रोनेका शोर उठा और मेरी नींद टूटी । मैं फिर सो गया और फिर एक भारी शोरके सबब जागना पड़ा; मालूम हुआ कि किसीके यहाँ चोरी होगई तब यह चोरी भी तो मेरे ही भाग्यने कराई जिससे शोर उठ कर मुझे जागना पड़ा । कई बार मैं देश-विदेश घूमने के लिये गया हूँ । मोटर या रेलमें सफ़र करते हुए जो भी मुसाफिर मुझे मिलते रहे हैं, उनको मेरा भाग्य ही कहीं कहींसे खींच लाकर सफ़रमें मुझे मिलाता रहा है। कोई उतरता है, कोई चढ़ता है, कोई उठता है, कोई बैठता है, कोई सोता है कोई जागता है, कोई हँसता है, कोई रोता है, कोई लड़ता है कोई झगड़ता है, यह सब कर्तव्य भी मेरा भाग्य ही उनसे मेरे दिखानेके वास्ते कराता रहा है । रेलमें बैठे हुए पहाड़-जंगल नदी नाले, बाग़ बगीचे, खेत और मकान, उनमें काम करते हुए स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, ढोर-डंगर, जंगलोंमें फिरते हुए तरह तरहके जगली जानवर और उड़ते हुए पक्षी और भी जो जो दृश्य देखनेमें आये, वे सब मेरे ही भाग्यने मेरे देखनेके वास्ते पहलेसे जुटा रक्खे थे ।

फिर जिन जिन नगरोंमें मैं घूमता फिरा हूँ, वहाँके महल, मकान और दुकान, और भी जो जो मन-मनभावनी वस्तु वहाँ देखनेमें आई, वे सब मेरे भाग्य ने ही तो वहाँ मेरे दिखानेके वास्ते पहले ही बना रखी थीं। ग़रज़ कहाँ तक कहूँ, उम्र भर जो कुछ मेरी आँखोंने देखा या कानों ने सुना, वह सब मेरे दिखाने या सुनानेके वास्ते मेरे भाग्यने ही किया और संसारके जीवों और अजीव पदार्थोंसे कराया। सच तो यह है कि बीते हुए ज़मानेकी जो जो बातें पुस्तकोंमें पढ़नेमें आईं राज पलटे, लड़ाइयाँ हुईं, रामका बनवास, सीता का हरण, रावणसे युद्ध, महाभारतकी लड़ाई, और भी तरह२ की कथा-कहानी जो पढ़नेमें आई,वे सब घटनायें मेरे भाग्यने ही तो पुराने ज़मानेंमें कराई होंगी, जिससे वे पुस्तकोंमें लिखी जावें और मेरे पढ़नेमें आवें । अब भी जो जो मामले दुनियाँमें होते हैं और समाचार पत्रों में छपकर मेरे पढ़नेमें आते हैं या लोगबागोंसे सुननेमें आते हैं वे सब मामले मेरा भाग्य ही तो दुनियाँ भरमें कराता रहता है, जिससे वे छपकर मेरे पढ़नेमें आवें या लोगोंकी जबानी सुने जावें ।

इस प्रकार यदि कोई पुरुष दुनियां भरका सारा काम अपने ही भाग्यसे होता रहना ठहराने लगे, यहाँ तक कि लाखों करोड़ों वर्ष पहले भी दुनियाका जो वृतान्त पुस्तकोंमें पढ़नेमें आता है, उसको भी अपने ही भाग्यसे हुआ बताने लगे, तो क्या उसकी यह बात मानने लायक हो सकती है, या एक मात्र पागलकी बरड़ ठहरती है ।

इस तरह तो हर एक शख्स संसारकी समस्त रचनाओं और घटनाओंके साथ अपने भाग्यका सम्बन्ध जोड़ सकता है और उन सबका अपने भाग्यसे ही होना बतला सकता है; तब किसी भी एकके भाग्यसे उन सबके होनेका कोई नियम नहीं बन सकता और न जीव अजीव पदार्थोंका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व या व्यक्तित्व ही रह सकता है ।

आकस्मिक संयोग कैसे मिल जाते हैं

कहावत प्रसिद्ध है कि एक बैलगाड़ी चली जा रही थी । धूपकी गर्मीसे बचनेके वास्ते एक कुत्ता भी उस गाड़ीके नीचे २ चलने लगा । चलते २ वह यह भूल गया कि गाड़ी अपनी ताक़तसे चल रही है और मैं अपनी ताक़तसे, न गाड़ी मेरी ताक़तसे चल रही है और न मैं गाड़ीकी ताक़तसे, किन्तु गाड़ीके

नीचे नीचे चलनेसे मेरा उसका संयोग ज़रूर हो गया है। यह सब बातें भूलकर घमंडके मारे उसके दिमाग़ में यही समा गया कि यह गाड़ी भी मेरे ही सहारे चल रही है। इस ही प्रकार संसारमें अनन्तानन्त जीव और अजीव सब अपनी २ शक्ति और स्वभावके अनुसार ही कार्य करते हैं परन्तु एक ही संसारमें उनके सब कार्य होते रहनेसे एक दूसरेसे उनको मुठभेड़ होते रहना या संयोग मिलना लाज़िमी और ज़रूरी ही है। परन्तु इस तरह यह समझ बैठना कि उन सबके वे कार्य मेरे भाग्यसे ही हो रहे हैं, बड़ी भारी भूल है।

बाज़ारमें तरह तरहके ऐसे खिलौने मिलते हैं जो चाबी देनेसे तरह तरहके खेल करने लगते हैं। कोई दौड़ता है, कोई उछलता है, कोई कूदता है, कोई घूमता है, कोई नाचता है, कोई कलाबाज़ी करता है। अगर इन सबको चाबी देकर एकदम एक कमरेमें छोड़ दिया जावे तो वे सब अपना अपना काम करते हुये एक दूसरेसे टकरा जायेंगे। जिससे कोई उथल जायेगा, कोई कार्य करनेसे रुक जायेगा, कोई उलटा पुलटा काम करने लग जायेगा, किसीकी कूक निकल जायेगी लेकिन यह सब खिलौने तो अपनी २ शक्ति और स्वभावके अनुसार ही काम कर रहे थे। एक दूसरेसे तो इनका कोई भी संबंध नहीं था। केवल एक ही कमरेमें काम करते रहनेसे, आपसमें उनकी मुठभेड़ होगई और उनका खेल बखेल होकर ऐसी उथल-पुथल हो गई जो उनके स्वभावके बिल्कुल ही विरुद्ध थी इस ही प्रकार संसारके सब ही जीव-अजीव अपनी २ शक्ति और स्वभावके अनुसार इस दुनियामें काम करते हैं, जिनकी आपसमें मुठभेड़ होजाना और उस मुठभेड़की वजहसे ही उनमें उथल-पुथल और खेल-बखेल होते रहना भी लाज़िमी और ज़रूरी ही है। ऐसी ही सब घटनायें आकस्मिक या इत्तफ़ाकिया कहलाती हैं। जो किसीके भाग्यकी कराई नहीं होती हैं।

पानीसे भरे तालाबमें ढेला मारनेसे एक गोल चक्करसा होजाता है और वह चक्कर अपने आस पासके पानीको टक्कर देकर दूसरा बड़ा चक्कर बना देता है। इसी तरह और भी बड़े बड़े चक्कर बनते बनते किनारे तक पहुँच जाते हैं। यदि इस ही बीचमें कोई दूसरा ढेला भी फेंक दिया जाय तो उसके भी चक्कर बनने लगेंगे और पहले चक्करसे टकराकर उन पहले चक्करोंको भी तोड़ने फोड़ने लगेंगे और खुद भी टूटने फूटने लगेंगे। इस ही प्रकार यदि सैंकड़ों ढेले एक दम उस तालाबमें फैंके जावें तो वे अलग अलग सैंकड़ों चक्कर बनाकर एक दूसरेसे टकरावेंगे और सब चक्कर टूट फूट कर पानीमें तहलकासा मचने लग जावेगा। यही हाल संसारके अनन्तानन्त जीवों और अजीवोंकी क्रियाओंका है, जिनके सब काम इस एकही संसारमें होते रहनेके कारण आपसमें टकराते हैं और गड़बड़ पैदा होती है।

यह सब मुठ-भेड़ या संयोग आकस्मिक या इत्तफ़ाकिया ही होता है, किसीके भाग्यका बाँधा हुआ नहीं होता है। तब ही तो सब ही जीव हानिकारक संयोगोंसे बचनेकी और लाभदायक संयोगोंको मिलानेकी कोशिश करते रहते हैं, यह ही सब जीवोंका जीवन है, इस ही में उनका सारा जीवन व्यतीत होता रहता है, इसीको हिम्मत या पुरुषार्थ कहते हैं, यही एक मात्र जीव और अजीवमें भेद है। अजीव पदार्थोंमें न हिम्मत है न इरादा, जो कुछ होता है वह उनके स्वभावसे ही होता रहता है। परन्तु जीवोंमें हिम्मत भी है और इरादा भी है। इस ही कारण वे भाग्य होनहार वा प्रकृतिके भरोसे नहीं बैठते हैं। जंगलके जीव भी खाना पानीके लिये ढूंढ भाल करते हैं, इधर उधर फिरते हैं,

धूप और बारिशसे बचनेकी कोशिश करते हैं और मारे जानेका भय होने पर दौड़-भाग कर या लड़ भिड़कर अपने बचावका भी उपाय करते हैं। मनुष्य तो बिल्कुल ही उद्यम और पुरुषार्थका पुतला है, इस ही कारण अन्य जीवोंसे ऊँचा समझा जाता है। वह पशु-पक्षियों के समान अपना खाना-पीना ढूंढता नहीं फिरता है, कुदरतसे आप ही आप जो पैदा हो जाय उस ही को काफ़ी नहीं समझता है; किन्तु स्वयं सहस्रों प्रकारकी खानेकी वस्तुएँ पैदा करता है, अनेक प्रकारके संयोग मिलाकर और पका कर उनको सुस्वादु और अपनी प्रकृतिके अनुकूल बनाता है, क्या खाना लाभदायक है और क्या हानिकारक, क्या वस्तु किस अवस्थामें खानी चाहिये और क्या नहीं, इन सब बातोंकी जाँच पड़ताल करता है, धूप हवा और पानीसे बचनेके वास्ते कपड़े बनाता है, मकान चिनता है, आग जलाता है, पंखा हिलाता है, रातको रोशनी करता है, पानीके लिये कुआ खोदता है या नल लगाता है, धरती खोदकर हज़ारों वस्तु निकाल लाता है और उनको अपने काम की बनाता है, अनेक पशु-पक्षियोंको पालकर उनसे भी अपना कार्य सिद्ध करता है, और इस तरह अनेक प्रकारके उद्यम करते रहनेमें ही सारा जीवन बिताता है। जितना जितना यह इस विषयमें उन्नति करता है जितना जितना यह संसारकी वस्तुओं पर काबू पाता जाता है उतना उतना ही बड़ा गिना जाता है। जो भाग्य या होनहारके भरोसे बैठा रहता है वह दुख उठाता है जिस देश या जिस जातिमें यह हवा चल जाती है जो भाग्यको सर्वशक्तिमान मानकर सब कुछ उस ही के द्वारा होना मान बैठते हैं वह देश या जाति मनुष्यत्वसे गिरकर पशु समान हो जाती है दूसरोंकी गुलाम बनकर खूंटेसे बाँधी जाती है या जीवनहीन हो कर ईंट पत्थरके समान निर्जीव बन जाती है।

भाग्य क्या है और वह किस तरह बनता बिगड़ता है

यह हम हर्गिज़ नहीं कहते कि अबसे पहला कोई जन्म ही नही है या जीवोंके पहले कोई कर्म ही नहीं हैं, जिनका फल इस जन्ममें न हो रहा हो या जीवोंका कोई भाग्य ही नहीं है। यह सब कुछ है; किन्तु जितना उनका फल है, जितनी उनकी शक्ति है, उतनी ही मानते हैं, उनको सर्व शक्तिमान नहीं मानते, न यह मानते हैं कि सब कुछ उन ही के द्वारा होता है। जीवके कर्म क्या हैं, उनका बंधन जीवके साथ किस प्रकार होता है, उन कर्मोंकी शक्ति क्या है और उनका काम क्या है और भाग्य क्या है, किस तरह बनता है। इन सब बातोंकी जांच करनेसे ही काम चलता है, तब ही कुछ पुरुषार्थ किया जा सकता है और पुरुष बना जा सकता है।

आजकलकी सायंसने यह बात तो भले प्रकार सिद्ध कर दी है कि संसारमें जीव या अजीव रूप जो भी पदार्थ हैं उनके उपादानका कभी नाश नहीं होता है और न नवीन उपादान पैदा ही होता है, किन्तु उनकी पर्याय, अवस्था रूप अवश्य बदलता रहता है। लकड़ी जल कर राख, कोयला या धुंआं बन जाती है, उसमें से नाश एक परमाणुका भी नहीं होता है। पानी गर्मी पाकर भाप बन जाता है और सर्दी पानेसे जमकर बर्फ़ बन जाता है। एक ही खेतमें तरह तरहके फूलों-फलों, तरकारियों और अनाजोंके पेड़-पौदे और बेलें लगी हुई हैं, जंगली झाड़ियाँ और घास फूस भी तरह २ के उगे हुए हैं। यह सब एक ही प्रकारकी मिट्टी-पानीसे परवरिश पा रहे हैं और बढ़ रहे हैं। उस ही मिट्टी

पानीसे नीमका पेड़ बढ़ रहा है और उस ही से नींबू नारंगी और आम-इमली का। भावार्थ यह है कि उस ही मिट्टी पानीके परमाणु नीमके पेड़के अन्दर जाकर नीमके पत्ते, फूल और फल बन जाते हैं और वे नारंगी के पेड़में जाकर नारंगीके फूल फल और पत्ते बन जाते हैं। फिर इन सहस्रों प्रकारकी बनस्पतिको गाय, बकरी, भैंस, खाती हैं तो उन जैसा अलग २ प्रकारका शरीर बनता रहता है और मनुष्य खाता है तो मनुष्यकी देह बन जाती है और फिर अन्तमें यह सब वनस्पति, पशु और मनुष्य मिट्टीमें मिलकर मिट्टी ही हो जाते हैं, इस प्रकार यह आश्चर्यजनक परिवर्तन अजीव पदार्थों का होता रहता है। यह चक्कर सदासे चला आता है और सदा तक चलता रहेगा।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि संसारमें दो प्रकारके पदार्थ हैं एक जीव और दूसरे अजीव। जीवों का शरीर भी अजीव पदार्थोंका ही बना होता है, इस ही कारण जीव निकल जाने पर मृतक शरीर यहीं पड़ा रहता है। जब संसारकी कोई वस्तु नवीन पैदा नहीं होती है और न नष्ट ही होती है केवल अवस्था ही बदलती रहती है, ऐसा सायंसने अटल रूप सिद्ध कर दिया है तब जीवोंकी बाबत भी यह ही मानना पड़ता है कि वे भी सदासे हैं और सदा तक रहेंगे। बेशक पर्यायका पलटना उनमें भी ज़रूर होता रहेगा। जीवकी भी एक पर्याय छूटने पर कोई दूसरी पर्याय ज़रूर हो जाती है और पहले भी उसकी कोई पर्याय ज़रूर थी जिसके छूट जाने पर उसकी यह वर्तमान पर्याय हुई है। अजीव पदार्थोंकी तरह जीवोंकी भी यह अलटन पलटन सदासे ही होता चला आ रहा है और सदा तक होता रहेगा। जीवोंकी जितनी जातियाँ संसारमें हैं जितने उनके भेद हैं उन ही में उनका यह अलटन पलटन होता रहता है।

जीवोंका शरीर तो मिट्टी-पानी आदि अजीव पदार्थोंका ही बना होता है, उसके अन्दर जो जीवात्मा होती है, उस ही में ज्ञान और राग-द्वेष, मान-माया, लोभ-क्रोध आदि भड़क, इच्छा, विषय-वासना हिम्मत हौसला, इरादा और सुख-दुखका अनुभव आदिक होता है। परन्तु यह सब बातें प्रत्येक जीवमें एक समान नहीं होती है। किसीका कैसा स्वभाव होता है और किसीका कैसा; जैसाकि कोई गाय मरखनी होती है और कोई असील। मनुष्य भी जन्मसे ही कोई किसी स्वभाव का होता है और कोई किसी स्वभावका। इससे यही सिद्ध होता है कि पहिले जन्ममें जैसा ढाँचा किसी जीवके स्वभावका बन जाता है, वही स्वभाव वह मरने पर अपने साथ लाता है।

जीव और अजीव दोनों ही पदार्थोंमें, किसी काम को करते रहनेसे, उस कामको करते रहनेकी आदत पड़ जाती है। कुम्हार चाकको डंडेसे घुमाकर छोड़ देता है, तब भी वह चाक कुछ देर तक घूमता ही रहता है। लड़के डोरा लपेटकर लट्टूको घुमाते हैं, परन्तु डोरा अलग हो जाने पर भी वह लट्टू बहुत देर तक घूमा ही करता है, पानीको हिलाने या उगलीसे घुमा देने पर वह स्वयमेव भी हिलता या घूमता रहता है। साल भर तक जो सन् संवत हम लिखते रहते हैं, नया साल लगने पर भी कुछ दिन तक वह ही सन् संवत लिखा जाता है। भाँग तम्बाकू आदि नशेकी चीज़ या मिर्च, मिठाई, खटाई आदि खाते रहनेसे उनकी आदत पड़ जाती है। ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेलोंको बराबर खेलते रहनेसे उनकी ऐसी आदत पड़ जाती है कि ज़रूरी काम छोड़कर भी खेलनेको ही जी चाहने लगता है। जिन बच्चोंके साथ ज़्यादा लाड़ होता है उनका

स्वभाव ऐसा खराब हो जाता है कि उम्रभर सुधरना मुश्किल हो जाता है। खोटी संगत का भी बड़ा असर होता है। जिस स्त्री को वेश्या बनकर कुशील जीवन बिताना पड़ता है, निर्लज्जता और मायाचार उसका स्वभाव हो जाता है। कसाई और डाकू निर्दय हो जाते हैं। पुलिस और फौजके सिपाही भी कठोर हृदय बन जाते हैं। जिनकी झूठी प्रशंसा होती रहती है उसको अपने दोष भी गुण ही दिखाई देने लगते हैं, नसीहतसे उसको चिढ़ हो जाती है, यहाँ तक कि उसके दोष बताने वालों को वह अपना बैरी समझने लग जाता है। ऐसा ही और भी सब बातोंकी बाबत समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार इस जन्ममें बने हुए हमारे स्वभावसे इस जन्ममें भी हमको सुख दुख मिलता है और अगले जन्ममें भी। मरने पर दुनियाकी कोई चीज़, जीव या अजीव, हमारे साथ नहीं जाती है। इस जन्मके हमारे सुख-दुखके सब सामान यहीं रह जाते हैं, अपनी जानमें भी ज्यादा प्यारे स्त्री, पुत्र, इष्टमित्र और धन-सम्पत्ति सब यहीं रह जाती है, यहां तक कि हमारा शरीर भी जिससे कि हमारा जीव बिल्कुलही एकमेक हो रहा था यहीं रह जाता है। इसी कारण हमारे इस शरीरमें जो आदतें पड़ गई थीं, जिनको हम अपनी ही आदतें माना करते थे, वे आदते भी शरीरके साथ यहीं रह जाती हैं। यही नहीं बल्कि जो जो याददास्त हमारे दिमाग़में इकट्ठी होती रहती थीं, वे भी दिमाग़के साथ यहीं समाप्त हो जाती हैं। परन्तु मान माया, लोभ-क्रोधादिक तरंगे जो हमारी अन्तरात्मामें उठती रहती हैं, हमारी अन्तरात्मामें उनका संस्कार या आदत पड़कर, हमारी अन्तरात्मामें उनका बंधन होकर मरने पर भी वे हमारे साथ जाती हैं। यह हमारा जीवात्मा जिस प्रकारके स्वभावोंका पुतला बन जाता है उनही अपने स्वभावोंको साथ लेकर वह मरता है और उनही को साथ लेकर वह दूसरा जन्म लेता है। यही उसका कर्मबंधन, स्वभावका ढाँचा या भाग्य है, जो वह अपने आन्तरिक भावों या नीयतोंके अनुसार सदा ही बनता रहता है।

आज जो कपड़ा हमने पहना है, वह पाँच चार दिनके बाद मैला दिखाई देने लगता है। परन्तु क्या वह उसी दिन मैला हुआ है जिस दिन मैला दिखाई देता है? नहीं, मैला तो वह उस दिन ही समयसे होना शुरू हो गया था जबसे उसको पहनने लगे थे, परन्तु शुरू २ में उसका मैलापन इतना कमती था कि दिखाई नहीं देता था, होते २ जब वह मैलापन बढ़ गया, तब दिखाई भी देने लग गया। ऐसे ही प्रत्येक समय जैसे २ भाव जीवात्माके होते हैं; बुरी या भली जैसी नीयत उसकी होती रहती है, वैसा ही रंग उस जीवात्मा पर चढ़ता रहता है। उसकी आदत या स्वभाव बनता रहता है।

भाग्य किस प्रकार सुधारा जा सकता है

अपने ही हाथों डाली इन आदतों या संस्कारोंका बिल्कुल ही ऐसा हाल होता है जैसा कि नशा पीकर पागल हुए मनुष्यका हो जाता है, वह सर्व प्रकारकी उलटी-पुलटी क्रिया करता है, बेहूदा बकता है और हानि लाभ का खयाल भूल जाता है। परन्तु चाहे कितना ही तेज़ नशा किया हो तो भी कुछ न कुछ ज्ञान उसमें बाकी जरूर रहता है तब ही तो कोई भारी खौफ सामने आने पर सारा नशा उतर जाता है और भयभीत होकर अपने बचाव का उपाय करने लगता है। किसी बड़े हाकिम आदिके सामने आ जाने पर भी नशा दूर हो जाता है। और होशकी बातें करने लग जाता है।

इस ही प्रकार बहुत बुरे कर्म-बन्धनमें फंसा हुआ जीव भी कुछ न कुछ होश ज़रूर रखता है और अपनेको सुधार सकता है।

बाह्य कारण मनुष्यके स्वभाव पर बड़ा असर डालते हैं,इन ही से उसके सोये हुए संस्कार जागते हैं। अश्लील तस्वीरें देखकर, अश्लील मज़मून पढ़कर, अश्लील स्त्रियोंकी संगतीमें बैठकर कामवासना जागृत हो जाती है। गुस्सा दिलाने वाली बातें सुनकर क्रोध उठता है। शेरकी आवाज़ सुनकर ही भय होजाता है। बहादुरीकी बातें सुनकर स्वयं अपने मनमें भी जोश आने लगता है। सुन्दर सुन्दर वस्तुओंको देखकर जी ललचाने लग जाता है। इस कारण हमको अपने भावोंको ठीक रखनेके वास्ते इस बातकी बहुत ज्यादा ज़रूरत है कि हम ऐसे ही जीवों और अजीव पदार्थोंसे संयोग मिलावें जिसमें हमारे भाव उत्तम रहें, बिगड़ने न पावें और यदि किसी कारणसे हम अपनेको बुरी संगतिसे नहीं बचा सकते हैं तो उस समय अपने मन पर ऐसा कड़ा पहरा रखें कि हमारा मन उधर लगने ही न पावे।

मनुष्यको हर वक्त ही दो ज़बरदस्त ताक़तोंका सामना करना पड़ता है। एकतो संसार भरके अनन्तानन्त जीव और अजीव जो अपने २ स्वभावके अनुसार कार्य करते रहते हैं, एक ही संसारमें हमारा और इन सबका कार्य होते रहनेसे हमसे उनकी मुठभेड़का होते रहना ज़रूरी ही है। उनमेंसे किसी समय किसीका संयोग हमको लाभदायक होता है और किसीका हानिकारक। इस वास्ते एकतो हमको हर वक्त ही इस कोशिशमें लगे रहनेकी ज़रूरत है कि संसारके जीव और अजीवोंके हानिकर संयोगोंसे अपनेको बचाते रहें और लाभदायक संयोगोंको मिलाते रहें। दूसरे, बुरा या भला जो स्वभाव हमने अपना बना लिया है, जैसा कुछ भी अपने किये कर्मोंका बंधन हमने अपने साथ बाँध लिया है, उस स्वभावके ही अनुसार न नाचते रहें, किंतु उसको ही अपने क़ाबूमें रखें और अपने ही अनुसार चलावें।

भाग्यके ही भरोसे अपनेको छोड़ देने का खोटा परिणाम

जो लोग यह कहने लगते हैं कि हमारे भाग्यने जैसा हमारा स्वभाव बना दिया है उसको हम बदल नहीं सकते। हमको तो अपने भाग्यके ही अनुसार चलना होगा, इस ही प्रकार संसारके जिन जीवों और अजीव पदार्थोंसे हमारा वास्ता पड़ता है, जो कुछ हानि लाभ होना है, जो कुछ भाग्यमें बदा है; वह तो होकर ही रहेगा, उसमें तो बाल बराबर भी फरक नहीं आ सकता है, ऐसे लोग भाग्यके भरोसे हाथ पर हाथ धरकर तो नहीं बैठते हैं। उनके स्वभावका ढाँचा, उनके शरीरकी प्रकृति, उनकी इन्द्रियोंके विषय, मान-माया, लोभ क्रोधादिक भड़क,राग और द्वेष, उनको चुपचाप तो नहीं बैठने देता है इस कारण कामतो वे कुछ न कुछ करते ही रहते है, किन्तु ऐसे नशियालेकी तरह जो नशा पीकर अपनेको सम्हालनेकी कोशिश नहीं करता है, बल्कि नशे की तरंगके मुवाफ़िक ही नाच नचानेके लिये अपनेको ढीला छोड़ देता है। ऐसे भाग्यको ही सब कुछ माननेवाले भी अपने मनकी तरंगोंके अनुसार नाच नाचते रहते हैं और कहते रहते है कि क्या करें हमारा स्वभाव ही ऐसा बना है। इस प्रकार यह लोग अपनी खोटी २ कामनाओं, खोटी २ विषय वासनाओंमें ही फंसे रहते हैं। क्रोध-मान-माया लोभ आदि जो भी जोश उठे या

भड़क पैदा हो उस ही के अनुसार करने लग जाते हैं, आगे पीछेकी कुछ सोच नहीं करते, नतीजेका कुछ भी खयाल नहीं करते। बेधड़क सब कुछ पाप करते हुए उसकी सब जिम्मेदारी दैव या भाग्यके ही सिर धरते रहते हैं। अपनेको तो निर्दोष मानते रहते हैं परन्तु दूसरे लोग छोटेसे छोटा भी जो दोष करें उसका दोषी उन ही को ठहराते हैं। दूसरोंके दोषोंका ज़िक्र कर करके उनकी बुराई खूब करते हैं और बड़े बनते रहते हैं। जिस प्रकार नशेकी तरंगमें नशेबाज या पागल अपने पागलपनमें अपनेको सारी दुनियाका राजा समझ बैठता है, हानि-लाभ समझाने वालेको मारने दौड़ता है, इस ही प्रकार ये भाग्यको सब कुछ मानने वाले भी अपनेको सबसे बड़ा समझने लगते हैं और दूसरोंको अपनेसे घटिया मानकर अपनी बड़ाई गाने और दूसरों को घटिया बतानेमें ही असीम आनन्द मानने लग जाते हैं। यह ही एक मात्र उनके जीवनका आधार हो जाता है। इस कारण जिस प्रकार नशेबाज़ नशेकी तरंगमें आपसमें एक दूसरे पर हकूमत जताते हुए, आपसमें खूब लड़ते हैं और जूतमपैजार होते हैं, इस ही प्रकार ये भाग्य पर ही निर्भर रहने वाले भी आपसमें एक दूसरे पर हकूमत जताकर और आपसमें लड़ भिड़कर ही अपना जी खुशकर लेते हैं। किन्तु जिस प्रकार नशियाला या पागल किसी होश वालेको देखकर अव्वलतो गीदड़ भभकी दिखाता है, किन्तु होश वालेकी तरफसे ज़रा भी सख्ती होने पर तुरन्त ही उसके आधीन हो जाता है और गुलाम बन जाता है, इस ही प्रकार भाग्य पर निर्भर रहने वाले भी बड़े बननेका दावा कर करके आपसमें तो खूब लड़ते हैं, किन्तु गैरकी शकल देखते ही डरकर अपना छोटा भाग्य आया समझकर चुपके से उसके गुलाम बन जाते हैं।

हमारा ज़रूरी कर्तव्य

हमको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और बुद्धि लड़ाकर जांच लेना चाहिये कि हमारे संबंधमें तीन शक्तियां काम कर रही हैं, एक तो हमारे पहले कर्म या हमारी आत्माके पहले भाव, जिनसे अब तक बुरा भला हमारी आदतें या स्वभाव बनता रहा है; जो मरने पर भी हमारे साथ जाता है और कर्म-बन्धन या हमारे स्वभावका ढाँचा, या भाग्य कहलाता है। दूसरे हमारी आत्माकी असली ताकत जो हमारे इन कर्मों या स्वभाव या भाग्यके द्वारा नष्ट होनेसे बच रही है। तीसरे संसार भरके सब ही जीव और अजीव जो अपने २ स्वभावके अनुसार इस ही संसारमें काम करते हैं, इस कारण उनसे हमारी मुठभेड़ होना लाज़मी और ज़रूरी ही है। इस कारण हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने उस आत्मिक ज्ञानके द्वारा जो हमारे कर्मोंने नष्ट नहीं कर दिया है हम अपने सचित कर्मों पर या स्वभावके ढाँचे वा भाग्य पर भी काबू रखें, उसको अपनी बुद्धिके अनुसार ही चलाते रहें और संसारके जीव अजीव पदार्थोंसे तो मुठभेड़ होती रहती है या हो सकती है उन पर भी पूरी २ दृष्टि रखें। उनमें अपने प्रतिकूलको मिलाते रहनेकी और प्रतिकूलसे बचते रहनेकी कोशिश करते रहें। यही पुरुषार्थ है जिसकी मनुष्यको हर वक्त ज़रूरत है। इस ज़रूरी पुरुषार्थके बिना तो मनुष्य मनुष्य ही नहीं है किन्तु, एक निर्जीव घासका तिनका है जो बेइख्तियार नदीमें बहा चला जाता है।

क्या स्त्रियाँ संसारकी क्षुद्र रचनाओंमें से हैं?

[लेखिका—श्री ललिताकुमारी जैन विदुषी प्रभाकर जयपुर]

एक बार मैंने किसी पुस्तकमें 'स्त्रियाँ ही अपने आपको अयोग्य समझती हैं' इस शीर्षक अथवा इससे कुछ मिलता-जुलता प्रबंध पढ़ा था। उसका सारांश यही था कि सदियोंकी दासतासे स्त्रियोंका आत्मबल और स्वाभिमान इस क़दर कुचल दिया गया है कि अब वे स्वयं अपने आपको तुच्छ, क्षुद्र और अयोग्य समझने लगी हैं। वे अपने जीवनसे घृणा करती हैं और उत्थानके मार्गमें बढ़नेके लिए अपने आपको असमर्थ समझती हैं। उनके दिलोंमें यह अन्धविश्वास कूट कूट कर भरा हुआ है कि स्त्री-जाति तिरस्कार और अपमानके लिए पैदा हुई है। उसका अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं है। वह सच-मुच पुरुषोंके पैरकी जूती है और इसीलिए स्त्री होना या तो ईश्वरका अभिशाप है या पूर्वोपार्जित पापोंकी किसी बड़ी राशिका परिणाम है।

हमारे समाजमें अधिकाँश स्त्रियाँ, अशिक्षित और बे पढ़ी हैं और उनके खयालात भी ऐसे ही बने हुए हैं। हमारे ऐसे ही विचारोंने आज हमको पददलित बना रक्खा है। जो महिलाएँ स्त्री-पर्यायको पाप कृत्योंका फल, या जघन्य और क्षुद्र समझती हैं उनको मैं स्पष्ट तौरसे बतला देना चाहती हूँ कि वे बहुत बड़ी गलती पर हैं। उनको अपने ये कायर और गन्दे विचार बिलकुल निकाल देना चाहिएँ।

स्त्री आदि शक्ति है। स्त्री शक्तिके बिना दुनियाका कोई भी काम सफल नहीं हो सकता। स्त्री सीता है, स्त्री पार्वती है, स्त्री दुर्गा है, स्त्री लक्ष्मी है, स्त्री सर-स्वती है। संसारका हरएक कार्य शक्तिसे सम्पन्न होता है और वह शक्ति स्त्री ही का स्वरूप है!

विश्वमें जो सुन्दर और सुखकर है वह स्त्री ही का प्रकारान्तर है। जहां पुरुष जाति अपने, वीरता, धीरता, गम्भीरता, काठिन्य, शौर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न है, वहां स्त्री-जाति अपने सौंदर्य, कोमलता, लावण्य, सेवा विनम्रता आदि गुणोंसे सुशोभित है। दोनों अपने अपने विशिष्ट स्वरूपोंमें समान हैं। कोई किसीसे कम या ज्यादा नहीं हैं। संसारकी रचनामें और इसकी हर एक स्थितिमें स्त्री और पुरुष का हाथ बिल्कुल बराबर है। समुद्रकी विशालता नदियोंके बल पर है फूलकी सौरभक आधार कली है। सूर्यमें ज्योति छिपी है। चांदकी शोभा चन्द्रिकासे है। मेघकी शोभा बिजलीसे है। ऊंचे ऊंचे पहाड़ चोटीके बिना खण्डहर सरीखे हैं। श्रद्धा बिना

ज्ञान भार स्वरूप है।

जमीन और आसमान, कलम और कागज, पेड़ और शाखा, उद्यान और वाटिका, फूल और पत्ती कहां तक कहें सृष्टिका कोई स्थल ऐसा नहीं है जहां स्त्री और पुरुष शक्तियाँ समान रूपसे काम न करती हों। और सब जाने दीजिये आत्माका चरम और उत्कृष्ट लक्ष्य कर्मोंका नाश करना है वह भी मुक्ति के रूपमें स्त्री ही के विशिष्ट स्वरूपमें स्थित है।

ऐसी अवस्थामें भी अगर महिलाएँ अपनी जाति को पाप कृत्योंका फल या दैवका अभिशाप समझती हैं तो यह उनकी भूल है। अगर स्त्री पर्यायमें पैदा होना पाप कृत्योंका फल और अभिशाप है तो पुरुष पर्यायमें पैदा होना कभी पुण्य कर्मोंका फल और आशीर्वाद नहीं हो सकता:क्योंकि दोनों शक्तियाँ एक होकर काम करती हैं और दोनों शक्तियाँ एक-दूसरी-शक्तिमें दूध और पानीकी तरह मिली हुई हैं। एकका बुरा होना दूसरी का बुरा होना है और एकका अच्छा होना दूसरीका अच्छा होना है। महात्माजी लिखते हैं--"अगर स्त्रियाँ ईश्वरकी क्षुद्र-हलके हर्जेकी रचनाओंमें से हैं तो आप जो उनके गर्भसे पैदा हुए हैं अवश्य ही क्षुद्र हैं।" मेरा खयाल है पुरुष जातिकी श्रेष्ठता, उत्तमता और आदर्शता पर मेरी बहिनोंको पूर्णविश्वास है और उनको स्त्री पर्यायकी हीनता और अनुत्तमतासे पुरुष जातिका भी अनुत्तम होना कभी वांछित नहीं हो सकेगा। मैं उनसे प्रार्थना पूर्वक अनुरोध करूँगी कि पुरुष-पर्यायके प्रति उनका जैसा विश्वास है वे उसे और भी मज़बूत और पक्का बनालें परन्तु साथ ही अपनी जातिका सम्मान और इज्जत करना कभी न भूलें। वरना उनकी यह धारणा बालू पर भीत खड़ी करनेके बराबर उस मनुष्यकी धारणाके समान है जो चाँदको प्रकाशका कारण मानकर चाँदनीको अंधकार का स्वरूप मानता है और सूर्यको प्रभाका अवतार मानकर उसकी किरणोंको ज्योतिविहीन समझता है।

यह तो हुई स्त्री पर्याय और पुरुष पर्यायकी समानताकी बात। अगर मैं स्पष्ट और साफ कहूँ तो किसी किसी जगह स्त्री पर्यायकी उत्कृष्टता और आदर्शके आगे पुरुष पर्याय भी कुछ नहीं है और उस समय पुरुष पर्याय स्त्री पर्यायके साथ कभी बराबरीका दावा पेश नहीं कर सकती। वह आदर्श है 'मातृत्वका आदर्श' जो पुरुष पर्यायमें ढूंढने पर भी नहीं मिल सकता और स्त्री पर्याय मिलने पर ही प्राप्त किया जा सकता है। बड़े बड़े आचार्य, ऋषि, मुनि, महात्माओं ने मातृत्वके आदर्शको महान् बतलाया है। यह मातृत्वका ही आदर्श है जिसने तीर्थंकरों जैसे महान् आत्माओंको जन्म दिया, बड़े बड़े अवतारोंको पृथ्वीतल पर पैदा किया, बड़े बड़े ऋषि-मुनियोंके लिये अपना सुख त्याग किया। प०कृष्णकान्त मालवीय लिखते हैं---

"स्त्री का सर्व श्रेष्ठ रूप माता है और सच मानो इससे मधुर, इससे सुखकर शब्द, इससे सुन्दररूप सृष्टि और संसारमें कोई दूसरा नहीं। संसारका समस्त त्याग, संसारका समस्त प्रेम, संसारकी सर्व श्रेष्ट सेवा, संसारकी सर्व श्रेष्ट उदारता एक माता शब्दमें छिपी पड़ी है।"

एक अज्ञात महापुरुष लिखते हैं—

"हे माता! तुम स्वर्गकी देवी हो, तुम मृत्यु लोकमें मनुष्योंका कल्याण करनेके हेतु माताके रूपमें अवतीर्ण हुई हो। सब लोग तुम्हारे अनन्त उपकारों के ऋणी हैं। तुम्हारे ऋणको कौन चुका सकता है?

हे माता ! भगवानसे हमारी यही याचना है कि वे हमें ऐसी शक्ति दें कि जिससे हम तुम्हारी सेवामें अपने इस जीवनको अर्पण कर सकें और भक्तिके आँसुओंके जलसे तुम्हारे चरणोंका चिरकाल तक प्रक्षालन करते रहें।"

'जननी जीवनसे'

एक संस्कृत कवि लिखते हैं :—

"जननी परमाराध्या जननी परमागतिः ।
जननी देवता साक्षात् जननी परमोगुरुः ॥
या कर्त्री परयात्री च जननी जीवनस्य नः ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

'जननी जीवनसे'

मातृत्वके आदर्शकी प्रशंसामें ग्रंथ भरे पड़े हैं। सदियां चली जायें और उसका वर्णन समाप्त नहीं हो। क्या कोई ऐसा ज्ञानी, ध्यानी, महात्मा, नारायण, चक्रवर्ती, बलभद्र, राजसे रंक अमीर, गरीब, बड़ेसे बड़ा और छोटेसे छोटा व्यक्ति है जो माताके उपकारके भार से न दबा जा रहा हो और क्या वह उसके किये हुए उपकारका बदला वापस देनेका सैंकड़ो जन्मोंमें भी साहसकर सकता है ? ऐसी अवस्थामें अगर कोई व्यक्ति चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, शिक्षित हो या अशिक्षित उस स्त्रीपर्यायको नीच और जघन्य समझता है जिसमें मातृत्व जैसा सर्वोत्कृष्ट आदर्श विद्यमान है तो यह उसकी क्षुद्रता है और कृतघ्नता है और स्वयं स्त्रियों का तो यह समझना बहुत ही अपमान, लज्जा और कायरताका विषय है।

लोगोंकी इस धारणाने कि स्त्री जाति पुरुष जातिके लिये पैदा की गई है और वह उसके भोगनेकी एक चीज़ है मनुष्य जातिका बहुत बड़ा अनिष्ट किया है। कारण, इस तरह पुरुषोंने स्त्रियोंको अपनी एक जायदाद और दूध देने वाली गाय-भैंसोंके समान समझा और इसीके अनुसार उनको एकने दूसरेसे छीननेकी कोशिश की। इस कोशिशमें बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुईं, मारकाटें हुईं, खूनके तालाब बहे और संसार सुखका स्थल न रह कर दुःख दारिद्रय, क्लेश, अशान्ति, व्याकुलता और हज़ारों ही विपदाओंका केन्द्र बन गया ! खेद है कि यह अवस्था अब तक भी वैसी ही चली आरही है। पुरुषोंने स्त्रियोंको जन्म दिया या स्त्रियोंने पुरुषोंको जन्म दिया ? यदि इस प्रश्न पर ज़रा भी विचार किया जाय तो यही निर्णीत होना चाहिये कि स्त्रियोंने पुरुषों को जन्म दिया और भारीसे भारी विपदाएं झेलकर उनका पालन किया। ऐसी हालतमें भी यह मानना कि स्त्रियाँ पुरुषोंके लिये पैदाकी गई हैं कितना बेढंगा और हास्यास्पद खयाल है। इसलिये जैसे हम यह बड़ी आसानीसे मान लेते है कि स्त्रियाँ पुरुषोंके लिये पैदा की गई हैं वैसे यह भी क्यों नहीं मानलें कि पुरुष स्त्रियों के लिये पैदा किये गये हैं। यद्यपि अनुभव और बुद्धिसे ठहरेगा तो यही कि दोनोंको दोनोंने पैदा किया और दोनों दोनोंके लिये पेदा हुये हैं। जैसे पुरुषोंको अपने उद्देश्य की सिद्धिके लिये स्त्रियोंकी आवश्यकता है वैसे स्त्रियों को अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पुरुषोंकी आवश्यकता है। दोनों अपने जीवनकी उत्कृष्टता प्राप्त कर सकें दोनों अपने जीवनको सार्थक और सफल बना सकें, दोनों अपने जीवनमें महान् आदर्श उपस्थित कर सकें, इसीलिये एक दूसरेका जन्म हुआ। ऐसी हालतमें यह समझना भयंकर भूल है कि स्त्रियाँ पुरुषोंकी गुलाम हैं, दासी हैं, सेविका हैं और उनके ऐशो-आराम और सांसारिक क्षुद्र सुखोपभोगके लिये पैदा हुई हैं।

दीपक के प्रति

तुम अन्धकार को हरने,
जीवन-घट भरने आये।
या इस निराश जीवन में,
आशा के झरने लाये ॥
प्रेमी पर बलि हो जाना,
परवानों को सिखलाया।
सच्चा गुरू बन कर पहले;
तन अपना अहो जलाया ॥

तुम धीर तपस्वी बनकर,
चुपचाप जले जाते हो।
या मूल्य मूक सेवा का,
सचमुच तुम प्रगटाते हो ॥
किस्मत में तेरी दीपक,
क्या जलना ही जलना है।
या पर हित जलने में ही—
सुख का अनुभव करना है ॥

सूरज को तुमसे ज्यादह,
तेजस्वी कैसे मानें।
वह अन्त तेज का, तुमको,
प्रारम्भ तेज का जानें ॥
यदि मौत खड़ी हो आगे,
क्या बात भला है ग़म की।
देखो, इस दीप-शिखा को,
जलकर सोने सी चमकी ॥

परहित सर्वस्व लुटाते,
जग कहता तुम्हें दिवाना।
पर तुमने ही रातों को—
है दिवस बनाना जाना ॥
दीपक की नहीं शिखा यह,
है बीज क्रांति का प्यारा।
जो बढ़कर जला सकेगा,
जुल्मों का जङ्गल सारा ॥

प्याले का मधु पी करके,
तुम हँसते अजब हँसी हो।
कैसे हँसना है भाता?
जब देह कहीं झुलसी हो ॥
"विघ्नों की आँधी में भी,
हँसना सीखो तुम प्राणी।"
यह शिक्षा देते सब को,
दीपक! तुम पूरे ज्ञानी ॥

है तेल जहाँ तक बाक़ी,
तब तक तुम जले चलोगे।
तनमें ताक़त है जब तक,
परहित में बढ़े चलोगे ॥
आँधी का झोंका आकर,
चाहे तो तुम्हें बुझादे।
पर जीते हुए तुम्हारे,
प्रण को कैसे तुड़वादे ॥

र०—श्री रामकुमार 'स्नातक'

हे दीपदेव! भारत के आँगन में खुलकर चमको।
जीने, मरने का सच्चा कुछ भेद बतादो हमको ॥
हम अपने लघु जीवन का कुछ मूल्य आँकना सीखें।
मरने में जीवन-झाँकी का दृश्य झाँकना सीखें ॥

'दीपकसे'

आत्मोद्धार-विचार

[ले०—श्री० अमृतलाल चंचल]

शिष्यने कहा "गुरुदेव ! लाखों करोड़ों वर्ष होगये मुझे इस संसार-सागरमें अवरत भटकते और गोते खाते हुए ! अब तो कृपाकर कोई ऐसा मार्ग बताइये, जिसका अवलम्बन कर मैं इस जन्म-मरणके विकराल बंधनसे मुक्ति पा सकूँ—छुटकारा पा सकूँ !" परमदयालु जगत-हितकारी श्री गुरु कहते हैं—

सद्गुरु कहे स्वस्वरूपना जाण,
पठशे तारुं जन्म टलशे ए प्रमाण।
तारा जन्म-मरण नो कागल फाटे,
सद्गुरु वचने विश्वास सखे ए माटे।

अर्थात हे मुमुक्षु ! तू अपना स्वतः का रूप जान, अर्थात मैं स्वयं सच्चिदानन्द रूप हूँ, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि इन सबका साक्षी ऐसा प्रत्यगात्मा हूँ; देहान्द्रियादिक जितनी ये बाह्य वस्तुएँ हैं, उनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; देहका वर्णाश्रमादिक धर्म व इन्द्रियोंका आंध्यबधिरतादिक धर्म ये दोनों ही मेरे स्वरूपसे पूर्ण असम्बन्धित बातें हैं; मैं तो केवल शुद्ध चैतन्य रूप हूँ, ऐसा ज्ञान जिस समय भी तुझमें पूर्णरूपेण दृढ़ हो जायगा, तू उसी वक्त जन्म-मरणके पाशसे छुटकारा पाकर स्वयं ज्योतिर्मय रूप परम-ब्रह्म परमात्मा हो जायगा। मनुष्य को भव भवमें भटकाने वाले हेतु उसके द्वारा उपार्जित उसके अशुभ कर्म ही हैं। जिस समय तू सद्गुरुके वचनों पर विश्वास करके 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'मैं स्वयं ब्रह्मरूप हूँ' ऐसा ध्यान करेगा, तेरे आत्मासे अशुभ कर्मोंकी बेड़ी कट जायगी; तेरी जन्म-मरणको देने वाली ललाट-पत्रिकाके चिन्दे चिन्दे हो जायेंगे और तू उसी समय संसार सिन्धुसे पार होकर जीवन-मरण से मुक्त हो जायगा।

वास्तवमें आत्म-चिन्तवन या आत्म-श्रद्धान ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका आश्रय लेकर मनुष्य इस अगाध-संसार-सागरसे पार हो सकता है। क्यों ? इसीलिये कि जिसे हम परमात्मा कहते हैं, वह हमारे आत्मा ही का एक दूसरा रूप है। हमने अपने स्वरूपको न जाना, इससे हम 'हम' बने रहे और परमात्मा जान गया इससे वह 'परमात्मा' हो गया। परमात्मा बैठे थे, एक अल्हड़ पूछ बैठा—आखिर हममें और तुममें भेद किस बात का है जो हम तो साधारण मनुष्य बने रहे और आप परमात्मा बन बैठे ? परमेश्वर ने कहा—

तुम्हारे और मेरे में न कुछ भी भेद है बाबा !
न जाना भेद बस तुमने यही इक खेद है बाबा।

यही बात है ! हम संसारके माया मोह और विषय कषायोंमें इस तरह फँसे हुए हैं कि हम अपने शरीर को ही अपना आत्मा मान बैठे हैं

और दिन रात उसीकी सेवा-शुश्रुषा किया करते हैं। इससे हमारे आत्माको मिथ्यात्वका बंध होता है और यही मिथ्यात्व उसे अपना स्वरूप जानने देनेमें प्रतिपल बाधक होता रहता है। एक तो हुई यह बात, दूसरे हमारा आत्मा, जो स्फटिक मणि के समान शुभ्र और स्वर्गकी नदीके जलके समान पवित्र है, अनादि कर्म मलसे मलिन और उसके मोटे पटलसे इस तरह आच्छादित हो रहा है कि उसके दर्पणमें हमें अपना स्वरूप बिल्कुल भी नहीं दिखाई देता है, वरना, जो परमात्मा है वही हम हैं और जो हम हैं, वही परमात्मा है। परमात्मा ज्ञानका भंडार है; हम भी अतुल ज्ञानके समुद्र हैं, परमात्मा शक्तिका खजाना है, हम भी असीम वीर्यके निधान हैं, अजर, अमर, अविनाशी है, हम भी जरा, जन्म और मरण रहित शुद्ध बुद्ध परमात्मा हैं, पर इतना होने पर भी हम कुछ नहीं हैं और अगर हैं भी तो एक जघन्यतम श्रेणीके बहिरात्मा। ख्वाजा हाफिज़ कहते हैं—

फाश मी गोयमो अज़ गुफ्त-ए-खुद दिल शादम।
बंदा-ए-इश्क मो अज़ हर दो जहां आज़ादम॥
कौकबे—बख़्त मरा हेच मुनज्जिम न शिनाख़्त।
या रब! अज़ मादरे-गेती बचेः ताला ज़ादम॥
तायरे-गुलशने—कुदसुम चे दिहम शर्हे-फ़िराक़।
कि दरीं दामे-गहे-हादसा चूँ उफ्तादम॥

(मैं खुल्लमखुल्ला कहता हूँ और अपने इस कथनसे प्रसन्न हूँ कि मैं इश्कका बन्दा हूँ और साथ ही लोक और परलोक दोनोंके बंधनोंसे मुक्त हूँ। मेरी जन्मपत्रीके ग्रहोंका फल कोई भी ज्योतिषी न बता सका। हे ईश्वर! सृष्टि माताने मुझे कैसे गृहोंमें उत्पन्न किया है! मैं स्वर्गके उद्यानका पक्षी हूँ! मैं अपने वियोगका हाल क्या बताऊँ कि मैं इस मृत्युलोकके जालमें कैसे आ फँसा!!)

जैसे ही हमारा यह आत्मा अपनी आत्मनिधिकी सुध पाकर, धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाग्निके बलसे "मैं ही ब्रह्म हूँ—मैं ही शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाव, प्रकृत, अदृश्य, सर्वान्तवर्ती, अद्वितीय आनन्दसागर, निराकार और निर्विकल्प परमात्मा हूँ," इस तरहके ध्यानमें आरूढ़ हो जायेगा, हमारे समस्त कर्म मल क्षय हो जायेंगे, हमारी सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जायेंगी और तैसे ही हम स्वच्छ तथा निर्मल स्थितिको प्राप्तकर परमानन्द परमात्मा हो जायेंगे।

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्व मचिरादिव धातुभेदाः॥

—श्रीमद्कुमुदचन्द्राचार्य

आत्माके स्वरूपका चिन्तवन ही परमात्माका एकमात्र जगतप्रसिद्ध आराधन है। श्रीपूज्यपाद स्वामी 'समाधितंत्र'में कहते हैं—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनः।

"सर्व इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंमें जाते हुए रोक कर स्थिरीभूत मनसे क्षणमात्र भी अनुभव करने वालेके जो स्वरूप झलकता है, सो ही परमात्माका स्वरूप है।" इससे पता चलता है

कि परमात्मा और आत्मामें सिर्फ नाम मात्रका—दृष्टि मात्रका फर्क है। बक़ौल नाथ मा०—

इक नज़र का है बदलना, और इस जा कुछ नहीं।
दरमियाने—मौजो क़तरा ग़ैरे—दरिया कुछ नहीं।

'यहाँ और कुछ नहीं, केवल एक दृष्टि-मात्रका बदलना है। बूंद और लहरमें कोई भेद नहीं, दोनों नदीसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं।"

प्रातः स्मरणीय आचार्य देवसेनजी 'तत्त्वसार' में अपने शुद्धस्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं—

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइ जरा मरणं वि य णिरंजणो सो अहं भणिओ॥१६॥
णत्थि कलासंठाणं मग्गणगुणठाणजीवठाणाणि।
णय लद्धिबंधठाणा णोदयठाणाइया केई॥२०॥
फास रस-रूव-गंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयण भावो णिरंजणो सो अहं भणिओ॥२१॥
मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमोबंभो मुणेयव्वो॥२६॥
णोकम्म कम्म रहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सोह सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबोक॥२७॥
सिद्धोहं सुद्धोहं अणन्तणाणाइगुणसमिद्धोह।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य॥२८॥

जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्या है, न जन्म है, न जरा है, न मरण है, वही निरंजन कहा गया है, सोही मैं हूँ। १६।

न जिसके औदारिकादि पाँच शरीर हैं; न समचतुरसादि ६ संस्थान हैं; न गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणा हैं; न मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थान हैं; न जीवस्थान अर्थात एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमास हैं; न कर्मोंके क्षयोपशमसे होने वाले लब्धिस्थान हैं, न कर्मोंके बंधस्थान हैं; न कोई उदयस्थान है; न जिसके कोई स्पर्श, रस गंध, वर्ण शब्द आदि हैं, परन्तु जो चैतन्य स्वरूप है सो ही निरंजन मैं हूँ। २०। २१।

कर्मादि मलसे रहित ज्ञानमयी सिद्ध भगवान जैसे सिद्ध क्षेत्रमें निवास करते हैं, वैसे ही मेरी देह में स्थित परमब्रह्मको समझना चाहिए। २६।

जो नो कर्म और कर्मसे रहित, केवलज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण शुद्ध, अविनाशी, एक, आलम्बन-रहित, स्वाधीन, सिद्ध भगवान हैं, सो ही मैं हूँ। २७

मैं ही सिद्ध हूँ, शुद्ध हूं, अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण हूँ, अमूर्तीक हूँ, नित्य हूँ, असख्यातप्रदेशी हूँ और देहप्रमाण हूँ, इस तरह अपनी आत्माको सिद्धके समान वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा जानना चाहिये। २८।

अब जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और इस अवस्था को प्राप्त करना, अर्थात् परमात्मा बनना ही सब आत्माओंका अभीष्ट है तब आत्मस्वरूपका ही चिन्तवन करना हमारा एक मात्र कर्तव्य है। पूज्यपाद स्वामीजी कहते हैं—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयो पास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः॥

अर्थात् जो कोई प्रसिद्ध उत्कृष्ट आत्मा या परमात्मा है वह ही मैं हूँ तथा जो कोई स्वसंवेदन-गोचर मैं आत्मा हूँ सो ही परमात्मा है, इसलिये जब कि परमात्मा और मैं एक ही हूँ, तब मेरे द्वारा मैं ही आराधन योग्य हूँ, कोई दूसरा नहीं।

हैदराबाद निवासी ब्रह्मनिष्ठ श्रीराम गुरु कहते हैं—

जेने तुं कहे छे देव, ते तुं चैतन्य स्वयमेव।
बीजो देव माने जे कोई, एज बन्धन तेने होई॥

अर्थात जिसको तू देव, चैतन्य, स्वयंप्रकाश आदि नाना नामोंसे पुकारता है, वह चैतन्यरूप देव तू स्वयं ही है। चैतन्य रूप देव तो मेरे आत्मा के सिवा कोई दूसरा ही है, ऐसा जो कोई मानता है, वह अज्ञानका बंदी होता है, ऐसा समझना चाहिये।

श्रीमद्गुरु तारण तरण स्वामीजी महाराज भी अपने 'पण्डित पूजा' नामक ग्रंथमें कहते हैं—

आतम ही है देव निरंजन,
आतम ही सद्गुण माई।
आतम तीर्थ धर्म आतम ही
तीर्थ आत्म ही सुखदाई।
आतमके पवित्र जलसे ही,
करना अवगाहन सुखधाम
यही एक गुरु, देव, धर्म, श्रुत
और तीर्थको सतत प्रणाम।

—हिन्दी टीका 'तारनत्रिवेणी'

ग्रंथश्रेष्ठ श्री बृहदारण्यकोपनिषद्, आत्मा क्या है और उसका क्या महत्व है, इस विषय पर बड़ी सूक्ष्मतासे विवेचन करता है। एक स्थल पर वह कहता है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्याविज्ञाने नेदं सर्वं विदितम्।

अर्थात् हे मैत्रेयी! आत्मा ही देखने, सुनने, भजन और निदिध्यास करने योग्य है, जिसे देखने, सुनने, समझने और अनुभव करनेसे सब कुछ जाना जाता है।

अब प्रश्न होता है कि हम अपने आत्माका चिन्तवन किस तरहसे करें, क्योंकि न तो हमें आत्मा दिखाई ही देता है और कहते हैं कि न उसका कुछ रूप ही है? यदि हम इस तरहसे चिन्तवन करते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहम्' या 'एकोऽहं निर्ममः शुद्धो' तो हममें अहंकारका-सा समावेश होता है और आत्म-साधनाकी जगह अहंकारका आना ठीक "मांजर काढून टाकलें तेथें ऊंट येऊन पडला" वाली मराठी कहावत होती है?

श्रीमद्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ श्री जयेन्द्रपुरीजी महाराज मंडलेश्वर इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं—

"साधको! भावना करो देह नहीं हूँ, एवं इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि भी नहीं हूँ; अल्प परिच्छिन्न नहीं हूं, किन्तु सर्वान्तर्यामी साक्षी ब्रह्म ही मैं हूँ। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहं' 'ॐ' इस गुरु मंत्रको हर वक्त अपने सामने रखो। इस मंत्रको एक बार समझकर अलंबुद्धि मत करो। बार बार इसके असली तत्वका अनुसंधान करो। यही भगवानकी असली पूजा है।

जैसा कि स्वामीजी बताते हैं "बार बार इसके असली तत्वका अनुसंधान करो" इस वाक्यांशसे हमें पूर्णरूपेण प्रकट होजाता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि, या ऐसे ही दूसरे पद अहंताद्योतक नहीं है, वरन उनमें कुछ महत्वपूर्ण रहस्य छिपा हुआ है। अपना आत्मचिन्तवन करते समय प्रत्येक मनुष्य

का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सिर्फ लिये हुए पदके शब्दोंके अर्थको जानने तक ही सीमित नहीं रहे, वरन् उसमें क्या रहस्य भरा हुआ है, इसका सबसे प्रथम मनन करनेका प्रयत्न करे। जैसे जैसे वह उस रहस्यकी तलीमें पहुँचता जावेगा, उसे ज्ञात होगा कि तैसे २ मैं प्रतिक्षण एक उत्तरोत्तर और अपूर्व आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ। वास्तवमें आत्म-मनन वस्तु ही ऐसी है! एक महात्मा कहते हैं—

परम ब्रह्ममें जब रत होता
मन-मधुकर मतवाला,
सत्, चित्, आनन्दसे भर उठता,
अन्तरतमका प्याला!
ज्ञानी चेतन ज्ञान-कुण्डमें,
खाता फिर फिर गोते;
महा[?]दा और अशुभ कर्मवत
पल पलमें क्षय होते।

लोग सांसारिक भ्रमजाल और मिथ्यान्धकार-में फँसकर पागल हो रहे हैं, वरना मुक्तिका एक मात्र अमोघ और सरलसे सरल साधन प्रत्येक पुरुषका आत्मा तो उसके घटसे बाहिर सिर निकाल निकालकर अपने हाथोंके इशारेसे उसको उच्च स्वरमें बुला बुला कर कह रहा है—

बयाँ ऐ शेख़! दर खुमख़ानए मा।
शराबे-खुर कि दर कौसर न बाशद!

ख्वाज़ा हाफ़िज़

(ऐ शेख़! यहां मेरे शराबख़ानेमें आ और उस मदिराका पानकर जो कि स्वर्गमें भी दुर्लभ है!)

सफेद पत्थर अथवा लाल हृदय

एक प्रसिद्ध कालेज में एक प्रख्यात प्रोफेसर रहते थे। उनके पासके नगरके मुख्य व्यक्तियोंका एक डेपूटेशन आया, किसी धर्मस्थानके आँगनमें सङ्ग-मरमर लगानेके लिए चन्दा लेने! प्रोफेसर साहेबने पूछा:—

"पहले भी काम चलता ही जा रहा है सङ्ग-मरमरकी क्या ज़रूरत है?"

डेपूटेशनने उत्तर दिया कि एक तो साधारण चबूतरेका फर्श सुन्दर मालूम नहीं होता, दूसरे जनताके पाँव खराब हो जाते हैं।

"आप पहले जनताको तो सुन्दर बना लें" प्रोफेसर साहेबने अहसास भरे शब्दोंमें कहा—"जिस जनताको धूप और वर्षामें नंगे पाँव चलना फिरना पड़ता है, जिस जनताके अनेक सदस्योंको पेट भर कर रोटी नहीं मिलती, उसकी रूखी सूखी रोटी छीन कर, हृदयोंका रक्त निचोड़ कर, आप उन्हें सफेद पत्थर सा बना रहे हैं; यदि आप मुझसे पूछते हैं तो जहाँ जहाँ संग-मरमर लगा हुआ है, उसे बेचकर उसका अनाज लेकर भूखी जनताका पेट आपको भरना चाहिए।"

(दीपकसे)

नृपतुंगका मतविचार

[लेखक—श्री एम. गोबिन्द पै]

[इस लेखके लेखक श्री एम. गोविन्द पै मद्रास प्रान्तीय दक्षिणकनाड़ा जिलान्तर्गत मंजेश्वर नगरके एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आप कनड़ी, संस्कृत तथा अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओंके पंडित हैं और पुरातत्त्व विषयके प्रेमी होनेके साथ-साथ अच्छे रिसर्चस्कॉलर हैं। जैनग्रन्थोंका भी आपने कितना ही अध्ययन किया है। 'अनेकान्त' पत्रके आप बड़े ही प्रेमी पाठक रहे हैं। एक बार इसके विषयमें आपने अपने महत्वके हृदयोद्गार संस्कृत पद्यांमें लिखकर भेजे थे, जिन्हें प्रथम वर्षके अनेकान्तकी ५वीं किरणमें प्रकट किया गया था। आपके गवेषणापूर्ण लेख अक्सर अंग्रेजी तथा कनड़ी जैसी भाषाओंके पत्रोंमें निकला करते हैं। यह लेख भी मूलतः कनड़ी भाषामें ही लिखा गया है और आजसे कोई बारह वर्ष पहले बेंगलरकी 'कर्णाटक-साहित्य-परिषत्पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। लेखक महाशयने उक्त पत्रिकामें मुद्रित लेखकी एक कापी मुझे भेट की थी और मैंने मा० वर्द्धमान हेगडेसे उसका हिन्दी अनुवाद कराया था। अनुवादमें कुछ त्रुटियां रहनेके कारण बादको प्रोफेसर ए. एन. उपाध्याय एम. ए. के सहयोगसे उनका संशोधन किया गया। इस तरह पर यह अनुवाद प्रस्तुत हुआ, जिसे 'अनेकान्त' के दूसरे वर्षमें ही पाठकों के सामने रख देनेका मेरा विचार था; परन्तु अबतक इसके लिये अवसर न मिल सका। अतः आज इसे अनेकान्तके पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जाता है। इस लेखमें विद्वानोंके लिये कितनी ही विचारकी सामग्री भरी हुई है और अनेक विवादापन्न विषय उपस्थित किये गये हैं; जैसे कि नृपतुंग नामक प्रथम अमोघवर्ष राजाका मत क्या था? वह जिनसेनादिके द्वारा जैनी हुआ था कि नहीं? राज्य छोड़ कर उसने जिनदीक्षा ली या कि नहीं? और प्रश्नोत्तररत्नमाला जैसे ग्रंथ उसीके रचे हुए हैं या किसी अन्यके? विचारके लिये विषय भी अच्छे तथा रोचक हैं। आशा है इतिहासके प्रेमी सभी विद्वान् इस लेख पर विचार करनेका कष्ट उठाएँगे और अपने विचारको—चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल—युक्तिके साथ प्रकट करनेकी ज़रूर कृपा करेंगे, जिससे लेखके मूल विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सके और वस्तुस्थितिका ठीक निर्णय हो सके। जैन विद्वानोंको इस ओर और भी अधिकताके साथ ध्यान देना चाहिये।—सम्पादक]

नृपतुंग, अमोघवर्ष, इत्यादि अनेक उपाधियों अथवा गौण नामोंसे युक्त 'सर्व' नामका राष्ट्रकूट-वंशज नरेश दिगम्बर जैनाचार्य श्री जिनसेनसूरि से जैनधर्मका उपदेश पाकर जैनी होगया, इस प्रकार बहुतसे विद्वानोंकी राय है। परन्तु इस विषयको समर्थन करने वाले सभी आधार मेरे विचारसे निर्बल मालूम पड़ते हैं। मैं अपने आक्षेपोंको सबके सामने रखता हूँ और इस

विषयमें विशेष जानने वालोंमे मेरी प्रार्थना है कि वे इस संबन्धमें विशेष तर्क-वितर्क करके यथार्थ बातका निश्चय करें।

सबसे पहिले राष्ट्रकूटवंशका संक्षिप्त परिचय दिये बिना तथा श्रीजिनसेनाचार्य और उनका समय निर्णयके संबन्धमें थोड़ा बहुत कहे बिना आगे चलने पर समझनेमें दिक्कत पड़ेगी। अतः इन दोनों विषयोंको पहिले कह कर पश्चात् इस लेखके मुख्यांश पर विचार किया जाना चाहिये।

राष्ट्रकूटवंश

इस वंशके बहुतसे राजाओंके शासनोंसे सबसे पहिले 'गोविन्द' नामक नरेश हुआ यह बात मालूम पड़ने पर भी, 'एलूर-गुफा (Caves of Ellora) के 'दशावतार-देवालय' के एक शिलालेखमें गोविन्दके पूर्वज 'दन्तिवर्म तथा 'इन्द्रराज' इन दोनोंका नाम रहनेसे * तथा प्राचीन लेखमालाके लेख नं० ६, ९, १३३, और १५६ में कही हुई वंशावलीमें भी उनके नाम रहनेसे उस दन्तिवर्मसे ही वंशावलीका दिखाना योग्य समझकर वैसा किया गया है। चूंकि इनमेंसे तीसरे 'गोविन्द' नामक नरेशने (ई० सन्. ७९४-८१४) 'मही' और 'तापी' (तापती) के मध्यवर्ती 'लाट' (या 'लाल' अर्थात् गुजरात) देशको वहाँके राजासे जीतकर उसे अपने छोटे भाई (तृतीय) 'इन्द्र' को दे दिया और उसे वहाँका राजा नियुक्त कर दिया‡। इससे यह विभक्त होकर इसकी प्रधान शाखा 'दक्षिण-राष्ट्रकूटवंश' नामसे और गौण शाखा 'गुजरात-राष्ट्रकूट' नामसे प्रसिद्ध हुई।
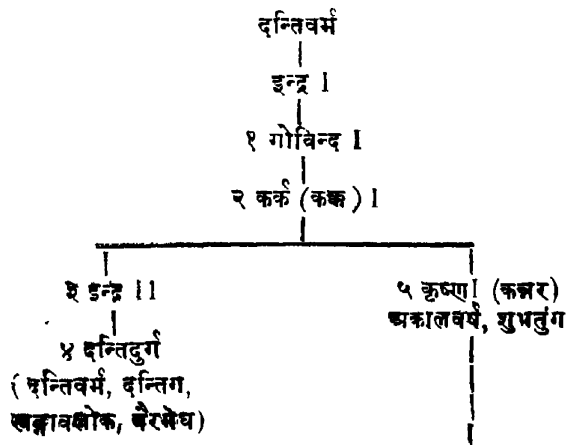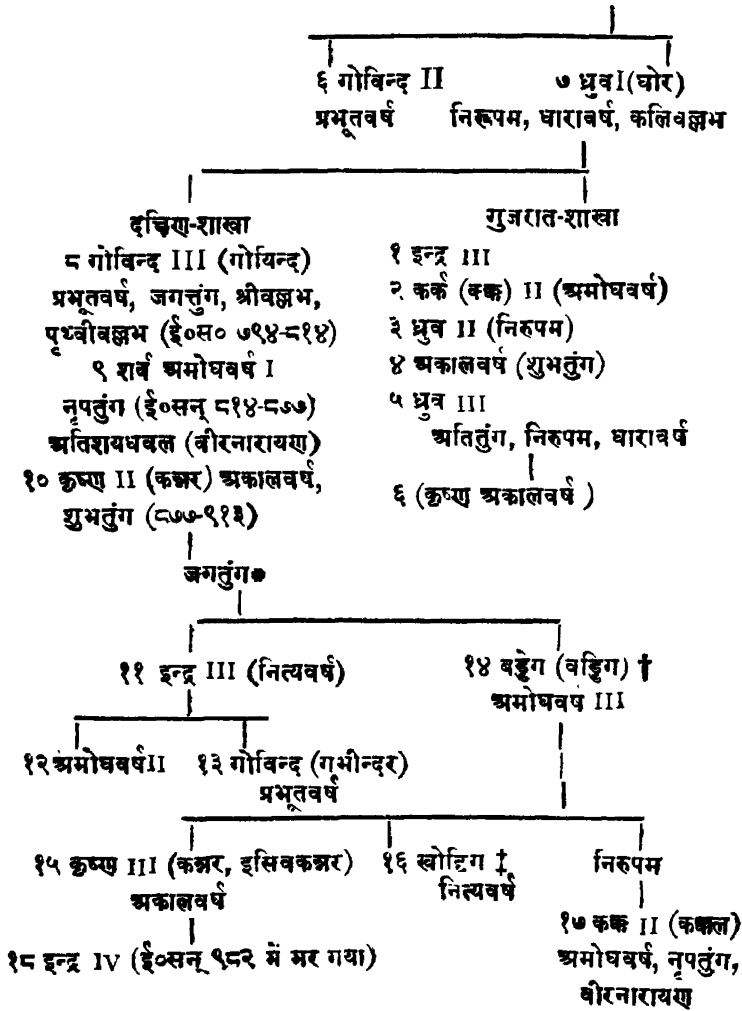
* E. H. D. Pg. 47.

‡ लाटीयं मंडलं यस्पतेव इव निजस्वामि (निजभ्रात्रा) दत्तं रराज ॥ (प्रा० ले० मा० नं० ४)

भ्राता तु तस्य (गोविन्दस्य) ......इन्द्रराजः ।

शास्ता बभूवाद्भुतकीर्तिसूतिस्तद्दत्तलाटेश्वरमंडलस्य ॥

(प्रा० ले० मा० नं० २)

* यह 'अलब्ध राज्यः सदिवं विनिन्ये······धात्रा' (प्रा०लो०मा०नं० १३३ और १२१) इस वाक्यके अनुसार पट्टाभिषेकके पहिले ही मर गया मालूम पड़ता है।

† बद्दिग (वड्डिग)-यह बहुशः कर्नाटक भाषाका नाम ही मालूम पड़ता है। "बर्देन्दु प्रौढी"। (शब्द-मणिदर्पण) से बने हुए 'बर्देग, (=प्रौढ) का रूपान्तर होगा ? 'पंप-भारत' में (१-२३ इत्यादि) 'बद्देग' यह नाम है।

‡ खोट्टिग (कोट्टिग) संभवतः कन्नड शब्द होगा। यह बहुशः 'कोट्टु' (=किरीट) से शायद 'कोट्टिग' (=किरीट) अर्थात् 'नरेश' (अथवा 'अर्जुन') इस प्रकारका अर्थ हुआ होगा।

वे राष्ट्रकूट चन्द्रवंशके यदुकुल वाले हैं, ऐसा उनके निम्न लेखोंसे मालूम पड़ता है :—

(१) ई० सन् ९३३ के शासनमें—

वंशः सोमादयं......................

वंशो बभूव भुवि सिन्धुनिभो यदूनाम् ।

(प्रा० ले० मा० नं० ६)

(२) ई० सन् ९३७ के चित्रदुर्ग नं० ७६ के शासन में—

......................यादवरातमन्वजर् ॥

यादवकुलदोलपलरूं ।

मेदिनियं सुखविलाजदरवरिं वखिवं ॥

श्रीवल्लभदन्तिगन् ....(E. C. Vol XI)

उस यदुवंशके सात्यकी वर्गके लोग ही हैं, यह बात उनके कुछ शासनोंमें पाई जाती है ।

ई० सं० ९४० के—

उद्वृत्तदैत्यकुलकवलशान्तिहेतु—

स्तत्रावतारमकरोत् पुरुषः पुराणः ॥

तद्वंशजा जगति सात्यकिवर्गभाज—

स्तुंगा इति क्षितिभुजः प्रथिता बभूवुः ॥

(प्रा० ले० मा० नं० १२६)

इसी श्लोकका उत्तरार्ध इनके ई० सं० ९५९ के शासनमें एक और रीति से इस प्रकार है—

तद्वंशजाः जगति तुंगयशः प्रभावा—

स्तुंगा इति क्षितिभुजः प्रथिता बभूवुः

(प्रा० ले० मा० नं० १३३)

इससे इन नरेशोंके नामोंमें (अर्थात् इनके गौण नामों में) 'तुंग' इस पर-पदके रहनेका क्या कारण है सो मालूम पड़ता है । इसी तरहसे इनमें से ज्यादा कम सबको 'वर्ष' इस परपदका व्यपदेश है इस पर ध्यान देना चाहिये ।

इन नरेशोंमें प्रत्येक नरेशके नामधेयोंमें तथा गौण नामोंमें एक तरहका परंपरा और क्रमबद्ध संबन्ध है यह तो भूलना नहीं चाहिये। जैसे कि इनके 'गोविन्द' नामवालेको 'जगतुंग' और 'प्रभूतवर्ष' इस प्रकारका गौण नाम है, 'कृष्ण' (कन्नर) नाम वालेको 'शुभतुंग' और 'अकालवर्ष' इस प्रकारका विशेष नाम है; 'ध्रुव' (धोर) नाम वालोंको 'निरुपम' और धारावर्ष ऐसा व्यपदेश है, 'कर्क' (कक्क) नामके व्यक्तियोंको 'नृपतुंग' और 'अमोघवर्ष' ऐसी उपाधि है ।

इस कारणसे यह एक साकूत (सार्थक) अनुमान होता है कि इस वंशावलीके, 'ध्रुव', नामक नरेशोंमें 'तुंग' यह परपदयुक्त गौण नाम नहीं देखा जानेसे* अब तक मिले हुए उनके शासनादिकोंमें वह न मिला इतना ही कह सकते हैं, परन्तु उनको 'तुंग' यह परपदान्वित नाम भी होगा, इस प्रकार कह सकते हैं † । वैसे ही हमारे इस लेखके नायक नृपतुंगके 'नृपतुंग' 'अमोघवर्ष' इस प्रकारके गौण नामोंका परिशीलन करने पर मालूम पड़ता है कि उसका नामधेय 'शर्व' इतना

* इस राष्ट्रकूटवंशके गुजरात शाखाके दूसरे 'ध्रुव' को 'अतितुंग' ऐसा नाम भी था ('शुभतुंगजोतितुंग... प्रा० ले० मा० नं० ४) । उस नामके और नरेशोंको भी वही नाम रहा होगा ।

† श्रवणबेलगुलके नं० ६७ के शासन (E.C. Vol. II) में 'राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः ।' ऐसा लेख है । इस 'साहसतुंग' नामका नरेश राष्ट्रकूट वंशीय 'दन्तिदुर्ग' होना चाहिये, ऐसा उन शासनोंके उपोद्घातमें (७४८) कहा है ।

ही नहीं किन्तु इसी उपाधियुक्त इस वंशके उभय शाखाओंके अन्य नरेशोंके सदृश इसको भी 'कर्क'(कक्क) ऐसा नाम होगा।(कर्क)यानी श्वेताश्व ('कर्कः श्वेताश्वे········--) या 'श्वेत' ऐसा अर्थ है। उसका उपाधि-अन्तर्गत 'अतिशय धवल' यह नाम भले प्रकार दिखाई देनेसे हमारा यह ऊहापोह निराधार नहीं है।

इस नृपतुंग (अमोघवर्ष) के और भी अनेक नाम या उपाधियाँ थीं, यह बात कर्नाटक 'कविराजमार्ग' से तथा इसके शासनसे भी मालूम पड़ती है:--

(१) शर्व--ई० सन् ८६७के शासनमें (प्रा०ले० मा० नं० ४)

श्रीमहाराजशर्वाख्यः ख्यातो राजाभवद्गुणैः ।
अर्थिषु यथार्थतां यः समभीष्टफलाप्तिलब्धतोषेषु ॥
वृद्धिं निनाय परमाममोघवर्षाभिधानस्य ॥

(२) नृपतुंग-- कविराजमार्ग I ४४, १४६; II. ४२, ९८, १०५; III ९८, १०७, २०७, २१९, २३० और प्राचीन लेखमाला लेख नं० १३२ और १५६ आदि।

(३) अमोघवर्ष--कविराज मार्ग III १, २१७ आदि।

(४) अतिशयधवल--क० मा० I. ५, २४, १४७; II. २७, ५३, १५१; III ११, १०६।

(५) वीरनारायण--क० मा० I १०२, III १८०। इसके नीचे दिये जाने वाले इसके समयके एक शासनमें इसे 'कीर्तिनारायण' ऐसा कहा है।

शब्दमणिदर्पणमें उद्धृत कन्द पद्यमें कहा गया नृपतुंग यही होगा तो उसे वहां 'केय्दु वोत्तरदेयं' ऐसा कहा जानेसे वह एक उसकी उपाधि मालूम पड़ती है। (शब्दमणिदर्पण Mangalore १८९९ पृ० १७१)

इन नामोंके सिवाय इसे 'नरलोकचन्द्र' (क० मा० I २३) 'नीतिनिरन्तर' (II ९१)(कृतकृत्यमल्ल-वल्लभ' (I६१) 'विजयप्रभूत' (I. १४९, II १५३, III २३६, 'सरस्वतीतीर्थावतार' III २२५) और 'प्रन्थान्त्य गद्य ऐसी उपाधियाँ थी, ऐसा मालम पड़ता है।

इस वंशके नरेशोंके शासनोंमें देवतास्तुति सम्बन्धी अवतारिकापद्य इस प्रकार हैं--

(१) सवोऽव्याद्वेधसा धाम यन्नाभिकमलं कृतम्।
हरश्च यस्य कान्तेंदुकलया कमलंकृतम् * ॥

यह हरिहर-स्तुति-सम्बन्धी श्लोक है; यह श्लोक ही इनके बहुतसे शासनोंमें मिलता है--

(२) जयन्ति ब्राह्मणः सर्गनिष्पत्तिमुदितात्मनः ।
सरस्वती कृतानन्दा मधुराः सामगीतयः ‡ ॥

(३) श्रीमरस्वत्युमाभास्वद्वक्षोसंश्लेषभूषितम् ।
भूतये भवतां भूयाद्ब्रह्मकल्पतरुत्रयम् † ॥

* प्रा० ले० मा० नं० ४, ५, ७८ और I. A. Vol XII. pp. 158, 181, 218.

दूसरी पंक्तिमें 'कम्+अलंकृतम्' इस प्रकार सन्धि कर लेना चाहिये। ('कं+शीर्षे' हेमचन्द्रका 'अनेकार्थसंग्रह' २ कम्=तवे') इस प्रकारके अनेक पद्य संस्कृत काव्योंमें हैं। माघ कविके 'शिशुपालवध' काव्यके १९ वें सर्गमें बहुतसे हैं। उदाहरणार्थ--

तस्यावदानैः समरे सहसा रोमहर्षिभिः ।
सुरैरशंसि व्योमस्थैः सह सारो महर्षिभिः ॥११॥

‡ प्रा० ले०मा० नं०१ और I. A. Vol. XII P. 249

† प्रा० ले० मा० नं०१ और I. A., P. 264.

(१) सजयति जगदुत्सवप्रवेशप्रथनपरः करपङ्कजो मुरारेः ।
जलधृतपयः कच्याकं कपमीस्तनकलशाननकस्ततिवेकः॥
जयति च गिरिजाकपोलबिम्बा-
दृधिगतपत्रविचित्रिता स भितिः ।
त्रिपुरविजयिनः प्रियोपरोधाद्धृत-
मदनाभयदानशासनेव ※ ॥

(२) नमस्तुंगशिरश्चुंबिचन्द्रचामरचारवे ।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शंभवे † ॥ इत्यादि

इनके अनेक शासनोंमें किसी प्रकारके देवता-स्तुति-सम्बन्धी अथवा अन्य शिरोलेखके बिना 'स्वस्ति' ऐसा वचन ही आरम्भमें रहकर ‡ उसके पीछे ही लेख लिखा गया है, परन्तु इनका कोई भी लेख तथा शासन जिन-स्तुति-सम्बन्धी शिरोलेखसे युक्त नहीं है। इनके पश्चात् दिया जाने वाला नृपतुंगका शासन भी 'सवोव्यात्' ऐसी हरिहर-स्तुतिसे ही प्रारम्भ होता है।

इनके शासनोंमें तथा ताम्र-पत्रोंमें भी बनाए हुए चिन्ह इस प्रकार हैं—(१) शिवकी मूर्ति (I. A. p. 156); पद्मासनसे युक्त सर्पोंको पकड़े हुए शिव (I. A.pp. 179,263); शिवलिंग और नन्दि(I. A.pp. 22, 224,255, 270); इत्यादि। इनमें पद्मासनसे युक्त और हाथसे सर्पोंको उठाए हुए शिवमूर्ति राष्ट्रकूट शासनोंमें रूढिगत लाञ्छन है, इस प्रकार विद्वानोंका अभिप्राय है (I. A. P. 179)।

※ प्रा० ले० मा० नं० १३३, १२१

† चित्रदुर्ग नं० ७१ (E.C. XI).

‡ ऐसा Epigraphia Carnatica लेखमाला इत्यादिके अनेक भागोंमें है और I. A. pp. 221, 222, 223, 224 इत्यादि।

इनमेंसे बहुतसे नरेशोंने जिनालयोंको दान भी दिया है, पर इससे इतना ही जाहिर होता है कि वे सब धर्मोंको समान दृष्टिसे देखते थे। इससे वे जैनधर्मी थे, यह बात कही नहीं जा सकती। क्योंकि इनमें तीसरे गोविन्दने 'अशेष गंगमंडलाधिराज श्रीचाकिराज' की विज्ञापनाके अनुसार ई० सन ८१३ में एक जिनेन्द्र-भवनको दान दिया है, यह बात एक शासन परसे दिखाई देती है। (I. A. pp. 13-16) उसी नरेशने ई० सन् ८०९ में वेदवेदांगनिष्णात ब्राह्मणको एक ग्राम दान दिया है, यह बात उसके एक ताम्रपत्रमें है। (Mythic Society's Journal, Vol. XIv. No. 2, P. 88); और इसी ताम्रपत्रका शिरोलेख हरिहर-स्तुति-सम्बन्धी ('सवोव्यात्' ऐसा) श्लोक तथा इसीकी मुद्राका चित्र शिवकी मूर्ति मालूम पड़ता है।

अब नृपतुंगके समयके एक शिलालेख (I.A pp. 218 219) का परिशीलन कीजिये—

स्वस्ति ॥ सवोव्याद्वेधसा धाम यन्नाभिकमलंकृतम्।
हरश्च यस्य कांतेदुकलया कमलंकृतम् ॥
....
लब्धप्रतिष्ठमचिरायकलिं सुदूर—
मुत्सार्य शुद्धचरितैर्धरणीतलस्य ॥
कृत्वा पुनः कृतयुगश्रियमप्यशेषं।
चित्रं कथं निरुपमः कलिवल्लभोऽ※भूत् ॥
....

※ यह 'निरुपम कलिवल्लभ' याने नृपतुंगका पितामह पहिला ध्रुव (धोर) नामका है।

प्रभूतवर्ष गोविन्दराज † शौर्येषु विक्रमं····जगत्तुंग इति श्रुतः ॥······अथ स कीर्तिनारायणो जगति ॥ अरिनृपतिमुकुटघट्टितचरणस्सकलभुवनवलयविदितशौर्यः। वंगांगमगधमालवचेंगीशैरर्चितोतिशयधवलः ॥

स्वस्ति समधिगतपंचमहाशब्द-महाराजाधिराज-परमेश्वरभट्टारक-चतुरुदधिवलयवालयुतसकलधरातल-प्रातिराज्यानेकमंडलिककलाकटककटिसूत्र-कुण्डलकेयूर-हाराभरणालंकृत······अमोघरामं परचक्रपंचाननं······ ···बद्दे ‡ मनोहरं अभिमानमंदिरं रट्टवंशोद्भवं गरुडलांछनं तिविळियपरे घोषणं लट्टलूरपुरपरमेश्वरं श्रीनृपतुंगनामांकित—वल्लभेन्द्रना चन्द्रादित्यरकालं बरेग महाविष्णुवराज्यंबोल् उत्तरोत्तरं राज्याभिवृद्धिसलुत्तिरे शकनृपकाला-तीतसंवत्सरंगळ एळनूर··· तोंबत्तेळनेय व्ययमेंब संवत्सरं प्रवर्तिसे श्रीमदमोघवर्ष-नृपतुंग-नामांकितना विजयराज्यप्रवर्द्धमानसंवत्सरंगळ अय्वत्तेरडं उत्तरोत्तरं राज्याभिवृद्धिसलुत्तिरे अतिशय-धवलनरेन्द्रप्रसाददिंदममोघ वर्षदेव-पदपंकजभ्रमरं ··· ज्येष्ठमासदमासेयुं आदित्यवारमागिसूर्यग्रहणवन्दु······ नामार्जुनबं बेसमे सिरिगाडनपल्लु❀ पुदिदुदु ॥

यह शालिवाहन शक के ७८७ वर्ष व्यतीत होकर ७८८ के व्यय संवत्सरके ज्येष्ठ ब० ३० सूर्य्यग्रहण दिन समाप्त होजानेको कहनेसे वह तिथि ई० सन् ८६६ के जून ता० १६ के दिन होती है। वह साल नृपतुंगका राज्य भारकालका ५२ वाँ वर्ष कहा जानेसे वह ई० स० ८१५ में गद्दी पर बैठा होगा। वैसे ही उनके अन्य शासनोंसे उसने ई० स० ८७७ तक यानी करीब ६२-६३ साल तक प्रजा-परिपालन किया, ऐसा मालूम पड़ता है। अतः इसके नामका ई० स० ८७० का शासन सोरब नं ८५ वां † इसके अन्तिम सालमें लिखा गया होगा। इतना ही नहीं उस वक्त वह सिंहासनासीन होगा, ऐसा उससे निष्पन्न होता है।

इसे गद्दी पर बैठते वक्त कमसे कम यानी १८ या २० सालका तो अवश्य होना चाहिये, इस प्रकार मानने पर इसका शासन समय समाप्तहोते वक्त इसे ८१ या ८३ वर्षसे ऊपरका होना चाहिये। इससे भी ज्यादा ही होना चाहिये न कि कम इतना कह सकते हैं। अतः इसके समयके ५२ वें वर्षके शासनमें 'सर्वोऽयात्' इस प्रकारका हरि-हर-स्तुति-सम्बन्धी शिरोलेख रहनेसे तब तक उसने जैनधर्मको ग्रहण नहीं किया ऐसा कहनेमें कोई आक्षेप नहीं दीखता। हमारे अनुमानके अनुसार तब उसका करीब ७०-७२ तक अवस्था होनी चाहिये। यह शा० श० ७९७ में (ई० सन् ८७५) गद्दी अपने पुत्रको छोड़कर राज्यकारसे निवृत हुआ, इस प्रकार श्रीमान्. के. बी. पाठक

---

† यह 'प्रभूतवर्ष' (जगत्तुंग) ऐसा गोविन्दराज नृपतुङ्गका पिता है।

‡ यह 'बद्दे' ऐसा शब्द 'बर्दु' (बर्देन्दु प्रौढि) उसीका रूपान्तर होगा ?

❀ पल्लु=बरह, यह 'पल्लु' शब्द आधुनिक कनडीमें नहीं, परन्तु तामिल, मलैयाल भाषामें सर्व-सामान्य है।

† E. C., Vol. VIII., Pt. II (स्वस्त्यमोघ-वर्षवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारका पृथवीराज्यं गेये········· शकवर्षमेळनूरतोंभतोंभतनेय संवत्सरं-प्रवर्तिसे·········॥ इस लेखमें देवता-स्तुति शिरोलेख नहीं है।

महाशयकी राय है ‡ वह कौनसे आधारसे है, यह मालूम नहीं होता। इतना ही नहीं सोरब शिलालेख नं० ८५ (ई० स० ८७७) के शासनमें इस अमोघवर्षको 'पृथिवी राज्यं गेये' ऐसा कहा जाने से वही उस समय गद्दी पर रहा होगा इस प्रकार दृढताके साथ मालूम पड़नेसे पाठक महाशयका कहना ठीक मालूम नहीं पड़ता है।

अतः ई० सन् ८७७ वें तक तो यह राज्यकार से निवृत नहीं हुआ ऐसा कहना चाहिये।

इसके पिता गोविंदके कुछ शासनोंसे ऐसा मालूम होता है कि गोविन्दके पिता ध्रुव अथवा धोरनरेश (निरुपम, धारा वर्ष, कलिवल्लभ) ने अपने पुत्रके पराक्रम पर मोहित होकर अपने जीवनकालमें ही उसे गद्दी पर बैठाकर आप राज्यकारसे निवृत होना चाहा और यह बात उसे सुनाने पर उसने उसे स्वीकार नहीं किया। आपके अधीन मैं युवराज्य ही होकर रहूँगा ऐसा कहा, इस प्रकार लिखा हुआ है ❀। अतः राष्ट्रकूटवंशीय नरेशोंमें अपने बुढापेके कारण, या पराक्रमी पुत्र की दिग्विजय आदि साहसकार्यसे खुश होकर या अपनी स्वच्छन्दतासे गद्दी छोड़नेका यह एक उदाहरण मिलता है। अतः नृपतुंग ई० सन् ८७७ के अनन्तर अपनी उम्र ८० के ऊपर समझ कर राज्यकारसे निवृत हुआ होगा तो उसने अपने विवेकसे ही ऐसा किया होगा यह कहना चाहिये। ऐसा न कहकर अपना धर्म छोड़ कर जैनधर्मी हुआ अथवा जैनधर्मी होनेसे ही उसने ऐसा किया, यह माननेका कोई कारण नहीं है।

इस वंशके लोगोंकी राजधानी 'मान्यखेट' (Malkhed) नगर है। उसे इस नृपतुंगने ही प्रथमतः अपनी राजधानी कर लिया था, इस प्रकार कीर्तिशेष डा. रा. गो. भंडारकरका कहना है (E. H. D. पृ० ५१)। 'कविराजमार्ग' के उपोद्घातमें श्रीमान् पाठक महाशयके कथनानुसार (पृ० १०) यह मान्यखेट नृपतुंगके प्रपितामह प्रथमकृष्णके कालसे ही इस वंशके लोगोंकी राजधानी था ऐसा मालूम पड़ता है। उसके पहिले उनकी राजधानी 'मयूरखंडि' (वर्तमान बंबई आधिपत्यके नासिक जिलाके 'मोरखंड') थी ऐसा जान पड़ता है। कुछ भी हो, (वर्तमान धारवाड़ जिलाके अन्तर्गत) 'बंकापुर' उनकी राजधानी नहीं थी, यह बात दृढताके साथ कही जा सकती है—

जिनसेनाचार्यकी परंपरा इस प्रकार पाई जाती है:—
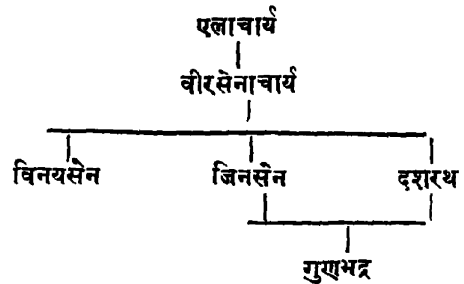
इस परंपराके संबन्धमें इन्द्रनंदिके 'श्रुतावतार' में निम्न प्रकार कहा है * :—

‡ कविराज मार्ग—उपोद्घात पृ० ६।

❀ E.A.D.P. 49-50 (Mythic Society's Journal Vol. XIV, No. 2, P. 84)

* वि० र० मा० पृ० १०,

कालेगते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७६ ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट लिलेख ॥ १७७ ॥

वीरसेनका शिष्य जिनसेन था और वीरसेन का विनयसेन नामक बड़ा शिष्य भी था, यह बात जिनसेनके ग्रन्थोंसे पाई जाती है—

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृंगः ।
श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् ॥
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण ।
काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥ पार्श्वाभ्युदय ४,७१

गुणभद्रके 'उत्तरपुराण' की प्रशस्तिमें † इस परंपराके सम्बन्धमें इस प्रकार कथन है :—

वीरसेनाग्रणी वीरसेनभट्टारको बभौ ॥ ४
मुनिरनुजिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥ ८ ॥
दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान् सधर्मा ॥ १३ ॥
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयो ‡ रासीज्जगद्विश्रुतः ॥१४॥

देवसेनाचार्यने अपने 'दर्शनसार' (ई० स० ९३४) में इस प्रकार कहा है:—

सिरिवीरसेणसिस्सो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी ॥३०
तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो ॥३१*

ये वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र दिगम्बर जैन धर्मके मूल संघके † 'सेन' संघ वाले थे, इतना ही मालूम पड़ता है; पर कौनसे 'गण' के और कौन से 'गच्छ' वाले थे सो मालूम नहीं पड़ता। ये बहुशः 'देशीगण' के होने चाहियें । ये 'पुन्नाट' गण वाले नहीं हैं, इस सम्बन्धमें जैन विद्वानोंमें अभिन्न विश्वास है ‡ ।

'पुन्नाट' इस नामका गण भी 'सेन' संघकी एक शाखा है। इसी सेन संघके पुन्नाटगण*के दूसरे 'जिनसेन' ने संस्कृतमें करीब ११००० श्लोक परिमित जैन 'हरिवंश' की रचना की है । उसे उसने शक सं० ७०५ (ई० सन ७८३) में लिख कर पूर्ण किया है । उस समय राष्ट्रकूटवंशका नरेश श्रीकृष्णराजका पुत्र श्रीवल्लभ नामका दूसरा गोविन्द गद्दी पर था, यह बात उसकी प्रशस्तिके निम्न पद्य❀से पाई जाती है—

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां ।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभेदक्षिणाम् ॥५२॥

इस हरिवंशपुराणके कर्ता जिनसेनने अपने ग्रन्थके मंगलाचरण + में वीरसेन, जिनसेनाचार्योंकी इस प्रकार प्रशंसा की है:—

---

† जै० सि० भा० १ पृ० २७

‡ 'अनयोः' इन दोनोंका अर्थात् जिनसेन और दशरथ दोनोंका शिष्य ।

* संस्कृत छाया—
श्रीवीरसेनशिष्यो जिनसेनः सकलशास्त्रविज्ञानी ॥३०॥
तस्य च शिष्यो गु'वान् गुणभद्रो दिव्यज्ञानपरिपूर्णः ॥३१

† इस मूलसंघकी शाखा इत्यादिके संबन्धमें श्रवणबेलगुलके बहुतसे शासनोंमें उल्लेख हैं ।
(E. C. Vol. II)

‡ वि० र० मा० पृ० ८

* जै. सि. भा. १, २-३ पृ. ७३
('पवित्र पुन्नाटगणकी गुर्वी')

❀ जै. सि. भा. १, २-३. पृ० ७४

+ जै. सि. भा. १, २-३ प० ६७

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥ ४० ॥
यामिताभ्युदये तस्य जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः संकीर्तयत्यसौ ॥ ४१ ॥
वर्द्धमान पुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः ।
प्रस्फुरन्ति गिरीशान्तः स्फुटस्फटिकभित्तिषु ॥ ४२ ॥

ये श्लोक 'हरिवंश' के आदि-भागमे हैं, जिस के ११००० श्लोक लिखनेमें कमसे कम ५ साल तो लगे होंगे। अतः जिनसेनने उसे शक सं० ७००(ई० सन् ७७८) में लिखना प्रारंभ किया होगा ऐसा मालूम पड़ता है। तब वीरसेन कवि-चक्रवर्ती कहलाते थे, उसके पहिले उन्होंने अनेक काव्योंकी रचना की होगी; वैसे ही उनके शिष्य जिनसेनने भी उसके पहिले संस्कृतमें 'वर्धमान-पुराण' तथा 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' * नामका काव्य लिखकर पूरा किया होगा। इस हरिवंशमें गुरु वीरसेनको 'स्वामी' कहे बिना उनके शिष्य जिनसेनको 'स्वामिनो † जिनसेनस्य' कहा जानेसे गुरु शिष्य दोनोंके जीवित रहते वक्त वैसा कहना अनुचित होगा। इस मंगलाचरणकी रचना करते वक्त वीरसेन स्वर्गवासी हो चुका होगा केवल जिनसेन मौजूद था ऐसा मालूम पड़ता है, वैसे ही उसे 'स्वामी' इस प्रकार संबोधित करनेसे वह उस वक्तका महाविद्वान् तथा बड़ा आचार्य होता हुआ प्रख्यात हुआ होगा। अतः वैसा कीर्तिवान् होनेके लिये उस कीर्तिके कारणभूत अनेक काव्योंकी उसने रचना की होगी। उस वक्त उसकी अवस्था कमसे कम २५ वर्ष तो अवश्य होगी इस से कम तो सर्वथा नहीं होगी,यह बात निश्चयपूर्वक कह सकते हैं। ऐसी अवस्थामें वह शक सं० ६७५ (ई० सन् ७५३) के पहिले ही पैदा हुआ होगा।

वीरसेनाचार्यके शिष्य हमारे जिनसेनने उपर्युक्त दो ग्रन्थोंके सिवाय * और भी अनेक संस्कृत काव्योंको लिखा है, जिनमें मुख्य

---

* इस काव्यका नाम (पार्श्वजिनेन्द्रस्तुति) है, ऐसा 'विद्वद्रत्नमाला' में (पृष्ट २६) बतलाया है, उसी का (जिनगुणस्तोत्र) नामसे 'पूर्वपुराण' की प्रस्तावनामें (पृ० ४) उल्लेख है। ('पूर्वपुराण'—न्यायतीर्थ शान्तिराज शास्त्रीका कर्नाटक अर्थसहित मुद्रण—मैसूर १९२९)

† इस जिनसेनको 'स्वामी' कहनेके लिये क्या कारण है, इस सम्बंधमें 'तत्त्वार्थसूत्रव्याख्याता स्वामीति परिपठ्यते' (नीतिसार) वचनका आधार देते हैं (वि. र. मा. पृ० २६)। पर जिनसेनने तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या ई० सन् ८३७-८३८ में लिखी है; ई० स० ७७८—७८३ के अन्दर लिखे गये 'हरिवंश' में उस कारणसे उसे 'स्वामी' ऐसा न कहा होगा; इसके अलावा उस व्याख्याको वीरसेनने लिखना प्रारंभ किया था, उसे पूर्ण करनेके पहिले ही उनका स्वर्गवास हो जानेसे उसे जिनसेनने पूर्ण किया ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसा हो तो वीरसेनको 'स्वामी' क्यों नहीं कहा ?

* ये दोनों ग्रन्थ अब तक प्राप्त नहीं।

['जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' का अभिप्राय पार्श्व जिनेन्द्र की स्तुति 'पार्श्वाभ्युदय' काव्यसे है और वह उपलब्ध है तथा सं० १९६६ में छपकर प्रकाशित भी हो चुका है। —सम्पादक]

ये हैं—

१ उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर इस जिनसेनके गुरु वीरसेनने 'जयधवला' नामकी टीका लिखनी प्रारंभ की थी, जिसकी करीब २०००० श्लोकोंकी रचना करके उनके स्वर्गवासी होने पर जिनसेनने उसमें पुन: ४०००० श्लोकोंको जोड़कर ६००००श्लोकोंसे युक्त उस ग्रन्थको पूरा किया ×। उसे पूरा करनेके समय-संबन्धमें जिनसेनने उसके अन्तमें इस प्रकार कहा है:—

इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी ।
मटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके ।
प्रवर्धमानपूजायां नन्दीश्वरमहोत्सवे ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रप्राज्यराज्यगुणोदया ।
निष्ठितप्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥
एकान्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥ †

अर्थात्—अमोघवर्ष नामक नरेशके प्राज्य (=विस्तृत) राज्य (=राज्यभार) के गुण (=प्रभाव) से उदित हुई (=पैदा हुई) वह 'जयधवला' ‡ टीका, गुर्जर (गुजराती) नरेशके शासनमें विद्यमान 'मटग्राम' नामके नगरमें शक सं० ७५९ (ई० स० ८३७—८३८) फाल्गुण शु० दशमीके दिन समाप्त हुई।

अत: इस टीकाको समाप्त करते वक्त जिनसेनकी अवस्था करीब ८४—८५ वर्षकी होनी चाहिये।

२ पार्श्वाभ्युदयकाव्य—यह कविकुलगुरु कालिदासके 'मेघदूत' काव्यके ऊपर समस्यापूर्तिके रूपमें रचा गया एक छोटासा काव्य है। इसमें जिनसेनने २३ वें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी कैवल्य-वर्णना बहुत अच्छी की है। इसमें ४ सर्ग हैं और उनमें कुल ३६४ वृत्त हैं। अन्त्यग्रन्थमें इस प्रकार कहा है:—

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्टय मेघं ।
बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यं ॥
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशांकं ।
भुवनमवतु देवस्सर्वदामोघवर्षः ॥ ४–७० ॥

इससे यह काव्य अमोघवर्ष नामके एक नरेशके समयमें रचा गया मालूम पड़ता है। इस काव्यको पढ़ते वक्त मालूम पड़ता है कि इसे कवि

× वीरसेन तथा जिनसेनने 'जयधवला' नामकी जो टीका लिखी है वह उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका नहीं है, किन्तु श्रीगुणधराचार्य-विरचित 'कसायपाहुड' (कषायप्राभृत) नामके सूत्र ग्रन्थकी टीका है। जान पड़ता है 'सूत्रार्थदर्शिनी' पद परसे लेखक महाशयको भ्रम हुआ है और उसने 'सूत्र' शब्दका अभिप्राय गलतीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र समझ लिया है। —सम्पादक

† जै० सि० भा० १, १. पृ० ४२–४३

‡ यह 'जयधवला' टीका सिद्धान्तग्रंथ कहलाती है। इसकी पूर्णप्रति अब (दक्षिण कनड जिलाके) 'मूडबिद्री' नामक स्थान पर 'सिद्धान्तमंदिर' में है। यह प्रति कुछ समयके पहिले श्रवणबेलगुलके 'सिद्धान्त-मंदिर' में थी और वहींसे 'मूडबिद्री' को ले गये, इस प्रकार श्रवणबेलगुलके शासनग्रन्थोंके उपोद्घातमें कहा है। (E.C. Vol. II Introd. P. 28

ने अपनी मध्यमावस्थामें—अर्थात् ४०-४५ वर्षके पहिले ही लिखा होगा, यह बात उसकी वर्णना वैखरी इत्यादिसे मालूम पड़ती है। इसे जिनसेनने ई० सन् ८०० से पहिले ही लिखा होगा; याने नृपतुंगके गद्दी पर आरूढ़ (ई० स० ८१५) होनेके करीब १५ (या ज्यादा) वर्षोंके पहिले लिखा होगा। (पर 'हरिवंश' में इस काव्यका ज़िक्र न आनेसे † यह ई० सन् ७७८-७८३ के पहिले नहीं बनकर पीछे लिखा गया ऐसा कहना चाहिये।) ऐसी अवस्थामें इस 'पार्श्वाभ्युदय' में कहा गया 'अमोघवर्ष' राष्ट्रकूट गुजरात-शाखाका दूसरा 'कक्क' नामका अमोघवर्ष होगा क्या? क्योंकि जिनसेनने अपनी 'जयधवला' टीकाको गुर्जरनरेश से पालित मटग्राममें लिखकर समाप्त किया है। नृपतुंगकी (या उसके पिता गोविन्दकी) राजधानी मान्यखेटमें या अन्य किसी जगहमें नहीं लिखा जानेसे जिनसेनके पोषक राष्ट्रकूट वंशज गुजरात-शाखावाले शायद होंगे, इस शंकाको स्थान मिलता है। अथवा 'पार्श्वाभ्युदय' को जिनसेनने अपनी आयुके ६० वर्ष पश्चात् स्वयं लिखा होगा तो उसमें कहा गया अमोघवर्ष इस लेखका नायक नृपतुंग ही होगा।

३ आदिपुराण (अथवा पूर्वपुराण)—यह जिनसेनका अन्तिम ग्रन्थ है। जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनके स्वर्गारोहणानंतर उनसे नहीं पूरी की गई-बची हुई 'जयधवला' टीकाको स्वयं पूर्ण करके पश्चात् आदिपुराण लिखना प्रारंभ किया यह बात वास्तविक है; ऐसी अवस्थामें इसे उसने अपनी ८४-८५ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् लिखना प्रारंभ किया होगा, पर वह इसे पूर्ण नहीं कर सका; इसके ४२ पर्व तथा ४३ वें पर्वके ३ श्लोक मात्र (याने कुल १०,३८० श्लोकोंको) लिखने पर वह जिनधामको प्राप्त हुआ। उस उन्नतावस्थामें भी १०,३८० श्लोकोंके लिखनेमें उसे १० वर्ष तो लगे होंगे। उस वक्त उनकी ९५ वर्षके करीब तो अवस्था होनी चाहिये। ऐसी अवस्थामें उनका देहावसान ई० सन् ८४८ के आगे या पीछे हुआ होगा।

४ जिनसेनके मरणानंतर उसके शिष्य गुणभद्रने इस ग्रंथमें करीब १०,००० श्लोकोंको जोड कर, करीब २०,००० श्लोक प्रमाण इस 'महापुराण' को* समाप्त किया। अपनी रचना-समाप्ति-समय के सम्बन्धमें वह उसकी प्रशस्तिमें † इस प्रकार कहता है:—

अकालवर्षभूपाले पालयत्यखिलामिलाम् ॥३२॥

... ...

श्रीमति लोकादित्ये ....॥३३॥

चेल्लपताके चेल्लध्वजानुजे चेल्लकेतनतनूजे।

जैनेन्द्रधर्मवृद्धिविधायिनि............॥३४॥

वनवासदेशमखिलं भुंजति निष्कंटकं सुखं सुचिरं।

† 'हरिवंश' में 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' रूपसे इसी काव्य ग्रंथका उल्लेख आन पड़ता है।

—सम्पादक

* इसमें 'आदिपुराण' (अथवा 'पूर्वपुराण') की कुल श्लोकसंख्या १२,०००, 'उत्तरपुराण' की संख्या ८,००० है, ये दोनों भाग मिलकर 'महापुराण' कहलाता है।

† जै० सि० भा० भाग १,० पृ २८

तन्पितृनिजनामकृते ख्याते बंकापुरे पुरेष्वधिके ॥३५॥
शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते ।
मंगलमहार्थकारिणि पिंगलनामनि समस्तजनसुखदे ॥३६

अर्थात्—राष्ट्रकूट वंशके (नृपतुंगके पुत्र) अकालवर्ष नामक दूसरे कृष्णके शासन करते वक्त (उसका सामन्त) 'चेल्लपताक' नामक लोकादित्य जैनधर्मकी अभिवृद्धि कर्ता हुआ। 'वनवास † देश पर शासन करते वक्त (उस वनवास देशमें) उस लोकादित्यके पिताके नामसे निर्मित 'बंकापुर (इस नामकी उसकी राजधानी) में शक सं०८२० (ई० स० ८९७-८) में गुणभद्रने 'उत्तरपुराण' लिखकर समाप्त किया।

क्या नृपतुंग जैन था ?

(अ) जिनसेन, गुणभद्रके काव्योंमें स्थित उल्लेख

१. नृपतुंगने जैनधर्मको स्वीकार किया, इस बातको मानने वाले उसे जिनसेनद्वारा जिनधर्ममें दीक्षित हुआ विश्वास करते हैं; उनके इस विश्वास-संबन्धमें गुणभद्रके 'उत्तरपुराण' का यह वृत्त ही अन्य आधारोंसे प्रबल आधार है ‡ इस बातको भूलना नहीं। वह वृत्त इस प्रकार है ‡—

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत् ।
पादाम्भोज रजः पिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ॥
संस्मर्ता स्वयममोघवर्षनृपतिः पूतोहमद्येत्यलं ।
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम्॥१०॥

इससे अमोघवर्षने जिनसेनको वन्दन करके अपनेको अब ही (='अद्य') धन्य माना यह बात मालूम पड़ती है, इसके सिवाय जिनसेनसे जैनधर्मावलम्बन किया या स्वधर्म छोड़कर जिनसेनका शिष्यत्व ग्रहण किया है, ऐसा अर्थ निकलता है या नहीं सो मैं नहीं जानता। इसके सिवाय उसमें 'अद्य' यह शब्द रहनेसे जिनसेन और अमोघवर्षके बीचमें एक समय परस्पर भेटका वर्णन मालूम पड़ता है, इससे ज्यादा अर्थ उसमें अनुमान करना ठीक नहीं मालूम होता है। अथवा अमोघवर्ष जिनसेनसे जैनदीक्षा लेकर उसका शिष्य हुआ होगा तो गुणभद्रने उसे स्पष्ट क्यों नहीं किया? इसी गुणभद्रने अपने 'उत्तर पुराण'में बंकापुरके लोकादित्यको 'जैनेन्द्रधर्मवृद्धि-विधायी' इस प्रकार नहीं कहा क्या ? अमोघवर्ष ने गुणभद्रके खास गुरुसे ही जैनधर्मका अवलंबन किया होगा तो उसे वैसे ही उल्लेख क्यों नहीं किया ? और अमोघवर्ष अपने गुरुका शिष्य था, तो वह अपना सधर्मी होनेसे गुणभद्रने अपने 'उत्तरपुराण'को अपने सधर्मीके पुत्र अकालवर्षके आस्थानमें या राजधानीमें अथवा उसके राज्यके किसी और स्थानमें न लिखकर उसके सामन्त राजलोकादित्यकी राजधानीमें क्यों लिखा ?

---

† बम्बई प्रान्तके उत्तर कन्नड जिलाके वनवासी।

‡ (In the Prasasti of the 'Uttarpurana') we are told that he (i. e. Nripatunga or Amoghavarsha I) became the disciple of Jinasena the well known Jaina Author, who also bears testimony to the fact in tae Parsabhyudaya) I. A. pp. 216-217 (क. मा. उपोद्घात पृ० ६)

‡ जैं०सि०भा० १, १, २७; वि०र० मा० पृ० २६.

२. नृपतुंगने ई० सन् ७९५-७९७ के अन्दर जन्म लिया होगा, वैसे ही जिनसेनने ई० सन् ७५३ से पहिले ही जन्म लिया होगा, इससे जिनसेन नृपतुंगसे उमरमें करीब ४२-४४ वर्ष बड़ा होगा। 'उत्तरपुराण' के श्लोकके अनुसार नृपतुंग-अमोघवर्षने जिनसेनको वंदन किया यह बात जिनसेनके अवसान के पहिले ही होनी चाहिये और वह ई० सन् ८४८ के पीछे होनी चाहिये। जिनसेनने अपनी 'जयधवला' टीका को ई० सन् ८३७ में पूर्ण किया उसके पहिले ही उसे अमोघवर्ष-नृपतुगने अपना गुरू बनाया होगा, तब उस कीर्तिदायि विषयको जिनसेन अपने पवित्र ग्रन्थ—उस टीका—में व्यक्त किये बिना 'अमोघवर्षराजेन्द्रप्राज्यराज्यगुणोदया' इतना ही कह सकता था क्या? अथवा अपने शिष्य अमोघवर्षकी राजधानीमें या उसके राज्यके अन्य स्थान पर उसे नहीं लिखकर 'गुर्जरार्यसे पालित' मटग्राममें उसे लिखता क्या?

३. जिनसेन के अन्तिम ग्रन्थ 'आदिपुराण' में नृपतुग-अमोघवर्षका नाम नहीं है। यदि वैसा नरेश उसका शिष्य हुआ होता तो उसका नाम जिनसेनने क्यों नहीं कहा सो समझमें नहीं आता।

४. गुणभद्रके 'उत्तरपुराण' में जिनसेनकी 'जयधवला' टीकामें तथा 'पार्श्वाभ्युदय' में 'अमोघवर्ष' ऐसा नाम देखा जाता है; राष्ट्रकूट वंशके नरेश 'शर्व' का 'शर्व' नाम तथा मुख्यतः 'अमोघवर्ष' नामसे विशेष प्रख्यात् 'नृपतुंग' ऐसे नामका बिलकुल अभाव क्यों?

'पार्श्वाभ्युदय' काव्य

इस काव्यके अन्तमें (४, ७०)—

'भुवनमवतु देवस्सर्वदामोघवर्षः ॥'

इस प्रकार सिर्फ आशीर्वाद वचन ही है। इससे यह काव्य पूर्ण करते वक्त अमोघवर्ष नामका कोई नरेश था उसे जिनसेनने अपने काव्यमें उल्लेखित किया, इतना ही मालूम पड़ता है; इससे वह अमोघवर्ष इस जिनसेन-द्वारा जैनधर्मी हुआ था—उसका शिष्य हुआ ऐसा अर्थ होता हो तो मैं नहीं जानता।

परन्तु इस काव्यकी छपी हुई प्रति (Nirnayasagara Press, Bombay: विक्रम सं० १९६६) के प्रत्येक सर्गके अन्तमें यह एक गद्य है :—

"इत्यमोघवर्षपरमेश्वर-परमगुरु-श्रीजिनसेनाचार्य-विरचित-मेघदूतवेष्टितवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्य-वर्णनं नाम (प्रथमः, द्वितीयः, तृतीयः, चतुर्थः) सर्गः॥"

इससे जिनसेन अमोघवर्ष का गुरु था यह बात मालूम पड़ती है, पर यह रचना स्वयं जिनसेन की नहीं, बहुतसे समयके पश्चात् प्रक्षिप्त हुई होगी, यह बात निम्न लिखित कारणोंसे मालूम पड़ती है:—

१. यह काव्य कालिदासके 'मेघदूत' के ऊपर समस्या-पूर्तिके रूपमें रचा गया है। 'मेघदूत' में 'पूर्वमेघ', 'उत्तरमेघ' इस प्रकार दो भाग हैं उनके अनुसार इसमें भी दो भाग होने चाहियें थे, पर इसमें वैसे न होकर केवल ४ सर्ग रक्खे गये हैं, जो न्यूनाधिक रूपमें विभाजित दिखाई देते हैं*,

* प्रथम सर्गमें ११८ पद्य, दूसरेमें ११८, तीसरेमें ५७, चौथेमें ७१, कुल पद्यसंख्या ३६४।

और यह सर्गविभाग भी कथावस्तुमें दिखाई देने वाले समन्वयके आवश्यकीय परिच्छेदोंके अनुकूल न रह कर 'मेघदूत' से समस्यापूर्तिके लिये लिया गया पाद......ठीक न रह कर कृत्रिम रूपसे किया गया मालूम पड़ता है‡। इससे जिनसेन ने यह सर्ग-विभाग नहीं किया किन्तु उससे उपरान्त के किसीने किया मालूम पड़ता है। इसके सिवाय अनर्गल रूपसे बहने वाले (३६४ पद्योंसे युक्त) इस छोटेसे कथानक में सर्ग विभक्ति की आवश्यकता क्यों हुई सो मालूम नहीं पड़ता।

२. किसी काव्यमें अनेक सर्ग हों तो उन सर्गोंके अन्तमें दिये हुए गद्यमें उस सर्गमें वर्णित विषय की सूचना देने रूपसे कहनेका रिवाज है, अथवा उन सर्गोंको कविने अन्यान्य नाम न दिया हो तो अपने काव्यमें अमुक सर्ग समाप्त हुआ कहने का रिवाज है। पर तमाम सर्गोंका नाम एक रखनेका रिवाज कहीं है क्या? इस काव्यके प्रत्येक सर्गके अन्तमें उस सर्गको 'भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम' कहा है। अपने 'आदिपुराण' के प्रत्येक सर्गमें उसकी वर्णनानुकूल पृथक् पृथक् समंजस नाम दिया हुआ होनेसे महाकवि जिनसेन द्वारा सिर्फ 'पार्श्वाभ्युदय' में इस प्रकारका दृष्टिदोष (Oversight) हो जानेकी सम्भावना नहीं है। अथवा इस 'पार्श्वाभ्युदय' को ही केवल-'भगवत्कैवल्यवर्णनं' नामांतर (इसके विषयानुसार) दिया होगा तो सर्गान्तिम गद्यमें—"पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णना प्रथमः,द्वितियः,इत्यादि) सर्गः" रहना चाहिये, जैसे है वैसे रहनेका क्या कारण है? इससे यह मालूम होता है कि प्रत्येक सर्गका अन्तिम गद्य जिनसेनका लिखा हुआ नहीं, और किसीका लिखा होगा।

३. इस 'पार्श्वाभ्युदय' के ऊपर योगिराट् पंडिताचार्यने व्याख्या लिखी है। इसने ई० सन् १३९९ मे रचे हुए 'नानार्थमाला' कोषका उल्लेख अपनी व्याख्यामे कई जगह पर किया है,इससे यह टीकाकार बहुत पीछे हुआ मालूम पड़ता है; याने जिनसेनसे करीब ५५०–६०० वर्षोंसे पीछेका व्यक्ति मालूम पड़ता है। इसने अपनी व्याख्याके प्रति सर्गके अन्तिम स्थानमें अन्य व्याख्याताकी तरह व्याख्या जिस पर लिखी गई है उस काव्य के तथा व्याख्याके नामके साथ साथ—'इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्री जिनसेनाचार्यविरचितमेघदूतवेष्टित-वेष्टिते पार्श्वभ्युदये तद्व्याख्यायां च सुबोधिन्याख्यायां भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम प्रथमः (द्वितीयः तृतीयः, चतुर्थः, सर्गः) इस प्रकार दिया है। इसमें 'पार्श्वाभ्युदय' और 'भगवत्कैवल्यवर्णनं' के बीच में इसने अपनी व्याख्या का नाम भी कहा है, अतः वह 'भगवत्कैवल्यवर्णन' विशेषवाचिको (उस काव्यका नाम तथा सर्गका नाम) इसने ही जोड़ा होगा,ऐसा व्यक्त होता है, वैसे ही अपनी व्याख्या के अन्तिम गद्यमें अनावश्यक 'अमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुजिनसेनाचार्य' इस प्रकार पुनरुक्तिदोषका भी खयाल नहीं करके जोर जोरसे

‡ (उदा०—दूसरे सर्गके आदिमें 'इतः पादवेष्टितानि', तीसरे सर्गके आदिमें 'इतोर्धवेष्टितानि', चौथे सर्गके आरंभमें 'इतः पादवेष्टितानि' इस प्रकार सूचना है। अतएव इस काव्यको सर्गरूपसे उसने ही विभाजित किया या व्याख्याताने किया, ऐसा मालूम पड़ता है।

कहनेसे मूल काव्यका सर्गान्तिम गद्य भाग भी इसके द्वारा ही जोड़ा हुआ मालूम पड़ता है। इस बातको और दृढ़ करने वाला एक और प्रबल आधार है। वह यह है:—

इस पंडिताचार्यने अपनी व्याख्यामें अपने से करीब ५५०-६०० वर्षोंके पीछे इस 'पार्श्वाभ्युदय' की उत्पत्ति-सबन्धमें इस प्रकार कहा है कि कालीदास नामका 'कश्चित्कवि' 'मेघदूत' नामक काव्यकी रचना करके,'मदोद्धुर'होता हुआ 'जिनेन्द्रांघ्रि सरोजेन्दिन्दिरोपम' * अमोघवर्षके राज्य 'बंकापुर' में आया था, और उस अमोघवर्षको—

सत्वस्य जिनसेनर्षिं विधाय परमं गुरुम्।
सद्धर्म द्योतयंस्तस्थौ पितृवत्पालयन् प्रजाः॥

इस प्रकार वर्णित किया है। साथ ही, वहाँके रहने वाले विद्वानों की निंदा करते हुये ('विदुषोवगणय्यैष') कालीदासके इस काव्यको अमोघवर्ष के सामने पढ़ने पर, उसकी विद्याहंकृति निवारण करनेके उद्देश्यसे और उसे 'सन्मर्गोद्दीप्ति' पैदा करानेकी इच्छासे अपने 'सतीर्थ्य' विनयसेनसे प्रेरित एक-पाठी जिनसेनने उस काव्यके प्रत्येक चरणको क्रमशः प्रतिवृत्तमें वेष्टित करके इस 'पार्श्वाभ्युदय'की रचना की,और फिर उसे आस्थानमें पढ़कर अपने काव्यसे ही कालिदासने प्रत्येक श्लोकसे चरण चुराकर ('स्तेयात्') 'मेघदूत' की रचना की है, ऐसा कहा बतलाया !!

परन्तु इसके बराबर असंबद्ध दन्तकथा और कोई नहीं। कारण, कालिदाससे जिनसेन कमसे कम २०० वर्षोंके करीब † पीछे हुआ, अथवा 'मेघदूत' से 'पार्श्वाभ्युदय' श्रेष्ठकाव्य कहला नहीं सकता, उसे श्रेष्ठ बनानेके उद्देश्यसे यह असंबद्ध जनश्रुति अपने अनुबंधमें घुसेड़कर पंडिताचार्यने जिनसेनको अनृतवादी बना दिया। इसके सिवा इतिहासप्रमाण कोई मिलता नहीं; वैसे ही बंकापुर अमोघवर्षकी राजधानी नहीं थी, यह बात पहिले ही कही जाचुकी है। इन सब कारणोंसे यह मालूम पड़ता है कि पंडिताचार्यने लोगोंसे कही हुई दन्तकथा पर विश्वास रखकर उसे दृढ करनेके उद्देश्यसे अपने अनुबन्धमें घुसेड़कर उसके आधारसे जिनसेन अमोघवर्षका गुरु था यह बात 'पार्श्वाभ्युदय' के प्रतिसर्गके अन्तिम गद्यमें लिखकर और उसके सिवाय अपनी व्याख्याके प्रत्येक सर्गके अन्तिम गद्यमें पुनः पुनः जोरसे कही होगी। अतएव यह मूलकाव्यकी सर्गान्तिम गद्यरचना जिनसेनकी स्वतः रचना नहीं है; वह इस व्याख्याता पंडिताचार्य द्वारा या और किसीके द्वारा जोड़ी गई होगी। इतिहासकी दृष्टिसे उसकी बातें जिनसेनके समयसे बहुत ही आधुनिक होने के कारण उसे निराधार समझ कर छोड़ना पड़ता है।

---

* इस व्याख्याके अन्तिम गद्योंमें तथा अनुबन्धों में अथवा काव्यके प्रतिसर्गके अन्तिम स्थान पर जोड़े हुए गद्योंमें, इस काव्यमें (४,७०) दिखाई देने वाले 'अमोघवर्ष' नामके सिवाय उसका और कोई नामान्तर नहीं है।

† ई० सन् ६३४ के 'ऐहोले' के शासनमें कालिदासका नाम है—

"सविजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास भारविकीर्तिः॥"

(प्रा० जै०मा० नं०१३)

प्राचीन भारतकी धर्म-समवृत्ति

इस सन्दर्भमें सुसंगत एक बात और कहना है। इस भारत भूमि पर पीछेके सभी नरेश तथा अन्य भी अपने राज्यमें अथवा अन्यत्र सभी जगह विद्यमान अन्य सब धर्मोंको तथा अन्य धर्मानुयायियोंको अपने धर्मके समान, समानदृष्टिसे पुरस्कृत करते थे। इतना ही नहीं, किन्तु उन लोगों के मठ-मंदिरादि बनवाकर दान देते थे, इस बात को दिखलाने वाले इतिहासमें बहुतसे प्रमाण हैं, उनमेंसे दृष्टान्तरूपमें कुछ यहाँ दिये जाते हैं :—

१. मौर्य सम्राट अशोक (ई० स० पूर्व २७४—२३६) बौद्धधर्म स्वीकार करके बौद्ध हुआ, यह बात ऐतिहासिक लोग जानते हैं, तो भी उसने काश्मीर देशमें सनातन धर्मका देव मंदिर बनवाकर जीर्णोद्धार करवाया था, यह बात 'कल्हण' की 'राजतरंगिणी' से मालूम पड़ती है—

अथावहदशोकाख्यः सत्यसन्धो वसुन्धराम् ॥१, १०१॥
जीर्णं श्रीविजयेशस्य विनिवार्य सुधामयं।
निष्कलुषेणाश्ममयः प्राकारो येन कारितः ॥ १, १०२ ॥
सभायां विजयेशस्य समीपे च विनिर्ममे।
शान्तावसादः प्रासादावशोकेश्वरसंज्ञितौ ॥ १, १०६ ॥

२. जैनधर्मानुयायी कलिंगदेशका राजा महामेघवाहन खारवेल (ई० स० पू० सु० १६९) सनातन, बौद्ध, जैनधर्मी साधुओंको समानदृष्टि तथा गुरुभक्तिसे सत्कार करता था तथा अपने राज्यमें अन्यान्य धर्मोंकी भी बिना भेद भावके रक्षा किया करता था, यह बात 'उदयगिरि†'के एक शासनसे मालूम पड़ती है।

३. गुप्तवंशीय नरेश 'समुद्रगुप्त' ‡ (ई० स० ३३०—३७५) स्वतः वैष्णव होते हुए भी, अपने धर्मके समान बौद्ध तथा जैनधर्मियों पर भी विशेष प्रेम रखता था; और उसे बौद्धमती 'वसुबन्धु' नाम के व्यक्ति पर विशेष आदर था; तो भी वह अपना स्वधर्म छोड़ कर बौद्ध नहीं हुआ। सिंहल देशके नरेश मेघवर्णने अपने देशसे इसके राज्यमें स्थित बुद्धगयाकी तरफ जानेवाले यात्रियोंके हितार्थ वहाँ स्वयं एक विहार बनानेके लिये इससे अनुमति चाही तो इसने उसे दिया, ऐसा मालूम पड़ता है।

४. चालुक्यान्वयका सत्याश्रय नामके दूसरे पुलिकेशीने अपने परमाप्त 'रविकीर्ति' नामके ('सत्याश्रयस्य परमाप्तवता ....'रविकीर्तिना' दिगम्बर शाखाके (और बहुशः 'नंदि' संघके) जैनपंडितको स्वयं बनवाकर दिये हुये जिनालयमें उस रविकीर्ति-द्वारा रचित और उत्कीर्ण शिलालेख (ई० सन ६३४) जिनस्तुति-संबन्धी पद्योंसे आरंभ होने हुये भी, उस पुलिकेशीके अन्य सभी लेख विष्णु-स्तुति-सम्बन्धी पद्योंसे ही † प्रारंभ होते हैं, इतना ही नहीं

---

† यह 'उदयगिरि' ओड़ देश (Orissa) के 'कटक' (Cuttack) नगरसे १६ मील दूर पर है।

‡ Men and thought in ancient India, pp. 157-159.

इस समुद्रगुप्तका ध्वज गरुडध्वज था; इसके ऊपर दिये हुए नृपतुगके शासनमें उसने अपनेको 'गरुड-लांछन' कहा है, यह बात ध्यानमें लाना चाहिये।

† उदा०—(१) यह शक सं०५३२ (ई०स०६१०) का एक ताम्रपत्रके आरंभमें वराहरूपी विष्णुकी स्तुति है:—

जयति जलदवृन्दश्यामनीलोत्पलभः।
... ...

वह विष्णुभक्त ही था और जैनधर्मावलम्बी नहीं हुआ यह बात इतिहाससे मालूम पड़ती है।

५. गुर्जर देशका नरेश सिद्धराज श्वेताम्बर जैनयति हेमचन्द्रसूरि पर विशेष श्रद्धा रखता था (ई० स० १०८७—११७१)। उसने अपनेको सन्तान न होनेकी चिंतासे हिंदू और जैनधर्मके पवित्र क्षेत्रोंकी यात्रा उस हेमचन्द्रके साथ करने पर भी, स्वधर्मका—सनातनधर्मका—त्याग नहीं किया। उसे हेमचंद्र गुरुके समान था। उसके साथ हेमचंद्रने सोमेश्वर शिवक्षेत्रकी यात्रा करते वक्त, स्वयं जैन होते हुये भी, परधर्म पर विरोध नहीं करते हुए वहांके शिवलिंगका स्तवन किया, यह बात प्रद्युम्नसूरिकृत 'प्रभावकचरित्र' (ई० स० १२७७) * में है। उस सिद्धराजके पश्चात् गद्दी पर आये हुए कुमारपाल (ई० सन् ११४१—११७१) ने जन्मत: शैवधर्मी रहकर, अन्तमें हेमचन्द्रसे जैनधर्म स्वीकार किया; परन्तु पश्चात् भी शिवभक्तिको भूला नहीं, यह बात श्वेताम्बर जैनयति जयसिंह सूरिसे रचित (ई० सन् १२३०) 'वस्तुपाल तेजःपाल प्रशस्ति' *से मालूम पड़ती है. इत्यादि।

अतएव जो कोई नरेश (अथवा अन्य कोई) स्वधर्मीके सिवाय परधर्मके यतियों या अन्य साधुओं (अथवा कवियों) की श्रेष्ठ विभूति पर आकर्षित होकर, उसे गुरुभावसे सत्कार करता है तो उससे वह अन्यधर्मीका शिष्य हुआ, या उसके उपदेशसे उसने स्वधर्म त्यागकर उसका मत स्वीकार किया इस प्रकार मान लेना कदापि ठीक नहीं; पर प्रबल और समर्थक अन्य ऐतिहासिक स्वतंत्राधार हों तो बिना संदेहके स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि गुर्जर कुमारपाल हेमचन्द्रके उपदेशसे जैनी हुआ था यह बात हेमचंद्रके ग्रंथों से "कुमारपालश्चालुक्यो राजर्षिः परमार्हतः"—हेमचन्द्रके 'अभिधान चिंतामणि' (श्लोक ७१२) से अन्य समकालीन और ईषत्कालान्तरके ग्रंथोंसे साधारण प्रमाण मिलनेपर उस इतिहास-तथ्यको कौन नहीं स्वीकार सकता?

(आगामी किरणमें समाप्त)

धरणिधरनिरोधास्खिलवक्त्रोवराहः ॥

(२) ई० स० १४१ (जनवरी ३१) के शासनमें (E. C. X. गोरिबिदनूरु न०४८) इसने सगमतीर्थ में माघशु० ॥ पौर्णिमा चन्द्रग्रहण दिन स्नान करके 'पेरियाल' नामके ग्रामको सहिरण्य सोदक-पूर्वक ब्राह्मणोंको दान दिया लिखा है।

(३) इसके और एक ताम्रपत्रका (प्रा० ले० मा० नं० १२१) प्रथम श्लोक इस प्रकार है:—

जयति जगतां विधातुस्त्रिविक्रमाक्रान्तसकलभुवनस्य।
.... नखांशुजटिलं पदं विष्णोः ॥

* सूरिश्च तुष्टुवे तत्र परमात्मस्वरूपतः।
नवाम चाविरोधोहि मुक्तेः परमकारणम् ॥३२६॥
यत्र तत्र समये यथा तथा।
योसिसोस्यभिधया यथा तथा।
वीतदोष कलुषः सचेद्भवा।
नेक एव भगवन्नमोस्तु ते ॥ ३२७ ॥

(प्रभावकचरित पृ०३१७)

* धर्मापातिस्म कुमारपालनृपति ....॥२४॥
जैनं धर्मगुरोश्चकार...........।
........'गुरुचक्रे स्मरध्वंसिनम् ॥२५॥

Gaekwad's Oriental Series.—No. X
'हम्मीरमदमर्दन' पृ० ६०)

नवयुवकोंको स्वामी विवेकानन्दके उपदेश

[अनु० डा० बी. एल. जैन पी. एच. डी.]

मेरे युवक मित्रो ! अपना शरीर और आत्मा बलवान बनाओ। निर्बल और निर्वीर्य शरीरसे धर्मशास्त्रका अभ्यास करनेकी अपेक्षा तो खेल-कूदसे वलिष्ट बनकर, तुम स्वर्गके विशेष समीप पहुँच सकोगे।

तुम्हारा शरीर मज़बूत होगा तब ही तुम शास्त्रोंको भली भांति समझ सकोगे। तुम्हारे शरीरका रुधिर ताज़ा, मज़बूत तथा अधिक तेजस्वी होगा, तब ही भगवानका अतुल बल और उनकी प्रबल प्रतिभा तुम अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। जब तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों पर दृढ़तासे खड़ा रह सकेगा। तभी तुम अपने आपको भली भांति पहिचान सकोगे।

उठो, जागृत होओ और अपनी उन्नतिका काम अपने ही हाथमें लो। इतने अधिक समय तक यह कार्य, यह अत्यन्त महत्वका कर्तव्य तुमने प्रकृति को सौंप रखा था। परन्तु अब उसे तुम अपने हाथ में लो। और एक ही सपाटे में इस समग्र साक्षात समुद्रको कूद जाओ।

मानसिक निर्बलता ही अपनेमें प्रत्येक प्रकारके शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को उत्पन्न करती है। दुर्बलता ही साक्षात् मरणरूप है।

निर्बल मनके विचारोंको त्याग दो। हे युवको ! तुम हृदय-बल प्राप्त करो ! शक्तिवान बनो ! तेजस्वी बनो ! बलवान बनो ! दुर्बलताकी गाड़ी पर से उठ कर खड़े हो जाओ तथा वीर्यवान और मज़बूत बनो।

सुदृढ़ता ही जीवन और निर्बलता ही मृत्यु है। मनोबल ही सुख सर्वस्व तथा अमरत्व है, दुर्बलता ही रोग, दुःख तथा मृत्यु है।

बलवान बनो ! तेजस्वी बनो ! दुर्बलताको दूर फेंक दो ! आत्मशक्ति तुम्हारे पूर्वजोंकी सम्पति है।

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[ले० प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती एम. ए आई. ई. एस.]

[अनुवादक—पं० सुमेरचन्द दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री बी.ए. एलएल. बी. सिवनी]

टोल्काप्पियम्—तामिल व्याकरणका यह प्रामाणिक ग्रंथ एक जैन विद्वानकी रचना समझा जाता है। इस विषयमें कुछ विद्वानोंका विवाद है और लेखकके धर्मके सम्बन्धमें बहुतसे विचार किये जाते हैं। हम केवल अंतरंग साक्षीमूल कुछ बातोंका वर्णन करेंगे और इस विषयको पाठकों पर उनके अपने निर्णयके लिये छोड़ेंगे। यद्यपि यह व्याकरणका ग्रंथ है, किन्तु आदि तामिल वासियोंकी समाज-विज्ञान विषयक वार्ताओंकी यह खान है, और शोध-खोजके विद्वान आदि तामिल वासियोंके व्यवहारों तथा रिवाजोंकी जानकारीके लिये मुख्यतया इसी ग्रंथ पर अवलम्बित रहते हैं। ऐतिहासिक शोधके विद्यार्थियोंने इससे पूर्णतया लाभ नहीं उठाया है यह एन्द्रके समान पुरातन व्याकरण शास्त्रोंपर अवलम्बित समझा जाता है। जो प्राय संस्कृत-व्याकरणकी शैलीका उल्लेख करता है। यह व्याकरण विषय पर एक प्रमाणिक ग्रंथ समझा जाता है। तामिल भाषाके पिछले सभी ग्रन्थकार उसमें वर्णित लेखन-सम्बन्धी नियमोंका पूर्ण श्रद्धाके साथ पालन करते हैं। इस ग्रन्थके निर्माता, टोलकाप्पियम्, तामिल साहित्यके काल्पनिक संस्थापक अगस्त्यके शिष्य समझे जाते थे। इस ग्रन्थमें तत्कालीन ग्रंथकार पनंपारनार लिखित भूमिका है। उससे प्रमाणित होता है कि 'आइंदिरम् निरैनीका टोलकाप्पियम्,' ऐन्द्र व्याकरणकी पद्धति परिपूर्ण टोलकाप्पियम् पाण्ड्य राजा की सभामें पढ़ा गया था और अदङ्कोट्टाशानके द्वारा समर्थित हुआ था। डा० वर्नेलका मत है कि टोलकाप्पियम्का रचयिता जैन या बौद्ध था और यह निर्विवाद है कि वह प्राचीन तामिल लेखकोंमें अन्यतम है। उसी भूमिकामें टोलकाप्पियम्का महान् और प्रख्यात पाडिमयोनके रूपमें उल्लेख है। टीकाकारने पाडिमयोन शब्दका इस प्रकार अर्थ किया है—"वह व्यक्ति जो तपस्या करे"। जैन साहित्य अध्ययन-कर्ताओं—विद्यार्थियोंको यह भलीभाँति विदित है कि 'प्रतिमा योग' एक जैन पारिभाषिक शब्द है और कुछ जैन मुनि प्रधान योगधारी कहे जाते थे। इस आधार पर एस० वायपुरी पिल्ले सदृश विद्वान अनुमान करते हैं कि टोलकाप्पियम् का रचयिता जैनधर्मावलम्बी था। वही लेखक टोलकाप्पियम्के उन सूत्रोंका उद्धरण देकर अपने निष्कर्ष को दृढ़ बनाता है जिनमें जीवोंके द्वारा धारण की गई इन्द्रियोंके आधार पर जीवोंके विभागका उल्लेख है। मरवियल विभागमें टोलकाप्पियम्ने घास और वृक्षके समान जीवोंको, एकेन्द्रिय घोंघेके समान जीवोंको, द्वाइन्द्रिय चींटीके समान जीवोंको त्रीइन्द्रिय केकड़े (Crab) के सदृश जीवोंको चौइन्द्रिय बड़े प्राणियोंके समान जीवोंको पंचेन्द्रिय और मनुष्यके समान जीवोंको छः इन्द्री बताया है। यह विज्ञानके जैन दार्शनिक सिद्धान्तका रूप है इसे बताना तथा इस पर जोर देना मेरे लिये आवश्यक नहीं है। जीवोंका यह विभाग संस्कृत और तामिल भाषाके जैन तत्व ज्ञानके

सभी प्रमुख ग्रन्थोंमें पाया जाता है । मेरुमन्दिरपुराण और नीलकेशी जैसे दो प्रधान जैनदार्शनिक ग्रन्थोंमें जीवोंका इस प्रकार वर्णन है । यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि यह जैनियोंके जीव-विषयक ज्ञानका उल्लेख करता है । इससे यह बात स्वतः सिद्ध होती है कि ग्रन्थकार जैन तत्त्वज्ञानमें अति निपुण था । इस निष्कर्षके समर्थनमे मुख्य साक्षी रूप एक दूसरी बात है । उसके सम्बन्धमें शोधक विद्वानोंका ध्यान नहीं गया; किन्तु इस विषयमे विचार होना चाहिये । उभी मरबियलके दूसरे सूत्रमें टोलकाप्पियमूने मुदलनूल और 'वालीनूल'--मूल और प्रारम्भिक ग्रथ, गौण तथा संग्रहीत ग्रन्थके रूपमें तामिल परम्पराके अनुसार साहित्य के ग्रन्थोंका विभाग किया है । जब वह मुख्य और मूल शास्त्र अर्थात् मुदलनूलकी व्याख्या करता है, तब वह कहता है कि जो ज्ञानके अधिपति द्वारा कर्मोंसे पूर्ण मुक्त होने पर प्रकाशित किया जाता है, वह कर्मक्षयके बाद सर्वज्ञके द्वारा प्रकाशित ज्ञान है । इस बात पर जोर देनेकी आवश्यकता नहीं है कि जैन परम्पराके अनुसार प्रायः प्रत्येक ग्रन्थकार अपने ज्ञान का आदि स्रोत पूर्वाचार्योंको, और गणधरोंके द्वारा समवशरणमें धर्मका प्रतिपादन करनेवाले स्वय तीर्थंकरोंको बतावेगा । परन्तु जैन परम्परासे परिचित प्रत्येक निष्पक्ष विद्वानको यह स्पष्ट विदित हो जायगा, कि मूल ग्रन्थकी इस परिभाषामें पूर्ण ज्ञानके आदि स्रोत सर्वज्ञ वीतरागका उल्लेख किया है । इन सब बातोंसे यह स्पष्ट होगा कि प्रतिपक्षी विचारकी अपेक्षा लेखकका जैन होना अधिक सभव है । जिन लोगोंने इस बातके निषेध करनेका प्रयत्न किया है उन्होंने अपने कथनके समर्थनमे कोई गम्भीर युक्ति नहीं पेश की है । एक आलोचक इस बात का उल्लेख करता है कि जीवका विभाग जैसा इस ग्रन्थ में है, वैसा एक अप्रसिद्ध तंत्र शास्त्रमें विद्यमान है,किन्तु इस सम्बन्धके पद्य पूरी तौर पर उद्धृत नहीं किये जाते तर्कके लिये यह मान लेने पर भी कि उसका उल्लेख उस तन्त्र ग्रथमें है, यह साक्षी संदेहास्पद होगी। यह बात बताना यहां आवश्यक है कि इन्द्रियोंके आधार पर किया गया यह जीवोंका विभाग अन्य दर्शनों अथवा भारतकी दूसरी विचार पद्धतियोमें नहीं पाया जाता है । यह विशेष बात जैनदर्शनमें और केवल जैनदर्शनमें ही पाई जाती है । इस सम्बन्धमें विशेष वाद विवादको हम इस प्रकारकी शोधमें सुरुचि रखनेवाले सुयोग्य विद्वानोंके लिये छोड़ते हैं । इस स्थितिमें हमारे लिये इतना लिखना ही पर्याप्त है कि यह व्याकरणका ग्रन्थ जो कि अत्यन्त पुरातन तामिल ग्रन्थोंमें एक है, प्रायः एक ऐसे जैन विद्वान द्वारा रचा गया था, जो सस्कृत व्याकरण और साहित्यमें समान रूपसे प्रवीण था । उस ग्रथकी रचना कब हुई, इस विषयमें पर्याप्त विवाद है, किन्तु हमे उस विवादमें भाग लेनेकी आवश्यकता नहीं है ।

इस व्याकरण ग्रन्थमें इलुत्तू (अक्षर) सोल् (शब्द) और पोरुल (अर्थ) नामके तीन बड़े अध्याय हैं प्रत्येक अध्यायमें ९ ल्यल (विभाग) हैं और कुल १६ १२ सूत्र हैं । यह तामिल भाषाके बादके व्याकरण ग्रथोंकी जड़ है । सस्कृत व्याकरणके प्रतिकूल जिसमें पहले और दूसरे ही अध्याय होते हैं, इसमें तीन अध्याय हैं और तीसरा पोरुलके विषयमें है । इस तीसरे अध्याय में व्याकरणके सिवाय अन्य बहुत विषय रहते हैं जिसमें प्रेम एव युद्धका वर्णन रहता है । इस प्रकार आदिद्रविड़ लोगोंके पुनर्गठनके लिये इसमें उपयोगी अनेक सकेत पाये जाते हैं ।

यह कहा जाता है कि इस ग्रन्थकी पांच टीकाएँ हैं जो (१) ल्लम पूर्नर (२) पराशिरियर (३) सेनवरैयर

(४) नच्चीनार्किनियर (५) कल्लादरकी लिखी हुई हैं इनमें से प्रथम लेखक सब टीकाकारोंमें प्राचीन है। पश्चात्वर्ती लेखकोंने आमतौर पर 'टीका कार' के नाम से उसका उल्लेख किया है। परम्पराके अनुसार यह तामिल भाषाके व्याकरणका महान् ग्रन्थ द्वितीय सगम कालका कहा जाता है। हमें विदित है कि विद्यमान सब ही तामिल ग्रन्थ अंतिम तथा तृतीय सगम् कालके कहे जाते हैं। अतः इस टोलकाप्पियम्को करीब २ संपूर्ण उपलब्ध तामिल साहित्यका पूर्ववर्ती मानना चाहिये।

इस परंपराको स्वीकार करना आश्चर्यकी बात होगी, क्योंकि यह संभव नहीं है कि किसी भाषाके अन्य ग्रन्थोंके पूर्वमें उसका व्याकरण शास्त्र हो। वास्तवमें व्याकरण तो भाषाका एक विज्ञान है, जिसमें साहित्यिक रिवाज ग्रंथित किए जाते हैं; इसलिये वह उस भाषामें महान् साहित्यके अस्तित्वको बताता है। तामिल वैयाकरण भी इस बातको स्वीकार करते हैं। वे पहिले साहित्यको और बादमें व्याकरणको बताते हैं। इसलिये यदि हम इस परंपराको स्वीकार करते हैं कि टोलकाप्पियम् सगमकालका मध्यवर्ती है तब हमें उसके पूर्वमें विद्यमान् महान् साहित्यकी कल्पना करनी पड़ेगी, जो किसी कारणसे अब पूर्ण लुप्त हो गया है। यदि हम द्रविड़ सभ्यताकी पूर्व अवस्था पर विचार करें, तो इस प्रकारकी कल्पना बिल्कुल असंभव नहीं होगी। अशोक समयके लगभग तामिल प्रदेशमें चेरचोल और पांड्य नामके तीन विशाल साम्राज्य थे। अशोक इन साम्राज्योंकी विजयका कोई उल्लेख नहीं करता है। अशोकके साम्राज्यके आस पास वे मित्र राज्योंकी सूची मे बताए गये हैं। इतिहासके विद्यार्थी इन बातोंसे भली भाँति परिचित हैं, कि तामिल देशमें बहुत सुन्दर बंदरगाह है, यहाँके लोग भूमध्यसागरके आसपासके यूरोपियन राष्ट्रोंके साथ समुन्नत सामुद्रिक व्यापार करते थे, तामिल भाषाने वैदेशिक शब्द भंडारको महत्वपूर्ण शब्द प्रदान किये थे, और तामिल देशके अनेक स्थानोंमें उपलब्ध रोमन देशीय स्वर्ण मुद्राएं रोमन साम्राज्यसे सम्बन्धको सूचित करती हैं। इसके साथमें मोहन जोदरो, हरप्पाकी हालकी खुदाई और खोज आर्योंकी पूर्ववर्ती सभ्यताको बताती है और हमें उस उच्च कोटिकी सभ्यताका ज्ञान कराती है, जो आदि-द्रविड़ लोगोंने प्राप्त की थी। जब तक हम इस आदि-द्रविड़ संस्कृतिके पुनर्गठनके सम्बन्धमें उचित साक्षी नहीं प्राप्त करलें, तब तक तो ये सब बातें कल्पना ही रहेंगी। उपलब्ध तामिल साहित्य बहुधा तृतीय सगम कालका है, अतः अनेक ग्रन्थ, जिनके सम्बन्धमें हमें विचार करना है, इस कालके होने चाहिये। यह समय प्रायः ईसाम दो शताब्दी पूर्वमे लेकर सातवीं सदी तक होगा। चूंकि सगम या एकेडेमी एक सदेहास्पद वस्तु है इसीलिये सगम शब्द तामिलोंके इतिहासके काल विशेष को द्योतित करनेके लिए एक प्रचलित शब्द है।

श्रीयुत शिवराज पिल्लेके द्वारा सूचित तामिल साहित्यके प्राकृतिक, नैतिक और धार्मिक ऐसे तीन सुगम काल भेद माने जा सकते हैं, क्योंकि ये व्यापकरूपसे तामिल साहित्यकी उन्नतिके द्योतक हैं। कुरल और नालादियार जैसे नीति ग्रन्थोंके उत्तरवर्तीसाहित्यमें बड़ी स्वतन्त्रताके साथ अवतरण दिए गए हैं। अतः यह मानना एकदम मिथ्या नहीं होगा, कि काव्यसाहित्यकी अपेक्षा नैतिक साहित्य पूर्ववर्ती प्रतीत होता है। इस नैतिक साहित्य समूहमे जैनाचार्योंका प्रभाव विशेषगतिसे विदित होता है। कुरल और नालदियार नामके दो महान ग्रंथ उन

जैनाचार्योंकी कृति है जो तामिलदेशमें बस गए थे।

कुरल—तामिल भाषी जनतामें प्रचारकी दृष्टिसे विचार करने पर 'कुरल' नामका नीतिग्रंथ तामिल साहित्यमें, सबसे अधिक प्रधान है। इसकी रचना जिस छंदमें की गई है, वह 'कुरलवेणबो' के नामसे प्रसिद्ध है और तामिल साहित्यका खास छन्द है। 'कुरल' शब्दका अर्थ दोहाविशेष (Short) है, जो वेणबा नामक दोहेसे भिन्न है। यह तामिल साहित्यका अपूर्व छंद है। पुस्तकका नाम कुरल उसमें प्रयुक्त छन्दके कारण पड़ा। यह अहिंसा सिद्धान्तके आधार पर बनाया गया है। संपूर्ण ग्रन्थमें अहिंसा धर्मकी स्तुति की गई है और विपरीत विचारोंकी आलोचना की गई है। इस ग्रंथको तामिलवासी इतनी प्रधानता देते हैं कि वे इसके लिये विविध नामोंका प्रयोग करते हैं, जैसे उत्तर वेद, तामिल वेद, ईश्वरीय ग्रंथ, महान् सत्य, सर्व देशीय वेद इत्यादि। तामिल प्रान्तके प्रायः सभी सप्रदाय इस रचनाको अपनी २ बताते हैं। शैवोंका दावा है कि यह शैव लेखककी कृति है। वैष्णव लोग इसे अपनी बताते हैं। पोप नामक पादरी, जिनने इसका अंग्रेजी-अनुवाद किया है, यहां तक कहता है कि यह ग्रंथ ईसाई धर्मसे प्रभावित हुए लेखककी रचना है। भिन्न २ जातियाँ इस ग्रथके कर्तृत्वके विषयमें एक दूसरे से होड़ ले रही हैं। इससे ग्रंथकी महत्ता एवं प्रधानता स्वतः प्रगट होती हैं। इस भांति विविध अधिकार प्रदर्शकोंके मध्यमें जैनियोंका कथन है कि यह तो जैनाचार्यकी कृति है। जैनपरम्परा इस महान् ग्रन्थका सम्बन्ध कुंदकुंदाचार्य अपरनाम एलाचार्यसे बताती है। कुंदकुंदाचार्यका समय ईसासे पूर्वकी अर्धशताब्दी के उत्तर भाग और ईसवी सन्की पहली अर्धशताब्दीके पूर्व भागमें संनिहित हैं। हमने इस बातका उल्लेख किया है कि दक्षिण पाटलीपुत्रमें द्राविड़ संघके प्रमुख श्री कुंदकुंदाचार्य थे।

अपना निर्णय प्राप्त करनेके लिए हमें केवल इस परंपराका ही अवलंबन नहीं करना है। अपनी धारणा के प्रमाणमें हमारे पास समुचित अंतरंग तथा परिस्थिति जन्य साक्षी (Circumstantial evidence) विद्यमान है। जो भी निष्पक्ष विद्वान् इस ग्रंथका सूक्ष्मताके साथ परीक्षण करेगा, उसे यह बात पूर्णतया स्पष्ट विदित हो जायगी, कि यह ग्रंथ अहिंसा-धर्मसे परिपूर्ण है और इसलिये यह जैनमस्तिष्ककी उपज होना चाहिये। इस विषय पर अभिमत व्यक्त करने योग्य अधिकृत निष्पक्ष तामिल विद्वानोंने इस ग्रन्थके कर्तृत्वके सम्बन्धमें इसी प्रकारका अभिमत प्रगट किया है: किन्तु वैज्ञानिक शोधके आधार पर किए गए निर्णयको बहुतसे तामिल विद्वान् स्वीकार करना नहीं चाहते, इस विरोधका मूल कारण धार्मिक भावना है। हिन्दूधर्मके पुनरुद्धार कालमें (लगभग सप्तम शताब्दिमें) जैनधर्म और हिन्दुओंके बलिसमर्थक वैदिक धर्मका संघर्ष इतना अधिक हुआ होगा, कि उसकी प्रतिध्वनि अब तक भी अनुभवमें आती है। **इस द्वन्द्वमें हिन्दू पुनरुद्धारकोंके द्वारा जैनाचार्योंकी रचनाएं दूषित की गईं**, कारण उन हिन्दुओंका समर्थक नवदीक्षित पांड्य नरेश था। कहा जाता है कि **इसके फलस्वरूप अनेक जैनाचार्योंका प्राणान्त फांसीके द्वारा हुआ**। हम इस बातका पूर्ण रीतिसे निश्चय करनेमें असमर्थ हैं कि इसमें कितना इतिहास है और कितना उर्वर मस्तिष्कका उत्पादन है परन्तु **अब तक भी मदुरा के मन्दिरोंकी भित्तियों पर जैनियोंकी हत्या वाली कथाके चित्र विद्यमान हैं और अब भी प्रतिद्वन्द्वी धर्म (जैन धर्म) का पराभव और विध्वंस बताने वाले**

वार्षिक उत्सव मनाये जाते हैं । यह बात आदि-जैनों के विषयमें तामिल विद्वानोंके दृष्टिकोणको समझनेमें सहायक होगी। इससे यह बात स्पष्ट है, कि वे इस सूचना मात्रका विरोध करते हैं, कि महान् नीतिशास्त्र जैनविद्वानके द्वारा रचित होगा।

एक परम्पराके आधार पर इस ग्रंथके लेखक कोई तिरुवल्लुवर कहे जाते हैं। तिरुवल्लुवरके सम्बन्धकी काल्पनिक कथाके घटक आधुनिक लेखकोंकी कल्पनाके द्वारा जो बताया गया है। उससे अधिक उसके सम्बन्ध में अज्ञात है। तिरुवल्लुवरकी जीवनीके सम्बन्धमें अनेक मिथ्या बातें बताई गई हैं, यथा वह चाण्डालीका पुत्र था। सभी तामिल लेखकोंका समकालीन एवं बन्धु था। इस बातका कथनमात्र इसके मिथ्यापनेको घोषित करता है। किन्तु आधुनिक अधिक उत्साही तामिल विद्वानोंने उसे ईश्वरीय मस्तक तक ऊँचा उठाया है, उसके नाम पर मंदिर बनाएँ हैं तथा ऐसे वार्षिक उत्सवोंका मनाना प्रारंभ किया है, जैसे हिन्दू देवताओं के सम्बन्धमें मनाए जाते हैं। इसका लेखक एक हिन्दू देवता समझा जाता है, और यह रचना उस देवता द्वारा प्रकाशित समझी जाती है । साधारणतया इस प्रकारके क्षेत्रोंमें ऐतिहासिक आलोचनाके सिद्धान्तोंका प्रयोग कोई नहीं सोचेगा। यह बात तो यहाँ तक है, कि जब कभी ग्रन्थके प्रमेयके सूक्ष्म परीक्षणके फलस्वरूप कोई बात सुझाई जाती है, तब वह धार्मिक जोशपूर्ण तीव्रताके साथ निषिद्ध की जाती है । अनेक आलोचक नामधारी व्यक्ति, जिन्होंने इस महान् रचनाके सम्बन्धमें थोड़ा बहुत लिखा है, इस प्रकारकी विचित्र बौद्धिक स्थिति रखनेमें सावधान रहे हैं जिस प्रकार 'सेमुअल जानसन' 'हाउस आफ कामन्स' की कार्यवाही को लिखते समय सावधान रहा था। वह इस बातको ध्यानपूर्वक देखता था, कि 'विग' (Whigs) लोगोंको उससे अधिक लाभ न हो। जबकि तामिल विद्वानोंकी साधारण मनोवृत्ति इस प्रकारकी हो, जब वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक शोधकी यथार्थ भावना शैशवमें हो, तब यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, कि तामिल साहित्य नामकी कोई अर्थवान वस्तु हमारे पास न हो । अतः हम जैनसाहित्यके ऐतिहासिक वर्णनको पेश करनेके प्रयत्नमें असमर्थ हो जाते हैं।

इस विषयान्तर बातको छोड़कर ग्रंथका परीक्षण करते हुए हमें स्वयं पुस्तकमें आई हुई कुछ उपयोगी बातें बतानी हैं। इस पुस्तकमें तीन महान् विषय हैं। (अरम्) (धर्म) पोरुल (अर्थ,) इनबम् (काम) ये तीनों विषय विस्तारके साथ इस प्रकार समझाये गये हैं, जिसके ये मूलभूत अहिंसा सिद्धान्तके साथ सम्बद्ध रहें। अतः ये संज्ञाएँ साधारणतया हिन्दू धर्मके ग्रन्थोंमें वर्णित संज्ञाओंसे थोड़ी भिन्न हैं, इस विषय पर ज़ोर देनेकी आवश्यकता नहीं है। हिन्दू धर्म की बादकी धार्मिक पद्धतियोंमें वेद-विहित पशुबलिकी क्रिया पूर्णरूपेण पृथक नहीं की जासकी कारण वे वैदिक धर्म-सम्बन्धी क्रियाकाण्ड पर अवलंबित हैं, इसलिये धर्म शब्दका अर्थ उनके यहां वर्णाश्रम धर्म ही होगा, जिसका आधार वैदिक बलिदान होगा। जैन, बौद्ध तथा सांख्यदर्शन नामक तीन भारतीय धर्म ही वैदिक बलिदानके विरुद्ध थे। पुनरुद्धारके कालमें इन तीन दर्शनोंके प्रतिनिधि पूर्व तामिल देशमें विद्यमान थे। ग्रंथके आदिमें ग्रंथकार 'धर्म' के अध्यायमें अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं, कि सहस्रों यज्ञोंके करनेकी अपेक्षा किसी प्राणीका वध न करना और उसे भक्षण न करना अधिक अच्छा और श्रेयस्कर है। यह एक ही पद्य इस बातको बतानेको पर्याप्त है कि लेखक कभी भी

याज्ञिक बलिदानको चुपचाप सहन न करेगा । यह तो संस्कृतके वाक्य 'अहिंसा परमोधर्मः' की व्याख्या है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक शैव विद्वान्ने उपर्युक्त पद्यका उद्धरण देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि ग्रंथकार वैदिक बलिदान रूप धर्मको मानने वाले थे।

शाकाहारका वर्णन करने वाले दूसरे अध्यायमें ग्रन्थकार स्पष्ट शब्दोंमें कसाईके यहाँसे मांस खरीदनेके बौद्धोंके सिद्धान्तको घृणित बताता है। बौद्ध लोग, जो अहिंसा सिद्धान्तका नाम मात्रको पालन करते हैं, इस बातसे अपने आपको यह कहते हुए संतुष्ट करते हैं, कि उन्हें अपने हाथोंसे प्राणि बध नहीं करना चाहिये, किंतु वे माँस विक्रय-स्थलसे माँस खरीद सकते हैं। कुदरतके रचयिता इस बातको स्पष्टतया बताते हैं कि कसाईके व्यवसायकी वृद्धिका कारण केवल माँस की माँग है। कसाईका स्वार्थ केवल पैसा कमाना है और इसलिये वह विशेष व्यवसायको करता है, जो मांग और खपतके सिद्धान्त पर स्थित है। इसलिए भोजनके निमित्त प्राणी-हिंसाका दायित्व प्रधानतया तुम्हारे ही ऊपर है, न कि कसाई पर। जब कि वैदिक धर्म-विहित बलिदान और अहिंसा सिद्धान्तका सुलभ भाव बने माँसाहारके करनेकी बौद्धोंकी प्रवृत्तिका यहाँ स्पष्टतया निराकरण है, तब अपनयन अथवा पारिशैष्य पद्धतिके अनुसार यह स्पष्ट है कि ग्रंथमें निरूपित सिद्धान्तसे समता रखने वाला जैनियोंका अहिंसा सिद्धान्त ही है। एक विद्यमान् विख्यात् तामिल विद्वान का कथन है, कि यह ग्रंथ बौद्धायनके धर्मशास्त्रका शुद्ध अनुवाद है। यद्यपि इस ग्रंथमें संस्कृत शब्दोंकी बहुलता है, और परंपरागत कुछ सिद्धान्तोंका वर्णन है, फिर भी यह निश्चय करना सत्य नहीं है कि यह संस्कृत साहित्यमें प्रकाशित बातकी प्रतिध्वनि मात्र है क्योंकि इनमें के अनेक सिद्धान्त अहिंसाके प्रकाशमें पुनः समझाये गये और उन पर जोर दिया गया है। यहां केवल दो बातोंको बताना ही पर्याप्त है। यह बौद्धायन धर्मशास्त्र, चूंकि परम्परागत वर्णाश्रम पर अवलम्बित है, परम्परागत चार जातियों और उनके कर्तव्योंका समर्थन करता है। धर्मकी इस व्याख्याके अनुसार कृषि कर्म अंतिम शूद्र वर्णके लिये ही छोड़ा गया है और इसलिये कृषि-कर्मसे तनिक भी सम्बन्ध रखना ऊपरकी जातियोंके लिये निषिद्ध होगा। प्रत्युत् इसके कुरलके रचयिताने व्यवसायोंमें कृषिको आद्य स्थान प्रायः इसलिये दिया है कि वह वेलालों अथवा वहांके कृषकोंमेंसे एक है। क्योंकि उसका कथन है—**सर्वोत्कृष्ट जीविका कृषि-कर्म विषयक है, अन्य प्रकारके सब जीवनोपाय परावलम्बी हैं, और इससे वे कृषि कर्मके बादमें आते हैं।** यह बात संस्कृतके धर्मशास्त्रसे ली गई है, ऐसा कहना किसी तरह भी गले नहीं उतर सकता। धर्मशास्त्रोंमें कथित एक बात और मनोरंजक है। वह है गृहस्थोंके द्वारा अतिथियोंके सत्कारके सम्बन्धमें। इस प्रकारके अतिथि सत्कारमें स्थूल गोवत्सके वधकी बात सदा विद्यमान रहती है। बौद्धायनके धर्मशास्त्रमें ऐसे जानवरोंकी सूची दी गई है, जिनका वध अतिथि-सत्कारके निमित्त किया जाना चाहिये। जो लोग वैदिक विधिको धर्म स्वीकार करते हैं, वे इस बात पर दृढ़ विश्वास करते हैं, कि यह कार्य धर्मका मुख्य अंग है, और उसका पालन न करने से अतिथियों द्वारा शाप प्राप्त होता है। इस सम्बन्धमें कुरलके अध्यायको पढ़ने वाले प्रत्येक पाठकको निश्चय होगा, कि हिंदुओंके धर्मशास्त्रोंमें कथित बातसे यहां धर्मका अर्थ बिल्कुल भिन्न है। इससे हमें इस कथनका परित्याग करना पड़ता है कि यह ग्रंथ तामिलज्ञ जनताके

कल्याणके लिये किया गया धर्मशास्त्रोंका अनुवाद मात्र है।

परिस्थिति जन्य साक्षीकी ओर ध्यान देने पर हमें ये बातें विदित होती हैं, कि नीलकेशी नामक ग्रन्थका जैन-टीकाकार इस सरलतासे अवतरण देता है और जब भी वह अवतरण उद्धृत करता है, तब अवतरण के साथ लिखता है "जैसा कि हमारे शास्त्रमें कहा है" इससे यह बात स्पष्ट है कि टीकाकार इस तामिल भाषा में महत्वपूर्ण जैनशास्त्र समझता था। दूसरी बात यह है कि तामिल भाषाके अजैन विद्वान् कृत "प्रबोध-चन्द्रोदय" नामक ग्रन्थसे भी यही ध्वनि निकलती है। यह तामिल-रचना संस्कृतके नाटक प्रबोधचंद्रोदयके आधार पर बनी है, यह बात स्पष्ट है। यह तामिल ग्रन्थ चार पंक्ति वाले विरुत्तम छन्दमें लिखा गया है। यह नाटकके रूपमें है, जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मोंके प्रतिनिधि रङ्ग-भूमि पर आते हैं। प्रत्येक अपने धर्मके सारको बताने वाले पद्यको पढ़ता हुआ प्रविष्ट होता है। जब जैन-सन्यासी स्टेज पर आता है, तब वह कुरलके उस विशिष्ट पद्यको पढ़ता है, जिसमें अहिंसा-सिद्धान्तका गुण-गान इस रूपमें किया गया है, भोजनके निमित्त किसी भी प्राणीका वध न करना सहस्रों यज्ञोंके करनेकी अपेक्षा अधिक अच्छा है। यह सूचित करना असत्य नहीं है कि इस नाटककारकी दृष्टिमें कुरल विशेषतया जैन-ग्रन्थ था, अन्यथा वह इस पद्यको निर्ग्रन्थवादीके मुखसे नहीं कहलाता। यह विवेचन पर्याप्त है। हम यह कहते हुए इस बहसको समाप्त करते हैं कि इस महान् नीतिके ग्रन्थकी रचना प्रायः एक महान् जैन-विद्वान्के द्वारा ईस्वी सन्की प्रथम शताब्दीके करीब इस ध्येयको लेकर हुई है, अहिंसा-सिद्धान्तका उसके सम्पूर्ण विविध रूपोंमें प्रतिपादन किया जाय।

यह तामिल-ग्रन्थ, जिसमें तामिल-साहित्यके पाण्डित्यका सार भरा है, तीन विभागों तथा १३३ अध्यायोंको लिये हुए है। प्रत्येक अध्यायमें दस पद्य हैं। इस तरह दोहारूपमें १३३० पद्य हैं। इसकी तीन अथवा चार महत्वकी टीकाएं हैं। इनमें एक टीका महान् टीकाकार नच्चिनारक्किनियर रचित है। ऐसा अनुमान है कि वह जैन परम्पराके अनुसार है, किन्तु दुर्भाग्य है कि वह विश्वके लिये अलभ्य है। जो टीका अब प्रचलित है उसके रचयिता एक परिमेलअलगर हैं और यह निश्चयसे नच्चिनारक्किनियरकी रचनासे बादकी है, और यह उससे अनेक मुख्य बातोंके अर्थ करनेमें भिन्न मत रखती है। हाल ही में माणक्कुदवर-रचित एक दूसरी टीका छपी थी। तामिल-साहित्यके अध्ययन-कर्ताओंको आशा है कि महान नच्चिनारक्किनियरकी टीका प्राप्त होगी और प्रकाशित होगी, किन्तु अबतक इसका कुछ भी पता नहीं चला है।

यह ग्रंथ प्रायः सम्पूर्ण यूरोपियन भाषाओंमें अनुवादित हो चुका है। रेवरेण्ड जी. यू. पोपका अंग्रेजी अनुवाद बहुत सुंदर है। यह महान् ग्रन्थ इसके साथमें नालदियार नामका दूसरा ग्रन्थ, जिसका हम हाल ही में वर्णन करेंगे, तामिल देशीय मनुष्योंके चरित्र और आदर्शोंके निर्माणमें प्रधान कारण रहे हैं। इन दो नीतिके महान ग्रन्थोंके विषयमें डाक्टर पोप इस प्रकार लिखते हैं:—

"मुझे प्रतीत होता है कि इन पद्योंमें नैतिक कृतज्ञताका प्रबल भाव, सत्यकी तीव्र शोध, स्वार्थ-रहित, तथा हार्दिक दानशीलता एवं साधारणतया उज्ज्वल उद्देश्य अधिक प्रभावक है। मुझे कभी-कभी ऐसा अनुभव हुवा कि मानों इनमें ऐसे मनुष्योंके लिये भंडार रूपमें आशीर्वाद भरा है जो इस प्रकारकी रचनाओंसे

अधिक आनन्दित होते हैं और इस तरह सत्यके प्रति क्षुधा और पिपासाकी विशेषताको घोषित करते हैं। वे लोग भारतवर्षके लोगोंमें श्रेष्ठ हैं तथा कुरल एवं नालदी ने उन्हें इस प्रकार बननेमें सहायता दी है।"

अब हमें अपना ध्यान पिछले उल्लिखित ग्रन्थ नालदियारकी ओर देना चाहिये। कुरल और नालदियार एक दूसरेके प्रति टीकाका काम करते हैं और दोनों मिलकर तामिल-जनताके सम्पूर्ण नैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्तके ऊपर महान् प्रकाश डालते हैं।" नालदियार का नामकरण ठीक कुरलके समान उसके छन्दके कारण हुआ है। नालदियारका अर्थ वेणबा छन्दकी चार पंक्तियोंमें की गई रचना है। इस रचनामें चार सौ चौपाई हैं और इसे वेलालरवेदम्-कृषकोंकी बाइबिल भी कहते हैं। यह ग्रंथकारकी कृति नहीं है। परम्परा कथनके अनुसार प्रत्येक पद्य एक पृथक् जैन मुनिके द्वारा रचा गया है। प्रचलित परम्परा संक्षेपसे इस प्रकार है। एक समयकी बात है उत्तरमें दुष्काल पड़नेके कारण आठ हजार जैनमुनि उत्तरसे पांड्य देशकी ओर गये, जहांके नरेशोंने उनको सहायता दी। जब दुष्कालका समय बीत गया तब वे अपने देशको लौटना चाहते थे। किन्तु राजाकी इच्छा थी कि उसके दरबारमें ये विद्वान बने रहें। अन्तमें उन साधुओंने राजाको कोई खबर न करके गुप्तरूपसे बाहर जानेका निश्चय किया। इस तरह एक रात्रिको समुदाय रूपसे वे सब रवाना हो गये। दूसरे दिन प्रभात कालमें यह विदित हुआ कि प्रत्येक साधुने अपने आसन पर ताड़ पत्र पर लिखित एक २ चौपाई छोड़ दी थी। राजाने उनको वैगी नदीमें फेंकने की आज्ञा दी किन्तु जब यह विदित हुआ कि नदीके प्रभावके विरुद्ध कुछ ताड़ पत्र तैरते हुये पाये गये और वे तट पर आगये,तब राजाकी आज्ञासे वे संगृहीत किये और इस संग्रहको नालदियारके नामसे कहा गया। हम ऐसी स्थितिमें नहीं हैं कि इस परम्परा कथनमें विद्यमान ऐतिहासिक सत्यके अंशकी जाँच करें। यदि हम इस परम्परा कथन पर विचार करें जो हमें इन आठ हजार जैन साधुओंको भद्रबाहुके अनुयायियोंसे संबंधित करना होगा, जो उत्तर भारतमें बारह वर्ष दुष्कालके कारण दक्षिणकी ओर गये थे। ऐसी स्थितिमें इस ग्रंथका निर्माण ईसवी सदीसे ३०० वर्ष पूर्व होना चाहिये। इस सम्बन्धमें हम कोई सिद्धान्त नहीं बना सकते। हम कुछ निश्चयके साथ इतना ही कह सकते हैं कि वह तामिल भाषाके नीतिके अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थोंमें एक है और प्रायः कुरलका समकालीन अथवा उससे कुछ पूर्ववर्ती है। बिखरे हुये चारसौ पद्य कुरलके नमूने पर एक विशिष्ट ढंग पर व्यवस्थित किये गये हैं। प्रत्येक अध्याय में दस पद्य हैं। पहला भाग अरम् (धर्म) पर है उसमें १३ अध्याय तथा १३० चौपाई हैं। दूसरे भाग पोरुल (अर्थ) में २६ अध्याय तथा २६० चौपाई हैं तथा 'काम' (Love) पर लिखे गये तीसरे विभागमें १० चौपाई हैं इस प्रकार ४०० पद्य तीन भागोंमें विभक्त हैं। इस क्रमके सम्बन्धमें एक परम्परा कहती है कि यह पांड्य नरेश उग्रपेरुवालुतिके कारण हुई किन्तु दूसरी परम्परा पदुमनार नामक जैन विद्वानको इसका कारण बताती है। तामिल भाषाके अष्टादस नीति ग्रन्थोंमें कुरल और नारदियाल अत्यन्त महत्व पूर्ण समझे जाते हैं इस ग्रन्थमें निरुपित नैतिक सिद्धान्त जाति अथवा धर्मके भेदोंको भुलाकर सभी लोगोंके द्वारा माने जाते हैं। तामिल-साहित्यके परम्परागत अध्ययनके लिये इन दोनों ग्रन्थोंका अध्ययन आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति तब तक तामिल विद्वान कहे जानेका अधिकारी नहीं है जब तक कि वह इन दोनों महान् ग्रंथोंमें प्रवीण न हो।

क्रमशः

अहिंसा-सम्बंधी एक महत्वपूर्ण प्रश्नावली

अहिंसाका प्रश्न राष्ट्रीय दृष्टिसे निःसन्देह एक बड़े ही महत्वका प्रश्न है। वह भारतके ही नहीं किन्तु अन्य देशोंके लिये भी जहाँ युद्धका दावानल धधक रहा है और धँधकने वाला है, आजकल गंभीर विचारका विषय बना हुआ है। कांग्रेसने अहिंसाकी नीतिको अंगीकार कर उसका हालमें जिस रूपसे परित्याग किया है और उस पर महात्मा गाँधीजीने कांग्रेससे अलग होकर अपना जो वक्तव्य दिया है, उससे इस प्रश्न पर अधिक गहराईके साथ विचार करनेकी और भी ज़्यादा आवश्यकता हो गई है। जैनियोंका अहिंसा सिद्धान्तके विषयमें खास दावा है और वे अपने धर्मको उसका मूल स्रोत बतलाते हैं, इसलिये उस की उलझनोंको सुलझाना उनका पहला कर्तव्य है। बड़ी खुशीकी बात है कि कलकत्तेके श्रीविजयसिंहजी नाहर आदि कुछ जैन सज्जनोंने जैनदृष्टि से इस विषय पर गहरा विचार करनेके लिये एक आन्दोलन उठाया है और एक पत्र द्वारा अपनी प्रश्नावलीको समाजके सैंकड़ों गणमान्य विद्वानोंके पास भेजा है। 'तरुण ओसवाल' में छापा है और दूसरे पत्रोंमें भी छपाया जा रहा है। आपका वह पत्र नीचे दिया जाता है। साथमें महात्मा गाँधीजीका वह विस्तृत भाषण भी है, जिसका इस पत्रमें उल्लेख है और जिस पर खास तौरसे ध्यान देनेकी पत्रमें प्रेरणा की गई है। आशा है 'अनेकान्त'के विज्ञ पाठक महात्माजीके पूरे भाषणको गौरके साथ पढ़ेंगे और फिर जैनदृष्टिसे उस प्रश्नावलीको हल करनेका पूरा प्रयत्न करेंगे, जो पत्र में दी हुई हैं। इससे देशके सामने जो प्रश्न उपस्थित है उसके हल होनेमें बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी।

—सम्पादक]

हम यह पत्र आपकी सेवामें एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न की चर्चाके विषयमें भेज रहे हैं और इस छूटके लेनेकी क्षमा चाहते हैं।

आज देश भरमें इस बातकी चर्चा हो रही है कि आया बाहरी आक्रमण या अन्दरूनी झगड़ोंसे देशकी और देशवासियोंकी रक्षा बिना फ़ौज-हथियारोंके और अहिंसक तरीकेसे हो सकती है या नहीं। जैसा कि आपको विदित है, आज पिछले २१ वर्षसे हिन्दुस्तान की आज़ादीके लिये राजनैतिक क्षेत्रमें भी अहिंसाके सिद्धान्तका प्रयोग हो रहा है। इसके पहले तक हमारे ख़यालमें अहिंसाधर्म व्यक्तिके निजी जीवनमें और उसमें भी एक संकुचित दायरेमें सीमित रहा, पर यह स्पष्ट है कि जब तक अहिंसाके सिद्धान्तका हम हमारे व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उपयोग न करें, यह सिद्धान्त अधूरा और पङ्गु ही रहेगा। जीवनके अमुक क्षेत्रमें तो दिन रातके २४ घंटोंमें से अमुक समयमें ही अहिंसाका पालन और शेषमें हिंसा की छूट, हमें तो यह केवल अँधा ज्ञानहीन धर्मपालन ही मालूम होता है। इसमें कायरता भी मालूम होती है। हमारा मतलब यह नहीं है कि कोई भी आदमी पूर्ण अहिंसक रूपसे जीवन व्यतीत कर सकता है। यह तो असम्भव सी बात है। क्योंकि जीवनके लिये हिंसा किसी न किसी रूपमें अनिवार्य है, पर अहिंसाको कुछ क्षेत्रोंमें ही सीमित कर देना और दूसरे क्षेत्रोंमें हिंसा की प्रधानता और छूट मान लेना तो अहिंसाके मूल पर आघात करना है, हमारा ऐसा ख़याल है। ऐसी स्थितिमें अहिंसा केवल एक विडम्बना मालूम होती है। इस सिलसिलेमें हम आपका ध्यान महात्मा गाँधीके

'वीरोंकी अहिंसा' शीर्षक भाषणकी ओर आकर्षित करते हैं (यह भाषण अनेकान्तकी इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित है) जिसमें अहिंसाकी व्यापक और विशद,पर साथ ही सुगम व्याख्या की गयी है।

आज भारतवर्ष ही नहीं, सारे संसारका ध्यान अहिंसाके सिद्धान्तकी ओर गया है। ऐसे अवसर पर अहिंसाको परमधर्म मानने वाले हम जैनोंका एक विशेष उत्तरदायित्व हो गया है। हज़ारों वर्षोंसे—परंपरासे हम अहिंसाधर्मकी घोषणा करते रहे हैं और उसके लिये बहुतसे कष्ट भी सहे हैं। इसलिये आज जब अहिंसाके सिद्धान्तकी परीक्षाका और उसके विकास का समय आया है, तब हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम इसकी प्रतिष्ठामें अपना सहयोग दें और स्पष्ट तौर पर अपना मत दें। हम समझते हैं कि और कुछ न कर सकें तो अहिंसाकी सैद्धान्तिक चर्चामें तो हम अधिकारसे बोल ही सकते हैं। यदि हम आज इस प्रश्नकी चर्चामें संसारके सामने वास्तवमें कुछ स्पष्ट और निश्चित् राय रख सकें तो अहिंसाधर्मके प्रचारमें थोड़ासा हाथ बँटा सकनेके पुण्यके भागी भी हो सकेंगे।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर हम नीचे लिखे कुछ प्रश्नों पर आपकी स्पष्ट और निश्चित राय चाहते हैं और आशा करते हैं कि आप हमें जितनी जल्दी हो सके, अपने उत्तरसे कृतार्थ करेंगे। हम यह पत्र सभी जैनसम्प्रदायोंके आचार्य, प्रख्यात् साधु, अग्रेसर श्रावक तथा जैनपत्रोंके सम्पादकोंके पास भेज रहे हैं और चाहते हैं कि पर्यूषणपर्व तक सब उत्तरोंका संकलन करके प्रकाशित करें। यदि हमारी जानकारी न होनेसे या भूलसे किन्हीं महानुभावके पास यह पत्र खास तौरसे न पहुँचे तो भी यह उनकी नज़रमें आने ''वह अपना मत इस पर प्रकट करेंगे, ऐसी हमें आशा है। प्रश्न इस प्रकार हैं—

१—जैनधर्मके अनुसार अहिंसाकी क्या व्याख्या है? आपकी रायमें क्या आज जो व्याख्या की जाती है, वह उससे भिन्न है? आपकी सम्मतिमें अहिंसा की पूर्ण व्याख्या क्या है?

२—क्या यह सम्भव है कि बाहरके आक्रमण या अन्दरूनी झगड़ों, (जैसे हिन्दु-मुस्लिम दंगे, या लूट मार) से बिना हथियारों या फौजके अहिंसात्मक ढंगसे देशकी रक्षा हो सकती है?

३—यदि ऐसा नहीं तो क्या आपकी रायमें अहिंसा जीवनका सर्वव्यापी सिद्धान्त नहीं हो सकता?

४—अहिंसात्मक ढंगसे देशकी रक्षाका प्रश्न हल हो सकता है, तो किस तरीक़ेसे और क्यों कर?

५—आपकी जानमें क्या जैनशास्त्रों या साहित्यमें ऐसे कोई उदाहरण हैं जब देश या राज्यकी रक्षाके लिये अहिंसात्मक उपाय काममें लाये गये हों।

६—क्या आपकी जानमें शास्त्रोंमें ऐसे भी उदाहरण हैं जब देश या धर्मकी रक्षाका प्रश्न उपस्थित होने पर जैनआचार्योंने हिंसासे रक्षा करनेका आदेश दिया हो या आयोजन किया हो।

हम आशा करते हैं कि जैसा भी हो, संक्षेपमें या विस्तारसे आप अपना उत्तर शीघ्र ही भेजनेकी कृपा करेंगे। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि इस प्रश्नकी चर्चा उठानेमें हमारा एक मात्र उद्देश्य अहिंसाके प्रचार में तथा उनके प्रयोके बीचमें आई हुई बाधाओंको दूर करने में जितना हो सके उतना सहयोग देनेका है।

विनीत

४८, इंडियन मिररस्ट्रीट
कलकत्ता

विजयसिंह नाहर
सिद्धराज ढड्ढा
भंवरमल सिंघी

वीरोंकी अहिंसाका प्रयोग

[श्री महात्मा गांधी]

[यह महात्मा गाँधीजीका वह भाषण है, जिसे उन्होंने गत २२ जूनको वर्धामें गाँधी-सेवा-संघकी सभामें दिया था। इसमें उन्होंने अपना सारा हृदय उँडेल कर रख दिया है और अपने पचास वर्षके अनुभवको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें जनताके सामने रक्खा है। अहिंसा-सम्बंधी प्रश्नावलीका जो पत्र पीछे प्रकाशित हुआ है उसमें इसी पर खास तौरसे ध्यान देनेकी प्रेरणा की गई है। यह पूरा भाषण पहिले 'सर्वोदय' में प्रकाशित हुआ था, अब इसी अगस्त मासके 'तरुण ओसवाल' में भी प्रकट हुआ है। 'तरुण ओसवाल' में जहाँ कहीं छपनेकी कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं, उन्हें 'सर्वोदय' परसे ठीक करके दिया जा रहा है। पाठकोंको यह पूरा भाषण गौरके साथ पढ़ना चाहिये।

—सम्पादक]

मेरी साधना

मैंने जाजूजीके पास कुछ प्रश्न दिये। इसका कारण यह है कि मेरे दिलमें भी अनेक तरहके विचार आते रहते हैं। मैंने आज तक अहिंसा या ग्रामोद्योगके जो विचार और कार्य-क्रम जगतके सामने रखे, उसका मतलब यह नहीं था कि मेरे पास कोई बने-बनाये सिद्धान्त पड़े हैं, या मैंने कोई अन्तिम निर्णय कर लिये हैं। परन्तु फिर भी, इस विषयमें मेरे कुछ विचार तो हैं ही। पचास वर्ष तक मैंने एकही चीजकी साधना की है। ज्ञान-पूर्वक विचार भलेही न किया हो, लेकिन फिर भी विचार तो होता ही रहा। उसे आप मेरी अन्तर-आवाज कहें या अनुभवका परिणाम कहें। जो कुछ है, आपके सामने रखता हूँ। पचास साल तक उसी अन्दरकी आवाजको श्रवण करता रहा हूँ।

'अहिंसा' शब्द निषेध

जो अहिंसक है, उसके हाथमें चाहे कोई भी उद्यम क्यों न रहे, उसमें वह अधिक-से-अधिक अहिंसा लानेकी कोशिश करेगा ही। यह तो वस्तु स्थिति है कि बगैर हिंसाके कोई भी उद्योग चल नहीं सकता। एक दृष्टिसे जीवनके लिये हिंसा अनिवार्य मालूम होती है। हम हिंसाको घटाना चाहते हैं, और हो सके तो उसका लोप करना चाहते हैं। मतलब यह कि हम हिंसा करते हैं, परन्तु अहिंसाकी ओर क़दम बढ़ाना चाहते हैं। हिंसाका त्याग करनेकी हमारी कल्पनामें से अहिंसा निकली है। इसलिये इसे शब्द भी निषेधात्मक मिला है। 'अहिंसा' शब्द निषेधात्मक है।

'अहिंसा' की मर्यादित व्याख्या

अर्थात् जो अहिंसाको मानता है, वह जो उद्योग करेगा, उसमें कम से कम हिंसा करनेका प्रयत्न करेगा। लेकिन कुछ उद्योग ही ऐसे हैं, जो हिंसा बढ़ाते हैं। जो मनुष्य स्वभावसे ही अहिंसक है, वह ऐसे चन्द उद्योगोंको छोड़ ही देता है। उदाहरणार्थ,यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि वह कसाईका धन्धा करेगा। मेरा मतलब यह नहीं है कि मांसाहारी कभी अहिंसक हो ही नहीं सकता मांसाहार दूसरी चीज़ है। हिंदुस्तानमें थोड़ेसे ब्राह्मण और वैश्योंको छोड़कर बाकीके सब तो मांसाहारी ही हैं। लेकिन फिर भी, वे अहिंसाको परमधर्म मानते हैं। यहाँ हम मांसाहारीकी हिंसा का विचार नहीं कर रहे हैं। जो मनुष्य मांसाहारी हैं, वे सारे हिंसावादी नहीं हैं। मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि मांसाहारी मनुष्य अहिंसक नहीं होता? ऐंड्रूज़से बढ़कर अहिंसक मनुष्य कहाँ मिलेगा? लेकिन वह भी तो पहले मांसाहारी था। बादमें उसने मांसाहार छोड़ दिया। लेकिन जब मांसाहारी था, तब भी अहिंसक तो था ही। छोड़ने पर भी, मैं जानता हूँ, कि कभी २ जब वह अपनी बहनके पास चला जाता था तब मांस खा लेता था, या डाक्टर लोग आग्रह करते थे तो भी खा लेता था। लेकिन उससे उसकी अहिंसा थोड़े ही कम हो जाती थी? इसलिये यहाँ पर हमारी अहिंसाकी व्याख्या परिमित है। हमारी अहिंसा मनुष्यों तक ही मर्यादित है।

हिंसक और अहिंसक उद्योग

लेकिन मांसाहारी अहिंसक भी बाज चीज तो छोड़ ही देता है। जैसे वह शिकार कभी नहीं करेगा। यानी जिनसे हिंसाका विस्तार बढ़ता ही जाता है उन प्रवृत्तियोंमें वह कभी नहीं पड़ेगा। वह युद्धमें नहीं पड़ेगा। युद्धमें शस्त्रास्त्र बनानेके कारखानोंमें काम नहीं करेगा। उनके लिये नये नये शस्त्रोंकी खोज नहीं करेगा। मतलब, वह ऐसा कोई उद्योग नहीं करेगा, जो हिंसा पर ही आश्रित है और हिंसाको बढ़ाता है।

अब, काफी उद्योग ऐसे भी हैं, जो जीवनके लिये आवश्यक हैं; लेकिन वे बिना हिंसाके चल ही नहीं सकते। जैसे खेतीका उद्योग है। ऐसे उद्योग अहिंसामें आजाते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि उनमें हिंसाकी गुंजाइश नहीं है, अथवा वे बिना हिंसा के चल सकते हैं। लेकिन उनकी बुनियाद हिंसा नहीं है और वे हिंसाको बढ़ाते भी नहीं हैं। ऐसे उद्योगोंमें होने वाली हिंसा हम घटा सकते हैं और उसे अपरिहार्य हिंसाकी हद तक ले जा सकते हैं। क्यों कि आखिरी अहिंसा हमारे हृदयका धर्म है। हम यह नहीं कह सकते कि किसी उद्योगका अहिंसासे अनिवार्य सम्बन्ध है। वह तो हमारी भावना पर निर्भर है। हमारा हृदय अहिंसा होगा, तो हम अपने उद्योगमें भी अहिंसा लाएँगे।

अहिंसा केवल बाह्य वस्तु नहीं है। मान लीजिये एक मनुष्य है, काफी कमा लेता है और सुखसे रहता है। किसीका कर्ज वगैरह नहीं करता, लेकिन हमेशा दूसरोंकी इमारत और मिलकियत पर दृष्टि रखता है, एक करोड़के दस करोड़ करना चाहता है, तो मैं उसे अहिंसक नहीं कहूँगा। ऐसा कोई धन्धा नहीं, जिसमें हिंसा हो ही नहीं। लेकिन

चन्द धन्धे ऐसे हैं जो हिंसाको ही बढ़ाते हैं। अहिंसक मनुष्यको उन्हें वर्ज्य समझना चाहिये। दूसरे अनेक धधोंमें अगर हिंसाके लिये स्थान है तो अहिंसाके लिये भी है। हमारे दिलमें अगर अहिंसा भरी हुई है तो हम अहिंसक वृत्तिसे उन धन्धोंको करें। हम उन उद्योगोंका दुरुपयोग करें, यह बात दूसरी है।

प्राचीन भारत की अर्थ-व्यवस्था

मेरे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। परन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि हिन्दुस्तान कभी सुखी रहा है। उस जमानेमें लोग अपने अपने धन्धे परोपकार बुद्धिसे करते थे। उसमें उदर निर्वाह तो ले लेते थे; लेकिन धन्धा समाजके हितका ही होता था। मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि जिन्होंने हिन्दुस्तानके गांवोंका निर्माण किया, उन्होंने समाज का संगठन ही ऐसा किया जिसमें शोषण और हिंसाके लिये कमसे कम स्थान रहे। उन्होंने मनुष्य के अधिकारका विचार नहीं किया; उसके धर्मका विचार किया। वह अपनी परम्परा और योग्यता के अनुसार समाजके हितका उद्योग करता था। उसमेंसे उसे रोटी भी मिल जाती थी, यह दूसरी बात थी। लेकिन उसमें करोड़ोंको चूसनेकी भावना नहीं थी। लाभकी भावनाके बदले धर्मकी भावना थी। वे अपने धर्मका आचरण करते थे; रोटी तो यों ही चल जाती थी। समाजकी सेवा ही मुख्य चीज थी। उद्योग करनेका उद्देश्य व्यक्तिगत नफ़ा नहीं था। समाजका संगठन ही ऐसा था। उदाहरणार्थ, गांवमें बढ़ईकी जरूरत होती थी। वह खेती के लिये औज़ार तैयार करता था; लेकिन गांव उसे पैसे नहीं देता था। देहाती समाज पर यह बन्धन लगा दिया था कि उसे अनाज दिया जाय। उसमें भी हिंसा काफी हो सकती थी। लेकिन सुव्यवस्थित समाजमें उसे न्याय मिलता था। और किसी जमानेमें समाज सुव्यवस्थित था ऐसा मैं मानता हूँ। उस वक्त इन उद्योगोंमें हिंसा नहीं थी।

एक उदाहरण

मेरे इस विश्वासके काफी सबूत हैं। अपने छुटपनमें जब मैं काठियावाड़के देहातोंमें जाता था तो लोगोंमें तेज था। उनके शरीर हट्टे-कट्टे थे। आज वे निष्तेज हो गये हैं। घरमें दो बर्तन भी नहीं रहे। इस परसे मुझको ऐसा लगता है कि किसी वक्त हमारा समाज सुव्यवस्थित था। उस वक्त उसका जीवन अहिंसक था। अहिंसक जीवनके लिये आवश्यक सब उद्योग अच्छी तरह चलते थे। अहिंसक जीवनके लिये जितने उद्योग अनिवार्य हैं उनका अहिंसासे सीधा सम्बन्ध है।

शरीर-श्रम

इसीमें शरीर-श्रम आ जाता है। मनुष्य अपने श्रमसे थोड़ी सी ही खेती कर सकता है। लेकिन अगर लाखों बीघे जमीनके दो चार ही मालिक हो जाते हैं, तो बाकीके सब मजदूर हो जाते हैं। यह बग़ैर हिंसाके नहीं हो सकता। अगर आप कहेंगे कि वह मजदूर नहीं रखेंगे, यंत्रोंसे काम लेंगे; तो भी हिंसा आ ही जाती है। जिसके पास एक लाख बीघा जमीन पड़ी है, उसे यह घमण्ड तो आ ही जाता है कि मैं इतनी जमीनका मालिक हूँ। धीरे धीरे उसमें दूसरों पर सत्ता क़ायम करने का लालच आ जाता है। यत्रों की मदद से

वह दूर दूरके लोगोंको भी गुलाम बना लेता है। और उन्हें इसका पता भी नहीं होता, कि वे गुलाम बन रहे हैं। गुलाम बनानेका ऐसा एक खूबसूरत तरीका इन लोगोंने ढूंढ़ लिया है। जैसे फोर्ड है। एक कारखाना बनाकर बैठ गया है। चन्द आदमी उसके यहाँ काम करते हैं। लोगोंको प्रलोभन दिखाता है, विज्ञापन निकालता है। हिंसक प्रवृत्तिका ऐसा मोहक रास्ता निकाल लिया है कि हम उसमें जाकर फँस जाते हैं और भस्म हो जाते हैं। हमें इन बातोंका विचार करना है कि क्या हम उसमें फँस जाना चाहते हैं या उससे बचे रहना चाहते हैं ?

मेरा विशेष दावा

अगर हम अपनी अहिंसाको अविच्छिन्न रखना चाहते हैं और सारे समाजको अहिंसक बनाना चाहते हैं, तो हमें उसका रास्ता खोजना होगा। मेरा तो यह दावा रहा है कि सत्य, अहिंसा, वगैरह जो यम हैं, वे ऋषि मुनियोंके लिये नहीं हैं। पुराने लोग मानते हैं कि मनुने जो यम बतलाये हैं वे ऋषि-मुनियोंके लिये हैं, व्यवहारी मनुष्योंके लिये नहीं हैं। मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है: वह पिण्ड भी है और ब्रह्माण्ड भी। वह अपने ब्रह्माण्डका बोझ अपने कंधे पर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्तिके साथ खत्म हो जाता है, वह मेरे कामका नहीं है। मेरा यह दावा है कि अहिंसा सामाजिक चीजहै। केवल व्यक्तिगत चीज नहीं है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है; वह पिण्ड भी है और ब्रह्माण्ड भी। वह अपने ब्रह्माण्डका बोझ अपने कंधे पर लिये फिरता है जो धर्म व्यक्तिके साथ खतम हो जाता है, वह मेरे कामका नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसाका आचरण कर सकता है और आज भी कर रहा है। मैंने इसी विश्वास पर चलनेकी कोशिश की है और मैं मानता हूँ कि मुझे उसमें निष्फलता नहीं मिली।

अहिंसा समाजका प्राण है

मेरे लिये अहिंसा समाजके प्राणके समान चीज है। वह सामाजिक धर्म है, व्यक्तिके साथ खतम होनेवाला नहीं है। पशु और मनुष्यमें यही तो भेद है। पशुको ज्ञान नहीं है मनुष्यको है। इस लिए अहिंसा उसकी विशेषता है। वह समाजके लिए भी सुलभ होनी चाहिये। समाज उसीके बल पर टिका है। किसी समाजमें उसका कम विकास हुआ है, किसीमें बेशी विकास हुआ है। लेकिन उसके बिना समाज एक क्षण भी नहीं टिक सकता। मेरे दावेमें कितना सत्य है, इसकी आप शोध करें।

आपका कर्तव्य

मैं जो यह कहा करता हूं कि सत्य और अहिंसा से जो शक्ति पैदा हो जाती है उसकी तुलना किसी दूसरी शक्तिसे नहीं हो सकती, क्या वह सच है ? इसकी शोध भी आपको करनी चाहिये। हमें उस शक्तिकी साधना करके वह अपने जीवनमें बितानी चाहिये। तब तो हम उसका प्रत्यक्ष प्रमाण दे सकेंगे। गाँधी-सेवा-संघका यह कर्तव्य है कि वह मेरे दावेका परीक्षण करे। क्या अहिंसा करोड़ों लोगोंके करने जैसी चीज है ? क्या हिंसा-अहिंसा का मिश्रण ही व्यहारके लिये जरूरी है ? क्या

अहिंसा दर-असल सामाजिक धर्म है? क्या हम उस पर डटे रहें; या उसे छोड़ दें? इन सारी बातोंका निर्णय आपको करना है। अहिंसाकी शक्ति अपने जीवन द्वाराप्रगट करना हमारा कर्तव्य है।

हमने आज तक अहिंसाका प्रयोग नहीं किया

हम यह कर्तव्य नहीं कर सके, इसका अनुभव कल हुआ। कांग्रेसके महामंडलने (हाई कमाण्ड ने) कल जो प्रस्ताव किया, उस परसे साफ है कि हम परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हुये। वह महामंडलके लिये शर्मकी बात नहीं है। वह तो मेरे लिये शर्म की बात है। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि मेरी बात तीर जैसी सीधी उनके हृदय तक पहुँच सके। कांग्रेसमें भी तो मैं मुख्य कार्य-कर्ता रहा। उनके दिलों पर मैं अपना असर नहीं कर सका। इसमें शर्म तो मेरा है। इससे यह सिद्ध हुआ है कि आज तक जिस अहिंसाका आश्रय लिया, वह सच्ची अहिंसा नहीं थी। वह निःशस्त्रोंकी अहिंसा थी। लेकिन मैं तो कहता हूँ कि अहिंसा बलवानोंका शस्त्र है। हमने आज तक जो कुछ किया, वह अहिंसाके नाम पर दूसरा ही कुछ किया। उसको आप और कुछ भी कह लीजिये; लेकिन अहिंसा नहीं कह सकते। वह क्या था, यह मैं नहीं बता सकता। वह तो आप काका साहब, विनोबा या किशोरलालसे पूछें। वे बतावें कि हमने जो आज तक किया, उसे कौनसा नाम दिया जाय। लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि वह अहिंसा नहीं थी। मेरे नजदीक तो शस्त्रधारी भी बहादुरीमें अहिंसक व्यक्तिकी बराबरी नहीं कर सकता। वह तो शस्त्र का सहारा चाहता है, इसलिये वह अशक्त है। अहिंसा अशक्तोंका शस्त्र नहीं है।

मेरा दोष

तो फिर आप पूछेंगे कि मैंने जनतासे उस शस्त्रका प्रयोग क्यों करवाया? क्या उस वक्त मैं यह नहीं जानता था? मैं जानता तो था। लेकिन उस वक्त मेरी दृष्टि इतनी शुद्ध नहीं हुई थी। अगर उस वक्त मेरी दृष्टि शुद्ध होती, तो मैं लोगोंसे कहता कि 'मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे आप अहिंसा न कहें। आप अहिंसाके लिये लायक नहीं हैं; डरसे भरे हुये हैं। आपके दिलमें हिंसा भरी हुई है। आप अंग्रेजोंसे डरते हैं। अगर आप हिंदू हैं तो मुसलमानसे डरते हैं; अगर आप मुसलमान हैं तो तगड़े हिन्दुओंसे डरते हैं। इसलिये मैं जो प्रयोग आपसे करा रहा हूँ वह अहिंसाका प्रयोग नहीं है। सारा डरपोकोंका समाज है। उनमें से एक डरपोक आदमी मैं भी हूँ।" यह सब मुझे साफ २ कह देना चाहिये था। मुझे यह कह देना चाहिये था कि 'हम प्रतिकारकी जिस नीतिका प्रयोग कर रहे हैं वह सच्चा अहिंसा नहीं है।' मैंने ग़लत भाषाका प्रयोग किया। अगर मैं ऐसा न करता, तो यह करुण कथा, जो कल हुई, असम्भव थी। इसलिये मैं अपने आपको दोषी पाता हूँ।

हमारा हेतु शुद्ध था

वह करुण कथा तो है, लेकिन फिर भी मुझे उस का दुःख नहीं है। हमने ग़लत प्रयोग भले ही किया हो, लेकिन शुद्ध हृदयसे किया। जो अहिंसा नहीं थी उसे अहिंसा मानकर अपना काम किया।

हमारा काम तो निपट गया लेकिन उसमेंसे एक अनुभव मिला। आज तक हमने जो किया, वह डरके मारे किया। इसलिये सफलता नहीं मिली। परन्तु हमारा हेतु शुद्ध था। इसलिये अब भगवान ने हमें बचा लिया। गलत नीतिको सही समझ कर हमने अधिकार-ग्रहण भी किया। वहां भी अहिंसा की परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हुये। तभीसे मुझे तो विश्वास हो गया था कि हमें अधिकार-पदोंका त्याग करना ही होगा। भगवान्ने हमारी लाज रख ली। कभी न-कभी हमें अधिकार-त्याग तो करना ही था। भगवानने हमें निमित्त दे दिया। किसीने हमको वहांसे निकाला नहीं। हममेंसे बहुतेरोंके दिलोंमें अधिकारका मोह हो गया था। कुछ लोगोंको थोड़ासा पैसा भी मिल जाता था। लेकिन कांग्रेसका हुक्म होते ही सब छोड़कर अलग हो गये। साँप जैसे अपनी केंचली फेंक देता है उसी तरह फेंककर अलग होगये। मान लिया कि ये अधिकार-पद निकम्मे हैं, क्योंकि हमारे वहाँ बैठे रहने पर भी सरकारने हमें लड़ाईमें शरीक कर दिया, और हमें उसका पता भी नहीं चला। भगवान्ने ही लाज रखी, क्योंकि हम वहाँ रहते तो हमारी दुर्बलताका प्रदर्शन हो जाता।

शुद्ध अहिंसक प्रयोगका मौका

आज यह दूसरा मौक़ा आया। यूरोपमें महा युद्ध शुरू हो गया। जगतको बलवान अहिंसाका प्रयोग दिखानेका मौका आया। यह हमारी परीक्षा का समय है। हम उसमें उत्तीर्ण नहीं हुए। आज देशको बाह्य आक्रमणसे डर नहीं है। मेरा खयाल है कि बाह्य आक्रमण नहीं होगा। लेकिन सल्तनत कमजोर हो जाने पर गुण्डोंको मौक़ा मिलेगा। चोर हैं, डाकू हैं, वे हमारे घरों पर हमला करेंगे। हमारी लड़कियों पर आक्रमण करेंगे। अगर हमारी अहिंसा बलवान की है, तो हम उन पर क्रोध नहीं करेंगे। वे हमें पत्थर मारेंगे, गालियाँ देंगे, तो भी हमें उनके प्रति दया रखनी चाहिये। हम तो यही कहें कि ये पागलपनमें ऐसा कर रहे हैं। हमे उनके प्रति द्वेष न रखते हुए उन पर दया करनी चाहिये और मर जाना चाहिए। जब तक हम जिन्दा हैं, वे एक भी लड़कीको हाथ न लगा सकें। इसी प्रयत्नमें हमें मरना है।

वर्किङ्ग कमेटीकी स्थिति

इस प्रकार चोर, डाकू और आततायी हमला करें तो लोग अपना रक्षण किस प्रकार करें, यह प्रश्न आया। कांग्रेसके महाजनों (हाई कमाण्ड) ने देखा कि शान्ति-सेना तो बन नहीं सकती। फिर कांग्रेस लोगोंको क्या आदेश दे? क्या कांग्रेस मिट जाय? इसलिए उन्होंने वह कल वाला प्रस्ताव किया। उन्होंने समझा कि सम्पूर्ण अहिंसा का प्रयोग देशकी शक्तिके बाहर है। देशको फौज की जरूरत है।

मेरे पास भी हमेशा पत्र आते हैं कि 'अन्धाधुंध होने वाली है। तुम राष्ट्रीय सेना बनाओ, और उसके लिये लोगोंको भर्ती करो'। लेकिन मैं यह नहीं कर सकता।

मेरी स्थिति

मैंने तो अहिंसाकी ही साधना की है। मैं डरपोक या और कुछ भले ही होऊँ; लेकिन दूसरी साधना नहीं कर सकता। पचास वर्ष तक मैंने

अहिंसाकी ही उपासनाकी है। कॉंग्रेसके द्वारा भी मैं वही बात सिद्ध करना चाहता था। मैं चवन्नी का सदस्य भी नहीं था, लेकिन मैं कहता था कि चवन्नी सदस्यसे ज्यादा हूँ। क्योंकि कॉंग्रेसके कार्य क्रमका नेतृत्व मैं करता था। मेरी नैतिक जिम्मेदारी चवन्नी-सदस्यसे बहुत अधिक थी। अब वह नैतिक बंधन भी कलसे छोड़ कर आया हूं। क्योंकि अब मैं अपना प्रयोग किसके द्वारा करूँ? आज तक तो कॉंग्रेसके द्वारा करता रहा।

कार्य-समिति और मैं

आज तक कॉंग्रेसने मेरा साथ दिया। लेकिन जब वर्तमान महायुद्ध शुरू हुआ और मैं शिमलासे लौटा, तभीसे बात कुछ दूसरी हो गई। शिमलामें मैंने वाइसरायसे कहा था कि 'मेरी सहानुभूति तुम्हारे लिये है। लेकिन हम तो अहिंसक हैं। हम केवल आशीर्वाद दे सकते हैं। अगर हमारी अहिंसा बलवानोंकी अहिंसा है, तो हमारे नैतिक आशीर्वाद से संसारमें आपका बल बढ़ेगा।' परन्तु मैंने देखा कि मेरे विचारोंसे कॉंग्रेसके महाजन सहमत नहीं हो सकते थे। उन्होंने अपना अलग प्रकारका वक्तव्य निकाला। अगर वे मेरी नीति स्वीकारते, तो कॉंग्रेसका इतिहास दूसरी ही तरह लिखा जाता।

यदि मैं बलपूर्वक कहता कि मेरी ही नीति माननी चाहिये, तो राजेन्द्र बाबू, राजाजी और दूसरे सदस्य मान लेते। वे भी कह देते कि 'ठीक है, तुम्हारे साथ चलेंगे।' लेकिन वह धोखाबाजी हो जाती। उसमें अहिंसा नामको भी नहीं रहती। अहिंसाका पहला लक्षण सचाई और ईमानदारी है। मैंने अभी कहा कि अहिंसा बलवानका शस्त्र है। बलवानका क्या, वह तो बलिष्ठका शस्त्र है। क्षमा तो वीरपुरुषका भूषण है; दुर्बलोंका नहीं। जबरदस्ती कोई चीज मान लेना दुर्बलता है। इसलिये मेरे कहनेसे वे मेरी बात मान लेते, तो वह दगाबाजी हो जाती। जो चीज मैं मानता हूँ, वह अगर उनकी बुद्धिको मंजूर नहीं है, तो जो सच है वही उन्हें करना चाहिये। इस दृष्टिसे उन्होंने जो किया, वह ठीक ही किया है।

अब हम सहधर्मी नहीं रहे

परन्तु मेरी अहिंसक जबान अब उनकी बात का उच्चार नहीं कर सकती। अब तक तो वे सरकार से कहते थे कि "आप हमारी बात नहीं मानते, तो हम भी नैतिक दृष्टिसे आपकी सहायता नहीं कर सकते। आप अपने धर्मका जब तक पालन नहीं करते, तब तक हम आपके साथ सहयोग नहीं कर सकते।" मेरी अहिंसक जबान कॉंग्रेसकी तरफसे यह सब कह सकती थी। उसमें मेरी अहिंसाके प्रयोगके लिये सामान मौजूद था। आज वह नहीं है। अब तो कॉंग्रेसके महाजन और मैं सहधर्मी नहीं रहे। सक्करके लोगोंने मुझसे पूछा; उनसे भी मैंने कहा कि तुम मेरा रास्ता लो। उन्होंने समझा कि वे मेरी सलाह पर नहीं चल सकते। उन्होंने मारपीटका रास्ता उचित समझा। अब वे मेरे सहधर्मी नहीं रहे। यही बात कलके प्रस्तावमें स्पष्ट हुई है। सक्करमें भी कांग्रेस वाले हैं। उनको और कांग्रेसके महामंडलको मैं अपनी नीति पर नहीं ला सका। इसलिये अलग हो गया। ऐसी यह करुण कथा है। कांग्रेसके महामंडलने मुझसे कह

दिया कि "हम अपनी मर्यादासे बाहर नहीं जा सकते। तुम्हें स्वतन्त्र कर देते हैं। तुम बलवानकी अहिंसाका प्रयोग करनेके लिये स्वतन्त्र हो।"

हमारी दुर्बल अहिंसक नीति

आज तक हमने जो अहिंसाकी साधनाकी, उसमें यह बात रही कि हम अहिंसाके द्वारा अंग्रेजों से सत्ता छीन लेंगे। हम उनका हृदय-परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। हमारे दिलमें करुणा नहीं थी; क्रोध और द्वेष था। गालियां तो हममें भरी थीं। हम यह नहीं मानते थे कि उनका हृदय बिगड़ा है, वे हमारी दयाके पात्र हैं। हम तो यही मानते थे कि चोर और लुटेरे हैं। इनको अगर हम मार सकते तो अच्छा होता। इसी वृत्तिसे हमने असहयोग और सविनय-भंग किया। जेलमें जा कर बैठे; वहां नखरे किये।

'अहिंसा'के नामका प्रभाव

परन्तु इसमेंसे भी कुछ अच्छा परिणाम निकल आया। अहिंसा हमारी जबान पर थी। उसका कुछ शुभ परिणाम हुआ। थोड़ी-बहुत सफलता मिल गयी। राम नामके विषयमें हमने सुना है कि राम नामसे हम तर जाते हैं, तो फिर स्वयं राम ही आजावे तो क्या होगा? अहिंसाके नाम ने भी इतना किया; तो फिर अगर दर असल हममें सच्ची अहिंसा आ जावे, तो हम आकाशमें उड़ने लगेंगे। जो शक्ति हिटलरके हवाई जहाजोंमें नहीं है, वह उड़नेकी शक्ति हममें होगी। हमारा शब्द आकाश गंगाको भी भेदता हुआ चला जायगा। यह ज़मीन आसमान हो जायगी।

गांधी सेवा संघ क्या करे?

आज तक गांधी सेवा संघने जो काम किया वह निकम्मा काम था; लेकिन सच्चे दिलसे किया था। इसलिये बिल्कुल निष्फल नहीं हुआ। हम गलती कर रहे थे, लेकिन उसके पीछे धोखेबाजी नहीं थी। फिर भी जो कुछ किया, वह हमारा भूषण नहीं कहा जा सकता। आज परीक्षाका मौका आ गया। कांग्रेसके महाजन तो उत्तीर्ण नहीं हुए। अब देखना है, गाँधी सेवा संघ क्या कर सकता है? गांधी सेवा संघके लोग अगर जनतामें अहिंसाकी जागृति कर सकेंगे, तो कांग्रेस के महाजनोंको भी खशी होगी। कांग्रेसके लोग अगर महाजनोंसे कहेंगे कि आप क्यों कहते हैं कि अहिंसाका पालन नहीं हो सकता; हम तो अहिंसक हैं और रहेंगे, तो कांग्रेसके महाजन नाचेंगे। आप लोग गाँधी सेवा-संघ मानने वाले हैं। आपमेंसे कुछ कांग्रेसमें हैं, कुछ नहीं हैं। मैं तो वहां नहीं रहा। अब जिन लोगोंके नाम कांग्रेसके दफ्तरमें दर्ज हैं, वे अगर अहिंसक हैं तो उन्हें कार्य-समिति से कहना चाहिये कि हम अहिंसामें ही मानते हैं। लेकिन यों ही कह देनेसे काम नहीं चलेगा। आपके दिलोंमें सच्ची अहिंसा होनी चाहिये। इस तरह की अहिंसा अगर कांग्रेस सदस्योंमें है, तो आल इन्डिया कांग्रेस कमेटीमें वे कहेंगे, कांग्रेसका अधिवेशन होगा, उसमें भी कहेंगे कि हम तो अहिंसक हैं। जब तक आप समझते हैं कि आप का अहिंसाका टट्टू कांग्रेसमें चल सकता है, तब तक वहाँ रहें, नहीं तो निकल जायँ। कांग्रेसका धर्म एक रहे और आपका दूसरा, इससे कार्य नहीं

हो सकता। तब तो हमको ऐलान कर देना चाहिये कि हम लोगोंके प्रतिनिधि नहीं बन सकते।

दिली अहिंसा

अगर आप कांग्रेसमें रहकर अहिंसाका प्रचार करना चाहते हैं, तो आपको खबरदार रहना होगा। आपकी अहिंसा सच्ची अहिंसा होनी चाहिये। अगर मैं दिलसे भी किसी आदमीको मारना चाहता हूँ तो मेरी अहिंसा खतम है। मैं शरीरसे नहीं मारता, इसका मतलब यही है कि मैं दुर्बल हूँ। किसी आदमीको लकवा हो जाय तो वह मार नहीं सकता। उसी तरहकी मेरी अहिंसा हो जाती है। अगर आप दिलसे भी अहिंसक हैं तो कांग्रेसके महाजनोंसे कह सकते हैं कि हम तो शुद्ध अहिंसाके प्रयोगके लिए तैयार हैं।

भावुक न बनें

उस हालात मे आपको अपना परीक्षण करना होगा, फ़जरसे शाम तक आप जो जो कार्य करेंगे, उसके द्वारा शुद्ध अहिंसाकी साधना करनी होगी। केवल दिखावेके लिए नहीं, केवल भावुकतासे नहीं। हम केवल भावुक बनेंगे तो वहममें फँसेंगे। भावुकताके सिलसिलेमें मुझे एक किस्सा याद आता है। मेरे पिताजीके पास एक सज्जन आया करते थे। बड़े भावुक थे, वहमी थे। जहाँ किसीने छींक दिया कि बैठ गये उनके घरसे आने के लिए पाँच मिनट लगते थे। लेकिन इन भाई को पचास मिनट लग जाते थे। छींकोंके कारण बेचारे रुक जाते थे। इसी तरह हम भावुकतासे अहिंसाके नाम पर सभी कामोंसे हट सकते हैं। मैं ऐसा नहीं चाहता। हम सब ऐसे भावुक न बनें।

स्वभावसिद्ध कार्य ही स्वधर्म है

जो कुछ हम करें, वह धर्मकी भावनासे करें। केवल भावुकतासे नहीं। मैं आज यहाँ बोलने आ गया हूँ। अपना धर्म समझ कर आया हूँ। मौन तो मेरा स्वभाव हो गया है। मौन मुझको मीठा लगता है। वह मेरा विनोद हो गया है। मनुष्यका कर्तव्य भी जब स्वभाव-सिद्ध हो जाता है, तो वही उसका विनोद हो जाता है। फिर कर्तव्य क्या रहा? वह तो उसका स्वभाव हो गया; आनन्द हो गया। अब तो मेरे लिए मौन स्वभाव-सिद्ध हो गया है। इसी तरह अहिंसा हमारे लिए स्वभाव-सिद्ध हो जाना चाहिये। कर्तव्य जब स्वभाव-सिद्ध हो जाता है, तब वह हमारा स्वधर्म हो जाता है।

उसी तरह आप दिन भर जो करेंगे, उसके साथ अहिंसाका तार चलता ही रहेगा। चाहे झूठे तर्क शास्त्रके आधार पर क्यों न हो, आपके लिये अहिंसा ही परम धर्म होगा। झूठे तर्क शास्त्रको ही माया कहते हैं। दूसरोंके लिए वह माया है लेकिन हम जब तक उसमें फँसे हैं, तब तक हमारे लिए वह माया नहीं है। हमारे लिए वह सत्य ही है। मैं जानता हूँ कि इस चरखे पर ज्यों ज्यों एक तार कातता हूँ त्यों त्यों मैं स्वराज्यके नजदीक जाता हूँ। यह माया हो सकती है; लेकिन वह मुझे पागलपनसे बचाती है। आपको इस तरह अनुसंधान करना चाहिये।

अहिंसक उपकरणके यज्ञ

यह चरखा मेरे लिए अहिंसाकी साधनाका औजार है। वह जड़ वस्तु है। लेकिन उसके साथ

जब अपनी चेतन वस्तुको मिला देता हूँ; तो उसमेंसे जो मधुर आवाज निकलती है वह अहिंसक होती है। उसमें जो लोहा लगा है; उससे खून भी हो सकता है। लेकिन मैंने इस चरखेमें मनुष्यके हितके लिए उसे लगाया है। मैं उसके सारे अंग स्वच्छ रखता हूँ। उसमेंसे अगर मधुर आवाज न निकले, तो वह हिंसक चीज बन जाती है। हमें तो अहिंसाका यज्ञ करना है। यज्ञकी सामग्री बिल्कुल शुद्ध होनी चाहिये। खराब लकड़ी; खराब लोहा लगावेंगे तो रद्दी चरखा बनेगा। उसकी आवाज कर्णकटु होगी। यज्ञकी सामग्री ऐसी नहीं होती।

इस प्रकारके अनुसंधानसे अगर हम अपनी प्रत्येक क्रिया करेंगे, तो हमारी अहिंसाकी साधना शुद्ध होगी। शुद्ध साधनाके लिए शुद्ध उपकरण भी चाहिये। चरखेको मैंने शुद्ध उपकरण माना है। जो मन: पूर्वक यज्ञ करता है, उसे यज्ञकी सामग्री ही प्रिय लगती है। इसलिए मुझे चरखा प्रिय है। उसकी आवाज मीठी लगती है। मेरे लिये वह अहिंसाका संगीत है।

आप मुझसे आगे बढ़ें

हमको पता नहीं कि इस तरहकी साधनाके लिये किसे कितने वर्ष लगेंगे। किसीको हजार वर्ष लग जायं तो कोई एक ही वर्षमें कर लेगा। मुझे यह अभिमान और मोह नहीं है कि मैंने पचास वर्ष तक साधना करली, इसलिये मैं जल्दी पूर्ण हूगा और आप अभी शुरू कर रहे हैं, इसलिये आपको अधिक वक्त लगेगा। यह अभिमान मिथ्या है। मैं तो अपूर्ण हूँ डरपोक हूँ। इसलिये मुझे इतने साल लग गये; और तो भी मैं पूर्ण नहीं हुआ। लेकिन यह हो सकता है कि कोई आदमी आज ही शुरू करे और जल्दी ही पूर्ण हो जाय। इसलिये मैंने पृथ्वीसिंहसे कह दिया कि तुममें हिंसक वीरता तो थी। मुझमें तो यह भी नहीं थी। अगर तुम सच्चे दिलसे अहिंसाको अपनावोगे, तो बहुत जल्दी सफल होगे; मुझसे भी आगे चले जाओगे।

मैं सफल शिक्षक बनना चाहता हूं

मेरी अपेक्षा दूसरे लोग मेरे प्रयोगमें अधिक सफल हों तो मैं नाचूंगा। वे अगर मुझे हरा दें तो मैं अपने आपको सच्चा शिक्षक समझूंगा। इसी तरह मैं अपनी सफलता मानता आया हूँ। मैंने लोगोंको जूते बनाना सिखाया है, अब वे मुझसे आगे बढ़ गये हैं। यह प्रभुराम तो खड़ा है। इसे जूते बनाना मैंने सिखलाया। इसकी इतनीसी उम्र थी। यह मुझसे आगे बढ़ गया। दूसरा सैम था। वह कारीगर था। उसने तो वह कला हस्तामलकवत कर ली। वे सब मुझसे आगे बढ़ गये। क्योंकि मेरे दिलमें चोरी नहीं थी। मैं जो कुछ जानता था सब उन्हें देनेको अधीर था। उन्होंने मुझे हरा दिया, यह मुझे अच्छा लगता है। क्योंकि उसका यही मतलब है कि मैं सही शिक्षक हूँ। अगर अहिंसाका भी मैं सही शिक्षक हूँ तो जो लोग मुझसे अहिंसा सीखते हैं, वे मुझसे आगे बढ़ जायेंगे। मुझमें जो कुछ धरा है, वह सब मैं दे देना चाहता हूँ। जो लोग आश्रममें मेरे साथ रहे हैं औ दूसरे भी जो आज मेरे साथ रहते हैं, वे अगर मुझसे आगे नहीं बढ़ते तो इसका यह अर्थ होता है कि मैं सफल शिक्षक नहीं हूँ।

आप मेरे सह-साधक हैं

मेरी यह इच्छा है कि आप लोग अहिंसाकी साधनामें मुझसे भी आगे बढ़ जायँ। क्योंकि मैं सिद्ध नहीं हूँ, आप मेरे सह-साधक हैं। मेरे पास अहिंसाका जो धन है, उसे मैं घर२ बाँट देना चाहता हूँ। उसमें कसर नहीं करना चाहता। आपको अपने दिलमें सोचना चाहिये कि "यह जो कुछ हमें दे रहा है, उसका हम सारी भूमिमें सिंचन करें। यह तो बूढ़ा हो गया है; हम तो तरुण हैं। हम इसके दिये हुए धनको बढ़ावेंगे!" इस तरह सोच कर आप मुझसे आगे बढ़ जायँगे तो मैं आपको आशीर्वाद दूँगा।

मैं अकेला नहीं हूँ

मैं जानना चाहता हूँ कि आपमेंसे कितने मेरे साथ इस रास्ते चलनेको तैयार हैं? अगर कोई न आया तो मुझे अकेला भी चलना ही है। मैं सत्तर सालका हो गया हूँ, तो भी बूढ़ा हो गया हूँ ऐसा तो नहीं समझता। और मैं कभी अकेला तो हो नहीं सकता। और कोई नहीं तो, भगवान मेरे साथ रहेंगे। मुझे अकेलेपनका अनुभव कभी होता ही नहीं।

आपकी अगर अहिंसाके मार्गमें श्रद्धा है, तो आप अपना परीक्षण करें। कितने आदमी इस रास्ते चलनेको तैयार हैं, इसकी खोज करें। कांग्रेस वालोंको टटोलें। यह सब खोज मैं नहीं कर सकता। क्या आप कांग्रेसके महाजनोंको अहिंसाकी शक्ति दे सकते हैं? वे क्या करते; वे तो लाचार थे। जब वे देखते हैं कि लोगोंमें अहिंसाकी एक बून्द भी नहीं है, तो वे कह देते हैं, 'हम क्या करें; हम आपका रास्ता नहीं ले सकते'। मैंने जिस तरह पदाधिकार छोड़ दिया, उस तरह वे तो नहीं छोड़ सकते। मैं अहिंसाको अपनी व्यक्तिगत साधना भी समझता हूँ। वे तो नहीं समझते।

मैंने कांग्रेस क्यों छोड़ी?

इस परसे आप समझायेंगे कि मैंने कांग्रेस छः साल पहले छोड़ दी, यह ठीक ही किया। उसकी अधिक सेवाकी। उसी वक्त मैंने देख लिया कि कांग्रेसमें कई लोग ऐसे आ गये हैं, जो अहिंसाको नहीं मानते; जिनको अहिंसाने स्पर्श भी नहीं किया है। मैं उनसे काम कैसे ले सकता था? साथ साथ मैंने यह भी देखा कि कई अहिंसाके पुजारी कांग्रेसके बाहर पड़े हैं। इसीलिये मैंने अलग हो जाना ही ठीक समझा। आज आप देखते हैं कि मैंने सही काम किया।

क्योंकि मैंने देख लिया कि मैं दूसरी तरहकी कोई सेवा नहीं कर सकता। सिवाय अहिंसाके मुझमें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। तब मैं वहाँ रह कर क्या करता? मुझमें जो कुछ शक्ति है वह अहिंसाकी ही शक्ति है। मैं अपनी अपूर्णता जानता हूँ। मेरी अपूर्णता मुझसे अधिक कोई नहीं जानता। लेकिन फिर भी मनुष्य अभिमानी होता है। इसलिये मैं जिन अपूर्णताओंको नहीं देखता, उन्हें आप देख लेते हैं; और मैं आत्म-परीक्षण करता रहता हूँ, इसलिये मेरी जिन अपूर्णताओंको आप नहीं देख सकते; उन्हें मैं देख लेता हूँ। इस तरह दोनोंका जोड़कर लेता हूँ।

अहिंसा ही मेरा बल है

मुझमें अहिंसाकी अपूर्ण शक्ति है, यह मैं जानता हूँ; लेकिन जो कुछ शक्ति है वह अहिंसाकी ही है। लाखों लोग मेरे पास आते हैं। प्रेमसे मुझे अपनाते हैं। औरतें निर्भय होकर मेरे पास रह सकती हैं। मेरे पास ऐसी कौनसी चीज़ है? केवल अहिंसाकी शक्ति है; और कुछ नहीं। अहिंसाकी यह शक्ति एक नयी नीतिके रूपमें मैं जगतको देना चाहता हूँ। उसको सिद्ध करनेके लिये हम क्या कर रहे हैं इसका हिसाब हमें अभी दुनियाको देना बाकी है। दुनियामें आज जो शक्ति प्रकट हो रही है, उसके सामने मैं हारूँगा नहीं। लेकिन हमें सचाई और सावधानीसे काम लेना होगा; नहीं तो हम हार जायेंगे।

हिटलरकी शक्तिका रहस्य

हम अपनी सारी शक्ति अहिंसाकी साधनामें नहीं लगायेंगे, तो हम जीत नहीं सकते। हिटलरको देखिये। जिस चीज़को वह मानता है, उसमें अपने सारे जीवनकी शक्ति लगा देता है। पूरे दिल और पूरी श्रद्धासे उसीमें लगा रहता है। इसलिये मैं हिटलरको महापुरुष मानता हूँ। उसके लिये मेरे मनमें काफी क़द्र है। वह शक्तिमान पुरुष है। आज राक्षस होगया है। जो जीमें आता है, सो करता है; निरंकुश है। लेकिन हमें उसके गुणोंको देखना चाहिये। उसकी शक्तिके रहस्यको पकड़ना चाहिये। तुलसीदासजीने यह बात हमें सिखाई है। उन्होंने रावणकी भी स्तुतिकी है। मेरे दिलमें रावणके लिये भी आदर है। अगर रावण महापुरुष न होता, तो रामचन्द्रजीका शत्रु नहीं हो सकता था। रामचन्द्र असाधारण थे; रावण भी उनका असाधारण शत्रु था।

हिटलरकी एकाग्रता

मेरे नजदीक तो वह सारी काल्पनिक कथा है। लेकिन उसमें सच्चा शिक्षण भरा पड़ा है। हिटलर अपनी साधनामें निरन्तर जाग्रत है। उसके जीवनमें दूसरी चीज़के लिये स्थान ही नहीं रहा है। करीब करीब चौबीस घंटे जागता है। उसका एक क्षण भी दूसरे काममें नहीं जाता। उसने ऐसे ऐसे शोध किये कि उन्हें देखकर ये लोग दिमूढ़ रह जाते हैं। उसके टैंक आकाशमें चलते हैं और पानीमें भी चलते हैं। देखकर ये लोग दंग रह जाते हैं। उसने ऐसी बातें कर दिखाई जो इनके ख्वाबमें भी नहीं थी। वह कितनी साधना कर सकता है, चौबीस घंटे परिश्रम करने पर भी अपनी बुद्धि तीव्र रख सकता है। मैं पूछता हूँ, हमारी बुद्धि कहाँ है? हम जड़वत् क्यों हैं, कोई हमसे सवाल पूछता है तो हमारी बुद्धि कुंठित क्यों होजाती है?

हमारी बुद्धिमें तेजी हो

मैं यह नहीं कहता कि हम वाद-विवाद करें। केवल वाद-विवादमें तो हम हारेंगे ही। हमें तो श्रद्धायुक्त बुद्धिकी शक्ति बतानी है। इसीका नाम शक्ति है। अहिंसाका अर्थ केवल चरखा चलाना नहीं है। उसमें भक्ति होनी चाहिये। अगर भक्तिके बाद हमारी बुद्धि तेजस्वी नहीं हुई, तो मान लेना चाहिये कि हमारी भक्तिमें त्रुटि है। हिटलरकी विद्याके लिये अगर बुद्धिका उपयोग है, तो हमारी विद्याके लिये बुद्धिका उससे कई गुना उपयोग है। हम यह न समझें कि अहिंसाके विकासमें बुद्धिका उपयोग ही नहीं है।

बुद्धिके उपयोग का क्षेत्र

आपकी बुद्धिके उपयोगका क्षेत्र बतानेके लिए मैंने ये प्रश्न बनाए। ये मौलिक प्रश्न हैं। उनका उत्तर आप एक दिनमें नहीं दे सकते। मैं यहाँ तक नहीं पहुँचा कि उन पर पुस्तक लिखूं फिर भी, मेरे दिमाग़में कुछ उत्तर तो हैं। मैं पुस्तक लेखक नहीं बन सकता। पुस्तक लेखक तो दूसरोंको बनना है। मेरे पास इतनी फ़ुरसत कहाँ है? जो लोग अध्ययन और खोज करेंगे वे पुस्तक लिखेंगे। पुस्तक लिखना भी कम महत्वका काम नहीं है। जैसे रिचर्ड ग्रेग हैं। वे मेरे पाससे सिद्धान्त ले गये। अध्ययन और खोज करके पुस्तकें लिखते हैं। मैं जो कहनेको डरता था वह आज वह ग्रेग कह रहा है। मैं तो कहता था कि चरखा हिन्दुस्तानके लिए है। वह तो कहता है कि सारी दुनियाका कल्याण चरखेमें और ग्राम उद्योगोंमें भरा है। योरुप और अमेरिकाके लिए भी अहिंसाकी साधनाका दूसरा रास्ता नहीं है।' ग्रेग कहता कि दूसरी तरहसे अहिंसक जीवन असंभव है। मैं कहनेसे हिचकता था। लेकिन वह तो बहादुर आदमी है। उसने निर्भय होकर कह डाला। मैंने इस तरह खोजबीन और अध्ययन नहीं किया है। अन्तर्नादने जो मुझे आदेश दिया और प्रत्यक्ष अनुभवसे जो मैंने देखा, वह जगतके सामने रखता गया। ग्रेगके समान लेखबद्ध करके शास्त्र नहीं बनाया। उसकी बुद्धिने जो काम किया, क्या आपकी बुद्धि भी वह कर सकती है?

विपक्षी जो कहते हैं, उसका अनादर नहीं करना चाहिये। उनकी दृष्टिसे उन प्रश्नोंका विचार करके उन्हें उनकी भाषामें समझाना हमारा काम है। मैं यह नहीं कहता कि हम अपना कार्य छोड़ दें। उसे तो आग्रह पूर्वक चलाना ही है लेकिन हम जागृत होकर काम करेंगे, तभी सिद्धि मिलेगी। हमारी बुद्धि मन्द होगी तो हमारा काम बिगड़ने वाला है।

मेरा दर्द

इस दृष्टिसे कल जो प्रस्ताव हुआ, वह आपको अध्ययन और खोजका मौका देगा। उस प्रस्ताव से हमारी आबोहवा दुरुस्त होनी चाहिये। हमें इस बातकी खोज करनी चाहिये कि कांग्रेसके महामण्डलको यह प्रस्ताव क्यों करना पड़ा? जो यह कहेगा कि महामण्डलके लोग डरपोक हैं, वह देश-द्रोह करेगा। उन्होंने जो आबोहवा देखी उसका वह प्रस्ताव प्रतिघोष है। मैं उस आबोहवाका प्रतिघोष नहीं हो सकता; क्योंकि अहिंसा मेरी व्यक्तिगत साधना भी है। कांग्रेसकी वह साधना नहीं है। मुझे तो उसीमें मरना है। कांग्रेसके प्रतिनिधि मेरे जैसा नहीं कर सकते। उनकी साधना अलग है। इसलिये अब न वे मेरे साथ चल सकते हैं, और न मैं उनके साथ चल सकता हूँ। उनके लिये मेरे दिलमें धन्यवाद है। इस बातका दुख भी है कि इतने दूर तक साथ चलने पर भी मैं उन पर अपना असर क्यों नहीं डाल सका? उन्होंने मुझे अपना मार्ग-दर्शक माना था। बड़ी श्रद्धासे बाग डोर मेरे हाथमें दी थी। फिर भी, मैं उनके दिलमें विश्वास नहीं पैदा कर सका। इसका मुझे दर्द है।

रचनात्मक कार्यक्रमका महत्व

आप इस विषयकी शोध करें। हमें तो

अहिंसाकी साधना वीरके शस्त्र के रूपमें करनी है। बात बहुत बड़ी है। हम यह न समझें कि हमें जेल जानेकी शक्ति बढ़ानी है। हमे तो यह बताना है कि रचनात्मक कार्यक्रम स्वराज्यका अविभाज्य अग है। हमने यह नहीं समझा कि चरखा हमें स्वराज्य देगा। 'गाँधी कहता है इसलिए चरखा चला लो, उससे गरीबको थोड़ा सा धन मिलता है'—यही हमारी वृत्ति रही। अब आपमें यह सिद्ध करनेकी शक्ति आनी चाहिये कि रचनात्मक कार्य ही स्वराज्य दे सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि आप रोज थोड़ासा, कात लें, दो चार मुसलमानोंके साथ दोस्ती करलें, अछूतोंसे मिलने जुलने लगें और समझें कि अब हम स्वराज्यकी लड़ाईके लायक बन गये। आपको तो यही मानना चाहिये कि रचनात्मक कार्य-क्रममें ही स्वराज्य देने की शक्ति है। रचनात्मक कार्यक्रमके बाद लड़ाई करनी है। ऐसी मान्यता आपकी नहीं हो सकती। उस कार्य-क्रममें ही स्वराज्यकी ताक़त है।

मैंने उल्टा प्रयोग कराया

मैंने अहिंसाका प्रयोग इस देशमें उलटा किया। दरअसल तो यह चाहिये था कि रचनात्मक कार्य-क्रमसे शुरू करता। लेकिन मैंने पहले सविनय भंग और असहयोगका, जेल जानेका कार्यक्रम रक्खा। मैंने लोगोंको यह नहीं समझाया कि ये तो बादमें आने वाली चीज़ हैं। इसलिये वे आन्दोलन कामयाब न हो सके।

क़ानून-भंगका अधिकार

मुझे नडियादका क़िस्सा याद आता है। रौलेट एक्ट सत्याग्रहके वक्तकी बात है। वहीं मैंने कबूल कर लिया था कि मेरी हिमालय जैसी भूल हुई। जिन्होंने ज्ञानपूर्वक कानूनका पालन किया ही नहीं था, उन्हें कानून-भंग बतलाया। उनसे मुझे कहना चाहिये था कि आज तक सरकारके दण्डके भयसे जो किया, वह पहले अपनी इच्छासे करो। तब तुम्हें कानून-भंगका अधिकार प्राप्त होगा।

ईश्वरने मुझे ही क्यों चुना ?

वह सारी अधूरी अहिंसा थी। मेरा उसमें डरपोकपन था। मैं अपने साथियोंको नाराज़ नहीं करना चाहता था। साथियोंके डरसे कुछ करनेमे हिचकना हिंसा है। उसमें असत्य भरा है। मोती लालजी, वल्लभभाई और दूसरे लोग नाराज़ हो जायेंगे; यह डर मुझे क्यों रहा? ये सब मेरी त्रुटियाँ थीं। उन्हे मैं तटस्थ होकर देखता हूँ। उनका प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ; क्योंकि मुझमें अनासक्ति है। उन त्रुटियोंके लिये न तो मुझे दुख है, न पश्चाताप। जिस प्रकार मैं अपनी सफलता और शक्ति परमात्माकी ही देन समझता हूँ, उसीको अर्पण करता हूँ, उसी प्रकार अपने दोष भी भगवानके ही चरणोंमें रखता हूँ। ईश्वरने मुझ जैसे अपूर्ण मनुष्यको इतने बड़े प्रयोगके लिये क्यों चुना? मैं अहंकारसे नहीं कहता। लेकिन मुझे विश्वास है कि परमात्माको गरीबोंसे कुछ काम लेना था, इसलिये उसने मुझे चुन लिया। मुझसे अधिक पूर्ण पुरुष होता तो शायद इतना काम न कर सकता। पूर्ण मनुष्यको हिन्दुस्तानी शायद पहचान भी न सकता। वह बेचारा विरक्त होकर गुफामें चला जाता। इसलिए ईश्वरने मुझ जैसे अशक्त और अपूर्ण मनुष्यको ही इस देशके लायक समझा। अब मेरे बाद जो आयेगा, वह पूर्ण पुरुष होगा। मैं कहता यह हूं कि वह पूर्ण पुरुष आप बनें। मेरी अपूर्णताओंको पूरा करें।

उच्च कुल और उच्च जाति

ऊँची जाति, पुराना कुल, बाप-दादोंसे पाया हुआ धन, पुत्र-पौत्र, रूप रंग आदिका जो अभिमान करता है, उसके बराबर कोई मूर्ख नहीं, क्योंकि इनके पानेके लिए, उसने कौनसी बुद्धि खर्च की। किसी बुद्धिमानने कहा है कि जो लोग बड़े घरानेके होनेकी डींग मारते हैं, वे उस कुत्तेके सदृश हैं, जो सूखी हड्डी चिचोड़ कर मगन होता है।

* * *

महान् पुरुषके ये लक्षण हैं—(१) जिसे दूसरेकी निन्दा बुरी लगती है और ऐसी बातको अनसुनी करके, किसीसे उसकी चर्चा नहीं करता। (२) जिसे अपनी प्रशंसा नहीं सुहाती, पर दूसरेकी प्रशंसासे हर्ष होता है (३) जो दूसरोंको सुख पहुँचाना अपने सुखसे बढ़कर समझता है (४) जो छोटोंसे कोमलता और दयाभाव तथा बड़ोंसे आदर-सत्कारके साथ व्यवहार करता है। ऐसे पुरुषको महापुरुष कहते हैं; केवल धन या ऊँचा कुल या जाति और अधिकारसे महानता नहीं आती।

❀ ❀ ❀

अनेक विद्वान् योग्य और देश हितैषी पुरुष जिनकी कीर्तिकी ध्वजा हजारों वर्षसे संसारमें फहरा रही हैं, प्रायः नीचे कुलमें उत्पन्न हुए थे। ऊँचे कुल और ऊँची जातिका होनेसे बड़ाई नहीं आती। प्रकृति पर ध्यान करो तो यही दशा जड़ खान तक चली गई है कि छोटी वस्तुओंमें बड़े रत्न होते हैं—देखो कमल कीचड़से, निकलता है, सोना मिट्टीसे, मोती सीपसे, रेशम कीड़ेसे, जहरमुहरा मेंढकसे, कस्तूरी मृगसे, आग लकड़ीसे, मीठा शहद मक्खी से।

—महात्मा बुद्ध

[श्री डा० बी. एल. जैनके सौजन्यसे]

Register. No. L. 4328

श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रन्थावलीके

जैन मन्त्र-तन्त्र और चित्रकलाके अभूतपूर्व प्रकाशन

भगवन् मल्लिषेणाचार्य विरचित

१. श्री भैरव पद्मावती कल्प

आठ तिरंगे और पचास एक रंगे चित्र और बन्धुषेण विरचित टीका, भाषा समेत साथमें इकतीस परिशिष्टोंमें श्री मल्लिषेण सूरि विरचित सरस्वतीकल्प, श्री इन्द्रनंदी विरचित पद्मावती पूजन, रक्त पद्मावती कल्प, पद्मावती सहस्रनाम, पद्मावत्यष्टक, पद्मावती जयमाला, पद्मावती स्तोत्र, पद्मावती दंडक, पद्मावती पटल वगैरह मंत्रमय कृतियां और गुजरात कालेजके संस्कृत प्राकृत भाषाके अध्यापक प्रो० अभ्यंकर द्वारा सम्पादित होने पर भी मूल्य सिर्फ १५) रुपये रखा गया है।

२. श्री महाप्राभाविक नव स्मरण

पंचपरमेष्ठि मंत्रके चार यंत्र, श्रीभद्रबाहु स्वामी विरचित उपसर्गहर स्तोत्र, उनके अनेक मंत्र, कथा और सत्ताईस यंत्र समेत, श्रीमानतुंगाचार्य विरचित भयहर स्तोत्र उनके अनेक मंत्र तंत्र और २१ यंत्र समेत, श्रीभक्तामरजी स्तोत्र, मंत्राम्नाय, कथाएं, तंत्र, मंत्र और हरेक काव्य पर दो दो यंत्र कुल ९६ यंत्र समेत और भगवन् सिद्धसेनदिवाकर विरचित श्रीकल्याणमंदिरजी स्तोत्र, उनके मंत्राम्नाय और ४३ यंत्र, चित्र वगैरह मिलाके कुल ४१२ चारसौ बारह यंत्र चित्र दिया हुआ है, एक प्रतिका पांच रतल वजन होने पर भी मूल्य २५) रु० रखा गया है।

३. श्री मंत्राधिराज चिंतामणि

श्रीचिन्तामणिकल्प, श्रीमंत्राधिराज कल्प वगैरह श्री पार्श्वनाथजी भगवानके अनेक मंत्रमय स्तोत्र और ६५ यंत्र समेत मूल्य ७॥) रु०

४. श्री जैन चित्रकल्पद्रुम

गुजरातकी जैनाश्रित चित्रकलाके ग्यारहवीं सदी से लगाकर उन्नीसवीं सदी तकके लाक्षणिक नमूनाओंका प्रतिनिधी संग्रह, जिसमें ३२० पूर्ण रंगी और एक रंगी चित्र हैं, साथ में जैनाश्रित चित्रकलाके विषयमें अमेरिकाके प्रो० ब्राउनने, बड़ोदरा राज्यके पुरातत्वखातेका मुख्याधिकारी डा० हीरानन्द शास्त्रीजीने, गुजरातके सुप्रसिद्ध चित्रकार रविशंकर रावलने, रसिकलाल परीख, श्रीयुत साराभाई नवाब, प्रो० डोलरराय मांकड, प्रो० मंजुलाल मजमुदार और लेखनकलाके विषयमें विद्वद्वर्य मुनिश्री पुण्यविजयीके विद्वतापूर्ण लेख भी दिया है। यह ग्रन्थस्वर्गस्थ वड़ौदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड़को उनके हीरक महोत्सव पर समर्पित किया गया था मूल्य सिर्फ २५) रु०

५. जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला मुनि जसवइ विरचित मूल्य ५)

६. श्री घंटाकरण–माणिभद्र–मंत्र-तंत्र कल्पादि संग्रह मूल्य ५)

७. श्रीजैन कल्पलता चित्र ६५ मूल्य ८)

८. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखन कला मूल्य ८)

दूसरे प्रकाशनोंके लिये सूचीपत्र मंगवाइये।

प्राप्तिस्थानः—साराभाई मणिलाल नवाब, नागजीभूदरनी पोल, अहमदावाद

वीर प्रेस आफ इण्डिया, कनाट सर्कस न्यू देहलीमें छपा।

विषय-सूची

पृष्ठ

१. वीरसेन स्मरण ६२१

२. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक— [प्रो० जगदीशचन्द्र ६२३

३. गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति लेखपर विद्वानोंके विचार और विशेष सूचना—[सम्पादकीय ६२७

४. सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक—[पं० परमानन्द ६२९

५. गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटि पूर्ति पर विचार—[प्रो० हीरालाल ... ६३५

६. जैन-दर्शनमें मुक्ति-साधना—[श्रीअगरचन्द नाहटा ६४०

७. आग्रह (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर ६४४

८. नृपतुंगका मत विचार—[श्री एम. गोविन्द पै ६४५

९. शिक्षा (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर ६५६

१०. जैनधर्म-परिचय गीता जैसा हो—[श्री दौलतराम "मित्र" ६५७

११. आशा (कविता)—[श्रीरघुवीरशरण ६५९

१२. विद्यानन्द-कृत सत्यशासन परीक्षा—[श्री पं० महेन्द्रकुमार ६६०

१३. प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा—[सम्पादकीय ... ६६६

१४. पण्डित-प्रवर आशाधर—[श्री पं० नाथूराम प्रेमी ६६९

निवेदन

"अनेकान्त" की १२ वीं किरण प्रकाशित होने पर कृपालु ग्राहकोंका भेजा हुआ शुल्क पूरा हो जायगा। क्योंकि अनेकान्तके प्रत्येक ग्राहक प्रथम किरणसे ही बनाये जाते हैं। अत: १२ वीं किरण प्रकाशित होनेके बाद "अनेकान्त" का दिल्लीसे प्रकाशन बन्द कर दिया जायगा। अनेकान्तके घाटेका भार ला० तनसुखरायजीने एक वर्षके लिये ही लिया था, किन्तु उन्होंने दूसरे वर्ष भी इसे निभाया। अब अन्य दानी महानुभावोंको इसके संचालनका भार लेना चाहिये।

१० वीं किरणमें रा० ब० सेठ हीरालालजीका चित्र देखकर कितनी ही संस्थाओंने उनकी ओरसे भेट स्वरूप अनेकान्त भेजनेके लिये लिखा है। किन्तु हमें खेद है कि हम उनके आदेशका पालन न कर सके। क्योंकि सेठजीकी ओरसे अनेकान्त जैनेतर संस्थाओं और जैन मन्दिरोंमें चित्र प्रकाशित होनेसे पूर्व ही भेटस्वरूप जाने लगा था।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३	सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली भाद्रपद पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९७	किरण ११

वीरसेन-स्मरण

शब्दब्रह्मेति शाब्दैर्गणधरमुनिरित्येव राद्धान्तविद्भिः,
साक्षात्सर्वज्ञ एवेत्यवहितमतिभिः सूक्ष्मवस्तुप्रणीतः (प्रवीणैः ?) ।
यो दृष्टो विश्वविद्यानिधिरिति जगति प्राप्तभट्टारकाख्यः,
स श्रीमान् वीरसेनो जयति परमतध्वान्तभित्तंत्रकारः ॥

— धवला-प्रशस्ति ।

जिन्हें शाब्दिकों (वैय्याकरणों) ने 'शब्दब्रह्म' के रूपमें, सिद्धान्तशास्त्रियोंने 'गणधरमुनि' के रूपमें, सावधानमतियोंने 'साक्षात्सर्वज्ञ' के रूपमें और सूक्ष्मवस्तु-विज्ञोंने 'विश्वविद्यानिधि' के रूपमें देखा—अनुभव किया—और जो जगतमें 'भट्टारक' नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए, वे परमताऽन्धकारको भेदने वाले शास्त्रकार-धवलादिके रचयिता—श्रीमान् वीरसेनाचार्य जयवन्त हैं—विद्वद्हृदयोंमें सब प्रकारसे अपना सिक्का जमाए हुए हैं ।

प्रसिद्ध-सिद्धान्त-सभस्तिमाली, समस्तवैय्याकरणाधिराजः ।
गुणाकरस्तार्किक-चक्रवर्ती, प्रवादिसिंहो वरवीरसेनः ॥

—धवला, सहारनपुर-प्रति, पत्र ७१८

श्री वीरसेनाचार्य प्रसिद्ध सिद्धान्तों—षट्खण्डागमादिकों—को प्रकाशित करने वाले सूर्य थे, समस्त

वैय्याकरणके अधिपति थे, गुणोंकी खानि थे, तार्किकचक्रवर्ती थे, और प्रवादिरूपी गजोंके लिये सिंहसमान थे।

श्रीवीरसेन इत्यात्त-भट्टारकपृथुप्रथः। स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्। मन्मनः सरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम्॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम्। धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम्॥
—आदिपुराणे, श्रीजिनसेनाचार्यः

जो भट्टारककी बहुत बड़ी ख्यातिको प्राप्त थे वे वादिशिरोमणि और पवित्रात्मा श्रीवीरसेन मुनि हमें पवित्र करो—हमारे हृदयमें निवास कर पापोंसे हमारी रक्षा करो।

जिनकी वाणीसे वाग्मी बृहस्पतिकी वाणी भी पराजित होती थी उन भट्टारक वीरसेनमें लौकिक-विज्ञता और कविता दोनों गुण थे।

सिद्धान्तागमोंके उपनिबन्धों—धवलादि ग्रन्थों—के विधाता श्री वीरसेन गुरुके कोमल चरण-कमल मेरे हृदय-सरोवरमें चिरकाल तक स्थिर रहें।

वीरसेनकी धवला भारती—धवला-टीकांकित सरस्वती अथवा विशुद्ध वाणी—और चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्तिको, जिसने अपने प्रकाशसे इस सारे संसारको धवलित कर दिया है, मैं वन्दना करता हूँ।

तत्र वित्रासिताशेष-प्रवादि-मद-वारणः।
वीर-सेनाग्रणीर्वीरसेनभट्टारको बभौ॥—उत्तरपुराणे, गुणभद्रः

मूलसंघान्तर्गत सेनान्वयमें वीरसेनाके अग्रणी (नेता) वीरसेन भट्टारक हुए हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण प्रवादि-रूपी मस्त हाथियोंको त्रस्त किया था।

तदन्ववाये विदुषांवरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः।
श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः॥
यस्य वाचां प्रसादेन ह्यमेयं भुवनत्रयम्॥
आसीदष्टांगनैमित्तज्ञानरूपं विदां वरम्॥ —विक्रान्तकौरवे, हस्तिमल्लः

स्वामी समन्तभद्रके वंशमें विद्वानोंमें श्रेष्ठ श्री वीरसेनाचार्य हुए हैं, जो कि स्याद्वाद पर अपना दृढ़ निश्चय एवं आधार रखने वाले थे, तार्किकोंकी शोभा थे और रागादि सम्पूर्ण दोषोंका विध्वंस करने वाले थे। तथा जिनके वचनोंके प्रसादसे यह अमित भुवनत्रय विद्वानोंके लिये अष्टाङ्ग निमित्तज्ञानका अच्छा विषय हो गया था।

तत्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक

[ले०—प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम. ए.]

मैंने "तत्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक" नामका एक लेख फर्वरी १६४०के"अनेकान्त" (३-४) में लिखा था। इस लेखमें यह बतलाया गया था कि तत्वार्थराजवार्तिक लिखते समय अकलंकदेवके सामने उमास्वातिका स्वोपज्ञ तत्वार्थाधिगमभाष्य मौजूद था, और उन्होंने इस भाष्यका अपने ग्रन्थमें उपयोग किया है। शायद पं० जुगलकिशोरजीको यह बात न जँची, और उन्होंने मेरे लेखके अन्तमें एक लम्बी चौड़ी टिप्पणी लगा दी। हमारी समझमें इस तरहके रिसर्च-सम्बन्धी जो विवादास्पद विषय हैं, उन पर पाठकोंको कुछ समयके लिये स्वतन्त्र रूपमें विचार करने देना चाहिये। सम्पादकको यदि कुछ लिखना ही इष्ट हो तो वह स्वतन्त्र लेखके रूपमें भी लिखा जा सकता है। साथ ही, यह आवश्यक नहीं कि लेखक सम्पादकके विचारोंसे सर्वथा सहमत ही हो। अस्तु, यह इस लेखका विषय नहीं है। हम यहाँ केवल हमारे लेख पर जो "सम्पादकीय विचारणा" नामकी टिप्पणी लगाई गई है, उसीकी समीक्षा करना चाहते हैं।

पं०जुगलकिशोरजीका कहना है कि राजवार्तिककारके सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था, और इस भाष्यके पदोंका वाक्य-विन्यास और कथन सम्भवतः प्रस्तुत उमास्वातिके स्वोपज्ञ तत्वार्थाधिगमभाष्यके समान था। इस कथनके समर्थनमें मुख्तार साहबकी सबसे बलवती युक्ति यह है कि प्रस्तुतभाष्यमें षड्द्रव्यका कहीं भी एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता, जब कि अकलंकने "यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि" लिख कर किसी दूसरे ही भाष्यकी ओर संकेत किया है, जिसमें षड्द्रव्यका बहुत बार उल्लेख किया हो। इसी युक्तिके आधार पर मुख्तार साहबने मेरे दूसरे मुद्दोंको भी असंगत ठहरा दिया है—उन पर विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं समझी।

लेकिन यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वह कौनसा भाष्य था, जिसको सामने रख कर अकलंकदेवने राजवार्तिककी रचना की? पूज्यपाद अथवा समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें तो ऐसे किसी भाष्यका उल्लेख अब तक पाया नहीं गया। 'अर्हत्प्रवचनहृदय' नामक कोई अन्य भाष्य या ग्रन्थ भी अब तक कहीं सुननेमें नहीं आया। यदि ऐसे किसी भाष्यका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो यह कहा जा सकता है कि अकलंकके सामने कोई दूसरा भाष्य था। मतलब यह है कि मुख्तारसाहबके प्रस्तुत तत्वार्थभाष्यके अकलंकके समक्ष न होनेमें जो प्रमाण हैं वे केवल इस तर्क पर अवलम्बित हैं कि इसी तरहके वाक्य-विन्यास और कथनवाला कोई दूसरा भाष्य रहा होगा, जो आजकल अनुपलब्ध है। लेकिन यह तर्क सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जासकता।

हम यहाँ यह बताना चाहते हैं कि राजवार्तिक-

में उल्लिखित भाष्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय-द्वारा मान्य प्रस्तुत उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यको छोड़कर अन्य कोई भाष्य नहीं। तथा इसमें षड्द्रव्यका उल्लेख भी मिलता है।

श्वेताम्बर आगमोंमें कालद्रव्य-सम्बन्धी दो मान्यताओंका कथन आता है। भगवतीसूत्रमें द्रव्योंके विषयमें प्रश्न होनेपर कहा गया है—"कइ णं भंते! दव्वा पण्णत्ता! गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता। तं जहा—धम्मत्थिकाए०जाव अद्धा समये"—अर्थात् द्रव्य छह हैं, धर्मास्तिकायसे लेकर काल-द्रव्य तक। आगे चलकर कालद्रव्यके सम्बन्धमें प्रश्न होने पर कहा गया है—"किमियं भंते कालो त्ति पवुच्चइ? गोयमा जीवा चेव अजीवा चेव" अर्थात् काल-द्रव्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। जीव और अजीव ये दो ही मुख्य द्रव्य हैं। काल इनकी पर्यायमात्र है। यही मतभेद उमास्वातिने "कालश्चेत्येके" सूत्र में व्यक्त किया है। इसका यह मतलब नहीं उमा-स्वाति कालद्रव्यको नहीं मानते, उन्होंने कहीं भी कालका खण्डन नहीं किया, अथवा उसे जीव-अजीवकी पर्याय नहीं बताया।

"कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषे-धार्थं च"—भाष्यकी इस पंक्तिका भी यही अर्थ है कि "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" सूत्रमें 'काय' शब्दका ग्रहण प्रदेशबहुत्व बतानेके लिये और कालद्रव्यका निषेध करनेके लिये किया गया है। क्योंकि कालद्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे (?) कायवान् नहीं। इससे स्पष्ट है कि उमास्वाति काल को स्वीकार करते हैं, अन्यथा उसका निषेध कैसा? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि फिर "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इन भाष्यकी पंक्तिका क्या अर्थ है? इसका उत्तर है कि यहाँ पंचत्व कहनेसे उमास्वातिका अभिप्राय पाँच द्रव्योंमें न होकर पाँच अस्तिकायोंमें है। उमास्वाति कहना चाहते हैं कि अस्तिकायरूपमें पाँच द्रव्य हैं; काल का कथन आगे चलकर 'कालश्चेत्येके' सूत्रमें किया जायगा।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हमारे उक्त कथनका समर्थन स्वयं अकलंकको राजवार्तिकमें किया गया है। वे लिखते हैं—"वृत्तौ पंचत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेन्न अभिप्रायापरिज्ञानात् (वार्तिक)—स्यान्मतं वृत्तावमुक्त (वुक्त ?) मवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति (ये अक्ष-रशः भाष्यकी पंक्तियाँ हैं) इति ततः षड्द्रव्याणीत्यु-पदेशस्य व्याघात इति। तन्न, किं कारणं? अभिप्राया-परिज्ञानात्। अयमभिप्रायो वृत्तिकारस्य—कालश्चेति पृथग्द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते। तदनपेक्षाविकृतानि पंचैव द्रव्याणि इति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः"। अर्थात् वृत्तिमें जो द्रव्यपंचत्वका उल्लेख है वह कालद्रव्य की अनपेक्षामें ही है। कालका लक्षण आगे चल कर अलग कहा जायगा।

सिद्धसेन गणिने उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पर जो वृत्ति लिखी है, उसमें भी अकलंकके उक्त कथनका ही समर्थन किया गया है। सिद्धसेन लिखते हैं—"सत्यजीवत्वे कालः कस्मान्न निर्दिष्टः इति चेत् उच्यते—स त्वेकीयमतेन द्रव्यमित्याख्यास्यते द्रव्य-लक्षणप्रस्ताव एव। अमी पुनरस्तिकायाः व्याचिख्या-सिताः। न च कालोऽस्तिकायः, एकसमयत्वात्"—अर्थात् यहाँ केवल पाँच अस्तिकायोंका कथन किया गया है। अजीव होने पर भी यहाँ कालका उल्लेख इसलिये नहीं किया गया कि वह एक

समय वाला है उसका कथन 'कालश्चेत्येके' सूत्रमें किया जायगा।

स्वयं भाष्यकारने "तत्कृतः कालविभागः" सूत्र की व्याख्यामें 'कालोऽनन्तसमयः वर्तनादिलक्षण इत्युक्तम्' आदि रूपसे कालद्रव्यका उल्लेख किया है। इतना ही नहीं मुख्तारसाहबको शायद अत्यन्त आश्चर्य हो कि भाष्यकारने स्पष्ट लिखा है—"सर्वं पंचत्वं अस्तिकायावरोधात्। सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्"। वृत्तिकार सिद्धसेनने इन पंक्तियोंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"तदेव पंचस्वभावं षट्स्वभावं षड्द्रव्यसमन्वितत्वात्। तदाह—सर्वं षट्कं षड्द्रव्यावरोधात्। षड्द्रव्याणि। कथं, उच्यते—पञ्च धर्मादीनि कालश्चेत्येके"। इससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उमास्वाति छह द्रव्योंको मानते हैं। छह द्रव्योंका स्पष्ट कथन उन्होंने भाष्यमें किया है। पांच अस्तिकायोंके प्रसंग पर कालका कथन इसीलिये नहीं किया गया कि काल कायवान नहीं। अतएव अकलंकने षड्द्रव्य वाले जिस भाष्यकी ओर संकेत किया है, वह उमास्वातिका प्रस्तुत तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ही है। इस भाष्यका सूचन अकलंकने 'वृत्ति' शब्दसे किया है।

मुख्तार साहब लिखते हैं—"अर्हत्प्रवचन" का तात्पर्य मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रसे है, तत्वार्थभाष्यसे नहीं।" अच्छा होता यदि पं० जुगलकिशोरजी इस कथनके समर्थनमें कोई युक्ति देते। आगे चल कर आप लिखते हैं—"सिद्धसेनगणिके वाक्यमें अर्हत्प्रवचन विशेषण प्रायः तत्वार्थाधिगमसूत्रके लिये है, मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं।" यहाँ 'प्रायः' शब्दसे आपको क्या इष्ट है, यह भी स्पष्ट नहीं होता। हम यहाँ सिद्धसेनगणिका वाक्य फिरसे उद्धृत करते हैं।

"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः"।

यहाँ अर्हत्प्रवचने, तत्वार्थाधिगमे और उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये—ये तीनों पद सप्तम्यन्त हैं। उमास्वातिवाचकोपज्ञ सूत्रभाष्यसे स्पष्ट है कि उमास्वातिवाचकका स्वोपज्ञ कोई भाष्य है। इसका नाम तत्त्वार्थाधिगम है। इसे अर्हत्प्रवचन भी कहा जाता है। स्वयं उमास्वातिने अपने भाष्यकी निम्न कारिकामें इसका समर्थन किया है—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथं।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥

आगे चलकर तो मुख्तार साहबने एक विचित्र कल्पना कर डाली है। आपका तर्क है,—क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है, अतएव राजवार्तिकमें "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने" पाठ भी अशुद्ध है; तथा 'अर्हत्प्रवचन' के स्थान पर 'अर्हत्प्रवचनहृदय' होना चाहिये। कहना नहीं होगा इस कल्पना का कोई आधार नहीं। यदि पं० जुगलकिशोरजी राजवार्तिककी किसी हस्तलिखित प्रतिसे उक्त पाठको मिलान करनेका कष्ट उठाते तो शायद उन्हें यह कल्पना करनेका अवसर न मिलता। मेरे पास राजवार्तिकके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटकी प्रतिके आधार पर लिये हुए जो पाठान्तर हैं, उनमें 'अर्हत्प्रवचन' ही पाठ है। अभी पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारससे सूचित करते हैं कि "यहाँ की लिखित राजवार्तिकमें भी वही पाठ है जो मुद्रितमें है।"

इसके अतिरिक्त कुछ ही पहिले मुख्तार साहब कह चुके हैं कि "अर्हत्प्रवचन' विशेषण मूल तत्वार्थ-सूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है" तो फिर यदि अकलंक देव "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" कह कर यह घोषित करें कि अर्हत्प्रवचनमें अर्थात् तत्वार्थसूत्रमें (स्वयं मुख्तारसाहबके ही कथनानुसार) "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः" कहा है तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? 'अर्हत्प्रवचन' पाठको अशुद्ध बताकर उसके स्थानमें 'अर्हत्प्रवचन-हृदय' पाठकी कल्पना करनेका तो यह अर्थ निकलता है कि अर्हत्प्रवचनहृदय नामका कोई सूत्र ग्रन्थ रहा होगा, तथा "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः" यह सूत्र तत्वार्थसूत्रका न होकर उस अर्हत्प्रवचन हृदयका है जो अनुपलब्ध है।

श्वेताम्बरग्रन्थोंमें आगमोंको निर्ग्रंथ-प्रवचन अथवा अर्हत्प्रवचनके नामसे कहा गया है। स्वयं उमास्वातिने अपने तत्वार्थाधिगमभाष्यको 'अर्हद्वचनैकदेश' कहा है, जैसा ऊपर आ चुका है। अर्हत्प्रवचनहृदय अर्थात् अर्हत्प्रवचनका हृदय, एक देश अथवा सार। इस तरह भी अर्हत्प्रवचन-हृदयका लक्ष्य भाष्य हो सकता है। अथवा अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय दोनों एकार्थक भी हो सकते हैं। हमारी समझसे भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सबका लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत भाष्य है। जब तक अर्हत्प्रवचनहृदय आदि किसी प्राचीन ग्रन्थका कहीं उल्लेख न मिल जाय, तब तक पं० जुगलकिशोरजी की कल्पनाओंका कोई आधार नहीं माना जा सकता।

हम अपने पहले लेखमें भाष्य, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके तुलनात्मक उद्धरण देकर यह बता चुके हैं कि अनेक स्थानों पर भाष्य और राजवार्तिक अक्षरशः मिलते हैं। इनमेंसे बहुतसी बातें सर्वार्थसिद्धिमें नहीं मिलती, परन्तु वे राजवार्तिकमें ज्योंकी त्यों अथवा मामूली फेरफारसे दी गई हैं।

"कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च" भाष्यकी इस पंक्तिकी राजवार्तिकमें तीन वार्तिक बनाई गई हैं—'अभ्यन्तर कृतेवार्थःकायशब्दः'; 'तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं'; 'अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च'। कहना नहीं होगा कि वार्तिकको उक्त पंक्तियोंका साम्य सर्वार्थसिद्धिकी अपेक्षा भाष्यसे अधिक है। दूसरा उदाहरण—'नाणोः' सूत्रके भाष्यमें उमास्वातिने परमाणुका लक्षण बताते हुए लिखा है—'अनादिरमध्यो हि परमाणुः'। सर्वार्थसिद्धिकार यहां मौन हैं। परन्तु राजवार्तिकमें देखिये—आदिमध्यान्तव्यपदेशाभावादिति चेन्न विज्ञानवत् (वार्तिक) इसकी टीका लिखकर अकलंकने भाष्यके उक्त वाक्य का ही समर्थन किया है। इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इसी तरह सूत्रोंके पाठभेद की बात है। 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ', 'द्रव्याणि जीवाश्च' आदि सूत्र भाष्यमें ज्योंकी त्यों मिलती हैं। उक्त विवेचन की रोशनीमें कहा जा सकता है कि अकलंकका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था।

'अल्पारम्भ परिग्रहत्वं' आदि सूत्रके विषयमें सम्भवतः कुछ मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धि हो। शायद वही पाठ मूल प्रतिमें हो और मुद्रितमें छूट गया हो। इसके अतिरिक्त यहां मुख्य प्रश्न तो एक योगीकरणका है जो भाष्यमें बराबर मिल जाता है।

राजवार्तिककी अन्तिम कारिकाओंका प्रक्षिप्त बतानेका भी कोई आधार नहीं। भाष्य और राजवार्तिकको आमने-सामने रखकर अध्ययन करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि दोनोंके प्रतिपाद्य विषयों में बहुत समानता है। दोनों ग्रन्थोंमें अमुक स्थल पर बहुतसी जगह बिलकुल एक जैसी चर्चा है। दोनोंमें पंक्तियोंकी पंक्तियाँ अक्षरशः मिलती हैं। समानता सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें भी है। परन्तु यहाँ भाष्य और राजवार्तिककी उन समानताओंसे हमारा अभिप्राय है जिनकी चर्चा तक सर्वार्थसिद्धिमें नहीं। ऐसी हालतमें प्रस्तुतभाष्यको अप्रमाणिक ठहराकर उसके समान वाक्य-विन्यास और कथन वाले किसी अनुपलब्धभाष्यकी सर्वथा निराधार और निष्प्रमाण कल्पना करनेका अर्थ हमारी समझमें नहीं आता। भाष्यकी भाषा, शैली आदि देखते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह राजवार्तिक अथवा सर्वार्थसिद्धिके ऊपरसे लेकर बादमें बनाया गया है

'गो०कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति' लेखपर विद्वानोंके विचार और विशेष सूचना

'गोम्मटसार-कर्मकांडकी त्रुटिपूर्ति' नामका जो लेख अनेकान्तकी गत संयुक्त किरण (नं० ८-९) में प्रकाशित हुआ है और जिस पर प्रो० हीरालालजीका एक विचारात्मक लेख इसी किरणमें, अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है, उस पर दूसरे भी कुछ विद्वानों के विचार संक्षिप्तमें आए हैं तथा आरहे हैं, जिनसे मालूम होता है कि उक्त लेख समाजमें अच्छी दिलचस्पीके साथ पढ़ा जा रहा है। उनमेंसे जो विचार इस समय मेरे सामने उपस्थित हैं उन्हें नीचे उद्धृत किया जाता है। साथ ही यह सूचना देते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि उक्त लेखके लेखक पं० परमानन्दजी आज कल अपने घरकी तरफ़ गये हुए हैं, उधर एक भंडारको देखते हुए उन्हें कर्मकांडकी कई प्राचीन प्रतियां मिली हैं जो शाहजहांके राज्यकालकी लिखी हुई हैं और उनमें कर्मप्रकृतिकी वे सब गाथाएँ मिलतीहैं जिन्हें 'कर्मप्रकृति' के आधार पर 'कर्मकाण्ड' में त्रुटित बतलाया गया था। 'कर्मप्रकृति' की भी एक प्रति संवत् १५२७ की लिखी हुई मिली है, जिसकी गाथा-संख्या १६० है—अर्थात् एक गाथा अधिक है—और उस पर भी आराकी प्रतिकी तरह ग्रन्थकारका नाम 'नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती' लिखा हुआ है। 'कर्मप्रकृति' 'कर्मकाण्ड' का ही प्रारम्भिक अंश है। यह सब हाल उनके आज ही (२३ सितम्बरको) प्राप्त हुए पत्रसे ज्ञात हुआ है। वे जल्दी ही आकर इस विषय पर एक विस्तृत लेख लिखेंगे, जिसमें प्रोफेसर हीरालालजीके उक्त लेखका उत्तर भी होगा अतः पाठकोंको उसके लिये १२ वीं किरणकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। विद्वानोंके विचार इस प्रकार हैं:—

१ न्यायाचार्य पं० महेंद्रकुमारजी जैन, शास्त्री, काशी—

"आपका लेख 'अनेकान्त' में देखा। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है। यदि यह प्रयत्न सोलह आने ठीक रहा और कर्मकाण्डकी किसी प्राचीन प्रतिमें भी ये गाथाएँ मिल गईं तब कर्मकाण्डका अधूरापन सचमुच दूर होजायगा।"

२ पं० कैलाशचन्दजी जैन शास्त्री, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी—

"इसमें तो कोई शक ही नहीं कि कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार त्रुटिपूर्ण है। किन्तु 'प्रकृति' की गाथाएँ शामिल करनेमें अभी कुछ गहरे विचारकी जरूरत है। यह जांचना चाहिये कि 'कर्मप्रकृति' क्या स्वतन्त्र ग्रन्थ है? 'कर्मकाण्ड'क्या पहलेसे ही ऐसा बनाया गया था या बादमें उसमेंसे कुछ गाथाएँ छुट गईं। 'प्रकृति' की गाथाओंमें 'जीवकाण्ड' की भी कुछ गाथाएँ सम्मिलित होनेसे अभी कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है।"

३ पं० रामप्रसादजी जैन शास्त्री, अध्यक्ष ऐ० प० सरस्वती भवन, बम्बई—

"आपका लेख 'कर्मप्रकृति'से 'कर्मकाण्ड' की त्रुटिपूर्तिका मुझे बहुत पसन्द आया है, उसके लिये धन्यवाद है।"

४ पं० के० भुजबली जैन शास्त्री अध्यक्ष जैनसिद्धान्त-भवन, आरा—

"गोम्मटसार-सम्बन्धी आपका लेख महत्व-पूर्ण है।"

५ प्रोफेसर ए० एन उपाध्याय, एम. ए., डी० लिट०, कोल्हापुर—

"Yes, the additional verses of Karm Kanda brought to light in Anekant are interesting. Ifwe can collate some more Mss, we might come to more reliable text of Gommatasara."

'—हाँ, कर्मकाण्डकी जो अतिरिक्त गाथाएँ अनेकान्त द्वारा प्रकाशमें लाई गई हैं वे चित्ता-कर्षक हैं। यदि हम कुछ और हस्त लिखित प्रति-योंका समवलोकन-संपरीक्षण करें तो हम गोम्मट-सारका अधिक विश्वसनीय मूल पाठ प्राप्त करनेमें समथ हो सकेंगे।'

—सम्पादक

सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक

[लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सिद्धसेन गणी नामक एक प्रधान आचार्य हो गये हैं, जिनकी उक्त सम्प्रदायमें 'गंधहस्ती' नामसे भी प्रसिद्धि है, जो कि असाधारण विद्वत्ताका द्योतक एक बहुत ही गौरवपूर्ण पद है। आप आगम-साहित्यके विशेष विद्वान थे और इतर दर्शनादि विषयोंमें भी अच्छा पाण्डित्य रखते थे। आपकी कृतिरूपसे इस समय एक ही ग्रंथ उपलब्ध है और वह है उमास्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रकी बृहद्वृत्ति, जो उमास्वातिके 'स्वोपज्ञ' कहे जाने वाले भाष्यको साथमें लेकर लिखी गई है और इसीसे उसे 'भाष्यानुसारिणी' विशेषण दिया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इसीको'गंधहस्तिमहाभाष्य'कहा जाता है। इसका प्रमाण प्राय: अठारह हजार श्लोक-जितना है। यह वृत्ति दो खण्डोंमें प्रकाशित भी हो चुकी है, और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्र पर बनी हुई अन्य सब वृत्तियोंमें प्रधान मानी जाती है। इतना सब कुछ होनेपर भी इस वृत्तिमें वह रचना-सौन्दर्य, विषयकी स्पष्टता और वस्तुओंके जँचे-तुले लक्षणोंके साथ अर्थका पृथक्करण एवं गाम्भीर्य उपलब्ध नहीं होता जो कि दिगम्बर सम्प्रदायकी पूज्यपाद-विरचित 'सर्वार्थसिद्धि' टीका और भट्टाकलंकदेव विरचित 'राजवार्तिक' नामक भाष्यमें पाया जाता है। इस बातको श्वेताम्बरीय प्रमुख विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। आपने हालमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी हिंदी टीकाकी 'परिचय' नामक प्रस्तावनामें लिखा है कि:—

"सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके साथ सिद्धसेनीय वृत्तिकी तुलना करनेसे इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि जो भाषाका प्रासाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें है वह सिद्धसेनीय वृत्तिमें नहीं।"

सिद्धसेन गणी हरिभद्रसे कुछ समय बाद हुए हैं। हरिभद्रका समय विक्रमकी ८वीं ९वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। इससे सिद्धसेन गणीका समय प्रायः नवमी शताब्दी होता है। सर्वार्थसिद्धि की रचना विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्द्धकी है, यह निर्विवाद है। और राजवार्तिककी रचना प्रायः विक्रमकी सातवीं शताब्दीकी मानी जाती है। ऐसी हालतमें यह खयाल स्वभावसे ही उत्पन्न होता है कि जब सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक जैसी अतिविशद और प्रौढ टीकाएँ पहलेसे मौजूद थीं, तब सिद्धसेन गणी जैसे विद्वान्की टीका उनसे कहीं अधिक विशद, प्रौढ एवं विषयको स्पष्ट करने वाली होनी चाहिये थी। मालूम होता है यह खयाल पं० सुखलालजीके हृदयमें भी उत्पन्न हुआ है। और इस परसे उन्होंने अपनी तत्त्वार्थसूत्रकी उक्त

प्रस्तावनामें निम्न तीन कल्पनाएँ की हैं:—

(१) "सर्वार्थसिद्धिकी रचना पूर्वकालीन होने से सिद्धसेनके समयमें वह निश्चय रूपमें विद्यमान थी, यह ठीक है; परन्तु दूरवर्ती देश-भेद होनेके कारण या किसी दूसरे कारणवश सिद्धसेन को सर्वार्थसिद्धि देखनेका अवसर मिला नहीं जान पड़ता।"

(२) "राजवार्तिक और श्लोकवार्तिककी रचनाके पहले ही सिद्धसेनीय वृत्तिका रचा जाना बहुत सम्भव है; कदाचित् उनसे पहले यह न रची गई हो तो भी इनकी रचनाके बीचमें इतना तो कमसे कम अन्तर है ही कि सिद्धसेनको राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकका परिचय मिलनेका प्रसंग ही नहीं आया।"

(३) "इसके (सिद्धसेनीय वृत्तिमें सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके समान जो भाषाका प्रासाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण नहीं पाया जाता उसके) दो कारण हैं। एक तो ग्रंथकार का प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है।"

इन तीनों कल्पनाओंमें से प्रथमकी दो कल्पनाओंमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता; क्योंकि अकलंकदेव सुनिश्चितरूपसे सिद्धसेन गणीके पूर्ववर्ती हुए हैं। सिद्धसेन गणीने उनके 'सिद्धि-विनिश्चय' ग्रन्थका अपनी इस वृत्तिमें स्पष्टरूपसे निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है:—

"एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्त-निर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चय-सृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेणेति।"

—भाष्यवृत्ति १,वृ३, पृ० ३७

इस वाक्यमें "सिद्धिविनिश्चयके जिस सृष्टि-परीक्षा-प्रकरणके विशेष वर्णनको देखनेके लिये प्रेरणा की गई है वह प्रकरण सिद्धिविनिश्चयके 'आगम' नामक सातवें प्रस्तावमें बहुत विस्तारके साथ वर्णित है। जब सुदूर देश दक्षिणमें निर्मित हुआ 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथ सिद्धसेन तक पहुँच गया इतना ही नहीं बल्कि वह इतना प्रचार पा गया था कि उस परसे शेष विषयको देखने तककी योजना कर लेनेकी प्रेरणा कीगई है, तब राजवार्तिक जैसे अधिक जनतोपयोगी ग्रंथका सिद्धसेन तक न पहुँचना कैसे अनुमानित किया जा सकता है? खास कर ऐसी हालतमें जब कि वह तत्त्वार्थ-सूत्रका भाष्य लिखने बैठें, और उसी तत्त्वार्थसूत्र पर रचे हुये उन अकलंकदेवके भाष्यको प्राप्त करके देखनेका प्रयत्न न करें,जिनके असाधारण पाण्डित्य एवं रचना-कौशलसे वे सिद्धिविनिश्चय-द्वारा परिचित हो चुके हों।

सर्वार्थसिद्धिकी रचना तो राजवार्तिकसे एक शताब्दीसे भी अधिक वर्ष पहले हुई है और सिद्धसेनके समयमें उसका उत्तर-भारतमें काफ़ी प्रचार हो चुका था, सिद्धसेनको उसके देखनेका प्रसंग ही नहीं आया ऐसा कहना युक्ति-संगत मालूम नहीं होता। आगे इस लेखमें स्पष्ट किया जायगा कि सिद्धसेन गणीके सामने भाष्य लिखते समय उक्त दोनों दिगम्बरीय टीकाएँ मौजूद थीं, और उन्होंने अपने भाष्यमें उनका यथोचित उपयोग किया है।

अब रही तीसरी कल्पना,उसमें जिन दो कारणों का वर्णन किया गया है उनमें से ग्रंथकारके प्रकृति-भेदका कुछ आभास पं०सुखलालजीके इन शब्दोंमें

मिलता है—"सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगम-शास्त्रोंका विशाल ज्ञान धारण करनेके अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध मालूम पड़ने वाली चाहे जैसी तर्क-सिद्ध बातोंका भी बहुत ही आवेशपूर्वक खंडन करते थे।" और पराश्रित रचनाका अभिप्राय भाष्यानुसार टीका लिखनेका जान पड़ता है। परन्तु भाष्यके अनुसार टीका लिखनेमें भाष्य रचनाके प्रासाद और अर्थपृथक्करण करनेमें क्या बाधक है, यह कुछ समझमें नहीं आया! सिद्धसेनने तो भाष्यकी वृत्ति लिखते हुए भाष्यमे अथवा भाष्यके शब्दों परसे उपलब्ध नहीं होने वाले कथन को भी खूब बढ़ाकर लिखा है, ऐसी हालतमें वह भाष्य रचनाके प्रासाद और अर्थके पृथक्करण करने में कैसे बाधक हो सकता है? फिर भी इन दोनों में से प्रकृति-भेद उसमें कुछ कारण जरूर हो सकता है। अच्छा होता यदि इसके साथमें योग्यता-भेदको और जोड़ दिया जाता; क्योंकि सब कुछ साधन-सामग्रीके सामने उपस्थित होनेपर भी तद्रूप योग्यताके न होनेसे वैसा कार्य नहीं हो सकता। परन्तु मुझे तो सिद्धसेनीय वृत्तिके सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करने पर इसका सबसे जबर्दस्त कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें कितनी ही बातें ऐसी पाई जाती हैं जो श्वेताम्बरीय आगमके विरुद्ध हैं। सिद्धसेनने अपनी वृत्ति लिखते समय इस बातका खास तौरसे ध्यान रक्खा है कि जो बातें भाष्यमें आगमके विरुद्ध पाई जाती हैं उन्हें किसी भी तरह आगमके साथ संगत बनाया जाय, और जहाँ किसी भी प्रकार अपने आगम सम्प्रदायके साथ उनका मेल ठीक नहीं बैठ सका, वहाँ इस प्रकारके वाक्य कह कर ही संतोष धारण किया गया है कि 'वाचक तो पूर्ववित् हैं वे ऐसे (प्रमत्तगीत-जैसे) आर्षविरोधी वाक्य कैसे लिख सकते हैं? सूत्रसे अनभिज्ञ किसीने भ्रांतिसे लिख दिये हैं† अथवा किन्हीं दुर्विदग्धकोंने अमुक कथन प्रायः सर्वत्र विनष्ट कर दिया है। इसीसे भाष्य-प्रतियोंमें अमुकभिन्न कथन पाया जाता है, जो अनार्ष है। वाचक मुख्य सूत्रका—श्वे० आगम का—उल्लंघन करके कोई कथन नहीं कर सकते। ऐसा करना उनके लिये असम्भव है* इत्यादि।'

इन्हीं सब प्रकृतिभेद, योग्यताभेद और लक्ष्य-भेदको लिये हुये खींचातानी आदि कारणोंसे सिद्धसेनकी वृत्तिमें भाषाका वह प्रासाद, रचनाकी वह विशदता और अर्थका वह पृथक्करण एवं स्पष्टीकरण आदि नहीं आसका है जो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें पाया जाता है। राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिका सामने न होना इसमें कोई कारण नहीं है।

---

† "सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिकयस्तित्र इति", नेदं पारमर्षप्रवचनानुसारिभाष्यं, किं तर्हि? प्रमत्तगीत-मेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवं विधमार्षविसंवादि निबध्नीयात्? सूत्रानवबोधादुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम्"।

—तत्त्वा० भाष्य० वृ० ९, ६, पृ० २०६

* "एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धकैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिग-मादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्, नापि वाचक-मुख्याः सूत्रोल्लंघनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात्, तस्मात् सैद्धान्तिकपाशैर्विनाशितमिदमिति"।

—भाष्य वृ० ३ १६, पृ० २६७०

अब मैं कुछ अवतरणों-द्वारा इस बातको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक दोनों सिद्धसेनके सामने मौजूद थे और उन्होंने उनका अपनी इस भाष्य-वृत्तिमें यथेष्ट उपयोग किया है। दोनोंमें से पहले सर्वार्थसिद्धिकी और उसके बाद राजवार्तिककी ऐसी कुछ लाक्षणिकादि पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं जिनका सिद्धसेनने अपनी वृत्तिमें ज्योंके त्यों रूपसे अथवा कुछ थोड़ेसे शब्द-परिवर्तनके साथ उपयोग किया है:—

(१)

रूपादिसंस्थानपरिणामा मूर्तिः।

—सर्वार्थसिद्धि, ५, ४

मूर्तिर्हि रूपादिशब्दाभिधेया, सा च रूपादिसंस्थानपरिणामा।

—भाष्यवृत्ति, ५, ३, पृ०३२३

अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः।

—सर्वार्थसिद्धि, ६, ११

अनुग्राहकस्नेहादिव्यवच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः।

—भाष्यवृत्ति, ६, १२

परवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः।

—सर्वार्थसिद्धि, ६, ११

अभिमतद्रव्यवियोगादिपरिभाव्यादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः।

—भाष्यवृत्ति, ६, १२

अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिवकुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा।

—सर्वार्थसिद्धि, ६, १२

अनुग्रहबुद्ध्याऽऽर्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मसंस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा।

—भाष्यवृत्ति, ६, १३

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः।

—सर्वार्थसिद्धि ७, ३२

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः।

—भाष्यवृत्ति ७, २७

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः।

—सर्वार्थसिद्धि७, ३७

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमाहरणं चेतसि सुखानुबन्धः।

—भाष्यवृत्ति०७, ३२

विशिष्टो नानाप्रकारो वा पाको विपाकः।

—सर्वार्थसिद्धि ८, १२

कर्मणां विशिष्टो नानाप्रकारो वा पाको विपाकः।

—भाष्यवृत्ति, ८ १२

यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिवत् सा अविपाकनिर्जरा।

—सर्वार्थसिद्धि ८, २३

यत्पुनः कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिकामनुप्रवेश्यवेद्यते पनसतिन्दुकाम्रफलपाकवत् सा त्वविपाकजानिर्जरा।

—भाष्यवृत्ति, ८, २४

(२)

विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्यादुभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा।

—राजवार्तिक, ६,१२

विषयानर्थनिवृत्तिमात्माभिप्रायेणाकुर्वतःपारतन्त्र्यादुपभोगादिरोधः अकामनिर्जरा।

—भाष्यवृत्ति, ६, १३

विरोधिद्रव्योपनिपाताभिलषितवियोगानिष्टनिष्ठुरश्रवणादिबाह्यसाधनापेक्षयादसद्वेद्योदयादुत्पद्यमानःपीडालक्षणः परिणामो दुःखमित्याख्यायते ।

—राजवार्तिक, ६, ११

विरोधिद्रव्यान्तरोपनिपाताभिलषितवियोगानिष्टश्रवणादसद्वेद्योदयापन्नः पीडालक्षणः परिणाम आत्मनो दुःखमित्यर्थः ।

—भाष्यवृत्ति, ६, १२

धर्मप्रणिधानात् क्रोधादिनिवृत्तिः क्षांतिः ।

—राजवार्तिक, ६,१२

धर्मप्रणिधाना क्रोधनिवृत्तिर्मनोवाक्कायैः क्षांतिः ।

—भाष्यवृत्ति, ६, १३

धार्ष्ट्यंप्रायमसंबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम् ।

—राजवार्तिक, ७, ३२

धार्ष्ट्यंप्रायमसभ्यासम्बद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम् ।

—भाष्यवृत्ति, ७, २७

राजवार्तिककी लाक्षणिक पंक्तियोंके अतिरिक्त इसके वार्तिकोंकी अन्य व्याख्याको भी कहीं कहीं पर अपनाया गया है जिसके कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं :—

आद्यो द्वेधा आदिमदनादिविकल्पात् ॥ ११ ॥

आद्यो वैस्रसिको बंधो द्विधा भिद्यते । कुतः आदिमदनादिमद्विकल्पात् । तत्रादिमान् स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तविद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः । अनादिरपि वैस्रसिकबंधो धर्माधर्माकाशानामेकशः त्रैविध्यात्नव विधः ।

—राजवार्तिक, ५, २४

विस्रसः स्वभावः प्रयोगनिरपेक्षो विस्रसाबन्धः, स द्विधा आदिमदनादिमद्भेदात्,तत्रादिमान् विद्युदुल्काजलधारानीन्द्रधनुःप्रभृतिर्विषमगुणविशेषपरिणतपरमाणुप्रभवः स्कन्धपरिणामः । अनादिरपि धर्माधर्माकाशविषयः ।

—भाष्यवृत्ति ५, २४ पृ०३६०

प्रतिसेवनेति षत्वाभावः क्रियांतराभिसंबंधात् ॥३॥

यथा विगताः सेवकाः, अस्माद् ग्रामाद्विसेवको ग्राम इति षत्वं न भवति तथा प्रतिगता सेवना प्रतिसेवनेति क्रियांतराभिसंबंधात् षत्वं न भवति ।

—राजवार्तिक ६, ४७

प्रतिगता सेवना प्रतिसेवना । क्रियायोगात्यये सत्युपसर्गसञ्ज्ञाभावात् षत्वाभावोऽतिसिक्तवत् ।

—भाष्यवृत्ति ९,४९, पृ०२८६

इसी प्रकारके और भी बहुतसे अवतरण दिये जा सकते हैं, जिन्हें लेखवृद्धिके भयसे यहाँ छोड़ा जाता है । हाँ, एक बात और भी यहाँ प्रकट कर देने की है और वह यह कि ५वें अध्यायके 'द्वयधिकादिगुणानां तु' सूत्रकी व्याख्या करते हुए पूज्यपाद और अकलंकने "णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण" इत्यादि गाथा 'उक्तं च'रूपमे उद्धृत की है । सिद्धसेन ने भी इमी सूत्रके भाष्य-की वृत्ति लिखते हुये उक्त गाथाको उद्धृत किया है और उसे पूर्वके तीन सूत्रोंकेसाथ इस सूत्रको लेकर 'सूत्र चतुष्टयार्थक' बतलाया है । परन्तु हरिभद्रने ऐसा न करके इससे पहले सूत्रकी वृत्तिमें ही उक्त गाथाको उद्धृत किया है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिद्धसेनको इस विषयमें आचार्य हरिभद्रका क्रम पसन्द नहीं रहा किन्तु दिगम्बरीय व्याख्याओंका क्रम ठीक जचा है और इसीसे उन्होंने उसका अनुकरण किया है ।

ऊपरके इन सब अवतरणों तथा इसी प्रकारके दूसरे अवतरणोंमें भी ध्यान खींचने वाला जो भारी सादृश्य पाया जाता है उसे यों ही आकस्मिक

नहीं कहा जा सकता। वह स्पष्ट बतला रहा है कि एक विद्वानके सामने दूसरे विद्वानका ग्रन्थ जरूर रहा है। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककारके सिद्धसेनसे पूर्ववर्ती होनेकी हालतमें, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, यह अवश्य कहना होगा कि सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक दोनों ग्रंथ रहे हैं और उन्होंने अपनी भाष्यवृत्तिमें उनका कितना ही उपयोग तथा अनुसरण किया है। और इसलिये नाम-धाम-विहीन समान विरासतके किसी ऐसे टीका ग्रंथकी कल्पना करना ‡ जिस परसे पूज्यपाद, अकलंक और सिद्धसेन तीनोंने ही अपनी अपनी टीकाओंमें उक्त प्रकारके कथनोंको अपनाया होगा उस वक्ततक कोरी कल्पना ही कल्पना कहा जायगा जब तक कि उसका कोई स्पष्ट उल्लेख न बतलाया जावे अथवा तद्विषयक किसी पुष्ट प्रमाण और अनुसन्धानको सामने न रक्खा जाय। मात्र यह कह देना कि सिद्धसेनने यदि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकको देखा होता तो वे इनमें वर्णित श्वेताम्बर-भिन्न दिगम्बर मान्यताओंका खंडन किये बिना संतोष धारण नहीं कर सकते थे, इसके लिये कोई पर्याप्त नहीं है। दूसरे ग्रन्थोंको देखना और उनका यथावश्यकता अपने ग्रंथमें उपयोग करना एक बात है और दूसरे के किसी मन्तव्यका खंडन करना बिल्कुल दूसरी बात है। दूसरे ग्रंथोंको देखकर उनका उपयोग करने वालेके लिये यह कोई लाजिमी नहीं कि वह दूसरेके मन्तव्यका खंडन भी जरूर करे, चाहे वह कैसी ही प्रकृतिका क्यों न हो। ग्रंथ अनेक पढ़ते हैं परन्तु खण्डन कोई कोई ही किया करता है। खण्डनके लिये दूसरी भी अनेक बातों तथा सहायक सामग्रीकी आवश्यकता होती है, जिनके अभाव में अथवा अधूरेपनमें खण्डन नहीं बन सकता, और यदि खण्डन किया भी जाता है तो वह प्राय: उपहास जनक होता है। सिद्धसेन यदि इस प्रकार के खण्डन कार्यमें अधिक पड़ते और दिगम्बरोंके साथ ज्यादा उलझते तो वे उस लक्ष्यसे दूर जा पड़ते और उसे वर्तमान रूपमें पूरा न कर पाते जो भाष्यको श्वेताम्बरीय आगमके साथ संगत बनानेका उनका रहा है। उस धुनमें वे सब कुछ भुला सकते हैं। फिर भी ऐसा नहीं है कि सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिककी मान्यताओंका कोई खण्डन उन्होंने किया ही न हो—यथावश्यक कुछ खण्डन तथा आलोचन जरूर किया है; चुनाँचे पं० सुखलालजी भी अपनी उक्त प्रस्तावनामें लिखते हैं—"सिद्धसेनीय वृत्तिमें दिगम्बरीय सूत्र पाठ-विरुद्ध कहीं कहीं समालोचना दिखाई देती है।...तथा कहीं कहीं सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में दृष्टिगोचर होने वाली व्याख्याओंका खंडन भी है।" ऐसी हालतमें पंडित सुखलालजीका उक्त कथन भी कोरी कल्पना ही कल्पना जान पड़ता है।

ऊपरके सम्पूर्ण विवेचन परसे, मैं समझता हूँ, सहृदय पाठकोंको इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहेगा कि सिद्धसेन गणीके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक दोनों ग्रंथ मौजूद थे तथा उन्होंने अपनी भाष्यवृत्तिमें इनका यथेष्ट उपयोग किया है। और इसलिये पं० सुखलालजीने इस सम्बन्ध में जो कल्पनाएँ की हैं वे समुचित नहीं हैं।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १०-८-१९४०

‡ यह कल्पना पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी हिन्दी टीकाकी प्रस्तावनामें की है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिपर विचार

[ले०—प्रो० हीरालाल जैन एम.ए. एलएल. बी.]

आचार्य नेमिचन्द्रकृत कर्मकाण्डके सम्बन्धमें पं०परमानन्दजी शास्त्राने अनेकांत,वर्ष ३,किरण ८-९ में एक लेख लिखा है, जिसका सारांश यह है—

आचार्य नेमिचन्द्र-विरचित कर्मकाण्डके अनेक प्रकरण व संदर्भ अपने वर्तमान रूपमें 'अधूरे और लंडूरे' हैं। उन्हीं आचार्य द्वारा विरचित एक दूसरा ग्रंथ प्राप्त हुआ है। जिसका नाम 'कर्मप्रकृति' है। इस कर्मप्रकृतिकी १५९ गाथाओंमें से ८४ गाथायें कर्मकाण्डमें मौजूद ही है। शेष ७५ गाथाओंको भी कर्म-काण्डमें जोड देनेमें उसका अधूरापन दूर हो जाता है। ये ७५ गाथायें सभवतः किसी समय कर्म काण्डमें छुट गईं, अथवा जुदा पड गईं। अतएव जो सज्जन अब कर्मकाण्ड को फिरसे प्रकाशित कराना चाहें वे उसमें उन ७५ गाथाओंको यथास्थान शामिल करके ही प्रकाशित करें।

इस मतमें तीन बातें मुख्यत. विचारणीय ज्ञात होती हैं—

१ कर्मकाण्डमें से ७५ गाथाओंका छुट जाना या जुदा पड जाना कब और कैसे सम्भव हो सकता है ?

२. उन गाथाओंके न रहनेसे कर्मकाण्डके उन प्रकरणोंकी अवस्था क्या है, तथा उन गाथाओंको जोडने से क्या अवस्था व विशेषता उत्पन्न होती है ?

३. कर्मप्रकृति ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है, और उसका कर्मकाण्डसे क्या सम्बन्ध है ?

१. यदि उक्त ७५ गाथायें कर्मकाण्डके रचयिताने अपने ग्रंथमें यथास्थान रखी थीं तो क्या पश्चात्के लिपिकारोंके प्रमादसे छुट गईं, या टीकाकारोंने उन्हें जान बूझ कर छोड दिया ? यदि लिपिकारोंके प्रमादसे वे छुट गई होतीं तो टीकाकार अवश्य उस ग़लतीको पकड कर उन गाथाओंको यथास्थान रख देते, और यदि वे प्रसगके लिये अत्यन्त आवश्यक थीं तो वे जान बूझकर तो उन्हें छोड ही नहीं सकते थे। इस ग्रथकी टीकाओंकी परम्परा स्वयं उसके कर्ताके जीवन कालमें ही, ग्रंथकी रचनाके साथ ही साथ प्रारम्भ हो गई थी। कर्मकाण्डकी गाथा न० ९७२ में आचार्य स्वयं कहते हैं कि गोम्मटसूत्र (गोम्मटसार) के लिखते ही वीरमार्तण्ड राजा गोम्मटराय (चामुण्डराय) ने उसकी कर देशी (टीका) डाली थी। यथा—

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी ।
सो राओ चिरकाल णामेण य वीरमत्तंडी ॥

इसके कोई तीन सौ वर्ष पश्चात केशववर्णीने गोम्मटसार वृत्ति कनडीमें लिखी। फिर कर्नाटकवृत्तिके आधारसे संस्कृत टीका रची गई। इन टीकाओंमें चामुण्डरायकृत 'देशी' का आश्रय लिया जाना अनुमान किया जा सकता है। संस्कृत टीकाके निर्माणमें अनेक बहुश्रुत अनुरोधकों, सहायकों और संशोधकोंका हाथ बतलाया जाता है। साह्र और सहेस नामक साधुओंकी प्रार्थनासे धर्मचन्द्रसूरि, अभयचन्द्र गणेश, लाला वर्णी, आदि विद्वानोंके लिये यह टीका लिखी

गई थी। त्रिविद्य-विद्या विख्यात विशालकीर्ति सूरिने इस कृतिमें सहायता पहुँचाई और सर्व प्रथम उसका चावसे अध्ययन किया, तथा निर्ग्रंथाचार्यवर्य त्रैविद्य चक्रवर्ती अभयचन्द्रने उसका संशोधन करके प्रथम पुस्तक लिखी। यथा—

श्रित्वा कार्णाटिकीं वृत्ति वर्णिश्रीकेशवैः कृतिः (तिम्?)
कृतेयमन्यथा किंचित् विशोध्यं तद्बहुश्रुतैः ॥
त्रैविद्यविद्याविख्यातविशालकीर्तिसूरिणा ।
सहायोऽस्यां कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथमं मुदा ॥
सूरेः श्रीधर्मचन्द्रस्या भयचन्द्रगणेशनः ।
वर्णिलालादि भव्यानां कृते कर्णाटवृत्तितः ॥
रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्वनाथालयेऽमुना ।
साधु साङ्ग महेसाभ्यां प्रार्थितेन मुमुक्षुणा ॥
निर्ग्रंथाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना ।
संशोध्याभयचन्द्रेणालेखि प्रथमपुस्तकः ॥

जहां यह टीका रची गई थी वह सम्भवतः वही चित्रकूट था जहाँ सिद्धान्ततत्त्वज्ञ एलाचार्यने धवला टीकाके रचयिता वीरसेनाचार्यको सिद्धान्त पढ़ाया था। ऐसी परिस्थितिमें यह संभव नहीं जान पड़ता कि उक्त टीकाके निर्माण कालमें व उससे पूर्व कर्म काण्डमें से उसकी आवश्यक अंग भूत कोई गाथायें छूट गई हों या लुप्त हो गई हों।

२. कर्मकाण्डके 'अधूरे व लंडूरेपन' के पांच विशेष स्थल विद्वान् लेखकने बतलाये हैं जो प्रकृति समुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकारकी २२ वीं और ३१ वीं गाथाओं अर्थात् नौ गाथाओंके भीतरके हैं। इनके अतिरिक्त और भी कुछ स्थल ऐसे बतलाये गये हैं जहां कर्म प्रकृतिकी गाथाओंको समाविष्ट करनेकी आवश्यकता लेखकको प्रतीत हुई है। मैंने इस महत्वपूर्ण विषयका विचार कर्मकाण्डकी प्रतिको सामने रखकर अपने सहयोगी पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री व पं० हीरालालजी शास्त्रीके साथ किया, जिसका निष्कर्ष निम्न प्रकार पाया गया।

कर्मकाण्डकी नं० १५ की गाथामें दर्शन ज्ञान व सम्यक्त्वका स्वरूप बतलाया गया है, और उसके अनन्तर १६वीं गाथामें उन्हीं जीव गुणोंका क्रम निर्दिष्ट किया गया है। अब इन दोनों गाथाओंके बीच 'सियअत्थि' आदि सप्त भंगियोंके नाम गिनाने वाली कर्मप्रकृतिकी १६ गाथा डाल देनेसे ऐसा विषयान्तर हो जाता है जिसकी सार-ग्रंथोंमें गुंजायश नहीं। परिपूर्णताकी दृष्टिसे तो यह भी कहा जा सकता है कि नयोंके नाम गिना देने मात्रसे क्या हुआ, उनके लक्षण भी बतलाना चाहिये था पर यहाँ आचार्य न्यायका ग्रन्थ तो रच नहीं रहे। उन्होंने १५ वीं गाथामें ज्ञान और दर्शनका सप्त भंगियोंसे निर्णय कर लेने मात्रका उल्लेख कर दिया है, जो हां यथेष्ट है। वहां सप्त भंगियोंके नाम गिनवानेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

कर्मकाण्डकी २० वीं गाथामें आठ कर्मोंका नाम निर्देश किया गया है और २१ वीं गाथामें उदाहरणों द्वारा उन आठोंका कार्य सूचित किया गया है। इन दोनों गाथाओंके बीच जीव प्रदेशों और कर्मप्रदेशोंके सम्बन्ध आदि बतलाने वाली कर्म प्रकृतिकी २२ से २६ तककी पांच गाथायें न रहनेसे विषयकी संगतिमें कोई त्रुटि तो नज़र नहीं आती, प्रत्युत उन गाथाओंके डाल देनेसे विषय साकांक्ष रह जाता है; क्योंकि कर्मप्रकृति की २६ वीं गाथा प्रकृति आदि बंधके चार प्रकारके नाम निर्देशके साथ समाप्त होती है। उस क्रमसे तो फिर आगे चारों प्रकारके बन्धोंका क्रमसे विवरण दिया जाना चाहिये था; किन्तु वहां आठ कर्मोंके कार्योंके उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार वर्तमान रूपमें

कर्मकाण्डकी २० वीं और २१ वीं गाथायें सुसंगत प्रतीत होती हैं। उनके बीच उक्त पांच गाथायें डालने से उनमें व्युत्क्रम उत्पन्न होता है।

कर्मकाण्डकी आठ कर्मोंके उदाहरण देने वाली २१ वीं गाथाके पश्चात् २२ वीं गाथामें उन आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंको संख्याका क्रमिक निर्देश किया गया है जो बिल्कुल सुसंगत है। उनके बीचमें कर्म प्रकृतिकी आठ कर्मोंके स्वभाव विषयक दृष्टान्तोंको स्पष्ट करके बतलाने वाली २८ से ३५ तककी आठ गाथाओंकी कोई विशेष आवश्यकता दिखाई नहीं देती, खास कर जबकि उनके दृष्टान्त आचार्य २१ वीं गाथामें दे चुके हैं। ये आठ गाथायें २१ वीं गाथाके स्पष्टीकरणार्थ टीका रूप भले ही मान ली जावें, किन्तु सार ग्रन्थके मूलपाठ में उनकी गुंजाइश नहीं दिखाई देती।

कर्मकाण्डकी २२ वीं गाथामें उत्तर प्रकृतियोंकी क्रमिक संख्या बता देनेके पश्चात् २३ वीं गाथामें एक दम पांच निद्राओंका कार्य आरम्भ हो जाता है। यह एक विशेष स्थल है जहां पं० परमानन्दजीको कर्मकाण्ड की त्रुटि बहुत खटकी है, क्योंकि उनके मतानुसार विषयको पूरा और सुसंगत बनानेके लिये यहां उत्तर प्रकृतियोंके नाम व स्वरूपका क्रमशः वर्णन होना चाहिये था और उसीमें निद्राका यथास्थान विवरण आता तब ठीक था। इसी कमीको ये कर्म प्रकृतिकी ३७ से ४८ तककी १२ गाथाओं द्वारा पूर्ति करते हैं। इस सम्बन्धमें कर्मकाण्डकी रचनाकी विशेषताकी ओर हमारा ध्यान जाता है, और सारे ग्रन्थको देखते हुये हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां तथा आगामी त्रुटि पूर्ण जंचने वाले स्थलों पर कर्ताका विचार स्वयं प्रकृतियोंके भेदोपभेदों गिनानेका नहीं था। वह सामान्य कथन या तो उनकी रचनामें आगे पीछे आचुका है,या उन्होंने उसे सामान्य जान कर छोड़ दिया है। उनका अभिप्राय केवल उन भेद-प्रभेदोंका वर्णन कर देना रहा है जिनमें उन्हें कुछ विशेषता दिखाई दी और जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना उन्हें आवश्यक जंचा। ज्ञानावरण और दर्शनावरणके भेद-प्रभेदोंका ज्ञान जीव काण्डमें भी कराया जा चुका है, जहां कर्म प्रकृतिकी इन्हीं १२ गाथाओंमें से ६ गाथायें आचुकी हैं। उन सबकी यहां पुनरावृत्ति करनेकी अपेक्षा आचार्यने केवल उन स्थलों पर अपनी अंगुली रखी है जिनका ज्ञान उस सामान्य प्ररूपणासे नहीं हो सकता था। निद्रादिके लक्षण इसी प्रकारके हैं और इसलिये मात्र उन्हींका यहाँ वर्णन करना आचार्यने उचित समझा। इसमें कोई त्रुटि ख्याल करना अनावश्यक है।

ठीक यही बात कर्मप्रकृतिकी उन दो गाथाओं और १४ गाथाओं व ४ गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है जिनको क्रमशः कर्मकाण्डकी २५ वीं, २६ वीं और २७वीं गाथाके पश्चात् रख देनेकी तजवीज की गई है। यथार्थतः उनसे सिवाय नाम निर्देश और सामान्य स्वरूप ज्ञानके कोई नया प्रकाश नहीं मिलता। उनमेंसे सात गाथायें जीवकाण्डमें आ भी चुकी हैं। दर्शन मोहनीयमें बंध मिथ्यात्वका और उदय तथा सत्त्व तीनोंका रहता है, अतः शेष दो प्रकृतियोंका अस्तित्व कैसे हो जाता है, इस विशेषताका ज्ञान करानेके लिये कर्मकाण्डमें गाथा नं० २६ निबद्ध की गई है, तथा पाँच शरीरोंसे संयोगी भेद कैसे बन जाते हैं, इस विशेषताको बतलानेके लिये गाथा नं० २७ रखी गई है। नामकर्मकी प्रकृतियोंमें अंग और उपांगका भेद किस प्रकार हुआ इस विशेषताको दिखाने वाली गाथा नं० २८ रखी गई है। शेष भेद-प्रभेद तो सामान्य हैं, अतः जान बूझकर भी वे यहाँ

रचयिता द्वारा ही छोड़े जा सकते हैं।

कर्मकाण्डकी २६ से ३२ तककी गाथाओंमें किस संहननसे जीव किस गतिमें जाता है, इसका विवरण दिया गया है; और केवल उन्हीं बातोंको बतलाया गया है जिनके समझनेके लिये बंधादि अधिकार पर्याप्त नहीं हैं। यहाँ मनुष्यों और तिर्यंचोंके किन संहननोंका उदय होता है, इसके बतलानेकी तो आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि उदय प्रकरणकी गाथा नं० २६४ से ३०३ तककी गाथाओंमें तिर्यंचों और मनुष्योंके उदय, अनुदय और उदयव्युच्छित्तिरूप जो प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं उन्हींसे किस तिर्यंचके या मनुष्यके कितने संहनन होते हैं, इसका भी पता लग जाता है। नं० २६५ से २७२ तककी गाथाओंमें जो गुणस्थानोंकी अपेक्षा उदयादिका कथन किया गया है, उससे किस गुणस्थान तक कितने संहनन होते हैं; इसका भी पता लग जाता है। क्षेत्रकी दृष्टि. भोगभूमिके क्षेत्रोंमें पहला संहनन होता है, इसका पता ३०२ और ३०३ नं० की गाथाओंसे लग जाता है और पारिशेष न्यायसे यह भी समझमें आजाता है कि कर्म भूमिमें सभी संहनन होते हैं। इसी क्षेत्र-व्यवस्थाके ऊपरसे काल व्यवस्था भी समझमें आजाती है। अतएव कर्मप्रकृतिकी ७६ से ८२ तककी आठ व ८६ से ८६ तककी चार गाथाओंके यहाँ न रहनेसे कर्मकाण्डमें कोई त्रुटि नहीं रहती। संहननोंका उन गतियोंसे संबंध उपर्युक्त प्रकरणोंमें नहीं जाना जा सकता था, अतएव उस विशेषताको बतलाना यहाँ आवश्यक था।

एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। कर्मकाण्डकी गाथा नं० ४७ में स्पष्ट कहा गया है कि देहसे लगाकर स्पर्श तक पचास कर्मप्रकृतियाँ होती हैं—

'देहादी फासंता पण्णासा···'।

किन्तु कर्मप्रकृतिकी गाथा नं० ७१ में दो प्रकार की विहायोगति भी गिना दी गई हैं, जिससे वहाँ शरीरसे लगाकर स्पर्श तककी संख्या ५२ हो गई है। अब यदि इन गाथाओंको हम कर्मकाण्डमें रख देते हैं, तो गाथा नं० ४७ के वचनसे विरोध पड़ जाता है। इससे सुस्पष्ट है कि कर्मकाण्डके रचयिताकी दृष्टिमें इन गाथाओं का क्रम नहीं है टीकाकारने भी विहायोगति के दो भेदोंको छोड़ कर ही पचास भेद गिनाये हैं। अतएव इन गाथाओंको कर्मकाण्डमें रख देना उसमें पूर्वापर विरोध उत्पन्न कर देना होगा।

कर्मकाण्डकी गाथा नं० ३३ में आताप और उद्योत नामकी प्रकृतियोंके उदयका नियम बतलाया गया है जो अपनी विशेषता रखता है। शेष प्रकृतियों में ऐसी कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। अतएव कर्म प्रकृतिकी नं० ८१ से ६५ तककी पाँच तथा ६७ से १०२ तककी छह गाथाओंके रहने न रहनेसे कोई बड़ा प्रकाश व अन्धकार नहीं उत्पन्न होता। यही बात कर्मप्रकृतिकी शेष १५३ से १५७ तककी पाँच गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है, जिनमें केवल तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाली षोडश भावनाओंके नाम गिनाये गये हैं और जिन्हें कर्मकाण्डकी गाथा नं० ८०८ के पश्चात् जोड़नेकी तजवीज की गई है।

प्रसंगवश यहाँ कर्मप्रकृतिकी एक गाथाके पाठ व उसके अर्थका भी स्पष्टीकरण अनुपयुक्त न होगा। गाथा नं० ८७ में 'मिच्छापुव्व दुगादिसु' के स्थान पर अर्थसौकर्य व आगेके संख्याक्रमसे सामंजस्य बैठानेके लिये 'मिच्छापुव्व-खवादिसु' ऐसा संशोधन पेश किया गया है। किन्तु इस संशोधनके बिना ही उस गाथा का अर्थ बैठ जाता है और संशोधित पाठसे भी अच्छा बैठता है वहाँ अपूर्वद्विकादिमें अपूर्वादि उपशम श्रेणी

के चार और अपूर्वादि क्षपक श्रेणीके पाँच गुणस्थानों का अभिप्राय है, जो सुसंगत बैठता है। खवादि पाठ कर लेनेमें तो विसंगति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि अपूर्वादिको छोड़कर तो खवादि पाँच गुणस्थान हो नहीं सकते?

३. अब हम इस विषयकी तीसरी विचारणीय बात पर ध्यान देंगे। क्या कर्मप्रकृति ग्रंथ गोम्मटसारके रचयिताका ही बनाया हुआ है? पं० परमानन्दजीने इस विषय पर विशेष कोई प्रकाश डालनेकी कृपा नहीं की। उन्होंने उस ग्रन्थके विषयमें निश्चयात्मक रूपसे केवल यह कह दिया है कि "हालमें मुझे आचार्य नेमिचन्द्रके कर्मप्रकृति नामक एक दूसरे ग्रन्थका पता चला है"। पर उन्होंने यह नहीं बतलाया कि इस ग्रन्थके कर्तृत्वका निश्चय उन्होंने किस प्रकार, किन आधारों परसे किया है। क्या गोम्मटसारकी अधिकाँश गाथायें उसमें देखकर उसे नेमिचन्द्राचार्य रचित कहा है या उनकी देखी हुई प्रतिमें कर्ताका नाम नेमिचन्द्र दिया हुआ है? यदि प्रतिमें कर्ताका नाम यह दिया हुआ है तो क्या वे गोम्मटसारके कर्तासे भिन्न कोई आगे पीछेके संग्रहकार नहीं हो सकते? नेमिचन्द्र नामके और भी मुनियों व आचार्योंका उल्लेख मिलता है। यदि वह कृति गोम्मटसारके कर्ताकी ही है तो वह अब तक प्रसिद्धिमें क्यों नहीं आई? क्या किन्हीं ग्रन्थकारों या टीकाकारोंने इस ग्रंथका कोई उल्लेख किया है? इत्यादि अनेक प्रश्न उस कृतिके सम्बन्धमें उत्पन्न होते हैं, जिनका समाधान करना उसकी गाथाओंको कर्मकाण्डमें समाविष्ट कराने की तजवीजसे पूर्व अत्यन्त आवश्यक था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'कर्मप्रकृति' एक पीछे का संग्रह है, जिसमें बहु भाग गोम्मटसारसे व कुछ गाथायें अन्य इधर उधरसे लेकर विषयका सरल विद्यार्थी-उपयोगी परिचय करानेका प्रयत्न किया गया है। उसकी गोम्मटसारके अतिरिक्त गाथाओंकी रचना शैली आदिकी सूक्ष्म जाँच पड़तालसे भी सम्भव है कुछ कर्तृत्वके सम्बन्धमें सूचना मिल सके। यदि पर्याप्त छान बीनके पश्चात् वह ग्रंथ सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्रकी ही रचना सिद्ध हो तो यह मानना पड़ेगा कि उसे आचार्यने कर्मकाण्ड की रचनाके लिये प्रथम ढांचा रूप तैयार किया होगा। फिर उसकी सामान्य नाम व भेद प्रभेद आदि निर्देशक गाथाओंको छोड़ कर और उपयुक्त विषयका विस्तार करके उन्होंने कर्मकाण्डकी रचना की होगी।

इस प्रकार न तो हमें कर्मकांडमें अधूरे व लंडूरेपन का अनुभव होता है, न उसमेंसे कभी उतनी गाथाओं के छूट जाने व दूर पड़ जानेकी सम्भावना जँचती है, और न कर्मप्रकृतिके गोम्मटसारके कर्ता द्वारा ही रचित होनेके कोई पर्याप्त प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी अवस्थामें उन गाथाओंके कर्मकांडमें शामिल कर देनेका प्रस्ताव हमें बड़ा साहसिक प्रतीत होता है।

जैनदर्शनमें मुक्ति-साधना

[ले० श्री अगरचन्द नाहटा,—सम्पादक "राजस्थानी"]

भारतीय समग्र दर्शनोंमें जैन दर्शनका भी महत्वपूर्ण स्थान है, तत्व ज्ञानका विचार इस दर्शनमें बड़ी ही सूक्ष्मतासे किया गया है। आचारोंमें 'अहिंसा' और विचारोंमें 'अनेकान्त' इस दर्शनकी खास विशेषता है। इस लेखमें जैनदर्शनानुसार जीव और कर्मका स्वरूप एवं सम्बन्ध बतलाकर मुक्ति और उसकी साधनाके विषयमें विचार किया जायगा।

अनादि-अनन्त संसार चक्रमें जीव और अजीव दो मुख्य पदार्थ हैं। चैतन्य-लक्षण-विशिष्ट जीव और अचेतन-जड़-स्वरूप अजीव है। जीव असंख्यात् प्रदेश वाला, शाश्वत, अरूपी पदार्थ है, उसके मुख्य दो भेद हैं 'सिद्ध' और संसारी। सिद्धावस्था जीवका शुद्ध स्वरूप है, और संसारी अवस्था कर्म-संयोग जन्य अर्थात् विकारी अवस्थाका नाम है। दृश्यमान पदार्थ सारे पुद्गल द्रव्यके नानाविधरूप हैं। जब आत्मा अपने स्वरूपसे विचलित होकर या भूलकर पुद्गल द्रव्य अर्थात् पर पदार्थोंकी ओर प्रवृत्त होता है, भ्रमसे उन्हें अपना मान लेता है या उन पर आसक्त हो जाता है, तभी आत्मामें राग भावका उदय होता है, राग-से द्वेष उत्पन्न होता है, और इन राग-द्वेषरूप विकारी भावोंसे आत्माके साथ कर्म पुद्गलोंका संयोग सम्बन्ध हो जाता है। राग-द्वेषरूप चिकनाहटके अस्तित्वमें कर्मरज आकर जीवके साथ चिपट जाती है। जहाँ राग और द्वेष नहीं है, वहाँ पर पुद्गलोंके हजारों रूप सन्मुख रहने पर भी कर्म-बन्धन नहीं होता। इसीलिये साधनामें समभावका महत्व सभी आस्तिक दर्शनोंने स्वीकार किया है। गीतामें समत्वके विषयमें बहुत सुन्दर विवेचन पाया जाता है। एवं कर्मफलकी आसक्तिका त्याग अर्थात् अनासक्तयोगको प्रधानता दी है। इन दोनों साधनोंके विषयमें गीता और जैन दर्शनकी महती समानता व एकता है।

जीवसे कर्मका सम्बन्ध कबसे और क्यों है? कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह राग द्वेष-रूप विकारी परिणामों या भावोंसे होता है; यह ऊपर कहा ही जा चुका है; पर वह स्वर्ण और मिट्टीके सम्बन्धके सदृश अनादिकालसे है, इतना होने पर भी जैसे स्वर्णको मिट्टीसे अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मारूप स्वर्णसे कर्म-मिट्टी अलगकी जा सकती है, और इस कार्यमें जो जो बातें सहायक है उन्हें ही 'साधन' कहते हैं एवं साधनोंका व्यवहारिक उपयोग ही 'साधना' कही जाती है। साधना करने वाला ही 'साधक' कहा जाता है, और साधनाके चरम विकाश अर्थात् इष्ट फल प्राप्तिको 'सिद्धि' कहते हैं।

जीवके विकारी भावोंकी विविधता एवं तरतमताके कारण कर्म भी विविध प्रकारके होते हैं, अतः उनके फलोंमें भी विविधता होना स्वाभाविक है। इसी विविधता के कारण जीवोंमें पशु, पक्षी, मनुष्य, देव नारक भेद और उनमें भी फिर अनेक प्रकार कहे जाते हैं। कोई राजा, कोई रंक, कोई पंडित कोई मूर्ख, कोई अल्पायु कोई दीर्घायु, कोई रोगी कोई निरोगी कोई सुखी कोई दुखी इत्यादि असंख्य प्रकारकी तरतमता और विविधता नजर आती है। वास्तवमें ये सारे खेल जीवके अपने ही

ज्ञात या अज्ञात रूपसे अर्जित कर्मोंके फल हैं। जिस प्रकार जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, अर्थात् कर्म-फलका प्रदाता ईश्वर नहीं है फल तो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति मदिरा पान करता है तो वस्तु स्वभावके गुणसे नशेका आना स्वाभाविक है प्रत्येक भांतिके पदार्थ अपने अपने गुणोंकी अपेक्षा सत् है, कस्तूरीमें गर्मी है अतः उस खाते ही शरीरमें गरमी अपने आप आ जाती है, जैसी वस्तु खाते हैं उसके गुण-दोष शरीरमें स्वाभाविक रूपसे अनुभूत होते हैं। देश काल, परिस्थिति, जल-वायु सारे पदार्थोंके गुण दोष स्वाभाविक रूपसे ही अनुभूत होते रहते हैं, उसी प्रकार कर्मका भी जीवके साथ जैसे रूप-स्वभावमें बंध होता है, उससे उन कर्मोंमें तदनुरूप फल प्रदानकी शक्ति उत्पन्न होती है, और जब जिस कर्मका उदय होता है, तब वह अपने स्वभावानुसार फल उत्पन्न करता है।

यह तो हुई जीव कर्मके सम्बधकी बात, अब यह सम्बन्ध किस प्रकारसे अलग हो सकता है उस पर विचार करना है। जीवके साथ कर्मोंके सम्बन्ध होनेके जितने भी मार्ग हैं जैन दर्शनमें उन्हें 'आस्रव' तत्व कहते हैं और कर्मके आनेके मार्गोंका निरोध 'सवरतत्व' कर्मोंसे सम्बन्ध हो जाना 'बन्ध तत्व' जिन कर्मों द्वारा जीवसे कर्म विनाश होते है; उस 'निर्जरा-तत्व' और सम्पूर्ण रूपसे स्वाभाविक अवस्था प्राप्त कर लेना अर्थात् कर्मोंसे मुक्ति हो जाना 'मोक्षतत्व' है। इस प्रकार जीव और अजीव दो मुख्य तत्वोंके साथ इन पाँच तत्त्वोंको जोड़ देनेसे तत्त्वोंकी संख्या ७ हो जाती है। कहीं कर्म आस्रव तत्त्वके विशेष स्पष्टीकरणके लिये पुण्य और पाप इन दोनोंको पृथक् तत्त्व माना गया है, इससे नव तत्त्व कहे गये हैं। इनमेंसे हमें साधना मार्गमें तीन तत्वोंकी जानकारी परमावश्यक है, अतः उनका स्वरूप दृष्टान्त-द्वारा नीचे समझानेका प्रयत्न किया जाता है।

एक सुन्दर सरोवरमें जल भरा हुआ है, समय समय पर उसमें नवीन जल आता रहे और वह परिपूर्ण भरा रहे। इसके लिये जलागमनके कई मार्ग रखे जाते हैं। जब हमें उस सरोवरको जलसे खाली करना होता है। तो प्रथम जलके आनेके मार्गको बन्द कर देते हैं और पुराने जलको गरमी द्वारा शोषण करके या ऐंच कर निकाल डालना पड़ता है; जब ऐसी क्रिया की जाती है अर्थात् नवीन जल नहीं आने दिया जाता और पुराने जलको बाहर फेंक दिया जाता है, तभी वह खाली हो सकता है। यदि नवीन जल आनेके मार्ग बन्द नहीं किये जाते तो चाहे कितना ही प्रयास क्यों न करें सरोवर कभी खाली नहीं हो सकता। इधर जल निकालने जायेंगे, उधर भरता रहेगा। फलतः इष्ट-सिद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार जीवरूप सरोवरमें कर्मरूप जल भरा है; जब हमें जीवको कर्मोंसे मुक्त करना है, तो आवश्यक है कि हम कर्मके आनेके मार्गों रूप आस्रव द्वारोंको रोकें, और पूर्व बँधे हुये कर्मोंको तप-संयमादिके द्वारा बाहर निकाल कर फेंक दें या शोषित करदें। इससे नये कर्मोंका बँध होगा नहीं और पूर्वके कर्म भोगकर या तपादि सदनुष्ठानोंसे नष्ट कर देने पर जीवकी मुक्ति होना अनिवार्य एव स्वाभाविक है।

जैनदर्शनकी साधन प्रणालियें

अब यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि कर्मोंके आगमनके मार्ग आस्रव-द्वार कौन कौनसे हैं, कैसे उनको रोका जाता है व पूर्व संचित कर्मोंका शोषण किस प्रकार हो सकता है? इन बातोंकी जानकारी व उसके अनुसार आचरण करना ही साधना है।

आस्रवद्वार—प्रधान १ राग और २ द्वेष

५ इन्द्रियाँ—कान, नाक, आँख, जिव्हा, शरीरके विषयोंकी इच्छा व आसक्ति—

४ कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ (रोस, अहंकार, कपट, तृष्णा)

५ अव्रत—प्राणी हिंसा, मिथ्या बोलना, चोरी करना, मैथुन-कामभोग, परिग्रह-मूर्छावश वस्तुओंका संग्रह

३ योग—मन, वचन, कायका शुभाशुभ व्यापार' शुभ योगसे पुण्य बंध होता है उससे शुभ फलोंकी प्राप्ति होती है और अशुभ योगसे पाप बँधता है।

२५ क्रियायें—परिताप, प्राणबध द्वेष आदिकी प्रवृत्तियों (लेख विस्तारभयसे सबका विवरण नहीं दिया जा सका। विशेष जानने वालोंकी इच्छा वालोंको कर्म-ग्रन्थ तत्वार्थसूत्रकी टीकाएँ और नवतत्व आदि ग्रन्थ देखने चाहियें)

संवर—

३ गुप्ति—१ मनोगुप्ति दुष्ट संकल्प एवं अच्छे बुरे मिश्रित विचारोंका त्याग कर अच्छे अच्छे विचार रहना, ईश्वरका ध्यानादि।

२ वचनगुप्ति— यद्वातद्वा न बोलकर मौन धारण करना। या सन्मार्गका उपदेश देना, प्रभुका भजन आदि।

३ काय गुप्ति—पाप कर्मोंसे कायाकी प्रवृति हटाकर परोपकार रूप प्रवृतियें करना, चंचल इन्द्रियोंकी प्रवृतियोंका विरोध कर लेना अर्थात् उपर्युक्त तीनों योगोंका निग्रह करना।

५ समिति—१ ईर्यासमिति किसी भी जन्तुको क्लेश न हो एतदर्थ सावधानता पूर्वक चलना।

२ भाषासमिति–सत्य हितकारी परिमित और संदेह रहित बोलना।

३ एषणा समिति–जीवन-यात्रामें आवश्यक निर्दोष साधनोंको जुटानेके लिये सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति।

४ आदान निक्षेप समिति–वस्तु मात्रको भलि भाँति देख व प्रमार्जित करके लेना या रखना।

५ उत्सर्गसमिति--जहाँ जन्तु न हो ऐसे प्रदेशमें देख कर या प्रमार्जित करके ही मलादि अनुपयोगी वस्तुओंका डालना।

गुप्तिमें असत् क्रिया निषेध मुख्य है और समितिमें सत्क्रियाका प्रवर्तन मुख्य है।

१० धर्म--क्षमा, मृदुता (नम्रता) सरलता, निर्लोभता सत्यता, संयम, तप त्याग, ममत्व त्याग, ब्रह्मचर्य।

इससे संयमके सतरह प्रकार है—५ इन्द्रियोंका निग्रह ५ अव्रतोंका त्याग, ४ कषायोंका जय ३ योगोंका निग्रह।

१२ भावनायें—अनुप्रेक्षा या गहरा चिन्तन

१ अनित्य २ असरण ३ संसार ४ एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशुचि ७ आश्रव ८ संवर ९ निर्जरा १० लोक ११ बोधिदुर्लभ और १२ धर्म, ये बारह भावनायें हैं।

२२ परिषहोंका सहना

क्षुधा तृषा, शीत उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषेध शय्या, आक्रोश; वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा अज्ञान, और अदर्शन, ये २२ परिषह हैं।

४ चारित्र—१ सामायिक (समभाव पूर्वक रहना) २ छेदोपस्थापन (विशेष शुद्धिके लिये पुनः दीक्षा) ३ परिहार विशुद्धि (विशेष तप प्रधान) ४ सूक्ष्म संपराय (क्रोधादि कषायका प्रभाव केवल सूक्ष्म लोभ रहना) ४यथाख्यात (वीतराग भावकी प्राप्ति)

निर्जरा तत्वके प्रकार—

१ अनशन-आहारका त्याग, २ ऊनोदर क्षुधासे कम भोजन करना, वृत्तिसक्षेप-विविध वस्तुओंके लालचको कम करना, ४ रस त्याग-घी, दूध, दही, गुड़, तेल, व पक्वानका त्याग और मधु, मांस, मक्खन व मदिराका सर्वथा त्याग। ५ कायक्लेश-ठंड गर्मी या विविध आसनादि द्वारा शरीरको कष्ट देना, ६ संलीनता-अंगोपांग संकोच कर रहना, एकान्तस्थानमें संयत भावसे रहना।

ऊपरके ६ भेद बाह्य तपके हैं, आभ्यतरिक ६ भेद ये हैं—

१ प्रायश्चित-दोष शोधन, २ विनय, ३ वैयावृत्य सेवा, ४ स्वाध्याय-वाचना पृच्छना, परावर्त्तना (आम्नाय) अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेशरूप, ५ ध्यान, ६ उत्सर्ग-धनधान्य एवं शरीरादिका ममत्व हटाना और कापायिक विकारोंमें तन्मयताका त्याग।

यहां पर लेख विस्तार भयसे मुख्य भेदोंका ही निर्देश किया है इनमेंसे एक एक भेद भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका स्वरूप जाननेके लिये तत्वार्थसूत्र, नवपदार्थ ज्ञानसार आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये।

सब साधकोंकी योग्यता एकसी नहीं होती, अतः योग्यताके तारतम्यके अनुसार दो प्रकारकी साधना बतलाई गई हैं:—१ गृहस्थ और २ मुनि। इनमेंसे मुनियोंके ५ व्रत होते हैं १ अहिंसा, २ त्याग, ३ अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह इन पांचों व्रतोंको सम्पूर्ण रूपसे पालन करना मुनिका धर्म है और अंशतः पालन करना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थके व्रत १२ कहे जाते हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१ पूर्वोक्त ५ व्रतोंको अपनी शक्तिके अनुसार अंशतः पालन करना अणुव्रत है जैसे निरपराधी जीवको मारनेकी बुद्धिसे नहीं मारना, २-३ विशेष अनिष्टकारक राजदण्ड व लोक निंदा होने वाला असत्य न बोलना व वैसी चोरी नहीं करना, ४ पर स्त्री गमनका त्याग, धनधान्यादिका परिमाण कर लेना, उससे अधिक न रखना।

तीन गुण व्रत—१ चारों दिशाओंमें गमनागमनका परिमाण दिग् व्रत, भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण देशव्रत ३ अनावश्यक अनर्थ पापोंका त्याग अनर्थदण्डत्यागव्रत और ४ शिक्षाव्रत—१ सामायिक (नियत समय तक सम भावसे रहना) २ देशावकालिक—पूर्व परिमाण जो जीवन भरके लिये किया है प्रत्येक दिन व समयके लिये संक्षेप, ३ पोषध—उपवासपूर्वक शरीर विभूषाका त्याग कर धर्ममें तत्पर होना ४ सुपात्र साधुओं आदिको दान।

जीवका कर्म बन्धनसे मुक्त हो जाना ही 'मुक्ति' है, इस अवस्थाको प्राप्त होने पर आत्मा निर्लेप, निर्विकार एवं अनन्त शक्तिको प्राप्त होता है। जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगती-गामी कहा जाता है। अतः बन्धनके कारण जीवका स्वभाव आच्छादित था, वह मुक्त होते ही प्रगट होता है, और उसके कारण आत्मा सब देव लोकोंके ऊपर जो स्फटिक रत्नकी सिद्ध शिला है उससे एक योजनके बाद लोकका अन्त आता है, वहाँ जाकर निवास करता है। मुक्तावस्था प्राप्त आत्माएँ अपने ध्येय की सम्पूर्ण सिद्धि कर लेती हैं अतः वे 'सिद्ध' कहलाते हैं। ऐसे सिद्ध अनन्त हैं, फिर भी अरूपी होनेके कारण न तो स्थानाभाव एवं भीड़ ही होती है और न शरीरके अभावके कारण वहां जगह रुकती है, एक ही स्थानमें अनन्त आत्माओंके रहने पर भी एक दूसरेके लिये

व्याघात उत्पन्न नहीं करते। मुक्ति हो जानेके बाद पुनः संसारमें लौटनेका उनके कोई कारण विद्यमान नहीं रहता, अतः सादि अनन्त स्थितिको वे प्राप्त होजाते हैं। ज्ञान, दर्शन चारित्र और अनन्त शक्ति उनके व्यक्त है, अतः सारे विश्वके त्रिकाल विषयको वे जानते हैं। विश्व प्रपंच दुःखका घर है, उसके एकान्ताभावके कारण मुक्त जीव अनन्त सहज स्वाभाविक सुखका अनुभव करते हैं। जिस प्रकार व्याधि दुःख है और उसके नष्ट हो जानेसे मनुष्य सहज सुखका अनुभव करता है, उसी प्रकार कर्मजन्य दुःखके नितान्ताभावमें परम सुख प्राप्त हो जाता है। इच्छा, वासना, आसक्ति के अभावमें उनके कर्म बन्ध नहीं होते, और कर्मका सम्बन्ध न होनेसे वे संसारमें पुनः लौटते भी नहीं। शुद्धावस्थाको प्राप्त करने पर सब आत्माएं एक समान हो जाती हैं, उनमें न तो कोई उत्तम है और न कोई नीच अर्थात् बड़े छोटे-पनका भी कोई तारतम्य नहीं रहता। प्रत्येक आत्माको जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जान कर आस्रवका त्यागकर संयम और तप रूप संवर-निर्जरा द्वारा कर्मोंके बन्धनको तोड़ मुक्ति-शुद्धावस्था प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये, यही जैन दर्शनकी साधनाका परम लक्ष्य है।

आग्रह

शांति-रस पीना बारम्बार ॥ टेक ॥

तिक्त भाव से रिक्त करेगा, मानस का भण्डार।
सिन्धु यही है साम्य-सुधा का, करना इससे प्यार ॥
शान्तिरस पीना बारम्बार ॥ १ ॥

धुल जावेगा पाप-मैल सब, कर स्नान सम्हार।
कीर्ति विश्व में विस्तृत होगी, होगा सत् सत्कार ॥
शान्तिरस पीना बारम्बार ॥ २ ॥

सेवक बन मध्यस्थ भावका, राग-द्वेष परिहार।
उभय परिग्रहसे चेतन तू, ममता भाव निवार ॥
शान्तिरस पीना बारम्बार ॥ ३ ॥

कल-मल-हरण विमल-पद-कारण, करन भवार्णव पार।
नित्य नियम से साधन करना, पाना "प्रेम" सुधार ॥

ब्र० प्रेमसागर पंचरत्न "प्रेम" रीठी

नृपतुंगका मतविचार

[मूल लेखक—श्री एम. गोविन्द]

(गत किरणसे आगे)

(आ) गणितसारसंग्रह

यह जैन गणितज्ञ 'वीराचार्य' की कृति है, इस प्रकार श्रीमान् पाठक महाशय (क०मा०भूमिका पृ. ६) ने कहा है; पर इसका नाम 'महावीराचार्य' है, यह बात कै० बा० श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षितके 'भारतीय ज्योतिः शास्त्र' मराठी ग्रंथ (पृ० ५३०) से, तथा अलाहाबादसे प्रकाशित 'सरस्वती' नामकी हिन्दी मासिक पत्रिकाकी जुलाई (१९२७) महीनेकी संचिका (पृ० ७८३) से मालूम पड़ती है। यह 'वराहमिहिराचार्य' (ई० स० ५०५) ‡ और उनके ज्योतिष ग्रन्थोंके व्याख्याता 'भट्टोत्पल' (ई० स० ९६७) के समयके बीचमें हुआ होगा, इस प्रकार श्री पाठक महाशयने कहा है (पृ० ६); पर कौनसे आधारसे यह बात निर्णय की गई सो मालूम नहीं। यह गणित ग्रन्थ होते हुये और इसका कर्ता स्वयं गणितज्ञ होते हुये भी इसका रचना-समय इसमें नहीं कहा, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

इस 'गणितसारसंग्रह' की अवतारिका-प्रशस्तिसे श्री पाठकने अपने उपोद्घात (पृ० ७) में जो ८ श्लोकोंको उद्धृत किया है, उनमेंसे अपने लेखके लिये जितना आवश्यक अंश है उतना यहाँ दिया जाता है:—

> अलंघ्यं त्रिजगत्सारं यस्यानंतचतुष्टयम्।
> नमस्तस्मै जिनेन्द्राय महावीराय तायिने ॥ १ ॥
> श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥ २ ॥
>
> विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
> देवस्य नृपतुंगस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥ ८ ॥

इसमें 'वर्धताम्' (वृद्धिगत हो) इस प्रकार वर्तमान कालार्थ विध्यार्थी रूप प्रयोग करनेसे, यह ग्रन्थ बहुशः अमोघवर्ष—नृपतुंग नामक किसी नरेशके शासनकालमें लिखा हुआ मालूम पड़ता है। पर राष्ट्रकूटवंशके उभय शाखाके नरेशोंमें 'अमोघवर्ष—नृपतुंग' उपाधियोंसे युक्त नरेश बहुतसे होगये हैं अतः इस अवतारिकामें कहा हुआ नृपतुंग वही है यह कैसे कहा जा सकता है? इस आचार्यने अपने ग्रन्थ रचनेका समय, स्थान अथवा अपने जिस राजाका नाम लिया उसके पिताका नाम नहीं कहा, इससे इसके नृपतुंगको अपना नृपतुंग समझ कर कहा हुआ श्री पाठक महाशयका वक्तव्य ठीक नहीं जँचता है।

अथवा इस आचार्यके नृपतुंगको अपने लेखका नृपतुंग समझकर निष्प्रमाणसे स्वीकार करने पर भी, इस काव्यमें कहा हुआ 'विध्वस्त'

---

‡ वराहमिहिरका और भट्टोत्पलका समय श्री महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदीजीके 'गणकतरंगिणी' नामक संस्कृत ग्रन्थके आधारसे कहा है; उस ग्रन्थमें इस वीराचार्य (अथवा महावीराचार्य) का उल्लेख नहीं है।

शब्द कोई छोटी बात नहीं। 'विध्वस्तैकान्तपक्ष' का अर्थ 'एकान्तपक्ष' को समूल नष्ट करने वाला है, 'एकान्तपक्ष' याने भागवत वैष्णव धर्म *। पर यह नृपतुंगके किसी भी शासनमें, उसके सम्बन्धमें उसके समकालीन और कोई लिखे हुए लेखोंमे और उसके सम्बन्धमें जिनसेन-गुणभद्रादि द्वारा कहे हुए वचनोंसे, तथा उसके सम्बन्धमें अब तक उपलब्ध इतिहाससे, मुगल बादशाह औरंगजेबके हिन्दू धर्म और हिन्दू मन्दिरोंको विध्वंस करने (तथा सुन्नी होकर शियाओंकी मसजिदोंको बर्बाद करने) के समान इस नृपतुंगने किया या करवाया या प्रयत्न किया, इस बातको सिद्ध करने वाले कोई प्रमाण हैं क्या? अपने 'कविराजमार्ग' काव्यमें भी किसी प्रकारका समयविरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये (१,१०४) इस तरह मुक्त कंठसे कहने वाला यह धर्म-विध्वंसके कार्यमें क्या हाथ डाले-गा? ऐसी अवस्थामें नृपतुंगने एकान्त पक्षको निर्मूल किया, इस आचार्यके वचन पर कैसे विश्वास कर सकते हैं? इतिहासको एक तरफ ढकेलकर ही इसके कहे हुए वचन पर विश्वास कर सकते हैं? यदि विश्वास नहीं कर सकते हैं तो इस नृपतुंगको 'स्याद्वाद-न्यायवादी' याने 'जैनधर्मी' प्रतिपादन करने वाली बात पर कैसे विश्वास कर सकते हैं?

अथवा इस आचार्यका अभिप्राय वैसा नहीं—याने नृपतुंगने एकान्त पक्षको या एकान्त पक्ष-सम्बन्धी धर्ममन्दिरोंको या एकान्तपक्ष वालोंको विध्वंस किया यह अर्थ नहीं; पर अपनेमें तब तक रहे हुए एकान्त पक्षके विश्वास-श्रद्धाका निर्मूल करके, अर्थात् एकान्त स्वधर्मका त्याग करके, धर्मान्तरका ग्रहण करके आप 'स्याद्वादन्याय-वादी' जैन हुआ, यह अर्थ यदि उस आचार्य-वचनमें निकलता है तो उस पर विचार करें।

इस नृपतुंगने जिनसेनके उपदेशसे जैन दीक्षा ली हो तो वह जिनसेनके मरणके पहिले ही होनी चाहिये—हमारे विचारमें ई०सन ८४८के पहले होनी चाहिये, उसके पीछे नहीं। पर इसके शासनकालके ५२ वें वर्ष (ई० सन् ८६६) के पहिले दिये हुए शासनके शिरोलेखमें यह हरिहर†

* 'एकान्तपक्ष' अथवा 'एकान्तधर्म' का अर्थ 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' (मोक्षधर्म) के 'नारायणोपाख्यान' में तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा हुआ अहिंसाप्रधान भागवत वैष्णव धर्म है, इसे पांचरात्र' नाम भी है। (Vide Bhandarkar's "Vaishnavism, Saivism and other minor religions systems"—Strassburg). इसके सम्बन्धमें 'गरुडपुराण' में (अध्याय १३१) इस प्रकार कहा है :—

> एकान्तेनासमो विष्णुर्यस्मादेषां परायणः ।
> तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः ॥
>
> प्रियाणामपि सर्वेषां देवदेवस्य स प्रियः ।
> आपत्स्वपि सदा यस्य भक्तिरव्यभिचारिणी ॥

† भागवतमें वैष्णव धर्मके हरिहरोंमें भेद नहीं यह बात 'शांतिपर्व' के उसी 'नारायणोपाख्यान' (अध्या० १६८) में कही है। "जो शंकरको पूजा नहीं करते हुए मुझे पूजेंगे तो उनकी हानि होगी, वे मेरे निग्रहके पात्र हैं; हम दोनोंमें भेद नहीं" ('श्रीकृष्ण-राज-वाणीविलास) नामकी महाभारतकी कर्णाटक टीका; शान्तिपर्वमें 'मोक्षधर्म' पृ० २६८)

भक्त मालूम पड़ता है—किन्तु जैनी था यह मालूम नहीं पड़ता; वैसे ही उसी शासनके 'गरुड-वाहनं' 'कीर्तिनारायणो' 'महाविष्णुवराज्यम्बोल' इत्यादिसे यह वैष्णव था, यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है। इसके अन्तिम वर्षके (ई० सन् ८७७) सोरब नं ८५, (E.C.Vol.VIII., pt.II) शासन से भी, यह जैन था इस सम्बन्धमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। पर ई० स० ८७७ के पश्चात् नृपतुंग जैन क्यों नहीं बन सकता? यह आक्षेप हो सकता है। पर यह बात हो भी सकती है और नहीं भी; क्योंकि ई० स० ८७७ में नृपतुंगका देहावसान हुआ हो, या राज्यकारसे निवृत्त होकर उसने वानप्रस्थाश्रमका ग्रहण किया हो, इसका निष्कर्ष अब तक नहीं हुआ, अनिश्चित ऐतिहासिक घटना परसे ऐसा ही था यह कहना ठीक नहीं। वह कैसी भी हो, इस आचार्यके वक्तव्य का विचार करनेमें कोई बाधा नहीं, क्योंकि 'देवस्य नृपतुंगस्य वर्धतां तस्य शासनम्' इस प्रकार इसके वक्तव्यसे वह नृपतुंग उस वक्त शासन करते हुए व्यक्तिसे भिन्न राज्यभारसे निवृत्त (अर्थात् पहिले शासन किया हुआ) नरेश, यह अर्थ नहीं होना; पर ई० स० ८७७ तक नृपतुंग जैन नहीं था यह बात हम पहिले अवगत कर चुके हैं।

उस समय जिनसेनाचार्य जैन मताग्रगण्य था; नृपतुंगने एक बार भी उसे वन्दन किया होगा तो उस पर इस नरेशकी श्रद्धा हो सकती है। ऐसी अवस्थामें इस 'गणितसारसंग्रह' में उस जिनसेनका नाम क्यों नहीं? नृपतुंग जन्मसे जैन धर्मी नहीं था यह बात सभी जानते हैं; यदि वह जैनी हुआ तो किसी जैनाचार्यके उपदेशसे ही होना चाहिये, इस विषयमें उसका उपदेश-गुरु जिनसेन था इस प्रकार कुछ लोगोंका विश्वास है। पर जिनसेन-द्वारा नृपतुंग जैनी हुआ, यह बात 'गणितसारसंग्रह' में नहीं कही गई, अथवा जिनसेनके सिवाय अन्य जैनाचार्यके उपदेशसे नृपतुंग जैनी हुआ यह बात नहीं कही गई; और जन्मतः जैनी नहीं रहे नरेशको जैनी कहा गया। प्रशस्ति के अनेक पद्योंमें वह किसके उपदेशसे जैनधर्मी हुआ इस सम्बन्धमें भी एक दो बात लिखना उस ग्रन्थकर्ताका कर्तव्य था।

अतएव इस गणित ग्रंथकी प्रशस्तिमें कहा हुआ वक्तव्य उस आचार्य-द्वारा स्वतः जाना हुआ सत्य नहीं किन्तु कर्णपरंपरासे सुनी हुई बातको लिख डाला मालूम पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टिमें यह बात मूल्य नहीं रखती। 'पार्श्वाभ्युदय' के टीकाकारने उस काव्यमें 'भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः' इस प्रकारके एक आशीर्वचनसे (बहुशः आप सुनी हुई जनश्रुतिका आधार लेकर) बड़े भारी अतिशयोक्तिपूर्ण कथा-तन्तु-जालको बुना होगा ऐसा मालूम पड़ता है। पर योगिराट् पंडिताचार्यके समान यह (वीराचार्य) जिनसेन, नृपतुंगसे ५५०—६०० वर्षोंके इधरका व्यक्ति नहीं है, (बहुशः) उनके समकालीन होगा, इस प्रकार आक्षेप करने पर, जिनसेन और उसके खास शिष्य और अमोघवर्ष-नृपतुंगके शासनमें भी, उसके समयानन्तर उसके पुत्र अकालवर्षके शासन में भी विद्यमान गुणभद्रसे भी जो बात नहीं कही गई उसको इस महावीराचार्यने कहा है तो उसे ऐतिहासिक तथ्य कैसे मान सकते हैं?

पर इस आचार्यसे कहा हुआ अमोघवर्ष—नृपतुंग हमारे इस लेखका नायक न होकर, राष्ट्रकूटवंशका (अथवा अन्य किसी वंशका) और कोई उसी नामका नरेश होगा तो इस आचार्य के कथन और इस नरेशके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क करना इस लेखका उद्देश्य नहीं।

(इ) प्रश्नोत्तररत्नमालिका ‡

यह एक नीतिमार्गोपदेशी छोटासा संस्कृत काव्य है। बम्बई 'निर्णयसागर' मुद्रणालयसे प्रकटित काव्य मालाके सप्तम गुच्छकमें यह मुद्रित है। इसमें २९ पद्य हैं; पर 'Indian Antiquary' (Vol. XII.) में इस कविताके सम्बन्ध में (पृ०२१८) इसमें ३० पद्य हैं ऐसा कहा है। इसे प्रथमतः प्रकाशित करने वाले श्रीमान् के. बी. पाठक महाशय मालूम पड़ते हैं; परन्तु 'कविराजमार्ग' के उपोद्घातमें इसका निर्देश करते वक्त इसमें कुल कितने पद्य हैं सो लिखा नहीं, वैसे ही उन्हें मिली हुई प्रतिके अन्तिम एक पद्यको उद्धृत करनेके सिवाय उसमें और पद्योंको दिया भी नहीं। उस उपोद्घातमें (पृ०९) इस कविताके सम्बन्धमें आप कहते हैं:—

"Nripatunga was not only a liberal patron of letters, but he is also known as a Sanskrit author. A few years ago I discovered a small Jaina work entitled" 'Prasnottara-ratnamala' the Concluding verse of which owns Amoghavarsha as its author:—

विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥

Several editions of this work have since been published in Bombay. It is variously attributed to Sankara Charya, Sankarananda and a Svetambara writer Vimala. But the royal authorship of the 'Ratnamala' is Confirmed by a Thibetan translation of it discovered by Schiefner in which the author is represented to have been a king, and his Thibetan name, as retranslated into Sanskrit by the same scholar, is Amoghodaya, which obviously stands for Amoghavarsha. This work was composed between Saka 797-99; in the former year Nripatunga abdicated in favour of his son Akalavarsha"

इनका यह विचार कहाँ तक ठीक है, इस सम्बन्धमें विचार करनेके पहिले, उस विचार-सम्बन्धी कुछ पद्य यहाँ देना आवश्यक है—

प्रणिपत्य वर्द्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये।
नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरम्॥ १॥
कः खलु नालंक्रियते दृष्टादृष्टार्थसाधनपटीयान्।
कंठस्थितया विमलप्रश्नोत्तररत्नमालिकया॥ २॥
....
इति कंठगता विमला प्रश्नोत्तररत्नमालिकायेषाम्।
ते मुक्ताभरणा अपि विभान्ति विद्वत्समाजेषु॥ २८

'काव्यमाला' (Nirnay-Sagar Press) के संपादकने उसे प्रकट करनेके लिये संग्रहीत 'क' और 'ख' नामांकित हस्तलिखित प्रतियोंमेंसे

‡ इस मूल कविताका अंग्रेजी पद्यानुवाद-युक्त मेरा लेख Canara High School Magazine, Mangalore Vol. II प्रथम अंकमें प्रकाशित है।

† 'क' प्रतिका अन्तिम पद्य इस प्रकार दिया है—

रचिता सितपटगुरुणा विमला विमलेन रत्नमालेव।
प्रश्नोत्तरमालेयं कंठगता कं न भूषयति ॥ २१ ॥

इसके अलावा 'ख' प्रतिका अन्तिम पद्य और तरह है:—

विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका ।
रचितामोघवर्षेण सुधिया ‡ सदलंकृतिः ॥ २१ ॥

यह कृति श्रीमच्छंकराचार्यसे या उनके परम्परा के शंकरानन्द यतिसे रचित होगी ऐसी भी प्रतीति है। इस कृतिकी पुरानी हस्त प्रतियोंमे वर्द्धमान जिन स्तुति-सम्बन्धी पद्य न होंगे, और साथ ही साथ उनमें अन्तिम पद्य ('विमल' श्वेताम्बर गुरु नामका पाठान्तर भी, अमोघवर्ष नामका पाठान्तर भी) नहीं होंगे। इस कृतिमें रचनान्तर प्रक्षेप बहुत दिखाई देते हैं अतः शंकराचार्य तथा शंकरानन्द भी इसके कर्ता नहीं होंगे; क्योंकि:—

(१) आत्मपरमात्मका ऐक्यत्वके सम्बन्धमें इसमें चकार शब्द भी नहीं; (२) अथवा नीति-बोध-सम्बन्धी इस एक छोटीसी कवितामें सिद्धान्त तथा धर्मबोधनकी हवा भी नहीं दीखती; पर शंकराचार्यकी छोटीसी कृति "द्वादशपंजरी" "चर्पट-पंजरी" दोनोंमें नीतिबोधक और धर्मबोधक तत्व प्रत्येक पद्यमे टपकता है-अर्थात् धर्म और नीतिका पृथक्करण इनकीकृतिमें रहना विश्वसनीय नहीं है। (३) वैसे ही इस कवितामें भक्तिबोधक वक्तव्य नहीं है। किसी धार्मिक रीतिसे भी उपासना-सम्बन्धी बातें नहीं हैं। अत एव यह शंकराचार्यकी अथवा शंकरानन्दकी कृति होगी यह कहना ठीक नहीं। (४) साथ ही साथ इसके आरम्भमें या अन्तिम भागमें विष्णु अथवा शिवकी स्तुति भी नहीं है और उनके नाम भी नहीं। इन सब बातों से मालूम पड़ता है यह इन आचार्योंकी कृति नहीं है। (५) इसके १२वें पद्यमें—

'नलिनीदलगतजललवतरलं किं यौवनं धनमथायुः।'

इस प्रकार है, शंकराचार्यकी 'द्वादशपंजरी' के १०वें पद्यमें—

नलिनीदलगतसलिलं तरलं ।
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ॥

ऐसा है। पर इससे इन दोनोंका कर्ता एक ही होगा यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि नलिनीदलमें स्थित जलबिन्दुकी चंचलताका अपने जीवन, आयुष्य, धनके साथ उपमा करनेकी रूढि सनातन, बौद्ध, जैनधर्म शास्त्रोंमें बहुत पुरानी समयसे आरही है- इन सब बातोंसे यह कविता इन आचार्योंकी कृति नहीं है, यह बात निष्कम्परूपसे कह सकते हैं।

ऐसी अवस्थामें इसका कर्ता नृपतुंग ही हो सकता है क्या ? श्रीमान् पाठक महाशय जैसे विद्वान भी इसे नृपतुंगकी कृति मानते हैं, पर निम्नलिखित कारणोंसे उनका अभिप्राय ठीक मालूम नहीं पड़ता:—

† 'काव्यमाला' सप्तम गुच्छक (पृ० १२१ और १२१)

‡ श्रीमान् पाठक महाशयने 'कविराजमार्ग' के उपोद्घातमें इस श्लोकको उद्धृत किया है वहाँ पर 'सुधिया' है, 'काव्यमाला' में प्रकटित काव्यमें यहाँ 'सुधियां' है। 'सुधिया' ('सुधि'शब्दका तृतीयैक वचन) कहनेके बदले 'सुधियाम्' (उसी शब्दकी षष्टी विभक्ति का बहुवचन) कहना ठीक मालूम पड़ता है।

(१) उपर्युक्त 'काव्यमाला' में कही हुई 'ख' हस्त प्रतिमें 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' इस एक ही पद्य के सिवाय अन्य २८ पद्य और 'क' हस्त प्रतिके सभी २९ पद्य संस्कृत 'आर्या' छन्दमें हैं, परन्तु 'ख' प्रति का यह एक अन्तिम पद्य हो 'अनुष्टुभ्' नामका श्लोक है—यह क्यों ? नृपतुंगने अन्य २८ पद्योंको आर्या छन्दमें रचकर, आप विवेकसे राज्यभार त्यागकर पश्चात् इस कविताकी रचना करते हुए यहीं एक पद्य 'अनुष्टुभ्' श्लोकमें क्यों रचा ? इतनी छोटीसी कवितामें दो तरहके छन्दोंकी क्या जरूरत थी ? पर 'क' प्रतिके अंतिम पृष्ठोंमें इसका कर्ता 'बिमल' नामक श्वेताम्बर गुरु कहा है, इसी बातको कहनेवाला पद्य उस कृतिके अन्य सब पद्योंकी तरह आर्या छन्दमें रह कर, कृतिके रचनासमन्वयके साथ सुसंगत है, अत एव मूल कृतिका अंतिम पद्य इस 'क' प्रतिकी अंतिम 'आर्या' ही होनी चाहिये और इस कविताका रचिता उसमें कहा हुआ 'विमल' ही होना चाहिये ऐसा मुझे मालूम पड़ता है। (२) इस कविताके पहिले दूसरे और २८ वें पद्योंमे इसका नाम 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' कहा है, 'क' प्रतिके अंतिम पद्यके प्रथम चरणमें इसे 'रत्नमाला' के साथ तुलना किया है, उसके द्वितीय चरणमें इसका नाम कहते वक्त 'रत्नमाला' इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं करते हुये प्रश्नोत्तरमाला कहना समंजस है। पर 'ख' प्रतिके अंतिम 'अनुष्टुभ्' श्लोकमें इसे 'रत्नमालिका' कह कर 'प्रश्नोत्तर' नामके प्रधान पूर्व पदको ही छोड़ दिया है। अतः इस काव्यके अंतके वक्तव्य तथा 'ख' प्रतिके अंतिम पद्यके वक्तव्यमें परिवर्तन दिखाई देनेसे 'ख' प्रतिका अंतिम पद्य मूल प्रतिमें नहीं होगा ऐसा मालूम पड़ता है।

(३) इस कविताके २२ और २८ वें पद्योंमें दिखाई देने वाला 'विमल' शब्द केवल निर्मल इतना अर्थसे युक्त गुणवाचक नहीं, किन्तु कविने अपने नामके श्लेषसे उसका उपयोग किया होगा, यह बात शीघ्र मालूम पड़ जाती है। अतः कविका नाम 'विमल' ही होना चाहिये।

(४) नृपतुंग शक सं० ७९७ (ई० सन् ८७५) में अपने पुत्र अकालवर्षको अपनी गद्दी पर बैठा कर आप राज्यभारमें निवृत्त हुआ, इस प्रकार श्रीमान् पाठक महाशयका कहना है, पर ऐसे निष्कृष्ट वक्तव्यके सम्बन्धमें आपने कोई आधार नहीं दिया। यह वक्तव्य ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि ई० स० ८७५-७६ के कुछ शासनोंमे नृपतुंगके पुत्र अकालवर्ष नामक कृष्णका नाम होते हुए भी वह नरेश था यह बात नहीं, युवराज होते हुये अपने पिता नृपतुंगके राज्यके दक्षिण भागका प्रतिनिधि था यह बात है ‡। राजधानी मान्यखेटमें तब नृपतुंग गद्दी पर था, यह बात स्पष्ट है। इसके सिवाय ई० स० ८७७ के सोरब नं० ८५ वें शासनमें भी तब नृपतुंग गद्दी पर था ऐसा लिखा है और यह बात पहिले भी कही जा चुकी है। अतएव ई० स० ८७७ तक नृपतुंगने राज्य त्याग नहीं किया, यह बात व्यक्त होती है।

(५) इस 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' के तिब्बत भाषाके अनुवादमें इसका कर्ता 'अमोघोदय' नाम का राजा कहा है; इसी बातके आधारसे श्रीमान पाठक महाशयने उसे अमोघवर्ष कहा है; परन्तु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि—(१) 'ख' प्रतिके

‡ I. A., Vol. XII P. 220.

अन्तिम पद्यके अनुसार इस कविताके कर्ता अमोगवर्षने विवेकसे राज्य त्याग किया लिखा है, पर तिब्बत भाषाके अनुवादमें उसके कर्ताने राज्य त्याग किया लिखा हो सो उस बातको पाठक महाशयने कहा नहीं; उस अनुवादमें वैसे नहीं लिखा हो तो अमोघवर्ष और अमोघोदय ये दोनों एक ही व्यक्ति थे ऐसा कहना कैसे ? इन दोनोंमें 'अमोघ' यह पूर्व पद रहनेके कारण ये दोनों एक ही व्यक्ति थे इस प्रकार बिना प्रबल आधार के कोई कहे तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अतः इस कविताका कर्ता श्वेताम्बर जैन गुरु 'विमल' के सिवाय अन्य कोई नहीं;यह नृपतुंगकी कृति नहीं है यह बात मुझे ठीक मालूम पड़ती है। इस विमलसूरिने कर्नाटक भाषामें क्या काव्य रचना की है ? 'कविराजमार्ग' में कहा हुआ 'विमल' ('विमलोदय, नागार्जुन……। २९) नाम का व्यक्ति क्या यही होगा ?—इस सम्बन्धमें विद्वान लोगोंको विचार करना चाहिये।

'विवेकात्यक्तराज्येन' * यह श्लोक इस कवितामें प्रक्षिप्त किया गया होगा, इतना ही मैंने कहा है, वह नृपतुंगरचित अन्य किसी संस्कृत ग्रन्थमें नहीं होगा, यह बात मैंने नहीं कही। पर वह स्वयं या उसके सम्बन्धमें और कोई काव्य लिखा होगा, उसमें यह श्लोक रहा भी होगा। परन्तु उसके राज्यत्यागके सम्बन्धमें ठीक आधार प्राप्त होने तक, आगन्तुक किसी श्लोकके ऊपर विश्वास रखकर उसे ऐतिहासिक तथ्य समझकर स्वीकार करना मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ता। 'विवेकात्यक्तराज्येन' यह श्लोक ऐतिहासिक तथ्य को कहता है, इस प्रकार निष्प्रमाण स्वीकार करने पर भी इससे नृपतुंगने जैनधर्मका अवलंबन किया यह अर्थ नहीं होता; विवेकसे राज्यभार त्याग किया लिखा है, वह विवेकोदय उसे जैनधर्मसे हुआ यह बात नहीं। ई० स० ८१५ से ८७७ तक करीब ६२-६३ वर्ष तक राज्यशासन किये हुए इसे उस वक्त ८०-८२ वर्षसे कम न हुए होंगे, उस वृद्धावस्थामें यह राज्यभारसे निवृत्त हुआ हो तो वह विवेक नैसर्गिक है। इसके पहिले इसके पितामह ध्रुवराजने राज्य भारसे निवृत होना चाहा था यह बात पहिले कही जा चुकी है।

(ई) कविराजमार्ग

यह एक कर्नाटक अलंकार ग्रन्थ है। यह नृपतुंगकी स्वयं कृति है या उसके आस्थानक किसी कविने उसके नामसे रचना की हो, इस सम्बन्धमें विद्वानोंमें भिन्नाभिप्राय हैं। यदि यह ग्रन्थ नृपतुंगकी स्वयं कृति है तो इसमें इसकी अवतारिकाके दो कंद पद्योंमें (अपने इष्ट देवता) विष्णुकी स्तुति की है † इससे तो यह राजा स्वयं वैष्णव सिद्ध होता है। भागवत वैष्णव धर्ममें हरि-हर समान हैं यह बात पहिले कही जाचुकी है।

* उस नृपतुंगका पितामह राज्य भारसे निवृत होना चाहता था उस वक्त उसके पुत्रने उसे स्वीकार नहीं करते हुये वैसा होने नहीं दिया था, वैसे ही नृपतुंगके राज्य त्याग करना चाहते वक्त उसके पुत्रने अपने पूर्वजोंकी पद्धतिका अनुकरण करते हुये उसे नहीं स्वीकारा होगा, ऐसा मुझे मालूम पड़ता है।

† इस काव्यके तृतीय परिच्छेदके ८१, १११, ११२ १८४, १६०, १६४ नं० के पद्योंका परिशीलन करें।

इस काव्यके प्रथम भागमें ही विष्णुस्तुति स्पष्ट रहते हुए भी उस तरफ ध्यान नहीं देते हुए, श्रीमान् पाठक महाशयका इसके I ९० और III १८ इन दो पद्योंके आधारसे यह कहना कि "Two verses which praise Jina, reflect the religious opinions of the author" (क० मा० उ० पृ० ७) ठीक नहीं है; क्योंकि इन दोनोंमें I ९० को इस कविकी स्वतन्त्र रचना कहनेकेबदले 'व्यवहित दोष' निदर्शन करनेके लिये और किसी काव्यसे लिया हुआ दृष्टान्त मालूम पड़ता है, III १८वाँ पद्य इनसे ही रचा गया कन्द पद्य हुआ होगा। सकल धर्मोंको समान दृष्टिसे सत्कार करने वाले इस कन्द पद्यकी रचना करनेसे ही वह जैन था यह कहना असंगतहै इसके सिवाय कोई भी कवि अपने इष्टदेवताकी स्तुति ग्रन्थारम्भमें ही करता है, बीचमें या अन्य जगह जगह पर नहीं करता है। बहुशः I ७८ वां पद्य जैन धर्म-सम्बन्धी पद्य होना चाहिये। इससे क्या? कविके विचारमें धर्मभेद है क्या? जिस धर्ममें अच्छी बात हो उसे ग्रहण करना कविका धर्म नहीं है क्या? अच्छी बात अपने धर्ममें हो तो अच्छी, अन्य धर्ममें हो तो अच्छी नहीं, यह भेद कवियोंमें है क्या? इसके सिवाय कविराज मार्गके I १०३-१०४ नं० के पद्योंमें इसने 'समयविरुद्ध' दोष सम्बन्धी प्रस्ताव में कपिल (सांख्य), सुगत (बौद्ध), कणचर (= कणाद, वैशेषिक) लोकायतिक (नास्तिक) इत्यादि मत-सम्बन्धी उद्गार उन उन मार्गभेदके अनुगुण होने चाहियें। उन उन समयसूत्रोंके विरुद्ध नहीं होने चाहियें, यह बात इसने नहीं कही क्या? ऐसे व्यक्तिने जिनस्तुति-सम्बन्धी पद्योंको अपनी कवितामें जगह जगह पर क्यों नहीं बखेर दिया ‡।

नृपतुंग राजा होनेसे कवि नहीं था यह बात नहीं; क्योंकि भारतवर्षमें शासन करने वाले बहुत-से नरेश स्वयं कवि थे; यदि वैसा न हो तो 'राजशेखर'की (ई०स०करीब ८८०-९२०के बीचमें) 'काव्यमीमांसा' के *—"राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्॥" इस वाक्यका वक्तव्य स्वप्नकी बातें नहीं होगा क्या? इस बात को और स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं —(१) सोड्डल देवकी (ई० स० ११ वां शतक) 'उदयसुन्दरी कथा' में † "कवीन्द्रैश्च विक्रमादित्य-श्रीहर्ष—मुंज-भोजदेवादि भूपालैः" लिखा है, (२) श्रीहर्षवर्द्धनने (ई० स० ६०६-६४७) संस्कृतमें 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली'

---

‡ जैनियोंमें भी किसी प्रकारका धर्मभेद नहीं था इस बातकी मानतुंगाचार्य-कृतपवित्र 'भक्तामरस्तोत्र' नामक जिनस्तुति ही साक्षी है:—

"त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं।
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम्॥
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं।
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥ २४॥
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्।
त्वं शंकरोसि भुवनत्रयशंकरत्वात्॥
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्।
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोसि"॥ २५॥

* Gaekwad's Oriental Series, No. I P. 54.
† Ibid. No. XI P. 150.

और 'नागानन्द' नामके ३ नाटक लिखे हैं; § (३) समुद्रगुप्तके (ई० स० ३३०-३७५) अलाहाबाद-स्तम्भकी प्रशस्तिसे वह 'कविराज' था, तथा गान्धर्वविद्यामें भी विशारद मालूम पड़ता है। इतना ही नहीं उसके समयके बहुतसे सिक्कोंमें भी उसके सिंहासनमें सुखासीन होते हुये वीणा बजानेका चित्र है$। (४) 'भूलोकमल्ल' उपाधि युक्त (ई० स० ११२६-११३८) चालुक्य वंशके नरेश तृतीय सोमेश्वरने† 'मानसोल्लास' अथवा 'अभिलाषितार्थ चिंतामणि' नामका संस्कृत ग्रंथ लिखा है, इत्यादि।

तो भी 'कविराज मार्ग' नृपतुंगकी स्वयं कृति नहीं है औ उनके नामसे दूसरे किसीने उसे रचा होगा ऐसा समझा जाय तो उससे हानि क्या? (१) कन्नड कविश्रेष्ठ आदिपंप तथा रन्नकवि जैन थे इस बातको कौन नहीं जानता? परन्तु पंपके 'विक्रमार्जुन विजय' नामक 'पंपभारत' को तथा रन्नके 'गदा युद्ध' को क्या कोई जैन कविकृत कह सकता है? इनमें उन कवियोंने अपने पोषक नरेशोंके स्वधर्मका अनुकरण करते हुए और उसके अनुगुणरूप विष्णुस्तुति, शिवस्तुति इत्यादि से अपना ग्रन्थारम्भ करते हुये, उस धर्मकी धोरणामें ही उनकी आद्यन्त रचना करनेसे ये समग्र वैष्णव धर्ममय हैं। आप जैन होते हुए भी उन कवियोंने अपने काव्योंमें अपने धर्मकी बात ली है क्या? अतः इनके रचयिता कवियोंने स्वतः जैन होते हुए भी इनमें प्रतिफलित धर्म उन कवियों के पोषकोंका स्वधर्म है, कवियोंका स्वधर्म नहीं इस बातको कौन नहीं जानता? (२) ई० स० १२३० में जयसिंह सूरि नामके श्वेताम्बर कवि रचित 'हम्मीरमदमर्दन' नाटकमें * जिनस्तुति या जैनधर्म-सम्बन्धी किसी बातका जिक्र किया ही नहीं। उसमें उसने लिखा है:—

"स्तंभतीर्थनगरी गरीयो रत्नांकुरस्य त्रिभुवन-विभुविनम्र-मौलि मुकुटमणि किरण-श्रेणी-धौत-चरणारविन्दस्य वृन्दारकवृन्दविक्रमचक्रतिपरिपाककुंटा कनष्टदनुतनुजविजयश्रीसीमस्य श्रीभीमेश्वरस्य यात्रायां ....श्री वस्तुपालकुलकाननकेलिसिंहेन श्रीमता जयसिंहेन"

इस नाटकके अन्तमें नायकसे की गई शिव-स्तुति साक्षात् शैव कवि द्वारा रचित मालूम पड़ती है। उस प्रार्थनासे प्रसन्न होकर शिवने प्रत्यक्ष होकर नायकके भरत वाक्यको पूर्ति कर दिया लिखा है; (३) होयसलवंशी वीरबल्लालका (ई० स० ११७३-१२२०) आश्रित कन्नड जैन कवि जन्नने 'यशोधरचरित' तथा 'अनन्तनाथ पुराण' जैन काव्य रचने पर भी राजाके लिये रचित चन्नराय-पट्टणके १७९ वें (ई० स० ११९१) ताम्रशासन की अवतारिकामें दिया हुआ संस्कृत श्लोक विष्णु स्तुति सम्बन्धी है, और उत्पलमालामें विष्णुकी वराहावतारकी स्तुति है; वैसे ही इसके द्वारा रचित तरिकेरेके ४५ वें (ई० स० ११९७) शासन के आदि पद्यमें 'अमृतेश्वर' नामक शिवकी तथा

§ 'Men and thought in ancient India' pp. 171-172,

$ Ibid, pp. 154-155.

† E. H. D. P. 67.

* Gaekwad's Oriental Series No. X पृ० २ और ९६

दूसरे पद्यमें हरिहरकी स्तुति है† इत्यादि ।

अत एव इस 'कविराजमार्ग' का कर्ता नृपतुंग नहीं है; उसके आस्थानके किसी कवि-द्वारा रचित है, उसकी अवतारिकामें विष्णुस्तुतिसे, निर्दिष्ट धर्म नृपतुंगका स्वधर्म ही होना चाहिये रचयिताका स्वधर्म नहीं होगा।

'कविराजमार्ग' के अवतारिका-पद्य विष्णु-स्तुति-सम्बन्धी नहीं हैं, उन पद्योंमें नृपतंगने अपना ही वर्णन किया होगा इस प्रकार कोई आक्षेप करेंगे तो, वह आक्षेप निराधार है। इस आक्षेपको निम्न लिखित कारणोंसे निवारण कर सकते हैं,—

'कविद्वारा अपने कथानायकको या अपनेको अपने इष्टदेवताके साथ तुलना करते हुये अथवा इष्ट देवताको अपने कथानायकके नामसे या अपने नामसे उल्लेख करते हुये स्तुति करनेकी रूढि बहुत पुराने समयसे कर्नाटक तथा संस्कृत काव्योंमें है। उदाहरण:—

१ 'भास' महाकविके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटककी आदि की महासेन (=स्कन्द) स्तुतिमें उसके मुख्य पात्रोंके नाम हैं—

पातु वासवदत्तायो महासेनोतिवीर्यवान् ।
वत्सराजस्तु नाम्ना सशक्तिर्योगन्धरायणः ॥ १ ॥

अपने 'पंचरात्र' नाटकमें नान्दीकी कृष्ण-स्तुतिमें नाटक पात्रोंके नाम दिये गये हैं—

द्रोणः पृथिव्यर्जुनभीमदूतो ।
यः कर्णधारः शकुनीश्वरस्य ॥
दुर्योधनो भीष्मयुधिष्ठिरः स
पायाद्विराडुत्तरगोभिमन्युः ॥१॥

(२) आदिपंपने 'विक्रमार्जुनविजय' की अवतारिकाकी विष्णुस्तुतिमें अपने पोषक चालुक्य अरिकेसरिकी विष्णुके साथ तुलना की है—

.... 'उदात्त ना।
रायणनाद् देवनेमगीगरिकेसरि सौख्यकोटियं ॥ १ ॥

(३) रन्नने अपने 'गदायुद्ध' में अपने पोषक चालुक्य नरेश तैलप आहवमल्लकी (ई० स० ९७३-९९७) विष्णुके साथ तथा शिव, ब्रह्मा, सूर्य, इत्यादि देवताओंके साथ तुलना करते हुये काव्य का प्रारम्भ किया है—

......आदिपुरुषं पुरुषोत्तमनी चलुक्यना ।
रायण देवीनीगेमागे मंगलकारणमुत्सवंगलं ॥ १ ॥

(४) श्रवणबेल्गोलकी गोमटेश्वर महामूर्तिके (ई० स० ९८१) प्रतिष्ठापक चामुंडरायके गुरु नेमिचन्द्रने अपने 'त्रिलोकसार' नामके प्राकृत ग्रंथमें अपने इष्ट तीर्थंकर ३३वें (२२वें)? 'नेमिनाथजिन' के नामको अपना नाम 'नेमिचन्द्र' से उल्लेख करते हुये उनकी स्तुति श्लेषसे कही है—

बलगोविन्दसिहामणिकिरणकलावरुणचरणणहकिरणं।
विमलयरणेमिचंदं तिहुवणचंदं णमं सामि"* ॥

(५) आदिपंपने अपने धर्म ग्रन्थ कन्नड 'आदिपुराण' (ई०स०९४१-४२) के २रे आश्वाससे

† 'जनका शासनसंग्रह' ('कर्नाटककाव्यकलानिधि' नं०३४ मैसूर)।

* बलगोविन्दशिखामणिकिरणकलापारुणचरणनख किरणम्।
विमलतरनेमिचन्द्रं त्रिभुवनचन्द्रंनमस्यामि ॥

अन्तिम आश्वास तक प्रत्येक आश्वासके प्रथम पद्योंमें अपने जिनदेवको अपनी उपाधि 'सरस्वती मणिहार' नामसे ही कहा है—इत्यादि

नृपतुंग जैन नहीं था

(१) जिनसेन तथा गुणभद्रने अपने ग्रन्थोंमें नृपतुंग जैनधर्मावलंबी हुआ यह बात कही नहीं। गुणभद्रके उत्तरपुराणके उस एक श्लोकसे भी वह अर्थ नहीं निकलता।

(२) दिगम्बर जैनियोंके 'सेन' गणकी पट्टावलीमें कहे हुए प्रत्येक गुरुके सम्बन्धमें उससे किया गया विशेष कार्योंका उल्लेख उसके नामके साथ है † उसमें जिनसेनके सम्बन्धमें इतना ही कहा है—

धवल महाधवल-पुराणादि सकलग्रन्थकर्तारः श्री-जिनसेनाचार्याणाम्" (जै. सि भा.. I. I. पृ० ३१)

(३) जिनसेनने अपनीकृतियोंमें कहीं पर भी मैं नृपतुंगका गुरु हूँ यह नहीं कहा अथवा अपने नामके साथ नृपतुंगका नाम भी नहीं कहा।

(४) जिनसेन ई० स० ८४८ के उपरान्त नहीं होगा। नृपतुंग जिनसेनसे मतान्तर हो गया हो तो उसके पहिले ही होना चाहिये; परन्तु नृपतुंगके समयके ई० स० ८६६ के शासनसे वह तब तक जैन नहीं हुआ इतना ही नहीं किन्तु विष्णुभक्त होना चाहिये, यह बात व्यक्त होती है। उसने महाविष्णुव-राज्यबोल,(महाविष्णु राज्य के समान)राज्य शासन करता था ऐसा लिखा है। जैनधर्मके द्वादश चक्रवर्तियोंमेंसे किसीकी भी उपमा नहीं दी*।

(५) अमोघवर्ष—नृपतुंग नामके बहुतसे राजा हो गये हैं, 'गणितसारसंग्रह' में कहा हुआ नृपतुंग यही होगा तो उसका जन्मधर्म एकान्त-पक्ष याने वैष्णव धर्म था यह बात और भी दृढ होती है। अन्यथा इस पद्यमें कहा हुआ वक्तव्य इतिहासदृष्टिसे असंगत होनेसे उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

(६) 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नृपतुंगकी कृति नहीं है, उसमें कहा हुआ 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' श्लोक उसकी मूल रचना नहीं है, अर्वाचीन प्रक्षेप किया गया होगा अथवा उस श्लोकके वक्तव्य को सत्य समझने पर भी, उससे नृपतुंगने अपने विवेकसे राज्य त्याग दिया अर्थ होता है न कि जैन धर्मका अवलंबन करनेसे वैसा किया या वह विवेक उसे जैनधर्मसे प्राप्त हुआ यह अर्थ सर्वथा नहीं हो सकता है।

---

† उदा० – श्रवणबेल्गुलका गोम्मटेश्वरप्रतिष्ठापक चामुंडरायका प्रथम गुरु 'अजितसेनाचार्य' के सम्बन्धमें इस पट्टावलीमें इस प्रकार है:—

'दक्षिण-मथुरानगरनिवासि क्षत्रियवंशशिरोमणि-दक्षिणत्रैलिंगकर्नाटदेशाधिपतिचामुण्डराय-प्रतिबोधक बाहुबलिप्रतिबिम्ब गोम्मटस्वामिप्रतिष्ठाचार्य श्रीअजितसेन-भट्टारकाणाम्" (जै०सि०भा० १. १ पृ० ३८)

* विष्णु अपने अनेक अवतारोंमें चक्रवर्ति था यह बात 'श्रीमद्भागवत' इत्यादि पुराणोंसे मालूम पड़ती है उदा०—दशरथराम, ऋषभचक्रवर्ती, प्रथुचक्रवर्ती, इत्यादि) जैन धर्मके द्वादश चक्रवर्तियोंके नाम रन्नने 'अजितपुराण' में कहे हैं (कर्नाटककाव्यकलानिधि ३१ पृ० १८३)

(७) 'कविराजमार्ग' का कर्ता नृपतुंग हो अथवा उसके आस्थानका और कोई हो, उसमें प्रतिफलित धर्म नृपतुंगका धर्म ही होना चाहिये, कर्ता अन्य होने पर भी उसका नहीं; अतएव उसकी अवतारिकाके पद्योंमें कही हुई विष्णु-स्तुतिसे नृपतुंग वैष्णव था यह बात भली भाँति व्यक्त होती है।

(८) सोरब शि० लेख नं० ८५ (ई० स० ८७७) में इस नृपतुंगका (और उसके शासनके अन्तिमवर्षका) शासन, इस राष्ट्रकूटवंशके (इसके पहिले राज्य करने वाले) अन्य नरेशोंके शासनके समान है। इससे भी उसने अपने पूर्वजोंका धर्म नहीं छोड़ा मालूम पड़ता है।

(९) ई० सन् ८७७ के पश्चात् इसका देहावसान हुआ हो, अथवा यह राज्य-भारसे निवृत्त हुआ हो, इस बातको निष्कृष्ट करनेके लिये योग्य साधन नहीं है। इसका पुत्र तथा इसके अनन्तर गद्दी पर आया हुआ 'अकालवर्ष' नामका दूसरा कृष्ण (कन्नर) अपने पूर्वजोंके धर्ममें रहसे नृपतुंग आमरणान्त अपने पूर्वजोंके भागवत वैष्णव धर्मका अवलंबी ही होना चाहिये। अपने अन्तिम समयमें भी उसने जैनधर्मका अवलंबन नहीं किया।

—:※:—

शिक्षा

जो चाहो सुख जगत में राग-द्वेष दो छोड़।
बन्ध-विनाशक साधु-प्रिय, समतासे हित जोड़॥

अपना अपने में लखो, अपना-अपना जोय।
अपने में अपना लखे, निश्चय शिव-पद होय॥

क्रोध बोध को क्षय करत, क्रोध करत वृष-नाश।
क्षमा अमिय पीते रहो, चाहो आत्म-विकाश॥

—ब्र० प्रेमसागर पञ्चरत्न (प्रेम) रीठी।

'जैनधर्म-परिचय' गीता-जैसा हो

[ले०—श्री दौलतराम 'मित्र', इन्दौर]

गीता हिन्दूधर्मका एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। कौरव-पांडव-युद्ध-घटनाको लेकर गीतामें जीवन की प्रायः सभी समस्याओंके हल करनेका प्रयत्न किया गया है। इस विशेषताके कारण गीता इतनी लोकप्रिय हो गई है कि दुनियाकी प्रायः सभी भाषाओंमें उसके अनुवाद मौजूद हैं।

जो सच्चे धार्मिक हैं,वे सभी अपने अपने धर्म ग्रन्थका प्रभाव फैलाने—प्रचार करने—का प्रयत्न करते हैं। परन्तु प्रचार उसीका होता है जो सर्वसाधारण-जन-सुलभ और सुबोध होता है। गीता-प्रचारकोंने इन दोनों बातोंका अच्छा उपयोग किया है।

गीताप्रचारको देखकर आजके हम जैन लोगोंका भी ध्यान जैनधर्म-प्रचारके लिये आकर्षित होने लगा है। परन्तु जैसा हिन्दूधर्मका सार अथवा जीवनकी प्रायः सभी समस्याओंका हल एक जगह गीतामें इकट्ठा किया गया है, वैसा जैनधर्मका सार एक जगह इकट्ठा किया हुआ नहीं है। यही कारण है कि जैनधर्म-प्रचारके लिये जैनधर्मका परिचय कराने वाले एक ऐसे ग्रन्थकी ज़रूरत है जो हो—"गीता जैसा"।

बहुतसे महत्वपूर्ण ग्रन्थोंके होते हुए भी गीता-जैसा ग्रन्थ हमारे यहाँ संग्रह किया हुआ न होनेसे आज हमें समय समय पर दूसरे धार्मिकोंके कुछ आक्षेप भी सहन करना पड़ रहे हैं। उस दिन कोल्हापुरमें हिन्दू-धर्मपरिषद्के अधिवेशनमें महादेव शास्त्री दिवेकर बोल उठे कि—"जैनियोंके भण्डारमें गीताके समान कोई ग्रन्थ हो तो दिखलाना चाहिये,नहीं तो उन्हें गीता-धर्मका अनुयायी होकर हिन्दूसभामें शामिल होना चाहिये !"

जैनधर्म-ग्रन्थ-प्रचारके लिये अभीके पिछले दिनोंमें भी बहुत कुछ प्रयत्न हुए, परन्तु वे पार नहीं पड़ पाये। पार नहीं पड़ पानेका कारण लेखकोंकी अयोग्यता न। किन्तु और और कारण हैं।

पहिला प्रयत्न, पं०राजमल्लजीने किया, "पंचाध्यायी" ग्रन्थ संस्कृतमें लिखा, दो अध्याय भी पूरे नहीं हो पाये। अगर यह ग्रन्थ पूरा लिखा गया होता तो इसके सामने गीता फीकी दिखाई देती। फिर भी जितना लिखा गया है उतना ही बहुत महत्व रखता है।

दूसरा प्रयत्न पं०टोडरमलजीने किया, "मोक्षमार्ग-प्रकाशक" ग्रंथ ढूंढाड़ी-हिन्दीमें लिखा, यह भी अधूरा रहा।

तीसरा प्रयत्न पं० गोपालदासजी बरैयाने किया, "जैनसिद्धान्तदर्पण" ग्रन्थ हिन्दीमें लिखा, यह भी पूरा नहीं हुआ।

ये तीनों ही प्रयत्न सर्वसाधारण-जनोपयोगी ग्रन्थ बनानेके थे। प्रमाण ये हैं—

पं० राजमल्लजी पंचाध्यायीमें लिखते हैं—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः॥४॥

सर्वोपि जीवलोकः श्रोतुं कामो वृषं हि सुगमोक्त्या ।
विज्ञप्ती तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—ग्रन्थ बनानेमें यद्यपि अन्तरंग कारण कविका अति विशुद्ध भाव है तथापि उस कारणका भी कारण सब जीवोंका उपकार करने वाली साधुस्वभाव वाली बुद्धि है ॥ ५ ॥ सम्पूर्ण जनसमूह धर्मको सरलरीतिसे सुनना चाहता है, यह बात सर्व विदित है । उसके लिए यह प्रयोग (ग्रंथावतार-योजना) श्रेष्ठ है ।

इसी प्रकार पं० टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशकमें लिखते हैं—

"करि मंगल करि हों महाग्रन्थ करनको काज ।
जातें मिले समाज सुख पावें निजपद राज ॥"

पं० गोपालदासजीने भी श्री जैनसिद्धान्त-दर्पणमें लिखा है—

नत्वा वीरजिनेन्द्रं सर्वज्ञं मुक्तिमार्गनेतारम् ।
बाल-प्रबोधनार्थं जैनं सिद्धान्त-दर्पणं वक्ष्ये ॥"

अस्तु—अब हमें यह देखना है कि गीता-जैसा जिनधर्म-विषयक ग्रंथ बनाने और प्रचार करनेके लिये किस किस सामग्रीकी आवश्यकता है ? वह सामग्री यह है—

१ जिन-सिद्धान्त-शास्त्र ।

२ विद्वान लोग ।

३ पाश्चात्य विज्ञानोपकरणोंकी खरीदारी तथा ग्रंथ की लिखाई छपाई आदिके लिये धन ।

जिनसिद्धान्तशास्त्रके विषयमें दावेके साथ कहा जा सकता है कि यह सामग्री हमारे पास काफ़ी है ।×

× बल्कि यहाँ तक कहा जाता है कि—

सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु,
स्फुरंति याः काश्चनसूक्तिसम्पदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता,
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

अर्थात्—जो कुछ भी अन्य तंत्रोंमें अच्छी अच्छी उक्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं वे सब जिनागमसे उठा ली गई हैं । (राजवार्तिक)

जयति जगति क्लेशावेशप्रपंच-हिमांशुमान् ।
विहत-विषमैकांत-ध्वान्त-प्रमाण-नयांशुमान् ॥
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान् मताम्बुनिधेर्लवान् ।
स्वमत-मतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥

अर्थात्—जिनागमके एकएक बिन्दुको लेकर अनेक दार्शनिक अपना अपना मत बखानते हुए उसी जिनशासनकी उपासना करते हैं ।

दानवीर धनिकोंका भी हमारे समाजमें टोटा नहीं है । अब शेष रहे विद्वान् लोग । सो—आजका जमाना उपयोगितावादका है । किसी बातकी उपयोगिता (आवश्यकता) विज्ञानोपकरणोंके द्वारा सिद्ध कर देने पर ही लोग उसे अधिकांशमें अपनानेको तैयार होते हैं । हमारे समाजमें ऐसे पंडित हैं जो जिनसिद्धांत शास्त्रके जानकार हैं,और ऐसे प्रोफेसर भी हैं जो विज्ञानोपकरणोंके जानकार हैं, परन्तु ये दोनों महानुभाव मिलकर ही ऐसे ग्रंथका निर्माण कर सकते हैं, एक एक नहीं । क्योंकि एक दूसरेके विषयका बहुत ही कम जानकार हैं ।

इस प्रकार सामग्री सब मौजूद है । जिस दिन इस उद्देश्यको लेकर पंडितों और प्रोफेसरोंका सम्मेलन हो जायेगा उस दिन ग्रन्थ तैयार हुआ समझिये । ज़रूरत है ऐसे सम्मेलनकी शीघ्र योजना की ।

यदि दस हज़ार रुपये खर्च करके भी हम ऐसा मूलग्रन्थ (हिन्दी और अंग्रेज़ीमें) तैयार करा सकें तो समझ लेना चाहिये कि वह बहुत ही सस्ता पड़ा ।

मेरी समझमें यह काम "वीरसेवामन्दिर, सरसावा" के सिपुर्द होगा तो पार पड़ सकेगा । अन्यथा नाम भले ही हो जाय, काम होने वाला नहीं ।

आशा

[लि०—श्री रघुवीरशरण अग्रवाल एम.ए. "घनश्याम"]

अयि आशे ! तू जगदाधार ।

(१)

तेरे बिन सब शून्य जगत है ।
सभी जगह तव आव-भगत है ॥

पूर्व कार्यके तू आजाती ।
कर्ता को है धीर बँधाती ॥

बनाती क्या क्या नये विचार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(२)

भिन्न रूपसे सबके मनमें ।
भूमण्डलके हृदयस्थलमें ॥

कैसे कैसे काम कराती ।
भिन्न भिन्न परिणाम दिखाती ॥

भिन्न रखती सबसे व्यवहार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(३)

पथिक मार्ग चलता तव बल पर ।
पतिव्रता रहती निज व्रत पर ॥

धर्म, अर्थ औ' काम मोक्षके ।
सब साधन तेरे सँजोगके ॥

सभीको देती है आधार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(४)

नई उमङ्गोंका युवकोंकी ।
नई कल्पनाका बालाकी ॥

अभिलाषाका वृद्ध जनोंकी ।
सुख-निद्राका बाल-गणोंकी ॥

हमेशा करती है विस्तार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(५)

चातककी उस तृषित तानमें ।
वीणाके सुरमयी गानमें ॥

वधकराजके लोभ-पाशमें ।
विरह-विपीड़ित नारि-श्वासमें ॥

सदा तू करती है संचार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(६)

कभी राज-महलोंमें रहती ।
कभी ग़रीबीके दुख सहती ॥

कभी कृषकके कभी खेतमें ।
मई-जूनकी लू गर्मीमें ॥

सुख पाती औ' दुःख अपार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

विद्यानन्द-कृत सत्यशासनपरीक्षा

[ले०—न्यायदिवाकर न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन शास्त्री, काशी]

जैनहितैषी (भाग १४ अङ्क १०-११) में, उसके तत्कालीन सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार-द्वारा 'सत्यशासन-परीक्षा' ग्रन्थका परिचय कराया गया है। उसीमें इसे विद्यानन्द-कृत भी बतलाया है। मुझे वह परिचय पढ़कर जैनतार्किक-शिरोमणि विद्यानन्दकी इस कृतिको देखनेकी उत्कट इच्छा हुई। मेरी इच्छाको मालूम करके, जैनसिद्धान्तभवन आराके अध्यक्ष सुयोग्य विद्वान् पं० भुजबलीजी शास्त्रीने तुरन्त ही 'सत्यशासनपरीक्षा' की वह प्रति मेरे पास भेज दी। इसका विशेष परिचय निम्न प्रकार है:—

प्रतिपरिचय—

इस प्रतिमें १३×६ इंच साइज़के कुल २६ पत्र हैं। एक पत्रमें एक ओर १२ पंक्तियाँ तथा एक पंक्तिमें करीब ५० अक्षर हैं। लिखावट नितान्त अशुद्ध है। ग्रन्थके मध्यमें कहीं भी ग्रन्थकर्ताका नाम नहीं है। ग्रन्थ अपूर्ण है। क्योंकि आरम्भमें ही "**इह पुरुषाद्वैत शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैतशासनानि चार्वाक बौद्धसेश्वर-निरीश्वर-सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्टप्रभाकरशासनानि तत्त्वोपप्लवशासनमनेकान्तशासनञ्चेत्यनेकशासनानि प्रवर्तन्ते**" इस वाक्य द्वारा इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु प्रभाकरकेमतके निरूपण तक ही ग्रंथ उपलब्ध हो रहा है। प्रभाकरके मतका निरूपण भी उसमें अधूरा ही है। तत्त्वोपप्लव शासनकी परीक्षा तथा ग्रन्थका सर्वस्व अनेकान्तशासन-परीक्षा तो इसमें है ही नहीं।

यह ग्रन्थ खंडित भी मालूम होता है; क्योंकि पुरुषाद्वैतकी परीक्षाके बाद क्रमानुसार इसमें 'शब्दाद्वैत-परीक्षा' होनी चाहिए,पर शब्दाद्वैतकी परीक्षाका पूराका पूरा भाग इसमें नहीं है। पृ० ६ पर जहाँ पुरुषाद्वैतकी परीक्षा समाप्त होती है, एक पंक्तिके लायक स्थान छोड़ कर 'विज्ञानाद्वैत परीक्षा' प्रारम्भ हो जाती है। मालूम होता है कि शब्दाद्वैतपरीक्षा वाला भाग छूट गया है। इस ग्रंथका मंगल श्लोक यह है—

विद्यानन्दादि (धि) पः स्वामी विद्वद्देवो जिनेश्वरः।
ये(यो)लोकैकहितस्तस्मै नमस्तात् सात्म(स्वात्म)लब्धये॥

ग्रन्थकी विद्यानन्द-कर्तृकता—

(१) यद्यपि बौद्धदर्शनमें दिग्नागकृत आलम्बन-परीक्षा, त्रिकालपरीक्षा; धर्मकीर्तिविरचितसम्बन्ध परीक्षा; कल्याणरक्षितकी श्रुतिपरीक्षा; धर्मोत्तरकी प्रमाणपरीक्षा आदि परीक्षान्त नाम वाले प्रकरणोंके लिखनेकी प्राचीन परम्परा है, शान्तरक्षितका तत्त्वसंग्रह तो बीसों परीक्षाओं का एक विशाल संग्रह ही है। परन्तु जैनदर्शनमें केवल तार्किकप्रवर विद्यानन्दने ही प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि परीक्षान्त नाम वाले प्रकरणोंका रचना शुरू किया है, और दि० तार्किक क्षेत्रमें उन्हीं तक इसकी परम्परा रही है। यद्यपि पीछे भी आचार्य अमितगति आदिने 'धर्मपरीक्षा' आदि परीक्षान्त तात्त्विक ग्रंथ लिखे हैं पर दि० तर्कप्रधान ग्रंथोंमें परीक्षान्त नाम वाले ग्रंथ विद्यानन्दके ही पाए जाते हैं। श्वे० आ० उपाध्याय यशोविजयजीने 'अध्यात्ममतपरीक्षा' तथा

देवधर्मपरीक्षा-जैसे तर्कशैलीके तात्त्विक ग्रन्थ लिखे हैं। 'सत्यशासनपरीक्षा' का परीक्षान्त नाम भी अपनी विद्यानन्द-कर्तृकताकी ओर संकेत कर ही रहा है।

(२) जिस प्रकार 'प्रमाणपरीक्षा' के मंगलश्लोक में **'विद्यानन्दा जिनेश्वराः'** पद जिनेन्द्रके केवलज्ञान और अनन्तसुखको तो विशेषण बन कर सूचित करता ही है तथा साथ ही साथ ग्रंथकर्ताके नामका भी स्पष्ट निर्देश कर रहा है उसी प्रकार सत्यशासन-परीक्षाके मंगलश्लोकका **'विद्यानन्दाधिपः'** पद भी उक्त दोनों कार्योंको कर रहा है। जिस प्रकार मंगलश्लोकके अनन्तर **'अथ प्रमाणपरीक्षा'** लिखकर प्रमाणपरीक्षा प्रारम्भ होती है ठीक उसी प्रकार मंगलश्लोकके बाद **'अथ सत्यशासनपरीक्षा'** की शुरूआत होती है। यद्यपि 'अथ' शब्दसे ग्रन्थ प्रारम्भ करनेकी परम्परा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, पातञ्जल-महाभाष्य तथा ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थोंमें पाई जाती है परन्तु मंगलश्लोकके अनन्तर 'अथ' शब्द से ग्रंथ प्रारम्भ करना विद्यानन्दके ग्रंथोंमें देखा जाता है, और यही शैली आ० हेमचन्द्र आदिने भी प्रमाणमीमांसा, काव्यानुशासन आदिमें अपनाई हैं। इस तरह विद्यानन्द-कर्तृकरूपसे सुनिश्चित प्रमाणपरीक्षाकी शैलीसे इसका प्रारम्भ आदि देखनेसे ज्ञात होता है कि यह कृति भी विद्यानन्दकी है।

(३) उपलब्ध ग्रन्थका आन्तरिक निरीक्षण करनेके बाद इसमें कोई भी ऐसा अवतरण-वाक्य नहीं मिलता जिसका कर्ता निश्चितरूपसे विद्यानन्दका उत्तरकालवर्ती हो। इसकी शैली तथा विषयनिरूपणकी पद्धति बिलकुल अष्टसहस्रीसे मिलती है। कहीं कहीं तो इतना शब्द-साम्य है कि पढ़ते पढ़ते यह भ्रम होने लगता है कि 'अष्टसहस्री पढ़ रहे हैं या सत्यशासनपरीक्षा ?' इस तरह बहुतसे स्थलोंमें तो यह अष्टसहस्रीके मध्यम संस्करणके समान ही प्रतीत होती है। ब्रह्माद्वैत आदि प्रकरणोंमें बृहदारण्यक भाष्य-वार्तिक (सम्बन्धवार्तिक श्लोक १७५-८१) आदिके **'ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्'** इत्यादि वे ही श्लोक इसमें उद्धृत किए गए हैं जो कि अष्टसहस्री (पृ० १६२) में पाए जाते हैं। समवायके खंडनमें आप्तपरीक्षाकी शैली शब्दतः तथा अर्थतः पूरी छाप मारती है। इन सब विद्यानन्दके अपने ही ग्रंथोंका इस तरहका तादात्म्य भी 'सत्यशासनपरीक्षा' के विद्यानन्द की कृति होनेमें पूरा पूरा साधक होता है।

(४) विद्यानन्दके ही अष्टसहस्री तथा प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रंथोमें तत्वोपप्लवकी समीक्षा बादको देखी जाती है। इसमें भी तत्वोपप्लवकी परीक्षा बादको करनेकी प्रतिज्ञा कीगई है।

ग्रन्थका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव—

सत्यशासनपरीक्षाके मूल आधार स्वयं विद्यानन्दके ही अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षा ग्रंथ हैं। जिनमें अष्टसहस्रीका तो पद पद पर सादृश्य है। आप्तपरीक्षा का भी समवायके खण्डनमें पूरा पूरा सादृश्य है। इसका प्रतिबिम्ब प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयरत्न-माला आदि ग्रंन्थोंपर पूरा पूरा पड़ा है। इन ग्रंथोंमें इस के अनेकों वाक्य जैसेके तैसे शामिल कर लिए गए हैं।

विषयपरिचय—

सबसे पहले परीक्षाका लक्षण करते हुए लिखा है कि **"इयमेव परीक्षा यो यस्येदमुपपद्यते न वेति विचारः"** अर्थात् 'इस वस्तुमें यह धर्म बन सकता है या नहीं, इस विचारका नाम ही परीक्षा है'।

सत्यशासनपरीक्षाका तात्पर्य बताया है—'शासनोंके सत्यत्वकी परीक्षा—कौन शासन सत्य है तथा कौन असत्य' सत्यका परिष्कृत लक्षण करते हुए लिखा है कि—"इद-

मेव हि सत्यशासनस्य सत्यत्वं नाम यत् दृष्टेष्टाविरुद्धत्वम्' अर्थात् शासनोंकी सत्यताका अर्थ है, उनका प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे बाधित नहीं होना। आचार्यमहोदयने सत्यता-की इसी सीधी-सादी कसौटी पर क्रमशः सभी दर्शनोंको कसा है। उन्होंने दर्शनोंकी परीक्षा करते समय पहले सभी दर्शनोंका प्रामाणिक पूर्वपक्ष रक्खा है। फिर पहले उसे प्रत्यक्ष-बाधित बता कर अन्तमें अनुमानसे बाधित सिद्ध करके उस उस दर्शनकी परीक्षा समाप्त की है। इन परीक्षाओंका कुछ परिचय निम्न प्रकार है:—

१ **ब्रह्माद्वैतपरीक्षा**—इसके पूर्वपक्षमें बृहादारण्य-कोपनिषत् (२। ३ ।४) **'आत्मावारेऽयं द्रष्टव्यः'**, ब्रह्मसूत्र (१ ।१२)का **'जन्माद्यस्य यतः'**, गीता (१५। १) का **'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'** इत्यादि अनेकों प्राचीन ग्रंथोंके अवतरण दिए गए हैं। उत्तर पक्षमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके दूसरे अध्यायकी **'अद्वैकान्त-पक्षेऽपि** इत्यादि ५-६ कारिकाएँ उद्धृत हैं। अकलङ्क-देवके न्यायविनिश्चयकी **"इन्द्रजालादिषु भ्रान्ति"** यह कारिका (नं० ५१), कुमारिलके मीमांसा-श्लोकवार्तिक (पृ०१६८) की **'अस्तिह्यालोचनाज्ञानम्'** यह कारिका भी प्रमाणरूपमें उद्धृत है। अष्टशती (का० २७) का **'अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षः नञ्पूर्वा-खण्डपदत्वाद्धेत्वभिधानवत्'** यह प्रसिद्ध अनुमान भी अद्वैतके खण्डनमें उपस्थित किया गया है।

अविद्याको अनिवचनीय कह करके भी उसके स्व-रूपका निरूपण करनेवाले अद्वैतवादीको स्ववचनविरोध दूषण देते हुए उसके अनेक दृष्टान्त दिए हैं। यथा—

यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मत्पिता ।

माता मम भवेद्वन्ध्या स्मराभोऽनुपमो भवान् ॥

अकलंक देवके सिद्धिविनिश्चय (पृ० ६५) का **'यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता'** यह कारिकांश अकलंकदेवका नाम निर्देश करके ही उद्धृत किया है। अष्टसहस्री (पृ० १५६) का **'नहि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनमित्यादि-क्रियाकारकभेदप्रत्ययं भ्रान्तं ..'** इत्यादि अंश ज्योंका त्यों ग्रन्थमें शामिल है। अन्तमें ब्रह्माद्वैतपरीक्षाका उपसंहार करते हुए लिखा है कि—

ब्रह्माविद्याप्रमाणाभावात् सर्ववेदान्तिना(नां) वचः ।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधे(धे)यं विपश्चिताम् ॥
ब्रह्माद्वैतं मतं सत्यं न दृष्टेष्टविरोधतः ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम् ॥

२ **शब्दाद्वैतपरीक्षा**—इसका भाग ग्रथमें नहीं है।

३ **विज्ञानाद्वैतपरीक्षा**—इसका निरूपण भी अष्टसहस्रीके सातवें परिच्छेदसे बहुत कुछ मिलता जुलता है। इसमें अष्टशती (अष्टसहस्री पृ०२३४) में उद्धृत **'युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे'** यह वाक्य उद्धृत है।

विज्ञानाद्वैतका पूर्वपक्ष समाप्त करते हुए ये श्लोक लिखे हैं, जो किसी जैनतर्कग्रथमें उद्धृत नहीं हैं—

नावनिर्न सलिलं न पावको न ोऽम्बरं गगनं न चापरम् ।
विश्वनाटकविलाससाक्षिणी संविधे(दे)व परितोविजृम्भयति॥
एकसंविधि(दि)विभाति भेदधीःनीलपीतसुखदुःखरूपिणी ।
निम्ननाभीयमुन्नतस्तनी कीति चित्रफलकेसमे इति ॥

उत्तरपक्षमें समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनकी **'अनर्थि-कासाधनसाध्यधीश्चेद्"** इत्यादि कारिका प्रामणरूपमें उद्धृत कीगई है। अन्तमें उपसहार करते हुएलिखा है—

प्रमाणाभावतः सर्वं विज्ञानाद्वैतिनां वचः ।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम् ॥
ज्ञानाद्वैतं न सत्यं स्याद् दृष्टेष्टाभ्यां विरोधतः।

न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्य (दृस्ये) ति निश्चितम् ॥

४ **चार्वाकमतपरीक्षा**—इसके पूर्वपक्षमें सबसे पहले **सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा**' इस कारिकाके द्वारा सर्वज्ञ पर आक्षेप करके अन्तमें तर्क और आगमकी निःसारता दिखाते हुए महाभारतका यह श्लोक उद्धृत किया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठःश्रुतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य वचःप्रमाणं। धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सपन्था ॥

यह समस्त पूर्वपक्ष अष्टसहस्री (पृ० ३६) के समान ही है ।

अन्तमें अग्निहोत्रादिको बुद्धि और पुरुषार्थशून्य ब्राह्मणोंकी आजीविकाका साधन कहकर विषय-भोगोंको छोड़ने वालोंकी निपट मूर्खता बताते हुए लिखा है कि—

"**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः ।**
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥
अग्निहोत्रं त्रयी वेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥" इत्यादि

उत्तरपक्षमें यशस्तिलक उत्तरार्ध (पृ० २५७) तथा प्रमेयरत्नमाला (४ । ८) में उद्धृत—

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥

यह कारिका तथा समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनकी '**मद्यांगवद्भूतसमागमे ज्ञः**, यह कारिका (श्लोक नं० ३५ प्रमाणरूपमें पेश कीगई है । अन्तमें उपसंहार करते हुए वैसा ही श्लोक लिखा है—

न चार्वाकमतं सत्यं दृष्टादृष्टेष्टबाधतः ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्य (दृस्ये)ति निश्चितम् ॥

५ **ताथागतमतपरीक्षा**—इसके पूर्वपक्षमें रूपादि पांच स्कंधोंके लक्षण, दुःखसमुदाय आदि चार आर्य सत्योंके स्वरूप, तथा मोक्षके सम्यक्त्व आदि आठ अंगोंका बहुत सुन्दर विवेचन किया है। मोक्षके शून्यरूपका वर्णन करते हुए अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द काव्य (१६ । २८-२९) के ये श्लोक उद्धृत किए हैं—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात् केवलमेतिशांतिम्।
जिनस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चिन्मोहक्षयात् केवलमेतिशांतिम्।

मोक्षके उपायोंमें सिर और दाढ़ीका मुँडाना, कषाय वस्त्रका धारण करना तथा ब्रह्मचर्यका पालन आदि उल्लेखित है ।

उत्तरपक्ष अष्टसहस्रीकी शैलीसे ही लिखा गया है । इसमें लघीयस्त्रयकी '**यथैकं भिन्न देशार्थान्**' कारिका (श्लोक न० ३७) उद्धृत की है। अन्तमें खंडन करते करते खीजकर बौद्धोंको लिखा है कि—ये हेयोपादेय विवेकसे रहित होकर केवल अनापशनाप चिल्लाते हैं— "**तथा च सौगतो हेयोपादेयरहितमह्रीकः केवलं विक्रोशति इत्युपेक्षामर्हति**" यही वाक्य अष्टसहस्रीमें लिखा है। बात यह है कि धर्मकीर्तिने दिगम्बरोंके लिये अह्रीक आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए प्रमाणवार्तिक (३। १८२) में लिखा है कि—'**एतेनैव यदह्रीकाः यत्किंचिदश्लीलमाकुलम्। प्रलपन्ति** ।........."पूर्वोक्त पंक्ति में धर्मकीर्तिके शब्द उन्हींको धन्यवादके साथ वापिस किए गए हैं । इसमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा तथा युक्त्यनुशासनके अनेकों पद्य प्रमाणरूपसे उद्धृत कर खंडनको अधिकसे अधिक सुगठित किया है ।

स्कंधकी सिद्धिमें सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत '**णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण**' यह गाथा भी उद्धृत की है । अन्तमें सुगतमतको दृष्टेष्टबाधित बताकर सुगतमत-परीक्षा समाप्त की है ।

६ सांख्यमतपरीक्षा—इसके पूर्वपक्षमें पचीस तत्वों-के ज्ञानकी महत्ता बताते हुए माठरवृत्ति (पृ० ३८) में दिया गया यह श्लोक उद्धृत किया है—

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखी केशी मुच्यते नात्र संशयः॥

खंडन ठीक अष्टसहस्री-जैसा ही है।

७ वैशेषिकमतपरीक्षा—इसके पूर्वपक्षमें मोक्षके साधन बताते हुए लिखा है कि—"**शैव पाशुपतादिदीक्षा-ग्रहण-जटाधारण-त्रिकालभस्मोद्धूलनादितपोऽनुष्ठानविशेषश्च।**"

वैशेषिकके अवयवीका खंडन करते हुए उसे '**अमूल्यदानक्रयी**'—बिना कीमत दिए खरीदने वाला—लिखा है। यह पद धर्मकीर्तिके ग्रंथोंमें पाया जाता है।

इसका समवायके खंडन वाला प्रकरण 'आप्तपरीक्षा' के साथ विशेष सादृश्य रखता है। और इसीका प्रतिबिम्ब प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके समवाय खंडनमें स्पष्ट देखा जाता है।

८ नैयायिकमतपरीक्षा—वैशेषिक और नैयायिकोंमें कोई खास भेद न बताते हुए वैशेषिकमतके साथ ही साथ इसकी भी लगे हाथ परीक्षा कीगई है। इसके पूर्वपक्षमें भक्तियोग, क्रियायोग तथा ज्ञानयोगका वर्णन है। भक्तियोगसे सालोक्य मुक्ति, क्रियायोगसे सारूप्य और सामीप्य मुक्ति, तथा ज्ञानयोगसे सायुज्य मुक्तिका प्राप्त होना बहुत विस्तारसे बताया है। उत्तरपक्षमें विपर्यय, अनध्यवसाय पदार्थोंको सोलहसे अतिरिक्त माननेका प्रसंग दिया है। सोलह पदार्थोंके खंडनका यही प्रकार प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रंथोंमें भी देखा जाता है। अन्तमें, उपसंहार करते हुए लिखा है कि—"**संसर्गहानेःसर्वार्थहानेर्योगवचोऽखिलम्। भवेत्प्रलाप...**"

९-१० भाट्ट-प्रभाकरमतपरीक्षा—पूर्वपक्षमें भाट्टों द्वारा ग्यारह पदार्थोंका स्वीकार करनेका स्पष्ट कथन है, जो किसी प्राचीन तर्कग्रन्थमें नहीं देखा जाता—

"**मीमांसकेषु तावद् भाट्टा भणन्ति—पृथिव्यप्तेजो वायुर्दिक्कालाकाशात्ममनःशब्दतमांसि इत्येकादशैव पदार्थाः।**"

प्रभाकर नव पदार्थ ही मानते हैं—"**द्रव्यं गुणः क्रिया जातिः संख्या सादृश्यशक्तयः। समवायक्रमश्चेति नव स्युः गुरुदर्शने**" भाट्ट गुण क्रिया आदिको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते।

भाट्ट जातिका और व्यक्तिमें सर्वथा तादात्म्य मान कर भी जातिको नित्य और एक मानते हैं। इसका खंडन करते हुए हेतुबिन्दुकी अर्चटकृत टीकामें उद्धृत निम्न कारिकाएँ भी प्रमाणरूपमें पेश की गई हैं:—

तादात्म्यं चेन्मतं जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता।
नाशेऽनाशश्च केनेष्टः तद्वच्चानन्वयो न किम्॥ इत्यादि

बस सामान्यका खडन अधूरा ही है। आगेका ग्रंथ नहीं मिलता।

इसमें आगे भट्ट जयराशिसिंहकृत 'तत्त्वोपप्लवसिंह ग्रंथमें प्ररूपित तत्वोपप्लव सिद्धान्तकी परीक्षा होगी। अष्टसहस्री आदिकी तरह ही इसमें यह परीक्षा अत्यन्त विशद होनी चाहिए।

यहां तक तो ग्रंथका खंडनात्मक भाग ही है। आगेका '**अनेकान्तशासनपरीक्षा**' भाग, जो ग्रन्थका मंडनात्मक भाग है और काफी विस्तारसे लिखा गया होगा, इसमें उपलब्ध ही नहीं है।

तर्कग्रन्थोंके अभ्यासी विद्यानन्दके अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराईके साथ किए जाने वाले पदार्थोंके स्पष्टीकरण एवं प्रसन्नभाषामें गूंथे गए युक्ति जालसे परिचित होंगे। उनके प्रमाणपरीक्षा,

पत्रपरीक्षा और आप्तपरीक्षा प्रकरण अपने अपने विषयके बेजोड़ निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्द के अन्य ग्रंथ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्याय-ग्रंथोंके आधार भूत हैं। इनके ही विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्यायग्रन्थों पर अपनी अमिट छाप लगाए हुए हैं। यदि जैनन्यायके कोशागारसे विद्यानन्दके ग्रन्थोंको अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा। उनकी यह सत्यशासन-परीक्षा ऐसा एक तेजोमय रत्न है जिससे जैनन्यायका आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आए हुए पदार्थ फुटकररूपसे उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें खोजे जा सकते हैं पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नए प्रमेयोंका सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्दने ही किया है, अन्यत्र मिलना असम्भव है।

मैं आशा करता हूँ कि जैनसिद्धान्तभवनके सुयोग्य अध्यक्ष इसकी मूल प्रतिका पता लगाएँगे। अन्य भंडारोंमें भी इस ग्रन्थरत्नकी प्रतियाँ मिलेंगी। शास्त्ररसिकोंको इस ओर लक्ष्य अवश्य देना चाहिए। जब इसकी पूर्णप्रति उपलब्ध हो जाय तब इसका सुन्दर सस्करण माणिकचन्द्रग्रन्थमाला या अन्य ग्रंथमालाओं को अवश्य ही प्रकाशित करना चाहिए। यदि दुर्भाग्यसे यह ग्रन्थ अन्य भण्डारोंमें अधूरा ही मिले तो समझ लेना चाहिए कि यह विद्यानन्दस्वामीकी अंतिम कृति है। पर मात्र मौजूदा प्रतिके भरोसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि इसमें बीचमें भी कई जगह पाठ छूटे हैं और सम्भव है कि अंतमें भी नकल अधूरी रह गई हो। यदि पूरा ग्रंथ न मिले तब उपलब्ध भाग ही प्रकाशित होना चाहिए, इससे अनेकों प्रमेयोंका खुलासा परिज्ञान किया जा सकेगा।

प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी 'समीक्षा'

[सम्पादकीय

अनेकान्तके पाठक प्रो० जगदीशचन्द्रजी जैन एम. ए. से थोड़े-बहुत परिचित हैं—उनके कुछ लेखोंको 'अनेकान्त' में पढ़ चुके हैं। आप यू० पी० के एक दिगम्बर जैन विद्वान् हैं। एम० ए० के बाद रिसर्चका अभ्यास करनेके लिये कुछ अर्से तक आप बोलपुरके शान्तिनिकेतनमें एक रिसर्च-स्कॉलरके रूपमें रहे हैं। इसी समय 'सिंघी जैनग्रन्थमाला' के संचालक मुनि जिनविजयजीकी ओरसे आपको 'राजवार्तिक' के सम्पादनका कार्य सौंपा गया था, जिसका आपने अपने पिछले लेखमें उल्लेख किया है, और जो बादको स्थगित रहा है। आजकल आप बम्बईके रूइया कालिजमें प्रोफ़ेसर हैं। राजवार्तिक पर कुछ काम करते समय आपकी यह धारणा होगई है कि— १ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो भाष्य प्रचलित है तथा 'स्वोपज्ञ' कहा जाता है वह स्वोपज्ञ ही है अर्थात् स्वयं मूलसूत्रकार उमास्वातिकी रचना है; २ राजवार्तिक लिखते समय अकलंकदेवके सामने यही भाष्य मौजूद था, ३ अकलंकदेव इस भाष्य तथा मूल 'तत्त्वार्थसूत्र'के कर्ताको एक व्यक्ति मानते थे, और ४ उन्होंने अपने राजवार्तिकमें इस भाष्यका यथेष्ट उपयोग किया है, इतना ही नहीं बल्कि इसके प्रति 'बहुमान' भी प्रदर्शित किया है। चुनाँचे अपनी इस धारणा अथवा मान्यताको दूसरे विद्वानोंके (जो ऐसा नहीं मानते) गले उतारनेके लिये आपने 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक'नामका एक लेख लिखा, जो 'अनेकान्त' की गत ४ थी किरण में प्रकाशित हो चुका है।

इस लेखमें प्रोफेसरसाहबने विद्वानोंको विशेष विचारके लिये आमन्त्रित किया था। तदनुसार मैंने भी अपना विचार 'सम्पादकीय-विचारणा' के नामसे प्रकट कर दिया था—४ पेजके लेखके अनन्तर ही ५ पेजकी अपनी 'विचारणा' को भी रख दिया था—, जिसमें प्रोफेसर साहबकी मान्यताकी आधारभूत युक्तियों को सदोष बतलाते और उनका निरसन करते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि उन मुद्दों परसे यह बात फलित नहीं होती जिसे प्रो० साहब सुझाना चाहते हैं। साथ ही, विद्वानोंको इस विषय पर अधिक प्रकाश डालनेके लिये प्रेरित भी किया था।

अपने आमन्त्रणको इतना शीघ्र सफल होते देखकर, जहाँ प्रो० साहबको प्रसन्न होना चाहिये था वहाँ यह देखकर दुःख तथा खेद होता है कि इतनी अधिक संयत भाषामें लिखी हुई गवेषणापूर्ण 'विचारणा'को पढ़कर भी आप कुछ अप्रसन्न हुए हैं! अपनी इस अप्रसन्नताको अपने उस लेखके प्रारम्भमें ही व्यक्त किया है, जो 'सम्पादकीय-विचारणाकी समीक्षा' के रूपमें लिखा गया है तथा इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है और जिसे प्रो० साहबने अपना वही पुराना "तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक" शीर्षक दिया है। मालूम नहीं आपकी इस अप्रसन्नताका क्या कारण है?

हो सकता है कि अपनी जिस मान्यता अथवा धारणाको आप सहज ही दूसरे विद्वानोंके गले उतारना चाहते थे उसमें उक्त 'विचारणा' के कारण स्पष्ट बाधाका उपस्थित होना आपको जँच गया हो और यही बात आपकी अप्रसन्नताका कारण बन गई हो। अस्तु, आपके वे अप्रसन्नता-सूचक वाक्य, जिन्हें लेखके साथ संगत अथवा उसका कोई विषय न होने पर भी आपको अपनी चित्तवृत्तिके न रोक सकनेके कारण देने पड़े हैं और साथ ही यह लिखना पड़ा है कि "यह इस लेखका विषय नहीं है", इस प्रकार हैं:—

"शायद पं० जुगलकिशोरजीको यह बात न जँची, और उन्होंने मेरे लेखके अन्तमें एक लम्बी-चौड़ी टिप्पणी लगा दी। हमारी समझसे इस तरहके रिसर्च-सम्बन्धी जो विवादास्पद विषय हैं, उन पर पाठकोंको कुछ समय के लिये स्वतन्त्ररूपसे विचार करने देना चाहिये। सम्पादकको यदि कुछ लिखना ही इष्ट हो तो वह स्वतंत्र लेखके रूपमें भी लिखा जासकता है। साथ ही, यह आवश्यकता नहीं कि लेखक सम्पादकके विचारोंसे सर्वथा सहमत ही हो।"

इन वाक्यों परसे जहाँ यह स्पष्ट है कि प्रो० साहब को उक्त 'सम्पादकीय-विचारणा' नागवार (अरुचिकर) मालूम हुई है वहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि उससे पाठकोंके स्वतन्त्ररूपसे विचार करनेमें कौनसी बाधा उपस्थित हो गई है—उसने तो पाठकोंके विचारक्षेत्रको बढ़ाया है और उनके सामने समुचित विचारमें सहायक और अधिक सामग्री रक्खी है। क्या समुचितविचारमें सहायक अधिक सामग्रीका जुटाया जाना अथवा जानकार विद्वानोंके द्वारा विचारका जल्दी प्रारम्भ कर दिया जाना रिसर्च-सम्बन्धी अथवा किसी भी विवादास्पद विषयके विचारमें कोई बाधा उत्पन्न करता है? कदापि नहीं। तब क्या प्रो० साहब सम्पादकको विचारक नहीं मानते? या उन विद्वानोंमें परिगणित नहीं करते जिन्हें आपने अपने लेख पर विचार करनेके लिये आमन्त्रित किया है? अथवा उसे अपने लेखका वह पाठक तक भी नहीं समझते जिसके विचाराऽधिकारको अपने लेखके उक्त वाक्यमें स्वयं स्वीकार किया है? यदि ऐसा कुछ भी नहीं है तो फिर 'सम्पादकीय विचारणा' पर उक्त आपत्ति और अप्रसन्नता कैसी? अथवा सम्पादकके विचाराधिकार पर इस प्रकारका नियन्त्रण कैसा कि वह किसीके लेख पर विचार न करके स्वतन्त्र लेख लिखा करे? और यदि इनमेंसे कोई बात प्रो० साहबके ध्यानमें रही है तो कहना होगा कि आपके उस लेखका ध्येय स्वतन्त्र विचार नहीं था—विचारका मात्र आडम्बर अथवा प्रदर्शन था। और इसलिये तब आपकी अप्रसन्नताका कारण वही हो सकता है जिसकी सम्भावनाकी ऊपर कल्पना कीगई है। ऐसे कारणका होना निःसन्देह एक विचारक तथा विचारके लिये दूसरे विद्वानोंको आमंत्रित करने वालेके लिए बड़ी ही लज्जाकी बात होगी। बाकी यह बात कब किसने आवश्यक बतलाई है कि "लेखक सम्पादकके विचारोंसे सर्वथा सहमत ही हो"? जिसके निषेधकी प्रो० साहबको ज़रूरत पड़ी है, सो कुछ भी मालूम नहीं हो सका। यदि ऐसी कोई बात आवश्यक हो तो सम्पादक ऐसे लेखको छापे ही क्यों? और क्यों टीका-टिप्पणी अथवा नोट लगानेका परिश्रम उठाए? परन्तु बात ऐसी नहीं है। वास्तवमें जब किसी सावधान सम्पादकको यह बात जँच जाती है कि लेखका अमुक अंश भ्रममूलक है और वह जनतामें किसी भारी भ्रान्ति अथवा ग़लतफ़हमीको फैलाने वाला है तो वह अपने पाठकोंको उससे सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझता है।

और यदि समय, शक्ति तथा परिस्थिति सब मिलकर उसे इजाज़त देते हैं तो वह उसी समय उस पर अपना नोट या टिप्पणी लगाकर यथेष्ट प्रकाश डाल देता है, और इस तरह अपने अनेक पाठकोंको भूलभुलैयाँके एकान्तगर्तमें न पड़कर विचारका सही मार्ग अंगीकार करनेके लिये सावधान कर देता है। मैं भी शुरूसे इसी नीतिका अनुसरण करता आ रहा हूँ। लेखोंका सम्पादन करते समय मुझे जिस लेखमें जो बात स्पष्ट विरुद्ध, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण, ग़लतफ़हमीको लिये हुए अथवा स्पष्टीकरणके योग्य प्रतिभासित होती है और मैं उस पर उसी समय यदि कुछ प्रकाश डालना उचित समझता हूँ और समयादिककी अनुकूलताके अनुसार डाल भी सकता हूँ तो उस पर यथाशक्ति सयतभाषामें अपना (सम्पादकीय) नोट लगा देता हूँ। इससे पाठकोंको सत्यके निर्णयमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है, भ्रम तथा ग़लतियाँ फैलने नहीं पातीं, त्रुटियोंका कितना ही निरसन हो जाता है और साथ ही पाठकों की शक्ति तथा समयका बहुतसा दुरुपयोग होनेसे बच जाता है। सत्यका ही सब लक्ष्य रहनेसे इन नोटोंमें किसीकी कोई रू-रिआयत अथवा अनुचित पक्षापक्षी नहीं की जाती और इसलिये मुझे कभी कभी अपने अनेक श्रद्धेय मित्रों तथा प्रकाण्ड विद्वानोंके लेखों पर भी नोट लगाने पड़े हैं। परन्तु किसीने भी उन परसे बुरा नहीं माना; बल्कि ऐतिहासिक विद्वानोंके योग्य और सत्यप्रेमियोंको शोभा देने वाली प्रसन्नता ही व्यक्त की है। और भी कितने ही विचारक तथा निष्पक्ष विद्वान मेरी इस विचार-पद्धतिका अभिनन्दन करते आ रहे हैं।

हाँ, ऐसे भी कुछ विद्वान् हैं जो मेरी इस नोट-पद्धति को पसन्द नहीं करते। उनकी रायमें नोटसे लेखक हतोत्साह होता है और इसलिये लेखके किसी अंशपरसे यदि कोई भारी भ्रांति अथवा ग़लतफ़हमी भी फैलती हो तो उसे उस समय फैलने दिया जाय, नोट लगा कर उसके फैलनेमें रुकावट न की जाय—,बादको उसका प्रतिकार किया जाय—अर्थात् कुछ दिन पीछे उस फैली हुई भ्रान्तिको दूर करनेका प्रयत्न किया जाय। इसका स्पष्ट आशय यह होता है कि यदि कोई मनुष्य बेखबरीके कारण कुएँमें गिरनेके सन्मुख हो अथवा उसके गिरनेकी भारी सम्भावना हो तो उसे सावधान करके गिरनेसे न रोका जाय, बल्कि गिरने दिया जाय और बादको उसके उद्धारका प्रयत्न किया जाय! मुझे तो हतोत्साह न होने देनेके खयालसे अपनाई गई यह नीति बड़ी ही विचित्र तथा बेढंगी मालूम होती है और इसमें कुछ भी नैतिकता प्रतीत नहीं होती। इस तरह तो कभी कभी उस मनुष्यके उद्धारका अवसर भी नहीं रहता जिसके उद्धारकी बात बादमें की जानेको होती है, और गिरनेसे उद्धारके वक्त तक गिरने वालेको जोहानि उठानी पड़ती है तथा बादको उद्धारकार्यमें अपेक्षाकृत जो भारी परिश्रम करना पड़ता है वह सब अलग रह जाता है। मेरी दृष्टिमें तो यह देखते और जानते हुए कि किसी अन्धे अथवा बेखबर मनुष्यके रास्तेमें कुँआ या खड्ड है और यदि उसे शीघ्र सावधान न किया गया तो वह उसमें गिरने ही वाला है, समय तथा शक्तिके पासमें होते हुए भी, उसे सावधान न करके चुप बैठे रहना एक प्रकारका अपराध है, इसी-लिये मैं इस नीतिको पसन्द नहीं करता। मेरे विचारसे ऐसा करना सम्पादकीय कर्तव्य से च्युत होनेके बराबर है। जिन लेखकोंका ध्येय वास्तवमें सत्यका निर्णय है और जो इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हृदयसे विद्वानोंको विचारके लिये आमन्त्रित करते हैं, उनके लिये ऐसी अनुसन्धान-प्रधान टिप्पणियाँ हतोत्साहके लिये कोई कारण नहीं हो सकतीं। वे उनका अभिनन्दन करते तथा उनसे समुचित शिक्षा ग्रहण करते हुए अपनी लेखनीको आगेके लिये और अधिक सावधान बनाते हैं, और इस तरह अपने जीवनमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त करते हैं। परन्तु जिन लेखकोंका उक्त ध्येय ही नहीं है, जो यों ही अपनी मान्यताको दूसरों पर लादना चाहते हैं और विचारकका अभिनय करतेहैं,उनका ऐसी मार्मिक टिप्पणियोंसे हतोत्साह होना स्वाभाविक है,और इसलिये उसकी ऐसी विशेष पर्वाह भी न की जानी चाहिये। अस्तु।

अब मैं प्रो० साहबकी उस समीक्षाकी परीक्षा करता हूँ जो उन्होंने उक्त 'सम्पादकीय विचारणा' पर लिखी है, और उसके द्वारा यह बतला देना चाहता हूँ कि वह कहाँ तक निःसार है। (अगली किरणमें समाप्त)

पंडितप्रवर आशाधर

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी]

'धर्मामृत'ग्रन्थके कर्ता पण्डित आशाधर एक बहुत बड़े विद्वान हो गये हैं। मेरे खयालमें दिगम्बर सम्प्रदायमें उनके बाद उन-जैसा बहुश्रुत, प्रतिभाशाली, प्रौढ़ ग्रन्थकर्ता और जैनधर्मका उद्योतक दूसरा नही हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयों पर उनका असाधारण अधिकार था। इन सभी विषयों पर उनकी अस्खलित लेखनी चली है और अनेक विद्वानोंने चिरकाल तक उनके निकट अध्ययन किया है।

उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य केवल जैनशास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, इतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाध गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओंमें यथास्थान सभी शास्त्रोंके प्रचुर उद्धरण दिखाई पड़ते हैं और इसीकारण अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रंथों पर टीका लिखनेके लिए वे समर्थ होसके। यदि वे केवल जैनधर्मके ही विद्वान होते तो मालव-नरेश अर्जुनवर्माके गुरु बालसरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्रका अध्ययन न करते और विन्ध्यवर्माके संधिविग्रह-मन्त्री कवीश विल्हण उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा न करते। इतना बड़ा सन्मान केवल साम्प्रदायिक विद्वानोंको नहीं मिला करता। वे केवल अपने अनुयायियोंमें ही चमकते हैं, दूसरों तक उनके ज्ञानका प्रकाश नहीं पहुँच पाता।

उनका जैनधर्मका अध्ययन भी बहुत विशाल था। उनके ग्रन्थोंसे पता चलता है कि अपने समय के तमाम उपलब्ध जैनसाहित्यका उन्होंने अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वानों के मत-भेदोंका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह अपूर्व है। वे 'कार्यं संदधीत न तु विघटयेत' के मानने वाले थे, इसलिए उन्होंने अपना कोई स्वतन्त्र मत तो कहीं प्रतिपादित नहीं किया है; परन्तु तमाम मतभेदोंको उपस्थित करके उनकी विशद चर्चा की है और फिर उनके बीच किस तरह एकता स्थापित होसकती है, सो बतलाया है।

पंडित आशाधर गृहस्थ थे, मुनि नहीं। पिछले जीवनमें वे संसारसे उपरत अवश्य हो गये थे, परन्तु उसे छोड़ा नहीं था, फिर भी पीछेके ग्रन्थकर्ताओंने उन्हें सूरि और आचार्यकल्प कह कर स्मरण किया है और तत्कालीन भट्टारकों और मुनियोंने तो उनके निकट विद्याध्ययन करनेमें भी कोई संकोच नहीं किया है। इतना ही नहीं मुनि उदयसेनने उन्हें 'नय-विश्वचक्षु' और 'कलिकालिदास' और मदनकीर्ति यतिपतिने 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्तिको उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्रको धर्मशास्त्र पढ़ाया था। इन सब बातोंसे स्पष्ट होता है कि वे अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे।

उन्होंने अपनी प्रशस्तिमें अपने लिए लिखा है कि 'जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत्' अर्थात् जो जैनधर्मके उदयके लिए धारानगरीको छोड़कर नलकच्छपुर (नालछा) में आकर रहने लगा। उस समय धारानगरी विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहाँ भोजदेव, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सन्मान करने वाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनकी 'पारिजात-मञ्जरी' के अनुसार उस समय विशाल धारानगरीमें ८४ चौराहे थे और वहाँ नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्याओंके पण्डितों और कला-कोविदोंकी भीड़ लगी रहती थी*। वहाँ 'शारदा-सदन' नामका एक दूर दूर तक ख्याति पाया हुआ विद्यापीठ था। स्वयं आशाधरजीने धारामें ही व्याकरण और न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। ऐसी धाराको भी जिस पर हर एक विद्वान्को मोह होना चाहिये पण्डित आशाधरजीने जैनधर्मके ज्ञानको लुप्त होते देखकर उसके उदयके लिए छोड़ दिया और अपना सारा जीवन इसी कार्यमें लगा दिया।

वे लगभग ३५ वर्षके लम्बे समयतक नालछामें ही रहे और वहांके नेमि-चैत्यालयमें एकनिष्ठतासे जैनसाहित्यकी सेवा और ज्ञानकी उपासना करते रहे। उनके प्रायः सभी ग्रन्थोंकी रचना नालछाके उक्त नेमि चैत्यालयमें ही हुई है और वहीं वे अध्ययन अध्यापनका कार्य करते रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं, जो उन्हें धाराके 'शारदा-सदन' के अनुकरण पर ही जैनधर्मके उदयकी कामनासे श्रावक-संकुल नालछेके उक्त चैत्यालयको अपना विद्यालय बनानेकी भावना उत्पन्न हुई हो। जैन-धर्मके उद्धारकी भावना उनमें प्रबल थी।

ऐसा मालूम होता है कि गृहस्थ रह कर भी कमसे कम 'जिनसहस्रनाम' की रचनाके समय वे संसार-देहभोगोंसे उदासीन हो गये थे और उनका मोहावेश शिथिल हो गया था†। हो सकता है कि उन्होंने गृहस्थकी कोई उच्च प्रतिमा धारण कर ली हो, परन्तु मुनिवेश तो उन्होंने धारण नहीं किया था, यह निश्चय है। हमारी समझमें मुनि होकर वे इतना उपकार शायद ही कर सकते जितना कि गृहस्थ रह कर ही कर गये हैं।

अपने समयके तपोधन या मुनि नामधारी लोगोंके प्रति उनको कोई श्रद्धा नहीं थी, बल्कि एक तरहकी वितृष्णा थी और उन्हें वे जिनशासन को मलिन करनेवाला समझते थे, जिसको कि उन्होंने धर्मामृतमें एक पुरातन श्लोकको उद्धृत करके व्यक्त किया है—

> पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
> शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

पण्डितजी मूलमें मांडलगढ़ (मेवाड़) के रहने वाले थे। शहाबुद्दीन ग़ोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर अपने चारित्रकी रक्षाके लिए वे मालवाकी

---

*चतुरशीतिचतुष्पथसुरसदनप्रधाने···सकलदिगन्तरोपगतानेकत्रैविद्यसहृदयकलाकोविदरसिकसुकविसंकुले···
—पारिजातमंजरी

† प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम्॥ १॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुखः।
—जिनसहस्रनाम

राजधानी धारामें बहुत-से लोगोंके साथ आकर बस गये थे। वे व्याघ्रेरवाल या बघेरवाल जातिके थे जो राजपूतानेकी एक प्रसिद्ध वैश्यजाति है।

उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका छाहड़ था। इन चारके सिवाय उनके परिवारमें और कौन कौन थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवका भाद्रपद सुदी१५ बुधवार सं० १२७२ का एक दानपत्र मिला है, जिसके अन्तमें लिखा है--"रचितमिदं महासान्धि० राजा सलखणसंमतेन राजगुरुणा मदनेन‡। अर्थात् यह दानपत्र महासान्धिविग्रहिक मंत्री राजा सलखणकी सम्मतिसे राजगुरु मदनने रचा। इन्हीं अर्जुनवर्माके राज्यमें पं० आशाधर नालछामें जाकर रहे थे और ये राजगुरु मदन भी वही हैं जिन्हें पं० आशाधरजीने काव्य-शास्त्रकी शिक्षा दी थी। इससे अनुमान होता है कि उक्त राजा सलखण ही संभव है कि आशाधरजीके पिता सल्लक्षण हों।

जिस समय यह परिवार धारामें आया था उस समय विन्ध्यवर्माके सन्धि-विग्रहके मंत्री (परराष्ट्रसचिव) विल्हण कवीश थे। उनके बाद कोई आश्चर्य नहीं जो अपनी योग्यताके कारण सलक्षणने भी वह पद प्राप्त कर लिया हो और सम्मानसूचक राजाकी उपाधि भी उन्हें मिली हो। पण्डित आशाधरजीने 'अध्यात्म-रहस्य' नामका ग्रन्थ अपने पिताकी आज्ञासे निर्माण किया था। यह ग्रन्थ वि० सं० १२९६ के बाद किसी समय बना होगा। क्योंकि इसका उल्लेख सं० १३०० में बनी हुई अनगारधर्मामृतटीकाकी प्रशस्तिमें है, १२९६ में बने हुए जिनयज्ञकल्पमें नहीं है। यदि यह सही है तो मानना होगा कि आशाधरजीके पिता १२९६ के बाद भी कुछ समय तक जीवित रहे होंगे और उस समय वे बहुत ही वृद्ध होंगे। सम्भव है कि उस समय उन्होंने राज-कार्य भी छोड़ दिया हो।

पण्डित आशाधरजीने अपनी प्रशस्तिमें अपने पुत्र छाहड़को एक विशेषण दिया है, "रंजितार्जुन-भूपतिः" अर्थात् जिसने राजा अर्जुनवर्माको प्रसन्न किया। इससे हम अनुमान करते हैं कि राजा सलखणके समान उनके पोते छाहड़को भी अर्जुनवर्मदेवने कोई राज्य-पद दिया होगा। अक्सर राजकर्मचारियोंके वंशजोंको एकके बाद एक राज्य-कार्य मिलते रहते हैं। पं० आशाधरजी भी कोई राज्य पद पा सकते थे परन्तु उन्होंने उसकी अपेक्षा जिनधर्मोदयके कार्यमें लग जाना ज्यादा कल्याणकारी समझा।

उनके पिता और पुत्रके इस सन्मानसे स्पष्ट होता है कि एक सुसंस्कृत और राज्यमान्य कुलमें उनका जन्म हुआ था और इसलिए भी बाल-सरस्वती मदनोपाध्याय जैसे लोगोंने उनका शिष्यत्व स्वीकार करनेमें संकोच न किया होगा।

वि० सं० १२४९ के लगभग जब शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराजको क़ैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था और उसी समय उसने अजमेर पर भी अधिकार किया था, तभी पण्डित आशाधर मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे। उस समय वे किशोर होंगे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र वहीं आकर पढ़ा था।

‡ अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटीका जर्नल वा० ७ और प्राचीन लेखमाला भाग १ पृ० ६-७।

यदि उस समय उनकी उम्र १५-१६ वर्षकी रही हो तो इनका जन्म वि० सं० १२३५ के आसपास हुआ होगा। इनका अन्तिम उपलब्ध ग्रन्थ (अनगार-धर्म-टीका) वि० सं० १३०० का है। इसके बाद वे और कब तक जीवित रहे, यह पता नहीं। फिर भी निदान ६५ वर्षकी उम्र तो उन्होंने अवश्य पाई थी और उनके पिता तो इनसे भी अधिक दीर्घजीवि रहे।

अपने समयमें उन्होंने धाराके सिंहासन पर पाँच राजाओंको देखा—

समकालीन राजा

१ **विन्ध्यवर्मा**—जिस समयमें वे धारामें आये उस समय यही राजा थे। ये बड़े वीर और विद्यारसिक थे। कुछ विद्वानोंने इनका समय वि० सं० १२१७ से १२३७ तक माना है। परन्तु हमारी समझमें वे १२४९ तक अवश्य ही राज्यासीन रहे हैं जब कि शहाबुद्दीन ग़ोरीके त्राससे पण्डित आशाधरका परिवार धारामें आया था। अपनी प्रशस्तिमें इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है।

२ **सुभटवर्मा**—यह विन्ध्यवर्माका पुत्र था और बड़ा वीर था। इसे सोहड़ भी कहते हैं। इसका राज्यकाल वि० सं १२३७ से १२६७ तक माना जाता है। परन्तु वह १२४९ के बाद १२६७ तक होना चाहिए। पण्डित आशाधरके उपलब्ध ग्रन्थ में इस राजाका कोई उल्लेख नहीं है।

३ **अर्जुनवर्मा**—यह सुभटवर्माका पुत्र था और बड़ा विद्वान् कवि और गान-विद्यामें निपुण था। इसकी 'अमरुशतक' पर 'रससंजीविनी' नामकी टीका बहुत प्रसिद्ध है जो इसके पांडित्य और काव्यमर्मज्ञताको प्रकट करती है। इसीके समयमें महाकवि मदनकी 'पारिजातमंजरी' नाटिका बसन्तोत्सवके मौके पर खेली गई थी। इसीके राज्य-कालमें पं० आशाधर नालछामें जाकर रहे थे। इसके समयमें तीन दान-पत्र मिले हैं। एक मांडूमें वि०सं०१२६७ का, दूसरा भरोंचमें १२७० का और तीसरा मान्धातामें १२७२ का। इसने गुजरातनरेश जयसिंहको हराया था।

४ **देवपाल**—अर्जुनवर्माके निस्संतान मरने पर यह गद्दी पर बैठा। † इसकी उपाधि साहसमल्ल थी। इसके समयके सं० १२७५, १२८६ और १२८९ के तीन शिलालेख और १२८२ का एक दानपत्र मिला है। इसीके राज्यकालमें वि० सं० १२८५ में जिनयज्ञ-कल्पकी रचना हुई थी।

५ **जैतुगिदेव**—(जयसिंह द्वितीय) यह देवपाल का पुत्र था। इसके समयके १३१२ और १३१४ के दो शिलालेख मिले हैं। पं० आशाधरने इसीके राज्य-कालमें १२९२ में त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र १२९६ में सागारधर्मामृत-टीका और १३०० में अनगारधर्मामृत-टीका लिखी।

ग्रन्थ-रचना

वि० सं० १३०० तक पं०आशाधरजीने जितने ग्रन्थोंकी रचना की उनका विवरण नीचे दिया जाता है—

१ **प्रमेयरत्नाकर**—इसे स्याद्वाद विद्याका निर्मल प्रसाद बतलाया है। यह गद्य ग्रन्थ है और बीच

† विन्ध्यवर्मा जिसकी गद्दीपर बैठा था, उस अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका यह पौत्र था।

बीचमें इसमें सुन्दर पद्य भी प्रयुक्त हुए हैं। अभी तक यह कहीं प्राप्त नहीं हुआ है।

२ भरतेश्वराभ्युदय—यह सिद्धयङ्क है। अर्थात् इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम वृत्तमें 'सिद्धि' शब्द आया है। यह स्वोपज्ञ टीका सहित है। इसमें प्रथम तीर्थंकरके पुत्र भरतके अभ्युदयका वर्णन होगा। सम्भवतः महाकाव्य है। यह भी अप्राप्य है।

३ ज्ञानदीपिका—यह धर्मामृत (सागार-अनगार)की स्वोपज्ञ पंजिका टीका है। कोल्हापुरके जैन मठमें इसकी एक कनड़ी प्रति थी, जिसका उपयोग स्व० पं० कल्लापा भरमाप्पा निटवेने सागारधर्मामृतकी मराठी टीकामें किया था और उसमें टिप्पणीके तौर पर उसका अधिकांश छपाया था। उसीके आधारसे माणिकचन्द—ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित सागारधर्मामृत सटीकमें उसकी अधिकाँश टिप्पणियाँ दे दी गई थीं। उसके बाद निटवेजीसे मालूम हुआ था कि उक्त कनडी प्रति जलकर नष्ट हो गई! अन्यत्र किसी भण्डारमें अभी तक इस पंजिकाका पता नहीं लगा।

४ राजीमती विप्रलंभ—यह एक खण्डकाव्य है और स्वोपज्ञटीकासहित है। इसमें राजमतीके नेमिनाथ—वियोगका कथानक है। यह भी अप्राप्य है।

५ अध्यात्म-रहस्य—योगाभ्यासका आरम्भ करने वालोंके लिये यह बहुत ही सुगमयोगशास्त्रका ग्रंथ है। इसे उन्होंने अपने पिताके आदेशसे लिखा था। यह भी अप्राप्य है।

६ मूलाराधना-टीका—यह शिवार्यकी प्राकृत भगवती आराधनाकी टीका है जो कुछ समय पहले शोलापुरसे अपराजितसूरि और अमितगति की टीकाओंके साथ प्रकाशित हो चुकी है। जिस प्रति परसे वह प्रकाशित हुई है उसके अन्तके कुछ पृष्ठ खो गये हैं जिनमें पूरी प्रशस्ति रही होगी।

७ इष्टोपदेश टीका—आचार्य पूज्यपादके सुप्रसिद्ध ग्रन्थकी यह टीका माणिकचन्द-जैन-ग्रन्थमालाके तत्त्वानुशासनादि-संग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है।

८ भूपालचतुर्विंशतिका-टीका—भूपालकविके प्रसिद्ध स्तोत्रकी यह टीका अभी तक नहीं मिली।

९ आराधनासार टीका—यह आचार्य देवसेनके आराधनासार नामक प्राकृत ग्रन्थकी टीका है।

१० अमरकोष टीका—सुप्रसिद्ध कोषकी टीका। अप्राप्य।

११ क्रियाकलाप—बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें इस ग्रंथकी एक नई लिखी हुई अशुद्ध प्रति है, जिसमें ५२ पत्र हैं, और जो १९७६ श्लोक प्रमाण है। यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापके ढंगका है। ग्रंथमें अन्त-प्रशस्ति नहीं है। प्रारम्भके दो पद्य ये हैं—

जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपं।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥१॥
योगिध्यानैकगम्यः परमविशदद्दग्विश्वरूपः सतत्त्व।
स्वान्तस्थे मैव साध्यं तदमलममतयस्तत्पदध्यानबीजं,
चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनघगुणग्राममगाढामरागं,
तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमति यथा सूत्रमासूत्रयन्तु ॥ २ ॥

१२ काव्यालंकार-टीका—अलंकारशास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रटके काव्यालंकार पर यह टीका लिखी गई है। अप्राप्य।

१३ सहस्रनामस्तवन-सटीक—पण्डित आशाधर का सहस्रनाम स्तोत्र सर्वत्र सुलभ है। छप भी

चुका है। परन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीका अभी तक अप्राप्य है। बम्बईके सरस्वती भवनमें इस सहस्रनामकी एक टीका है परन्तु वह श्रुतसागरसूरिकृत है।

१४ जिनयज्ञकल्प-सटीक—जिनयज्ञकल्पका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह मूल मात्र तो पंडित मनोहरलालजी शास्त्री द्वारा सं० १९७२ में प्रकाशित हो चुका है। परन्तु इसकी स्वोपज्ञ टीका अप्राप्य है। इस ग्रंथको पण्डितजीने अपने धर्मामृतशास्त्रका एक अंग बतलाया है।

१५ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र-सटीक—यह ग्रंथ कुछ समय पूर्व माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें मराठी अनुवादसहित प्रकाशित हो चुका है। संस्कृत टीकाके अंश टिप्पणीके तौरपर नीचे दे दिये गये हैं।

नित्यमहोद्योत—यह स्नानशास्त्र या जिनाभिषेक अभी कुछ समय पहले पण्डित पन्नालालजी सोनीद्वारा संपादित "अभिषेकपाठ-संग्रह" में श्रीश्रुतसागरसूरिकी संस्कृतटीकासहित प्रकाशित हो चुका है।

१७ रत्नत्रय-विधान—यह ग्रंथ बम्बईके ऐ० प० सरस्वती-भवनमें है। छोटासा ८ पत्रोंका ग्रंथ है। इसका मंगलाचरण—

श्रीवर्द्धमानमानम्य गौतमादींश्च सद्गुरून्।
रत्नत्रयविधिं वक्ष्ये यथाम्नायां विमुक्तये ॥

१८ अष्टांगहृदयोद्योतिनी टीका—यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके सुप्रसिद्ध ग्रंथ वाग्भट या अष्टांगहृदयकी टीका है और अप्राप्य है।

१९—२० सागार और अनगार-धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका—माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें सागार और अनगार दोनोंकी टीका पृथक् पृथक् दो जिल्दोंमें प्रकाशित हो चुकी है।*

इन २० ग्रन्थोंमेंसे मूलाराधना-टीका, इष्टोपदेश टीका, सहस्रनाम मूल (टीका नहीं), जिनयज्ञकल्प मूल (टीका नहीं), त्रिषष्टिस्मृति, धर्मामृतके सागार अनगार भागोंकी भव्य-कुमुदचन्द्रिकाटीका और नित्यमहोद्योत मूल (टीका नहीं) ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और क्रियाकलाप उपलब्ध है। भरताभ्युदय, और प्रमेयरत्नाकरके नाम सोनागिरके भट्टारकजीके भण्डारकी सूचीमें अबसे लगभग २८ वर्ष पहले मैंने देखे थे। संभव है वे वहांके भण्डारोंमें हों। शेष ग्रन्थोंकी खोज होनी चाहिए। हमारे खयालमें आशाधरजीका साहित्य नष्ट नहीं हुआ है। प्रयत्न करनेसे वह मिल सकता है।

रचनाका समय

पहले लिखा जा चुका है कि पण्डित आशाधरजीकी एक ही प्रशस्ति है जो कुछ पद्योंकी न्यूनाधिकताके साथ उनके तीन मुख्य ग्रंथोंमें मिलती है।

जिनयज्ञकल्प वि० सं० १२८५ में, सागार-

*'आशाधरविरचित पूजापाठ' नामसे लगभग चारसौ पेजका एक ग्रन्थ श्री नेमीशा आदप्पा उपाध्ये, उद्गांव (कोल्हापुर) ने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित किया था। परन्तु उसमें आशाधरकी मुश्किलसे दो चार छोटी छोटी रचनायें होंगी, शेष सब दूसरोंकी हैं। और जो हैं वे उनके प्रसिद्ध ग्रंथोंसे ली गई जान पड़ती हैं।

धर्मामृत-टीका १२९६ में और अनगारधर्मामृत-टीका १३०० में समाप्त हुई है । जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें जिन दस ग्रन्थोंके नाम दिये हैं, वे १२८५ के पहले के बने हुए होने चाहिएँ । उसके बाद सागारधर्मामृत-टीकाकी समाप्ति तक अर्थात् १२९६ तक काव्यालंकार-टीका, सटीक सहस्रनाम, सटीक जिनयज्ञकल्प, सटीक त्रिषष्टिस्मृति, और नित्यमहोद्योत ये पाँच ग्रंथ बने । अन्तमें १३०० तक राजीमती-विप्रलम्भ, अध्यात्मरहस्य, रत्नत्रय-विधान और अनगारधर्म-टीकाकी रचना हुई । इस तरहसे मोटे तौरपर ग्रन्थ-रचनाका समय मालूम हो जाता है ।

त्रिषष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि वह १२९२ में बना है। इष्टोपदेश टीकामें समय नहीं दिया।

सहयोगी विद्वान्

१ पण्डित महावीर—ये वादिराज पदवीसे विभूषित पं० धरसेनके शिष्य थे । पं०आशाधरजी ने धारामें आकर इनसे जैनेन्द्र व्याकरण और जैन न्यायशास्त्र पढ़ा था ।

२ उदयसेन मुनि—जान पड़ता है, ये कोई वयोज्येष्ठ प्रतिष्ठित मुनि थे और कवियोंके सुहृद् थे । इन्होंने पं० आशाधरजीको 'कलि-कालिदास' कहकर अभिनन्दित किया था ।

मदनकीर्ति यतिपति—ये उन वादीन्द्र विशाल-के शिष्य थे जिन्होंने पण्डित आशाधरसे न्याय-शास्त्रका परम अस्त्र प्राप्त करके विपक्षियोंको जीता था । मदनकीर्तिके विषयमें राजशेखरसूरिके 'चतु-र्विन्शति-प्रबन्ध' में जो वि० सं० १४०५ में निर्मित हुआ है और जिसमें प्रायः ऐतिहासिक कथायें दी हैं 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' नामका एक प्रबन्ध है । उसका सारांश यह है कि मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्तिके शिष्य थे । वे बड़े भारी विद्वान थे। चारों दिशाओंके वादियोंको जीतकर उन्होंने 'महाप्रामाणिक-चूड़ामणि' पदवी प्राप्त की थी । एक बार गुरुके निषेध करने पर भी वे दक्षिणा पथको प्रयाण करके कर्नाटकमें पहुँचे । वहाँ विद्व-त्प्रिय विजयपुरनरेश कुन्तिभोज उनके पाण्डित्य पर मोहित हो गये और उन्होंने उनसे अपने पूर्वजोंके चरित्र पर एक ग्रन्थ निर्माण करनेको कहा । कुन्तिभोजकी कन्या मदन-मञ्जरी सुलेखिका थी । मदनकीर्ति पद्य-रचना करते जाते थे और मञ्जरी एक पर्देकी आड़में बैठकर उसे लिखती जाती थी ।

कुछ समयमें दोनोंके बीच प्रेमका आविर्भाव हुआ और वे एक दूसरेको चाहने लगे । जब राजा को इसका पता लगा तो उसने मदनकीर्तिको वध करनेकी आज्ञा दे दी । परन्तु जब उनके लिए कन्या भी अपनी सहेलियोंके साथ मरनेके लिए तैयार हो गई, तो राजा लाचार हो गया और उसने दोनोंको विवाह-सूत्रमें बाँध दिया । मदन-कीर्ति अन्त तक गृहस्थ ही रहे और विशालकीर्ति द्वारा बार बार पत्रोंसे प्रबुद्ध किये जाने पर भी टससे मस नहीं हुए । यह प्रबन्ध मदनकीर्तिसे कोई सौ वर्ष बाद लिखा गया है । इससे सम्भव है इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो अथवा इसका अधिकांश कल्पित ही हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मदनकीर्ति बड़े भारी विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि थे । और इसलिये उनके द्वारा की गई आशाधरकी प्रशंसाका बहुत मूल्य है ।

श्रीमदनकीर्तिकी बनाई हुई 'शासनचतुस्त्रिंशतिका' नामक ५ पत्रोंकी एक पोथी हमारे पास है। जिसमें मंगलाचरणके एक अनुष्टुप् श्लोकके अतिरिक्त ३४ शार्दूलविक्रीड़ित वृत्त हैं और प्रत्येकके अन्तमें 'दिग्वाससां शासनं' पद है *। यह एक प्रकारका तीर्थक्षेत्रोंका स्तवन है जिसमें पोदनपुर बाहुबलि, श्रीपुर-पार्श्वनाथ, शंख-जिनेश्वर, दक्षिण गोमट्ट नागद्रह-जिन, मेदपाट (मेवाड़) के नागफणी ग्रामके जिन, मालवाके मङ्गलपुरके अभिनन्दन जिन आदिकी स्तुति है ×। मङ्गलपुरवाला पद्य यह है—

श्रीमन्मालवदेशमंगलपुरे म्लेच्छप्रतापागते
भग्ना मूर्तिरथोभियोजितशिराः सम्पूर्णतामायौ ।
यस्योपद्रवनाशिनः कलियुगेऽनेकप्रभावैर्युतः,
स श्रीमानभिनन्दनः स्थिरयतं दिग्वाससां शासनं ॥३४॥

इस में जो म्लेच्छोंके प्रतापका आगमन बतलाया है, उससे ये पं० आशाधरजीके ही समकालीन मालूम होते हैं। रचना इनकी प्रौढ़ है। पं० आशाधरजीकी प्रशंसा इन्हींनेकी होगी। अभी तक इनका और कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

४ बिल्हण कवीश—बिल्हण नामके अनेक कवि हो गये हैं। उनमें विद्यापति बिल्हण बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनका बनाया हुआ विक्रमांकदेव-चरित है। यह कवि काश्मीरनरेश कलशके राज्यकालमें वि० सं० ११९९ के लगभग काश्मीरसे चला था और जिस समय वह धारामें पहुँचा उस समय भोजदेव की मृत्यु हो चुकी थी। इससे वे आशाधरके प्रशंसक नहीं हो सकते। भोजकी पांचवीं पीढ़ीके राजा विन्ध्यवर्माके मंत्री बिल्हण उनसे बहुत पीछे हुए हैं। चौर-पंचासिका या बिल्हण-चरितका कर्ता बिल्हण भी इनसे भिन्न था। क्योंकि उसमें जिस वैरिसिंह राजाकी कन्या शशिकलाके साथ बिल्हणका प्रेम सम्बन्ध वर्णित है वह वि० सं० ९०० के लगभग हुआ है। शार्ङ्गधर पद्धति, सूक्तमुक्तावली आदि सुभाषित-संग्रहोंमें बिल्हण कविके नामसे बहुतसे ऐसे श्लोक मिलते हैं जो न विद्यापति बिल्हणके विक्रमांकदेवचरित और कर्णसुन्दरी नाटिकामें हैं और न चौर-पंचासिकामें। क्या आश्चर्य है जो वे इन्हीं मंत्रिवर बिल्हण कविके हों।

मांडूमें मिले हुए विन्ध्यवर्माके लेखमें इन बिल्हणका इन शब्दोंमें उल्लेख किया है—"विन्ध्यवर्मनृपतेः प्रसादभूः। सान्धिविग्रहकबिल्हणःकवि।" अर्थात् बिल्हण कवि विन्ध्यवर्माका कृपापात्र और परराष्ट्र सचिव था।

५—पं० देवचन्द्र—इन्हें पण्डित आशाधरजीने व्याकरण-शास्त्रमें पारंगत किया था।

६—वादीन्द्र विशालकीर्ति — ये पूर्वोक्त मदनकीर्ति के गुरू थे। ये बड़े भारी वादी थे और इन्हें पण्डितजीने न्यायशास्त्र पढ़ाया था। सम्भव है, ये धारा या उज्जैनकी गद्दीके भट्टारक हों।

(आगामी किरणमें समाप्त)

---

* इस प्रतिमें लिखनेका समय नहीं दिया है परन्तु दो तीनसौ वर्षसे कम पुरानी नहीं मालूम होती। जगह जगह अक्षर उड़ गये हैं जिससे बहुतसे पद्य पूरे नहीं पढ़े जाते।

× श्रीजिनप्रभसूरिके 'विविध-तीर्थकल्प' में 'अवन्तिदेशस्थ अभिनन्दनदेवकल्प' नामका एक कल्प है जिसमें अभिनन्दनजिनकी भग्न मूर्तिके जुड़ जाने और अतिशय प्रकट होनेकी कथा दी है।

क्रान्तिकारी ऐतिहासिक पुस्तकें

[ले० अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

१. राजपूतानेके जैनवीर—

पढ़नेके लिये हाथ भरके कलेजेकी जरूरत है। मर्दोंकी बात जाने दीजिये भीरु और कायर भी इसे पढ़ते पढ़ते मूँछों पर ताव न देने लगें तो हमारा जिम्मा। राजपूतानेमें जैनवीरोंकी तलवार कैसी चमकी ? जैनवीरोंने सरसे कफन बान्धकर आततायियोंके घुटने क्योंकर टिकवाये। धर्म और देशके लिये कैसे कैसे अभूतपूर्व बलिदान किये, यही सब रोमांचकारी ऐतिहासिक विवरण ३५२ पृष्ठोंमें पढ़िये। सचित्र, मूल्य केवल दो रुपया।

२. मौर्य-साम्राज्यके जैनवीर—

भूमिका-लेखक साहित्याचार्य प्रो० विश्वेश्वरनाथ रेउके शब्दोंमें—"इस पुस्तककी भाषा मनको फड़काने वाली, युक्तियाँ सप्रमाण और ग्राह्य तथा विचारशैली साम्प्रदायिकतासे रहित समयोपयोगी और उच्च है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ लेनेसे केवल जैनोंके ही नहीं प्रत्युत भारतवासी मात्रके हृतपटपर अपने देशके अतीत गौरवके एक अंशका चित्र अंकित हुए बिना न रहेगा। ऐसा कौन अभागा भारतवासी होगा जो अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी लिखी भारतकी क़रीब साढ़े बाईस सौ वर्ष पुरानी इस सारगर्भित और सच्ची गौरव-गाथाको सुनकर उल्लसित न होगा।" पृष्ठ १७३ मू० छह आना।

३. हमारा उत्थान और पतन—

"चान्द"के शब्दोंमें—"इस पुस्तकमें महाभारतसे लेकर सन् १२०० ईस्वी तकके भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि डाली गई है। भारतवासियोंके चारित्रमें जो त्रुटियां उत्पन्न हो गईं थीं और जिनके कारण उनको विदेशियोंके सन्मुख पदानत होना पड़ा उन पर मार्मिकताके साथ विचार किया गया है। पुस्तक पठनीय है और अत्यन्त सुलभ मूल्यमें बेची जाती है।" "विश्वामित्र" लिखता है—"पुस्तककी भाषा सजीव और दृष्टिकोण सुन्दर है। यह काफी उपयोगी पुस्तक है।" "भारत" कहता है—"लेखककी लेखनीमें ओज और प्रवाह पर्याप्त मात्रामें है।" पृ० १४४ मूल्य छह आना।

स्फूर्तिदायक जीवनज्योति जगाने वाली पुस्तकें

४. अहिंसा और कायरता	मू०एक आना	७. क्या जैन समाज ज़िन्दा है ?	मू०एक आना
५. हमारी कायरताके कारण	„ „	८. गौरव-गाथा	„ „
६. विश्वप्रेम सेवाधर्म	„ „	९. जैन-समाजका ह्रास क्यों ?	„ छह पैसा

यदि यह पुस्तकें आपने नहीं देखी हैं तो आज ही मंगाइये, मन्दिरों, पुस्तकालयों साधुओंको भेटस्वरूप दीजिये, उपहारमें बाँटिये। जैनेतरोंमें बांटिये।

व्यवस्थापक—हिन्दी विद्यामन्दिर, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली।

Registered. No. L. 4328.

वीर प्रेस आफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली।

आश्विन, कार्तिक सं० २४६६

अक्टूबर १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण १२

वार्षिक मूल्य ३ रु०

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

विषय-सूची

१. जिनसेन-स्मरण .... पृष्ठ ६७७

२. श्रीभद्रबाहु स्वामी—[मू० ले० मुनि श्री चतुरविजय अनु० पं० परमानन्द ... ६७८

३. शिक्षित महिलाओंमें अपव्यय—[श्री ललिताकुमारी ६८५

४. प्रथम स्वहित और बादमें परहित क्यों ? [श्री दौलतराम मित्र ... ६९०

५. आभार और धन्यवाद, अनेकान्तका आगामी प्रकाशन, मेरी आन्तरिक इच्छा [सम्पादकीय ६९५

६. पण्डितप्रवर आशाधर [श्री पं० नाथूराम प्रेमी ... ६९७

७. ऊँच-नीच-गोत्र विषयक चर्चा [श्री बालमुकुन्द पाटोदी ... ७०७

८. मेंढकके विषयमें शंका [श्री दौलतराम मित्र ... ७१८

९. तामिल भाषाका जैन साहित्य [मू० ले० प्रो० ए. चक्रवर्ती अनु०पं० सुमेरचन्द दिवाकर ७२१

१०. प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा [सम्पादकीय ... ७२९

११. वीरसेवामंदिर-विज्ञप्ति [अधिष्ठाता ... ७५५

१२. गो० कर्मकांडकी त्रुटि पूर्ति के विचार पर प्रकाश [पं० परमानन्द शास्त्री ... ७५७

वीरसेवा मन्दिर को सहायता

हालमें बा० विश्वम्भरदासजी जैन गार्गीय, झाँसी ने, वीरसेवामन्दिरमें पधार कर उसके कार्यों पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उसे १०) रु० की सहायता प्रदान की है, जिसके लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
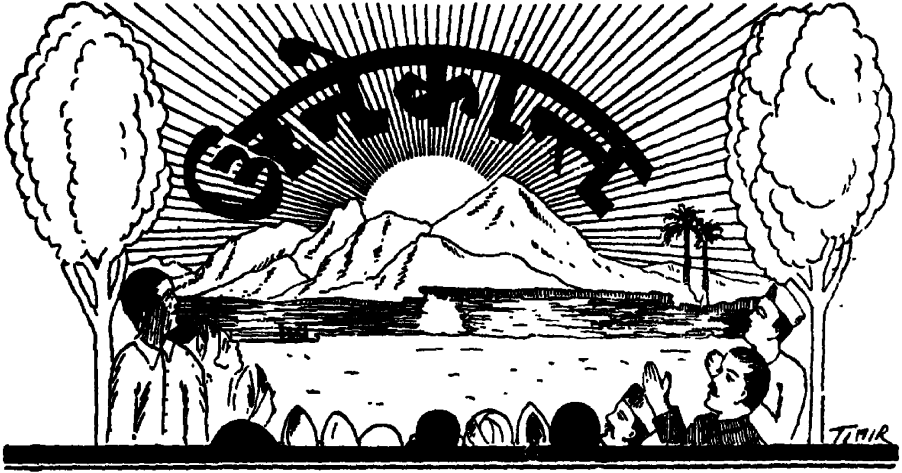
सरसावा, जि० सहारनपुर।

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि०सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
आश्विन-कार्तिक वीरनिर्वाण सं०२४६६, विक्रम सं०१९९७ | किरण १२

जिनसेन-स्मरण

जिनसेनमुनेस्तस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते।
शलाकापुरुषाः सर्वे यद्वचोवशवर्तिनः ॥

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराज सूरिः

सम्पूर्ण शलाकापुरुष जिनके वचनके वशवर्ती हैं—जिन्होंने महापुराण लिखकर ६३ शलाका पुरुषोंको (उनके जीवन वृतान्तको) अपने अधीन किया है—उन श्री जिनसेनाचार्यका माहात्म्य कौन वर्णन कर सकता है ? कोई भी नहीं ।

याऽमिताऽभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिसंकीर्तयत्यसौ ॥

--हरिवंशपुराणे, जिनसेनः

'पार्श्वाभ्युदय' काव्यमें पार्श्वजिनेन्द्रकी जो अपूर्व गुणसंस्तुति है, वह श्री जिनसेन स्वामीकी कीर्तिका आज भी संकीर्तन—खुला-गान कर रही है ।

यदि सकलकवीन्द्र-प्रोक्तसूक्त-प्रचार श्रवण-सरसचेतास्तत्त्वमेव सखे ! स्याः ।
कविवर जिनसेनाचार्य-वक्त्रारविन्द-प्रणिगदित-पुराणाकर्णनाभ्यर्ण कर्णः ।

--कश्चिदज्ञातकविः

हे मित्र ! यदि तुम सम्पूर्ण कवि श्रेष्ठोंकी सूक्तियोंके प्रचारको सुन कर अपना हृदय सरस बनाना चाहते हो, तो कविवर जिनसेनाचार्यके मुख कमल द्वारा कथित पुराणको सुननेके लिये कानोंको समीप लाओ—'आदिपुराण' को ध्यानपूर्वक सुनो ।

श्रीभद्रबाहु स्वामी

[लेखक—मुनि श्री चतुरविजयजी]
(अनुवादक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

तत्त्वार्थरत्नौघविलोकनार्थं सिद्धान्तसौधान्तरहस्तदीपाः
निर्युक्तयो येन कृताःकृतार्थैस्तनोतु भद्राणि स भद्रबाहुः ॥

—मुनिरत्न, अममचरित्र

श्री भद्रबाहुस्वामी समर्थ तत्ववेत्ता हो गये हैं। इनकी साहित्य-सेवा जैन समाजको गौरवास्पद बनाती है, जैनागमोंको अलंकृत करने वाली उनकी रची हुई निर्युक्तियोंको देखकर विद्वज्जन मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। ऐसे महापुरुषके जीवन-सम्बन्धमें दो शब्द लिखनेका आज सुअवसर प्राप्त हुआ, और वह भी आसन्नोपकारी श्रीविजयानन्द सूरीश्वर जैसे पुनीत महात्माके शताब्दीस्मारक ग्रन्थ* के लिये, यह बात मुझे अत्यन्त आनन्द प्रदान करती है।

श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, सभी कोई श्रीभद्रबाहुको मानते हैं, और दोनों ही पक्षके अनेक विद्वानों द्वारा थोड़े-बहुत फेरफारके साथ लिखा हुआ इनका जीवनचरित्र संख्याबद्ध ग्रन्थोंमें देखने में आता है और जैनसमाजका अधिकांश भाग उससे परिचित होनेके कारण उसको यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु भद्रबाहु नामके दो व्यक्ति भिन्न भिन्न समयोंमें हो गये हैं, उन दोनोंकी उलझी हुई जीवन घटनाओंके सुलझानेके लिये ही मेरा यह प्रयास है।

* इसी 'जन्म शताब्दीस्मारक ग्रन्थ' में यह लेख गुजराती भाषामें मुद्रित हुआ है, और उसी परसे उसका यह अनुवाद किया गया है। —अनुवादक

आज तक उपलब्ध जैनवाङ्मयकी ओर दृष्टि दौड़ानेसे किसी भी स्थल पर दूसरे भद्रबाहुका उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता‡। पूर्वकालीन ❀

‡ यह कथन श्वेताम्बर जैन वाङ्मयकी दृष्टिसे जान पड़ता है; क्योंकि दिगम्बर जैन वाङ्मयमें बराबर दो भद्रबाहुओंका उल्लेख मिलता है।

—अनुवादक

❀ *वंदामि भद्दबाहुँ पाईणं चरमसयलसुयनाणिं।*
सुत्तस्स कारगमिसि दसासु कप्पे य ववहारे ॥

दशाश्रुतस्कंधचूर्णि पी० ४, १००

पंचकल्पभाष्य-संघदासगणि, पी०४, १०३

अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामिप्रभृतयो यावदस्य भगवतो· निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्यस्तान् सर्वानिति।

—शीलांकाचार्य, आचारांगवृत्ति

अरहंते वंदित्ता चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।
एकारअंगसुत्तधारए सव्वसाहू य ॥

ओघनिर्युक्ति गा० १

इस गाथामें दशपूर्वी वगैरहको नमस्कार करनेसे निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वी नहीं हैं, ऐसा मालूम होता है और इसीलिये टीकाकार शंका उठा

ग्रन्थकार तो एक ही व्यक्ति मानकर हर एक प्रसंगको पंचम श्रुतकेवलीके नाम पर ही बतलाते हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिमें देखते हुए और अनेक इतर साधनों द्वारा सूक्ष्मावलोकन करते हुए आधुनिक विद्वानोंको भद्रबाहु नामके दो भिन्न व्यक्ति मालूम होते हैं †।

आद्य भद्रबाहु श्री यशोभद्रसूरिके शिष्य थे, चतुर्दशपूर्वधर (पंचमश्रुतकेवली) थे, मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्तके समयमें हुए थे, और उन्होंने वीर निर्वाण दिवससे १७० वें वर्षमें देवलोक प्राप्त किया था ‡। इनके जीवन विषयमें मेरी धारणाके अनुसार प्राचीनसे प्राचीन उल्लेख परिशिष्टपर्वमें दृष्टिगोचर होता है। उसमें श्री स्थूलभद्रको पूर्वकी वाचना देनकी हक़ीक़त है परन्तु निर्युक्ति वगैरह ग्रन्थों तथा वराहमिहरके सम्बन्धमें नाम निशान भी नहीं हैं। यदि निर्युक्तियाँ वगैरह उनकी कृति होतीं तो समर्थ विद्वान् श्रीहेमचन्द्राचार्य उनका उल्लेख किये बिना नहीं रहते।

दूसरे भद्रबाहु विक्रमकी छठी शताब्दीमें हो गये हैं, वे जातिमें ब्राह्मण थे, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहर इनका भाई था; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसके शिष्य थे। निर्युक्तियाँ आदि सवकृतियाँ इनके बुद्धिवैभवमेंसे उत्पन्न हुई हैं।

प्राचीन मान्यताके अनुसार निर्युक्तिकारको चतुर्दशपूर्वधर कहा जाता है, परन्तु आवश्यक

ता है कि—'*भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद्दशपूर्वधरादीनां न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति?* परन्तु उस समय ऐतिहासिक साधनोंकी दुर्लभता होनेके कारण पारंपरिक प्रघोषके अनुसार निर्युक्तिकारको चतुर्दशपूर्व धरत्वकी कल्पना कर यथामति शंकाका समाधान करता है। वह अप्रस्तुत होनेसे यहाँ नहीं लिखा जाता।

दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता।

मलयगिरी, पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति

अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधुवर्गस्य नित्योपयोगितांच विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीभद्रबाहु स्वामिना तद्व्याख्यानरूपा 'आभिनिबोहियनाणं सुअनाणं चेव ओहिनाण च, इत्यादि प्रसिद्धग्रथरूपा निर्युक्तिः।

—मलधारी हेमचन्द्रसूरि-विशेषावश्यकवृ०

† देखो इतिहासप्रेमी मुनि कल्याणविजयजी द्वारा लिखी हुई 'वीर-निर्वाण-संवत् और जैन कालगणना' नामकी हिन्दी पुस्तक, तथा न्या० व्या० तीर्थ पं० बेचरदास जीवराज-द्वारा संशोधित पूर्णचन्द्राचार्य-विरचित उपसर्गहरं स्तोत्र लघुवृत्ति—जिनसूरमुनिरचित प्रियंकरनृपकथा समेत—में की प्रस्तावना (शारदाविजय-ग्रन्थमाला, भावनगर द्वारा प्रकाशित)।

† चन्द्रगुप्तका राज्यारोहणकाल वीर-निर्वाणसे १५५ वें वर्ष में है। देखो, परिशिष्टपर्व सर्ग ८ वें का निम्नलिखित श्लोक—

एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते।
पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥

‡ *वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्त्यग्रे गते सति।*
भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना॥

परि० स० ९, श्लोक ११२

निर्युक्तिकी २३० वीं गाथामें श्री वज्रस्वामीका* और २३२ वीं गाथामें अनुयोगपृथक्करणसम्बन्धमें आर्यरक्षितका ‡ उल्लेख आता है ※।

इसके बाद निन्हवपरक वर्णन करते हुए महावीर निर्वाणसे ६०९ वर्ष पीछे बोटिक (दिगम्बर) मतकी उत्पत्ति बतलाई है। वह इस प्रकार है:—

बहुरय पएस अव्वत्त सामुच्छा दुग तिगे अबद्धियाँ चेव।
एएसि निग्गमणं वोच्छं अहाणुपुव्वीए ॥ २३५ ॥
बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्तासाढाओ सामुच्छे अस्समित्ताओ ॥ २३६ ॥
गंगाओ दोकिरिया छलुग तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेराय गोट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति ॥ २३७ ॥
सावत्थी उसभपुरं सेयंबिया मिहिल उल्लुगतीरं ।
पुरिमंतरजिया दसरह वीरपुर च नयराइं ॥ २३८ ॥
चौदस सोलसवासा चोद्दसवीसुत्तरा य दुण्णिसया ।
अट्ठावीसा य दुवे पचेव सया य चोआला ॥ २३९ ॥
पचे सया चुलसीओ छच्चेव सया नवुत्तरा हुंति ।
नाणुप्पत्तीए दुवे उप्पन्ना निव्वुए सेसा ॥ २४० ॥

—गाथा इत्यादि

अर्थ—(१) भगवान महावीरको केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे १४वर्ष पीछे श्रावस्ती नगरीमें जमाली आचार्यसे बहुरत निन्हव हुआ। (२) भगवानकी ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् १६वें वर्षमें ऋषभपुर नगरमें तिष्यगुप्त आचार्यसे छेल्ला प्रदेशमें जीवत्व मानने वाला निन्हव हुआ। (३) भगवानके निर्वाणके २१४ वर्ष पीछे श्वेताम्बिका नगरीमें आषाढाचार्यसे अव्यक्तवादी निन्हव हुआ। (४) भगवानके निर्वाणके २२० वर्ष पीछे मिथिला नगरीमें अश्वमित्राचार्यसे सामुच्छेदिक निन्हव हुआ। (५) निर्वाणसे २२८ वर्षमें उल्लुकाके तट पर गंगाचार्यसे द्विक्रिय निन्हव हुआ। (६) निर्वाणसे ५४४ वर्ष पीछे अंतरंजिका नगरीमें षडुलकाचार्यसे त्रैराशिक निन्हव हुआ। (७) निर्वाणसे ५८४ वर्ष पीछे दशपुर नगरमें स्पृष्टकर्मके प्ररूपक स्थविर गोष्ठामाहिलसे अवद्धिक निन्हव हुआ। (८) और आठवां बोटिक (दिगम्बर) निन्हव रथवीरपुर नगरमें भगवानके निर्वाणके ६०९ वर्ष पीछे हुआ। इस प्रकार भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे दो, और निर्वाणके पीछे छह ऐसे आठ निन्हव हुए।

इससे भी निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामीके पंचम-श्रुतकेवलीसे भिन्न होनेका निश्चय होता है, क्योंकि पूर्व समयमें हुआ व्यक्ति भविष्यमें होने वालेके वास्ते 'अमुक वर्षमें अमुक हुआ' ऐसा प्रयोग नहीं

* वीर निर्वाण संवत् ४९६ (विक्रम सं० २६) में वज्रका जन्म, वीर नि० सं० ५०४ (वि० सं० ३४) में दीक्षा, वी० निर्वाण सं० ५४८ (वि० सं० ७८) में युगप्रधानपद और वी० नि० स० ५८४ (वि० सं० ११४ में स्वर्गवास हुआ था।

‡ वीर नि० सं० ५२२ (वि० स० ५२) में जन्म, वीर नि० सं० ५४४ (वि० स० ७४) मे दीक्षा, वीर नि० सं० ५८४—(वि० स० ११४ में युग प्रधानपद और वी० नि० स० ५९७ (वि० स १२७) में स्वर्गस्थ हुए थे। माथुरी वाचनानुसार वी० नि० सं० ५८४ में स्वर्गवास माना जाता है।

※ आगमोदय समिति-द्वारा मलयगिरिकृत टीका-सहित मुद्रित प्रतिमें ये गाथाएँ क्रमशः ७६६, ७७३ नं० पर पाई जाती। —अनुवादक

करता, इसलिये निर्युक्तिकार भद्रबाहुका समय वीर निर्वाणसे १७० वर्ष बाद नहीं हो सकता।

श्री संघतिलक सूरिकृत सम्यक्त्वसप्ततिका वृत्ति*, श्री जिनप्रभसूरिकृत 'उपसर्गहरं' स्तोत्र-वृत्ति तथा मेरुतुंगाचार्यकृत प्रबन्ध चिन्तामणि वगैरह श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें भद्रबाहुका प्रखर ज्योतिषी वराहमिहरके भाईके तौर पर वर्णन किया है। वराहमिहरके रचे हुए चार ग्रन्थ † इस समय उपलब्ध होते हैं। उनमें अन्तका ग्रन्थ खगोल शास्त्रका व्यावहारिक ज्ञान कराने वाला 'पंचसिद्धान्तिका' है। उसमें उसका रचनाकाल शक संवत् ४२७ बताया है।

देखो, उसकी निम्न लिखित आर्या—

सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये॥

वराहमिहरका समय ईस्वी सन्की छठी शताब्दी है (५०५ से ५८५ तक)। इससे भद्रबाहुका समय भी छठी शताब्दी निर्विवाद सिद्ध होता है।

श्री भद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति वगैरह किसी भी ग्रन्थमें अपना रचनाकाल नहीं बताते हैं; मात्र कल्प सूत्रमें—

*समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ। * वायणंतरे पुण अयं ते णउए संवच्छरे काले गच्छइ।* (सूत्र १४८)

---

* *तत्थ य चउदस विज्जाठाणपारगो छक्कम्मसम्मविऊ 'पयईए' भद्दओ 'भद्दबाहू' नाम 'माहणो' हुत्था। तस्स य परमपिम्म सरिसीरुहमिहरो वराहमिहरो नाम सहोयरो।*

—संघति० सम्यक्त्व सप्त०

वराहमिहरका जन्म उज्जैनके आसपास हुआ था। इसने गणितका काम ई० सन् ५०५ में करना प्रारम्भ किया था और इसके एक टीकाकारके कथनानुसार उसका ई० स० ५८७ में मरण हुआ था।

—प्रो० ए० मेकडानल्ड-संस्कृत साहित्यका इतिहास ५६४

† बृहत्संहिता (जो १८६४-१८६५ की Bibiothica Indiea में कर्नने प्रसिद्ध की है और Journal of Asiatic Society की चौथी पुस्तकमें इसका अनुवाद हुआ है। इसी ग्रन्थकी भट्टोत्पलनी टीकाके साथकी नई आवृत्ति १८९५-९७ में एस० द्विवेदीने बनारसमें प्रसिद्ध की है)। होराशास्त्र (जिसका मद्रासके सी० आयरने १८८५ में अनुवाद किया है)। लघुजातक (जिसके थोड़े भागका वेबर और जेकोबीने १८७२ में भाषान्तर किया है) और पंचसिद्धान्तिकाको बनारसमें थीबो और एस. द्विवेदीने १८८९ में प्रसिद्ध किया है और उसके मोटे भागका अनुवाद भी किया है।

* इस वाक्यका अर्थ कल्पसूत्रके टीकाकार भिन्न-भिन्न रीतिसे करते हैं। परन्तु ठीक हकीकत तो ऐसी मालूम होती है कि उस समय विक्रम सम्वत् ५१० चालू होगा, और उस विक्रमके राज्यारोहण दिवससे तथा सम्वत्सरकी प्रवृत्तिदिवससे गणना सम्बन्धी मत भेद होगा। श्री महावीर प्रभुके निर्वाणसे ४७० वर्षमें विक्रम राजा गद्दी पर बैठा, उसके बाद १३ में वर्ष में सम्वत्सर प्रवर्ताया था, इसलिये विक्रम सम्वत्में ४७० जोड़नेसे वीर सं०९८० आता है और ४८३ जोड़नेसे ९९३ वर्ष आता है। इस बातके समर्थनके लिए देखो, कालिकाचार्यकी परम्परामें होने वाले श्रीभावदेवसूरि द्वारा रचित कालिकाचार्यकी कथाको निम्नलिखित गाथाएं—

इस प्रकार उल्लेख देखनेमें आता है, यह बात खास ध्यानमें रखने योग्य है। हम इस ग्रन्थको यदि इनकी प्राथमिक कृतिके रूपमें मानलें, तो आचार्यश्रीने अपनी १५ वर्ष लगभगकी किशोर अवस्थामें ग्रन्थरचना की शुरुआत की होगी और—

तेहि नाणबलेण वराहमिहरवंतरस्स दुचिट्ठ माऊण-सिरियासासामिणो 'उवसग्गहर'थवणं काऊणसघकए पैसियं
—सप्तति०—सम्यक्त्वस०

इस वर्णनकी तरफ लक्ष्य खींचनेसे वराहमिहरके अवसान (ई० सं० ५८१) के चार पाँच वर्ष बाद तक आचार्यश्री जीवित रहे होंगे, ऐसा मानिए तो इनकी कुल आयु १२५ वर्षसे ऊपर और १५०के बीचकी निर्धारित की जा सकती है। परन्तु इतनी लम्बी आयुके लिये शंकाको ठीक स्थान मिलता है।

वराहमिहरने ई० स०५०५ से गणितका काम करना प्रारम्भ किया और वह ई० स० ५८७ तक जीवित था, उसने लगभग १५-२० वर्षकी अवस्था में यदि कार्य प्रारम्भ किया हो तो उसकी उम्र भी १०० वर्षसे ऊपरकी कल्पित की जा सकती है। श्री भद्रबाहु उससे बीस तीस वर्ष बड़े हों तो उपर्युक्त आयुका मेल बराबर बैठ जाता है। परन्तु प्रबन्धचिन्तामणिकार (मेरुतुंगाचार्य) इनको लघुबन्धुका विशेषण† देता है।

इससे उम्र सम्बन्धी शंका फिर विशेष मजबूत हो जाती है।

वीर निर्वाण संवत ९८० (वाचनांतर ९९३) वर्षमें देवर्द्धिगणि* क्षमा श्रमणने पुस्तक लिखवाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ की, उस समय उमने यह स्थविरावली (पट्टावली) बनाई है, ऐसा भी मानने में आता है। परन्तु यह मान्यता दोष रहित नहीं है। दूसरेके किये हुए ग्रन्थमें दूसरेके प्रकरण वगैरह को जोड़नेमें उस ग्रन्थकी महत्ताको हानि पहुँचती है, ऐसा कार्य शिष्ट पुरुष कभी भी नहीं करते। थोड़े समयके लिये हम स्थविरावलिको देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण कृत मान भी लें तो फिर उसके अन्तमें दी हुई—

सुत्तत्थरयणभरिये खमदममद्दवगुणेहि संपुण्णे।
देवड्ढि खमासमणे कासवगुत्ते पणिवयामि ॥

इस गाथाकी क्या दशा होवे ? कोई भी विद्वान स्वयं अपने लिये ऐसे शब्दोंको क्या उच्चारण करेगा ? इसलिये यह गाथा जरूर अन्यकृत माननी पड़ेगी।

विक्कमरज्जरम्भा पुरओ सिरिवीरनिव्वुइ भणिया।
सुन्नमुणिवेय(४७०) जुत्तं विक्कमकालाउ जिणकालं
विक्कमरज्जाणतर तेरसवासेसु (१३) वच्छरपवत्ती।
सिरिवीरमुक्खओ सा चउसयतेसीइं (४८३)वासा उ
जिणमुक्खा चउवरिसे(४)पणमरओ दूसम उयसजाओ
अरया चउसयगुणसी (४७९) वासेहि विक्कमं वासं॥

† *श्रीभद्रबाहुनामानं जैनाचार्यं कनीयांसं सोदरम्।*
—प्रबन्धचि० सर्ग ५

* *एतत्सूत्रं श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः प्रक्षिप्त-मिति क्वचित् पर्यूषणाकल्पाव चूर्णौ, तदभिमात्रेण श्रीवीरनिर्वाणात नवशताशीतिवर्षातिक्रमे सिद्धान्तं पुस्तके न्यसद्भिः श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः श्रीपर्यूषणाकल्पस्यापि वाचना पुस्तके न्यस्ता तदानीं पुस्तक लिखनकालज्ञापनार्थैतत् सूत्रं लिखितमिति।*
—कल्पदीपिका (सं० १६७७) जयविजय

पूरा ग्रन्थ कोई रचे (बनावे) और बीचमें प्रकरण अन्य जोड़े तथा उसके लिये उल्लेख तीसरा व्यक्ति करे तो यह क्या सम्भवित मालूम होता है? इसलिये मेरी धारणाके अनुसार तो मूल ग्रंथ और उसकी अन्य गाथा तक स्थविरावली यह सब एक ही व्यक्ति (दूसरे भद्रबाहु) की रचना है।

ग्रन्थकार उपर्युक्त गाथा लिखकर पट्टावलीकी समाप्ति करता है, इस कारण वह स्वयं श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणका शिष्य है, सतानीय है या अन्य वंशका है, इसके लिये अधिक ऊहापोह करनेकी आवश्यकता है।

इनके रचे हुए ग्रन्थ

१ आचारांग निर्युक्ति †
२ सूत्रकृतांग ,,
३ दशवैकालिक ,,
४ उत्तराध्ययन ,,
५ आवश्यक ,,
६ सूर्यप्रज्ञप्ति ,, ‡
७ऋषिभाषित निर्युक्ति*
८ पिंड † ,,
९ ओघ ,,
१० संसक्त ,,

निर्युक्ति तथैव मूल ग्रन्थ भी खुदके बनाये हुए हैं—

११ बृहत्कल्प ‡
१२ व्यवहार
१३ दशाश्रुतस्कंध ×
१४ भद्रबाहुसंहिता ❀
१५ ग्रहशान्ति स्तोत्र
१६ उवसग्गहरं स्तोत्र ❀

---

† अपनी रची हुई निर्युक्तियोंके नाम ग्रन्थकार स्वयं इसप्रकार बतलाते हैं—

आवस्सय दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सुयगडे निज्जुत्ति वोच्छामि तहा दसाणं च॥
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्स य परमणिउणस्स।
सूरियपन्नतीए वोच्छं इसिभासियाणं च॥

आवश्यक नि०गा० ८२, ८३

‡ यह निर्युक्ति इस समय उपलब्ध नहीं। देखो, निम्नलिखित उल्लेख

अस्या निर्युक्तिरभूत् पूर्वं श्रीभद्रबाहुसूरिकृता।
कलिदोषात् साऽनेशत् व्याचक्षे केवलं सूत्रम्॥

मलयगिरि-सूर्यप्रज्ञप्ति।

* इस समय उपलब्ध नहीं।

† *येनैषा पिण्डनिर्युक्तिर्युक्तिरम्याविनिर्मिता।*
द्वादशांगविदे तस्मै नमः श्रीभद्रबाहवे॥

—मलयगिरि, पि० नि० वृ०

‡ *श्रीकल्पसूत्रममृतं विबुधोपभोगयोग्यं-*
जरामरणदारुण दुःखहारि।
येनोद्धृतंमतिमतामथितात् श्रुताब्धेः
श्रीभद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै।

—क्षेमकीर्ति बृहत्कल्पटीका

× हालमें जो मंगलके निमित्तपर्यूषण पर्वमें बाँचा जाता है वह कल्पसूत्र इस ग्रन्थका आठवां अध्ययन है, इस विषयमें निश्चित प्रमाण नहीं।

❀ *तथान्यां भगवाँश्चक्रे संहितां भद्रबाहवीम्।* इत्यादि कथन होनेसे इन्होंने स्पष्ट संहिता रची है यह ठीक, परन्तु हालमें जो भद्रबाहुसंहिता नामकी पुस्तक छपी है वह इन भद्रबाहुकी बनाई हुई नहीं है।

❀ यह ग्रंथ संस्कृत पद्यबद्ध है, इसका त्रुटित भाग हमारे देखनेमें आया है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कितने श्लोकप्रमाण होगा यह नहीं कहा जा सकता।

१७ द्वादशभाव-जन्मप्रदीप

१८ वसुदेवहिंडी *

इन सब ग्रन्थोंमें नियुक्तियाँ मुख्यस्थान रखती हैं।

इनका जन्म, दीक्षा, अवसानसमय तथा शिष्यादिसंतति-जाननेके लिये मेरी दृष्टिमें आने वाले ग्रन्थोंमें कोई स्थल या साधन प्राप्त नहीं होते। आगमके अभ्यासी और इतिहासके वेत्ता कोई नवीन तत्त्व बाहर लावेंगे तो हम जैसोंके ऊपर उनका महान् उपकार होगा, ऐसी आशा रखकर विराम लेता हूँ।

---

* यह ग्रन्थ मूल प्राकृत भाषामें रचा हुआ सवा लाख श्लोक प्रमाण था ऐसा सुप्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्यके गुरुदेव देवचन्द्र सूरि बतलाते हैं कि—

वंदामि भद्दबाहुँ जेण य अइरसियबहुकहाकलियं।
रइयं सवायलक्खं चरियं वसुदेवरायस्स॥

शान्तिनाथचरित्र, मंगलाचरण

तथा श्री हंसविजयजी जैन लायब्रेरीकी ग्रंथमाला तरफ से छपाई हुई नर्मदा सुंदरीकथाके अन्तमें—

इति हरिपितृहिण्डेर्भद्रबाहुप्रणीते विरचितमिह लोकश्रोत्रपात्रैकपेयं।
चरितममलमेतन्नर्मदासुन्दरीय भवतु शिवनिवास-प्रापकं भक्तिभाजाम्॥ २४६॥

हालमें उपलब्ध वसुदेवहिण्डी तो संघदासक्षमा-श्रमणने आरंभ की थी और धर्मसेनगणी महत्तरने पूरी की थी, उससे यह भिन्न होगी।
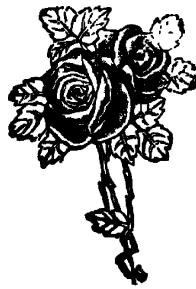
शिक्षित महिलाओंमें अपव्यय

[लेखिका—श्री ललिताकुमारी जैन विदुषी 'प्रभाकर']

बड़े बड़े अर्थ शास्त्रवेत्ता कहते हैं कि एक कौड़ी भी निरर्थक खर्च करना अपने आत्मा, कुटुम्ब, देश व समाजसे विद्रोह करना है। असलमें यह है भी बिल्कुल सत्य और स्पष्ट। अपव्यय (फिजूल खर्च) जहाँ तक इसका सांसारिक धन-सम्पति और रुपये-पैसे से सम्बन्ध है अपने और समाज दोनों ही के लिए एक अभिशाप है। अपव्ययसे मनुष्य अनावश्यक भोग-विलासकी ओर प्रवृत्ति करता है, खोटी खोटी आदतें डाल लेता है, इन्द्रियोंको बेलगाम घोड़ेकी तरह निरर्थक विषयोंकी ओर दौड़नेके लिए विवश करता है तथा पाप और वासनाके लिए नये नये रास्ते खोजता रहता है।

अपव्ययी मनुष्य ज़रूरतके लिए खर्च नहीं करता बल्कि ख़र्च करनेके लिए नयी नयी अनावश्यक जरूरतें पैदा करता है। ऐसा देखा गया है कि फिजूल खर्च करने वाला जब किसी समय अपनी एक ज़रूरतको पूर्ण हुई देखता है तो तुरन्त उसके मनमें यह खयाल पैदा होता है कि खर्च करनेके लिए अब वह कौनसी ज़रूरत पैदा करे। इस तरह वह सदा कुछ न कुछ ख़र्च करने ही की धुनमें रहता है। वह कभी अपने आपको शान्त एवं स्वस्थ अनुभव नहीं करेगा। उसके दिमाग़में नयी नयी इच्छाएँ और उनको पूरा करनेके लिए अपव्ययकी चालें चलित हुआ करेंगी। वह स्थिर होकर कभी अपने कर्तव्य और हितकी ओर विचार नहीं करेगा। उसे ऐसा करनेकी फुरसत ही कहाँ है? फिजूल खर्च करते करते जब उसके पास अपनी और अपने कुटुम्बकी अनिवार्य ज़रूरतोंके लिए भी पैसा न बचा रहा तो अन्याय पर उतर पड़ता है। वह दाव लग जाने पर दूसरोंका माल हड़प करनेमें भी नहीं चूकता और यदि कुछ चालाक हुआ तो विविध छल कपट व षड्यन्त्रोंसे दूसरेकी सम्पत्ति हरण करनेकी चेष्टा करता है। वह चोरीके लिए चित्त चलायमान करता है और उसके प्रयत्न करनेमें पकड़ा जाकर धर्म, समाज व कानून तीनों ही का अपराधी ठहरता है। लोकमें निन्दा होता है और परलोकमें बड़ी बड़ी यातनाएँ सहनेको मिलती हैं।

इसी तरह समाजके लिये भी अपव्यय बड़ा अनिष्टकर है। एकको अपव्यय करते हुए देखकर तथा फिजूलखर्चीसे नानावाहियात विनोद एवं रंगरेलियाँ करते हुए देखकर समाजके दूसरे व्यक्तिके मनमें भी वैसी ही चाह पैदा होती है। एक दूसरेके मनमें ईर्ष्या और जलनके भाव पैदा होते हैं। बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हो जाती हैं। पार्टीबन्दियाँ हो जाती हैं। एक दूसरेके घमंड को चूर चूर करनेकी चेष्टा करता है और दूसरा अपने बड़प्पन और शान शौकतको सुरक्षित रखनेके लिए चिन्तित रहता है। तथा इसी कसाकसीमें रुपया

पानीकी तरह बहाना पड़ता है इससे व्यक्तियोंका भी पतन होता है और उनसे बनने वाले समाजको भी क्षति पहुँचती है। यदि मनुष्य अपने पैसेको अपने ही निरर्थक और क्षुद्र स्वार्थोंमें न खर्च करके समाज व देश के हितोंकी रक्षाके लिए उसका उपयोग करे तो फिर किसीकी धन-सम्पत्तिसे आपसमें जलन या ईर्ष्याके भाव पैदा होनेका अवसर ही न आवे। अपव्ययसे समाजमें पाप और अन्यायका प्रसार होता है तथा दुर्गुणोंकी वृद्धि होती है। जो पैसा उपयोगी और उत्तम कार्योंमें लगना चाहिए था वह वाहियात और व्यर्थकी शान-शौकतमें खर्च किया जाता है। इससे समाज कमज़ोर और क्षुद्र बना रहता है। जिस समाजमें वाहियात फ़िज़ूलख़र्ची की जाती है वह दूसरे समाजोंके सामने-मुक़ाबलेमें खड़ा नहीं रह सकता और हर बातमें उसको नीचा देखना पड़ता है। उसका अपमान और तिरस्कार करना दूसरेके लिए एक खेलसा हो जाता है। क्योंकि समाजकी उन्नतिके बहुतसे उपायोंमें एक मुख्य उपाय उसमें रहने वाले व्यक्तियोंकी धन-सम्पत्ति और उसका समुचित उपयोग भी है। एक अर्थ शास्त्रविद्या विशारद पंडितने किसी जगह लिखा था कि किसी समाज या देशकी शक्ति और बलको मापनेका यन्त्र उसमें रहने वाले व्यक्तियोंकी सम्पत्तिका उपयोग है। अगर उनकी सम्पत्तिका उपयोग उत्तम और समयोपयोगी कार्योंमें होता है तो वह समाज भी उन्नत एवं व्यवस्थित है और यदि उसका उपयोग अनुचित रूपसे होता है तो उस समाजकी भींत भी बालू रेत पर खड़ी है जो जब कभी धक्का देकर गिराई जा सकती है।

इसी अपव्ययके अवगुणसे हमारी आधुनिक शिक्षित बहनें भी रहित नहीं हैं। यह देखनेमें आता है कि ज्यों ज्यों आधुनिक सभ्यता और शिक्षाका प्रसार होता जारहा है, शिक्षित महिला-समाजमें फिज़ूलखर्ची के नये नये तरीके ईजाद होते आ रहे हैं। यह तो सच है ही कि पुरानी चाल वाली माताओं व बहनोंमें कुछ ऐसे संस्कार पड़े हुए हैं कि वे पुरानी चालोंको चाहे वे कितनी ही खर्चीली क्यों न हों और चाहे उनमें होने वाले खर्चोंसे उनके घर कितने ही तबाह क्यों न हो जाएँ पर वह उन्हें छोड़नेके लिए किसी भी तरह तैयार नहीं हैं; पर हमारी आज कलकी बहनोंमें उनकी अपनी ही चर्यामें ऐसे छोटे छोटे सैंकड़ों ही निरर्थक अपव्यय के मार्ग पैदा हो गये हैं जिनसे भलीसे भली और सम्पन्न से सम्पन्न गृहस्थीका भी चकनाचूर हुए बिना नहीं रह सकता। इन वाहियात खर्चोंसे पुरुषोंके गाढ़े पसीनेसे कमाये हुए धनका ही नाश नहीं होता है बल्कि हमारी गृह देवियोंका सुन्दर जीवन भी भोग विलास और फैशनके साँचेमें इस तरह ढाल दिया जाता है कि वह न तो उनके अपने मतलबका ही रहता है और न समाज व देशके अर्थका ही।

आज कलकी बहनों में यदि पुरानी चालके गहनों का शौक कुछ कम हुआ तो नयी चालके गहनोंका शौक उससे भी अधिक बढ़ गया। गोखरू बँगड़ीके स्थान पर सोनेकी चूड़ियां पहनी जाने लगीं। बाली और कानके झुल्लोंकी जगह नये नये इयरिंग काममें लिये जाने लगे। सरमें पात व बोरकी जगह विविध रंगरंजित क्लिपें दिखाई देने लगीं, जो रोज रोज या तो टूटती रहें और यदि बदकिस्मतीसे साबुत रह जावें तो फैशन बदल जानेसे बेकार जावें। गलेमें सोनेकी कंठीके बिना तो गलेकी शोभा ही नहीं। रिस्टवाच और ज़ीरोपावरके चश्मेका शौक तो ऐसा बढ़ा है कि उसकी कोई हद नहीं। और अफ़सोस तो यह है कि घड़ीसे समयका सदुपयोग रत्तीभर नहीं किया जाता और

चश्मेसे आंखोंका सर्वनाश करके भी उसका शौक पूरा किया जाता है। कुछ लिखनेकी आदत हो और मौके बेमौके कुछ लिखनेका काम पड़ जाता हो सो बात नहीं पर पारकर पेन जेबमें जरूर सुशोभित होना चाहिए। मेंहदीका स्थान क्यूटेक्सने लिया। नाकमें नथकी जगह पर बाज़ारू कांटोंने कब्जा किया। रोज काममें आने वाली जुल्फे बंगाल बहार, हेयर आइल, भूतनाथ तेल, कामिनिया बहार तेल, ठेठ लन्दनका बना कोकोनट हेयर आइल, जुल्फे बहार, लक्ससोप, पियर्स सोप, गोडरेज, हम्माम, सनलाइट सोप, हेयर क्रीम, हिमानी स्नो, हवाइट स्नो, पोण्ड्स क्रीम, कोल्ड क्रीम, वेसलीन, तरह तरहके सेन्ट, लवण्डर, गुलाबी पाउडर, टूथ पाउडर, ऐसी सैंकड़ों ही कमसे कम उपयोगी और अधिकसे अधिक खर्चीली चीजोंका स्टेशनके मालगोदामसे आने वाली गाड़ीमें जुते हुए बैलोंकी तरह भार ढोते ढोते घरके आदमियोंकी पीठ पर बल पड़ गये, पैरों फफोले हो गये और पाकिट पैसोंसे विद्वेष करने लगा, पर हमारी गृह देवियोंके द्वारा मौके-बेमौके, असमय, दिन और रात जब कभी भेंट हुई, पुरुषोंके साथ बरते जाने लगे—"देखिये न पाउडरका डिब्बा आज दो रोज़से खाली पड़ा है? और इस बार कोटेका एयर स्पन पाउडर लाइएगा, बड़ी तारीफ सुनी है उसकी।' 'अरे मुन्नू! जा वो तेरे बापूजी बाजार जा रहे हैं, उनसे कह, आते समय आज विलायती टूथ पाऊडर और क्रीम, स्नो, बिवेलिन हेयर आइल और कोई अच्छा सा विलायती सोप जरूर लेते आवें। पहले ही देशी तेल-साबुन लाकर रख दिया किसी कामका नहीं।' 'अजी सुना है बालोंके लिए विटेक्स और नाखूनोंके लिए क्यूटेक्स बड़ा अच्छा रहता है फिर वह जापानी हेयर क्रीम औ स्यूलनका जिवल्टन क्यों काममें लिया जाय।' 'देखिएजी पाटन वालेका अफगान स्नो इस्तेमाल करते करते मैं तो थक चुकी इस बार रातके लिए पाण्ड्सकोल्ड क्रीम और दिनमें लगानेके लिए पाण्ड्स वेनिशिंग क्रीम लाइगा।' इस बेढङ्गे रवैयेमें कमी होना तो दूर रहा किन्तु हमारे घरोंकी जड़ोंको खोखला करनेके लिए इसकी चक्रवृद्धि ब्याजकी तरह दिन दूनी और चौगुनी बढ़वारी हो रही है। समाजका भला चाहने वाले नेताओंने हमारे सामाजिक फिजूल खर्चों पर गला फाड़ फाड़कर ताला लगानेकी कोशिश की तो इधर हमारी शिक्षित देवियोंने अपने मेक अप करनेके खर्च को बेशुम्मार बढ़ा दिया जो उससे भी खतरनाक और बेकाबूका हो रहा है। यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो आजकी पढ़ी लिखी साधारणसे साधारण हैसियत वाली बहनका सिर्फ बालों और मुँहके मेकअप करनेके खर्चोंमें कमसे कम १०) १५) रु० माहवार तो तेल, साबुन, क्रीम आदि चीजोंमें ही पड़ जाता है।

इसके अतिरिक्त कपड़े लत्तोंका खर्च देखिए? साड़ियां? उफ? एक से एक बढ़कर नित नयी पहनने को चाहिएँ। आज एक साड़ी खरीदी गई और कल जो यदि उसके डिजायनका फैशन बदल गया तो उसमें रुपये जो खर्च हुए वे सब बेकार गये। हैसियतके अनुसार एक एक साड़ीमें १०) १५)२५) ३०) ५०) १००) और इससे भी अधिक रुपया खर्च होता है। आजकल आरजटकी साड़ियोंका ऐसा सिलसिला बंधा है कि हर एकके घरमें दस पांच साड़ियां खरीदी हो जाती हैं। इन साड़ियोंमें पैसा तो अधिक खर्च होता ही है साथ ही इन्हें पहन कर बहनें अपने खास आभूषण लज्जासे भी बेखबर हो जाती हैं। सलूके, पेटीकोट, जम्पर आदिमें रोज नयी नयी कांट छाँट चलती रहती हैं जिनमें कीमती कपड़ा और सजावटका सामान

तो खर्च होता ही है, साथमें दरजीको दुगुनी तिगुनी सिलाई और देनी पड़ती है, वरना वे तत्काल ही ईजाद हुए फैशनसे रहित रह जायें। हाथमें कमसे कम १)१।) रुपयेका एक रेशमी रुमाल चाहिए जो एक बार पसीने पोछनेमें पर डस्टरके काम लिया जाने लगे और कर कमलों की शोभाके लिए तुरन्त ही ताजा रुमालके लिये आर्डर जारी हो जाय। कपड़ों में भी खोज कर तरह तरहके विलायती सेन्ट उँडेल दिए जाते हैं, जिनकी कीमत भारी भारी होती है और उपयोग रंचमात्र नहीं इसके अलावा सर्दीमें काम आने वाले बढ़ियासे बढ़िया स्वेटर, गुलूबन्द, जुर्राब, दस्ताने आदिका ऐसा अनावश्यक खर्च बढ़ा है कि हर जाड़ेमें प्रति घर १००) ४०) रु० खर्च होता ही है। वास्तवमें देखा जाय तो महिलाओं ने जो इनका उपयोग करना शुरु किया वह सर्दीसे बचनेके लिए नहीं किन्तु केवल फैशनके लिए किया है। हाँ, यह खुशीकी बात है कि अब अधिकांश बहनें इन चीज़ोंको हाथसे बुन कर काममें लेने लगी हैं। इससे खर्च भी कम करना पड़ता है और चीज़ भी चलाऊ तैयार होती है।

हमारी नये युगकी बहनोंको खाने पीनेकी वस्तुओं में भी अनावश्यक खर्च करना पड़ता है और साथ ही जरूरी संयमका भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। सुबह उठे चायका एक कप जरूर चाहिए। नाश्ता करनेके लिए घरमें कौन चीज़ बना कर रक्खें। हाथमें बनाना तो सीखा ही कहाँ। फिर वही बाजारमें लिल्ली बिस्कुट ब्रिटेनिया बिस्कुटके डिब्बे मंगाये जाते हैं, जिनमें शुद्धता और संयमको तो लात मार दी ही जाती है किन्तु रुपया पैसा भी मिट्टीकी तरह बरतना पड़ता है। कोई मेहमान आया बाजारसे मिठाई मंगाली गयी। पैसे खर्च हुए तो पुरुषोंकी जेबसे और इनकी खुदकी रसोईमें धुआंधोरीसे बला हटी। कितना आराम रहा! बाजारू चाट, नमकीन मिठाई आदिमें पुरानी पद्धति वाली माताओंको इतनी नफरत है कि वे उनका नाम तक नहीं लेती किन्तु आजकल वाली बहनोंमें इनका शौक ऐसा बढ़ा है कि वे इनको बहुत ही अज़ीज़ समझ कर खाती हैं और धर्म तथा धन दोनों ही से हाथ धो बैठती हैं।

घरमें काम करनेको नौकर चाकर हैं और समाज सेवा, देश सेवा तथा साहित्य सेवासे लगन नहीं। आदमी सोये भी तो कितना सोये। ज्यादासे ज्यादा ७ घंटे रातमें और २ घंटे दिनमें समझ लीजिए। ३ घंटे भोजन करने आदिके और निकाल दीजिए। बचे हुए १२ घंटोंमें अब करे तो क्या करें? बस रेडियो और ग्रामोफोन! जो उन रसिक बहनोंको इश्क और ऐय्याशी के गन्दे गाने सुनाते रहें और उनके दिल और दिमाग को दूषित करते रहें। फिर ग्रामोफोनके रेकार्ड नित नये नये चाहिएं। एक रेकार्ड एक बार सुना और वह तबियतसे उतर गया। एक एक रेकार्ड होना भी चाहिए कमसे कम २॥) ३) का। वरना वह स्पष्ट आवाज़ नहीं दे। अगर महिने में १० रेकार्ड भी नये खरीद लिए जाते हो तो २५) ३०) रुपये माहवारका तो यहीं खर्च पल्ले बँध गया। दिन भर चक चक करने वाले रेडियोमें जो बिजली खर्च हुई वह तो शायद खयालमें आती ही नहीं है। और फिर दिन भर रेडियो और रेकार्डके निराकार गानोंको सुनकर भी तबियत ऊब उठी तो शामको सिनेमाकी सैर होती है। हैसियतके अनुसार १) २) रु० का टिकट खरीदा जाता है। साथमें रसिक सखी-सहेलियोंका होना भी आवश्यक होता है वरना अकेलेमें कोई दिलचस्पी नहीं। उनके टिकटोंका भार भी अपने ही ऊपर लेना होता है।

इस तरहके सैंकड़ों ही अनावश्यक और निरर्थक ख़र्च हैं, जो दिन पर दिन हमारी शिक्षित बहनोंमें बढ़ वानलकी तरह बढ़ रहे हैं। जिनको यदि रोका न गया तो वे सचमुच हमारे घरोंको जल्दी ही भस्मसात् कर देंगे। पुरुष रातदिन परिश्रम कर गर्मी, सर्दी, बरसात, धूप, भूख, प्यास, गुलामी आदिकी कठिन बाधाएँ सह कर बड़ी मुश्किलसे रुपया पैदा करें और हम बहनें आसानीके साथ हमारे क्षणिक आनन्दके लिए उसको ख़र्च करदें। यह हमारे लिए कितने भारी कलंक और शर्मकी बात है। अफ़सोस तो यह है कि हमारे देश में जो कुछ था वह तो पहले ही विदेशियोंने निकाल लिया किन्तु जो थोड़ा बहुत तन और पेटकी लाज रखने लायक इधर उधर चौमासेमें चमकने वाले आगियेकी तरह दिखाई दे रहा है वह भी हम इस तरह नष्ट भ्रष्ट कर हमारे देशकी सम्पत्तिका क्या कतई दिवाला निकाल बैठें, जो एक दिन ज़रूरी भोजन-वस्त्र मिलना भी दुर्लभ हो जाय? इस पर हमारी शिक्षित बहनोंको खूब ग़ौरके साथ विचार करना चाहिये और शीघ्र ही अपने अपने अनावश्यक तथा फैशनकी पूर्ति के लिये किये जाने वाले खर्चोंको घटाकर तथा बन्द करके अपनी, अपने समाजकी और अपने देशकी उन्नतिमें अग्रसर होना चाहिये। यही इस समय उनका मुख्य धर्म और ख़ास कर्तव्यकर्म है।

—❀—
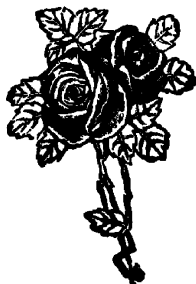
प्रथम स्वहित और बादमें परहित क्यों?

[लेखक—श्री दौलतराम 'मित्र']

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥

—पंचाध्यायी, २-८०४

अर्थात—धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देकर दूसरों पर अनुग्रह (उपकार) करना चाहिये। परन्तु आत्म व्रतको—आत्माके हितकी बातको—छोड़कर दूसरोंके रक्षणमें—उन्हींके हितसाधनमें—तत्पर नहीं रहना चाहिये।

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

—ग्रन्थान्तर-पंचा० २-८०५

अर्थात्—आत्महित (अपना हित) मुख्य कर्तव्य है। यदि सामर्थ्य हो तो परहित भी करना चाहिये। आत्महित और परहितका युगपत प्रसंग उपस्थित होने पर दोनोंमेंसे आत्महित श्रेष्ठ है, उसे ही प्रथम करना चाहिये।

यह एक आदेशरूप आगमका कथन है, अतएव इसमें, ऐसा क्यों करना चाहिये, इस 'क्यों'के संतोष-लायक खुलासा नहीं है। और इस 'क्यों'रूपी दरबानको संतोष कराए बिना यह किसी बातको भीतर—गले नीचे—उतरने नहीं देता। अतएव इस लेखमें इसी 'क्यों' का खुलासा करना है। खुलासा यह है कि—

आत्मप्रबोधविरहादविशुद्धबुद्धेर्
अन्यप्रबोधनविधि प्रति कोऽधिकारः ।
सामर्थ्यमस्ति तरितुं सरितो न यस्य
तस्य प्रतारणपरा परतारणोक्तिः ॥
कर्तुं यदीच्छसि परं प्रतिबोधकार्यं
आत्मानमुन्नमते ! प्रतिबोधय त्वं ।
चक्षुष्मतैव पुरमध्वनि याति नेतुम्
अन्धेन नान्ध इति युक्तिमती जनोक्तिः ॥

—आत्मप्रबोध ४-५

अर्थ (पद्यमें)—

'आत्म-बोधसे शून्य जनोंको नहि परबोधनका अधिकार
तरण कलासे रहित पुरुषका यथा तरण शिक्षण निःसार
जो अभीष्ट पर-बोधन तुमको तो आत्मन् ! हो निजज्ञानी
नेत्रवान अन्धेको खेता, नहि अन्धा, यह जग जानी"

इससे यह बात स्पष्ट होजाती है कि—किसीका प्रथम तिर जाना या ज्ञानी हो जाना यद्यपि स्वहित हुआ, तथापि वह है परहितके साधनरूप—उसमें सहायक; और ऐसा स्वहित-निरत व्यक्तिही परहित करनेमें समर्थ हो सकता है जो खुद ही रास्ता भला हो वह दूसरोंको रास्ते पर क्या लगा सकता है?

अब हित-अहित क्या हैं, और उनके कारण क्या हैं, इस पर विचार करें:—

यह तो सभी जानते हैं कि सुख 'हित' है और दुःख 'अहित' है*अतएव इनके कारण बतलाते हैं—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम् ।
वदतीति समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥"

—अमितगति योगसार १-१२ †

अर्थात्—जो परवश (पराधीन) होना है वह सब दुःख है, और जो स्ववश (स्वाधीन) होना है वह सब सुख है, यह सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है। और इसलिये आत्माके साथ कर्मका जो दृढ़ बन्धन है। जिसने आत्माको मूलतः पराधीन कर रक्खा है वह सब दुःखरूप है, और उस बन्धनसे जितना जितना छुटकारा मिलना (मुक्त होना) है वह सब सुखरूप है।

अब कर्मबन्ध होनेका कारण बतलाते हैं—

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥

—पंचा० २-७१७

अर्थात्—रागादिक‡ भावोंके होने पर अवश्य कर्मबन्ध होता है और उस कर्मबन्धके फलसे आत्माको दुःख होता है, इसलिए रागादिक भावोंसे अपने आत्माका घात होता है, यह बात सिद्ध है†।

आत्मेतराङ्गिणामंगरक्षणं यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतं नातः परत्र यत् ॥

—पंचा० २-७१६

अर्थात्—आत्मासे भिन्न दूसरे प्राणियोंके शरीरकी रक्षाका जो विधान स्मृतिशास्त्रमें है, वह केवल अपनी ही रक्षाके लिये है, इससे वस्तुतः दूसरोंकी रक्षाकी बात कुछ नहीं है।

भावार्थ—रागादिक भाव ही परहिंसा और और स्वहिंसा अथवा पर-अहित और स्व-अहित होनेके कारण हैं। और भी स्पष्ट कहा है—

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥

—पंचा० २-७५५

अर्थात्—रागादिक भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रतच्युति है। और रागादिक-त्याग ही अहिंसा है, धर्म है, व्रत है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

—पुरुषार्थसि० ४४

अर्थात्—रागादिक भावोंका उत्पन्न न होना ही निश्चितरूपसे अहिंसा है, और उन्हीं रागादिक भावोंकी जो उत्पत्ति है वह हिंसा है, ऐसा जिन-सिद्धान्तका संक्षिप्त रहस्य है।

सर्वतः सिद्धमेवैतद् व्रतं बाह्यं दयाऽङ्गिषु ।
व्रतमन्तःकषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥

—पंचा० २-७५३

*"दुःखोदर्कमिहाऽहितं सुखरसोदर्कं हितं तर्क्यताम्"।
—आत्मप्रबोध, ३२

† सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः ॥
—मनुस्मृति४-१६०

‡ राग-द्वेष दोनों साथी हैं, जैसा कि पचाध्यायीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥" २-५४१

†" परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बंध-मुक्खस्स ॥"
—मोक्खपाहुड १३

अर्थात्—यह बात सब प्रकारसे सिद्ध है कि प्राणियों पर दया करना 'बाह्यव्रत है' और कषायों का (रागादिकोंका) त्याग करना अंतर्व्रत है। तथा यही अन्तर्व्रत निजात्मापर दयाभाव कहलाता है।

इसी 'अन्तर्व्रत' को 'इंद्रिय निरोधसंयम' और 'बाह्यव्रत' का 'प्राणिरक्षणसंयम' भी कहते हैं। यथा—

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नाऽसंयमाय तत्।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥
त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥

—पंचा० २, ११२२-२३

अर्थात्—इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह असंयम नहीं करता है‡ किन्तु इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्ध होने पर उस पदार्थमें जो राग द्वेष परिणाम होते हैं वे ही असंयमको करने वाले हैं। उन राग-द्वेष रूप परिणामोंको रोकना ही 'इन्द्रिय-निरोध-संयम' है। तथा त्रस और स्थावर जीवोंको मारनेके लिये मन वचन कायकी कभी प्रवृत्ति नहीं करना ही 'प्राणि संरक्षण' संयम है।

एक खुलासा और है कि अहिंसाधर्म—व्रत—के पालक दो तरहके होते हैं। यथा —

तस्याभावोनिवृत्तिः स्याद् व्रतं चार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥

--पंचा०२-७५२

अर्थात्—उस सावद्ययोग (अन्तर्बाह्य हिंसक उपयोग) के अभाव होनेका नाम ही निवृत्ति कहलाती है, उसीका नाम व्रत है। यदि सावद्ययोग की निवृत्ति अंश (अणु) रूपसे है तो व्रत भी अंश (अणु) रूपमें है, और यदि सावद्ययोगकी निवृत्ति सर्वांश (महान्) रूपसे है तो व्रत भी सर्वांश (महान्) रूपमें है।

भावार्थ—व्रतके पालकजन दो प्रकारके हैं, अणुव्रतके पालक गृहस्थ हैं जिनकी 'उपासक' संज्ञा है, और महान् व्रतके पालक वनस्थ हैं जिनकी 'साधक-साधु'संज्ञा है। †

तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय, पाँच चारित्र, और बारह प्रकारके तप, ये अंतर्व्रत प्रधान या निवृत्ति प्रधान महाव्रतके अंग हैं।

औषधि, आहार, ज्ञानसाधन और अभय, इन

‡ दर्शन, ज्ञान और चारित्र 'बन्धके कारण नहीं, किंतु बंधका कारण राग है।

(देखो, पु० सि० श्लोक २१२ से २१४)

† गृहस्थके व्रतको 'अणुव्रत' कहनेसे यह नहीं समझना चाहिये कि—अणुव्रती गृहस्थको हिंसा स्वरूप पांच पाप अणुप्रमाण अंशमें करनेकी तो मनाई है और शेष अंशमें करनेकी छुट्टी है। ऐसा समझ लेने या प्रगट होनेसे तो हम दो तरहसे अपना अहित कर बैठेंगे। एक तो हम पंच पाप करनेमें अधिकांशमें प्रवृत्त हो जायेंगे, दूसरे राजन्यायालय हमारी ज़बानका एतबार नहीं करेगा, जिससे कि हमारा न मालूम कितने प्रसंगों पर अहित हो जाना संभव है। अतएव हमें पंच पापोंसे कमसे कम राज-कानूनकी मंशाके अनुसार तो बराबर (सर्वांशमें) बचना ही चाहिये। ऐसा करनेसे हम राज-कानून भंगका फल (दंड) भी नहीं पावेंगे और हमारी राजन्यायालयमें वचन-साख भी क़ायम रहेगी।

चार दानोंके द्वारा दूसरोंके प्राकृतिक या परजनकृत दुःख (कष्ट) दूर करना—इनकी सहायता करना—याने जीवोंकी दया पालना, तथा धर्म, अर्थ † और काम इस त्रिवर्गका अविरोधरूपसे सेवन करना बाह्य व्रत-प्रधान या प्रवृत्ति-प्रधान अणुधर्मके अंग हैं।

ये महान् और अणु यों हैं कि—जहाँ अन्तर्व्रत-प्रधान या निवृत्ति प्रधान धर्मका अनुष्ठाता साधु (वनस्थ) अपनी ओरसे किसीको दुःख (कष्ट) नहीं पहुँचा करके—किसीके प्रति सर्वांशसे अप्रशस्त और अधिकांशमें प्रशस्त रागद्वेष नहीं करके--अपना और दूसरोंका हित संपादन करता है, वहाँ बाह्य व्रतप्रधान या प्रवृत्ति-प्रधान धर्मका अनुष्ठाता उपासक (गृहस्थ) दूसरोंके प्रति अधिकांशमें प्रशस्त रागद्वेष करके अपना और दूसरोंका हित-अहित दोनों संपादन करता है।

उदाहरण लीजिये—

(१) मनुष्यसमाजके विषयमें उदाहरण—

धर्म (पारलौकिकधर्म=सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र-वीतरागता), अर्थ और कामका अविरोध रूपसे सेवन करने वाले गृहस्थका जीवन ऐसे अनेक जटिल प्रसंगोंका—समस्याओंका—समुदाय है,जिनमें प्रशस्त राग-द्वेष किए बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता है।

मित्रोंका प्राप्त करना और उनकी वृद्धि करना भी अर्थपुरुषार्थमें गर्भित है। अब जरा सोचिये तो, क्या यह पुरुषार्थ यूँही—सहज ही –सिद्ध हो जाता है ?–इसके लिये लौकिक धर्म (लोकसमर्थित राजधर्म—राजनियम) का पालन करना पड़ता है तब कहीं जाकर यह सिद्ध होता है।

गृहस्थके ऊपर इधर तो लौकिकधर्म पालनकी जिम्मेदारी और उधर पारलौकिकधर्म पालनकी जिम्मेदारी है। जैसा कि कहा है—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

—यशस्तिलक

सर्व एव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सतां।
यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खंडनं ॥

—रत्नमाला ६५

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥

—यशस्तिलक

भावार्थ—गृहस्थसे लौकिक या राजनियम ऐसे स्वीकार कराना अथवा ऐसा राजशासन स्थापित कराना कि जो धर्मको दूषण लगाने वाला न हो।

कितनी जटिल समस्याएँ हैं ! यही कारण है कि अणुधर्म पालक गृहस्थके लिए एक ऐसा जीवन-मार्ग निश्चित किया गया है कि जिस पर चलनेसे वह दोनों जिम्मेदारियोंके विरोधरूपी खतरेसे बच जाता है। वह मार्ग है, शिष्ट (लोक या राजनियम पालक) जनोंका अनुग्रह करना और दुष्ट (बद-नियती लोक या राज-नियम-तोड़क)जनोंका निग्रह करना, चाहे वे कोई हों, बस इसीका नाम है प्रशस्त राग-द्वेष।

---

†"विद्या-भूमि हिरण्य-पशु-धान्य-भांडोपस्कर-मित्रादीनामर्जनमर्जितस्य विवर्धनमर्थः।"

(वात्स्यायन, कामसूत्र २-६)

"यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः।"

—सोमदेव-नीतिवाक्यामृत २

साधुजन लौकिक जिम्मेदारीसे रहित हैं, अत एव उनके लिए शत्रु-मित्र दोनों बराबर हैं, उन्हें किसीसे राग-द्वेष नहीं है।

(२) पशु-समाजके विषयमें उदाहरण—

एक चूहे पर बिल्ली झपटी, गृहस्थने बिल्लीको अघातक मार मारकर चूहेको छुड़ाया, गृहस्थकी यह प्रवृत्ति चूहेके प्रति अधिकांशमें प्रशस्तराग और बिल्लीके प्रति प्रशस्त द्वेषरूप हुई। इसी प्रकार एक कुत्ता बिल्लीके ऊपर झपटा, गृहस्थने बिल्लीको छुड़ाया, गृहस्थकी यह प्रवृत्ति बिल्लीके प्रति अधिकांशमें प्रशस्तराग और कुत्तेके प्रति प्रशस्तद्वेष रूप हुई।

यहां पर अगर पूछो कि साधुजन दानके द्वारा सहायता तो नहीं कर सकते, सो तो ठीक; परन्तु क्या उनमें अनुकम्पा-वृत्ति भी नहीं है?—तो उत्तर यह है कि उनमें अनुकम्पावृत्ति जरूर है, परन्तु उनकी वृत्ति सर्वांशमें अप्रशस्त और अधिकांशमें प्रशस्त राग-द्वेषरहित, अंतर्मुखी होनेसे वह ऐसे समयमें दुःखी—कष्टी—जीवोंकी दशा पर अनुकम्पापूर्वक "वस्तुस्वरूप-विचार" की ओर झुक जाती है।

इस प्रकार यहाँ आकर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो परहित (दूसरोंके साथ प्रशस्त रागादिक नहीं करना) है, उसमें स्वहित समाया हुआ है, और वह स्वयं प्रथम हो जाता है।

आगममें यहाँ तक बतलाया है कि जो मनुष्य पूर्वभवमें दर्शनविशुद्धि, मार्गप्रभावना, प्रवचन-वत्सलत्व आदि सोलह भावना भाता है—यह भाता है कि कब मेरे रत्नत्रयकी (सम्यग्दर्शन, स० ज्ञान, स०चारित्रकी) शुद्धि हो और कब मैं शुद्धिका मार्ग (मोक्षका मार्ग) सम्पूर्ण भव्य (मुक्त होने योग्य) जीवोंको बतलाऊं—वही मनुष्य अगले जन्ममें तीर्थंकर होकर साधु अवस्था धारण करके फलस्वरूप वीतराग (निष्पक्ष) सर्वज्ञ, और हितोपदेशक होता है।

अब समझमें आ जाना चाहिये कि जिन्होंने स्वहित प्राप्त किया है, अथवा जिन्होंने वीतरागतापूर्वक हितको देख-जान लिया है और अनुभव कर लिया है, वे ही 'हितोपदेशक' होनेके पूर्ण अधिकारी हैं।

अतएव ऐसा नहीं समझा जाय कि जैनागममें परहितका स्थान गौण और जैनागमोक्त साधु-चरित्र निम्न कोटिका है। बल्कि यह स्पष्ट कहा गया है कि—

"साधारणा रिपौ मित्रे साधकाः स्वपरार्थयोः।
साधुवादास्पदीभूताः साकारे साधकाः स्मृताः॥"

—आत्मप्रबोध, ११२

अर्थात्—जो शत्रु-मित्रमें समान है—मित्रोंमें राग और शत्रुओंसे द्वेष नहीं करते—अपने और परके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाले हैं, और साधुवादके स्थान हैं—सब लोग जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे 'सा' अक्षरके वाच्यरूप 'साधक' अथवा 'साधु' हैं।

सर गुरूदास बनर्जीने अपने "ज्ञान और कर्म" नामक ग्रन्थमें स्वार्थ (स्वहित) और परार्थ (परहित) की व्याख्या करते हुए बहुत कुछ लिखा है, जिसका सारांश यह है कि—हमारा स्वार्थ परार्थ-विरोधी नहीं, बल्कि परार्थके साथ सम्पूर्ण रूपसे मिला हुआ है। खुद स्वार्थसिद्ध किए बिना हम परार्थ सिद्ध नहीं कर सकते। मैं अगर खुद असुखी हूँगा तो मेरे द्वारा दूसरोंका सुखी होना कभी सम्भव नहीं।

आशा है, इतने विवेचनसे उक्त 'क्यों' रूप शंकाका कुछ समाधान होगा।

† लोक या राजनियम तोड़नेवाले अपने पुत्रोंतकको प्राण दण्ड-जैसा निग्रह करनेके अनेक उदाहरण पुराणों में पाये जाते हैं।

सम्पादकीय

१ आभार और धन्यवाद

'अनेकान्त' एक वर्ष चल कर घाटेके कारण बन्द हो गया था और कुछ वर्ष तक बन्द रहा था, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। सन १९३८ में जब ला० तनसुखरायजी न्यू देहली, वीरशासन जयन्तीके शुभअवसर पर सभापतिकी हैसियतसे वीरसेवा-मन्दिरमे सरसावा तशरीफ लाए और आपके साथ उत्साही नवयुवक भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय भी पधारे, तब आप दोनों ही सज्जनोंने वीरसेवा-मन्दिरके कार्योंको देखकर 'अनेकान्त' के पुन: प्रकाशनकी आवश्यकताको महसूस किया, लालाजीने पत्रके घाटेकी जिम्मेदारीको अपने ऊपर लिया और गोयलीयजीने पूर्ववत् प्रकाशकके भारको अपने ऊपर लेकर प्रकाशन तथा व्यवस्था-सम्बन्धी चिन्ताओंका मार्ग साफ कर दिया, और इस तरह मुझे फिरसे 'अनेकान्त' को निकालनेके लिये प्रोत्साहित किया। तदनुसार दो वर्षसे यह पत्र बराबर ला० तनसुखरायजीके संचालकत्व और भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीयके व्यवस्थापकत्वमें आनन्दके साथ प्रकाशित होता आ रहा है। दो वर्ष के भीतर पत्रको जो घाटा रहा वह सब लालाजीने उठाया और गोयलीयजीको अपने आफिसवर्कके अतिरिक्त ओवरटाइममें प्रेस तथा प्रूफादिकी व्यवस्थादि-विषयक जो दिन रात भारी परिश्रम उठाना पड़ा उसे आपने खुशीसे उठाया। इस तरह आप दोनों सज्जनोंकी बदौलत 'अनेकान्त' को दो वर्षका नया जीवन प्राप्त हुआ, इसके लिये मैं आप दोनों सज्जनोंका बहुत आभारी हूँ और आपको हार्दिक धन्यवाद भेंट करता हूँ। आपके इस निमित्त को पाकर कितनोंको लेख लिखनेकी प्रेरणा हुई, कितने नये लेख लिखे गये, कितनी नई खोजें हुई, कितनी विचार-जागृति उत्पन्न हुई, कितने ठोस साहित्यका निर्माण हुआ और उससे समाजको क्या कुछ लाभ पहुँचा, उस सबको बतलानेकी जरूरत नहीं, यहाँ संक्षेपमें इतना ही कहना है कि उस सबका मुख्य श्रेय आप दोनों सज्जनोंको है—जो अच्छे कामोंका निमित्त जोड़ते हैं वे ही प्रधानतया श्रेयके भागी होते हैं—और इसलिये आप समाजकी ओरसे भी विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

यहाँ पर मैं उन उदार परोपकारी सज्जनोंका आभार प्रदर्शित किये बिना भी नहीं रह सकता जिन्होंने अपनी ओरसे अजैन संस्थाओं—स्कूलों, कालिजों तथा पब्लिक लायब्रेरियों आदिको 'अनेकान्त' फ्री (विना मूल्य) भिजवाया है, और इस तरह अनेकान्त-साहित्यको दूसरों तक पहुँचा कर उसके प्रचारमें सहायता पहुँचाई है, इतना ही नहीं बल्कि 'अनेकान्त' के घाटेकी रकमको कम करनेमें सहयोग देकर उसके संचालकादिके उत्साहको बढ़ानेमें भी मदद की है। अस्तु; इस पुण्य कार्यमें सबसे अधिक सहयोग श्रीमान दानवीर रा० ब० सेठ हीरालालजी इन्दौरने प्रदान किया है—आपने ५००) रु० की रकम देकर १५० अजैन संस्थाओं को एक वर्ष और १०० जैन मन्दिरों-पुस्तकालयों को छह महीने तक 'अनेकान्त' भिजवानेकी उदारता दिखलाई है। शेष सज्जनोंमेंसे चार नाम यहाँ और भी खास तौरसे उल्लेखनीय हैं—(१) ला० छुट्टनलालजी मैदे वाले देहली, जिन्होंने सबसे पहले ५१) रुपये देकर इस परोपकार एवं सत्सहयोगके कार्यमें पेश क़दमी की, (२) श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी भेलसा ने १०१) रु० (३) जैन नवयुवक सभा जबलपुर, ने ३०) रु० (४) सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या इन्दौरने२५) रु० देकर संस्थाओंको पत्र फ्री भिजवाये।

इस अवसर पर मैं अपने उन लेखक महानुभावोंको कभी नहीं भूल सकता, जिन्होंने समय समय पर अपने महत्वके लेखों द्वारा मेरी, अनेकान्तकी और समाजकी सेवा की है। आपके सहयोगके विना मैं कुछ भी नहीं कर सकता था। 'अनेकान्त' को इतना उन्नत, उपादेय तथा स्पृहणीय बनाना यह सब आपके ही परिश्रमका फल है।

और इसलिये मैं आपका सबसे अधिक आभार मानता हूँ। इन सज्जनोंमें बा० सूरजभानजी वकील पं नाथूरामजी 'प्रेमी', बा० जयभगवानजी वकील, पं० परमानन्दजी शास्त्री, न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी, बा० अगरचन्दजी नाहटा, पं०रतनलालजी संघवी, भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, पं० भगवत्स्वरूपजी 'भगवत्', व्याकरणाचार्य पं० वंशीधरजी, बा० माईदियालजी बी. ए., प्रो० जगदीशचन्द्रजी एम. ए., प० कैलाशचन्दजी शास्त्री पं०ताराचन्दजी दर्शनशास्त्री और भाई बालमुकन्दजी पाटोदीके नाम खास तौरसे उल्लेख योग्य हैं। आशा है ये सब सज्जन आगेको इससे भी अधिक उत्साहके साथ 'अनेकान्त' की सेवामें तत्पर होंगे, और दूसरे सुलेखक भी आपका अनुकरण करेंगे।

२ अनेकान्तका आगामी प्रकाशन

'अनेकान्त' को गत ११ वीं किरणमें व्यवस्थापक अनेकान्तने जो सूचना निकाली थी उसके अनुसार इस किरणके बादमें अनेकान्तका देहलीसे प्रकाशन बन्द हो रहा है। अतः इस पत्रके आगामी प्रकाशनकी एक बड़ी समस्या सामने है। व्यवस्थापकजीकी सूचनाको पढ़कर मेरे पास पं० मुन्नालालजी जैन वैद्य मलकापुर (बरार) का एक पत्र आया है, जिसमें उन्होंने 'अनेकांत' के संचालन और उसके घाटेके भारको उठानेकेलिये अपनेको पेश किया है और लिखा है कि स्वीकारता मिलने पर वे अपने श्रीमहावीर प्रिंटिंग प्रेसमें अनेकान्तके योग्य नये टाइपों आदिकी व्यवस्था कर देंगे और पत्रको सुन्दरता तथा शुद्धताके साथ छापकर प्रकाशित करनेका पूरा प्रयत्न करेंगे। इस प्रशंसनीय उत्साहके लिये आप निःसन्देह धन्यवादके पात्र हैं। अस्तु, अभी आपस पत्रव्यवहार चल रहा है, कुछ समस्याएँ हल होनेको बाकी हैं, जैसा कुछ अन्तिम निर्णय होगा उसकी सूचना निकाली जायगी।

३ मेरी आन्तरिक इच्छा

मेरी आन्तरिक इच्छा तो यह है कि 'अनेकान्त' के घाटेका भार समाजके किसी एक व्यक्ति पर न रक्खा जाय, बल्कि समाजके कुछ उदार सज्जन उसे मिल कर उठा लेवें, अथवा इसके संचालनके लिये समाजका एक सुव्यवस्थित बोर्ड नियत हो जावे, जिससे यह पत्र सर्वथा परमुखापेक्षी न रहे—किसीकी किसी भी कारणवश सहायताके बन्द हो जाने पर इसका जीवन खतरेमें न पड़ जाय और इसे अपना जीवन संकट टालनेके लिये इधर-उधर भटकना न पड़े इसे स्वावलम्बी बनने तथा घाटेसे मुक्त रहनेका पूरा प्रयत्न किया जाय और इसे क्रमशः 'कल्याण' की कोटिका पत्र बनाया जाय। साथ ही, इसका प्रकाशन भी सम्पादनकी तरह वीरसेवामन्दिर सरसावासे ही बराबर होता रहे, जो इसके लिये उपयुक्त तथा गौरवका स्थान है। समाजको माली हालत,धर्म कार्योंमें उसके व्यय और उसके श्रीमानोंकी उदार परिणतिको देखते हुए यह सब उसके लिये कुछ भी नहीं है। सिर्फ थोड़ासा योग इस तरफ देने-दिलानेकी जरूरत है, जिसके लिये अनेकान्तके प्रेमियोंको खासतौरसे प्रयत्न करना चाहिये। मेरा रायमें बोर्ड जैसी किसी बड़ी स्कीमसे पहले अनेकान्तके कुछ सहायक बनाए जावें और उनके १००), ५०) तथा २५) के तीन ग्रेड रक्खे जाएँ। कमसे कम १५ सज्जन सौसौकी २० सज्जन पचास पचासकी और २० सज्जन पच्चीस पच्चीस रुपएकी सहायता करने वाले यदि मिल जाएँ तो अनेकान्त कुछ वर्षोंके लिए घाटेकी चिन्तासे मुक्त हो सकता है और इस अर्सेमें वह फिर अपने पैरों पर भी आप खड़ा हो सकता है। यदिइस किरणके प्रकाशित होनेसे १५दिनके भीतर १५ नवम्बर तक मुझे ऐसे सहायकोंकी ओरसे एक हजार रुपयेकी सहायताके वचन भी मिल गये तो मैं वीरसेवामन्दिर से ही अनेकान्तके चौथे वर्षका प्रकाशन शुरु कर दूँगा। आशा है अनेकान्त के प्रेमी इस विषयकी महत्ताका अनुभव करते हुए शीघ्र ही इस ओर योग देने-दिलानेमें पेशकदमी करेंगें और मुझे अपनी सहायताके वचनसे शीघ्र ही सूचित करनेकी कृपा करेंगे।

—*—

पंडितप्रवर आशाधर

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(गत किरणसे आगे)

७-भट्टारक विनयचन्द्र—इष्टोपदेशकी टीकाके अनुसार ये सागरचन्द्र मुनीन्द्रके शिष्य थे और इन्हें पण्डितजीने धर्मशास्त्रका अध्ययन कराया था। इन्हींके कहनेसे उन्होंने इष्टोपदेशकी टीका बनाई थी।

८-महाकवि मदनोपाध्याय—हमारा अनुमान है कि ये विन्ध्यवर्माके संधिविग्रहिक मंत्री बिल्हण कवीशके ही पुत्र होंगे।❀ 'बाल-सरस्वती' नामसे ये प्रख्यात थे और मालवनरेश अर्जुनवर्माके गुरु थे। अर्जुनवर्माने अपनी अमरुशतककी संजीविनी टीकामें जगह जगह 'यदुक्तमुपाध्यायेन बाल-सरस्वत्या-परनाम्नामदनेन' लिखकर इनके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। उनसे मालूम होता है कि मदनका कोई अलंकार-विषयक ग्रन्थ था। महाकवि मदनकी पारिजातमंजरी नामकी एक नाटिकाथी,जिसके दो अंक धारकी 'कमाल मौला' मसजिदके पत्थरों पर खुदे हुए मिले हैं। अनुमान किया जाता है कि शेष अंकोंके पत्थर भी उक्त मसजिदमें कहीं लगे होंगे। पहले यह नाटिका महाराजा भोजदेवद्वारा स्थापित शारदा-सदन नामक पाठशालामें उत्कीर्ण करके रक्खी गई थी और वहीं खेली गई थी। अर्जुन-वर्मदेवके जो तीन दान-पत्र मिले हैं, वे इन्हीं मदनोपाध्यायके रचे हुए हैं। उनके अन्तमें लिखा है—"रचितमिदं राजगुरुणा मदनेन।' मदन गौड़ ब्राह्मण थे। पण्डित आशाधरजीने इन्हें काव्य-शास्त्र पढ़ाया था।

९-पंडित आजाक—इनकी प्रेरणासे पण्डितजीने प्रति दिनके स्वाध्यायके लिए त्रिषष्टिस्मृति-शास्त्रकी रचनाकी थी। इनके विषयमें और कुछ नहीं मालूम हुआ।

१०-हरदेव—ये खण्डेवाल श्रावक थे और अल्हण-सुत पापा साहुके दो पुत्रों बहुदेव और पद्मसिंहमेंसे बहुदेवके पुत्र थे। उदयदेव और स्तम्भदेव इनके छोटे भाई थे। इन्हींकी विज्ञप्तिसे पंडितजीने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचंद्रिका टीका लिखी थी।

११ महीचन्द्र साहु—ये पौरपाट वंशके अर्थात परवार जातिके समुद्धर श्रेष्ठीके लड़के थे ❀। इनकी प्रेरणासे सागारधर्मामृतकी टीकाकी रचना हुई थी और इन्हींने उसकी पहली प्रति लिखी थी।

१२ धनचन्द्र—इनका और कोई परिचय नहीं दिया है। सागार-धर्मटीकाकी रचनाके लिये इन्होंने भी उपरोध किया था।

❀ देखिये आगे प्रशस्तिके ६-७ वें पद्यकी व्याख्या।

❀ पौरपाट और परवार एक ही हैं, इसके लिए देखिए मेरा लिखा हुआ 'परवार जातिके इतिहास पर प्रकाश' शीर्षक विस्तृत लेख, जो 'परवारबन्धु' और 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुआ है।

१३ केल्हण--ये खण्डेलवालवंशके थे और इन्होंने जिन भगवानकी अनेक प्रतिष्ठायें कराके प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। सूक्तियोंके अनुरागसे अर्थात् सुन्दर कवित्वपूर्ण रचना होनेके कारण इन्होंने 'जिनयज्ञ-कल्प'का प्रचार किया था। यज्ञकल्पकी पहली प्रति भी इन्हींने लिखी थी।

१४ वीनाक--ये भी खण्डेवाल थे। इनके पिता का नाम महण और माताका कमलश्री था। इन्होंने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी सबसे पहली प्रति लिखी थी।

कविअर्हद्दास—मुनिसुव्रतकाव्य, पुरुदेवचम्पू और भव्यजनकंठाभरणके कर्ता हैं। पं० जिनदास शास्त्रीके खयालसे ये भी पण्डित आशाधरके शिष्य थे। परन्तु इसके प्रमाणमें उन्होंने जो उक्त ग्रन्थोंके पद्य उद्धृत किये हैं-उनसे इतना ही मालूम होता है कि आशाधरकी सूक्तियोंसे और ग्रन्थोंसे उनकी दृष्टि निर्मल हो गई थी। वे उनके साक्षात् शिष्य थे, या उनके सहवासमें रहे थे, यह प्रकट नहीं होता। पण्डित आशाधरजीने भी उनका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अब उन पद्योंपर विचार कीजिए। देखिए मुनिसुव्रत काव्यके अन्तमें कहा है—

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम्
त्यक्त्वा श्रांततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम्।
सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचः क्षीरोदधेरादरात्,
पायं पायमितः श्रमः सुखपथं दासो भवाम्यर्हतः ॥६४॥

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदंजनसंयोगै-
रच्छीकृतेपृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥ ६५ ॥

अर्थात्—कुमार्गोंसे भरे हुए संसाररूपी वनमें जो एक श्रेष्ठ मार्ग था, उसे छोड़कर मैं बहुत काल तक भटकता रहा, अन्तमें बहुत थक कर किसी तरह काललब्धिवश उसे फिर पाया। सो अब जिनवचनरूप क्षीरसागरसे उद्धृत किये हुए धर्मामृत (आशाधरके धर्मामृतशास्त्र?) को सन्तोषपूर्वक पी पीकर और विगतश्रम होकर मैं अर्हद्भगवानका दास होता हूँ॥ ६४॥

मिथ्यात्व-कर्म-पटलसे बहुत काल तक ढँकी हुई मेरी दोनों आँखें जो कुमार्गमें ही जाती थीं, आशाधरकी उक्तियोंके विशिष्ट अंजनसे स्वच्छ हो गईं और इसलिए अब मैं सत्पथका आश्रय लेता हूँ॥ ६५॥

इसी तरह पुरुदेवचम्पूके अन्तमें आँखोंके बदले अपने मनके लिए कहा है—

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन्
आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने।

अर्थात्—मिथ्यात्वकी कीचड़मे गँदले हुए मेरे इस मानसमें जो कि अब आशाधरकी सूक्तियोंकी निर्मलीके प्रयोगसे प्रसन्न या स्वच्छ हो गया है।

भव्यकण्ठाभरणमें भी आशाधरसूरिकी इसी तरह प्रशंसा की है कि उनकी सूक्तियाँ भवभीरु गृहस्थों और मुनियोंके लिए सहायक हैं।

इन पद्योंमें स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थोंका ही संकेत है जिनके द्वारा अर्हद्दासजीको सन्मार्गकी प्राप्ति हुई थी, गुरु-शिष्यत्वका नहीं।

हाँ, चतुर्विंशति-प्रबन्धकी कथाको पढ़नेके बाद हमारा यह कल्पना करनेको जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही तो कुमार्गमें ठोकरें खाते खाते अन्तमें आशाधरकी सूक्तियोंसे अर्हद्दास न बन गये हों। पूर्वोक्त ग्रन्थमें जो भाव व्यक्त किये

गये हैं, उनसे इस कल्पनाको बहुत कुछ पुष्टि मिलती है। और फिर यह अर्हद्दास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम होता है। सम्भव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो। यह नाम तो एक तरहकी भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी नोट करने लायक है कि अर्हद्दासजीके ग्रन्थोंका प्रचार प्रायः कर्णाटक प्रान्तमें ही रहा है जहाँ कि वे चतुर्विंशतिप्रबन्धकी कथाके अनुसार सुमार्गसे पतित होकर रहने लगे थे। सत्पथपर पुनः लौटने पर उनका वहीं रह जाना सम्भव भी जंचता है।

इतना सब लिख चुकनेके बाद अब हम पं० आशाधरजीके अन्तिम ग्रन्थ अनगारधर्मामृत टीकाकी अन्त्य प्रशस्ति उद्धृत करके उसका भावार्थ भी लिख देते हैं जिसके आधार पर पूर्वोक्त सब बातें कही गई हैं। यह उनकी मुख्य प्रशस्ति है, अन्य ग्रंथोंकी प्रशस्तियाँ इसीमें कुछ पद्य कम ज्यादा करके बनी हैं। उन न्यूनाधिक पद्योंको भी हमने टिप्पणीमें दे दिया है और आगे चलकर उनका भी अभिप्राय लिख दिया है।

मुख्य प्रशस्ति

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥१॥

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत्।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥२॥

"व्याघ्रेरवालवंशसरोजहंसःकाव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो
विजयतां कलिकालिदासः" ॥ ३ ॥

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या।
"प्रज्ञापुंजोऽसी" ति च योऽभिहितो
मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥†

म्लेच्छेशेन‡ सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥५॥

"आशाधरत्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्य।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः" ॥६॥

इत्युपश्लोकितो विद्वद्बिल्हणेन कवीशिना।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्,
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।

† मूलाराधना-टीका (शोलापुर) जिस प्रति परसे प्रकाशित हुई है, उसमें प्रशस्तिके ये चार ही पद्य मिले हैं और सम्पादक प० जिनदास शास्त्रीने प्रशस्तिको अपूर्ण लिखा है। शायद आगेका पत्र गायब है।

त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी प्रशस्तिमें प्रारम्भके दो पद्यों के बाद 'व्याघ्रेरवाल' आदि पद्य न होकर 'म्लेच्छेशेन' आदि पाँचवाँ पद्य है। उसके बाद 'श्रीमदर्जुनभूपाल' आदि आठवाँ और फिर 'योद्राग्व्याकरणाब्धि' आदि नवाँ पद्य दिया है।

‡ म्लेच्छेशेन साहिबुदीनतुरुष्कराजेन।—भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका।

येषः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः ।
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥९॥*
स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥१०॥
सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं,
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं,
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥११॥†

राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
व्यधत्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥१२॥
आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥
यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् ।
व्यधत्तामरकोषे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १४ ॥
रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालङ्कारस्य निबन्धनम् ।
सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १५॥
सनिबन्धं यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालंकृतं व्यधात् ॥ १६ ॥
योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम् ।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १७ ॥
रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यः ॥१८॥*

---

* त्रिषष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिमें इस पद्यका नम्बर पाँच है। उसके आगे नीचे लिखे पद्य हैं—

धर्मामृतादिशास्त्राणि कुशाग्रीयधियामिव ।
यः सिद्ध्यंक महाकाव्य रसिकानां मुदेऽसृजत् ॥ ६ ॥
सोऽहमाशाधरः कण्ठमलकर्तुं सधर्मिणाम् ।
पञ्जिकालंकृतं ग्रंथमिम पुण्यमरीरचम् ॥ ७ ॥
क्वार्षमब्धिः क्व मद्धीस्तैस्तथाप्येतच्छ्रुतं मया ।
पुण्यैः सद्भ्यः कथारत्नान्युद्धृत्य ग्रथितान्यतः ॥८
संक्षिप्यतां पुराणानि नित्यस्वाध्यायसिद्धये ।
इति पण्डितजाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ॥ ९ ॥
यच्छद्मस्थतया किञ्चिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
तत्संशोध्य पठन्त्वेनं जिनशासनभाक्तिकाः ॥ १० ॥
महापुराणान्तस्तत्त्वसंग्रहं पठतामिमं ।
त्रिषष्टिस्मृतिनामानं दृष्टिदेवी प्रसीदतु ॥ ११ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसिस्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ १२ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
ग्रंथोऽयं द्विनवद्व्येकविक्रमार्कसमात्यये ॥ १३ ॥
खाण्डिल्यवंशे महणकमलश्रीसुतः सुदृक् ।
धीनाको वर्धतां येन लिखितास्याद्यपुस्तिका ॥ १४ ॥

† इसके आगेके 'राजीमती' और 'आदेशात्' आदि दो पद्य सागारधर्मामृत और जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तियोंमें नहीं है।

* इस पद्यके आगे जिमयज्ञकल्पमें नीचे लिखे पद्य दिये हैं—

प्राच्यानि संचर्च्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रं ।
आम्नायविच्छेदतमश्छिदेयं ग्रंथः कृतस्तेन युगानुरूपः ॥१८
खाण्डिल्यान्वयभूषणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो,
वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपक्रियाम् ।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणीः,
पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १९ ॥
विक्रमवर्षसपंचाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु,
आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य ।
श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये,
नलकच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोय नेमिनाथचैत्यगृहे ॥ २० ॥
अनेकार्हत्प्रतिष्ठाप्तप्रतिष्ठैः केल्हणादिभिः ।
सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वायं प्रचारितः ॥ २१ ॥
नन्यात्खाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः ।
लिखितो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २२ ॥

आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥ १९ ॥†
सोऽहमाशाधरोऽकार्षं टीकामेतां मुनिप्रियाम् ।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ॥ २० ॥‡
शब्दे चार्थे च यत्किंचिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
छद्मस्थभावात् संशोध्य सूरयस्तत् पठन्त्विमाम् ॥२१
नलकच्छपुरे पौरपौरस्त्यः परमार्हतः ।
जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायणः ॥ २२ ॥
खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान् ।
साधुः पापाभिधः श्रीमानासीत्पापपराङ्मुखः ॥२३॥
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभरक्षमः ।
द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ॥२४ ॥
बहुदेवात्मजाश्चासन् हरदेवः स्फुरद्गुणः ।
उदयी स्तम्भदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकाहताः ॥ २५ ॥
मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥
तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
सुदुर्बोधस्य टीकायै प्रसादः क्रियतामिति ॥ २७ ॥
हरदेवेन विज्ञप्तो धनचन्द्रोपरोधतः ।
पंडिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
विद्वद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
द्विष्टाप्याकल्पमेषास्तां चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ॥२९॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्नाऽवन्तीनऽवत्यलम् ॥३० ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥ *

मुख्य प्रशस्तिका भावार्थ

शाकंभरीभूषण सपादलक्ष † देशमें लक्ष्मीसे भरा पूरा मण्डलकर ‡ नामका किला था। वहां

† यह पद्य सागारधर्मामृत-टीकामें और जिनयज्ञ-कल्पमें ११ नम्बरके बाद दिया है।

‡ इसके बदले सागारधर्मामृत-टीकामें नीचे लिखा हुआ पद्य है।

सोऽहमाशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम् ।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १८ ॥

* इसके स्थान पर सागारधर्मामृतमें निम्न श्लोक हैं—

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेयं भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥
षण्णवद्व्येकसंख्यानविक्रमांकसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेयं नंदताच्चिरम् ॥ २१ ॥
श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय-
व्योमेन्दुःसुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात् ।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य च लेखितोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥२२

इष्टोपदेश-टीकाकी प्रशस्तिमें नीचे लिखे तीन पद्य हैं—

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना ।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥ २ ॥
उपशम इव मूर्त्तः सागरेन्दुमुनीन्द्रा-
दजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः ।
जगदमृतसगर्भाशास्त्रसन्दर्भगर्भः
शुचिचरित वरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः ॥
जयन्ति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनांह्रयः ।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥

†-‡ सपादलक्षको भाषामें सवालख कहते हैं। नागौर (जोधपुर) के आसपासका प्रदेश सवालख नामसे प्रसिद्ध है। वहां पहले चौहान राजाओंका राज्य था। फिर सांभर और अजमेरके चौहान राजाओंका सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा, और उसके सम्बन्धसे

बघेरवाल वंशमें श्री सल्लक्षण नामक पिता और श्रीरत्नी मातासे जैनधर्ममें श्रद्धा रखने वाले पण्डित आशाधरका जन्म हुआ । १

अपने आपको जिस तरह सरस्वती(वाग्देवता) में प्रकट किया उमी तरह जिसने अपनी पत्नी सरस्वतीमें छाहड नामक गुणी पुत्रको जन्म दिया, जिसने मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवको प्रसन्न किया । २

कवियोंके सुहृद् उदयसेन मुनिद्वारा जो प्रीति-पूर्वक इन शब्दोंद्वारा अभिनन्दित किया गया— बघेरवाल वंश-सरोवरका हंस, मल्लक्षणका पुत्र, काव्यामृतके पानसे तृप्त, नय-विश्वचक्षु, और कलिकालिदास पण्डित आशाधरकी जय हो ।" और मदनकीर्ति यतिपतिने जिसे 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिहित किया । ३-४

म्लेच्छ नरेशके द्वारा* सपादलक्ष देशके व्याप्त होजाने पर सदाचार-नाशके डरसे जो बहुतसे परिजनों या परिवारके लोगोंके साथ बिन्ध्यवर्मा राजाके ‡ मालव मण्डलमें आकर धारानगरीमें बस गया और जिसने वादिराज पण्डित धरसेनके शिष्य

चौहान राजाओंको 'सपादलक्षीय नृपति' विशेषण दिया जाने लगा । साँभरको ही शाकंभरी कहते हैं । साँभर झील जो नमकका आकार है, उस समय सवालख देश की सिगार थी, अर्थात् साँभरका राज्य भी तब सवालखमें शामिल था । मण्डलकर दुर्ग अर्थात् मांडलगढ़का किला इस समय मेवाड़ राज्यमें है, परन्तु उस समय मेवाड़का सारा पूर्वीय भाग चौहानोंके अधीन था । चौहान राजाओंके बहुतसे शिलालेख वहां पर मिले हैं । पृथ्वीराजके समय तक वहांके अधिकारी चौहान रहे हैं । अजमेर जब मुसलमानोंके क़ब्जेमें आया तब माँडलगढ़ भी उनके हाथ चला गया ।

* धर्मामृतकी टीकामें इस म्लेच्छराजाको "साहिबुद्दीन तुरुष्क" बतलाया है । यह गज़नीका बादशाह शहाबुद्दीन ग़ोरी ही है । इसने वि० सं० १२४६ (ई० सं० ११६२) में पृथ्वीराजको हराकर दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था । उसी वर्ष अजमेरको भी अपने अधीन करके और अपने एक सरदारको सारा कारबार सौंपकर वह गज़नी लौट गया था । शहाबुद्दीनने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेर पर धावा किया होगा; क्योंकि अजमेर भी पृथ्वीराजके अधिकारमें था और उसी समय सपादलक्ष देश उसके अत्याचारोंसे व्याप्त हो रहा होगा । इसी समय अर्थात् विक्रम सवत् १२४६ के लगभग प० आशाधर मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे ।

‡ अनगारधर्मामृतकी मुद्रित टीकामें विन्ध्यभूपतिका खुलासा 'विजयवर्म मालवाधिपतिः' किया है; परन्तु हमारे अनुमानसे लिपिकारके दोषसे अथवा प्रूफ-संशोधककी असावधानीसे ही 'विन्ध्यवर्म'की जगह 'विजयवर्म' हो गया है । परमारवंशकी वंशावलियों और शिलालेखोंमें विन्ध्यवर्माका 'विजयवर्मा' नामान्तर नहीं मिलता । श्रीयुक्त लेले और कर्नल लुअर्डने विन्ध्यवर्माका समय वि० सं०१२१७ से १२३७ तक निश्चित किया है; परन्तु प० आशाधरजीके उक्त कथनसे कमसे कम १२४९ तक विन्ध्यवर्माका राज्यकाल माना जाना चाहिए । उक्त विद्वानोंने विन्ध्यवर्माके पुत्र और उत्तराधिकारी सुभटवर्मा (सोहड़) का समय १२३७ से १२६७ तक माना है, परन्तु सुभटवर्मा १२३७ में राजा था, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, वह १२४६ के बाद ही राजपद पर आया होगा ।

पं० महावीरसे जैनेन्द्र प्रमाण-शास्त्र और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा ॥ ५ ॥

विन्ध्यवर्माके सान्धिवैग्रहिक मन्त्री (फॉरिन सैक्रेटरी) बिल्हण कविराजने जिसकी इस प्रकार स्तुति की "हे आशाधर, हे आर्य, सरस्वतीपुत्रतासे तुम मेरे साथ अपनी स्वाभाविक सहोदरता(भाईपन) और अन्वर्थक मित्रता समझो। ('सरस्वतीपुत्रता' श्लिष्ट पद है। अर्थात् जिस तरह तुम सरस्वतीपुत्र हो उसी तरह मैं भी हूँ। शारदाके उपासक होनेसे दोनों सरस्वतीपुत्र तो थे ही, साथ ही आशाधरकी पत्नीका नाम सरस्वती था और उससे छाहड़ नाम का पुत्र था। उस सरस्वती-पुत्रसे आशाधरको सरस्वती-पुत्रता प्राप्त थी। उधर मेरा अनुमान है कि बाल-सरस्वती महाकवि मदन भी बिल्हणके पुत्र होंगे, इसलिए उन्हें भी सरस्वती-पुत्र कहा जा सकता है। इस रिश्तेसे बिल्हणने आशाधरको सहोदर भाई कहा है) ॥ ६-७ ॥

जो अर्जुनवर्मदेवके राज्य-कालमें नलकच्छपुरमें† जो श्रावकोंके घरोंसे सघन था जैनधर्मका उदय करनेके लिए जाकर रहा ॥ ८ ॥

जिसने शुश्रूषा करने वाले अपने शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं जिन्हें व्याकरण समुद्रके पार न पहुँचाया हो, ऐसे कौन हैं जिन्हें षट्दर्शनके तर्क-शस्त्रको देकर प्रतिवादियोंपर विजय प्राप्त न कराई हो, ऐसे कौन हैं जिन्हें जिन-वचनरूपी दीपक (धर्मशास्त्र) ग्रहण कराके धर्म-मार्गमें निरतिचार रूपसे न चलाया हो और ऐसे कौन हैं जिन्हें काव्यसुधा पिला करके रसिकोंमें प्रतिष्ठा न प्राप्त कराई हो ॥ ९ ॥

(इस श्लोककी टीकामें पं० आशाधरजीने जुदा जुदा विषयोंका अध्ययन करनेवाले अपने शिष्योंके नाम भी देदिये हैं। उन्होंने पण्डित देवचन्द्रादिको व्याकरण, वादीन्द्र विशालकीर्त्यादिको न्यायशास्त्र, भट्टारक विनयचन्द्र आदिको धर्मशास्त्र और बालसरस्वती महाकवि मदनादिको काव्यशास्त्रका अध्ययन कराया था)।

जिसने (आशाधरने) 'प्रमेयरत्नाकर' नामका तर्क-ग्रन्थ बनाया, जो स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रसाद है और जिसमेंसे सुन्दर पद्योंका पीयूष (अमृत) प्रवाहित होता है ॥ १० ॥

जिसने 'भरतेश्वराभ्युदय' नामका सत्काव्य, जो निबन्धोज्ज्वल अर्थात् स्वोपज्ञ टीकासे स्पष्ट है, त्रैविद्य कविराजोंको प्रसन्न करनेवाला है, सिद्ध्यंक है, अर्थात् जिसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम पद्यमें 'सिद्धि' शब्द आया है, अपने कल्याणके लिए रचा। जिसने जिनागमसंभूत धर्मामृत नामका शास्त्र, 'निबन्धरुचिर, अर्थात् ज्ञानदीपिका नामका पञ्जिका टीकामें सुन्दर बनाकर मुमुक्षु विद्वानोंके हृदयमें अतिशय आनन्द उत्पन्न किया ॥११॥

जिसने श्रीनेमिनाथविषयक'राजमती-विप्रलंभ' नामक खण्ड काव्य स्वोपज्ञ टीकासे युक्त बनाया ॥ १२ ॥

जिसने अपने पिताकी आज्ञासे योगशास्त्रका अध्ययन आरम्भ करने वालोंके लिए प्यारा और प्रसन्न गम्भीर अध्यात्मरहस्य नामक शास्त्र बनाया ॥ १३ ॥

† नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धार (मालवा) से १० कोसकी दूरी पर है। अब भी वहां पर श्रावकोंके कुछ घर हैं, जैनमन्दिर भी हैं।

जिसने मूलाराधना (भगवतीआराधना) पर, इष्टोपदेश (पूज्यपादकृत) आदिपर और अमरकोशपर* टीकायें लिखीं और 'क्रियाकलाप' की रचना की। (आदि शब्दकी टीकामें आराधनासार (देवसेन कृत) और भूपाल चतुर्विंशतिका आदि की भी टीकायें बनानेका उल्लेख किया है।) ॥१४॥

जिसने रुद्रटाचार्यके 'काव्यालङ्कार' की टीका बनाई और स्वोपज्ञ टीका सहित जिनसहस्र नाम बनाया ॥ १५ ॥

जिसने जिनयज्ञकल्पदीपिका नामक टीका सहित 'जिनयज्ञकल्प' और सटीक त्रिषष्टि-स्मृति-शास्त्र' की रचना की ॥ १६ ॥

जिसने अर्हत् भगवानकी अभिषेक सम्बन्धी विधिके अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यके सदृश 'नित्य—महोद्योत' नामका स्नानशास्त्र बनाया ॥१७

जिसने रत्नत्रय—विधानकी पूजा और माहात्म्यका वर्णन करनेवाला 'रत्नत्रय—विधान' नामका शास्त्र बनाया ॥ १८ ॥

जिसने वाग्भट संहिताको स्पष्ट करनेके लिए आयुर्वेदके विद्वानोंके लिए इष्ट 'अष्टांगहृदयोद्योत' नामका निबन्ध (टीका-ग्रन्थ) लिखा ॥ १९ ॥

ऐसा मैं आशाधर (जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है) धर्मामृतके यतिधर्मको प्रकाशित करनेवाली और मुनियोंको प्यारी यह टीका रचता हूँ ॥ २० ॥

यदि इसमें छद्मस्थताके कारण शब्द-अर्थका कुछ स्खलन हुआ हो, तो धर्माचार्य और विद्वान उसे सुधार कर पढ़ें ॥ २१ ॥

नलकच्छपुर (नालछा) में गृहस्थोंके अगुए, परम आर्हत, जिनपूजा-कृपादानपरायण, सोना-माणिक-विनयादिसे युक्त, पापोंसे पराङ्मुख,खण्डेलवाल वंशके पापा नामक साहूकार हैं ॥२२-२३॥ उनके दो पुत्र हैं, पहले पिताकी गृहस्थीके भारको संभालनेवाले बहुदेव और दूसरे लक्ष्मीवान् पद्मसिंह ॥ २४ ॥ बहुदेवके तीन पुत्र हैं-हरदेव, उदयदेव और स्तंभदेव। ये तीनों धर्म, अर्थ, कामका साधन करनेवाले हैं ॥ २५ ॥ साहू महीचन्द्रने बालबुद्धियोंको समझानेके लिए धर्मामृतशास्त्रके सागार-धर्मकी टीका बनवाई और उसी धर्मामृतके यतिधर्म (अनगारधर्म) पर भी जो कुशाग्रबुद्धिवालोंके लिए भी दुर्बोध्य है, टीका बना दीजिए, इस प्रकार की हरदेवकी विज्ञप्ति और धनचन्द्रके अनुरोधसे पण्डित आशाधरने यह क्षोदक्षमा (विचारसहा) टीका बनाई ॥ २६-२८ ॥

विद्वानोंने इसे भव्यकुमुदचन्द्रिका नाम दिया। ये दोनों सागार-अनगार-टीकायें कल्पकालपर्यंत रहें और मुमुक्षुजन इनका चिन्तन, अध्ययन करते रहें ॥ २९ ॥

---

* पहले भ्रमवश यह समझ लिया गया था कि अमरकोशकी जो पं० आशाधरकी लिखी टीका है, उसका नाम 'क्रियाकलाप' होगा। इस विषयमें 'विद्वद्रत्नमाला' के लेखका अनुसरण करके प्रायः सभी विद्वानोंने इस ग़ल्तीको दुहराया है। यहाँ तक कि पं० पन्नालालजी सोनीने भी अपने अभिषेकसंग्रहकी भूमिका में यही माना है। साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ भी अपने पिछले ग्रंथ 'राजा भोज' में 'अमरकोशकी क्रियाकलाप-टीका' लिख गये हैं। वास्तवमें क्रिया-कलाप पं० आशाधरका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उसकी एक हस्तलिखित प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें मौजूद है।

परमारवंश-समुद्रके चन्द्रमा श्री देवपाल राजाके पुत्र जैतुगिदेव जब अपने खड्गबलसे अवन्तीका पालन कर रहे हैं तब यह टीका नलकच्छपुरके श्रीनेमिनाथ-चैत्यालयमें वि० सं० १३०० कार्तिक सुदी पंचमी सोमवारके दिन समाप्त हुई ॥ ३० ३१ ॥

इस मुख्य प्रशस्तिसे अधिक जो पद्य अन्य ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें हैं, उनका भी सारांश आगे दे दिया जाता है। मूल पद्य मुख्य प्रशस्तिके नीचे टिप्पणीके तौर पर दिये जा चुके हैं।

त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी प्रशस्तिका भावार्थ

जिसने धर्मामृतादि शास्त्र कुशाग्र बुद्धिवालोंके लिये और सिद्धंचक महाकाव्य (भरतेश्वराभ्युदय) रसिकोंके आनन्दके लिये लिखा ॥ ६ ॥ उसी आशाधरने सहधर्मियोंके कण्ठको अलंकृत करनेके लिए यह पञ्जिका टीकायुक्त पवित्र ग्रन्थ रचा ॥ ७ ॥ कहाँ तो आर्ष (महापुराणरूप) समुद्र और कहाँ मेरी बुद्धि, तो भी सज्जनोंके लिए मैंने उसमेंसे कथा-रत्नोंको उद्धृत करके इस शास्त्रमें ग्रथित कर दिया है ॥ ८ ॥ प्रतिदिनके स्वाध्यायके लिए पुराणोंको संक्षिप्त कर दीजिये, पं० जाजाककी इस विज्ञप्तिने मुझे प्रेरित किया ॥ ९ ॥ इसमें मेरी छद्मस्थताके कारण यदि कुछ स्खलन हुआ हो तो जिनशासनभक्त उसको सुधार कर पढ़ें ॥ १० ॥ इस महापुराणके अन्तस्तत्त्वसंग्रहके पढ़नेवालों पर सम्यग्दृष्टि देवी प्रसन्न हो ॥ ११ ॥

परमारवंश-समुद्रके चन्द्रमा देवपाल राजाके पुत्र जैतुगिदेव जब अपनी तलवारके जोरसे अवन्ती (मालवा) पर शासन कर रहे हैं तब नलकच्छपुरके श्री नेमिनाथ—चैत्यालयमें यह ग्रंथ वि० सं० १२९२ में सिद्ध हुआ ॥ १२-१३ ॥ खण्डेलवालवंशके महण (पिता) और कमलश्री (माता) के पुत्र सद्दृष्टि धीनाककी वृद्धि हो, जिसने इस ग्रन्थकी पहली प्रति लिखी ॥ १४ ॥

जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिका भावार्थ

प्राचीन प्रतिष्ठाशास्त्रोंकी अच्छी तरह चर्चा करके आलोचना करके और इन्द्रसम्बन्धी व्यवहारको देखकर आम्नायविच्छेदरूप अन्धकारको नष्ट करने वाला यह युगानुरूप ग्रन्थ उसने बनाया ॥ १८ ॥ खण्डेलवाल वंशके भूषण, अल्हणके पुत्र, श्रावक धर्ममें रत, नलकच्छपुरके रहनेवाले, परोपकारी, जिनपूजा, पात्रदान, और समयोद्योतक प्रतिष्ठा करनेवालोंमें अगुए, पापा साहूने बारबार अनुरोध करके यह बनवाया ॥१९॥ आश्विन सुदी १५ वि० सं० १२८५ को परमारकुलशेखर देवपालके सुराज्य में, जिनका दूसरा नाम साहसमल्ल है, यह ग्रंथ नलकच्छपुरके नेमि-चैत्यालयमें सिद्ध हुआ ॥२०॥ बहुत-सी प्रतिष्ठायें करानेवाले केल्हणादिने सूक्तियों या सुभाषितके अनुरागसे पढ़कर इसका जल्दी ही प्रचार किया। खण्डेलवाल वंशके ये न्यासवित् केल्हण प्रसन्न रहें जिन्होंने इसकी यह पहली प्रति पाठ करनेके लिए लिखी ॥ २१-२२ ॥

सागारधर्मामृत-टीकाकी प्रशस्तिका भावार्थ

यह भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका नलकच्छपुरके नेमि-चैत्यालयमें पौष वदी सप्तमी सं० १२९६ को

समाप्त हुई ॥२०-२१॥ पौरपाट (परवार) वंशरूप आकाशका चन्द्रमा और समुद्धर श्रेष्ठीका पुत्र महीचन्द्र प्रसन्न रहे, जिसकी प्रार्थनासे आशाधरने यह श्रावकधर्मका दीपक ग्रंथ बनाया और जिसने इसकी पहली प्रति लिखी ॥ २२ ॥

इष्टोपदेश-टीकाकी प्रशस्तिका भावार्थ

विनयचन्द्र मुनिके कहनेसे और भव्योंपर दया करके पं० आशाधरने यह इष्टोपदेश-टीका बनाई। साक्षात् उपशमकी मूर्तिके तुल्य सागरचन्द्र मुनीन्द्रके शिष्य विनयचन्द्र हुए जो सज्जन चकोरोंके लिए चन्द्र हैं, पवित्रचरित्र हैं और जिनकी वाणी अमृतसगर्भा और शास्त्रसन्दर्भगर्भा है ॥ २ ॥

जगद्वन्द्य श्री नेमिनाथके चरणकमल जयवन्त हों, जिनके आश्रयसे धूल भी राजाओंके सिर पर चढ़ती है ॥ ३ ॥*

परिशिष्ट

उक्त लेखके छप चुकनेके बाद मैं अपने कुछ पुराने काग़ज़ात देख रहा था कि उनमें स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवाल की भेजी हुई कुछ ग्रन्थ प्रशस्तियाँ मिलीं, जो उन्होंने जयपुरके कई पुस्तक भंडारोंसे नकल करके भेजी थीं। उनसे पता चला कि वहाँके पाटोदीजीके मन्दिरमें भूपालचतुर्विंशतिकाकी टीका और जिनयज्ञकल्प सटीक मौजूद हैं। पहले ग्रन्थमे १४ पत्र और ४०० श्लोक हैं। उसका प्रारंभ इस प्रकार होता है—

प्रणम्य जिनमज्ञानां सज्ञानाय प्रचक्ष्यते।
आशाधरो जिनस्तोत्रं श्रीभूपालकवेः कृति ॥१॥

अन्तमें लिखा है—

उपशम इव मूर्त्तिः पूतकीर्तिः स तस्मा-
दजनि विज(न)यचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसन्दर्भगर्भाः
शुचिचरितसहिष्णो (वरिष्णो) र्यस्य धिन्वन्ति वाचः

विनयचन्द्रस्यार्थमित्याशाधरविरचिता भूपालचतुर्विंशतिजिनेन्द्रस्तुतेष्टीका परिसमाप्ता।

दूसरे ग्रंथमे १०२ पत्र हैं और श्लोक संख्या २५०० है। उसका प्रारंभ इस प्रकार होता है—

नत्वा परापरगुरून्मन्दधियामर्थतत्त्वसंवित्त्यै।
विवृणोत्यशो निबन्धं स्वकृतेर्जिनयज्ञकल्पस्य ॥

अन्तमें लिखा है—

इत्याशाधरदृब्धे जिनयज्ञकल्पनिबन्धे कल्पदीपकनाम्नि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६

इत्याशाधरविरचितो जिनयज्ञकल्पनिबन्धो कल्पदीपको नाम समाप्तः। संवत् १४९५ शाके १३६० वर्षे माघ वदि ८ गुरुवासरे।

* यह लेख 'दि० जैन पुस्तकालय' सूरतसे शीघ्र प्रकाशित होने वाली 'सागार धर्मामृत-भाषा-टीका' की भूमिकाके लिये लिखा गया है। —लेखक

ऊँच-नीच-गोत्र-विषयक चर्चा

[लेखक—श्री बालमुकुन्द पाटोदी जैन, 'जिज्ञासु']

(२)

अनेकान्तके इसी वर्षकी दूसरी किरणमें, मैंने अपने उपर्युक्त शीर्षक वाले लेखमें 'मनुष्योंमे क्या, संपूर्ण साँसारिक जीवोंमें अपने अच्छे बुरे आचरणके आधार पर ही ऊँचता अथवा ऊँचगोत्रोदय तथा नीचता अथवा नीच गोत्रोदय है,' इस प्रकार चर्चा की थी, अब इस दूसरे लेखमें मैं उसे कुछ विशेष रूप देता हूँ और इस विषयमें अपनी समझ तथा अनेक विद्वानोंके लेखोंके अध्ययन-मनन परसे बने हुए अपने हृदयके भावको और अधिक स्पष्टताके साथ व्यक्त करता हूँ।

ऊँच-नीचगोत्रकर्मोदय क्या है?

संपूर्ण संसारके जीव और विशेष करके मनुष्य अपनी अपनी यथासंभव और यथाशक्ति उन्नति करने के सदैव इच्छुक रहा करते हैं और उन्नति करते भी रहते हैं। कोई स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करके बहुत काल तक जीते रहनेमें अपनी उन्नति करते हैं, कोई बहुत धन कमा कर धनवृद्धिमें अपनी उन्नति करते हैं; कोई नानाप्रकारकी युक्तियाँ सीखकर और बताकर तथा कठिनसे कठिन कार्यको भी सरलतापूर्वक करलेनेकी तरकीबें (उपाय) सोच सोच कर अपनी बुद्धिकी वृद्धिमें उन्नति करते हैं; और कोई नानाप्रकार की कलाएँ-विद्याएँ, जैसे चित्रकारी, राग, वाद्य, वैद्यक ज्योतिष आदि सीखकर विद्यागुणोंकी वृद्धिमें अपनी उन्नति किया करते हैं और कोई यम-नियम, तप-संयम, ज्ञान-ध्यान-स्वाध्यायादि संसारोच्छेदक अनुष्ठानोंको करके धर्माचरणोंमें अपनी उन्नति किया करते है। और इस तरह सहस्रों प्रकारके कार्योंमें अपनी उन्नति करके अपने अपने नियमके(वृद्ध बढ़े) हुये अथवा बड़े कहलाते हैं; जैसे वयोवृद्ध, धनवृद्ध, गुणवृद्ध या विद्यावृद्ध, बुद्धिवृद्ध, और धर्मवृद्ध आदि। और जो इन उपर्युक्त विषयोंमें अवनत होते हैं वे हीन तथा छोटे कहलाते हैं। यह सहस्रों प्रकारके विषयों (कार्य, कला, विद्या आदि) की उन्नति, अवनति ही ऊँच नीच गोत्र कर्मोदय है। गोत्र कर्मके अगणित भेद हैं।

मुमुक्षु-भावनासे ओत-प्रोत हृदयों वाले हमारे आचार्योंने आत्माके अन्य कार्योंकी उन्नति-अवनतिके विषयमें लिखनेको अप्रयोजनभूत समझ कर उसकी उपेक्षा की और प्रधानतया आत्माकी प्रयोजनभूत केवल धार्मिक उन्नतिके विषयमें ही जिसका कि वे अभ्यासकर रहे थे, गहरी छान, बीन, खोज तलाश, तर्कवितर्क आदि करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगादी और अगणित साहित्यका निर्माण कर डाला।

जिन आचरणोंसे जन्म-मरणरूप संसार-भ्रमणकी वृद्धि (उन्नति) होती है, उन आचरणोंको त्याग करके उनके विरुद्ध अहिंसा, सत्य, शील, संयमादि आचरणोंको अंशरूपसे तथा पूर्णरूपसे पालन करने और अपने

आपको उन आचरणोंमय बना देनेको 'धार्मिक उन्नति' करना कहते हैं। यह धार्मिक उन्नति प्रत्येक मनुष्यकी और प्रत्येक प्राणीकी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है और नित्य-निगोदसे निकलते ही यह धार्मिक उन्नति प्रारम्भ हो जाती है। उदाहरणके लिये तीन मनुष्योंको लीजिये, जिनमेंसे एक तो देवगुरु-धर्मकी श्रद्धा-पूर्वक अष्ट मूल गुणोंका पालन करता है; दूसरा पंच अणुव्रतों और सप्त शीलव्रतोंके अनुष्ठानमें लीन रहता है, और तीसरा अहिंसादि व्रतोंके अनुष्ठानपूर्वक सप्तम प्रतिमानकके आचरणको लिये हुए पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करता है। इनमेंसे पहलेकी बाबत कहना होगा कि उसने दूसरे-तीसरेकी अपेक्षा कम धार्मिक उन्नति की, दूसरेने पहलेसे अधिक और तीसरेसे कम उन्नति की,और तीसरेने पहले तथा दूसरे दोनोंकी ही अपेक्षा अधिक धार्मिक उन्नति की। इस धार्मिक उन्नतिको दूसरे शब्दोंमें यूं भी बतलाया जा सकता है कि, पहले मनुष्यके अंदर दूसरे तथा तीसरेके मुकाबिलेमें धर्माचरण कम और असंयमाचरण अधिक है, अतः दूसरे तथा तीसरेकी अपेक्षा इसके नीच गोत्रका उदय है। तीसरे मनुष्यके अन्दर पहले तथा दूसरेके मुकाबिलेमें असंयमाचरण कम और धर्माचरण अधिक है अतः पहले और दूसरेकी अपेक्षा इसके ऊँच गोत्रका उदय है। और तीसरे मनुष्यके अन्दर पहलेकी अपेक्षा तो असंयमाचरण कम और धर्माचरण अधिक हैं अतः पहलेकी अपेक्षा इसके ऊँच गोत्रका उदय है और तीसरेकी अपेक्षा धर्माचरण कम और असंयमाचरण अधिक है, अतः तीसरेकी अपेक्षा इसके नीच गोत्रका भी उदय है। इस तरह पर प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणीके अपनेसे असयमाचरण अधिक और धर्माचरण कम होने वाले प्राणीकी अपेक्षा ऊच गोत्रका उदय है और अपनेसे धर्माचरण अधिक और असंयमाचरण कम होने वाले प्राणीकी अपेक्षा नीच गोत्रका भी उदय है।

इस धार्मिक उन्नतिको एक दूसरे प्रकारसे भी बतलाया जा सकता है और वह यह कि, इस धार्मिक उन्नतिके भी असंख्यात स्थान हैं, परन्तु समझनेके लिये यहाँ केवल एक शत स्थानोंकी कल्पना कीजिये। एक प्राणीने तो सिर्फ पांच स्थान तक उन्नति की है, दूसरेने पैंतालीस स्थान तक, तीसरेने पचपन स्थान तक, चौथेने पिच्यानवे स्थान तक उन्नति की है। जिसने पांच स्थान तक उन्नति की है उसके अपनेसे नीचेके स्थानोंकी अपेक्षा ऊँच गोत्रका उदय है और अपनेसे ऊपर वाले पैंतालीस आदि स्थानों वाले प्राणियोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय है। जिसने पैंतालीस स्थानोंतक उन्नति की है उसके अपने पाँच आदि स्थान वाले प्राणियोंकी अपेक्षा ऊँच गोत्रका उदय है और अपनेसे ऊपरके पचपन आदि स्थानों वाले प्राणियोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय है। इसी तरह जिसने पचपनस्थान तक उन्नति की है वह अपनेसे नीचेके पैंतालीस आदि स्थान वाले प्राणियोंकी अपेक्षा ऊँचा है—बड़ा है—और अपनेसे ऊपरके पिच्यानवें आदि स्थान वाले ईश्वरत्वको प्राप्त हुये आत्माओंसे नीचा है-छोटा है और जिसने पिच्यानवे स्थान तक उन्नति की है वह अपनेसे नीचे वाले पचपन आदि स्थान वाले प्राणियोंकी अपेक्षा बड़ा है ऊँचा है तथा अपनेसे ऊपर वाले स्थानवालोंकी अपेक्षा छोटा है इस तरह पर प्रत्येक प्राणीके अन्दर किसी एक अपेक्षासे ऊँच गोत्रका उदय है, और किसी दूसरी अपेक्षासे नीच गोत्रका उदय है—अर्थात् अपनी २ अलग २ अपेक्षासे प्राणी मात्रमें बड़ापना और छोटापना दोनो धर्म पाये जाते हैं। इस कारण ऊँचगोत्री कहलाना भी अपने २ धार्मिक सदाचरणोंको आदि लेकर नाना

विषयोंकी उन्नतिकी सीमा बतलानेका एक तरहका प्रकार है,और नीचगोत्री कहलाना भी अपने२ असंयमाचरणोंकी उन्नति (वृद्धि) को आदि लेकर नाना विषयोंकी अवनतिकी हदको कह कर समझानेका एक तरहका तरीक़ा है।

गाथोक्त ऊँच-नीचगोत्रका सर्वांगी अर्थ

संसार-स्थित आत्माके अन्दर गोत्र कर्म नामका भी एक धर्म है, जिसका आत्माके सम्यक् चारित्रकी उन्नति होनेसे सम्बन्ध है। यह गोत्रकर्म, अग्रवाल, खण्डेलवाल, परवार आदि, और गोयल, सिंहल, वत्सल, सोनी, सेठी, पाटोदी, काशलीवाल आदि; तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि; मूलसघ, सेनसंघ आदि और दूसरे भी अनेक गण-गच्छादि भेद-प्रभेदोंको लिये हुए मनुष्य समूहोंके बतलाने वाले संसारके सांकेतिक और व्यवहारिक गोत्रधर्मोंसे सर्वथा भिन्न है। इसके जैन सिद्धान्तमें ऊँच गोत्र और नीच गोत्र ऐसे दो भेद माने गये हैं, इस कारणसे यह आत्माका स्वतन्त्र धर्म न रह कर सापेक्ष धर्म हो जाता है। अर्थात् नीच गोत्रके सद्भावमें ऊँच का होना और ऊँच गोत्रके सद्भावमें नीच गोत्रका होना तथा नीच गोत्रके अभावमें ऊच गोत्रका न होना और ऊंच गोत्रके अभावमें नीच गोत्रका न होना, इस प्रकारकी व्यवस्था वाला धर्म हो जाता है। इसका वर्णन श्री गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी गाथा नं० १३ में किया गया है, जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

संतानक्रमेणागत-जीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा।
उच्चं नीच्चं चरणं उच्चैर्नीचैर्भवेत् गोत्रम् ॥१३॥

इसका अर्थ बिलकुल साफ़ है और वह यह है कि—जीवके अपने स्वयके (न कि पिता-प्रपितादिकोंके) आचरणकी 'गोत्र' संज्ञा है, ऊंचे आचरणको 'ऊँच गोत्र' कहते हैं। और नीचे आचरणको 'नीच गोत्र' कहते हैं। इस गाथामें **"संतानक्रमेणागत"** पद पड़ा हुवा है, जो जीवके अपने स्वयंके आचरणका विशेषण है; यह पद जीवके अपने स्वयंके आचरणका विशेषण होनेसे इसका अर्थ अपने पिता प्रपितादिकोंके कुलकी परिपाटीमे चला आया हुआ आचरण नहीं हो सकता; बल्कि जीवके अपने स्वयके पूर्व पूर्व आचरणोंके संस्कार-जन्य इच्छामें उत्पन्न संतानरूप अपर-अपर आचरण होता है। इसलिये **"संतान-क्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा"** इस गाथार्धका साफ़ अर्थ हुआ—"पूर्व पूर्वके आचरणोंके संस्कार-जन्य इच्छासे उत्पन्न अपर-अपर आचरणोंके संतानक्रमसे आये हुये जीवके अपने स्वयंके आचरणकी गोत्र संज्ञा है"। यहाँ जीवके अपने स्वयंके आचरणोंके संतानक्रमको और समझ लेना चाहिये। नीचे उसीका स्पष्टीकरण किया जाता है:—

प्रत्येक जीवात्माके अंदर आचरणोंकी दो प्रकारकी धारायें बहती हैं—एक अधोधारा और दूसरी ऊर्ध्वधारा। बहती हुई परिणामोंकी ऊर्ध्वधाराको जब कोई बुरा कारण मिल जाता है तो उस बुरे कारणका निमित्त पाकर ऊर्ध्वधाराका प्रवाह मुड़कर अधोरूपमें बहना प्रारम्भ हो जाता है और बहते२ अधोस्थानके अंत तक वह धारा पहुँच जाती है, और यदि बीचमें ही उसे कोई अच्छा कारण मिल गया तो वह उस अच्छे कारणका निमित्त पाकर पुनः अधःसे ऊर्ध्वरूपमें बहने लगती है और बहते २ ऊर्ध्वस्थानके अन्तको प्राप्त हो जाती है, तथा आत्माको अपने शुद्ध-बुद्ध-सिद्धस्वरूपमें विराजमान कर देती है। इसी तरहसे बहती हुई परिणामोंकी अधोधाराको जब कोई अच्छा कारण मिल जाता है तो उस अच्छे कारणका निमित्त पाकर उस अधोधाराका

प्रवाह मुड़कर ऊर्ध्वरूपमें बहने लगता है और बहते २ ऊर्ध्वस्थानके अन्त तक वह धारा पहुँच जाती है, और यदि बीचमें ही उसे कोई बुरा कारण मिल गया तो वह उस बुरे कारणका निमित्त पाकर पुनः ऊर्ध्वसे अधोरूपमें बहने लगती है और बहते बहते अधःस्थान के अन्तको प्राप्त हो जाती है और आत्माको अपने निगोदके अविनाशी पर्याय ज्ञानमें स्थापन कर देती है। अर्थात् प्रत्येक आत्माके अन्दर दो प्रकारके परिणाम होते हैं, एक संयमाचरणरूप परिणाम और दूसरे असंयमाचरणरूप परिणाम। काल-लब्धिका निमित्त पाकर जब यह आत्मा नित्य निगोदसे निकलता है तब अहिंसा, सत्य, शीलादिके अभ्यास साधनका अच्छा निमित्त पाकर इसके परिणाम संयमाचरणरूप होने लगते हैं। जब एक परिणाम संयमाचरणरूप होता है तब उसका निमित्त पाकर उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे ऊपरका, ऊँचा तीसरा परिणाम होता है; जब तीसरा परिणाम होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे ऊपर का ऊँचा चौथा परिणाम होता है। इस तरह पर पूर्व२ परिणामोंके संस्कारसे इनका सन्तान दर सन्तानरूप उत्तर-उत्तर परिणाम ऊँचेसे ऊँचे संयमाचरणरूप (यदि बीचमें कोई हिंसा झूठ चौर्यादिके अभ्यास-साधन का निमित्त नहीं मिला तो) होते चले जाते हैं और होते होते अन्तमें उच्चताकी सीमाको प्राप्त कर लेते हैं और आत्माको अपने सच्चिदानन्दरूप मोक्ष स्वभावमें स्थित कर देते हैं।

इसी तरह पर जब यह आत्मा मुनिपद धारण करके और ग्यारहवें गुणस्थानको प्राप्त होकर वहाँसे गिरता है तब प्रमाद, कषाय, असत्य, कुशीलादिके अभ्यास-साधन का बुरा निमित्त पाकर इसके परिणाम असंयमाचरण रूप होने लगते हैं। जब एक परिणाम, असंयमाचरण रूप होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे उसकी संतान-रूप, उससे गिरता हुआ, नीचेका दूसरा परिणाम होता है। जब दूसरा परिणाम होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे गिरता हुआ नीचे का तीसरा परिणाम होता है। जब तीसरा परिणाम होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे गिरता हुआ, नीचेका चौथा परिणाम होता है। इस तरह पूर्व पूर्व परिणामोंके संस्कारसे, उनकी संतान दर संतानरूप, उत्तर उत्तर परिणाम, नीचेसे नीचे असंयमाचरणरूप (यदि बीचमें कोई अहिंसा-सत्य-शीलादिके अभ्यास साधनका अच्छा निमित्त नहीं मिला तो) होते चले जाते हैं, और होते होते अन्तमें नीचताकी सीमाको प्राप्त कर लेते हैं और आत्माको अपने अविनाशी स्वरूप वाले निगोदके पर्यायज्ञानमें स्थापन कर देते हैं।

अब यहाँ पर परिणामोंके संतान दरसंतान रूपसे अधोरूपमें गिरने, और उर्ध्वरूपमें चढ़नेको दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

किसी मनुष्यको दुःसंगतिके कारण जूवा खेलनेका व्यसन लग गया। और वह अपने मित्र जुवारियोंमें जाकर प्रति दिन जूवा खेलने लगा। जब अपना सारा धन जूवेमें हार गया तो उसे फिर जूवा खेलने के लिये धनकी आवश्यकता हुई तब उसने सोचा कि चोरी द्वारा धन प्राप्त करके जूवा खेलना चाहिये, ऐसा सोच कर वह चोरी करने लगा और चोरी में धन प्राप्त कर करके जूवा खेलने लगा। जब चोरी करनेमें अतिशय निपुण हो जानेके कारण चोरीमें उसे पर्याप्त धन मिलने लगा तो जूवा खेलनेमें हार जानेके उपरान्त भी उसके पास धन बचने लगा और बहुतसा

धन उसके पास हो गया। एक दिन वह किसी वेश्याके द्वारके सामने होकर जा रहा था कि उसके एक जुवारी मित्रने उसे आवाज़ देकर वहाँ बुला लिया; जब वेश्या का उससे साक्षात् हुआ तो वेश्याने अपने हाव भाव-कटाक्षोंसे उसे अपनेमें अनुरक्त कर लिया और वह वेश्या सेवन करने लगा। तथा चोरी द्वारा पर्याप्त धन ला ला कर वेश्याको देने लगा। वेश्या-सेवनमें विषया-नन्दकी वृद्धिके लिये मदिरा-पानका चस्का भी वेश्या ने उसे लगा दिया और वह रात दिन मदिराके नशेमें चूर रहने लगा। मदिराके नशेमें खाद्य-अखाद्यका विचार भी उसे न रहा और वह वेश्याके साथ मांसादि अखाद्य वस्तुओंको भी भक्षण करने लगा। जब मांस-भक्षणकी उसे आदत हो गई तो वह मांस प्राप्तिके लिये जगलादिमें जाकर बिचारे दीन अनाथ एवं कायर पशुओंका वध (शिकार) भी करने लगा और मार मार कर उन्हें खाने लगा तथा अतिशय क्रूर परिणामी हो गया। क्रूर परीणामी हो जाने और नशेमें चूर रहनेके कारण वह परस्त्रियोंके साथ बलात्कार भी करने लगा और बल पूर्वक उनका सतीत्व हरण करके अतिशय व्यभिचारी और लोकनिद्य हो गया। इस तरह पर एक जुआ व्यसनके लग जानेके कारण उसके सन्तान दर सन्तानरूप चौर्यादि व्यसनों के सेवनकी इच्छा और रुचिवाले परिणाम होनेके कारण वह सातों व्यसनोंका सेवन करने वाला अतिशय पापी, भ्रष्ट और परिणामोंको नीचे गिराने वाला दुर्गति-पात्र हो गया।

इसी तरहसे एक जीव अपनी शुभ काललब्धिको पाकर नित्य निगोदसे निकलता है और अपने ऊँचेसे ऊँचे विशुद्ध परिणामोंको करता हुआ मनुष्य पर्याय धारण करता है। मनुष्य पर्याय धारण करके आठ वर्ष की अवस्था होने पर सम्यग् दर्शनको प्राप्त होकर योग्यता प्राप्त होने पर मुनिव्रत धारण करके और अपने परिणामों को सन्तान दर सन्तानरूप उत्तरोत्तर ऊँचेसे ऊँचे और विशुद्ध बनाता हुआ और समय प्रति समय विशुद्धताकी वृद्धि करता हुआ अपनी परिणामधाराको ऊर्ध्व रूपमें बढ़ाता हुआ केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है और अन्तमें सम्पूर्ण कर्मोंसे सर्वथा मुक्ति लाभ करके अपने शुद्ध-बुद्ध सिद्ध स्वरूपमें जा विराजता है।

इस तरह पर मेरा विचार है कि जीवके, अपने स्वयंके एकके कारणसे दूसरे और दूसरेके कारणसे तीसरे होने वाले शुभाऽशुभ आचरणको ही संतानक्रमसे आया हुआ जीवका आचरण कहते हैं। यदि मेरा उपर्युक्त विचार जिनागमसे विरुद्ध नहीं है तो क्या मैं यह कह सकता हूँ कि इससे गोत्र कर्मोदयके सम्बन्धमें बताये हुये सम्पूर्ण दोषोंका अपहार हो जावेगा? गोत्र कर्म-व्यवस्था प्रकृति-विकाशके विरुद्ध है, वह सार्वभौमिक और चतुर्गतिके सारे जीवों पर लागू होने वाली नहीं है, वह केवल मनुष्यों और मनुष्योंमें भी केवल भारतवासियों के व्यवहारानुसार बनी है, इत्यादि और भी जो दोष गोत्र-कर्म-व्यवस्था पर लगाये जाते हैं, वे सब दोष श्री गोमट्टसार कर्मकाण्डकी १३ वीं गाथाका उपर्युक्त अर्थ मानने पर दूर हो सकेंगे, यदि सब दोष दूर हो सकेंगे तो १३ वीं गाथाका उपर्युक्त अर्थ ही सर्वाङ्गी अर्थ कह-लाएगा। अस्तु।

संक्षेपमें गोमट्टसार कर्मकाण्डकी १३ वीं गाथाकी व्याख्या करने और यह बतलानेके बाद कि 'ऊँच-नीच गोत्र कर्मोदय क्या है?', अब मैं चारों गतियोंके जीवोंमें गोत्रकर्मके उदयकी कुछ व्याख्या करना चाहता हूँ।

देवोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

जैनसिद्धान्तमें, देवोंमें जो ऊँच गोत्रका उदय

बतलाया है वह मनुष्यसमूहकी अपेक्षासे है, उसका यह भाव नहीं है कि उनमें नीच-गोत्रका उदय है ही नहीं। जब किसी हीन शक्तिके मुक़ाबिलेमें उनमें उच्च गोत्रका उदय है तो किसी महान् शक्तिके मुक़ाबिलेमें उनमें नीच गोत्रका उदय भी होना चाहिये। क्योंकि गोत्र धर्म सापेक्ष धर्म है। जिनागममें भी देवोंमें चार मूलभेद और इन्द्र सामाजिक, त्रायस्त्रिंशत् आदि उत्तर भेद माने गये है, जो उनमें परस्पर उच्चगोत्र व नीच गोत्रका होना सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त पंचमगुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान वाले मनुष्योंकी अपेक्षा उनमें नीचगोत्रका उदय है। मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि देवोंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि असुर कुमारादि पापाचारी देवोंमें नीच गोत्रका उदय है। चतुर्थ व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा भी असुरकुमारादि पापी मिथ्यादृष्टि देवोंमे नीच गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि,व तीर्थंकर प्रकृति बद्ध सम्यक्त्वी नारकियोंकी अपेक्षा भी असुर कुमारादि दुराचारी और मिथ्यादृष्टि देवोंमे नीच गोत्रका उदय है। पंचमगुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा चतुर्थगुणस्थानी देवोंमें नीच गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी तिर्यंचों और चतुर्थगुणस्थानी व तीर्थंकरप्रकृतिबद्ध सम्यक्त्वी नारकियोंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिदेवोंमें उच्च गोत्रका उदय है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों, व नारकियोंके सम्यक्त्वसे सम्यग्दृष्टि देवोंका तद्रूप सम्यक्त्व विशेष निर्मल होता है। और सामान्यतया तिर्यंच समूह और नारकी समूहकी अपेक्षा देव समूहमें ऊँच गोत्रका उदय है ही। इस तरह पर विचार करनेसे देवों में नानादृष्टिकोणकी अपेक्षा उच्च व नीच गोत्रोदय प्रत्यक्ष सिद्ध है। मेरे विचारसे उपर्युक्त रीतिके अनुसार देवोंमें गोत्रोदय माननेसे,जैनागममें जो देवोंमें उच्चगोत्रोदय कहा है उससे विरोध नहीं आसकता; क्योंकि वह सामान्यतया मनुष्यसमूहकी अपेक्षासे देवसमूहमें उच्च गोत्रका उदय है, इसी अपेक्षासे कहा हुआ जान पड़ता है। यहाँ अपेक्षा-भेदका स्पष्टीकरण न करके गुप्त रख लिया गया है। विचार करनेसे यहाँ उपर्युक्त प्रकार अपेक्षा ही ठीक बैठती है और वही युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

मनुष्योंमें ऊँच नीच गोत्रोदय

जिनागममें, मनुष्योंमें जो सामान्यतया ऊँच व नीच दोनों गोत्रोंका उदय बतलाया गया है वह अपने अपने सदाचरण दुराचरणके आधार पर परस्परकी अपेक्षा से है। भोग भूमिके मनुष्योंके जो केवल उच्च गोत्रका उदय बतलाया है वह उनकी मंदकषायरूप उच्च प्रवृत्तिकी अपेक्षासे है। भोगभूमिके मनुष्योंकी अपेक्षा यहाँ कर्मभूमिके अधिकांश मनुष्योंमें नीच गोत्रका उदय है। भोगभूमिमें भी कई मनुष्य सम्यक्दृष्टि हैं तथा कई विशेष मंद कषाय वाले हैं तथा कई मनुष्य कम मंद कषाय वाले हैं और मिथ्यादृष्टि भी हैं अतः वहाँ भी उनमें परस्परकी अपेक्षा ऊँच गोत्र व नीच गोत्रका उदय होना सिद्ध है। अर्थात् विशेषमंद कषायवाले और सम्यग्दृष्टि मनुष्योंकी अपेक्षा कममन्द कषायवाले और मिथ्यादृष्टि जीव नीच गोत्रोदयवाले हैं और कममंद कषाय वाले तथा मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी अपेक्षा सम्यक्दृष्टि और विशेषमंद कषाय वाले मनुष्य उच्च गोत्रोदय युक्त हैं। सामान्यतया देवोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें नीच गोत्रका उदय है तथा तिर्यंचों व नारकियोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। विशेषतया भोग भूमिके चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंकी

अपेक्षा कर्म भूमिके चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें अपने अपने सम्यक्त्वकी निर्मलतानुसार उच्च व नीच दोनों गोत्रोंका उदय है, मिथ्यादृष्टि असुरकुमारादि पापाचारी देवोंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें अपने अपने सम्यक्त्वकी निर्मलतानुसार ऊँच नीच दोनों गोत्रोंका उदय है। चतुर्थगुण स्थानी तिर्यंचों व नारकियोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्यों में उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थगुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा पचम गुणस्थानीसे लेकर चतुर्दश गुणस्थानी तक मनुष्योंमें ऊँच गोत्रका उदय है। देव ऋषिदेवोंकी अपेक्षा अष्टम प्रतिमाधारी मनुष्योंमें उच्च गोत्रका, चतुर्थगुणस्थानी मनुष्योंमें नीचगोत्रका और पचम गुणस्थानी मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। सम्यक्दृष्टि व तीर्थंकर प्रकृतिबद्ध नारकियोंकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि मनुष्योंमें नीच गोत्रका और चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ व पचम गुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें नीच गोत्रका उदय है। पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी मनुष्योंमें उच्चगोत्रका उदय है। इस तरह पर व्यक्तिगत रूपसे तिर्यंचों और नारकियोंके मुकाबिलेमें भी मनुष्योंमें नीच गोत्रता अनुभव गोचर होती है।

आर्योंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

श्रीविद्यानन्दादि जैनाचार्योंने अनृद्धिप्राप्त आर्योंके क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य आदि भेद किये हैं और "उच्चगोत्रोदय आदि गुणवाले जो हों वे आर्य हैं" यह आर्योंका लक्षण किया है। यहाँ आर्योंको क्षेत्र-जाति-कर्म आदिका विशेषण दिया जाना इस बातको बतलाता है कि उपर्युक्त आर्य अपने अपने क्षेत्र, जाति, कर्म आदि एक एक रूपसे ही आर्य हैं—दूसरे रूपोंसे या पूर्ण रूपसे आर्य नहीं। अर्थात् उनमें अधिकाँश रूपसे या अल्पांश रूपसे आर्यत्वकी न्यूनता है। यह बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि, कोई मनुष्य तो केवल क्षेत्ररूपसे ही आर्य है अन्य जात्यादि चारों रूपोंसे आर्य नहीं। अर्थात् केवल आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके कारण आर्य है, अन्य कारणोंसे आर्य नहीं, वह व्यभिचार जात है, कर्म (जीविका) म्लेच्छों जैसे माँस विक्रयादि करता है, दर्शन चारित्रका उसमें नाम नहीं। कोई आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होने और ब्राह्मण क्षत्रियादि होनेके कारण आर्य है—अन्य कारणोंसे आर्य नहीं, वह जीविका म्लेच्छोंकी सी मद्य विक्रयादि करता है, दर्शन चारित्र उसमें बिल्कुल नहीं। कोई आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होने, ब्राह्मण-क्षत्रि-वैश्यादि होने, खेती आदि सावद्यकर्म, कपड़ेका व्यापार आदि अल्प सावद्यकर्म मणि मुक्तादिका व्यापार आदि असावद्य कर्म करने वाला होनेके कारण आर्य हैं—अन्य कारणोंसे आर्य नहीं, दर्शन चारित्रको वह नहीं धारण कर रहा है। कोई आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होने, शुद्ध जाति होने, अल्प सावद्य या असावद्य कर्म करने वाला होने और चारित्र धारण करने वाला होनेके कारण आर्य है—अन्य कारणसे आर्य नहीं, वह शुद्ध दर्शन वाला नहीं। अन्य कोई पाँचों प्रकारसे आर्य है अर्थात् आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होने, शुद्ध जाति होने, असावद्य कर्म करने वाला होने, चारित्रवान् होने और सम्यग्दर्शन वाला होनेके कारण आर्य है। इन सब आर्योंमें जो केवल एक प्रकारसे आर्य है, जिसमें आर्यत्वकी अधिकाँश रूपसे न्यूनता है, वह अधिकाँश रूपसे असंयम भाव वाला होने और अल्पल्पांशरूपसे संयमभाव वाला

होने अथवा पूर्णांशरूपसे असंयमभाववाला होने और संयम भाव वाला न होनेके कारण नीच गोत्र वाला है। उसके नीच गोत्रका उदय है। इसलिये उसमें अधिकांशरूपसे आर्यत्वकी न्यूनता होनेके कारण "उच्चाचरणरूप उच्चगोत्रोदय आदि गुण वाला आर्य है" यह लक्षण नहीं घटता। और जो एकसे अधिक प्रकारसे आर्य है, जिसमें अल्पांशरूपसे आर्यत्वकी न्यूनता है अथवा पूर्णांशरूपसे आर्यत्वकी प्रादुर्भूति है, वह अल्पांशरूपसे असयमभाव वाला न होने और अधिकांशरूपसे संयमभाव वाला होने व पूर्णांशरूपसे संयम भाव वाला होनेके कारण ऊँच गोत्र वाला है। उसके ऊँच गोत्रका उदय है। इसलिये उसमें आर्यत्व की अल्पांशरूपसे न्यूनता अथवा पूर्णांशरूपमें आर्यत्व की प्रादुर्भूति होनेके कारण उपर्युक्त आर्यका लक्षण घट जाता है। जिसमें असंयम भाव अधिक और संयम भाव कम है उसे असंयमकी अधिकताकी अपेक्षा नीच गोत्री ही कहेंगे और जिसमें संयमभाव अधिक व पूर्ण है और असंयमभाव कम अथवा नहीं है उसे संयमकी अधिकता वा पूर्णताकी अपेक्षा ऊँच गोत्री ही कहेंगे। अर्थात् मनुष्यमें जितने अंशोंमें असंयम भाव है, उतने अंशोंमें उसके नीच गोत्रका उदय है और जितने अंशोंमें सयमभाव है उतने अंशोंमें उसके उच्च गोत्रका उदय है। इस तरह पर प्रत्येक मनुष्य प्राणीमें दोनों गोत्रोंका उदय समय समय पर पाया जाता है।

म्लेच्छोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

यद्यपि श्री विद्यानंदाचार्यने नीच आचरणरूप नीचगोत्रोदय आदि लक्षण वालोंको म्लेच्छ कहा है तथापि उनमें उच्च गोत्रोदय भी कहा जा सकता है। उच्च गोत्रोदय पाया भी जाता है। यद्यपि उच्चाचरण रूप उच्चगोत्रोदय आदि गुणवाले क्षेत्रादि पाँचों प्रकारके आर्यत्वकी पूर्णताको प्राप्त हुये आर्योंकी अपेक्षा उनमें नीच गोत्रका उदय ही पाया जाता है। तथापि उनमें, म्लेच्छों म्लेच्छोंकी अपेक्षा परस्परमें, उच्च गोत्र और नीच गोत्र भी पाया जाता है। उदाहरणके लिये जिन्हें हम म्लेच्छ समझते हैं उनमें सुना जाता है कि एक बादशाह ऐसे त्यागी हुये हैं जो राज्य कोषमें एक पैसा भी अपने भरण पोषणके लिए न ले कर किसी दूसरे प्रकारसे—अपने स्वयं शरीरसे परिश्रम करके—आजीविका करते थे और अपना व अपनी रानीका भरण पोषण करते थे दूसरे एक अपने शरीरसे भी अतिशय निस्पृह और दयालु महानुभाव उनमें हुये हैं, जो अपने शरीरके व्रणोंमें पड़े हुए कृमियों (कीड़ों) को व्रणोंमेंसे गिर जाने पर भी उठा उठा कर पीछे उन व्रणोंमें ही रख लिया करते थे। और तीसरे एक ऐसे दानी बादशाह भी उनमें हो गये हैं जो दीन दुखियोंकी पुकारको बहुत ही गौरसे सुना करते थे और उन्हें बहुत ही अधिक धन दानमें दिया करते थे। आज भी उनमें अनेक दानी, त्यागी, सत्य वादी, दयालु और अपनी इन्द्रियों पर काबू रखने वाले मौजूद हैं, जिनकी उदारता, सहायता और परोपकारता आदिसे कितने ही लोग उपकृत हुए हैं और हो रहे हैं।

अनेक गरीब तो उनकी कृपासे लक्ष्मीपति तक बन गये हैं। इस प्रकार इन म्लेच्छोंकी उदारता, दानशीलता निस्पृहता आदि उच्च गोत्ररूप उच्चाचरणके कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं नीच गोत्ररूप नीचाचरणोंके दृष्टान्तोंके लिखनेकी तो यहां कोई आवश्यकता ही नहीं क्यों कि असमर्थों पर इनके किये हुये हजारों जुल्म प्रसिद्ध ही हैं, और आज भी ये लोग नाना प्रकारके अगणित अमानुषिक, जुल्म गरीबों पर किया ही करते

हैं। इस तरह पर इनके परस्परकी अपेक्षा और आर्यत्व की न्यूनताको प्राप्त हुये क्षेत्रार्यादि अपूर्ण आर्योंकी अपेक्षा भी नीच गोत्र और उच्च गोत्र दोनोंके उदय इन म्लेच्छोंमें सिद्ध हैं।

म्लेच्छोंमें उपर्युक्त प्रकारसे उच्च गोत्रोदय तथा इसी तरह पर अपूर्ण आर्योंमें भी नीच गोत्रोदय मानने पर विद्यानन्द स्वामीके आर्य म्लेच्छ विषयक स्वरूप कथनसे विरोध भी नहीं आ सकता, क्योंकि उन्होंने आर्योंमें, उच्च गोत्रोदय, आर्यत्वके क्षेत्रादि रूपोंकी, और उच्चाचरणोंकी अधिकताकी अपेक्षा कहा है तथा म्लेच्छोंमें नीच गोत्रोदय, नीचाचरणोंकी अधिकताकी अपेक्षा कहा है। ऐसा मेरा विचार है।

नारकियोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

जैन सिद्धान्तमें नारकियोंमें जो नीच गोत्रका उदय कहा है वह उनके विशिष्ट पापोदयकी अपेक्षा और देव मनुष्यादिके मुकाबिलेमें हीन होनेकी अपेक्षासे कहा है, परन्तु इसका यह प्रयोजन नहीं है कि उनमें ऊँच गोत्रका उदय है ही नहीं। विचार करने पर उनमें अपेक्षाकृत ऊँच व नीच दोनोंका उदय विद्यमान है, ऐसा प्रतीत होता है। सामान्यतया देव-मनुष्य-तिर्यंचोंकी अपेक्षा तो उनमें नीच गोत्रका उदय है ही, परन्तु व्यक्तिगत रूपसे मिथ्यादृष्टि असुर कुमारादि पापाचारी देवोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी, तीर्थंकर व प्रकृतिबद्ध नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी देवकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी नारकीके नीच गोत्रका उदय है, क्योंकि नारकीसे देवका तद्रूप सम्यक्त्व निर्मल होता है। मिथ्यादृष्टि मनुष्यकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्यकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी नारकीके नीच गोत्रका उदय है क्योंकि नारकीके सम्यक्त्वसे मनुष्यका तद्रूप सम्यक्त्व निर्मल होता है। मिथ्यादृष्टि तिर्यंचकी अपेक्षा सम्यक्त्वी नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। सम्यक्त्वी तिर्यंचकी अपेक्षा सम्यक्त्वी नारकीके नीच गोत्रका उदय है क्योंकि नारकीके सम्यक्त्वसे तिर्यंचका तद्रूप सम्यक्त्व अपेक्षाकृत अच्छा होता है।

इसके अतिरिक्त नारकियोंमें परस्परकी अपेक्षा से भी उच्च व नीच गोत्रका उदय पाया जाता है। सातवें नरकके नारकियोंसे ऊपरके नारकियोंके उत्तरोत्तर ऊँच गोत्रका है तथा ऊपरके नारकियोंसे नीचेके नारकियोंके नीचका उदय है। मिथ्यादृष्टि नारकीकी अपेक्षा सम्यग् दृष्टि नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। सम्यक्त्वी नारकीकी अपेक्षा मुनि हो सकने वाले, केवली हो सकने वाले, और तीर्थंकर हो सकने वाले नारकियोंके उत्तरोत्तर उच्च गोत्रका उदय है। इस तरह पर नारकियोंमें उच्च व नीच दोनोंका उदय पाया जाता है। इस ऊँचता-नीचता से इनकार नहीं किया जा सकता।

तिर्यंचोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

जिनागममें तिर्यंचोंके जो नीच गोत्रका उदय बतलाया गया है उसे देव मनुष्योंकी अपेक्षा समझना चाहिये, उसे उनमें स्थायी रूपसे मान लेना सत्यतासे इनकार करना है, उनमें परस्परमें ऊँच नीचता प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होती है। पशुओंमें सिंह, शार्दूल, हाथी, अश्व, वृषभ आदि ऊँचे और अच्छे समझे जाते हैं, तथा सर्प, वृश्चिक, शृगाल, बिडाल आदि नीचे और बुरे समझे जाते हैं।

पक्षियोंमें हंस मयूर, तोता,मैना, कोकिला सारसादि ऊँचे और अच्छे समझे जाते हैं तथा काक, कुक्कुट, गृद्ध, उलूक, चील, चिमगादड़ आदि नीचे और बुरे समझे जाते हैं। पशु-पक्षियोंमें यह अच्छा व बुरा तथा ऊँचा व नीचा समझा जाना क्या है? यह ऊँच गोत्रोदय व नीच गोत्रोदय ही है। जैन आचार दृष्टिसे मिथ्यादृष्टि असुरकुमारादि पापाचारी देवोंकी अपेक्षासम्यक्दृष्टि तिर्यंचोंमें व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी तिर्यंचोंमें नीच गोत्रका उदय है क्योंकि तिर्यंचके सम्यक्त्वसे देवोंका सम्यक्त्व निर्मल होता है। चतुर्थ गुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचों में उच्च गोत्रका उदय है मिथ्यादृष्टि मनुष्यों की अपेक्षा चतुर्थ व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें ऊँच गोत्रका उदय है। सम्यक्त्वी मनुष्योंकी अपेक्षा सम्यक्त्वी तिर्यंचोंमें नीच गोत्रका उदय है, क्योंकि तिर्यंचोंके सम्यक्त्व से मनुष्योंका सम्यक्त्व निर्मल होता है। सम्यक्त्वी मनुष्योंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें उच्च गोत्रका उदय है। पंचम गुणस्थानी मनुष्योंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें नीच गोत्रका उदय है, क्योंकि तिर्यंचोंके व्रतसे मनुष्योंका व्रत ऊँचे दर्जेका होना है। मिथ्या दृष्टि नारकीकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि व चतुर्थ व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें उच्चगोत्रका उदय है। सम्यक्त्व नारकीकी अपेक्षा सम्यक्त्वी तिर्यंचोंमें उच्च गोत्रका उदय है, क्योंकि नारकीके सम्यक्त्वसे तिर्यंचका तद्रूप सम्यक्त्व निर्मल होता है। सम्क्त्वी नारकी की अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचमें उच्च गोत्र का उदय है। इस तरह पर नाना दृष्टिकोणोंसे और नाना अपेक्षाओंसे तिर्यंचोंमें भी उच्च व नीच दोनों गोत्रोंका उदय दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार ऊँच व नीच दोनों गोत्रोदय, देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच, इन चारों गतियोंके प्राणियों में प्रत्यक्ष अनुभव गोचर होते हैं।

इसमें लेखकके मन्तव्य

(१) खंडेलवाल, अग्रवाल, परवार, पाटोदी सेठी, मोनी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दिगम्बर श्वेताम्बर, मूलसंघ सेनसंघ अर्धफालक संघ और गणगच्छादि गोत्र कर्म नहीं है। ये केवल भिन्न भिन्न प्रकारके मनुष्य समूहोंको बतलाने वाले संकेत मात्र हैं।

(२) अपनी लौकिक व धार्मिक प्रत्येक विषयकी उन्नति अवनतिको 'गौत्रकर्म' कहते हैं।

(३) लौकिक विद्याओं जैसे यंत्र विद्या, गायन, वाद्य, युद्ध, वैद्यक, ज्योतिष आदि विद्याओं की उन्नति अवनति भी गोत्र कर्म (लौकिक) के ही भेद हैं।

(४) जैनसिद्धान्तमें विवक्षित गोत्रकर्म संयमा-चरण असंयमाचरणकी उन्नति अवनति रूप है।

(५) गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी १३ वीं गाथा का वह आशय नहीं है जो आमतौरसे लिया जाता है। उसमें पड़े हुए 'सन्तानक्रमेणागत' विशेषणसे अपने ही, आचरणकी परम्परा विवक्षित है—पिता प्रपितादिके आचरणकी नहीं।

(६) जीवका अपना स्वयंका आचरण ही अपना गोत्र कर्म है।

(७) अपने पिता प्रपितादिकोंसे आया हुवा आचरण अपना गोत्रकर्म नहीं है।

(८) चारों गतिके जीवोंमें ऊँच व नीच दोनों गोत्रकर्मोंका उदय प्रत्यक्ष सिद्ध व अनुभव गोचर है।

(९) इस लेखमें सिद्ध किये हुये प्रत्येक प्राणीके ऊँच-नीच गोत्रकर्मोदयसे और जिनागममें वर्णित देवोंमें उच्च मनुष्योंमें ऊँच व नीच, व नारकी तिर्यंचोंमें, नीच गोत्र कर्मोदयसे विरोध नहीं है।

(१०) अपने अपने ऊँचे व नीचे आचरणानुसार समय समय प्रति ऊँच व नीच गोत्र कर्मका रसानुभव होता रहता है।

(११) गोत्रकर्म संसारस्थ आत्माका सापेक्ष धर्म है।

(१२) गोत्र कर्मोदय स्थायी नहीं है। आदि,

विद्वानोंसे विनम्र प्रार्थना

इस लेखमें ऊँच-नीच गोत्रकर्मोदय पर जो कुछ भी लिखा गया है, वह अनेक विद्वानोंके गोत्र कर्म विषयक लेखादिकोंके अध्ययन-मनन परसे बना हुआ केवल मेरा अपना विचार है। मैं जिनागमका अभ्यासी और जानकार स्वल्प भी नहीं हूँ, केवल नाम मात्रको स्वाध्याय कर लेता हूँ, इसलिये दया करके विद्वान लोग वात्सल्य भाव पूर्वक बतलावें कि यह लेख जिनागमसे कितना अनुकूल व कितना प्रतिकूल है, ताकि मैं अपने विचारोंमें सुधार कर सकूं।

विचार-स्वातन्त्र्यके कारण, इस लेखमें मुझसे अत्युक्तियाँ अथवा अन्योक्तियाँ भी बहुत हुई होंगी, अतः कृपा कर उन मेरी अत्युक्तियों और अन्योक्तियोंको बतलानेका जरूर कष्ट उठावें, इस प्रकार समाजके सभी विद्वानोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है।

मेंडकके विषयमें एक शंका
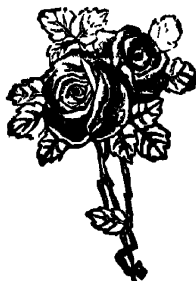
[ले०—श्री दौलतराम 'मित्र']

पंचेन्द्रिय तिर्यंच जातिके जीव लिंगकी दृष्टिसे गर्भज और अगर्भज (समूर्च्छन) दोनों प्रकारके होते हैं ऐसा गोमट्टसार-जीवकाण्डको गाथा नं० ७९ से जाना जाता है।

परन्तु सवाल यह है कि—उनमेंसे मेंडक-वर्गके जीव गर्भज हैं या समूर्च्छन ?

प्रमाण तो इसी बातके मिलते हैं कि यह जीव समूर्च्छन हैं। देखिये—

(१) "जीवे दादुर (मेंडक) बरसे तोय।
सुन बानी सरजीवन होय॥" १४॥

यह आचार्य अचलकीर्ति-कृत संस्कृत विषापहार का भाषापद्यानुवाद परमानन्दजो कृत है।

इसमें बतलाया है कि—हे भगवन्! जिस प्रकार पानी बरसने पर मेंडक सरजीवन हो जाते हैं—मरे मेंडक पीछे जी उठते हैं—उसी प्रकार आपकी वाणी सुन कर भव्य जीव नवजीवन (ज्ञान-चेतना, सम्यक्त्व) प्राप्त कर लेते हैं *।

(२) *द्वितीया दोषहानिः स्यात् काचित् मंडूक चूर्णवत्*
आत्यंतिकी तृतीयात्तु गुरू-लाघव-चिन्तया॥"

—यशोविजय (श्वे) अध्यात्मसार १-४८

इस श्लोककी टीकामें खुलासा किया गया है कि—जिस प्रकार मंडूकके चूर्णमें पीछे बहुतसे मंडूक उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार अशुभ (पाप-बन्धक) क्रियाके चूर्ण (हानी) मेंसे शुभ (पुण्य बन्धक) क्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(३) 'मेंडक तो ऐसा विचित्र जन्तु है, और अपने जन्मका ऐसा सुन्दर नाटक दिखलाता है कि लोग दंग रह जाते हैं। किसी मेंडकका चूर्ण बनाकर और बारीक कपड़ेसे छान कर शीशीमें बन्द कर लीजिये। वर्षातमें इस चूर्णको पानी बरसते समय जमीन पर डाल दीजिये, तुरन्त ही छोटे २ मेंडक कूदने लगेंगे।'

—पं०रघुनन्दन शर्म्मा, अक्षर विज्ञान पृ०२२

(४) देखनेमें आता है कि यदि आज वर्षात हो जाय तो कल ही मटीले जलाशयोंमें (जैसे पोखरे, तालाब कच्चे कुएँ आदि) दो प्रकारके मेंडक पाये जावेंगे। एक तो दो दो सेर वजनके बड़े बड़े और दूसरे तीन तीन माशे तकके छोटे २। कारण यह जान पड़ता है कि—जिन मेंडकोंके मृतक शरीर अक्षय (पूरे) रह कर मिट्टीमें दब गये उनके तो बड़े २ मेंडक बन जाते हैं, और जिनके मृतक शरीर के टुकड़े टुकड़े हो गये उनके छोटे २ मेंडक बन जाते हैं।

---

*किञ्चसद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः।
सम्यग् विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः॥

—पंचाध्यायी, २-७१८

(५) यदि कोई कहे कि अंडे गर्भज होते हैं, मेंडकके अंडे देखे गये हैं, तो उत्तर यह कि अंडों अंडोंमें फ़र्क है, अंडे गर्भज (रजवीर्यज) और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकारके होते हैं। जैसा कि पंडित बिहारीलालजी चैतन्य-रचित "बृहद् जैन शब्दार्णव' (पृ० २७७) में लिखा है कि—

"नोट ३—अंडे दो प्रकारके होते हैं, गर्भज और सम्मूर्च्छन। सीप, घोंघा, चींटी (पिपिलिका) मधुमक्षिका, अलि (भौंरा), बर्र, ततईया, आदि विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) जीवोंके अंडे सम्मूर्च्छन ही होते हैं, जो गर्भसे उत्पन्न न हो कर उन प्राणियों द्वारा कुछ विशेष जातिके पुद्गल स्कंधोंके सग्रहीत किए जाने और उनके शरीरके पसेव या मुखकी लार (ष्ठीवन) या शरीरकी उष्णता आदिके संयोगसे अंडाकारसे बन जाते हैं। या कोई सम्मूर्च्छन प्राणीके सम्मूर्च्छन अंडे योनि द्वारा उनके उदरसे निकलते हैं, परन्तु वे उदरमें भी गर्भज प्राणियोंके समान पुरुषके शुक्र और स्त्रियोंके शोणितसे नहीं बनते। क्योंकि सम्मूर्च्छन प्राणी सब नपुंसक लिंगी ही होते हैं। और न वे योनिसे सजीव निकलते हैं, किंतु बाहर आने पर जिनके उदरसे निकलते हैं उनको या उसी जातिके अन्य प्राणियोंकी मुखलार आदिके संयोगसे उनमें जीवोत्पत्ति हो जाती है।"

"नोट ४—सम्मूर्च्छन प्राणी सर्व ही नपुंसक लिंगी होने पर भी उनमें नर मादीन अर्थात् पुल्लिंगी स्त्रीलिंगी होनेकी जो कल्पना की जाती है, वह केवल उनके बड़े छोटे मोटे पतले शरीराकार और स्वभाव शक्ति और कार्यकुशलता आदि किसी न किसी गुण विशेषकी अपेक्षासे की जा सकती है। वास्तवमें उनमें गर्भज जीवोंके समान शुक्र-शोणित-द्वारा संतानोत्पत्ति करनेकी योग्यता नहीं होती।"

(६) ऐसी मुर्गियाँ मौजूद हैं, जो बिना मुर्गे का संयोग किए अंडे देती हैं, पर वह अंडे सजीव नहीं होते।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि मेंडक सम्मूर्च्छन है, गर्भज नहीं है।

मेंडकके विषयमें—यहाँ पर एक खास वार्ता (कथा) विचारणीय है। वह यह कि—भगवान महावीरकी पूजा करनेकी इच्छासे राजगृही-समवशरणके रास्ते गमन करता हुआ एक मेंडक हाथीके पाँवके नीचे दब जानेसे मर कर देव हुआ।

इस कथा पर कुछ सवाल उठते हैं—

(१) अगर वह मेंडक सम्यग्दृष्टि (४ गु०) था तो उसका गर्भज और संज्ञी होना आवश्यक है (लब्धिसार गा० २)। परन्तु मेंडक गर्भज नहीं है, सम्मूर्च्छन है।

(२) अगर वह मेंडक मिथ्यादृष्टि (३ गु०) था तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि तीसरा गुणस्थान रहते मरण नहीं होता है।

(गो० जी० २३-२४)

(३) अगर वह मेंडक मिथ्यादृष्टि (१ गु०) था तो उसके समवशरणमें जाकर तमाशा देखनेकी इच्छा तो हो सकती है, परन्तु जिन पूजा करनेकी इच्छा नहीं हो सकती है।

सच बात तो यह है कि कथाएँ दो प्रकारकी होती हैं, एक ऐतिहासिक दूसरी कल्पित। किसी प्रबोध-प्रयोजन पोषणके लिये कथाएँ कल्पित भी की जाती हैं। कहा है—

"प्रथमानुयोग विषें जे मूल कथा हैं ते तो जैसी

हैं तैसी ही निरूपित हैं। अगर तिन विषें प्रसंग पाय व्याख्यान हो है, सो कोई तो जैसाका तैसा हो है, कोई ग्रन्थकर्ताका विचारके अनुसार होय, परन्तु प्रयोजन अन्यथा न हो है।"

"बहुरि प्रसंग रूप कथा भी ग्रंथकर्ता अपने विचार अनुसार कहे जैसे "धर्मपरीक्षा" विषें मूर्खनिकी कथा लिखी, सो एही कथा मनोवेग कही थी, ऐसा नियम नाहीं; परन्तु मूर्खपनाको ही पोषती कोई वार्ता कही, ऐसा अभिप्राय पोषे है। ऐसे ही अन्यत्र जानना।"

(मोक्षमार्ग प्र०, पं० टोडरमलजी)

अतएव कल्पित कथाओंके साथ साथ सिद्धांतों की संगति नहीं बैठ सकती है। सिद्धान्तोंकी संगति तो उन्हीं कथाओंके साथ बैठेगी जो ऐतिहासिक होंगी।

मेरा ऐसा ख्याल है कि दृष्टान्त प्रामाणिक चीज है क्योंकि वह प्रत्यक्ष हो चुका है। दृष्टांतों परसे तो सिद्धान्त बने हैं, जैसे उच्चारणोंपरसे व्याकरण बना। अथवा दृष्टांत (अंतमें दिखाई देने वाली चीज) और सिद्धांत (अंतमें सिद्ध होने वाली चीज) एक ही चीज तो है।

मेंडककी कथा कल्पित जान पड़ती है। उसका यही उद्देश्य नजर आता है कि जिनपूजाके फलसे तिर्यंच भी देव हो सकता है तो मनुष्यकी तो बात ही क्या?

और भी ऐसी कथाएँ हैं जैसे सुदृष्टि सुनारकी कथा। कथानक यों है कि—अपनी स्त्रीसे मैथुन करते समय सुदृष्टि सुनार को, उसके वक्र नामक शिष्यने जो कि सुदृष्टिकी स्त्री 'विमला'से लगा हुआ था—व्यभिचार करता था—, मार डाला। मर कर वह अपनी ही स्त्रीके गर्भमें आगया। जन्मा और बड़ा होने पर जातिस्मरण हो जानेसे उसने सब बात जानी, तब उसे वैराग्य हो आया। मुनि दीक्षा ली, और तपस्या करके मोक्ष चला गया।—अब देखिये, सिद्धान्तसे तो इसका मेल (संगति) नहीं बैठता है; क्योंकि सिद्धान्त तो यह है कि—एक तो सुनार दूसरा व्यभिचारज, दोनों तरहसे शूद्र होनेसे वह मोक्ष नहीं जा सकता। परन्तु प्रयोजन (उद्देश्यसे इसका मेल बराबर बैठता है। उद्देश्य यह दिखानेका था कि देखो, संसार कैसा विचित्र है कि पिता खुद ही अपना पुत्र भी हो सकता है और स्त्री का पति भी उसका पुत्र बन सकता है!

आशा है, इस मेंडक सम्बन्धी शंका पर कोई सज्जन जरूर प्रकाश डालेंगे।

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[ले०—प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती, एम.ए. आई. ई. एस.,]

[अनुवादक—पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री बी. ए., एलएल. बी., सिवनी]

[१०वीं किरण से आगे]

कुछ विद्वानोंका कहना है कि वह ग्रन्थ आठवीं सदीका होना चाहिए,कारण उसके एक या दो पद्योंमें 'मुत्तरियर' शब्द पाया जाता है। उनके कथनका आधार यह है कि यह 'मुत्तरियर' शब्द पल्लवराज्यके भीतर रहने वाले एक छोटे नरेशको घोषित करता है। यह परिणाम केवल इस एक शब्दके साथ की अल्प शाब्दिक साक्षीके आधार पर है। इसके सिवाय और कोई साक्षी नहीं है, जिससे इस नरेशका उन जैन साधुओंसे सम्बन्ध स्थापित किया जाय, जो इन पद्योंके निर्माणके वास्तवमें जिम्मेदार थे। इसके सिवाय 'मुत्तरियर' शब्दका अर्थ 'मुक्ता-नरेश', जो पाँड्य नरेशोंको सूचित करता है, भी भली भाँति किया जा सकता है। पुरातन इतिहासमें यह बात प्रसिद्ध है, कि पाँड्य देशमें मुक्ता-अन्वेषण एक प्रधान उद्योग था, और पाड्य-तटोंसे विदेशोंको मोती भेजे जाते थे। यह उचित तथा स्वाभाविक बात है कि जैन मुनिगण पाड्यवंशीय अपने संरक्षकका गुणानुवाद करें। एक दूसरी युक्ति और है, जिसमें यह ग्रन्थ ईसाकी पिछली शताब्दियोंका बताया जाता है। विद्वानोंका अभिमत है कि इस ग्रन्थके अनेक पद्योंमें भर्तृहरि के संस्कृत ग्रंथकी प्रतिध्वनि पाई जाती है। भर्तृहरिका नीतिशतक लगभग ६५० ईसवीमें रचा गया था। अतः यह कल्पना कि जाता है, कि नालदियार सातवीं सदीके बादका होना चाहिए। यह तर्क भी त्याज्य है, कारण वे जैन विद्वान, जो संस्कृत तथा तामिल इन दोनों भाषाओंमें निपुण थे, सम्भवतः पुरातन संस्कृत सूक्तियोंसे सुपरिचित थे, जिन्हें भर्तृहरिने अपने ग्रंथमें शामिल किया है। यदि आप यह मानें कि नालदियारके लिए जिम्मेदार जैन मुनिगण कुंदकुंदाचार्यके नेतृत्व वाले द्राविड़ संघके सदस्य थे, तब भी इस रचनाको प्रथम शताब्दीके बादका सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रसंगमें यह उल्लेख करना उचित है कि तामिल भाषाकी प्रख्यात टीकाओंमें बहुत प्राचीन-कालसे नालदियारके पद्य उद्धृत हुए पाए जाते हैं। इन दो महान् ग्रन्थोंके सिवाय नीतिके अष्टादशग्रन्थोंमें सम्मिलित दूसरे ग्रंथ (यथा 'अरनेरिच्चारम्'—सद्गुण मार्गका सार, 'पलमोलि' सूक्तियां, इलादि आदि) मूलतः जैन आचार्योंकी कृतियाँ हैं। इनमेंसे हम संक्षेपमें कुछ पर विचार करेंगे।

१. अरनेरिच्चारम्—'सधर्म-मार्ग-सार'—के रचयिता तिरुमुनैप्पादियार नामक जैन विद्वान् हैं। यह अंतिम संगमकालमें हुए थे। इस महान् ग्रन्थ में ये जैनधर्मसे सम्बन्धित पंच सदाचारके सिद्धान्तोंका वर्णन करते हैं, यद्यपि ये सिद्धान्त दक्षिणके अन्य धर्मोंमें भी पाए जाते हैं। इन सिद्धान्तोंको पंचव्रत कहते हैं, जो चरित्र-सम्बन्धी

पाँच नियम हैं, और जो गृहस्थ तथा मुनियोंके लिए आवश्यक हैं। ये अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा परिमित परिग्रह कहे जाते हैं। ये सदाचार-सम्बन्धी पंचव्रत कहे जाते हैं,और अरनेरिच्चारम् नामक ग्रन्थमें इनका वर्णन है।

२. पलमोलि अथवा सूक्तिएँ—इसके रचयिता मुनरुनैयार-अरैयनार नामक जैन हैं। इसमें नालदियारके समान वेणवा वृत्तमें ४०० पद्य हैं। इसमें बहुमूल्य पुरातन सूक्तियाँ हैं, जो न केवल सदाचार के नियम ही बताती हैं बल्कि बहुत अंशमें लौकिक बुद्धित्तासे परिपूर्ण हैं। तामिलके नीतिविषयक अष्टादश ग्रन्थोंमें कुरल, नालदियारके बाद इसका तीसरा नंबर है।

३. इस अष्टादश ग्रंथ-समुदायमें सम्मिलित "तिनैमालैनूरैम्वतु" नामका एक और ग्रन्थ है जिसका रचयिता है कणिमेदैयार। यह जैन लेखक भी संगमके कवियोंमें अन्यतम हैं। यह ग्रन्थ शृंगार तथा युद्धके सिद्धान्तोंका वर्णन करता है तथा पश्चात्वर्ती महान् टीकाकारोंके द्वारा इस ग्रंथके अवतरण बखूबी लिए जाते रहे हैं। नच्चिनार्क्किनियार तथा अन्य ग्रन्थकारोंने इस ग्रन्थके अवतरण दिए हैं।

४. इस समुदायका एक ग्रन्थ 'नान्मणिक्कडिगे' अर्थात् रत्नचतुष्टय-प्रापक है। इसके लेखक जैन विद्वान विलम्बिनथर हैं। यह वेणबा छन्दमें है, जो अन्य ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है। प्रत्येक पद्यमें रत्नतुल्य सदाचारके नियम चतुष्टयका वर्णन है और इसीसे इसका नाम नान्मणिक्कडिगे है।

५. इसके बाद एलाति तथा दूसरे ग्रंथ आते हैं एलाति शब्द इलायची, कर्पूर, ईरीकारसू नामक सुगंधित काष्ठ, चन्दन तथा मधुके सुगन्धपूर्ण संग्रहको घोषित करता है। ग्रन्थके इस नामकरणका कारण यह है कि इसके प्रत्येक पद्यमें ऐसे ही सुरभिपूर्ण पाँच विषयोंका वर्णन है। इस ग्रन्थका मूल जैन है। ग्रन्थकारका नाम कणिमेडैयार है जिनकी विद्वत्ता सबके द्वारा प्रशंसित है। यह संगम साहित्यके अष्टादश लघुग्रंथोंमें अन्यतम है। लेखकके सम्बन्धमें केवल इतना ही मालूम है कि वह माक्कायनारका शिष्य तथा तामिलाशिरियरका पुत्र है, जो मदुरा संगमके सदस्य थे। साधारणतया वे ग्रंथ यद्यपि इन अष्टादशलघुग्रन्थोंमें शामिल किए जाते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि वे उसी शताब्दी के हैं। ये अनेक शताब्दियोंके होने चाहिएँ। हम कुछ दृढ़ताके साथ इतना ही कह सकते हैं, कि ये दक्षिण भारतमें हिन्दूधर्मके पुनरुद्धार कालके पूर्ववर्ती हैं। अतः इनका समय सातवीं सदीके पूर्वका होना चाहिए।

अब हम काव्य-साहित्यका वर्णन करेंगे। महाकाव्य और लघुकाव्यके भेदसे काव्य-साहित्य दो प्रकारका है। महाकाव्य संख्यामें पाँच हैं—चिंतामणि, शिलप्पडिकारम् मणिमेखलै, वलैयापति और कुंडलकेशि। इन पांच काव्योंमें चिंतामणि, सिलप्पडिकारम्, और वलैतापति तो जैन लेखकोंकी कृति हैं और शेष दो बौद्ध विद्वानोंकी कृति हैं। इन पांच मेंसे केवल तीन ही अब उपलब्ध होते हैं; कारण वलैयापति तथा कुंडलकेशि तो इस जगतसे लुप्त हो गए हैं। टीकाकारों द्वारा इधर-उधर उद्धृत कतिपय पद्योंके सिवाय इन ग्रंथोंके सम्बन्धमें कुछ भी विदित नहीं है। प्रकीर्णक रूपमें प्राप्त कतिपय पद्योंसे यह स्पष्ट है कि 'वलैयापति' जैन ग्रन्थकार

के द्वारा रचित था। कथाका क्या ढाँचा था, लेखक कौन था और वह कब विद्यमान था, ये सब बातें केवल कल्पनाकी विषय रह गई है। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थ कुंडलकेशिके लेखक अथवा उसके समय के सम्बन्धमें भी कुछ ज्ञात नहीं है। नीलकेशि ग्रंथमें उद्धृत पद्योंसे यह स्पष्ट होता है कि कुण्डलकेशि एक दार्शनिक ग्रंथ था, जिसमें वैदिक तथा जैन दर्शन जैसे अन्य दर्शनोंका खण्डन करके बौद्ध दर्शनको प्रतिष्ठित करनेकी कोशिश की गई है। दुर्भाग्यसे इन दोनों महाकाव्योंकी उपलब्धिकी कोई आशा नहीं है। प्रकाण्ड तामिल विद्वान डा. वी. स्वामिनाथ अय्यरके प्रशंसनीय परिश्रमसे केवल तीन अन्य ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध हैं। यद्यपि काव्योंकी गणनामें चिंतामणिका गौरवपूर्ण स्थान है, क्योंकि उस ग्रंथराजकी सर्वमान्य साहित्यिक कीर्ति है, परन्तु इससे यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यह गणना ऐतिहासिक क्रम पर अवलम्बित है। प्रायः वलैयापति एवं कुंडलकेशि नामक लुप्त ग्रन्थ दूसरोंकी अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टिसे पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं, किन्तु इन ग्रंथोंके विषयमें कुछ भी विदित नहीं है, अतः हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते हैं। अवशिष्ट तीन ग्रंथोंमें शिलप्पडिकारम् तथा मणिमेकलै परम्पराके द्वारा समकालीन बताए जाते हैं, किन्तु चिंतामणि प्रायः पश्चात्तवर्ती है। मणिमेकलैके बौद्ध ग्रंथ होनेके कारण हम अपनी आलोचनामें उसे स्थान नहीं दे सकते, यद्यपि कथाका सम्बन्ध शिलप्पडिकारम से है जो कि स्पष्टतया जैन ग्रन्थ है।

शिलप्पडिकारम्—'नूपुरका महाकाव्य' अत्यन्त महत्वपूर्ण तामिल ग्रंथ है, कारण वह तामिल साहित्यके समय-निर्णयमें सीमालिंगका काम देनेवाला समझा जाता है। उसके लेखक चेरके युवराज हैं, जो 'इलंगोवडिगल' नामके जैन मुनि हो गए थे। यह महान् ग्रथ साहित्यिक रिवाजोंके विषयमें प्रमाणभूत गिना जाता है और बादके टीकाकारोंके द्वारा इसी रूपमें उद्धृत किया जाता है। इसका सम्बन्ध नगरपुहार, कावेरिपूमपट्टणमके, जो चोल राज्यकी राजधानी था, महान् वणिक परिवारसे बताया जाता है। कण्णकी नामकी नायिका इसी वैश्य वंशकी थी और वह अपने शील तथा पतिभक्तिके लिए प्रख्यात थी। चूंकि इस कथामें पांड्य राज्यकी राजधानी मदुरामें नूपुर (anklet) अथवा शिलम्बु बेचनेका प्रसंग है, इसलिए यह दुःखान्त रचना नूपुर अथवा शिलम्बुका महाकाव्य कही जाती है। चूंकि इस कथामें तीन महाराज्यों का सम्बन्ध है अतः लेखक, जो चेर-युवराज्य है, पुहार, मदुरा तथा वनजी नामकी तीन बड़ी राजधानियोंका विस्तारके साथ वर्णन करता है, जिनमेंसे वनजी चेरराज्यकी राजधानी थी।

इस ग्रंथके रचयिता इलंगोवडिगल् चेरलादन नामक चेर नरेशके लघु पुत्र थे, जिसकी राजधानी वनजी थी। इलंगोवाडिगल् चेरलादनके पश्चात् होने वाले नरेश शेनगुट्टुवनका अनुज था; इसीसे उसका नाम इलंगोवाडिगल अर्थात् छोटा युवराज था। जब वह मुनि हुए तब उन्हें इलंगोवाडिगल कहते थे, 'अडिगल' शब्द मुनिका उल्लेख करने वाला एक सम्मानपूर्ण शब्द है। एक दिन जब यह साधु युवराज वनजी नामकी राजधानीमें स्थित जिनमन्दिरमें थे, तब कुछ पहाड़ी लोग उनके पास गए और उनने उस आश्चर्यकारी दृश्यका वर्णन

किया, जिसे उसने देखा था और जो कण्णकी नामकी नायिकासे सम्बन्धित था। उसने पर्वत पर एक स्त्रीको, जिसका एक स्तन नष्ट हो गया था, किस प्रकार देखा; किस तरह उसके समक्ष इन्द्र आया और किस भांति कोवलन नामक उसका पति देवके रूपमें उससे मिला और अन्तमें किस प्रकार इन्द्र उन दोनोंको विमानमें बैठाल कर ले गया; ये सब बातें चेरके युवराजके समक्ष उसके मित्र और मणिमेकलैके प्रख्यात लेखक कुलवाणिगन् शात्तन नामक कविकी मौजूदगीमें कही गईं। इस मित्रने नायक तथा नायिकाकी पूर्ण कथा कही और वह राजर्षिके द्वारा बड़ी रुचिसे सुनी गई।

शात्तनके द्वारा कथित इस कथामें तीन मुख्य तथा मूल्यवान सत्य हैं जिनमें राजर्षिने बहुत दिलचस्पी ली। पहला, अगर एक नरेश सत्यके मार्गसे तनिक भी विचलित होता है तो वह अपनी अनीतिमत्ताके प्रमाणस्वरूप अपने तथा अपने राज्यके ऊपर संकट लाएगा; दूसरा, शीलके मार्ग पर चलने वाली महिला न केवल मनुष्योंके द्वारा प्रशंसित एवं पूजित होती है किन्तु देवों तथा मुनियोंके द्वारा भी; और तीसरे कर्मोंकी गति इस प्रकारकी है कि उसका फल अवश्यंभावी है, जिससे कोई भी नहीं बच सकता और व्यक्तिके पूर्व कर्मोंका फल आगामीकालमें अवश्य भोगना पड़ेगा। इन तीन अविनाशी सत्योंका उदाहरण देनेके लिये राजर्षिने मनुष्यजातिके कल्याणके लिये इस कथाकी रचना करनेका कार्य किया। इस शिलप्पदिकारम् अथवा नूपुर (चरणभूषण) के महाकाव्यमें पहला दृश्य चोलकी राजधानी पुहारमें है। यह कावेरी नदीके मुखपर स्थित मुख्य बंदरगाह था और वह चोलनरेश करिकालकी राजधानी था। व्यापारका मुख्य केन्द्र होनेके कारण राजधानीमें बहुतसे विशाल व्यापारिक भवन थे। इनमें मासत्तुवन नामका एक प्रख्यात व्यापार था जो व्यापारियोंके शिरोमणियोंके उज्ज्वल परिवारका था। उसका पुत्र कोवलन था, जो कि इस कथाका नायक है। वह उसी नगरके मनाइकन नामके दूसरे महान् व्यापारीकी कन्या कण्णकीके साथ विवाहा गया था। कोवलन और उसकी पत्नी कण्णकी एक बड़े पैमाने पर निर्मित स्वतंत्र भवनमें अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाके अनुसार कुछ काल तक बड़े ठाठ-बाट तथा आनन्दके साथ रहते थे, गृहस्थोंके नियम तथा आचारके अनुसार उनकी प्रवृत्ति थी और उनका आनन्द पात्रभूत गृहस्थों तथा मुनियोंका अत्यधिक आदर-सत्कार करनेमें था।

जब कि वे अपने जीवनको इस प्रकार सुखसे बिता रहे थे, तब कोवलनको एक अत्यन्त सुन्दरी तथा प्रवीण माधवी नामकी नर्तकी मिली, वह उस पर आसक्त होगया और उसके अनुकूल बर्तने लगा, और इसीलिये वह अपना अधिकांश समय माधवीके साथ व्यतीत करता था, जिससे उसकी धर्मपत्नी कण्णकीको महान् दुःख होता था। इस विलासिता पूर्ण जीवनमें उसने प्रायः सब संपत्ति स्वाहा कर दी, किन्तु कण्णकीने अपना दुःख कभी भी प्रकट नहीं किया और वह उसके प्रति उसी प्रकार भक्त बनी रही जिस प्रकार कि वह अपने वैवाहिक जीवनके प्रारंभमें थी। सदा की भाँति इन्द्रोत्सवका त्यौहार अथवा प्रसंग आया। कोवलन अपनी प्रेयसीके साथ उत्सवमें

सम्मिलित होनेके लिये समुद्र तट पर गया। जबकि वे एक कोनेमें बैठे थे, कोवलनने माधवीके हाथमे वीणा ले ली और वह प्रेमकी कुछ मधुर गीतिकाएँ बजाने लगा। माधवीको तनिक शंका हुई कि उसके प्रति कोवलनका प्रेम कम हो रहा है। किन्तु जब उसके हाथमे माधवीने वीणा लेकर अपना गीत आरंभ किया, तो कोवलनको इस बातका संदेह होने लगा कि माधवीका गुप्त रूपमे किसी अन्य व्यक्तिके साथ सम्बन्ध है। इस पारस्परिक संदेहसे उनमें जुदाई हो गई, और कोवलन एक सम्माननीय गृहस्थके रूपमें फिरसे जीवन आरंम्भ करनेके पवित्र संकल्पको लेकर पूर्ण गरीबीकी अवस्थामें घर लौटा। उसकी शीलवती पत्नीने, उसकी अतीत उच्छृंखलवृत्ति पर क्षोभ व्यक्त करनेके स्थानमें उसे स्नेहके साथ धीरज बँधाया, जो शीलवती महिलाके अनुरूप था, और उसके निजके व्यवसायको पुनः आरंभ करके जीवन प्रारंभ करने सम्बन्धी निश्चय को प्रोत्साहित किया। उसके पास तो दमड़ी भी नहीं बची थी कारण जब वह अपनी प्रेयसी माधवी में आसक्त था, तब वह अपना सर्वस्व स्वाहा कर चुका था। किन्तु उसकी पत्नीके पास दो चार भूषण विद्यमान थे। वह स्त्री उनको देनेको तैयार थी, यदि वह उनको बेचकर प्राप्तकर द्रव्यसे अपना व्यवसाय आरम्भ करनेमें पुंजी लगानेकी सावधानी करे। किन्तु वह अपनी राजधानीमें अब बिल्कुल भी नहीं ठहरना चाहता था। इससे उसने इन चरण भूषणोंको पांड्यन राजधानी मदुरामें आकर बेचने का निर्णय किया। किसीको भी परिज्ञान हुए बिना वह उसी रातको अपनी पत्नीके साथ चोल राजधानीको छोड़कर मदुराके लिये रवाना हो गया। मार्गमें वह कावेरीके उत्तरतटकी ओर स्थित जैन साधुओंके एक आश्रममें पहुँचा। उस आश्रममें उनको कौंडी नामकी साध्वी मिली, जो इन दोनोंके साथ चलनेको इसलिए बिल्कुल राजी थी, कि उसे पांड्यन राजधानी मदुरामें स्थित महान् जैन-आचार्योंसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। ये तीनों मदुराकी ओर रवाना होगये। कावरी नदीको पार करनेके उपरांत जब कौलवन् और उसकी स्त्री एक तलाबके तटपर बैठे, तब अपनी दुष्टा प्रेयसीके साथ वहां भ्रमण करने वाले एक दुर्जनने कोवलन और उसकी पत्नीका बहुत तिरस्कार किया। इससे उनकी साध्वी मित्र कौंडी उत्तेजित हो उठी और उसने इनको शृगाल बननेका शाप दिया। परन्तु कोवलन एवं कण्णकीकी हार्दिक प्रार्थनाओं पर उस शापमें यह परिवर्तन किया गया कि वे अपने पूर्वरूपको एक वर्षमें प्राप्त कर लेंगे।

इस लम्बी यात्राके कष्टोंको भोगते हुए वे मदुरा के समीप पहुँचे, जो पांड्यन राजधानी थी। अपनी पत्नी कण्णकीको कौण्डीके पास और उसकी जिम्मेदारी पर सौंपकर कौवलनने नगरमें प्रवेश किया, ताकि वह उह उचित स्थानका निश्चय करे, जहां पर व्यवसाय आरम्भ करेगा। जब कौवलन अपने मित्र मादलनके साथ नगरमें अपना समय व्यतीत कर रहा था, तब कौण्डी कण्णकीको माधरी नामकी साधुस्वभाव वाली वहांकी भेड़ चराने वाली के यहां छोड़ना चाहती थी। जब कौवलन नगरसे वापिस आया, तब वह और उसकी स्त्री अयरवाड़ी लाए गए और वे उस गड़रियेकी स्त्रीके यहां ठहराए गए। उस गड़रिया स्त्रीकी लड़की

कएणकी की सेवा के लिये नियुक्त हुई जो कि अपने पति-सहित उस आयरपाडोमें प्रतिष्ठित मेहमान थी। कष्टों तथा क्षतियोंके कारण दुःखी होता हुआ कोवलन अपनी स्त्रीके पाससे बिदा होकर चरण भूषणोंमेंसे एकको बेचनेके लिए नगरी लौटा। जब वह प्रधान बाजारकी सड़क पर पहुँचा, तब उसे एक स्वर्णकार मिला। उसने अपने आपको राजाके द्वारा संरक्षित स्वर्णकार बतलाया और उससे कहा कि मेरे पास रानीके पहनने योग्य एक चरण भूषण है। उसने उससे उसका मूल्य जाँचनेको कहा। वह सुनार उसका मूल्य जाँचना चाहता था, अतः स्वामीने उस भूषणको उसे दे दिया। उस दुष्ट स्वर्णकारने अपने मनमें कोवलनको ठगनेकी बात सोची और उससे पासके घरमें ठहरनेको कहा और यह बचन दिया कि मैं राजासे इस विषयमें सौदा करूँगा, कारण वह चरण-भूषण इतना मूल्यवान है कि केवल महारानी ही उसका मूल्य दे सकेगी। इस प्रकार बेचारे कोवलिनको अकेला छोड़ कर वह उस चरण-भूषणको लेकर राजाके पास पहुँचा और उसने बात बदल कर यह कहा कि कोवलन एक चोर है, उसके पास रानीके पासका एक चरण-भूषण है, जो कुछ दिन पूर्व राजमहलसे चोरी गया था। कोई विशेष जांच किए बिना ही राजाने आज्ञा देदी कि चोरको फांसी देदी जाय तथा तत्काल ही चरण-भूषण ले लिया जाय। दुष्ट स्वर्णकार राजाके कर्मचारियोंके साथ लौटा, जिन्होंने मूर्ख राजाकी आज्ञाका अक्षरशः पालन किया, और इस तरह विदेशमें अपना जीवन आरम्भ करनेके उद्योगमें कोवलनको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। इस अर्सेमें गड़रियेकी स्त्रीके घरमें स्थित कएणकीको अपने ऊपर कहान संकटके सूचक अनेक अपशकुन दिखाई पड़े। जब गड़रियन माधरी वैगई नदीमें स्नान करने गई तब नगरसे लौट कर आने वाली एक गड़रियनसे कोवलनका हाल विदित हुआ, जो रानीके चरण भूषण चुराने के अपराधमें राजाज्ञाके अनुसार मार डाला गया था। जब यह समाचार कएणकीने सुना तब वह क्रुद्ध हुई अपने हाथमें दूसरा चरण भूषण लेकर नगरमें घुसी ताकि वह राजाके समक्ष अपने पतिके निर्दोषपनेको सिद्ध करे। राजमहलमें पहुंच कर कएणकीने द्वारपालके द्वारा यह समाचार पहुँचवाया कि मैं राजासे मिलना चाहती हूँ ताकि अपने पतिकी निर्दोषताको सिद्ध कर सकूँ, जो उचित जांचके बिना ही फाँसी पर टाँग दिया गया है। उसने राजाको बतलाया कि मेरे पतिके पाससे गृहीत चोरीके समझे गये मेरे चरण भूषणके भीतर जवाहरात थे, किन्तु महारानीके चरण-भूषणमें भीतरकी ओर मोती थे। जब कएणकीके चरण भूषणको तोड़ कर राजाको यह बात दिखाई गई, तब राजाने वैश्योंके एक कुलीन वंशके निर्दोष व्यक्तिका कठोरता पूर्वक प्राणहरण करनेकी भयंकर भूलको पहचाना। वह चिल्ला उठा कि दुष्ट सुनारने मुझसे मूर्खता पूर्ण यह भयंकर भूल कराई है और वह राज्यासनसे गिरकर मूर्छित हो गया एवं तत्काल ही प्राण-हीन हो गया। अपने पतिकी निर्दोषताको सिद्ध करनेके अनन्तर अत्यन्त क्षोभ तथा क्रोधमें कएणकीने सम्पूर्ण मदुरा नगरको शाप दिया कि वह अग्निसे भस्म हो जाय और उसने अपना वाम स्तन काट कर अपने शापके साथ नगरकी ओर फेंक दिया शापने अपना काम किया

और वह नगर जल कर भस्म हो गया। मदुराकी देवीसे यह बात जान कर कि यह सब उसके पूर्वोपार्जित कर्मोंका परिणाम है तथा यह सान्त्वना-प्रद बात जान कर कि वह एक पक्षमें देवरूपमें अपने पतिसे मिलेगी, कण्णकी मदुरा छोड़ कर पश्चिमकी ओर मलेन्दुकी ओर चली गई। तिरुच्चेन्गुण्रम नामक पर्वत पर चढ़कर वह वेनगै वृक्षकी छायामें चौदह दिन प्रतीक्षा करती रही तब एक दिन उसके पति कोवलनके देवरूपमें दर्शन हुए, जो उसे अपने विमानमें स्वर्ग ले गया, जहां वह स्वयं देवोंके द्वारा पूजित था। इस प्रकार मदुरेम्कांडम् नामका दूसरा अध्याय पूर्ण होता है।

इसके अनन्तर तीसरे भागमें, जो वंजिक काण्ड कहलाता है, चेरकी राजधानी वंजिका वर्णन है। जिन पहाड़ी लोगोंने कण्णकीको उसके पति द्वारा दिव्य विमानमें बिठा कर ले जाए जानेके महान दृश्यको देखा, उनने अपनी झोपड़ियोंमे कुरवेकूट्टु नामक उमंग पूर्ण नतनके रूपमें इस घटनाको मनाया। इसके अनन्तर इन व्याधोंने अपने राजा सेनगुट्टुवनको यह आश्चर्य-जनक घटना बतलाना चाहा और इसके लिये हर एकने राजाके लिये उपहार लेकर राजधानीकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ वे चेर नरेशसे मिले, जो कि उस समय अपनी महारानी और छोटे भाईके साथ चतुरंग सेनाके मध्यमें स्थित था। जब राजाने यह कथा सुनी कि किस प्रकार कोवलन मदुरामें मारा गया, किस प्रकार कण्णकीके शापसे नगर भस्म हो गया और किस प्रकार पाण्ड्यनरेशका प्राणान्त हुआ, तब वह कण्णकीकी महत्ता और शीलसे अत्यन्त प्रभावित हुआ। अपनी महारानीकी आकांक्षाके अनुसार उसने इस शील देवीके लिए एक मन्दिरका निर्माण कराना चाहा। इस उद्देश्यसे वह अपने मन्त्रियों एवं सेनाओंके साथ हिमालय की ओर गया ताकि वहाँसे एक चट्टान लाकर कण्णकीकी मूर्ति बनवाए और उसे उसके नामसे बनवाए हुए मन्दिरमें प्रतिष्ठित करें। मार्गमें अनेक आर्य नरेशोंने उसके साथ प्रति द्वंदिता की, जिनको चेर-नरेशने हराया और वे चेर राजधानीमें कैदीके रूपमें लाये गये। चेर राजधानीमें उसने कण्णकीके नाम पर एक मन्दिर बनवाया और प्रतिष्ठा महोत्सव कराया, जिसके अनुसार शीलकी देवी कण्णकीकी मूर्ति पूजाके लिये मन्दिरमें स्थापित की गई। इस बीचमें कोवलन एवं कण्णकीके माता पिता अपने बच्चोंके भाग्यका हाल सुनकर सब सम्पत्ति छोड़कर साधु बन गए। जब चेर नरेश सेनगुट्टुवनने शील देवताकी पूजा-निमित्त मन्दिर बनवाया, तब आर्यावर्तके अनेक नरेशों; मालवाके नरेश और लंकाधीश गजबाहुने, जो सब उस समय चेर-राजधानीमें थे, अपनी २ राजधानीमें इसी प्रकारके मन्दिर कण्णकीके लिये बनवाने का निश्चय किया और यह चाहा इसी प्रकारसे उसकी पूजाकी प्रवृत्ति की जाय, ताकि वे भी शीलके अधि देवताका आशीर्वाद प्राप्त कर सकें। इस प्रकार कण्णकीकी पूजा आरम्भ हुई जिससे पूजकोंकी सर्वसम्पत्ति एवं समृद्धिकी प्राप्ति हुई। इस प्रकार शिलप्पडिकारम्की कथा पूर्ण होती है। इसके तीन महा खंड हैं और कुल अध्याय तीस हैं। इस ग्रन्थ पर अदियारकुनल्लार-रचित एक बड़े महत्वकी टीका विद्यमान है। इस टीकाकारके सम्बन्धी कुछ भी ज्ञात नहीं है। चूंकि नच्चिनारक्किनियर नामक

पश्चात् कालीन दूसरा टीकाकार इस टीकाकारका उल्लेख करता है इससे हम इतना ही कह सकते हैं कि वह नच्चिनार्‌क्किनियरसे पूर्ववर्ती होना चाहिये। इस ग्रन्थकी महत्व पूर्ण टीकासे यह स्पष्ट है कि वह टीकाकार एक महान विद्वान हुआ होगा। वह गायन, नृत्यकला, तथा नाचशास्त्रके सिद्धान्तोंमें अत्यन्त निपुण था, यह बात इन विषयोंको स्पष्ट करने वाली टीकासे स्पष्ट विदित होती है इस नूपुर (चरण भूषण) वाले महाकाव्यमें दक्षिण भारतके इतिहासमें दिलचस्पी रखने वाले विद्वानोंके लिये बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। कनकास भाई पिल्लेके समयसे जिन्होंने १८०० वर्ष पूर्वके तामिलजन" नामका ग्रंथ लिखा अब तक यही ग्रन्थ तामिल देशके अनुसंधानक छात्रोंके परिज्ञान एवं पथप्रदर्शनके लिए कारण रहा है। सीलोनके नरेश गजवाहु वंजी राजधानीमें राजकीय अतिथियोंमेंसे एक थे, यह बात ग्रन्थके कालनिर्णय के लिए मुख्य बताई गई है। बौद्ध ग्रन्थ महावंशके अनुसार ये गजबाहु ईसाकी दूसरी शताब्दीके कहे जाते हैं। इस बातके आधार पर आलोचकोंका यह अभिमत है कि चेर-नरेश सेनगुट्टवन और उनके भाई इलंगोवडिगल ईसाके लग भग १५० वर्ष पश्चात् हुए होंगे, अतः यह ग्रन्थ उसी कालका समझा जाना चाहिये। इस बात पर सभी एक मत नहीं है, किंतु जो इस विषयमें भिन्न मत हैं, वे महावंशमें वर्जित गजवाहु द्वितीयके अनेक शताब्दी पीछेके कालमें इसे खेंचते हैं। मिस्टर लोगन (Logan) अपनी मलाबार डिस्ट्रिक्ट मेनुअलम अनेक महत्वकी बातें बताते हैं जिनसे कि हिन्दू धर्मके प्रवेशसे पहले मलाबारमें जैनियोंका प्रभाव व्यक्त होता है चूंकि इस समय काल निर्णयकी बातमें हमारी साक्षात् रुचि नहीं है अतः हम इस बातको इतिहासके विद्वानोंके लिए छोड़ते हैं। हमारी रायमें इस ग्रन्थका द्वितीय शताब्दी वाले गजवाहुसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी बात सर्वथा असम्भव नहीं है। किन्तु हम एक महत्वपूर्ण बात पर जोर देना चाहते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थमें हम अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्तोंका स्पष्टीकिरण एवं उस पर विशेष जोरसे वर्णन पाते हैं तथा कहीं २ इस सिद्धान्तके अनुसार मन्दिर पूजाका भी उल्लेख पाया जाता है। इस समयके लगभग सम्पूर्ण तामिल देशमें पुष्पोंसे पूजा प्रचलित थी। इसे "पुष्पकी" अर्थात् पुष्पोंसे बलि कहते हैं। 'बलि' शब्द तो यज्ञोंमें होने वाले बलिदानको बताता है और पुष्प बलिका अर्थ टीकाकार पुष्पोंसे ईश्वरकी पूजा करना बताते हैं।

—*—

प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी 'समीक्षा'

[सम्पादकीय]

१

अब मैं प्रो० साहबकी उस समीक्षाकी परीक्षा करता हूँ जो उन्होंने उक्त 'सम्पादकीय-विचारणा' पर लिखी है और उसके द्वारा यह बतला देना चाहता हूँ कि वह कहाँ तक निःसार है:—

(सम्बन्ध वाक्य)

प्रो० साहबने अपनी मान्यता एव धारणाको सत्य सिद्ध करने और उसे दूसरे विद्वानोंके गले उतारनेके लिये अपने पूर्व लेख (अनेकान्त वर्ष ३, किरण ४) में जिन युक्तियों (मुद्दों) का आश्रय लिया था उन्हें आपने चार भागोंमें बाँटा था। अर्थात्—

(१) प्रथम भागके चार उपभागोंमें कुछ दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्रपाठोंका उल्लेख करके यह नतीजा निकाला था कि—"इत्यादिरूपमें राजवार्तिकमें तत्त्वार्थ-सूत्रोंके पाठभेदका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि उनके सामने कोई दूसरा पाठ अवश्य था, जिसे अकलंकने स्वीकार नहीं किया।"

(२) दूसरे भागमें स्वयं ही यह शंका उठाकर कि "सूत्रपाठमें भेद होनेका जो अकलकने उल्लेख किया है उससे यही सिद्ध होता है कि उनके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ था, जिसे दिगम्बर लोग न मानते थे लेकिन इससे यह नहीं कहा जासकता कि वह सूत्रपाठ तत्त्वार्थाधिगम भाष्यका ही था। संभव है वह अन्य कोई दूसरा ही पाठ रहा हो।" और साथ ही यह बतलाकर कि अकलंकके सामने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि मौजूद थी तथा उन्होंने सर्वार्थसिद्धिको सामने रख कर ही राज-वार्तिकको लिखा है," शब्दसादृश्यको लिये हुए कुछ तुलनात्मक उदाहरण यह सिद्ध करनेके लिये दिये थे कि 'राजवार्तिककारने उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यका भी काफी उपयोग किया है। और उनके द्वारा अपनी इस दृष्टि एवं धारणाको व्यक्त किया था कि जो बातें सर्वार्थसिद्धिमें नहीं अथवा सक्षेपसे पाई जाती हैं और भाष्यमें हैं अथवा कुछ विस्तारसे उपलब्ध होती हैं, वे सब राजवार्तिकमें प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्यसे ही ली गई हैं।

(३) तीसरे भागमें "इतना ही नहीं" इन शब्दोंके साथ एक कदम आगे बढ़कर यह भी प्रतिपादन किया था कि "राजवार्तिककारने तत्त्वार्थभाष्यकी पक्तियाँ उठा कर उनकी वार्तिक बनाकर उन पर विवेचन किया है। उदाहरणके लिये '**अद्धासमयप्रतिषेधार्थं च**' यह भाष्यकी पंक्ति है (५-१); इसे '**अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च**' वार्तिक बनाकर इस पर अकलंकका विवेचन है।" साथ ही, यह सूचना भी की थी कि इसी तरह अकलकदेवने भाष्य में उल्लिखित काल, परमाणु आदिकी मान्यताओं पर भी यथोचित विचार किया है। और उनसे अपने कथन की संगति बैठानेका प्रयत्न किया है। अवश्य ही कहीं विरोध भी किया है।" और फिर (तदनन्तर ही) यह

नतीजा निकाला था। कि—"इससे ऊपरकी (नं० २ में वर्णित) शंकाका निरसन हो जाता है, और इससे मालूम होता है कि अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्र पाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्वार्थभाष्य मौजूद था, जिसका उपयोग उन्होंने वार्तिक अथवा वार्तिकके विवेचनरूपमें यथास्थान किया है।'

(४) चौथे भागमें कुछ उद्धरणोंको तीन उपभागों (क, ख, ग) में इस प्रतिज्ञाके साथ दिया था कि, "उनमें अकलंकदेवने भाष्यके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है, इतना ही नहीं उसके प्रति बहुमान का भी प्रदर्शन किया है।" उनमेंसे पहला उद्धरण है—"उक्तं हि-अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणागुणा इति;" दूसरा उद्धरण है—"कालोपसंख्यानमिति चेन्न वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्स्यादेतत कालोऽपि कश्चिदजीव-पदार्थोऽस्ति अतश्चास्ति यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं अतोस्योपसंख्यानं कर्तव्यं इति ? तन्न, किं कारणं वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्।" और तीसरा उद्धरण है राजवार्तिककी अन्तिम कारिकाका, जो ग्रन्थके अन्तमें 'उक्तंच'रूपसे दी हुई ३२ कारिकाओंके अनन्तर ग्रन्थकी समाप्तिको सूचित करने वाली है। यद्यपि वह मुद्रित प्रतिमें नहीं पाई जाती परन्तु पूना आदिकी कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध है और वह इस प्रकार है—

"इति तत्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः।
यत्र संनिहितस्तर्कः न्यायागमविनिर्णयः॥"

इस तरह पिछले दो उद्धरणोंमें प्रयुक्त हुए 'भाष्ये' और 'भाष्यं'पदोंका वाच्य ही उक्त श्वेताम्बरीय तत्वार्थाधिगमभाष्य सुझाया था और पहले उद्धरणमें प्रयुक्त हुए 'अर्हत्प्रवचने' पदके विषयमें स्पष्ट लिखा था कि "यहाँ अर्हत्प्रवचनसे तत्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय मालूम होता है।" साथ ही, यह भी बतलाया था कि श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धसेनगणि भी इस (भाष्य) का 'अर्हत्प्रवचन नामसे उल्लेख करते हैं।" और प्रमाणमें सिद्धसेनकी तत्वार्थवृत्तिका यह वाक्य उद्धृत किया था—"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः।"

और अन्तमें उक्त कारिकाका यह अर्थ देकर कि "उत्तम पुरुषोंने तत्वार्थसूत्रका भाष्य लिखा है, उसमें तर्क सनिहित है और न्याय आगमका निर्णय है" यह नतीजा निकाला था कि "अकलंकदेव तो तत्वार्थाधिगम भाष्यसे अच्छी तरह परिचित थे, और वे तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्ताको एक मानते थे।"

प्रो० साहबके इस युक्ति-जालसे वह बात सिद्ध होती है या कि नहीं जिसे आप सिद्ध करके दूसरोंके गले उतारना चाहते है, इतनी बातका विचार करनेके लिये ही उक्त 'सम्पादकीय विचारणा' लिखी गई थी; जैसाकि उसके शुरूके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे भी प्रकट है—

"यह सब बात जिस आधार पर कही गई है अथवा जिन मुद्दों आदि (उल्लेखों)के बल पर सुझानेकी चेष्टाकी गई है उन परसे ठीक—बिना किसी विशेष बाधाके—फलित होती है या कि नहीं, यही मेरी इस विचारणाका मुख्य विषय है।"

और इसलिये 'विचारणा' में, प्रो० साहबकी उक्तियोंकी जाँच करके उन्हें सदोष एवं बाधित सिद्ध करते हुए इतना ही बतलाया गया था कि उनके आधार पर प्रो० साहब जो नतीजा निकालना चाहते हैं वह नहीं निकाला जा सकता। इसके अतिरिक्त 'विचा-

रणा' में अपनी ओरसे कोई खास दावा उपस्थित नहीं किया गया--अपनी तरफसे किसी नये दावेको पेश करके साबित करना उसका लक्ष्य ही नहीं रहा है। ऐसी हालतमें विचारणाकी समीक्षा लिखते हुए प्रो० साहबको उचित तो यह था कि वे उनमें उन दोषोंका भले प्रकार परिमार्जन करते जो उनकी युक्तियों पर लगाये गये हैं--अर्थात् यह सिद्ध करके बतलाते कि वे दोष नहीं दोषाभास हैं, और इसलिये उनकी युक्तियाँ अपने साध्यकी सिद्धि करनेके लिये निर्बल और असमर्थ नहीं किन्तु सबल और समर्थ हैं। परन्तु ऐसा न करके, प्रो० साहबने 'विचारणा' की कुछ बातोंको ही अन्यथा रूपमें पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया है और उसके द्वारा अपनी समीक्षाका कुछ रंग जमाना चाहा है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है—

"आगे चलकर तो मुख्तार साहबने एक विचित्र कल्पना कर डाली है। आपका तर्क है, क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है, अतएव राजवार्तिकमें **"उक्तं हि अर्हत्प्रवचने"** आदि पाठ भी अशुद्ध हैं; तथा 'अर्हत्प्रवचन' के स्थान पर 'अर्हत्प्रचनहृदय' होना चाहिये।"

इस वाक्यमें यह प्रकट किया गया है कि मैंने यह दावा किया है कि "उक्तंहि **'अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः'** यह पाठ अशुद्ध है तथा 'अर्हत्प्रचन' के स्थान पर 'अर्हत्प्रचन हृदय' होना चाहिये; और अपने इस दावेको सिद्ध करनेके लिये सिर्फ यह युक्ति दी है कि "क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है।" परन्तु मैंने अपनी 'विचारणामें', जिसे पाठक देख सकते हैं, कहीं भी उक्त रूपका दावा नहीं किया और न उक्त तर्क ही उपस्थित किया है। प्रो० साहबने अपनी युक्तियोंके चौथे भागमें सबसे पहले **"उक्तं हि अर्हत्प्रवचने"** इत्यादि वाक्यको उद्धृत करके जो यह बतलाया था कि **"यहाँ** 'अर्हत्प्रवचन' से 'तत्त्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय मालूम होता है," और इसकी पुष्टिमें सिद्धसेनगणिके एक वाक्यको उद्धृत किया था उस सब पर विचार करते हुए मैंने जो अपनी 'विचारणा' प्रस्तुत की थी वह सब इस प्रकार है--

" **'उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा इति'** यह मुद्रित राजवार्तिकका पाठ जरूर है; परन्तु इसमे उल्लिखित 'अर्हत्प्रवचन' से तत्त्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय है ऐसा लेखक महोदयने जो घोषित किया है वह कहाँसे और कैसे फलित होता है यह कुछ समझमें नहीं आता। इस वाक्यमें गुणोंके लक्षणको लिये हुए जिस सूत्रका उल्लेख है वह तत्वार्थाधिगमसूत्रके पाँचवें अध्याय का ४० वाँ सूत्र है, और इसलिये प्रकटरूपमें 'अर्हत्प्रवचन'का अभिप्राय यहाँ उमास्वातिके मूल तत्वार्थाधिगमसूत्रका ही जान पड़ता है—तत्त्वार्थभाष्यका नहीं। सिद्धसेनगणिका जो वाक्य प्रमाणमें उद्धृत किया गया है उसमें भी 'अर्हत्प्रवचन' यह विशेषण प्रायः तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है--मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं। इसके सिवाय, राजवार्तिकमें उक्त वाक्यसे पहले यह वाक्य दिया हुआ है—"**अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्** ।" और तत्सम्बन्धी वार्तिक भी इस रूपमें दिया है—"**गुणाभावादयुक्तिरिति चेन्नाहंत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्** ।" इससे उल्लेखित ग्रन्थका नाम '**अर्हत्प्रवचनहृदय**' जान पड़ता है, जो उमास्वातिकर्तृकसे भिन्न कोई दूसरा ही महत्वका ग्रन्थ होगा। बहुत संभव है कि '**अर्हत्प्रवचनहृदये**' के स्थान पर '**अर्हत्प्रवचने**' छप गया हो। इस मुद्रित प्रतिके अशुद्ध होनेको प्रोफेसर साहबने स्वयं अपने लेखके शुरूमें स्वी-

कार भी किया है। अतः उक्त वाक्यमें '**अर्हत्प्रवचने**' पद के प्रयोगमात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जासकता कि अकलंकदेवके सामने वर्तमानमें उपलब्ध होने वाला श्वेताम्बर-सम्मत तत्वार्थभाष्य मौजूद था, उन्होंने उसके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है और उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शित किया है।' अकलंकदेवने तो इस भाष्यमें पाये जाने वाले कुछ सूत्रपाठोंको आर्षविरोधी-अनार्ष तथा विद्वानोंके लिये अग्राह्य तक लिखा है। तब इस भाष्यके प्रति, जिसमें वैसे सूत्रपाठ पाये जाते हों, उनके बहुमान-प्रदर्शनकी कथा कहाँ तक ठीक हो सकती है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।"

इससे स्पष्ट है कि विचारणामें उक्त प्रकारका कोई दावा अथवा तर्क उपस्थित नहीं किया गया है। '**अर्हत्प्रवचनहृदये**' के स्थान पर '**अर्हत्प्रवचने**' के छपनेकी संभावना जरूर व्यक्त की गई है परन्तु निश्चितरूपसे यह नहीं कहा गया कि '**अर्हत्प्रवचने**' पाठ अशुद्ध है, जिससे वह दावेकी कोटिमें आजाता—सम्भावना सम्भावना ही होती है, उसे दावा नहीं कह सकते। और संभावनाकी कल्पनाका कारण भी यह नहीं है कि "राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है" जिसे मेरे बिना कहे भी मेरी ओरसे इस बातको सिद्ध करनेके लिये हेतुरूपमें प्रस्तुत किया गया है कि उक्त "**अर्हत्प्रवचने**' पाठ अशुद्ध है; बल्कि यह कारण है कि—राजवार्तिकके "**गुणाभावादयुक्तिरितिचेन्नार्हत्प्रवचनहृदयादिषुगुणोपदेशात्**" इस वार्तिक (५, ३७, २) के भाष्यमें यह बहस उठा कर कि 'गुण यह संज्ञा अन्य शास्त्रोंकी है, अर्हतोंके शास्त्रोंमें तो द्रव्य और पर्याय इन दोनोंका उपदेश होनेसे ये दो ही तत्व हैं, इसीसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो मूल नय माने गये हैं। यदि गुण भी कोई तत्व होता तो उसके विषय को लेकर मूलनयके तीन भेद होने चाहियें थे—तीसरा मूलनय गुणार्थिक होना चाहिये था—परन्तु वह तीसरा नय नहीं है। अतः गुणाभावके कारण (द्रव्यके लिये) गुणपर्यायवान् ऐसा निर्देश ठीक नहीं है,‡ समाधानरूपमें कहा गया है—"**तन्न किं कारणं? अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्**"। अर्थात् यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि '**अर्हत्प्रवचनहृदय**' आदि शास्त्रोंमें गुणका उपदेश पाया जाता है। इसके अनन्तर ही उन शास्त्रोंके दो प्रमाण निम्न रूपसे उद्धृत किये गये हैं, जिनमेंसे एकके साथमें प्रमाण ग्रन्थकी सूचनाके रूपमें वही '**अर्हत्प्रवचने**' पद लगा हुआ है और दूसरेके साथमें पूर्व ग्रन्थसे भिन्नताका द्योतक '**अन्यत्र**' पद जुड़ा हुआ है।

"**उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा इति**"

"**अन्यत्र चोक्तं**—

गुण इदि दव्वविधाणं दव्वविकारोय पज्जयो भणिदो। तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चं ॥ १ ॥ इति

इनमेंसे पहला प्रमाण, कथनक्रमको देखते हुए, **अर्हत्प्रवचनहृदय**का और दूसरा उन शास्त्रोंमेंसे किसी एकका है जिनका ग्रहण '**अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु**' इस पदमें '**आदि**' शब्दके द्वारा किया गया है।

---

‡ "**गुणा इति संज्ञा तंत्रान्तराणां, आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितयमेव तत्वं अतश्च द्वितयमेव तदुपदेशात्। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोपि कश्चित्स्यात्, तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यं। न चास्त्यसावित्यतो गुणाभावात्, गुणपर्यायवदिति निर्देशो न युज्यते?**

दूसरे प्रमाणमें दी हुई गाथा 'सर्वार्थसिद्धि' में भी 'उक्तं च'रूपसे पाई जाती है और इससे वह कुन्दकुन्दादि-जैसे प्राचीन आचार्योंके किसी ग्रन्थकी गाथा जान पड़ती है। ऐसी हालतमें कथनके पूर्वापर-सम्बन्धको देखते हुए, 'अर्हत्प्रवचने' के स्थान पर 'अर्हत्प्रवचनहृदये' पाठके होनेकी बहुत बड़ी संभावना है, इसी एक कारणसे मैंने इस संभावनाकी कल्पना की थी, जिसे समीक्षामें प्रकट भी नहीं किया गया! और यहाँ तक लिख दिया गया है कि "इस कल्पनाका कोई आधार नहीं"!! साथ ही,यह बात भी कह दी गई है कि 'यदि मैं किसी हस्तलिखित प्रति परसे उक्त पाठको मिलान करने का कष्ट उठाता तो मुझे शायद वैसी कल्पना करनेका अवसर ही न मिलता,' जो उक्त विवेचन तथा आगेके स्पष्टीकरणकी रोशनीमें निरर्थक जान पड़ती है। क्योंकि कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें वही पाठ होने पर भी कथन के पूर्वाऽपरसम्बन्ध परसे जो नतीजा निकाला गया है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। तब 'अर्हत्प्रवचन' पद 'अर्हत्प्रवचनहृदये' का ही संक्षिप्तरूप कहा जासकता है। बाकी प्रो० साहबने अपने लेखमें वर्तमानके मुद्रित राजवार्तिकको खुद ही अधिक अशुद्ध बतलाया था, इसलिये मैंने साथमें यह भी लिख दिया था कि "इस मुद्रित प्रतिके अशुद्ध होनेको प्रोफेसरसाहबने स्वयं अपने लेखके शुरूमें स्वीकार भी किया है;" परन्तु ऐसा तर्क नहीं किया था कि "क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है अतएव······।"

इस एक नमूने और उसके विवेचनपरसे साफ प्रकटहै कि समीक्षामें सम्पादकीय विचारणाको गलतरूप से प्रस्तुत करनेका भी आयोजन किया गया है, जिससे 'समीक्षा'समीक्षा-पदके योग्य नहीं रहती और न समीक्षक का उसमें कोई सदुद्देश्य ही कहा जासकता है। साथ ही प्रोफेसर जैसे विद्वानोंके लिये ऐसा करना शोभा भी नहीं देता। अस्तु।

अब देखना यह है कि समीक्षामें अन्य प्रकारसे क्या कुछ कहा गया है। मेरी (सम्पादकीय) 'विचारणा' का जो अंश ऊपर उद्धृत किया गया है उसकी अन्तिम पंक्तियोंमें भाष्यके प्रति अकलंकके बहुमान-प्रदर्शनकी बात पर जो आपत्तिकी गई है उसका तो समीक्षामें कहीं कोई विरोध नहीं किया गया, जिससे मालूम होता है प्रो०साहबने मेरी उस आपत्तिको स्वीकार कर लिया है। शेष अंशकी समीक्षाको क्रमशः ज्योंका त्यों नीचे दिया जाता है। साथ ही, आलोचनाको लिये हुए उसकी परीक्षा भी दी जाती है, जिससे पाठकोंको उसका मूल्य भी साथ-साथ मालूम होता रहेः—

१ समीक्षा—"मुख्तारसाहब लिखते हैं—" 'अर्हत्प्रवचनका तात्पर्य मूलतत्वार्थाधिगमसूत्रसे है, तत्वार्थ भाष्यसे नहीं।" अच्छा होता प० जुगलकिशोरजी इस कथनके समर्थनमें कोई युक्ति देते।"

१ परीक्षा—यहाँ डबल इनवर्टेड कामाज़के भीतर जो वाक्य दिया है और जिसका मेरी ओरसे लिखा जाना प्रकट किया है वह उस रूपमें मेरा वाक्य न हो कर प्रो० साहबके साँचेमें ढला हुआ वाक्य है, जिसे कुछ काट-छाँट करके रक्खा गया है—इस बातको पाठक 'विचारणा'की ऊपर उद्धृत की हुई पंक्तियों परसे सहज ही मालूम कर सकते हैं। अन्यत्र भी वाक्यों के उद्धृत करनेमें इस प्रकारकी काट छाँट की गई है, जो प्रामाणिकता एवं विचारकी दृष्टिसे उचित मालूम नहीं होती। इस काट-छाँटके द्वारा मेरे वाक्यके शुरूका "प्रकटरूपमें" जैसा आवश्यक अंश भी निकाल दिया है, जो इस बातको सूचित करनेके लिये था कि 'अर्हत्प्रवचन' का अभिप्राय प्रकटरूपमें (बाह्यदृष्टिसे) मूल-

तत्वार्थाधिगम सूत्रका जान पड़ता है, सर्वथा नहीं। आभ्यन्तर अथवा साहित्यके पूर्वापरसम्बन्धकी दृष्टिसे विचार करने पर वह 'अर्हत्प्रवचनहृदय' का वाचक जान पडता है, जिसके स्थान पर वह या तो गलत छपा है और या उसके लिये संक्षिप्त रूपमें प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ऊपर ज़ाहिर किया जाचुका है।

रही कथनके समर्थनमें कोई युक्ति न देनेकी शिकायत, वह बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है! वह कथन तो 'विचारणा' में युक्ति देनेके अनन्तर ही "इसलिये प्रकटरूपमें" इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है। "उक्तंहि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' इति," इस वाक्यमें गुणोंके लक्षणको लिये हुए जिस सूत्रका उल्लेख है वह चूंकि तत्वार्थाधिगमसूत्रके पाँचवें अध्यायका ४० वाँ सूत्र है, इसलिये प्रकटरूपमें 'अर्हत्प्रवचन' का अभिप्राय यहाँ उमास्वातिके मूलतत्वार्थाधिगमसूत्रका जान पड़ता है, यह कथन क्या प्रो० साहब की समझमें युक्तिविहीन है? यदि है तो ऐसी समझ की बलिहारी है! और यदि नहीं तो कहना होगा कि समीक्षामें युक्ति न देनेकी शिकायत करके 'विचारणा' को गलतरूपमें प्रस्तुत किया गया है।

यहाँपर इतना और भी जान लेना चाहिये कि 'विचारणा' के शुरूमें जो यह पूछा गया था कि राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें उल्लेखित 'अर्हत्प्रवचन' से तत्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय है—मूलसूत्रका नहीं, ऐसा जो प्रो० साहबने घोषित किया है वह कहाँसे और कैसे फलित होता है? उसका समीक्षामें कोई उत्तर अथवा समाधान नहीं है।

२ समीक्षा—"सिद्धसेनगणिके वाक्यमें अर्हत्प्रवचन विशेषण प्रायः तत्वार्थाधिगमसूत्रके लिये है, मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं।" यहाँ प्रायः शब्दसे आपको क्या इष्ट है, यह भी स्पष्ट नहीं होता।" (इसके बाद सिद्धसेनगणिका वह वाक्य फिरसे दिया है, जो प्रो० साहबके चौथे भागकी युक्तियोंका उल्लेख करते हुए ऊपर उद्धृत किया जाचुका है।)

२ परीक्षा—उक्त वाक्यमें प्रयुक्त हुए "मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं" इन शब्दों परसे 'प्रायः' शब्दके इष्टको सहज ही में समझा जासकता है। वह बतलाता है कि 'अर्हत्प्रवचन' विशेषण, जो 'तत्वार्थाधिगम' नामक सूत्रके ठीक पूर्वमें पड़ा है वह अधिकांश में अपने उत्तरवर्ती विशेष्य (तत्वार्थाधिगम) के लिये ही प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि दूसरे नम्बर पर पड़े हुए 'भाष्य' का "उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्र" यह विशेषण भाष्य शब्दके साथ जुड़ा हुआ है और तीसरे नम्बर पर पड़ी हुई 'टीका' के दो विशेषण—'भाष्यानुसारिणी' और 'सिद्धसेनगणिविरचिता'—उसी 'टीकायां' पदके आगे-पीछे लगेहुए हैं। इस तरह उक्त वाक्यमें मूल तत्वार्थाधिगम सूत्र, भाष्य और टीका तीनों ग्रन्थोंके मुख्य विशेषणोंकी अलग अलग व्यवस्था है। मूलसूत्र और भाष्यका एक ही ग्रन्थकर्ता माने जानेकी हालतमें मूलसूत्र (तत्वार्थाधिगम) के 'अर्हत्प्रवचन' विशेषणको वहाँ कथंचित् भाष्यका विशेषण भी कहा जासकता है—सर्वथा नहीं। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि जहाँ भी 'अर्हत्प्रवचन' का उल्लेख देखा जाय वहाँ उसे तत्वार्थाधिगमसूत्रका प्रस्तुत भाष्य समझ लिया जाय। ऐसा समझना नितान्त भ्रम तथा भूल होगा। इसी अनेकान्तका द्योतन करनेके लिये उक्त वाक्यमें 'प्रायः' तथा 'मात्र' जैसे शब्दोंका प्रयोग हुआ है। जो कथनके पूर्वापरसम्बंध परसे भले प्रकार समझा जासकता है।

३ समीक्षा—"यहाँ [सिद्धसेनगणिके उक्त वाक्यमें] अर्हत्प्रवचने, तत्वार्थाधिगमे और उमास्वातिवाचकोपज्ञ-

सूत्रभाष्ये—ये तीनों पद सप्तम्यन्त हैं । उमास्वाति-वाचकोपज्ञसूत्रभाष्यसे स्पष्ट है कि उमास्वातिवाचकका स्वोपज्ञ कोई भाष्य है। इसका नाम तत्त्वार्थाधिगम है। इसे अर्हत्प्रवचन भी कहा जाता है। स्वयं उमास्वातिने अपने भाष्यकी निम्न कारिकामें इसका समर्थन किया है—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथं ।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥"

१ परीक्षा—यह ठीक है कि 'अर्हत्प्रवचने' आदि तीनों पद सप्तम्यन्त हैं; परन्तु सप्तम्यन्त होने मात्रसे क्या सिद्ध होता है? यह यहाँ कुछ बतलाया नहीं गया! यदि सप्तम्यन्त होने मात्रसे प्रो० साहबको यह बतलाना इष्ट हो कि जो जो पद सप्तम्यन्त हैं वे सब एक ही ग्रन्थ के वाचक है तो क्या उक्त वाक्यमें प्रयुक्त हुए दूसरे सप्तम्यन्त पदों—'**टीकायां**' आदिका वाच्य भी आप एक ही ग्रन्थ बतलाएँगे? यदि ऐसा न बतलाकर टीका को भाष्यसे अलग ग्रन्थ बतलाएँगे तो फिर टीका और भाष्यसे भिन्न मूल 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्रको वहाँ अलग ग्रन्थरूपसे उल्लेखित बतलानेमें क्या आपत्ति हो सकती है! सिद्धसेनकी तत्त्वार्थवृत्तिमें तो मूलसूत्र, सूत्रका भाष्य और भाष्यानुसारिणी टीका तीनों ही शामिल हैं और तीनों ही की समाप्तिको लिये हुए सप्तम अध्यायका उक्त संधिवाक्य (पुष्पिका) है। ऐसा भी नहीं कि सप्तम अध्यायका जो विषय 'अनगारागारि-धर्मप्ररुपण' बतलाया है वह मूलसूत्रका विषय न होकर भाष्य तथा टीकाका ही विषय हो। ऐसी हालतमें '**तत्त्वार्थाधिगमे**' पदको उसके '**अर्हत्प्रवचने**' विशेषण-सहित मूलतत्त्वार्थ-सूत्रका वाचक न मानना युक्तिशून्य जान पड़ता है। वास्तवमें उक्त वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—

'तत्त्वार्थाधिगम नामके अर्हत्प्रवचनमें, उमास्वाति-वाचकोपज्ञसूत्रभाष्यमें, और भाष्यानुसारिणी टीकामें, जोकि सिद्धसेनगणि-विरचित है, अनगार (मुनि) और अगारि (गृहस्थ) धर्मका प्ररूपक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।'

और इसलिये प्रो० साहबका '**अर्हत्प्रवचने**' आदि तीन सप्तम्यन्त पदोंको एक ही ग्रन्थ '**भाष्य**' का वाचक समझना और यह बतलाना कि भाष्यका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम' है और उसीको 'अर्हत्प्रवचन' भी कहा जाता है, नितान्त भ्रममूलक है। भाष्यका नाम न तो 'तत्त्वार्थाधिगम' है और न 'अर्हत्प्रवचन'; 'तत्त्वार्थाधिगम' मूल-सूत्रका नाम है और 'अर्हत्प्रवचन' यहाँ 'अर्हत्प्रवचन-संग्रह' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है, जो कि मूलतत्त्वार्थ सूत्रका ही नाम है; जैसाकि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता द्वारा संवत् १९५६ में प्रकाशित तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके निम्न संधिवाक्यसे प्रकट है—

"इति तत्त्वार्थाधिगमाख्येऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे देवगति-प्रदर्शनो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।"

तत्त्वार्थसूत्रके इस संस्करणमें, जो बहुतसी ग्रंथ-प्रतियोंके आधार पर भाष्य-सहित मुद्रित हुआ है, सर्वत्र संधिवाक्योंमें 'तत्त्वार्थाधिगम' और 'अर्हत्प्रवचनसंग्रह' ये दोनों ही नाम मूलसूत्रके दिये हैं। तत्त्वार्थसूत्रकी जिस सटिप्पण प्रतिका परिचय मैंने अनेकान्तके 'वीरशासनाङ्क' में दिया था उसमें भी सर्वत्र '**इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्र-वचनसंग्रहे प्रथमो (द्वितीयो, तृतीयो···) ऽध्यायः**' रूपसे मूलसूत्रके लिये इन्हीं दोनों नामोंका प्रयोग किया है। खुद सिद्धसेनगणिकी टीकामें भी दूसरे अनेक स्थानों पर जहाँ भाष्यका नाम भी साथमें उल्लेखित

नहीं है*, इन्हीं दोनों नामोंका मूलसूत्रके लिये प्रयोग पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

"इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हंत्प्रवचनसंग्रहे भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां(वृत्तौ)संवर(मोक्ष) स्वरूपनिरूपको नवमो (दशमो)ऽध्यायः।"

इसके अतिरिक्त भाष्यकी जिस कारिकाको प्रो० साहबने अपने कथनकी पुष्टिमें प्रमाणरूपसे पेश किया है उसमें भी 'तत्त्वार्थाधिगम' यह नाम मूल सूत्रग्रंथ (बह्वर्थं लघुग्रंथ) का बतलाया है और साथ ही उसे 'अर्हद्वचनैकदेशका संग्रह' बतलाकर प्रकारान्तरसे उसका दूसरा नाम 'अर्हत्प्रवचनसंग्रह' भी सूचित किया है—भाष्यके लिये इन दोनों नामोंका प्रयोग नहीं किया है, जैसा कि प्रो० साहब समझ बैठे हैं! चुनाँचे खुद प्रो० साहबके मान्य विद्वान् सिद्धसेन गणि भी इस कारिकाकी टीकामें ऐसा ही सूचित करते हैं, वे 'तत्त्वार्थाधिगम' को इस सूत्रग्रन्थकी अन्वर्थ (गौणयाख्या) संज्ञा बतलाते हैं और साफ़ तौरसे यहाँ तक लिखते हैं कि जिस लघुग्रन्थके कथनकी प्रतिज्ञाका इसमें उल्लेख है वह मात्र दोसौ श्लोक-जितना है। यथा:—

"तत्त्वार्थोऽधिगम्यतेऽनेनास्मिन् वेति तत्त्वार्थाधिगमः, इयमेवास्य गौणयाख्या नामेति तत्त्वार्थाधिगमाख्यस्तं, बह्वर्थं सच महार्थः बहुविपुलोऽर्थोऽस्येति बह्वर्थः सत्त पदार्थनिर्णयपृतावांश्च ज्ञेयविषयः। संग्रहं समासं, लघुग्रंथं श्लोकशतद्वयमात्रं।"

दोसौ श्लोक जितना प्रमाण मूलग्रंथका ही है, भाष्यका नहीं—भाष्यका परिमाण तो उससे कई गुणा अधिक है। ग्रन्थके बहुअर्थ और लघु (अल्पाक्षर) विशेषण भी उसके सूत्रग्रंथ होनेको ही बतलाते हैं, अतः इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि 'तत्त्वार्थाधिगम' और 'अर्हत्प्रवचनसंग्रह' ये दोनों मूल तत्वार्थसूत्रके ही नाम हैं—उसके भाष्यके नहीं।

और इसलिये राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें प्रयुक्त हुए '**अर्हत्प्रवचने**' पद परसे प्रो० साहबने जो यह नतीजा निकालना चाहा था कि उससे **तत्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय है** वह नहीं निकाला जा सकता, और न उसके आधार पर यह फलित ही किया जा सकता है कि 'अकलकदेवके सामने वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाला श्वेताम्बर-सम्मत तत्वार्थभाष्य मौजूद था और उन्होंने उसके द्वारा उसके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है तथा उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शित किया है।' खेद है कि प्रो० साहबको इतना भी विचार नहीं आया कि राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें जिस सूत्र ('**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**') का उल्लेख है वह भाष्यकी कोई पंक्ति न हो कर मूलतत्वार्थसूत्रका वाक्य है, और इसलिये प्रकटरूपमें 'अर्हत्प्रवचन' का यदि कोई दूसरा अर्थ लिया जाय तो वह उमास्वातिका मूलतत्वार्थाधिगमसूत्र होना चाहिये, न कि उसका भाष्य! फिर उस अर्थ तक तो उनकी दृष्टि ही कहाँ पहुँचती, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर परीक्षा नं० २ में और उसके पूर्व किया जा चुका है। बहुत सभव है कि प्रथम लेखके लिखते समय प्रो० साहबके सामने राजवार्तिक और सिद्धसेनकी टीका न रहकर उनके नोट्स ही रहे हों तथा साथमें पं० सुखलालजीकी हिन्दी टीकाकी प्रस्तावना भी रही हो और उन्हीं परसे आपने अपने लेखका

---

* 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' इस प्रकारसे भाष्यका नाम साथमें उल्लेख करने वाला पद सातवें अध्यायको छोड़ कर अन्य किसी भी अध्यायके अन्तमें नहीं पाया जाता है।

संकलन किया हो, और समीक्षाके समय भी उन ग्रन्थों को देखनेकी ज़रूरत न समझी हो। इसीसे आप अपनी समीक्षामें कोई महत्त्वका क़दम न उठा सके हों और आपकी यह सब समीक्षा महज़ उत्तरके लिये ही उत्तर लिखे जानेके रूपमें लिखी गई हो।

४ समीक्षा--"इसके अतिरिक्त कुछ ही पहिले मुख्तार साहब कह चुके हैं कि "'अर्हत्प्रवचन' विशेषण मूल तत्वार्थसूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है" तो फिर यदि अकलंकदेव "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" कहकर यह घोषित करें कि अर्हत्प्रचनमें अर्थात् तत्वार्थसूत्रमें (स्वयं मुख्तारसाहबके ही कथनानुसार) "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" कहा है तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? 'अर्हत्प्रवचन' पाठ को अशुद्ध बताकर उसके स्थानमें 'अर्हत्प्रवचनहृदय' पाठकी कल्पना करनेका तो यह अर्थ निकलता है कि अर्हत्प्रवचनहृदय नामका कोई सूत्रग्रन्थ रहा होगा, तथा "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" यह सूत्र तत्वार्थसूत्रका न होकर उस अर्हत्प्रवचनहृदयका है जो अनुपलब्ध है।"

४ परीक्षा—यहाँ भी डबलइन्वर्टेड कामाज़के भीतर दिये हुए मेरे वाक्यको कुछ बदल कर रक्खा है और वह तबदीली उससे भी बढ़ी चढ़ी तथा अनर्थ-कारिणी है जो इसी वाक्यको इससे पहलेकी समीक्षा (नं० १) में देते हुए कीगई थी। शुरूका वह 'प्रकटरूपमें' अंश इसमेंसे भी निकाल दिया गया है जो मेरे कथनकी दृष्टि को बतलाने वाला था और जिसकी उपयोगिता एवं आवश्यकतादिको परीक्षा नं १ में बतलाया जा चुका है। अस्तु; मेरा वाक्य जिस रूपसे ऊपर उद्धृत 'विचारणा'में दिया हुआ है उसे ध्यानमें रखते हुए, इस समीक्षाका अधिकांश कथन अविचारित रम्य जान पड़ता है। वास्तवमें मेरे कथनकी दृष्टि मेरे साथ है और अकलंकके कथनकी दृष्टि अकलंकके साथ। मेरी कथनदृष्टिसे, जो बात आपत्तिके योग्य नहीं, अकलंककी कथन दृष्टिसे वही आपत्तिके योग्य हो जाती है; तब अकलंक मेरी कथनदृष्टिसे अपना कथन क्यों करने लगे? उसकी कल्पना करना ही निरर्थक है। अकलंकके कथनकी दृष्टि उनके उस वार्तिक तथा वार्तिकके भाष्यमें संनिहित है जिसका उल्लेख ऊपर 'विचारणा' को उद्धृत करनेके अनन्तर की गई विवेचनामें किया गया है। उसके अनुसार 'अर्हत्प्रवचन' से अकलंकका अभिप्राय 'अर्हत्प्रवचनहृदय' का जान पड़ता है—उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रका नहीं। उमास्वातिके 'गुणपर्यायवद्द्रव्यं' इस सूत्रमें आए हुए 'गुण' शब्दके प्रयोग पर तो वहाँ यह कहकर आपत्ति की गई है कि 'गुण' संज्ञा अन्य शास्त्रोंकी है, आर्हतोंके शास्त्रोंमें तो द्रव्य और पर्याय इन दोनोंका उपदेश होनेसे ये ही दो तत्त्व हैं, इसीसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो मूल नय माने गये हैं। यदि 'गुण' भी कोई वस्तु होती तो उसके विषयको लेकर मूलनयके तीन भेद होने चाहियें थे; परन्तु तीसरा मूलनय (गुणार्थिक) नहीं है। अतः गुणोपदेशके अभावके कारण सूत्रकारका द्रव्यके लिये गुणपर्यायवान् ऐसा निर्देश करना ठीक नहीं है।' और फिर इस आपत्तिके समाधानमें कहा गया है कि 'वह इसलिये ठीक नहीं है क्योंकि 'अर्हत्प्रवचन हृदय' आदि शास्त्रोंमें गुणका उपदेश पाया जाता है, और इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'अर्हत्प्रवचनहृदय' जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें पहलेसे गुणतत्त्वका विधान है, उमास्वातिने वहींसे उसका ग्रहण किया है, इसलिये उनका वह निर्देश अप्रामाणिक तथा आपत्तिके योग्य नहीं है। प्रमाणमें दो शास्त्रोंके वाक्योंको उद्धृत किया है,

जिनमेंसे एक तो मुख्यतया नाम लेकर उल्लेखित 'प्रवचनहृदय' का और दूसरा 'आदि' शब्दके द्वारा उल्लेखित किसी अन्य ग्रन्थका होना चाहिये। साथ ही ये दोनों ग्रंथ उमास्वातिसे पूर्ववर्ती होने चाहियें; तभी इनके द्वारा उक्त आपत्तिका परिहार हो सकता है। पहले वाक्यके साथ प्रमाणग्रंथकी सूचनाके रूपमें 'अर्हत्प्रवचने' पद लगा हुआ है, जिसका मूलरूप या तो उसके पूर्ववर्ती भाष्य और वार्तिकके अनुसार 'अर्हत्प्रवचनहृदये' है और या वह उसके लिये प्रयुक्त हुआ उसका संक्षिप्तरूप है। इस ग्रंथका जो वाक्य उद्धृत किया है वह "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" है। यह वाक्य यद्यपि उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रमें पाया जाता है। परन्तु वह मूलतः उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रका नहीं हो सकता; क्योंकि उमास्वातिकी सूत्ररचना पर उठाई गई उक्त आपत्तिका परिहार उन्हींके शास्त्रवाक्यसे नहीं किया जा सकता—वह असंगत जान पड़ता है। ऐसी हालत में यह मानना होगा कि उमास्वातिने अपने ग्रन्थमें उक्त वाक्यका संग्रह 'अर्हत्प्रवचनहृदय' ग्रन्थ परसे किया है। उनका तत्वार्थसूत्र अर्हत्प्रवचनका एकदेशसंग्रह होनेसे, इसमें आपत्तिकी कोई बात भी नहीं है। और इसलिये 'अर्हत्प्रवचने' पदको 'अर्हत्प्रवचनहृदये' पदका अशुद्धरूप अथवा संक्षिप्तरूप कल्पना करने पर जो अर्थ निकलता है उसे निकलने दीजिये, इसमें भयकी कोई बात नहीं है; क्योंकि उक्त कल्पना निरर्थक नहीं है। अकलंकदेवने बहुत स्पष्ट शब्दोंमें 'अर्हत्प्रवचनहृदय' ग्रंथके अस्तित्वकी सूचना की है। उनके 'अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु' पदमें प्रयुक्त हुए 'आदि' शब्दसे और दो शास्त्रोंके वाक्योंको प्रमाणमें उद्धृत करनेसे उसकी स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है, और वह अति प्राचीन सूत्रग्रंथ जान पड़ता है। और इसलिए इस प्रकारके कथनमें कोई सार नहीं कि 'अर्हत्प्रवचनहृदय नामका कोई ग्रन्थ अब तक कहीं सुनने में नहीं आया अथवा उसका कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता।' राजवार्तिकमें उसका स्पष्ट उल्लेख है और वह कुछ कम महत्वका नहीं है। इससे पहले यदि अर्हत्प्रवचनहृदयका नाम नहीं सुना गया तो वह अब सुना जाना चाहिये। सैकड़ों महत्वके ग्रंथ रचे गये हैं, जिनके आज हम नाम तक भी नहीं जानते और जो नष्ट हो चुके अथवा लुप्तप्राय हो रहे हैं, उनमेंसे कोई ग्रंथ यदि कहीं उल्लेखित मिल जाय या उपलब्ध हो जाय तो क्या उसके अस्तित्वसे महज़ इसलिये इनकार किया जासकता है कि उसका नाम पहलेसे सुननेमें नहीं आया था? यदि नहीं तो फिर उक्त प्रकारके कथनका क्या नतीजा, जो प्रो० साहबकी समीक्षामें अन्यत्र (लेखके शुरूमें) प्रकीर्णक रूपसे पाया जाता है? ऐसे ग्रंथोंका तो कुछ भी अनुसन्धान मिलने पर—सुराग़ चलने पर—उनकी खोजका पूरा प्रयत्न होना चाहिये।

२ समीक्षा—"श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें आगमोंको निर्ग्रंथ-प्रवचन अथवा अर्हत्प्रवचनके नामसे कहा गया है। स्वयं उमास्वातिने अपने तत्वार्थाधिगमभाष्यको 'अर्हद्वचनैकदेश' कहा है, जैसा ऊपर आ चुका है। अर्हत्प्रवचनहृदय अर्थात् अर्हत्प्रवचनका हृदय, एक देश अथवा सार। इस तरह भी अर्हत्प्रवचनहृदयका लक्ष्य भाष्य हो सकता है। अथवा अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय दोनों एकार्थक भी हो सकते हैं। हमारी समझमें भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सबका लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत भाष्य है। जब तक अर्हत्प्रवचनहृदय आदि किसी प्राचीन ग्रन्थका कहीं उल्लेख न मिल जाय, तब तक पं० जुगलकिशोरजीकी

कल्पनाओंका कोई आधार नहीं माना जा सकता ।"

२ परीक्षा—समीक्षाके इस अंशमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता । इसमें अधिकाँश बातें ऐसी हैं जिन पर ऊपरकी परीक्षाओंमें काफ़ी प्रकाश डाला जा चुका है अथवा उन परीक्षाओंकी रोशनीमें जिनकी आलोचना करके उन्हें सहज ही में निःसार प्रमाणित किया जा सकता है । इसलिये उन पर पुनः अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं; यहाँ संक्षेपरूपमें इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि—दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी आगमोंके लिये अर्हत्प्रवचन जैसे नामोंका उल्लेख है, 'ऊपर आ चुका है' इन शब्दोंके द्वारा 'तत्वार्थाधिगमाख्यं' नामकी जिस कारिकाकी ओर संकेत किया गया है उसमें 'तत्वार्थाधिगम' नामके मूलग्रन्थको, 'अर्हद्वचनैकदेश' कहा है—भाष्यको नहीं, अर्हत्प्रवचनहृदयका लक्ष्य भाष्य किसी प्रकार भी नहीं हो सकता—वह मूलसूत्र ग्रंथ है और उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रसे पहलेका रचा होना चाहिए, 'अर्हत्प्रवचन'का प्रयोग यदि 'अर्हत्प्रवचनहृदय' के स्थान पर संक्षेपरूपमें किया गया हो तो दोनों एकार्थक भी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं; 'अर्हत्प्रवचनहृदय' आदि दो प्राचीनग्रन्थोंका स्पष्ट उल्लेख अकलंकके राजवार्तिकमें मिल रहा है, इसलिये "जब तक कहीं उल्लेख न मिल जाय तब तक प० जुगलकिशोरजीकी कल्पनाओंका कोई आधार नहीं माना जा सकता" यह कथन कोरा प्रलाप जान पड़ता है ।

अब रही प्रोफेसर साहबकी समझकी बात, आपकी समझके अनुसार राजवार्तिकमें जहाँ कहीं भी भाष्य,वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन नामोंका उल्लेख है उन सबका लक्ष्य उमास्वातिका (उमास्वातिके नाम पर चढ़ा हुआ) प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य है । परन्तु यह समझ ठीक नहीं है । भाष्यके जिन दो उल्लेखोंको आपने आपने प्रथम लेखमें प्रस्तुत किया था और जिन्हें, आपकी युक्तियोंका परिचय देते हुए,ऊपर(भाग नं०४ में)उद्धृत किया जा चुका है, वे श्वेताम्बर-सम्मत प्रस्तुत भाष्यके उल्लेख नहीं हैं, यह बात सम्पादकीय विचारणामें स्पष्ट की जा चुकी है । स्पष्ट करते हुए राजवार्तिककी अन्तिम कारिकाके उल्लेख-विषयमें जो युक्तियां दी गई थीं उन पर इस समीक्षामें कोई आपत्ति नहीं की गई, जिससे ऐसा मालूम होता है कि प्रो० साहबने उन्हें स्वीकार कर लिया है—अर्थात् यह मान लिया है कि उस अन्तिम कारिकामें प्रयुक्त हुए 'भाष्य" पदका अभिप्राय राजवार्तिक नामक तत्वार्थभाष्यके सिवा किसी दूसरे भाष्यका नहीं है । दूसरे उल्लेखको इष्टसिद्धिके लिये असंगत और असमर्थ बतलाते हुए जो युक्तियां दी गई थीं उनसे अभी तक प्रो० साहबको संतोष नहीं हुआ, इसलिये उनकी समीक्षाका इस लेखमें आगे चल कर विशेष विचार किया जायगा; साथमें 'वृत्ति' का जो नया उल्लेख समीक्षामें उपस्थित किया गया है उस पर भी विचार किया जायगा, और इस सब विचार-द्वारा यह स्पष्ट किया जायगा कि भाष्य और वृत्ति दोनोंके उल्लेख इष्टसिद्धिके लिये—उन्हें प्रस्तुत भाष्यके उल्लेख बतलाने के लिये—पर्याप्त नहीं हैं । बाकी अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदयके उक्त उल्लेखोंके विषयमें ऊपर यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि वे प्रस्तुत भाष्य तो क्या, उमास्वातिके मूल तत्वार्थसूत्रके भी उल्लेख नहीं हैं ।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि 'प्रवचन'का अर्थ आगम है ("आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो"—धवला) और इसलिये 'अर्हत्प्रवचन' का अर्थ हुआ अर्हदागम—जिनागम आदि । अर्हत्प्रवचनको कलंकदेवने जिनप्रवचन, जैनप्रवचन, आर्हतप्रवचन, आर्हतआगम और परमागम जैसे नामोंसे

में उल्लेखित किया है और उसे 'अर्हत्प्रोक्त,' 'अनादि-निधन' जैसे विशेषणोंसे विशेषित करते हुए यहाँ तक लिखा है कि वह संपूर्ण ज्ञानोंका आकर है—कल्प, व्याकरण, छंद और ज्योतिषादि समस्त विद्याओंका प्रभव (उत्पाद) उसीसे है। जैसा कि नीचेके कुछ अवतरणोंसे प्रकट है—

"आर्हते हि प्रवचने ऽनादिनिधने ऽर्हदादिभिःयथाकालं अभिव्यक्तज्ञानदर्शनातिशयप्रकाशैरवद्योतितार्थसारे रूढा एताः (धर्मादयः) संज्ञा ज्ञेयाः।" पृ०१८४

"तस्मिन् जिनप्रवचने निर्दिष्टोऽहिंसादिलक्षणो धर्म इत्युच्यते।" —पृ०२६१

"अर्हता भगवता प्रोक्ते परमागमेप्रतिषिद्धः प्राणिवधः"

"आर्हतस्य प्रवचनस्य परमागमत्वमसिद्धं तस्य पुरुषकृतित्वे सति अयुक्तेरिति तन्न, किंकारणं? अतिशयज्ञानाकरत्वात्।"

"स्यान्मतमन्यत्रापि अतिशयज्ञानानि दृश्यन्ते कल्पव्याकरणछंदज्योतिषादीनि ततोनैकान्तिकत्वात् नायं हेतुरिति'। तन्न। किं कारणं? अत एव तेषां संभवात्। आर्हतमेव प्रवचनं तेषां प्रभवः।"

"आर्हतमेव प्रवचनं सर्वेषां अतिशयज्ञानानां प्रभव इति श्रद्धामात्रमेतत् न युक्तिक्षममिति। तन्न……। तथा सर्वातिशयज्ञानविधानत्वात् जैनमेव प्रवचनमाकर इत्यवगम्यते।" —पृ०२९५

ऐसी हालतमें अकलंककी दृष्टिसे 'अर्हत्प्रवचन' अथवा आर्हतप्रवचनका वाच्य प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्य नहीं हो सकता। इन अवतरणोंमें आए हुए अर्हत्प्रवचनके उल्लेखोंको भी प्रो० साहब यदि उक्त भाष्यके ही उल्लेख समझते हैं तो कहना होगा कि यह समझ ठीक नहीं है—सदोष है। और यदि नहीं समझते तो उनकी वह प्रतिज्ञा बाधित ठहरेगी अथवा उनके इस कथनमें विरोध आएगा जिसमें भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सबका एक लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत भाष्य बतलाया गया है। अस्तु।

ऊपरकी इन सब परीक्षाओं परसे स्पष्ट है कि प्रोफेसर साहबकी समीक्षाओंमें कुछ भी तथ्य अथवा सार नहीं है, और इसलिये वे चौथे भागके 'क' उपभाग में दी हुई अपनी प्रधान युक्तिका समर्थन करने और उस पर कीगई सम्पादकीय-विचारणाका कदर्थन करके उसे असत्य अथवा अयुक्त ठहरानेमें बिल्कुल ही असमर्थ रहे हैं। 'ग' उपभागकी युक्ति अथवा मुद्दे पर जो विचारणा कीगई थी उसकी कोई समीक्षा आपने की ही नहीं, और इसलिये उसे प्रकारान्तरसे मान लिया जान पड़ता है, जैसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है। अब रही 'ख' उपभागके मुद्दे (युक्ति)की बात, प्रो० साहबने राजवार्तिकसे "कालोपसंख्यानमिति चेन्न वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्—स्यादेतत् कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं, अतोऽस्योपसंख्यानं कर्तव्यं इति? तन्न, किंकारणं वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्," इस अंशको उद्धृत करके यह प्रतिपादन किया था कि अकलंकदेवने इसमें प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्यका स्पष्ट उल्लेख किया है। इस पर आपत्ति करते हुए मैंने अपनी जो 'विचारणा' उपस्थित की थी वह निम्न प्रकार है:—

"चौथे नम्बरके 'ख' भागमें राजवार्तिकका जो अवतरण दिया गया है उसमें प्रयुक्त हुए "यद्भाष्ये बहु कृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं" इस वाक्यमें जिस भाष्य का उल्लेख है वह श्वेताम्बर-सम्मत वर्तमानका भाष्य नहीं हो सकता; क्योंकि इस भाष्यमें बहुत बार तो क्या एक बार भी 'षड्द्रव्याणि' ऐसा कहीं उल्लेख अथवा विधान नहीं मिलता। इसमें तो स्पष्टरूपसे पाँच ही द्रव्य

मानेगये हैं, जैसाकि पांचवें अध्याय के 'द्रव्याणि जीवाश्च' इस द्वितीय सूत्रके भाष्यमें लिखा है— "एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पंचद्रव्याणि च भवन्तीति" और फिर तृतीय सूत्रमें आए हुए 'अवस्थितानि' पदकी व्याख्या करतेहुए इसी बात को इस तरहपर पुष्ट किया है कि—"न हि कदाचि-त्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति" अर्थात् ये द्रव्य कभी भी पांचकी संख्यासे अधिक अथवा कम नहीं होते। सिद्धसेन गणीने भी उक्त तीसरे सूत्रकी अपनी व्याख्यामें इस बातको स्पष्ट किया है और लिखा है कि, 'काल किसीके मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचक के मतसे नहीं, वे तो द्रव्योंकी पांच ही संख्या मानते हैं।' यथा—

"कालश्चेकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते, वाचक-मुख्यस्य पंचेवेति।"

ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि अकलंकदेवके सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था।"

मेरी इस विचारणाको सदोष ठहराने और अपने अभिमतको पुष्ट करने अथवा इस बातको सत्य सिद्ध करनेके लिये कि राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें जिस भाष्यका उल्लेख है वह श्वेताम्बर-सम्मत वर्तमानका भाष्य ही है, इसकी खास जरूरत थी कि प्रो० साहब कमसे कम तीन प्रमाण भाष्यसे ऐसे उद्धृत करके बतलाते जिनमें "षड्द्रव्याणि" जैसे पद प्रयोगोंके द्वारा छह द्रव्योंका विधान पायाजाता हो; क्योंकि "बहुकृत्वः" (बहुत बार) पद का वाच्य कमसे कम तीन बार तो होना ही चाहिए। साथही, यह भी बतलानेकी जरूरत थी कि जब भाष्यकार दूसरे सूत्रके भाष्यमें द्रव्योंकी संख्या स्वयं पांच निर्धारित करते हैं—उसे गिनकर बतलाते हैं—और तीसरे सूत्रके भाष्यमें यहांतक लिखते हैं कि ये द्रव्य नित्य हैं तथा कभी भी पांचकी संख्यासे अधिक अथवा कम नहीं होते, और उनकी इस बातको सिद्धसेनगणि इन शब्दोंमें पुष्ट करते हैं कि 'काल किसीके मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचकके मतसे नहीं, वेतो द्रव्योंकी पांचही संख्या मानते हैं', तब प्रस्तुत भाष्यमें षड्द्रव्योंका विधान कैसे होसकता है? और षड्द्रव्योंका विधान मानने पर उक्त वाक्यों को असत्य अथवा अन्यथा कैसे सिद्ध किया जासकता है? परन्तु स्पष्ट शब्दोंमें ऐसा कुछ भी न बतलाकर प्रोफेसर साहबने प्रस्तुत विषयको यों ही घुमा-फिराकर कुछ गड़बड़में डालने की चेष्टा की है, और जैसे तैसे मेरी विचारणाके उत्तरमें कुछ-न-कुछ कहकर निवृत्त होना चाहा है। विचारका यह तरीका ठीक नहीं है। अस्तु, अब मैं क्रमशः इस विषयकी भी समीक्षाओं को लेता हूँ और परीक्षा द्वारा उनकी निःसारताको व्यक्त करता हूँ।

६ समीक्षा—"श्वेताम्बर आगमोंमें कालद्रव्य-सम्बन्धी दो मान्यताओंका कथन आता है। भग-वतीसूत्रमें द्रव्योंके विषयमें प्रश्न होने पर कहा गया है—"कइएणं भंते! दव्वा पन्नता! गोयमा! छ दव्वा पन्नत्ता। तं जहा—धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमये" अर्थात् द्रव्य छह हैं, धर्मास्तिकायसे लेकर कालद्रव्य तक। आगे चलकर कालद्रव्यके सम्बन्धमें प्रश्न होने पर कहा गया है—"किमियं भंते कालोत्ति पवुच्चइ? गोयमा जीवा चेव अजीवा चेव" अर्थात् कालद्रव्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। जीव और अजीव ये दो ही मुख्य द्रव्य हैं। काल इनकी पर्यायमात्र है। यही मतभेद उमास्वाति

ने "कालश्चेत्येके" सूत्रमें व्यक्त किया है। इसका यह मतलब नहीं उमास्वाति कालद्रव्यको नहीं मानते, उन्होंने कहीं भी कालका खण्डन नहीं किया,अथवा उसे जीव अजीवकी पर्याय नहीं बताया।"

६ परीक्षा—'कालश्चेत्येके' सूत्र में क्या मत-भेद व्यक्त किया गया है, इसके लिये सबसे अच्छी कसौटी इसका भाष्य हैं, और वह इस प्रकार है—

'एके त्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति।'

इसमें सिर्फ इतना ही निर्देश किया है कि 'कोई कोई आचार्य तो काल भी द्रव्य है ऐसा कहते हैं' अर्थात् कुछ आचार्यों के मतसे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पांच द्रव्योंके अतिरिक्त काल भी छठा द्रव्य है, जिसका स्पष्ट आशय यह होता है कि ग्रन्थकार के मत से काल कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, और इसलिये उनकी ओर से इस ग्रन्थ में छह द्रव्यों का विधान किया गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि सूत्रकार के मत से काल कोई स्वतंत्र द्रव्य न होकर जीव अजीव की पर्याय मात्र है और इसी मत को इस सूत्रमें, दूसरे मत को दूसरों का बतलाते हुए, व्यक्त किया गया है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इस सूत्र के रच-यिता उमास्वाति काल को 'द्रव्य' मानते हैं अथवा उन्होंने द्रव्य रूप से काल का खण्डन नहीं किया? द्रव्य नित्य होता है, ध्रौव्य रूप होता है और द्रव्यार्थिक नयका विषय होता है, ये सब बातें उस व्यवहार काल में घटित नहीं होतीं जिसे स्वतंत्र सत्तारूप न मानकर जीव अजीव की पर्याय मात्र कहा जाता है। यहां द्रव्यत्व रूप से कालके विचार का प्रसंग चल रहा है, और इसलिये यह कहना कि "उन्होंने कहीं भी काल का खण्डन नहीं किया, अथवा उसे जीव अजीव की पर्याय नहीं बताया" निरर्थक जान पड़ता है।

७ समीक्षा—"कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुतत्वार्थ-मद्धासमयप्रतिषेधार्थं च"—भाष्यकी इस पंक्तिका भी यही अर्थ है कि "अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः" सूत्रमें 'काय' शब्दका ग्रहण प्रदेशबहुत्व बतानेके लिये और कालद्रव्यका निषेध करने के लिये किया गया है। क्योंकि कालद्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे (?) कायवान् नहीं। इससे स्पष्ट है कि उमा-स्वाति काल को स्वीकार करते हैं, अन्यथा उसका निषेध कैसा? यहां प्रश्न हो सकता है कि फिर "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इस भाष्यकी पंक्तिका क्या अर्थ है? इसका उत्तर है कि यहां पंचत्व कहनेसे उमास्वातिका अभिप्राय पांच द्रव्योंसे न होकर पांच अस्तिकायोंसे है। उमास्वाति कहना चाहते हैं कि अस्तिकायरूपसे पांच द्रव्य हैं; काल का कथन आगे चलकर 'कालश्चेत्येके' सूत्रसे किया जायगा।

७ परीक्षा—यह समीक्षा बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है! इसमें भाष्यकी एक पंक्तिका अर्थ देते हुए जब एक ओर यह बतलाया गया है कि 'काय' शब्द का ग्रहण कालद्रव्यका निषेध करनेके लिये किया गया है—जो कि छठी समीक्षा में दिये हुए इस कथनके विरुद्ध है कि 'कहीं भी कालका खण्डन नहीं किया"—तब दूसरी ओर यह कहा गया है कि "उमास्वाति कालको स्वीकार करते हैं" और उसके लिये "अन्यथा उसका निषेध कैसा?" इस नई युक्तिका आविष्कार किया गया है!! जिसके द्वारा प्रो० साहब शायद यह सुझाना चाहते हैं कि जिसका कोई निषेध करता है वह वास्तव में

उसको स्वीकार करता है—और इसलिये जो जिस का निषेध (खण्डन) नहीं करता वह वास्तव में उसका खण्डन (अस्वीकार) किया करता है !! अनेकान्तके पाठकों को इस से पहले शायद ऐसी नई युक्तिके आविष्कार का अनुभव न हुआ हो ! परन्तु खेद है कि प्रो० साहब अपने लेख में सर्वत्र इस नवाविष्कृत युक्ति एवं सिद्धान्त पर अमल करते हुए मालूम नहीं होते ! और इसलिये इसके लिखने अथवा निर्माण में जरूर कुछ भूल हुई जान पड़ती है। इसी तरह एक स्थान पर आप लिखते हैं कि 'काय' शब्द का ग्रहण प्रदेशबहुत्व बताने के लिये ' 'किया गया है" और फिर उसके अनन्तर ही यह लिखते हैं कि "कालद्रव्य बहुप्रदेशी होने से कायवान् नहीं।" ये दोनों बातें भी परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि सूत्र में 'काय' शब्द का प्रयोग प्रदेशबहुत्व को बताने के लिये हुआ है और काल द्रव्यको प्रो० साहब बहुप्रदेशी लिखते हैं तब वह कायवान् क्यों नहीं ? और यदि वह कायवान् नहीं है तो फिर उसे 'बहुप्रदेशी' क्यों लिखा गया ? यहां जरूर कुछ गलती हुई जान पड़ती है। मैं चाहता था कि इस गलतीको सुधार दूं परन्तु मजबूर था; क्योंकि प्रो० साहबका भारी अनुरोध था कि उनका यह लेख बिना किसी संशोधनादिके ज्यों का त्यों छापा जाय। इसीसे मैंने लेख में 'बहु-प्रदेशी होने से' के आगे ब्रेकट में प्रश्नाङ्क लगा दिया था, जिससे यह गलती प्रेस की न समझली जाय। अस्तु।

अब देखना यह है कि प्रो०साहबने शंका उठाकर उसका जो समाधान किया है वह कहांतक ठीक है। शंकामें भाष्यकी जो पंक्ति कुछ गलत अथवा संस्कारित रूपमें उद्धृत कीगई है वह 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस तृतीय सूत्रमें आए हुए 'अवस्थितानि' पदके भाष्यकी है। इससे पहले 'द्रव्याणि जीवाश्च' इस द्वितीय सूत्रके भाष्यमें लिखा है "एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पंचद्रव्याणि च भवन्तीति"। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल ये चार तो अजीवकाय (अजीवास्तिकाय) और पांचवे जीव (जीवास्तिकाय) मिला कर 'पांचद्रव्य' होते हैं—पांचकी संख्याको लिये हुए ध्रौव्यत्वका विषयरूप द्रव्य होते हैं। यहां द्रव्य होते हैं, अस्तिकाय होते हैं अथवा पंचास्तिकाय होते हैं ऐसा कुछ न कहकर जो खास तौरसे 'पंचद्रव्य होते हैं' ऐसा कहागया है उसका कारण द्रव्योंकी इयत्ता बतलाना—उनकी संख्याका स्पष्टरूप में निर्देश करना है। इसकी पुष्टि अगले सूत्रके अवस्थितानि पदके भाष्यमें यह कहकर कीगई है कि "न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति" अर्थात् ये द्रव्य कभी भी पांचकी संख्याका और भूतार्थता (स्वतत्व) का अतिक्रम नहीं करते—सदाकाल अपने स्वतत्व तथा पांचकी संख्यामें अवस्थित रहते हैं। इसका स्पष्ट आशय यह है कि न तो इनमें से कोई द्रव्य कभी द्रव्यत्वसे च्युत होकर कम होसकता है और न कोई दूसरा पदार्थ इनमें शामिल होकर द्रव्य बन सकता तथा द्रव्योंकी संख्याको बढ़ासकता है। और इसलिये भाष्यकार का अभिप्राय यहां अस्तिकायों की संख्यासे न होकर द्रव्योंकी संख्या से ही है। इसीसे सिद्धसेन गणिने भी अपनी टीकामें द्रव्य के नवादि भेदोंकी आलोचना करते हुए लिखा है—"कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते वाचकमुख्यस्य पंचैवेति", अर्थात् काल किसीके मतसे द्रव्य है ऐसा कहा जायगा परन्तु उमास्वाति वाचक के

मतसे नहीं, वे तो पांच ही द्रव्य मानते हैं। साथ ही, आगे चलकर यह भी बतलाया है कि 'द्रव्याणि' पद द्रव्यास्तिक (द्रव्यार्थिक) नयके अभिप्राय को लिये हुए है पर्यायसमाश्रयण की दृष्टिसे नहीं है, द्रव्यास्तिक नयको ध्रौव्य इष्ट होताहै, उत्पाद विनाश नहीं। नित्यता के होनेपर इन द्रव्योंकी इयत्ताका निर्धारण अवस्थित शब्दके उपादानसे होताहै। चूंकि जगत सदाकाल पंचास्तिकायात्मक है और काल इन पंचास्तिकायों की पर्याय है, इसलिए द्रव्य पांच ही होतेहैं—कमती बढती नहीं, इसी संख्यानियमके अभिप्रायको 'अवस्थित' शब्द लिये हुए है। यथा:—

"द्रव्याणीति द्रव्यास्तिनयाभिप्रायेण, न तु पर्यायसमाश्रयणात्। द्रव्यास्तिको हि ध्रौव्यमेवेच्छति, नोत्पादविनाशौ, ...न कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति, तद्भावाव्ययतायां सत्यामियत्तेषां निर्धार्यतेऽवस्थित शब्दोपादानात्, पञ्चैव भवन्त्येतानि न न्यूनान्यधिकानि वेति संख्यानियमोऽभिप्रेतः सर्वदा पंचास्तिकायात्मकत्वाज्जगतः कालस्य चैतत्पर्यायत्वादिति"।

ऐसी हालत में प्रो०साहब ने शंका का जो समाधान किया है वह भाष्यकारके आशय के साथ संगत न होने के कारण ठीक नहीं है।

(८) समीक्षा—"कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हमारे उक्त कथनका समर्थन स्वयं अकलंककी *राजवार्तिकमें किया गया है*। वे लिखते हैं—वृत्तौ पंचत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेन्न अभिप्रायापरिज्ञानात् (वार्तिक)—स्यान्मतं वृत्तावमुक्त (वुक्त ?)मवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति (ये अक्षरशः भाष्यकी पंक्तियां हैं) इति ततः षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति। तन्न, किं कारणं ? अभिप्रायापरिज्ञानात्। अयमभिप्रायो वृत्तिकरणस्य-कालश्चेति पृथग्द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते। तदनपेक्षादिकृतानि पंचैव द्रव्याणि इति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः"। अर्थात् वृत्ति में जो द्रव्यपंचत्वका उल्लेख है वह कालद्रव्य की अनपेक्षासे ही है। कालका लक्षण आगे चलकर अलग कहा जायगा"।

परीक्षा—राजावार्तिक में 'वृत्ति'के नामोल्लेखपूर्वक जो पंक्तियां उद्धृत की गई हैं और जिन्हें प्रो०साहबने "अक्षरशः भाष्यकी पंक्तियां" बतलाया है वे अक्षरशः भाष्य की पंक्तियां नहीं हैं। प्रस्तुत भाष्य में उनका रूप है—"अवस्थितानि च, न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति" इसमें "धर्मादीनि"पदकातोअभावहै और 'च' तथा 'भूतार्थत्वं' पद अधिक हैं। इतने पर भी प्रो०साहब दोनों को अक्षरशः एक बतलाने का साहस करते हैं, यह आश्चर्य तथा खेद की बात है !! वृत्ति और भाष्यके अवतरणों के इस अन्तर पर से तथा वृत्तिमें आगे 'कालश्च' इस सूत्रका उल्लेख होनेसे तो यह स्पष्ट जाना जाता है कि राजवार्तिक में जिस वृत्तिका अवतरण दियागया है वह प्रस्तुत भाष्य न होकर कोई जुदी ही वृत्ति है, जिसमें आगे चलकर मूलसूत्र "कालश्च" दिया है न कि 'कालश्चेत्येके'। मूलसूत्रका दिगम्बरसम्मत 'कालश्च' रूप होनेकी हालतमें जब आगे वृत्तिमें उसके द्वारा कालका स्वतंत्र द्रव्यके रूपमें उल्लेख है तब तीसरे सूत्रकी व्याख्या में 'पंचत्व' के वचन-प्रयोग से वृत्तिकारका वह अभिप्राय होसकता है जिसे अकलंकदेवने अपने राजावार्तिकमें व्यक्त किया है—'कालश्चेत्येके' ऐसा सूत्र होनेकी हालत में नहीं होसकता। अतः मातवीं समीक्षा में दिये हुए प्रो०-

साहबके कथन का राजवार्तिक की उक्त पंक्तियों से कोई समर्थन नहीं होता।

९. समीक्षा—"सिद्धसेन गणिने उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है, उसमें भी अकलंकके उक्त कथनका ही समर्थन किया गया है। सिद्धसेन लिखते हैं—"सत्यजीवत्वे कालः कस्मान्न निर्दिष्टः इति चेत् उच्यते—सत्वेकीयमतेन द्रव्यमित्याख्यास्यते द्रव्यलक्षणप्रस्ताव एव। अमी पुनरस्तिकायाः व्याचिख्यासिताः। न च कालोऽस्तिकायः, एकसमयत्वात्"—अर्थात् यहां केवल पांच अस्तिकायोंका कथन किया गया है। अजीव होने पर भी यहां कालका उल्लेख इसलिये नहीं किया गया कि वह एक समय वाला है उसका कथन 'कालश्चेत्येके' सूत्रमें किया जायगा।"

९ परीक्षा—सिद्धसेन गणिकी वृत्तिके उक्त कथनसे अकलङ्कदेवके उस कथनका कोई समर्थन नहीं होता जो ८वीं समीक्षामें उद्धृत है। अकलङ्क के कथनकी दिशा दूसरी और सिद्धसेन के कथन की दिशा दूसरी है। सिद्धसेन की उक्त वृत्ति "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" सूत्रकी न होकर प्रथम सूत्र "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" की है, और उसमें सिर्फ यह शङ्का उठाकर कि 'अजीव होने पर भी' कालका इस सूत्रमें निर्देश क्यों नहीं किया गया? सिर्फ इतना ही समाधान किया गया है कि "काल तो किसी के मत से (उमास्वातिके मतसे नहीं) द्रव्य है*, जिसका कथन आगे द्रव्यलक्षण-प्रस्तावमें किया जायगा। यहां तो इन अस्तिकायोंका कथन किया गया है। काल 'अस्तिकाय' नहीं है; क्योंकि वह एकसमयवाला है। ऐसी हालत में सिद्धसेन के इस कथनसे अकलङ्कदेवके उक्त कथनका कोई समर्थन नहीं होता। और जब राजवार्तिकके कथनका ही समर्थन नहीं होता, जिसे प्रोफेसर साहब ने अपने कथन के समर्थनमें पेश किया है, तब फिर प्रोफेसर साहबके उस कथन का समर्थन तो कैसे हो सकता है जिसे आपने ८वीं समीक्षामें उपस्थित किया है? खासकर ऐसी हालतमें जबकि परीक्षा नं० ८ के अनुसार अकलङ्क के कथन से भी उसका समर्थन नहीं होसका।

* समाधानके इस प्रधान अशको प्रोफेसर साहब ने अपने उस अनुवाद अथवा भावार्थमें व्यक्त ही नहीं किया जिसे आपने 'अर्थात्' शब्दके साथ दिया है।

१० समीक्षा—"स्वयं भाष्यकारने "तत्कृतः कालविभागः" सूत्रकी व्याख्यामें "कालोऽनन्तसमयः वर्तनादिलक्षण इत्युक्तम्" आदिरूपसे कालद्रव्यका उल्लेख किया है। इतना ही नहीं मुख्तार साहबको शायद अत्यन्त आश्चर्य हो कि भाष्यकारने स्पष्ट लिखा है—"सर्वं पञ्चत्वं अस्तिकायावरोधात्। सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्"। वृत्तिकार सिद्धसेनने इन पंक्तियोंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"तदेव पञ्चस्वभावं षट्स्वभावं षड्द्रव्यसमन्वितत्त्वात्। तदाह—सर्वं षट्कं षड्द्रव्यावरोधात्। षड्द्रव्याणि कथं, उच्यते—पञ्च धर्मादीनि कालश्चेत्येके"। इस से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उमास्वाति छह द्रव्योंको मानते हैं। छह द्रव्योंका स्पष्ट कथन उन्होंने भाष्यमें किया है। पांच अस्तिकायोंके प्रसंग पर कालका कथन इसीलिये नहीं किया गया कि काल कायवान नहीं। अतएव अकलङ्क ने षड्द्रव्य वाले जिस भाष्यकी ओर संकेत किया है, वह उमास्वातिका प्रस्तुत तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ही है।

इस भाष्यका सूचन अकलङ्क ने "वृत्ति" शब्दसे किया है। "

१० परीक्षा—भाष्यकार ने "इत्युक्तम्" पदके साथ जिस वाक्यको उद्धृत किया है वह भाष्यमें इससे पहले उक्त न होनेके कारण किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थसे उद्धृत जान पड़ता है, और उसके उद्धृत करने का लक्ष्य उस व्यवहार कालको बतलाने के सिवा और कुछ मालूम नहीं होता जिसको लक्ष्य करके ही "तत्कृतः कालविभागः" यह सूत्र कहा गया है। इसीसे उक्त वाक्यके अनन्तर लिखा है—"तस्य विभागो ज्योतिषाणां गतिविशेषकृतश्चारविशेषेण हेतुना" और सूत्रके भाष्यकी समाप्ति करते हुए लिखा है—"एवमादिर्मनुष्यक्षेत्रे पर्यायापन्नः कालविभागो ज्ञेय इति।" इससे यहां मुख्य (परमार्थ) काल अथवा द्रव्यदृष्टिसे कालके विधानका कोई अभिप्राय नहीं है, और इस लिये इस उल्लेख परसे प्रोफेसर साहबका अभिमत सिद्ध नहीं हो सकता।

अब रही आपके दूसरे उल्लेखकी बात, मुझे तो उसे देखकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। उसमें भाष्यकार-द्वारा विधान रूपसे "षड्द्रव्याणि" ऐसा कहीं भी नहीं लिखा गया है। भाष्यके उस अंश में उल्लेखित वाक्योंकी जो दृष्टि है उसे अच्छी तरह समझनेके लिये उसके पूर्वांश और पश्चिमांश दोनोंको सामने रखनेकी जरूरत है। अतः उन्हें नीचे उद्धृत किया जाता है—

(पूर्वांश) "अत्राह-एवमिदानीमेकस्मिन्नर्थेऽध्यवसायनानात्वान्ननु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग इति। अत्रोच्यते-यथा सर्वं एकंसदविशेषात्। सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात्। सर्वं त्रित्वं द्रव्यगुणपर्यायावरोधात्। सर्वं चतुष्टयं चतुर्दर्शनविषयावरोधात्।"

(पश्चिमांश) "यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराण्येतानि तद्वन्नयवादा इति।"

यहां पर नयवादका प्रसंग है-नैगमादि नयोंका विषय परस्पर विरुद्ध नहीं है-एक वस्तुमें सामान्य-विशेषादि धर्म परस्पर अविरोध रूपसे रहते हैं-इस बातको स्पष्ट किया गया है। किसीने प्रश्न किया कि जब एक पदार्थको आप नाना अध्यवसायों (विज्ञानभेदों) का विषय मानते हैं तो इससे तो विप्रतिपत्ति (विरुद्धप्रतीति) का प्रसंग आता है। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि-जैसे संपूर्ण जगत सत्की अपेक्षा—सत्की दृष्टि से अवलोकन करने वालों की अपेक्षा-एक रूप है, वही जीव अजीव की अपेक्षासे दो रूप है, द्रव्य-गुण-पर्यायकी अपेक्षा तीन रूप है, चक्षु-अचक्षु आदि चारदर्शनोंका विषय होनेकी अपेक्षासे चार रूप है, पंचास्तिकायकी अपेक्षासे पांचरूप है और षड्द्रव्यों की अपेक्षा—षट् द्रव्यों की दृष्टिसे अवलोकन करने वालों की अपेक्षा—षड्द्रव्यरूप है। इस प्रकार एक जगत् वस्तु में उपादीयमान ये एक-दो-तीन-चार-पांच-छह रूपात्मक अवस्थाएँ जैसे विरुद्ध प्रतीति को प्राप्त नहीं होतीं-ये अध्यवसाय के स्थानान्तर हैं, वैसे ही अध्यवसायकृत नयवाद परस्पर विरोध को लिए हुए नहीं हैं। षट्द्रव्य किस दृष्टि से यहां विवक्षित हैं इसबात को सिद्धसेन ने ही अपनी उस वृति में स्पष्ट कर दिया है जिसे प्रो० साहब ने उद्धृत किया है। वे कहते हैं पांच तो 'धर्मादिक' और छठा 'कालश्चेत्येके' सूत्रका विषय 'काल'। इससे भाष्यकार की मान्यता के सम्बन्धमें कोई नया विशेष उत्पन्न नहीं होता जिसका विचार ऊपर की परीक्षाओं

में न किया जाचुका हो। सिद्धसेन गणि जो यह कहते हैं कि काल किसी के मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचक के मत से नहीं, वे तो पांच ही द्रव्य मानते हैं उसका उनके ऊपर के स्पष्टीकरण से कोई विरोध नहीं आता—वे उसके द्वारा अब यह नहीं कहना चाहते कि भाष्यकार उमास्वाति छह द्रव्य मानते हैं अथवा छह द्रव्यों का विधान करते हैं। भाष्यकार ने यहां आगमकथित दूसरी मान्यता अथवा दूसरों के अध्यवसायकी दृष्टि से ही 'षड्द्रव्य' का उल्लेखमात्र किया है। ऐसी हालत में यह कहना कि "उमास्वाति (श्वे० सूत्रपाठ तथा भाष्यके तथाकथित रचयिता) छह द्रव्योंको मानते हैं। छह द्रव्योंका स्पष्ट कथन उन्होंने भाष्यमें किया है" कुछ भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। फिर यह नतीजा तो उससे कैसे निकाला जासकता है कि—"अकलंकने षडद्रव्य वाले जिस भाष्य की ओर संकेत किया है वह उमास्वाति का प्रस्तुत तत्वार्थाधिगमभाष्य ही है"? क्यों कि एकमात्र "षड्द्रव्यावरोधात्" पद अकलंक के "यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं" इस वाक्य में आए हुए "बहुकृत्वः षड् द्रव्याणि" पदों का वाच्य नहीं हो सकता। अकलंक के ये पद भाष्य में कमसे कम तीन वार 'षड्द्रव्याणि" जैसे पदोंके उल्लेख को मांगते हैं। और न यही नतीजा निकाला जासकता है कि 'इस (प्रस्तुत) भाष्य का सूचन अकलंक ने 'वृत्ति' शब्द से किया है। वृत्ति का अभिप्राय किसी दूसरी प्राचीनवृत्ति अथवा उस टीका से भी हो सकता है जो स्वामी समन्तभद्र के शिष्य शिवकोटि आचार्य-द्वारा लिखी गई थी और जिसका स्पष्ट उल्लेख श्रवणबेलगोल के निम्न शिलावाक्य में पाया जाता है, जो वहां उक्त टीका की प्रशस्ति पर से उद्धृत जान पड़ता है—

तस्यैवशिष्यशिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥
(शि० नं० १०५)

इस तरह मेरी उक्त 'विचारणा' पर जो समीक्षा लिखी गई है उसमें कुछ भी सार नहीं है, और इसलिये उससे प्रोफेसर साहब का वह अभिमत सिद्ध नहीं हो सकता जिसे वे सिद्ध करना चाहते हैं—अर्थात् यह नहीं कहा जासकता कि अकलंक के सामने उमास्वाति का श्वेताम्बर-सम्मत भाष्य अपने वर्तमान रूप में उपस्थित था और अकलंक ने उसका अपने वार्तिक में उपयोग तथा उल्लेख किया है; बल्कि यह स्पष्ट मालूम होता है कि अकलंकके सामने उनके उल्लेखका विषय कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था, और वह उन्हीं का अपना 'राजवर्तिक-भाष्य' भी हो सकता है। क्योंकि उसमें इससे पहले अनेकवार 'षण्णामपि द्रव्याणां, षडत्र द्रव्याणि' षडद्रव्योपदेशः' इत्यादि रूप से छह द्रव्यों का उल्लेख आया है, और स्वकीय भाष्य की बातको लेकर सूत्र पर शंका उठाने की प्रवृत्ति अन्यत्र भी देखी जाती है, जिसका एक उदाहरण 'स्वभावमार्दवं च' सूत्रके भाष्यका निम्न वाक्य है—"ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं पुनर्ग्रहणमनर्थकं सूत्रेऽनुपात्तमिति कृत्वा पुनरिदमुच्यते।" इससे पूर्व के, "अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य" सूत्र की व्याख्या में 'मार्दव' आचुका था, इसी से शंका को वहां स्थान मिला है। अस्तु।

यह तो हुई प्रो० साहब के पूर्व लेख के नम्बर ४ की बात, जो तीन उपभागों (क, ख, ग)

में बँटा था और आपकी युक्तियों में सर्वप्रधान था; अब लेख के शेष तीन नम्बरों अथवा भागों को भी लीजिये, जिनका परिचय इस लेखके शुरू में—परीक्षारम्भ के पूर्व-विचारणा के लक्ष्यको व्यक्त करते हुए, दिया जा चुका है। नं० १ में तत्त्वार्थसूत्रों के कुछ पाठभेद का राजवार्तिक में उल्लेख बता कर यह नतीजा निकाला गया था कि 'अकलंक के सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ अवश्य था जिसे अकलंक ने स्वीकार नहीं किया' इस बात को अङ्गीकार करते हुए मैंने अपनी 'विचारणा' में लिखा था—

"इसमें सन्देह नहीं कि अकलंकदेव के सामने तत्वार्थसूत्र का कोई दूसरा सूत्रपाठ जरूर था, जिसकेकुछ पाठोंको उन्होंनेस्वीकृत नहीं किया। इससे अधिक और कुछ उन आवतरणों परसे उपलब्ध नहीं होता जो लेखके नं० १ में उद्धृत किये गये हैं। अर्थात् यह निर्विवाद एवं निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि अकलंकदेव के सामने यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था। यदि यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद होता तो उक्त नं० १ के 'घ' भागमें जिन दो सूत्रोंका एक योगीकरण करके रूप दिया है उनमें से दूसरा सूत्र 'स्वभावमार्दवं च' के स्थान पर 'स्वभावमार्दवार्जवं च' होता और दोनों सूत्रोंके एक योगीकरणका वह रूप भी तब 'अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुपस्येति' दिया जाता; परन्तु ऐसा नहीं है।"

इसके अलावा अकलंक से पहले तत्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रपाठों के प्रचलित होने और उनपर अनेक छोटी-बड़ी टीकाओं के लिख जाने की बात को स्पष्ट करते हुए मैंने अपनी 'विचारणा' में यह भी लिखा था कि—

"यहां पर एक बात और भी जान लेने की है और वह यह है कि श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धि में, प्रथम अध्यायके १६ वें सूत्र की व्याख्या में, "क्षिप्रानिःसृत' के स्थानपर 'क्षिप्रनिःसृत' पाठभेदका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः। त एवं वर्णयन्ति—श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते।"

जिस पाठभेद का यहां "अपरेषां" पदके प्रयोगके साथ उल्लेख किया गया है वह 'स्वोपज्ञ' कहे जाने वाले उक्त तत्त्वार्थभाष्य में नहीं है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पूज्यपादके सामने दूसरोंका कोई ऐसा सूत्रपाठ भी मौजूद था जो वर्तमान एवं प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य के सूत्रपाठ से भिन्न था। ऐसा ही कोई दूसरा सूत्रपाठ अकलंकदेव के सामने उपस्थित जान पड़ता है, जिसमें "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य" ऐसा सूत्रपाठ होगा—'स्वभावमार्दवं' की जगह 'स्वभावमार्दवार्जवं च' नहीं। इसी तरह "बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ" सूत्रपाठ भी होगा,जिसके "समाधिकौ" पदकी आलोचना करते हुए और उसे 'आर्षविरोधि वचन' होनेसे विद्वानों केद्वारा अग्राह्य बतलाते हुए "अपरेषां पाठः" लिखा है— यह प्रकट किया है कि दूसरे ऐसा सूत्रपाठ मानते हैं। यहां "अपरेषां" पदका वैसा ही प्रयोग है जैसा कि पूज्यपाद आचार्यने ऊपर उद्धृत किये हुए पाठभेद के साथ में किया है। परन्तु इस 'समाधिकौ' पाठभेद का सर्वार्थसिद्धिमें कोई उल्लेख नहीं, और इससे ऐसा ध्वनित होता है

कि सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादके सामने प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य अथवा तत्त्वार्थभाष्यका शेष वर्तमानरूप उपस्थित नहीं था, जिसका 'स्वोपज्ञ भाष्य' होनेकी हालतमें उपस्थित होना बहुत कुछ स्वाभाविक था, और न वह सूत्रपाठ ही उपस्थित था जो अकलंकके सामने मौजूद था और जिसके उक्त सूत्रपाठको वे 'आर्षविरोधी' तक लिखते हैं, अन्यथा यह संभव मालूम नहीं होता कि जो आचार्य एकमात्रा तकके साधारण पाठभेदका तो उल्लेख करें वे ऐसे विवादापन्न पाठभेदको बिल्कुल ही छोड़ जावें।

सिद्धसेन गणिकी टीकामें अनेक ऐसे सूत्रपाठों का उल्लेख मिलता है जो न तो प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्यमें पाये जाते हैं और न वर्तमान दिगम्बरीय अथवा सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठोंमें ही उपलब्ध होते हैं। उदाहरणके लिये "कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि" सूत्रको लीजिये, सिद्धसेन लिखते हैं कि इस सूत्रमें प्रयुक्त हुए 'मनुष्यादीनाम्' पदको दूसरे (अपरे) लोग 'अनार्ष' बतलाते हैं और साथ ही यह भी लिखते हैं कि कुछ अन्य जन जो 'मनुष्यादीनाम्' पदको तो स्वीकार करते हैं वे इस सूत्रके अनन्तर "अतीन्द्रियाः केवलिनः" यह एक नया ही सूत्रपाठ रखते हैं ❀। यह सब कथन वर्तमानके दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्रपाठोंके साथ सम्बद्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पहले तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रपाठ प्रचलित थे और वे अनेक आचार्य परम्पराओंसे सम्बन्ध रखते थे। छोटी बड़ी टीकाएँ भी तत्त्वार्थसूत्र पर कितनी ही लिखी गई थीं, जिनमेंसे बहुतसी लुप्त हो चुकी हैं और वे अनेक सूत्रोंके पाठभेदोंको लिये हुए थीं।

ऐसी हालतमें लेखके नं० ३ में प्रोफेसरसाहब ने उक्त शंकाका † निरसन होना बतलाते हुए, जो यह नतीजा निकाला है कि "अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था" वह समुचित प्रतीत नहीं होता।"

इस सब 'विचारणा'की समीक्षा में प्रोफेसर साहब सिर्फ इतना ही लिखते हैं:—

११ समीक्षा—"इसी तरह सूत्रोंके पाठभेद की बात है।" 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ,' 'द्रव्याणि जीवाश्च' आदि सूत्र भाष्यमें ज्यों की त्यों मिलती हैं। उक्त विवेचनकी रोशनीमें कहा जा सकता है कि अकलंकका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था।

'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं' आदि सूत्रके विषयमें सम्भवतः कुछ मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धि हो। शायद वही पाठ मूल प्रतिमें हो और मुद्रितमें छूट गया हो। इसके अतिरिक्त यहाँ मुख्य प्रश्न तो एक योगीकरणका है जो भाष्यमें बराबर मिल जाता है।"

❀ "अपरेऽतिविसंस्थुलमिदमालोक्य भाष्यं विषण्णाः सन्तः सूत्रे मनुष्यादिग्रहणमनार्षमिति संगिरन्ते"। इदमन्तरालमुपजीव्यापरे वार्तकिनः स्वयमुपरस्य सूत्रमधीयते—'अतीन्द्रियाः केवलिनः' येषां मनुष्यादीनां ग्रहणमस्ति सूत्रेऽनन्तरे त एवमाहुः—मनुष्यग्रहणात् केवलिनोऽपि पंचेन्द्रियप्रसक्तेः अतस्तदपवादार्थमतीन्द्रियाणि केवलिनो वर्तन्त इत्याख्येयम्।"

† यह शंका वही है जिसे प्रो० साहबने खुद ही सूत्रपाठभेदोंके अपने नतीजे पर उठाया था और जिसे प्रो० साहबके पूर्व लेखका परिचय देते हुए नं० २ में दिखलाया जा चुका है।

११ परीक्षा—उक्त विस्तृत विचारणाकी यह समीक्षा भी क्या कोई समीक्षा कहला सकती है ? इसे तो सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यहां पर मैं सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि जब श्री पूज्यपाद, अकलंक और सिद्धसेनके सामने दूसरे कुछ विभिन्न सूत्रपाठोंका होना पाया जाता है तथा "त एवं वर्णयन्ति", "मनुष्यादिग्रहणमनार्पमितिसंगिरन्ते" जैसे वाक्योंके द्वारा उन पर दूसरी टीकाओंके रचे जानेका भी स्पष्ट आभास मिलता है और इस पर समीक्षामें कोई आपत्ति नहीं की गई, तब अमुक सूत्रोंके प्रस्तुत भाष्यमें मिलने मात्र से, जिसमें एक योगीकरणकी बात भी आजाती है, यह कैसे कहा जा सकता है कि "अकलंकका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था ?" क्या प्रो० साहबके पास इस बातकी कोई गारण्टी है कि अमुक सूत्र उन दूसरे सूत्रपाठोंमें नहीं थे ? यदि नहीं, तो फिर उनका यह नतीजा निकालना कि "अककलंका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था" कैसे संगत हो सकता है ? ऐसा कहनेका तब उन्हें कोई अधिकार नहीं। उनके इस कथन से तो ऐसा मालूम होता है कि शायद प्रो० साहब यह समझ रहे हैं कि सूत्रों परसे भाष्य नहीं बना किन्तु भाष्य परसे सूत्र निकले हैं और सूत्रपाठ भाष्यके साथ सदैव तथा सर्वत्र नत्थी रहता है ! यदि ऐसा है तो निःसन्देह ऐसी समझकी बलिहारी है !!

रही "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं" आदि सूत्रकी मुद्रणसम्बन्धी अशुद्धिकी बात, यह कल्पना आपत्ति से बचनेके लिये बिल्कुल निरर्थक जान पड़ती है; क्योंकि दिगम्बर सूत्रपाठकी सैंकड़ो हस्तलिखित प्रतियोमें 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" और स्वभावमार्दवं च" येदोनों सूत्र अपने इसी रूपमें पाये जाते हैं, टीकाओंमें भी इनके इसी रूपका उल्लेख है और इनके योगीकरणका वह रूप नहीं बनता जो प्रस्तुत भाष्यमे उपलब्ध होता है। इसके सिवाय जब प्रो० साहबके पास भाण्डारकर इन्स्टिटयूटकी प्रतिके आधार पर लिये हुए राजवार्तिकके पाठान्तर हैं और पं० कैलाशचन्द्र जी की मार्फत बनारसकी प्रतिके पाठों का भी आपने परिचय प्राप्त किया है तब कम से कम अपनी उन प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर ही आपको यह प्रकट करना चाहिये था कि उनमें उन दोनों सूत्र के क योगीकरणका वही रूप दिया है जो प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्यमें पाया जाता है। ऐसा न करके 'संभवतः' और 'शायद' शब्दोंका सहारा लेते हुए उक्त कथन करना आपत्तिसे बचनेके लिये व्यर्थकी कल्पना करनेके सिवाय और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। आपत्तिसे बचनेका यह कोई तरीका नहीं और न इसे समीक्षा ही कह सकते हैं।

प्रो० साहब के लेख के चौथे नम्बर के 'ख' भाग पर विचार करने के अनन्तर मैंने उनके लेख के नं० २ पर, जिसका परिचय भी शुरू में दिया जा चुका है, जो 'विचारणा' लिखी थी वह इस प्रकार है :—

"ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि अकलंक देव के सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था। जब दूसरा ही भाष्य मौजूद था तब लेख के नं० २ में कुछ अवतरणों की तुलना पर से जो नतीजा निकाला गया अथवा सूचन किया गया है वह सम्यक् प्रतिभासित नहीं होता—उस दूसरे भाष्य

में भी उस प्रकारके पदोंका विन्यास अथवा वैसा कथन हो सकता है। अवतरणों में परस्पर कहीं कहीं प्रतिपाद्य-विषय-सम्बन्धी कुछ मतभेद भी पाया जाता है, जैसा नं० २ के 'क'-'ख' भागों को देखने से स्पष्ट जाना जाता है। ख-भाग में जब तत्त्वार्थभाष्य का सिंहों के लिये चार नरकों तक और उरगों (सर्पों) के लिए पाँच नरकों तक उत्पत्ति का विधान है, तब राजवार्तिक का उरगों के लिये चार नरकों तक और सिंहोंके लिये पाँच नरकों तक की उत्पत्ति का विधान है। यह मतभेद एक दूसरे के अनुकरण को सूचित नहीं करता, न पाठ-भेद की किसी अशुद्धि पर अवलम्बित है; बल्कि अपने अपने सम्प्रदायके सिद्धान्त-भेदको लिये हुए है। राजवार्तिक का नरकोंमें जीवोंके उत्पादादि सम्बन्धी कथन 'तिलोयपण्णत्ती' आदि प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थोंके आधार पर अवलम्बित है *।"

इसके उत्तरमें प्रो० साहबकी समीक्षाका रूप मात्र इतना ही है—

१२ समीक्षा—"हम अपने पहले लेखमें भाष्य, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके तुलनात्मक उद्धरण देकर यह बता चुके हैं कि अनेक स्थानों पर भाष्य और राजवार्तिक अक्षरशः मिलते हैं। इनमें से बहुतसी बातें सर्वार्थसिद्धिमें नहीं मिलतीं परन्तु वे राजवार्तिकमें ज्योंकी त्यों अथवा मामूली फेर फार से दी हुई हैं।"

१२ परीक्षा—इस समीक्षामें 'विचारणा' पर क्या आपत्ति की गई है और अपने पूर्व लेख में अधिक क्या नई बात खोजकर रक्खी गई है? इसे पाठक सहज ही में समझ सकते हैं। यदि "अनेक स्थानोंपर भाष्य और राजवार्तिक अक्षरशः मिलते हैं" तो इसका यह अर्थ यह कैसे हो सकता है कि राजवार्तिक में वे सब बातें ज्योंकी त्यों अथवा मामूली फेर-फार के साथ भाष्य से उठा कर रक्खी गई हैं? खास कर ऐसी हालतमें जब कि अकलंक से पहले तत्वार्थसूत्र पर अनेक टीकाएँ बन चुकी थीं, कुछ उनके सामने मौजूद भी थीं और प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्य को प्रो० साहब अभी तक स्वयं मूल सूत्रकार उमास्वाति आचार्य का बनाया हुआ 'स्वोपज्ञ भाष्य' सिद्ध नहीं कर सके हैं? दिगम्बर उसे 'स्वोपज्ञ' नहीं मानते और न इन पंक्तियों का लेखक ही मानता है, जिसकी 'विचारणा' की आप समीक्षा करने बैठे हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मेरी विचारणाके "उस दूसरे भाष्य में भी उस प्रकारके पदों का विन्यास अथवा वैसा कथन हो सकता है" इस वाक्य को लेकर प्रो० साहब ने अपने इस समीक्षा-लेख के शुरू में यहाँ तक लिखने का साहस किया है—

"मुख्तार साहबके प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्यके अकलंक के समक्ष न होनेमें जो प्रमाण हैं वे केवल इसतर्क पर अवलम्बित हैं कि इसी तरहके वाक्य-विन्यास और कथन वाला कोई दूसरा भाष्य रहा होगा, जो आजकल

---

* देखो जैनसिद्धान्तभास्करके ५वें भागकी तीसरी किरणमें प्रकाशित 'तिलोयपण्णत्ती' का नरक विषयक प्रकरण (गाथा २८५, २८६ आदि), जिसमें वह विषय बहुत कुछ वर्णित है जो लेखीय नं०२ के अनेक भागोंमें उल्लेखित राजवार्तिकके वाक्योंमें पाया जाता है।

अनुलब्ध है। लेकिन यह तर्क सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता।"

मैंने इस प्रकारका कोई तर्क नहीं किया और न मेरे सारे प्रमाण केवल इस तर्क पर अवलम्बित हैं, यह बात मेरी (सम्पादकीय) 'विचारणा' से दिन कर प्रकाश की तरह स्पष्ट है। इतने पर भी प्रो० साहबका उक्त लिखना दूसरेके वाक्यका दुरुपयोग करना ही नहीं, बल्कि भारी ग़लत बयानीको लिये हुए है, और इस लिये बड़ा ही दुःसाहसका काम है। अपनी समीक्षाका रंग जमानेके लिए अपनाई गई यह नीति प्रोफेसर जैसे विद्वानोंको शोभा नहीं देती। इसी प्रकारका एक और वाक्य भी आपने मेरे नामसे अपने समीक्षालेखके शुरूमें दिया है, जो कुछ गलतसूचनाको लिये हुए है; और इसलिये ठीक नहीं है।

प्रोफेसरसाहबके लेखके तृतीय भाग (नं० ३) की, जिसका परिचय भी शुरूमें दिया जाचुका है, आलोचना करते हुए मैंने जो 'विचारणा' उपस्थित की थी वह इस प्रकार है:—

"इसी तरह भाष्यकी पंक्तिको उठाकर वार्तिक बनाने आदिकी जो बात कही गई है वह भी कुछ ठीक मालूम नहीं होती। अकलंकने अपने राजवार्तिकमें पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका प्रायः अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धिमें पाँचवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"कालो वक्ष्यते, तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणम्।" इसी बात को व्यक्त करते हुए तथा कालके लिये उसके पर्याय नाम 'अद्धा' शब्दका प्रयोग करते हुए राजवार्तिक में एक वार्तिक "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" दिया है और फिर इसकी व्याख्यामें लिखा है—"अद्धाशब्दो निपातः कालवाची स वक्ष्यमाणलक्षणः तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणं क्रियते।" इससे स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक सर्वार्थसिद्धिके शब्दों पर ही अपना आधार रखता है, और इसलिये यह कहना कि भाष्यकी 'अद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' इस पंक्तिको उक्त वार्तिक बनाया गया है कुछ संगत मालूम नहीं होता। ऊपरके सम्पूर्ण विवेचनकी रोशनीमें वह और भी असंगत जान पड़ता है।

इस 'विचारणा' पर प्रो० साहबने अपनी समीक्षामें जो कुछ लिखा है वह सब इस प्रकार है—

१३ समीक्षा—कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थम् अद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' भाष्यकी इस पंक्तिकी राजवार्तिकमें तीन वार्तिक बनाई गई हैं—'अभ्यंतरकृतेवार्थः कायशब्दः': 'तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं,' 'अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च'। कहना नहीं होगा कि वार्तिककी उक्त पंक्तियोंका साम्य सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्यसे अधिक है। दूसरा उदाहरण— 'नाणोः'—सूत्रके भाष्यमें उमास्वातिने परमाणुका लक्षण बताते हुए लिखा है—'अनादिरमध्यो हि परमाणुः'। सर्वार्थसिद्धिकार यहाँ मौन हैं। परन्तु राजवार्तिकमें देखिये—आदिमध्यान्तव्यपदेशाभावादितिचेन्न विज्ञानवत् (वार्तिक) इसकी टीका लिखकर अकलंकने भाष्यके उक्त वाक्यका ही समर्थन किया है। इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं।"

१३ परीक्षा—'विचारणा' में उपस्थित विचार का कोई उत्तर न देकर, यहाँ भाष्यकी जिस पंक्ति परसे जिन तीन वार्तिकोंके बनानेकी बात कही गई है वह समुचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि "अभ्यन्तरकृतेवार्थः कायशब्दः" इस वार्तिककी भाष्य की उक्त पंक्ति परसे जरा भी उपलब्धि नहीं होती;

प्रत्युत इसके, सर्वार्थसिद्धिमें "यथा शरीरं पुद्गलद्रव्य-प्रचयात्मकं तथा धर्मादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया काया इव काया इति" इस वाक्यके द्वारा जो भाव व्यक्त किया गया है उसीको लेकर उक्त वार्तिक बना है। दूसरा वार्तिक सर्वार्थसिद्धिके "किमर्थः कायशब्दः? प्रदेश-बहुत्वज्ञापनार्थः" इन शब्दों परसे बना है, और तीसरा वार्तिक सर्वार्थसिद्धि परसे कैसे बना, यह बात ऊपर उद्धृत 'विचारणा' में दिखलाई ही जा चुकी है। ऐसी हालतमें उक्त तीनों वार्तिकोंका सब से अच्छा बुद्धिगम्य आधार सर्वार्थसिद्धि हो सकती है न कि भाष्यकी उक्त पंक्ति। राजवार्तिक की तीन पंक्तियोंमेंसे जब एक पंक्ति ही भाष्य परसे उपलब्ध नहीं होती तब भाष्यके साथ उसका अधिक साम्य कैसे हो सकता है? और कैसे उक्त पंक्ति परसे तीन वार्तिकोंके बननेकी बात कही जा सकती है? हाँ, समीक्षा-लेखको समाप्त करते हुए प्रो० साहबने यह भी एक घोषणा की है कि—"समानता, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें भी है। परन्तु यहां भाष्य और राजवार्तिककी उन समानताओंसे हमारा अभिप्राय है जिनकी चर्चा तक सर्वार्थसिद्धिमें नहीं।" इस परसे हर कोई प्रो० साहबसे पूछ सकता है कि भाष्यकी पंक्ति परसे जिन तीन वार्तिकोंके बनाये जानेकी बात कही गई है उनके विषयकी चर्चा क्या सर्वार्थसिद्धिमें नहीं है? यदि है तो फिर उक्त घोषणा अथवा विज्ञप्ति कैसी?

अब रही परमाणु के लक्षण की बात, भाष्य पर से जो लक्षण उद्धृत किया गया है वह भाष्य में उस रूपसे नहीं पाया जाता। भाष्यके अनुसार उसका रूप है—'अनादिरमध्योऽप्रदेशो हि परमाणुः'। नहीं मालूम प्रो० साहबने 'अप्रदेशः' पद का परित्यागकर अधूरा लक्षण क्यों उद्धृत किया? प्रदेशों के कथनका तो खास प्रसंग ही चल रहा था और परमाणुके उनका निषेध करने के लिये ही 'नाणोः' सूत्र का अवतार हुआ था, उसी प्रदेश-निषेधात्मक पद को यहाँ छोड़ दिया गया, यह आश्चर्य की बात है! अस्तु; सर्वार्थसिद्धि में प्रकरणानुसार "अणोः प्रदेशा न सन्ति" इस वाक्य के द्वारा परमाणु के प्रदेशों का ही निषेध किया है, बाकी परमाणुओं का लक्षण अथवा स्वरूप "अणवः स्कन्धाश्च" सूत्र की व्याख्यामें दिया है, जो इस प्रकार है "सौक्ष्म्या-दात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च"। साथ ही, इस की पुष्टि में 'उक्तं च' रूपसे "अत्तादि अत्तमज्झं" नाम की एक गाथा भी उद्धृत की है, जो श्री कुन्दकुन्दाचार्यके 'नियमसार' की २६वीं गाथा है। अकलंक ने भी गाथा-सहित यह सब लक्षण इसी सूत्र की व्याख्या में दिया है। 'नाणोः' सूत्र की व्याख्या में परमाणु का कोई लक्षण नहीं दिया। प्रो० साहब ने जो वार्तिक उद्धृत किया है वह और उसका भाष्य इस शंका का समाधान करने के लिये अवतरित हुए हैं कि परमाणु के आदि-मध्य और अन्तका व्यपदेश होता है या कि नहीं? यदि होता है तो वह प्रदेशवान् ठहरेगा और नहीं होता है तो खर विषाण की तरह उसके अभाव का प्रसंग आएगा? ऐसी हालत में यह समझना कि सर्वार्थसिद्धिकार ने परमाणु का लक्षण नहीं दिया अथवा वे इस विषय में मौन रहे हैं और अकलंक ने उक्त भाष्य का अनुसरण किया है, नितान्त भ्रममूलक जान पड़ता है।

उपसंहार

मैं समझता हूँ प्रो० साहबके समीक्षा लेखकी अब ऐसी कोई खास बात अवशिष्ट नहीं रही जो आलोचना के योग्य हो और जिसकी आलोचना एवं परीक्षा न की जा चुकी हो। अत: मैं विराम लेता हुआ उपसंहाररूप में अब सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि ऊपरके इस संपूर्ण विवेचन एव परीक्षण परसे जहाँ यह स्पष्ट है कि मेरी 'सम्पादकीय विचारणा' में प्रो० साहबके पूर्व लेखकी कोई खास बात विचारसे छूटा नहीं थी अथवा छोड़ी नहीं गई थी--उनके लेखके चारों भागोंके सभी मुद्दों पर यथेष्ट विचार किया गया था--और इसलिये अपने समीक्षा-लेखके शुरूमें उनका यह लिखना कि "इसी युक्ति (प्रस्तुत भाष्यमें षट् द्रव्योंका विधान न मिलने मात्रकी बात) के आधार पर मुख्तारसाहबने मेरे दूसरे मुद्दोंको भी असंगत ठहरा दिया है---उन पर विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं समझी" सरासर ग़लत बयानीको लिये हुए है, वहां यह भी स्पष्ट है कि प्रो० साहबकी इस समीक्षामें कुछ भी--रत्ती भर भी सार नहीं है, गहरे विचारके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, वह एकदम निष्प्राण-बेजान और समीक्षा-पदके अयोग्य समीक्षाभास है। इसीसे 'सम्पादकीय विचारणा'को सदोष ठहरानेमें वह सर्वथा असमर्थ रही है। और इसलिये उसके द्वारा प्रो० साहबका वह अभिमत सिद्ध नहीं हो सकता जिसे वे सिद्ध करके दूसरे विद्वानोंके गले उतारना चाहते थे—

अर्थात् (१) तत्वार्थ सूत्रका प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्य अपने वर्तमानरूपमें अकलकके सामने मौजूद था अकलंकदेव उससे अच्छी तरह परिचित थे, (२) अकलंकने अपने राजवार्तिकमें उसका यथास्थान उपयोग किया है, (३) अकलंकने 'अर्हत्प्रवचने', 'भाष्ये' और 'भाष्यं' जैसे पदोंके प्रयोगद्वारा इस भाष्यके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है, (४) अकलंक उसे 'स्वोपज्ञ' स्वीकार करते थे—तत्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्ताको एक मानते थे, और (५) अकलंकने उसके प्रति बहुमानका भी प्रदर्शन किया है, इनमेंसे कोई भी बात सिद्ध नहीं होती। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि प्रो० साहबकी लेखनी बहुत ही असावधान है--वह विषयका कुछ गहरा विचार करके नहीं लिखती, इतना ही नहीं, किन्तु दूसरोंके कथनोंको ग़लत रूपमें विचारके लिये प्रस्तुत करती है और ग़लत तथा मन-माने रूपमें दूसरोंके वाक्योंको उद्धृत भी करती है। ऐसी असावधान लेखनीके भरोसे पर ही प्रो० साहब 'राजवार्तिक' जैसे महान् ग्रंथका सम्पादन-भार अपने पर लेनेके लिये उद्यत हो गये थे, यह जान कर बड़ा ही आश्चर्य होता है !!

अन्तमें विद्वानोंसे मेरा सादर निवेदन है कि वे इस विषय पर अपने खुले विचार प्रकट करनेकी कृपा करें और इस सम्बन्धमें अपनी दूसरी खोजोंको भी व्यक्त करें, जिससे यह विषय और भी ज़्यादा स्पष्ट होजाय। इत्यलम्।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १८-१०-१९४०

वीरसेवामन्दिरकी विज्ञप्ति

'समंतभद्रभारती'की प्रकाशन-योजना

स्वामी समन्तभद्रके जितने भी ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं उन सबका एक बहुत बढ़िया संस्करण 'समन्तभद्रभारती' के नामसे निकालनेका विचार स्थिर किया गया है। इस ग्रन्थमें स्वामीजीके सब ग्रंथोंका मूलपाठ अनेक प्राचीन प्रतियोंपरसे खोजकर रक्खा जायगा; साथमें हिन्दी अनुवाद भी अपनी खास विशेषताको लिए हुए होगा। उसे पढ़ते हुए मूल ग्रन्थकी स्पिरिटमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा; उसकी धारा भी नहीं टूटेगी; और जो अर्थ शब्दोंकी तहमें छिपा हुआ है अथवा रहस्यके रूपमें पर्देके भीतर निहित है वह सब प्रकट तथा स्पष्ट होता चला जायगा। और व्यर्थका विस्तार भी नहीं होने पाएगा टीकाओंमें उपलब्ध होने वाली कठिन पदोंकी संस्कृत टिप्पणियाँ भी फुटनोटसके रूपमें रहेंगी। हिन्दीकी नई उपयोगी टिप्पणियाँ भी लगाई जायँगी। और इन सबके अतिरिक्त साथमें ही बड़ी महत्वपूर्ण खोजपूर्ण प्रस्तावना होगी; जिसमें मूल ग्रंथोंके विषयादिक पर यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा—स्वामी समन्तभद्रका जीवन चरित्र होगा; पूरा शब्दकोश होगा और पद्यानुक्रमणिका आदिके अनेक उपयोगी परिशिष्ट भी रहेंगे। कागज बहुत पुष्ट तथा अधिक समय तक स्थिर रहने वाला लगाया जायगा और छपाई तथा जिल्द बँधाई भी अव्वल नम्बरकी होगी। इस तरह इस ग्रंथराजको सर्वांग सुन्दर; अत्यन्त उपयोगी और दर्शनीय बनानेका पूरा प्रयत्न किया जायगा।

पाठकोंको यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि ग्रंथराजका कार्य प्रारम्भ हो गया है—कुछ विद्वानोंने बिल्कुल सेवाभावसे—स्वामी समन्तभद्रके ऋणसे कुछ उऋण होनेके खयालसे इसके एक एक ग्रंथके अनुवाद कार्यको बाँट लिया है।

पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यने 'बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र' का, पं० फूलचंदजी शास्त्रीने 'युक्त्यनुशासन' का, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने 'जिनशतक' नामकी स्तुति विद्याका और न्यायाचार्य पं० महेंद्रकुमारजीने 'देवागम' नामक आप्तमीमांसाका अनुवाद करना सहर्ष स्वीकार किया है—कई विद्वानोंने अपना अनुवाद-कार्य प्रारम्भ भी कर दिया है। अवशिष्ट 'रत्नकरण्डक' नामक उपासकाध्ययनका अनुवाद मेरे हिस्सेमें रहा है, प्रस्तावना तथा जीवन चरित्र लिखनेका भार भी मेरे ही ऊपर रहेगा, जिसमें मेरे लिये अनुवादकों तथा दूसरे विद्वानोंका सहयोग भी वाँछनीय होगा। वीरसेवा मन्दिरके कुछ विद्वान परिशिष्ट तैयार करेंगे, और यह दृढ़ आशा है कि प्रोफेसर ए.एन. उपाध्यायजी

एम. ए., डी. लिट. अंग्रेजीमें भूमिका लिख देनेकी भी कृपा करेंगे, और भी जो विद्वान इस पुण्य कार्यमें किसी भी प्रकारसे अपना सहयोग प्रदान करेंगे वह सब सहर्ष स्वीकार किया जायगा और मैं उन सबका हृदयसे आभारी हूँगा। जहाँ जहाँके शास्त्र भण्डारोंमें उक्त ग्रन्थोंकी प्राचीन शुद्ध प्रतियाँ हों अथवा इनसे भिन्न समन्तभद्रके 'जीवसिद्धि' तथा 'तत्वानुशासन' जैसे ग्रन्थ उपलब्ध हों उन्हें खोज कर विद्वान लोग मुझे शीघ्र ही निम्न पते पर सूचित करनेकी कृपा करें।

(२) 'जैनलक्षणावली' का प्रकाशन

जिस 'जैनलक्षणावली' अर्थात् लक्षणात्मक जैन पारिभाषिक शब्दकोश का काम वीरसेवा मन्दिर में कई वर्ष से हो रहा है और जिसका एक नमूना पाठक अनेकान्त के वीरशासनाङ्क में देख चुके हैं, उसके प्रकाशन का कार्य आर्थिक सहयोग न मिलने के कारण एक साल से स्थगित था, अब पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि एक मित्र महोदय के आश्वासन पर उसके प्रकाशन का कार्य शीघ्र प्रारम्भ होने वाला है और उसमें यह खास विशेषता रहेगी कि लक्षणों का हिन्दी में सार अथवा अनुवाद भी प्रकट किया जायगा, जिससे यह महान ग्रन्थ, जो धवला जैसी बड़ी बड़ी चार जिल्दों में प्रकाशित होगा, सभी के लिये उपयोगी साबित होगा- प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमी इस से यथेष्ट लाभ उठा सकेगा- और सभी मंदिरों तथा लायब्रेरियों में इसका रक्खा जाना आवश्यक समझा जायगा। इसकी विशेष योजना तथा प्रत्येक जिल्द (खण्ड) के मूल्यादि की सूचना बाद को दी जावेगी।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवा मन्दिर,
सरसावा जि० सहारनपुर

गो० कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्तिके विचार पर प्रकाश

[लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

मैंने 'गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति' नामका एक लेख लिखा था, जो अनेकान्तकी गत-संयुक्त किरण नं० ८-९ में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में मुद्रित कर्मकाण्डके पहले अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए, 'कर्मप्रकृति' नामक एक दूसरे ग्रन्थके आधारपर जो गोम्मटसारके कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्यका ही बनाया हुआ मालूम हुआ था, मैंने उक्त अधिकारकी त्रुटि-पूर्ति करनेका प्रयत्न किया था, और यह दिखलाया था कि ७५ गाथाएँ जो कर्मप्रकृतिमें कर्मकाण्डके वर्तमान अधिकारसे अधिक हैं और किसी समय कर्मकाण्डसे छूट गई अथवा जुदा पड़ गई हैं, उन्हें कर्मकाण्डमें यथास्थान जोड़ देनेसे सहज ही में उसकी त्रुटि-पूर्ति हो जाती है और वह सुसंगत तथा सुसंबद्ध बन जाता है क्योंकि यह संभव नहीं है कि एक ही ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थ अथवा उसके एक भागको तो सुसंगत और सुसम्बद्ध बनाए और उसी विषयके दूसरे ग्रन्थ तथा दूसरे भागको असंगत और असम्बद्ध रहने दे। साथ ही, यह भी व्यक्त किया था कि कर्मकाण्डके इस प्रथम अधिकारके त्रुटिपूर्ण होनेको दूसरे भी अनेक विद्वान् पहलेसे अनुभव करते आरहे हैं और उनमेंसे पं० अर्जुनलाल सेठीका नाम खास तौर से उनके कथनके साथ उल्लेखित किया था। मेरे इस लेखको पढ़कर अनेक विद्वानोंने उसका अभिनन्दन किया तथा अपनी हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की, और कई विद्वानोंने स्पष्ट शब्दोंमें कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारका त्रुटि-पूर्ण होना तथा कर्मकाण्डका अधूरापन स्वीकार भी किया। उदाहरणके तौर पर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी लिखते हैं कि—"इसमें तो कोई शक ही नहीं कि कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार त्रुटि-पूर्ण है"। और उक्त विद्यालयके न्यायाध्यापक न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री लिखते हैं कि—"यदि यह प्रयत्न सोलह आने ठीक रहा और कर्मकाण्डकी किसी प्राचीन प्रतिमें भी ये गाथाएँ मिल गईं तब कर्मकाण्डका अधूरापन सचमुच दूर हो जायगा"।

परन्तु प्रो० हीरालालजी अमरावतीको मेरा उक्त लेख नहीं जँचा' और उन्होंने उसपर आपत्ति करते हुए अपना विचार एक स्वतन्त्र लेख द्वारा प्रकट किया है, जो अनेकान्तकी गत ११ वीं किरणमें मुद्रित हो चुका है। इस लेखमें आपने यह सिद्ध करनेकी चेष्टाकी है कि (१) कर्मकाण्डसे ७५ गाथाओंका छूट जाना या जुदा पड़ जाना संभव नहीं, (२) कर्मकाण्ड अधूरा न होकर पूरा और सुसम्बद्ध है; और (३) कर्मप्रकृति ग्रंथका गोम्मटसारके कर्ता द्वारा रचित होनेका कोई प्रमाण नहीं, वह किसी दूसरे नेमिचन्द्रकी रचना हो सकती है। चुनाँचे इन सब बातोंका विवेचन करते हुए,आपने अपने लेखका जो सार अन्तिम पैरेग्राफमें दिया है वह इस प्रकार है:—

"इस प्रकार न तो हमें कर्मकाण्डमें अधूरे व लंडूरे पनका अनुभव होता है, न उसमेंसे कभी उतनी गाथाओंके छूट जाने व दूर पड़ जानेकी सम्भावना जंचती है, और न कर्मप्रकृतिके गोम्मटसारके कर्ता द्वारा ही रचित होनेके कोई पर्याप्त प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी अवस्थामें उन गाथाओंके कर्मकाण्डमें शामिल कर देनेका प्रस्ताव हमें बड़ा साहसिक प्रतीत होता है।"

अब मैं प्रोफेसर साहबकी उक्त तीनों बातों पर संक्षेपमें विचार करता हुआ कुछ विशेष प्रकाश डालता हूँ और उसके द्वारा यह बतलाना चाहता हूँ कि प्रो० साहबका विचार इस विषयमें ठीक नहीं हैं:—

(१) पश्चात्के लिपिकारों द्वारा ७५ गाथाओंका मूलग्रंथसे छूट जाना कोई असंभव नहीं है। जिन विद्वानोंको प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथ-प्रतियोंको देखनेका अवसर मिला है वे इन लिपिकारोंकी कर्तूतसे भली भाँति परिचित है, और अनेक बार उस पर प्रकाश डालते रहते हैं। इसका एक ताज़ा उदाहरण न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके 'सत्य शासन-परीक्षा' विषयक लेखसे भी मिलता है, जो अनेकान्तकी गत ११वीं किरणमें ही प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें उन्होंने यह स्पष्टरूपसे प्रकट किया है कि ग्रंथमें 'शब्दाद्वैत' की परीक्षाका पूरा प्रकरण छूटा हुआ है, 'पुरुषाद्वैत' की समाप्ति पर एक पंक्तिके लायक स्थान छोड़कर 'विज्ञानाद्वैत' की परीक्षा प्रारम्भ कर दीगई है, जब कि दोनों के मध्यमें क्रम-प्राप्त 'शब्दाद्वैत' की परीक्षा होना चाहिये थी। आरा की जिस प्रति परसे उन्होंने परिचय दिया है उसमें एक पंक्तिके करीब जो स्थान छुटा हुआ है वह इस बातको सूचित करता है कि मध्यका भाग नहीं लिखा जा सका, जिसका कारण उस अंशके पत्रोंका त्रुटित हो जाना आदि ही हो सकता है। आरा की प्रति परसे जो कोई असावधान लेखक कापी करे वह उस एक पंक्तिके लायक खाली स्थानको नहीं छोड़ सकता, और इस तरह फिर उसकी प्रति परसे यह कल्पना भी सहज नहीं होती कि बीचका भाग किसी तरह छूट गया है।

प्रोफेसर साहबने यह लिखा है कि—"यदि लिपिकारोंके प्रमादसे वे (गाथाएँ) छूट गई होतीं तो टीकाकार अवश्य उस ग़लतीको पकड़ कर उन गाथाओंको यथास्थान रख देते, और यदि वे प्रसंगके लिये अत्यन्त आवश्यक थीं तो वे जान बूझकर तो उन्हें छोड़ ही नहीं सकते थे।" यह ठीक है कि कोई टीकाकार जान बूझकर ऐसा नहीं कर सकता, परन्तु यदि उस टीकाकार को टीकासे पहले ऐसी ही मूल ग्रन्थ प्रति उपलब्ध हुई हो जिसमें उक्त गाथाएँ न हों और त्रुटित गाथाओंको मालूम करनेका उसके पास कोई साधन भी न हो तो फिर वह टीकाकार उन त्रुटित गाथाओंकी पूर्ति कैसे कर सकता है? फिर भी, कर्मकाण्डके प्रस्तुत टीकाकारने उन गाथाओंके विषयकी पूर्ति अन्य ग्रन्थों परसे की है और उस पूर्ति परसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वह वहाँ उस विषयको त्रुटित समझता था; क्योंकि उसका वह कथन प्रकृत गाथाकी व्याख्या न होकर कथनका पूर्वापरसम्बन्ध मिलानेकी दृष्टिको लिये हुए है। यदि मूल ग्रंथमें कथन सुसम्बद्ध होता तो संस्कृत टीकाकारके लिये त्रुटित गाथाओं वाले विषयको अपनी टीकामें देने की कोई ज़रूरत नहीं थी।

एक उदाहरण द्वारा मैं इस विषयको और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। और वह यह है कि—श्री अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य दोनोंने 'समय-सार' तथा 'प्रवचन-सार' की टीकाएँ लिखी हैं, जिनमेंसे अमृतचन्द्र की टीकाएँ पहलेकी बनी हुई हैं। परन्तु दोनों आचार्यों

की टीकाओंमें मूल गाथाओंकी संख्या एक नहीं है। अमृतचन्द्राचार्यकी समय-सार टीकासे जयसेनाचार्यकी समय-सार टीकामें २८ गाथाएँ अधिक हैं, और अमृत-चन्द्राचार्यकी प्रवचनसार टीकासे जयसेनकी प्रवचन-सार टीकामें २२ गाथाएँ अधिक हैं। अब प्रश्न होता है कि यदि वे गाथाएँ जो जयसेनाचार्यकी टीकामें अधिक पाई जाती हैं मूल ग्रन्थकी गाथाएँ हैं तो क्या फिर आचार्य अमृतचन्द्रने उन्हें जान बूझकर छोड़ दिया है? और यदि जान बूझकर नहीं छोड़ा तो उन्हें अपनी टीकामें क्यों नहीं दिया? और यदि वे गाथाएँ लिपि-कारोंसे छूट गई थीं तो क्यों उनकी पूर्ति नहीं की? और यदि वे मूल ग्रंथकी गाथाएं नहीं हैं तो जयसेना-चार्यने उन्हें क्यों मूलग्रंथकी गाथा प्रकट किया? इन प्रश्नोंके उत्तर परसे ही प्रोफेसर साहबके उक्त कथनका सहज-समाधान हो जाता है।

कर्मकाण्डसे गाथाओंके न छूटनेकी एक युक्ति प्रोफेसर साहबने यह भी दी है कि—गोम्मटसार की टीकाकी परम्परा उसके कर्ताके जीवनकालमें ही, ग्रन्थकी रचनाके साथ साथ ही प्रारम्भ हो गई थी अर्थात् चामुण्डरायने उसकी देशी (टीका) कर डाली थी, उसमें कोई ३०० वर्ष पश्चात् केशव-वर्णीने कनड़ी टीका लिखी और फिर कनड़ी टीका के आधार परसे वह 'जीवतत्त्वप्रबोधनी' टीका लिखी गई, जिस टीकाकी प्रशस्तिके कुछ वाक्य आपने उद्धृत किये हैं। चामुण्डराय द्वारा देशीके लिखे जानेकी एक गाथा भी आपने उद्धृत की है, जो कर्मकाण्डमें अंतिम गाथाके रूपमें दर्ज है, और जो अपनी स्थिति परसे बहुत कुछ संदिग्ध जान पड़ती है; क्योंकि उसमें प्रयुक्त हुए 'आ' पदका कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता और 'चिरकालं' पदके आगे पीछे आशीर्वादात्मक कोई पद भी नहीं है। संभव है कि इसका मूलरूप कुछ दूसरा ही रहा हो और यह अन्तमें किसी प्रकारसे प्रक्षिप्त होकर कर्मकाण्डमें रक्खी गई हो। चामुण्डरायकी बनाई हुई वैसी कोई टीका इससमय उपलब्ध नहीं है और न उक्त गाथाके आधारके अतिरिक्त दूसरा कोई स्पष्ट प्रमाण ही उसके रचे जानेका देखनेमें आता है। थोड़ी देरके लिये यदि यह मान भी लिया जाय कि चामुंडरायने उसी समय गोम्मटसार कर्म काण्ड पर कोई टीका लिखी थी तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ३००-४०० वर्षके पीछे बनी हुई केशववर्णीकी कनड़ीटीका बिलकुल उसीके आधार पर बनी है—उन्हें वह देशी टीका प्राप्त थी और उसमें उस वक्त तक कोई अंश त्रुटित नहीं हुआ था? अथवा इस लम्बे चौड़े समयके भीतर उस देशी टीकाकी प्रति और सरी मूल प्रतियोंमें, जो केशववर्णीको अपनी टीकाके लिये प्राप्त हुई थीं, मूल पाठ अवि-कल रूपसे चला आया था और उसमें किसी भी कारणवश कोई गाथा त्रुटित नहीं हुई थी? प्रस्तुत संस्कृत टीका तो केशववर्णीकी टीकासे कोई१५०वर्ष बाद बनी है; क्योंकि इसके कर्ता नेमिचन्द्र भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे और ज्ञानभूषणका अस्तित्व वि० सं० १५७५ तक पाया जाता है * । तथा केशववर्णीकी टीका शक सं० १२८१ (वि० सं०

* सं० १५३५ में ज्ञानभूषण भट्टारकको ज्ञाना-र्णवकी एक प्रति ब्रह्म तेजपालने लाकर भेंट की थी, ऐसा मुख्तारसाहबके ऐतिहासिक खातोंके रजिष्टरपरसे मालूम होता है।

१४१६) में बनकर समाप्त हुई थी। ऐसी हालतमें यह अनुमान करना निरापद् नहीं हो सकता कि इन टीकाओंमें चामुण्डरायकृत देशीका आश्रय लिया गया है। बाकी यह कल्पना तो प्रोफ़ेसर साहबकी बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है कि—"जहाँ (जिस चित्रकूटमें) यह (संस्कृत) टीका रची गई थी वह संभवतः वही चित्रकूट था जहाँ सिद्धान्ततत्त्वज्ञ एलाचार्यने 'धवला' टीकाके रचयिता वीरसेनाचार्यको सिद्धान्त पढ़ाया था, ऐसी परिस्थितिमें यह संभव नहीं जान पड़ता कि उक्त टीकाके निर्माणकालमें व उससे पूर्व कर्मकांडमें से उसकी आवश्यक अंगभूत कोई गाथाएं छूट गई हों या जुदी पड़ गई हों" ! क्योंकि वह चित्रकूट आज भी मौजूद है, आज यदि कोई वहाँ बैठकर ग्रन्थ बनाने लगे तो क्या उसके सामने वह सब दफ्तर अथवा साधन सामग्री-मय शास्त्रभंडार मौजूद होगा, जो एलाचार्य और वीरसेनके समयमें था ? यदि नहीं तो एलाचार्यके और वीरसेनसे कोई सातसौ वर्ष पीछे टीका बनाने वाले नेमिचन्द्रके सामने वह सब दफ्तर अथवा शास्त्रभंडार कैसे हो सकता है ? यदि नहीं हो सकता तो फिर उस चित्रकूट स्थान पर इस टीकाके बनने मात्रसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह जिस कर्मकाण्डकी टीका है उसमें उसके बननेसे पहले कोई गाथाएँ त्रुटित नहीं हुई थीं। अतः पहली बात जो प्रोफेसर साहबने विरोधमें कही है वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती।

(२) मुद्रित कर्मकाण्डके प्रथम अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' में कर्मकी मूल आठ प्रकृतियोंके नामादिक दिये हैं और प्रत्येक मूलप्रकृतिकी कितनी कितनी उत्तर प्रकृतियाँ हैं यह बतलाते हुए उत्तर प्रकृतियोंकी कुल संख्या १४८ दी है; परन्तु इन १४८ प्रकृतियोंमें से बहुत कम प्रकृतियोंके नामादिकका वर्णन दिया है, और जो वर्णन दिया है वह अपने कथनके पूर्व सम्बन्धके बिना बहुत कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है, इस बातको मैंने अपने पूर्व लेखमें विस्तारके साथ प्रकट किया था। एक ग्रन्थकार खास प्रकृतियोंका अधिकार लिखने बैठे और उसमें सब प्रकृतियोंके नाम तक भी न देवे यह बात कुछ भी जी को लगती हुई मालूम नहीं होती। प्रकृति-विषयक जो अधिकार पंचसंग्रह प्राकृत, पंच संग्रह संस्कृत और धवलादि ग्रंथोंमें पाये जाते हैं उन सबमें भी कर्मकी १४८ प्रकृतियोंका नामोल्लेख पूर्वक वर्णन पाया जाता है। इससे मुद्रित कर्मकांडके उक्त अधिकारमें सम्पूर्ण उत्तर प्रकृतियोंका वर्णन न होना जरूर ही उसके त्रुटित होनेको सूचित करता है। प्रोफेसर साहबने इस बात पर कोई खास लक्ष्य न देकर जैसे तैसे यह बतलानेकी चेष्टा की है कि यदि उक्त गाथाएँ इस ग्रन्थमें न रहें तो कोई विशेष हानि नहीं। कहीं तो आपने यह लिख दिया है कि अमुक "गाथाओंकी कोई विशेष आवश्यकता दिखाई नहीं देती," कहीं यह कह दिया है कि अमुक "गाथाएँ २१ वीं गाथाके स्पष्टीकरणार्थ-टीकारूप भले ही मान ली जावें किन्तु सारग्रन्थके मूलपाठमें उनकी गुंजाइश नहीं दिखाई देती," कहीं यह भी लिख दिया है कि अमुक "गाथाओं के न रहनेसे कोई बड़ा प्रकाश व अन्धकार नहीं उत्पन्न होता," कहीं यह सूचित किया है कि अमुक गाथाका आशय अमुक गाथासे निकाला

जा सकता है—परिशेष न्यायसे अमुक गाथाका आशय लिया जा सकता है, और एक स्थान पर यहाँ तक भी लिखा है कि "यहाँ तथा आगामी त्रुटि-पूर्ण जँचने वाले स्थलों पर कर्ताका विचार स्वयं भेदोपभेदोंके गिनानेका नहीं था। वह सामान्य कथन या तो उनकी रचना में आगे पीछे आचुका है या उन्होंने उसे सामान्य जानकर छोड़ दिया है"। परन्तु यह कहीं भी नहीं बताया कि उक्त गाथाओंको ग्रन्थमें त्रुटित मानकर शामिल कर लेनेमें क्या विशेष बाधा उत्पन्न हो सकती है? सिर्फ एक स्थल पर थोड़ा-सा विरोध प्रदर्शित किया है, जो वास्तवमें विरोध न होकर विरोध-सा जान पड़ता है और जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

कर्मकांडमें 'देहादी फासंता पएणासा' नामकी एक गाथा नं ४७ पर है, जिसमें पुद्गलविपाकी ६२ प्रकृतियोंकी गणना करते हुए देहसे स्पर्श पर्यंत नामकर्मकी जो प्रकृतियाँ हैं उनमेंसे पचास प्रकृतियोंके ग्रहण करनेका विधान है। इस गाथा को लेकर प्रोफेसर साहब यह आपत्ति करते हैं—

"कर्मकांडकी गाथा नं० ४७ में स्पष्ट कहा है कि देहसे लेकर स्पर्श तक पचास प्रकृतियाँ होती हैं किन्तु कर्मप्रकृतिकी गाथा नं० ७५ में दो प्रकारकी विहायोगति भी गिना दी गई है, जिससे वहाँ शरीरसे लगाकर स्पर्श तककी संख्या ५२ हो गई है, अब यदि इन (७५ से ८२ तक) गाथाओंको हम कर्मकांडमें रख देते हैं तो गाथा नं० ४७ के वचनसे विरोध पड़ जाता है।"

यह आपकी आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि गाथा नं० ४७ में यह नहीं कहा गया कि—"देहसे लगा कर स्पर्श तक पचाश कर्म प्रकृतियाँ होती हैं।" जैसा कि प्रोफेसर साहबने समझ लिया है, बल्कि कथनका आशय यह है कि देहसे स्पर्श पर्यंत जो प्रकृतियाँ होती हैं उनमेंसे ५० प्रकृतियाँ यहाँ पुद्गलविपाकीके रूपमें ग्रहणकी जानी चाहियें। शरीरसे स्पर्श पर्यंत प्रकृतियोंकी संख्या जरूर ५२ होती है और उनमें विहायोगतिकी प्रशस्त-अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकृतियाँ भी शामिल हैं; परन्तु ये दोनों प्रकृतियाँ कर्मकाण्डकी ४९-५० नं० की गाथाओंमें जीवविपाकी प्रकृतियोंकी संख्यामें गिनाई गई हैं। इस विशेष विधानके अनुसार उन ५२ प्रकृतियोंमेंसे इन दो प्रकृतियोंको, जो कि उस वर्गकी नहीं हैं—पुद्गलविपाकी नहीं हैं—निकाल देने पर शेष प्रकृतियाँ ५० ही रह जाती हैं, जिनकी गणना पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंमें की गई है। चुनाँचे कर्मप्रकृति ग्रन्थके टिप्पणमें भी, जो सं० १५२७ की लिखी हुई शाहगढ़की प्रति पर पाया जाता है, ऐसा ही आशय व्यक्त किया गया है। यथा:—

देहादिस्पर्शपर्यंतप्रकृतीनां मध्ये विहायोगतिं व्याकृत्य शेषपंचाशत् प्रकृतीनां संख्याऽत्र वाक्ये विवक्षिता"

इससे स्पष्ट है कि गाथा नं० ४७ के जिस आशयको लेकर प्रोफेसर साहबने जो आपत्ति खड़ी की है वह उसका आशय नहीं है और इसलिये वह आपत्ति भी नहीं बन सकती।

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रोफेसर साहबने गोम्मटसारको जिस अर्थमें सार ग्रन्थ समझा है उस अर्थमें वह सार ग्रन्थ नहीं है, वह वास्तवमें एक संग्रह ग्रंथ है, जिसे मैं 'गोम्मटसार संग्रह ग्रन्थ है' इस शीर्षकके

अपने लेख (अनेकान्त वर्ष ३,किरण ४,पृ०२९७)में विस्तारके साथ प्रकट भी कर चुका हूँ। मूल ग्रन्थ में भी 'गोम्मटसंगहसुत्त' नामसे ही उसका उल्लेख है। उसमें अनेक गाथाएँ दूसरे ग्रन्थों परसे संग्रह की गई हैं और अनेक गाथाओंको कथन-प्रसंगकी दृष्टिसे पुनः पुनः भी देना पड़ा है। इसलिये 'कर्मप्रकृति' की उन ७५ गाथाओंमेंसे यदि कुछ गाथाएँ 'जीवकाण्ड' में आ चुकी हैं तो इससे उनके पुनः कर्मकाण्डमें आजाने मात्रसे पुनरावृत्ति-जैसी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि कर्मप्रकृति की गाथाको छोड़कर कर्मकाण्डमें दूसरी भी ऐसी गाथाएँ पाई जाती हैं जो पहले जीवकाण्डमें आ चुकी हैं, जैसे कर्मकाण्डके 'त्रिकरणचूलिका' नामके अधिकारकी १७ गाथाओंमेंसे ७ गाथाएँ * पहले जीवकाण्डमें आचुकी हैं। इसके सिवाय, खुद कर्मकाण्डमें भी ऐसी गाथाएँ पाई जाती हैं जो कर्मकाण्डमें एकसे अधिक स्थानों पर उपलब्ध होती हैं। उदाहरणके लिये जो गाथाएँ १५५ नं० से १६२ नं० तक पहले आ चुकी हैं वे ही गाथाएँ पुनः नं० ९१४ से ९२१ तक दी गई हैं। और कथनों की पुनरावृत्तिकी तो कोई बात ही नहीं, वह तो अनेक स्थानों पर पाई जाती है। उदाहरणके लिये गाथा नं० ५० में नामकर्मकी जिन २७ प्रकृतियों का उल्लेख है उन्हें ही प्रकारान्तरसे नं०५१की गाथा में दिया गया है। ऐसी हालतमें उन ७५ गाथाओं मेंसे कुछ गाथाओं पर पुनरावृत्तिका आरोप लगा कर यह नहीं कहा जा सकता कि वे कर्मकाण्डकी गाथाएँ नहीं हैं अथवा उनके कर्मकाण्डमें शामिल होनेसे कोई बाधा आती है।

चूंकि हालमें 'कर्मकाण्ड' की ऐसी प्रतियाँ भी उपलब्ध हो गई हैं जिनमें वे सब विवादस्थ ७५ गाथाएँ मौजूद हैं जिन्हें 'कर्मप्रकृति' परसे वर्तमान मुद्रित कर्मकाण्डके पाठमें शामिल करनेके लिये कहा गया था,और उन प्रतियोंका परिचय आगे इस लेखमें दिया जायगा, अतः इस नम्बर पर मैं और अधिक लिखनेकी कोई जरूरत नहीं समझता।

(३) जिस कर्मप्रकृति ग्रन्थके आधार पर मैंने ७५ गाथाओंका कर्मकाण्डमें त्रुटित होना बतलाया था उसमें मैंने गोम्मटसारकी अधिकांश गाथाओंको देखकर कर्ताका निश्चय नहीं किया था बल्कि उसमें कर्ताका नेमिचन्द्र सिद्धान्ती, नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ऐसा स्पष्ट नाम दिया हुआ है। सिद्धान्तदेव नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीसे भिन्न दूसरे नहीं कहलाते। इसके सिवाय, हालमें शाहगढ़ जि० सागरके सिंघईजीके मन्दिरसे 'कर्म-प्रकृति' की सं० १५२७ की लिखी हुई जो एकादश-पत्रात्मक सटिप्पण प्रति मिली है, उसकी अन्तकी पुष्पिकामें कर्ताका नाम स्पष्टरूपसे नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती दिया हुआ है और साथ ही उसे कर्मकांडका प्रथम अंश भी प्रकट किया है जिससे दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि कर्मप्रकृति नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकी ही कृति है और दूसरी यह कि वह नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती की कोई भिन्नकृति नहीं है बल्कि वह उनकी प्रधान-कृति कर्मकाण्डका ही प्रथमअंश है और इसलिये मैंने जिस कर्मप्रकृतिकेआधारपर मुद्रितकर्मकाण्डमें

* वे ७ गाथाएँ जीवनकांडमें नं० ४७, ४८, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, पर पाई जाती हैं; और कर्मकांडमें नं० ८९७, ८९८, ८९९, ९०८, ९१०, ९११, ९१२ पर उपलब्ध होती हैं।

७५ गाथाओंका त्रुटित होना बतलाया था उसमें अब कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। कर्मप्रकृतिकी उस प्रतिका वह अंतिम अंश, जिसके साथ ग्रन्थ-प्रति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार है—

"इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितकर्मकाण्डस्य प्रथमोंशः समाप्तः। शुभं भवतु लेखकपाठकयोः अथ संवत् १५२७ वर्षे माघवदी १४ रविवासरे।"

यहाँ पर इस कर्मप्रकृतिकी प्रतिकी विशेषताके सम्बन्धमें इतना और भी नोट कर देना आवश्यक है कि इसकी टिप्पणियोंमें 'सिय अत्थि णत्थि' और 'चम्मा-वंसा-मेघा' इन दो गाथाओंको प्रक्षिप्त सूचित किया है और उन्हें सिद्धान्तगाथा बताया है, जिनमेंसे 'सिय अत्थि णत्थि' नामकी गाथा कुन्द कुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय' की १४ नं० की गाथा है। साथ ही, इस प्रकरणकी कुल गाथाओंकी संख्या १६० दी है अर्थात् आरा-सिद्धान्त भवनकी प्रतिसे इसमें निम्न एक गाथा अधिक है:—

वरण-रस-गंध फासा-चउ चउ इग-सत्त सम्ममिच्छत्तं।
होंति अबंधा-बंधण पण-पण संघाद-सम्मत्तं॥

यहाँ पर यह बात भी नोट कर लेनेकी है कि कर्मप्रकृतिकी यह प्रति जिस सं० १५२७ की लिखी हुई है उसी वक्तके करीबकी बनी हुई नेमिचन्द्राचार्यकी 'जीवतत्वप्रबोधनी' नामकी संस्कृत टीका है, जिसके वाक्योंको प्रोफेसर साहबने उद्धृत किया है और यह कल्पनाकी है कि उसका वर्तमान में उपलब्ध होने वाला पाठ पूर्व-परम्पराका पाठ है। और इससे यह मालूम होता है कि कर्मकांडके प्रथम अधिकारमें उक्त ७५ गाथाएँ पहलेसे ही संकलित और प्रचलित हैं।

शाहगढ़के उक्त मंदिर-भण्डारसे कर्मकाण्डकी भी एक प्रति मिली है, जो अधूरी है और जिसमें शुरूके दो अधिकार पूरे और तीसरे अधिकारकी कुल ४० गाथाओंमें से २५ गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ प्रति बहुत जीर्ण-शीर्ण है, हाथ लगानेसे पत्र प्रायःटूट जाते हैं। इसका शेष भाग इसी तरह टूट-टाट कर नष्ट हुआ जान पड़ता है। इसके पहले 'प्रकृति-समुत्कीर्तन' अधिकारमें भी १६० गाथाएँ हैं, प्रत्येक गाथा पर अलग अलग नं० न देकर अधिकारके अन्तमें १६० नं० दिया है। इस प्रकरणमें भी उक्त कर्मप्रकृति वाली ७६ गाथाएँ (७५+१) ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं।

कर्मकांडकी एक दूसरी प्रति, जिसकी पत्र संख्या ५३ है और जो सं० १७०४ में मुगल बादशाह शाहजहाँके राज्यकालमें लिखी हुई है अपने घर पर ही पिताजीके संग्रहमे उपलब्ध हुई है। यह संस्कृतटीका-सहित है। इसमें कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार ही है, गाथा संख्या १६० दी है और इसमें भी वे ७६ गाथाएँ ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं। संस्कृत टीका ज्ञानभूषण—सुमतिकीर्ति की बनाई हुई है। इसके अन्तके दो अंश नीचे दिये जाते हैं—

"इति सिद्धांतज्ञानचक्रवर्तिश्रीनेमिचन्द्रविरचित-कर्मकांडस्य टीका समाप्तं (प्ता)॥"

"मूलसंघे महासाधुर्लक्ष्मीचंद्रो यतीश्वरः।
तस्य पादस्य वीरेंदुर्विबुधो विश्ववेदितः॥ १॥
तदन्वये दयांभोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः।
टीकां हि कर्मकांडस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक्॥ २॥"

× × ×

"भट्टारक श्रीज्ञानभूषणनामांकिता सूरिसुमति-कीर्तिविरचिता कर्म्मकांडटीका समाप्ता ॥ ॥ संवतु १७०४ वर्षे जेठ बदि १४ रविदिवसे सुभनक्षत्रे श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्री आचार्य कुंदाकुंदान्वये श्रीब्रह्मजिनदासउपदेश धर्म्मापुरी अस्थाने मालवदेसे पातिसाहि मुगल श्री साहिजहां ॥"

कर्मकांडकी तीसरी प्रति पं० हेमराजजीकी भाषाटीकासहित, तिगोड़ा जि० सागरके मंदिरके शास्त्रभंडारसे मिली है, जो संवत् १८२९ की लिखी हुई है, पत्र संख्या ५४ है। यह टीका भी कर्मकाण्डके प्रथम अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन'की है और इसमें भी १६० गाथाएँ हैं जिनमें उक्त ७६ गाथाएँ भी शामिल हैं।

कर्मप्रकृतिकी अलग प्रतियों और कर्मकाण्डकी उक्त प्रथमाधिकारकी टीकाओं परसे यह स्पष्ट है कि कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारका अलग रूपमें बहुत कुछ प्रचार रहा है। किसीने उसे 'कर्मप्रकृति' के नामसे किसीने 'कर्मकाण्डके प्रथम अंश'के नामसे और किसीने 'कर्मकाण्ड' के ही नामसे उल्लेखित किया है। ऐसी हालतमें प्रोफेसर साहबके इस लिखनेमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता कि—"यदि वह कृति (कर्मप्रकृति) गोम्मटसारके कर्ता की ही है तो वह अब तक प्रसिद्धिमें क्यों नहीं आई।" वह काफी तौरसे प्रसिद्धिमें आई जान पड़ती है। इस विषयमें मुख्तार साहब (सम्पादक 'अनेकान्त')से भी यह मालूम हुआ है कि उन्हें बहुत से शास्त्र भण्डारोंमें कर्मप्रकृति नामसे कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारकी प्रतियोंको देखनेका अवसर मिला है।

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रतियोंके परिचयकी रोशनी परसे मैं समझता हूँ इस विषयमें अब कोई सन्देह नहीं रहेगा कि कर्मकाण्डका मुद्रित प्रथम अधिकार जरूर त्रुटित है, और इसलिये प्रोफेसर साहबने मेरे लेख पर जो आपत्तिकी है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है। आशा है प्रोफेसर साहब का इससे समाधान होगा और दूसरे विद्वानोंके हृदयसे भी यदि थोड़ा बहुत सन्देह रहा होतो वह भी दूर हो सकेगा। विद्वानोंको इस विषय पर अब अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकट करनेकी जरूर कृपा करनी चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता०२१-१०-१९४०

निवेदन

इस १२वीं किरणके साथ 'अनेकान्त' के कृपालु ग्राहकों द्वारा भेजा हुआ शुल्क समाप्त हो गया है। अब देहली से 'अनेकाँत' का प्रकाशन बंद किया जा रहा है। अतः 'अनेकान्त' के सम्बंधमें अब पत्र व्यवहार उसके सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर' सरसावा जि० सहारनपुर से करना चाहिये। इन दो वर्षों में अनेकाँत-व्यवस्था सम्बंधी जो अनेक भूल हुई हैं उनके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूं।

विनीत—

अ० प्र० गोयलीय

व्यवस्थापक

Registered. No. L. 4328

वीर प्रेस आफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली।